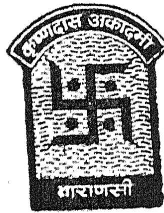
कृष्णदास संस्कृत सीरीज
१२६

श्रीविष्णुशर्मविरचितम्

पञ्चतन्त्रम्

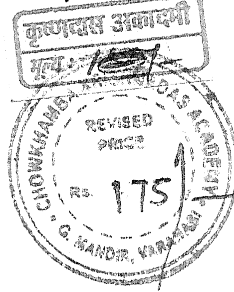
'ज्योत्स्ना-'मृदुला' संस्कृत-हिन्दीटीकोपेतम्

सम्पादक एवं व्याख्याकार
डॉ० सुधाकर मालवीय
एम०ए०, पीएच्०डी०, साहित्याचार्य
संस्कृत-विभाग, कला-संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी



कृष्णदास अकादमी, वाराणसी-२२१००१
१९९३

प्रकाशक : कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०४७
मूल्य :



पो० बा० नं० १११८
चौक, (चित्रा सिनेमा बिल्डिंग), वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ५२३५८

अपरञ्च प्राप्तिस्थानम्
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० १००८, वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ३३३४५८

KRISHNADAS SANSKRIT SERIES
126

PANCATANTRA

OF

VISHNU SHARMA

With Jyotsana Sanskrit & Mridula
Hindi Commentaries

Edited & Translated by

Dr. SUDHAKAR MALAVIYA

M.A., Ph. D., Sahityacarya
Department of Sanskrit, Arts Faculty
Banaras Hindu University, Varanasi



KRISHNADAS ACADEMY

VARANASI - 221001

1993

Publisher : Krishnadas Academy, Varanasi
Printer : Chowkhamba Press, Varanasi
Edition : First, 1993
Price : Rs. [redacted]

Oriental Publishers and Distributors
Post Box No. 1118
Chowk (Chitra Cinema Building), Varanasi-221001
(INDIA)
Phone : 52358

Also can be had from :
Chowkhamba Sanskrit Series Office
K. 37/92, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1008, Varanasi-221001 (India)
Phone : 333458

अवतरणिका

राधेव सरसा यस्य गुणालङ्कारशालिनी ।
विना कृष्णं न पुष्णाति रतिं वाग्वरवर्णिनी ।।

अथ विष्णुगुप्तापरनामधेयो धीरधिषणः 'कौटिल्यः', मौर्यवंशावतंसं नृपमणिं चन्द्रगुप्तं सरित्पतिप्रतीकाशां दण्डनीतिं सुखम् अवबोधयितुम् एव षड्भिः सहस्रेण श्लोकैः सङ्क्षिप्य सारभूतमेकं, नीतिशास्त्रं विरचितवान् । ततस्तस्यैव अन्तेवासी कामन्दकेनापि 'नीतिसार' नामकमपरमेकं नीतिशास्त्रं रचितवान् । गते चेत्थं बहुतिथे काले क्रमादेतदाचार्यपरम्परया अधीतिबोधाऽऽचरणप्रचारणादिदोषेण दुर्बोधत्वं विषमत्वञ्च नीतम् । अतः धीमान् लोकाचारसुचारुविचारचतुरः पं० विष्णुशर्ममहोदयः अतिकठोरं शास्त्रमेतदतिसरलं सुगमञ्च संविधातुं मृगविहङ्गमादिकथामिषेण सुकुमारधियां पृथुकानां चेतांसि समाकृष्य अध्यापयितुञ्च पञ्चभिस्तन्त्रैर्नियन्त्रितं प्रत्यग्रमिमं नयग्रन्थं विरचितवान् । एतद्ग्रन्थप्रस्तावनायाम् आलोक्यते यत्, 'विष्णुशर्मनामा कश्चिन्नयचणः नियतमुन्मार्गगामिनामविदुषां राजतनायानां सरलेनैवोपायेन विपश्चिन्मतसत्पथेषु प्रवर्त्तनाय ग्रन्थमिमं रचयामास' इति ।

काव्यमेतत् पारसीक-ग्रामीय-आरबीय-सिरियकभाषासु तत्प्रवीणविद्वद्भिश्चानूदितम् । तत्र चारबीयानुवादस्य नाम 'कालीलदीमना' सिरियकानुवादस्य च "कालीलग् दमनग" इति । दृष्ट्वैतद् विद्वत्प्रवर मैकडानलमहोदयोऽनुमन्यते यत्, द्वे अपि एते नामनी नूनं "करटकदमनकयोरपभ्रंशभूते; अन्यदप्याह यत्, पञ्चभ्योऽप्यधिकानि अत्र तन्त्राण्यासन् । अतोऽस्येत्थमेवाभिधानमजनि । संस्कृत-मूलग्रन्थस्तु विलुप्तः । तस्य तु किन्नामासीत्, कोऽवास्य रचयितेति कैरपि न ज्ञायते ।

किञ्चात्र विभिन्नमतानां बहुधा विवादे प्रचरत्यपि—

'सकलार्थशास्त्रसारं जगति समालोक्य विष्णुशर्मेदम् ।
तन्त्रैः पञ्चभिरेतच्चकार सुमनोहरं शास्त्रम् ।।

इति ग्रन्थादौ ग्रन्थकृत् परिचयदर्शनात् प्राचीनसंवादं संरक्ष्य चास्माभिर्विष्णुशर्मनाम्नैवैतत् प्रचारीकृतम्—इत्यलम् अनल्पजल्पनेनेति ।

काव्यशैली कथासाहित्ये द्विविधा प्रवर्तते—लघुकथासु श्लोकबद्ध-कथासु च। प्रायः सर्वत्र मनोरमा सरलभाषा वैदर्भीरीतिमनुसरन्ती दृश्यते। किन्तु महाकथासु, आख्यायिकासु वा भाषा प्रायः समासबहुला अलङ्कार-भाराक्रान्ता च दृश्यते। पञ्चतन्त्रस्य भाषा सुबोध्या अथ च सुगम्या एव। एवं संस्कृतभाषायां लघुकथानां सुप्रसिद्धसकलनं पञ्चतन्त्रे विद्यते। तत्र कथानां पञ्चशृङ्खलाः—(१) मित्रभेदः, (२)मित्रसम्प्राप्तिः, (३) काको-लूकीयः, (४) लब्धप्रणाशः, (५) अपरीक्षितकारकश्च। मित्रभेदतन्त्रे मित्राणां परस्परभेदेन कार्यं साध्यते दुर्वृत्तिभिः जनैः—इति निदर्शितम्। मित्रसम्प्राप्तितन्त्रे सद्वृत्तानां कार्यसाधनं सन्मित्राणां साहाय्येन भवतीति सम्पादितम्। काकोलूकीये तन्त्रे—'शत्रोर्विश्वासो न कर्तव्यः' इति प्रदर्शितम्। लब्धप्रणाशतन्त्रे—विपत्तिकाले 'प्रत्युत्पन्नबुद्ध्या कार्यं सिद्ध-यति' इति बोधितम्। अपरीक्षितकारके पञ्चमतन्त्रे 'परीक्षणं विना कृतं कार्यं साफल्यं न विदधाति' इति प्रतिपादितम्।

इत्थं वर्ण्यविषयः सर्वासु स्थितिषु सिद्धिप्राप्तये समाहृत इति लेखकेन पं० विष्णुशर्मणा प्रोक्तम्—

अधीते य इदं नित्यं नीतिशास्त्रं शृणोति च।
न पराभवमाप्नोति शक्रादपि कदाचन॥

— इति शम् —

वासन्ती नवरात्रिः
२४.३.१९९३

विदुषां वशंवदः
सुधाकरमालवीयः

——०——

राजकुमार को ऐसा चौंका दिया कि वह ज्वराक्रान्त हो गया और अपने द्वारा सुनी गई बोली की सत्यता ज्ञात होने पर उसने मृग को जब मुक्त कर दिया, तभी वह ठीक हुआ। मृग को उसके साथी छुड़ा लेते हैं, परन्तु शिकारी के आगमन से कछुआ घबड़ा जाता है और बहाना करके मृतक रूप में पड़ जाने वाला मृग एक चातुर्य पूर्ण कपट द्वारा, उसको छुड़ाता है।

इस तन्त्र में मित्रों की सम्प्राप्ति से ही आपत्तियों से छुटकारा मिला। अत: इसकी अन्वर्थ संज्ञा दो गई है। इसी प्रकार मित्र की महिमा बताकर तन्त्र का अन्त हो जाता है–

जो मनुष्य इस संसार में मित्र बनाता है और उसके साथ कपट का व्यवहार नहीं करता है वह कभी भी शत्रुओं से पराजित नहीं किया जा सकता (पृ० ४३४)।

तीसरा तन्त्र **काकोलूकीयम्** है; जिसमें युद्ध एवं सन्धि का वर्णन किया गया है कि किस प्रकार उलूकों की गुहा कौओं द्वारा जला दी गई। युद्ध का आरम्भ मात्र वाणी के एक दोष से होता है और इस प्रसंग में ब्याघ्र की खाल ओढ़े हुए एक गधे की कथा कही गई है; जिसने रेंककर अपने प्राण गँवाए। तब पक्षियों द्वारा राजा चुनने की एक दूसरी कथा कही जाता है। कौआ उलूक को भयावह बताकर उसके राजा चुने जाने के विरूद्ध आपत्ति करता है और उसे दर्पोक्ति के उपयोग का उदाहरण देने के लिए कौआ तीसरी कथा कहता है कि एक चतुर खरगोश ने बहाना बनाया कि उसे उसके स्वामी चन्द्रमा की ओर से, जिस चन्द्रमण्डल में हमें खरगोश बैठा हुआ दिखता है, एक आज्ञा प्राप्त हुई है। इस प्रकार दल के साथ एक झील के चारों ओर के जानवरों का नाश करने वाले एक हाथी को डरा कर भगा दिया। तदनन्तर वह उलूक की नीचता की निन्दा करता है और चौथी कहानी द्वारा एक दधिकर्ण नामक बिल्ली से न्याय करवाने के लिए आए एक मूर्ख खरगोश और तीतल के खा लिए जाने का उदाहरण देकर, न्यायकर्त्ता के रूप में एक नीच राजा से क्या भय है—यह बताया गया है।

अब पक्षियों को फुसलाया जाता है कि वे उल्लू का साथ छोड़ दे और अकेला उल्लू कौओं से बदला लेने का प्रण करता है। पाँचवीं कथा में यह दिखाया गया है कि धोखा देकर किस प्रकार जीत सकते हैं; जैसे बलिकर्म के लिए छाग को ले जाते हुए एक ब्राह्मण को ठगों ने यह विश्वास दिलाकर कि एक अपवित्र कुत्ते को क्यों ले जा रहा है, उसने छाग को ठग लिया।

कौआ मन्त्री उल्लूओं के सम्मुख एक शरणागत के रूप में उपस्थित होने की युक्ति सोचता है, जिस राजा-कौए को अच्छी सलाह न देने के कारण निकाल दिया गया

है, उसका मित्र भाव से स्वागत किए जाने की बात को दो दृष्टान्तों से बताकर ठीक ठहराया जाता है। पाँचवीं कथा चींटी और साँप की है। जिसमें वहुतों से विरोध न करने की सलाह दी गई है।

छठी कहानी ब्राह्मण और सर्प की है जिसमें यह दर्शाया गया है कि जो प्रीति खण्डित होकर जोड़ी जाती है, वह स्नेह प्रकट करने पर भी नहीं बढ़ती है। ७वीं कथा स्वर्ण हंस तथा ८वीं कथा शत्रु को पूजा करने वाले कपोत और लुब्धक की है।

नवीं कथा में यह बतलाया गया है कि एक वृद्ध पुरुष ने एक चोर का भी दयापूर्ण स्वागत किया, जिसके घर में घुस आने पर डरी हुई उसकी पत्नी ने वृद्ध को कस कर आलिङ्गित कर लिया था।

दसवीं 'ब्राह्मणचोरपिशाच-कथा' शत्रुओं में भेद करने के लाभ की प्रशंसा करती है। एक ब्राह्मण को उठाकर ले जाने के लिए आए हुए पिशाच तथा उसकी गौओं को चुराने की इच्छा करने वाले चोर में, दुष्कर्म पहले कौन करे? पर झगड़ा होने लगा तो ब्राह्मण जग गया और पिशाच को उसने मन्त्र बल से भगा दिया और चोर को डण्डे से।

ग्यारहवीं वल्मीकोदरस्थ साँप की है तथा बारहवीं कथा में केवल रक्ताक्ष उलूक ही अपने मूढ राजा को मूर्ख बढ़ई की कथा द्वारा चेतावनी देता है जिसने अपनी पत्नी के कहने में आकर कि वह किसी भी प्रकार उसका अनिष्ट नहीं होने देगी, अपनी पत्नी द्वारा किए जाते हुए अपमान को स्वीकार किया।

रक्ताक्ष उस चालबाज कौए के इस कथन की कि वह अपने को जलाकर उल्लू के रूप में पुनर्जन्म लेना चाहता है, भीगरी सत्यता को समझकर तेरहवीं कथा से यह सिद्ध करना चाहता है कि स्वभाव में इस प्रकार का परिवर्त्तन सम्भव नहीं है। एक तपस्वी ने एक चुहिया को मरने से बचाकर उसे एक युवती बना दिया। जब वह विवाह के उपयुक्त हो गई तो उसने उसके लिए उपयुक्त पति की खोज की। मेघ के बलशाली होने के कारण सूर्य ने विवाह का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। मेघ ने वायु से, वायु ने पर्वत से और पर्वत ने चूहे से अपनी हीनता स्वीकार की। अतः तपस्वी ने उस युवती को पुनः चुहिया में परिवर्तित कर दिया। १४वीं कथा स्वर्णविष्ठा वाले पक्षी की है और १५वीं कथा बिल की वाणी की है।

परन्तु उलूक राजा ने अपने शत्रु को दुर्ग में प्रवेश के लिए हठ किया और इसका बदला अग्नि द्वारा अपने घर का नाश होने के रूप में मिला। कौआ राजा

अपने मन्त्री को बहुत पुरस्कार देता है और उसके यह पूछने पर कि वह अपने शत्रुओं के साथ मिलना-जुलना किस प्रकार सह सका, उसका मन्त्री उसे उस साँप की (सोलहवीं) कहानी बतलाता है जिसने मेढकों के सामने यह बात बताई कि उसे एक ब्राह्मण द्वारा मेढकों का वाहन बनने का शाप मिला है। मेढकों के राजा को उस पर सवार होना अच्छा लगता है और वह खाने की कमी के कारण साँप की चाल को कमजोरी के कारण धीमा पड़ता देखकर वह अन्य मेढ़कों के बच्चों को खाने की अनुमति दे देता है, और वह साँप यह काम इतने उत्साहपूर्वक ढंग से करता है कि कुछ दिनों में सबको ही निगल जाता है।

सर्प के कथा के मध्य ही घृत से अन्धे हुए ब्राह्मण की (सत्रहवीं) कपट कथा है (पृ० ५९९) और विभिन्न नीति श्लोकों के बाद यह तन्त्र समाप्त हो जाता है।

चौथा तन्त्र वानर एवं मगर की कथा द्वारा **लब्धप्रणाश** का उदाहरण प्रस्तुत करता है। उन दोनों को इतनी मैत्री के साथ रहता देखकर मगर की पत्नी को इतनी अधिक ईर्ष्या हुई कि बीमार पड़ने का बहाना करके उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी वानर का हृदय पाने की इच्छा व्यक्त की। अत्यन्त दुःखी होने पर भी मगर ने वानर को अपने घर आने के लिए फुसलाया, परन्तु वानर को उसकी कपट योजना रास्ते में ही ज्ञात हो गई और उसने यह कहकर अपनी प्रत्युत्पन्नमतित्व के कारण रक्षा की कि उसका हृदय तो जामुन के पेड़ पर हीं रखा है। अतः जब मगर उसे पाने के लिए जामुन के पेड़ तक जाता है तब वानर उछल कर छलांग लगाते हुए पेड़ पर चढ़ जाता है और इस प्रकार विनाश जो प्राप्त था उससे वह बच निकला।

मगर उससे पुनः मित्रता करना चाहता है, परन्तु वानर इस सन्दर्भ में मेढकों के राजा गङ्गदत्त की (प्रथम) कथा सुनाता है। गङ्गदत्त एक प्रियदर्शन नामक सर्प को कूप में ले गया। जहाँ वह उसके सभी सम्बन्धियों को खा जाता है। किसी तरह मेढक ढेकी के सहारे कूप से बाहर आ जाता है और गोह से कहलवाता है कि जाकर सर्प से कहो कि गङ्गदत्त पुनः आने वाला नहीं। फिर वानर उससे कहता है कि वह पुनः आने वाले गधे के समान थोड़े ही है। दूसरी कहानी एक रुग्ण सिंह की है जो एक का हृदय तथा कान चाहता था। एक सियार एक गधे को उस सिंह के पास फुसलाकर लाता है कि वह गधी के पास उसे ले जा रहा है। सिंह उस पर जल्दी झपट पड़ता है और गधा भाग निकलता है। परन्तु सियार उसे बहकाकर पुनः ले आता है और गधा मारा जाता है। उधर सिंह उस औषधि को खाने के पूर्व विधिवत् अनुष्ठान करने के लिए जाता है और सियार गधे के हृदय और कान को खा जाता है और सिंह के पूछने पर यह कहता है

कि गधे के पास तो हृदय और कान थे ही नहीं, नहीं तो वह वापस क्यों लौट आता ?

तीसरी कथा कपट करने वाले, किन्तु सच बोलकर उसे नष्ट कर देने वाले कुम्भकार की है। कुम्भकार-कथा में ही एक अवान्तर कथा। सिंह-दम्पति द्वारा पोषित शृगाल-पुत्र की चौथी कथा है जिसमें कुलगत संस्कार की बात कही गयी है। पाँचवीं कथा में वानर स्त्री पर विश्वास न करने की सलाह देता है। छठी कथा नन्द और वररुचि की है जिसमें वानर यह कहता है कि स्त्री के कहने पर लोग क्या-क्या नहीं करते। सातवीं कथा में कम बोलने की सलाह है जिसमें बाघ के चमड़े को ओढ़कर रात में खेत चरने वाले गधे की कथा है। आठवीं कथा छिनार स्त्री और शृगाली की है जिसमें स्त्रीस्वाभाव के वशीभूत मूर्ख पुरुष की कथा है। नवीं कथा घण्टाधारी ऊँट की है जिसमें यह शिक्षा दी गई है कि जो पुरुष प्रमत्तता और मूर्खता के कारण सज्जनों के बताए गए मार्ग पर नहीं चलता है वह नष्ट हो जाता है। दसवीं कथा महाचतुरक शृगाल की है जिसमें यह शिक्षा दी गई है कि श्रेष्ठ पुरुष को नम्रता से, बलवान् को भेद से और नीच को कुछ देकर वश में कर लेना चाहिए। ग्यारहवीं कथा चित्राङ्ग नामक कुत्ते की है जिसमें यह बताया गया है कि अपनी ही जाति वालों से भय की सम्भावना होती है। अन्त में पुरुषार्थ से प्राप्त लक्ष्मी की महत्ता बताकर यह तन्त्र पूर्ण हो जाता है।

पाँचवा तन्त्र **अपरीक्षितकारक** है जो बिना विचारे कार्य करने के प्रति सावधान करता है। इसमें एक ब्राह्मण अपने होने वाले पुत्र का स्वप्न देख रहा है। उसकी पत्नी सोमशर्मा के पिता की बात का उल्लेख करके उसे दिवा स्वप्नों के प्रति सावधान करती है। एक ब्राह्मण, जिसने स्वप्न देखा कि वह बकरियाँ खरीदने के लिए बीस रुपयों में अपना भूसी निकाला हुआ अन्न (सत्तू) बेच देगा। उसके पास पाँच सालों में सौ गायों को खरीदने लायक बकरियों का झुण्ड हो जायेगा और इस प्रकार पुत्र उत्पन्न होने तक वह धनवान् हो जायगा, बच्चा घर आएगा और उसकी माँ कामकाज में लगी होने के कारण उसकी उपेक्षा कर देगी, जिस पर उसका वीर पिता अपनी पत्नी को पीटेगा। स्वप्न में उसने यही काम किया और एक ही प्रहार में सत्तू का घट टूट जाने से अभीष्ट समृद्धि की सारी आशा को ही नष्ट कर दिया। उस ब्राह्मण को, वस्तुतः एक पुत्र उत्पन्न होता है और पत्नी अपने पास किसी दासी के न होने के कारण स्नान के लिए जाने पर बच्चे को अपने पति की देख-रेख में छोड़ जाती है। रानी की ओर से बुलावा आता है और ब्राह्मण अपने पालतू नेवले को बच्चे की रक्षा के लिए छोड़कर राजमहल चला जाता है। वापस

लब्धप्रणाशनाम चतुर्थतन्त्रस्य कथा-सूची

अपरीक्षितकारकनाम पञ्चमतन्त्रस्य कथा-सूची

---*---

उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं
क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् ।
शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदं च
लक्ष्मीः स्वयं मार्गति वासहेतोः ।। (पृ० ३८७)

उत्साह से परिपूर्ण, किसी कार्य में देरी न करने वाले, क्रिया विधि को जानने वाले, दुर्व्यसनों से अलग रहने वाले, शौर्यगुण से सम्पन्न, दूसरे के उपकार को मानने वाले, तथा अत्यन्त स्थिर मित्रता करने वाले पुरुषों को लक्ष्मी अपना निवास स्थान बानने के लिए स्वयं खोज लेती है ।

कृष्णदास संस्कृत सीरीज

१२६

श्रीविष्णुशर्मविरचितम्

पञ्चतन्त्रम्

[मित्रभेदः]

'ज्योत्स्ना' 'मृदुला' संस्कृतहिन्दीटीकोपेतम्

सम्पादक एवं व्याख्याकार

डॉ० सुधाकर मालवीय

एम०ए०, पीएच्०डी०, साहित्याचार्य

संस्कृत विभाग, कला संकाय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी



कृष्णदास अकादमी, वाराणसी-२२१००१

१९९०

प्रकाशक : कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०४७
मूल्य : ३० रु०

पो० बा० नं० ११७८
चौक (चित्रा सिनेमा बिल्डिंग), वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ६२१५०

अपरञ्च प्राप्तिस्थानम्
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० १००८, वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ६३१४५

KRISHNADAS SANSKRIT SERIES
126

PANCATANTRA

(*MITRABHEDA*)

OF

SRI VISHNU SHARMA

With Jyotsna & Mridula Sanskrit
& Hindi Commentaries

Edited & Translated by

Dr. SUDHAKAR MALAVIYA

M.A., Ph. D., Sahityacarya
Department of Sanskrit, Arts Faculty
Banaras Hindu Universiry, Varanasi



KRISHNADAS ACADEMY

VARANASI – 221001

1990

Publisher : Krishnadas, Academy, Varanasi
Printer : Chowkhamba Press, Varanasi
Edition : First, 1990
Price : Rs. 30/-

Oriental Publishers and Distributers
Post Box No 1118
Chowk (Chitra Cinema Building), Varanasi-221001
(INDIA)
Phone : 62150

Also can be had from :
Chowkhamba Sanskrit Series Office
K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1008, Varanasi-221001 (India)
Phone : 63145

भूमिका

पञ्चतन्त्र संस्कृत पशु-कथा का एक महान् ग्रन्थ है। इसके रचयिता पं० विष्णु शर्मा हैं। यह ग्रन्थ विश्व की पशु-कथा की परम्परा में भारत की एक महान् देन है। इसमें सरल भाषा में अनेक पशु-कथाएँ वर्णित हैं, जिनमें नीति के माध्यम से जीवन की विविध समस्याओं का सुगम समाधान प्रस्तुत किया गया है। ये कथाएँ मूलतः गद्य में हैं किन्तु बीच-बीच में प्रचुर मात्रा में पद्यों का भी समावेश कर विषय को अधिक परिष्कृत एवं स्पष्ट कर दिया गया है।

पञ्चतन्त्र की कहानियाँ नितान्त प्राचीन हैं। इसके विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न संस्करण हुए हैं। डा० हर्टेल ने सर्वप्रथम पञ्चतन्त्र का सम्पादन कर हार्वर्ड ओरियण्टल सीरीज सख्या तेरह में इसे प्रकाशित कराया था। इसका सर्वाधिक प्राचीन संस्करण 'तन्त्राख्यायिका' के नाम से विख्यात है और इसका मूल स्थान कश्मीर है। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डा० हर्टेल ने अत्यन्त श्रम के साथ इसके प्रामाणिक संस्करण को खोज निकाला था। उनके अनुसार 'तन्त्राख्यायिका' या 'तन्त्राख्यान' ही पञ्चतन्त्र का मूल रूप है। इसमें कथा का रूप भी संक्षिप्त है तथा नीतिमय पद्यों के रूप में समावेशित पद्यात्मक उद्धरण भी कम हैं।

पञ्चतन्त्र का रचना काल अनिश्चित है। किन्तु इसका प्राचीन रूप डा० हर्टेल के अनुसार दूसरी शती का है। इसका प्रथम पहलवी अनुवाद छठी शती में हुआ था। डा० हर्टेल ने पचास भाषाओं में इसके दो सौ अनुवादों का उल्लेख किया है। पञ्चतन्त्र का सर्वप्रथम परिष्कार एवं परिबृंहण प्रसिद्ध जैन विद्वान् पूर्णभद्र सूरि ने सं०-१२५५ में किया था[१]। आजकल का उपलब्ध संस्करण इसी पर आधृत है।

पञ्चतन्त्र में पाँच तन्त्र या विभाग हैं—१. मित्रभेद, २. मित्रसम्प्राप्ति, ३. काकोलूकीयम् (या सन्धिविग्रह), ४. लब्ध प्रणाश, एवं ५. अपरीक्षितकारकम्। इसके प्रत्येक तन्त्र में एक मुख्य कथा

---

१. प्रत्यक्षरं प्रतिपदं प्रतिवाक्यं प्रतिश्लोकम्।
श्रीपूर्णभद्रसूरिर्विशोधयामास शास्त्रमिदम्॥

होती है और उस मुख्य कथा को पुष्ट करने के लिए अनेक गौड़ कथाएँ या अवान्तर कथाएँ गुम्फित होती हैं।

प्रथम तन्त्र मित्रभेद की अङ्गी कथा के पूर्व दक्षिण में महिलारोप्य के राजा अमरशक्ति की कथा दी गई है। उन्हें इस बात का दुःख है कि उनके पुत्र मन्दबुद्धि हैं और वे किसी प्रकार की शिक्षा ग्रहण करने में असमर्थ हैं। वे विष्णुशर्मा नामक महापण्डित को अपने पुत्रों को सौंप देते हैं और उन्हें छह मास के भीतर आख्यायिकाओं के माध्यम से शिक्षित करने का कार्य सम्पन्न करने में सफल होते हैं। यही कथामुख है।

मित्रभेद नामक भाग की अङ्गी कथा में एक दुष्ट सियार द्वारा पिङ्गलक नामक सिंह के साथ संजीवक नामक बैल की शत्रुता (—भेद) उत्पन्न कराने का वर्णन है। इसी संजीवक को सिंह ने आपत्ति से बचाया था और अपने दो मन्त्रियों करटक और दमनक के विरोध करने पर भी उसे पहले अपना मित्र बना लिया था। **द्वितीय तन्त्र** का नाम **मित्र-सम्प्राप्ति** है। इसमे कपोतराज चित्रग्रीव की कथा है। इसमें मुख्य रूप से मित्र की प्राप्ति करा दी जाती है। **तृतीय तन्त्र** का नाम **काकोलूकीयम्** या सन्धिविग्रह है। इसमें युद्ध एवं सन्धि का वर्णन है। इसमें उलूकों की गुफा को कौओं द्वारा जला देने की कथा कही गई है। **चतुर्थ तन्त्र** का नाम **लब्धप्रणाश** है। नाश को प्राप्त एक बन्दर तथा ग्राह की कथा इसमें वर्णित है। **पञ्चम तन्त्र 'अपरीक्षितकारक'** नाम का है। इसमें बिना विचारे काम करने वालों को सावधान करने की कथा कही गयी है।

पञ्चतन्त्र की कथा के माध्यम से कवि ने अनेक सिद्धान्त रूप वचनों का प्रतिपादन किया है। इनमें नैतिक, धार्मिक, दार्शनिक एवं राज-नीतिक जीवन के सामान्य नियम अनुस्यूत हो गए हैं। इसकी भाषा अत्यन्त सरल, ललित एव हृदयग्राही है। वाक्य वार्तालाप की शैली में निवद्ध हैं। ये अत्यन्त छोटे छोटे किन्तु प्रभावशाली हैं। यत्र तत्र विशे-षणों एवं कल्पनाओं का समावेश कर इसमें काव्यात्मक प्रवाह प्रकट किया गया है। सभी स्थानों पर व्यवहारकुशल एवं नीतिपटु व्यक्ति का व्यक्तित्व प्रदर्शित है। इसकी भाषा मुहावरेदार तथा विनोदप्रियता को लिए हुए है। जैसे 'छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति' 'अर्धचन्द्रं दत्वा निष्का-सितः' (गरदनिया देकर बाहर निकाल दिया) आदि। कवि ने रामायण, महाभारत तथा नीति के प्राचीन ग्रन्थों से उद्धरण लेकर विचारों को पुष्ट किया है। ज्योतिष ग्रन्थ से भी उदाहरण लिया गया है। कवि की

प्रतिज्ञा है कि छः महीने में ही इसको पढ़ने वाला नीतिशास्त्र का ज्ञाता हो जाएगा।[१] इसकी व्यङ्ग्यात्मकता अत्यन्त चुभने वाली है। कहीं भी वाक्य विन्यास दुरूह नहीं है। अन्ततः पञ्चतन्त्र की अत्यन्त सरल, रोचक एवं सदुपदेशप्रद कथाओं के आधार पर उसमें निहित नीतिवाक्यों का अभ्यास कर लेने पर कोई भी व्यक्ति अपने वैयक्तिक, पारिवारिक, आर्थिक एव सामाजिक जीवन की समस्याओं को भलीभाँति सुलझा सकता है। अनेक महत्त्वपूर्ण सूक्तियों का संग्रह कर समुचित अवसर पर उनका प्रयोग कर लाभ उठा सकता है।

प्रस्तुत संस्करण में हिन्दी के साथ सस्कृत टीका भी दी गयी है। सभी पृष्ठ पर मुख्य कथा और उनके बीच आने वाली अवान्तर कथाओं के शीर्षक लगाए गये हैं जो अद्यावधि किसी भी संस्करण में नहीं थे। आशा है सभी श्लोकों की संस्कृत टीका प्रदर्शित करने वाला यह संस्करण बालकों के लिए अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होगा। यहाँ आगे सख्या लगाकर गद्यों की सस्कृत टीका दी गयी है। चौखम्बा विद्याभवन के संस्करण में कई जगहों पर मूल ही छूट गया है। इस संस्करण का यह रूप प्रदान करने में जीवानन्द का संस्करण अत्यन्त लाभदायक रहा है। तदर्थ लेखक उनका ऋणी है। हिन्दी टीका में जो सहायता गुरुकल्प स्वर्गीय प्रद्युम्न पाण्डेय ने की है उसके लिए लेखक श्रद्धावनत है। इस संस्करण को इस रूप में प्रस्तुत करने का सम्पूर्ण श्रेय चौखम्बा संस्कृत सीरीज को ही है।

संस्कृत विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
१८.१०.१९९०

विद्वद्वशंवदः
सुधाकर मालवीय

---

१. पुनरेतांस्मन् पुत्रान्मासषट्केन यदि नीतिशास्त्रज्ञान्न करोमि, ततः स्वनामत्यागं करोमि (पञ्च० पृ० ८)।

मित्रभेद
कथासूची

*जो पृष्ठ संख्या छूट है उसमें मित्रभेद की प्रधान कथा (पिङ्गलक एवं संजीवक) पुनः चल पड़ती है।

+ १३—१५ तक की और २०वीं कथा अवान्तर कथा के मध्य अवान्तर कथा है।

॥ श्रीः ॥

पञ्चतन्त्रम्

'ज्योत्स्ना'-'मृदुला' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

—— ० ——

कथामुखम्

ब्रह्मा रुद्रः कुमारो हरिवरुणयमा वह्निरिन्द्रः कुबेर-
श्चन्द्रादित्यौ सरस्वत्युदधियुगनगा वायुरुर्वी भुजङ्गाः ।
सिद्धा नद्योऽश्विनौ श्रीर्दितिरदितिसुता मातरश्चण्डिकाद्या
वेदास्तीर्थानि यज्ञा गण-वसु-मुनयः पान्तु नित्यं ग्रहाश्च ॥१॥

---

* ज्योत्स्ना *

राधिकावल्लभं नत्वा ब्रह्मलीलाकलेवरम् ।
अम्बिकां शारदां चापि वन्दे विघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥
टीकामभिनवां रम्यां 'ज्योत्स्नां' च 'मृदुलां' तथा ।
करोति बालबोधाय मालवीयः सुधाकरः ॥ २ ॥

ग्रन्थारम्भे प्रारिप्सित परिसमाप्तिकामो ग्रन्थकृत् विष्णुशर्मा नाम कश्चिद्राजनीतिनिपुणो निर्विघ्नतासिद्ध्यर्थं दुरदृष्टप्रशमनार्थं देवादीन् सङ्कीर्त्य तदाशिषं कामयते—ब्रह्मेति ।

ब्रह्मा हिरण्यगर्भः, रुद्रः शिवः, कुमारः कार्त्तिकेयः, हरिः विष्णुः, वरुणः जलदेवः, यमः शमनः, वह्निः अग्निः, इन्द्रः देवराजः, शक्रः, कुबेरः धनदः, चन्द्रः सोमः, आदित्यः सूर्यः, सरस्वती वाग्देवी, उदधिः समुद्रः, युगानि कृतादीनि (कृत-त्रेता-द्वापर-कलिनामानि) नगाः पर्वताः, वायुः पवनः,

---

* मृदुला *

ब्रह्मा (आदि शरीरी), रुद्र (महादेव), षडानन कार्तिकेय, (शेषशायी भगवान्) विष्णु, (जल के अधिष्ठातृ देवता) वरुण, (दण्डाधिकारी) यम, वह्नि (अग्निदेव) इन्द्र, कुबेर (धनाध्यक्ष); चन्द्र, सूर्य, सरस्वती, समुद्र; युग (कृत, त्रेता, द्वापर, कलि) पर्वत, वायु, पृथ्वी, सर्प, सिद्ध

मनवे वाचस्पतये शुक्राय पराशराय ससुताय।
चाणक्याय च विदुषे नमोऽस्तु नयशास्त्रकर्तृभ्यः ॥ २ ॥

उर्वी पृथिवी, भुजङ्गाः पन्नगाः, सिद्धाः देवयोनिविशेषाः, नद्यः सरितः, गङ्गाप्रभृतय इत्यर्थः, अश्विनौ अश्विनीकुमारौ, श्रीः लक्ष्मीः, दितिः कश्यपपत्नी, दैत्यजननी इत्यर्थः, अदितिसुताः देवा इत्यर्थः, चण्डिकाद्याः चण्डीप्रभृतयः, मातरः मातृवर्गाः, वेदाः ऋक्सामयजुरथर्वरूपाश्चत्वारः, तीर्थानि पुण्यक्षेत्राणि काश्यादीनि, यज्ञाः दर्शपौर्णमासादयः, गणाः प्रमथाः, शिवानुचरविशेषाः इत्यर्थः, वसवः अष्टसङ्ख्याकाः गणदेवताः, मुनयः व्यासादयः, महर्षय ग्रहाश्च नवसङ्ख्याकाः रव्यादयश्च, नित्यं सततं, पान्तु रक्षन्तु, अस्मानिति शेषः। स्रग्धरा वृत्तम्—'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्'—इति लक्षणात् ॥ १ ॥

साम्प्रतं नीतिशास्त्रकारान् प्रणमति—मनवे इति। मनवे स्वायम्भुवाय, मनुस्मृतिकारायेत्यर्थः वाचस्पतये बृहस्पतये, शुक्राय दैत्याचार्याय, ससुताय सपुत्राय व्याससहितायेत्यर्थः, पराशराय पराशरमुनये, विदुषे पण्डिताय, चाणक्याय च कौटिल्याय च एतेभ्यः, तथा नयशास्त्रकर्तृभ्यः नीतिशास्त्ररचयितृभ्यः, पूर्वोक्तेभ्योऽन्येभ्य इति भावः, नमोऽस्तु प्रणतिरस्तु। आर्या वृत्तं—'यस्या पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या ॥' इति लक्षणात् ॥ २ ॥

(विशेष देवयोनि) नदियाँ, अश्विनीकुमार, लक्ष्मी (विष्णुशक्ति), दिति (कश्यप की पत्नी और दैत्यों की माता), देवता, चण्डी (ब्रह्माणी) आदि माताएँ, वेद (ऋक्, यजुः, साम, अथर्व), तीर्थ (काशी, प्रयागादि), यज्ञ (सन्ध्यादि पंचमहायज्ञ अथवा दर्शपौर्णमासादि यज्ञ), प्रमथ आदि शिव के गण, आठ वसु (धर, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल, अनल, प्रत्यूष, प्रभास), मुनि (व्यासादि अथवा वशिष्ठ आदि सप्त मुनि) और (सूर्यादि नव) ग्रह—ये सभी सर्वदा हमलोगों की रक्षा करें ॥ १ ॥

मनु (स्वयंभू के पुत्र तथा मनुस्मृति के रचयिता), बृहस्पति (देवगुरु), शुक्र (दैत्यगुरु और शुक्रनीति के रचयिता), पराशर (पराशर स्मृति के रचयिता), व्यास तथा चाणक्य (कौटिल्य अर्थशास्त्र के प्रेणता तथा महान् कूटनीतिज्ञ) एवं नीतिशास्त्र के अन्य सभी निर्माताओं के प्रति मेरा (विष्णु शर्मा का) नमस्कार है ॥ २ ॥

कृता भिक्षाऽनेकैर्वितरति नृपो नोचितमहो
कृषिः क्लिष्टा विद्या गुरुविनयवृत्याऽतिविषमा।
कुसीदाद्दारिद्र्यं परकरगतग्रन्थिशमना-
न्न मन्ये वाणिज्यात्किमपि परमं वर्त्तनमिह ॥ ११ ॥
उपायानां च सर्वेषामुपायः पण्यसंग्रहः।
धनार्थं शस्यते ह्येकस्तदन्यः संशयात्मकः ॥ १२ ॥

कृतेति। अनेकैः, जनैरिति शेषः, भिक्षा कृता, किन्तु तेषां भिक्षायां न उन्नतिर्जातेति भावः। नृपः प्रभुः, उचितं वेतनं न वितरति ददाति, तस्मात् राजसेवायां न विशेषलाभ इति भावः, अहो इति खेदे। कृषिः, क्लिष्टा क्लेशदायिनी, तस्मात् कृषिकर्मणः बहुक्लेशसाध्यतया अस्मदशक्यतया च न विशिष्टलाभहेतुरिति भावः। विद्या, गुरुषु विनयवृत्या शिष्टाचार-साध्यत्वेन, अतिविषमा अतिदुर्लभेति भावः। परेषां करगतस्य, धनस्य इति भावः, यः ग्रन्थिः बाधाविशेषः इति यावत्, तस्य शमनात् शान्ति-विधानात् हेतोः कुसीदात् धनव्यवहारात्, अधमर्णे धननियोगादित्यर्थः, अपीति शेषः, दारिद्र्यं, सम्भवतीति शेषः। कुसीदजीविभिः परहस्त-गतस्य धनस्य आदानसमये प्रायशोऽशेषा बाधा प्राप्यते, किमधिकं; धर्माधिकरणसाहाय्यमपि गृह्यते, तथात्वेऽपि फलसिद्धिर्बह्वायासकरीति तस्मात् दारिद्र्यसम्भव इति निष्कर्षः। तस्मात् इह संसारे, वाणिज्यात् परमम् उत्कृष्टं, किमपि वर्त्तनं जीवनोपायः, न वर्त्तते इति शेषः, इत्यहं मन्ये। शिखरिणी वृत्तं,—"रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी" इति लक्षणात् ॥ ११ ॥

उपयानामिति।—सर्वेषाम उपायानाम् उपार्जनविधीनां मध्ये, एकः

का साधन है। कहा भी गया है—

भिक्षा अनेक व्यक्तियों के यहाँ जाने पर ही प्राप्त की जाती है, सेवा करने पर भी राजा उचित वेतन नहीं देता, कृषिकर्म में अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं, गुरु के प्रति अत्यन्त विनम्र व्यवहार से प्राप्त होने वाली विद्या का मिलना भी बहुत कठिन है, रुपये के लेने से दरिद्रता होती है क्योंकि अपना धन दूसरों के हाथ में रहने से पूँजी चली जाने का भय बना रहता है। इसलिए व्यापार से बढ़कर और किसी भी उपाय को मैं जीवनोपाय का साधन नहीं मानता हूँ ॥ ११ ॥

धन प्राप्ति के समस्त उपायों में विक्रेय वस्तुओं का संग्रह ही धन प्राप्ति

तच्च वाणिज्यं सप्तविधमर्थागमाय[1] स्यात् । तद्यथा-गान्धिकव्यवहारः, निक्षेपप्रवेशः, गोष्ठिककर्म, परिचितग्राहकागमः, मिथ्याक्रयकथनम्, कूटतुलामानम्, देशान्तराद्भाण्डानयनं चेति । उक्तं च—

केवलः, पण्यसङ्ग्रहः पण्यानां विक्रेयद्रव्याणां; सङ्ग्रहरूपः उपायः, धनार्थं शस्यते प्रशस्ततमः कीर्त्यते, तत् तस्मात्, पण्यसङ्ग्रहरूपवाणिज्यादित्यर्थः, अन्यः पूर्वोक्तभिक्षादिरूपः उपायः, संशयात्मकः सन्देहसङ्कुलः, फलसिद्धाविति शेषः ॥ १२ ॥

१. अर्थागमाय—धनोपार्ज्जनाय। गान्धिकव्यवहारः—गन्धद्रव्यव्यवसायः । निक्षेपप्रवेशः—मह्यं प्रत्यहम् एतावत् वस्तु देयं, त्वयि प्रभूतमेतत् द्रव्यं निक्षिपामि, इत्यभिधाय निक्षेपिणा व्यवसायिहस्ते यत् बहुकालिकमूल्यस्वरूपं वस्तु निक्षिप्यते, स निक्षेपः, तस्य प्रवेशः,—स्वायत्तीकरणमित्यर्थः । गोष्ठिककर्म—गवां स्थानं गोष्ठं, तत्सम्बन्धि कर्म, एकस्थानस्थितानां बहूनां गवां भक्षणीययवसादीनां भारग्रहणपूर्वकं तत्समाधानम्; यद्वा,—गोष्ठिककर्म—समाजकर्म, समाजे बहूनां लोकानां समावेशवशात् तेषां सर्वनिष्पत्तिभारग्रहणेन तत्समाधानम् । परिचितग्राहकागमः,—परिचितो हि ग्राहकः क्रेयद्रव्याणां मूल्यं प्रति द्विरुक्तिं न करोति, तस्मात् तत्सकाशे प्रचुरलाभसम्भव इति भावः । मिथ्याक्रयकथनम्—अल्पेन मूल्येन क्रीतं वस्तु मया इदं बहूनां मूल्येन क्रीतमिति ग्राहकसमीपे मृषाकथनम् । कूटतुलामानं—कपटतौलदण्डादिना द्रव्याणां तोलनम् । देशान्तरेति । देशान्तरात्—भिन्नदेशात्, भण्डानां—द्रव्याणाम्; आनयनं, स्वल्पमूल्येनेति भावः ।

का सर्वोत्तम साधन कहा जाता है । क्योंकि इसके अतिरिक्त अन्य सभी साधनों द्वारा धन प्राप्त होने के विषय में सन्देह बना रहता है ॥

धन प्राप्त करने के लिए वह व्यापार भी सात प्रकार का होता है जैसे गंध द्रव्यों (सुगन्धित जड़ी बूटियों) का व्यवसाय, निक्षेपप्रवेश (बहुमूल्य वस्तु को अपने पास धरोहर के रूप में रखकर उसके बदले में सूद पर थोड़ा धन देना), गोष्ठिककर्म (बहुत सी गायों को एक स्थान में एकत्रित करके उनके दूध आदि का व्यवसाय करना अथवा संघ बनाकर व्यवसाय करना) परिचित ग्राहकों से धन लाभ करना (परिचित ग्राहक नियमित होते हैं और वे बारबार मूल्य नहीं पूछते हैं, उनके सामने जो भी मूल्य बताया जाता है, उसी मूल्य पर वस्तु खरीद लेते हैं, इससे अधिक धन मिलता है), थोड़े मूल्य में खरीदी गई वस्तु का ग्राहक से अधिक मूल्य

पण्यानां गान्धिकं पण्यं किमन्यैः काञ्चनादिभिः ।
यत्रैकेन च यत्क्रीतं तच्छतेन प्रदीयते ॥ १३ ॥
निक्षेपे पतिते हर्म्ये श्रेष्ठी स्तौति स्वदेवताम् ।
निक्षेपी म्रियते तुभ्यं प्रदास्याम्युपयाचितम् ॥ १४ ॥
गोष्ठिककर्मनियुक्तः श्रेष्ठी चिन्तयति चेतसा हृष्टः ।
वसुधा वसुसंपूर्णा मयाऽद्य लब्धा किमन्येन ॥ १५ ॥

पण्यानामिति । पण्यानां विक्रेयाणां द्रव्याणां मध्ये, गान्धिकं पण्यं गन्धसम्बन्धिविक्रेयं वस्तु, श्रेष्ठमिति शेषः; अन्यैः काञ्चनादिभिः, पण्यैरिति शेषः, किम् ? काञ्चनादिकं गान्धिकेन तुल्यं नेति भावः । यत्र यतः, एकेन, मूल्येन इति शेषः, यत् गन्धद्रव्यं, क्रीतं तत् शतेन, मूल्येनेति शेषः, प्रदीयते ॥ १३ ॥

निक्षेप इति । हर्म्ये स्वगृहे इति भावः, निक्षेपे पतिते केनचित् निहिते इति यावत्, श्रेष्ठी वणिक्, स्वदेवतां स्वव्यवसायाधिष्ठात्रीं देवतां, स्तौति, निक्षेपी निक्षेप्ता, म्रियते, चेदिति शेषः, तुभ्यम् उपयाचितं प्रदास्यामि; अभिमतेन वस्तुना त्वां पूजयिष्यामीति भावः ॥ १४ ॥

गोष्ठिकेति । गोष्ठिककर्मणि पूर्वोक्ते, नियुक्तः श्रेष्ठी चेतसा हृष्टः सन् चिन्तयति, मया वसुसम्पूर्णा धनपूर्णा, वसुधा पृथ्वी, अद्य लब्धा, अन्येन किम् ? नान्येन मे प्रयोजनमित्यर्थः । गोष्ठिकव्यवहारे एव मया प्रभूतं लभ्यते, अन्यद् भवतु न वा इति भावः । आर्य्या वृत्तम् ॥ १५ ॥

बताना, विक्रेय वस्तु को कम तौलना, दूसरे देश से वर्तन आदि वस्तुओं का लाना । कहा भी गया है—

बिक्री करने योग्य वस्तुओं में गन्ध द्रव्य का व्यापार करना, सोने आदि अन्य व्यापारों से अच्छा होता है क्योंकि वह एक में खरीदा जाता है और सौ में बेंचा जाता है ॥ १३ ॥

धरोहर की वस्तु घर में आ जाने पर सेठ अपने कुलदेवता से प्रार्थना करता है कि यदि धरोहर रखने वाला व्यक्ति मर जाय तो मैं आपकी इच्छित वस्तुओं से पूजा करूँगा ॥ १४ ॥

गोष्ठिक कर्म में लगा हुआ सेठ प्रसन्न चित्त से विचार करता है कि अब तो मुझे धन से परिपूर्ण समस्त पृथ्वी ही प्राप्त हो गई है । मुझे अब अन्य वस्तुओं से कोई प्रयोजन नहीं है ॥ १५ ॥

परिचितमागच्छन्तं ग्राहकमुत्कण्ठया विलोक्यासौ ।
हृष्यति तद्धनलुब्धो यद्वत्पुत्रेण जातेन ॥ १६ ॥

अन्यच्च —पूर्णापूर्णे माने परिचितजनवञ्चनं तथा नित्यम् ।
मिथ्याक्रयस्य कथनं प्रकृतिरियं स्यात्किरातानाम् ॥ १७ ॥

द्विगुणं त्रिगुणं वित्तं भाण्डक्रयविचक्षणाः ।
प्राप्नुवन्त्युद्यमाल्लोका दूरदेशान्तरं गताः ॥ १८ ॥

इत्येवं सम्प्रधार्य मथुरागामीनि भाण्डान्यादाय शुभायां तिथौ गुरुजनानुज्ञातः सुरथाधिरूढः प्रस्थितः । तस्य च [1]मङ्गलवृषभौ संजीवक-

---

परिचितमिति । असौ श्रेष्ठी, परिचितं ग्राहकमागच्छन्तम् उत्कण्ठया औत्सुक्येन, विलोक्य तस्य धनलुब्धः सन् पुत्रेण जातेन यद्वत् यथा, हृष्यति, तथा आनन्दमनुभवति । आर्या वृत्तम् ॥ १६ ॥

पूर्णेति । माने पूर्णापूर्णे कदाचित् पूर्णं कदाचित् अपूर्णं, स्वयं द्रव्यक्रये पूर्णं विक्रये अपूर्णमिति भावः; नित्यं सततं, परिचितानां जनानां वञ्चनं प्रतारणम्; तथा मिथ्याक्रयस्य कथनम् इयं किरातानां व्याधानां, प्रकृतिः स्वभावः, स्यात् । आर्य्या वृत्तम् ॥ १७ ॥

द्विगुणमिति । भाण्डानां विक्रेयद्रव्याणां, क्रये विचक्षणाः निपुणाः; लोकाः वणिज इत्यर्थः, उद्यमात् उत्साहात्, दूरदेशान्तरं गताः सन्तः द्विगुणं मूलधनादिति शेषः, वित्तं धनं, प्राप्नुवन्ति, लाभरूपेणेति भावः ॥ १८ ॥

१. मङ्गलवृषभौ—माङ्गलिकवृषौ । गृहोत्पन्नौ—गृहजातौ । धूर्वोढारौ—भारवाहकौ ।

परिचित ग्राहक को आते देखकर व्यापारी उसके धन के लोभ की उत्कण्ठा से उसी प्रकार अत्यन्त प्रसन्न हो उठता है, जिस प्रकार लोग पुत्र जन्म से प्रसन्न हो उठते हैं ॥ १६ ॥

खरीदते समय पूरा किन्तु बेंचते समय कम तौलकर प्रतिदिन परिचित ग्राहकों को ठगना और झूठा भाव बतलाना (खरीद भाव को बढ़ाकर बतलाना)—यह किरातों का (एक जंगली जाति) स्वभाव होता है ॥ १७ ॥

बरतनों का क्रय विक्रय करने वाले चतुर व्यापारी दूसरे दूर देशों में जाकर उद्योग द्वारा दूना तिगुना धन प्राप्त कर लेते हैं ॥ १८ ॥

ऐसा निश्चय करके वर्धमान ने मथुरा में बिकने योग्य बर्तनों को लेकर शुभ मुहूर्त में गुरुजनों की आज्ञा से रथ पर बैठकर प्रस्थान किया, घर में

प्रमादालस्यजाड्यानि ख्यापितानि निजानि तैः ॥ ४० ॥
सर्पान् व्याघ्रान् गजान् सिंहान् दृष्ट्वोपायैर्वशीकृतान् ।
राजेति कियती मात्रा धीमतामप्रमादिनाम् ॥ ४१ ॥
राजानमेव संश्रित्य विद्वान् याति परां गतिम् ।
विना मलयमन्यत्र चन्दनं न प्ररोहति ॥ ४२ ॥
धवलान्यातपत्राणि वाजिनश्च मनोरमाः ।
सदा मत्ताश्च मातङ्गाः प्रसन्ने सति भूपतौ ॥ ४३ ॥

दुःसेव्याः, इति प्राहुः वदन्ति, तैः, निजानि स्वानि, प्रमादालस्यजाड्यानि ख्यापितानि प्रकटितानि, क्रियन्ते इति शेषः; ये हि प्रमादिनः अलसाः जडाश्च तेषामेवेदृगुक्तिरिति भावः ॥ ४० ॥

सर्पानिति । उपायैः सर्पान् व्याघ्रान् गजान् सिंहान् वशीकृतान् दृष्ट्वा, स्थितानामिति शेषः, अप्रमादिनाम् अवधानवतां, धीमतां बुद्धिमतां जनानां, राजा इति कियती मात्रा भार इत्यर्थः; अनायासेनैव तादृशैः पुरुषैः राजा वशीकर्त्तुं शक्यते प्रति मन्यन्ते इति भावः ॥ ४१ ॥

राजानमिति । विद्वान् जनः, राजानमेव संश्रित्य सेवित्वेत्यर्थः, परां महतीं, गतिम् उन्नतिमित्यर्थः, याति प्राप्नोति । चन्दनं मलयं तदाख्यपर्वतं, विना अन्यत्र न प्ररोहति उद्भवति । अत्र प्राप्तिप्ररोहयोः साधारणधर्मयोः प्रतिबिम्बनात् दृष्टान्तालङ्कारः; तदुक्तं दर्पणे,—"दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्" (सा० द० १०.५०) इति ॥ ४२ ॥

धवलानीति । भूपतौ प्रसन्ने सति धवलानि श्वेतानि, आतपत्राणि

की अराधना करना (राजा को प्रसन्न करके उनका कृपा पात्र बनना) बहुत कठिन है, वे अपनी असावधानी, आलस्य और मूर्खता ही प्रकट करते हैं ॥ ४० ॥

जब सर्प, सिंह, व्याघ्र एवं गज को भी उपायों द्वारा वशीभूत होते देखा जा सकता है तब सावधान रहने वाले बुद्धिमान व्यक्तियों के लिए राजा को अपने अनुकूल बना लेना कोई बड़ी बात नहीं है ॥ ४१ ॥

राजा का ही आश्रय लेकर विद्वान् उच्च पदवी प्राप्त करता है, क्योंकि चन्दन का वृक्ष मलय पर्वत के अतिरिक्त अन्य स्थान पर नहीं उगता है ॥ ४२ ॥

श्वेत छत्र, सुन्दर घोड़े और मतवाले हाथी सर्वदा राजा की प्रसन्नता

करटक आह—'अथ भवान् किं कर्तुमनाः ?' सोऽब्रवीत्—'अद्य अस्मत्स्वामी पिङ्गलको भीतो भीतपरिवारश्च वर्तते। तदेनं गत्वा भयकारणं विज्ञाय 'संन्धि-विग्रह-यान-आसन-संश्रय-द्वैधीभावानामेकतमेन संविधास्ये।'

करटक आह—'कथं वेत्ति भवान् यद्भयाविष्टोऽयं स्वामी ?' सोऽब्रवीत्-ज्ञेयं किमत्र ? यत उक्तं च—

उदीरितोऽर्थः पशुनापि गृह्यते
हयाश्च नागाश्च वहन्ति चोदिताः।

छत्राणि, मनोरमा रम्याः, वाजिनः अश्वाः, सदा मत्ताः मदस्राविणः, मातङ्गाः हस्तिनश्च, भुज्यन्ते इति शेशः; राजानुग्रहे नाना सम्पद् भोगः इति भावः॥ ४३॥

१. सन्धीति। सन्धिः,—विरोधिनीरुभयोः सम्मेलनं, विग्रहः,—युद्धं, यानं—शत्रुं प्रति यात्रा, आसनं—समयप्रतीक्षणं, संश्रयः,—दुलवताऽभियुक्तस्य प्रबलाश्रयणं द्वैधीभावः,—बलिनोर्वैरिणोर्मध्ये काकाक्षिवदलक्षिततया स्थितः "इदं राज्यमहश्च तवैव" इत्युभयत्र वाचा आत्मानः समर्पयन् द्वैधीभावेन दुर्गमध्ये अवस्थानं, शत्रुणैव वा सन्धिविग्रहादिहेतोर्दुर्गाश्रयव्यापारः इति एतेषामुपायानाम् एकतमेन—अन्यतमेव, योऽत्रयुज्यते तेनेति भावः; संविधास्ये—संविधानं करिष्यामि।

उदीरित इति। उदीरितः स्पष्टमुच्चारितः, अर्थः विषयः पशुनाऽपि गृह्यते बुध्यते हया अश्वाश्च, नागाः हस्तिनश्च, नोदिता चालिता, संज्ञा से ही प्राप्त होते हैं॥ ४३॥

करटक ने कहा—"तो आप क्या करना चाहते हैं ?" उस (दमनक) ने कहा—"स्वामी पिंगलक इस समय सपरिवार भयभीत दिखाई पड़ता है। अतः उसके पास जाकर तथा उसके भय का कारण जानकर संधि, विग्रह (युद्ध), यान (शत्रु पर चढ़ाई करने के लिए प्रस्थान), आसन (अपना बल बढ़ाते हुए समय की प्रतीक्षा करना), संश्रय (प्रबल शत्रु के विरुद्ध अन्य शक्तिशाली राजा का आश्रय लेना) (और) द्वैधी भाव (दो शक्तिशाली शत्रुओं से मिलकर रहना) नाम की छः नीतियों में से किसी एक का सहारा लूँगा।"

करटक ने कहा—"आप यह कैसे जानते हैं कि स्वामी भयभीत हैं।" उसने कहा—"इसे जानने में क्या रखा है ? इसीलिए कहा भी गया है—

कही हुई बात का अर्थ तो पशु भी जान जाता है; प्रेरणा करने पर घोड़े

अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः ॥ ४४ ॥

तथा च मनुः—आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च लक्ष्यन्तेऽन्तर्गतं मनः ॥ ४५ ॥

तदद्यैनं भयाकुलं प्राप्य स्वबुद्धिप्रभावेण निर्भयं कृत्वा वशीकृत्य च निजां 'साचिव्यपदवीं समासादयिष्यामि ।' करटक आह—'अनभिज्ञो भवान् सेवाधर्मस्य, तत्कथमेनं वशीकरिष्यसि ?' सोऽब्रवीत्—'कथमहं सेवानभिज्ञः ? मया हि तातोत्सङ्गे क्रीडताभ्यागतसाधूनां नीतिशास्त्रं पठतां मुखात् यच्छ्रुतं सेवाधर्मस्य सारभूतं तद् हृदि स्थापितम् । श्रूयताम तच्चेदम्—

प्रापिता वा, वहन्ति गच्छन्तीत्यर्थः, पण्डितः प्राज्ञो जनः अनुक्तम् अकथितमपि अर्थम्, ऊहति तर्केण बुध्यते । हि यतः, बुद्धयः परेङ्गितज्ञानफलाः परेषाम् इङ्गितज्ञानं सङ्केतबोधः, फलं यासां तथाविधाः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽयमर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । यदुक्तं दर्पणे,—"सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि । कार्य्यञ्च कारणेनेदं कार्य्येण च समर्थ्यते । साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः ॥" इति । वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ ४४ ॥

आकारैरिति । आकारैः अवयवैः, विषादप्रसादभावापन्नैरिति भावः; इङ्गितैः अभिप्रायव्यञ्जकशारीरिकचेष्टाविशेषैः, गत्या गमनेन, चेष्टया क्रियया, भाषणेन कथनेन च तथा नेत्रयोः लोचनयोः, वक्त्रस्य मुखस्य च, विकारैः विकृतभावैः, अन्तर्गतं मनः मानसो भावः इत्यर्थः, लक्ष्यते प्रतीयते ॥ ४५ ॥

१. साचिव्यपदवीं—मन्त्रिपदम् । सामासादयिष्यामि—लप्स्ये ।

और हाथी भी बोझा ढोने का काम करते हैं। फिर पंडित लोग तो बिना कही हुई बात को भी जान लेते हैं क्योंकि उनकी बुद्धि दूसरों के मानसिक भावों को जानने वाली होती है ॥ ४४ ॥

और मनु ने भी कहा है—आकृति, संकेत, चाल, (चलने का ढंग), चेष्टा, भाषण तथा नेत्र और मुख में होने वाले विकार (परिवर्तन) से मन के भीतर की बातें जानी जाती हैं ॥ ४५ ॥

इसलिए भयभीत स्वामी के पास जाकर अपनी बुद्धि के प्रभाव से उसे निर्भय करके और इस प्रकार उसे अपने वश में करके फिर अपने मंत्रित्व के पद को प्राप्त कर लूँगा।" करटक ने कहा—"आप सेवाधर्म तो जानते नहीं हैं, फिर कैसे उसे वश में करेंगे ?" उसने कहा—मैं सेवा से अनभिज्ञ कैसे हूँ ? पिता की गोद में खेलते हुए मैंने आने वाले साधुओं के मुख से जो नीतिशास्त्र सुना है, उसमें से सेवाधर्म के तत्व को मैंने अपने हृदय में भली भाँति बैठा लिया है। सुनिये, वह (तत्व) यह है—

सुवर्णपुष्पितां पृथ्वीं विचिन्वन्ति नरास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥ ४६ ॥
सा सेवा या प्रभुहिता ग्राह्या वाक्यविशेषतः ।
आश्रयेत्पार्थिवं विद्वांस्तद्द्वारेणैव नान्यथा ॥ ४७ ॥
यो न वेत्ति गुणान् यस्य न तं सेवेत पण्डितः ।
न हि तस्मात् फलं किंचित्सुकृष्टादूषरादिव ॥ ४८ ॥
द्रव्यप्रकृतिहीनोऽपि सेव्यः सेव्यगुणान्वितः ।

सुवर्णेति । शूरः विक्रमी पुरुषश्च, कृतविद्यः विद्वांश्च, यश्च सेवितुं जानाति स च, एते त्रयो नराः सुवर्णपुष्पितां सञ्जातसुवर्णपुष्पां, पृथ्वीं विचिन्वन्ति सङ्गृह्णन्ति, लभन्ते इत्यर्थः; सर्वसम्पदमधिगच्छन्तीति फलितार्थः ॥ ४६ ॥

सेति । या प्रभुहिता प्रभोर्हितकारिणी, मनोरञ्जनी इत्यर्थः, सा एव सेवा, सा च वाक्यविशेषतः प्रभोर्वाक्यविशेषात्, ग्राह्या अनुमेया, विद्वान् जनः तद्द्वारेणैव प्रभोर्हितकरसेवाद्वारेणैव पार्थिवम् आश्रयेत्, अन्यथा अन्येन प्रकारेण, न ॥ ४७ ॥

य इति । यः यस्य गुणान् स्वभावानित्यर्थः, न वेत्ति, स पण्डितः, चेदिति शेषः, तम् अविदितस्वभावं प्रभुमिति भावः, न सेवेत नाश्रयेत् । हि यतः, सुकृष्टात् ऊषरात् क्षारभूमेरिव, तस्मात् तादृशप्रभोः, किञ्चित् किमपि, फलं न, भवतीति शेषः ॥ ४८ ॥

द्रव्येति । सेव्यस्य सेवनीयस्य, ये गुणाः दयादाक्षिण्यादयः, तैरन्वितः युक्तः,

---

वीर, विद्वान् और स्वामी सेवा के मर्मज्ञ—ये तीन प्रकार के पुरुष ही सोने के फल से फूली हुई पृथ्वी को प्राप्त करते हैं अर्थात् उपरोक्त तीन प्रकार के लोग ही संपत्ति-शाली बनते हैं ॥ ४६ ॥

सेवा वही है जो स्वामी का कल्याण करने वाली हो और वह स्वामी की उक्ति से ही (आदेश से) जानी जाती है (अर्थात् स्वामी कैसी सेवा चाहता है यह उसके आदेश से मालूम हो जाता है । अतः विद्वान् पुरुष को चाहिए कि (स्वामी की आज्ञा के द्वारा) राजाश्रय ग्रहण करे, इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है ॥ ४७ ॥

विवेकी मनुष्य को ऐसे स्वामी की सेवा नहीं करनी चाहिए जो स्वामी सेवक के गुणों की जानकारी न रखता हो अर्थात् जो गुणग्राही न हो । क्योंकि जैसे ऊसर भूमि को भली भाँति जोतने बोने पर भी अन्न पैदा नहीं होता उसी प्रकार ऐसे स्वामी की सेवा से भी कोई फल नहीं मिलता ॥ ४८ ॥

धनसम्पत्ति एवं परिवार से रहित किसी व्यक्ति में यदि सेव्यगुण (दया,

भवत्याजीवनं तस्मात् फलं कालान्तरादपि ॥ ४९ ॥
अपि स्थाणुवदासीनः शुष्यन्परिगतः क्षुधा ।
न त्वेवानात्मसम्पन्नाद् वृत्तिमीहेत पण्डितः ॥ ५० ॥
सेवकः स्वामिनं द्वेष्टि कृपणं परुषाक्षरम् ।
आत्मानं किं स न द्वेष्टि सेव्यासेव्यं न वेत्ति यः ॥ ५१ ॥
यमाश्रित्य न विश्रामं क्षुधार्ता यान्ति सेवकाः ।
सोऽर्कवन्नृपतिस्त्याज्यः सदा पुष्पफलोऽपि सन् ॥ ५२ ॥

प्रभुरिति शेषः, द्रव्यप्रकृतिहीनोऽपि, धनजनरहितोऽपि, सेव्यः; यतः कालान्तरादपि समयान्तरं प्राप्येत्यर्थः, तस्मात् प्रभोः, आजीवनं जीवनोपायरूपं, फलं भवति ॥ ४९ ॥

अपीति । पण्डितः प्राज्ञो जनः, क्षुधा बुभुक्षया, परिगतः आक्रान्तः, क्षुधितः इत्यर्थः, अत एव शुष्यन् आहाराभावेन शोषं गच्छन्, स्थाणुवत् शाखापत्रादिरहितशुष्कतरुवत्, आसीनः उपविशन् अपि, तिष्ठेदिति शेषः; तथाऽपि अनात्मसम्पन्नात् आत्मानात्मविवेक शून्यात्, प्रभोरिति शेषः, वृत्तिं जीविकां; न त्वेव ईहेत चेष्टेत, लब्धुमिति शेषः ॥ ५० ॥

सेवक इति । यः सेवकः भृत्यः, सेव्यासेव्यं न वेत्ति न जानाति, केवलं कृपणं परुषाक्षरं कर्कशभाषिणं; स्वामिनं द्वेष्टि निन्दति, स किम् आत्मानं न द्वेष्टि ? [शिरश्चालने नञ्] अपि तु द्वेष्ट्येव । सेव्यासेव्यविवेकपूर्वकमेव सेवाप्रवृत्तिरुचिता, तदविवेकेन सेवाप्रवृत्तौ स्वस्यैव निन्दा उचितेति भावः ॥ ५१ ॥

यमिति । सेवकाः भृत्याः, यं प्रभुमाश्रित्य क्षुधार्त्ताः सन्तः, अपीति शेषः, विश्रामं

उदारता, दानशीलता आदि) वर्तमान हों, तो उसकी सेवा अवश्य करनी चाहिए । क्योंकि उससे कालान्तर में भी जीवन पर्यन्त (अथवा आजीविका रूप) फल की प्राप्ति होती रहती है ॥ ४९ ॥

कृत्याकृत्य के निर्णय करने में निपुण व्यक्ति आहार के अभाव में सूख कर ठूँठे (डाली से पत्ते रहित) पेड़ की तरह भले ही स्थित रहे किंतु उसे आत्मज्ञान से हीन अज्ञानी स्वामी की सेवा नहीं ही करनी चाहिए ॥ ५० ॥

जो सेवक अपने कृपण (कंजूस) तथा कठोर भाषण करने वाले (गाली देने वाले) स्वामी की निन्दा करता है, क्या वह अपनी निन्दा नहीं करता ? क्योंकि (इसमें स्वामी का क्या दोष ?) वह तो स्वयं यह ज्ञान नहीं रखता कि कौन सेव्य (सेवा करने योग्य) है और कौन असेव्य (सेवा न करने योग्य) है ॥ ५१ ॥

जिस स्वामी (राजा) का आश्रय लेकर भी भूख से पीड़ित सेवक विश्रान्ति न

राजमातरि देव्यां च कुमारे मुख्यमन्त्रिणि।
पुरोहिते प्रतीहारे सदा वर्तेत राजवत् ॥ ५३ ॥
जीवेति प्रब्रुवन् प्रोक्तः कृत्याकृत्यविचक्षणः।
करोति निर्विकल्पं यः स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५४ ॥
प्रभुप्रसादजं वित्तं सुप्राप्तं यो निवेदयेत्।
वस्त्राद्यं च दधात्यङ्गे स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५५ ॥

न यान्ति न प्राप्नुवन्ति, उदरभरणं विना अविश्रामं प्रभुकार्य्यं कुर्वन्तीत्यर्थः, सः नृपतिः सदापुष्पफलः धनजनसमृद्धोऽपीति भावः, सन्, सदापुष्पफलः अर्कवत् तदाख्यवृक्षः ("आकन्द" इति भाषा) इव, त्याज्यः; यथा अर्कवृक्षः सदा पुष्पफलसमन्वितोऽपि लोकैर्नाद्रियते, तथा तादृशः प्रभुः अपि न सेव्यते इति भावः ॥ ५२ ॥

साम्प्रतं राजपरिजनानामपि सेव्यत्वमाह—राजेति। राजमातरि, देव्यां राजमहिष्यां, कुमारे राजपुत्रे, मुख्यमन्त्रिणि प्रधानसचिवे, पुरोहिते तथा प्रतीहारे दौवारिके, सदा राजवत् वर्त्तेत विशिष्टसम्माननां कुर्य्यात् इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

जीवेति। यः कृत्याकृत्यविचक्षणः कार्य्याकार्य्यज्ञः भृत्यः, प्रोक्तः आज्ञप्तः सन्, जीव आयुष्मान् भव, ("जो हुकुम" इति हिन्दीभाषा) इति प्रब्रुवन् वदन्, निर्विकल्पम् अविचारितं यथा तथा, करोति राजाज्ञां प्रतिपालयति, स राजवल्लभः राजप्रियः, भवेत् ॥ ५४ ॥

प्रभुप्रसादजमिति। यः प्रभोः प्रसादात् जातम् अनुग्रहलब्धमित्यर्थः, वित्तं धनं; सुप्राप्तं यथेष्टं प्राप्तम्, इति निवेदयेत् राजसमीपे प्रकाशयेदित्यर्थः, तथा वस्त्राद्यं वसनाभरणादिकं, प्रभुप्रसादलब्धमिति शेषः, अङ्गे दधाति स राजवल्लभः भवेत् ॥ ५५ ॥

प्राप्त कर सके, धन जन संपन्न होते हुए भी वह राजा फूल फल से युक्त मदार के वृक्ष के समान त्याज्य होता है ॥ ५२ ॥

राज सेवक को चाहिए कि वह राजमाता, राजकुमार, पटरानी, मुख्यमन्त्री, पुरोहित और द्वारपाल के प्रति सर्वदा राजा के समान ही व्यवहार करे ॥ ५३ ॥

कृत्याकृत्य का निर्णय करने में कुशल जो सेवक स्वामी की आज्ञा सुनते ही 'जैसी देव की आज्ञा'—इस प्रकार आदर के साथ कहकर बिना ननु नच किए ही उसका पालन करता है, वही राजा का प्रियपात्र बनता है ॥ ५४ ॥

जो सेवक राजा की कृपा से प्राप्त धन से संतुष्ट हो जाता है तथा उसके दिए हुए वस्त्र आदि को उसके सामने ही शरीर पर धारण कर लेता है वही राजा का प्रिय पात्र बनता है ॥ ५५ ॥

'स तु तस्य नखकुलिशालंकृतं दक्षिणपाणिमुपरि दत्त्वा मानपुरःसरमुवाच—'अपि शिवं भवतः ? कस्माच्चिराद् दृष्टोऽसि' ? दमनक आह—"न किंचिद्देवपादानामस्माभिः प्रयोजनम् । 'परं भवतां प्राप्तकालं वक्तव्यम्, यत उत्तममध्यमाधमैः सर्वैरपि राज्ञां प्रयोजनम् । उक्तं च—

दन्तस्य निष्कोषणकेन नित्यं कर्णस्य कण्डूयनकेन वाऽपि ।
तृणेन कार्यं भवतीश्वराणां किमङ्ग ! वाग्घस्तवता नरेण ? ॥ ७७ ॥

---

१. सः,—पिङ्गलकः । तस्य—दमनकस्य । नखेति । नखाः कुलीशानीव वज्राणीव; तैः अलङ्कृतम् । उपरि, अङ्गस्येति शेषः । मानपुरःसरं—समादरपूर्वकम् ।

२. अपीति—प्रश्नसूचकमव्ययम् । शिवं—कुशलम् । चिरात्—दीर्घकालात् परम् ।

३. न किञ्चिदिति । अस्मासु देवपादानां प्रयोजनाभावात् चिरात् दर्शनमिति भावः ।

४. परं—किन्तु । प्राप्तकालं—कालोचितं, किञ्चिदित्यध्याहार्य्यम् ।

दन्तस्येति । दन्तस्य निष्कोषणकेन दन्तान्तःप्रविष्टवस्तुनिःसारकेण, ("खड्के इति यस्य प्रसिद्धिः) दन्तघर्षकेण वा, वा अथवा, कर्णस्य कण्डूयनकेन कण्डूयनकारिणा, तृणेनापि ("काणखुन्की" इति प्रसिद्धेनेति यावत्) नित्यं सततम्, ईश्वराणां प्रभूणां, कार्य्यं प्रयोजनं, भवति । अङ्गेति सम्बोधनसूचकमव्ययं, भोः ! इत्यर्थः । वाग्घस्तवता वचनकरविशिष्टेन, नरेण मनुष्येण, किम् ? यदा जडेन तृणेनापि प्रभूणां प्रयोजनसिद्धिः दृश्यते तदा चेतनेन नरेण तत्सिद्धिविषये किं वक्तव्यम् ? तस्मादस्माकं प्रयोजनमवश्यं स्वीकार्य्यमिति भावः । अत्र कार्य्यकारक-

---

पहुँचकर बताए हुए आसन पर उस (पिङ्गलक) को प्रणाम करके उसकी आज्ञा से बैठ गया । उस (पिङ्गलक) ने वज्र के समान नखों से सुशोभित दाहिने हाथ को दमनक के सिर पर रखकर आदर के साथ कहा कि आप कुशल पूर्वक हैं न । आप बहुत दिनों के बाद कैसे दिखाई पड़े ? दमनक ने कहा—यद्यपि श्रीमान् का अब मुझसे कोई भी प्रयोजन नहीं किन्तु मैं आप से कुछ समयोचित बात करना चाहता हूँ क्योंकि उत्तम, मध्यम, अधम सभी प्रकार के मनुष्यों से राजाओं का प्रयोजन रहता है । कहा भी गया है—

दाँत खोदने और कान खुजलाने वाले तृण से भी राजाओं को नित्य ही काम पड़ता है फिर वाणी और हाथ पैर आदि अङ्गों से युक्त मनुष्य की तो बात ही नहीं है ॥ ७७ ॥

तथा वयं देवपादानाम[1]न्वयागताः भृत्या आपत्स्वपि पृष्ठगामिनो यद्यपि स्वमधिकारं न लभामहे, तथाऽपि देवपादा[2]नामेतद्युक्तं न भवति। उक्तं च—

स्थानेष्वेव नियोज्यन्ते भृत्याश्चाभरणानि च।
न हि चूडामणिः पादे प्रभवामीति बध्यते ॥ ७८ ॥

यतः—अनभिज्ञो गुणानां यो न भृत्यैरनुगम्यते।
धनाढ्योऽपि कुलीनोऽपि क्रमायातोऽपि भूपतिः ॥ ७९ ॥

तया कथितात् तृणरूपात् वस्तुनः, द्रव्यत्वरूपसामान्यधर्मेण तत्सदृशस्य नरस्य निषेध-श्रुतेः परिसङ्ख्याऽलङ्कारः। उपजातिः वृत्तम् ॥ ७७ ॥

१. अन्वयागताः—कुलक्रमागताः। स्वमधिकारं—निजामात्यपदम्।

२. एतत्—सर्वथा निराकरणमिति भावः।

स्थानेष्विति। भृत्याश्च आभरणानि च स्थानेषु, योग्येष्विति शेषः; एव नियोज्यन्ते सन्निवेश्यन्ते, प्रभवामि प्रभुरहमिति, मत्वेति शेषः। [अत्र प्रभावान् इति पाठः समीचीनतया प्रतिभाति। उज्ज्वलकान्तिः इति हेतोरित्यस्यार्थः] चूडामणिः शिरोरत्नं, माननीयो जनश्चेति ध्वनिः, पादे चरणे, न हि बध्यते धार्य्यते, केनापीति शेषः। यदि चाहं स्वाधिकारं न लभे, तथाऽपि सर्वथा मत्परित्यागो नोचित इति भावः। अत्र प्रस्तुतस्य भृत्यस्य अप्रस्तुतस्य चाभरणस्य एकनियोजन-क्रियाऽभिसम्बन्धात् दीपकालङ्कारः, अपि च भृत्यानां गम्यचूडामणिसाम्यानां योग्य-स्थाननियोगरूपैकस्यैव धर्मस्य "न बध्यते" इति अयोग्यस्थानबन्धनाभावरूपत्वेन पृथक्तया निर्द्देशात् वैधर्म्येण प्रतिवस्तूपमाऽलङ्कारः; तयोश्च परस्परसापेक्षतया अवस्थानात् सङ्करः ॥ ७८ ॥

अनभिज्ञ इति। यः भूपतिः, धनाढ्योऽपि कुलीनोऽपि क्रमायातः कौलिकोऽपि सन्, गुणानाम् अनभिज्ञः अगुणज्ञ इत्यर्थः, स भृत्यैः न अनुगम्यते न सेव्यते, अगुण-ग्राहित्वात् तत्सेवनमकिञ्चित्करमिति भावः ॥ ७९ ॥

हम श्रीमान् के वंश क्रमागत अनुचर हैं और आपत्ति में भी आप ही के अनुगामी हैं। यद्यपि इस समय मैं अपने अधिकार पद से वंचित हूँ फिर भी श्रीमान् को यह (मेरी उपेक्षा) उचित नहीं है। कहा भी गया है—

सेवकों और आभूषणों को उचित स्थान पर ही प्रतिष्ठित करना चाहिए। क्योंकि मैं स्वामी या समर्थ हूँ, ऐसा सोचकर कोई (सिर पर धारण करने योग्य) चूड़ामणि को पैरों में नहीं बाँधता है ॥ ७८ ॥

क्योंकि–विपुल कोष से सम्पन्न कुलीन एवं वंशक्रमागत होते हुए भी जो राजा (अपने सेवकों के) गुणों से अनभिज्ञ होता है, सेवक उसका साथ नहीं देते हैं ॥ ७९ ॥

उक्तं च—असमैः समीयमानः समैश्च परिहीयमाणसत्कारः ।
धुरि यो न युज्यमानस्त्रिभिरर्थपतिं त्यजति भृत्यः ।। ८० ।।

यच्चाविवेकितया राजा भृत्यानुत्तमपदयोग्यान् हीनाधमस्थाने नियोजयति, न ते तत्रैव तिष्ठन्ति, तत् भूपतेर्दोषो न तेषाम् । उक्तं च—

कनकभूषणसंग्रहणोचितो यदि मणिस्त्रपुणि प्रतिबध्यते ।
न स विरौति न चापि स शोभते भवति योजयितुर्वचनीयता ।। ८१ ।।

यच्च स्वाम्येवं वदति 'चिराद् दृश्यते', तदपि श्रूयताम्—

असमैरिति । यः भृत्यः, असमैः अतुल्यैः, भृत्यैरिति भावः; समीयमानः समीक्रियमाणः, समैः तुल्यगुणविशिष्टैश्च, भृत्यैरिति शेषः, परिहीयमाणः निराक्रियमाणः, सत्कारः समादरः यस्य तादृशः, तथा धुरि कार्य्यभारे, न युज्यमानः, स त्रिभिः, एतैः दोषैरिति शेषः, अर्थपतिं प्रभुं, त्यजति । आर्य्या वृत्तम् ।। ८० ।।

ते—हीनाधमस्थाननियोजिता भृत्या इत्यर्थः, तत्रैव—प्रभुनिर्दिष्टे स्थाने इत्यर्थः, न तिष्ठन्ति ? किमिति शेषः, अपि तु तिष्ठन्त्येव, परं तत् भूपतेः प्रभोरेव, दोषः ।

कनकेति । कनकभूषणे स्वर्णालङ्कारे, यत् सङ्ग्रहणं सङ्घटनं, संयोजनमित्यर्थः, तत्र उचितः योग्यः, मणिः रत्नं, यदि त्रपुणि निकृष्टधातुविशेषे, "सीसके" इति यावत्, प्रतिबध्यते संयुज्यते, तदा स मणिः, न विरौति न शब्दायते, नापि स शोभते च, किन्तु योजयितुः योग्यायोग्यविचाराक्षमस्य योजकस्य, तथाकर्त्तुरित्यर्थः, वचनीयता निन्दा, भवति । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ।। ८१ ।।

कहा भी है—जो राजा किसी योग्य सेवक की समानता उससे निम्न कोटि के अनुचर से करता है या उसे उसकी कोटि के सेवकों से कम सम्मान देता है या उसे विशिष्ट कार्यों में नहीं नियुक्त करता है, तो सेवक उक्त तीनों कारणों से राजा का परित्याग कर देता है ।। ८० ।।

जो राजा अपने अविवेक के कारण उत्तम पद के योग्य सेवकों को हीन या मध्यम कोटि के पद पर नियुक्त करता है तो सेवक उस पद पर स्थिर नहीं होता है । इसमें राजा का ही दोष है, सेवकों का नहीं । कहा भी गया है—

सोने के आभूषणों में जड़ी जाने वाली मणि यदि (किसी के द्वारा) राँगे जैसी निकृष्ट धातु में जड़ दी जाय तो वह न तो क्रन्दन ही करती है (यह कहकर रोती नहीं है कि हमें अनुपयुक्त स्थान में क्यों रखा गया) न शोभा ही बढ़ाती है । हाँ, इससे लोग उस स्थान में स्थापित करने वाले की ही निन्दा करते है ।। ८१ ।।

और जो स्वामी यह कहते हैं कि बहुत दिनों के बाद दिखाई दिए हो, तं

सव्यदक्षिणयोर्यत्र विशेषो नास्ति हस्तयोः ।
कस्तत्र क्षणमप्यार्यो विद्यमानगतिर्भवेत् ? ।। ८२ ।।

काचे मणिर्मणौ काचो येषां बुद्धिर्विकल्पते ।
न तेषां सन्निधौ भृत्यो नाममात्रोऽपि तिष्ठति ।। ८३ ।।

परीक्षका यत्र न सन्ति देशे नार्घन्ति रत्नानि समुद्रजानि ।
आभीरदेशे किल चन्द्रकान्तं त्रिभिर्वराटैर्विपणन्ति गोपाः ।। ८४ ।।

सव्येति । यत्र यस्मिन् देशे, सव्यदक्षिणयोः वामदक्षिणयोः, हस्तयोः विशेषः भेदः, नास्ति, तत्र तस्मिन् देशे, कः आर्य्यः साधुः, विद्यमानगतिः उपायवान् सन्, [मतिरिति पाठे—सुबोधः इति वा] क्षणमपि वसेत् ? न कोऽपि इत्यर्थः । निरुपायैः अवश्यं वस्तव्यमेवेति ध्वनिः ।। ८२ ।।

काचे इति । येषां काचे मणिः, मणौ काचः इत्येवं प्रकारा बुद्धिः विकल्पते विरुद्धं कल्पते, परिवर्त्तते वा, उत्कर्षापकर्षज्ञानं येषां नास्तीति भावः; तेषां सन्निधौ नाममात्रोऽपि केवलं भृत्य इति नाम्ना परिचितः कीदृशोऽपि, भृत्यः न तिष्ठति; योग्यायोग्यभृत्यस्य का कथा ? तादृशप्रभुसन्निधौ कोऽपि न तिष्ठतीति फलितार्थः ।। ८३ ।।

परीक्षका आह । यत्र देशे परीक्षकाः सदसद्विचारकाः, न सन्ति, तत्र समुद्रजानि महामूल्यानीति भावः, रत्नानि, न अर्घन्ति न मूल्यमर्हन्तीत्यर्थः । किलेति वार्त्तायां, श्रूयते इत्यर्थः, आभीरदेशे गोपजनपदे, गोपाः त्रिभिः वराटैः कार्षापणैः, चन्द्रकान्तं मणिं, विपणन्ति क्रीणन्ति विक्रीणते च । उपजातिः वृत्तम् ।। ८४ ।।

उसे भी सुनिए ।

जिस राजा के यहाँ बाएँ दाएँ हाथ (प्रतिकूल, अनुकूल सेवकों) का विचार नहीं होता अर्थात् दोनों को समान ही समझा जाता है, वहाँ देश काल का ज्ञाता कोई भी चतुर नीतिज्ञ क्षण भर भी रहना नहीं चाहता है ।। ८२ ।।

जिनकी (जिन राजाओं की) बुद्धि मणि में काँच और काँच में मणि की कल्पना करती है । अर्थात् जो अनुपयुक्त सेवक में उपयुक्तता तथा उपयुक्त सेवक में अनुपयुक्तता का आरोप करता है, ऐसे राजाओं के पास नाममात्र के लिए भी सेवक नहीं रहते हैं ।। ८३ ।।

जिस देश में परीक्षक (सदसद् विवेकी) नहीं होते वहाँ समुद्र से उत्पन्न उत्तम रत्नों का उचित मूल्य नहीं लगाया जाता है । जैसे आभीर देश में ग्वाले चन्द्रकान्त मणि को तीन कौड़ी में खरीदते बेचते हैं ।। ८४ ।।

लोहिताख्यस्य च मणेः पद्मरागस्य चान्तरम् ।
यत्र नास्ति कथं तत्र क्रियते रत्नविक्रयः ? ॥ ८५ ॥
निर्विशेषं यदा स्वामी समं भृत्येषु वर्त्तते ।
तत्रोद्यमसमर्थानामुत्साहः परिहीयते ॥ ८६ ॥
न विना पार्थिवो भृत्यैर्न भृत्याः पार्थिवं विना ।
तेषां च व्यवहारोऽयं परस्परनिबन्धनः ॥ ८७ ॥
भृत्यैर्विना स्वयं राजा लोकानुग्रहकारिभिः ।
मयूखैरिव दीप्तांशुस्तेजस्व्यपि न शोभते ॥ ८८ ॥

लोहिताख्यस्येति । यत्र देशे, लोहिताख्यस्य लोहितवर्णगोमेदनाम्नः, पद्मरागस्य च मणेः अन्तरं प्रभेदः, नास्ति, तत्र कथं रत्नविक्रयः क्रियते ? ॥ ८५ ॥

निर्विशेषमिति । यदा स्वामी भृत्येषु, सर्वेष्विति शेषः, समं युगपत्, एकस्मिन्नेव समये इत्यर्थः, निर्विशेषं वर्त्तते अक्षमे क्षमे च तुल्यम् आचरति इत्यर्थः; तत्र तादृशप्रभोरधिकारे, उद्यमसमर्थानाम् उत्साहिनां, कार्य्यक्षमाणामित्यर्थः, भृत्यानामिति शेषः, उत्साहः परिहीयते नश्यति [कर्मकर्त्तरि लट्] ॥ ८६ ॥

नेति । पार्थिवः राजा, भृत्यैः विना न, तिष्ठेदिति शेषः, भृत्याश्च पार्थिवं विना न, तिष्ठेयुरिति शेषः; अतः तेषां प्रभुभृत्यानाम्, अयम् ईदृशः, व्यवहारः आचरणं, स्वामिभृत्ययोरन्योऽन्यापेक्षिता इत्यर्थः, परस्परनिबन्धनः अन्योऽन्यकार्य्यसाधको भवतीत्यर्थः ॥ ८७ ॥

भृत्यैरिति । राजा स्वयं तेजस्वी अपि लोकानुग्रहकारिभिः जगद्रक्षिभिः

जहाँ लोहित मणि (लाल या गोमेद) और पद्मराग मणि का अन्तर जानने वाले न हों वहाँ रत्नों का विक्रय कैसे किया जा सकता है ॥ ८५ ॥

जब स्वामी (राजा) अपने सभी सेवकों के प्रति (उनके विशिष्ट गुणों पर ध्यान न देकर उत्तम मध्यम सभी कोटि के अनुचरों के प्रति) समान व्यवहार करता है तब उद्यमी सेवकों का उत्साह नष्ट हो जाता है ॥ ८६ ॥

राजा का काम अनुचरों के बिना और अनुचरों का काम राजा के विना नहीं चल सकता है । उनका यही अन्योन्याश्रित व्यवहार ही एक दूसरे से संबन्ध जोड़ने वाला होता है ॥ ८७ ॥

जिस प्रकार संसार पर अनुकम्पा करने वाली किरणों के बिना सूर्य सुशोभित नहीं होता है उसी प्रकार अमात्यादि अनुचरों के विना राजा भी सुशोभित नहीं होता है । [भावार्थ यह है कि जैसे किरण सूर्य को तेजस्वी बनाकर उसे लोक-

अरैः संधार्यते नाभिर्नाभौ चाराः प्रतिष्ठिताः ।
स्वामिसेवकयोरेवं वृत्तिचक्रं प्रवर्तते ॥ ८९ ॥
शिरसा विधृता नित्यं स्नेहेन परिपालिताः ।
केशा अपि विरज्यन्ते निःस्नेहाः किं न सेवकाः ? ॥ ९० ॥
राजा तुष्टो हि भृत्यानामर्थमात्रं प्रयच्छति ।
ते तु सम्मानमात्रेण प्राणैरप्युपकुर्वते ॥ ९१ ॥

राज्यरक्षिभिश्च, मयूखैः दीप्तांशुरव सूर्य इव, भृत्यैः विना न शोभते । उपमाऽलङ्कारः ॥ ८८ ॥

अरैरिति । अरैः चक्रस्य शाखारूपैः अवयवविशेषैः, नाभिः चक्रमध्यवर्त्ती अवयवविशेषः, सन्धार्य्यते आश्रीयते, अराश्च नाभौ प्रतिष्ठिताः ग्रथिताः, तिष्ठन्तीति शेषः, अराः नाभिम् अवलम्बन्ते, नाभिश्च अरानाश्रयति इत्यर्थः । एवं स्वामिसेवकयोः प्रभुभृत्ययोः, वृत्तिचक्रं व्यापाररूपं चक्रं, प्रवर्त्तते, स्वामी भृत्यानवलम्बते, भृत्याश्च स्वामिनमाश्रयन्ति इत्यर्थः; भृत्याः प्रभुं विना, प्रभवश्च भृत्यं विना मुहूर्त्तमपि न स्थातुमर्हन्तीति भावः ॥ ८९ ॥

शिरसेति । नित्यं शिरसा मस्तकेन, विधृताः, तथा स्नेहेन तैलेन, परिपालिताः परिपोषिताः, केशा अपि निस्नेहाः तैलवर्जिताः, अयत्नीकृताश्चेदित्यर्थः, विरज्यन्ते विकृतिं भजन्ते; सेवकाः भृत्याः, किं न ? तथाभूताः प्रभुस्नेहशून्याश्चेत् किं न विरज्यन्ते ? इत्यर्थः, अपि तु विरज्यन्ते एव इति भावः । श्लेषानुप्राणितं दीपकम् ॥ ९० ॥

राजेति । राजा तुष्टः सन् भृत्यानाम्, अर्थमात्रं केवलं धनं, प्रयच्छति ददाति,

---

रक्षण में समर्थ बनाती हैं उसी प्रकार अनुचर भी राजा को शक्ति सम्पन्न बनाकर उसे लोक कल्याण में समर्थ बनाते हैं] ॥ ८८ ॥

जिस तरह से आरे नाभि से और नाभि आरे से जुड़कर ही रथ के चक्के को चलाने में समर्थ बनाती है उसी प्रकार राजा और अनुचर का परस्पर सहयोग ही राज्य चक्र को चलाने में समर्थ होता है ॥ ८९ ॥

सिर पर (उत्तम स्थान पर) धारण (प्रतिष्ठित) किए जाने वाले तथा स्नेह से (तैल आदि चिकने पदार्थों से) नित्य पाले पोषे गए बाल भी जब स्नेह के अभाव में रूखे हो जाते हैं तो सेवक स्नेह (प्रेम) के अभाव में क्या रूखे नहीं हो जायेंगे ॥ ९० ॥

राजा सेवकों की सेवा से सन्तुष्ट होकर उन्हें केवल धन ही देता है किन्तु सेवक राजा से सम्मानमात्र पाकर उसके बदले में अपने प्राणों को भी निछावर

एवं ज्ञात्वा नरेन्द्रेण भृत्याः कार्या विचक्षणाः ।
कुलीनाः शौर्यसंयुक्ताः शक्ता भक्ताः क्रमागताः ॥ ९२ ॥
यः कृत्वा सुकृतं राज्ञो दुष्करं हितमुत्तमम् ।
लज्जया वक्ति नो किंचित्तेन राजा सहायवान् ॥ ९३ ॥

यस्मिन्कृत्यं समावेश्य निर्विशङ्केन चेतसा ।
आस्यते सेवकः स स्यात्कलत्रमिव चापरम् ॥ ९४ ॥

ते तु भृत्याः पुनः, सम्मानमात्रेण राजकृतसत्कारेणैव; प्राणैः जीवनत्यागेन अपि; उपकुर्वते प्रभोः उपकारं कुर्वन्ति, हि निश्चये ॥ ९१ ॥

एवमिति । नरेन्द्रेण एवम् उक्तरूपं प्रभुभृत्यव्यवहारं, ज्ञात्वा विचार्य्य, विचक्षणाः ज्ञानिनः, कुलीनाः सद्वंशजाः, शौर्य्यसंयुक्ताः शूराः; शक्ताः सर्वकर्मनिपुणाः; भक्ताः अनुरक्ताः, क्रमागताः कुलक्रमायाताः; भृत्याः कार्य्याः विधेयाः, नियोज्या इत्यर्थः ॥ ९२ ॥

य इति । यः राज्ञः दुष्करम् अन्यदुःसाध्यम्, उत्तमं हितं महाकल्याणकरं; सुकृतं शोभनकार्य्यं, कृत्वा लज्जया आत्मश्लाघाशङ्कया इति भावः; किञ्चित् किमपि, नो वक्ति मयैतत् कृतमिति नो वदति, तेन भृत्येन, राजा सहायवान् भवति ॥ ९३ ॥

यस्मिन्निति । यस्मिन् भृत्ये, कृत्यं कार्य्यजातं; समावेश्य समर्प्य, निर्विशङ्केन शङ्काशून्येन, चेतसा आस्यते स्थीयते; राज्ञेति शेषः; स एव सेवकः; अपरम् अन्यम्, कलत्रमिव भार्य्येव, केवलं पोष्यः कल्याणकरः स्यात् इति भावः ॥ ९४ ॥

कर देता है ॥ ९१ ॥

इस प्रकार (स्वामी सेवक के परस्पर व्यवहारों पर) ध्यान पूर्वक विचार करके राजा को ऐसे ही सेवकों की नियुक्ति करनी चाहिए जो कार्य करने में निपुण हों,, कुलीन हों शूरवीर, समर्थ तथा राजभक्त हों एवं कुल परम्परा से सेवाकार्य में नियुक्त होते हों ॥ ९२ ॥

जो सेवक राजा के अत्यन्त दुष्कर एवं महान् हित के उत्तम कार्य करके भी संकोचवश स्वामी से कुछ नहीं कहता है, ऐसे ही सेवक से राजा सहायवान (शक्ति सम्पन्न) होता है ॥ ९३ ॥

जिस सेवक के ऊपर शंका रहित मन से निर्भय होकर सारा कार्यभार डालकर राजा निश्चिन्त हो जाता है वही सेवक दूसरी सहधर्मिणी के समान उसके लिए कल्याणकारी ही होता है ॥ ९४ ॥

योऽनाहूतः समभ्येति द्वारि तिष्ठति सर्वदा ।
पृष्टः सत्यं मितं ब्रूते स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९५ ॥
अनादिष्टोऽपि भूपस्य दृष्ट्वा हानिकरं च यः ।
यतेत तस्य नाशाय स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९६ ॥
ताडितोऽपि दुरुक्तोऽपि दण्डितोऽपि महीभुजाम् ।
यो न चिन्तयते पापं स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९७ ॥
न गर्वं कुरुते माने नापमाने च तप्यते ।
स्वाकारं रक्षयेद्यस्तु स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९८ ॥

य इति । यः अनाहूतः अनाकारितः सन्, समभ्येति समीपे उपतिष्ठते इत्यर्थः; सर्वदा द्वारि तिष्ठति, तथा पृष्टः जिज्ञासितः सन्, सत्यम् ऋतं, मितं परिमितञ्च; ब्रूते, स भृत्यः महीभुजाम् राज्ञाम् अर्हः योग्यः ॥ ९५ ॥

अनादिष्ट इति । यः अनादिष्टोऽपि अनाज्ञप्तोऽपि, भूपस्य राज्ञः, हानिकरम् अनिष्टकरं, विषयमिति शेषः, दृष्ट्वा तस्य हानिकरस्य व्यापारस्य, नाशाय यतेत चेष्टेत, स भृत्यः महीभुजां अर्हः योग्यः ॥ ९६ ॥

ताडित इति । यः महीभुजा, ताडितोऽपि प्रहृतोऽपि, दुरुक्तोऽपि दुर्वाक्येनोक्तोऽपि; दण्डितोऽपि कृतदण्डोऽपि, पापम् अनिष्टं, महीभुजः इति शेषः, न चिन्तयते, स भृत्यः महीभुजाम् अर्हः योग्यः ॥ ९७ ॥

नेति । यस्तु माने सम्मानलाभे, गर्वं न कुरुते, अपमाने तिरस्कारे च, न तप्यते सन्तप्तः भवति, इत्थं स्वाकारं स्वस्य आकारं, मानापमानयोर्भावमित्यर्थः, रक्षयेत्

जो सेवक बिना बुलाए राजा के पास आता है और हर समय द्वार पर (आदेश की प्रतीक्षा में) खड़ा रहता है, किसी बात के पूछने पर सत्य एवं थोड़े ही में उत्तर देता है, वही सेवक राजा के योग्य होता है ॥ ९५ ॥

जो सेवक राजा के विनाशकारी कारणों को देखकर बिना उसकी आज्ञा पाए ही उनके नाश के लिए प्रयत्न करता है, वही राजा का सेवक होने योग्य होता है ॥ ९६ ॥

जो सेवक राजा द्वारा उत्पीड़ित, कठोर वाक्यों से अपमानित तथा दण्डित होने पर भी राजा के अनिष्ट का भाव मन में नहीं लाता है वही राजा का सेवक होने योग्य होता है ॥ ९७ ॥

राजा द्वारा सम्मानित होने पर जो गर्व नहीं करता, अपमानित होने पर दुःखी नहीं होता और मानापमान के कारण उत्पन्न अपने मनोभावों को छिपा लेता है; वहीं राजा का सेवक होने योग्य होता है ॥ ९८ ॥

तदेवं ज्ञात्वा स्वामिना 'धैर्यावष्टम्भः कार्यः। न शब्दमात्राद् भेतव्यम्।
उक्तं च— पूर्वमेव मया ज्ञातं पूर्णमेतद्धि मेदसा।
अनुप्रविश्य विज्ञातं यावच्चर्म च दारु च' ॥ ११७ ॥
पिङ्गलक आह—'कथमेतत्?' सोऽब्रवीत्—

२ : शृगाल-दुन्दुभि-कथा

कश्चिद् गोमायुर्नाम शृगालः 'क्षुत्क्षामकण्ठः इतस्ततः परिभ्रमन् वने

भावः, दृढ़त्वं दाढर्य, शौर्य्यमिति यावत्, न गच्छति न प्राप्नोति, जतुजाभरणस्येव लाक्षानिर्म्मितालङ्कारस्येव, तस्य रूपेण सौन्दर्य्येणापि हि, किम्? नैव किमपि प्रयोजनमित्यर्थः, वीरः पुमान् परधर्षणेनापि न सहसा पराभूयते, अपि तु यथाशक्ति स्वपराक्रममाविष्करोतीति भावः। जतुजाभरणस्येवेति सादृश्यसद्भावादुपमाऽलङ्कारः ॥ ११६ ॥

१. धैर्य्यावष्टम्भः,—धैर्य्यस्य अवष्टम्भः रोधनं, धैर्य्यापरित्याग इत्यर्थः।

पूर्वमिति। एतत् मेदसा वसया, पूर्णम् इति मया पूर्वं ज्ञातम् अनुमितं; ततः अनुप्रविश्य एव विज्ञातं विशेषेण ज्ञातं, दृष्टमित्यर्थः, यावत् साकल्येन, सर्वांशेनैवेत्यर्थः, चर्म्म च, दारु च। "यावत्तावच्च साकल्ये" इत्यमरः ॥ ११७ ॥

२. क्षुत्क्षामकण्ठः,—क्षुधया शुष्कगलः। तस्यां—सङ्ग्रामभूमौ। दुन्दुभेः,—

और भी शत्रु के प्रताप को प्राप्त करके जो दृढ़ता को नहीं प्राप्त होता अर्थात् शत्रु के आक्रमण के समय जो दृढ़ता के साथ अपनी वीरता का प्रदर्शन नहीं करता, लाक्षा (लाख) के बने आभूषण के समान उसके बाह्यरूप से कोई फल नहीं। [भाव यह है कि शूरवीर शत्रु के प्रताप से पराभूत नहीं होते किन्तु कायर लाक्षा के आभूषण के समान शत्रु के प्रताप (उष्णता) से पराभुत हो जाते (पिघल जाते) हैं ॥ ११६ ॥

अतः यह सब भाव समझ कर स्वामी को धैर्य धारण करना चाहिए। केवल शब्द से ही भयभीत नहीं होना चाहिए।

और भी—मैंने भी पहिले समझ लिया था कि यह मेद (चर्बी) से भरा हुआ होगा किन्तु जब उसके भीतर पहुँचा तो ज्ञात हुआ कि यह तो केवल चमड़े से ढका हुआ सूखा काठ ही है ॥ ११७ ॥

पिंगलक ने कहा—यह कैसे? उसने कहा—

शृगाल और दुन्दुभि की कथा

गोमायु नाम का कोई गीदड़ भूख के कारण सूखे गले (से भोजन की खोज में)

सैन्यद्वयसंग्रामभूमिमपश्यत्। तस्यां च दुन्दुभेः पतितस्य वायुवशाद्वल्ली-शाखाग्रैर्हन्यमानस्य शब्दमश्रृणोत्। अथ 'क्षुभितहृदयश्चिन्तयामास—'अहो' विनष्टोऽस्मि। तद्यावन्नास्य प्रोच्चारितशब्दस्य दृष्टिगोचरे गच्छामि, तावदन्यतो व्रजामि। अथवा नैतद्युज्यते सहसैव पितृपैतामहं वनं त्यक्तुं।

उक्तं च—

भये वा यदि वा हर्षे सम्प्राप्ते यो विमर्शयेत्।
कृत्यं न कुरुते वेगान्न स सन्तापमाप्नुयात्॥ ११८॥

तत्तावज्जानामि कस्यायं शब्दः।' धैर्यमालम्ब्य विमर्शयन् यावन्मन्दं मन्दं गच्छति, तावद् दुन्दुभिमपश्यत्। स च तं परिज्ञाय समीपं गत्वा स्वयमेव कौतुकादनाडयत्। भूयश्च हर्षादचिन्तयत्—"अहो, चिरादेतदस्माकं महद्भोजनमापतितम। तन्नूनं प्रभूतमांसमेदोऽसृग्भिः परिपूरितं भविष्यति।'

रणवाद्यविशेषस्य। वल्लीशाखाऽग्रैः— लताप्रतानाग्रैः, हन्यमानस्य—ताडयमानस्य।

१. क्षुभितहृदयः,—भीतचित्तः। पितृपैतामहं—पितृपितामहेभ्य आगतम् [इत्यण् उत्तरपदवृद्धिश्च] पितृपितामहक्रमेण अध्युषितमित्यर्थः।

भये इति। यः जनः, भये वा भयहेतौ वा इत्यर्थः, यदि वा अथवा, हर्षे हर्षकारणे इत्यर्थः, सम्प्राप्ते उपस्थिते सति, विमर्शयेत् विवेचयेत्, वेगात् सहसा इत्यर्थः, कृत्यं कार्यं, न कुरुते, सः सन्तापं न आप्नुयात्, विमृश्य कर्त्तव्यमिति भावः॥ ११८॥

२. आपतितम्—उपस्थितम्। नूनं—निश्चितम्। प्रभूतेति। प्रभूतैः—प्रचुरैः, मांसैः—पिशितैः, मेदोभिः,—वसाभिः— असृग्भिः,—रक्तैश्च इत्यर्थः।

वन में इधर उधर घूम रहा था कि उसे दो सेनाओं की युद्धभूमि दिखाई पड़ी। वहाँ एक दुंदुभी (नगाड़ा) गिरी पड़ी थी वायु के कारण हिलती हुई लताओं तथा डालियों की चोट खा खा कर शब्द कर रही थी। गीदड़ ने उस शब्द को सुनकर अत्यन्त दुःखी मन से सोचा कि अब तो मेरा विनाश हुआ। अतः इस शब्द करने वाले की दृष्टि में पड़ने के पहिले ही यहाँ से चल दूँ। अथवा जिस वन में बाप दादों के समय से रहते चला आ रहा हूँ उसे इस प्रकार सहसा छोड़ देना उचित नहीं है। कहा भी है—

भय या हर्ष के प्राप्त होने पर जो मनुष्य भली भाँति विचार करता है और सहसा कोई कार्य नहीं करता है, वह कभी भी दुःखी नहीं होता है॥ ११८॥

इस लिए पहिले यह तो जान लूँ कि यह किसका शब्द है? जब वह धैर्य धारण करके विचार करते हुए धीरे धीरे वहाँ पहुँचा तब उसने दुन्दुभी को देखा। वह उसे जानकर स्वयं उसके पास पहुँचकर कुतूहलवश उसे पीटा (बजाया)। फिर अत्यन्त

ततः [1]परुषचर्मावगुण्ठितं तत्कथमपि विदार्यैकदेशे छिद्रं कृत्वा संहृष्टमना मध्ये प्रविष्टः। परं चर्मविदारणतो [2]दंष्ट्राभङ्गः समजनि। अथ [3]निराशीभूतस्तद्दारुशेषमवलोक्य श्लोकमेनमपठत्—'पूर्वमेव मया ज्ञातम्' इति। अतो न शब्दमात्राद्भेतव्यम्। पिंगलक आह—'भोः पश्यायं मम सर्वोपि [3]परिग्रहो भयव्याकुलितमनाः पलायितुमिच्छति। तत्कथमहं धैर्यावष्टम्भं करोमि?' सोऽब्रवीत्—'स्वामिन् नैषामेष दोषः। यतः स्वामिसदृशा एव भवन्ति भृत्याः। उक्तं च—

अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च।
पुरुषविशेषं प्राप्ता भवन्त्ययोग्याश्च योग्याश्च ॥ ११९ ॥

---

१. परुषेति। परुषेण—कर्कशेन, चर्मणा अवगुण्ठितम्—आच्छादितम्। संहृष्टमनाः,—सन्तुष्टचित्तः।

२. दंष्ट्राभङ्गः,—दन्तभङ्गः।

३. निराशीभूतः,—मांसाद्याशारहितः। दारुशेषं—काष्ठमात्रावशिष्टम्। परिग्रहः,—परिजनः, सहचरः इत्यर्थः, ("परिग्रहः परिजने" इति मेदिनी)। भयव्याकुलितमनाः—भयेन शब्दश्रवणजनितत्रासेन, व्याकुलितं—विचलितं, मनः—चित्तं यस्य सः।

अश्व इति। अश्वः वाजी, शस्त्रम् अस्त्रं, शास्त्रं मन्वादिप्रणीतः ग्रन्थनिचयः, वीणा वल्लकी, वाणी वचनं, नरः पुरुषः, नारी स्त्री च; एते सर्वे [पुंस्त्वमत्र विवक्षितम्] पुरुषविशेषं प्राप्ताः सन्तः, अयोग्याः योग्याश्च भवन्ति; प्रभुणा

प्रसन्न होकर विचार किया—बहुत दिनों के बाद अकस्मात् मुझे यह इतना अधिक भोजन मिला है। निश्चित रूप से यह अत्यधिक मांस; चर्बी और रक्त से भरा हुआ होगा। इसके पश्चात् कठोर चमड़े से मढ़े हुए उस दुन्दुभी को फाड़कर एक स्थान पर छेद करके प्रसन्न होकर उसके भीतर प्रवेश किया, किन्तु चमड़ा फाड़ते समय उसके दाँत टूट गए। तब उसे केवल खोखले काठ के रूप में देखकर वह निराश हो गया और यह श्लोक पढ़ने लगा—"पूर्वमेव मया ज्ञातं।" इसलिए केवल शब्द से ही नहीं डरना चाहिए। पिंगलक ने कहा—"देखो, ये मेरे सभी अमात्यादि परिजन भय से व्याकुल होकर भागना चाहते हैं। फिर मैं कैसे धैर्य धारण करूँ?" उसने कहा—"स्वामी! इसमें इनका दोष नहीं है। क्योंकि सेवक तो स्वामी के अनुसार ही होते हैं। कहा भी गया है—

घोड़ा, शस्त्र, शास्त्र, वीणा, मनुष्य और स्त्री ये सभी पुरुषविशेष को पाकर अर्थात् योग्य पुरुष के साथ योग्य और अयोग्य के साथ अयोग्य बन

तत्[1]पौरुषावष्टम्भं कृत्वा त्वं तावदत्रैव प्रतिपालय, यावदहमेतच्छब्द-स्वरूप ज्ञात्वागच्छामि। ततः पश्चाद्यथोचितं कार्यम्' इति। पिङ्गलक आह—'किं तत्र भवान् गन्तुमुत्सहते ?' स आह—किं [2]'स्वाम्यादेशात् सद्भृत्यस्य कृत्याकृत्यमस्ति ? उक्तं च—

स्वाम्यादेशात् सुभृत्यस्य न भीः सञ्जायते क्वचित्।
प्रविशेन्मुखमाहेयं दुस्तरं वा महार्णवम् ॥ १२० ॥

तथा च—स्वाम्यादिष्टस्तु यो भृत्यः समं विषममेव च।
मन्यते न स सन्धार्यो भूभुजा भूतिमिच्छता" ॥ १२१ ॥

यथा एते व्यवह्रियन्ते, तथैव अयोग्यपुरुषाधिकृताः अयोग्याः, योग्याधिकृताश्च योग्या भवन्ति इति भावः ॥ ११९ ॥

१. पौरुषावष्टम्भं—पराक्रमावलम्बनम। प्रतिपालय—अपेक्षस्व।

२. स्वाम्यादेशात्—स्वामिनः आदेशात्। कृत्याकृत्यं—कर्त्तव्याकर्त्तव्यम्, सद्भृत्यानां कृत्याकृत्यविचारो न कार्य्यः; प्रभोरादेशमात्रेणैव तदाज्ञा पालनीयेति भावः।

स्वाम्यादेशादिति। स्वामिन आदेशात् आदेशं प्राप्य स्थितस्येत्यर्थः; [ल्यब्लोपे पञ्चमी] सुभृत्यस्य सुसेवकस्य, क्वचित् कुत्रापि, [अपिरत्र अध्याहार्य्यः] भीः भयं, न सञ्जायते; सः आहेयम् अहिसम्बन्धि, मुखं सर्पमुखमित्यर्थः, दुस्तरम् दुःखेन तरणीयं, महाऽर्णवं समुद्रं वा, प्रविशेत् गच्छेदित्यर्थः, आनायासेनेति भावः ॥ १२० ॥

स्वाम्यदिष्ट इति। यः भृत्यः, स्वामिना आदिष्टः आज्ञप्तः सन्, समं सुकरं कार्य्यं, विषममेव दुष्करं कार्य्यमेव च, मन्यते विचारयति, भूतिं सम्पदम्, इच्छता

जाते हैं ॥ ११९ ॥

इसलिए पुरुषार्थ का आश्रय लेकर तुम तब तक यहीं प्रतीक्षा करो जब तक कि मैं उस शब्द की जानकारी प्राप्त करके यहाँ न आ जाऊँ। इसके बाद जैसा उचित समझना वैसा करना।" पिंगलक ने कहा—"तो क्या आप वहाँ जाने का साहस कर रहे हैं ?" उसने कहा—स्वामी का आदेश पाकर अच्छे सेवक क्या कृत्य (करने योग्य) और अकृत्य (न करने योग्य) का विचार करते हैं ? कहा भी गया है--

स्वामी के आदेश से योग्य सेवक कहीं भी (आने जाने में) भयभीत नहीं होता है। चाहे उसे सर्प के मुख में जाना पड़े, चाहे दुस्तर महासमुद्र में ॥ १२० ॥

ऐश्वर्य की अभिलाषा रखने वाले राजा को ऐसा सेवक नहीं रखना चाहिए। जो स्वामी की आज्ञा पाकर यह विचार करने लगता है कि उसकी आज्ञा मेरे

पिङ्गलक आह-'भद्र, यद्येवं तद्गच्छ। शिवास्ते पन्थानः सन्तु' इति। दमनकोऽपि तं प्रणम्य संजीवकशब्दानुसारी प्रतस्थे।

अथ दमनके गते भयव्याकुलमनाः पिङ्गलकश्चिन्तयामास—अहो, न शोभनं कृतं मया, यत्तस्य विश्वासं गत्वात्माभिप्रायो निवेदितः। कदाचिद् दमनकोऽय[१]मुभयवेतनो भूत्वा ममोपरि दुष्टबुद्धिः स्याद् भ्रष्टाधिकारत्वात् उक्तं च—

> ये भवन्ति महीपस्य सम्मानितविमानिताः।
> यतन्ते तस्य नाशाय कुलीना अपि सर्वदा॥ १२२॥

तत्तावदस्य [२]चिकीर्षितं वेत्तुमन्यत् स्थानान्तरं गत्वा प्रतिपालयामि।

अभिलषता, भूभुजा, स भृत्यः, न सन्धार्य्यः न रक्षणीयः, अपि तु दूरीकर्त्तव्य इति भावः॥ १२१॥

१. उभयवेतनः,—यः स्वामिनः शत्रोश्च वेतनं गृह्णाति स उभयवेतनः, 'घूसखोर्" इति भाषा। दुष्टबुद्धिः—दुर्मतिपरः। भ्रष्टाधिकारत्वात्—च्युतामात्यपदत्वात्, पूर्वं मया अयममात्याधिकारात् निरस्त इति प्राग्वैरानुस्मरणादिति भावः।

ये इति। महीपस्य, ये भृत्याः, सम्मानितविमानिताः पूर्वं सम्मानिताः आदृताः, पश्चात् विमानिताः अवज्ञाताः, भवन्ति, ते कुलीना अपि सत्कुलजाता अपि, तस्य महीपस्य, नाशाय सर्वदा यतन्ते चेष्टन्ते॥ १२२॥

२. चिकीर्षितं—कर्त्तुमिष्टम्। वेत्तुं—ज्ञातुम्। [अत्र वेत्तुमिति प्रामादिकम्,

---

लिए साध्य है या असाध्य है॥ १२१॥

पिंगलक ने कहा—भद्र ! यदि ऐसी बात है तो जाइए। आप का मार्ग कल्याणकारी बने। दमनक उसे प्रणाम करके शब्द का अनुसरण करते हुए उसी ओर चल पड़ा। दमनक के चले जाने पर भय से व्याकुल होकर पिंगलक ने विचार विचार किया—मैंने यह अच्छा नहीं किया कि उसके विश्वास में आकर अपना अभिप्राय बता दिया। कहीं यह दमनक अपने अधिकार से (मंत्रित्वपद से) भ्रष्ट होने के कारण (उसका बदला लेने के लिए) दोनों तरफ (स्वामी तथा शत्रु) का वेतनभोगी बनकर मेरे लिए अनिष्टकारी न बन जाय। कहा भी गया है—

जो सेवक पहिले राजा से सम्मानित होकर (उच्च पद पर प्रतिष्ठित होकर) पीछे अपमानित (अधिकार च्युत) कर दिए जाते हैं, वे कुलीन होते हुए भी सर्वदा राजा के विनाश का प्रयत्न करते रहते हैं॥ १२२॥

इस लिए यह क्या करना चाहता है—इसकी जानकारी प्राप्त करने के लिए

कदाचिद् दमनक³स्तमादाय मां व्यापादयितुमिच्छति । उक्तं च—

न बध्यन्ते ह्यविश्वस्ता बलिभिर्दुर्बला अपि ।
विश्वस्तास्त्वेव बध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्बलैः ॥ १२३ ॥
बृहस्पतेरपि प्राज्ञो न विश्वासे व्रजेन्नरः ।
य इच्छेदात्मनो वृद्धिमायुष्यं च सुखानि च ॥ १२४ ॥
शपथैः सन्धितस्यापि न विश्वासे व्रजेद्रिपोः ।
राज्यलाभोद्यतो वृत्रः शक्रेण शपथैर्हतः ॥ १२५ ॥

वेदितुमिति साधु] । प्रतिपालयामि—प्रतीक्षे इत्यर्थः, अस्यागमनमिति भावः ।

३. तं—मत्तोऽपि प्रबलं पूर्वश्रुतनादं सत्त्वमित्यर्थः, व्यापादयितुं—हन्तुम् ।

नेति । दुर्बलाः क्षीणशक्तय अपि, जना इति शेषः, अविश्वस्ताः अकृतविश्वासाः, चेदिति शेषः, तदा बलिभिः बलवद्भिः, न बध्यन्ते न हन्यन्ते । तु पुनः, विश्वस्ताः एव विश्वासं कुर्वन्त एव, बलवन्तः अपि दुर्बलैः बध्यन्ते ॥ १२३ ॥

बृहस्पतेरिति । यः प्राज्ञः नरः आत्मनः वृद्धिमुन्नतिम्, आयुष्यञ्च जीवनञ्च, सुखानि च इच्छेत, स बृहस्पतेरपि विश्वासे विश्वासजनकवचसि इत्यर्थः, न व्रजेत् न गच्छेत्, स बृहस्पतिमपि विश्वासं न कुर्यादित्यर्थः, आत्मवृद्धिजीवन-सुखाभिलाषिभिः कस्यापि वचसि न विश्वसितव्यमिति भावः ॥ १२४ ॥

शपथैरिति । शपथैः दिव्यैः, सन्धितस्यापि कृतसन्धानस्यापि, उत्पादित-विश्वासस्यापीत्यर्थः, रिपोः शत्रोः, विश्वासे न व्रजेत्, तद्वचसि विश्वासं न कुर्या-दित्यर्थः, तथा हि,—राज्यस्य त्रिभुवनैश्वर्यस्य, लाभे उद्यतः, वृत्रः तदाख्योऽसुरः, शक्रेण इन्द्रेण, शपथैर्हतः शपथेन विश्वास्य विनाशित इत्यर्थः ॥ १२५ ॥

तब तक किसी अन्य स्थान पर चलकर प्रतीक्षा करूँ । शायद दमनक उसे यहाँ लाकर मुझे मरवा डालना चाहता हो । कहा भी गया है—

किसी पर भी विश्वास न करने वाले निर्बल से निबल व्यक्ति बलवानों द्वारा भी नहीं मारे जा सकते हैं किन्तु सब पर विश्वास करने वाले बलवान् भी निर्बलों द्वारा मारे जाते हैं ॥ १२३ ॥

जो व्यक्ति ऐश्वर्य, दीर्घ जीवन और सुख की इच्छा करता हो उस बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि (अत्यन्त शांत स्वभाव वाले) देव गुरु बृहस्पति पर भी विश्वास न करे ॥ १२४ ॥

शपथ द्वारा संधि किए हुए शत्रु का भी विश्वास नहीं करना चाहिए । क्योंकि राज्य (स्वर्ग) के लोभ में प्रयत्न करने वाले वृत्रासुर को इन्द्र ने विश्वास दिला कर ही मारा था ॥ १२५ ॥

अथ कदाचित्प्रत्यूषे [1]योगनिद्रां गतस्य राज्ञः शय्यान्ते मार्जनं कुर्वन्निदमाह—अहो, दन्तिलस्य महद् [2]दृप्तत्वं यद्राजमहिषीमालिङ्गति।' तच्छ्रुत्वा राजा ससम्भ्रममुत्थाय तमुवाच—भो ! भो ! गोरम्भ ! सत्यमेतत्; यत्त्वया जल्पितम् ? किं देवी दन्तिलेन समालिङ्गिता' ? इति। गोरम्भः प्राह—'देव, रात्रिजागरणेन [3]द्यूतासक्तस्य मे बलान्निद्रा समायाता। तन्न वेद्मि किं मयाभिहितम्।' राजा सेर्ष्यं स्वगतम् [अचिन्तयत्]—'एष तावदस्मद्गृहेऽ[4]-प्रतिहतगतिस्तथा दन्तिलोऽपि। तत्कदाचिदनेन देवी समालिङ्ग्यमाना दृष्टा भविष्यति। तेनेदमभिहितम्। उक्तं च—

यद्वाञ्छति दिवा मर्त्यो वीक्षते वा करोति वा।
तत्स्वप्नेऽपि तदभ्यासाद् ब्रूते वाथ करोति वा॥ १४४॥

वाच्यः किम् ? न मनुष्यः, किन्तु गोमेषादिवज्जीवविशेषः इति भावः। हि तथाहि, उत्पतितोऽपि भर्जनसमये अग्निसन्तापात् ऊर्द्ध्वमुत्थितोऽपि, चणकः "छोला" 'चना' इति प्रसिद्धः शस्यविशेषः, भ्राष्ट्रकं भर्जनपात्रं "खोला" इति प्रसिद्धं, भङ्क्तुं भेत्तुं शक्तः समर्थः, किम्? यथा हि भ्राष्ट्रकार्पितश्चणकः वह्निसन्तापात् क्रुद्धवत् उत्पतन्नपि पुनः तत्रैव पतति तद्भ्राष्ट्रकञ्च भङ्क्तुं न शक्नोति, अपि तु वह्नितापेन दन्दह्यते, तद्वत् ममाप्यवस्था जातेति भावार्थः। आर्य्या वृत्तम्॥ १४३॥

१. योगनिद्रां—योगेन—छलेन, निद्रां कपटनिद्राम् इत्यर्थः।

२. दृप्तत्वं—गर्व्वितत्वं, धृष्टता इति यावत्।

३. द्यूतासक्तस्य—द्यूतक्रीडायां निरतस्य।

४. अप्रतिहतगतिः,—अनिवारितसञ्चारः।

यदिति। मर्त्यः मनुष्यः; दिवा दिवसे; यत् वाञ्छति अभिलषति, वीक्षते

इसके बाद किसी दिन जब राजा सो रहे थे तब उनकी शय्या के समीप झाड़ू देते हुए गोरम्भ ने कहा—"कितने आश्चर्य की बात है कि दन्तिल अपने पद के घमण्ड में इतना उद्धत हो गया है कि वह महारानी का भी आलिङ्गन करता है।" यह सुनकर राजा शीघ्रता से उठकर बोले—हे गोरम्भ ! जो तुमने कहा है क्या वह सत्य है ? क्या दन्तिल ने महारानी का आलिङ्गन किया है ?" गोरम्भ ने कहा—'मैं रात भर जुआ खेलने में जागता रहा हूँ। इसलिए मुझे जोरों की नींद आ गई थी। अतः मैं नहीं जानता हूँ कि मैंने क्या कहा है।' राजा ने ईर्ष्या के साथ मन ही मन विचार किया—यह और दन्तिल दोनों ही हमारे महल में बिना किसी रुकावट के आने जाने वाले हैं। इसने कभी देवी का आलिङ्गन करते हुए देखा होगा। इसी से उसने कहा है। कहा भी गया है—

मनुष्य दिन में जो चाहता, देखता अथवा करता है, स्वप्न में भी उसी संस्कार

तथा च—शुभं वा यदि पापं यन्नृणां हृदि संस्थितम् ।
सुगूढमपि तज्ज्ञेयं स्वप्नवाक्यात्तथा मदात् ॥ १४५ ॥

अथवा स्त्रीणां विषये कोऽत्र सदेहः ?

जल्पन्ति सार्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः ।
हृद्गतं चिन्तयन्त्यन्यं प्रियः को नाम योषिताम् ? ॥ १४६ ॥

अन्यच्च—

एकेन स्मितपाटलाधररुचो जल्पन्त्यनल्पाक्षरं
वीक्षन्तेऽन्यमितः स्फुटत्कुमुदिनीफुल्लोल्लसल्लोचनाः ।

पश्यति वा, करोति वा, स्वप्नेपि निद्राऽवस्थायामपि, तदभ्यासात् तेषामभिलाषादीनाम्, अभ्यासात् पुनःपुनरालोचनवशात्, तत् ब्रूते वा अथ करोति वा ॥ १४४ ॥

शुभमिति । नृणां मानवानां, शुभं हितं वा, यदि वा अथवा पापम् अशुभं, यत् किञ्चित् हृदि संस्थितं वर्त्तमानं, स्यादिति शेषः, तत् तत् सर्वं, सुगूढमपि नितरां गुप्तमपि; अप्रकाश्यमपीत्यर्थः, स्वप्नवाक्यात् निद्राकालोच्चरितवाक्यात्, तथा मदात् मद्यपानजनितात् विकारादित्यर्थः, ज्ञेयं वेद्यं, भवति लोकानामिति शेषः ॥ १४५ ॥

जल्पन्तीति । स्त्रियः इति सर्व्वत्र अध्याहार्य्यम्; अन्येन सार्द्धं जल्पन्ति आलपन्ति, सविभ्रमाः सविलासाः सत्यः, अन्यं पश्यन्ति, तथा अन्यं पुरुषं, हृद्गतं हृदयस्थितं कृत्वा इत्यर्थः, चिन्तयन्ति, तस्मात् को जनः, योषितां नारीणां प्रियः ? नामेति सम्भावनायाम्; न कोऽपि प्रियः इति सम्भावयामीति भावः ॥ १४६ ॥

एकेनेति । स्मितेन ईषद्धास्येन, पाटला रक्ता, रञ्जिता इति यावत्, अधररुक् ओष्ठकान्तिः यासां तथोक्ताः सत्यः, एकेन केनापि पुरुषेण सहेत्यर्थः, अनल्पाक्षरं बहुशः

के कारण वैसा ही बोलता अथवा करता है ॥ १४४ ॥

अच्छे या बुरे जो भी भाव मनुष्य के मन में स्थित होते हैं वे अत्यन्त छिपे होने पर भी स्वप्न के समय बोलने और नशे में बकने के समय प्रकट हो जाते हैं ॥ १४५ ॥

अथवा इस विषय में स्त्रियों के प्रति कोई सन्देह नहीं है ।

स्त्रियाँ एक के साथ बात करती हैं, दूसरे की ओर विलास भरी चितवन से देखती हैं, हृदय से किसी अन्य व्यक्ति का चिन्तन करती हैं । वास्तव में स्त्रियों के लिए कोई भी प्रिय नहीं होता है ॥ १४६ ॥

और भी—स्त्रियाँ पाटल पुष्प के समान लाल अधरों से मुसकुराती हुई बात तो किसी एक के साथ करती हैं किन्तु फूली हुई कुमुदनी के समान प्रफुल्लित नेत्रों

दूरोदारचरित्रचित्रविभवं ध्यायन्ति चान्यं धिया
केनेत्थं परमार्थतोऽर्थवदिदं प्रेमास्ति वामभ्रुवाम् ? ॥ १४७ ॥
तथा च—नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥ १४८ ॥
रहो नास्ति क्षणो नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नरः ।
तेन नारद ! नारीणां सतीत्वमुपजायते ॥ १४९ ॥

इत्यर्थः, जल्पन्ति विविधाः कथाः कथयन्तीत्यर्थः, वामभ्रुव इति शेषः; स्फुटन्ती विकसन्ती, या कुमुदिनी सेव फुल्ले विकसिते, उल्लसन्ती स्फुरन्ती, लोचने यासां तथाविधाः सत्यः, इतः अस्मात् येन सह जल्पन्ति तस्मादित्यर्थः, अन्यं पुरुषं, वीक्षन्ते पश्यन्ति, तथा दूरम् अत्यन्तम्, उदारं महत्, चरित्रं यस्य तादृशञ्च तत् चित्रः विविधः, विभवः सम्पत् यस्य तथाभूतञ्च, (विशे·कर्मधा०) अतुलार्थमित्यर्थः, अन्यं पुरुषञ्च, धिया बुद्धया, मनसा इत्यर्थः, ध्यायन्ति चिन्तयन्ति; अतः वामभ्रुवां नारीणाम्, इत्थं केनेव केन वा पुरुषेण सह, परमार्थतः यथार्थतः, अर्थवत् साभिलाषं, सानुरागमित्यर्थः प्रेम प्रणयः, अस्ति ? न केनापि सहेत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १४७ ॥

नेति । अग्निः काष्ठानां काष्ठैः, बहुकाष्ठभस्मीकरणेनापीत्यर्थः, न तृप्यति न तुष्यति, महोदधिः समुद्रः, आपगानां नदीनां, बहुनदीसमागमेनापीत्यर्थः, न, अन्तकः यमः, सर्व्वभूतानां सर्व्वप्राणिकवलनेनापीत्यर्थः, न, तथा वामलोचना कामिनी, पुंसां बहूनां पुरुषाणां संसर्गेणापीत्यर्थः, न, तृप्यतीति सर्व्वत्रानुषङ्गः । [काष्ठादीनां करणत्वेऽपि तृप्त्यर्थानां वेति नियमात् वैकल्पिको षष्ठी, क्रियासम्बन्धमात्रे विवक्षया षष्ठीति पद्मनाभादयः] ॥ १४८ ॥

रह इति । नारदं प्रति श्रीकृष्णस्योक्तिरियम् । हे नारद ! रहः विजनं, नास्ति न लभ्यते इत्यर्थः, ["स्थानम्" इति वा पाठः]; क्षणः समयः, कार्य्यव्यापृतत्वादिति

से देखती दूसरे की ओर हैं और हृदय से विचित्र चरित्र वाले तथा ऐश्वर्यशाली किसी अन्य का चिन्तन करती हैं । अतः स्त्रियों का वास्तविक प्रेम किस पुरुष के साथ होता है ? [अर्थात् स्त्रियाँ किसी भी पुरुष के साथ वास्तविक प्रेम नहीं करती हैं] ॥ १४७ ॥

और भी—जिस प्रकार अग्नि लकड़ी से, समुद्र नदियों से, तथा यमराज समस्त प्राणियों से तृप्त नहीं होते, उसी प्रकार स्त्रियाँ भी पुरुषों से (पुरुषों के सहवास से) तृप्त नहीं होती हैं ॥ १४८ ॥

एकान्त नहीं मिलता, समय नहीं मिलता, समागम की प्रार्थना करने वाला

यो मोहान्मन्यते मूढो रक्तेयं मम कामिनी ।
स तस्या वशगो नित्यं भवेत्क्रीडाशकुन्तवत् ।। १५० ।।

तासां वाक्यानि कृत्यानि स्वल्पानि सुगुरूण्यपि ।
करोति यः कृतैर्लोके लघुत्वं याति सर्वतः ।। १५१ ।।

स्त्रियं च यः प्रार्थयते सन्निकर्षं च गच्छति ।
ईषच्च कुरुते सेवां तमेवेच्छन्ति योषितः ।। १५२ ।।

भावः; नास्ति, प्रार्थयिता सुरतार्थी इत्यर्थः, नरः नास्ति, तेन हेतुना, नारीणां सतीत्वं पातिव्रत्यम्; उपजायते तिष्ठति इत्यर्थः, एतेषां सद्भावश्चेत् तर्हि तासां सतीत्वं नैव तिष्ठेदिति भावः ।। १४९ ।।

य इति । इयं कामिनी मम मयीत्यर्थः, रक्ता अनुरागिणी, इति यः मूढः अविवेकी, मोहात् अज्ञानात्, मन्यते बुध्यते, सः मूर्खः, क्रीडाशकुन्तवत क्रीडार्थं पोषितपक्षीव, नित्यं तस्याः कामिन्याः, वशगः तदायत्त इत्यर्थः, भवेत् ।। १५० ।।

तासामिति । लोके जगति, यः कृती कुशलः पुरुषः, तासां नारीणां स्वल्पानि अतितुच्छानि, सुगुरूणि महान्ति अपि वा, अर्थवन्तीत्यर्थः, वाक्यानि कृत्यानि कार्य्याणि वा, करोति पालयतीत्यर्थः, स सर्वतः सर्वप्रकारेण, लघुत्वं क्षुद्रत्वं, याति गच्छति ।। १५१ ।

स्त्रियमिति । यश्च स्त्रियं प्रार्थयते कामयते, सन्निकर्षं सदा सान्निध्यञ्च, गच्छति, ईषत् अल्पं यथा तथा, सेवाञ्च कुरुते, योषितः नार्य्यः, तमेव इच्छन्ति कामयन्ते इत्यर्थः ।। १५२ ।।

मनुष्य नहीं मिलता, इसीलिए हे नारद ! स्त्रियों का सतीत्व बचा रहता है । तात्पर्य यह कि वह स्वभावतः सती नहीं होती हैं ।। १४९ ।।

जो मूर्ख अज्ञान के वशीभूत होकर यह मान लेता है कि—'यह स्त्री मुझ में आसक्त हो गई है, वह घर के पालतू पक्षियों के समान सर्वदा उसके वश में हो जाता है ।। १५० ।।

जो व्यक्ति स्त्रियों की बातों अथवा कार्यों को चाहे वह छोटे हों या बड़े हों, समर्थन करता है (या मान लेता है) वह इस संसार में तुच्छ बन जाता है ।। १५१ ।।

जो व्यक्ति स्त्री की कामना करता है; उसके पास निवास करता है तथा उसकी थोड़ी बहुत सेवा करता है, स्त्रियाँ उसी पुरुष को चाहती हैं ।। १५२ ।।

ततः [1]स्वामिप्रसादरहितौ क्षुत्क्षामकण्ठौ परस्परं करटकदमनकौ मन्त्रयेते। तत्र दमनको ब्रूते—'आर्य करटक, आवां तावदप्रधानतां गतौ। एष पिङ्गलकः संजीवकानुरक्तः [2]स्वव्यापारपराङ्मुखः संजातः। सर्वोऽपि परिजनो गतः। तत्किं क्रियते? करटक आह—'यद्यपि त्वदीयवचनं न करोति तथापि स्वामि [3]स्वदोषनाशाय वाच्यः। उक्तञ्च—

अशृण्वन्नपि बोद्धव्यो मन्त्रिभिः पृथिवीपतिः।
यथा स्वदोषनाशाय विदुरेणाम्बिकासुतः॥ १७१॥

तस्मिन् वृत्तिविषये, अन्यस्य, गृहे इति शेषः, कथं न भावि? न भविष्यति? सर्वस्यैव गृहे इत्थं घटना अवश्यम्भाविनीति भावः; यस्मात् जगतः स्वरूपं स्वभाव इत्यर्थः। तद्धि तादृशमेव; परस्परोपजीव्यजीवकरूपमिति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ १७०॥

१. स्वामिप्रसादरहितौ—प्रभुप्रसादविरहितौ, क्षुत्क्षामकण्ठौ—बुभुक्षया शुष्ककण्ठौ, मन्त्रयेते—मन्त्रं चक्रतुः। अप्रधानताम्—अप्रमुखतां, गतौ।

२. स्वव्यापारपराङ्मुखः—निजकार्यविमुखः, संजातः।

३. स्वदोषनाशाय—स्वदोषः,—स्वकर्त्तव्याकरणं, तच्च स्वामिने सदुपदेशादानरूपं, तस्य नाशाय—शोधनाय, क्षालनाय इत्यर्थः। वाच्यः, हित इति शेषः।

अशृण्वन् इति। अशृण्वन् अपि हितवचनमनाकर्णयन् अपि, पृथिवीपतिः मन्त्रिभिः स्वदोषनाशाय विदुरेण अम्बिकासुतः धृतराष्ट्रः, यथा, तथा बोद्धव्यः विज्ञापयितव्यः, हितवचनं श्रावयितव्यः इत्यर्थः॥ १७१॥

के व्यापार की) घटना होती है तो दूसरों के धर में कैसे नहीं हो सकती है? क्योंकि संसार का स्वरूप ही ऐसा है॥ १७०॥

तब स्वामी की कृपा से वञ्चित तथा भूख से व्याकुल करटक तथा दमनक ने परस्पर मन्त्रणा की। इस विषय में दमनक ने कहा—"आर्य करटक! अब हम दोनों अप्रधान (सामान्य) हो गए हैं। यह पिंगलक संजीवक के प्रति अनुरक्त होकर अपने कार्य (हिंसा व्यापार) से विमुख हो गया है। सभी परिजन भी चले गये। अतः अब क्या करना चाहिए?" करटक ने कहा—यद्यपि वह तुम्हारी बातों के अनुसार काम नहीं करता है, फिर भी अपने दोष से बचने के लिए स्वामी से कुछ कहना आवश्यक है। कहा भी गया है—

राजा यदि मन्त्री की बात न भी सुने तब भी मंत्री का कर्तव्य है कि वह अपना दोष दूर करने के लिए उसे कैसे ही समझाने की चेष्टा करे जिस प्रकार अपना दोष दूर करने के लिए विदुर ने धृतराष्ट्र को समझाया था॥ १७१॥

तथा च—मदोन्मत्तस्य भूपस्य कुञ्जरस्य च गच्छतः ।
उन्मार्गं वाच्यतां यान्ति महामात्राः समीपगाः ।। १७२ ।।

यत्त्वयैष 'शष्पभोजी स्वामिनः सकाशमानीतः, तत्स्वहस्तेनाङ्गाराः कर्षिताः ।' दमनक आह—'सत्यमेतत् । ममायं दोषः, न स्वामिनः । उक्तञ्च—

जम्बुको हुड्युद्धेन वयं चाषाढभूतिना ।
दूतिका परकार्येण त्रयो दोषाः स्वयंकृताः' ।। १७३ ।।

करटक आह—'कथमेतत् ।' 'सोऽब्रवीत्—

मदोन्मत्तस्येति । मदोन्मत्तस्य मदोद्धतस्य, अत एव उन्मार्गं विषयमित्यर्थः, गच्छतः भूपस्य नृपतेः, कुञ्जरस्य हस्तिनश्च, समीपगाः सन्निहिताः, महामात्राः अमात्याः, हस्तिपकाश्च, ("महामात्रः समृद्धे चामात्ये हस्तिपकाधिपे" इति मेदिनी) वाच्यतां निन्द्यतां, हितानुशासनादिति भावः; यान्ति प्राप्नुवन्ति ।। १७२ ।।

१. शष्पभोजी—तृणभोजी, वृषभः; स्वहस्तेन—स्वकरेण, अङ्गाराः,—ज्वलदुल्मूका इत्यर्थः । कर्षिताः—गृहीताः ।

जम्बुक इति । जम्बुकः कश्चित् शृगालः, हुडुयुद्धेन मेषविशेषसङ्ग्रामेण, हत इति शेषः, आषाढ़भूतिना, तदाख्यप्रतारकेण, द्विजः कश्चित् परिव्राजकविप्रश्च, प्रतारित इति शेषः, तथा दूतिका परकार्य्येण, हतेति शेषः, त्रयो दोषाः येन येन दोषेणैव विपत्तिः, ते दोषाः, स्वयम् आत्मना कृताः तैरिति शेषः, न त्वन्यस्य दोषैरेवं भवतीति भावः ।। १७३ ।।

और भी—यदि मदोन्मत्त राजा और हाथी बुरे मार्ग पर चले जाँय तो लोग उनके पास रहने वाले मन्त्री और महावत की ही निन्दा करते हैं ।। १७२ ।।

तुमने ही इस घास खाने वाले (संजीवक) को स्वामी के पास पहुँचाया है । इस प्रकार तुमने स्वयं अपने हाथों से अंगारा उठाया है ।" दमनक ने कहा—यह सत्य है । इसमें मेरा ही दोष है न कि स्वामी का । कहा भी गया है—

मेषों (मेंढ़ों) के युद्ध से गीदड़, आषाढभूति से हम तथा दूसरे का कार्य करने से दूती–ये तीनों ही अपने ही दोषों से दूषित हुए अर्थात् विपत्तियों में फँसे ।। १७३ ।।

करटक ने कहा—'यह कैसे ? उसने कहा—

४ : दूतीजम्बूकाषाढभूति-कथा

अस्ति कस्मिंश्चिद्विविक्तप्रदेशे मठायतनम्। तत्र देवशर्मा नाम परिव्राजकः प्रतिवसतिस्म। तस्यानेकसाधुजनदत्तसूक्ष्मवस्त्रविक्रयवशात्कालेन महती वित्तमात्रा संजाता। ततः स न कस्यचिद्विश्वसिति। नक्तंदिनं कक्षान्तरात्तां मात्रां न मुञ्चति। अथवा साधु चेदमुच्यते—

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थाः कष्टसंश्रयाः ॥ १७४ ॥

अस्ति कस्मिश्चिद्, विविक्तप्रदेशे—निर्जनप्रदेशे, मठायतनम्—मठः, सन्न्यासिनामाश्रमः, स एव आयतनम्—स्थानम्, परिव्राजकः—पर्यटकः, सन्न्यासी इत्यर्थः। अनेकेति—अनेकैः, साधुजनैः—धनिकैः, दत्तानां सूक्ष्मवस्त्राणां विक्रयवशात् इत्यर्थः। कालेन—चिरकालिकेन सञ्चयेन, महती—विपुला, वित्तमात्रा—धनपरिमाणम्, सञ्जाता। न विश्वसिति—विश्वासं न करोति स्म।

नक्तन्दिनं—रात्रिन्दिवम्। कक्षान्तरात्—कक्षस्य—बाहुनिम्नदेशस्य, स्वपार्श्वादित्यर्थः, अन्तरात्—मध्यात् बाहुमूलात् इत्यर्थः। मात्रां—वित्तं, ("मात्रा··· वित्ते···माने···" इति मेदिनी) न मुञ्चति—न त्यजति।

अर्थानामिति। अर्थानां धनानाम्, अर्ज्जने उपार्ज्जने, दुःखम्; अर्जितानाञ्च अर्थानां रक्षणे दुःखम्; आये कुतश्चित् प्रदेशात् आनयने, ("नाशे" इति पाठान्तरं साधु); दुःखं, पथि दस्युभयादिति भावः; व्यये विनियोगे, दुःखं, तस्मात् अर्थाः कष्टसंश्रयाः क्लेशावहाः, अतः तान् धिक्! ["धिगर्थान् कष्टसंश्रयान्" इति वा पाठः, तथात्वे,—कष्टसंश्रयान् अर्थान् धिक्! निन्दामीत्यर्थः, "धिक् निर्भर्त्सननिन्दयोः" इत्यमरः] ॥ १७४ ॥

दूती, जम्बूक और आषाढभूति की कथा

किसी निर्जन स्थान में एक मठ था। उसमें देवशर्मा नाम का एक संन्यासी रहता था। उसके पास अनेक सज्जनों द्वारा दिए गए महीन वस्त्रों के बेचने से कुछ समय के बाद बहुत अधिक धन इकट्ठा हो गया था। इससे वह किसी का विश्वास नहीं करता था। रात दिन उस धन को अपनी काँख में दबाए रहता था। अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

धन के कमाने में दुःख, उसकी रक्षा करने में दुःख, धन की आमदनी होने में दुःख तथा उसके खर्च करने में भी दुःख—इस प्रकार इस दुःखदायी धन को धिक्कार है ॥ १७४ ॥

अथाषाढभूतिर्नाम [1]परवित्तापहारी धूर्तस्तामर्थमात्रां तस्य कक्षान्तरगतां लक्षयित्वा व्यचिन्तयत्—'कथं मयास्येयमर्थमात्रा हर्तव्या' इति। तदत्र मठे तावद्[2]दृढशिलासंचयवशाद्भित्तिभेदो न भवति। उच्चैस्तरत्वाच्च [3]अद्वारे प्रवेशो न स्यात्। तदेनं मायावचनैर्विश्वास्याहं छात्रतां व्रजामि, येन सः विश्वस्तः कदाचित् मम हस्तगतो भविष्यति। उक्तञ्च—

निस्पृहो नाधिकारी स्यान्नाकामी मण्डनप्रियः।
नाविदग्धः प्रियं ब्रूयात्स्फुटवक्ता न वञ्चकः॥ १७५॥

---

(१) परवित्तापहारी—चोरः लुण्ठकः इत्यर्थः। धूर्तः=वञ्चकः, अर्थमात्रा=धनराशिम्।

(२) दृढेति। दृढः,—कठिनः, यः शिलासञ्चयः,—प्रस्तरराशिः, तद्वशात्, दृढेन प्रस्तरसञ्चयेन निर्मितत्वादिति भावः। भित्तिभेदः,—सन्धिना कुड्यच्छेदः इत्यर्थः। उच्चैस्तरत्वात्—लङ्घनाशक्यत्वात्।

(३) अद्वारे—द्वारातिरिक्तपथे। मायावचनैः—कपटवाक्यैः। विश्वास्य—विश्वासमुत्पाद्य, छात्रतां—शिष्यभावम्, हस्तगतः—करतलगतः, भविष्यति।

निःस्पृह इति। निःस्पृहः अर्थादिसमागमोपायचिन्तने विराकाङ्क्षः, पुमान् इति शेषः, अधिकारी अर्थादीनाम् इति शेषः, न स्यात् न भवेत्; अतः अर्थोपार्जनाकाङ्क्षिणा तदर्जनविषये स्पृहावता भवितव्यमिति भावः। अकामी अकामुकः, मण्डनप्रियः भूषणप्रियः, न स्यात्; भूषणप्रियश्च सर्व्वथा भोगाभिलाषीति भावः। तथा अविदग्धः मूढः, प्रियं न ब्रूयात्; प्रियभाषी तु विदग्ध एव इति भावः। तथा स्फुटवक्ता स्पष्टभाषी, वञ्चकः प्रतारकः, न स्यात्। भूषणाप्रियत्वादिहेतुभिः अकामुकत्वम् आविदग्धत्वम् अवञ्चकत्वञ्च अनुमेयं, तानि च यथा आषाढभूतौ सन्ति, तथा तत्र मायावचनैः प्रतिपादनीयानि इत्यभिप्रायः एतेन समर्थितः॥ १७५॥

इसके बाद दूसरे का धन ले लेने वाले आषाढभूति नाम के एक ठग ने उसकी काँख में उस धन को देखकर विचार किया कि मैं कैसे इसके धन का अपहरण कर लूँ। कठोर पत्थरों से बनी इस मठ की दीवारों में सेंध नहीं लगाई जा सकती, अधिक ऊँचा होने के कारण द्वारातिरिक्त में प्रवेश नहीं किया जा सकता। अतः इसे छल भरी बातों से विश्वास दिलाकर मैं इसका छात्र बन जाऊँ जिससे यह विश्वस्त होकर कदाचित मेरे हस्तगत हो जाय। कहा भी गया है—

(अर्थोपार्जन के प्रति) तृष्णा न रखने वाला व्यक्ति धनवान् नहीं होता, कामवासना रहित पुरुष शृंगार-प्रिय नहीं होता, मूर्ख व्यक्ति हित की बातें नहीं करता और स्पष्टवादी व्यक्ति धूर्त नहीं होता है॥ १७५॥

माह—'सखि, स देवदत्तः तस्मिन्स्थाने त्वां प्रतीक्षते । तच्छीघ्रमागम्यताम्' इति । सा चाह—'पश्य ममावस्थाम् । तत्कथं गच्छामि ? तद्गत्वा ब्रूहि तं कामिनं यदस्यां रात्रौ न त्वया सह समागमः ।' नापिती प्राह—'सखि, मा मैवं वद । नायं कुलटाधर्मः । उक्तं च—

विषमस्थस्वादुफलग्रहणव्यवसायनिश्चयो येषाम् ।
उष्ट्राणामिव तेषां मन्येऽहं शंसितं जन्म ॥ १९० ॥

तथा च— संदिग्धे परलोके जनापवादे च जगति बहुचित्रे ।
स्वाधीने पररमणे धन्यास्तारुण्यफलभाजः ॥ १९१ ॥

कुलटाधर्मः,—कुलटायाः रीतिः ।

विषमस्थेति । उष्ट्राणामिव येषां विषमस्थं दुरधिरोहस्थानस्थं यत् स्वादुफलं तस्य ग्रहणे यः व्यवसायः उद्यमः, तत्र निश्चयः अवश्यमेव तादृशं फलं लभे इति दृढता इत्यर्थः, वर्त्तते इति शेषः, तेषां जन्म शंसितं धन्यम्, इति अहं मन्ये, दुर्लभलाभार्थी जनः प्रशस्यः, त्वमपि तथेति तव प्रशस्तिरिति भावः । आर्या वृत्तम् ॥ १९० ॥

संदिग्धे इति । जगति लोके, परलोके लोकान्तरे, सन्दिग्धे संशययुक्ते, स्वर्ग-नरकादि अस्ति न वा इति सन्देहयुक्ते इत्यर्थः, जनापवादे लोकनिन्दायाञ्च, बहुचित्रे विविधप्रकारे इत्यर्थः, नियतवर्त्तमाने इति शेषः, जनानामयं स्वभावो यत् प्रायशः ते परकृतकार्य्यस्य किमपि छिद्रमाविष्कृत्य तदपवदन्तीति भावः, तथा पररमणे परच्छन्दानुवर्त्तने, परपुरुषे वा, स्वाधीने निजायत्ते सति तारुण्यफलभाजः

जुलाहे को सोया हुआ जानकर उसके पास आई और बोली—'वह देवदत्त उस स्थान पर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है । अतः (वहाँ) शीघ्र ही आ जाओ ।' उसने कहा—सखी मेरी दशा तो देखो । मैं कैसे जाऊँ ? इस लिए उस कामीपुरुष (देवदत्त) से जाकर कहो कि मैं आज रात में तुम्हारे साथ सम्भोग नहीं कर सकूँगी । नाइन ने कहा—सखी ! ऐसा मत कहो; कुलटा का यह धर्म नहीं है । कहा भी गया है—

जिन कुलटाओं में ऊँट के समान विषम स्थान में भी स्थित स्वादिष्ट फल (कुलटा के पक्ष में—प्रतिकूल परिस्थितियों में भी परपुरुष समागम जन्य आनन्द) की प्राप्ति के लिए उद्योग करने का दृढ़ निश्चय होता है, मैं उन्हीं (कुलटाओं) का जन्म प्रशंसा के योग्य मानती हूँ ॥ १९० ॥

और भी—परलोक तो संदिग्ध है (स्वर्ग या नरक है भी या नहीं है इसे कौन जाने) और इस लोक में बहुत तरह की लोक-निन्दाएँ (भले बुरे दोनों की) होती रहती हैं जिनको रोकना अपने वश की बात नहीं किन्तु परपुरुष के साथ

अन्यच्च—यदि भवति दैवयोगात्पुमान्विरूपोऽपि बन्धकी रहसि ।
न तु कृच्छ्रादपि भद्रं निजकान्तं सा भजत्येव' ।। १९२ ।।

साब्रवीत्—'यद्येवं; तर्हि कथय, कथं दृढबन्धनैर्बद्धा सती तत्र गच्छामि? सन्निहितश्चायं पापात्मा मत्पतिः।' नापित्याह—'सखि, मदविह्वलोऽयं सूर्यकरस्पृष्टः प्रबोधं यास्यति। तदहं त्वामुन्मोचयामि। मामात्मस्थाने बद्ध्वा द्रुततरं देवदत्तं सम्भाव्यागच्छ। साब्रवीत्—'एवमस्तु' इति। तदनु सा नापिती तां स्वसखीं बन्धनाद्विमोच्य तस्याः स्थाने यथापूर्वमात्मानं बद्ध्वा तां देवदत्तसकाशे सकेतस्थानं प्रेषितवती। तथाऽनुष्ठिते कौलिकः कस्मिश्चित्क्षणे समुत्थाय किंचिद्गतकोपो विमदस्तामाह—

तारुण्यस्य यौवनस्य, फलं यदृच्छासम्भोगः, तद् भजन्ते इति तादृश्यः, युवतय इति भावः, धन्याः सार्थकजन्मानः, भवन्ति इति शेषः, या शरीरान्तरे अनिश्चितं नरकभोगभयम्, इहलोके च सर्वदा सुलभं विविधलोकनिन्दाभयञ्चापहाय परपुरुषैर्यथेच्छं विहरन्ति, ताः नितरां सुखिन्यः इति भावः । आर्य्या वृत्तम् ।। १९१ ।।

यदीति । बन्धकी रहसि बन्धक्याः कुलटायाः, रहसि विश्वासयोग्ये देशे, यदि विरूपः कुत्सितोऽपि, पुमान् पुरुषः, दैवयोगात् विधिवशात्, भवति आगच्छतीत्यर्थः, अथवा—बन्धकी इति छेदः; तत्र—बन्धकी पुमानिति च कर्तृपदम्; दैवात् उभयमपि रहसि उपतिष्ठते यदि इत्यर्थः, तदा सा कृच्छ्रादपि कथञ्चिदपि, अत्यन्तमनिच्छयाऽपीति भावः, भद्रं सुन्दरमपि, निजकान्तं स्वपतिं, न तु भजत्येव । आर्य्या वृत्तम् ।। १९२ ।।

सूर्य्यकरेत्यादि । सूर्य्यकिरणस्पर्शेनायं जागरिष्यति । सम्भाव्य—सन्तोष्य । सङ्केतस्थानम्—अभिसारोचितगुप्तप्रदेशम् । किञ्चिद्गतकोपः—ईषत्कोपाद्-

---

सम्भोग करना तो अपने वश की बात है। अतः जवानी का फल (परपुरुष के साथ सम्भोग सुख) लूटने वाली कुलटाओं का ही जीवन सफल है ।। १९१ ।।

उसने कहा—"यदि ऐसी बात है तो बताओ, दृढ़ बन्धन में बँधी हुई मैं उसके पास कैसे जाऊँ? और यह मेरा पापी पति भी तो समीप ही में है" ।। १९२ ।।

नाइन ने कहा—"सखी! यह तो नशे में बेसुध है। सूरज की किरणों का स्पर्श पाकर ही जागेगा। इसलिए मैं तुम्हारा बन्धन खोल देती हूँ। तुम मुझे अपने स्थान पर बांध कर शीघ्रता से देवदत्त को संतुष्ट करके आ जाओ।" उसने कहा—ऐसा ही करो। इसके पश्चात् उस नाइन ने अपनी सखी को बन्धन से मुक्त करके तथा उसके स्थान में अपने को बँधवा कर उसे संकेत-स्थल (प्रेमी प्रेमिकाओं के मिलने की गुप्त जगह) पर देवदत्त के पास भेज दिया। इतना सब हो जाने

'हे परुषवादिनि, यदद्य प्रभृति गृहान्निष्क्रमणं न करोषि, न च परुषं वदसि, ततस्त्वामुन्मोचयामि।' नापित्यपि स्वरभेदभयाद्यावन्न किञ्चिदूचे, तावत्सोऽपि भूयो भूयस्तां तदेवाह। अथ सा यावत्प्रत्युत्तरं किमपि न ददौ, तावत्स प्रकुपितस्तीक्ष्णशस्त्रमादाय तस्याः नासिकामच्छिनत्। आह च—रे पुंश्चलि, तिष्ठेदानीम्। न त्वां भूयस्तोषयिष्यामि' इति जल्पन् पुनरपि निद्रावशमगमत्।

देवशर्मापि वित्तनाशात्क्षुत्क्षामकण्ठो नष्टनिद्रस्तत्सर्वं स्त्रीचरित्रमपश्यत्। सापि कौलिकभार्या यथेच्छया देवदत्तेन सह सुरतसुखमनुभूय कस्मिंश्चित्क्षणे स्वगृहमागत्य तां नापितीमिदमाह—'अयि, शिवं भवत्याः? नायं पापात्मा मम गताया उत्थितः? नापित्याह—

विरतः।

विमदः,—मत्तताशून्यः। परुषवादिनि!—निष्ठुरभाषिणि!।

स्वरभेदभयात्—स्वरस्य कण्ठध्वनेः, भेदः विभिन्नता, तस्मात् भयं तस्मात्; कुलटायाः तस्याः स्वस्य च स्वरो भिन्नः; तेन असौ ज्ञास्यतीति भयादिति भावः।

पुंश्चलि—पुंसः भर्त्तुः सकाशात्; चलति पुरुषान्तरं गच्छतीति [अच्, गौरादित्वात् ङीष्] तत्सम्बोधने। जल्पन्—कथयन्।

क्षुत्क्षामकण्ठः,—क्षुधया शुष्कगलः। नष्टनिद्रः,—नष्टा—विगता, निद्रा—स्वप्नः यस्य सः, निद्रारहितः।

(१) शिवं—मङ्गलम्। अयं—मत्स्वामीत्यर्थः। गतायाः—इतः प्रस्थितायाः।

पर कुछ देर के बाद उठकर नशा उतर जाने से कुछ कुछ क्रोध रहित होकर जुलाहे ने कहा—अरी कटुवादिनी! यदि आज से फिर कभी घर से बाहर नहीं निकलोगी और न तो कठोर बातें ही कहोगी तो मैं तुम्हें बन्धन से मुक्त कर दूँगा। नाइन ने भी स्वर-भेद के भय से जब कुछ भी नहीं कहा। तब उसने बार बार उससे वही बात दुहराई। जब उसने कोई भी उत्तर नहीं दिया तब उसने क्रुद्ध होकर तेज हथियार से उसकी नाक काट दी। और कहा—"अरी कुलटे! इसी प्रकार बँधी हुई पड़ी रहो। अब मैं तुम्हारी खुशामद नहीं करूँगा।" ऐसा कहते हुए वह फिर सो गया।

धन नष्ट हो जाने से भूख प्यास से व्याकुल देवशर्मा भी नींद न आने के कारण यह सब स्त्रीचरित्र देखता रहा। उस जुलाहे की स्त्री ने भी देवदत्त के साथ जी भरकर सम्भोग सुख का अनुभव करके कुछ ही समय बाद अपने घर आकर नाइन से कहा। 'अरी! तुम्हारी कुशल तो है न। यह पापी मेरे जाने के बाद

'शिवं नासिकाया विना शेषस्य शरीरस्य। तद् द्रुतं मां मोचय बन्धनात्, यावन्नायं मां पश्यति, येन स्वगृहं गच्छामि।'

तथानुष्ठिते भूयोऽपि कौलिक उत्थाय तामाह—'पुंश्चलि, किमद्यापि न वदसि'? किं भूयोऽप्यतो दुष्टतरं निग्रहं कर्णच्छेदेन करोमि।' अथ सा सकोपं साधिक्षेपमिदमाह—'धिङ्महामूढ, को मां महासतीं धर्षयितुं व्यङ्गयितुं वा समर्थः? तच्छृण्वन्तु सर्वेऽपि लोकपालाः—

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥ १९३ ॥

तद्यदि मम सतीत्वमस्ति मनसाऽपि मया परपुरुषो नाभिलषितः, ततो

(२) येन—बन्धनमोचनेनेत्यर्थः। दुष्टतरम् कठोरम्।

(३) साधिक्षेपं—सतिरस्कारम्, साक्षेपम्, धर्षयितुम—अवमन्तुम्, तिरस्कर्तुम्। व्यङ्गयितुम्—अङ्गविहीनां कर्त्तुमित्यर्थः; [विगतमङ्गं यस्याः सा व्यङ्गा, तां करोतीति णिजन्तात् तुमुन्]।

आदित्येति। आदित्यचन्द्रौ सूर्याचन्द्रमसौ, अनिलो वायुः, अनलः अग्निः, द्यौः आकाशं भूमिः क्षितिः, आपो जलानि, हृदयम् अन्तःकरणं यम धर्मराजः, अहः दिवसः, रात्रिः रजनी, उभे द्वे, प्रातःसायंरूपे इत्यर्थः, सन्ध्ये सन्धिवेले च, तथा धर्मश्च, नरस्य वृत्तं चरितं, जानाति अवगच्छति, प्रत्यक्षीकरोतीत्यर्थः, आदित्यादय एव मां जानन्ति, तव का शक्तिर्माम् अवगन्तुमिति भावः। उपजातिः वृत्तम् ॥ १९३ ॥

उठा तो नहीं था।' नाइन ने कहा—नाक के अतिरिक्त शरीर के सभी अंग कुशल पूर्वक हैं। इस लिए शीघ्र ही मेरा बन्धन खोल दो ताकि यह मुझे देख न सके और मैं अपने घर चली जाऊँ।

ऐसा हो जाने पर फिर जुलाहे ने जग कर कहा—अरी कुलटे! अब भी क्यों नहीं बोलती है। क्या कान काटने का इससे भी कठोर दण्ड दूँ? तब उसने क्रोध और तिरस्कार के साथ कहा—अरे महामूर्ख! तुम्हें धिक्कार है। भला मेरी जैसी सती को फटकारने अथवा अङ्गहीन करने में कौन समर्थ हो सकता है? अतः सभी लोकपाल भी सुन लें

सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, आकाश, भूमि, जल, मन यम, दिन, रात, दोनों सन्ध्याएँ (प्रातः एवं सायं) और धर्म मनुष्य के आचरणों को जानते हैं ॥ १९३ ॥

भूमिका

भारतीय कथा-साहित्य का विश्व-साहित्य में अत्यन्त उत्कृष्ट स्थान रहा है। वस्तुतः भारतीय कथा-साहित्य विश्व-कथासाहित्य का जनक भी कहा जा सकता है। संस्कृत कथा-साहित्य रोचकता, सरलता, मधुरता, भावाभिव्यक्ति और उपदेशात्मकता के कारण विश्व के सभी विद्वानों द्वारा प्रशंसित हुआ। इसमें भारतीय जीवन, विचारधारा, कार्य-कलाप और नैतिकता की पराकाष्ठा प्राप्त होती है। अधिकांश कथा-साहित्य में व्यक्ति विशेष का नाम न रखकर पशु, पक्षी या अन्य जीव-जन्तु को उसके प्रतीक के रूप में खड़ा किया गया है। अतः वृद्ध इसकी मनोहरता पर आकृष्ट होते हैं। इसमें सिंह, हाथी, बिल्ली, चूहा, गीदड़, कौआ, कछुआ आदि पशु-पक्षी हमें नीति की शिक्षा, आचार की शिक्षा और कर्तव्योपदेश देते हैं। इन कथाओं में कौतूहल, विनोद, हासपरिहास, छल-प्रपञ्च, प्रेम-प्रपञ्च, विश्वासघात, धर्म-आचार, नीति, व्यवहारज्ञान और काव्यसौन्दर्य हमें प्राप्त होता है। इन्हीं विभिन्नताओं के कारण संस्कृत-कथासाहित्य आबाल वृद्ध के लिए सदैव आकर्षण एवं मनोरञ्जक रहा है।

कथा-साहित्य का उद्भव एवं विकास

भारत में वैदिक युग के भारतीयों के जीवन के प्रारम्भिक काल से ही अनेक प्रकार की कथाएँ लोगों में प्रचलित थी। आरम्भ में कथाओं के विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में अद्भुत कथा (फेयरी टेलस्) लोक-कथा और कल्पित कथा (मिथस्) अथवा पशु-कथा (फेबेलस्) के रूप में उनमें भेद स्थापित नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद में यद्यपि पशु-पक्षियों की कथाएँ नहीं हैं किन्तु उनमें पशु-कथा का बीज विद्यमान है। ऋग्वेद के एक प्रसिद्ध सूक्त[1] का जिसमें यज्ञ के अवसर पर मन्त्र गान करते हुए ब्राह्मणों की तुलना टर्र-टर्र करने वाले मेढकों से की गई है, यहाँ मनुष्य के आस-पास विद्यमान पशु-पक्षियों में मनुष्य की आदतों को स्थानान्तरित करना दृष्टिगत होता है।[2] इससे स्पष्ट है कि मनुष्यों और अन्य

---

१. ऋ० ७.१०३।

२. संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः॥ (ऋ० ७.१०३.१)

प्राणियों के मध्य एक प्रकार का सम्बन्ध स्वीकार कर लिया गया था। इतना ही नहीं उन मेढकों को वर्ष भर तपस्या करने वाले व्रती ब्राह्मण के समान भी कहा गया है। ऋग्वेद में देवशुनी सरमा और पणियों का संवाद आया है। इसमें सरमा नामक कुतिया पणियों (कृपण वणिकों) को उपदेश देती है कि वे धन-दान करें। यहाँ पर पणि सरमा को मित्र और बहन कहकर सम्बोधित करते हैं।[1] इसमें जीवजन्तुओं के साथ आत्मीयता का बीज हमें ऋग्वेद-काल से ही दृष्टिगोचर होता है और यही संस्कृत कथा-साहित्य का बीज है।

यास्क ने निरुक्त में "इत्यैतिहासिका:" कहकर इन्द्र-वृत्र-युद्ध आदि को कथा का रूप प्रदान किया है। इन कथाओं का विस्तृत रूप शौनककृत बृहद्देवता तथा कात्यायनकृत सर्वानुक्रमणी की षड्गुरुशिष्यकृत वेदार्थदीपिका टीका में प्राप्त होता है। द्या द्विवेद (१५वीं शती०) कृत नीति-मञ्जरी में वैदिक आख्यानों को नीतिकथा के रूप प्रस्तुत किया गया है। इसमें उपदेशात्मक अंश पञ्चतन्त्र आदि के समान ही पद्य में है और कथा वैदिक है, जो गद्य में दी गई है। ऋग्वेद के प्रसिद्ध 'अस्य वामस्य सूक्त' में प्रकृति को वृक्ष और जीवात्मा को उस वृक्ष पर बैठे हुए दो पक्षी बताया गया है।[2] ब्राह्मणग्रन्थों में इन कथाओं का विस्तार हमें प्राप्त होता है। ऐतरेय ब्राह्मण में कथा के साथ उपदेशात्मक पद्यों का भी समावेश मिलता है।[3]

पशु-कथा का प्रारम्भ और पञ्चतन्त्र

उपनिषदों में जीव-जन्तु-कथाएँ और विकसित रूप में हमें प्राप्त होती हैं। वहाँ कुत्तों की एक रूपात्मक व्यङ्ग्य कथा आती है जो अपने भोजन के लिए चिल्लाने वाला एक नेता ढूँढते हैं।[4] उसी में दो हंसों का वार्तालाप आया है जिनके वचनों से रैक्व का ध्यान आकर्षित होता है।[5] छान्दोग्य में ही जाबाल के पुत्र सत्यकाम

१. (अ) आ च गच्छान्मित्रमेना दधाम। (ऋ० १०. १०८. ३.)।
   (ब) स्वसारं त्वा कृणवै मा पुनर्गा (ऋ० १०. १०८. ९.)।
२. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया-ऋ० १. १६४. २०।
३. चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
   सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति। ऐ०ब्रा० (७. १३) ३३. ३।
४. छा० उ० १. १२. २।
५. छा० उ० ४. १।

का बैल, हंस और मद्गु नामक एक जलचर पक्षी ब्रह्मविद्या का उपदेश करते हैं।[1] इस प्रकार यद्यपि यहाँ उपदेशात्मक कथा नहीं है। फिर भी जानवरों के कर्म मनुष्यों को उपदेश देने के साधन के रूप में प्रयुक्त किए गए हैं, क्योंकि उपदेश देने के इस प्रकार को ग्रहण कर लेना सरल था। यही पञ्चतन्त्र की पशु-कथाओं का उत्स है।

महाभारत में पशु-कथाओं का और भी विकसित रूप हमें मिलता है।[2] शान्ति-पर्व तथा अन्य पर्वों में भी पञ्चतन्त्र की कथाओं के लिए उत्स विद्यमान हैं। यहाँ हम केवल उस चिड़िया के सम्बन्ध में ही नहीं पढ़ते, जो प्रसिद्ध सुनहले अण्डे दिया करती थी, प्रत्युत उस चण्ठ बिल्लो की कथा भी पाते हैं, जिसकी धार्मिकता के दिखावे से ठगे गये चूहों ने अपने को स्वयं ही उसे सौंप दिया था। महाभारत में ही पाण्डवों के साथ वैसा ही व्यवहार करने का सुझाव भी दिया जाता है जैसा कि बुद्धिमान् सियार ने अपने साथियों व्याघ्र, चूहा, नेवला एवं भेड़िए के साथ किया था। महाभारत के आदिपर्व में कुत्ते की कथा, गज-कच्छप कथा और वनपर्व में मनुमत्स्य-कथा तथा शान्तिपर्व की बारह अन्य नीतिकथाएँ उल्लेखनीय हैं जो पशु कथा के प्रारम्भ का प्रतिनिधित्व करती हैं।

पतञ्जलि (१५० ई० पू०) ने भी कथासूचक लोकोक्तियों अजाकृपाणीय, काक-तालीय आदि तथा जन्मसिद्ध शत्रुता के उदाहरण रूप में अहिनकुलम्, काकोलूकीयम् जैसी नीति कथाओं का उल्लेख किया है।[3] भरहुत स्तूप (तृ० शती) पर पशु-कथाओं का नाम खुदा हुआ है। इस अभिलेख के साक्ष्य से हमें यह ज्ञात होता है कि बौद्ध लोग पशुओं एवं मनुष्यों के निकट सम्बन्ध विषयक विश्वास का पहले से अन्य प्रकार का उपयोग करने लगे थे। बौद्धों की जातक-कथाएँ ३८० ई० पू० के लगभग विद्यमान थीं, जिनमें बुद्ध के उपदेश तथा पिछले जन्मों में बुद्ध तथा उनके समकालीन पुरुषों की महत्ता गाथाओं के रूप में विद्यमान हैं। इनमें बोधिसत्त्व के वानर, मृग आदि जन्मों की कथाएँ भी हैं जिनका पञ्चतन्त्र की कथाओं से अत्यन्त साम्य है। आर्यसूर की जातकमाला संस्कृत में हैं, जिसमें ३५ जातकों का संग्रह है। ये नीति कथा के रूप में हैं। बौद्ध-जातक ग्रन्थों के अनुकरण पर जैनों ने जातक ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें जैन तीर्थंकरों के पूर्वजन्म का वर्णन है। कुछ जैन

१. छा० उ० ४. ५, ७, ८।

२. महाभारत ४. ८८ और आगे भी।

३. द्र० पा० सू० २. १. ३, २. ४. ९, ५. ३. १०६ पर महाभाष्य।

जातकों पर पञ्चतन्त्र का प्रभाव दिखाई देता है। एक चीनी विश्वकोष (६६८ ई०) में प्रायः दो सौ बौद्ध ग्रन्थों से संगृहीत कतिपय कथाओं का अनुवाद मिलता है। हरिषेण ने बृहत्कथा कोष (९३२ ई०) में एक-एक जैन-सिद्धान्त के लिए अनेक कथाएँ लिखी हैं।

इस प्रकार महाभारत एवं पतञ्जलि द्वारा लोकन्यायों के उल्लेख से हम निःसन्देह यह जान सकते हैं कि पशु-कथा प्रचलित थी जो बाद में बौद्ध एवं जैनों में भी प्रचारित हो गई।

कालान्तर में जब कथाओं ने साहित्यिक रूप प्राप्त किया तब ये चार प्रकार की दृष्टिगोचर होती हैः—१. अद्‌भुत कथा (Fairy) । २. लोक कथा (Marchen) ३. कल्पित कथा (Myths) और ४. पशु कथा (Fabels) । व्यावहारिक रूप से चार कथा साहित्य दो भागों में विभक्त हैं—१. नीति कथाएँ (उपदेशात्मक पशु कथा), २. लोक कथाएँ।

उपदेशात्मक पशु कथाओं की विशेषता

पशु-कथा मूलतः भारतीयों में नीतिशास्त्र तथा अर्थशास्त्र की नीति शास्त्र के नाम से प्रख्यात दो शाखाओं से सम्बन्धित है। धर्मशास्त्र के समान ये सदाचारोपदेश के शास्त्र नहीं हैं किन्तु ये व्यावहारिक राजनीति में मनुष्य के कर्तव्य से और दैनिक जीवन तथा पारस्परिक सम्पर्क की सामान्य बातों के अनुष्ठान से सम्बन्धित हैं। इन उपदेशात्मक पशु कथाओं के सम्बन्ध में हम किसी भी प्रकार यह नहीं कह सकते कि उनका उद्‌देश्य नैतिकता की उपेक्षा करके केवल चातुरी की प्रशंसा करना है। पञ्चतन्त्र का मुख्य उद्‌देश्य बालकों को नीति की शिक्षा देना है, उन्हें धर्म एवं व्यवहार सिखाना है। अतः धर्मशास्त्र का प्रभाव इसमें स्पष्ट रूप से दीखता है। इन नीति कथाओं में जीवन का व्यावहारिक पक्ष वर्णित है। दैनिक जीवन, बात-व्यवहार तथा कर्तव्याकर्तव्योपदेश आदि वर्णित है। इन कथाओं में भले एवं बुरे दोनों ही पक्षों का वर्णन है। जीवन की पवित्रता, कर्तव्य पालन, मित्र की रक्षा, वचन का पालन आदि गुणों का वर्णन है तथा छल-प्रपञ्च एवं दम्भ, अन्तःपुर के कपट-व्यवहार और स्त्रियों की दुश्चरित्रता आदि दोषों का भी वर्णन हैं। प्रमुखता के लिए इनमें उपदेश या नीति-परक कथन पद्यों में वर्णित हैं और कथा गद्य में दी गई है। एक भाव वाले विभिन्न श्लोक अनेक नीति ग्रन्थों से संग्रहीत हैं। इन्हें वक्तव्य की पुष्टि के लिए ही दिया गया है। स्थान-स्थान पर प्रसंगवश सुभाषित भी दिए गए हैं।

पाँचों तन्त्रों में एक मुख्य कथा के अन्तर्गत अनेक उपकथाओं का समावेश है। ये नीति कथाएँ यद्यपि पशु-पक्षियों आदि से सम्बद्ध हैं फिर भी प्रकारान्तर से मानवमात्र के लिए ही रोचक एवं उपादेय हैं।

पञ्चतन्त्र

पञ्चतन्त्र के रचयिता पं० विष्णुशर्मा हैं। इनको कथामुख में सकलशास्त्र-पारंगत, छात्रों के अतिप्रिय और अस्सी वर्ष का वृद्ध व्यक्ति बताया गया है। चाणक्य का नाम भी विष्णुशर्मा प्रचलित है। इसलिए बहुत से विद्वान् चाणक्य और विष्णु शर्मा को एक मानकर पञ्चतन्त्र को चाणक्य की ही कृति मानते हैं। परन्तु पञ्चतन्त्र की प्रस्तावना के श्लोकों में चाणक्य और विष्णुशर्मा को पृथक् माना गया है। वस्तुतः मूलग्रन्थ में जो नीतिविषयक गम्भीर सूझ बूझ प्रकट की गई है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि चाणक्य जैसे विद्वान् ही ऐसा गहन कार्य कर सकते थे। यह भी सम्भावना की जाती है कि प्रस्तावना का चाणक्य सम्बन्धी श्लोक[1] स्तुत्यर्थ बाद में जोड़ दिया गया हो। अतः यह ग्रन्थ विष्णुशर्मा का ही लिखा है कदाचित् वे चाणक्य ही रहे हो।

पञ्चतन्त्र का रचना-काल

हर्टेल महोदय पञ्चतन्त्र का काल २०० ई० पू० के बाद मानते हैं।[2] पञ्चतन्त्र में दीनार शब्द (लेटिन Denarius) का प्रयोग मिलता है। दीनार रोमन सिक्का था, जो प्रथम शती में भारत में आया था। अतः कीथ महोदय इसका समय २०० ई० पू० या इसके बाद मानते हैं।[3] यदि चाणक्य को पञ्चतन्त्र का रचयिता मान लिया जाए तो इसका समय चन्द्रगुप्त मौर्य अर्थात् ३४५ ई० पू०—३०० ई० पू० का होगा। अतः यह रचना चाणक्य के अन्तिम समय की रही होगी। वतुस्तः चन्द्रगुप्त मौर्य का समय राजनीतिक उथल-पुथल का था। उस समय पञ्चतन्त्र जैसे नीतिग्रन्थ की अत्यन्त आवश्यकता थी। अतः भाषा की सरलता आदि की दृष्टि से भी पञ्चतन्त्र का समय ३०० ई० पू० मानना उचित होगा। यह सम्भावित है कि बाद में स्वर्णमुद्रा के लिए दीनार शब्द का अत्यन्त प्रचलन होने के बाद पञ्चतन्त्र के संस्करणों में दीनार शब्द जानबूझ कर रख दिया गया हो। प्रो० हर्टेल ने भी दीनार शब्द को अत्यन्त महत्त्व नहीं दिया। गुणाढ्य (७८ ई० के लगभग) की बृहत्कथा में पञ्चतन्त्र का पाठ भी सिद्ध करता है कि उसके

१. चाणक्याय च विदुषे नमोऽस्तु नयशास्त्रकर्तृभ्यः–श्लोक २ पृ० २।
२. कोष-हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० २४७–२४८।
३. कीथ–जे० आर. ए. एस. १९१५, पृ० ५०४।

समय तक पञ्चतन्त्र प्रसिद्ध हो चुका था और इतनी प्रसिद्धि के लिए प्राय: तीन सौ वर्ष का समय (अर्थात् ३०० ई० पू० का समय) मानना उचित है।

पञ्चतन्त्र का नाम और 'तन्त्र' शब्द

हितोपदेश की प्रस्तावना में इसका नाम 'पञ्चतन्त्र' ही मिलता है।[1] दक्षिणी संस्करण और नेपाली संस्करण आदि में भी यही नाम मिलता है। पञ्चतन्त्र के कथामुख में 'एतत् पञ्चतन्त्रकं नाम नीतिशास्त्रम्' से ज्ञात होता है कि इसके रचयिता ने इसका नाम 'पञ्चतन्त्र' ही रखा था। किन्तु पञ्चतन्त्र का मूल नाम क्या था ? यह निश्चित नहीं है, क्योंकि सीरियन अनुवाद (५७० ई०) में इसका नाम 'कलिलग और दमनग' मिलता है तथा अरबी अनुवाद (७५० ई०) में 'कलिलग और दिमनह' नाम मिलता है। वस्तुत: ये नाम प्रथमतन्त्र में प्राप्त दो शृगाल 'करटक और दमनक' के नाम के विकृत रूप हैं। अत: सम्पूर्ण ग्रन्थ का यह नाम नहीं हो सकता। पञ्चतन्त्र में 'तन्त्र' शब्द मुख्यत: विभाग या खण्ड का द्योतक है। किन्तु साथ ही 'तन्त्र' शब्द राजतन्त्र, गणतन्त्र आदि में प्रयुक्त तन्त्र शब्द के तुल्य 'नीति समवेत शासन विधि' का भी द्योतक है। अतः शासन करने के लिए पञ्चतन्त्र में पाँच प्रकार के तन्त्र हैं अर्थात् विधियाँ बताई गई हैं।

पञ्चतन्त्र में पाँच तन्त्र या विभाग ये हैं—१. मित्रभेद, २. मित्रसम्प्राप्ति, ३. काकोलूकीयम् ४. लब्धप्रणाश एवं ५. अपरीक्षितकारकम्।

पञ्चतन्त्र की नीति शिक्षाएँ

मित्रभेद में नीतिशिक्षा वर्णित है कि किस प्रकार दो मित्रों में झगड़ा करा दिया जाए। पिङ्गलक नामक सिंह और संजीवक नामक बैल घनिष्ट मित्र थे। करटक और दमनक नामक दो गीदड़ों ने उनमें आपस में फूट डाल दी और सिंह से बैल की हत्या करवा दी। **मित्रसम्प्राप्ति** में नीति की यह शिक्षा दी गई है कि हमें अनेक उपयोगी मित्र बनाना चाहिए। कपोत, कछुआ, हिरन और चूहे साधनहीन होने पर भी मित्रता के बल पर सुखी जीवन व्यतीत करते रहे। **काकोलूकीयम्** में यह नीति बताई गई है कि अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए शत्रु से भी मित्रता कर ले और बाद में उसे धोखा देकर नष्ट कर दे, अर्थात् 'सन्धि विग्रह' का यहाँ उपदेश दिया गया है। कौआ उल्लू से मित्रता कर लेता है और फिर बाद में उल्लू के किले में आग लगा देता है। **लब्धप्रणाश** में नीतिशिक्षा है कि बुद्धिमान् व्यक्ति अपने बुद्धि-बल से जीत जाता है और मूर्ख पुरुष हाथ में आई हुई भी वस्तु से हाथ धो

---

१. पञ्चतन्त्रात् तथाऽन्यस्माद् ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते—हितो० श्लो० ९।

बैठता है। वानर और मगर की मित्रता मीठे जामुन के कारण होती है। अतः मगर की पत्नी वानर का मीठा दिल चाहती है। बुद्धिमान् वानर मगर से यह कहकर पानी के बीच से जान बचा लेता है कि मेरा दिल तो पेड़ पर छूट गया है। इस प्रकार मगर के हाथ में आई वस्तु भी उसकी मूर्खता से हाथ से निकल जाती है। **अपरीक्षितकारकम्** में नीति की यह शिक्षा दी गई है कि विना विचार किए हुए सहसा कार्य नहीं कर देना चाहिए। ब्राह्मणी ने अपने प्रिय तथा सर्प से शिशु की रक्षा करने वाले नेवले की यह समझकर हत्या कर दी कि उसने उसके बच्चे को मार डाला है। इस प्रकार विना विचार के कार्य करने से वह पछताती है।

पञ्चतन्त्र की समायोजना

पञ्चतन्त्र में पाँच मुख्य कथाएँ हैं। प्रत्येक कथा में अनेक उपकथाएँ हैं। इनका संयोजन इस प्रकार है—

	तन्त्रनाम	मुख्य कथा	उपकथाएँ	श्लोक संख्या
१.	मित्रभेद	सिंह और बैल की मित्रता तुड़वाने की कथा	२३	४६१
२.	मित्रसंप्राप्ति	काक, कूर्म, मृग, और चूहे की मित्रता की कथा	७	१९६
३.	काकोलूकीय	कौए और उल्लू की कथा	१७	२५६
४.	लब्धप्रणाश	वानर और मगर की कथा	११	८०
५.	अपरीक्षित कारक	ब्राह्मणी और नेवले की कथा	१४	९८
			७१	१०३१

पञ्चतन्त्र का विषय-संक्षेप

प्रथम तन्त्र की अङ्गी कथा के पूर्व राजा अमरशक्ति के पुत्रों की दुष्टता का आख्यान है। वह उन्हें विष्णुशर्मा को उनकी इस प्रतिज्ञा पर सौंप देते हैं कि वह उन्हें छः माह में ही राजनीति का ज्ञान करा देंगे।

इसके बाद **'मित्रभेद'** नामक प्रथम तन्त्र का विषय हमारे सम्मुख आता है। इसकी अङ्गी कथा में इस बात का वर्णन है कि किस प्रकार एक दुष्ट सियार पिङ्गलक नामक सिंह का सञ्जीवक नामक बैल की ओर से खिंचाव करा देता है जिसका सिंह ने आपत्ति से उद्धार किया था और फिर अपने विश्वासपात्र मन्त्रियों करटक

तथा दमनक की इच्छा के प्रतिकूल उस बैल को अपना प्रिय मित्र बना लिया था। धूर्तता से सिंह का बैल पर अविश्वास करा दिया जाता है। मित्रों के बीच भेद उपस्थित कर देना ही इस तन्त्र का लक्ष्य है। बाद में सिंह द्वारा उसे मरवा भी दिया जाता है। जब सिंह अपने रक्त से सने पञ्जों को देखता है तो पछताता है। परन्तु दमनक उसे दिलासा देता है, और इसका मुख्य मन्त्री बना रहता है।

राजनीतिक विवादों को सुलझाने के लिए प्रथम तन्त्र में पर्याप्त सामग्री है। परन्तु साथ ही पशु-पक्षियों की अनेक रुचिकर कथाएँ भी इसमें विद्यमान हैं—

१. कीलोत्पाटन के कारण मृत्यु को प्राप्त होने वाले वानर के दुर्भाग्य का वर्णन यह सिद्ध करने के लिए किया गया है कि जो बात अपने से सम्बन्ध नहीं रखती उसमें हस्तक्षेप करने से क्या बुराई होती है। अतः नीति यह है कि अपने से असम्बद्ध कार्य-कलाप में मानवमात्र को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए (पृ० २३)।

२. केवल बाहरी स्वरूपों को देखने के बदले वस्तुओं की भली प्रकार परीक्षा करने की आवश्यकता उस सियार की कथा के द्वारा बताई गई है जिसकी जाँच करने पर यह पता लगा कि जिस दुन्दुभि की ध्वनि ने उसे डराया था, वह और कुछ नहीं केवल भीतर से खोखला चमड़ा था। अतः नीति यह है कि बाहरी स्वरूप को ही देखकर मानव को नहीं डर जाना चाहिए। उसे उसके असली स्वरूप का पता लगाना चाहिए (पृ० ६१)।

३. तीसरी कहानी 'नृपति-दन्तिल और गोरम्भक कथा' में यह दिखाया गया है कि जो अपने पद के अभिमान में उत्तम, मध्यम या अधम कर्मचारी का सम्मान नहीं करता है वह राजा से सम्मानित होकर भी मन्त्री दन्तिल के समान अपने पद से भ्रष्ट हो जाता है। सार्वजनिक रूप से किसी को असम्मानित तो नहीं ही करना चाहिए। इससे यह भी शिक्षा मिलती है कि किसी भी सेवक को मालिक घर में सभी स्थानों पर बेरोक टोक नहीं जाना चाहिए (पृ० ७७-८९)।

४. इसके अनन्तर हम तीन कहानियों में व्यक्तियों द्वारा अपने घर लाई गई आपत्तियों के सम्बन्ध में तीन घटनाओं को ज्ञात करते हैं—

पहली एक मूर्ख सन्यासी की कथा है, जिसके धन की, एक चोर को शिष्य बनाने के कारण, चोरी हो गई। दूसरी एक सियार की कथा है जो लड़ते हुए भेड़ों के शिरःसम्पात में पड़कर मारा गया, और तीसरी एक दूती की है जिसने अपने आश्रयदाता के साथ एक जुलाहे की पत्नी के जार-कर्म को आगे बढ़ाने के लिए उसका स्थान ग्रहण कर लिया और उसके परिणामस्वरूप उसे अपनी नाक से हाथ धोना पड़ा।

छठवीं कहानी में बल के ऊपर चतुराई की विजय दिखाई गई है। कौवी ने अपने बच्चों को मारने वाले साँप को दण्ड देने के लिए उसके बिल में एक राजकुमार का कनक-सूत्र डाल दिया और इस प्रकार उसको बुद्धि से मरवा दिया।

इसके बाद हम अति लोभ के दोषों के बारे में सातवीं कथा से जानते हैं जिसका उदाहरण बगुले द्वारा दिया गया है, जो मछलियों को बहका कर उन्हें दूसरी झील में ले जाने के बहाने उन्हें खा गया, परन्तु एक बुद्धिमान् केकड़े ने उसे मार डाला।

आठवीं कहानी मूर्खता का नाश की ओर ले जाना सिद्ध करती है, जैसे सिंह को पानी में अपनी परछाई पर आक्रमण करने के निमित्त कुएँ में कूदने के लिए प्रवृत्त करके खरगोश ने उसका नाश किया।

इसके बाद सम्मिलित यत्न द्वारा प्रयुक्त चतुरता का परिणाम ग्यारहवीं कहानी से दिखाया गया है कि किस प्रकार एक सिंह के सेवकों ने अपने स्वस्थ स्वामी के भोजन के लिए अपने को समर्पित किया, परन्तु मना किए जाने पर सिंह के आश्रित एक मूर्ख ऊँट को भी इसी प्रकार करने के लिए फुसलाया, जिस पर सिंह ने उसको खा डाला।

तदनन्तर शत्रु की शक्ति का ज्ञान प्राप्त किए बिना उस पर आक्रमण करने के विरुद्ध चेतावनी दी जाती है जिसका उदाहरण समुद्र-तट पर के टिट्टिभदम्पती की बारहवीं कथा से दिया गया है।

एक टिट्टिभ को अपने अण्डे समुद्र के किनारे देने के लिए कहा। परन्तु उसने बारहवीं कथा के अन्तर्गत दो कथाओं (१३-१४) से अपने मत का समर्थन करते हुए उसकी योजना का उपहास किया।

पहली कथा (पृ० २२२-२२४) में यह बताया गया है कि किस प्रकार उस मूढ़ कछुए ने अपने प्राण खोए, जिसने अपने पञ्जों में पकड़ी हुई एक डण्डी के द्वारा अपने को ले जाने वाले हंसों की, आकाश में जाते समय मुँह न खोलने की सलाह नहीं मानी।

दूसरी कथा (पृ०२२५-२२८) में यह दिखाया गया है कि किस प्रकार अनागतविधाता तथा प्रयुत्पन्नमति नामक दो मत्स्य मछुआरों से बच गए। परन्तु यद्भविष्य नामक मत्स्य पकड़ा गया।

इस उदाहरण को कह देने पर भी टिट्टिभ उससे अपना कहना मानने का ही हठ करता है, समुद्र अण्डों को बहा ले जाता है, परन्तु वह टिट्टिभ गरुड़ द्वारा विष्णु की सहायता प्राप्त करता है और उनके आग्नेय बाण के प्रहार के भय से समुद्र उन अण्डों को लौटा देता है।

बया पक्षी की (१७वीं और १८वीं) कहानी यह सिद्ध करती है कि कुछ लोग किसी बात को सीख ही नहीं सकते। जैसे जो बात नहीं मानना चाहता था और उलटे एक मूर्ख बन्दर को यह समझाने पर ही अड़ा रहा कि जुगनू के प्रकाश से उसे उष्णता नहीं प्राप्त हो सकती और इस प्रकार उसने बन्दर को इतना अधिक चिढ़ा दिया कि बन्दर ने उसे मार डाला (पृ० २७१-२७५)।

१९वीं कहानी में यह बतलाया गया कि किस प्रकार धर्मबुद्धि और पापबुद्धि ने साथ मिलकर उस गाड़े हुए धन के ऊपर झगड़ा किया, जिसको पापबुद्धि ने चुपके से खोद कर निकाल लिया था। धर्माधिकरण में जाकर वह कहता है कि वृक्ष साक्षी बनकर सिद्ध करेगा कि धर्मबुद्धि चोर है और जब वृक्ष के पास जाने का निश्चय हो जाता है, तब वह अपने पिता से वृक्ष के कोटर में बैठकर वृक्ष की आत्मा बनने को कहता है। पिता इस बात का विरोध करता है और २०वीं कहानी कहता है कि कैसे एक मूर्ख बगुले ने अपने बच्चों को खा डालने वाले सर्प के विनाश के लिए एक नेवले को प्रेरित करने के बाद यह समझा कि नेवले छोटे-छोटे पक्षियों के भक्षण में बड़े उस्ताद होते हैं।

यह कथा अवान्तर कथा के मध्य अवान्तर कथा है (पृ० २८६-२८८) जिसमें यह दर्शाया गया है कि बुद्धिमान् व्यक्ति को किसी प्रकार का उपाय करने के साथ ही उसमें खड़ी होने वाली विपत्तियों को भी सोच लेना चाहिए।

परन्तु फिर भी वह पिता अपने पुत्र पापबुद्धि का कहना करता है। वृक्ष में से वह कहता है कि धर्मबुद्धि ही चोर है। धर्मबुद्धि क्रुद्ध होकर वृक्ष में आग लगा देता है और पापबुद्धि का पिता जल जाता है। इस प्रकार पापबुद्धि का अपराध प्रकट हो जाता है।

२१वीं कहानी उस वणिक्पुत्र की है, जिसकी पाँच सौ सेर की लौह निर्मित तराजू उसके मित्र द्वारा चुरा ली गई थी, जिस मित्र के पास उसने देशान्तर जाते समय निक्षेप (धरोहर) के रूप में उसे रख दिया था। जब वह विदेश से लौटकर वापस माँगता है, तब उसे यह बतलाया जाता है कि उस तराजू को तो मूषकों ने खा लिया है। इस पर वह अपने मित्र के लड़के को अपहृत कर लेता है और कहता है कि एक बाज उसको उड़ा ले गया। यह मामला धर्माधिकारी के पास लाया जाता है। अपने लड़के की प्राप्ति के लिए वणिक् पुत्र को तराजू लौटाने के लिए धर्माधिकारी उसको सरलतापूर्वक तैयार कर लेता है (पृ० २८९ २९४)।

२२वीं कथा नृप की सेवा करने वाले वानर की है, जिसमें यह बताया गया है कि विद्वान् शत्रु भी श्रेष्ठ होता है। किन्तु मूर्ख अधिकारी भी अच्छा

नहीं होता, क्योंकि हितकारी किन्तु मूर्ख वानर के द्वारा राजा मारा गया (पृ० २९४-२९५)।

अन्तिम २३वीं कथा में शत्रु होकर भी एक चोर द्वारा ब्राह्मण की रक्षा की कहानी कही गई है कि जो व्यक्ति गौ और ब्राह्मण के लिए अपने प्राणों का परित्याग करता है, वह सूर्य-मण्डल को भेदकर परमगति को प्राप्त करता है (पृ० २९४-२९८)।

अन्त में राजा के लिए नीतिपरक बातों को बताकर मित्रभेद की कथा गीता के एक उस श्लोक 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' से समाप्त कर दी जाती है जहाँ मरने वाले के लिए शोक करना मूर्खता बताई गई है। मित्रभेद की प्रधान कथा से हमें यह शिक्षा दी गई है कि पिता, भाई, पुत्र, स्त्री या मित्र—इनमें से चाहे कोई भी यदि प्राण लेने की चेष्टा करे तो उसे अवश्य मार डालना चाहिए। ऐसा करने में कोई पाप नहीं है। इसी कथा के माध्यम से हमें यह बताया गया है कि कोमल हृदय का राजा, भक्ष्य एवं अभक्ष्य सभी वस्तुएँ खाने वाला ब्राह्मण, लज्जारहित स्त्री, दुष्टबुद्धि वाला सहायक, विरुद्ध आचरण करने वाला सेवक आलस्य करने वाला अध्यक्ष और उपकार न मानने वाले कृतघ्न व्यक्ति, ये सभी त्याग देने योग्य होते हैं।

दूसरा तन्त्र, जिसमें **मित्रसम्प्राप्ति** वर्णित है, अधिक आकर्षक एवं रोचक है। यह कबूतरों के चतुर राजा चित्रग्रीव अपने दल को शिकारी के जाल से बचाने के लिए दल के अन्य कबूतरों से उस जाल को उड़ा ले चलने के लिए कहता है[1] और फिर हिरण्यक नामक चूहे से कबूतरों के बन्धन कटवाता है, किन्तु वह इस बात के लिए सावधान रहता है कि उसके बन्धन अन्त में कटें।

इसके अनन्तर यह बतलाया जाता है कि किस प्रकार लघुपतनक नामक कौआ की चूहे के पुराने मित्र मन्थरक नामक कछुए से जान पहचान होती है। हिरण्यक अपना पहला घर छोड़ने का कारण समझाता है।

उसकी (प्रथम) कहानी यह बतलाती है कि एक ताम्रचूड़ नामक परिव्राजक के अपनी भिक्षा को चूहे से बचाने का प्रयत्न करने पर भी वह उस बेचारे की लाई हुई भिक्षा खा जाया करता था। परिव्राजक का एक मित्र आकर उससे कहता है कि चूहे के इस बल का कोई कारण अवश्य होगा, जिस प्रकार माता शाण्डिली के के कूटे हुए तिलों से विना कूटे हुए तिलों को बदलने का कुछ कारण था।

---

१. यह कथा महाभारत से प्रभावित है।

दूसरी कथा में तिलों को बदलने का कारण स्पष्ट किया जाता है। एक ब्राह्मण ने अपनी पत्नी को चान्द्र संक्रान्ति के दिन ब्राह्मणों को भोजन कराने की तैयारी करने को कहा। ब्राह्मणी अपने को दारिद्रय से ग्रस्त बतलाती है। ब्राह्मणी की इस आपत्ति को दूर करने के लिए ब्राह्मण अत्यधिक लोभी एक सियार की तीसरी कथा कहता है।

तीसरी कथा में लोभी शृगाल, भोजनरूप में एक सूअर, हिरन तथा मृत शिकारी के रहने पर भी, धनुष की कोटि में लगे हुए मांस खाने की लालच में प्रत्यञ्चा के काटने के कारण गला कट जाने से मारा गया (पृ० ३५४-३५७)।

ब्राह्मणी मान जाती है किन्तु उसके पकाए गए तिलों को सूँघकर एक कुत्ता भ्रष्ट कर देता है। अतः वह अपने पति के शिष्य को उन्हें दूसरे न कूटे हुए तिलों से बदलने के लिए भेजती है। ऊपर उल्लिखित कहावत उस गृहस्वामी से कहलाई है जिसके घर में तिलों को बदलने का प्रयत्न किया जाता है। परिव्राजक तब चूहे की शक्ति का कारण ढूढ़ना प्रारम्भ करता है और चूहे के घर में शक्ति का कारण सञ्चित स्वर्ण के रूप में प्राप्त होता है, जिससे चूहे को अद्भुत शक्ति मिला करती थी। इसके हटा लिए जाने पर वह दुर्बल हो जाता है और अपने अनुयायियों को खिलाने में असमर्थ हो जाने के कारण उनसे परित्यक्त हो जाता है। इस कहानी से यह दर्शाया गया है कि यदि मनुष्य धन-सम्पन्न रहता है तो उसमें अद्भुत शक्ति स्वयमेव विद्यमान रहती है और अपने परिजनों से वह परित्यक्त भी नहीं होता है।

चौथी कहानी प्राप्तव्यमर्थ वणिक् पुत्र की है, जिसमें यह दिखाया गया है कि मनुष्य पाने योग्य पदार्थ को प्राप्त कर ही लेता है। उसे व्यर्थ करने में दैव भी समर्थ नहीं होता है अर्थात् जो हमारा है वह दूसरे का नहीं हो सकता।

पाँचवी कहानी भाग्यहीन सोमिलक की है जिसमें यह बताया गया है कि धन कमा करके भी मनुष्य उसका भोग नहीं कर पाता है। जैसे मूर्ख सोमिलक बहुत बड़े जंगल में पहुँचकर कमाए हुए भी धन को खो बैठा।

छठवीं कहानी एक बैल के अनुगामी शृगाल की है। इस कथा के माध्यम से अनेक नीति की बातें और उपदेश दिए गए हैं। आगे जाकर मृग के रूप में चूहे का एक चौथा मित्र भी बढ़ जाता है। परन्तु एक दिन घूमते हुए वह एक जाल में फँस जाता है और छुटकारे की प्रतीक्षा करता हुआ अपने उत्सुक मित्रों को, अनौचित्य के होने पर भी यह बताकर सन्तुष्ट करता है कि किस प्रकार बाल्यावस्था में वह एक राजकुमार द्वारा कैद कर लिया गया था और तब एक दिन स्वतन्त्रता की कामना से प्रेरित होकर उसने अपने मुख से मानवीय वचन निकाल कर

नन्दकनामानौ गृहोत्पन्नौ धूर्वोढारौ स्थितौ। तयोरेकः संजीवकाभिधानो 'यमुनाकच्छमवतीर्णः सन्' पङ्कपूरमासाद्य कलितचरणो युगभङ्गं विधाय निषसाद। अथ तं तदवस्थमालोक्य वर्धमानः परं विषादमगमत्। तदर्थं च स्नेहार्द्रहृदयस्त्रिरात्रं 'प्रयाणभङ्गमकरोत्। अथ तं विषण्णमालोक्य सार्थिकैरभिहितम—'भोः श्रेष्ठिन्! किमेकवृषभस्य 'कृते सिंहव्याघ्रसमाकुले बह्वपायेऽस्मिन्वने समस्तसार्थस्त्वया संदेहे नियोजितः? उक्तं च—

न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमान्नरः।
एतदेवात्र पाण्डित्यं यत्स्वल्पाद् भूरिरक्षणम्' ॥ १९ ॥

---

१. यमुनाकच्छं—यमुनानद्याः अन्तर्गतमनूपं, ("जलप्रायमनूपं स्यात् पुंसि कच्छस्तथाविधः" इत्यमरः)।

२. पङ्कपूरं—कर्दमनिकरम्। कलितचरणः,—प्रोथितपादः। युगभङ्गं—युगस्य शकटाग्रवर्तिकाष्ठस्य, भङ्गम्।

३. प्रयाणभङ्ग—गमनस्थगनम। सार्थिकैः—सहचरैः, वणिग्भिरित्यर्थः।

४. कृते—निमित्तम्। बह्वपाये—बहुविपदि। संदेहे—प्राणसंशये इत्यर्थः। नियोजितः—निपातितः।

नेति।—मतिमान् नरः स्वल्पस्य सामान्यस्य, वस्तुन इति शेषः, कृते निमित्तं, भूरि प्रभूतं, वस्तु इति शेषः, न नाशयेत्। अत्र स्वल्पं वस्तु एको वृष इति बोध्यम्। स्वल्पात् स्वल्पमपेक्ष्येत्यर्थः [ल्यब्लोपे पञ्चमी] यत्

उत्पन्न तथा शुभ लक्षणों से युक्त एव बोझ ढोने में समर्थ संजीवक और नन्दनक नाम वाले उसके दो बैल थे। उनमें से एक संजीवक नाम वाला बैल यमुना के जल से गीले किनारे को पार करते समय कीचड़ में फंस गया जिससे उसकी टांग टूट गई और वह कंधे से जुआ गिराकर बैठ गया। उसको ऐसी दशा में देखकर वर्धमान बहुत दुःखी हुआ और उसके प्रति स्नेह होने के कारण उसने तीन दिन तक आगे यात्रा नहीं की। उसे खिन्न देखकर उसके साथ जाने वाले अन्य व्यापारियों ने कहा—सेठ जी इस एक बैल के लिए सिंह और बाघ से भरे तथा अनेक विपत्तियों वाले इस वन में सभी साथी व्यापारियों के प्राण संकट में क्यों डाले हुए हैं। कहा भी है—

बुद्धिमान् मनुष्य को थोड़े के लिए अधिक का विनाश नहीं करना चाहिए। उसकी बुद्धिमानी तो इसमें है कि थोड़े का ध्यान छोड़ कर

अथासौ तदवधार्य संजीवकस्य रक्षापुरुषान्निरूप्याशेषसार्थं नीत्वा प्रस्थितः। अथ रक्षापुरुषा अपि बह्वपायं तद्वनं विदित्वा सञ्जीवकं परित्यज्य पृष्ठतो गत्वाऽन्येद्युस्तं सार्थवाहं मिथ्याऽऽहुः—'स्वामिन्, मृतोऽऽसौ संजीवकः। अस्माभिस्तु सार्थवाहस्याभीष्ट इति मत्वा वह्निना संस्कृतः' इति। तच्छ्रुत्वा सार्थवाहः कृतज्ञतया स्नेहार्द्रहृदयस्तस्यौर्ध्वदैहिकक्रियाः वृषोत्सर्गादिकाः सर्वाश्चकार। संजीवकोऽप्यायुःशेषतया यमुनासलिलमिश्रैः शिशिरतरवातैराप्यायितशरीरः कथञ्चिदप्युत्थाय यमुनातटमुपपदे। तत्र 'मरकतसदृशानि बालतृणाग्राणि भक्षयन्कतिपयैरहोभिर्हरवृषभ इवपीनः ककुद्मान्बलवांश्च संवृत्तः, प्रत्यहं वल्मीकशिखराग्राणि शृङ्गाभ्यां विदारयन्गर्जमान आस्ते। साधु चेदमुच्यते—

भूरिरक्षणं प्रभूतवाणम्, अत्र संसारे, एतदेव पाण्डित्य वैचक्षण्यम् ॥ १९ ॥

१. मरकतसदृशानि—हरिद्वर्णमणिविशेषतुल्यानि। पीनः,—स्थूलः। गर्ज्जमानः,—["ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्" (पा० सू० ३।२।१२९) इति सूत्रेण शक्त्यर्थविवक्षायां परस्मैपदिनोऽपि चानशि रूप सिद्धम्]।

अधिक की रक्षा करे ॥ १९ ॥

इसके पश्चात् वह वणिक् उनकी बातों को उपयुक्त समझ कर संजीवक के उपचार के लिए कुछ रक्षकों की नियुक्ति करके सभी सार्थवाहों के साथ वहाँ से चल दिया। वे रक्षक भी उस वन को संकटयुक्त देखकर संजीवक को वहीं छोड़ कर और पीछे से जाकर दूसरे दिन उस बनिये के पास पहुँच कर झूठ बोलते हुए कहने लगे—'स्वामी संजीवक तो मर गया। हम लोगों ने आप का प्रिय जानकर उसका अग्निसंस्कार कर दिया"। यह सुनकर सार्थवाह ने कृतज्ञता और दया के कारण प्रेमपूर्ण हृदय से उस बैल का वृषोत्सर्ग इत्यादि सभी प्रेतक्रियाएँ (श्राद्ध आदि) सम्पन्न की। इधर आयु शेष रहने के कारण सञ्जीवक यमुना जल से मिश्रित शीतल वायु से स्वस्थ शरीर होकर किसी प्रकार उठकर यमुना के किनारे पहुँचा। वहाँ मरकत मणि जैसी हरी हरी कोमल घास खा खाकर कुछ ही दिनों में वह शंकर जी के बैल नन्दी के समान मोटे डील वाला तथा बलवान् भी हो गया और प्रतिदिन अपनी सींगों से बल्मीकि (बिमौट या दीमक का टीला) के शिखरों के (ऊपरी भागों) को तोड़ते हुए गर्जन करने लगा। यह बिलकुल ठीक ही कहा गया है कि—

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे विनश्यति ॥२०॥

अथ कदाचित्पिङ्गलको नाम सिंहः सर्वमृगपरिवृतः पिपासाकुल उदकपानार्थं यमुनातटमवतीर्णः संजीवकस्य [1]गम्भीरतररावं दूरादेवाश्रृणोत् । तच्छ्रुत्वाऽतीव व्याकुलहृदयः [2]ससाध्वसमाकारं प्रच्छाद्य वटतले चतुर्मण्डलावस्थानेनावस्थितः । [3]चतुर्मण्डलावस्थानं त्विदम्—सिंहः, सिंहानुयायिनः, काकरवाः, किंवृता इति । अथ तस्य करटक-

---

अरक्षितमिति—अरक्षितम् अप्रतिपालितं वस्तु, दैवरक्षितं दैवेन पालितं, चेत् तिष्ठति जीवतीत्यर्थः; सुरक्षितं, वस्तु इति शेषः, दैवहृतं दैवेन नाशितं सत्, विनश्यति । वने विसर्जितः; परित्यक्तः, अनाथोऽपि निराश्रयोऽपि, जीवति, दैवानुकूल्यादिति भावः; गृहे कृतप्रयत्नोऽपि, रक्षणार्थमिति भावः, विनश्यति, दैवप्रातिकूल्यादिति भावः । वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ २० ॥

१. गम्भीरतररावं—सुगभीरगर्जनम् ।

२. समाध्वसं—सभयम् । प्रच्छाद्य—गोपायित्वा, निःशङ्कभावं प्रकाश्येति भावः । चतुर्मण्डलावस्थाने—चतसृषु दिक्षु सहचरैर्मृगैर्वेष्टितः सन् वक्ष्यमाणरूपेण यदवस्थानं तेनेत्यर्थः ।

३. सिंह सिंहानुयायिनः,—सिंहसहचराः, किंवृत्ताः, इति—किमिदमुपस्थितमिति वृत्तान्तानुशीलिनः सन्तः इत्यर्थः, काकरवाः—काकवत् रवं

अरक्षित वस्तु भी दैव (भाग्य या ईश्वर) से रक्षित होकर बची रह जाती है किन्तु सुरक्षित होते हुए भी वही दैव के आघात से नष्ट हो जाती है। वन में परित्यक्त प्राणी अनाथ होते हुए भी (भाग्य बल से) जीवित रहता है किन्तु घर में विशेष प्रयत्न करने पर भी वही (भाग्य से रहित होने पर) प्राणी नष्ट हो जाता है ॥ २० ॥

इसके पश्चात् किसी समय पिंगलक नाम का एक प्यास से व्याकुल सिंह जंगली पशुओं के साथ पानी पीने के लिए यमुना के किनारे पहुँचा । उसने दूर से ही संजीवक के रँभाने की गम्भीर ध्वनि सुनी । उसे सुनकर वह अत्यन्त व्याकुल तथा भयभीत होकर वटवृक्ष के नीचे चतुर्मण्डलावस्थान के क्रम से अपने को छिपाकर बैठ गया । चतुर्मण्डलावस्थान ये हैं—१. सिंह (केन्द्र में स्थित राजा) २. सिंह के अनुयायी (राजा के अनुचर अर्थात् राज्याधिकारी अङ्गरक्षक इत्यादि, इन्हें आंतरिक मण्डल कहा जाता है ३. काकरव (आन्तरिक मंडल को वाह्य विपत्तियों की सूचना देने वाले),

दमनककनामानौ द्वौ शृगालौ मन्त्रिपुत्रौ 'भ्रष्टाधिकारौ सदानुयायिनावास्ताम्। तौ च परस्परं मन्त्रयतः। तत्र दमनकोऽब्रवीत्—भद्र करटक, अयं तावदस्मत्स्वामी पिङ्गलक उदकग्रहणार्थं यमुनाकच्छमवतीर्य स्थितः। स किंनिमित्तं पिपासाकुलोऽपि निवृत्य [2]व्यूहरचनां विधाय दौर्मनस्येनाभिभूतोऽत्र वटतले स्थितः।' करटक आह—'भद्र, किमावयोरनेन[3] व्यापारेण ? उक्तं च यतः—

अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्त्तुमिच्छति।
स एव निधनं याति कीलोत्पाटीव वानरः'॥ २१॥

कुर्वाणाः, तिष्ठन्तीति शेषः, इदं चतुर्मण्डलावस्थानम्।

१. भ्रष्टाधिकारौ—स्वाधिकाराच्च्युतौ।

२. व्यूहरचनां—स्वसैन्येन मण्डलावस्थानं, ("व्यूहस्तु बलविन्यासः" इत्यमरः)। दौर्मनस्येन—उद्वेगेनेत्यर्थः।

३. अनेन व्यापारेण—स्वामिनः व्यूहरचनादिकार्य्यचिन्तया इत्यर्थः, अनधिकारचर्च्चयेति यावत्।

अव्यापारेष्विति।—यो नरः, अव्यापारेषु अनधिकारेषु प्रसङ्गेषु, व्यापारं प्रसङ्गं, कर्त्तुम् इच्छति, स कीलोत्पाटी शङ्कूत्पाटनारम्भी, वानरः इव, निधनम् एव याति गच्छति॥ २१॥

---

४. किंवृत्त (बाहर की समस्त घटनाओं की सूचना देने वाले गुप्तचर।

उसके दो मन्त्रिपुत्र दमनक और करटक नाम वाले गीदड़ यद्यपि अपने अधिकार से अलग कर दिए गए थे, किन्तु सदा उसके साथ ही रहते थे। वे दोनों आपस में राय करने लगे। उनमें से दमनक ने कहा—"भद्र करटक, स्वामी पिंगलक पानी पीने के लिए यमुना के किनारे आए थे किन्तु क्या कारण है कि प्यास से व्याकुल होने पर भी लौटकर व्यूह रचना (चतुर्मण्डलावस्थान) करके अत्यन्त दुःखी मन से इस वट वृक्ष के नीचे बैठे हैं।" करटक ने कहा—'भद्र, हमलोगों को इस विषय में सोचने से क्या लाभ ?,, क्योंकि कहा भी गया है—

जो मनुष्य अपने अधिकार से बाहर के कार्यों के करने की अभिलाषा करता है वह कीलोत्पाटी (कील उखाड़ने वाले) वानर की तरह नष्ट हो जाता है॥ २१॥

दमनक आह—'कथमेतत्। सोऽब्रवीत्—

१ : मूर्खवानरकथा

कस्मिंश्चिन्नगराभ्यासे[1] केनापि वणिक्पुत्रेण तरुखण्डमध्ये देवतायतनं कर्त्तुमारब्धम्। तत्र च ये कर्मकराः[2]स्थापत्यादयः, ते मध्याह्नवेलायामाहारार्थं नगरमध्ये गच्छन्ति। अथ कदाचित्तत्रा[3]नुषङ्गिकं वानरयूथमितश्चेतश्च परिभ्रमदागतम्। तत्रैकस्य कस्यचिच्छिल्पिनोऽर्ध[4]स्फाटितोऽशनवृक्षदारुमयः स्तम्भः खदिरकीलकेन मध्यनिहितेन तिष्ठति। एतस्मिन्नन्तरे ते वानरास्[5]तरुशिखरप्रासादशृङ्गदारुपर्यन्तेषु यथेच्छया क्रीडितुमारब्धाः। एकश्च तेषां [6]प्रत्यासन्नमृत्युश्चापल्यात्तस्मिन्नर्धस्फाटितस्तम्भे उपविश्य पाणिभ्यां कीलकं संगृह्य यावदुत्पाट-

१. नगराभ्यासे—नगरान्तिके। तरुखण्डमध्ये—वृक्षमण्डलीमध्ये।

२. स्थपत्यादयः—शिल्पिप्रभृतयः, सूत्रधारादय इत्यर्थः।

३. आनुषङ्गिकम्—अनुषङ्गेण स्वजातीयव्यापारक्रमेण आयातम्।

४. अर्द्धस्फाटितः,—अर्द्धविदारितः। अशनवृक्षदारुमयः,—पीतशालवृक्षस्य काष्ठमयः। खदिरकीलकेन—खदिरतरुकाष्ठनिर्मितशङ्कुना। मध्यनिहितेन—अन्तःप्रोतेन।

५. तरुशिखरेति। तरूणां—वृक्षाणां, शिखराणि—अग्राणि, तथा प्रासादानां—हर्म्याणां, शृङ्गाणि—चूडाः, दारूणां—काष्ठानां, पर्य्यन्ताः,—प्रान्ताश्च तेषु।

६. प्रत्यासन्नमृत्युः,—आसन्नमरणः। चापल्यात्—चाञ्चल्यात्।

दमनक ने कहा—यह कैसी कथा है? करटक ने कहा—

मूर्खवानर की कथा

किसी नगर के समीप एक बनिये के पुत्र ने वृक्षों के बीच में देवमन्दिर बनाना प्रारम्भ किया। उसमें काम करने वाले जो कारीगर, इत्यादि थे, वे दोपहर को भोजन करने के लिए नगर में चले जाते थे। एक बार जाति स्वभाव से इधर उधर घूमता हुआ वानरों का एक झुण्ड वहाँ आ पहुँचा। वहाँ किसी बढ़ई द्वारा आधे चीरे गए अशन वृक्ष की लकड़ी के खम्भे के बीच खैर की एक खूँटी लगी हुई पड़ी थी। इसी बीच वे वानर चंचलता के कारण पेड़ों और मन्दिर की चोटियों तथा लकड़ी के ऊपर मनमाने ढंग से खेल कूद मचाने लगे। इनमें से एक वानर ने, जिसकी मृत्यु निकट आ गई थी, उस लकड़ी के खम्भे पर बैठकर कील को जैसे ही निकालना प्रारम्भ

यितुमारेभे, तावत्तस्य [1]स्तम्भमध्यगतवृषणस्य [2]स्वस्थानाच्चलितकीलकेन यद्वृत्तं तत्प्रागेव निवेदितम्। अतोऽहं ब्रवीमि—'अव्यापारेषु' इति। आवयोर्भक्षितशेष आहारोऽस्त्येव तत्किमनेन व्यापारेण?' दमनक आह—'तत्किं भवानाहारार्थी केवलमेव? तन्न युक्तम्। उक्तं च—

सुहृदामुपकारकारणाद् द्विषतामप्यपकारकारणात्।
नृपसंश्रय इष्यते बुधैर्जठरं को न बिभर्ति केवलम्॥ २२॥

किं च—यस्मिञ्जीवति जीवन्ति बहवः सोऽत्र जीवतु।
वयांसि किं न कुर्वन्ति चञ्च्वा स्वोदरपूरणम्॥ २३॥

---

१. स्तम्भेति। स्तम्भस्य—तरुप्रकाण्डरूपस्य, दारितस्येति भावः, मध्यं गतौ वृषणौ—अण्डकोषौ यस्य तथाभूतस्य।

२. स्वस्थानात्—दारितभागादित्यर्थः। वृत्तं—समुत्पन्नं, घटितम् इति यावत्।

सुहृदामिति। बुधैः विद्वद्भिः, सुहृदां बन्धूनाम्, उपकारकारणात् उपकारविधानार्थमित्यर्थः, द्विषतां शत्रूणाम्, अपकारकारणात् अपकारविधानार्थमपि, नृपसंश्रयः राजसेवा, इष्यते अभिलष्यते; राजसाहाय्येन हि लोका मित्राणामुपकारममित्राणामपकारञ्च कुर्वन्तीति भावः। को जनः, केवलं जठरम् उदरं, न बिभर्त्ति? न पुष्यति? सर्व एव स्वोदरं बिभर्तीत्यर्थः। सुन्दरी वृत्तम्,—"अयुजोर्यदि सौ जगौ युजोः सभरा लगौ यदि सुन्दरी तदा" इति लक्षणात्॥ २२॥

यस्मिन्निति। यस्मिन् एकस्मिन् वदान्ये जने इति भावः, जीवति

किया, वैसे ही कील तो अपने स्थान से निकल गई किन्तु खम्भे के दरार में लटके हुए उसके अण्डकोश दब गए और उसकी जो दशा हुई उसे मैं प्रारम्भ में ही बता चुका हूँ। इसी लिए मैं कहता हूँ कि "अधिकार से बाहर के कार्यों में हमें नहीं लगना चाहिए। हम दोनों के खाने से बचा हुआ भोजन अभी रखा ही है तो फिर इस बेकार के झमेले में पड़ने से क्या लाभ होगा? दमनक ने कहा—तो क्या आप केवल भोजन की ही चिन्ता करने वाले हैं? लेकिन यह उचित नहीं है। कहा भी गया है—

मित्रों का उपकार करने के लिए तथा शत्रुओं को हानि पहुँचाने के लिए ही लोग राजा का आश्रय पाने की इच्छा करते हैं। यों तो कौन ऐसा है जो केवल अपना पेट न पाल सके?॥ २२॥

इस संसार में वस्तुतः वे ही लोग जीवित हैं, जिनके जीवित रहने से बहुत से

तथा च—यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितं मनुष्यै-
विज्ञानशौर्यविभवार्यगुणैः समेतम् ।
तन्नाम जीवितमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञाः
काकोऽपि जीवति चिरञ्च बलिं च भुङ्क्ते ॥ २४ ॥

यो नात्मना न च परेण च बन्धुवर्गे
दीने दयां न कुरुते न च मर्त्यवर्गे ।
किञ्च—किं तस्य जीवितफलं हि मनुष्यलोके
काकोऽपि जीवति चिरञ्च बलिं च भुङ्क्ते ॥ २५ ॥

सति बहवः, जना इति शेषः, जीवन्ति, अत्र जगति, सः जीवतु । वयांसि पक्षिणः, ("वयः पक्षिणि बाल्यादौ" इति मेदिनी) किं चञ्च्वा स्वोदरपूरणं न कुर्वन्ति ? ॥ २३ ॥

यदिति । मनुष्यैः इह संसारे, प्रथितं प्रख्यातं यथा तथा, क्षणमपि यत् जीव्यते, तज्ज्ञाः तद्वेदिनः जनाः, विज्ञानादिष्वभिज्ञा इत्यर्थः, विज्ञानशौर्य्यविभवार्य्यगुणैः विज्ञानादिभिः श्रेष्ठगुणैः, समेतं तत् एव जीवितं प्रवदन्ति नाम, नामेति प्रसिद्धौ । काकोऽपि चिरं दीर्घकालं, जीवति, बलिं पूजाद्रव्यविशेषञ्च, भुङ्क्ते । वसन्ततिलका वृत्तं,—"ज्ञेया वसन्तन्ततिलका तभजा जगौ गः" इति लक्षणात् ॥ २४ ॥

य इति । यः जनः, आत्मना स्वयं, तथा परेण अन्येन द्वारेण, दीने बन्धुवर्गे मर्त्यवर्गे च मनुष्यसमूहे च सामान्य दुःस्थे नरे इति यावत्, दयां न कुरुते, मनुष्यलोके तस्य जीवितफलं जीवनप्रयोजनं, किम् ? नैव किञ्चि-

---

लोग जीवित रहते हैं । वैसे तो पक्षी भी अपनी चोंच से अपना पेट भर ही लेते हैं (अर्थात् केवल पेट भरना ही जीवन का फल नहीं है) ॥ २३ ॥

जीवन के तत्व को समझने वाले उसी मनुष्य के जीवन को वास्तविक जीवन मानते हैं, जो क्षण भर के लिए ही सही, किन्तु विज्ञान, वीरता, ऐश्वर्य तथा श्रेष्ठ गुणों से युक्त होकर कीर्ति के साथ जीवित रहता है । यों तो कौवा भी बहुत दिनों तक जीवित रहता है और दूसरों द्वारा दी गई बलि से पेट पालता रहता है ॥ २४ ॥

जो स्वयं अथवा दूसरे प्रकार से सगे संबन्धियों, दीनों और प्राणियों पर दया नहीं करता है, इस संसार में उसके जीवित रहने का फल ही क्या है ? यों तो कौवा भी दूसरों द्वारा दी गई बलि से पेट पालता हुआ

सुपूरा स्यात्कुनदिका सुपूरो मूषिकाञ्जलिः ।
सुसंतुष्टः कापुरुषः स्वल्पकेनापि तुष्यति ॥ २६ ॥

किं च– किं तेन जातु जातेन मातुर्यौवनहारिणा ।
आरोहति न यः स्वस्य वंशस्याग्रे ध्वजो यथा ॥ २७ ॥

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ? ।
जातस्तु गण्यते सोऽत्र यः स्फुरेच्च श्रियाधिकः ॥ २८ ॥

दित्यर्थः । अन्यत् पूर्ववत् । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ २५ ॥

सुपूरेति । कुनदिका क्षुद्रा नदीत्यर्थः, सुपूरा अनायासेन पूरणीया स्यात्; मूषिकाञ्जलिः मूषिकस्य क्षुद्रोन्दुरोः अञ्जलिः युक्तहस्तयुगलमित्यर्थः, ("तौ युतावञ्जलिः पुमान्" इत्यमरः) सुपूरः अनायासे च पूरयितुं शक्यः; सुसन्तुष्टः सदा हृष्टः, कापुरुषः क्षुद्रप्रकृतिः, स्वल्पकेनापि अल्पेन वस्तुनाऽपि तुष्यति तुष्टो भवति ॥ २६ ॥

किमिति । यः जातु कदाचित्, स्वस्य वंशस्य अग्रे ध्वजो यथा पताकेव, न आरोहति न तिष्ठति, मातुः जनन्याः, यौवनहारिणा यौवनध्वंसिना, तेन तादृशेन जनेन, जातेन उत्पन्नेन, किम् ? न किमपि फलं, भवतीति शेषः ॥ २७ ॥

परिवर्तिनीति । परिवर्तिनि परिवर्तनशीले, संसारे को वा जनः, मृतः सन् न जायते ? अपि तु सर्व एव मृतः पुनर्जायते इत्यर्थः । अत्र जगति, यः श्रिया लक्ष्म्या, अधिकः समुज्ज्वलः सन्, स्फुरेत् शोभेत, स तु जातः गण्यते कीर्त्यते, प्रशस्यते इति यावत्, लोकैरिति शेषः ॥ २८ ॥

बहुत दिनों तक जीवित रहता है ॥ २५ ॥

जैसे अत्यन्त छोटी नदी थोड़े ही जल से तथा चूहे की अँजुली अत्यन्त थोड़ी वस्तु से भर जाती है, उसी प्रकार कायर व्यक्ति भी थोड़ी ही वस्तु से भलीभाँति संतुष्ट हो जाते हैं ॥ २६ ॥

माता के यौवन का विनाश करने वाले उस व्यक्ति के उत्पन्न होने से क्या लाभ हुआ जो बाँस के सिर पर स्थित पताका के समान अपने वंश में उच्च स्थान का अधिकारी न बन सका ॥ २७ ॥

इस परिवर्तनशील संसार में कौन ऐसा है जो मर कर पैदा नहीं होता । किन्तु जो अधिक से अधिक ऐश्वर्य से प्रदीप्त होता है, उसी का जन्म लेना वास्तविक जन्म माना जाता है ॥ २८ ॥

जातस्य नदीतीरे तस्यापि तृणस्य जन्मसाफल्यम् ।
किं च—यत् सलिलमज्जनाकुलजनहस्तालम्बनं भवति ।। २९ ।।

स्तिमितोन्नतसञ्चारा जनसंतापहारिणः ।
जायन्ते विरला लोके जलदा इव सज्जनाः ।। ३० ।।

निरतिशयं गरिमाणं तेन जनन्याः स्मरन्ति विद्वांसः ।
यत्कमपि वहति गर्भं महतामपि यो गुरुर्भवति ।। ३१ ।।

जातस्येति । यत् तृणं, सलिले जले, मज्जनेन आकुलस्य कातरस्य, जनस्य हस्तालम्बनं भवति, नदीतीरे जातस्य तस्य तादृशस्य तृणस्य अपि, जन्मसाफल्यं, ज्ञातव्यमिति शेषः; सलिलादुत्तरणे सहायीभूतत्वात् इति भावः । आर्य्या वृत्तम् ।। २९ ।।

स्तिमितेति । लोके जगति, स्तिमिताः स्थिराः, धीरा इत्यर्थः, उन्नताश्च, सञ्चारा आचरणानीत्यर्थः, येषां तथोक्ताः, तथा जनानां सन्तापं हरन्ति नाशयन्तीति तथाभूताः, सज्जनाः साधवः, जलदा इव मेघा इव, विरला यथा तथा जायन्ते ।। ३० ।।

निरतिशयमिति । यः गर्भः, महतां मान्यानामपि, गुरुर्माननीयः, भवति, यत्, यदि तादृशं कमपि अनिर्वचनीयं जगत्प्रसिद्धं, गर्भं वहति, जननी इति शेषः, तदा तेन विद्वांसः जनन्याः मातुः, निरतिशयं समधिकं, गरिमाणं गौरवं स्मरन्ति मन्यन्ते । आर्य्या वृत्तम् ।। ३१ ।।

नदी के किनारे उत्पन्न होने वाले उस तृण का भी जन्म लेना सफल है, जो जल में डूबते हुए व्याकुल व्यक्ति के हाथों का सहारा बनता है ।। २९ ।।

हँसते हुए उन्नत सञ्चार वाले (सज्जन के पक्ष में—हँसते हुए उच्चादर्शों पर चलने वाले, मेघ के पक्ष में—प्रसन्नता के साथ उच्चाकाश में विचरण करने वाले) तथा जन सन्ताप दूर करने वाले (सज्जन पक्ष में—लोगों की पीड़ा दूर करने वाले, मेघ पक्ष में—लोगों की धूप जनित उष्णता का नाश करने वाले) मेघ के समान उपकारी सज्जन विरले ही पैदा होते हैं ।। ३० ।।

विद्वान् लोग उसी माता के महान् गौरव का स्मरण करते हैं जो अपने गर्भ में ऐसे पुरुष को धारण करती है जो महान् लोगों का भी गुरु होता है ।। ३१ ।।

अप्रकटीकृतशक्तिः शक्तोऽपि जनस्तिरस्क्रियां लभते ।
निवसन्नन्तर्दारुणि लंघ्यो वह्निर्न तु ज्वलितः ॥ ३२ ॥

करटक आह—'आवां तावदप्रधानौ, तत्किमावयोरनेन व्यापारेण ? उक्तं च—

अपृष्टोऽत्राप्रधानो यो ब्रूते राज्ञः पुरः कुधीः ।
न केवलमसम्मानं लभते च विडम्बनम् ॥ ३३ ॥

तथा च—वचस्तत्र प्रयोक्तव्यं यत्रोक्तं लभते फलम् ।
स्थायी भवति चात्यन्तं रागः शुक्लपटे यथा ॥ ३४ ॥

अप्रकटीकृतेति । शक्तोऽपि समर्थोऽपि, जनः अप्रकटीकृता अप्रकाशिता; शक्तिर्येन तथाभूतः, चेदिति शेषः, तदा तिरस्क्रियाम् अवमाननां, लभते । अन्तर्दारुणि दारुमध्ये, निवसन् वह्निः लङ्घ्य अवज्ञेय इति यावत्, भवतीति शेषः, न तु नैव, ज्वलितः ज्वलन् अग्निः, स केनापि न लङ्घ्यते इति भावः । आर्य्या वृत्तम् ॥ ३२ ॥

अपृष्ट इति । अत्र संसारे, यः अप्रधानः हीनपदस्थः, कुधीः दुर्बुद्धिः नरः, अपृष्टः अजिज्ञासितः सन्, राज्ञः पुरः अग्रतः, ब्रूते कथयति, स केवलम् एकम्, असम्मानम् अनादरं न, अपि तु विडम्बनञ्च ताडनं, तिरस्कारञ्चेत्यर्थः, लभते ॥ ३३ ॥

वच इति । शुक्लपटे श्वेतवसने; रागो रञ्जनरसः, यथा अत्यन्तं स्थायी भवति, तथा यत्र उक्तं कथितं, वचः फलं लभते, वाक्यरक्षा भवतीति

जिस प्रकार लकड़ी के भीतर स्थित अग्नि उपेक्षणीय होती है किन्तु, वही प्रज्ज्वलित हो जाने पर उपेक्षणीय नहीं रह जाती है उसी प्रकार अपनी शक्ति को प्रकट न करने वाला शक्तिशाली व्यक्ति भी लोगों के अपमान का पात्र बनता है ॥ ३२ ॥

करटक ने कहा—हम दोनों तो यहाँ अप्रधान (अधिकार रहित सामान्य लोग) हैं फिर इस कार्य से हम लोगों का क्या प्रयोजन है ? कहा भी गया है—

जो अधिकारहीन सामान्य तथा कुबुद्धि व्यक्ति बिना पूँछे राजा के सम्मुख कुछ कहता है, वह केवल अपमानित ही नहीं होता बल्कि उसकी विडम्बना (गले में हाथ लगाकर अथवा मार पीटकर दरबार से बाहर निकाल देना) भी होती है ॥ ३३ ॥

और भी—जैसे सफेद कपड़े पर ही रंग स्थायी रूप से चढ़ता है अर्थात्

दमनक आह—'मा मैवं वद।'

अप्रधानः प्रधानः स्यात्सेवते यदि पार्थिवम्।
प्राधानाऽप्यप्रधानः स्याद्यदि सेवाविवर्जितः ॥ ३५ ॥

यत उक्तं च—

आसन्नमेव नृपतिर्भजते मनुष्यं
विद्याविहीनमकुलीनमसंस्कृतं वा।
प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा लताश्च
यत्पार्श्वतो भवति तत्परिवेष्टयन्ति ॥ ३६ ॥

भावः, तत्र वचः प्रयोक्तव्यं वक्तव्यम्। उपमालङ्कारः ॥ ३४ ॥

अप्रधान इति। यदि पार्थिवं राजानं, सेवते तदा अप्रधानोऽपि प्रधानः स्यात्, राजानुग्रहेणेति भावः। यदि सेवाविवर्ज्जितः, राज्ञः इति शेषः, तदा प्रधानोऽपि अप्रधानः स्यात्, राज्ञः प्रातिकूल्यादिति भावः ॥ ३५ ॥

आसन्नमिति। नृपतिः विद्याविहीनम् अकुलीनम् असंस्कृतं वेशभूषादि-संस्काररहितं वा, आसन्नमेव, निकटस्थमेव, मनुष्यं भजते आश्रयति, स्वकार्य्य-सम्पादनार्थमिति भावः। भूमिपतयः राजानः, प्रमदाः लताश्च यत् वस्तु, पार्श्वतः भवति वर्त्तते, प्रायेण तत् परिवेष्टयन्ति आश्रयन्ति। अत्र प्रस्तुतानां भूमिपतीनाम् अप्रस्तुतानां प्रमदानां लतानाञ्च एकपरिवेष्टनक्रियाऽभिसम्बन्धात् दीपकालङ्कृतिः। तदुक्तं दर्पणे,—"अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकन्तु निगद्यते" इति। केचित् तुल्ययोगितामिच्छन्ति। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ३६ ॥

सफेद कपड़े को रँगने से ही रंग चढ़ने का लाभ होता है उसी प्रकार बात वहीं कहनी चाहिए, जहाँ कहने से कुछ लाभ हो ॥ ३४ ॥

दमनक ने कहा—ऐसा मत कहो।

यदि अप्रधान भी राजा की सेवा करे तो (राजा के अनुग्रह से) प्रधान बन जाता है और यदि प्रधान भी राज-सेवा से विमुख रहे तो (राजा की प्रतिकूलता के कारण) अप्रधान बन जाता है ॥ ३५ ॥

क्योंकि कहा भी गया है—

राजा अपने समीप रहने वाले व्यक्ति को ही मानता है भले ही वह विद्या से रहित, अकुलीन तथा संस्कारहीन हो। प्रायः राजा, स्त्रियाँ और लताएँ उन्हीं से लिपटती हैं, जो उनके समीप होता है ॥ ३६ ॥

तथा च—कोपप्रसादवस्तूनि ये विचिन्वन्ति सेवकाः।
आरोहन्ति शनैः पश्चाद् धुन्वन्तमपि पार्थिवम् ॥ ३७ ॥

विद्यावतां महेच्छानां शिल्पविक्रमशालिनाम् ।
सेवावृत्तिविदां चैव नाश्रयः पार्थिवं विना ॥ ३८ ॥

ये जात्यादिमहोत्साहान्नरेन्द्रान्नोपयान्ति च ।
तेषामामरणं भिक्षा प्रायश्चित्तं विनिर्मितम् ॥ ३९ ॥

ये च प्राहुर्दुरात्मानो दुराराध्या महीभुजः ।

कोपेति । ये सेवकाः कोपप्रसादयोः वस्तूनि विषयान्, विचिन्वन्ति राज्ञः कोपकारणं प्रसादकारणञ्च अन्विष्यन्तीत्यर्थः, ते पश्चात् शनैः क्रमेणेत्यर्थः, धुन्वन्तं विरज्यन्तमपीत्यर्थः, पार्थिवं राजानम्, आरोहन्ति प्राप्नुवन्ति; राज्ञः प्रसादं लभन्ते इति भावः ॥ ३७ ॥

विद्यावतामिति। विद्यावतां शिल्पविक्रमशालिनां शिल्पनिपुणानां विक्रमिणाञ्च, सेवावृत्तिविदां राजसेवाचतुराणां, महेच्छानां महाशयानां, ("महेच्छस्तु महाशयः" इत्यमरः); पार्थिवं विना, आश्रयो गत्यन्तरं, नैव, अस्तीति शेषः; विद्या शिल्पं विक्रमः सेवाचातुर्यञ्च राजाश्रयं प्राप्य एव सफलीभवन्तीति भावः ॥ ३८ ॥

ये इति । ये जनाः, जात्यादीनां महोत्साहात् महाऽभिमानात्, जात्यादिभिर्महोन्नतान् वा, नरेन्द्रान् राज्ञः, न उपयान्ति न सेवन्ते इत्यर्थः; तेषाम् आ मरणं मृत्युकालपर्य्यन्तं, भिक्षा याचनमेव, प्रायश्चित्तं विनिर्मितं विहितं विधात्रेति शेषः ॥ ३९ ॥

ये इति । ये च दुरात्मानः दुर्वृत्ता जनाः, महीभुजः नृपाः, दुराराध्याः

जो सेवक स्वामी के क्रोध एवं प्रसन्नता के कारणों को भलीभाँति खोज निकालता है, वही धीरे धीरे अपने से प्रतिकूल राजा के यहाँ भी उच्चपद पर पहुँच जाता है ॥ ३७ ॥

विद्वानों, महानुभावों, कलाकारों, बलवानों और सेवावृत्ति के जानने वाले लोगों के लिए राजा के अतिरिक्त और कोई भी आश्रय मिलने का स्थान नहीं होता ॥ ३८ ॥

जो अपनी जाति, विद्वत्ता, कला इत्यादि के अभिमान में राजा से दूर रहता है उसे इसके प्रायश्चित्त रूप में आजीवन भिक्षा वृत्ति करनी पड़ती है ॥ ३९ ॥

जो दुर्बुद्धि (विचार शक्ति रहित) व्यक्ति यह कहा करते हैं कि राजा

सकलार्थशास्त्रसारं जगति समालोक्य विष्णुशर्मेदम् ।
तन्त्रैः पञ्चभिरेतच्चकार सुमनोहरं शास्त्रम् ॥ ३ ॥

तद्यथाऽनुश्रूयते—अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम्। तत्र [1]सकलार्थिकल्पद्रुमः प्रवरमुकुटमणिमरीचिमञ्जरीचर्चितचरणयुगलः [2]सकलकलापारंगतोऽमरशक्तिर्नाम राजा बभूव। तस्य त्रयः पुत्राः [3]परमदुर्मेधसो बहुशक्तिरुग्रशक्तिरनन्तशक्तिश्चेति नामानो बभूवुः। अथ राजा तान्शास्त्रविमुखानालोक्य सचिवानाहूय

सकलेति। सः प्रसिद्धः, विष्णुशर्मा ग्रन्थस्यास्य कर्ता, सकलार्थशास्त्रसारं सकलानाम् अर्थशास्त्राणां नीतिशास्त्राणां सारं तत्त्वम्, समालोक्य समालोच्येत्यर्थः, पञ्चभिः तन्त्रैः भागविशेषैः, एतत् सुमनोहरं शास्त्रम्, नीतिशास्त्रमित्यर्थः, चकार। आर्यावृत्तमिदम् ॥ ३ ॥

१. सकलेति। सकलानां—समग्राणाम्, अर्थिनां—याचकानां, कल्पद्रुमः इव—कल्पपादप इव, [उपमितसमासः] कामप्रद इति भावः। प्रवरेति। प्रवराणां—महतां, नृपतीनां—राज्ञां, पराजिततया प्रणतानामिति भावः, मुकुटमणीनां—किरीटरत्नानां, या मरीचिमञ्जर्यः,—मयूखावल्यः, ताभिः चर्चितं—रञ्जितं, चरणयुगलं यस्य तथोक्तः।

२. सकलेति। सकलाः,—समग्राः, याः कलाः—चतुःषष्टिप्रकारा विद्याः, तासां पारः—अन्तः तं, गतः—प्राप्तः, सकलकलापारदर्शी इत्यर्थः। अमरेति। अमरस्य शक्तिरिव शक्तिः यस्य सः तथोक्तः।

३. परमेति। परमा दुष्टा मेधा येषां ते, अतिदुर्बुद्धय इत्यर्थः।

मैं विष्णु शर्मा, संसार में उपलब्ध सभी अर्थशास्त्रों (नीतिशास्त्रों) के तत्वों की भलीभाँति समीक्षा करके पाँच तन्त्रों से युक्त इस मनोहारी (लोकव्यवहारोपकारी) शास्त्र की रचना कर रहा हूँ ॥ ३ ॥

ऐसा सुना जाता है कि दक्षिण देश में (दक्षिण भारत में) महिलारोप्य नाम का एक नगर है। वहाँ समस्त याचकों के लिए (याचकों की कामना पूर्ति के लिए) कल्पवृक्ष के समान तथा सभी कलाओं (६४ कलाओं या विद्याओं) का मर्मज्ञ अमरशक्ति नाम का एक राजा हुआ, जिसके चरणों की पूजा बड़े बड़े राजा लोग भी अपनी मुकुट मणियों की किरणों से किया करते थे। बहुशक्ति, उग्रशक्ति और अनन्तशक्ति नाम के उसके तीन महान् मूर्ख पुत्र थे। उन तीनों को शास्त्र-ज्ञान से शून्य देखकर राजा ने मन्त्रियों

प्रोवाच—'भोः, ज्ञातमेतद्भवद्भिर्यन्ममैते पुत्राः शास्त्रविमुखा विवेकरहिताश्च। तदेतान्पश्यतो मे महदपि राज्यं न सौख्यमावहति।

अथवा साध्विदमुच्यते—

अजातमृतमूर्खेभ्यो मृताजातौ सुतौ वरम्।
यतस्तौ स्वल्पदुःखाय यावज्जीवं जडो दहेत्॥ ४॥

वरं गर्भस्रावो वरमृतुषु नैवाभिगमनं
वरं जातः प्रेतो वरमपि च कन्यैव जनिता।
वरं वन्ध्या भार्या वरमपि च गर्भेषु वसति-
र्न चाविद्वान्रूपद्रविणगुणयुक्तोऽपि तनयः॥ ५॥

अजातेति। अजातमृतमूर्खेभ्यः, पुत्रेभ्य इति शेषः, [अपेक्षार्थे पञ्चमी] मृताजातौ मृतश्च अजातश्च तौ, सुतौ वरं मनाक्प्रियौ, ("देवादृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबे मनाक्प्रिये" इत्यमरः) यतः यस्मात्, तौ मृताजातौ, स्वल्पदुःखाय; भवत इति शेषः; जडः मूर्खः पुत्रः, यावज्जीवम् आजीवनं, दहेत् सन्तापयेत्; मूर्खः पुत्रः यावज्जीवं क्लेशप्रद इति भावः। पथ्यावक्त्रं वृत्तं—"युजोश्चतुर्थतो येन पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्" इति लक्षणात्॥ ४॥

वरमिति। गर्भस्रावः अकाले गर्भनिःसरणं, वरं मनाक्प्रियः, ऋतुषु रजोनिर्गमादारभ्य षोडशसु निशासु इत्यर्थः, अभिगमनं स्त्रीसङ्गमः, नैव

को बुलाकर कहा कि यह तो आप लोग जानते ही हैं कि ये मेरे पुत्र शास्त्र-ज्ञान से रहित तथा विवेकहीन हैं। अतः इन्हें (इस दशा में) देखते हुए मुझको इतना बड़ा राज्य भी सुखी नहीं कर पा रहा है।

अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

पुत्र का उत्पन्न ही न होना, उत्पन्न होकर मर जाना तथा मूर्ख होकर जीवित रहना—इन तीनों में से उत्पन्न ही न होना और होकर मर जाना अच्छा है क्योंकि इन दोनों दशाओं में अल्पकालिक दुःख होता है; किन्तु मूर्ख पुत्र तो जीवन भर संताप देता रहता है॥ ४॥

गर्भ का गिर जाना ठीक है, ऋतुकाल में स्त्री-सहवास न करना अच्छा है,[1] सन्तान का उत्पन्न होते ही मर जाना अथवा मरी हुई सन्तान का उत्पन्न

---

१. रजोधर्म प्रारम्भ होने से १६ दिन तक ऋतुकाल माना जाता है जिसमें पहिले चार दिन स्त्री सहवास के लिए वर्जित हैं शेष बारह दिनों तक स्त्री सहवास अवश्य करना चाहिए जैसा कि श्रुति ने आज्ञा दी है—"ऋतौ भार्यामुपेयादिति।"

किं तया क्रियते धेन्वा या न सूते न दुग्धदा।
कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न भक्तिमान् ॥ ६ ॥

वरमिह वा सुतमरणं मा मूर्खत्वं कुलप्रसूतस्य।
येन विबुधजनमध्ये जारज इव लज्जते मनुजः ॥ ७ ॥

वरम्, ऋतौ पुत्र्यपेक्षाजनितपापमपि स्वीकार्य्यमित्यर्थः, जातः उत्पन्नः पुत्रः, प्रेतः मृतः, वरं, कन्या तनया, एव जनिता उत्पन्ना, वरं, बन्ध्या अप्रसवा, भार्य्यापि वरं, गर्भेषु वसतिः स्थितिः, गर्भान्निःसरणमित्यर्थः, अपि वरं, रूपद्रविणगुणयुक्तः रूपवान् धनवान्, अपि तनयः अविद्वान् मूर्खः, चेदिति शेषः, न च वरमिति शेषः। शिखरिणी वृत्तं—"रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी" इति लक्षणात् ॥ ५ ॥

किमिति। यः पुत्रः, न विद्वान् न पण्डितः, न भक्तिमान् श्रद्धया नानुरागवान् पित्रादिष्विति शेषः, ["न धार्मिकः" इति पाठान्तरम्] तेन पुत्रेण सुतेन जातेन उत्पन्नेन कोऽर्थः ? किं प्रयोजनम् ? या धेनुः, न सूते न सन्तानप्रसवं करोति, न दुग्धदा न पयस्विनी, तया धेन्वा गवा, किं क्रियते ? दुग्धदानासमर्थया अप्रसविन्या धेन्वा इव भक्तिहीनमूर्खपुत्रेण नास्ति प्रयोजनमित्यर्थः। "या न दोग्ध्री न गुर्विणी" इति वृद्धचाणक्यधृतपाठः। दृष्टान्तालङ्कारः। अनुष्टुप् छन्दः ॥ ६ ॥

वरमिति। इह—जगति, सुतमरणं पुत्रनिधनं, वरं वा, कुलप्रसूतस्य सत्कुलोद्भवस्य, मूर्खत्वम्—अविद्वत्त्वं, मा न, भवतु इति शेषः। येन मूर्खत्वेन, मनुजः मानवः, विबुध जनमध्ये पण्डितसमितौ, जारात् जायते इति जारजः स इव उपपतिज इव, ("जारस्तूपपतिः समौ" "अमृते जारजः

होना अच्छा है, पुत्र के स्थान में कन्या का जन्म लेना अच्छा है, पत्नी का बन्ध्या होना अथवा मूढ गर्भा होना (गर्भ का करंक रूप से गर्भाशय में स्थित रहना, बाहर न होना) अच्छा है, किन्तु सुन्दर और धनाढ्य होते हुए भी मूर्ख पुत्र का होना अच्छा नहीं है ॥ ५ ॥

उस गाय से कोई भी प्रयोजन नहीं सिद्ध हो सकता जो न तो बच्चा देती है न दूध ही। उसी प्रकार उस पुत्र से भी किसी अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती जो न तो विद्वान् है और न भक्त ही है ॥ ६ ॥

इस संसार में पुत्र का मर जाना अच्छा है किन्तु कुल में उत्पन्न पुत्र का मूर्ख होकर जीवित रहना अच्छा नहीं है। क्योंकि उस मूर्ख पुत्र से

गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी ससंभ्रमा यस्य ।
तेनाम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी भवति ? ॥ ८ ॥

तदेतेषां यथा [1]बुद्धिप्रकाशो भवति तथा कोऽप्युपायोऽनुष्ठीयताम् । अत्र च मद्दत्तां वृत्तिं भुञ्जानानां पण्डितानां पञ्चशती तिष्ठति । [2]ततो यथा मम मनोरथाः सिद्धिं यान्ति तथाऽनुष्ठीयताम्' इति । तत्रैकः प्रोवाच-'देव, द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं [3]श्रूयते । ततो धर्मशास्त्राणि मन्वा-

---

कुण्डः" इति चामरः २.६.३६) लज्जते जिह्रेति, प्रकाशितजन्मवृत्तान्तः, जारजो यथा सभामध्ये लज्जया अवनतमूर्द्धा तिष्ठति. तथा पण्डितसमाजे मूर्खोऽपीति भावः । उपमालङ्कारः । आर्य्या वृत्तम् ।। ७ ।।

गुणीति । गुणिगणानां विद्वद्वृन्दानां, गणनाऽऽरम्भे सङ्ख्याप्रसङ्गे, यस्य नाम्नीति शेषः, कठिनो भवति यस्याः प्रसिद्धिः, ससम्भ्रमं सगौरवं, न पतति गौरवपूर्वकं यन्नाम न लिख्यते इति भावः, तेन पुत्रेण, अम्बा माता, यदि सुतिनी पुत्रवती, भवेदिति शेषः, तदा बन्ध्या अपुत्रा, कीदृशी भवति ? वद कथय; बन्ध्या तादृशपुत्रजननी च तुल्येति भावः । आर्य्या वृत्तम् ॥ ८ ॥

१. बुद्धिप्रकाशः,—ज्ञानोदयः । वृत्तिं—जीवनोपायभूतां भूसम्पत्तिमित्यर्थः ।

२. ततः—तस्मात् पण्डितानां पञ्चशत्या इत्यर्थः । मनोरथाः—कामाः ।

३. श्रूयते—पठ्यते इत्यर्थः ।

विद्वानों के बीच मनुष्य को जारज सन्तान (वह सन्तान जो अपने पिता से उत्पन्न न हो) की तरह लज्जित होना पड़ता है ।। ७ ।।

गुणियों की गणना करने के प्रारम्भ में (अर्थात् गुणियों में सर्वप्रथम कौन है) जिस पुत्र के नाम पर शीघ्रता के साथ उँगली नहीं पड़ती, यदि ऐसे पुत्र की माता को पुत्रवती कहा जाय तो फिर वन्ध्या किसे कहा जायगा ? तात्पर्य यह कि मूर्ख पुत्र की जननी और बन्ध्या दोनों ही एक समान हैं ।। ८ ।।

इस लिए आप लोग ऐसा उपाय करें जिससे इनकी बुद्धि का विकास हो जाय । यहाँ मेरे द्वारा दी गई वृत्ति (आजीविका) का भोग करने वाले पाँच सौ विद्वान् रहते हैं । अत एव जिस प्रकार मेरी कामनाएँ सफल हों, वैसा ही उपाय करें । उन मन्त्रियों में से एक ने कहा—देव ! सुना जाता है बारह वर्ष में व्याकरण का अध्ययन होता है, इसके पश्चात्

दीनि, अर्थशास्त्राणि चाणक्यादीनि, कामशास्त्राणि वात्स्यायनादीनि। एवं च ततो धर्मार्थकामशास्त्राणि ज्ञायन्ते। ततः[1] प्रतिबोधनं भवति।' अथ तन्मध्यतो सुमतिर्नाम सचिवः प्राह–"[2]अशाश्वतोऽयं [3]जीवितव्यविषयः। प्रभूतकालज्ञेयानि शब्दशास्त्राणि। तत्संक्षेपमात्र शास्त्रं किंचिदेतेषा प्रबोधनार्थं चिन्त्यतामिति। उक्तं च यतः—

अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रं स्वल्पं तथाऽऽयुर्बहवश्च विघ्नाः।
सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्॥ १॥

---

१. प्रतिबोधनं—ज्ञानं, पाण्डित्यमित्यर्थः।

२. अशाश्वतः—अनित्यः, क्षणभङ्गुर इत्यर्थः।

३. जीवितव्यविषयः,—जीवनकाल इत्यर्थः। प्रभूतकालज्ञेयानि—बहुकालवेद्यानि। शब्दशास्त्राणि—व्याकरणशास्त्राणि।

अनन्तेति। शब्दशास्त्रं व्याकरणम्; अनन्तपारम् अशेषं, किल निश्चितम्, तथा आयुः जीवनकालः, स्वल्पं क्षणस्थायि, तत्रापि बहवः अनेके, विघ्नाः व्याघाताः, शास्त्रालोचने इति शेषः, ततः तस्मात्, यथा हंसैः अम्बुमध्यात् सलिलाभ्यन्तरात्, क्षीरमिश्रितजलादिति भावः सारमिव क्षीरं गृह्यते इति शेषः तथा जनैरपीति भावः, फल्गु असारम्, अपास्य त्यक्त्वा,

---

मनु इत्यादि के धर्मशास्त्र, चाणक्य आदि के अर्थशास्त्र और वात्स्यायन आदि के कामशास्त्र का अध्ययन करना पड़ता है। इस प्रकार धर्म, अर्थ और कामशास्त्र के ज्ञान प्राप्त होते हैं। तब कहीं जाकर लोक परलोक के व्यवहार का बोध होता है। तब उन मन्त्रियों में से एक सुमति नाम वाले मंत्री ने कहा—'यह मनुष्य जीवन क्षणभङ्गुर है और शब्दशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने में अत्यधिक समय लगता है। इसलिए इनके बोध के लिए संक्षिप्त शास्त्र का विचार कीजिए। क्योंकि कहा भी गया है—

शब्दशास्त्र अपार है, उसका पार पाना असंभव है; मनुष्य की अवस्था थोड़ी है और उसमें अनेक विघ्न भी आते रहते हैं इस लिए (सभी शास्त्रों के) तत्व मात्र को ग्रहण कर लेना चाहिए और असारतत्व का परित्याग कर देना चाहिए। जैसे हंस दूध को ग्रहण कर लेता है और पानी को त्याग

तदत्रास्ति विष्णुशर्मा नाम ब्राह्मणः सकलशास्त्रपारंगम[1]श्छात्रसंसदि लब्धकीर्तिः। तस्मै समर्पयतु एतान्। स नूनं द्राक्प्रबुद्धान् करिष्यति' इति। स राजा तदाकर्ण्य विष्णुशर्माणमाहूय प्रोवाच—'भो भगवन्, मदनुग्रहार्थमेतानर्थशास्त्रं प्रति द्राग्यथा[2]नन्यसदृशान्विदधासि, तथा कुरु। तदाहं त्वां [3]शासनशतेन योजयिष्यामि।' अथ विष्णुशर्मा तं राजानमूचे—'देव, श्रूयतां मे तथ्यवचनम्। नाहं विद्याविक्रयं शासनशतेनापि करोमि। पुनरेतांस्तव पुत्रान्मासषट्केन यदि नीतिशास्त्रज्ञान्न करोमि, ततः स्वनामत्यागं करोमि। किं बहुना? श्रूयतां ममैष [4]सिंहनादः। [5]नाहमर्थलिप्सुर्ब्रवीमि। ममाशीतिवर्षस्य व्यावृत्त-

---

क्षीरमिव दुग्धमिव, सारम् उत्कृष्टं वस्तु, ग्राह्यं ग्रहीतव्यमिति तात्पर्य्यम्। उपमालङ्कारः। उपजाति वृत्तम्॥ ९॥

१. छात्रसंसदि--छात्रसमाजे। द्राक्—झटिति। प्रबुद्धान्—ज्ञानसम्पन्नान्।

२. अनन्यसदृशान्—असाधारणान्।

३. शासनशतेन—शतसङ्ख्यकग्रामसम्पद्दानपत्रेणेत्यर्थः।

४. सिंहनादः,-सिंहवद्गर्ज्जनम्; सदर्पोक्तिरिति भावः।

५. अर्थलिप्सुः,--धनलालसः। अशीतिवर्षस्य--अशीतिवर्षवयस्कस्य।

देता है॥ ९॥

आपकी इस विद्वन्मण्डली में विष्णु शर्मा नाम का एक ब्राह्मण है, जो संपूर्ण शास्त्रों में पारंगत और छात्रों की मण्डली में अत्यन्त यशस्वी है। आप इन कुमारों को उसे सौंप दें। वह शीघ्र ही इन्हें निश्चित रूप से विद्वान् बना देगा। राजा ने यह सुनकर विष्णुशर्मा को बुलवाया और कहा—"हे भगवन्! मुझ पर कृपा करके जैसे हो सके वैसे मेरे इन पुत्रों को आप शीघ्र ही अर्थशास्त्र का असाधारण विद्वान् बना दें। मैं इसके बदले में आप को सौ गाँवों का स्वामित्व दे दूँगा। इसके पश्चात् विष्णुशर्मा ने राजा से कहा—हे राजन्! मेरी सच्ची बात सुनिए। मैं सौ गाँवों के स्वामित्व पाने पर भी अपनी विद्या नहीं बेचूँगा। फिर भी आप के इन पुत्रों को छः महीने के भीतर यदि नीतिशास्त्र का ज्ञाता नहीं बना दूँगा। तो अपना नाम त्याग दूँगा। अधिक कहना व्यर्थ है। आप मेरा यह सिंहनाद सुनें। मैं धनप्राप्ति की कामना से ऐसा नहीं कह रहा हूँ। मैं

सर्वेन्द्रियार्थस्य न किंचिदर्थेन प्रयोजनम्। किन्तु त्वत्प्रार्थनासिद्ध्यर्थं सरस्वतीविनोदं[1] करिष्यामि। तल्लिख्यतामद्यतनो दिवसः। यद्यहं षण्मासाभ्यन्तरे तव पुत्रान्नयशास्त्रं प्रत्यनन्यसदृशान्न करिष्यामि, ततो नार्हति देवो[2] देवमार्गं संदर्शयितुम्।'

अथासौ राजा तां ब्राह्मणस्यासंभाव्यां प्रतिज्ञां श्रुत्वा ससचिवः प्रहृष्टो विस्मयान्वितस्तस्मै सादरं तान्कुमारान्समर्प्य परां [3]निर्वृत्तिमाजगाम। विष्णुशर्मणापि तानादाय तदर्थं[4] मित्रभेद-मित्रप्राप्ति-काकोलूकीय लब्धप्रणाश-अपरीक्षितकारकाणि चेति पञ्चतन्त्राणि रचयित्वा पाठितास्ते राजपुत्राः। तेऽपि तान्यधीत्य मासषट्केन

व्यावृत्तसर्वेन्द्रियार्थस्य—इन्द्रियभोग्यवस्तुषु निःस्पृहस्येत्यर्थः।

१. सरस्वतीविनोदं—सरस्वत्या वाग्देव्या, शास्त्रचर्च्चया इत्यर्थः, विनोदं—मनोरञ्जनं, भवत्पुत्राणामिति भावः। अनन्यसदृशान्—असाधारणान्।

२. देवः—जगदीश्वरः, देवमार्गम्—स्वर्गपथं, परलोकमित्यर्थः, सन्दर्शयितुम्—अवलोकयितुं, माम् इति शेषः; न अर्हति—न युज्यते, परलोके मम सद्गतिं न विदधातु इति भावः।

३. निर्वृत्ति—सन्तोषम्।

४. तदर्थं—तेषां राजपुत्राणां कृते इत्यर्थः।

अस्सी वर्ष का बूढ़ा हूँ और समस्त इन्द्रियों के विषयोपभोग से निवृत्त हो चुका हूं। अतः मैं धन लेकर क्या करूँगा? हाँ, आप की प्रार्थना को सफल बनाने के लिए केवल वाग्विनोद करूँगा। इस लिए आज के दिन का नाम लिख लीजिए। यदि छः मास के भीतर आप के पुत्रों को नीतिशास्त्र का असाधारण ज्ञाता न बना दूँ तो ईश्वर मुझे स्वर्ग भी न प्रदान करें। राजा उस ब्राह्मण की असाधारण प्रतिज्ञा सुनकर मन्त्रियों सहित अत्यन्त प्रसन्न और आश्चर्यचकित हो उठा और आदर के साथ उन कुमारों को उसे सौंपकर अत्यन्त निश्चिन्त हो गया। विष्णु शर्मा ने भी उन कुमारों को ले जाकर उनके ज्ञान के लिए मित्रभेद, मित्रसम्प्राप्ति, काकोलूकीयम्, लब्धप्रणाश और अपरीक्षितकारक नाम के पाँच तन्त्रों की रचना की और उन राजपुत्रों को पढ़ाया। वे राजकुमार भी उन्हें

[1]यथोक्ताः संवृत्ताः। ततः प्रभृत्येतत्पञ्चतन्त्रकं नाम नीतिशास्त्रं बालावबोधनार्थं भूतले प्रवृत्तम्[2]। किं बहुना—

अधीते य इदं नित्यं नीतिशास्त्रं शृणोति च।
न पराभवमाप्नोति शक्रादपि कदाचन ॥ १० ॥

॥ इति कथामुखम् ॥

—— ० ——

---

१. यथोक्ताः,—यथाकथिताः, पण्डिता इत्यर्थः।

२. प्रवृत्तं—प्रचारितमित्यर्थः।

एतत्पठनप्रयोजनमाह—अधीते इति। यो हि जनः इदं पञ्चतन्त्रं नाम नीतिशास्त्रं प्रत्यहं पठति आकर्णयति च, स कदाऽपि वासवसमबलात् रिपोरपि पराभवं नाधिगच्छति इति समुदितार्थः ॥ १० ॥

पढ़कर जैसा कहा गया था वैसे ही असाधारण विद्वान् बन गए। उसी समय से यह पंचतन्त्र नामक नीतिशास्त्र बालकों की ज्ञान वृद्धि के लिए प्रसिद्ध हो गया। अधिक कहना व्यर्थ है—

जो इस नीतिशास्त्र का नित्य अध्ययन करता है अथवा श्रवण करता है वह देवराज इन्द्र से भी कभी पराजित नहीं हो सकता है ॥ १० ॥

॥ कथामुख समाप्त ॥

अथ मित्रभेदः

[प्रथमं तन्त्रम्]

अथातः प्रारभ्यते मित्रभेदो नाम प्रथमं तन्त्रम् । यस्यायमादिमः श्लोकः—

वर्धमानो महान्स्नेहः सिंहगोवृषयोर्वने ।
पिशुनेनातिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः ॥ १ ॥

तद्यथाऽनुश्रूयते—अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम् । तत्र [1]धर्मोपार्जितभूरिविभवो वर्धमानको नाम वणिक्पुत्रो बभूव । तस्य कदाचिद्रात्रौ शय्यारूढस्य चिन्ता समुत्पन्ना यत्प्रभूतेऽपि वित्तेऽर्थोपायाश्चिन्तनीयाः कर्तव्याश्चेति । यत उक्तं च—

---

* ज्योत्स्ना *

वर्द्धमान इति । वने सिंहगोवृषयोः सिंह-श्रेष्ठवृषभयोः ("गोवृषं श्रेष्ठवृषभम्" इति रत्नाकरः) वर्द्धमानः वृद्धिं गच्छन्, महान् स्नेहः वक्ष्यमाणरूपः प्रणयः, अतिलुब्धेन अतिलोलुपेन, पिशुनेन खलेन, जम्बुकेन शृगालेन, विनाशितः विध्वंसितः ॥ १ ॥

१. धर्मेति । धर्मेण—धर्मशास्त्रोक्तवृत्त्या, उपार्जितः,—सञ्चितः, भूरिः,—महान्, विभवः,—सम्पद् येन तथाभूतः ।

मित्रभेद

अब यहाँ से मित्रभेद नाम का पहला तन्त्र प्रारम्भ होता है । जिसका पहिला श्लोक यह है—

वन में एक सिंह और एक बैल के बीच अत्यंत गहरी मित्रता थी जिसे अत्यन्त लालची और चुगलखोर गीदड़ ने नष्ट कर दिया ॥ १ ॥

ऐसा सुना जाता है कि दक्षिण देश में महिलारोप्य नाम का एक नगर है। वहाँ वर्धमान नाम का एक बनिये का पुत्र था जिसने धर्मपूर्वक बहुत अधिक धन पैदा कर लिया था । एक बार रात्रि में शैय्या पर लेटे लेटे उसके मन में यह चिन्ता उत्पन्न हुई कि अत्यधिक धन रहते हुए भी धन प्राप्ति का उपाय सोंचना चाहिए और तदनुकूल प्रयत्न भी करना चाहिए । क्योंकि कहा भी गया है—

न हि तद्विद्यते किंचिद्यदर्थेन न सिद्धयति ।
यत्नेन मतिमांस्तस्मादर्थमेकं प्रसाधयेत् ॥ २ ॥
यस्यार्थास्तस्य मित्राणि, यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमांल्लोके, यस्यार्थाः स च पण्डितः ॥ ३ ॥
न सा विद्या न तद्दान न तच्छिल्पं न सा कला ।
न तत्स्थैर्यं हि धनिनां याचकैर्यन्न गीयते ॥ ४ ॥
इह लोके हि धनिनां परोऽपि स्वजनायते ।
स्वजनोऽपि दरिद्राणां सर्वदा दुर्जनायते ॥ ५ ॥

न हीति । यत् अर्थेन न सिध्यति, तत् किञ्चिदपि वस्तु न हि विद्यते; सर्वमेव अर्थसाध्यमिति भावः । तस्मात्, मतिमान् प्राज्ञो जनः, यत्नेन, एकं केवलम्, अर्थं प्रसाधयेत् अर्ज्जयेत् ॥ २ ॥

यस्येति । लोके—जगति । पण्डितः विवेकशीलः ॥ ३ ॥

नेति । याचकैः अर्थार्थिभिः, धनिनां समीपे इति शेषः, यत् विद्यादिकं न गीयते न कीर्त्यते, तत्किमपि नेति शेषः । तथा हि, सा विद्या न, तद्दानं न, तत् शिल्पं न, सा कला न, तत् स्थैर्य्यं मर्य्यादाशालित्वं, हि न । अयं भावः,—धनिकसमीपे तदुपासनार्थिना याचकेन धनलाभार्थं तस्य धनिनः सर्वा विद्या, सर्वं दानं, सर्वं शिल्पज्ञानं, सर्वा च चतुःषष्टिप्रकारा नृत्यादिविद्या, सर्वप्रकारा मर्य्यादाशालिता च अस्तीति कृत्वा प्रशस्यते इति ॥ ४ ॥

इहेति । इह अस्मिन्, लोके संसारे, परोऽपि जनः, धनिनां, स्वजनायते

संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो धन के द्वारा न सिद्ध होती हो इसलिए बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि यत्न के साथ एक मात्र धन का ही उपार्जन करे ॥ २ ॥

जिसके पास धन है उसी के मित्र हैं, जिसके पास धन है उसी के भाई हैं, जिसके पास धन है वही संसार में पुरुष है (अर्थात् पौरुष गुण सम्पन्न है) और जिसके पास धन है वही पंडित (विवेकशील) है ॥ ३ ॥

न कोई ऐसी विद्या है, न कोई ऐसा दान है, न कोई ऐसी शिल्प या कला है, न कोई ऐसी स्थिरता (मर्यादा पालन की दृढ़ता) है जिसे याचक लोग धनियों की स्तुति करते समय धनियों में न बताते हों । (भावार्थ यह कि याचक गण धनियों के पास जाकर अपने इष्ट लाभ के लिए मूर्ख से मूर्ख धनी को भी सर्वगुण सम्पन्न कहकर स्तुति करते हैं) ॥ ४ ॥

अर्थेभ्योऽपि हि वृद्धेभ्यः संवृत्तेभ्यस्ततस्ततः ।
प्रवर्तन्ते क्रियाः सर्वाः पर्वतेभ्य इवापगाः ।। ६ ।।

पूज्यते यदपूज्योऽपि यदगम्योऽपि गम्यते ।
वन्द्यते यदवन्द्योऽपि स प्रभावो धनस्य च ।। ७ ।।

अशनादिन्द्रियाणीव स्युः कार्याण्यखिलान्यपि ।
एतस्मात्कारणाद्वित्तं सर्वसाधनमुच्यते ।। ८ ।।

स्वजन इवाचरति । दारिद्राणां तु स्वजनोऽपि, सर्वदा, दुर्जनायते दुर्जन इव आचरति ।। ५ ।।

अर्थेभ्य इति । पर्वतेभ्यः, आपगा इव नद्य इव, वृद्धेभ्यः वृद्धिं गतेभ्यः, उपायेनेति भावः, संवृत्तेभ्य सम्भृतेभ्यः, रक्षितेभ्य इत्यर्थः, ततस्ततः तेभ्यस्तेभ्यः, अर्थेभ्यः, सर्वाः क्रियाः संसारयात्रोपयोगिनी व्यापाराः, प्रवर्त्तन्ते । उपमालङ्कारः ।। ६ ।।

पूज्यते इति । अपूज्यः पूजानर्होऽपि,, यत् पूज्यते, अगम्यः अलभ्योऽपि, यत् गम्यते लभ्यते, अवन्द्योऽपि अनभिवाद्योऽपि, यत् वन्द्यते प्रणम्यते, स च धनस्य प्रभावः; धनेनैव सर्वे पूज्या गम्या वन्द्याश्च भवन्तीति भावः ।। ७ ।।

अशनादिति । अशनात् भोजनात्, विषयोपभोगाद्वा, इन्द्रियाणीव अखिलानि सर्वाणि, अपि कार्य्याणि स्युः, परिपोषं भजन्ते इत्यर्थः, वित्ता-

---

इस संसार में अन्य लोग भी धनियों के सगे सम्बन्धी बन जाते हैं किन्तु दरिद्रों के सगे सम्बन्धी भी उनके साथ-दुष्टों जैसा व्यवहार करते हैं ।। ५ ।।

व्याज तथा व्यापारादि विभिन्न उपायों से संचित करके बढ़ाए हुए धन से ही सभी क्रियाएँ (गृहनिर्माण, पुत्र पुत्री, विवाह, दान, यज्ञादि धार्मिक कृत्यादि) सफल होती हैं जैसे पर्वतों से निकलकर बढ़ी हुई नदियों से कृषिकर्मादि सफल होते हैं ।। ६ ।।

यह धन का ही प्रभाव है कि अपूज्य भी पूज्य बन जाता है, जिसके यहाँ जाना उचित नहीं है उसके यहाँ भी जाया जाता है तथा जो प्रणाम करने योग्य नहीं है उसको भी प्रणाम किया जाता है ।। ७ ।।

जिस प्रकार भोजन करने से ही सभी इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों के उपभोग में समर्थ होती हैं उसी प्रकार धन से ही समस्त क्रियायों (लौकिक-

अर्थार्थी जीवलोकोऽयं श्मशानमपि सेवते ।
त्यक्त्वा जनयितारं स्वं निःस्वं गच्छति दूरतः ॥ ९ ॥

गतवयसामपि पुंसां येषामर्था भवन्ति ते तरुणाः ।
अर्थे तु ये हीना वृद्धास्ते यौवनेऽपि स्युः ॥ १० ॥

स चार्थः पुरुषाणां षड्भिरुपायैर्भवति—भिक्षया, नृपसेवया, कृषिकर्मणा, विद्योपार्जनेन, [1]व्यवहारेण, वणिक्कर्मणा वा । सर्वेषामपि तेषां वाणिज्येना[2]तिरस्कृतोऽर्थलाभः स्यात् । उक्तं च यतः—

देवेति भावः; एतस्मात् कारणात्, वित्तं धनं, सर्वसाधनं सर्वकार्यनिष्पादकम्, उच्यते कथ्यते, बुधैरिति शेषः ॥ ८ ॥

अर्थार्थीति । अर्थार्थी धनलुब्धः, अयं जीवलोकः श्मशानमपि सेवते आश्रयति; तथा निःस्वं निर्धनं, स्वम् आत्मीयं, जनयितारं पितरमपि, त्यक्त्वा दूरतः गच्छति ॥ ९ ॥

गतेति । गतं वयो येषां, वृद्धानामित्यर्थः, अपि येषां पुंसाम् अर्था भवन्ति, ते प्राप्तधना वृद्धा अपि, तरुणाः युवानः, तरुणवत् उत्साहसम्पन्नाः इत्यर्थः । ये तु अर्थेन हीनाः, ते यौवनेऽपि वृद्धाः स्युः, निरुत्साहा भवन्तीत्यर्थः । आर्या वृत्तम् ॥ १० ॥

१. व्यवहारेण—कुसीदविधिना इत्यर्थः ।

२. अतिरस्कृतः,—अनाच्छादितः, अनिन्दितत्वात् सर्वसम्मत इत्यर्थः ।

पारलौकिक सभी व्यवहार) की पुष्टि होती है अर्थात् सभी क्रियाएँ सफल होती हैं इसलिए धन को ही सम्पूर्ण कार्यों का मूल साधन कहा जाता है ॥ ८ ॥

धन का इच्छुक यह जीव श्मशान जैसी (भयानक एवं अपवित्र) जगह में भी जाकर निवास करता है (अर्थात् धन के लिए श्मशान में रहकर मंत्र तन्त्र का अनुष्ठान करता है) किन्तु वही व्यक्ति अपने जन्मदाता दरिद्र पिता को भी छोड़ कर उससे दूर चला जाता है ॥ ९ ॥

वृद्ध होते हुए भी जिस व्यक्ति के पास धन होता है, वह युवक ही होता है किन्तु युवक होते हुए भी धनहीन व्यक्ति वृद्ध होता है ॥ १० ॥

वह धन पुरुषों को छः उपायों से प्राप्त होता है—भिक्षा से, राजसेवा से, कृषि कर्म से, विद्याप्राप्ति से, व्यवहार (रुपये का लेन-देन) से और व्यापार से । इन सभी में व्यापार ही सबसे अधिक सम्मानजनक धनोपार्जन

अन्तःपुरचरैः सार्धं यो न मन्त्रं समाचरेत् ।
न कलत्रैर्नरेन्द्रस्य स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५६ ॥
द्यूतं यो यमदूताभं हालां हालाहलोपमाम् ।
पश्येद्दारान् वृथाकारान् स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५७ ॥
युद्धकालेऽग्रगो यः स्यात् सदा पृष्ठानुगः पुरे ।
प्रभोर्द्वाराश्रितो हर्म्ये स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५८ ॥
सम्मतोऽहं विभोर्नित्यमिति मत्वा व्यतिक्रमेत् ।

अन्तरिति । यः नरेन्द्रस्य नृपस्य, अन्तःपुरचरैः कञ्चुक्याादिपरिजनैः, सार्द्धं मन्त्रं मन्त्रणां, गुप्तभाषणमित्यर्थः, न समाचरेत् कुर्य्यात्, तथा नरेन्द्रस्य कलत्रैः भार्य्याभिः, सार्द्धं मन्त्रमिति शेषः, न, [समाचरेदिति शेषः स राजवल्लभो भवेत् ॥ ५६ ॥

द्यूतमिति । यः द्यूतम् अप्राणिवस्तुभिः क्रीडनम्, ("अप्राणिभिः यत् क्रीडति तल्लोके द्यूतमुच्यते" इति स्मरणात्) यमदूताभं शमनकिङ्करसदृशं, हालां सुरां; ("सुरा हलिप्रिया हाला" इत्यमरः) हालाहलोपमां कालकूटसदृशीं, तथा दारान् राजस्त्रियः, वृथाकारान् कुत्सिताकृतीनित्यर्थः, पश्येत्, ["शकि लिङ् च" (पा० सू० ३।३।१७२) इति लिङ्] द्यूतमद्याङ्गनासु न प्रसक्तो भवेदित्यर्थः, स राजवल्लभो भवेत् ॥ ५७ ॥

युद्धेति । यः युद्धकाले प्रभोरिति सर्वत्र सम्बध्यते, अग्रगः अग्रगामी, पुरे नगरे, सदा पृष्ठानुगः पार्श्वचरः, तथा हर्म्ये राजभवने, द्वाराश्रितः द्वारस्थः; आज्ञापालनार्थमिति भावः, स राजवल्लभो भवत् ॥ ५८ ॥

सम्मत इति । अहं विभोः प्रभोः, नित्यं सततं, सम्मतः अभिमतः, प्रिय इति

जो सेवक राजा के अन्तःपुर (रनिवास) के कर्मचारियों से गुप्त बातें नहीं करता तथा जो रानियों से भी बातचीत नहीं करता वही राजा का प्रिय पात्र बनता है ॥ ५६ ॥

जो सेवक जूए को यमदूत के समान, मद्य (शराब) को विष के समान तथा स्त्रियों को (राजा के अन्तःपुर की स्त्रियों को) कुरूपा स्त्रियों के समान देखता है वही राजा का प्रिय-पात्र होता है ॥ ५७ ॥

जो सेवक युद्ध काल में राजा के आगे चलने वाला, नगर में पीछे पीछे चलने वाला तथा महल में ड्योढ़ी पर खड़ा रहने वाला होता है, वही राजा का प्रिय पात्र होता है ॥ ५८ ॥

राजा द्वारा मैं सर्वदा अभिमत हूँ अर्थात् राजा सर्वदा मेरे कार्यों का अनुमोदन

कृच्छ्रेष्वपि न मर्यादां स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५९ ॥

द्वेषिद्वेषपरो नित्यमिष्टानामिष्टकर्मकृत् ।
यो नरो नरनाथस्य स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६० ॥

प्रोक्तः प्रत्युत्तरं नाह विरुद्धं प्रभुणा न यः ।
न समीपे हसत्युच्चैः स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६१ ॥

यो रणं शरणं तद्वन्मन्यते भयवर्जितः ।
प्रवासं स्वपुरावासं स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६२ ॥

यावत्,इति मत्वा यः कृच्छ्रेष्वपि कष्टेष्वपि मर्यादां स्थितिं, स्वकर्त्तव्यमिति यावत्; न व्यतिक्रमेत् न उल्लङ्घयेत्, स राजवल्लभो भवेत् ॥ ५९ ॥

द्वेषीति । यः नरः नित्यं नरनाथस्य राज्ञः, द्वेषिषु शत्रुषु, द्वेषपरः शत्रुतासाधननिरतः, तथा इष्टानां प्रियाणाम्, इष्टकर्मकृत् प्रियकारी, स राजवल्लभो भवेत् ॥ ६० ॥

प्रोक्त इति । यः प्रभुणा विरुद्धम् अप्रियमित्यर्थः, प्रोक्तोऽपि प्रत्युत्तरं नाह न ब्रवीति, तथा समीपे उच्चैः न हसति स राजवल्लभो भवेत् ॥ ६१ ॥

य इति । यः भयवर्जितः सन् रणं युद्धं, शरणं गृहं, गृहं यथा सुखावस्थितिस्थानं रणक्षेत्रमपि तथा इति भावः, रक्षितारं वा, एकमात्राश्रयमित्यर्थः, शत्रुदलनेन आत्मरक्षणसाधनत्वादिति भावः, ("शरणं गृहरक्षित्रोः" इत्यमरः) तद्वत् तथा प्रवासं विदेशवासं, स्वपुरावासं स्वगृहावस्थानं, ("अगारे नगरे पुरम्" इत्यमरः) मन्यते स राजवल्लभो भवेत् ॥ ६२ ॥

करता है—ऐसा समझकर संकट के समय भी जो सेवक मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, वही राजा को प्रिय होता है ॥ ५९ ॥

जो सेवक राजा के शत्रुओं से शत्रुता का व्यवहार करता है तथा उसके प्रियजनों के इष्टसाधन में तत्पर रहता है, वही राजा का प्रिय होता है ॥ ६० ॥

जो सेवक राजा की प्रतिकूल वाणी सुनकर भी उसका उत्तर नहीं देता और उसके समीप जोर से (ठठाकर) हँसता नहीं है; वह राजा का प्रिय होता है ॥ ६१ ॥

जो सेवक निर्भय होकर युद्धभूमि को गृहभूमि के समान शरण देने वाली (रक्षा करने वाली) तथा प्रवास (परदेश में रहने) को अपने नगर में निवास करने के समान समझता है वह राजा का प्रिय होता है ॥ ६२ ॥

न कुर्यान्नरनाथस्य योषिद्भिः सह संगतिम् ।
न निन्दां न विवादं च स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६३ ॥

करटक आह—'अथ भवांस्तत्र गत्वा किं तावत्प्रथमं वक्ष्यति, तत्तावदुच्यताम् ।' दमनक आह—

उत्तरादुत्तरं वाक्यं वदतां सम्प्रजायते ।
सुवृष्टिगुणसम्पन्नाद् बीजाद् बीजमिवापरम् ॥ ६४ ॥
अपायसन्दर्शनजां विपत्तिमुपायसदर्शनजाञ्च सिद्धिम् ।
मेधाविनो नीतिगुणप्रयुक्तां पुरः स्फुरन्तीमिव वर्णयन्ति ॥ ६५ ॥

नेति । यः नरनाथस्य, योषिद्भिः स्त्रीभिः, सह सङ्गतिं सम्मेलनं न, निन्दां न, विवादञ्च न कुर्य्यात्, स राजवल्लभो भवेत् ॥ ६३ ॥

उत्तरादिति । वदतां परस्परमालपतां, कथां कथयतां वा जनानाम्, उत्तरात् उत्तरश्रवणात् परं, सुवृष्टिरेव गुणः तेन सम्पन्नात् युक्तात्, बीजात् अपरं बीजमिव उत्तरं वाक्यं सम्प्रजायते; कथां कथयत् एव क्रमेण सदुत्तरं निःसरतीति भावः ॥ ६४ ॥

अपायेति । मेधाविनो बुद्धिमन्तो जनाः, नीतिगुणप्रयुक्तां नीतेः पुरुषदुर्नयमुनयोभयरूपाया इति भावः; गुणेन प्रभावेण, प्रयुक्तां विहिताम्, अपायसन्दर्शनजां दुर्लक्षणदर्शनानुमितामिति यावत्, विपत्तिम्, उपायसन्दर्शनजां सुलक्षणदर्शनानुमितां, सिद्धिं फललाभञ्च, षाड्गुण्यप्रयोगस्येति शेषः, पुरः अग्रतः, स्फुरन्तीमिव प्रकाशमानामिव, तत्क्षणमापतन्तीमिवेति भावः; वर्णयन्ति कीर्त्तयन्ति । उपजातिः वृत्तम् ॥ ६५ ॥

जो सेवक राजा की स्त्रियों के साथ न तो संगति (गोष्ठी या सहवास) करता है, न तो उनकी निन्दा करता है और न तो उनके साथ विवाद करता है, वही राजा का प्रिय पात्र बनता है ॥ ६३ ॥

करटक ने कहा—"आप वहाँ जाकर सबसे पहिले क्या कहेंगे ? पहिले उसे तो बताइए ।" दमनक ने कहा—

परस्पर वार्तालाप करने वालों के उत्तर प्रत्युत्तर से बातें उसी प्रकार उत्पन्न होती चलती हैं जैसे अच्छी वृष्टि होने से एक बीज से दूसरे बीज निकलते हैं ॥ ६४ ॥

नीति के गुणों के दुरुपयोग से प्राप्त होने वाली विपत्ति तथा सदुपयोग से प्राप्त होने वाली सिद्धि—इन दोनों को बुद्धिमान् व्यक्ति प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली वस्तु के समान बता देते हैं ॥ ६५ ॥

एकेषां वाचि शुकवदन्येषां हृदि मूकवत् ।
हृदि वाचि तथान्येषां वल्गु वल्गन्ति सूक्तयः ॥ ६६ ॥

न च अहमप्राप्तकालं[1] वक्ष्ये । आकर्णितं मया नीतिसारं पितुः पूर्वमुत्सङ्गं[2] हि निषेवता ।

अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
लभते बह्ववज्ञानमपमानं च पुष्कलम् ॥ ६७ ॥

करटक आह—

एकेषामिति । सूक्तयः सुवचनानि, एकेषां केषाञ्चिज्जनानां, वाचि वाक्ये, शुकवत् शुकपक्षिणमिव, वल्गन्ति प्रकाशन्ते; शुका यथा यदेव शृण्वन्ति, तदेव कालाकालमविचार्य्यैव वाचा प्रकाशयन्ति, केचन तथेति भावः; अन्येषाम् अपरेषां, मूकवत् वाकशक्तिरहितानामिव हृदि चेतसि, ताः वल्गन्ति, न तु वाचीति भावः; मूकास्तु हृद्गतमपि भावं वचसा नैव प्रकाशयितुं समर्थाः, केचित्तथैवेति भावः । तथा अन्येषां वाग्मिनां, कालाकालज्ञानवतामित्यर्थः, वाचि हृदि, च, वल्गु शोभनं यथा तथा, वल्गन्ति स्फुरन्ति; प्राप्तकालमेव वाग्मिनः हृद्गतभावं वाचा प्रकाशयन्तीति भावः ॥ ६६ ॥

१. अप्राप्तकालम्—असामयिकम्, अप्रासङ्गिकमित्यर्थः ।

२. उत्सङ्गं—क्रोडम् । निषेवता—अधिष्ठिता, निषेवमाणेनेति साधु ।

अप्राप्तेति । अप्राप्तकालं वचनं ब्रुवन् वदन्, बृहस्पतिरपि बहु अवज्ञानम् अवहेलनं, पुष्कलं प्रभूतम्, अपमानं तिरस्कारञ्च, लभते । देवगुरुरपि चेत् देशकालादिकमविचार्य्य प्राकृतवत् यदृच्छं वदति, तर्हि सोऽपि विडम्बनमाप्नोति, का कथा मादृशानामित्याशयः ॥ ६७ ॥

कुछ लोगों की वाणी तोते की वाणी के समान (सुनी हुई बात को समय असमय का ध्यान किए बिना कह देना), कुछ लोगों की वाणी गूँगे के समान (सुनी हुई बात को कहने में असमर्थ) तथा कुछ लोगों की वाणी हृदय से और बोलने में भी मनोहर सूक्तियों के समान महान् होती है ।

मैं असामयिक बात नहीं कहूँगा । क्योंकि मैंने पिता की गोद में खेलते हुए नीति के तत्वों को सुना है—

यदि बृहस्पति भी असामयिक बात कहें तो उन्हें भी अत्यन्त तिरस्कार और अपमान का पात्र बनना पड़ता है ॥ ६७ ॥

करटक ने कहा—

'दुराराध्या हि राजानः पर्वता इव सर्वदा ।
व्यालाकीर्णाः सुविषमाः कठिना दुष्टसेविताः ॥ ६८ ॥

तथा च—

भोगिनः कञ्चकाविष्टाः कुटिलाः क्रूरचेष्टिताः ।
सुदुष्टा मन्त्रसाध्याश्च राजानः पन्नगा इव ॥ ६९ ॥
द्विजिह्वाः क्रूरकर्माणोऽनिष्ठाश्छिद्रानुसारिणः ।
दूरतोऽपि हि पश्यन्ति राजानो भुजगा इव ॥ ७० ॥

दुराराध्या इति । व्यालैः खलजनैः श्वापदैश्च, (व्यालः दुष्टगजे सर्पे श्वापदे नान्यवत् खले" इति मेदिनी) आकीर्णाः परिवृताः सङ्कुलाश्च, सुविषमा दारुणाः उन्नतानताश्च, कठिना निर्दयाः पाषाणप्रकृतित्वात् कठोरस्पर्शाश्च, दुष्टैः दुर्जनैः विषधरादिभिश्च, सेविताः अनुगताः अधिष्ठिताश्च, राजानः पर्वता इव सर्वदा सततं, दुराराध्याः दुःसेव्याः; हिशब्दोऽवधारणे । राजसेवा अतिदुष्करीति भावः ॥ ६८ ॥

भोगिनः इति । भोगिनः सुखभोगरताः फणवन्तश्च, ("भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययो" इत्यमरः) कञ्चुकाविष्टाः वर्मधारिणः निर्मोकवन्तश्च, कुटिलाः कपटिनः वक्रगामिनश्च, क्रूरं निष्ठुरं, चेष्टितं क्रिया येषां तथोक्ताः, सुदुष्टा दोषवन्तः; उभयत्र समानमेतत्; राजानः पन्नगाः भुजङ्गा इव, मन्त्रसाध्याः मन्त्रेण सत्परामर्शेन उपायेन वा गारुडादिना च, साध्याः वशीकार्य्याः ॥ ६९ ॥

द्विजिह्वा इति । द्विजिह्वा द्वे जिह्वे येषां तथोक्ताः, क्षणे क्षणे भिन्नवाच इति भावः; अन्यत्र,—रसनाद्वयवन्तः; सर्पाणां द्विजिह्वत्वं प्रसिद्धम्; क्रूरकर्माणः निष्ठुरव्यापाराः, अनिष्ठाः निष्पत्तिरहिताः, प्रजाहितत्वेनारब्धं किमपि कार्य्यं

जिस प्रकार साँपों या हाथियों से घिरे ऊँचे नीचे, कठोर एवं सिंह व्याघ्रादि हिंसक पशुओं से युक्त होने के कारण पर्वत अगम्य होते हैं उसी प्रकार दुष्टों से घिरे क्रूर एवं कठोर स्वभाव वाले तथा दुर्जनों से सेवित राजा का आश्रय पाना भी कठिन होता है ॥ ६८ ॥

जिस प्रकार साँप फण धारण करने वाला, केंचुली से युक्त, टेढ़ी चाल वाला, हिंसक स्वभाव वाला तथा मन्त्र द्वारा वश में किया जा सकने वाला होता है उसी प्रकार राजा भी भोगविलास में रमने वाला, कवच धारण करने वाला, कपटाचारी, क्रूरस्वभाव वाला, विभिन्न दोषों से युक्त तथा मन्त्र साध्य (उपायों द्वारा वश में किया जा सकने वाला) होता है ॥ ६९ ॥

जिस प्रकार साँप दो जीभ वाला, हिंसक अनिष्ट कारक, छिद्रानुसारी (बिल में रहने वाला) तथा दूरदर्शी (दूर की वस्तुओं को देखने वाला) होता है उसी

स्वल्पमप्यपकुर्वन्ति येऽभीष्टा हि महीपतेः।
ते वह्नाविव दह्यन्ते पतङ्गाः पापचेतसः ॥ ७१ ॥
दुरारोहं पदं राज्ञां सर्वलोकनमस्कृतम्।
स्वल्पेनाप्यपकारेण ब्राह्मण्यमिव दुष्यति ॥ ७२ ॥
दुराराध्याः श्रियो राज्ञां दुरापा दुष्परिग्रहाः।
तिष्ठन्त्याप इवाधारे चिरमात्मनि संस्थिताः' ॥ ७३ ॥

निष्पाद्य प्रजा निरुद्वेगाः न कुर्वन्तीति भावः, अन्यत्र,—अनिष्ठाः अनन्ताः असङ्ख्या इति यावत्, ("निष्ठानिष्पत्तिनाशान्ताः" इत्यमरः) छिद्रानुसारिणः दोषानुसन्धित्सवः, अन्यत्र,—बिलानुसारिणः, राजानः भुजगा इव दूरस्थः दूरात् अपि, पश्यन्ति सर्वमवगच्छन्ति चारैः, अन्यत्र—दूरप्रसारिदृष्टित्वात् इति भावः, "चारैः पश्यन्ति राजानः" इति स्मरणात्। भुजगाश्च तीक्ष्णदृष्टित्वात् दूरप्रसारिदृष्टित्वाच्च दूरादेव सर्वं द्रष्टुमर्हन्तीति प्रसिद्धिः ॥ ७० ॥

स्वल्पमिति। ये अभीष्टा वयं महीपतेः प्रियाः, इति कृत्वेति भावः, महीपतेः स्वल्पमपि अपकुर्वन्ति, ते पापचेतसः, वह्नौ पतङ्गा इव दह्यन्ते। [कर्मकर्त्तरि लट्] ॥ ७१ ॥

दुरारोहमिति। दुरारोहम् आरोढुमशक्यं, दुष्प्रापमित्यर्थः; अत एव सर्वलोकनमस्कृतं सर्वलोकवन्द्यं, राज्ञां पदं राजत्वं, ब्राह्मण्यमिव ब्रह्मतेजोवत्, स्वल्पेनापि अपकारेण अत्याचारेण, दुष्यति। उपमाऽलङ्कारः ॥ ७२ ॥

दुराराध्या इति। राज्ञां दुराराध्याः दुःसेव्याः, अत एव दुरापाः दुर्लभाः, दुष्परिग्रहाः ग्रहीतुमशक्याः, अरक्ष्या इत्यर्थः; श्रियः सम्पदः, आधारे पात्रे, आपः

प्रकार राजा भी दो जीभ वाला (क्षण क्षण में विभिन्न बातें कहने वाला), क्रूर कर्म करने वाला, अनिष्टकारक, छिद्रानुसारी (दोषों को देखने वाला) तथा दूरदर्शी (गुप्तचरों द्वारा दूर की वस्तुओं को भी जान लेने वाला) होता है ॥ ७० ॥

जो राजा के प्रिय पात्र होते हुए भी (अभिमान में आकर) उसका थोड़ा सा भी अपकार कर बैठते हैं वे पापबुद्धि वाले पतंग की तरह राजा की क्रोधाग्नि में जल कर भस्म हो जाते हैं ॥ ७१ ॥

सभी लोगों से वन्दनीय राजपद की प्राप्ति ब्रह्म तेज के समान ही अत्यन्त कठिन होती है क्योंकि थोड़े भी विरुद्ध आचरण से वह दूषित हो (प्रतिकूल फल देने वाला बन) जाता है ॥ ७२ ॥

राज लक्ष्मी (राजा से प्राप्त लक्ष्मी युक्त अधिकार) अत्यन्त कष्टसाध्य होती

दमनक आह—'सत्यमेतत्परम् । किन्तु—

यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन समाचरेत् ।
अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवशं नयेत् ॥ ७४ ॥

भर्त्तुश्चित्तानुवर्तित्व सुवृत्तं चानुजीविनाम् ।
राक्षसाश्चापि गृह्यन्ते नित्यं छन्दानुवर्त्तिभि ॥ ७५ ॥

जलानीव, आत्मनि स्वस्मिन्, संस्थिताः सावधानं रक्षिताः, यत्नेन लालिताः सत्य इत्यर्थः, चिरं तिष्ठन्ति; स्वल्पेनापि प्रमादेन नश्यन्तीति भावः । उपमाऽलङ्कारः ।। ७३ ॥

यस्येति । यस्य यस्य जनस्य, यो यादृशः भावः, आशयः, तेन तेन, भावेन इति शेषः, [तं तमित्यध्याहार्य्यं] समाचरेत् व्यवहरेत् सेवेत् वा । मेधावी बुद्धिमान् जनः, अनुप्रविश्य प्रभोराशयं बुद्ध्वा इत्यर्थः, क्षिप्रं शीघ्रम्, आत्मवशं तत्तदभिमताचरणेन तम् आत्माधीनमिति यावत्, नयेत् प्रापयेत् ॥ ७४ ॥

भर्त्तुरिति । अनुजीविनां भृत्यानां, भर्त्तुः स्वामिनः, चिन्ताऽनुवर्त्तित्वं चिन्तितानुसारित्वं, [चित्तानुवर्त्तित्वमिति वा पाठः] सुवृत्तं सुशीलत्वञ्च, आवश्यकमिति शेषः । यतः नित्यं सततं, छन्दानुवर्त्तिभिः आशयानुगामिभिः जनैः, राक्षसाश्चापि गृह्यन्ते वशीक्रियन्ते, का कथा मानुषाणामित्यर्थः ।। ७५ ॥

है क्योंकि वह अत्यन्त कठिनाई से प्राप्त होने वाली तथा महान् प्रयत्नों द्वारा रक्षणीय होती है । किन्तु वह पात्र में भरे जल के समान स्वयं प्रयत्न करने पर ही चिरकाल तक सुरक्षित रह सकती है । भावार्थ यह है कि जैसे बहुत पतला सा छिद्र होने पर भी पात्र का जल बह जाता है उसी प्रकार अत्यन्त अल्प असावधानी से राज्याधिकार भी चला जाता है ।। ७३ ॥

दमनक ने कहा—यह बहुत ठीक है परन्तु—

जिस जिस का जो जो अभिप्राय हो, उसके उसके साथ उसी उसी अभिप्राय के अनुसार व्यवहार करना चाहिए और बुद्धिमान् को चाहिए कि उसमें प्रवेश करके (स्वामी के अभिप्राय को भलीभाँति समझकर) तदनुकूल व्यवहार द्वारा स्वामी को वश में कर ले ॥ ७४ ॥

स्वामी द्वारा जीविका प्राप्त करने वाले सेवकों का उसकी इच्छा के अनुसार व्यवहार करना ही सदाचरण माना जाता है । निरन्तर उनके आशय के अनुसार कार्य करने वाला व्यक्ति राक्षसों को भी अपने अधीन कर लेता है (तो फिर मनुष्यों को वश में कर लेना कोई बड़ी बात नहीं है) ॥ ७५ ॥

सरुषि नृपे स्तुतिवचनं तदभिमते प्रेम तद्द्विषि द्वेषः।
तद्दानस्य च शंसा अमन्त्रतन्त्रं वशीकरणम्'॥ ७६॥

करटक आह—'यद्येवमभिमतं[1] तर्हि शिवास्ते पन्थानः सन्तु। यथाभिलषितमनुष्ठीयताम्।' सोऽपि प्रणम्य पिङ्गलकाभिमुखं प्रतस्थे।

अथागच्छन्तं दमनकमालोक्य पिङ्गलको द्वाःस्थमब्रवीत्[2]—'अपसार्यतां वेत्रलता। अयमस्माकं चिरन्तनो मन्त्रिपुत्रो दमनकोऽव्याहतप्रवेशः।[3] तत्प्रवेश्यतां द्वितीयमण्डलभागी[4]' इति। स आह—'यथावादीद्भवान्' इति। अथोपसृत्य दमनको निर्दिष्टे आसने पिङ्गलकं प्रणम्य प्राप्तानुज्ञ उपविष्टः।

सरुषीति। नृपे सरुषि कुपिते सति इत्यर्थः, स्तुतिवचनं स्तुत्या कोपशमनमित्यर्थः, तस्य नृपस्य, अभिमते सुहृदि, प्रेम प्रणयः, तस्य नृपस्य, द्विषि शत्रौ, द्वेषः, तस्य नृपस्य, यत् दानम् अनुजीविभ्यः वितरणं, तस्य शंसा प्रभुणा वयमनुग्रहदानेन प्रसादीकृता इत्थं कीर्त्तनञ्च, एतत् अमन्त्रतन्त्रं मन्त्रतन्त्रवर्जितं, वशीकरणं नृपस्येति शेषः, तद्वशीकरणे स्तुत्यादय एव हेतव इति भावः। आर्य्या वृत्तम्॥ ७६॥

१. एवं—राजवशीकरणमित्यर्थः, अभिमतं—प्रियम्। शिवाः,—शुभाः।

२. द्वाःस्थं—दौवारिकम्। अपसार्य्यताम्—अपनीयतां, मा व्यवह्नियतामिति भावः।

३. अव्याहतप्रवेशः—अनिवारितगतिः, अस्य प्रवेशे निषेधो नास्तीत्यर्थः।

४. द्वितीयेति। मन्त्रिण एव प्रथममण्डलमधिकुर्वन्ति, अयन्तु तत्पुत्रतया द्वितीयमण्डलाधिकारीत्यर्थः। मण्डलम्—अनुजीविनामुपवेशनस्थानभेद इति बोध्यम्।

राजा के क्रुद्ध होने पर उसकी स्तुति करके उसका क्रोध दूर करना चाहिए; उसके अभिमत से लोगों से प्रेमव्यवहार तथा उसके शत्रुओं से शत्रुता और उसके दान की प्रशंसा करनी चाहिए। बिना मंत्र तंत्र के यही उसके वश में करने के उपाय है॥ ७६॥

करटक ने कहा—"यदि आप को यही इष्ट है तो फिर जाइए। आप का मार्ग कल्याणकारी होवे। आप अपनी इच्छा के अनुसार कार्य कीजिए।' वह भी प्रणाम करके पिंगलक की ओर चल पड़ा।

इसके पश्चात् दमनक को आते हुए देखकर पिंगलक ने द्वारपाल से कहा—'बेत की छड़ी हटा लो। यह मेरे बहुत दिनों तक रहने वाले भूतपूर्व मन्त्री का पुत्र दमनक है जिसके यहाँ आने में कोई रुकावट नहीं है। इसलिए इस दूसरे मंडल के अधिकारी को आने दो। उसने कहा—आप जैसा कहें। तब दमनक उसके पास

न क्षुधा पीडयते यस्तु निद्रया न कदाचन ।
न च शीतातपाद्यैश्च स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ।। ९९ ।।
श्रुत्वा सांग्रामिकीं वार्तां भविष्यां स्वामिनं प्रति ।
प्रसन्नास्यो भवेद्यस्तु स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ।। १०० ।।
सीमा वृद्धिं समायाति शुक्लपक्ष इवोडुराट् ।
नियोगसंस्थिते यस्मिन् स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ।। १०१ ।।
सीमा संकोचमायाति वह्नौ चर्म इवाहितम् ।
स्थिते यस्मिन् स तु त्याज्यो भृत्यो राज्यं समीहता ।।१०२।।

गोपायितुं शक्नुयात्, स भृत्यः महीभुजाम् अर्हः योग्यः ।। ९८ ।।

नेति । यस्तु कदाचन क्षुधा बुभुक्षया, न, निद्रया च न, शीतातपाद्यैश्च न पीडयते न क्लिश्यते, क्षुधानिद्राशीतातपादिजनितं खेदमगणय्य नियतं प्रभुकार्य्यं सम्पादयति इत्यर्थः, स भृत्यः महीभुजाम् अर्हः योग्यः ।। ९९ ।।

श्रुत्वेति । यस्तु भविष्यां भाविनीं, साङ्ग्रामिकीं वार्त्तां युद्धवृत्तान्तमित्यर्थः; श्रुत्वा स्वामिनं प्रति प्रसन्नास्यः प्रसन्नमुखः, योद्धुमुत्साहवानिति यावत्; भवेत्, युद्धे विपत्तिशङ्कया न विरक्तिं प्रकाशयेदिति भावः; स भृत्यः महीभुजाम् अर्हः योग्यः ।। १०० ।।

सीमेति । यस्मिन् भृत्ये, नियोगसंस्थिते कर्म कुर्वति सतीत्यर्थः, शुक्लपक्षे उडुराडीव—उडूनां तारकाणां; (तारकाऽप्युडु वा स्त्रियाम्" इत्यमरः) राजा स इव चन्द्र इव इत्यर्थः, सीमा मर्य्यादा, अधिकारः वा, प्रभोरिति शेषः; वृद्धिं विस्तृतिं पूर्णताञ्च, समायाति प्राप्नोति, स भृत्यः महीभुजाम् अर्हः योग्यः ।। १०१ ।।

सीमेति । यस्मिन् स्थिते तु कर्म कुर्वतीति भावः, वह्नौ आहितं निक्षिप्तं, चर्म इव सीमा अधिकारः, सङ्कोचं ह्रासतामित्यर्थः, आयाति गच्छति, राज्यं

जो (राजसेवा में संलग्न होकर) भूख, नींद, सर्दी, गर्मी से कभी भी व्याकुल नहीं होता है वही राजा का सेवक होने योग्य होता है ।। ९९ ।।

जो भविष्य में होने वाले युद्ध की बातें सुनकर स्वामी की सहायता के लिए अत्यन्त प्रसन्नमुख हो जाता है, वही राजा का सेवक होने योग्य होता है ।। १०० ।।

जिसकी (राजसेवा में) नियुक्ति होने पर राजा की सेवा शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान नित्य बढ़ती जाती है, वही सेवक राजा के योग्य होता है ।। १०१ ।।

जिस सेवक की नियुक्ति से राज्य की सीमा आग में पड़े हुए चमड़े के समान सिकुड़कर छोटी होती जाय, साम्राज्य की अभिलाषा करने वाले राजाओं को

तथा शृगालोऽयमिति मन्यमानेन ममोपरि स्वामिना यद्यवज्ञा क्रियते, तदप्ययुक्तम्। उक्तं च यतः—

कौशेयं कृमिजं सुवर्णमुपलाद् दूर्वापि गोरोमतः
पङ्कात्तामरसं शशाङ्क उदधेरिन्दीवरं गोमयात्।
काष्ठादग्निरहेः फणादपि मणिर्गोपित्ततो रोचना
प्राकाश्यं स्वगुणोदयेन गुणिनो गच्छन्ति किं जन्मना ? ॥१०३॥

समीहता (समीहमानेनेति साधु) राज्यवृद्धिकामिनेत्यर्थः, राज्ञेति शेषः, स भृत्यः त्याज्यः॥ १०२ ॥

कौशेयमिति। कौशेयं पट्टवसनं, कृमिजं कीटविशेषाज्जातमित्यर्थः, (कौशेयं कृमिकोशोत्थम्" इत्यमरः) सुवर्णम् उपलात् पाषाणात् पर्वतखनेरित्यर्थः. दूर्वाऽपि गोरोमतः गवां रोमभ्य इत्यर्थः, प्रसिद्धिरियमिति बोध्यम्; तामरसं कमलं, पङ्कात्, शशाङ्कश्चन्द्रः, उदधेः समुद्रात्, इन्दीवरं नीलोत्पलं, गोमयात्, अग्निः काष्ठात्, मणिरपि अहेः सर्पस्य, फणात्, रोचना गोरोचना, गोपित्ततः गवां पित्तात्, सर्वत्र जायते इति शेषः, तथा हि गुणिनः गुणवद्वस्तूनीत्यर्थः, स्वगुणोदयेन स्वगुणानामुदयेन आविष्कारेणेत्यर्थः, प्राकाश्यं ख्यातिं, गच्छन्ति, जन्मना उत्पत्त्या, किम् ? यदेते केवलं स्वगुणेन, न तु उत्पत्तितः उत्कर्षं लब्धवन्तः, तथा सर्वः एव स्वगुणेन, न तु वंशगुणेन औत्कर्ष्यं लभते इति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तं,—"सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्" इति लक्षणात् ॥ १०३ ॥

ऐसे सेवक का तत्काल परित्याग कर देना चाहिए अर्थात् उसे सेवा से हटा देना चाहिए ॥ १०२ ॥

और यह सियार (नीच कुल का) है—ऐसा सोचकर स्वामी जो मेरी अवहेलना (तिरस्कार) कर रहे हैं, वह अनुचित है। कहा भी गया है कि—

रेशम की उत्पत्ति कीड़ों से, सोने की उत्पत्ति पत्थर से, दूब की उत्पत्ति गोरोम (गाय के रोंए) से, कमल की उत्पत्ति कीचड़ से, चन्द्रमा की उत्पत्ति (चन्द्रमा अमृतधारी होता है और खारे जल से पूर्ण) समुद्र से, नीलकमल की उत्पत्ति गोबर से, अग्नि की उत्पत्ति काठ से, मणि की उत्पत्ति (विष से भरे) सर्प की फणि से और रोचना (गोरोचन) की उत्पत्ति गाय के पित्त से होती है, फिर भी उक्त सभी पदार्थ हीन कुल में जन्म लेने पर भी अपने गुणों के कारण उत्तम बन गए हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि गुणी अपने उत्पत्ति स्थान से नहीं अपितु अपने गुणों से ही ख्याति प्राप्त करते हैं॥ १०३ ॥

मूषिका गृहजातापि हन्तव्या स्वापकारिणी।
भक्ष्यप्रदानैर्मार्जारो हितकृत् प्रार्थ्यते जनैः ॥ १०४ ॥
एरण्डभिण्डार्कनलैः प्रभूतैरपि सञ्चितैः।
दारुकृत्यं यथा नास्ति तथैवाज्ञैः प्रयोजनम् ॥ १०५ ॥
किं भक्तेनासमर्थेन ? किं शक्तेनापकारिणा ?।
भक्तं शक्तं च मां राजन्नावज्ञातुं त्वमर्हसि ॥ १०६ ॥

मूषिकेति। मूषिकाः उन्दुरुः गृहजाताऽपि स्वस्य गृहेण इत्यर्थः, अपकारिणी अनिष्टविधायिनी, अत एव हन्तव्या विनाश्या। हितकृत् मूषिकहननात् श्रेयोविधायकः, मार्जारः विडालः, जनैः गृहिभिः, भक्ष्यप्रदानैः खाद्यद्रव्याणां दानैः, प्रार्थ्यते पाल्यते इत्यर्थः; गृहजाता अपि दुश्चारित्राः परिहर्त्तव्याः, हितैषिणस्तु सर्वथा परिपालनीयाः, नात्रात्मीयपरविचारणा इति भावः ॥ १०४ ॥

एरण्डेति। सञ्चितैः सङ्गृहीतैः, प्रभूतैः बहुभिरपि, एरण्डभिण्डार्कनलैः एरण्डः भिण्डः अर्कः नलः एते असारवृक्षभेदाः तैः, दारुकृत्यं काष्ठकार्य्यं, यथा नास्ति न भवति, तथैव अज्ञैः मूढैः, बहुभिरपि इति भावः, प्रयोजनं, नास्ति इति शेषः ॥ १०५ ॥

किमिति। असमर्थेन अक्षमेण, कार्य्याकुशलिना इत्यर्थः, अथ च भक्तेन अनुरक्तेन, भृत्येनेति शेषः; किम् ? 'शक्तेन कार्य्यक्षमेण, किन्तु अपकारिणा प्रभोरहितानुष्ठानपरेण, भृत्येनेति शेषः, किम् ? नास्त्येताभ्यां प्रयोजनमित्यर्थः; हे राजन् !

अपने ही घर में उत्पन्न होने वाली अपकारिणी (धान्यादि का नाश करने वाली) मूषिका भी मारने योग्य होती है किन्तु (चूहों का नाश करने के कारण) हितकारिणी बिल्ली भोजन आदि देकर घर में पालने पोषने योग्य होती है [अर्थात् स्व तथा पर का विचार छोड़कर हितैषियों का ही पालन करना उचित है] ॥ १०४ ॥

[जिस प्रकार एरण्ड, (रेड़) भिंड, मदार, और नल जैसे निस्तत्व वृक्षों के अत्यधिक संग्रह से भी काठ से होने वाले निर्माणकार्य सिद्ध नहीं होते हैं उसी प्रकार अनेक मूर्ख सेवकों के नियुक्त कर लेने पर भी राजा का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है ॥ १०५ ॥

कार्य साधन की क्षमता न रखने वाले सेवा परायण तथा शक्ति रखने वाले अपकारी सेवक से राजा का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। किन्तु हे राजन् मैं तो राजभक्त और समर्थ दोनों ही हूँ अतः मेरी उपेक्षा करना आप के लिए उचित नहीं है ॥ १०६ ॥

पिङ्गलक आह—'भवत्वेवं तावत्। असमर्थः समर्थो वा चिरंतनस्त्वमस्माकं मन्त्रिपुत्रः। तद्विश्रब्धं ब्रूहि यत्किचिद्वक्तुकामः।' दमनक आह—'देव, विज्ञाप्यं किंचिदस्ति।' पिङ्गलक आह—'तन्निवेदयाभिप्रेतम्।' सोऽब्रवीत्—

'अपि स्वल्पतरं कार्यं यद्भवेत् पृथिवीपतेः।
तन्न वाच्यं सभामध्ये प्रोवाचेदं बृहस्पतिः॥ १०७॥

तदै[1]कान्तिके मद्विज्ञाप्यमाकर्णयन्तु देवपादाः। यतः—

षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रश्चतुष्कर्णः स्थिरो भवेत्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन षट्कर्णं वर्जयेत् सुधीः॥ १०८॥

त्वं भक्तम् अनुरक्तं कार्य्यक्षमञ्च, माम् अवज्ञातुं न अर्हसि॥ १०६॥

अपीति। पृथिवीपतेः यत् कार्य्यं स्वल्पतरमपि अतिसामान्यमपीत्यर्थः, किं पुनर्महत् इति भावः, भवेत्, तत् सभामध्ये न वाच्यम्, इदं बृहस्पतिः प्रोवाच॥ १०७॥

१. ऐकान्तिके—विजने।

षडिति। षट्कर्णः,—षड्भिः कर्णैः श्रूयमाणः इत्यर्थः, तृतीयगामी इति यावत्; मन्त्रः कर्त्तव्यावधारणाय गोपनोक्तिः, ("वेदभेदे गुप्तिवादे मन्त्रः" इत्यमरः) भिद्यते स्वयमेव प्रकाश्यते इत्यर्थः, चतुष्कर्णः चतुर्भिः कर्णैः श्रूयमाणः, द्विनिष्ठ इत्यर्थः; मन्त्रः स्थिरः दृढः, भवेत्, तस्मात् सुधीः बुद्धिमान् नरः, सर्वप्रयत्नेन षट्कर्णं वर्ज्जयेत् त्यजेत्, षट्कर्णगते मन्त्रे कार्य्यसिद्धिर्दुर्लभेति भावः॥ १०८॥

पिंगलक ने कहा—अच्छा, अब इसे रहने दीजिए। चाहे असमर्थ हो या समर्थ हो, किन्तु तुम भूतपूर्व मंत्री के पुत्र हो। अतः तुम जो कुछ भी कहना चाहते हो निःशंक होकर कहो।' दमनक ने कहा—'महाराज कुछ कहना तो है।' पिंगलक ने कहा—'तो अपना अभिप्राय निवेदन करो।' दमनक ने कहा—

बृहस्पति ने ऐसा कहा है कि यदि राजा का अत्यन्त अल्प कार्य भी हो तो उसे सभा के बीच नहीं कहना चाहिए॥ १०७॥

इस लिए श्रीमान् मेरा अभिप्राय एकान्त में सुनने की कृपा करें, क्योंकि—

गुप्तमंत्रणा छः कानों में (तीन मनुष्यों के बीच) पहुँच कर प्रकट हो जाती है अर्थात् उसे सभी जान जाते हैं किन्तु वही चार कानों में (कहने वाले एवं सुनने वाले दो ही व्यक्तियों) में स्थिर रहती है अर्थात् प्रकट नहीं होने पाती है। इसलिए नीतिज्ञ को अपना अभिप्राय छः कानों में नहीं पहुँचने देना चाहिए॥ १०८॥

अथ 'पिङ्गलकाभिप्रायज्ञा व्याघ्रद्वीपिवृकपुरःसराः सर्वेऽपिः तद्वचः समाकर्ण्य संसदि तत्क्षणादेव दूरीभूताः । ततश्च दमनक आह — 'उदक-ग्रहणार्थं प्रवृत्तस्य स्वामिनः किमिह निवृत्त्यावस्थानम् ?' पिङ्गलक आह 'सविलक्षस्मितम् — 'न किंचिदपि ।' सोऽब्रवीत् — 'देव, यद्यनाख्येयं तत्तिष्ठतु । उक्तं च —

दारेषु किञ्चित् स्वजनेषु किञ्चिद् गोप्यं वयस्येषु सुतेषु किञ्चित् ।
युक्तं न वा युक्तमिदं विचिन्त्य वदेद्विपश्चिन्महतोऽनुरोधात्' ॥ १०९ ॥

१. पिङ्गलकस्य — सिंहस्य, अभिप्रायज्ञाः, — भावविदः, राजाभिप्रायं विदित्वेति भावः । व्याघ्रेति । व्याघ्रः — वृहदाकारस्तदाख्यः श्वापदविशेषः, द्वीपी — चित्रकः, वृकः, — क्षुद्रव्याघ्रविशेषः, ते पुरःसराः — अग्रगा येषां तथोक्ताः । संसदि — सभायाम् ।

२. सविलक्षस्मितं — सलज्जं समन्दहास्यञ्च ।

३. अनाख्येयम् — अवाच्यं, गोप्यमिति यावत् । तत् — तदा ।

दारेष्विति । दारेषु स्त्रीषु, किञ्चित् किमपि वस्तु, गोप्यम् अप्रकाश्यमित्यर्थः, "शरीरार्द्धं स्मृता जाया" इति वचनात् आत्मनाऽभिन्नत्वे सत्यपि सर्वं वस्तु दारेषु न प्रकाश्यमिति भावः; स्वजनेषु आत्मीयेषु, किञ्चित् गोप्यं, न हि सर्वं स्वजनेषु प्रकाशनीयमिति भावः; वयस्येषु तुल्यवयस्केषु बन्धुषु, सुतेषु पुत्रेषु च, किञ्चित् गोप्यं वस्तु अस्तीति शेषः, तत् तेषु न वक्तव्यमिति भावः; किन्तु विपश्चित् विद्वान् जनः, इदं युक्तं प्रकाशार्हं, वा न युक्तम् इति विचिन्त्य महतः अनुरोधात् महाकार्य्यापेक्षया, वदेत् प्रकाशयेत्; यदि युक्तं स्यात्, तदा गोप्यमपि वदेत्, अन्यथा

इसके पश्चात् पिंगलक के अभिप्राय को जानने वाले व्याघ्र, चीते भेड़िए आदि के साथ सभी जानवर सभा में उसकी बात सुनकर तत्काल हीं दूर हट गए । तब दमनक ने कहा — 'पानी पीने के लिए गए हुए स्वामी (बिना पानी पिए ही) लौटकर यहाँ आकर क्यों बैठे हैं ? पिंगलक ने लज्जा के साथ मुस्कुराते हुए कहा कि कुछ भी (कारण) नहीं है । उस (दमनक) ने कहा — देव ! यदि वह (कारण) कहने योग्य न हो तो रहने दीजिए । कहा भी गया है —

कुछ बातें स्त्रियों से, कुछ आत्मीय बन्धुओं से, कुछ समवयस्क मित्रों से और कुछ पुत्रों से छिपाने योग्य होती हैं [अर्थात् नीतिज्ञों का कहना है कि सभी बातें सभी से कहने योग्य नहीं होती हैं] । अतः विवेकशील पुरुष को चाहिए कि किसी इष्ट कार्य की पूर्ति के लिए किस बात का कहना उचित या अनुचित है इस पर भलीभाँति विचार करने के बाद ही उसे कहे ॥ १०९ ॥

तच्छ्रुत्वा पिङ्गलकश्चिन्तयामास—'योग्योऽयं दृश्यते। तत्कथयामि एतस्य अग्रे आत्मनोऽभिप्रायम्। उक्तं च—

सुहृदि निरन्तरचित्ते गुणवति भृत्येऽनुवर्तिनि कलत्रे।
स्वामिनि सौहृदयुक्ते निवेद्य दुःखं सुखी भवति ॥ ११० ॥

भो दमनक, शृणोषि शब्दं दूरान्महान्तम्।' सोऽब्रवीत्—'स्वामिन् शृणोमि। ततः किम्?' पिङ्गलक आह—'भद्र अहमस्माद्वनाद् गन्तुमिच्छामि।' दमनक आह—'कस्मात्?' पिङ्गलक आह—'यतोऽद्यास्मद्वने किमप्यपूर्वं [1]सत्त्वं प्रविष्टं, यस्यायं महाशब्दः श्रूयते। तस्य च शब्दानुरूपेण पराक्रमेण भाव्यम्' इति। दमनक आह—'यच्छब्दमात्रादपि भयमुपगतः स्वामी, तदप्ययुक्तम्। उक्तं च—

अम्भसा भिद्यते सेतुस्तथा मन्त्रोऽप्यरक्षितः।
पैशुन्याद्भिद्यते स्नेहो भिद्यते वाग्भिरातुरः ॥ १११ ॥

नेति भावः। उपजाति वृत्तम् ॥ १०९ ॥

सुहृदीति। निरन्तरचित्ते अभिन्नचेतसि, सुहृदि मित्रे; गुणवति भृत्ये, अनुवर्तिनि भर्तृरते कलत्रे भार्यायां, तथा सौहृदयुक्ते अनुरागिणि इत्यर्थः, स्वामिनि दुःखं निवेद्य सुखी भवति, लोक इति शेषः। आर्या वृत्तम् ॥ ११० ॥

१. सत्त्वं—प्राणिविशेषः। शब्देति। यादृशः शब्दः तादृशः पराक्रम इत्यर्थः।

अम्भसेति। सेतुः आलिः, जलप्रतिरोधी मृत्कूटः इत्यर्थः, अम्भसा जलेन, अतिप्रबलेन इति भावः, तथा अरक्षितः गोपनार्थमकृतप्रयत्नः इत्यर्थः, मन्त्रः अपि भिद्यते

यह सुनकर पिंगलक ने विचार किया—'यह तो योग्य व्यक्ति दिखाई दे रहा है। अतः इसके आगे अपना अभिप्राय कह दूँ। कहा भी गया है—

अनन्य हृदय वाले मित्र, गुणी सेवक, आज्ञाकारिणी पत्नी, और प्रेमभाव रखने वाले स्वामी से अपना दुःख कहकर मनुष्य सुखी होता है ॥ ११० ॥

दमनक! तुम कहीं दूर से आने वाली गंभीर ध्वनि सुन रहे हो न।' उसने कहा—,'स्वामी! सुन तो रहा हूँ किन्तु उससे क्या? पिंगलक ने कहा—'भद्र! मैं इस जंगल से चला जाना चाहता हूँ।', दमनक ने कहा—'किस कारण से?' पिंगलक ने कहा—'इस वन में आज कोई महान् शक्तिशाली एवं अपूर्व प्राणी आ गया है। उसी की यह गम्भीर ध्वनि सुनाई दे रही है। इस ध्वनि के अनुसार ही उसका पराक्रम भी होगा।', दमनक ने कहा—यदि ध्वनि मात्र से ही स्वामी इतने भयभीत हो गए हैं तो यह ठीक नहीं है। कहा भी गया है—

जिस प्रकार जल से बाँध में भेद (उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार गुप्त न रखने

तन्न युक्तं स्वामिनः पूर्वोपार्जितं वनं त्यक्तुम्। यतो [1]भेरीवेणुवीणा-मृदङ्गतालपटहशङ्खकाहलादिभेदेन शब्दा अनेकविधा भवन्ति। तन्न केवलाच्छब्दमात्रादपि भेतव्यम्। उक्तं च—

अत्युत्कटे च रौद्रे च शत्रौ प्राप्ते न हीयते।
धैर्यं यस्य महीनाथो न स याति पराभवम्॥ ११२॥
दर्शितभयेऽपि धातरि धैर्यध्वंसो भवेन्न धीराणाम्।
शोषितसरसि निदाघे नितरामेवोद्धतः सिन्धुः॥ ११३॥

स्वयमेव विनश्यति। स्नेहः पैशुन्यात् कर्णेजपत्वसंयोगात्, भिद्यते स्वयमेव नश्यति, स्नेह्येषु स्नेहो न तिष्ठतीत्यर्थः, आतुरः भयार्त्त इत्यर्थः, वाग्भिः कथाभिः, शब्दैरित्यर्थः, भिद्यते भेदं प्राप्नोति, त्वन्तु अनातुरः केशरी, तत्कथं शब्दश्रवणादेव विभेषीति भावः॥ १११॥

१. भेरीति। भेर्य्यादयः—वाद्यविशेषाः, तेषां भेदेन—आकारादिगततारतम्येन, शब्दाः,—ध्वनयः, अनेकविधाः,—बहुप्रकाराः।

अत्युत्कटे इति। अत्युत्कटे अतिदारुणे च, रौद्रे उग्रे च, घोरदर्शने इत्यर्थः, शत्रौ प्राप्ते आगते सति, यस्य धैर्य्यं न हीयते न नश्यते [कर्म्मकर्त्तरि लट्] स महीनाथः राजा, पराभवं न याति न प्राप्नोति इत्यर्थः॥ ११२॥

दर्शितेति। धातरि विधातरि, दैवे इति भावः, दर्शितभयेऽपि भयं दर्शितवत्यपि, प्रतिकूलेऽपीति भावः, धीराणां मनीषिणां, सत्त्वाधिकानामित्यर्थः, धैर्य्यध्वंसो न भवेत्, एतेन अल्पसत्त्वानान्तु ध्वंसो भवेदित्यायातम्; तथा हि, शोषितसरसि जलानि शोषितवति, ("सरो नीरतडागयोः" इति मेदिनी) निदाघे ग्रीष्मे,

---

वाले से मन्त्रणा, चुगली करने वाले से प्रेम और शब्द से आतुर (भयातुर) होने वाले भी भेद को प्राप्त हो जाते हैं। [तात्पर्य यह है कि आप तो मृगेन्द्र होने के कारण आतुर नहीं हैं, फिर क्यों इस प्रकार शब्द मात्र से भयभीत हो रहे हैं]॥ १११॥

इसलिए पूर्वजों द्वारा उपार्जित वन को छोड़ देने का विचार स्वामी के लिए उचित नहीं है। क्योंकि भेरी (नगाड़ा), वेणु, मृदंग, ताल, पटह (ढक्का नाम का वाद्य) शङ्ख, काहल (शहनाई) आदि वाद्यों के भेद से शब्द अनेक प्रकार के होते हैं। अतः केवल शब्द मात्र से डरना उचित नहीं है। कहा भी गया है—

अत्यन्त भयानक क्रूर शत्रु के प्राप्त होने पर भी जिस राजा के धैर्य में कमी नहीं होती है, वह कभी भी पराजित नहीं होता है॥ ११२॥

ब्रह्मा के भी भय दिखाने पर धैर्यवानों का धैर्य नष्ट नहीं होता (बल्कि वह पहले से और भी अधिक बढ़ जाता है)। जैसे तालाबों को सुखा देने वाले ग्रीष्म-ऋतु में समुद्र ऊँची ऊँची लहरों से क्षुब्ध होकर और भी उग्र रूप धारण कर

तथा च— यस्य न विपदि विषादः सम्पदि हर्षो रणे न भीरुत्वम् ।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥११४॥

तथा च— शक्तिवैकल्यनम्रस्य निःसारत्वाल्लघीयसः ।
जन्मिनो मानहीनस्य तृणस्य च समा गतिः ॥११५॥

अपि च— अन्यप्रतापमासाद्य यो दृढत्वं न गच्छति ।
जतुजाभरणस्येव रूपेणापि हि तस्य किम् ? ॥११६॥

[नि+दह्+घञ्] सिन्धुः सागरः, प्रचण्डातपेन शोषणात् स्वल्पजल इति भावः, नितराम् अतिमात्रम्, उद्धतः चञ्चलः, तरङ्गसङ्कुल इत्यर्थः, भवतीति शेषः; यथा ग्रीष्मे स्वल्पजलः एव सागरः अतिमात्रं तरङ्गचञ्चलो भवति, वर्षासु परिपूर्णः सागरस्तु न तथा, एवम् अल्पसत्त्वं एव भयकारणात् चञ्चलो भवति, न तु महासत्त्वः कुतोऽपीति भावः। पूर्वार्द्धे विशेषोक्तिः, समुदये च अर्थान्तरन्यासः। आर्य्या वृत्तम् ॥ ११३ ॥

विपदीति । यस्य जनस्य, विपदि विपत्काले, विषादः दुःखं, न, सम्पदि महति धनागमे च, हर्षः प्रीतिः, न, तथा रणे भीरुत्वं भयशीलता, न, स्यादिति शेषः; जननी माता, भुवनत्रयतिलकं तं तादृशमित्यर्थः, सुतं पुत्रं, विरलम् अल्पं, जनयति प्रसूते; तादृशो जनोऽतिदुर्लभ इति भावः । आर्य्या वृत्तम् ॥ ११४ ॥

शक्तीति । शक्तिवैकल्येन सामर्थ्याभावेन, नम्रस्य विनतस्य अवनतस्य च निःसारत्वात् दुर्बलत्वात् स्थिरांशरहितत्वाच्च, ("सारो बले स्थिरांशे च" इत्यमरः) लघीयसः गौरवहीनस्य नीरसस्य च इत्यर्थः, मानहीनस्य जन्मिनः देहिनः, तृणस्य च, गतिः दशा, समा तुल्या, यथा नम्रत्वादियुतं तृणं लोकैः पदा विदल्यते, तथा तादृशो मानवोऽपि लोकैः पराभूयते, अतः मानः नु त्याज्य इति भावः । अत्र श्लेषानुप्राणितदीपकालङ्कारः । मल्लिनाथमतेन तु श्लेषानुप्राणिता अनेकार्थदीपिका उपमा ॥ ११५ ॥

अन्येति । यो हि अन्यस्य प्रतापं तेजः, आसाद्य, अपरतेजसा आक्रान्त इति

लेता है ॥ ११३ ॥

और भी—जो विपत्ति में खिन्न नहीं होता, सम्पत्ति में प्रसन्न नहीं होता तथा युद्ध में भयभीत नहीं होता—ऐसे तीनों लोक में शिरोमणि किसी विरले पुत्र को ही माता जन्म देती है ॥ ११४ ॥

और भी—शक्तिहीनता के कारण अत्यन्त विनम्र तथा निस्तत्व होने के कारण अत्यन्त क्षुद्र मानहीन व्यक्ति का जीवन तथा तृण की समान गति होती है। [अर्थात् शक्तिहीन और क्षुद्र मनुष्य तृण के समान दूसरों से पददलित किया जाता है] ॥ ११५ ॥

न विश्वासं विना शत्रुर्देवानामपि सिद्धयति ।
विश्वासात् त्रिदशेन्द्रेण दितेर्गर्भो विदारितः' ॥ १२६ ॥

एवं सम्प्रधार्य स्थानान्तरं गत्वा दमनकमार्गमवलोकयन्नेकाकी तस्थौ । दमनकोऽपि सञ्जीवकसंकाशं गत्वा वृषभोऽयमिति परिज्ञाय हृष्टमना व्यचिन्तयत्—'अहो, शोभनमापतितम् । अनेनैतस्य संन्धिविग्रहद्वारेण मम पिङ्गलको वश्यो भविष्यतीति । उक्तं च—

नेति शत्रौ। रिपौ, विश्वासं प्रत्ययं, विना विश्वासमन्तरेणेत्यर्थः, देवानां त्रिदशानामपि, का कथाऽन्येषामिति भावः; कार्य्यमित्यूह्यं न सिध्यति न निष्पद्यते; देवा अपि विश्वास्यैव शत्रून् पराजितवन्त इति भावः; तथा हि,—त्रिदशेन्द्रेण देवेन्द्रेण, विश्वासात् विश्वासमुत्पाद्य, दितिं परिचर्य्येति भावः; दितेः कश्यपपत्न्याः, विमातुरिति यावत्, गर्भः कुक्षिस्थः पुत्रः, स्वविनाशार्थमाहित इति भावः; विदारितः खण्डितः। पुरा दैत्यराजनिधनजातशोका दैत्यमाता इन्द्रजयिनं पुत्रं कामयमाना स्वामिनं कश्यपं परिचचार । कश्यपस्तु तद्भक्त्या नितरां वशंवदस्तां सान्त्वन् तस्यां महावीर्य्यं सुतमुत्पाद्य सावधानतया स्थातव्यमिति तामुक्त्वा तपश्चर्य्यायामगमत् । देवराजस्तु तत् विदित्वा छिद्रान्वेषणपरः तां विमातरं परिचरन्, एकदा दिवा निद्राणां तां वीक्ष्य तदेव छलमाश्रित्य तत्कुक्षौ प्रविष्टस्तं गर्भमेकोनपञ्चाशता खण्डैः विदारयामास । अमोघवीर्य्यत्वात् स गर्भः खण्डितोऽपि एकोनपञ्चाशद् वायुरूपेण प्रसूतः देवराजमेवान्वगच्छदिति पौराणिकी गाथा (भाग०) ॥ १२६ ॥

देवताओं (जैसे सामर्थ्यशाली) के शत्रु भी बिना विश्वास दिलाए वश में नहीं होते हैं । विश्वास ही दिलाकर इन्द्र ने दिति (दैत्यों की माता तथा देवों की विमाता) के गर्भ को खण्ड-खण्ड कर दिया था ।। १२६ ॥

[**अन्तकथा**—एक बार अपने पुत्रों (दैत्यों) के पराजित हो जाने पर दिति ने इन्द्र को जीतने वाले पुत्र की कामना से कश्यप द्वारा बताए गए पयोव्रत का अनुष्ठान किया । इन्द्र ने उसमें दोष दिखाकर उसकी तपस्या को नष्ट कर दिया तथा जिस समय वह सो रही थी, उसके गर्भ में प्रवेश करके भ्रूण को उन्चास टुकड़े में खण्ड खण्ड कर दिया । वे ही टुकड़े उन्चास मरुतों के रूप में उत्पन्न हुए ।]

ऐसा निश्चय करके दूसरे स्थान पर जाकर पिंगलक दमनक के आने की राह देखता हुआ अकेले बैठा रहा । दमनक ने भी संजीवक के पास पहुँच कर 'यह तो बैल है'–ऐसा जानकर प्रसन्न मन से विचार किया–'अरे यह तो बड़ा ही अच्छा हुआ । इसके साथ सन्धि-विग्रह करा देने से पिंगलक मेरे अधीन हो जायगा । कहा भी गया है–

न कौलीन्यान्न सौहार्दान्नृपो वाक्ये प्रवर्तते ।
मन्त्रिणां यावदभ्येति व्यसनं शोकमेव न ॥ १२७ ॥

सदैवापद्गतो राजा भोग्यो भवति मन्त्रिणाम् ।
अत एव हि वाञ्छन्ति मन्त्रिणः सापदं नृपम् ॥ १२८ ॥

यथा नेच्छति नीरोगः कदाचित् सुचिकित्सकम् ।
तथापद्रहितो राजा सचिवं नाभिवाञ्छति ॥ १२९ ॥

एवं विचिन्तयन्पिंगलकाभिमुखः प्रतस्थे । पिङ्गलकोऽपि तमायान्तं प्रेक्ष्य स्वाकारं रक्षन्यथापूर्वमवस्थितः । दमनकोऽपि पिङ्गलकसकाशं गत्वा प्रणम्योपविष्टः । पिङ्गलक आह—'किं दृष्टं भवता तत्सत्त्वम् ?' दमनक आह—'दृष्टं स्वामिप्रसादात् ।' पिङ्गलक आह—'अपि सत्यम् ?' दमनक आह—'किं स्वामिपादानामग्रेऽसत्यं विज्ञाप्यते ? उक्तं च—

नेति । नृपः राजा, यावत् व्यसनं विपदं, तथा शोकम् इष्टनाशदुःखं च, नैव अभ्येति प्राप्नोति, तावत् कौलीन्यात् सत्कुलजातत्वात् न, तथा सौहार्दात् सन्मैत्रादपि न, मन्त्रिणां वाक्ये प्रवर्त्तते प्रवृत्तिमान् भवति, न अधीनो भवति इत्यर्थः ॥ १२७ ॥

सदैवेति । आपद्गतः विपत्प्राप्तः, राजा नृपतिः, सदैव मन्त्रिणां भोग्य उपभोगार्हः, भवति, अधीनतां प्राप्नोतीत्यर्थः, अत एव एतस्मात् कारणादेव, मन्त्रिणः नृपं सापदम् आपद्युक्तमेव, द्रष्टुमिति शेषः, वाञ्छन्ति हि ॥ १२८ ॥

मन्त्रियों की कुलीनता तथा मैत्री भावना मात्र से ही राजा उनकी बातों में तब तक नहीं आता जब तक कि वह किसी विपत्ति और इष्टनाश की चिन्ता में नहीं फँस जाता है ॥ १२७ ॥

विपत्ति में पड़ा हुआ राजा सदैव मन्त्रियों का भोग्य बनता है अर्थात् मन्त्री जो भी चाहता है, राजा से करा लेता है । इस लिए मन्त्री लोग चाहते हैं कि राजा सर्वथा विपत्तियों में फँसा रहे ॥ १२८ ॥

जैसे निरोग (स्वस्थ) व्यक्ति सद्वैद्य की इच्छा नहीं करता अर्थात् आवश्यकता नहीं समझता है वैसे ही आपत्ति रहित राजा भी मन्त्रियों की परवाह नहीं करता ॥ १२९ ॥

इस प्रकार सोचता हुआ दमनक पिंगलक की ओर चल पड़ा । पिंगलक भी उसे आते देखकर अपने मनोभावों को छिपा कर पहले ही की तरह बैठा रहा । दमनक पिंगलक के पास पहुँचकर प्रणाम करके बैठ गया । पिंगलक ने कहा—'क्या आप ने उस प्राणी को देखा ? दमनक ने कहा—'हाँ, स्वामी की कृपा से देख

अपि स्वल्पमसत्यं यः पुरो वदति भूभुजाम् ।
देवानां च विनश्येत् स द्रुतं सुमहानपि ॥ १३० ॥

तथा च— सर्वदेवमयो राजा मनुना सम्प्रकीर्तितः ।
तस्मात्तं देववत्पश्येन्न व्यलीकेन कर्हिचित् ॥ १३१ ॥

सर्वदेवमयस्यापि विशेषो नृपतेरयम् ।
शुभाशुभफलं सद्यो नृपाद् देवाद्भवान्तरे ॥ १३२ ॥

यथेति । नीरोगः रोगरहितो जनः, यथा कदाचित् कस्मिन्नपि काले, सुचिकित्सकं प्रशस्तवैद्यं न इच्छति न आह्वयते इत्यर्थः, तथा आपद्रहितो राजा सचिवं मन्त्रिणं, न अभिवाञ्छति प्रयोजनाभावात् न आद्रियते इत्यर्थः ॥ १२९ ॥

अपीति । यः जनः भूभुजां राज्ञां, देवानाञ्च पुरः अग्रतः, स्वल्प स्तोकमपि; असत्यं मिथ्या, वदति, सः सुमहान् लोकपूज्योऽपि, द्रुतं शीघ्रं, विनश्येत् । [अत्र आत्मनेपदं चिन्त्यम्] ॥ १३० ॥

सर्वेति । राजा सर्वदेवमयः निखिलामरस्वरूपः; इति मनुना सम्प्रकीर्त्तितः कथितः; तस्मात् कारणात्, तं राजानं, देववत् देवमिव, पश्यत्; कर्हिचित् कदाचन्, व्यलीकेन वैपरीत्येन, अन्यथाभावेन इत्यर्थः, मनुष्यबुद्ध्या इति भावः; न पश्येत् ॥ १३१ ॥

सर्वेति । सर्वदेवमयस्य "अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः" इति शास्त्रात् देवस्वरूपस्यापि, नृपतेः अयं वक्ष्यमाणः, विशेषः प्रभेदः, देवादिति शेषः; नृपात् सद्यः तत्क्षणमेव, प्रसादाप्रसादक्षणे एव इत्यर्थः, शुभाशुभफलं, भवतीति शेषः, देवात् भवान्तरे अन्यस्मिन् जन्मनि, शुभाशुभफलमित्यनुषङ्गः; राजा सद्य

लिया ।, पिंगलक ने कहा—सच कह रहे हो ? दमनक ने कहा—तो क्या श्रीमान् के चरणों में असत्य कहूँगा ! कहा भी गया है—

बड़ा से बड़ा होते हुए भी जो व्यक्ति राजा और देवता के सामने थोड़ा भी असत्य बोलता है, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ १३० ॥

और भी—मनु ने कहा है कि राजा सभी देवताओं का सम्मिलित रूप होता है अतः उसे सर्वदा देवता के समान ही देखना चाहिए, उसके प्रति विपरीत भाव नहीं रखना चाहिए ॥ १३१ ॥

सभी देवताओं का सम्मिलित रूप होते हुए भी राजा में यह विशेषता होती है कि शुभ अशुभ (कर्मों का) फल राजा से तत्काल मिल जाता है जब कि देवताओं से दूसरे जन्म में प्राप्त होता है ॥ १३२ ॥

पिङ्गलक आह—'सत्यं दृष्टं भविष्यति भवता। न [1]दीनोपरि महान्तः कुप्यन्तीति न त्वं तेन निपातितः। यतः—

तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो मृदूनि नीचैः प्रणतानि सर्वतः।
स्वभाव एवोन्नतचेतसामयं महान्महत्स्वेव करोति विक्रमम् ॥१३३॥

अपि च—गण्डस्थलेषु मदवारिषु बद्धराग-
मत्तभ्रमद्भ्रमरपादतलाहतोऽपि।
कोपं न गच्छति नितान्तबलोऽपि नाग-
स्तुल्ये बले तु बलवान् परिकोपमेति ॥ १३४ ॥

एव लोकान् दण्डयति अनुगृह्णाति वा; देवता तु परत्र शुभाशुभकर्मणोः फलं विदधातीति राजदेवयोर्विशेष इति भावः ॥ १३२ ॥

१. दीनेति। दीनानां—दुःखिनां, दुर्बलानामित्यर्थः, उपरि महान्तः,—महा-सत्त्वाः, जना इति शेषः। तेन—सत्वेन।

तृणानीति। प्रभञ्जनः महावायुः, तृणानि न उन्मूलयति न उत्पाटयति, यतः मृदूनि कोमलानि वस्तूनि, सर्वतः सर्वथा, नीचैः अतिशयेन नततया इत्यर्थः; प्रणतानि नितरां प्रह्वाणि, भवन्तीति शेषः; अतस्तेषामुत्पाटनं न उचितमिति भावः। उन्नतचेतसां महात्मनाम्, अयमेव स्वभावः, यत् महान् जनः, महत्सु एव जनेषु; विक्रमं करोति; न दुर्बलेष्विति भावः। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ १३३ ॥

गण्डस्थलेष्विति। नितान्तबलोऽपि अतिबलोऽपि, नागः गजः, गण्डस्थलेषु कपोलदेशेषु स्थितेषु, मदवारिषु मदजलेषु, बद्धरागैः जातानुरागैः, मदवारिपानासक्तैरित्यर्थः, अत एव मत्तैः भ्रमद्भिः भ्रमरैः पादतलाहतोऽपि चरणतलताडितोऽपि, कोपं न गच्छति न कुप्यति; तथा हि,—बलवान् जनः, तुल्ये बले तु

पिंगलक ने कहा—सचमुच आप ने उसे देखा होगा। महान् लोग दीनों पर क्रोध नहीं करते। इसीलिए उसने आप का बध नहीं किया होगा। क्योंकि—अत्यन्त कोमल तथा सब प्रकार से नीचे की ओर झुकी हुई (विनम्र) तृण को वायु उखाड़ता नहीं है। ऊँचे विचार वालों का यह स्वाभाव ही होता है। क्योंकि बलवान् बलवान् के ऊपर ही अपना बल दिखाते हैं ॥ १३३ ॥

और भी—मद-जल से पूर्ण कपोलों से प्रेम करने वाले तथा मतवाले होकर मँडराते हुए भौरों के चरणों से प्रताड़ित होने पर भी अत्यन्त बलशाली हाथी उनपर अपना क्रोध नहीं प्रकट करता है। क्योंकि बलवान् अपने समान बलवान् ही पर क्रोध करता है ॥ १३४ ॥

दमनक आह—'अस्त्[1]वेवं स महात्मा; वयं कृपणाः, तथापि स्वामी यदि कथयति ततो भृत्यत्वे नियोजयामि।' पिङ्गलक आह—[2]'सोच्छ्वासम्—किं भवाञ्शक्नोत्येवं कर्तुम्?' दमनक आह—'किमसाध्यं बुद्धेरस्ति? उक्तं च—

न तच्छस्त्रैर्न नागेन्द्रैर्न हयैर्न पदातिभिः।
कार्यं संसिद्धिमभ्येति यथा बुद्ध्या प्रसाधितम्॥ १३५॥

पिङ्गलक आह—'यद्येवं तद्य[3]मात्यपदेऽध्यारोपितस्त्वम्। अद्य प्रभृति [4]प्रसादनिग्रहादिकं त्वयैव कार्यमिति निश्चयः।'

अथ दमनकः सत्वरं गत्वा [5]साक्षेपं तमिदमाह—'एह्येहीतो दुष्टवृषभ!

समानबलवति जने एव, परिकोपम् एति प्राप्नोति। अर्थान्तरन्यासः। वसन्ततिलकावृत्तम्॥ १३४॥

१. एवं—बलवानित्यर्थः। सः,—सत्त्वः। कृपणाः—दीनाः दुर्बला इत्यर्थः।

२. सोच्छ्वासं—सनिश्वासं साश्वासं वा, किञ्चिदाश्वस्तः सन्नित्यर्थः।

नेति। बुद्ध्या प्रसाधितं निष्पादितं, कार्य्यं यथा संसिद्धिम् अभ्येति आगच्छति, तथा तत् कार्य्यं, शस्त्रैः न, नागेन्द्रैः गजेन्द्रैः, न, हयैः अश्वैः, न, पदातिभिः पादचारिभिः सैन्यैः, न संसिद्धिम् अभ्येति इति अनुषङ्गः, चतुरङ्गबलापेक्षयाऽपि बुद्धेरुत्कर्ष इति भावः॥ १३५॥

३. अमात्यपदे—मन्त्रिपदे; त्वम् अध्यारोपितः,—अधिष्ठापितः, मयेति शेषः।

४. प्रसादनिग्रहादिकं—पुरस्कारदण्डादिकम्, अनुजीविना प्रजानाञ्चेति शेषः।

५. साक्षेपं—सतिरस्कारम्।

दमनक ने कहा—ठीक है। वह महात्मा है और हम अत्यन्त दीन हैं किंतु यदि स्वामी कहें तो मैं उसे आपकी सेवा में नियुक्त कर दूँ। पिंगलक ने आश्चर्य के साथ कहा—क्या आप ऐसा कर सकते हैं? दमनक ने कहा—बुद्धि के लिए असाध्य क्या है? कहा भी गया है—

कोई भी कार्य शस्त्रों, हाथियों, घोड़ों और पैदल सैनिकों से उतना नहीं सिद्ध हो सकता। जितना बुद्धि से सिद्ध किया जा सकता है॥ १३५॥

पिंगलक ने कहा—"यदि ऐसी बात है तो मैंने तुम्हें मन्त्रि पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। आज से (प्रजा के ऊपर) अनुग्रह (कृपा) और निग्रह (दण्ड) का कार्य तुम्हें ही करना होगा—यही मेरा निश्चय है।"

इसके पश्चात् दमनक ने शीघ्रता से जाकर डाँटते हुए उस (संजीवक नाम

स्वामी पिङ्गलकस्त्वामा'कारयति । किं निःशङ्को भूत्वा मुहुर्मुहुर्नदसि वृथा' ? इति । तच्छ्रुत्वा सञ्जीवकोऽब्रवीत्—'भद्र, कोऽयं पिङ्गलकः' ? दमनक आह—'कि स्वामिनं पिङ्गलकमपि न जानासि ? तत्क्षणं प्रतिपालय, फलेनैव ज्ञास्यसि । नन्वयं सर्वमृगपरिवृतो वटतले स्वामी पिङ्गलकनामा सिंहस्तिष्ठति ।' तच्छ्रुत्वा 'गतायुषमिवात्मानं मन्यमानः सञ्जीवकः परं विषादमगमत् । आह च—'"भद्र, भवान् साधुसमाचारो वचनपटुश्च दृश्यते । तद्यदि मामवश्यं तत्र नयसि, तदभयप्रदानेन स्वामिनः सकाशात् प्रसादः कारयितव्यः । दमनक आह—भोः, सत्यमभिहितं भवता, नीतिरेषा । यतः—

पर्यन्तो लभ्यन्ते भूमेः समुद्रस्य गिरेरपि ।
न कथञ्चिन्महीपस्य चित्तान्तः केनचित्क्वचित् ॥ १३६ ॥

---

१. आकारयति—आह्वयति, ("हूतिराकारणाह्वानम्" इत्यमरः) ।

२. गतायुषमिव—मृतमिव ।

३. भद्र ! साधो ! साधुसमाचारः—सदाचारसम्पन्नः वचनपटुः,—वाग्मी ।

पर्य्यन्त इति । भूमेः पृथिव्याः, समुद्रस्य, गिरेः पर्वतस्यापि, पर्य्यन्तः शेषसीमा, लभ्यते प्राप्यते, जनैरिति शेषः, किन्तु केनचित् जनेन, क्वचित् कुत्रापि, महीपस्य राज्ञः, चित्तान्तः, मनसो भावविशेष इत्यर्थः, कथञ्चित्, न लभ्यते इति अनुषङ्गः ॥ १३६ ॥

वाले बैल) से कहा—"अरे दुष्टवृषभ, इधर आओ, इधर आओ, तुम्हें स्वामी पिंगलक बुला रहे हैं । क्यों निर्भय होकर व्यर्थ ही बार बार डकारें मार रहे हो ।" यह सुनकर संजीवक ने कहा–'भद्र ! यह पिंगलक कौन है ?' दमनक ने कहा–क्या तुम स्वामी पिंगलक को भी नहीं जानते हो ? स्वामी पिंगलक नाम वाला सिंह सभी मृगों के साथ वट वृक्ष के नीचे बैठा है ।' यह सुन कर संजीवक ने अपने को आयुरहित समझकर (अपनी मृत्यु संनिकट जानकर) अत्यन्त दुःख के साथ कहा—"भद्र ! आप साधु चरित्र वाले तथा बात करने में कुशल दिखाई पड़ रहे हैं । अतः यदि वहाँ मुझे ले चलते हैं तो स्वामी से अभयदान दिलाने की भी कृपा करें ।" दमनक ने कहा–"आप बिलकुल ठीक कह रहे हैं । यही नीति भी है । क्योंकि—

विशाल समुद्र, ऊँचे पहाड़ एवं विस्तृत पृथ्वी का अन्त तो पाया जा सकता है किन्तु राजा के हृदय का अन्त कोई भी कभी नहीं पा सकता है ॥ १३६ ॥

तत्त्वमत्रैव तिष्ठ यावदहं तं [1]समये दृष्ट्वा ततः पश्चात्त्वामानयामि' इति। तथा अनुष्ठिते दमनकः पिङ्गलकसकाशं गत्वेदमाह—'स्वामिन्, न तत्प्राकृतं सत्त्वम्। स हि भगवतो महेश्वरस्य वाहनभूतो वृषभः' इति। मया पृष्ट इदमूचे—'महेश्वरेण परितुष्टेन [2]कालिन्दीपरिसरे शष्पाग्राणि भक्षयितुं [3]समादिष्टः। किं बहुना? मम प्रदत्तं भगवता क्रीडार्थं वनमिदम्' इति। पिङ्गलक आह—'सत्यं ज्ञातं मयाऽधुना। न [4]देवताप्रसादं विना शष्पभोजिनो व्यालाकीर्णे एवंविधे वने निःशङ्को नदन्तो भ्रमन्ति। ततस्त्वया किमभिहितम्?' दमनक आह—स्वामिन्, एतदभिहितं मया यत् एतद्वनं [5]चण्डिकावाहनभूतस्य मत्स्वामिनः पिङ्गलकनाम्नः सिंहस्य [6]विषयीभूतम्, तद्भवानभ्यागतः प्रियोऽतिथिः। तत्तस्य सकाशं गत्वा भ्रातृस्नेहेनैकत्र भक्षणपानविहरणक्रियाभिरेकस्थानाश्रयेण कालो नेयः' इति।

---

१. समये—नयनयोग्यकाले, स्वामिनः प्रसादकाले इत्यर्थः, यद्वा,—समये—शपथे, स्थितमिति शेषः। प्राकृतं—नीचं, सामान्यमित्यर्थः, स्वल्पबलमिति यावत्।

२. कालिन्दीपरिसरे—यमुनातीरप्रान्तदेशे। शष्पाग्राणि—अभिनवतृणाग्राणि।

३. समादिष्टः,—आज्ञप्तः।

४. देवताप्रसादं—देवताऽनुग्रहम्। व्यालाकीर्णे—श्वापदबहुले।

५. चण्डिकेति। चण्डिकायाः,—गौर्याः, वाहनभूतस्य—यानस्वरूपस्य।

६. विषयीभूतम्—अधिकारस्थितम्। नेयः—यापनीयः।

इस लिए तुम तब तक यहीं रहो जब तक मैं अनुकूल समय देखकर अथवा स्वामी के साथ अभयदान का समय (समझौता) करके न आऊँ। इसके बाद तुम्हें वहाँ ले चलूँगा। इतना करने के बाद दमनक ने पिंगलक के पास जाकर कहा—स्वामी वह कोई प्राकृतिक प्राणी नहीं है। वह तो भगवान् शंकर का वाहन-स्वरूप वृषभ है। मेरे पूँछने पर उसने यह कहा कि भगवान् शंकर ने प्रसन्न होकर मुझे यमुना के काँठे में कोमल-कोमल घास चरने के लिए आदेश दिया है अधिक कहने से क्या लाभ? भगवान् शंकर ने मुझे क्रीडा करने के लिए यह वन दे दिया है। पिंगलक ने भयभीत होकर कहा—"अब मुझे सही बात मालूम हो गई। देवता के वरदान के बिना कोई घास खाने वाला प्राणी सापों अथवा हाथियों से भरे ऐसे जंगल में निर्भय होकर गर्जन करते हुए कैसे विचरण कर सकता है? तब तुमने क्या कहा? दमनक ने कहा—स्वामी! मैंने यह कहा कि यह वन तो भगवती चण्डिका के वाहन मेरे स्वामी पिंगलक के अधिकार में है। अतः आप अभ्यागत और प्रिय अतिथि हैं।

तत[1]स्तेनापि सर्वमेतत्प्रतिपन्नम्। उक्तं च सहर्षम्—'स्वामिनः सकाशादभयदक्षिणा दापयितव्या' इति, तदत्र स्वामी प्रमाणम्।' तच्छ्रुत्वा पिङ्गलक आह—'साधु सुमते, साधु। [2]मन्त्रिश्रोत्रिय! साधु। मम हृदयेन सह सम्मन्त्र्य भवतेदमभिहितम्। तद्दत्ता मया तस्याभयदक्षिणा। परं सोऽपि मदर्थेऽभयदक्षिणां याचयित्वा द्रुततरमानीयताम्' इति। [3]अथ साधु चेदमुच्यते—

अन्तःसारैरकुटिलैरच्छिद्रैः सुपरीक्षितैः।
मन्त्रिभिर्धार्यते राज्यं सुस्तम्भैरिव मन्दिरम्॥ १३७॥

तथा च—मन्त्रिणां भिन्नसन्धाने भिषजां सन्निपातिके।

---

१ तेन—वृषभेण। प्रतिपन्नं—स्वीकृतम्। अभयदक्षिणा—अभयदानमित्यर्थः।

२. मन्त्रिश्रोत्रिय!—मन्त्रिपण्डित! [छन्दोऽधीते इति छः, ततः कर्म्मधारयः]।

३. अथेति। अथ—पक्षान्तरे, इदं—वक्ष्यमाणं वचनं, साधु—सम्यक् यथा तथा, उच्यते—कथ्यते, लोकैरिति शेषः।

अन्तरिति। अन्तःसारैः सारवद्भिः, अकुटिलैः अधूर्त्तैः, अच्छिद्रैः निर्दोषैः, सुपरीक्षितैः साधुरसाधुर्वेति कृतपरीक्षणैः, सम्यक् विदितैरित्यर्थः, मन्त्रिभिः सुस्तम्भैः दृढस्थूणाभिः, मन्दिरमिव गृहमिव, राज्यं धार्य्यते पाल्यते। उपमालङ्कारः॥ १३७॥

मन्त्रिणामिति। भिन्नसन्धाने भिन्नस्य पृथग्भूतस्य, सन्धानं मिलनं यत्र तादृशे,

---

इसलिए उनके पास चलकर भातृभाव से एक साथ भोजन, पान, विहार आदि करते हुए एक ही स्थान पर निवास कीजिए।' उसने मेरी बातें मान लीं और प्रसन्नता से कहा कि—'स्वामी के द्वारा मुझे अभय दान दिला दो। अब स्वामी जैसा चाहें वैसा करें।" यह सुनकर पिंगलक ने कहा—हे सुमते (सुन्दर बुद्धि वाले) धन्य हो! हे मन्त्रियों में श्रेष्ठ धन्य हो। (ऐसा प्रतीत होता है) आप ने जैसे मेरे हृदय की सम्मति लेकर ही ऐसा कहा हो। इसलिए उसे मैंने अभय दान दे दिया। किन्तु उससे भी मेरे लिए अभय दान लेकर शीघ्र ही उसे यहाँ ले आओ।' यह फिर बिल्कुल ही उचित कहा गया है कि—

भीतर से पुष्ट, सीधे, छेद रहित, और भली भाँति जाँचे परखे गए खम्भों के सहारे जिस प्रकार घर टिका रहता है उसी प्रकार आन्तरिक मंत्रणा से दृढ, निष्कपट, निर्दोष और सुपरीक्षित मन्त्रियों के बल पर ही राज्य भी टिका होता है॥ १३७॥

और भी—शत्रु से संधि कराने के समय मन्त्रियों तथा सन्निपात (त्रिदोष

कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा स्वस्थे को वा न पण्डितः' ? ॥ १३८ ॥

दमनकोऽपि तं प्रणम्य सञ्जीवकसकाशं प्रस्थितः, सहर्षमचिन्तयत्—अहो ! प्रसादसम्मुखो [1]नः स्वामी वचनवशगश्च संवृत्तः । तन्नास्ति धन्यतरो मम । उक्तं च—

अमृतं शिशिरे वह्निरमृतं प्रियदर्शनम् ।
अमृतं राजसम्मानममृतं क्षीरभोजनम् ॥ १३९ ॥

अथ सञ्जीवकसकाशमासाद्य [2]सप्रश्रयमुवाच—'भो मित्र, प्रार्थितोऽसौ मया भवदर्थे स्वाम्यभयप्रदानम् । तद्वि[3]श्रब्धं गम्यतामिति । परं त्वया राजप्रसादमासाद्य मया सह [4]समयधर्मेण वर्तितव्यम् । न गर्वमासाद्य स्वप्रभुतया

कर्म्मणि, कलहेन वियुक्तानां योजने इत्यर्थः, मन्त्रिणाम्, सान्निपातिके त्रिदोषजे विकारे; कर्म्मणि चिकित्साव्यापारे, भिषजां वैद्यानां, प्रज्ञा बुद्धिः; व्यज्यते प्रकाशते इत्यर्थः, स्वस्थे जने, को वा जनः, न पण्डितः ? अपि तु सर्व एवेत्यर्थः ॥ १३८ ॥

१. नः—अस्मान् प्रति । मम—मत्त इत्यर्थः, [सम्बन्धविवक्षया षष्ठी] ।

अमृतमिति । शिशिरे शीतकाले, वह्निः अग्निः, अमृतं सुधावत् सुखप्रदः, प्रियदर्शनं प्रियवस्तुनः साक्षात्कारलाभः, अमृतम्; राजसम्मानं नृपादरः, अमृतम्, क्षीरभोजनं दुग्धपानम्, अमृतम् । अत्र अमृतशब्देन सुखसाधनं वस्तु उच्यते इति बोध्यम् ॥ १३९ ॥

२. सप्रश्रयं—सप्रणयम् । असौ—सिंह ।

३. विश्रब्धः—निःशङ्कम् । परं—किन्तु । राजप्रसादं—राजानुग्रहम् ।

४. समयधर्म्मेण—भवतां विरुद्धं कदाऽपि नाचरिष्यामीत्येवंरूपनियमक्रमेण ।

अर्थात् वात, पित्त, कफ के एक साथ कुपित हो जाने वाले) रोग में वैद्यों की बुद्धि प्रकट हो जाती है । यों तो स्वस्थ दशा में (राजा के पक्ष में शत्रु रहित, रोगी के पक्ष में नीरोग) कौन चतुर नहीं होता है ? ॥ १३८ ॥

दमनक भी उसे प्रणाम करके संजीवक के पास चल दिया । उसने प्रसन्न होकर सोचा कि स्वामी मेरे ऊपर प्रसन्न हैं और मेरी बातों के वश में हो गए हैं । इसलिए मुझसे बढ़कर धन्य दूसरा कोई नहीं है । कहा भी गया है—

शीतकाल में अग्नि, प्रियजनों का दर्शन, राजसम्मान, और दूध का भोजन—ये चारो ही अमृत हैं ॥ १३९ ॥

इसके बाद संजीवक के पास जाकर उसने स्नेह के साथ कहा—'हे मित्र ! मैंने स्वामी से आप के लिए अभयदान माँग लिया है। अतः आप विश्वस्त होकर चलिए । परन्तु राजकृपा प्राप्त करके आप को भी मेरे साथ समय धर्म का पालन करना

विचरणीयम् । अहमपि तव संकेतेन सर्वां राज्यधुरममात्यपदवीमाश्रित्योद्धरिष्यामि । एवं कृते द्वयोरप्यावयो राज्यलक्ष्मीर्भोग्या भविष्यति । यतः—

आखेटकस्य धर्मेण विभवाः स्युर्वशे नृणाम् ।
नृप्रजाः प्रेरयत्येको हन्त्यन्योऽत्र मृगानिव ॥ १४० ॥

तथा च—यो न पूजयते गर्वादुत्तमाधममध्यमान् ।
भूपसंमानमान्योऽपि भ्रश्यते दन्तिलो यथा' ॥ १४१ ॥

संजीवक आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

आखेटकस्येति । आखेटकस्य मृगयायाः, धर्म्मेण न्यायेन, आचारेण वा, ("धर्म्माः पुण्यमन्यायस्वभावाचारसोमपाः" इत्यमरः) विभवाः सम्पदः, नृणां नराणां, वशे स्युः; तथा च, अत्र संसारे, एकः मृगानिव नृपजाः नररूपाः प्रजाः, प्रेरयति प्रेषयति, अन्यः हन्ति नाशयति । यथा कश्चित् मृगयुर्वनं प्रविश्य आलोड्य च सर्वान् मृगांस्ताडयित्वा एकत्रानयति, अन्यश्च मृगयुः सुखेन तान् हन्ति, एवं त्वमपि पिङ्गलकेन सह सम्मन्त्र्य सर्वमेव राजकार्य्यं मदायत्तं कुरु, अहमपि तेन च सर्वाः प्रजाः शोषयित्वा विपुलमर्थमर्ज्जयिष्यामि, ततस्तेनैवार्थेनोभौ सुखं कालं नेष्याव इत्यभिसन्धिः ॥ १४० ॥

य इति । यः जनः; गर्वात् दर्पात्, उत्तमाधममध्यमान् त्रिविधान् जनान् न पूजयते यथोचितं न सत्करोति, स भूपसम्मानमान्योऽपि राजसम्मानितोऽपि, दन्तिलो यथा दन्तिल इव, भ्रश्यते स्वयमेव स्खलितो भूयते, स्वाधिकारादिति शेषः ॥ १४१ ॥

होगा। अभिमान में आकर अपनी प्रभुता से स्वेच्छाचारी न बन जाना। मैं भी तुम्हारे संकेतों के अनुसार समस्त राज्य की धुरी के रूप में स्थित मन्त्रित्व पद ग्रहण करके उसका निर्वाह करूँगा। ऐसा करने पर राज्यलक्ष्मी हम दोनों की भोग्या बन जायगी। क्योंकि—

आखेटक धर्म (शिकार करने की प्रणाली) के द्वारा समस्त ऐश्वर्य मनुष्य के अधीन हो जाते हैं, क्योंकि इस संसार में एक तो प्रजा को प्रेरित करता है और दूसरा पशुओं की तरह उसका बध करके अपनी स्वार्थ-सिद्धि करता है ॥ १४० ॥

और भी-जो (अपने पद के) अभिमान के वशीभूत होकर उत्तम, मध्यम, और अधम-सभी प्रकार के लोगों का सम्मान नहीं करता है वह राजा से सम्मानित होने पर भी दन्तिल के समान अपने पद से भ्रष्ट हो जाता है ॥ १४१ ॥

संजीवक ने कहा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

२ : नृपति-दन्तिल-गोरम्भककथा

अस्त्यत्र धरातले वर्धमानं नाम नगरम्। तत्र दन्तिलो नाम [1]नाना-भाण्डपतिः सकलपुरनायकः प्रतिवसति स्म। तेन पुरकार्यं नृपकार्यं च कुर्वता तुष्टिं नीतास्तत्पुरवासिनो लोका नृपतिश्च। किं बहुना ? न कोऽपि तादृक्केनापि चतुरो दृष्टो नापि श्रुतो वेति। अथवा साधु चेदमुच्यते—

नरपतिहितकर्त्ता द्वेष्यतां याति लोके
जनपदहितकर्ता त्यज्यते पार्थिवेन्द्रैः।
इति महति विरोधे वर्तमाने समाने
नृपतिजनपदानां दुर्लभः कार्यकर्ता॥ १४२॥

---

१. नानाभाण्डपतिः,—बहुविधधनपतिः, कोषरक्षक इत्यर्थः।

नरेति। लोके जगति, नरपतेः राज्ञः, हितकर्त्ता, नरः इति शेषः, द्वेष्यताम् अप्रियतां, प्रजानामिति शेषः, याति प्राप्नोति; तथा जनपदानां तत्तद्देशवासिनां प्रजानामित्यर्थः, हितकर्त्ता जनः, पार्थिवेन्द्रैः नरपतिभिः, त्यज्यते अधिकारात् दूरीक्रियते इत्यर्थः, राजहितचिन्तकैः प्रजाऽनिष्टकरणस्य अवश्यानुष्ठेयत्वात् तथा प्रजाहितचिन्तकैः राजाप्रीतिसम्पादनस्य च अवश्यविधेयत्वात् इति भावः, इति इत्थं, महति प्रबले; समाने तुल्यरूपे, विरोधे वैपरीत्ये, वर्त्तमाने विद्यमाने सति, नृपति-जनपदानां राजप्रजानामित्यर्थः, कार्य्यकर्त्ता उभयहितकर इत्यर्थः, दुर्लभः दुष्प्राप इत्यर्थः॥ १४२॥

नृपति-दन्तिल-गोरम्भक की कथा

इस पृथ्वी पर वर्धमान नाम का एक नगर है। वहाँ राजा का कोषाध्यक्ष तथा समस्त नगर का नायक दन्तिल नाम का एक व्यक्ति रहता था। उसने पुरकार्य और राजकार्य करते हुए नगरनिवासियों और राजा को सन्तुष्ट कर दिया था। अधिक कहना व्यर्थ है। उसके समान चतुर व्यक्ति न किसी ने देखा था न सुना था। अथवा यह ठीक कहा गया है—

राजा का हित करने वाला राजकर्मचारी प्रजा द्वारा शत्रु समझा जाता है और प्रजा का हित करने वाला राजा द्वारा पदच्युत कर दिया जाता है। इस प्रकार के परस्पर अत्यन्त विरोधी परिस्थितियों के रहते हुए भी राजा-प्रजा दोनों का समानरूप से हितसाधन करने वाला राजकर्मचारी बहुत दुर्लभ होता है॥ १४२॥

अथैवं गच्छति काले दन्तिलस्य कदाचिद्विवाहः संप्रवृत्तः। तत्र तेन सर्व पुरनिवासिनो [1]राजसंनिधिलोकाश्च सम्मानपुरःसरमामन्त्र्य भोजिता वस्त्रादिभिः सत्कृताश्च। ततो विवाहानन्तर राजा [2]सान्तःपुरः स्वगृहमानी-याभ्यर्चितः। अथ तस्य नृपतेर्गृहसम्मार्जनकर्त्ता गोरम्भो नाम राजसेवको गृहायातोऽपि [3]तेनानुचितस्थान उपविष्टोऽवज्ञयाऽर्धचन्द्रं दत्वा निःसारितः। सोऽपि ततः प्रभृति निश्वसन्नपमानान्न रात्रावप्यधिशेते। 'कथ मया तस्य भाण्डपतेः राजप्रसादहानिः कर्त्तव्या इति चिन्तयन्नास्ते। अथवा किमनेन वृथा शरीरशोषणेन? न कञ्चिन्मया तस्यापकर्त्तुं शक्यमिति। अथवा साध्विदमुच्यते—

> यो ह्यपकर्तुमशक्तः कुप्यति किमसौ नरोऽत्र निर्लज्जः?।
> उत्पतितोऽपि हि चणकः शक्तः किं भ्राष्ट्रकं भङ्क्तुम्'? ॥१४३॥

---

१. राजसन्निधिलोकाः,—नृपतिपार्श्वचराः, अमात्यादयः इत्यर्थः।

२. सान्तःपुरः,—अन्तःपुरैः,—अन्तःपुरिकाभिः नारीभिरित्यर्थः, सहितः।

३. तेन—दन्तिलेन। अनुचितस्थाने—भद्रजनोपवेशनार्हे आसने इत्यर्थः। अर्द्धचन्द्रं—गलहस्तं, ("तर्जन्यङ्गुष्ठविस्तारे गलहस्तार्द्धचन्द्रकौ" इति कोषः)।

य इति। अत्र जगति, यो हि जनः, अपकर्त्तुम् अनिष्टमाचरितुम्, अशक्तः अक्षमः सन्, अपीति शेषः, कुप्यति क्रुध्यति, असौ निर्लज्जः किं नरः? मनुष्यपद-

---

इसके पश्चात् कुछ समय बीतने पर दन्तिल का विवाह होना निश्चित हुआ। तब उसने समस्त पुरवासियों और राजसम्पर्क में रहने वाले मन्त्रियों आदि को आदर के साथ आमन्त्रित करके भोजन वस्त्र से सम्मानित किया। विवाह होने के बाद उसने अन्तःपुर (रनिवास) के लोगों के साथ राजा को अपने घर लाकर उनकी अभ्यर्चना की। किन्तु घर पर आए हुए राजगृह में झाड़ू लगाने वाले गोरम्भ नाम के एक सेवक को अनुचित स्थान पर बैठने के कारण गले में हाथ लगाकर निकलवा दिया। उसी समय से वह अपमान के कारण आहें भरता हुआ रात में भी नहीं सो पाता था। इस कोषाध्यक्ष को 'मैं राजकृपा से कैसे बंचित कराऊँ' अर्थात् इसे राज सेवा से कैसे निकलवा दूँ? यही सोचा करता था। अथवा व्यर्थ ही इस शरीर को सुखाने से क्या लाभ? मैं उसका कुछ भी अहित नहीं कर सकता। यह बिल्कुल ठीक कहा गया है—

जो मनुष्य दूसरे का अहित करने की शक्ति न रखते हुए भी उस पर क्रोध करता है वह निर्लज्ज मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं होता। भला एक चना उछलकर भाड़ को फोड़ने में समर्थ हो सकता है? ॥ १४३ ॥

अनर्थित्वान्मनुष्याणां भयात्परिजनस्य च।
मर्यादायाममर्यादाः स्त्रियस्तिष्ठन्ति सर्वदा ॥ १५३ ॥
नासां कश्चिदगम्योऽस्ति नासां च वयसि स्थितिः।
विरूपं रूपवन्तं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥ १५४ ॥
रक्तो हि जायते भोग्यो नारीणां शाटिका यथा।
घृष्यते यो दशालम्बी नितम्बे विनिवेशितः ॥ १५५ ॥

अनर्थित्वादिति। मनुष्याणां नराणां, सर्वदा अनर्थित्वात् याचकत्वाभावात्, परिजनस्य परिवारवर्गस्य, भयाच्च अमर्य्यादाः मर्य्यादाबोधरहिताः, विपथं गन्तुमुत्सुका इत्यर्थः, स्त्रियः मर्य्यादायां न्यायमार्गे, पातिव्रत्ये इति भावः, तिष्ठन्ति ॥ १५३ ॥

नासामिति। आसां नारीणाम्, अगम्यः अप्रार्थनीयः, कश्चित् कोऽपि पुरुषः; नास्ति। आसां नारीणां, वयसि यौवने, स्थितिश्च आस्था च, नास्ति, तरुणातरुण-विचारो नास्तीति भावः, पुमान् पुंस्त्ववान् अयम्, हेतोरेव, विरूपं कुरूपं, रूपवन्तं सुरूपं वा, सर्वमेव पुरुषमिति शेषः, भुञ्जते भजन्ति, इमा इति शेषः ॥ १५४ ॥

रक्त इति। रक्तः अनुरक्तः पुरुषः, अन्यत्र,—वर्णचित्रितः, शाटको यथा वसन-मिव, नारीणां भोग्यः जायते भवति, हि इति अवधारणे। यः रक्तः, दशालम्बी दशया उत्कृष्टावस्थया, अन्यत्र,—वस्त्रप्रान्तभागेन, आलम्बते वर्द्धते, अन्यत्र,—लम्बमानो भवतीति तथोक्तः, स नितम्बे विनिवेशितः अध्यारोपितः सन्, घृष्यते घर्षणमापद्यते इत्यर्थः। उपमाऽलङ्कारः ॥ १५५ ॥

चाहने वाले पुरुषों के अभाव में तथा पारिवारिक लोगों के भय से ही स्वभावतः कुमार्गगामिनी स्त्रियाँ भी मर्यादा (सतीत्व) का उल्लंघन नहीं करतीं। [अर्थात् स्त्रियाँ विवश होकर ही मर्यादा का पालन करती हैं] ॥ १५३ ॥

स्त्री के लिए कोई भी पुरुष (सुरूप, कुरूप, पतित, अपतित या जैसा भी हो) अभोग्य नहीं होता है [अर्थात् वह सभी प्रकार के पुरुषों का भोग करती हैं]। अवस्था के विषय में भी उनका विश्वास नहीं होता अर्थात् जवान, बूढ़े का भी विचार नहीं करती हैं। चाहे कुरूप हो या सुरूप, यदि वह भोग करने में समर्थ है तो वह उसका ही भोग करेंगी। ॥ १५४ ॥

अनुरागी (स्त्री में आसक्त) पुरुष लाल साड़ी के समान स्त्रियों का भोग्य होता है। जैसे साड़ी अंचल के रूप में लटकती हुई तथा कटिप्रदेश में लिपट कर स्त्रियों के नितम्ब से रगड़ी जाती है उसी प्रकार कामावस्था में पुरुष भी स्त्रियों के नितम्ब से रगड़ा जाता है ॥ १५५ ॥

अलक्तको यथा रक्तो निष्पीड्य पुरुषस्तथा ।
अबलाभिर्बलाद्रक्तः पादमूले निपात्यते ॥ १५६ ॥

'एवं स राजा बहुविधं विलप्य तत्प्रभृति दन्तिलस्य प्रसादपराङ्मुखः संजातः। किं बहुना? राजद्वारप्रवेशोऽपि तस्य निवारितः। दन्तिलोऽप्यकस्मादेव प्रसादपराङ्मुखमवनिपतिमवलोक्य चिन्तयामास—'अहो, साधु चेदमुच्यते—

कोऽर्थान्प्राप्य न गर्वितः विषयिणः कस्यापदोऽस्तं गताः ?
स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुवि मनः ? को नाम राज्ञां प्रियः ? ।
कः कालस्य न गोचरान्तरगतः ? कोऽर्थी गतो गौरवं ?
को वा दुर्जनवागुरासु पतितः क्षेमेण यातः पुमान् ? ॥ १५७ ॥

अलक्तक इति। अबलाभिः नारीभिः, रक्तः रक्तवर्णः, अलक्तको यथा, बलात् निष्पीड्य पादमूले निपात्यते, तथा रक्तः अनुरक्तः, पुरुषः अपि निष्पीड्य आलिङ्ग्य, पादमूले चरणतले, निपात्यते निधाप्यते; यथा रक्तम् अलक्तकं नार्यः पादमूलमारोपयन्ति, तथा अनुरागिणं कान्तं प्रणयापराधेन चरणानतं कुर्वन्तीति भावः ॥ १५६ ॥

१. एवमिति। बहुविधम्–विविध प्रकारेण, विलप्य–प्रलापं कृत्वा, तत्प्रभृति—तद्दिनादारभ्य, प्रसादपराङ्मुखः—कृपाविरहितः, सञ्जातः। राजद्वारप्रवेशः–राजगृहप्रवेशः, तस्य–दन्तिलस्य, निवारितः–निषिद्धः।

क इति। को जनः, अर्थान् प्राप्य न गर्वितः न अहङ्कृतः ? भवेदिति शेषः; कस्य विषयिणः धनिनः, आपदः अस्तं गताः ? के विषयिणः निरापदः सन्तीति भावः; भुवि पृथिव्यां, स्त्रीभिः, नारीभिः, कस्य जनस्य, मनः न खण्डितम् ? न विदा

जिस प्रकार महावर को दबाकर तथा निचोड़ कर स्त्रियाँ अपने पैरों में लगाती हैं, उसी प्रकार अपने से अनुरक्त पुरुष को भी आलिंगित करके अपने पैरों पर गिरा देती हैं ॥ १५६ ॥

इस प्रकार विलाप करके वह राजा उसी दिन से दन्तिल के प्रति अप्रसन्न हो गया। यहाँ तक कि उसने उसका राजद्वार में आना भी रोक दिया। दन्तिल ने भी राजा का इस प्रकार अचानक अप्रसन्न होना देख कर विचार किया। किसी ने यह बिल्कुल सच कहा है—

धन पाकर कौन अभिमानी नहीं हुआ ? किस विषयी पुरुष की विपत्तियाँ नष्ट हुई ? संसार में किसका मन स्त्रियों द्वारा खंडित (कामपीड़ित) नहीं किया गया ? राजाओं का प्रिय कौन हुआ ? कौन काल की पहुँच के भीतर नहीं हुआ

तथा च—काके शौचं द्यूतकारे च सत्यं
सर्पे क्षान्तिः स्त्रीषु कामोपशान्तिः।
क्लीबे धैर्यं मद्यपे तत्त्वचिन्ता
राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा ? ॥ १५८ ॥

'अपरं मयास्य भूपतेरथवान्यस्यापि कस्यचिद्राजसंबन्धिनः स्वप्नेपि नानिष्टं कृतम्। तत्किमेवं पराङ्मुखो मां प्रति भूपतिः' ? इति। एवं तं दन्तिलं कदाचिद्राजद्वारे [2]विष्कम्भितं विलोक्य संमार्जनकर्ता गोरम्भो

रितम् ? न व्यथापीडितं कृतमिति भावः। अपि तु सर्वस्यैवेत्यर्थः; को जनः, राज्ञां प्रियः ? नाम सम्भावनायां, कोऽपि राज्ञां प्रियो नेति सम्भावयामीत्यर्थः। को जनः कालस्य यमस्य, न गोचरान्तरगतः ? न कवलमध्यपतितः ? अपि तु सर्व एव कालायत्ता भवन्ति इति भावः। कः अर्थी याचकः, गौरवं सम्मानं, गतः ? प्राप्तः ? न कोऽपीत्यर्थः, याच्ञायां गौरवं नास्तीति भावः, को वा पुमान्, दुर्जनानां धूर्त्तानां, वागुरासु कापटचरूपजालेषु, ('वागुरा मृगबन्धनी' इत्यमरः) पतितः संरुद्धः सन्, क्षेमेण कुशलेन, निर्विघ्नमिति भावः; यातः ? निष्कृतिमिति शेषः, न कोपीत्यर्थः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १५७ ॥

काके इति। केन जनेन, काके शौचं विशुद्धिता, द्यूतकारे च सत्यं, सर्पे क्षान्तिः क्षमा, अपराधसहिष्णुतेत्यर्थः, स्त्रीषु कामोपशान्तिः कामदमनं, कामतृप्तिः वा, क्लीबे कातरे धैर्य्यम् अचापल्यं, मद्यपे सुरापायिनि जने, तत्त्वचिन्ता परमार्थानुध्यानं, तथा राजा मित्रं, कस्यापीति शेषः, दृष्टं वा श्रुतम् ? न केनापीत्यर्थः; एतत् सर्वमसम्भव मिति भावः। शालिनी वृत्तम् ॥ १५८ ॥

१. अपरमिति। राजसम्बन्धिनः-राज्ञः प्रियजनस्य, अनिष्टः-अपकारः, क्षतिः; न कृतम्—नानुष्ठितम्। किम्- कथम्, एवम्, पराङ्मुखः-विपरीतः; प्रतिकूलः।

२. विष्कम्भितं— प्राप्तप्रतिबन्धं, पुरप्रवेशे द्वारपालैर्निवारितमित्यर्थः; ("विष्कम्भो योगभेदे स्यात् विस्तारप्रतिबन्धयोः" इति मेदिनी)।

किस याचक ने गौरव प्राप्त किया ? और दुष्टों के जाल में पड़े हुए किस व्यक्ति का कल्याण हुआ ? ॥ १५७ ॥

और भी--कौवे में पवित्रता, जुआ खेलने वालों में सच्चाई, सर्प में सहनशीलता, स्त्री में कामभावना की शान्ति, नपुंसक में धैर्य, शराबी में उचित अनुचित का विचार, और राजा का मित्र क्या किसी ने कभी देखा या सुना है ? ॥ १५८ ॥

इसके अतिरिक्त मैंने इस राजा का या अन्य किसी दूसरे राजसम्बन्धी का स्वप्न में भी अनिष्ट नहीं किया है। फिर यह राजा मुझसे क्यों इस प्रकार अप्रसन्न हो गया?

विहस्य द्वारपालानिदमूचे—भो भो द्वारपालाः ! राजप्रसादाधिष्ठितोऽयं दन्तिलः स्वयं निग्रहानुग्रहकर्ता च। तदनेन [1]निवारितेन यथाहं तथा यूयमप्यर्धचन्द्रभागिनो भविष्यथ। तच्छ्रुत्वा दन्तिलश्चिन्तयामास—'नूनमिदमस्य गोरम्भस्य चेष्टितम्[2]। 'अथवा साध्विदमुच्यते—

अकुलीनोऽपि मूर्खोऽपि भूपालं योऽत्र सेवते।
अपि सम्मानहीनोऽपि स सर्वत्र प्रपूज्यते॥ १५९॥
अपि कापुरुषो भीरुः स्याच्चेन्नृपतिसेवकः।
तथापि न पराभूतिं जनादाप्नोति मानवः॥ १६०॥

[3]एवं स बहुविधं विलप्य विलक्षमनाः सोद्वेगो गतप्रभावः स्वगृहं

१. निवारितेन—प्रतिरुद्धेन, राजभवनप्रवेशात् युष्माभिरिति शेषः। यथा अहमिति। अहं यथा पूर्वमनेन स्वगृहात् अर्द्धचन्द्रं दत्त्वा निःसारितः, तथा यूयमपि अनेन कदाचित् अर्द्धचन्द्रं दत्त्वा निःसारणीया इति भावः।

२. चेष्टितं—कार्य्यम्। कपटकृत्यमित्यर्थः।

अकुलीन इति। अत्र संसारे, यः भूपालं राजानं, सेवते, अपि सम्भावनायां, सः अकुलीनः असत्कुलप्रसूतोऽपि, मूर्खोऽपि सम्मानहीनोऽपि, सर्वत्र प्रपूज्यते; राजाश्रितत्वादिति भावः॥ १५९॥

अपीति। नृपतिसेवकः मानवः चेत् यदि, कापुरुषः नीचः, तथा भीरुः कातरस्वभावोऽपि, स्यात्, तथापि जनात् पराभूतिं पराभवं, नाप्नोति॥ १६०॥

३. एवमिति। सः—दन्तिलः। विलप्य—वितर्क्येत्यर्थः, विलक्षमनाः—लज्जितचित्तः;

इस तरह उस दन्तिल को एक बार द्वारपाल ने द्वारपर रोक दिया। यह देखकर झाड़ू देने वाले गोरम्भ ने हँसकर द्वारपालों से कहा—अरे द्वारपालों ! राजा की कृपा से अधिकार प्राप्त यह दन्तिल स्वयं निग्रह (दण्ड) और अनुग्रह (कृपा) करने में स्वतन्त्र है। इसलिए इसको रोकने के कारण मेरे ही समान तुम लोग भी गरदन में हाथ लगाकर निकाल दिए जाओगे। यह सुनकर दन्तिल ने विचार किया कि यह निश्चय ही इस गोरम्भ की करतूत है। यह सच ही कहा गया है—

चाहे कोई अकुलीन (निम्नवंश का) हो, चाहे मूर्ख हो, किन्तु यदि वह राजा का सेवक हो, तो सम्मान रहित होने पर भी सर्वत्र आदर का पात्र बनता है॥ १५९॥

कायर और भीरु (डरपोक) स्वभाव का होते हुए भी यदि कोई व्यक्ति राजसेवक है तो वह किसी भी मनुष्य से पराजित नहीं होता है॥ १६०॥

इस प्रकार तरह तरह के तर्क वितर्क करके वह लज्जित, व्याकुल तथा हतप्रभ

निशामुखे गोरम्भमाहूय वस्त्रयुगलेन सम्मान्येदमुवाच—'भद्र, मया न तदा त्वं रागवशान्निःसारितः। यतस्त्वं ब्राह्मणानामग्रतोऽनुचितस्थाने समुपविष्टो दृष्ट इत्यपमानितः; तत्क्षम्यताम्।' सोऽपि स्वर्गराज्योपमं तद्वस्त्र-युगलमासाद्य परं परितोषं गत्वा तमुवाच—'भोः श्रेष्ठिन्, क्षान्तं मया ते तत्। तदस्य सम्मानस्य कृते पश्य मे बुद्धिप्रभावं राजप्रसादं च।' एवमुक्त्वा सपरितोषं निष्क्रान्तः। साधु चेदमुच्यते—

स्तोकेनोन्नतिमायाति　स्तोकेनायात्यधोगतिम्।
अहो ! सुसदृशी चेष्टा　तुलायष्टेः खलस्य च॥ १६१॥

सलज्जः, सोद्वेगः—उद्वेगयुक्तः, उद्विग्नमनाः, गतप्रभावः-निस्तेजः, गतसामर्थ्यः, सम्मानहीनः साम्प्रतं राजानुग्रहाभावादिति भावः। निशामुखे-प्रदोषे, सायंकाले, वस्त्रयुगलेन— वस्त्रद्वयप्रदानेन, सम्मान्य—सत्कृत्य, सन्तोष्य च, तदा—तस्मिन् काले, रागवशात्-मात्सर्यात्, क्रोधादित्यर्थः, ('रागस्तु मात्सर्ये इति मेदिनी) निःसारितः—निष्कासितः। अपमानितः—तिरस्कृतः। स्वर्गराज्योपमं—स्वर्गस्य राजतुल्यं, परितोषम्—सन्तोषम्। क्षान्तं मर्षितम्, तत्—त्वया विहितापमानकृत्यम्।

स्तोकेनेति। अहो ! आश्चर्यम् ! तुलायष्टेः तुलादण्डस्य, खलस्य च सुसदृशी प्रायेण अभिन्ना इत्यर्थः, चेष्टा क्रिया, ["वृत्तिः" इति पाठान्तरम्] तथा हि,—तुलादण्डः खलश्च स्तोकेन अल्पेनैव हेतुनेत्यर्थः, उन्नतिम् आयाति, स्तोकेन अल्पेनैव, अधोगतिम् अवनतिमित्यर्थः, आयाति च॥ १६१॥

होकर घर गया और सायंकाल गोरम्भ को बुलाकर उसने एक जोड़े कपड़े से उसे सम्मानित कर कहा—भद्र मैंने तुम्हें उस समय क्रोध वश नहीं निकाला था बल्कि तुम ब्राह्मणों के सामने अनुचित स्थान में बैठे हुए दिखाई पड़े थे, इसी लिए तुम्हें अपमानित होना पड़ा था। अतः अब उसके लिए क्षमा करो। उसने भी स्वर्ग तुल्य सुखदायक उन दोनों वस्त्रों को पाकर अत्यन्त सन्तुष्ट होकर कहा—सेठ जी ! मैंने वह सब क्षमा कर दिया। इस सम्मान के बदले अब मेरी बुद्धि का प्रभाव और (उससे पुनः प्राप्त होने वाली) राजकृपा देखिए। इस प्रकार कह कर वह संतोष के साथ चला गया।

यह ठीक ही कहा गया है—

तराजू की डण्डी और दुष्टों की दशा एक जैसी होती है। जैसे तराजू की डाँड़ी थोड़े ही में ऊपर तथा थोड़े ही में नीचे हो जाती है वैसे ही दुष्ट भी थोड़े ही में रुष्ट तथा थोड़े ही में तुष्ट हो जाते हैं॥ १६१॥

ततश्चान्येद्युः स गोरम्भो राजकुले गत्वा योगनिद्रां गतस्य भूपतेः सम्मार्जनक्रियां कुर्वन्निदमाह—'अहो ! अविवेकोऽस्मद्भूपतेः, यत्पुरीषोत्सर्गमाचरंश्चिर्भटीभक्षणं करोति'। तच्छ्रुत्वा राजा सविस्मयं तमुवाच—'रे रे गोरम्भ, किमप्रस्तुतं लपसि ? गृहकर्मकरं मत्वा त्वां न व्यापादयामि। किं त्वया कदाचिदहमेवंविधं कर्म समाचरन्दृष्टः ?' सोऽब्रवीत्—देव, द्यूतासक्तस्य रात्रिजागरणेन सम्मार्जनं कुर्वाणस्य मम बलान्निद्रा समायाता। तयाधिष्ठितेन मया किंचिज्जल्पितम्, तन्न वेद्मि। तत्प्रसादं करोतु स्वामी निद्रापरवशस्य' इति। एवं श्रुत्वा राजा चिन्तितवान्—'यन्मया जन्मान्तरे पुरीषोत्सर्गं कुर्वता कदापि चिर्भटिका न भक्षिता, तद्यथायं व्यतिकरोऽसंभाव्यो ममानेन मूढेन व्याहृतः, तथा दन्तिलस्यापीति

१. अन्येद्युः—अपरदिने, राजकुले—राजगृहे, अविवेकः,—विवेकशून्यत्वम्। अस्मद्भूपतेः,—अस्माकं नृपतेः। पुरीषोत्सर्गं—मलत्यागम्, आचरन्—कुर्वन्, चिर्भटी—फलविशेषः, ("ककड़ी" इति भाषा) तस्याः भक्षणम्, शौचादिकमकृत्वैवेति भावः।

२. अप्रस्तुतम्—अप्रासङ्गिकम्, असङ्गतमित्यर्थः। लपसि—भाषसे। वदसि। गृहकर्मकरम्—मार्जकम्, न व्यापादयामि—न हन्मि। एवंविधं कर्म—चिर्भटीभक्षणरूपं कर्म, द्यूतासक्ततया—द्यूतकर्मणि प्रसक्ततया, तयाऽधिष्ठितेन—निद्राभिभूतेन निद्रापरवशेनेत्यर्थः, किञ्चिज्जल्पितम्—किञ्चित्कथितम्, न वेद्मि—न जानामि। प्रसादं करोतु—प्रसीदतु, आजन्मतः—जन्माकालादारभ्य, व्यतिकरः—व्यसनं, मद्यपस्येव शौचाशौच विचारराहित्यरूप इति भावः। असम्भाव्यः-असम्भवः,

इसके बाद दूसरे दिन गोरम्भ ने राजमहल में जाकर, जिस समय राजा सो रहे थे, झाड़ू लगाते हुए कहा—आश्चर्य है कि हमारे राजा इतने अविवेकी हैं कि मलत्याग करते समय ककड़ी खाते हैं। यह सुनकर राजा ने आश्चर्य के साथ कहा—अरे गोरम्भ ! यह कैसी अनुचित बात बक रहा है ? घर का सेवक जानकर मैं तुझे मार नहीं रहा हूँ। क्या तुमने कभी मुझे इस तरह का आचरण करते हुए देखा है ? उसने कहा—देव। जुआ खेलने में रात भर जागरण के कारण झाड़ू लगाते समय मुझे नींद आ गई थी। नींद आने पर मेरे मुँह से क्या निकल गया, उसे मैं नहीं जानता हूँ। मैं निद्रा के वश में था अतः स्वामी मुझ पर कृपा करें। यह सुनकर राजा ने विचार किया—मैंने जन्म-जन्मान्तर में भी कभी मल त्याग करते समय ककड़ी नहीं खाई। इस लिए जैसे इस मूर्ख द्वारा मेरे विषय में कही हुई बात असम्भव है, वैसे ही दन्तिल के विषय में कही हुई बात भी असम्भव

निश्चयः। तन्मया न युक्तं कृतं, यत्स वराकः सम्मानेन वियोजितः। न तादृक्पुरुषाणामेवंविधं चेष्टितं संभाव्यते। तदभावेन राजकृत्यानि पौरकृत्यानि च सर्वाणि शिथिलतां व्रजन्ति।' एवमनेकधा विमृश्य दन्तिलं समाहूय निजाङ्गवस्त्राभरणादिभिः संयोज्य स्वाधिकारे नियोजयामास। अतोऽहं ब्रवीमि—'यो न पूज्यते गर्वात्' इति।

संजीवक आह—'भद्र, [1]'एवमेवैतत्। यद्भवताभिहितं तदेव मया कर्तव्यम्' इति। एवमभिहिते दमनकस्तमादाय पिङ्गलकसकाशमगमत्। आह च—'देव! एष मयानीतः स संजीवकः। अधुना देवः प्रमाणम्।' संजीवकोऽपि तं सादरं प्रणम्याग्रतः सविनयं स्थितः। पिङ्गलकोऽपि तस्य [2]पीनायतककुद्मतो नखकुलिशालंकृतं दक्षिणपाणिमुपरि दत्त्वा मानपुरःसरमुवाच—'अपि शिवं भवतः? कुतस्त्वम-

व्याहृतः - कथितः, वराकः—दीनः, संमानेन—सत्कारेण, मानेनेत्यर्थः, वियोजितः—वञ्चितः, तदभावेन—तेन विरहितेन, कृत्यानि—कार्याणि, शिथिलताम्—श्लथताम्, व्रजन्ति—गच्छन्ति। विमृश्य—विचार्य, स्वाधिकारि—तस्याधिकारे, पूर्वपदे, नियोजयामास—स्थापयामास।

(१) एवमिति। एवमेवैतत्-यथा भवानाह तथैवैतत्, कर्त्तव्यम्-विधातव्यमिति। आनीतः-तव सकाशं प्रापितः, देवः प्रमाणम्-यथा देवस्याभिमतम्। अग्रतः-पुरतः; सविनयम्-सादरम्। २. पीनायतककुद्मतः-पीना स्थूला, आयता दीर्घा, या कुकुद् असोपरिस्थकोमलमांसपिण्ड इत्यर्थः, स्थूलायतककुद्युक्तस्य, नखकुलिशालङ्कृतम्—नख-

होगी—यह मेरा निश्चित मत है। इसलिए मैंने यह उचित नहीं किया जो उस बेचारे को (राजकीय) सम्मान से अलग कर दिया। उसके समान पुरुष के लिए ऐसा आचरण करना उचित नहीं प्रतीत होता। उसके बिना राजकार्य और नगर कार्य सभी शिथिल हो गए हैं' इस प्रकार अनेक तरह से विचार करके राजा ने दन्तिल को बुलाकर अपने शरीर के वस्त्रों और आभूषणों से सुशोभित करके फिर उसे उसके अधिकार पद (मन्त्रित्व) पर नियुक्त कर दिया। इसी लिए मैं कहता हूँ—'जो गर्व से सम्मानित नहीं करता–''इत्यादि।

संजीवक ने कहा—'भद्र! हाँ, यह तो ठीक ही है। आप ने जैसा कहा है, मैं वैसा ही करूँगा। उसके ऐसा कहने पर दमनक उसे साथ लेकर पिंगलक के पास गया और बोला—देव! मैं इस संजीवक को लाया हूँ। अब आप जैसा उचित समझें वैसा करें। संजीवक भी उसे आदर के साथ प्रणाम करके उसके सामने विनम्रता के साथ खड़ा हो गया। पिंगलक ने भी उसे पुष्ट एवं विशाल ककुद (डिल्ल) वाले संजीवक पर वज्र के समान नखों से सुशोभित अपने दाहिने हाथ को रखकर आदर के साथ

स्मिन्वने विजने समायातोऽसि ?' तेनाप्यात्मवृत्तान्तः कथितः। यथा वर्धमानेन सह वियोगः सञ्जातस्तथा सर्वं निवेदितम्। तच्छ्रुत्वा पिङ्गलकः [1]सादरतरं तमुवाच—'वयस्य, न भेतव्यम्। मद्भुजपञ्जरपरिरक्षितेन यथेच्छं त्वयाधुना वर्तितव्यम्। अन्यच्च—नित्यं मत्समीपवर्तिना भाव्यम्। यतः कारणाद् [2]बह्वपायं रौद्रसत्त्वनिषेवितं वनं [3]गुरूणामपि सत्त्वानामसेव्यम्, कुतः शष्पभोजिनाम् ?' एवमुक्त्वा सकलमृगपरिवृतो यमुनाकच्छमवतीर्योदकग्रहणं कृत्वा स्वेच्छया तदेव वनं प्रविष्टः। ततश्च करटकदमनकनिक्षिप्तराज्यभारः संजीवकेन सह [4]सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्नास्ते।

अथवा साध्विदमुच्यते—

कुलिशेन भूषितम्, दक्षिणपाणिम्-दक्षिणकरं, दत्त्वा-निधाय, सम्मानपुरःसरम्—ससम्मानम्, उवाच। अपि-प्रश्ने। शिवम्-कल्याणम्, भवतः ? विजने—निर्जने, तेन-सञ्जीवकेन, आत्मवृत्तान्तः-स्ववृत्तान्तः, वियोगः—विच्छेदः, निवेदितम्—कथितमिति भावः।

(१) सादरतरम्—समादरतरम्, न भेतव्यम्-मा भैषीः। मद्भुजपञ्जरपरिरक्षितेन-मम भुजः बाहुरेव, पञ्जरः तेन तस्मिन् वा परिरक्षितः तेन, अस्मद्बाहुपञ्जरेण संरक्षिते, वने—कानने, यथेच्छम्—यथाकामम्, वर्तितव्यम् स्थातव्यम्। मत्समीपवर्तिना—अस्मत्समीपस्थेन।

(२) बह्वपायं—बहुविघ्नम् रौद्रेति। रौद्रैः,—भयङ्करैः, सत्त्वैः—जन्तुभिः, श्वापदाद्यैरित्यर्थः, ("द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु" इत्यमरः) निषेवितम्—अध्युषितम्।

(३) गुरूणां—महताम्। सत्त्वानां—प्राणिनाम्। असेव्यम्—अनाश्रयणीयम्। शष्पभोजिनां—नवतृणाशिनाम्। यमुनाकच्छं—यमुनातीरमित्यर्थः।

(४) सुभाषितेति। सु—शोभनं, भाषितम्—आलापो यत्र, तादृशी या गोष्ठी

कहा—कहिए, आप कुशल से हैं न आप इस निर्जन वन में कहाँ से आए हैं ? उसने भी अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया और वर्धमान के साथ जैसे उसका वियोग हुआ था, सब कुछ बता दिया। यह सुनकर पिंगलक ने अत्यन्त आदर के साथ उससे कहा—मित्र ! अब डरने की कोई बात नहीं है। मेरे भुज-पंजर से रक्षित होकर स्वच्छन्दता के साथ विचरण करो और नित्य मेरे समीप रहा करो। क्योंकि अनेक आपत्तियों और हिंसक जन्तुओं से भरे हुए इस वन में बड़े बड़े जीवों का रहना कठिन है फिर (तुम्हारे जैसे) घास खाने वाले जीवों की बात ही क्या है ? ऐसा कहकर सभी पशुओं के साथ यमुना के किनारे उतरकर उसने पानी पिया और फिर स्वेच्छया उसी जंगल में चला गया। इसके पश्चात् वह

यदृच्छयाप्युपनतं सकृत्सज्जनसंगतम् ।
भवत्यजरमत्यन्तं नाभ्यासक्रममीक्षते ।। १६२ ।।

[1]संजीवकेनाप्यनेकशास्त्रावगाहनादुत्पन्नबुद्धिप्रागल्भ्येन [2]स्तोकैरेवाहोभिर्मूढमतिः पिङ्गलको धीमांस्तथा कृतः, यथारण्यधर्माद्वियोज्य ग्राम्यधर्मेषु नियोजितः । किं बहुना—प्रत्यहं पिङ्गलकसञ्जीवकावेव केवलं [3]रहसि मन्त्रयतः । शेषः सर्वोऽपि मृगजनो दूरीभूतस्तिष्ठति । करटकदमनकावपि

—सभा, ("गोष्ठीसभासमितिसंसदः" इत्यमरः) तया सुखम् । अनुभवन्—भुञ्जानः ।

यदृच्छयेति । यदृच्छया दैवात्, अकस्मात् इत्यर्थः, उपनतम् उपस्थितं, सकृदपि एकवारमपि, सज्जनसङ्गतं साधुसङ्गः, अत्यन्तम् अजरम्, अक्षयम् अक्षयफलम् इत्यर्थः, भवति, अभ्यासक्रमं पुनरावृत्तिं, न ईक्षते नापेक्षते इत्यर्थः; सकृत्सङ्गः अपि बहूपकारक इति भावः ।। १६२ ।।

(१) अनेकशास्त्रावगाहनात्—बहुशास्त्रपर्य्यालोचनात् । उत्पन्नेति । उत्पन्नं—जातं, बुद्धेः,—धियाः, प्रागल्भ्यं—नैपुण्यं यस्य तादृशेन । (२) स्तोकैः—अल्पैः । तथा धीमान् कृतः इत्यन्वयः । आरण्यधर्मात्—पशुस्वभावात् । ग्राम्यधर्मेषु—ग्रामवासिसुलभाचारेषु, लोकधर्मेषु वा, नियोजितः—संयोजितः । (३) रहसि—एकान्ते; मन्त्रयतः परामर्शादिकार्यं कुरुतः, मृगजनः—वन्यजीवः, दूरीभूतः—दूरीकृतः । इव पृथक् तिष्ठति ।

दमनक और करटक के ऊपर राज्य का भार सौंप कर संजीवक के साथ सुभाषित गोष्ठी के सुख का अनुभव करते हुए रहने लगा ।

यह ठीक ही कहा गया है कि—

आकस्मिक रूप से एक बार भी प्राप्त होने वाली सज्जनों की संगति अत्यन्त अमित फलदायक होती है । वह बार-बार अभ्यास के क्रम की अपेक्षा नहीं रखती है । अर्थात् एक बार भी प्राप्त होने वाली सत्संगति महान् उपकारिणी होती है ।। १६२ ।।

संजीवक ने भी अनेक शास्त्रों के मनन से उत्पन्न बुद्धि की तीक्ष्णता से (प्रत्युत्पन्न बुद्धि द्वारा) थोड़े ही दिनों में उस जड़बुद्धि वाले पिंगलक को इतना बुद्धिमान बना दिया कि उसे अरण्य धर्म (स्वाभाविक हिंसक प्रकृति) से अलग करके ग्राम्यधर्म परस्पर सहयोग एवं दया, करुणा आदि भावों में लगा दिया । यहाँ तक कि केवल संजीवक और पिंगलक ही एकान्त में बात चीत करते रहते थे, और अन्य सभी मृगगण (पशु) उनसे दूर रहते थे । यहाँ तक कि करटक

प्रवेशं न लभेते। अन्यच्च [1]सिंहपराक्रमाभावात्सर्वोऽपि मृगजनस्तौ च शृगलौ क्षुधाव्याधिबाधिताः एकां दिशमाश्रित्य स्थिताः। उक्तं च—

फलहीनं नृपं भृत्याः कुलीनमपि चोन्नतम्।
सन्त्यज्यान्यत्र गच्छन्ति शुष्कं वृक्षमिवाण्डजाः ॥ १६३ ॥

तथा च—अपि सम्मानसंयुक्ताः कुलीना भक्तितत्पराः।
वृत्तिभङ्गान्महीपालं त्यजन्त्येव हि सेवकाः ॥ १६४ ॥

अन्यच्च—कालातिक्रमणं वृत्तेर्यो न कुर्वीत भूपतिः।
कदाचित्तं न मुञ्चन्ति भर्त्सिता अपि सेवकाः ॥ १६५ ॥

---

१. सिंहपराक्रमाभावात्। तस्य पशुहिंसादिकार्यान्निवृत्तत्वाद, तौ—करटक-दमनकौ, क्षुधाव्याधिबाधिताः—क्षुधारोगपीडिताः, एकां दिशमाश्रित्य—एकं प्रदेशमवलम्ब्य, स्थिताः—तिष्ठन्ति स्म।

फलहीनमिति। अण्डजाः पक्षिणः फलहीनं फलरहितं, शुष्कं [शुष+क्त. तस्य कः] वृक्षमिव भृत्याः कुलीनमपि सत्कुलजमपि, उन्नतञ्च उन्नतमपि, फलहीनं फलं सेवाविनिमयेन वृत्तिदानं, तेन हीनं च्युतं, नृपं, सन्त्यज्य अन्यत्र गच्छन्ति ॥ १६३ ॥

अपीति। सेवकाः भृत्याः, सम्मानसंयुक्ताः राजसम्मानभाजः, कुलीनाः सत्-कुलप्रसूताः, तथा भक्तितत्पराः अनुरागवन्तोऽपि, वृत्तेः जीविकायाः, भङ्गादेव छेदादेव, अलाभादेव इत्यर्थः, महीपालं नृपं, त्यजन्ति हि परिहरन्त्येव ॥ १६४ ॥

कालेति। यः भूपतिः, वृत्तेः जीविकायाः, वेतनादेः इत्यर्थः, कालातिक्रमणं समयपातं, न कुर्वीत यथाकालं वृत्तिं विदध्यात् इत्यर्थः, सेवकाः भृत्याः, भर्त्सिताः

और दमनक तक भी उनके पास नहीं जा पाते थे। इसके अतिरिक्त सिंह के पराक्रम (हिंसा) के अभाव से सभी मृग तथा दमनक और करटक भूख से व्याकुल होकर एक किनारे बैठे रहते थे। कहा भी गया है—

जैसे सूखे पेड़ को छोड़कर पक्षी दूसरी जगह चले जाते हैं उसी प्रकार अत्यन्त कुलीन तथा ऐश्वर्य सम्पन्न राजा को भी सेवा का फल देने में असमर्थ जानकर सेवक उसे छोड़कर दूसरी जगह चले जाते हैं ॥ १६३ ॥

और भी—सम्मानित, कुलीन और स्वामी भक्त होते हुए भी सेवक उससे मिलने वाली वृत्ति (वेतन या आजीविका के साधन) के टूट जाने से राजा का परित्याग कर देते हैं ॥ १६४ ॥

और भी—जो राजा वृत्ति (वेतन) देने में समय का अतिक्रमण नहीं करता अर्थात् निश्चित समय पर वेतन दे देता है; उसके द्वारा डाँटे फटकारे जाने पर भी

तथा न केवलं सेवका इत्थंभूता यावत्समस्तमप्येतज्जगत्परस्परं भक्षणार्थं [1]सामादिभिरुपायैस्तिष्ठति । तद्यथा—

देशानामुपरि क्ष्माभृदातुराणां चिकित्सकाः ।
वणिजो ग्राहकाणां च मूर्खाणामपि पण्डिताः ॥ १६६ ॥
प्रमादिनां तथा चौरा भिक्षुका गृहमेधिनाम् ।
गणिकाः कामिनाञ्चैव सर्वलोकस्य शिल्पिनः ॥ १६७ ॥
सामादिसज्जितैः पाशैः प्रतीक्षन्ते दिवानिशम् ।
उपजीवन्ति शक्तान् हि जलजा जलदानिव ॥ १६८ ॥

तिरस्कृताः, अपमानिताः इत्यर्थः, अपि कदाचित् तं नृपं, न मुञ्चति न त्यजन्ति ॥ १६५ ॥

१. सामादिभिः,—सामदानभेददण्डनामभिः चतुर्भिः, उपायैः,—फलसिद्धि-साधनभूतैः इत्यर्थः ।

देशानामित्यादि । क्ष्माभृत् नृपतिः, देशानां जनपदानां, चिकित्सकाः वैद्याः, आतुराणां रोगिणां, वणिजः पण्यविक्रेतारः, ग्राहकाणां तत्तत्पण्यग्राहिणां, पण्डिताः मूर्खाणां, चौराः प्रमादिनाम् अनवधानपराणामित्यर्थः, भिक्षुकाः गृहमेधिनां गृहिणां, गणिकाः वेश्याः, कामिनां कामुकानां, शिल्पिनः कारवः, सर्वलोकस्य उपरि, एतान् लक्ष्यीकृत्य इत्यर्थः, सामादिसज्जितैः सामादिभिः सामदानभेददण्डैः उपायैः, सज्जितैः कल्पितैः, सामादिरूपैरित्यर्थः, पाशैः जालैः, चातुर्य्यैः इत्यर्थः, दिवानिशं रात्रिन्दिवं, प्रतीक्षन्ते । केनोपायेन एतेभ्यः स्वार्थं साधयिष्याम इति चिन्तनपराः समयं प्रतिपालयन्ति । [देशानामित्यादिषु अतसर्थप्रत्ययप्रयोगे षष्ठी] हि तथाहि, जलजाः

सेवक उसका कभी भी परित्याग नहीं करते हैं ॥ १६५ ॥

और केवल सेवक ही ऐसे नहीं होते हैं बल्कि यह सारा संसार (अर्थात् संसार के सभी जीवमात्र) भोजन की प्राप्ति के लिए ही परस्पर साम, दाम, दण्ड आदि उपायों में लगा रहता है । वह इस प्रकार है कि—

देशवासियों के ऊपर राजा, रोगियों के ऊपर चिकित्सक, ग्राहकों के ऊपर व्यापारी और मूर्खों के ऊपर विद्वान् अपनी आँख गड़ाए रहते हैं ॥ १६६ ॥

असावधानों पर चोर, गृहस्थों पर भिक्षुक, कामी पुरुषों पर वेश्याएँ और सामान्य जनता पर कारीगर अपनी आँख गड़ाए रहते हैं ॥ १६७ ॥

उपरोक्त सभी लोग साम आदि (साम, दाम, दण्ड, भेद) का जाल फैलाए (उन्हें फँसाने के लिए) रात दिन उसी प्रकार प्रतीक्षा करते रहते हैं जैसे जल

अथवा साध्विदमुच्यते—

सर्पाणां च खलानां च परद्रव्यापहारिणाम् ।
अभिप्राया न सिद्ध्यन्ति तेनेदं वर्तते जगत् ॥ १६९ ॥

अत्तुं वाञ्छति शाम्भवो गणपतेराखुं क्षुधार्तः फणी
तं च क्रौञ्चरिपोः शिखी गिरिसुतासिंहोऽपि नागाशनम् ।
इत्थं यत्र परिग्रहस्य घटना शम्भोरपि स्याद् गृहे
तत्राप्यस्य कथं न भावि ? जगतो यस्मात्स्वरूपं हि तत् ॥१७०॥

जलजाताः, जलजीविनः व्रीहिप्रभृतयः इत्यर्थः, जलदानिव मेघानिव, शक्तान् उपजीवनक्षमान् देशादीन्, उपजीवन्ति उपजीव्य तिष्ठन्ति इत्यर्थः, जीविकार्थिनो जना इति शेषः ॥ १६६-१६८ ॥

सर्पाणामिति । सर्पाणां भुजङ्गानां, खलानां पिशुनानाञ्च, तथा परद्रव्यापहारिणां परस्वापहारिणाञ्च, अभिप्रायाः मनोरथाः, न सिध्यन्ति लोकानिष्टकरत्वान्न फलन्ति, तेन कारणेन, इदं जगत् वर्तते तिष्ठति, रक्षां प्राप्नोति इत्यर्थः ॥ १६९ ॥

अत्तुमिति । शाम्भवः शैवः, फणी सर्पः, क्षुधार्त्तः सन् गणपतेः आश्रयदातुः पुत्रस्य गजाननस्य, आखुं मूषकं, वाहनभूतमिति भावः; अत्तुं भक्षयितुं, वाञ्छति कामयते । क्रौञ्चरिपोः क्रौञ्चपर्वतदारिणः, कुमारस्येत्यर्थः, ("कुमारः क्रौञ्चदारणः" इत्यमरः) शिखी मयूरः, वाहनभूतः इति भावः; तं फणिनञ्च, अत्तुं वाञ्छतीत्यनेनानुषङ्गः । गिरिसुतासिंहोऽपि देवीवाहनमपि, नागाशनम् अग्रजन्मन इव गुहस्य मयूरम्, अत्तुं वाञ्छतीत्यनेनान्वयः । यत्र यस्मिन् वृत्तिविषये, शम्भोरपि गृहे परिग्रहस्य परिजनस्य, इत्थम् एवं, घटना परस्पराक्रमणव्यापारः, स्यात्, तत्र

से उत्पन्न होने वाले पदार्थ (धान्यादि) बादल की प्रतीक्षा करते हैं क्योंकि वे सभी उन्हीं से अपनी जीविका का साधन प्राप्त करते हैं ॥ १६८ ॥

अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

साँपों तथा दूसरों का धन हरण कर लेने वाले दुष्टों की इच्छाएँ पूरी नहीं हो पातीं, इसीलिए यह संसार टिका हुआ है [अर्थात् यदि उनकी सभी इच्छाएँ पूरी हो जाय तो यह संसार क्षण भर में ही नष्ट हो जायगा] ॥ १६९ ॥

शंकर जी के गले का सर्प, गणेश जी के वाहन चूहे को खाना चाहता है, स्वामि कार्तिकेय का वाहन मोर उस साँप को खाना चाहता है, हिमालय की पुत्री पार्वती का वाहन सिंह उस मोर को खाना चाहता है, जब शंकर जी के घर में भी इस प्रकार की पारिवारिक (परस्पर एक दूसरे को खा जाने

तच्छ्रुत्वाषाढभूतिस्तत्पादौ गृहीत्वा सप्रश्रयमिदमाह—'भगवन्, तर्हि दीक्षया मेऽनुग्रहं कुरु।' देवशर्मा आह—'वत्स! अनुग्रहं ते करिष्यामि। परन्तु रात्रौ त्वया मठमध्ये न प्रवेष्टव्यम्। यत्कारणं निःसङ्गता यतीनां प्रशस्यते तव च ममापि च। उक्तञ्च—

दुर्मन्त्रान्नृपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गात्सुतो लालना-
द्विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात्।
मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्स्नेहः प्रवासाश्रयात्-
श्रीर्गर्वादनवेक्षणादपि कृषिस्त्यागात्प्रमादाद्धनम्॥ १८०॥

तच्छ्रुत्वा—तस्य वचनमाकर्ण्य, सप्रश्रयं—सस्नेहम्, दीक्षया—मन्त्रदानेन; अनुग्रहं—प्रसादम्, कृपामित्यर्थः, रात्रौ–निशायाम्, न प्रवेष्टव्यम्—प्रवेशो न विधेयः। यत्कारणं—यतः इत्यर्थः, यद्वा—यत्—यस्य अप्रवेशस्य कारणम्। निःसङ्गता—सङ्गराहित्यम्। यतीनां—सन्न्यासिनाम्। तवेति। तव ममापि च उभयोरपि, सन्न्यासित्वादिति भावः; सन्न्यासिनः विजने प्रदेशे एव तिष्ठन्तीति निष्कर्षः।

दुर्मन्त्रादिति। नृपतिः दुर्मन्त्रात् दुष्टमन्त्रणाकरणादित्यर्थः, विनश्यति, [एवं सर्वत्र विनश्यतीत्यनेनान्वयः] यतिः तापसः, सङ्गात् अपरसंसर्गात्, सुतः पुत्रः, लालनात् केवलम् आदरातिशयेन प्रतिपालनात्, विप्रः अनध्ययनात्, अध्ययनवर्जनात्, वेदपाठाकरणादित्यर्थः, कुलं कुतनयात् कुपुत्रात्, शीलं चरित्रं, खलानां दुर्जनानाम्, उपासनात् सेवनात्, मैत्री सौहृद्यम्, अप्रणयात् प्रीतिविरहात्, समृद्धिः सम्पत्, अनयात् दुर्नीतिवशात्, स्नेहः प्रणयः, प्रवासाश्रयात् भिन्नदेशावस्थानात्; श्रीः लक्ष्मीः, गर्वात् अहङ्कारात्, कृषिः कृषिकार्य्यम्, अनवेक्षणात् स्वयम् अदर्शनात्,

---

यह सुनकर आषाढ़भूति ने उसके चरणों को पकड़ कर विनम्रता के साथ कहा—'हे भगवन्! दीक्षा देकर मुझपर अनुग्रह कीजिए।' देवशर्मा ने कहा—'पुत्र! मैं तुम्हारे ऊपर कृपा करूँगा, किन्तु रात्रि के समय तुम मठ के भीतर मत आना, क्योंकि सन्यासियों के लिए निःसंगता (एकान्तता) ही प्रशंसनीय होती है, यही तुम्हारे लिए और मेरे लिए भी अच्छा है। कहा भी गया है—

कुमन्त्रणा के कारण राजा, संग (अन्य पुरुष के संसर्ग) के कारण सन्यासी, लाड़-प्यार से पुत्र, स्वाध्याय न करने से ब्राह्मण, कुपुत्र से वंश, दुष्टों की सेवा से सदाचार, स्नेहहीनता से मित्रता, अनीति करने से सम्पत्ति, परदेश में रहने से प्रेम, (समृद्धि आदि का) अहंकार करने से श्री, देखभाल न करने से खेती और त्याग (अपात्र को देने अथवा अधिक व्यय करने) तथा असावधानी से धन का

तत्त्वया '¹व्रतग्रहणानन्तरं मठद्वारे तृणकुटीरके शयितव्यम्' इति। स आह—'भगवन्, भवदादेशः प्रमाणम्। ²परत्र हितेन मे प्रयोजनम्।' अथ ³कृतशयनसमयं देवशर्मानुग्रहं कृत्वा शास्त्रोक्तविधिना शिष्यतामनयत्। सोऽपि ⁴हस्तपादावमर्दनादिपरिचर्य्यया तं परितोषमनयत्। पुनस्तथापि स मुनिः कक्षान्तरान्मात्रां न मुञ्चति।

अथैवं गच्छति काले आषाढभूतिश्चिन्तयामास—'अहो, न कथंचिदेष मे विश्वासमागच्छति। तत्किं दिवाऽपि शस्त्रेण मारयामि? किं वा विषं प्रयच्छामि? किं वा ⁵पशुधर्मेण व्यापादयामि?' इति। एवं चिन्तयतस्तस्य

धनं त्यागात् अपात्रेऽर्पणात्; व्यायाद्वा, तथा प्रमादात् अनवधानतावशात्; विनश्यति। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १८० ॥

(१) व्रतग्रहणानन्तरम्—दीक्षाग्रहणानन्तरम्। तृणकुटीरके—तृणनिर्मिते क्षुद्रकुटीरे इत्यर्थः, [अल्पार्थे कन्]। शयितव्यम्—शयनं विधातव्यम्।

(२) परत्र—परस्मिन् लोके; हितेन—मङ्गलेन, केवलं परलोकमङ्गलमहं कामये, नान्यदिति भावः।

(३) कृतशयनसमयं—विहितशयननियमम्; मठबहिः शयनरूपमिति भावः। बहिःशयनाय विहितप्रतिज्ञं विधाय।

(४) हस्तेति। हस्तपास्य अवमद्दर्नादिपरिचर्य्यया—संवाहनादिशुश्रूषया। परितोषं सन्तोषम्, अनयत्।

(५) पशुधर्मेण—नखदन्तादिप्रहारेणेति भावः।

नाश हो जाता है ॥ १८० ॥

इस लिए तुम्हें व्रत ग्रहण करने के पश्चात् मठ के द्वार पर स्थित घास की झोपड़ी में सोना पड़ेगा।' उसने कहा—भगवन्! मैं आप के आदेश के अनुसार ही कार्य करूंगा। मेरा अभिप्राय तो यही है कि परलोक में मेरा कल्याण हो। इसके पश्चात् कुटी में सोने की सहमति लेकर देवशर्मा ने कृपा करके शास्त्रविधि के अनुसार उसे अपना शिष्य बना लिया। उसने भी हाथ पैर दबाने आदि सेवा से उसे संतुष्ट कर दिया। इतना होने पर भी वह संन्यासी अपनी कांख से धन की पोटली बाहर नहीं करता था।

इस प्रकार कुछ समय बीत जाने से आषाढभूति ने विचार किया—"यह तो किसी प्रकार भी मेरे विश्वास में नहीं आ रहा है। तो क्या दिन में ही इसे शस्त्र से मार डालूं या विष दे दूं अथवा पशुवत आचरण करके इसका गला घोंट दूं?" जिस समय वह इस प्रकार विचार कर रहा था

देवशर्मणोऽपि शिष्यपुत्रः कश्चिद्ग्रामादामन्त्रणार्थं समायातः। प्राह च—'भगवन्, पवित्रारोपणकृते मम गृहमागम्यताम्' इति। तच्छ्रुत्वा देवशर्मा-षाढभूतिना सह प्रहृष्टमनाः प्रस्थितः।

अथैवं तस्य गच्छतोऽग्रे काचिन्नदी समायाता। तां दृष्ट्वा मात्रां कक्षान्तरादवतार्य कन्थामध्ये सुगुप्तां निधाय, स्नात्वा देवार्चनं विधाय, तदनन्तरमाषाढभूतिमिदमाह—'भो आषाढभूते! यावदहं पुरीषोत्सर्गं कृत्वा समागच्छामि, तावदेषा कन्था योगेश्वरस्य सावधानतया रक्षणीया' इत्युक्त्वा गतः। आषाढभूतिरपि तस्मिन्नदर्शनीभूते मात्रामादाय सत्वरं प्रस्थितः। देवशर्मापिच्छात्रगुणानुरञ्जितमनाः सुविश्वस्तो यावदुपविष्टस्तिष्ठति, तावत्सु-

आमन्त्रणार्थं—कस्मैचित् कार्याय आह्वानविशेषः आमन्त्रणं, तदर्थम्।

पवित्रारोपणकृते—उपनयनसंस्कारसम्पादनार्थं, यज्ञोपवीतदानार्थम् इत्यर्थः। कन्थामध्ये—प्रावरणान्तरे, ('गुदड़ी' इति भाषा)।

योगेश्वरस्य—सिद्धयोगस्य। तस्मिन्—देवशर्मणि। अदर्शनीभूते—तिरोहिते सति।

छात्रेति। छात्रस्य—आषाढभूतेः, गुणेन—परिचर्यादिना इत्यर्थः, अनुरञ्जितम्—आप्यायितं, मनो यस्य तथाभूतः। उपविष्टः, पुरीषत्यागार्थमिति शेषः।

उसी समय देवशर्मा के शिष्य का पुत्र किसी गांव से निमन्त्रण देने के लिए आया। उसने कहा–कि भगवन्! पवित्रारोपण कराने के लिए (यज्ञोपवीत संस्कार कराने के लिए) मेरे घर आइएगा[1]। यह सुनकर देवशर्मा ने आषाढभूति के साथ प्रसन्न चित्त से प्रस्थान किया।

कुछ दूर जाने के बाद आगे एक नदी पड़ी। उसे देखकर धन की पोटली को काँख से निकालकर अपनी गुदड़ी के बीच में भलीभाँति छिपा करके उसने स्नान किया और देव पूजा करने के पश्चात् आषाढभूति से कहा–आषाढ़भूति! जब तक मैं मलत्याग करके लौट न आऊँ तब तक योगेश्वर भगवान् शिव की इस गुदड़ी को सावधानी से देखते रहना। ऐसा कहकर चला गया। आषाढभूति भी उसके आँख से ओझल होते ही धन की पोटली लेकर चलता बना। देव शर्मा छात्र के गुणों से प्रसन्नचित्त होने के कारण विश्वस्त होकर मलत्याग के लिए बैठा ही

१. किन्तु एम० आर० काले ने अपनी टीका मे पवित्रारोपण का अर्थ करते हुए लिखा है कि पवित्रा का अर्थ कुश या दूब की बनाई गई अँगूठी है, जिसे परिवार के सभी लोग किसी निश्चित तिथि को सामूहिक रूप से देवार्चन करते समय धारण करते हैं।

वर्णरोमदेहयूथमध्ये हुड्डयुद्धमपश्यत् । अथ रोषवशाद्धुड्डयुगलस्य दूरमपसरणं कृत्वा भूयोऽपि समुपेत्य ललाटपट्टाभ्यां प्रहरतो भरि रुधिरं पतति । तच्च कश्चित् जम्बुको जिह्वालौल्येन रङ्गभूमिं प्रविश्यास्वादयति । देवशर्माऽपि तदालोक्य व्यचिन्तयत्—'अहो, मन्दमतिरयं जम्बुकः । यदि कथमप्यनयोः संघट्टे पतिष्यति, तन्नूनं मृत्युमवाप्स्यतीति वितर्कयामि ।' क्षणान्तरे च तथैव रक्तास्वादनलौल्यान्मध्ये प्रविशन् तयोः शिरःसम्पाते पतितो मृतश्च शृगालः । देवशर्मापि तं शोचमानो मात्रामुद्दिश्य शनैः शनैः प्रस्थितः यावदाषाढभूतिं न पश्यति, ततश्चौत्सुक्येन शौचं विधाय, यावत्कन्थामालोकयति, तावन्मात्रां

सुवर्णेति । सुवर्णरोमयुक्तः देहो येषां तादृशानां, जन्तुविशेषाणामित्यर्थः, यत् यूथं—वर्गः, तन्मध्ये । हुडुयुद्धं—सशृङ्गमेषभेदयोः युद्धम् । रोषवशात्—क्रोधावेगात् ।

दूरेति । दूरं—विप्रकृष्टम्, अपसरणं—गमनम् । कृत्वा—पृष्ठगमनं विधाय ।

तत्—रुधिरमित्यर्थः । जिह्वालौल्येन—रसनाचापल्येन, रुधिरलालसया इति भावः । रङ्गभूमिं—युद्धस्थानम् । आस्वादयति—लेढि, पिबतीत्यर्थः । मन्दमतिः—मूर्खः, अनयोः—मेषयोः ।

सङ्घट्टे—सम्मर्दे संघर्षणे ।

रक्तेति । रक्तस्य आस्वादने यत् लौल्यं—चापल्यं तस्मात् लोभात्, शिरः संपाते—मस्तकसङ्घट्टे ।

तमनुशोचन्—जम्बुकार्थं शोकं कुर्वन् । मात्रां—वित्तम्, अर्थाधारम् इत्यर्थः । औत्सुक्येन—औत्कण्ठ्येन । मुषितोऽस्मि—लुठितोऽस्मि ।

था कि उसने सुनहले रोओं वाले भेंड़ों को आपस में लड़ते हुए देखा । क्रोध में भरे हुए दो भेंड़े पहिले एक दूसरे से कुछ दूरी पर चले जाते फिर बड़े वेग से आकर एक दूसरे के मस्तक पर प्रहार कर रहे थे । जिससे बहुत रक्त निकल रहा था । जीभ के स्वाद की लालच से (रक्त का स्वाद लेने के लिए) कोई एक गीदड़ उन दोनों की लड़ाई के बीच में जाकर उस रक्त को चख रहा था । देवशर्मा ने उसे देखकर विचार किया कि—यह गीदड़ महामूर्ख है । मैं तो ऐसा सोच रहा हूँ कि यदि कहीं यह दोनों की चपेट में पड़ गया तो निश्चय ही मर जायगा । कुछ ही क्षण के बाद वह गीदड़ रक्त का स्वाद लेने की लालच में ज्यों ही उन दोनों के बीच में पहुँचा त्यों ही उन दोनों के सिर के बीच में पड़कर मर गया । देवशर्मा उस गीदड़ के प्रति मन ही मन शोक करते हुए धन की पोटली लेने के उद्देश्य से धीरे धीरे वहाँ से चला । किन्तु जब आषाढ़भूति को वहाँ नहीं देखा तो झटपट शौच

न पश्यति । ततश्च 'हा हा मुषितोऽस्मि' इति जल्पन्पृथिवीतले मूर्च्छया निपपात । ततः क्षणाच्चेतनां लब्ध्वा भूयोऽपि समुत्थाय फूत्कर्त्तुमारब्धः— 'भो आषाढभूते, क्व मां वञ्चयित्वा गतोऽसि ? तद् देहि मे प्रतिवचनम् ।' एवं बहु विलप्य तस्य पदपद्धतिमन्वेषयन् शनैः शनैः प्रस्थितः ।

अथैव गच्छन्सायंतनसमये कश्चिद्ग्राममाससाद । अथ तस्माद्ग्रामात्कश्चित्कौलिकः सभार्यो मद्यपानकृते समीपवर्तिनि नगरे प्रस्थितः । देवशर्मापि तमालोक्य प्रोवाच—'भो भद्र, वयं सूर्योढाः अतिथयस्तवान्तिकं प्राप्ताः । न कमप्यत्र ग्रामे जानीमः । तद्गृह्यतामतिथिधर्मः । उक्तञ्च—

'सम्प्राप्तो योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिनाम् ।
पूजया तस्य देवत्वं प्रयान्ति गृहमेधिनः ॥ १८१ ॥

फूत्कर्तुं—रोदितुम्, आह्वातुम् इति वा । वञ्चयित्वा—प्रतारयित्वा ।

पदपद्धतिं—पदचिह्नम् । आससाद—प्राप्तवान् ।

कौलिकः,—तन्तुवायः, अधमजातिविशेषो वा (जुलाहा इति भाषा) ।

सूर्य्योढाः,—सूर्य्यास्तगमनकालोपगताः इत्यर्थः, तादृशस्यातिथेः परिचर्य्यया फलाधिक्यं श्रूयते इति भावः ।

अतिथिधर्मः—अतिथिसत्कारपुण्यम् ।

सम्प्राप्त इति । यः सूर्य्योढः अतिथिः, सायं गृहमेधिनां, गृहे इति शेषः, सम्प्राप्त

से निवृत्त होकर गुदड़ी को टटोलने लगा, जिसमें उसे धन की पोटली नहीं दिखाई पड़ी । तब वह–'हाय ! हाय ! मैं तो लूट लिया गया' इस प्रकार चिल्लाते हुए बेहोश होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा । कुछ देर बाद होश आने पर फिर उठकर फू फू करते हुए आहें भरने लगा—हे आषाढभूति ! मुझे धोखा देकर तुम कहाँ चले गए ? मेरी बातों का उत्तर दो ? इस प्रकार बहुत विलाप करके वह उसके पैरों का निशान देखते हुए धीरे धीरे वहाँ से चल पड़ा ।

चलते चलते सायंकाल के समय वह किसी गाँव में पहुँचा । उस गाँव से कोई जुलाहा अपनी पत्नी के साथ समीप के ही नगर में शराब पीने के लिए जा रहा था । देवशर्मा ने उसे देखकर कहा–भद्र ! मैं सन्ध्याकाल में तुम्हारे पास आया हुआ अतिथि हूँ । इस गाँव के और किसी को भी नहीं जानता हूँ । इसलिए तुम्हीं अतिथि धर्म स्वीकार करो । कहा भी गया है—

सन्ध्याकाल में सूर्यास्त के समय यदि कोई अतिथि गृहस्थों के घर आ जाय तो उसकी पूजा करने से गृहस्थ देवतातुल्य हो जाते हैं अर्थात् अतिथि सत्कार से गृहस्थों को स्वर्ग प्राप्ति होती है ॥ १८१ ॥

तथा च— तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
सतामेतानि हर्म्येषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ १८२ ॥
स्वागतेनाग्नयस्तृप्ता आसनेन शतक्रतुः।
पादशौचेन पितरः अर्घाच्छम्भुस्तथाऽतिथेः' ॥ १८३ ॥

कौलिकोऽपि तच्छ्रुत्वा भार्यामाह—'प्रिये गच्छ त्वमतिथिमादाय गृहं प्रति पादशौचभोजनशयनादिभिः सत्कृत्य त्वं तत्रैव तिष्ठ। अहं तव कृते प्रभूतं मद्यमानेष्यामि।' एवमुक्त्वा प्रस्थितः सापि भार्या पुंश्चली तामादाय प्रहसितवदना देवदत्तं मनसि ध्यायन्ती गृहं प्रति प्रतस्थे।

उपस्थितः, गृहमेधिनः गृहिणः, तस्य पूजया सत्कारेण, देवत्वं प्रयान्ति ॥ १८१ ॥

दरिद्राणामपि अतिथिपरिचर्य्या स्वल्पायाससाध्या इत्याह—तृणानीति। तृणानि आसनोपयोगीनीति भावः, भूमिः तृणाभावेऽपि उपवेशनार्थं भूतलम्, उदकं जलं, तृणाद्यभावेऽपि पादप्रक्षालनार्थं पानार्थञ्चेति भावः, चतुर्थी सूनृता सत्यमधुरा, वाक् च, सर्वाभावे इति भावः, एतानि सतां साधूनां, हर्म्येषु गेहेषु, कदाचन न उच्छिद्यन्ते न विलुप्यन्ते इत्यर्थः; भक्ष्यद्रव्याद्यभावे एतैरपि अतिथिः पूजनीयः इति भावः ॥ १८२ ॥

स्वागतेनेति। अतिथेः स्वागतेन शुभागमनप्रश्नेन, अग्नयः गार्हपत्यादयः, तृप्ताः, भवन्तीति शेषः, आसनेन आसनदानेन इत्यर्थः, शतक्रतुरिन्द्रः, तृप्तः भवति, पादशौचेन पादप्रक्षालनेन, पितरः गृहस्थस्येति भावः, अग्निष्वात्तादयः पितृगणा वा, तृप्ताः भवन्ति, तथा अर्घाद् पूजनाद्, शम्भुः, शिवः, तृप्तो भवति, सर्वत्रातिथेरिति सम्बध्यते ॥ १८३ ॥

पुंश्चली—कुलटा, परपुरुषगामिनी। प्रहसितवदना—हसन्मुखी, स्वाभिप्राय-

---

और भी—तृण (कुश या किसी अन्य घास फूस की चटाई), भूमि, जल और सत्य तथा मधुरवाणी—ये सभी सज्जनों के घर में कभी नष्ट नहीं होती है अर्थात् सज्जन उक्त चारों वस्तुओं से अतिथि स्वागत करते हैं ॥ १८२ ॥

(अतिथि का मधुर वाणी से) स्वागत करने से अग्नि (गार्हपत्याग्नि), उन्हें आसन प्रदान करने से इन्द्र, उनका चरण धोने से पितर तथा अर्घ्य देने से भगवान् शंकर प्रसन्न हो जाते हैं ॥ १८३ ॥

कौलिक (जुलाहा) ने भी यह सुनकर अपनी पत्नी से कहा—प्रिये ! इस अतिथि को लेकर तू घर चली जा और पादप्रक्षालन, भोजन, शयन आदि से सत्कार करके घर पर ही रहना। मैं तेरे लिए बहुत अधिक मद्य ले आऊँगा। ऐसा कहकर वह चल दिया। वह व्यभिचारिणी स्त्री भी हँसती हुई तथा मन ही मन (अपने जार) देवदत्त का ध्यान करती हुई उस (अतिथि) को साथ लेकर घर की

अथवा साधु चेदमुच्यते—

दुर्दिवसे घनतिमिरे दुःसञ्चारासु घनवीथीषु।
पत्युर्विदेशगमने परमसुखं जघनचपलायाः॥ १८४॥

तथा च—पर्यङ्केष्वास्तरणं पतिमनुकूलं मनोहरं शयनम्।
तृणमिव लघु मन्यन्ते कामिन्यश्चौर्यरतलुब्धाः॥ १८५॥

तथा च—केलिं प्रदहति लज्जा शृङ्गारोऽस्थीनि चाटवः कटवः।
बन्धक्याः परितोषो न किंचिदिष्टं भवेत्पत्यौ॥ १८६॥

सिद्धेः सौकर्य्यात् इति भावः। देवदत्तं—तदाख्यं जारम्।

दुर्दिवसे इति। दुर्दिवसे दुर्दिने, मेघाच्छन्नेऽह्नीत्यर्थः, ("मेघाच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम्" इत्यमरः) घनतिमिरे अन्धतमसे; निबिडान्धकारे इत्यर्थः, घनासु वीथीषु नगरमार्गेषु, दुःसञ्चारासु सञ्चरितुमशक्यासु, तथा पत्युः विदेशगमने विदेशप्रस्थाने, जघनचपलायाः सुरतोत्सुकायाः स्त्रियाः इति भावः; परमसुखम् अत्यन्तं सुखं, भवतीति शेषः; अविघ्नेन मनोरथसिद्धेरिति भावः। आर्य्या वृत्तम्॥ १८४॥

पर्य्यङ्केष्विति। चौर्य्यरतलुब्धाः गुप्तसुरतार्थिन्यः इत्यर्थः, कामिन्यः पर्य्यङ्केषु खट्वासु, आस्तरणम् आच्छादनवसनम्, अनुकूलं वंशवदं, पतिं, मनोहरं शयनं शय्याञ्च, तृणमिव लघु अकिञ्चित्करमित्यर्थः, मन्यन्ते; सर्वं सुखसाधनं गृहगतं वस्तु परित्यज्य अस्थानपतिताः जारं रमयन्तीति भावः। आर्या वृत्तम्॥ १८५॥

केलिमिति। बन्धक्याः कुलटायाः, पत्यौ पतिसमीपे, लज्जा, केलिं क्रीडां, सुरतसुखमित्यर्थः, प्रदहति नाशयति; पत्या सह सुरते समधिकां लज्जां प्रदर्शयति, तेन क्रीडादिकं न निःसङ्कोचं करोतीति भावः, शृङ्गारः पतिकर्तृकसुरतलीला इत्यर्थः, अस्थीनि प्रदहति, न तेन सा सन्तुष्यतीति भावः, चाटवः प्रियवचनानि,

---

ओर चल पड़ी। अथवा यह अच्छा ही कहा गया है—

बादलों से घिरे दिन में ही घने अन्धकार से भरी हुई चलने के अयोग्य नगर की गलियों में चलना (जार से मिलने के लिए जाना) पति के परदेश चले जाने पर कुलटा स्त्रियों को बहुत सुखदायी होता है॥ १८४॥

और भी—चोरी से (जार के साथ) सम्भोग करने की लालची स्त्रियाँ उत्तम चादर से ढकी हुई शय्या को और स्वाधीन पति को भी तृण के समान तुच्छ समझती हैं॥ १८५॥

और भी—कुलटा स्त्रियाँ अपने पति के साथ कामक्रीड़ा में अत्यधिक लज्जा दिखा कर उसे नष्ट कर देती हैं (नीरस बना देती हैं); स्वामी के परिहास भरे प्रिय वचनों को कटु समझती हैं तथा पति का शृंगार देखकर उनकी हड्डियाँ जल

कुलपतनं जनगर्हां बन्धनमपि जीवितव्यसन्देहम् ।
अङ्गीकरोति कुलटा सततं परपुरुषसंसक्ता ।। १८७ ।।

अथ कौलिकभार्या गृहं गत्वा देवशर्मणे गतास्तरणां भग्नां च खट्वां समर्प्येदमाह-'भो भगवन्, यावदहं स्वसखीं ग्रामादभ्यागतां सम्भाव्य द्रुतमागच्छामि तावत्त्वया मद्गृहेऽप्रमत्तेन भाव्यम् ।' एवमभिधाय शृङ्गारविधिं विधाय यावद्देवदत्तमुद्दिश्य व्रजति, तावत्तद्भर्ता सम्मुखो मदविह्वलाङ्गो मुक्तकेशः पदे पदे प्रस्खलन्गृहीतमद्यभाण्डः समभ्येति । तं च दृष्ट्वा सा द्रुततरं व्याघुटच स्वगृहं प्रविश्य मुक्तशृङ्गारवेशा यथा-

---

पत्युरिति भावः, कटवः कर्कशाः भवन्तीति शेषः, तस्मात् पत्यौ बन्धक्याः परितोषः किञ्चिदिष्टञ्च न नैव, भवेत्, पत्यावेव तासां लज्जा, न पुनरन्यत्र इति भावः । आर्य्या वृत्तम् ।। १८६ ।।

कुलपतनमिति । परपुरुषसंसक्ता कुलटा बन्धकी, सततं कुलपतनं वंशकलङ्क-मित्यर्थः, जनगर्हां लोकनिन्दां, बन्धनं स्वजनैः गृहे अवरोधनं, जीवितव्यसन्देहमपि जीवनसंशयञ्च, अङ्गीकरोति स्वीकरोति, पुंश्चल्यो हि कुलनाशादिकं किमपि न गणयन्तीति भावः । आर्य्या वृत्तम् ।। १८७ ।।

गतास्तरणाम्—आच्छादनशून्यां, प्रच्छदपटविहीनामित्यर्थः । भग्नां—त्रुटिताम् । ग्रामात्—तस्याः श्वशुरावासात् पितुरावासात् वा । सम्भाव्य—अभिनन्द्य । अप्रमत्तेन—सावधानेन । भाव्यं—स्थातव्यमित्यर्थः । शृङ्गारविधिं—सुरतोचितमनुष्ठानम् । सम्मुखः,—अभिमुखवर्त्तीत्यर्थः । प्रस्ख-लन्—इतस्ततो मार्गात् स्खलन्, समभ्येति—आगच्छति ।

जाती है । इस प्रकार उन्हें अपने पति में न तो प्रसन्नता ही मिलती है न वह उन्हें प्रिय ही लगते हैं ।। १८६ ।।

परपुरुष में आसक्त रहने वाली कुलटा स्त्रियाँ वंश में कलंक का लग जाना, लोगों में निन्दा, घर में (पति द्वारा) बंधन अथवा राजा द्वारा कारावास तथा यहाँ तक कि जीवन के विषय में संशय को भी स्वीकार कर लेती हैं अर्थात् वंश कलंक, निन्दा, बंधन आदि से भी भयभीत नहीं होती हैं ।। १८७ ।।

इसके पश्चात् जुलाहे की पत्नी ने घर जाकर देवशर्मा को विना बिछौने की एक टूटी चारपाई देकर कहा-'भगवन् ! जब तक मैं गाँव से आई हुई अपनी सखी से बातचीत करके न लौट आऊँ तब तक आप सावधानी के साथ मेरे घर में रहिएगा ।' इस प्रकार कह कर भलीभाँति शृंगार करके ज्यों हि (अपने यार) देवदत्त से मिलने में लिए चली त्यों ही नशे में चूर, बालों को बिखराए,

एवं निश्चित्य 'तस्यान्तिकमुपगम्य 'ॐ नमः शिवाय' इति प्रोच्चार्य साष्टाङ्गं प्रणम्य च सप्रश्रयमुवाच—'भगवन्, 'असारः संसारोऽयम्, 'गिरिनदीवेगोपमं यौवनम्, तृणाग्निसमं जीवितम्, 'शरदभ्रच्छायासदृशाः भोगाः स्वप्नसदृशो मित्रपुत्रकलत्रभृत्यवर्गसम्बन्धः, एवं मया सम्यक्परिज्ञातम्। तत्किं कुर्वन्तो मे संसारसमुद्रोत्तरणं भविष्यति ?' तच्छ्रुत्वा देवशर्मा सादरमाह—'वत्स ! धन्योऽसि, यत्प्रथमे वयस्येवं विरक्तिभावः। उक्तश्च—

पूर्वे वयसि यः शान्तः स शान्त इति मे मतिः।
धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते ? ॥ १७६ ॥

(१) तस्यान्तिकम्—परिव्राजकस्य समीपम्। सप्रश्रयम्—सानुरागम्।

(२) असारः,—नास्ति सारः,—उत्कर्षः यत्र तथोक्तः, तुच्छ इत्यर्थः।

(३) गिरिनदीवेगोपम्—शीघ्रपतनोन्मुखमिति भावः। यौवनम्—युवावस्था, तृणाग्निसमं—तृणाग्निः यथा क्षणेनैव निर्वाणत्वमेति तद्वदित्यर्थः।

(४) शरदिति। शरदि—शरत्काले, याः अभ्रच्छायाः,—मेघच्छायाः, तत्सदृशाः, क्षणविध्वंसिनः इति भावः। भोगाः;—सुखानि, विषयाः।

परिज्ञातम्—ज्ञातमिति, किं कुर्वतः—कथं वर्तमानस्य, व्यापारतत्परस्येति भावः, संसारसमुद्रोत्तरणम्—संसारसागरोत्तरणम्, भविष्यति। प्रथमे वयसि—जीवनस्य प्रथमावस्थायाम् एव, विरक्तिभावः,—संसारे वीतरागत्वम्, प्राप्तः।

पूर्वे इति। यः पूर्वे प्रथमे; वयसि यौवने इत्यर्थः, शान्तः शमपरः; स एव शान्त इति मे मम, मतिः ज्ञानं, विश्वास इत्यर्थः; धातुषु रसरक्तादिषु, क्षीयमाणेषु

ऐसा निश्चय करके उसके पास जाकर 'ॐ नमः शिवाय' कहकर साष्टाङ्ग-प्रणाम करके विनम्रता के साथ कहा—भगवन् ! यह संसार तत्वहीन है। यौवन पहाड़ी नदी के वेग के समान अत्यन्त तीव्र गति वाला है, जीवन घास फूस की आग की तरह क्षणस्थायी है, भोग विलास शरदकालीन बादलों की छाया के समान रसहीन हैं और मित्र, पुत्र, स्त्री, सेवक आदि का सम्बन्ध स्वप्न के समान असत्य है—यह मैंने भलीभाँति जान लिया है। अतः क्या करने से मैं संसार रूपी समुद्र से पार हो सकूँगा। यह सुनकर देवशर्मा ने आदर के साथ कहा—पुत्र ! तुम धन्य हो, क्योंकि युवावस्था में ही तुझ में इस प्रकार का वैराग्य भाव उत्पन्न हो गया है। कहा भी गया है—

युवावस्था में ही जो पुरुष शान्त (इन्द्रियों के क्षोभ से रहित) रहता है वही शान्त कहा जाता है। धातुओं के क्षीण हो जाने पर (इन्द्रियों के असमर्थ हो जाने पर) किस पुरुष में वैराग्य नहीं आ जाता ? अर्थात् सभी वैरागी बन

आदौ चित्ते ततः काये सतां सम्पद्यते जरा ।
असतां तु पुनः काये नैव चित्ते कदाचन ॥ १७७ ॥

यच्च मां संसारसागरोत्तरणोपायं पृच्छसि, तच्छ्रूयताम्—

शूद्रो वा यदि वाऽन्योऽपि चण्डालोऽपि जटाधरः ।
दीक्षितः शिवमन्त्रेण स भस्माङ्गी शिवो भवेत् ॥ १७८ ॥
षडक्षरेण मन्त्रेण पुष्पमेकमपि स्वयम् ।
लिङ्गस्य मूर्ध्नि यो दद्यान्न स भूयोऽभिजायते' ॥ १७९ ॥

क्रमेण वयोबाहुल्यात् स्वयं क्षीणतां व्रजत्सु इत्यर्थः, [कर्मकर्त्तरि शानच्] कस्य जनस्य, शमः संसारवैराग्यं, न जायते ? अपि तु सर्वस्यैव जायते इत्यर्थः ॥ १७६ ॥

आदाविति । सतां साधूनाम्, आदौ प्रथमं, चित्ते मनसि, ततः अनन्तरं, काये शरीरे; जरा वार्द्धकजनितचर्मलोलतादिरूपावस्थाविशेषः, सम्पद्यते जायते; असतां तु दुर्जनानां तु, पुनः काये जरा सम्पद्यते, आदाविति भावः, कदाचन चित्ते मनसि, नैव जायते ॥ १७७ ॥

शूद्र इति । शूद्रः वा, अन्योऽपि शूद्रभिन्नो निकृष्टजातिरपि वा, चण्डालोऽन्त्यजोऽपि वा, यदि शिवमन्त्रेण दीक्षितः संस्कृतः सन्, जटाधरः तथा भस्माङ्गी भूतिभूषिताङ्गः इत्यर्थः, भवेदिति शेषः, तदा सशिवः शिवेनाभिन्नः, भवेत् ॥ १७८ ॥

षड्क्षरेणेति । यः जनः, स्वयम् आत्मना, षडक्षरेण "ओं नमः शिवाय" इत्यनेन, मन्त्रेण, एकमपि पुष्पं लिङ्गस्य लिङ्गमूर्तिधरस्य शिवस्य, मूर्ध्नि शिरसि, दद्यात्, सः भूयः पुनः, न अभिजायते नास्य पुनर्जन्म स्यात् इत्यर्थः ॥ १७९ ॥

जाते हैं ॥ १७६ ॥

महापुरुषों की वृद्धावस्था पहिले मन में आती है, फिर उसका प्रभाव शरीर पर पड़ता है अर्थात् महापुरुष वृद्ध होने के पहिले ही विरक्त हो जाते हैं । किन्तु दुष्टों की वृद्धावस्था पहिले शरीर में आती है और उसका प्रभाव उनके मन पर कभी नहीं पड़ता अर्थात् दुष्ट बुढ़ापे में भी विषयों से विरक्त नहीं हो पाते ॥ १७७ ॥

और जो मुझसे संसार सागर से पार जाने का उपाय पूँछते हो तो सुनो—

चाहे शूद्र हो या अन्य कोई भी हो, यहाँ तक कि चण्डाल ही क्यों न हो, यदि वह, शिव मन्त्र (ॐ नमः शिवाय) से दीक्षित हो कर जटाधारण कर लेता है तथा शरीर में भस्म रमा लेता है तो वह साक्षात् शिव स्वरूप हो जाता है ॥ १७८ ॥

जो व्यक्ति स्वयं षडक्षर मन्त्र (ॐ नमः शिवाय) से अभिमन्त्रित करके एक फूल भी शिवलिंग पर चढ़ा देता है वह फिर जन्म नहीं लेता है अर्थात् जन्म मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥ १७९ ॥

पूर्वमभवत्। कौलिकोऽपि तां पलायमानां कृताद्भुतशृङ्गारां विलोक्य प्रागेव कर्णपरम्परया तस्याः श्रुतापवादक्षुभितहृदयः स्वाकारं निगूहमानः सदैवास्ते। ततश्च तथाविधं चेष्टितमवलोक्य दृष्टप्रत्ययः क्रोधवशगो गृहं प्रविश्य तामुवाच—'आः पापे! पुंश्चलि; क्व प्रस्थितासि?' सा प्रोवाच—'अहं त्वत्सकाशादागता न कुत्रचिदपि निर्गता। तत्कथं मद्यपानवशादप्रस्तुतं वदसि?

अथवा साधु चेदमुच्यते—

वैकल्यं धरणीपातमयथोचितजल्पनम्।
सन्निपातस्य चिह्नानि मद्यं सर्वाणि दर्शयेत्॥ १८८॥

व्याघुट्य—प्रत्यावृत्य।

कृताद्भुतशृङ्गाराम्—अनुष्ठितविचित्रशृङ्गारवेशामित्यर्थः।

श्रुतेति। श्रुतेन अपवादेन—कलङ्केन, क्षुभितं—सन्दिग्धं, हृदयं यस्य तथाभूतः।

स्वाकारं—निजमाकारं, हृदयभावमिति भावः। निगूहमानः,—सङ्गोपयन्, आस्ते। चेष्टितम्—आचरणम्।

दृष्टप्रत्ययः—असन्दिग्धः इति भावः। प्रस्थिताऽसि—गतासि। अप्रस्तुतम्—असङ्गतम्।

वैकल्यमिति। मद्यं सुरा, वैकल्यम् अवशाङ्गत्वमित्यर्थः, धरणीपात्रं भूमौ पतनम्; अयथोचितजल्पनम् असङ्गतं प्रलपनमित्यर्थः, एतानि सर्वाणि सन्निपातस्य त्रिदोष-

---

पग पग पर लड़खड़ाते हुए तथा (हाथ में) मद्य का बर्तन लिए हुए उसका पति उसके सामने आ पहुँचा। उसे देखकर अत्यन्त शीघ्रता से लौटकर वह घर में चली गई तथा अपना सारा शृंगार उतार कर फिर पहिले जैसी हो गई। जुलाहे ने भी अद्भुत शृंगार धारण करने वाली (अपनी) पत्नी को भागते हुए देख लिया। वह पहिले ही लोगों से उसके विषय में निन्दा की बातें सुन चुका था किन्तु अत्यन्त क्षुब्ध होकर भी सर्वदा अपने भावों को छिपाए रखता था। उस समय उसकी वैसी चेष्टा देखकर, देखी हुई बात पर विश्वास करके उसने क्रुद्ध होकर घर में जाकर उससे कहा—अरी पापिनी कुलटे! कहाँ जा रही थी? उसने कहा—मैं तो तुम्हारे पास से आकर फिर कहीं नहीं गयी। शराब के नशे में क्यों इस प्रकार की उटपटांग बातें बक रहे हो।

अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

विकलता (शरीर के अंगों पर नियन्त्रण न रह जाना); भूमि पर गिर

करस्पन्दोऽम्बरत्यागस्तेजोहानिः सरागता ।
वारुणीसङ्गजावस्था भानुनाऽप्यनुभूयते' ॥ १८९ ॥

सोऽपि तच्छ्रुत्वा प्रतिकूलवचनं वेशविपर्ययं चावलोक्य तामाह—'पुंश्चलि, चिरकालं श्रुतो मया तवापवादः । तदद्य स्वयं सञ्जातप्रत्ययस्तव यथोचितं निग्रहं करोमि'—इत्यभिधाय लगुडप्रहारैस्तां जर्जरितदेहां विधाय स्थूणया सह दृढबन्धनेन बद्ध्वा सोऽपि मदविह्वलो निद्रावशमगमत् । अत्रान्तरे तस्याः सखी नापिती कौलिकं निद्रावशगतं विज्ञाय तां गत्वेद-

---

जनित विकारस्य, चिह्नानि दर्शयेत् प्रकाशयेत्, पीतमद्ये जने इति शेषः ॥ १८८ ॥

करस्पन्द इति । करस्पन्दः हस्तकम्पनं, किरणह्रासश्चेत्यर्थः, अम्बरत्यागः वस्त्रत्यागः, आकाशात् पतनञ्च, तेजोहानिः बलह्रासः, दीप्तिह्रासश्च, तथा सरागता नेत्रवक्त्रादीनां रक्तवर्णता च, वारुणी सुरा, वरुणपालिता पश्चिमा दिक् च, तत्सङ्गजा तत्पानजा, तदाश्रयजा च, पूर्वोक्ता अवस्था भानुनाऽपि सूर्येणापि, अन्येषां का कथेति भावः, अनुभूयते भुज्यते । अस्तगमनसमये सूर्यस्य यादृगवस्था भवति, पीतमद्यस्यापि तथा इति भावः । श्लेषानुप्राणितेयमुपमा ॥ १८९ ॥

वेषविपर्ययम्—वेषपरिवर्तनम् । प्रत्ययः—विश्वासः, निग्रहम्—दण्डप्रदानेन निवारणम् ।

स्थूणया—स्तम्भेन, गृहधारकदारुविशेषेण वा ।

पड़ना और अंट-संट बकना, सन्निपात रोग (वात पित्त कफ का एक हो जाना) के ये सभी चिह्न मद्यपान में दिखाई पड़ते हैं ॥ १८८ ॥

वारुणी (सूर्य पक्ष में पश्चिम दिशा, शराबी के पक्ष में—शराब) के संगर्ग से उत्पन्न करस्पन्द (सूर्य पक्ष में किरणों का झिलमिलाना, शराबी के पक्ष में—हाथों का काँपना) अम्बरत्याग (सूर्य के पक्ष में आकाश का त्याग, शराबी के पक्ष में—वस्त्रों को उतार फेंकना) तेजहीनता (सूर्य के पक्ष में कान्तिहीनता, शराबी के पक्ष में बलहीनता) तथा सरागता (सूर्य के पक्ष में लालिमा, शराबी के पक्ष में नेत्रादि अंगों का लाल हो जाना) की दशा जब सूर्य को भी अनुभव करनी पड़ती है तब अन्य की बात ही क्या है ? ॥ १८९ ॥

जुलाहे ने भी उसकी उलटी पुलटी बातें सुन कर तथा उसके वेषपरिवर्तन को देखकर कहा—'कुलटे ! मैं बहुत दिन से तुम्हारी निन्दा सुन रहा था । आज मैंने स्वयं देखकर विश्वास कर लिया है । इसलिए मैं तुझे यथोचित दण्ड दे रहा हूँ—ऐसा कहकर उसने उसके शरीर को डण्डों से पीटकर धुन डाला और खम्भे में दृढ़ता के साथ बाँधकर नशे में चूर होने के कारण सो गया । इसी बीच उसकी सखी नाईन,

समुत्क्षिप्य स्वगृहमानाययत्। तत्र च विविधैः शीतोपचारैश्चिकित्सकोपदिष्टैर्मन्त्रवादिभिरुपचर्यमाणश्चिरात्कथंचित्सचेतनो बभूव। ततो रथकारेण पृष्टः—'भो मित्र, किमेवं त्वमकस्माद्विचेतनः सञ्जातः? तत्कथ्यतामात्मस्वरूपम्'। स आह—'वयस्य, यद्येवं तच्छृणु मे रहस्यं येन सर्वामात्मवेदनां ते वदामि। यदि त्वं मां सुहृदं मन्यसे, तदा काष्ठप्रदानेन प्रसादः क्रियताम्। क्षम्यतां यद्वा किंचित्प्रणयातिरेकादयुक्तं तव मयानुष्ठितम्।' सोऽपि तदाकर्ण्य बाष्पपिहितनयनः सगद्गदमुवाच—'वयस्य' यत्किंचिद् दुःखकारणं तद्वद येन प्रतीकारः क्रियते, यदि शक्यते कर्तुम्। उक्तं च—

(१) तदवस्थं—भूमिगतम्। आप्तपुरुषैः—आत्मीयजनैः। समुत्क्षिप्य—समुत्तोल्य। आनाययत्—अनयत्।

(२) शीतोपचारैः,—जलप्रदानादिभिः शीतलप्रक्रियाभिः। चिकित्सकोपदिष्टैः-वैद्यादेशानुसारैः; मन्त्रवादिभिः,—भूतविद्याऽभिज्ञैरित्यर्थः। उपचर्यमाणः,—सेव्यमानः। सचेतनः—चेतनायुक्तः। अकस्मात्—सहसैव, विचेतनः—गतचेतनः, आत्मस्वरूपम्—स्वस्वास्थ्यम्।

(३) काष्ठप्रदानेन—चितारचनेन इत्यर्थः। प्रणयातिरेकात्—प्रीतिबाहुल्यात्। अयुक्तम्—अनुचितम्, अनुष्ठितम्—कृतम्।

(४) बाष्पेति। बाष्पेण—नेत्रजलेन, पिहिते—आच्छादिते; नयने यस्य तादृशः। सगद्गदं—गद्गदः,—अव्यक्तास्फुटशब्दः, तेन सह वर्त्तमानं तद्यथा तथा। प्रतीकारः दूरीकरणोपायः।

उसके दुःख से अत्यन्त दुःखी हो उठा और अपने हितैषियों द्वारा उसे उठवाकर घर ले आया। वहाँ सद्वैद्यों द्वारा बताए गए अनेक शीतोपचारों (चन्दन, शीतल जल आदि) तथा मन्त्रज्ञों की झाड़-फूँक से बहुत देर के बाद किसी प्रकार वह होश में आ गया। तब बढ़ई ने पूँछा—मित्र तुम इस प्रकार एकाएक बेहोश क्यों हो गए? अतः अपने मन की सारी स्थिति बता दो। उसने कहा—मित्र, यदि ऐसी बात है तो सुनो—मैं अपने मन की छिपी हुई पीड़ा तुम्हें बता रहा हूँ। यदि तुम मुझे अपना मित्र समझते हो तो मेरे लिए चिता बनाने की कृपा करो और अत्यधिक प्रेम के आवेश में यदि मैंने तुम्हारे साथ कोई अनुचित व्यवहार कर दिया हो तो उसे भी क्षमा कर दो।" उसने भी यह सुनकर डब-डबाई हुई आँखों और रुँधे हुए गले से कहा—"मित्र! तुम्हारे दुःख का जो भी कारण हो, उसे बताओ, जिससे यदि हो सके तो उसे दूर करने का उपाय किया जाय। कहा भी गया है—

औषधार्थसुमन्त्राणां बुद्धेश्चैव महात्मनाम् ।
असाध्यं नास्ति लोकेऽत्र यद्ब्रह्माण्डस्य मध्यगम् ॥ २१९ ॥

'तदेषां चतुर्णां यदि साध्यं भविष्यति, तदाहं साधयिष्यामि ।' कौलिक आह—'वयस्य' एतेषामन्येषामपि सहस्राणामुपायानामसाध्यं तन्मे दुःखम् । तस्मान्मम मरणे मा कालक्षेपं कुरु ।' रथकार आह—'भो मित्र, यद्यप्यसाध्यं, तथापि निवेदय, येनाहमपि तदसाध्यं मत्वा त्वया सह वह्नौ प्रविशामि । न क्षणमपि त्वद्वियोगं सहिष्ये । एष मे निश्चयः ।' कौलिक आह—'वयस्य, यासौ राजकन्या करेणूकारूढा तत्रोत्सवे दृष्टा, तस्या दर्शनानन्तरं मकरध्वजेन मयेयमवस्था विहिता । तन्न शक्नोमि तद्वेदनां सोढुम् ।' तथा चोक्तम्—

मत्तेभकुम्भपरिणाहिनि कुङ्कुमार्द्रे
तस्याः पयोधरयुगे रतिखेदखिन्नः ।

औषधेति । अत्र अस्मिन्, लोके संसारे, यत् वस्तु, ब्रह्माण्डस्य जगतः, मध्यगम् अन्तर्गतं, जगति लभ्यमित्यर्थः, तत् वस्तु औषधं भेषजम्, अर्थः धनं, सुमन्त्रः सुमन्त्रणा तेषां, तथा महात्मनां बुद्धेश्च असाध्यं न अस्त्येव न विद्यते एव; सर्वमेव औषधेन अर्थेन सुमन्त्रेण बुद्धिबलेन च साधयितुं शक्यते इति फलितार्थः ॥ २१९ ॥

(१) कालक्षेपम्—विलम्बम् । तत्रोत्सवे—दर्शनोत्सवे ।

(२) मकरध्वजेन—कन्दर्पेन, कामेन । अवस्था, विहिता—प्राप्ता ।

मत्तेभेति । कदा तदीयसङ्गं तस्याः सङ्गमम्, अवाप्य लब्ध्वा; रतखेदेन सुरत-

---

इस लोक में ब्रह्माण्ड के भीतर ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो औषधि, धन, मन्त्रप्रयोग और बुद्धिमानों की बुद्धि द्वारा प्राप्त न की जा सके ॥ २१९ ॥

इस लिए इन चारों उपायों से यदि तुम्हारा कार्य साध्य होगा तो मैं उसे अवश्य ही सिद्ध करूँगा ।" कौलिक ने कहा—"मित्र ! इन चारों तथा दूसरे हजारों उपायों से भी मेरा दुःख असाध्य है । अतः मेरे मरने में व्यर्थ समय मत बिताओ ।" रथकार ने कहा—मित्र ! यदि वह असाध्य भी हो तो बताओ, ताकि मैं भी उसे असाध्य मानकर तुम्हारे साथ ही अग्नि में प्रवेश करूँ । मैं क्षण भर के लिए भी तुम्हारा वियोग नहीं सह सकूँगा । ऐसा मेरा निश्चय है । कौलिक ने कहा—'मित्र ? उस महोत्सव में मैंने हथिनी पर बैठी हुई जिस राज कन्या को देखा था, उसे देखते ही कामदेव ने मेरी यह दशा कर दी है । इस लिए उस पीड़ा को अब मैं नहीं सहन कर सकता । जैसा कि किसी ने कहा भी है—

उसका समागम प्राप्त करके रतिश्रम से थककर मतवाले हाथी के गण्डस्थल के

वक्षो निधाय भुजपञ्जरमध्यवर्ती
स्वप्स्ये कदा क्षणमवाप्य तदीयसङ्गम् ॥ २२० ॥

तथा च—

रागी बिम्बाधरोऽसौ स्तनकलशयुगं यौवनारूढगर्वं
नीचा नाभिः प्रकृत्या कुटिलकमलकं स्वल्पकं चापि मध्यम् ।
कुर्वन्त्वेतानि नाम प्रसभमिह मनश्चिन्तितान्याशु खेदं
यन्मां तस्याः कपोलौ दहत इति मुहुः स्वच्छकौ तन्न युक्तम्' ॥ २२१ ॥

श्रमेण, खिन्नः क्लान्तः सन्, मत्तेभस्य मत्तगजस्य, यौ कुम्भौ तयोः परिणाहः विशालता इव परिणाहो यस्य तादृशे, ("परिणाहो विशालता" इत्यमरः) कुङ्कुमार्द्रे कुङ्कुमेन गन्धद्रव्यभेदेन, तद्विलेपनेनेत्यर्थः, आर्द्रे शीतले, तस्याः कन्यायाः, पयोधरयुगे कुचयुगले, वक्षो निधाय स्थापयित्वा, भुजपञ्जरमध्यवर्त्ती गाढालिङ्गनबद्धः सन्नित्यर्थः; क्षणं स्वप्स्ये निद्रां यास्यामि । अत्र आत्मनेपदं विवक्षितम् । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ २२० ॥

रागीति । तस्याः असौ बिम्बाधरः, रागी रागवान्, रक्तः इत्यर्थः, मात्सर्य्यवान् इति ध्वन्यते । स्तनकलसयुगं कुचकुम्भद्वयं, यौवनेन आरूढः जातः, गर्वः औद्धत्यम्, औन्नत्यमिति यावत्, यत्र तथोक्त, तारुण्येन हेतुना प्राप्तोन्नत्यमित्यर्थः, एतेन दर्पवत्त्वं ध्वन्यते । नाभिः नीचा निम्ना, शुभलक्षणयुक्ता इति भावः, नीचस्वभावत्वञ्च व्यज्यते । अलकं चूर्णकुन्तलः, प्रकृत्या स्वभावेन, कुटिलकं वक्रं; भङ्गिमत्त्वादतीव सौन्दर्य्यवर्द्धकमिति भावः, [कुटिलप्रकृतित्वञ्च व्यज्यते] मध्यमपि च, कटिदेशश्चापि, स्वल्पकं क्षीणमित्यर्थः; अल्पमतित्वमपि व्यज्यते एतानि मनश्चिन्तितानि मया मनसाऽऽलोचितानि सन्ति, आशु शीघ्रं, प्रसभं बलात्, इह अस्मिन्; मयीत्यर्थः, खेदं कुर्वन्तु जनयन्तु, नाम सम्भावनायाम्; एतेषां रागवत्तादिदोषयोगात् लोकस्य मनःखेदनं सम्भाव्यते इति भावः; किन्तु स्वच्छकौ शुभ्रौ इत्यर्थः, [निर्मलाशयौ इति व्यज्यते] कपोलौ गण्डौ, मुहुः पुनः पुनः, मां दहतः सन्तापयतः; चिन्तने

समान विशाल तथा केशर के लेप से गीले उसके स्तनों पर अपनी छाती रखकर उसकी भुजाओं के बीच में मैं क्षण भर के लिए कब सो सकूँगा ॥ २२० ॥

बिम्बा फल के समान लाल उसके अधर, कलश जैसे गोल मटोल स्तन, जवानी की मस्ती, अत्यन्त गहरी नाभि, स्वभावतः घुँघराली अलकें तथा अत्यन्त पतली कमर आदि स्मरण करने मात्र से ही बलात् मन में खेद उत्पन्न करतीं हैं। यह तो उचित ही है किन्तु उसके अत्यन्त निर्मल कपोल भी जो मुझे कष्ट पहुँचा रहे है, यह तो नितान्त अनुचित है ॥ २२१ ॥

रथकारोऽप्येवं सकामं तद्वचनमाकर्ण्य सस्मितमिदमाह—'वयस्य, यद्येवं तर्हि दिष्टया सिद्धं नः प्रयोजनम्। तत् अद्यैव तया सह समागमः क्रियताम्' इति। कौलिक आह—'वयस्य, यत्र कन्यान्तःपुरे वायु मुक्त्वा नान्यस्य प्रवेशोऽस्ति, तत्र रक्षापुरुषाधिष्ठिते कथं मम तया सह समागमः ? तत्किं मामसत्यवचनेन विडम्बयसि ?' रथकार आह—'मित्र, पश्य मे बुद्धिबलम्।' एवमभिधाय तत्क्षणात्कीलसञ्चारिणं वैनतेयं बाहुयुगलं वायुजवृक्षदारुणा शङ्खचक्रगदापद्मान्वितं सकिरीटकौस्तुभमघटयत्। ततस्तस्मिन्कौलिकं समारोप्य विष्णुचिह्नितं कृत्वा कीलसंचरणविज्ञानं च दर्शयित्वा प्रोवाच—'वयस्य, अनेन विष्णुरूपेण गत्वा कन्यान्तःपुरे निशीथे

इति भावः, इति यत् तत् न युक्तम् उचितं, तयोर्वैमत्यात् परखेदनस्तु अयुक्तत्वादिति भावः। स्रग्धरा वृत्तम् ॥ २२१ ॥

(१) सकामं—कामाभिभूतम्; दिष्टया—भाग्येन, प्रयोजनं—कार्यम्। रक्षापुरुषाधिष्ठिते—रक्षिवर्गपरिवृते। विडम्बयसि—प्रतारयसि।

(२) कीलेति। कीलेन—शङ्कुना, कीलघूर्णनकौशलेनेत्यर्थः, सञ्चरति—चलतीति तथाविधम्। वैनतेयं—गरुडम्। वायुजेति। वायुजो नाम वृक्षभेदः, तस्य दारुणा—काष्ठेन, तस्य वृक्षस्य अतीव लघुभारत्वात् सञ्चरणशक्तिरस्तीति भावः। अघटयत्—अयोजयत्।

(३) विष्णुचिह्नितं—शङ्खादियुक्तबाहुद्वयस्य किरीटकौस्तुभयोश्च परिधापनेन विष्णुचिह्नधारिणम्। कीलसञ्चरणविज्ञानं—कीलसञ्चालनकौशलम्।

(४) निशीथे—अर्द्धरात्रे।

रथकार ने भी उसकी ऐसी कामवासना पूर्ण बातें सुनकर मुस्कुराते हुए इस प्रकार कहा—"मित्र ! यदि ऐसी बात है तो सौभाग्य से हम लोगों का मनोरथ सिद्ध हो गया। इसलिए आज ही उस राजकन्या के साथ समागम करो।" कौलिक ने कहा—"मित्र ! जिस कन्यान्तःपुर में वायु को छोड़कर दूसरा कोई भी प्रविष्ट नहीं हो सकता, वहाँ पहरेदारों के रहते हुए मैं कैसे उसके साथ समागम कर सकता हूँ ? तुम झूठी बात कह कर क्यों मेरी विडम्बना कर रहे हो ? रथकार ने कहा—"मित्र ! मेरी बुद्धि की शक्ति तो देखो।" ऐसा कहककर उसने वायुज (साल्ह नामक एक) विशेष वृक्ष की लकड़ी से तत्काल ही कील घुमाने से उड़ने वाले गरुड़, दो भुजाएँ, शंख, चक्र, गदा, पद्म, किरीट और मुकुट का निर्माण किया। इसके पश्चात् कौलिक को उस गरुड़ पर बिठाकर विष्णु के चिह्नों से चिह्नित करके (दो भुजाएँ तथा शङ्ख चक्र आदि पहिनाकर) कील घुमाने

तां राजकन्यामेकाकिनीं सप्तभूमिकप्रासादप्रान्तगतां मुग्धस्वभावां त्वां वासुदेवं मन्यमानां स्वकीयमिथ्यावक्रोक्तिभी रञ्जयित्वा वात्स्यायनोक्त-विधिना भज।' कौलिकोऽपि तदाकर्ण्य तथारूपस्तत्र गत्वा तामाह—'राजपुत्रि, सुप्ता ? किं वा जागर्षि ? अहं तव कृते समुद्रात्सानुरागो लक्ष्मीं विहायैवागतः। तत्क्रियतां मया सह समागमः' इति। सापि गरुडारूढं चतुर्भुजं सायुधं कौस्तुभोपेतमवलोक्य सविस्मया शयनादुत्थाय प्रोवाच-भगवन्, अहं मानुषी कीटिकाशुचिः। भगवांस्त्रैलोक्यपावनो वन्दनीयश्च। तत्कथमेतद्युज्यते ?' कौलिक आह—'सुभगे, सत्यमभिहितं भवत्या। किं

---

(१) सप्तेति। सप्तसङ्ख्या भूमयः,—उपर्युपरिभावेन स्थिता आलयविशेषा यत्र तादृशः, यः प्रासादः,—सप्ततलं राजभवनमित्यर्थः; तस्य प्रान्ते—सर्वोपरिगृहे, गतां—स्थिताम्। मुग्धस्वभावां—सरलप्रकृतिम्।

(२) वासुदेवं—श्रीकृष्णम्। स्वकीयमिथ्यावक्रोक्तिभिः,—निजासत्यवचनैः कपटवाक्यैश्च। रञ्जयित्वा—अनुरञ्जयित्वा। वात्स्यायनोक्तविधिना—वात्स्यायनेन मुनिना, उक्तः यो विधिः, स्वरचित कामशास्त्रे इति भावः, तेन। भज—सेवस्व, रमस्वेत्यर्थः।

(३) तथारूपः,—विष्णुचिह्नधरः सन्। सानुरागः—स्नेहान्वितः।

(४) कीटिका—तुच्छकीटस्वरूपा, अतिक्षुद्रेति भावः। अशुचिः,—अपवित्रा।

की कला सिखा कर कहा—'मित्र ! इस विष्णु रूप से उस कन्या के महल में जाकर आधी रात के समय सात तल्ले वाले राजमहल के आखिरी भाग में अकेली रहने वाली भोली-भाली तथा तुम्हें विष्णु भगवान् समझने वाली उस राजकन्या को अपनी झूठी तथा छल प्रपञ्चमयी बातों से प्रसन्न करके वात्स्यायन निर्मित कामसूत्र के नियमों के अनुसार उसके साथ सम्भोग करो।' कौलिक ने भी यह सुनकर उसी (विष्णु) रूप में वहाँ जाकर उस राजकन्या से कहा—'राजकुमारी सो रही हो ? अथवा जाग रही हो ? मैं तुम्हारे लिए क्षीरसागर से लक्ष्मी को छोड़कर तुम्हारे प्रति अनुरक्त होकर आया हूँ। इसलिए मेरे साथ समागम करो। उस राजकुमारी ने भी गरुड़ पर सवार, चतुर्भुज तथा सभी अस्त्रों एवं कौस्तुभ मणि को धारण करने वाले उस रूप को देखकर आश्चर्य के साथ शय्या से उतरकर कहा—"भगवन् ! मैं मानवी हूँ, कीड़े मकोड़े के समान अपवित्र हूँ। आप तीनों लोकों को पवित्र करने वाले तथा वन्दनीय हैं। इसलिए यह (हमारा आपका समागम) कैसे हो सकता है ?" कौलिक ने कहा—'सुन्दरी !

तु राधा नाम मे भार्या गोपकुलप्रसूता प्रथममासीत्, सा त्वमत्रावतीर्णा। तेनाहमत्रायातः।' इत्युक्ता सा प्राह-'भगवन्, यद्येवं तन्मे तातं प्रार्थय। सोऽप्यविकल्पं मां तुभ्यं प्रयच्छति।' कौलिक आह—सुभगे, नाहं दर्शनपथं मानुषाणां गच्छामि। किं पुनरालापकरणम्? त्वं गान्धर्वेण विवाहेनात्मानं प्रयच्छ। नो चेच्छापं दत्वा सान्वयं ते पितरं भस्मसात्करिष्यामि' इति। एवमभिधाय गरुडादवतीर्य सव्ये पाणौ गृहीत्वा तां सभयां सलज्जां वेपमानां शय्यायामनयत्। ततश्च रात्रिशेषं यावद्वात्स्यायनोक्तविधिना निषेव्य प्रत्यूषे स्वगृहमलक्षितो जगाम। एवं तस्य तां नित्यं सेवमानस्य कालो याति।

अथ कदाचित्कञ्चुकिनस्तस्या अधरोष्ठप्रवालखण्डनं दृष्ट्वा मिथः

त्रैलोक्यपावनः,—त्रिभुवनपवित्रतासम्पादकः। युज्यते—सम्भवति। अवतीर्णा—प्रादुर्भूता।

(१) तातं—पितरम्। अविकल्पं—निःसंशयम्। दर्शनपथं—दृष्टिगोचरम्।

(२) गान्धर्वेण—अन्योऽन्यानुरागनिबन्धनविवाहविशेषेण, "गान्धर्वः समयान्मिथः" इति स्मरणात्। आत्मानं प्रयच्छ—आत्मसमर्पणं कुरु, मां भजस्वेत्यर्थः।

(३) सान्वयं—सवंशम्।

(४) सव्ये—वामे। वेपमानां—कम्पमानाम्।

(५) अधरोष्ठप्रवालखण्डम्—अधरोष्ठकिशलयक्षतं, ("प्रवालोऽस्त्री किशलये

तुम्हारा कहना सत्य है। किन्तु राधा नाम की मेरी पत्नी जो पहिले गोपकुल (ग्वालों के वंश) में उत्पन्न हुई थी, तुम वही हो, और अब यहाँ पैदा हुई हो। इसी से मैं यहाँ आया हूँ।" ऐसा कहने पर उसने कहा—"भगवन्! यदि ऐसी बात है तो आप मेरे पिता से निवेदन कीजिए। निःसन्देह वह मुझे आपको समर्पित कर देंगे।" कौलिक ने कहा—"सुन्दरी! मैं मनुष्यों की दृष्टि में नहीं आ सकता हूँ अर्थात् उनके सामने प्रत्यक्ष नहीं हो सकता हूँ। फिर उनसे बात करना तो दूर की बात है। अतः तुम गन्धर्व विवाह द्वारा अपने आपको मुझे समर्पित कर दो। नहीं तो शाप देकर मैं कुलसहित तुम्हारे पिता को भस्म कर दूँगा।" ऐसा कहकर गरुड़ से उतर करके वह उस भयभीत, लज्जित एवं काँपती हुई राजकुमारी का बायां हाथ पकड़ कर शय्या पर ले गया। इसके पश्चात् सारी रात वात्स्यायन द्वारा बताई हुई विधियों से सम्भोग करके वह उषःकाल होते ही अलक्षित होकर अपने घर चला गया। इसी प्रकार प्रतिदिन संभोग करते

प्रोचुः– अहो, पश्यतास्या राजकन्यायाः पुरुषोपभुक्ताया इव शरीरावयवाः विभाव्यन्ते। तत्कथं सुरक्षितेऽप्यस्मिन्गृह एवंविधो व्यवहारः? तद्राज्ञे निवेदयामः।' एवं निश्चित्य सर्वे समेत्य राजानं प्रोचुः—देव, वयं न विद्मः। परं सुरक्षितेऽपि कन्यान्तःपुरे कश्चित्प्रविशति। तद् देवः प्रमाणम्' इति। तच्छ्रुत्वा राजतीव व्याकुलितचित्तो व्यचिन्तयत्—

पुत्रीति जाता महतीह चिन्ता
कस्मै प्रदेयेति महान्वितर्कः।
दत्त्वा सुखं प्राप्स्यति वा न वेति
कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम् ॥ २२२ ॥

वीणादण्डे च विद्रुमे" इति मेदिनी)। मिथः,—परस्परम्।

(१) विभाव्यन्ते–लक्ष्यन्ते। न विद्मः—नावगच्छामः।

(२) प्रमाणं—प्रमाता, यथोचितकारीत्यर्थः।

पुत्रीति। इह संसारे, पुत्री कन्या, जाता उत्पन्ना, इति एतदेव इत्यर्थः, महती प्रबला, चिन्ता भावनाविषयः, कथं चिन्ता इत्याह—कस्मै प्रदेया इति एवं; तथा दत्ता अर्पिता सती, कस्मैचिदिति शेषः, सुखं प्राप्स्यति लप्स्यति वा, न वा; प्राप्स्यति इति शेषः, इति च महान् वितर्कः संशयः, तज्जनितभावना इत्यर्थः; तस्मात् कन्यापितृत्वं कन्योत्पादनमित्यर्थः, कष्टं खलु, नाम सम्भावनायाम्; कन्यापिता तच्चिन्तया सततमेव क्लेशं प्राप्नोतीति सम्भावयामि इति भावः। इन्द्रवज्रा वृत्तम्। २२२ ॥

हुए उस कौलिक का समय बीतने लगा।

इसके पश्चात् एक दिन कंचुकियों ने राजकुमारी के किसलय जैसे लाल अधरों को खण्डित (दाँत से कटा हुआ) देखकर आपस में कहा कि "देखो यह कितना आश्चर्य है कि इस राजकन्या के सभी अंग पुरुष से उपभुक्त जैसे प्रतीत हो रहे हैं। इस सुरक्षित राज-भवन में भी यह कार्य हुआ कैसे? अतः राजा से निवेदन कर देना चाहिए।" ऐसा निश्चय करके वे सभी साथ ही राजा के पास जाकर बोले—देव! हम लोग जानते तो नहीं है किन्तु पूरी तरह सुरक्षित रहने पर भी कन्या के अन्तःपुर में कोई चला जाता है। अतः आप जैसा उचित समझें वैसा करें। यह सुनकर राजा ने अत्यन्त व्याकुल चित्त से विचार किया—

इस संसार में पुत्री उत्पन्न हुई कि एक बहुत बड़ी चिन्ता सिर पर सवार हो जाती है। मन में बहुत बड़ी उलझन खड़ी हो जाती है कि इसे किसको देना चाहिए और दे देने के बाद भी यह खटका लगा ही रहता है कि वह (पतिगृह

नद्यश्च नार्यश्च सदृक्प्रभावा-
स्तुल्यानि कूलानि कुलानि तासाम् ।
तोयैश्च दोषैश्च निपातयन्ति
नद्यो हि कूलानि कुलानि नार्यः ॥ २२३ ॥

अन्यच्च--

जननीमनो हरति जातवती परिवर्धते सह शुचा सुहृदाम् ।
परसात्कृतापि कुरुते मलिनं दुरितक्रमा दुहितरो विपदः' ॥ २२४ ॥

नद्य इति । नद्यश्च नार्य्यश्च सदृक्प्रभावाः तुल्यप्रभाववत्यः, यतः तासां नदीनां नारीणाञ्च, कूलानि तीराणि, कुलानि वंशाः च, तुल्यानि समानानि । कुतः ? नद्यः तोयैः जलप्रवाहैः, कूलानि तटानि, नार्य्यश्च दोषैः कलङ्कैः, कुलानि वंशान्, निपातयन्ति भञ्जनेन कलङ्केन च अधः पातयन्ति, हि अवधारणे । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ २२३ ॥

जननीति । कन्या जातवती जाता सती, जनन्या मनः हरति सत्पात्रे पतिष्यति न वा इति चिन्तया वैमनस्यमापादयतीत्यर्थः, ततः सुहृदां बन्धूनां, शुचा शोकेन, सह परिवर्द्धते वृद्धिं गच्छति, कन्यायाः वृद्धिदर्शने विवाहे प्रभूतार्थनाशसम्भावनया बन्धूनां शोकवृद्धिरिति भावः । परसात्कृताऽपि परस्मै वरायेति भावः, प्रदत्तापि, मलिनं कुरुते, बन्धुवर्गमिति शेषः; । पश्चात् सुखं भवति न वेति भावनावशादिति भावः । अतः दुहितरः विपदः कन्यारूपा आपदः, दुरतिक्रमाः दुस्तराः; अन्या विपत् कथञ्चित् अतिक्रम्यते, कन्या तु नैवेति भावः । प्रमिताक्षरा वृत्तम् ॥ २२४ ॥

में) सुख पायेगी अथवा नहीं ? सचमुच कन्या का पिता होना ही महान् कष्ट है ॥ २२२ ॥

नदियाँ और नारियाँ समान स्थिति वाली होती हैं । नदियों के दोनों कूल (किनारे) तथा नारियों के दोनों कुल (पितृकुल और पतिकुल) भी समान ही होते हैं । क्योंकि नदियाँ अपने जल से दोनों किनारों तथा नारियाँ अपने दोषों से दोनों कुलों को पतित बना देती हैं ॥ २२३ ॥

और भी—कन्या उत्पन्न होते ही माता के मन को (योग्य वर की प्राप्ति के लिए) व्याकुल बना देती है, वह ज्यों ज्यों बड़ी होती है त्यों त्यों (उसके विवाहादि में होने वाले व्यय के लिए) उसके कुटुम्बियों की चिन्ता भी बढ़ती चली जाती है तथा कन्यादान कर देने के बाद भी वह (सुखी होगी या नहीं, इस आशंका से) उन्हें खिन्न बनाए रहती है । अतः कन्या रूपी विपत्ति से पार पाना कठिन है ॥ २२४ ॥

एवं बहुविधं विचिन्त्य देवीं रह:स्थां प्रोवाच—देवि, ज्ञायतां किमेते कञ्चुकिनो वदन्ति। तस्य कृतान्त: कुपित: येनैतदेवं क्रियते।' देव्यपि तदाकर्ण्यं व्याकुलीभूता सत्वरं कन्यान्तःपुरे गत्वा तां खण्डिताधरां नखविलिखितशरीरावयवां दुहितरमपश्यत्। आह च—'आ: पापे कुलकलङ्ककारिणि, किमेवं शीलखण्डनं कृतम् ? कोऽयं कृतान्तावलोकितस्त्वत्सकाशमभ्येति ? तत्कथ्यतां ममाग्रे सत्यम्।' इति कोपाटोपविसङ्कटं वदन्त्यां मातरि राजपुत्री भयलज्जानताननं प्रोवाच—'अम्ब, साक्षान्नारायण: प्रत्यहं गरुडारूढो निशि समायाति। चेदसत्यं मम वाक्यम्, तत्स्वचक्षुषा विलोकयतु निगूढतरा निशीथे भगवन्तं रमाकान्तम्।' तच्छ्रुत्वा सापि प्रहसितवदना पुलकाङ्कितसर्वाङ्गी सत्वरं गत्वा राजानमूचे—'देव,

---

(१) देवीं—राजमहिषी, रह:स्थाम्—एकान्तस्थिताम्। येन—पुरुषेणेत्यर्थ:। व्याकुलीभूता—चिन्तातुरा, खण्डिताधरां—क्षताधरां, नखविलिखितशरीरावयवां—नखक्षतचितस्तनप्रदेशाम् शीलखण्डनं—सदाचारलङ्घनम्। कृतान्तावलोकित:,—यमेन दृष्ट:, तस्य मृत्युरवश्यम्भावीति भाव:।

(२) कोपेति। कोपस्य आटोप:,—वेग:, तेन विसङ्कटं—निष्ठुरं, क्रोधकर्कशमित्यर्थ:। भयलज्जाऽऽनताऽऽननं—भयेन—त्रासेन, लज्जया—व्रीडया च, आनतम्—अवनतम्, आननं यस्मिन् तद् यथा तथा, इति क्रियाविशेषणम्।

(३) निगूढतरा—अतिशयेन प्रच्छन्ना। रमाकान्तं—लक्ष्मीपतिम्।

इस तरह अनेक प्रकार से सोच बिचार करके राजा ने एकान्त में बैठी हुई रानी से कहा—"देवि ! पता तो लगाओ कि ये कंचुकी क्या कह रहे हैं (उनका कहना सत्य है या असत्य) ? जो ऐसा कर्म कर रहा है उसका काल ही क्रुद्ध हो चुका है। महारानी ने भी यह सुनते ही व्याकुल होकर तत्काल ही कन्या के महल में जाकर खण्डित अधरों तथा नख के चिह्नों से चिह्नित शरीर वाली कन्या को देखा और कहा—अरी पापिनी ! कुल को कलंकित करने वाली ! तूने अपना कौमार्य इस प्रकार क्यों नष्ट कर दिया ? काल की दृष्टि में पड़ा हुआ वह कौन है जो तुम्हारे पास आता है ? मुझसे सारी बात सच सच बता दो। क्रोध के आवेश में माता के इस प्रकार कठोर बातें कहने पर राजकुमारी ने भय तथा लज्जा से सिर झुकाकर कहा—"माँ ! साक्षात् नारायण ही गरुड़ पर सवार होकर प्रतिदिन रात्रि के समय मेरे पास आते हैं। यदि तुम मेरा कहना झूठ समझती हो तो आधी रात के समय छिपकर स्वयं अपनी आँखों से लक्ष्मीकान्त भगवान् नारायण

दिष्टया वर्धसे। नित्यमेव निशीथे भगवान्नारायणः कन्यकापार्श्वेऽभ्येति। तेन गान्धर्वविवाहेन सा विवाहिता। तदद्य त्वया मया च रात्रौ वातायनगताभ्यां निशीथे द्रष्टव्यः, यतो न स मानुषैः सहालापं करोति।' तच्छ्रुत्वा हर्षितस्य राज्ञस्तद्दिनं वर्षशतप्रायमिव कथञ्चिज्जगाम। ततस्तु रात्रौ निभृतौ भूत्वा राज्ञीसहितो राजा वातायनस्थो गगनासक्तदृष्टिर्यावत्तिष्ठति, तावत्तस्मिन्समये गरुडारूढं तं शङ्खचक्रगदापद्महस्तं यथोक्तचिह्नाङ्कितं व्योम्नोऽवतरन्तं नारायणमपश्यत्। ततः सुधापूरप्लावितमिवात्मानं मन्यमानः तामुवाच—'प्रिये, नास्त्यन्यो धन्यतरो लोके मत्तस्त्वत्तश्च, यत्प्रसूतिं नारायणो भजते। तत्सिद्धाः सर्वेऽस्माकं मनोरथाः। अधुना जामातृप्रभावेण सकलामपि वसुमतीं वश्यां करिष्यामि।' एवं निश्चित्य सर्वैः सीमाऽधिपैः सह मर्यादाव्यतिक्रममकरोत्। ते च तं

---

(१) दिष्टया—भाग्येन, हर्षभाग्यादिसूचकमव्ययम्। वर्द्धसे—अभ्युदयं प्राप्नोषि। वातायनगताभ्यां–गवाक्षस्थिताभ्याम्।

(२) वर्षशतप्रायं—शतवत्सरोपमम्, औत्सुक्यातिशयादिति भावः।

(३) निभृतः,—प्रच्छन्नः। वातायनस्थः—गवाक्षवर्ती। व्योम्नः—आकाशात्।

(४) सुधेति। सुधायाः,—अमृतस्य, पूरेण—प्रवाहेण, प्लावितमिव—सिक्तमिव। प्रसूतिं—तनयां; ("प्रसूतिरुद्भवेऽपि स्यात् तनये दुहितर्यपि" इति मेदिनी)। सीमाऽधिपैः,—निजाधिकारसीमान्तस्थितराजभिः। मर्य्यादाव्यतिक्रमं—मर्य्यादायाः,—सीमायाः, व्यतिक्रमं—लङ्घनं, बलपूर्वकं तेषां सीमाक्रमणमित्यर्थः।

को देख लो। यह सुनते ही रानी का मुख प्रफुल्लित तथा शरीर रोमांचित हो उठा और उन्होंने तत्काल ही राजा के पास जाकर कहा—"देव! आप बड़े भाग्यशाली हैं। प्रतिदिन आधी रात के समय कन्या के पास भगवान् नारायण आते हैं। उन्होंने उसके साथ गान्धर्व विवाह भी कर लिया है। अतः आज आधी रात के समय तुम और मैं झरोखे पर बैठकर उन्हें देख लें क्योंकि वह मनुष्यों के साथ बात चीत नहीं करते हैं। यह सुनकर राजा प्रसन्न हो उठे और उनका वह दिन सौ दिन के समान किसी प्रकार व्यतीत हुआ। फिर रात्रि के समय छिपकर राजा रानी झरोखे पर बैठकर ज्यों ही आकाश की ओर दृष्टि लगाई त्यों ही उसी समय उन दोनों ने गरुड़ पर सवार तथा शंख चक्र, गदा और पद्म हाथ में लिए हुए सभी लक्षणों से युक्त भगवान् नारायण को आकाश से उतरते हुए देखा। तब राजा ने अपने आप को अमृत के प्रवाह से परिपूर्ण मानते हुए रानी से कहा—'प्रिये! इस संसार में मुझसे और तुझसे बढ़कर धन्य कोई दूसरा

मर्यादाव्यतिक्रमेण वर्तमानमालोक्य सर्वे समेत्य तेन सह विग्रहं चक्रुः।

अत्रान्तरे, स राजा देवीमुखेन तां दुहितरमुवाच–'पुत्रि, त्वयि दुहितरि वर्तमानायां, भगवति नारायणे, च जामातरि स्थिते तत्किमेवं युज्यते यत्सर्वे च पार्थिवा मया सह विग्रहं कुर्वन्ति ? तत्सम्बोध्योऽद्य त्वया निजभर्ता, यथा मम शत्रून् व्यापादयति।' ततस्तया स कौलिको रात्रौ सविनयमभिहितः—'भगवन्, त्वयि जामातरि स्थिते मम तातो यच्छत्रुभिः परिभूयते तन्न युक्तम्। तत्प्रसादं कृत्वा सर्वांस्तान् शत्रून् व्यापादय।' कौलिक आह—'सुभगे, कियन्मात्रास्त्वेते तव पितुः शत्रवः। तद्विश्वस्ता भव। क्षणेनापि सुदर्शनचक्रेण सर्वांस्तिलशः खण्डयिष्यामि।'

अथ गच्छता कालेन सर्वदेशं शत्रुभिरुद्वास्य स राजा प्राकारशेषः कृतः।

---

(१) विग्रहं – युद्धम्। देवीमुखेन—राज्ञा। पार्थिवाः,—राजानः। सम्बोध्यः,—सम्यक् ज्ञापनीयः। परिभूयते—तिरस्क्रियते, अवमन्यते इत्यर्थः। प्रसादम्—अनुग्रहम्। कियन्मात्राः—कियत्परिमाणाः, सामान्याः इत्यर्थः।

(२) उद्वास्य—उच्छिद्येत्यर्थः। प्राकारशेषः,—प्राचीरमात्रावशिष्टः।

नहीं है जिसकी पुत्री के साथ नारायण भोग करते हों। अतः हम लोगों की सभी कामनाएँ सिद्ध हो गईं। अब मैं दामाद के प्रभाव से सारी पृथ्वी को अपने वश में कर लूँगा।' ऐसा निश्चय करके राजा ने अपने राज्य की सीमाओं पर स्थित अन्य राजाओं के राज्यों की सीमा का उल्लंघन करना प्रारम्भ कर दिया। तब उन राजाओं ने इस प्रकार सीमा का उल्लंघन करते देख करके एक जुट होकर उसके साथ लड़ाई छेड़ दी।

इसके पश्चात् राजा ने रानी द्वारा कन्या को कहलाया कि—"पुत्री ! तुम्हारी जैसी कन्या और भगवान् नारायण जैसे दामाद के होते हुए भी क्या यह उचित है कि सभी राजे मेरे साथ लड़ाई करें ? इसलिए आज तुम अपने स्वामी से कहना, जिससे वे मेरे शत्रुओं को मार डालें।" इसके पश्चात् रात्रि के समय उस कन्या ने कौलिक से विनम्रता पूर्वक कहा—'भगवन् ! तुम्हारे जैसे दामाद के रहते हुए भी मेरे पिता शत्रुओं से पराजित हो जाँय, यह उचित नहीं है। अतः कृपा करके उन सभी शत्रुओं को मार डालिए।" कौलिक ने कहा—'सुन्दरी ! तुम्हारे पिता के शत्रु हैं ही कितने ? विश्वास रखो। मैं सुदर्शन चक्र से क्षण भर में ही उन्हें तिल के समान टुकड़े टुकड़े कर डालूँगा।

कुछ ही दिनों में शत्रुओं ने राजा के समस्त राज्य को छीन लिया। अब

तथापि वासुदेवरूपधरं कौलिकमजानन् राजा नित्यमेव विशेषतः कर्पूरागुरु-कस्तूरिकादिपरिमलविशेषान्नानाप्रकारवस्त्रपुष्पभक्ष्यपेयांश्च प्रेषयन्दुहितृ-मुखेन तमूचे–'भगवन्, प्रभाते नूनं स्थानभङ्गो भविष्यति। यतो यवसेन्धन-क्षयः सञ्जातः, तथा सर्वोऽपि जनः प्रहारैर्जर्जरितदेहः संवृत्तो योद्धुमक्षमः प्रचुरो मृतश्च। तदेवं ज्ञात्वाऽत्र काले यदुचितं भवति तद्विधेयम्' इति। तच्छ्रुत्वा कौलिकोऽप्यचिन्तयत्—यत् 'स्थानभङ्गे जाते ममानया सह वियोगो भविष्यति। तस्माद् गरुडमारुह्य सायुधमात्मानमाकाशे दर्शयामि। कदाचित् मां वासुदेवं मन्यमानास्ते साशङ्का राज्ञो योद्धृभिर्हन्यन्ते।

उक्तं च—

निर्विषेणापि सर्पेण कर्तव्या महती फणा।
विषं भवतु मा भूयात् फणाऽऽटोपो भयंकरः॥ २२५॥

---

(१) स्थानभङ्गः,—वासस्थानच्युतिः। यवसेन्धनक्षयः। यवसानां—घासानाम्, इन्धनानां—काष्ठानाञ्च, क्षयः,—अभावः; तृणकाष्ठादीनामपि शत्रुभिरधिकृतत्वात् दुर्लभत्वम्; अतो घासादीनां सैन्यानाञ्चाभावात् वासस्थानत्याग एवास्माकं गतिरिति भावः।

निर्विषेणापीति। निर्विषेणापि सर्पेण महती फणा फणविस्तारः इत्यर्थः, कर्तव्या; विषं भवतु अस्तु, मा भूयात् न वा; फणाऽऽटोप, फणविस्ताररूपाडम्बरः,

---

उसके पास केवल चहारदीवारी से घिरा हुआ किला मात्र रह गया। नारायण रूप धारी कौलिक की वास्तविकता न जानने के कारण राजा ने प्रतिदिन कपूर, अगर, चन्दन; कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थों तथा नाना प्रकार के वस्त्र, पुष्प और खाने तथा पीने योग्य वस्तुएँ भेज भेजकर एक दिन पुत्री द्वारा कहलाया कि—भगवन् प्रातःकाल किला अवश्य ध्वस्त हो जायगा। क्योंकि घास और ईंधन समाप्त हो गया है। सारे सैनिकों के शरीर शत्रुओं के प्रहार से जर्जर हो गए हैं; इस लिए वे युद्ध करने में असमर्थ हो गए हैं तथा बहुत से मर भी गए हैं। अतः ऐसा जानकर इस समय जैसा उचित हो वैसा कीजिए। यह सुनकर कौलिक ने विचार किया—किला ध्वस्त हो जाने पर मेरा इस राजकन्या के साथ वियोग हो जायगा। इसलिए गरुड़ पर चढ़ करके आयुधों से युक्त होकर अपने आप को आकाश में प्रकट कर दूँ। सम्भवतः मुझे नारायण समझने वाले राजा लोग भयभीत हो जायँ और युद्ध करने वाले सैनिकों से मार डाले जाँय। कहा भी गया है—

विष रहित होते हुए भी सर्प को फन फैलाकर फुफकार तो करनी ही

आने पर ब्राह्मणी नेवले को देखती है जिसके पञ्जे और मुख रक्त से भरे थे। वह अपने पुत्र को मारा गया जानकर क्रोध में नेवले को मार डालती है। परन्तु घर के अन्दर जाने पर पता चलता है कि वह रक्त एक काले साँप का था जिसको बच्चे के स्वामिभक्त संरक्षक उस नेवले ने मार दिया था। ब्राह्मण के आने पर पत्नी भी अपने कृत्य पर दुःखी होती है और जल्दीबाजी में किए गए काम के विषय में उसे दूसरी कथा की याद दिलाती है। एक युवा वणिक् को स्वप्न में पास आने वाले तीन क्षपणकों (बौद्ध सन्यासी) को मारने का आदेश होता है, जो इस अनोखे रूप में उसके पिता के द्वारा सञ्चित धन ही हैं और जो मारे जाने पर दीनार बन जाएँगे। वह उस निर्देश को मानकर एक नाई की सहायता से उस अनुष्ठान को पूरा करता है। नाई मूर्खतापूर्वक इस युक्ति को पुनः दुहराने का यत्न करता है। परन्तु उसके द्वारा मार डाले गए क्षपणक (बौद्ध साधु) दीनार नहीं बन सके। उलटे वह क्रुद्ध न्यायाधीश के द्वारा मृत्युदण्ड प्राप्त करता है। इन्हीं दो कथानकों के मध्य लोभाविष्ट चक्रधर की दूसरी कथा है जिसमें यह दिखाया गया है कि अत्यन्त लोभ दुःख का कारण होता है। कंकाल से सिंह को पुनरुज्जीवित कर देने वाले मूर्ख ब्राह्मणों की तीसरी कथा है। चौथी कहानी 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' उद्धृत करने वाली मूर्ख पण्डितों की है, जिसमें यह दिखाया गया है कि शास्त्रज्ञान में कुशल भी व्यक्ति लोकाचार से अनभिज्ञ रहने पर उपहास के पात्र बनते हैं।

पाँचवीं कहानी मत्स्य-मण्डूक की है जिसमें भाग्य को ही प्रधान बताया गया है। छठवीं कहानी असमय में बोलने वाले गदहे और सियार की है। सातवीं कहानी मन्थर जुलाहे की है जो स्वयं की बुद्धि से भी नहीं चलता, न मित्र की ही बात मानता है और मृत्यु को प्राप्त करता है। आठवीं कथा सोमशर्मा के पिता की है। जिसमें यह कथा दी गई है कि सम्भावना रहित एवं बिना आई हुई चिन्ता को जो करता है वह पाण्डुवर्ण हो जाता है। नौवीं कहानी चन्द्रभूपति की है जिसमें चञ्चलता के कारण, परिणाम को बिना सोचे ही किसी कार्य को न करने की शिक्षा दी गई है। दसवीं कथा विकाल राक्षस एवं नर की है। ग्यारहवीं कहानी में भाग्य की ही प्रशंसा है जिसमें अन्धे, कुबड़े और तीन स्तनों वाली राजकन्या की कथा है। इसी कहानी में अवान्तर कथा (१२) राक्षस गृहीत ब्राह्मण की है; जिसमें सब कुछ जानते हुए भी निरन्तर जिज्ञासा करते रहने की शिक्षा दी गई है। तेरहवीं कथा भारुण्ड पक्षी की है जिसमें यह शिक्षा है कि एक साथ मिलकर न कार्य करने वाले विनाश को प्राप्त करते हैं। चौदहवीं कथा ब्रह्मदत्त ब्राह्मणबालक एवं केकड़े की है। जिसमें यह बतलाया गया है कि यात्रा कभी

भी अकेले नहीं करनी चाहिए। अत्यन्त भीरु भी व्यक्ति मार्ग में कल्याणकारी हो जाता है। अतः उसे भी साथ ले लेना चाहिए। इस तन्त्र का अन्तिम श्लोक मनुष्य मात्र के लिए शिक्षा देता है कि मन्त्र, तीर्थ, ब्राह्मण, देवता, ज्योतिषियों एवं ओषधियों तथा गुरु में मनुष्य की जैसी भावना होती है, उसे उसी प्रकार का फल प्राप्त होता है।

पञ्चतन्त्र की भाषा तथा शैली

पञ्चतन्त्र की शैली अत्यन्त सरल एवं सरस है। इसमें प्रसाद और माधुर्य विद्यमान है। वाक्य वार्तालाप की शैली में निबद्ध हैं। ये अत्यन्त छोटे-छोटे किन्तु प्रभावशाली हैं। यत्र तत्र विशेषणों एवं कल्पनाओं का समावेश कर इसमें काव्यात्मक प्रवाह प्रकट किया गया है। सभी स्थलों पर व्यवहार कुशल एवं नीति पटु व्यक्ति का व्यक्तित्व प्रदर्शित है। भाषा मुहावरेदार तथा विनोद प्रियता को लिए हुए है। जैसे 'छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति' 'अर्धचन्द्रं दत्त्वा निष्कासितः' अर्थात् 'गरदनियाँ देकर बाहर निकाल दिया' आदि। कवि ने रामायण, महाभारत तथा नीति के प्राचीन ग्रन्थों से उद्धरण लेकर विचारों को पुष्ट किया है। ज्योतिष के ग्रन्थों से भी उदाहरण लिए गए हैं। कवि की प्रतिज्ञा है कि छः महीने में इस ग्रन्थ को पढ़ने वाला नीतिशास्त्र का ज्ञाता हो जाएगा। इसकी व्यङ्ग्यात्मकता अत्यन्त चुभने वाली है। कहीं भी वाक्य विन्यास दुरुह नहीं हैं। भाषा ललित एवं हृदयग्राही है। पञ्चतन्त्र की कथाएँ मूलतः गद्य में हैं किन्तु बीच-बीच में प्रचुर मात्रा में पद्यों का भी समावेश कर विषय को अधिक परिष्कृत एवं प्रभावोत्पादक बनाने का प्रयास किया गया है।

पञ्चतन्त्र में पाण्डित्यप्रदर्शन, क्लिष्ट रचना शैली, दुर्बोध-शब्दावली का सर्वथा परित्याग किया गया है। हास्य और विनोद-प्रियता कूट-कूट कर भरी हुई है। छोटे-छोटे वाक्य, सुरुचिपूर्ण उक्तियाँ, कथा का प्रवाह और अनुभूतियों का यथार्थ चित्रण विषय को रोचक और अत्यन्त लोकप्रिय बना देते हैं।

भाषा विषय के अनुरूप है। कहीं-कहीं भाषा की सुन्दर छटा देखने को मिलती है। सिंह के कथन में अन्त्यानुप्रास की छटा प्रशंसनीय है—

न गोप्रदानं न महीप्रदानं
न चान्नदानं हि तथा प्रधानम्।
यथा वदन्तीह बुधाः प्रधानं
सर्वप्रधानेष्वभयप्रदानम् ॥ (पृ० २०४)

इन कथाओं में जीवन के गुण और दोष दोनों को ही बड़े सहज ढंग से कह दिया गया है। ब्राह्मणों का छल-प्रपञ्च एवं पाखण्ड, त्रिया चरित्र, नौकरों का कपट व्यवहार, चापलूसों का स्वार्थ साधन, धूर्तों का छिद्रान्वेषण, राजाओं की अविवेकिता आदि दुर्गुणों का व्यङ्ग्यात्मक भाषा में उद्घाटन किया गया है।

एक शीर्षक पद्य का उदाहरण इस प्रकार है जिसमें जुगनू के बारे में एक बन्दर को चिढ़ाने वाली पक्षी की कहानी का आरम्भ किया गया है—

नानाम्य नमते दारु नाश्मनि स्यात् क्षुरक्रिया।
सूचीमुखं विजानीहि नाशिष्यायोपदिश्यते ॥ (पृ० २७०)

न, लच सकने योग्य लकड़ी लच नहीं सकती, पत्थर में छूरी काम नहीं कर सकती। जो सीख नहीं लेना चाहता है उसे सीख नहीं दी जा सकती— इस बात को सूचीमुख की कथा से समझ लो।'

कथा अधिकतर गद्य में ही कही गई है किन्तु कहीं कहीं पद्य में भी कथा है जैसे बानर के प्रति वञ्चक मगर द्वारा कहे गए पद्यों को भावावेश जन्य उपयुक्तता प्रदान की गई है—

एकः सखा प्रियो भूय उपकारी गुणान्वितः।
हन्तव्यः स्त्रीनिमित्तेन कष्टमापतितं मम ॥

'मुझे अपने एकमात्र उपकारी, गुणों से युक्त प्रिय सखा को एक स्त्री के निमित्त मारना पड़ेगा। मुझ पर कष्ट आ पड़ा है।'

प्रयोजनवशात् प्रीतिं लोकः समनुवर्तते।
त्वं तु वानरशार्दूल ? निष्प्रयोजनवत्सलः ॥

'सब लोग किसी न किसी प्रयोजन से ही प्रीति दिखाते हैं; पर हे वानरश्रेष्ठ ! तुम तो निष्प्रयोजन ही प्रेमी हो।'[1]

कुछ पद्यों में, काव्य की सरलतर शैली में प्रचलित समासों की अपेक्षा, कुछ बड़े समास भी पाए जाते हैं। परन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं। यह स्पष्ट है कि कवि सुरुचि से युक्त था और यह समझता था कि बाल राजकुमारों के लिए अभिप्रेत रचना में भाषा शैली की अत्यधिक कृत्रिमता अनुपयुक्त है। जूँ तथा खटमल की कथा (पृ० १७९) में अधिक उन्नत शैली के प्रयोग में निश्चय ही हास्य छिपा हुआ है। जूँ ने, जो बहुतकाल से राजा के रक्तपान करने के विशेषाधिकार का आनन्द लूट रही थी, खटमल को राजा पर आक्रमण की अनुमति देकर, राजा

१. प्रस्तुत संस्करण में ये दोनों पद्य नहीं हैं। ६२४ पृ० में होना चाहिए था।

के अत्यधिक मधुर रक्त का स्वाद लेने में खटमल की अत्यधिक जल्दीबाजी के कारण उसने अपनी जान गवाई। इस प्रकार राजा के गन्दे रहने का भी व्यङ्ग्य छिपा है।

भूतकाल का प्रकाशन या तो 'क्त' या 'क्तवतु' प्रत्ययान्त शब्दों से या 'स्म' के साथ प्रयुक्त लट् लकार के रूपों से किया गया है। तिङन्त क्रियाओं के स्थान में कृदन्त क्रिया रूपों का प्रयोग पाया जाता है। त्वा प्रत्ययान्त तथा अम्-प्रत्ययान्त शब्दों और विशेषणवाची कालबोधक कृदन्तों के प्रयोग का आधिक्य है।

पञ्चतन्त्र की भाषा शैली की विशेषता यह है कि कथा के मध्य ही वस्तुगत दृढ़ता के लिए सुभाषित कह दिए जाते हैं—जैसे

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।
विश्वासाद् भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति॥ (पृ० ६३०)

विश्वास न करने योग्य व्यक्ति पर तो विश्वास नहीं ही करना चाहिए। यहाँ तक कि विश्वास करने योग्य व्यक्ति पर भी अधिक विश्वास नहीं करना चाहिए, क्योंकि विश्वास द्वारा उत्पन्न भय जड़ को ही काट देता है।

त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि काले
धैर्यात् कदाचित् गतिमाप्नुयात् सः।
याते समुद्रेऽपि च पोतभङ्गे,
सांयात्रिको वाञ्छति तर्तुमेव॥ (पृ० २२२)

'समय के प्रतिकूल हो जाने पर भी धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि धैर्य धारण करने से कदाचित विपत्ति से पार पाने का कोई रास्ता निकल ही आवे। समुद्र में जहाज के टूट जाने पर भी उस पर यात्रा करने वाले किसी न किसी प्रकार समुद्र को पार करने की ही अभिलाषा रखते हैं।'

जातमात्रं न यः शत्रुं व्याधिं च प्रशमं नयेत्।
अतिपुष्टाङ्गयुक्तोऽपि स पश्चात् तेन हन्यते॥ (पृ० १६७)

'जो व्यक्ति उत्पन्न होते ही शत्रु और रोग को नष्ट नहीं कर देता है, वह महा बलवान् होते हुए भी बढ़े हुए शत्रु या रोग से बाद में मारा जाता है।'

वरं बुद्धिर्न सा विद्या विद्याया बुद्धिरुत्तमा।
बुद्धिहीना विनश्यन्ति यथा ते सिंहकारकाः॥ (पृ० ७३६)

कार्याकार्य का विचार करने वाली बुद्धि, विद्या की अपेक्षा श्रेष्ठ है। देखो, बुद्धि के अभाव में लोग विद्वान् होकर भी उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं। जैसे

बुद्धिहीन किन्तु मृतसञ्जीवनी विद्या जानने वाले ब्राह्मण सिंह को जिलाने के कारण नष्ट हो गए।'

अपेक्षाकृत अधिक अलंकृत शैली का भी प्रयोग है। जैसे निम्न पद्य में विराट् की सभा में पाण्डवों के दुःखों का तथा द्रौपदी के दुर्भाग्य का वर्णन देखना चाहिए—

रूपेणाप्रतिमेन यौवनगुणैर्वंशे शुभे जन्मना
युक्ता श्रीरिव या विधिवशात् कालक्रमायतया।
सैरन्ध्रीति सगर्वितं युवतिभिः साक्षेपमाज्ञप्तया
द्रौपद्या ननु मत्स्यराजभवने घृष्टं चिरं चन्दनम्॥ (पृ० ५८९)

शुभ वंश में जन्म लेने के कारण जो द्रौपदी लक्ष्मी के समान अप्रतिम रूप से युक्त और यौवन के गुणों से सम्पन्न थी, उसी ने मत्स्यराज के भवन में युवतियों द्वारा आक्षेप एवं गर्वपूर्वक 'सैरन्ध्री' इस सम्बोधन के साथ आज्ञापित होकर चिरकाल तक चन्दन घिसा।'

इस प्रकार कवि की भाषा में स्पष्टतः सुन्दरता और विशेष रूप से पद्यों में अत्यन्त परिष्कृत शैली के चिह्न हम पाते हैं।

पञ्चतन्त्र एवं हितोपदेश

पञ्चतन्त्र से निकले हुए अनेक ग्रन्थों में से हितोपदेश प्रमुख है। इसके लेखक नारायण पण्डित हैं। इन्होंने बंगाल के राजा धवलचन्द्र के आदेशानुसार यह संकलन तैयार किया था। इसमें रविवार के लिए 'भट्टारक' (छुट्टी का दिन) शब्द के प्रयोग से फ्लीट ने इसका समय दसवीं शती माना है। लेखक ने स्वयं ही स्वीकार किया है कि यह ग्रन्थ पञ्चतन्त्र पर निर्भर है। पञ्चतन्त्र के अतिरिक्त कवि ने 'कामन्दकीय नीतिसार' से बहुत अधिक श्लोकों को लिया है। इसमें चार परिच्छेद है, जिनमें ४३ कहानियाँ है। इसमें पञ्चतन्त्र के प्रथम दो तन्त्रों का क्रम बदलकर पहले 'मित्रसम्प्राप्ति' और फिर 'मित्रभेद' रक्खा गया है। पञ्चतन्त्र के तीसरे तन्त्र 'काकोलूकीयम्' को तोड़कर 'विग्रह' और 'सन्धि' दो परिच्छेद बना दिए गए हैं, और अन्य दो तन्त्रों की कथाओं को इन्हीं चार परिच्छेदों में यथास्थान जोड़ दिया गया है। ४३ कथाओं में १७ नवीन कथाएँ हैं। इनमें ७ पशुकथाएँ हैं और तीन लोक कथाएँ। इसी प्रकार दो शिक्षाप्रद कथाएँ और ५ षड्यन्त्र कथाएँ हैं। सरल संस्कृत होने से पञ्चतन्त्र से अधिक 'हितोपदेश' का भारतवर्ष में प्रचार है।

मित्रलाभः सुहृदभेदो विग्रहः संधिरेव च।
'हितोपदेश' नामायं चतुर्धा सुविभाजितः ॥
हितोपदेशे विख्याता, नारायणकवेर्विभा।
प्रथते नीतिबोधाय बालविज्ञमनोरमा ॥ (कपिलस्य)

पञ्चतन्त्र के संस्करण

डा० हर्टेल और प्रो० एडगर्टन ने पञ्चतन्त्र के मूलरूप के लिए अथक परिश्रम किया। एडगर्टन तन्त्राख्यायिका, दक्षिणी पञ्चतन्त्र, बृहत्कथा तथा पहलवी संस्करणों को मूलग्रन्थ के अत्यन्त समीप मानते हैं। कुछ संस्करणों का परिचय इस प्रकार है—

१. **तन्त्राख्यायिका**—यह मूल पञ्चतन्त्र के अत्यन्त समीप हैं। इसमें मूल अंश सबसे अधिक है। इसका समय प्रायः ३०० ई० मानना चाहिए। इसमें कुछ कहानियाँ बढ़ाई हुई हैं। कश्मीर से शारदालिपि में इसको दो प्रतियाँ प्राप्त हुई थी हर्टेल ने १९१० ई० में यह संस्करण निकाला था।

२. **सरल पञ्चतन्त्र**–(Textus Simplicor) इसका समय ११०० ई० है। इसका सम्पादन किन्हीं जैन विद्वान् ने किया था। डा० ब्हूलर और कीलहार्न ने ने इसका एक संस्करण निकाला था। यहीं भारत में सबसे अधिक प्रचलित है।

३. **पूर्णभद्र कृत संस्करण**—इसको पञ्चाख्यानक भी कहते हैं। इसका सम्पादन जैन कवि पूर्णभद्र ने किया था। इनका समय ११६९ ई० है। इसमें २१ नई कथाएँ है। इसमें गुजराती तथा प्राकृत शब्दों का भी प्रयोग है।

४. **दक्षिणी पञ्चतन्त्र**—यह प्रायः पाँच संस्करणों में उपलब्ध है। यह दाक्षिणात्य पाठ प्रस्तुत करता हैं। इसमें कथाओं को संक्षिप्त करके रक्खा गया है। एडगर्टन के अनुसार इसमें मूलग्रन्थ का तीन चौथाई गद्य भाग और दो तिहाई पद्य भाग सुरक्षित हैं। यह भारवि (६०० ई०) के बाद का है।

५. **नेपाली पञ्चतन्त्र**—एक हस्तलिखित प्रति में केवल पद्य ही मिलते हैं और दूसरी में पद्य के साथ नेवारी में गद्य भी मिलता है।

६. **हितोपदेश**—यह नारायण पण्डित द्वारा सम्पादित है तथा पञ्चतन्त्र का ही किञ्चित् परिवर्तित रूप है।

७. **उत्तरपश्चिमीय संस्करण**—गुणाढ्य ने बृहत् कथा में इस संस्करण को अपनाया था। जो अब क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथामञ्जरी (१०३७) और सोमदेव कृत कथासरित्सागर (१०३७ ई०) में सुरक्षित है।

८. पहलवी संस्करण—खुसरो अनशेरखाँ (५३१–५७९ ई०) के शासनकाल में हकीम बुर्जोई ने पञ्चतन्त्र का पहलवी भाषा में अनुवाद किया था। इसी अनुवाद से सीरियन और अरबी अनुवाद हुए। इस अरबी अनुवाद से ही यूरोप की भाषाओं में अनुवाद हुए। इस प्रकार आठ संस्करण मूल ग्रन्थ के पाठ से अत्यन्त समीप रहे होंगे—ऐसा माना जाता है।

पाठ समीक्षा

पञ्चतन्त्र के पाठ प्रचलित संस्करणों में इधर उधर हैं। (१) लब्धप्रणाश (पृ० ६७२) में 'रथकारभार्या की कथा' और 'वृद्धवणिक् एवं चोर की कथा' का कोई औचित्य नहीं है। लब्धप्रणाश अर्थात् प्राप्त का नाश होना—इस बात का इन कथाओं में कोई संकेत नहीं है। यह कथा काकोलूकीयम् (पृ० ५५० और ५३७) में आ चुकी है। अतः इसे पुनरुक्त करने का कोई औचित्य नहीं है। (२) रथकार भार्या की कथा के पाठ के कुछ अंश अधिक थे उसे प्रस्तुत संस्करण पृ० ६७२–६७४ में दे दिया गया है। (३) इस संस्करण में 'श्यामलक की कथा' प्रक्षिप्त करके ६७१ पृ० में दे दी गई है क्योंकि 'लब्धप्रणाश' से इसका कोई मतलब नहीं है। (४) अपरीक्षितकारक (पृ० ७१९) में 'नकुल कथा' में प्राप्त सभी संस्करणों में छूट है। ब्राह्मण क्यों गया? यह प्राप्त संस्करणों से पता ही नहीं चलता। अतः 'अथ तस्यां गतायां' से लेकर 'प्रतिग्रहार्थं निर्गतः' तक का अंश ठीक कर दिया गया है। (५) अपरीक्षितकारक पृ० ७९९ में भी छूट है जिसे इस संस्करण में 'चक्रधर आह—सत्यमेतत् से लेकर 'ततो धर्माधिकारिभिरुक्तम्' पृ० ८०० तक का अंश ठीक कर दिया गया है। (६) कथालोचन भी पुनः आवश्यक है। कथा में कुछ अंश और जोड़ दिए जायँ तो कथा प्रभावोत्पादक हो जायगी। कथामुख पृ० ३ में 'अनन्तशक्तिश्चेति नामानो बभूवुः' के बाद इस प्रकार जोड़ देना चाहिए—राजा के ये लड़के मूर्ख थे। इन राजकुमारों की शिक्षा पर ध्यान न देकर राजा ने कुछ विदूषकों को इनके मनोरञ्जन के लिए नियुक्त कर रक्खा था। एक दिन रात्रि में राजा के नगरी की अधिष्ठातृ राज्यलक्ष्मी ने स्वप्न में राजा से कहा—'मुझे आपका नीति में निपुण उत्तराधिकारी चाहिए। किन्तु राजकुमार तो मूर्ख हैं। (७) पृ० ८ पर 'नाहं विद्याविक्रयं शासनशतेनापि करोमि' के बाद यह कहना आवश्यक है कि 'मैं कोई व्यापारी नहीं हूँ। में तो विद्या का दान करता हूँ' (८) पृ० २९३ में, ४४९ श्लोक के बाद एक श्लोक इस प्रकार होना चाहिए—'निष्ठावान् सेवक से भी अधिक बुद्धिमान् सेवक श्रेयस्कर है। सेवक के लिए निष्ठावान् होना

आवश्यक है। किन्तु निष्ठा सर्वोपरि नहीं है।' (९) पृ० २९४ में 'एकदा' के बाद इतना अंश और भी जोड़ना ठीक होगा—'राजा के रात में सो जाने पर एक सर्प निकला और वह राजा के पास पहुँचने वाला ही था कि सेवक बन्दर ने राजा को जगा दिया। राजा ने भी तलवार निकालकर उसके वहीं दो टुकड़े कर दिए। पुनः।' वस्तुतः राजा ने ऐसा किया था यह बन्दर को स्मरण हो आया और उसने भी ऐसा ही किया।

पञ्चतन्त्र के अनुवाद

हकीम बुर्जोई का प्रयास, जिन्होंने खुसरों अनौशेरवाँ (ई० ५३१–७९) के आश्रय में पञ्चतन्त्र के एक पाठ का पहलवी में अनुवाद किया था, भारतीय पशु कथा साहित्य के लिए वह बड़े महत्त्व का था। किन्तु यह अब अप्राप्त है। फिर भी इसे खोजना चाहिए। किन्तु ५७० ई० तक बूद द्वारा इसका अनुवाद सिरियन भाषा में कर लिया गया था। ७५० ई० के आसपास अब्दुल्ला इब्नअल-मोकफ्फा ने इसका एक अरबी रूपान्तर किया था; जिससे पञ्चतन्त्र के पश्चिमी रूपान्तर निकले हैं। उपर्युक्त सीरियाई रूपान्तर का केवल एक हस्तलेख सुरक्षित है और वह भी अपूर्ण है। अरबी रूपान्तर स्पष्टतः पहलवी मूल के आधार पर था। पहलवी रूपान्तर में पाँचों भाग का होना तो प्रतीत होता है, साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि उसमें पाँच या आठ अन्य भाग भी थे, जो किसी अन्य स्रोत से लिए गए थे।[1] पन्द्रह अध्यायों में से सीरियाई रूपान्तर में केवल दस उपलब्ध हैं जबकि अरबी में कुल बाइस हैं।

अरबी रूपान्तर का एक नया सीरियाई अनुवाद १०वीं या ११वीं शती में हुआ। सिमियन (Simeon) कृत ग्रीक (यूनानी) अनुवाद ११वीं शती के अन्त में हुआ, जिसने गियुलियो नूति (Giulio Nuti) कृत १५८३ ई० के एक इटालियन अनुवाद को, दो लैटिन और एक जर्मन तथा अनेक स्लाव (Slav) अनुवादों को जन्म दिया।

---

१. हर्टेल, डेस पञ्चतन्त्र (१९१४); जेड डी एम जी lxxii 65 ff : lxxiv 95 ff lxxv 129 ff.

२. तीन भाग महाभारत से लिए गए थे, एक बौद्ध हैं। एक किसी कूपगत मनुष्य की कहानी है। एक सिंह और सियार की है। एक चार मित्रों की है। चूहों के राजा और उसके मन्त्री की एक कहानी भारतीय भावना से युक्त है

रब्बी जोइल (Rabbi Joel) कृत अरबी से हिब्रू अनुवाद ११वीं शती में किया गया जो अधिक महत्त्वपूर्ण है, जिसने १२६३ और १२७८ ई० के बीच जाँन आफ कैपुआ (John of capua) कृत लैटिन अनुवाद को जन्म दिया। इसके दो मुद्रित संस्करण १४८० ई० में प्रकाशित हुए थे। एण्टोनिउस फाँन फ्फोर (Anthonius von Pforr) ने एक हस्तलिखित प्रति से १४८३ ई० में जर्मन अनुवाद किया। बाद में डैनिश आइसलैण्डिक और डच अनुवाद हुए। १४९३ ई० में स्पेनिश अनुवाद एवं १५४६ ई० में इटैलियन अनुवाद एग्नोलो फिरेन्जुओल (Agnolo Firenjuola) ने किया। इससे १५५६ ई० में फ्रेञ्च अनुवाद किया। उपर्युक्त जर्मन रूपान्तर से ए. डोनी द्वारा किया गया एक इटैलियन संस्करण १५५२ ई० में दो भागों में प्रकाशित हुआ। इसके प्रथम भाग का १५७० ई० में सर टामस नार्थं (Sir Thomos North) कृत अंग्रेजी में अनुवाद हुआ।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण अनुवाद ११४२ में अबुल मआली नसरल्ला ने अरबी में पुनः किया। इस अनुवाद से १४७०–१५०५ ई० में फारसी में अनवारि सुहेली ने अनुवाद किया। इस अनुवाद से पूर्वी भाषाओं में अनेक रूपान्तर हुए और १६४४ ई० में डेविड साहिद (David Sahid) और गौलमिन (Goulmin) के अनुवाद से फ्रांस में लोगों को जानकारी हुई। इसका अनुवाद शीघ्र ही अंग्रेजी, जर्मन और स्वीडिश भाषाओं में किया गया।

इसके अतिरिक्त १५१२–१५२० ई० के बीच फारसी मूल का अली बिन साहिद ने तुर्की अनुवाद किया। इसका अनुवाद गालैण्ड (Galland) और कार्डोन्ने (Cardonne) ने फ्रेञ्च में किया। इस रूपान्तर का अनुवाद जर्मन, डच, हंगेरियन तथा मलायो (Malay) भाषा में भी हुआ।

इस प्रकार एशिया और यूरोप ही नहीं, अपितु अन्य महाद्वीपों में भी इसका प्रचार-प्रसार रहा है। 'तन्त्रोपाख्यान' नाम से इसके रूपान्तरों का प्रचार जावा, थाईलैण्ड एवं लाओस में अत्यधिक मात्रा में है। बाइबिल के बाद विश्व में इसी ग्रन्थ का सबसे अधिक प्रचार है। इसके प्रायः २५० संस्करण विश्व की पचास से भी अधिक भाषाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रस्तुत संस्करण

प्रस्तुत संस्करण में हिन्दी के साथ संस्कृत टीका दी भी गयी है। सभी पृष्ठ पर मुख्य कथा और उनके बीच आने वाली अवान्तर कथाओं के शीर्षक लगाए गये हैं जो अद्यावधि किसी भी संस्करण में नहीं थे। आशा है सभी श्लोकों की संस्कृत टीका प्रदर्शित करने वाला यह संस्करण बालकों के लिए अत्यन्त लाभदायक सिद्ध

होगा। यहाँ आगे संख्या लगाकर गद्यों की संस्कृत टीका दी गयी है। श्लोकानुक्रमणिका' तथा श्लोकोक्त विषयों की 'शब्दानुक्रमणिका' इस संस्करण की अपनी विशेषता है जो अद्यावधि अप्रकाशित रही थी। पाठ की दृष्टि से यह संस्करण अत्यन्त नवीन है। चौखम्भा विद्याभवन के संस्करण में कई जगहों पर मूल ही छूट गया है। इस संस्करण का यह रूप प्रदान करने में काले एवं हार्वर्ड के संस्करण अत्यन्त लाभदायक रहे हैं। तदर्थ लेखक उनका ऋणी है। हिन्दी टीका में जो सहायता गुरुकल्प स्वर्गीय पं० प्रद्युम्न पाण्डेय ने की है उनके लिए लेखक श्रद्धावनत है। प्रूफ संशोधन में मुझे सहायता करने वाले मेरे शिष्य श्री जयशंकर मिश्र को हार्दिक धन्यवाद है। इस संस्करण को इस रूप में प्रस्तुत करने का सम्पूर्ण श्रेय चौखम्भा संस्कृत सीरीज के निदेशकों को ही हैं जिसके लिए मैं हृदय से कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ।

यो मित्राणि करोत्यत्र न कौटिल्येन वर्त्तते।
तैः समं न पराभूतिं सम्प्राप्नोति कथञ्चन॥

संस्कृत विभाग
काशी हिन्दूविश्वविद्यालय
२४. ३. १९९३

विद्वद्वशंवदः
सुधाकर मालवीय

पञ्चतन्त्रस्य कथा-सूची

मित्रसम्प्राप्तिर्नाम द्वितीयतन्त्रस्य कथा-सूची

काकोलूकीयनाम तृतीयतन्त्रस्य कथा-सूची

एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्यहेतोः
　　विश्वासयन्ति च परं न च विश्वसन्ति ।
तस्मान्नरेण कुलशीलवता सदैव
　　नार्यः श्मशानवटिका इव वर्जनीयाः ॥ २०३ ॥
व्यकीर्णकेसरकरालमुखा मृगेन्द्रा
　　नागाश्च भूरिमदराजिविराजमानाः ।

नेत्रयोः, तरलता चञ्चलता, मुखे अलीकं सदा असत्यवाक्यं, कचसञ्चये केशनिचये, कौटिल्यं वक्रता, भङ्गिमत्त्वा इत्यर्थः, प्रवचने आलापे, मान्द्यम्, अल्पता त्रिके नितम्बे इति यावत् ("पृष्ठवंशाधरे त्रिकम्" इत्यमरः) स्थूलता विशालता, हृदये सदैव भीरुत्वं भयशीलता, तथा प्रिये स्वामिनि, कथितं वचनं, मायाप्रयोगः कापटचयुक्तमित्यर्थः, इत्थं दोषगणः दोषसमूहः, अपीति शेषः, यासां गुणाः, भवन्तीति शेषः, गुणत्वेन गृह्यन्ते लोकैरिति भावः, ताः तादृश्यः स्त्रियः, किं कथं, केन प्रकारेणेत्यर्थः, नराणां प्रियाः ? प्रीतिजनन्यः, भवितुमर्हन्ति इति शेषः, नैव प्रियतामर्हन्ति, सर्वदोषाकरत्वादिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २०२ ॥

एता इति । एताः नार्य्यः, कार्य्यहेतोः स्वकार्य्यसाधनार्थं, ["वित्तहेतोः" इति मृच्छकटिके पाठः] कदाचित् हसन्ति च, कदाचित् रुदन्ति च, परम् अपरजनं; ["पुरुषम्" इति वा पाठः] विश्वासयन्ति विश्वासं नयन्ति च, किन्तु न च विश्वसन्ति, स्वयमिति शेषः, तस्मात् कुलशीलवता कौलीन्यचारित्र्ययुजा, ["कुलशीलसमन्वितेन" इति वा पाठः] नरेण, नार्य्यः श्मशानवटिका इव श्मशानस्था वटतरव इव, भूतावासत्वेन भयप्रदत्वादिति भावः, ["वैश्याः श्मशानसुमनाः" इति पाठोऽपि दृश्यते] सदैव वर्जनीयाः परिहरणीयाः इत्यर्थः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ २०३ ॥

व्याकीर्णेति । व्याकीर्णैः विशेषेण इतस्ततो विलुलितैः, केसरैः जटाभिः, ["जटा

कुटिलता, बातचीत में अल्पता, नितम्बों में स्थूलता, हृदय में भीरुता, पति के प्रति कहे गए कथन में छल-प्रपंच का व्यवहार दिखाई देता है । यद्यपि कठोरता चंचलता आदि उक्त सभी बातें दोष में गिनी जाती हैं किन्तु ये सभी दोष स्त्रियों में स्थित होने के कारण उनके गुण माने जाते हैं अतः वे क्या कभी मनुष्यों की प्रिया हो सकती हैं ? ॥ २०२ ॥

ये स्त्रियाँ अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए कभी हँसती हैं, कभी रोती हैं, और फिर दूसरों को अपने विश्वास में ले लेती हैं, किन्तु स्वयं दूसरों पर विश्वास नहीं करती हैं । इसी लिए कुलीन तथा सदाचारी पुरुष को चाहिए कि वे उन्हें मरघट की हाड़ी के समान (अपवित्र समझकर) छोड़ दें ॥ २०३ ॥

बिखरे हुए अयालों (गरदन के बाल) के कारण भयंकर मुख वाले सिंह,

मेधाविनश्च पुरुषाः समरेषु शूराः
स्त्रीसन्निधौ परमकापुरुषाः भवन्ति ॥ २०४ ॥

कुर्वन्ति तावत्प्रथमं प्रियाणि यावन्न जानन्ति नरं प्रसक्तम् ।
ज्ञात्वा च तं मन्मथपाशबद्धं ग्रस्तामिषं मीनमिवोद्धरन्ति ॥ २०५ ॥

समुद्रवीचीव चलस्वभावाः संध्याभ्ररेखेव मुहूर्तरागाः ।
स्त्रियः कृतार्थाः पुरुषं निरर्थं निष्पीडितालक्तकवत्त्यजन्ति ॥ २०६ ॥

सटाकेसरयोः" इत्यमरः) करालानि भीषणानि, मुखानि येषां ते तथोक्ताः, मृगेन्द्राः सिंहाः, भूरिभिः बह्वीभिः, मदराजिभिः दानधाराभिरित्यर्थः, विराजमानाः विशेषेण शोभमानाः' मदस्राविणः इत्यर्थः, नागाः हस्तिनश्च, तथा मेधाविनो बुद्धिमन्तः, समरेषु सङ्ग्रामेषु, शूराः महावीराः, पुरुषाश्च, स्त्रीसन्निधौ नारीसमीपे, परमकापुरुषाः पौरुषविहीनाः, अत्यर्थं सङ्कुचिता इत्यर्थः, भवन्ति, दुर्दान्तेभ्यो येभ्यः, सर्वेऽपि बिभ्यति, ते पुनः रमणीसन्निधिम् आसाद्य किम्भूता विचित्रा इव जायन्ते इति भावः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ २०४ ॥

कुर्वन्तीति । रमण्यः इति कर्तृपदमत्राध्याहार्यम् । प्रथमं, यावत् नरं पुरुषं, प्रसक्तं प्रकृष्टानुरागिणं, न जानन्ति न बुध्यन्ते, तावत् प्रियाणि कुर्वन्ति प्रियकार्य्येण पुरुषं रञ्जयन्तीति भावः, ततः तं पुरुषं, मन्मथपाशेन कामवागुरया, बद्धं नियन्त्रितम्, अत एव ग्रस्तं गृहीतं, गिलितम् इति यावत्, आमिषं बडिशबिद्धमांसखण्डं येन तथाभूतं, मीनमिव मत्स्यमिव, ज्ञात्वा उद्धरन्ति प्रियव्यवहारं त्यजन्ति इत्यर्थः, गृहीतामिषेण मत्स्येन यथा यथेच्छं क्रीडन्ति, तद्वत् तेनापीति भावः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ २०५ ॥

समुद्रेति । समुद्रस्य वीचीव तरङ्ग इव, चलश्चञ्चलः, स्वभावो यासां ताः, समुद्रतरङ्गवत् अस्थिरप्रकृतयः; [समुद्रपदेन सर्वथा चञ्चलत्वं ध्वन्यते । अत्र

अत्यधिक मद से सुशोभित मतवाले हाथी, तथा प्रतिभाशाली एवं युद्ध में कुशल वीर पुरुष भी स्त्री के पास पहुँचते ही अत्यन्त कायर बन जाते हैं ॥ २०४ ॥

जब तक स्त्रियाँ यह नहीं जान लेतीं कि यह पुरुष मुझ पर आसक्त हो गया है, तब तक वह उसके मन के अनुसार व्यवहार करती रहती हैं । किन्तु जब उन्हें ज्ञात हो जाता है कि यह पुरुष काम के फन्दे में फँस गया है तब वे मांस के लोभ में वंशी में फँसी हुई मछली के समान खींचकर अपने अधीन करके उसे विवश बना (कर प्रिय व्यवहार त्याग) देती हैं ॥ २०५ ॥

समुद्र की लहरों के समान चंचल स्वभाव वाली तथा संध्याकालीन बादलों के समान क्षणमात्र के लिए ही राग (लालिमा, प्रेम) दिखाने वाली स्त्रियाँ

अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता।
अशौचं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥ २०७ ॥
सम्मोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति।
एताः प्रविश्य सरलं हृदयं नराणां
किं वा नु वामनयना न समाचरन्ति ? ॥ २०८ ॥

गमकत्वात् समासः। सन्ध्याभ्ररेखेव सायङ्कालिकनभोमण्डल इव, इवेन नित्यसमासः मुहूर्त्तरागाः क्षणमात्ररक्ताः, [अत्र सन्ध्यापदेन क्षणादेव रागहानिः ध्वन्यते] स्त्रियः; कृतार्थाः सिद्धकामाः सत्यः, स्वाभिलाषपूर्त्यनन्तरमेवेत्यर्थः; निरर्थं निर्धनं, पुरुषं, निष्पीडितं निःशेषेण निर्गालितरसं, यद् अलक्तकं तद्वद् त्यजन्ति, नार्य्यः यथा अलक्तस्य कृत्स्नं रसं निःशेषेण, गृहीत्वा हेयांशं त्यजन्ति, तथा धनिभ्यः कामुकेभ्यः अशेषमेव धनं गृहीत्वा तान् गृहान्निःसारयन्तीति भावः। उपजातिः वृत्तम् ॥ २०६ ॥

अनृतमिति। अनृतम् असत्यभाषणं, साहसम् अविमृष्यकारित्वं, माया कपटता, मोहनव्यवहारविशेषः इत्यर्थः, मूर्खत्वं जाड्यम्, अज्ञानतेत्यर्थः, अतिलोभता अतिलोलुपत्वम्, अशौचम् अपवित्रता, समलत्वमित्यर्थः, मनस इति भावः, निर्दयत्वं निष्ठुरत्वञ्च, एते स्त्रीणां स्वभावजाः स्वाभाविकाः, दोषाः, भवन्तीति शेषः ॥ २०७ ॥

सम्मोहयन्तीति। एताः वामनयनाः वामः कामः, नयने दर्शने यासां ताः कटाक्षेण पुरुषान् काममुग्धान् कुर्वत्य इत्यर्थः, यद्वा,—वामे प्रतीपे, प्रतिकूले इत्यर्थः, वामे वल्गुनी, मनोज्ञे इत्यर्थः वा, ("वामौ वल्गुप्रतीपौ द्वौ" इत्यमरः) नयने यासां ताः, प्रतीपदर्शिन्यः सुलोचना वा, नार्य्यः, नराणां सरलम् अकपटं, सुकोमलमित्यर्थः, हृदयं प्रविश्य, नु इति प्रश्ने, किं वा न समाचरन्ति ? न कुर्वन्ति ? तथा हि, सम्मोहयन्ति सम्यक् मुग्धं कुर्वन्ति, पुरुषमिति शेषः, मदयन्ति उन्मत्ततां नयन्ति, विडम्बयन्ति प्रतारयन्ति, कौशलेन सर्वं हरन्तीत्यर्थः, निर्भर्त्सयन्ति, तिरस्कुर्वन्ति;

अपनी अभिलाषा पूरी कर लेने के बाद (पुरुष द्वारा अपना स्वार्थ सिद्ध हो जाने के बाद उस) पुरुष को निचोड़े हुए महावर के समान छोड़ देती हैं ॥ २०६ ॥

असत्यता, साहस, माया (छल कपट या धूर्तता), मूर्खता, अत्यन्त लोभ, अपवित्रता, और कठोरता—ये स्त्रियों के स्वाभाविक दोष होते हैं ॥ २०७ ॥

स्त्रियाँ पुरुषों को मोहित करतीं, काम वासना से उन्मत्त बना देतीं, (उनका सब कुछ हरण करके) ठग लेतीं, अपमानित करती, उनसे सम्भोग सुख प्राप्त

अन्तर्विषमया ह्येता बहिश्चैव मनोरमाः ।
गुञ्जाफलसमाकारा योषितः केन निर्मिताः ? ॥ २०९ ॥

एवं चिन्तयतस्तस्य परिव्राजकस्य सा निशा महता कृच्छ्रेणातिचक्राम । सा च दूतिका छिन्ननासिका स्वगृहं गत्वा चिन्तयामास—किमिदानीं कर्तव्यम् ? कथमेतन्महच्छिद्रं स्थगयितव्यम् ?' अथ तस्या एवं विचिन्तयन्त्या भर्ता कार्यवशाद्राजकुले पर्युषितः प्रत्यूषे च स्वगृहमभ्युपेत्य द्वारदेशस्थो विविधपौरकृत्योत्सुकतया तामाह—भद्रे' शीघ्रमानीयतां

रमयन्ति सुरतादिना प्रीणयन्ति, तथा विषादयन्ति विषण्णं कुर्वन्ति, अप्रियाचरणेन क्षोभं नयन्तीति भावः, यदा यत् कर्त्तुमिच्छन्ति, तदा तदेव कुर्वन्तीति निष्कर्षः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ २०८ ॥

अन्तरिति । अन्तर्विषमयाः अन्तः अभ्यन्तरे, हृदयावच्छेदे इति भावः, विषमया गरलप्रचुराः, विषमयहृदयाः इत्यर्थः, बहिश्चैव शरीरबहिःप्रदेशे, मनोरमाः लावण्यवत्यः, वचसा मनोहारिण्य इत्यर्थः, विषकुम्भं पयोमुखमिवेति भावः, अत एव गुञ्जाफलैः "कुँच" 'घुमुची' वा इतिप्रसिद्धैः फलविशेषैः, समाः आकारा यासां तथाविधाः, एताः योषितः केन जनेन, निर्मिताः सृष्टाः ? गुञ्जाफलं बहिरतिरम्यं दृश्यते, परन्तु अन्तर्विषमयं यतस्तद्भक्षितं विषवत् पीडयन्तीति बोद्धव्यम् ॥ २०९ ॥

कृच्छ्रेण—कष्टेन । छिद्रं—नासारन्ध्रं, कलङ्को वा । स्थगयितव्यं आवरणीयमिति वा पाठः । गोपायितव्यम्—गोपनीयमिति । पर्युषितः,—निशायां स्थितः, कृतरात्रियापन इत्यर्थः । प्रत्यूषे-प्रातःकाले । विविधपौरकृत्योत्सुकतया—

करतीं और अन्त में उन्हें दुःखी बना देती हैं—इस प्रकार कुटिल नेत्रों वाली स्त्रियाँ पुरुषों के सरल हृदय में घुसकर क्या सभी प्रकार का अनर्थ नहीं करती हैं ? ॥ २०८ ॥

गुंजाफल (घुँघुची) के समान भीतर (हृदय) से विषैली तथा बाहर (शरीर के लावण्यादि) से मनोहर रूप वाली इन स्त्रियों का निर्माण किसने कर दिया ? ॥ २०९ ॥

इस प्रकार सोच विचार करते करते उस सन्यासी की वह रात बड़े ही कष्ट के साथ बीती । उधर वह नाक कटी हुई दूती अपने घर जाकर विचार करने लगी कि—अब इस समय मुझे क्या करना चाहिए इतने बड़े दोष को कैसे छिपाना चाहिए । वह इस प्रकार सोच ही रही थी कि इतने ही में राजकुल में रात भर निवास करने वाला उसका पति प्रातःकाल होते ही अपने घर आ पहुँचा और दरवाजे पर से ही अनेक नागरिकों का बाल बनाने की जल्दी में उसने उस

देवाः भूयोऽपि मे नासिकां तादृग्रूपामक्षतां कुर्वन्तु। अथवा, यदि मम चित्ते परपुरुषस्य भ्रान्तिरपि भवति, तदा मां भस्मसान्नयन्तु।' एवमुक्त्वा भूयोऽपि तमाह—'भो दुरात्मन्, पश्य मे सतीत्वप्रभावेण तादृश्येव नासिका संवृत्ता।'

अथाऽसावुल्मुकमादाय यावत्पश्यति, तावत् तद्रूपां नासिकां च भूतले रक्तप्रवाहं च महान्तमपश्यत्। अथ स विस्मितमनास्तां बन्धनाद्विमुच्य शय्यायामारोप्य च चाटुशतैः पर्यतोषयत्।

देवशर्मापि तं सर्ववृत्तान्तमालोक्य विस्मितमना इदमाह—

'शम्बरस्य च या माया या माया नमुचेरपि।
बलेः कुम्भीनसेश्चैव सर्वास्ता योषितो विदुः॥ १९४॥

(१) नभिलाषितः—न काङ्क्षितः। नासिका संवृत्ता—जाता।

(२) उल्मुकम्—अर्द्धदग्धकाष्ठखण्डम्; अलातम्, आलोकविशेषम् इत्यर्थः। तद्रूपां—पूर्ववत् स्वस्थानस्थाम्। भूतले—पृथिव्याम्। महान्तम्—प्रचुरम्। विस्मितमनाः आश्चर्यान्वितो भूत्वा।

(३) चाटुशतैः,—प्रियवचनसमूहैः। पर्यतोषयत्—तोषयामास।

शम्बरस्येति। शम्बरस्य असुरभेदस्य, या मायाः चातुर्याणि, नमुचेरपि तदाख्यस्य असुरविशेषस्य च, या, मायाः, बलेः बलिराजस्य; कुम्भीनसेः कुम्भीनस्याः, तदाख्याया भक्षस्या इत्यर्थः, [भारतादिपर्वीयेऽस्मिन् श्लोके कुम्भीनसीति दीर्घान्तस्यापि गुणः आर्षः] यद्वा,—कुम्भीनसीपुत्रस्य लवणस्य च, या मायाः, ताः सर्वाः एव योषितः नार्य्यः, विदुः जानन्ति; स्त्रियः सर्वा एव कपटित्व इति भावः॥ १९४॥

न की हो तो देवता मेरी नाक को पहिले ही जैसी अखंडित कर दें। अथवा यदि मेरे हृदय में उन्हें (परपुरुष के प्रति आसक्ति का) कुछ भी सन्देह हो तो मुझे भस्म कर दें। ऐसा कहकर उसने फिर उससे कहा—अरे दुष्ट ! देख, मेरे सतीत्व के प्रभाव से मेरी नाक फिर वैसी ही हो गई है।'

इसके बाद उसने जलती हुई लकड़ी (लुकारी) लेकर देखा तो उसे पहिले जैसी नाक और पृथ्वी पर अत्यधिक रक्त प्रवाह दिखाई पड़ा। तब आश्चर्यचकित होकर उसे उस बन्धन से मुक्त कर दिया और शय्या पर बिठाकर सैंकड़ों प्रिय बातों से उसे सन्तुष्ट किया।

देवशर्मा ने भी उन सभी घटनाओं को देखकर आश्चर्य के साथ कहा—

शम्बर, नमुचि, बलि और कुम्भीनसी के पुत्र लवणासुर में जितनी माया (छल और प्रवञ्चना) पाई जाती है, स्त्रियाँ उन सभी को जानती हैं॥ १९४॥

हसन्तं प्रहसन्त्येता रुदन्तं प्ररुदन्त्यपि ।
अप्रियं प्रियवाक्यैश्च गृह्णन्ति कालयोगतः ॥ १९५ ॥
उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद बृहस्पतिः ।
स्त्रीबुद्ध्या न विशिष्येत तस्माद्रक्ष्याः कथं हि ताः ? ॥ १९६ ॥
अनृतं सत्यमित्याहुः सत्यं चापि तथाऽनृतम् ।
इति यास्ताः कथं धीरैः संरक्ष्याः पुरुषैरिह ? ॥ १९७ ॥

अन्यत्राप्युक्तम्—

नातिप्रसङ्गः प्रमदासु कार्यो नेच्छेद् बलं स्त्रीषु विवर्धमानम् ।
अतिप्रसक्तैः पुरुषैर्यतस्ताः क्रीडन्ति काकैरिव लूनपक्षैः ॥ १९८ ॥

हसन्तमिति । एताः नार्य्यः, कालयोगतः समयवशात्, उपयुक्तसमये इत्यर्थः; हसन्तं पुरुषं, प्रहसन्ति, रुदन्तं प्ररुदन्त्यपि अनुरुदन्ति च, अपि समुच्चये । अप्रियं विरक्तिभाजनं जनं, प्रियवाक्यैः मोहनवचनैः, गृह्णन्ति वशीकुर्वन्ति च; न कोऽपि पुरुषः मायया रमणीं वशीकर्त्तुं शक्नुयात्; अपि तु तासामेव माययाऽसौ वशीभूतो भवतीति भावः ॥ १९५ ॥

उशना इति । उशनाः शुक्राचार्य्यः, यत् शास्त्रं, वेद जानाति; बृहस्पतिः सुरगुरुश्च, यत् शास्त्रं, वेद, तत् शास्त्रं, स्त्रीबुद्ध्या नारीबुद्धिमपेक्ष्य; न विशिष्येत न अतिशय्येत; स्त्रीबुद्धिस्तत्सर्वमतिक्रम्य वर्त्तते इति भावः; तस्मात् ताः स्त्रियः, कथं हि रक्ष्याः, केनोपायेन रक्षणीयाः ? नैव निरोद्धुं शक्या इति भावः ॥ १९६ ॥

अनृतमिति । याः रमण्यः, अनृतम् असत्यं; सत्यमिति; तदा सत्यञ्चापि अनृतमिति, आहुः; इह अत्र संसारे, धीरैः प्रवीणैः, पुरुषैः ताः नार्य्यः, कथं संरक्ष्याः ? गृहे एव स्थापयितुं शक्याः ? नैव रक्षितुं शक्या इति भावः ॥ १९७ ॥

वे स्त्रियाँ समयानुसार हँसने वालों के साथ हँसतीं, रोने वालों के साथ रोतीं और अपने प्रति प्रेम न रखने वालों को प्रिय वाक्यों से अपने अधीन बना लेती हैं ॥ १९५ ॥

दैत्य गुरु शुक्राचार्य जिस शास्त्र को जानते हैं तथा देवगुरु बृहस्पति जिस शास्त्र को जानते हैं, वे (शास्त्र) स्त्रीबुद्धि की अपेक्षा कोई विशिष्ट स्थान नहीं रखते । अतः स्त्रियों को मर्यादा के भीतर कैसे रखा जा सकता है ? ॥ १९६ ॥

जो स्त्रियाँ झूठ को सत्य और सत्य को झूठ सिद्ध कर देती हैं, धैर्यवान् (बुद्धिमान्) पुरुष इस संसार में भला उनकी रक्षा कैसे कर सकते हैं ? ॥ १९७ ॥

दूसरे स्थान पर कहा गया है—

सुमुखेन वदन्ति वल्गुना प्रहरन्त्येव शितेन चेतसा
मधु तिष्ठति वाचि योषितां हृदये हालाहलं महद्विषम् ॥१९९॥
अत एव निपीयतेऽधरो हृदयं मुष्टिभिरेव ताडयते।
पुरुषैः सुखलेशवञ्चितैर्मधुलुब्धैः कमलं यथाऽलिभिः ॥२००॥

नेति। यतः ताः प्रमदाः, लूनपक्षैः छिन्नपक्षैः, उड्डयनासमर्थैः इत्यर्थः; काकैरिव अतिप्रसक्तैः अत्यनुरक्तैः, पुरुषैः [करणे तृतीया] क्रीडन्ति यथाऽभिलषितं व्यवहरन्तीत्यर्थः; ततः प्रमदासु नारीषु, अतिप्रसङ्गः अत्यासक्तिः, न कार्य्यः, विशेषाऽऽसक्तिश्च न कुर्य्यादित्यर्थः, तथा स्त्रीषु विवर्द्धमानं विशेषेण वृद्धिं गच्छत् बलं तेजः इत्यर्थः, प्रभावमिति यावत्, न इच्छेत्; धीरः इति शेषः। उपजातिः वृत्तम् ॥ १९८ ॥

सुमुखेनेति। एताः वल्गुना मनोहरेण, सुमुखेन सुप्रसन्नेन मुखेन, वदन्ति आलपन्ति, किन्तु शितेन तीक्ष्णेन, चेतसा मनसा, प्रहरन्त्येव, पुमांसमिति शेषः, मधुरालापिन्योऽपि रमण्यः हृदयकाठिन्येन नितरामन्तर्मर्माणि पीडयन्तीति भावः। यतः योषितां स्त्रीणां, वाचि आलापे, मधु मधुवत् सुमधुरं वाक्यजातं, हृदये मनसि तु; महत् तीव्रं, हालाहलं कालकूटं, विषं विषवद्दुःखदं भवतीत्यर्थः, तिष्ठति विद्यते। सुन्दरी वृत्तम्—"अयुजोर्यदि सौ जगौ युजोः सभरा लगौ यदि सुन्दरी तदा" इति लक्षणात् ॥ १९९ ॥

अत इति। अत एव अस्मादेव कारणात्, मुखे मधुसद्भावात् हृदये च विषसद्भावादिति भावः, सुखलेशेन यत्किञ्चित्सुखलाभेनापीति भावः, वञ्चितैः विप्र-

---

स्त्रियों के प्रति अत्यन्त आसक्ति नहीं करनी चाहिए और न तो उनके बढ़ते हुए बल (प्रभाव) की ही कामना करना चाहिए क्योंकि अत्यन्त आसक्त पुरुषों के साथ (उन पर वे प्रभाव जमा लेने वाली) स्त्रियाँ उसी प्रकार खेल खेलती हैं जैसे लोग कटे हुए पंख वाले कौवे के साथ खेलते हैं ॥ १९८ ॥

स्त्रियाँ सुन्दर मुख से मुग्ध कर लेने वाली वाणी बोलती हैं किन्तु तीव्र हृदय से (कठोर भावों से) आसक्त पुरुषों के मर्म पर आघात पहुँचाती हैं। क्योंकि उनकी वाणी में मधुर (मिठास) किन्तु हृदय में महाभयङ्कर विष होता है ॥ १९९ ॥

इसलिए थोड़े से सुख (विषय-सुख) द्वारा ठगे गए (कामी) पुरुष उनके अधरों को उसी प्रकार चूसते और हृदय को मुष्टिका द्वारा ताड़न (कुचमर्दन) करते हैं जिस प्रकार मधु का लोभी भ्रमर कमल की पंखुड़ियों का रस लेता है और उसके बीच के भाग को पैरों से कुचलता है ॥ २०० ॥

अपि च—

आवर्त्तः संशयानामविनयभवनं पत्तनं साहसानां
दोषाणां सन्निधानं कपटशतगृहं क्षेत्रमप्रत्ययानाम् ।
दुर्ग्राह्यं यन्महद्भिर्नरवरवृषभैः सर्वमायाकरण्डं
स्त्रीयन्त्रं केन लोके विषममृतयुतं धर्मनाशाय सृष्टम् ? ॥२०१॥

कार्कश्यं स्तनयोर्दृशोस्तरलताऽलीकं मुखे दृश्यते
कौटिल्यं कचसञ्चये प्रवचने मान्द्यं त्रिके स्थूलता ।
भीरुत्वं हृदये सदैव कथितं मायाप्रयोगः प्रिये
यासां दोषगणो गुणा मृगदृशां ताः किं नराणां प्रियाः? ॥२०२॥

लब्धैः, नारीणां नियतकपटव्यवहारेण नितरामुद्वेजितैरिति भावः, मधुलुब्धैः मधुरास्वादलालसैः, पुरुषैः, मधुलुब्धैः मधुपिपासुभिः अलिभिः भ्रमरैः, कमलं यथा पद्ममिव, अधरः, तासामिति शेष, निपीयते निःशेषेण आस्वाद्यते, चुम्ब्यते इति यावत्, हृदयन्तु मुष्टिभिरेव ताडयते कुचमर्दनेन प्रह्रियते । अत्रापि सुन्दरी वृत्तम् ॥ २०० ॥

आवर्त्त इति । लोके जगति, केन विधात्रा, धर्मनाशाय सर्वासां मायानां कपटव्यवहाराणां करण्डं पात्रविशेषः; तथा अमृतयुतं सुधामिश्रितं, विषं तत्स्वरूपमित्यर्थः, स्त्रीयन्त्रं नारीरूपं यन्त्रं, सृष्टं, तत्तु न जाने इति शेषः, यत् यन्त्रं; संशयानां सन्देहानाम्, आवर्त्तः भ्रमिस्थानं, ("स्यादावर्त्तोऽम्भसां भ्रमः" इत्यमरः) अविनयस्य दुर्नयस्य, भवनम् आश्रयः, साहसानां पत्तनं नगरस्वरूपं, दोषाणां सन्निधानं निकेतनं, कपटशतानां चातुरीसमूहानां, गृहम् आश्रयस्वरूपम्, अप्रत्ययानाम् अविश्वासानां, क्षेत्रं स्थानं, महद्भिः नरवरवृषभैः मानवश्रेष्ठैः इत्यर्थः; (अपिरत्राध्याहार्य्यः) दुर्ग्राह्यं ग्रहीतुमशक्यं, वशीकर्त्तुमशक्यमित्यर्थः । रूपकालङ्कारः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ २०१ ॥

कार्कश्यमिति । यासां मृगदृशां, स्तनयोः कुचयोः, कार्कश्यं काठिन्यं, दृशोः

और भी—सन्देहों का भँवर (पानी का चक्कर), उच्छृङ्खलता का घर, साहस का नगर, दुर्गुणों का खजाना, असंख्य छल प्रपञ्च का घर, अविश्वास की जन्मभूमि, अत्यन्त महान् श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा भी ग्रहण करने (अपने वश में रखने) में अशक्य, और सभी प्रकार की माया की पिटारी इस स्त्री रूपी यंत्र का निर्माण इस संसार में धर्म का नाश करने के लिए किसने किया है, जो अमृत और विष दोनों से भरा हुआ है ? ॥ २०१ ॥

स्त्रियों के स्तनों में कठोरता, नेत्रों में चञ्चलता, वाणी में असत्यता, बालों में

क्षुरभाण्डं येन क्षौरकर्मकरणाय गच्छामि।' सापि छिन्ननासिका गृहमध्यस्थितैव कार्यकरणापेक्षया क्षुरभाण्डात्क्षुरमेकं समाकृष्य तस्याभिमुखं प्रेषयामास। नापितोऽप्युत्सुकतया तमेकं क्षुरमवलोक्य कोपाविष्टः सन् तदभिमुखमेव तं क्षुरं प्राहिणोत्। एतस्मिन्नन्तरे सा दुष्टोर्ध्वबाहू विधाय फूत्कर्तुमना गृहान्निश्चक्राम, आह च-'अहो पश्यत पापेनानेन मम सदाचारवर्तिन्याः नासिकाच्छेदो विहितः। तत्परित्रायताम्; परित्रायताम्।'

अत्रान्तरे राजपुरुषाः समभ्येत्य तं नापितं लगुडप्रहारैर्जर्जरीकृत्य दृढबन्धनैर्बद्ध्वा तया छिन्ननासिकया सह धर्माधिकरणस्थानं नीत्वा सभ्यान् ऊचुः—'शृण्वन्तु भवन्तः सभासदः, अनेन नापितेनापराधं विना स्त्रीरत्नमेतद्व्यङ्गितम्। तदस्य यद्युज्यते तत्क्रियताम्।' इत्यभिहिते सभ्या ऊचुः—'रे नापित, किमर्थं त्वया भार्या व्यङ्गिता? किमनया परपुरुषोऽभिलषितः, उतस्वित्प्राणद्रोहः कृतः, किंवा चौर्यकर्माचरितम्? तत्कथ्यतामस्या अपराधः।'

बहुनागरिकक्षौरकार्य्यव्याकुलतया। क्षुरभाण्डम्—क्षुरपात्रम्। प्रत्युत्पन्नमतिः—तत्कालोचितकर्तव्यनिर्णायिका। समाकृष्य-निष्कास्य। उत्सुकतया—शीघ्रगमनोत्कण्ठया। प्राहिणोत्—न्यक्षिपत्। विधाय—भूत्वा इत्यर्थः। फूत्कर्तुमनाः—चीत्कारेण लोकानाह्वातुकामा इत्यर्थः। सदाचारवर्त्तिन्याः—पतिव्रतायाः। समभ्येत्य—समागत्य। व्यङ्गितम्—अङ्गविहीनं कृतमित्यर्थः। यत्—

(अपनी पत्नी दूती) से कहा—भद्रे! शीघ्र ही छुरे के पेटी ले आओ ताकि मैं बाल बनाने चला जाऊँ। उस नककटी ने कार्य की अधिकता का बहाना करके घर के भीतर से ही छुरे की पेटी से एक छुरा निकाल कर उसकी ओर फेंक दिया। नाई ने भी जल्दी के कारण एक छुरे को देखते ही क्रुद्ध होकर उस छुरे को उसकी ओर फेंक दिया। उस दुष्टा ने दोनों हाथ ऊपर उठा कर चिल्ला चिल्लाकर लोगों को बुलाने की नीयत से घर से बाहर आकर कहना प्रारम्भ किया—देखो, इस पापी ने मुझ जैसी सती साध्वी की नाक काट ली है, इस लिए मेरी रक्षा करो, मेरी रक्षा करो।

इसके पश्चात् सिपाहियों ने वहाँ पहुँचकर नाई को डण्डे से खूब पीटा और और उसे दृढ़ता के साथ बांधकर उस नककटी के साथ न्यायाधीश के पास ले जाकर सभ्यों (जूरियों) से कहा—हे सभासदों! आप लोग ध्यान से सुनिए—इस नाई ने इस निर्दोष स्त्री को (नाक काट कर एक अङ्ग से रहित) विकलांग बना दिया है। इस लिए जैसा उचित हो वैसा कीजिए। इतना कहने पर सभ्यों ने कहा—अरे नापित! तुमने किसलिए अपनी पत्नी की नाक काट डाली है? क्या इसने परपुरुष की इच्छा की है या प्राण नाश की चेष्टा की है अथवा चोरी की

नापितोऽपि प्रहारपीडिततनुर्वक्तुं न शशाक। अथ तं तूष्णींभूतं दृष्ट्वा पुनः सभ्याः ऊचुः—'अहो, सत्यमेतद्राजपुरुषाणां वचः, पापात्माऽयम्। अनेनेयं निर्दोषा वराकी दूषिता। उक्तं च

भिन्नस्वरमुखवर्णः शङ्कितदृष्टिः समुत्पतिततेजाः।
भवति हि पापं कृत्वा स्वकर्मसन्त्रासितः पुरुषः ॥ २१० ॥

तथा च—

आयाति स्खलितैः पादैर्मुखवैवर्ण्यसंयुतः।
ललाटस्वेदभाग् भूरि गद्गदं भाषते वचः ॥ २११ ॥
अधोदृष्टिर्भवेत्कृत्वा पापं प्राप्तः सभां नरः।
तस्माद् यत्नात् परिज्ञेयश्चिह्नैरेतैर्विचक्षणैः ॥ २१२ ॥

यादृशं दण्डमित्यर्थः। उतस्वित्—अथवा। प्राणद्रोहः,—जीवनाशचेष्टा। तूष्णीम्—गृहीतमौनम्। वराकी—कातरा, दीना इत्यर्थः। दूषिता—अङ्गहीनतां नीता।

भिन्नेति। पापं कृत्वा, स्वकर्मणा स्वेन पापकर्मणा, सन्त्रासितः सम्यक् त्रासं नीतः, पुरुषः; भिन्नः पृथग्भूतः, विकृतिं गत इत्यर्थः, स्वरः कण्ठध्वनिः, मुखवर्णश्च मुखस्य गौरश्यामादिरूपः स्वाभाविकवर्णश्च यस्य तथाभूतः, शङ्किता चकिता, दृष्टिर्यस्य तादृशः तथा समुत्पतितं विनष्टमित्यर्थः, तेजो यस्य तथाभूतः, निष्प्रभ इत्यर्थः, भवति हि, हिशब्दोऽवधारणार्थः। आर्या वृत्तम् ॥ २१० ॥

आयातीति। पापी नर इति अध्याहार्य्यं, स्खलितैः पदे पदे च्योतद्भिः, पादैः उपलक्षितः, आयाति आगच्छति, तथा मुखवैवर्ण्यसंयुतः विवर्णमुखकान्तिः, ललाटस्वेदभाक् खिन्नललाटश्च सन्, भूरि बहु, गद्गदम् अस्पष्टं, वचः भाषते ॥ २११ ॥

अधोदृष्टिरिति। पापं कृत्वा सभां धर्माधिकरणं, प्राप्तो नरः, अधोदृष्टिः

है? इस लिए इसका अपराध तो बताओ। डण्डे की चोट से नाई के शरीर में अत्यन्त पीड़ा हो रही थी, जिससे वह कुछ कह न सका। तब उसे चुप देखकर सभ्यों ने कहा कि—सिपाहियों का कहना सत्य है। यह पापी है। इसने दोषरहित वेचारी को नाहक ही अंगहीन बना दिया है। कहा भी गया है—

दुष्कर्म करने के पश्चात् अपने कर्मों से भयभीत पुरुष का कण्ठस्वर बदल जाता है, मुख का रंग फीका पड़ जाता है, आँखों में शंका का भाव दिखाई पड़ने लगता है तथा उसका तेज नष्ट हो जाता है ॥ २१० ॥

और भी—अपराधी पुरुष लड़खड़ाते हुए चलता है, उसके मुख का रंग फीका पड़ जाता है, ललाट पर पसीने की बूंदें आ जाती हैं तथा उसका गला रुँध जाता है जिससे वह स्पष्ट बात नहीं कर पाता है ॥ २११ ॥

दुष्कर्म करने के पश्चात् सभा में पहुँचने पर मनुष्य आँखे नीची करके बोलता

अन्यच्च—प्रसन्नवदनो हृष्टः स्पष्टवाक्यः सरोषदृक्।
सभायां वक्ति सामर्षं सावष्टम्भो नरः शुचिः ॥ २१३ ॥

'तदेषः दुष्टचरित्रलक्षणो दृश्यते। स्त्रीधर्षणाद् बध्य इति। तच्छूलीयामारोप्यताम्' इति।

अथ बध्यस्थाने नीयमानं तमवलोक्य देवशर्मा तान्धर्माधिकृतान् गत्वा प्रोवाच—'भो भोः, अन्यायेनैष वराको बध्यते नापितः, साधुसमाचार एषः। तच्छ्रूयतां मे वाक्यम्—'जम्बूको हुड्युद्धेन' इति। अथ ते सभ्या ऊचुः—'भो भगवन् कथमेतत्?' ततो देवशर्मा तेषां

अधोमुख इत्यर्थः, भवेत् तस्मात् विचक्षणैः, निपुणैः, पुरुषैरिति शेषः, एतैः पूर्वोक्तैः, चिह्नैः लक्षणैः, यत्नात् अवधानात्, परिज्ञेयः बोद्धव्यः, पापीति शेषः ॥ २१२ ॥

प्रसन्नवदन इति। शुचिः निर्दोषः, नरः प्रसन्नवदनः स्मेराननः, हृष्टः पुलकितः, स्पष्टवाक्यः अस्खलिताक्षरः, सरोषदृक् क्रोधपूर्णदृष्टिः, मिथ्याऽभियोगजावमाननादिति भावः, सावष्टम्भः सगर्वः, भवतीति शेषः, अत एव सभायां धर्माधिकरणे इत्यर्थः, सामर्षं सकोपं, वक्ति कथयति, निर्भीकः सर्वं निवेदयतीति फलितार्थः ॥ २१३ ॥

(१) दुष्टेति। दुष्टचरित्रस्य लक्षणं—चिह्नं यत्र तथोक्तः। स्त्रीधर्षणात्—स्त्रियाः अवमाननात्, नासाच्छेदकरणादिति यावत्।

(२) धर्माधिकृतान्—विचारकान् न्यायपालान्। वराकः—दीनः, साधुसमाचारः—निर्दोषः।

है। इसलिए निर्णय करने वाले कुशल व्यक्तियों को चाहिए कि वे इन लक्षणों से सावधानी के साथ पापी का पता लगा लें ॥ २१२ ॥

और भी—जो व्यक्ति सभा में प्रसन्नमुख, हर्ष के साथ, स्पष्ट वाणी में, क्रोध पूर्ण दृष्टि एवं गर्व के साथ क्रुद्ध होकर बोलता है वह पवित्र (निर्दोष) होता है ॥ २१३ ॥

अतः यह लक्षणों से दुराचारी दिखाई पड़ रहा है। यह स्त्री को (नाक काटकर) अपमानित करने के कारण मार डालने योग्य है। इसलिए इसे शूली पर चढ़ा दो।

इसके पश्चात् उसे बध्यभूमि (जहाँ फाँसी दी जाती है उस) की ओर ले जाते हुए देखकर देवशर्मा ने उन धर्माधिकारियों के पास जाकर कहा—यह बेचारा नाई अन्यायपूर्वक मारा जा रहा है। यह साधुओं जैसा सदाचारी है। इस लिए मेरी बात सुनिए-जम्बूक हुड युद्ध से' इत्यादि। यह सुनकर उन सभ्यों

त्रयाणामपि वृत्तान्तं विस्तरेणाकथयत् । तदाकर्ण्य सुविस्मितमनसस्ते नापितं विमोच्य मिथः प्रोचुः— अहो !

अवध्यो ब्राह्मणो बालः स्त्री तपस्वी च रोगभाक् ।
विहिता व्यङ्गिता तेषामपराधे महत्यपि ॥ २१४ ॥

तदस्या नासिकाच्छेदः स्वकर्मणा हि संवृत्तः । ततो राजनिग्रहस्तु कर्णच्छेदः कार्यः । तथाऽनुष्ठिते देवशर्माऽपि वित्तनाशसमुद्भूतशोकरहितः पुनरपि स्वकीयं मठायतनं जगाम । अतोऽहं ब्रवीमि—'जम्बूको हुडुयुद्धेन' इति ।

'करटक आह—'एवंविधे व्यतिकरे किं कर्तव्यमावयोः ?' दमनकोऽब्रवीत्—'एवंविधेऽपि समये मम बुद्धिस्फुरणं भविष्यति, येन संजीवकं प्रभोर्विश्लेषयिष्यामि । उक्तं च यतः –

अवध्य इति । महति अपराधेऽपि ब्राह्मणः, बालः शिशुः, स्त्री, तपस्वी, रोगभाक् रोगी च, अवध्यः न हन्तव्यः । तेषां व्यङ्गिता विकृताङ्गता, अङ्गहीनता वा विहिता, येन केनचिदङ्गेन एतेषां वियोगः कार्य्यः इति धर्मशास्त्रनियमः इत्यर्थः ॥ २१४ ॥

(१) स्वकर्मणा—निजकृतपापेनेत्यर्थः । राजनिग्रहः—राजदण्डः ।

(२) व्यतिकरे—व्यसने, "अथ व्यतिकरः पुंसि व्यसनव्यतिषङ्गयोः" इति मेदिनी, सङ्कटे इति भावः ।

(३) प्रभोः,—पिङ्गलकात् । विश्लेषयिष्यामि—वियोजयिष्यामि ।

ने कहा—भगवन् यह कैसी कथा है ? तब देवशर्मा ने उन तीनों की कथा विस्तार के साथ सुना दी । जिसे सुनकर आश्चर्य चकित होकर उन सभ्यों ने नाई को छुड़ा दिया और आपस में कहना प्रारम्भ किया । अहो,—

ब्राह्मण, बालक, स्त्री, तपस्वी और रोगी अवध्य होते हैं अर्थात् इन्हें मृत्यु दण्ड नहीं दिया जाता है । बड़े से बड़ा पाप करने पर भी इनका अंग भंग करना ही शास्त्र का विधान हैं ॥ २१४ ॥

अतः इसकी नाक तो अपनी करनी से कट ही चुकी है, अब राजदण्ड के रूप में इसके कान काट देने चाहिए । ऐसा हो जाने पर देवशर्मा भी अपने धननाश का सारा शोक भूलकर फिर अपने मठ में चला गया । इसीलिए मैं कहता हूँ—'जम्बूक हुडु युद्ध से' इत्यादि ।

करटक ने कहा—'ऐसी स्थिति के उत्पन्न हो जाने पर हम दोनों को क्या करना चाहिए ?' दमनक ने कहा—ऐसे समय में भी मेरी बुद्धि जाग

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता ।
बुद्धिर्बुद्धिमता सृष्टा हन्ति राष्ट्रं सनायकम् ॥ २१५ ॥

तदहं मायाप्रपञ्चेन गुप्तमाश्रित्य तं स्फोटयिष्यामि ।' करटक आह--'भद्र यदि कथमपि तव मायाप्रवेशं पिङ्गलको ज्ञास्यति, सञ्जीवको वा; तदा नूनं विघात एव ।' सोऽब्रवीत्--तात, मैवं वद । गूढबुद्धिभिरापत्काले विधुरेऽपि दैवे बुद्धिः प्रयोक्तव्या । नोद्यमस्त्याज्यः । कदाचिद् घुणाक्षरन्यायेन

एकमिति । धनुष्मता धानुष्केण, मुक्तः निक्षिप्तः, इषुः शरः, एकं लक्ष्यमित्यर्थः, हन्यात् हन्तुं शक्नुयात्, न वा हन्यात्, हन्तुं न शक्नुयाद् वा, किन्तु बुद्धिमता सृष्टा प्रयुक्ता, बुद्धिः विमृश्यकारित्वमित्यर्थः, सनायकं स्वामिसहितं, राष्ट्रं राज्यं, हन्ति । अत्र इषोरपि बुद्धेरुत्कर्षात् व्यतिरेकालङ्कारः । तदुक्तं दर्पणे,—"आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा । व्यतिरेक एक उक्ते हेतौ नोक्ते स च त्रिधा ॥" इति ॥ २१५ ॥

(१) मायाप्रपञ्चेन—चातुरीविस्तारेण । स्फोटयिष्यामि—वियोजयिष्यामि ।
(२) मायाप्रवेशं—कपटाचरणमित्यर्थः । विघातः,—व्याघातः, विपदित्यर्थः ।
(३) गूढबुद्धिभिः,—कूटबुद्धिभिरित्यर्थः । विधुरे—प्रतिकूले । दैवे—भाग्ये, उद्यमः । उद्योगः, पुरुषकार इत्यर्थः ।

घुणाक्षरन्यायेनेति । घुणो नाम काष्ठभक्षकः कीटविशेषः, तेन कृतमक्षरं; तस्य न्यायः, तेन, स यदा काष्ठं प्रविशति, तदा क्रमेण काष्ठं कृन्तन् कृन्तन् यत् खननवर्त्म-करोति, तदेव कदाचिदक्षरवत् प्रतीयते चेत् तदा लोकैर्घुणकृतमेतदक्षरमिति मन्यते;

उठेगी । जिससे मैं संजीवक को स्वामी से अलग कर दूँगा । क्योंकि कहा भी गया है—

धनुर्धारी द्वारा चलाया गया बाण चाहे किसी को मारे या न मारे किन्तु नीतिज्ञ द्वारा प्रयुक्त बुद्धि (का बाण) राजा के साथ ही समस्त राष्ट्र का विनाश कर देती है ॥ २१५ ॥

इसलिए मैं छल कपट द्वारा गुप्त रूप से षड्यन्त्र रचकर उसको (स्वामी से) अलग कर दूँगा । करटक ने कहा—"भद्र ! यदि तुम्हारे छल कपट को संजीवक अथवा पिंगलक ने जान लिया तो निश्चित रूप से (हम दोनों की) जान चली जायगी ।' उसने कहा—भाई ! ऐसा मत कहो । आपत्ति काल में भाग्य या विधाता के प्रतिकूल हो जाने पर भी नीतिज्ञ को अपनी बुद्धि का प्रयोग करना ही चाहिए । प्रयत्न नहीं छोड़ना चाहिए । क्योंकि जैसे घुन द्वारा काठ में छेद करने

बुद्धेः साम्राज्यं भवति। उक्तं च—

त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि दैवे
धैर्यात्कदाचित् स्थितिमाप्नुयात् सः।
जाते समुद्रेऽपि हि पोतभङ्गे
सांयात्रिको वाञ्छति कर्म एव॥ २१६॥

तथा च—उद्योगिनं सततमत्र समेति लक्ष्मी-
र्दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति।

इत्यनेन प्रकारेणैषः न्यायः घुणाक्षरः इति प्रसिद्धः। बुद्धेः,—बुद्धिवशात्। साम्राज्यं भवति—साम्राज्यलाभो भवति इत्यर्थः।

त्याज्यमिति। दैवे विधुरे विपरीतेऽपि, धैर्यं न त्याज्यं न हातव्यम्; यतः सः प्रतिकूलदैवो जनः इत्यर्थः, धैर्यात् कदाचित् कस्मिन्नपि काले, स्थितिं स्थानं, यथाऽभिमतमिति भावः, आप्नुयात् लभेत्। तथा हि, समुद्रे जलधौ, पोतभङ्गे नौकाभग्ने, वाणिज्यद्रव्यपूर्णयानभङ्गे इत्यर्थः, जाते सम्पन्नेऽपि, सांयात्रिकः पोत-वणिक्, ("सांयात्रिकः पोतवणिक्" इत्यमरः) कर्म स्वं वाणिज्यमेव, वाञ्छति धैर्य्यमाश्रित्य पुनरपि कर्त्तुमिच्छति, न पुनः व्यवसायात् विचलतीति भावः। "कर्म एव" इत्यत्र सन्धिराहित्यं दोषः। अत्र विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः। तदुक्तं दर्पणे,—"सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि। कार्य्यञ्च कारणेनेदं कार्य्येण च समर्थ्यते। साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः॥" इति। इन्द्रवज्रा वृत्तम्॥ २१६॥

उद्योगिनमिति। अत्र संसारे, लक्ष्मीः श्रीः, सततम् उद्योगिनं सोद्यमं जनं, समेति प्राप्नोति, कापुरुषाः पौरुषविहीनाः अक्षमाः पुरुषाः, हि दैवं दैवं "दैवमेव शरणं नान्यत्" इति वदन्ति; अत एव दैवं निहत्य निरस्य, आत्मशक्त्या

से अक्षर बन जाते हैं उसी प्रकार दैवयोग से बुद्धि द्वारा साम्राज्य भी प्राप्त हो जाता है। कहा भी गया है—

भाग्य या विधाता के प्रतिकूल हो जाने पर भी पुरुष को धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए। क्योंकि धैर्य धारण करने से कदाचित् उसे इष्ट की प्राप्ति हो जाय। समुद्र में जहाज के डूब जाने पर भी जहाज से व्यापार करने वाले व्यापारी (धैर्य धारण करके) फिर व्यापार करने का प्रयत्न तो करते ही हैं॥ २१६॥

और भी—उद्योग में लगे हुए पुरुष को इस संसार में निरन्तर लक्ष्मी (धन सम्पत्ति) की प्राप्ति होती रहती है किन्तु कायर व्यक्ति बैठे बैठे दैव, दैव

दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्र दोषः ॥ २१७ ॥

तदेवं ज्ञात्वा सुगूढबुद्धिप्रभावेण यथा तौ द्वावपि न ज्ञास्यतः, तथा मिथो वियोजयिष्यामि । उक्तं च—

सुप्रयुक्तस्य दम्भस्य ब्रह्माप्यन्तं न गच्छति ।
कौलिको विष्णुरूपेण राजकन्यां निषेवते" ॥ २१८ ॥

करटक आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

स्वसामर्थ्येन, पौरुषं पुरुषकारं, कुरु अवलम्बस्वेत्यर्थः, यत्ने पुरुषकारे इत्यर्थः, कृते सति यदि न सिध्यति, कार्य्यम् इति शेषः, तदा अत्र यत्ने, कः कोऽपि, दोषः यत्न प्रयोगकर्त्तु स्त्रुटिर्विद्यते इति बोद्धव्यम्, अन्यथा कथं कार्य्यसिद्धिर्न भवेत् ? सम्यक् यत्नश्चेत् कर्त्तुं शक्यते तर्हि नूनमेव कार्य्यसिद्धिरिति निष्कर्षः । "उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीर्दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति" इति प्रथमार्द्धे पाठान्तरम् । पुरुषसिंहम्—साहसिकं, वीरपुरुषम्, लक्ष्मीः—श्रीः, उपैति–प्राप्नोति । कापुरुषाः—कातराः 'दैवेन देयम्' इति वदन्ति । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ २१७ ॥

सुगुप्तस्येति । ब्रह्मा स्वयं विधातापि, अन्येषां का कथेति अप्यर्थः, सुगुप्तस्य गूढं प्रयुक्तस्य, सुप्रयुक्तस्येति पाठे सुविचार्यकृतस्य, दम्भस्य कपटस्य, अन्तं पारं, न गच्छति अपि नावबुध्यते इति सम्भावयामि इत्यर्थः । अपिरत्र सम्भावनायाम् । तथा हि, कौलिकः कश्चित् तन्तुवायः, विष्णुरूपेण कपटविष्णुरूपं धृत्वा, राजकन्यां निषेवते भुङ्क्ते ॥ २१८ ॥

चिल्लाया करते हैं। इस लिए भाग्य को लात मारकर अपनी पूरी शक्ति के साथ पुरुषार्थ करना चाहिए और प्रयत्न करने पर भी यदि कार्य सिद्ध न हो तो प्रयत्न में होने वाली त्रुटि की खोज करना चाहिए ॥ २१७ ॥

अतः इस प्रकार समझ बूझ कर अपनी गूढ़ बुद्धि के प्रभाव से मैं उन दोनों को एक दूसरे से इस प्रकार अलग कर दूँगा कि वे इसे समझ ही नहीं पाएँगे। कहा भी गया है—

भली भाँति समझ बूझ कर किए गए कपट का अन्त ब्रह्मा भी नहीं पा सकते हैं। जैसे विष्णु रूप धारण करके एक जुलाहे ने राजकन्या से रमण किया ॥२१८॥

करटक ने कहा—यह कैसी कथा है ? उसने कहा—

---

१. कृत विनिश्चये पुंसां देवा यान्ति सहायताम् ।
विष्णुचक्रं गरुत्माश्च कौलिकस्य यथाहवे ॥ श्लोकोऽयं पञ्चतन्त्रे न दृश्यते ।
दृढसाहसी व्यक्ति की सहायता विष्णु भी करते हैं जैसा कि विष्णु के चक्र तथा गरुड़ ने युद्ध में कौलिक की सहायता की थी।

५ : विष्णुरूपधृक्कौलिक-कथा

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने कौलिकरथकारौ मित्रे प्रतिवसतः स्म। तत्र च तौ बाल्यात्प्रभृति सहचारिणौ परस्परमतीव स्नेहपरौ सदैकस्थानविहारिणौ कालं नयतः। अथ कदाचित्तत्राधिष्ठाने कस्मिंश्चिद्देवायतने यात्रामहोत्सवः संवृत्तः। तत्र च नटनर्तकचारणसंकुले नानादेशागतजनावृते तौ सहचरौ भ्रमन्तौ काश्चिद्राजकन्यां करेणुकारूढां सर्वलक्षणसनाथां कञ्चुकिवर्षवर-परिवारितां देवतादर्शनार्थं समायातां दृष्टवन्तौ। अथासौ कौलिकस्तां दृष्ट्वा विषार्दित इव दुष्टग्रहगृहीत इव कामशरैर्हन्यमानः सहसा भूतले निपपात। अथ तं तदवस्थमवलोक्य रथकारस्तद्दुःखदुःखित आप्तपुरुषैस्तं

(१) बाल्यात् प्रभृति—बाल्यकालादारभ्य, सहचारिणौ—सहचरौ, कालं नयतः समयं यापयतः। देवायतने—मन्दिरे; यात्रामहोत्सवः—दर्शनयात्रोत्सवः।

(२) नटेति। नटाश्च नर्तकाश्च चारणाः—कुशीलवाश्च तैः सङ्कुले—व्याप्ते। तौ—कौलिकरथकारौ।

(३) करेणुकारूढां—हस्तिनीमारुह्य आगताम्। सर्वेति। सर्वैः लक्षणैः,—शुभचिह्नैः, सनाथा—युक्ता तां, सर्वसुलक्षणसम्पन्नाम्। कञ्चुकीति। कञ्चुकिभिः,—अन्तःपुरचरवृद्धब्राह्मणैः, "अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः। सर्वकार्य्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते॥" इति लक्षणान्वितैरित्यर्थः, वर्षवरैश्च नपुंसकजातीयैश्च, परिवारितां—परिवेषितां, वेष्टितामित्यर्थः; विषार्दितः—विषपीडितः।

(४) दुष्टग्रहगृहीतः—पिशाचादिपीडितः; कामशरैः-कामबाणैः।

विष्णुरूपधारी कौलिक जुलाहे की कथा

किसी नगर (या गाँव) में दो मित्र रहा करते थे जिनमें से एक जुलाहा था और दूसरा बढ़ई। वहीं बचपन से एक साथ रहा करते हुए, वे दोनों परस्पर अत्यन्त प्रेम पूर्वक सर्वदा एक ही स्थान में विहार करते हुए समय बिता रहे थे। किसी समय उसी स्थान के किसी मन्दिर में यात्रा का महान् उत्सव हो रहा था। वहाँ नट, नतर्क और चारणों से युक्त विभिन्न देशों से आई हुई भीड़ में घूमते हुए उन दोनों ने एक राजकन्या को देखा, जो सभी शुभ लक्षणों से युक्त थी तथा हथिनी पर बैठकर कंचुकी एवं नपुंसक सेवकों से घिरी हुई देवदर्शन के लिए आई हुई थी। इसके पश्चात् वह जुलाहा उसे देखते ही काम के बाणों से घायल होकर सहसा पृथ्वी पर इस प्रकार गिर पड़ा मानों विष से पीड़ित हो गया हो अथवा किसी दुष्ट ग्रह के चक्कर में फँस गया हो। उसकी उस दशा को देखकर बढ़ई

अथ यदि मम स्थानार्थम् उद्यतस्य मृत्युर्भविष्यति, तदपि सुन्दरतरम्। उक्तं च—

गवामर्थे ब्राह्मणार्थे स्वाम्यर्थे स्वीकृतेऽथवा।
स्थानार्थे यस्त्यजेत्प्राणांस्तस्य लोकाः सनातनाः ॥ २२६ ॥
चन्द्रे मण्डलसंस्थे विगृह्यते राहुणा दिनाधीशः।
शरणागतेन सार्धं विपदपि तेजस्विनां श्लाघ्या' ॥ २२७ ॥

भयङ्करः; सर्पफणविस्तारदर्शनादेव लोकाः सभयाः पलायन्ते इति भावः ॥ २२५ ॥

(१) अथ—पक्षान्तरे। स्थानार्थं—राज्ञः वासस्थानरक्षार्थम्। उद्यतस्य—चेष्टमानस्य।

(२) सुन्दरतरं—भद्रतरम्; सङ्ग्रामहतस्य सदाकालस्वर्गलोकवासश्रुतेरिति भावः।

गवामिति। यः नरः, गवामर्थे गोरक्षार्थं, ब्राह्मणार्थे ब्राह्मणरक्षार्थं, स्वाम्यर्थे प्रभुरक्षार्थम्, अथवा स्त्रीकृते स्त्रीनिमित्तं, स्त्रीरक्षार्थमित्यर्थः, तथा स्थानार्थे देशरक्षार्थं, प्राणान् त्यजेत्, तस्य सनातनाः अक्षयाः, लोकाः स्वर्गादिभुवनानीत्यर्थः; भवन्तीति शेषः; चिरं स्वर्गवासो भवतीति भावः ॥ २२६ ॥

चन्द्रे इति। चन्द्रमण्डलसंस्थे सूर्य्यमण्डलवर्त्तिनि सति, सूर्य्याचन्द्रमसोरेकमण्डलावस्थितिरूपायाम् अमावस्यायामिति भावः, दिनाधीशः दिनकरः, राहुणा विगृह्यते विशेषेण धार्य्यते, ग्रस्यते इत्यर्थः, सूर्य्यग्रहणं भवतीति भावः, ग्रह आदाने, इत्यस्य कर्मणि रूपम् इति तु प्रस्तुतार्थः। आरोपितार्थस्तु—राहुभयात् चन्द्रे आश्रयलाभार्थं सूर्य्यमण्डलं प्रविष्टे शरणागतं तं रक्षितुं सूर्य्यः राहुणा सह युध्यते इति, अत एव शरणागतेन सार्द्धं तेजस्विनां महतां, विपदपि श्लाघ्या प्रशस्या, शरणागतरक्षणम् अवश्यमेव कर्त्तव्यमिति भावः। आर्य्या वृत्तम् ॥ २२७ ॥

चाहिए। क्योंकि विष हो या न हो किन्तु फन का फैलाव तो भयंकर होता ही है ॥ २२५ ॥

यदि इस किले की रक्षा के प्रयत्न में मेरी मृत्यु ही हो जाय तो भी बहुत अच्छा ही है। कहा भी गया है—

जो व्यक्ति गाय, ब्राह्मण, स्वामी, स्त्री, अथवा देश की रक्षा के लिए प्राणों का परित्याग कर देता है उसे सर्वदा के लिए स्वर्ग लोक की प्राप्ति हो जाती है ॥ २२६ ॥

चन्द्रमण्डल में स्थित होते ही (अमावस्या के दिन) सूर्य राहु द्वारा ग्रस लिया जाता है। शरणागत की रक्षा के लिए उसके साथ ही विपत्तियों में फँस जाना

एवं निश्चित्य प्रत्यूषे दन्तधावनं कृत्वा तां प्रोवाच—'सुभगे, समस्तैः शत्रुभिर्हतैरन्नं पानं चास्वादयिष्यामि। किं बहुना? त्वयापि सह संगमं ततः परमेव करिष्यामि। परं वाच्यस्त्वयात्मपिता यत्प्रभाते प्रभूतेन सैन्येन सह नगरान्निष्क्रम्य योद्धव्यम्। अहं चाकाशस्थित एव सर्वांस्तान्निस्तेजसः करिष्यामि। पश्चात्सुखेन भवता हन्तव्याः। यदि पुनरहं तान्स्वयमेव सूदयामि, तत्तेषां पापात्मनां वैकुण्ठीया गतिः स्यात्। तस्मात्ते तथा कर्त्तव्याः यथा पलायन्तो हन्यमानाः स्वर्गं न गच्छन्ति।' सापि तदाकर्ण्य पितुः समीपं गत्वा सर्वं वृत्तान्तं न्यवेदयत्। राजापि तस्या वाक्यं श्रद्दधानः प्रत्यूषे समुत्थाय सुसन्नद्धसैन्यो युद्धार्थं निश्चक्राम। कौलिकोऽपि मरणे कृतनिश्चयश्चापपाणिर्गगनगतिर्गरुडारूढो युद्धाय प्रस्थितः। अत्रान्तरे भगवता नारायणेनातीतानागतवर्तमानवेदिना, स्मृतमात्रो वैनतेयः सम्प्राप्तो विहस्य प्रोक्तः—'भो गरुत्मन्, जानासि त्वं यन्मम रूपेण कौलिको दारु-

---

(१) सूदयामि—नाशयामि। वैकुण्ठीया गतिः,—वैकुण्ठलोकप्राप्तिः।

(२) सुसन्नद्धसैन्यः,—सुसज्जितबलः। गगनगतिः,—आकाशगामी।

(३) अत्रान्तरे—अस्मिन्नवसरे। अतीतेत्यादि। त्रिकालज्ञेन इत्यर्थः।

भी तेजस्वियों के लिए प्रशंसनीय ही होता है ॥ २२७ ॥

ऐसा निश्चय करके तड़के ही दन्तधावन करके उसने राजकन्या से कहा—'सुन्दरी! सभी शत्रुओं का विनाश करने के बाद ही अन्न-जल ग्रहण करूँगा। यहाँ तक कि तुम्हारे साथ समागम भी तभी करूँगा। परन्तु तुम भी अपने पिता से कहना कि प्रातःकाल बहुत बड़ी सेना के साथ नगर से बाहर निकल कर युद्ध करें। मैं आकाश में स्थित होकर उन सभी शत्रुओं को तेज हीन कर दूँगा। फिर सरलता से आप उन्हें मार डालिएगा। यदि मैं उन्हें स्वयं मारूँ तो वे पापी स्वर्ग की प्राप्ति कर लेंगे। अतः तुम ऐसा करना कि वे (युद्ध भूमि छोड़कर) भागते हुए मारे जाँय, जिससे उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति न हो सके। राजकन्या ने भी यह सुनकर पिता के पास जा करके सारा वृत्तान्त कह दिया। राजा भी उसकी बातों पर श्रद्धा भाव रखते हुए प्रातःकाल ही उठकर सेना से भलीभाँति सज्जित हो करके युद्ध के लिए निकल पड़ा। कौलिक ने मरने का दृढ़ निश्चय करके हाथ धनुष लेकर तथा गरुड़ पर सवार होकर आकाशमार्ग से युद्ध के लिए प्रस्थान किया इसी बीच भूत, वर्तमान और भविष्य के ज्ञाता भगवान् नारायण के स्मरण मात्र से ही गरुड़ उनके पास पहुँच गए। तब उन्होंने उनसे हँसकर कहा—"हे

मयगरुडे समारूढो राजकन्यां कामयते ?' सोऽब्रवीत्—'देव, सर्वं ज्ञायते तच्चेष्टितम्। तत्किं कुर्मः साम्प्रतम् ? श्रीभगवानाह—'अद्य कौलिको मरणे कृतनिश्चयो विहितनियमो युद्धार्थे विनिर्गतः स नूनं प्रधानक्षत्रियशराहतो निधनमेष्यति; तस्मिन् हते सर्वो जनो वदिष्यति यत् प्रभूतक्षत्रियैर्मिलित्वा वासुदेवो गरुडश्च निपातितः। ततः परं लोकोऽयमावयोः पूजां न करिष्यति। ततस्त्वं द्रुततरं तत्र दारुमयगरुडे संक्रमणं कुरु। अहमपि कौलिकशरीरे प्रवेशं करिष्यामि। येन स शत्रून् व्यापादयति। ततश्च शत्रुवधादावयोर्माहात्म्यवृद्धिः स्यात्।'

अथ गरुडे तथेति प्रतिपन्ने श्रीभगवान्नारायणस्तच्छरीरे सङ्क्रमणमकरोत्। ततो भगवन् माहात्म्येन गगनस्थः सः कौलिकः शङ्खचक्रगदाचापचिह्नित क्षणादेव लीलयैव समस्तानपि प्रधानक्षत्रियान्निस्तेजसश्चकार। ततस्तेन राज्ञा स्वसैन्यपरिवृतेन संग्रामे जिता निहताश्च ते सर्वेऽपि शत्रवः। जातश्च लोकमध्ये प्रवादो यथा—'अनेन विष्णुजामातृप्रभावेण सर्वे शत्रवो निहता' इति। कौलिकोऽपि तान्हतान्दृष्ट्वा प्रमुदितमनाः गगनाद-

---

(१) सङ्क्रमणम्—अधिष्ठानम्। माहात्म्यवृद्धिः,—महिमप्रचारः।

गरुड़ ! क्या तुम जानते हो कि मेरा रूप धारण करके कौलिक लकड़ी के गरुड़ पर सवार होकर राजकुमारी के साथ सम्भोग करता है ?" उसने कहा—"देव ! उसकी सारी क्रियाएँ मुझे मालूम हैं। इस समय हम क्या करें ? अर्थात् हमें क्या करने की आज्ञा हो रही है ?" भगवान् ने कहा—आज कौलिक मरने का निश्चय कर तथा दृढ़ प्रतिज्ञा करके युद्ध के लिए निकल पड़ा है। वह प्रमुख क्षत्रियों के बाणों से निश्चय ही मारा जायगा। उसके मरने पर सभी लोग समझेंगे कि बहुत से क्षत्रियों ने मिलकर भगवान् नारायण और गरुड़ को मार कर गिरा दिया। फिर तो लोग हमारी तुम्हारी पूजा भी नहीं करेंगे। इस लिए तुम शीघ्र ही उस लकड़ी के गरुड़ में प्रवेश कर जाओ। मैं भी कौलिक के शरीर में प्रविष्ट हो जाऊँगा। जिससे वह शत्रु को मार डालेगा। इससे हम दोनों का माहात्म्य बढ़ जायगा।"

इसके पश्चात् लकड़ी के गरुड़ में गरुड़ के प्रविष्ट हो जाने पर भगवान् नारायण भी कौलिक के शरीर में प्रविष्ट हो गए। तब भगवान् की महिमा के कारण आकाश में स्थित तथा शंख, चक्र, गदा एवं पद्म और धनुष से युक्त उस कौलिक ने अनायास ही क्षण भर में प्रमुख क्षत्रियों को निस्तेज कर दिया। जिससे अपनी सेना से घिरा हुआ वह राजा युद्ध में विजयी बन गया और सभी शत्रु मार डाले गए तथा लोगों में यह किंवदन्ती फैल गयी कि राजा ने अपने दामाद

वतीर्णः सन्, यावद्राजामात्यपौरलोकास्तं नगरवास्तव्यं कौलिकं पश्यन्ति ततः पृष्टः—'किमेतत्' ? इति । ततः सोऽपि मूलादारभ्य सर्वं प्राग्वृत्तान्तं न्यवेदयत् । ततश्च कौलिकसाहसानुरञ्जितमनसा शत्रुवधादवाप्ततेजसा राज्ञा सा राजकन्या सकलजनप्रत्यक्ष विवाहविधिना तस्मै समर्पिता; देशश्च प्रदत्तः । कौलिकोऽपि तया सार्धं पञ्चप्रकार जीवलोकसारं विषयसुखमनुभवन्कालं निनाय । अतस्तूच्यते—'सुप्रयुक्तस्य दम्भस्य' इति ।

तच्छ्रुत्वा करटक आह—'भद्र ! अस्त्येवम् । परं तथापि महन्मे भयम् । यतो बुद्धिमान् सञ्जीवको रौद्रश्च सिंहः । यद्यपि ते बुद्धिप्रागल्भ्यं, तथापि त्वं पिंगलकात्तं वियोजयितुमसमर्थ एव ।' दमनक आह—'भ्रातः; असमर्थोऽपि समर्थ एव । उक्तं च—

'उपायेन हि यत्कुर्यात्तन्न शक्यं पराक्रमैः ।
काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पो निपातितः' ॥ २२८ ॥

(१) नगरवास्तव्यं—नगरवासिनम्; पूर्वदृष्टमिति भावः; वसते तव्यत् ।
(२) पृष्टः,—जिज्ञासितः लोकैः कौलिक इति भावः ।
(३) अवाप्ततेजसा—प्राप्तप्रभावेण । देशः—राज्यम् ।
(४) पञ्चप्रकारं—पञ्चविधं, पञ्चेन्द्रियग्राह्यमित्यर्थः । विषयेति । विषयाणां स्रक्चन्दनवनितादीनां, सुखं सम्भोगसुखं, तस्य पञ्चेन्द्रियसाध्यत्वादिति भावः ।

उपायेनेति । उपायेन बुद्धिकौशलेन, यत् कुर्य्यात्; "कुर्य्यात्" इत्यत्र

विष्णु के प्रभाव से सभी शत्रुओं को मार डाला । कौलिक भी उन सभी शत्रुओं को मरा हुआ देखकर प्रसन्न चित्त से ज्योंही आकाश से नीचे उतरा त्योंहीं राजा, मन्त्री और नागरिकों ने उस नगर निवासी कौलिक को देखा और उससे पूछा—यह क्या है ? तब उसने पहले की सभी बातें प्रारम्भ से ही सुना दी । कौलिक के साहस से प्रसन्न तथा शत्रुओं के बध के कारण प्राप्त तेज वाले राजा ने राज कन्या को सभी लोगों के सामने विवाह की विधि से उसे समर्पित करके राज्य भी दे दिया । कौलिक उस राजकन्या के साथ जीवलोक के तत्व स्वरूप पञ्चेन्द्रियों के विषय-सुखों का उपभोग करते हुए समय विताने लगा । इसी लिए कहा है कि—'भली-भाँति छिपाये हुए प्रपंच को' इत्यादि ।

यह सुनकर करटक ने कहा—भद्र ! ऐसा ही हो । किन्तु फिर भी मुझे बहुत भय है । क्योंकि सञ्जीवक बुद्धिमान है और सिंह भयंकर । यद्यपि तुम्हारी बुद्धि तीक्ष्ण है फिर भी तुम पिंगलक से अलग करा देने में असमर्थ ही हो । दमनक ने कहा—भाई असमर्थ होते हुए भी मैं समर्थ हूँ । इसीलिए कहा है कि—

करटक आह—'कथमेतत् ।' सोऽब्रवीत्—

६ : काकी-कृष्णसर्प—कथा

अस्ति कस्मिंश्चित्प्रदेशे महान्न्यग्रोधपादपः। तत्र वायसदम्पती प्रतिवसतः स्म। अथ तयोः प्रसवकाले वृक्षविवरान्निष्क्रम्य कृष्णसर्पः सदैव तदपत्यानि भक्षयति। ततस्तौ निर्वेदादन्यवृक्षमूलनिवासिनं प्रियसुहृदं शृगालं गत्वोचतुः—'भद्र, किमेवंविधे सञ्जात आवयोः कर्तव्यं भवति? एवं तावद् दुष्टात्मा कृष्णसर्पो वृक्षविवरान्निर्गत्यावयोर्बालकान् भक्षयति। तत्कथ्यतां तद्रक्षार्थं कश्चिदुपायः। यतः—

यस्य क्षेत्रं नदीतीरे भार्या च परसंगता।
ससर्पे च गृहे वासः कथं स्यात्तस्य निर्वृतिः? ॥ २२९ ॥

"शक्यम्" इति पाठान्तरम्, जनः इति शेषः, तत् पराक्रमैः न हि शक्यं, कर्त्तुमिति शेषः; तथा हि, काक्या वायस्या, कनकसूत्रेण सूत्रवत्सूक्ष्मस्वर्णमयकण्ठभूषणेन; उपायभूतेनेति भावः; कृष्णसर्पः निपातितः ॥ २२८ ॥

[६]

(१) न्यग्रोधपादपः,—वटतरुः।

(२) निर्वेदात्—वैराग्यात्। वृक्षविवरात्—तरुकोटरात्।

यस्येति। यस्य नदीतीरे क्षेत्रं कृषिभूमिः, भार्य्या च परसङ्गता परपुरुष-

जो कार्य उपाय से किया जाता है वह बल के द्वारा नहीं किया जा सकता जैसे कौए की मादा ने सोने की लड़ी रखकर (उपाय द्वारा) काले सर्प को मार डाला था ॥ २२८ ॥

करटक ने कहा—यह कैसे? उसने कहा—

कौए और काले साँप की कथा

किसी स्थान में एक बहुत बड़ा वट का वृक्ष था। उस पर कौवे का एक जोड़ा निवास करता था। बच्चा देने के समय वृक्ष के खोखले से निकल कर एक काला साँप उनके बच्चों को खा जाया करता था। इससे वे दोनों अत्यन्त दुःखी होकर किसी दूसरे पेड़ की जड़ में (माँद बनाकर) निवास करने वाले अपने प्रिय मित्र गीदड़ के पास जाकर बोले—भद्र! इस प्रकार रहने पर हमें क्या करना चाहिए? वह पापी काला सर्प वृक्ष के खोखले से निकल कर इसी प्रकार हम दोनों के बच्चों को खा जाया करता है। इसलिए उनकी रक्षा का कोई उपाय बताइए। क्योंकि—

जिसका घर नदी के किनारे हो, जिसकी पत्नी परपुरुष में अनुरक्त हो और

अन्यच्च—सर्पयुक्ते गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः।
यद्ग्रामान्ते वसेत्सर्पस्तस्य स्यात्प्राणसंशयः ॥ २३० ॥

अस्माकमपि तत्रस्थितानां प्रतिदिनं प्राणसंशयः। स आह—'नात्र विषये स्वल्पोऽपि विषादः कार्यः। नूनं स लुब्धो नोपायमन्तरेण वध्यः स्यात्। यतः,—

उपायेन जयो यादृग् रिपोस्तादृङ् न हेतिभिः।
उपायज्ञोऽल्पकायोऽपि न शूरैः परिभूयते ॥ २३१ ॥

तथा च—भक्षयित्वा बहून्मत्स्यानुत्तमाधममध्यमान्।
अतिलौल्याद् बकः कश्चिन्मृतः कर्कटकग्रहात्' ॥ २३२ ॥

गामिनी, तथा ससर्पे सर्पयुक्ते, गृहे वासश्च, तस्य निर्वृतिः सुखं, "निर्वृत्तिः··· सुखे स्त्रियाम्" इति मेदिनी, कथं स्यात्? न कथमपि इत्यर्थः; सदोद्विग्नत्वादिति भावः ॥ २२९ ॥

सर्पेति। सर्पयुक्ते गृहे वासः तस्य मृत्युः एव, अत्र न संशयः। यद् ग्रामान्ते ग्रामसीम्नि सर्पः वसेत्, तस्य प्राणसंशयः प्राणभयः स्यात् ॥ २३० ॥

(१) नूनं—निश्चितम्। उपायमित्यत्र "अन्तरान्तरेण युक्ते" (२।३।४ पा०) इति द्वितीया। अन्तरेण—विना।

उपायेनेति। उपायेन कौशलेन, यादृक् यथा, रिपोः शत्रोः, जयः वशीकरणं, हेतिभिः अस्त्रैः, तादृक् जयः, न, स्यादिति शेषः; उपायज्ञो जनः, अल्पकायः क्षुद्रशरीरोऽपि, दुर्बलोऽपीत्यर्थः, शूरैः बलवद्भिः, न परिभूयते न तिरस्क्रियते इत्यर्थः ॥ २३१ ॥

जो सर्प वाले घर में रहता हो, उसे सुख कैसे मिल सकता है? ॥ २२९ ॥

और भी—सर्प वाले घर में यदि निवास करना पड़े तो मृत्यु होने में कोई सन्देह नहीं है। यहाँ तक कि जिस गाँव की सीमा पर भी साँप रहता हो उस गाँव में प्राणों का भय बना रहता है ॥ २३० ॥

वहाँ रहने वाले हम लोगों के प्राणों का सन्देह भी नित्य ही बना रहता है। उसने कहा—इस विषय में तुम दोनों को थोड़ा भी दुःखी नहीं होना चाहिए। निश्चय ही वह लोभी सर्प उपाय के बिना नहीं मारा जा सकता है। क्योंकि—

शत्रुओं पर जैसी विजय उपाय द्वारा प्राप्त की जा सकती है वैसी शस्त्रों द्वारा नहीं की जा सकती है। इसीलिए उपाय का ज्ञाता स्वल्पशरीर वाला (निर्बल) होते हुए भी वीरों द्वारा पराजित नहीं किया जा सकता है ॥ २३१ ॥

तावूचतुः—'कथमेतत्' ? सोऽब्रवीत्—

७ : बक-कर्कटक-कथा

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनप्रदेशे नानाजलचरसनाथं महत्सरः। तत्र च कृताश्रयो बक एको वृद्धभावमुपागतो मत्स्यान्व्यापादयितुमसमर्थः। ततश्च क्षुत्क्षामकण्ठः सरस्तीर उपविष्टो मुक्ताफलप्रकरसदृशैरश्रुप्रवाहैर्धरातलमभिषिञ्चन् रुरोद। एकः कुलीरको नानाजलचरसमेतः समेत्य तस्य दुःखेन दुःखितः सादरमिदमूचे—माम, किमद्य त्वया नाहारवृत्तिरनुष्ठीयते ? केवलमश्रुपूर्णनेत्राभ्यां सनिश्वासेन स्थीयते ?' स आह—'वत्स, सत्यमुपलक्षितं भवता।

भक्षयित्वेति। कश्चित् बकः बलाका, मत्स्यघाती पक्षिविशेष इत्यर्थः, बहून् अनेकान्, उत्तमाधममध्यमान् अक्षुद्रक्षुद्रमध्यमान्, मत्स्यान् मीनान्, भक्षयित्वा अतिलौल्यात् अतिचापल्यात्, बहुमीनभक्षणेन तत्रारुचेः प्राण्यन्तरभक्षणाय अतिलोभवशादित्यर्थः कर्कटकग्रहात् कुलीरग्रहणं कृत्वा, भक्षणायेति भावः; ल्यब्लोपे पञ्चमी। मृतः विनष्टः, तेनैवाक्रान्तयेति भावः ॥ २३२ ॥

[७]

(१) नानेति। विविधजलजन्तुपूर्णम्। कृताश्रयः—कृतनिवासः।

(२) क्षुत्क्षामकण्ठः—क्षुधाक्षीणकण्ठस्वरः, रुद्धकण्ठ इत्यर्थः। क्षामः,—क्षै + क्तः। मुक्तेति। मौक्तिकसमूहतुल्यैः। अभिषिञ्चन्—आर्द्रीकुर्वन्। माम—मातुल ! आहार वृत्तिः,—भोजनव्यापारः। उपलक्षितं—वितर्कितम्।

जैसे कि—उत्तम, मध्यम तथा अधम कोटि की अनेक प्रकार की मछलियों को खाकर अत्यन्त लोलुपता के कारण बगुला केकड़े द्वारा (गला) पकड़ लिए जाने से मर गया ॥ २३२ ॥

उन दोनों ने कहा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

बगुले और केकड़े को कथा

किसी वन में अनेक प्रकार के जल-जन्तुओं से भरा हुआ एक बहुत बड़ा तालाब था। उसमें रहने वाला एक बगुला बुढ़ापे के कारण मछलियों के मारने में असमर्थ हो गया था। इस लिए भूख के कारण सूखे गले से तालाब के किनारे बैठा हुआ मोतियों के समान आंसुओं की धारा से पृथ्वी को सींचते हुए रो रहा था। एक केकड़े ने बहुत से जल जीवों के साथ जाकर तथा उसके दुःख से दुःखी होकर आदर के साथ इस प्रकार कहा—"मामा ! आज आप भोजन क्यों नहीं कर रहे हैं ? केवल आंसुओं से भरी आंखों से लम्बी लम्बी आहें भरते हुए बैठे हैं।"

मया हि मत्स्यादनं प्रति परमवैराग्यता साम्प्रतं प्रायोपवेशनं कृतम्, तेनाहं समीपागतानपि मत्स्यान्न भक्षयामि।' कुलीरकस्तच्छ्रुत्वा प्राह—'माम, किं तद्वैराग्यकारणम्?' स प्राह—'वत्स, अहमस्मिन्सरसि जातो वृद्धिं गतश्च। तन्मयैतच्छ्रुतं यद्द्वादशवार्षिक्यनावृष्टिः सम्पत्स्यते लग्ना। कुलीरक आह—'कस्मात्तच्छ्रुतम्?' बक आह—दैवज्ञमुखात्। यतः शनैश्चरो हि रोहिणीशकटं भित्त्वा भौमं शुक्रं च प्रयास्यति। उक्तं च वराहमिहिरेण—

यदि भिन्ते सूर्यपुत्रो रोहिण्याः शकटमिह लोके।
द्वादशवर्षाणि तदा नहि वर्षति वासवो भूमौ॥ २३३॥

(१) मत्स्यादनं—मीनभोजनम्, प्रायोपवेशनम्—अनशनव्रतम्, अनाहारेण जीवनं त्यक्ष्यामीति सङ्कल्पः कृत इत्यर्थः।

(२) द्वादशवार्षिकी—द्वादशवर्षव्यापिनी, द्वादशवर्षाणि व्याप्य भाविनीति ठक्। अनावृष्टिः—अवर्षणम्, सम्पत्स्यते—भविष्यति। लग्ना—निरवच्छिन्ना। समीपगता श्रूयते। दैवज्ञः—ज्योतिषिकः। शनैश्चरः,—शनिग्रहः। रोहिणीशकटं—रोहिणीनामनक्षत्रभेदः, तस्याः शकटं शकटाकारचतुस्तारात्मकं स्थानम्; मण्डलमित्यर्थः। तच्च वृषराशेः "सप्तदशांशे याम्यविक्षेपद्वयात् परं विद्यते; भित्त्वा—तन्मध्यं गतेत्यर्थः। "वृषराशौ सप्तदशांशे स्फुटे तद्विक्षेपे च अंशद्वयाधिके सति ग्रहः रोहिणीशकटं भिनत्ति" इति (सूर्यसिद्धान्तः ८ अध्याये १३ श्लोकः) द्रष्टव्यम्। भौमं—भूमिसुतं मङ्गलम्। शुक्रं—तदाख्यग्रहम्। प्रयास्यति—संयोगं करिष्यति। रोहिणीनक्षत्रात् मङ्गले शुक्रे च शनैश्चरस्य गमने अनावृष्टिर्भवतीति रामायणे पद्मपुराणे च जटायुदशरथसंवादे विवृतम्।

यदीति। सूर्य्यपुत्रः शनैश्चरः, यदि रोहिण्याः शकटं प्रागुल्लिखितं रोहिणी·

उसने कहा—'पुत्र! तुमने ठीक ही समझा है। मैंने मछलियों के भोजन के प्रति वैराग्य हो जाने के कारण इस समय उपवास का व्रत ले लिया है। इसीसे मैं अपने समीप में आई हुई मछलियों को नहीं खाता हूँ।" केकड़े ने यह सुनकर कहा—"मामा! तुम्हारे इस वैराग्य का कारण क्या है?' उसने कहा—'पुत्र! मैं इसी तालाब में पैदा हुआ और बड़ा भी हुआ हूँ। मैंने यह सुना है कि लगातार बारह वर्षों तक अनावृष्टि होगी।" केकड़े ने कहा—"किससे यह सुना है?" बगुले ने कहा—'ज्योतिषियों के मुख से।' यह शनिश्चर रोहिणी शकट का भेदन करके मंगल और शुक्र से संयोग करेगा। वराहमिहिर ने भी कहा है—

यदि सूर्यपुत्र शनिश्चर रोहिणीशकट का भेदन करे तो इस संसार में बारह वर्षों तक इन्द्र पृथ्वी पर वर्षा नहीं करते हैं॥ २३३॥

तथा च—प्राजापत्ये शकटे भिन्ने कृत्वैव पातकं वसुधा।
भस्मास्थिशकलाकीर्णा कापालिकमिव व्रतं धत्ते ॥ २३४ ॥

तथा च—रोहिणीशकटमर्कनन्दन-
श्चेद्भिनत्ति रुधिरौघभाक् मही।
किं वदामि ? तदनिष्टसागरे
सर्वलोकमुपयाति संक्षयः ॥ २३५ ॥

शकटाख्य स्थानमित्यर्थः, भिन्ते भित्वा गच्छति इत्यर्थः, तदा वासव इन्द्रः, इह लोके जगति, भूमौ पृथिव्यां, द्वादशवर्षाणि व्याप्य न हि वर्षति। आर्य्या वृत्तम् ॥ २३३ ॥

प्राजापत्य इति। प्राजापत्ये प्रजापतिदेवताके, शकटे रोहिणीशकटे इत्यर्थः, तस्याः प्रजापतिदेवताकत्वादिति भावः; भिन्ने, शनैश्चरेणेति शेषः, वसुधा पृथिवी, भस्मास्थिशकलाकीर्णा भस्मभिः पांशुभिः, प्राणिदाहोत्थैरिति भावः; अस्थि-शकलैश्च कङ्कालखण्डैश्च, मृतानामकृतदाहानामिति भावः, कीर्णा व्याप्ता, अत एव पातकं कृत्वैव कापालिकं कापालिकैराचरितं, व्रतं नियमं, धत्ते इह धारयतीव। कापालिका हि भस्मास्थिग्रहणरूपं व्रतं धारयन्तीति प्रसिद्धिः। अनावृष्टया शस्य-विघातेन प्राणिनः अनाहारेणैव मरिष्यन्तीति भावः। (बृ० सं० ९ अध्या० २५ श्लोकः)। आर्या वृत्तम् ॥ २३४ ॥

रोहिणीति। अर्कनन्दनः सूर्यसुतः शनिः, चेत् यदि, रोहिणीशकटं भिनत्ति रोहिणीनक्षत्रस्य शकटाकृतिस्थानं गच्छतीत्यर्थः, तदा मही पृथिवी, रुधिरौघभाक् रक्तप्रवाहवती, भवतीति शेषः, किं वदामि ? किमधिकं कथयामीत्यर्थः, तदनिष्ट-सागरे तस्मिन् अमङ्गलाम्बुधौ, सङ्क्षयः प्रलयः, सर्वलोकमुपयाति प्राप्नोति, सर्वप्राणिनो म्रियन्ते इत्यर्थः। रथोद्धता वृत्तं,—"रात् परैर्नरगै रथोद्धता" इति लक्षणात् ॥ २३५ ॥

और भी—शनि द्वारा रोहिणी शकट का भेदन करने पर पृथ्वी मानों पाप करके प्रायश्चित्त स्वरूप (अवर्षण के कारण अन्नाभाव से मृतकों के) चिताभस्म और हड्डियों से परिपूर्ण होकर कापालिक के समान (श्मशान) व्रत का अनुष्ठान करने लगती है ॥ २३४ ॥

और भी—यदि शनि, मंगल अथवा चन्द्रमा रोहिणी शकट का भेदन करें तो उससे होने वाले अनिष्ट रूपी समुद्र का मैं क्या वर्णन करूँ ? उसमें तो सारा लोक ही (डूबकर) नष्ट हो जाता है ॥ २३५ ॥

रोहिणीशकटमध्यसंस्थिते
चन्द्रमस्यशरणीकृता जनाः ।
क्वापि यान्ति शिशुपाचिताशनाः
सूर्यतप्तभिदुराम्बुपायिनः ॥ २३६ ॥

तदेतत्सरः स्वल्पतोयं वर्तते । शीघ्रं शोषं यास्यति । अस्मिन् शुष्के यैः सहाहं वृद्धिं गतः सदैव क्रीडितश्च ते सर्वे तोयाभावान्नाशं यास्यन्ति । तत्तेषां वियोगं द्रष्टुमहमसमर्थः । तेनैतत्प्रायोपवेशनं कृतम् । साम्प्रतं सर्वेषां स्वल्पजलाशयानां जलचरा गुरुजलाशयेषु स्वस्वजनैर्नीयन्ते । केचिच्च मकरगोधाशिशुमारजलहस्तिप्रभृतयः स्वयमेव गच्छन्ति । अत्र पुनः सरसि ये जलचरास्ते निश्चिन्ताः सन्ति, तेनाहं विशेषाद्रोदिमि यद्बीजशेषमात्र-

---

रोहिणीति । चन्द्रमसि चन्द्रे, रोहिणीशकटमध्यसंस्थिते रोहिणीशकटं गते इत्यर्थः; अशरणीकृताः निरवलम्बनीकृताः दुर्ग्रहेणेति भावः, जना, लोकाः, शिशुपाचिताशनाः शिशून् स्वबालकान्; पाचितान् अश्नन्तीति तथोक्ताः, स्वान् स्वान् शिशून् पाचयित्वा खादन्ति इत्यर्थः, तथा सूर्य्येण तप्तानि, अत एव भिदुराणि भेदं गतानि विनष्टप्रायाणीत्यर्थः, प्रखरसूर्य्यकिरणादिति भावः, अम्बूनि जलानि, पिबन्तीति तथाभूताः सन्तः, क्वापि यान्ति म्रियन्ते इति भावः । (बृ० सं० २४ अ० ३० श्लोकः) । "पाचिताशनाः" इत्यत्र "याचिताशनाः" इति बृहत्संहितावृतपाठे,—शिशुनिमित्तं याचितम् अशनं यैरित्यर्थः । तथा "भिदुराम्बु" इत्यत्र "पिठराम्बु" इति पाठे—सूर्य्येण तप्तानि शोषं गतानीत्यर्थः, पिठराम्बूणि पात्रविशेषस्थजलानीत्यर्थः । रथोद्धता वृत्तम् ॥ २३६ ॥

(१) स्वल्पतोयम्–अत्यल्पजलं, तोयाभावात्–जलाभावात्, गुरुजलाशयेषु–महत्सु –जलाशयेषु, स्वस्वजनैः—आत्मीयजनैः । मकरेति । मकराश्च गोधाश्च शिशुमा-

---

चन्द्रमा यदि रोहिणी शकट के मध्य स्थित हो जाय तो रक्षकविहीन होकर मनुष्य अपनी ही सन्तान के पकाए हुए मांस को खाता है तथा सूर्य की किरणों से खौलते हुए नष्टप्राय जल की बूँदों से अपनी प्यास बुझाता है ।। २३६ ।।

इस तालाब में बहुत थोड़ा जल रह गया है । यह शीघ्र ही सूख जायगा । इसके सूख जाने पर जल के अभाव में वे सभी (जलजन्तु) नष्ट हो जायँगे जिनके साथ मैं बड़ा हुआ और आज तक क्रीडा करता रहा । इसलिए उनका वियोग देखने में मैं असमर्थ हूँ । इसलिए मैंने यह उपवास व्रत ले लिया है । इस समय सभी थोड़े जल वाले तालाबों के प्राणी गहरे जल वाले तालाबों में अपने अपने संबन्धियों द्वारा पहुँचाए जा रहे हैं । कोई मगर, गोह, सूँस और जलहाथी आदि

अप्यत्र नोद्धरिष्यति ।'

ततः स तदाकर्ण्यान्येषामपि जलचराणां तत्तस्य वचनं निवेदयामास। अथ ते सर्वे भयत्रस्तमनसो मत्स्यकच्छपप्रभृतयस्तमभ्युपेत्य पप्रच्छुः—'माम, अस्ति कश्चिदुपायो येनास्माकं रक्षा भवति?' बक आह—'अस्त्यस्य जलाशयस्य नातिदूरे प्रभूतजलसनाथं सरः पद्मिनीखण्डमण्डितं यच्चतुर्विंशत्यपि वर्षाणामवृष्टया न शोषमेष्यति। तद्यदि मम पृष्ठं कश्चिदारोहति तदहं तं तत्र नयामि।' अथ ते तत्र विश्वासमापन्नाः 'तात, मातुल, भ्रातः' इति ब्रुवाणाः 'अहं पूर्वमहं पूर्वम्' इति समन्तात्परितस्थुः। सोऽपि दुष्टाशयः क्रमेण तान्पृष्ठ आरोप्य जलाशयस्य नातिदूरे शिलां समासाद्य तस्यामाक्षिप्य स्वेच्छया भक्षयित्वा भूयोऽपि जलाशयं समासाद्य जलचराणां मिथ्यावार्तासन्देशकैर्मनांसि रञ्जयन्नित्यमेवाहारवृत्तिमकरोत्।

राश्च जलहस्तिनश्च प्रभृतयो येषां तथोक्ताः, स्वयं चलनक्षमा महाकाय जलचरा इति भावः। शिशुमारः,—"सुईस" इति भाषा। निश्चिन्ताः चिन्तारहिताः बीजशेषमात्रं—वंशबीजमात्रमपि; न, उद्धरिष्यति—स्थास्यति इत्यर्थः।

(१) उपायः—रक्षोपायः। पद्मिनीति। पद्मिनीनां समूहैः, मण्डितं शोभितम्।

(२) तत्र बके इत्यर्थः। समन्तात्—चतुर्दिक्षु। परितस्थुः,—अवस्थितवन्तः। दुष्टाशयः—दुष्टान्तकरणः, शिलां समासाद्य—पाषाणभूमिमासाद्य, आक्षिप्य—पातयित्वा।

(३) मिथ्येति। मिथ्या—अनृताः, वार्त्ताः, वृत्तान्ताः, तान् स्थापयित्वा आगच्छामीत्येवंरूपा इत्यर्थः, एव सन्देशाः,—वाचिकानि तैः। रञ्जयन्–प्रीणयन्। आहारवृत्तिं—भोजनोपायम्।

स्वयं जा रहे हैं। किन्तु इस तालाब में जितने जलजन्तु हैं वे सभी निश्चिन्त हैं। मैं विशेषतः इसीलिए रो रहा हूँ कि इस तालाब में जलजन्तुओं का बीज मात्र भी शेष नहीं रह जायगा।"

इसके बाद यह सुनकर उस केकड़े ने उसकी बात दूसरे जल जन्तुओं से भी बता दी। तब भय से व्याकुल होकर मछली कछुए आदि जन्तुओं ने उसके पास जाकर पूँछा—मामा! क्या ऐसा कोई उपाय है, जिससे हम लोगों की रक्षा हो सके? बगुले ने कहा—इस जलाशय से थोड़ी ही दूरी पर अत्यधिक जल से भरा हुआ तथा कमलों से सुशोभित एक तालाब है जो चौबीस वर्ष लगातार अनावृष्टि होने पर भी नहीं सूखेगा। इस लिए यदि कोई मेरी पीठ पर चढ़े तो मैं उसे वहाँ ले जा सकता हूँ। इसके पश्चात् वे जल जन्तु उसके विश्वास में आकर हे तात! हे मामा! हे भाई! 'पहिले मैं' 'पहिले मैं' (तुम्हारी पीठ पर चढ़ूँगा)

अन्यस्मिन्दिने च कुलीरकेणोक्तः 'माम; मया सह ते प्रथमः स्नेहसम्भाषः सञ्जातः। तत्किं मां परित्यज्यान्यान्नयसि ? तस्मादद्य मे प्राणत्राणं कुरु।' तदाकर्ण्य सोऽपि दुष्टाशयश्चिन्ततवान्–'निर्विण्णोऽहं मत्स्यमांसादनेन, तदद्यैनं कुलीरकं व्यञ्जनस्थाने करोमि'—इति विचिन्त्य तं पृष्ठे समारोप्य तां बध्यशिलामुद्दिश्य प्रस्थितः। कुलीरकोऽपि दूरादेवास्थिपर्वतं शिलाश्रयमवलोक्य मत्स्यास्थीनि परिज्ञाय तमपृच्छत्—'माम, कियद्दूरे स जलाशयः ? मदीयभारेणातिश्रान्तस्त्वम्, तत्कथय।' सोऽपि मन्दधीर्जलचरोऽयं स्थले न प्रभवतीति मत्वा सस्मितमिदमाह—'कुलीरक, कुतोऽन्यो जलाशयः ? मम प्राणयात्रेयम्। तस्मात्स्मर्यतामात्मनोऽभीष्टदेवता। त्वामप्यस्यां

(१) स्नेहसम्भाषः,—प्रणयालापः। प्राणत्राणं जीवनरक्षाम्।

(२) अदनेन—भक्षणेन निर्विण्णः,—विरक्तः, अनवरतभक्षणेन सञ्जातारुचित्वादिति भावः। व्यञ्जनस्थाने इति—कुलीरकमांसेन व्यञ्जनं करोमि इत्यर्थः।

(३) शिलाश्रयं—शिलोपरि स्थितम् इत्यर्थः।

(४) मन्दधीः,—दुष्टबुद्धिः। स्थले—भूम्याम्, न, प्रभवति—वीर्यवान् न भवति। सस्मितम्—ईषद्धसन्, अभीष्टदेवता—उपास्यदेवता।

(५) स्वेति। स्ववदनस्य दंशः,—दंष्ट्रा इति भावः, तद्द्वयेन। मृणालेति।

इस प्रकार कहते हुए उसके चारों ओर एकत्रित हो गए। वह दुष्ट हृदय वाला बगुला भी क्रमशः उन्हें अपनी पीठ पर चढ़ाकर तालाब के समीप ही में एक शिला पर ले जाकर पटक देता और इच्छानुसार खाकर फिर उसी तालाब में लौटकर झूठी खबरों से जलजन्तुओं को प्रसन्न करते हुए नित्यप्रति अपनी जीविका का निर्वाह करने लगा।

किसी दूसरे दिन केकड़े ने कहा—मामा ! सर्वप्रथम मेरे साथ आपकी प्रेमवार्ता हुई थी। अतः मुझे छोड़कर आप दूसरे जल जन्तुओं को क्यों ले जाते हैं ? आज मेरे प्राणों की रक्षा कीजिए। यह सुनकर उस दुष्टात्मा ने विचार किया—मछलियों का मांस खाते खाते मैं भी ऊब गया हूं। इस लिए आज इस केकड़े को ही व्यंजन (सब्जी, बरी, बरा, दही आदि भोजन के साथ खाये जाने वाले पदार्थ) के रूप में खाऊँगा। ऐसा विचार करके उसे पीठ पर चढ़ाकर उसी वध्य शिला की ओर चल दिया। केकड़े ने दूर ही से उस चट्टान के आस पास हड्डियों की ढेरी देखकर तथा मछलियों की हड्डी पहिचान कर उससे पूँछा—"मामा, यह बताइए कि वह जलाशय कितनी दूर पर है ? तुम मेरे बोझ से अधिक थके हुए प्रतीत हो रहे हो।" उस (बगुले) ने भी उसे मूर्ख जलजन्तु तथा यह जानकर कि स्थल पर इसका कोई भी वश नहीं चल सकता, हँसते हुए कहा—"केकड़े ! दूसरा जलाशय कहाँ है ? यह तो मेरी जीविका का

शिलायां निक्षिप्य भक्षयिष्यामि। इत्युक्तवति तस्मिन् तेन स्ववदनदंशद्वयेन मृणालनालधवलायां मृदुग्रीवायां स गृहीतो मृतश्च।

अथ स तां बकग्रीवां समादाय शनैः शनैस्तज्जलाशयमाससाद। ततः सर्वैरेव जलचरैः पृष्टः —'भोः कुलीरक! किं निवृत्तस्त्वम्? स ते मातुलोऽपि नायातः? तत्किं चिरयति? वयं सर्वे सोत्सुकाः कृतेक्षणास्तिष्ठामः। एवं तैरभिहिते कुलीरकोऽपि विहस्योवाच—'मूर्खाः सर्वे जलचरास्तेन मिथ्यावादिना वञ्चयित्वा नातिदूरे शिलातले प्रक्षिप्य भक्षिताः। तन्ममायुः-शेषतया तस्य विश्वासघातकस्याभिप्रायं ज्ञात्वा ग्रीवेयमानीता। तदलं सम्भ्रमेण। अधुना सर्वजलचराणां क्षेमं भविष्यति।' अतोऽहं ब्रवीमि—'भक्षयित्वा बहून्मत्स्यान्' इति।

मृणालनालं — बिसनाडी, "नाडी नालञ्च" इत्यमरः, बिसतन्तु इत्यर्थः, पद्मदण्डात् जातमतिशुभ्रं सुकोमलं नाडीवत् प्रसरणशीलं वस्तु इत्यर्थः, तद्वत् धवला तस्याम्। मृदुग्रीवायां कोमले कण्ठे, मृतश्च–पञ्चत्वं गतः, बकोऽसौ इति शेषः। किं—कथम्, निवृत्तः—परावृत्तः।

(१) चिरयति—विलम्बते। सोत्सुकाः—गमनाय कृतोद्योगाः, ("इष्टार्थोद्युक्त उत्सुकः" इत्यमरः)। कृतेक्षणाः—प्रतिपालयन्तः, प्रतीक्षमाणा इत्यर्थः।

(२) मिथ्यावादिना—असत्यवादिना, आयुःशेषतया—आयुषः शेषतया, अभिप्रायं—मनोगतं भावम्।

(३) अलं—निषेधे, सम्भ्रमेण—भयेन, भयं मा कुरु इत्यर्थः, क्षेमं—कुशलम्।

साधन है। इस लिए अपने इष्ट देवता को याद कर लो। तुम्हें भी इस चट्टान पर पटक कर खा जाऊँगा"। उसके ऐसा कहने पर केकड़े ने अपने मुख के दोनों दाढ़ों से उस बगुले की कमल नाल जैसी उजली तथा कोमल गर्दन को दबोच लिया, जिससे वह मर गया।

इसके पश्चात् वह बगुले की गरदन लिए हुए किसी प्रकार धीरे धीरे उस तालाब पर पहुँचा। तब सभी जल जन्तुओं ने पूँछा—केकड़े! तुम लौट क्यों आए? वह तेरा मामा (बगुला) भी नहीं आया। वह देर क्यों कर रहा है। हम लोग उत्कण्ठा के साथ अवसर की प्रतीक्षा कर रहे हैं। उन सबों के ऐसा कहने पर केकड़े ने हँसकर कहा—उस झूठे ने सभी मूर्ख जल जन्तुओं को धोखा देकर थोड़ी ही दूर पर स्थित चट्टान पर पटक कर खा डाला है। आयु शेष रहने के कारण मैं उसके इरादे को भाँपकर उसकी गरदन यहाँ ले आया हूँ। अब उद्विग्न होने की आवश्यकता नहीं है। अब सभी जलचर सुख से रहेंगे।

वायस आह—'भद्र तत्कथय, कथं स दुष्टसर्पो वधमुपैष्यति ?' शृगाल आह—'गच्छन्तु भवान्कञ्चिन्नगरं राजाधिष्ठानम् । तत्र कस्यापि धनिनो राजामात्यादेः प्रमादिनः कनकसूत्रं हारं वा गृहीत्वा तत्कोटरे प्रक्षिप, येन सर्पस्तद्ग्रहणेन बध्यते ।'

अथ तत्क्षणात्काकः काकी च तदाकर्ण्यात्मेच्छयोत्पतितौ । ततश्च काकी किञ्चित्सरः प्राप्य यावत्पश्यति तावत्तन्मध्ये कस्याचिद्राज्ञोऽन्त पुरं जलासन्नं न्यस्तकनकसूत्रं मुक्तमुक्ताहारवस्त्राभरणं जलक्रीडां कुरुते । अथ सा वायसी कनकसूत्रमेकमादाय स्वगृहाभिमुखं प्रतस्थे । ततश्च कञ्चुकिनो वर्षवराश्च तं नीयमानमुपलक्ष्य गृहीतलगुडाः सत्वरमनुययुः । काक्यपि सर्पकोटरे तत्कनक-

(१) राजाधिष्ठानं—राज्ञः अधिष्ठानम् अवस्थानं यत्र तादृशम् । अमात्यादेः-सचिवादेः ।

(२) प्रमादिनः,—अनवहितस्य असावधानस्य । कनकसूत्रं—सूत्राकारस्वर्ण-रचितकण्ठभूषणविशेषम् । तत्कोटरे—तस्य सर्पस्य कोटरे विवरे, सर्पाश्रये इत्यर्थः । तद्ग्रहणेन—हारग्रहणेन, बध्यते—निहन्यते ।

(३) आत्मेच्छया—स्वेच्छया, अन्तःपुरम्—अन्तःपुरमहिला इत्यर्थः । जला-सन्नं—जलम् आसन्नं—समीपस्थं यस्मिन् तद् यथा तथा, क्रियाविशेषणमेतत् । न्यस्तकनकसूत्रं—न्यस्तं—स्थापितं, कनकसूत्रं येन तथाभूतम्, अन्तःपुरमित्यस्य विशेषणमिदम् । मुक्तमुक्ताहारवस्त्राभरणम्—मुक्तानि—अङ्गात् उन्मुच्य रक्षितानि, मुक्ताहार वस्त्राभरणानि येन तथोक्तं यत् । वर्षवरः=षण्ढः ।

(४) गृहीतलगुडाः,—दण्डहस्ता इत्यर्थः ।

इसी लिए मैं कहता हूँ बहुत-सी मछलियों को खाकर ।"

कौवे ने कहा—भद्र ! तो फिर बताओ न कि वह दुष्ट सर्प किस प्रकार मारा जायगा ? गीदड़ ने कहा—आप किसी राजा की राजधानी में चले जाइए । वहाँ से किसी असावधान धनी, राजा अथवा मंत्री आदि की सोने की लड़ी या हार लेकर उस साँप के खोखले में डाल दीजिए जिससे वह साँप उस आभूषण को रखने के कारण मारा जायगा ।

इसके पश्चात् यह सुनते ही कौवा और कौवी दोनों तत्काल स्वेच्छा से उड़ चले । कौवी ने एक तालाव के पास पहुँच कर देखा कि किसी राजा के अन्तःपुर की स्त्रियाँ जल के समीप ही सोने की लड़ी, मोती की माला, वस्त्र और आभूषण आदि रखकर उसके बीच में जलक्रीड़ा कर रही हैं । तब वह कौवी एक सोने की लड़ी लेकर अपने घर की ओर चल पड़ी । कंचुकी और हिजड़े सोने की लड़ी लेकर जाती हुई कौवी को देखकर डण्डे लेकर शीघ्रता से उसके पीछे-पीछे दौड़े । कौवी भी

सूत्रं प्रक्षिप्य सुदूरमवस्थिता। अथ यावद्राजपुरुषास्तं वृक्षमारुह्य तत्कोटरमवलोकयन्ति, तावत्कृष्णसर्पः प्रसारितभोगस्तिष्ठति। ततस्तं लगुडप्रहारेण हत्वा कनकसूत्रमादाय यथाभिलषितं स्थानं गताः। वायसदम्पती अपि ततः परं सुखेन वसतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'उपायेन हि यत्कुर्यात्' इति। तन्न किंचिदिह बुद्धिमतामसाध्यमस्ति। उक्तञ्च—

यस्य बुद्धिर्बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्?।
वने सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः'॥ २३७॥

करटक आह—'कथमेतत्?' स आह—

८ : सिंह-शशक-कथा

कस्मिंश्चिद्वने भासुरको नाम सिंहः प्रतिवसति स्म। अथासौ वीर्य-

---

(१) प्रसारितभोगः,—विस्तारितदेहः, विस्तारितफणो वा, "भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः" इत्यमरः।

यस्येति। यस्य जनस्य, बुद्धिः, अस्तीति शेषः; तस्य बलम्, अप्यस्त्येवेति बोद्धव्यम् इति भावः; निर्बुद्धेः बुद्धिहीनस्य जनस्य तु, बलं कुतः? नास्त्येव इत्यर्थः; तथा हि, वने मदोन्मत्तः बलदृप्त इत्यर्थः, सिंहः शशकेन निपातितः निहतः, बुद्ध्येति शेषः, अबोधः सर्वत्र परिभूयते, सुधीस्तु सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते इति भावः॥ २३७॥

साँप के खोखले में उस सोने की लड़ी को फेंक कर स्वयं दूर पर जा कर बैठ गई। राजपुरुषों ने उस वृक्ष पर चढ़कर जब खोखले की ओर निगाह दौड़ाई तो देखा कि एक काला साँप फन फैलाए बैठा है। तब वे उसे डंडे से मारकर तथा सोने की लड़ी लेकर अपने इच्छित स्थान पर चले गए। इसके पश्चात् कौवा कौवी दोनों सुख के साथ रहने लगे। इसी लिए मैं कहता हूँ कि "उपाय से जो किया जाता है"। इसीलिए इस संसार में बुद्धिमानों के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है। कहा भी गया है—

जिसके पास बुद्धि है उसी के पास बल है। बुद्धिहीन के पास बल कहाँ? अर्थात् बलहीन बली होते हुए भी निर्बल ही होता है। जैसे बन में एक मदोन्मत्त (बुद्धिहीन बली) सिंह को एक खरगोश ने (बुद्धि से ही) मार डाला था॥ २३७॥

करटक ने कहा—यह कैसे? उसने कहा—

सिंह और खरगोश की कथा

किसी जंगल में भासुरक नाम का एक सिंह रहता था। वह बल की अधिकता

तिरेकान्नित्यमेवानेकान्मृगशशकादीन्व्यापादयन्नोपरराम । अथान्येद्युस्तद्वनजाः सर्वे सारङ्गवराहमहिषशशकादयो मिलित्वा तमभ्युपेत्य प्रोचुः—'स्वामिन्, किमनेन सकलमृगवधेन नित्यमेव ? यतस्तवैकेनापि मृगेण तृप्तिर्भवति तत्क्रियतामस्माभिः सह समयधर्मः । अद्य प्रभृति तवात्रोपविष्टस्य जातिक्रमेण प्रतिदिनमेको मृगो भक्षणार्थं समेष्यति । एवं कृते तव तावत्प्राणयात्रा क्लेशं विनापि भविष्यति, अस्माकं च पुनः सर्वोच्छेदनं न स्यात् । तदेष राजधर्मोऽनुष्ठीयताम्' । उक्तं च—

'शनैः शनैश्च यो राज्यमुपभुङ्क्ते यथाबलम् ।
रसायनमिव प्राज्ञः स पुष्टिं परमां व्रजेत् ।। २३८ ।।

[८]

(१) वीर्य्यातिरेकात्—पराक्रमातिशय्यात् । व्यापादयन्—विनाशयन्, अपीति शेषः । अन्येद्युः;—अन्यस्मिन् दिवसे । वनजाः—वनजीवाः सारङ्गेत्यादौ । सारङ्गः, हरिणः । वराहः—सूकरः । महिषशशकादयः ।

(२) किं—निषेधे । समयधर्मः,—नियमक्रमः, व्यवस्थितनियम इत्यर्थः ।

(३) अत्रोपविष्टस्य—अत्रस्थितस्य, समेष्यति—आगमिष्यति । प्राणयात्रा—जीवनयापनम् । विना अपि—विनैव । सर्वोच्छेदनं—सर्वेषां विनाशः, अनुष्ठीयताम्—विधेयताम् ।

शनैरिति । यः प्राज्ञः बुद्धिमान्, नृपः यथाबलं बलं सामर्थ्यमनुसृत्य, राज्यं रसायनमिव औषधिविशेषमिव, शनैः शनैः क्रमेण, उपभुङ्क्ते सेवते, स परमां महतीं, पुष्टिं व्रजेत् प्राप्नुयात् । अग्निबलादिकं विविच्य क्रमशो मात्रां वर्द्धयित्वा

के कारण नित्य अनेक मृगों और खरगोशों आदि को मारकर भी शान्ति नहीं पाता था । एक दिन उस जंगल में रहने वाले हरिण, सूअर, भैंसा, खरगोश आदि मिलकर उसके पास जाकर बोले—स्वामी ! इस प्रकार नित्य ही सभी प्राणियों के मारने से क्या लाभ है ? क्योंकि आपकी तृप्ति तो एक ही मृग (जंगली पशु) से हो जाती है । अतः आप हम लोगों के साथ समझौता कर लीजिये । आज से नित्य प्रति जाति क्रम से एक एक मृग यहीं बैठे आप के भोजन के लिए आ जाया करेगा । ऐसा करने से बिना कष्ट उठाए आपको भोजन भी मिलता रहेगा और हम लोगों का सर्वनाश भी नहीं होगा । अतः आप इस राजधर्म का पालन कीजिए । कहा भी गया है—

जो बुद्धिमान राजा अपनी शक्ति के अनुसार रसायन सेवन की तरह धीरे धीरे राज्य का उपभोग करता है वह अत्यधिक पुष्टि (राजा के पक्ष में समृद्धि)

विधिना मन्त्रयुक्तेन रूक्षापि मथितापि च।
प्रयच्छति फल भूमिररणीव हुताशनम् ॥ २३९ ॥
प्रजानां पालनं शस्य स्वर्गकोशस्य वर्धनम्।
पीडन धर्मनाशाय पापायायशसे स्थितम् ॥ २४० ॥
गोपालेन प्रजाधेनोर्वित्तदुग्ध शनैः शनैः।
पालनात्पोषणाद् ग्राह्यं न्याय्यां वृत्तिं समाचरेत् ॥२४१॥

रसायनौषधस्य सेवनं यथा शरीरपुष्टिं साधयति, बलप्रयोगं विहाय क्रमशः अल्पाल्पकरग्रहणपूर्वकराज्यभोगोऽपि तथा सर्वं क्लेशमपास्य मनसः अर्थस्य च पुष्टिं जनयति, अतो भवानपि अस्मान् क्रमशो हत्वा भक्षयतु तेन ते कुशलं भविष्यतीत्यभिप्रायः ॥ २३८ ॥

विधिनेति। रूक्षाऽपि कठिनाऽपि, भूमिः मन्त्रयुक्तेन सुयुक्तिसहितेन, विधिना उपायेन, अनुष्ठानेनेति यावत्, मथिता विलोडिता, घृष्टेति भावः, सती अरणिः अग्निमन्थनदारुविशेषः, हुताशनमिव अग्निमिव, फलं प्रयच्छति ददाति ॥ २३९ ॥

प्रजानामिति। प्रजानां पालनं, राज्ञ इति शेषः, शस्यं प्रशंसनीयम्, इह लोके इति शेषः; स्वर्गकोषस्य स्वर्गरूपस्य धनभाण्डस्य, वर्द्धनं वृद्धिकारकञ्च, परलोके इति शेषः, प्रजापालने इह लोके प्रशंसा, अन्ते च स्वर्गप्राप्तिरिति भावः, पीडनं, प्रजानामित्यनुषङ्गः, धर्मनाशाय पुण्यक्षयाय, पापाय अयशसे अपकीर्त्तये च, स्थितं नियतम्, अतस्त्वमप्यस्मान् पालयन्निह परत्र च सुखं लभस्वेत्याशयः ॥ २४० ॥

गोपालेनेति। गोपालेन गां पृथिवीं धेनुञ्च, पालयति रक्षति यः तेन भूपेन, गोपेन च. प्रजाधेनोः प्रजा धेनुः गौरिव, प्रजा इव धेनुश्च तस्याः,

---

प्राप्त कर सकता है ॥ २३८ ॥

जैसे मन्त्रपूर्वक मन्थन करने (परस्पर रगड़ने) से सूखी लकड़ी अग्नि पैदा करती है उसी प्रकार विधिपूर्वक जोती बोई गई ऊसर भूमि भी धान्यादि फल देने वाली बन जाती है ॥ २३९ ॥

राजाओं के लिए प्रजा का पालन करना इस लोक में प्रशंसनीय और परलोक में स्वर्ग रूपी कोश को बढ़ाने वाला होता है। किन्तु प्रजा को पीड़ा पहुँचाना राजा के लिए धर्मनाश का कारण तथा पाप और अपयश को देने वाला होता है ॥ २४० ॥

राजा रूपी ग्वाले को चाहिए कि वह अपनी प्रजा रूपी गाय का पालन पोषण करते हुए उससे धन रूपी दूध का संग्रह धीरे-धीरे करे तथा उसके साथ न्याय का व्यवहार करे ॥ २४१ ॥

अजामिव प्रजां मोहाद्यो हन्यात्पृथिवीपतिः ।
तस्यैका जायते तृप्तिर्न द्वितीया कथञ्चन ॥ २४२ ॥
फलार्थी नृपतिर्लोकान्पालयेद्यत्नमास्थितः ।
दानमानादितोयेन मालाकारोऽङ्कुरानिव ॥ २४३ ॥
नृपदीपो धनस्नेहं प्रजाभ्यः संहरन्नपि ।
आन्तरस्थैर्गुणैः शुभ्रैर्लक्ष्यते नैव केनचित् ॥ २४४ ॥

पालनात् भयादिभ्यः रक्षणात्, पोषणात् अन्नादिना प्रतिपालनाच्च, शनैः शनैः वित्तदुग्धं वित्तं धनं, दुग्धमिव, वित्तमिव दुग्धञ्च, ग्राह्यं ग्रहणीयम्, तस्मात् न्याय्यां न्यायात् अनपेतां, युक्तियुक्तामित्यर्थः, वृत्तिं व्यवहारं, समाचरेत् विदध्यात्, नृप इति शेषः ॥ २४१ ॥

अजामिति । यः पृथिवीपतिः राजा, मोहात् अज्ञानात्, प्रजाम् अजामिव छागीमिव, हन्यात् नाशयेत्, अपराधं विना इति भावः, तस्य हिंसैकरसस्य राज्ञः, एका एकविधा, तृप्तिः हिंसाजनिता तात्कालिकीति भावः; जायते, कथञ्चन कथमपि, द्वितीया अपरा, धनादिलाभजन्या तृप्तिरिति भावः, न जायते इति शेषः ॥ २४२ ॥

फलार्थीति । फलार्थी फललिप्सुः, नृपतिः राजा, यत्नमास्थितः यत्नवान् सन्, मालाकारः माली, अङ्कुरानिव नूतनप्ररोहानिव, वृक्षादीनामिति शेषः; लोकान् प्रजाः, दानमानादितोयेन दानमानादिरूपेण जलेन, पालयेत् पोषयेत्, मालाकारो जलादिदानेन यथा तरून् वर्द्धयति, त्वमपि दानादिभिस्तथा प्रजाः तोषये-त्याशयः ॥ २४३ ॥

नृपदीप इति । नृपा दीप इव, इति उपमितसमासः; दीपसदृशो नृपः, अन्त-रस्थः आत्मन्यवस्थितैः, दीपगर्भस्थैश्च, शुभ्रैः; शुक्लैः, विशुद्धैरित्यर्थः, निर्मलैश्च,

---

जो राजा अपने अविवेक के कारण बकरी की तरह (निरपराध) प्रजा को मार डालता है, उससे उसे एक बार ही (मांस भक्षण करने से होने वाली) तृप्ति मिल सकती है। किन्तु दूसरी बार (दूध रूपी धन से प्राप्त होने वाली) किसी भी प्रकार की तृप्ति नहीं मिल सकती है ॥ २४२ ॥

जैसे फल का इच्छुक-माली जल आदि देकर यत्न के साथ साथ बीजांकुरों को बढ़ा कर वृक्ष बना देता है उसी प्रकार राज्योपभोग के इच्छुक राजा को चाहिए कि वह दान मान आदि से प्रजा की वृद्धि करके उसे वैभवशाली बना दे ॥ २४३ ॥

राजारूपी दीपक अपने भीतर स्थित निर्मल गुणों (दीपक के पक्ष में श्वेत

यथा गौर्दुह्यते काले पाल्यते च तथा प्रजाः ।
सिच्यते चीयते चैव लता पुष्पफलप्रदा ॥ २४५ ॥

यथा बीजाङ्कुरः सूक्ष्मः प्रयत्नेनाभिरक्षितः ।
फलप्रदो भवेत्काले तद्वल्लोकः सुरक्षितः ॥ २४६ ॥

हिरण्यधान्यरत्नानि यानानि विविधानि च ।
तथाऽन्यदपि यत्किञ्चित्प्रजाभ्यः स्यान्महीपतेः ॥ २४७ ॥

गुणैः दयादिभिः, वर्तिभिश्चेत्यर्थः, प्रजाभ्यः, धनं स्नेह इव तं, तैलोपमं धनम् इत्यर्थः, संहरन्नपि शोषयन्नपि, केनचित् जनेन, नैव लक्ष्यते धनं गृह्णातीति नानुमीयते, प्रदीपो यथा दशया क्रमेण तैलमाकर्षन् केनापि न विभाव्यते, तथा नृपतिः स्वगुणेन प्रजाभ्यः करमाददानः न केनापि लक्ष्यते इति फलितार्थः ॥ २४४ ॥

यथेति । गौः धेनुः, यथा पाल्यते, अनन्तरं काले दुग्धदानोपयुक्तसमये, दुह्यते च, यथा वा, लता सिच्यते, जनेन प्रथमं जलैरिति शेषः, अनन्तरं यदा पुष्पफलप्रदा पुष्पाणि फलानि च प्रददातीति तथाभूता, तदा चीयते च, पुष्पफलादिकमिति शेषः, तथैव प्रजाः, पाल्यन्ते कालेन दुह्यन्ते सिच्यन्ते चीयन्ते चेति शेषः ॥ २४५ ॥

यथेति । यथा सूक्ष्मः अणुः, बीजाङ्कुरः बीजसहिताङ्कुर इत्यर्थः, प्रयत्नेन अभिरक्षितः पर्यवेक्षितः, जलादिना लालितः सन् इत्यर्थः, काले योग्यसमये, फलप्रदो भवेत्, सुरक्षितः सुप्रतिपालितः, लोकोऽपि तद्वत् काले फलप्रदः भवेदिति भावः ॥ २४६ ॥

हिरण्येति । महीपतेः राज्ञः, हिरण्यधान्यरत्नानि हिरण्यानि स्वर्णानि,

---

वत्ती) से प्रजारूपी पात्र से धनरूपी तेल खींचते हुए भी किसी की दृष्टि में नहीं आता है अर्थात् उसका कर के रूप में धन लेना किसी को अखरता नहीं है ॥ २४४ ॥

जैसे पालन-पोषण करने के बाद ही समय आने पर गाय दुही जाती है तथा जैसे सींचने के बाद फूल फल देने वाली लता से समय पर ही फूल फल चुना जाता है उसी प्रकार राजा को भी पालन-पोषण करने के बाद ही समयानुसार प्रजा से कर लेना चाहिए ॥ २४५ ॥

जिस प्रकार अत्यन्त यत्नपूर्वक सुरक्षित अत्यन्त दुबला पतला बीजाङ्कुर भी समय आने पर फल देने वाला बन जाता है उसी प्रकार सुरक्षित प्रजा भी समय पर फल (कर आदि) देने वाली हो जाती है ॥ २४६ ॥

सोना, धान्य (सभी प्रकार के अन्न), रत्न, तथा विविध प्रकार की सवारियाँ

लोकानुग्रहकर्तारः प्रवर्धन्ते नरेश्वराः।
लोकानां संक्षयाच्चैव क्षयं यान्ति न संशयः' ॥ २४८ ॥

अथ तेषां तद्वचनमाकर्ण्य भासुरक आह—'अहो सत्यमभिहितं भवद्भिः। परं यदि ममोपविष्टस्यात्र नित्यमेवं नैकः श्वापदः समागमिष्यति, तन्नूनं सर्वानपि भक्षयिष्यामि।'

अथ ते तथैव प्रतिज्ञाय निर्वृतिभाजस्तत्रैव वने निर्भयाः पर्यटन्ति। एकश्च प्रतिदिनं क्रमेण याति। वृद्धो वा, वैराग्ययुक्तो वा, शोकग्रस्तो वा, पुत्रकलत्रनाशभीतो वा, तेषां मध्याद्धतस्य भोजनार्थं मध्याह्नसमय उपतिष्ठते।

धान्यानि व्रीह्यादीनि, रत्नानि मणयश्च तानि, विविधानि यानानि वाहनानि अश्वादीनि, तथा अन्यत् अपरमपि, यत्किञ्चित्, धनादिकमिति शेषः, तत् सर्वं प्रजाभ्यः स्यात्, प्रजाभ्यः एव सर्वाणि धनानि राज्ञा लभ्यन्ते; अतः प्रजा रक्षणीया इति भावः ॥ २४७ ॥

लोकेति। नरेश्वराः नृपतयः, लोकानां प्रजानाम्, अनुग्रहकर्त्तारः हितकारिणः सन्तः प्रवर्द्धन्ते प्रकर्षेण वृद्धिं गच्छन्ति, लोकानां प्रजानां, सङ्क्षयाच्च विनाशाच्च, पीडनादिना इति भावः, क्षयं नाशं, यान्ति गच्छन्ति, इत्यत्र संशयः सन्देहः, नैव नास्त्येव; प्रजास्थिता एव राज्ञोऽपि स्थितिरिति भावः ॥ २४८ ॥

(१) श्वापदः—चतुष्पदप्राणीति यावत्। तथैव प्रतिज्ञाय—भासुरकानुकूलं प्रतिश्रुत्य।

(२) निर्वृतिभाजः,—निरुद्वेगा इत्यर्थः। पर्यटन्ति—भ्रमन्ति।

(३) पुत्रकलत्रनाशभीतः—पुत्रस्य, कलत्रस्य वा नाशेन भीतः, उपतिष्ठते—

तथा अन्य सभी प्रकार की वस्तुएँ राजा को प्रजा से ही प्राप्त होती हैं ॥ २४७ ॥

प्रजा का हित करने वाले राजाओं की वृद्धि होती है किन्तु इसमें कोई भी सन्देह नहीं है कि प्रजा का विनाश होने से राजा का भी विनाश हो जाता है ॥ २४८ ॥

इसके पश्चात् उनकी बातों को सुनकर भासुरक ने कहा—आप लोगों ने सत्य ही कहा है। किन्तु यदि मेरे यहीं बैठे-बैठे नित्य ही एक जानवर नहीं आ जायगा तो निश्चय ही मैं सबको खा जाऊँगा।

तब वे वैसे ही प्रतिज्ञा करके निश्चिन्तता के साथ निर्भय होकर उसी वन में घूमने फिरने लगे। एक जानवर प्रतिदिन क्रम से जाता। चाहे वह बूढ़ा हो या वैरागी हो या दुःखी हो या पुत्र और पत्नी के नाश से भयाकुल हो, किन्तु उसमें से एक ठीक दोपहर के समय उसके भोजन के लिए पहुँच जाता।

अथ कदाचिज्जातिक्रमाच्छशकस्यावसरः समायातः। स समस्तमृगैः प्रेरितोऽनिच्छन्नपि मन्दं मन्दं गत्वा तस्य वधोपायं चिन्तयन्वेलातिक्रमं कृत्वा व्याकुलितहृदयो यावद्गच्छति तावन्मार्गे गच्छता कूपः संदृष्टः। यावत्कूपोपरि याति तावत्कूपमध्य आत्मनः प्रतिबिम्बं ददर्श। दृष्ट्वा च तेन हृदये चिन्तितं यद्—भव्य उपायोऽस्ति। अहं भासुरकं प्रकोप्य स्वबुद्ध्यास्मिन्कूपे पातयिष्यामि।' अथासौ दिनशेषे भासुरकसमीपं प्राप्तः। सिंहोऽपि वेलातिक्रमेण क्षुत्क्षामकण्ठः कोपाविष्टः सृक्कणी परिलेलिहद् व्यचिन्तयत्—'अहो, प्रातराहारार्थ निःसत्त्वं वनं मया कर्तव्यम्! एवं चिन्तयतस्तस्य शशको मन्दं मन्दं गत्वा प्रणम्य तस्याग्रे स्थितः। अथ तं प्रज्वलितात्मा भासुरको भर्त्सयन्नाह—'रे शशकाधम! एकस्तावत् त्वं लघुः प्राप्तोऽपरतो वेलातिक्रमेण। तदस्मादपराधात्त्वां निपात्य प्रातः सकला-

---

उपस्थितो भवति। अवसरः,—समयः, वार इत्यर्थः। अनिच्छन्—अवागच्छन्, तस्य—सिंहस्य, वेलातिक्रमणम्, व्याकुलितहृदयः—व्यथितहृदयः, दुःखितः सन्।

(१) कूपोपरि याति—कूपे दृष्टिं निक्षिपतीति भावः। प्रतिबिम्बं—छायाम्।

(२) भव्यः,—शुभः, उत्तमः इत्यर्थः।

(३) असौ—शशकः, क्षुत्क्षामकण्ठः—बुभुक्षितः सन्, कोपाविष्टः—क्रोधातुरः। सृक्कणी—ओष्ठप्रान्तौ। परिलेलिहदिति अभ्यस्तत्वात् "नाभ्यस्ताच्छतुः" (पा० ७।१।७८) इति शतुर्नुमभावः। निःसत्त्वं—जीवशून्यम्।

एक बार जाति के क्रम से खरगोश की बारी आई। वह सभी पशुओं से प्रेरित होकर इच्छा न रहते हुए भी धीरे-धीरे चलते हुए तथा मन ही मन उसके मारने का उपाय सोंचते हुए समय बिताकर व्याकुल हृदय से चला जा रहा था कि जाते समय मार्ग में एक कुआँ दिखाई दिया। जब कुएँ पर पहुँचा तो उसके बीच अपनी परछाई देखी। उसे देखकर अपने मन में विचार किया—"यह तो बहुत ही उत्तम उपाय है। मैं भासुरक को क्रुद्ध बनाकर इस कुँए में गिरा दूँगा।" फिर थोड़ा थोड़ा दिन शेष रह जाने पर वह भासुरक के पास पहुँचा। सिंह ने भी समय बीत जाने के कारण भूख से सूखे कण्ठ तथा क्रोध से उन्मत्त होकर जीभ से ओठों को चाटते हुए विचार किया—"प्रातःकाल होते ही मैं भोजन के लिए सारे वन को जन्तुरहित बना दूँगा।" वह ऐसा सोच ही रहा था कि इसी बीच खरगोश धीरे-धीरे उसके पास जाकर प्रणाम करके उसके सामने खड़ा हो गया। तब क्रोध से जल-भुनकर भासुरक ने डाटते हुए कहा—"अरे नीच खरहे! एक तो तू इतना छोटा है, दूसरे समय बिताकर आया है। अतः इस अपराध के कारण तुझे मारकर

न्यपि मृगकुलान्युच्छेदयिष्यामि।' अथ शशकः सविनयं प्रोवाच—'स्वामिन्, नापराधो मम, न च सत्त्वानाम्। तच्छ्रूयतां कारणम्' सिंह आह—सत्वरं निवेदय यावन्मम दंष्ट्रान्तर्गतो न भवान्भविष्यति' इति। शशक आह—'स्वामिन्, समस्तमृगैरद्य जातिक्रमेण मम लघुतरस्य प्रस्तावं विज्ञाय ततोऽहं पञ्चशशकैः समं प्रेषितः। ततश्चाहमागच्छन्नन्तराले महता केनचिदपरेण सिंहेन विवरान्निर्गत्याभिहितः—रे क्व प्रस्थिता यूयम्? अभीष्टदेवतां स्मरत'। ततो मयाभिहितम्—'वयं स्वामिनो भासुरकसिंहस्य सकाशमाहारार्थं समयधर्मेण गच्छामः'। ततस्तेनाभिहितम्—यद्येवं तर्हि मदीयमेतद्वनम्। मया सह समयधर्मेण समस्तैरपि श्वापदैर्वर्त्तितव्यम्। चौररूपी स भासुरकः। अथ यदि सोऽत्र राजा, ततो विश्वासस्थाने चतुरः शशकानत्र धृत्वा तमाहूय द्रुततरमागच्छ। येन यः कश्चिदावयोर्मध्यात्पराक्रमेण राजा भविष्यति, स सर्वानितान्भक्षयिष्यति' इति। ततोऽहं तेनादिष्टः स्वामिसकाशमभ्यागतः। एतद्वेलाव्यतिक्रमकारणम्। तदत्र स्वामी प्रमाणम्।' तच्छ्रुत्वा भासुरक आह—'भद्र! यद्येवं तत्सत्वरं दर्शय मे तं

---

(१) लघुतरस्य—अतिक्षुद्रस्य। प्रस्तावं—भवदन्तिके आगमनप्रसङ्गम् इत्यर्थः।

(२) विश्वासस्थाने—प्रतिभूस्वरूपम्। चतुरः,—चतुःसङ्ख्यकान्। धृत्वा—रक्षित्वा।

(३) प्रमाणं—कर्त्तव्यनिर्देष्टा।

प्रातःकाल सभी जंगली जानवरों को जड़मूल से नष्ट कर दूँगा।" तब शशक ने विनय के साथ कहा—स्वामी, इसमें न तो मेरा अपराध है न अन्य जानवरों का ही है। आप (देर से आने का) कारण तो सुनिए। सिंह ने कहा—"मेरे दाढ़ों के भीतर पहुँचने के पहिले झटपट कह डालो।" शशक ने कहा—स्वामी, जातिक्रम से मेरी बारी आने पर मुझे अत्यन्त स्वल्पकाय जानकर सभी जानवरों ने पाँच खरगोशों के साथ भेजा। हम लोग आ रहे थे कि बीच ही में एक दूसरे सिंह ने अपनी माँद से निकलकर कहा—अरे! तुम लोग कहाँ जा रहे हो? तब मैंने कहा—हम लोग समझौते के अनुसार स्वामी भासुरक सिंह के पास उनके भोजन के लिए जा रहे हैं।" तब उसने कहा—यदि ऐसी बात है तो यह मेरा है। सभी जानवरों को मेरे साथ अनुबन्ध का निर्वाह करना चाहिए। वह भासुरक तो चोर है। यदि वह इस वन का राजा है तो चार खरगोशों को यहाँ जमानत के रूप में रखकर जाओ और उसे शीघ्र ही बुलाकर ले आओ। हम दोनों में जो भी अपने पराक्रम से राजा होगा वही इन सभी को खायेगा।" अतः मैं उसकी आज्ञा

चौरसिंहं येनाहं मृगकोपं तस्योपरि क्षिप्त्वा स्वस्थो भवामि । उक्तञ्च—

भूमिर्मित्रं हिरण्यं च विग्रहस्य फलत्रयम् ।
नास्त्येकमपि यद्येषां न तं कुर्यात्कथञ्चन ॥ २४९ ॥
यत्र न स्यात्फलं भूरि यत्र च स्यात्पराभवः ।
न तत्र मतिमान्युद्धं समुत्पाद्य समाचरेत्' ॥ २५० ॥

शशक आह—'स्वामिन् ! सत्यमिदम् । स्वभूमिहेतोः परिभवाच्च युध्यन्ते क्षत्रियाः । परं स दुर्गाश्रयः दुर्गान्निष्क्रम्य वयं तेन विष्कम्भिताः । ततो दुर्गस्थो दुःसाध्यो भवति रिपुः । उक्तञ्च—

न गजानां सहस्रेण न च लक्षेण वाजिनाम् ।
यत्कृत्यं साध्यते राज्ञां दुर्गेणैकेन सिद्धयति ॥ २५१ ॥

भूमिरिति । भूमिः राज्यं, मित्रं सुहृत्, हिरण्यं स्वर्णादिधनम्, एतत् विग्रहस्य युद्धस्य, फलत्रयं, युद्धजये सति एतत्त्रयं लभते इति भावः; यदि एषां त्रयाणां मध्ये, एकमपि न अस्ति न लभते इत्यर्थः, तदा कथञ्चन कथमपि, तं विग्रहं न कुर्यात्, निष्फलत्वात् इति भावः ॥ २४९ ॥

यत्रेति । यत्र विग्रहे, भूरि महत् फलं न स्यात् न लभेत इत्यर्थः, यत्र च विग्रहे, पराभवः पराजयः, स्यात् सम्भवेत्, मतिमान् जनः, तत्र समुत्पाद्य शत्रूणां परस्पर-भेदं प्रकृतिकोपं वा घटयित्वा, युद्धं न समाचरेत् न कुर्यात् ॥ २५० ॥

(१) परिभवाच्च—तिरस्काराच्च, दुर्गाश्रयः,–दुर्गमध्यवर्ती । विष्कम्भिताः—अवरुद्धाः । दुःसाध्यः—दुर्जयः ।

नेति । गजानां हस्तिनां, सहस्रेण यत् कृत्यं कार्य्यं, न तथा वाजिनाम् अश्वानां,

---

के अनुसार आप के पास आया हूँ । समय बीतने का यही कारण है । अब स्वामी जैसा उचित समझें वैसा करें । यह सुनकर भासुरक ने कहा—भद्र ! यदि ऐसी बात है तो मुझे शीघ्र ही उस चोर सिंह को दिखलाओ ताकि जानवरों का क्रोध उस पर निकाल कर मैं शान्ति प्राप्त करूँ । कहा भी गया है—

लड़ाई के तीन फल होते हैं—भूमि, मित्र और स्वर्ण । यदि इनमें से एक की भी प्राप्ति होती न हो तो कदापि (निष्फल) युद्ध नहीं करना चाहिए ॥ २४९ ॥

जिस युद्ध में अत्यधिक फल की प्राप्ति न हो सके और पराजय की आशंका बनी रहे, बुद्धिमान को चाहिए कि ऐसे युद्ध का बीजारोपण न करें ॥ २५० ॥

शशक ने कहा—स्वामी, यह तो सत्य है । क्षत्रिय लोग अपनी भूमि प्राप्त करने तथा अपनी पराजय मिटाने के लिए युद्ध करते हैं । किन्तु वह किले में स्थित है । किले से बाहर निकल करके ही उसने हम लोगों को रोका था और दुर्ग में स्थित शत्रु दुःसाध्य होता है । कहा भी गया है—

शतमेकोऽपि संधत्ते प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
तस्माद् दुर्गं प्रशंसन्ति नीतिशास्त्रविचक्षणाः ॥ २५२ ॥
पुरा गुरोः समादेशाद्धिरण्यकशिपोर्भयात् ।
शक्रेण विहितं दुर्गं प्रभावाद्विश्वकर्मणः ॥ २५३ ॥
तेनापि च वरो दत्तो यस्य दुर्गं स भूपतिः ।
विजयी स्यात्ततो भूमौ दुर्गाणि स्युः सहस्रशः ॥ २५४ ॥
दंष्ट्राविरहितो नागो मदहीनो यथा गजः ।
सर्वेषां जायते वश्यो दुर्गहीनस्तथा नृपः' ॥ २५५ ॥

लक्षेण च यत् कृत्यं न साध्यते सिद्धिमेति, राज्ञाम् एकेन दुर्गेण तत् सिध्यति ॥ २५१ ॥

शतमिति । एकोऽपि प्राकारस्थः दुर्गप्राचीराश्रितः, धनुर्धरः शतं शतसङ्ख्याकं; योद्धमिति शेषः, सन्धत्ते योधयति इत्यर्थः, "शतमेको योधयति" इति क्वचित् पाठः । तस्मात् नीतिशास्त्रविचक्षणाः नीतिज्ञाः, दुर्गं प्रशंसन्ति ॥ २५२ ॥

पुरेति । पुरा पूर्वस्मिन् काले, हिरण्येकशिपोः तदाख्यदैत्यराजात्, भयात् हेतोः शक्रेण इन्द्रेण, गुरोः बृहस्पतेः, समादेशात् नियोगात्, विश्वकर्मणः देवशिल्पिनः, प्रभावात् सामर्थ्यात्, नैपुण्यादित्यर्थः, दुर्गं, विहितं—निर्मितम् ॥ २५३ ॥

तेनेति । तेन इन्द्रेणापि, वरः दत्तः, राजभ्य इति शेषः, यस्य भूपतेः, दुर्गम्, अस्तीति शेषः; स भूपतिः राजा, विजयी स्यात्; दुर्गाश्रयेण युद्धकरणात् इति भावः; ततः प्रभृति, भूमौ पृथिव्यां, सहस्रशः बहुशः, दुर्गाणि स्युः सम्भवेयुः ॥ २५४ ॥

दंष्ट्रेति । दंष्ट्राविरहितः विषदन्तहीनः, नागः पन्नगः, तथा मदहीनः गजश्च

राजाओं का जो कार्य हजारों हाथियों और लाखों घोड़ों से भी सिद्ध नहीं हो पाता है वह एक किले मात्र से ही सिद्ध हो जाता है ॥ २५१ ॥

दुर्ग के कोटि (किले की चहार दीवारी) पर स्थित एक ही धनुर्धारी (शत्रु के) सैकड़ों (सैनिकों) पर (बाणों का) निशाना लगा सकता है । इसी लिए नीतिशास्त्र के कुशल ज्ञाताओं ने दुर्ग की बड़ी प्रशंसा की है ॥ २५२ ॥

प्राचीन काल में हिरण्यकशिपु से भयभीत होकर इन्द्र ने देवगुरु बृहस्पति की आज्ञा से विश्वकर्मा की सहायता लेकर दुर्ग का निर्माण कराया था ॥ २५३ ॥

उस इन्द्र ने यह वर (आशीर्वाद) भी दिया था कि जिस राजा के पास दुर्ग होगा वह अवश्य ही विजयी होगा । उसके पश्चात् पृथ्वी पर हजारों दुर्ग बनवाए गए ॥ २५४ ॥

जिस प्रकार विष के दांतों से रहित साँप एवं मदहीन हाथी सबके अधीन हो जाता

तच्छ्रुत्वा भासुरक आह— भद्र, ! दुर्गस्थमपि दर्शय तं चौरसिंहं, येन व्यापादयामि । उक्तं च—

जातमात्रं न यः शत्रुं रोगं च प्रशमं नयेत् ।
महाबलोऽपि तेनैव वृद्धिं प्राप्य स हन्यते ॥ २५६ ॥

तथा च—उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता ।
समौ हि शिष्टैराम्नातौ वर्त्स्यन्तावामयः स च ॥ २५७ ॥

अपि च—उपेक्षितः क्षीणबलोऽपि शत्रुः
प्रमाददोषात् पुरुषैर्मदान्धैः ।
साध्योऽपि भूत्वा प्रथमं ततोऽसौ
असाध्यतां व्याधिरिव प्रयाति ॥ २५८ ॥

यथा सर्वेषां वश्यः जायते, दुर्गहीनो नृपोऽपि तथा, सर्वेषां वश्यो भवेदिति भावः ॥ २५५ ॥

जातमात्रमिति । यः जातमात्रम् उत्पन्नमात्रं, शत्रुं, रोगञ्च प्रशमं शान्ति, न नयेत् प्रापयेत्, न नाशयेदित्यर्थः, स महाबलोऽपि तेनैव शत्रुणा रोगेण च, वृद्धिं प्राप्य, स्थितेनेति शेषः, हन्यते विनाश्यते ॥ २५६ ॥

उत्तिष्ठमान इति । तु किञ्च, पथ्यं हितम्, आरोग्यञ्च, इच्छता अभिलषता, पुरुषेण इति शेषः, उत्तिष्ठमानः वर्द्धमानः, "उदोऽनूर्द्ध्वकर्मणि" (पा० १।३।२४) इत्यात्मनेपदत्वात् शानच् । परः शत्रुः, न उपेक्ष्यः न हेयत्वेन उपेक्षणीयः । हि यतः, शिष्टैः साधुभिः, नीतिज्ञैरित्यर्थः, वर्त्स्यन्तौ— वृद्धिं गमिष्यन्तौ, आमयः रोगः, "रोगव्याधिगदामयाः" इत्यमरः । स च शत्रुश्च, समौ तुल्यौ, आम्नातौ कथितौ । "अल्पीयसोऽप्यरेर्वृद्धिर्महाऽनर्थाय रोगवत् । अतस्तस्यानुपेक्ष्यत्वादुभयानुसृतिः कुतः ॥" इति भावः ॥ २५७ ॥

उपेक्षितः । मदान्धैः गर्वान्धैः, पुरुषैः जनैः, प्रमाददोषात् अनवधानतारूपात्

है, उसी प्रकार दुर्ग रहित राजा भी शत्रु के अधीन हो जाता है ॥ २५५ ॥

यह सुनकर भासुरक ने कहा—भद्र किले में स्थित होते हुए भी उस चोर सिंह को मुझे दिखलाओ, जिससे मैं उसे मार डालूँ । कहा भी गया है—

शत्रु और रोग के उत्पन्न होते ही जो उसे शान्त नहीं कर देता वह उनके बढ़ जाने पर बलवान् होते हुए भी उन्हीं के द्वारा मारा जाता है ॥ २५६ ॥

नीतिशास्त्र के वेत्ताओं ने बढ़ते हुए शत्रु एवं रोग दोनों को समान रूप से कष्ट देने वाला बताया है । इसलिए कल्याण तथा स्वास्थ्य चाहने वाले व्यक्ति को शत्रु तथा रोग की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ॥ २५७ ॥

अपनी शक्ति पर अभिमान करने वाले पुरुषों द्वारा उपेक्षित निर्बल से निर्बल

तथा च—आत्मनः शक्तिमुद्वीक्ष्य मानोत्साहं च यो व्रजेत् ।
बहून् हन्ति स एकोऽपि क्षत्रियान्भार्गवो यथा' ॥ २५९ ॥

शशक आह—'अस्त्येतत् । तथापि बलवान्स मया दृष्टः । तन्न युज्यते स्वामिनस्तस्य सामर्थ्यमविदित्वा गन्तुम् । उक्तञ्च—

अविदित्वात्मनः शक्तिं परस्य च समुत्सुकः ।
गच्छन्नभिमुखो नाशं याति वह्नौ पतङ्गवत् ॥ २६० ॥

यो बलात्प्रोन्नतं याति निहन्तुं सबलोऽप्यरिम् ।
विमदः स निवर्त्तेत शीर्णदन्तो गजो यथा ॥ २६१ ॥

दोषात्, उपेक्षितः शत्रुः क्षीणबलोऽपि प्रथमं साध्यः प्रतीकार्य्योऽपि भूत्वा, ततः उपेक्षावशादिति भावः, व्याधिरिव असौ असाध्यताम् अप्रतिविधेयतां, प्रयाति गच्छति ॥ २५८ ॥

आत्मन इति । यश्च आत्मनः स्वस्य, शक्तिं सामर्थ्यम्, उद्वीक्ष्य, पर्य्यालोच्य, मनोत्साहं मानरक्षार्थमुद्यमं, व्रजेत् गच्छेत्, कुर्य्यादिति भावः, सः एकोऽपि भार्गवः परशुरामः, यथा क्षत्रियान्, तथा बहून्, शत्रूनिति शेषः, हन्ति नाशयति । उपमाऽलङ्कारः ॥ २५९ ॥

अविदित्वेति । आत्मनः परस्य शत्रोः च, शक्तिं सामर्थ्यम्, अविदित्वा अज्ञात्वा, अनालोच्येत्यर्थः, समुत्सुकः अधीरः सन्, अभिमुखः शत्रूनभिमुखीकृत्य च, गच्छन् जनः, वह्नौ अग्नौ, पतङ्गवत् शलभ इव, नाशं निपातं, याति प्राप्नोति ॥ २६० ॥

य इति । सबलोऽपि बलवानपि, यः बलात् बलमाश्रित्य, न तु युक्तिमिति

तथा पहिले आसानी से वश में किया जा सकने वाला शत्रु भी बाद में बढ़े हुए रोग के समान असाध्य बन जाता है ॥ २५८ ॥

जो अपनी शक्ति को तौलकर मान रक्षा के लिए उद्योग करने की ओर अग्रसर होता है वह अकेला होते हुए भी अनेक शत्रुओं को मार डालता है जैसे कि परशुराम ने अकेले ही असंख्य क्षत्रियों को मार डाला था ॥ २५९ ॥

शशक ने कहा—यह तो है किन्तु यह मुझे बलवान् दिखलाई पड़ता है । अतः उसकी शक्ति को जाने विना स्वामी का वहाँ जाना उचित नहीं है । कहा भी गया है—

जो अपनी तथा शत्रु की शक्ति का बिचार किए बिना उतावली में शत्रु के सामने चला जाता है वह अग्नि के ऊपर गए हुए फतिङ्गे के समान नष्ट हो जाता है ॥ २६० ॥

जो व्यक्ति बलवान होते हुए भी अपने से अधिक बलवान् शत्रु को मारने के

भासुरक आह—'भोः, किं तवानेन व्यापारेण ? दर्शय मे तं दुर्गस्थमपि।' अथ शशक आह—'यद्येवं तर्ह्यागच्छतु स्वामी।' एवमुक्त्वाग्रे व्यवस्थितः। ततश्च तेनागच्छता यः कूपो दृष्टोऽभूत्तमेव कूपमासाद्य भासुरकमाह—'स्वामिन्, कस्ते प्रतापं सोढुं समर्थः ? त्वां दृष्ट्वा दूरतोऽपि चौरसिंहः प्रविष्टः स्वं दुर्गम्। तदागच्छ, येन दर्शयामि' इति। भासुरक आह—'दर्शय मे दुर्गम्।' तदनु दर्शितस्तेन कूपः। ततः सोऽपि मूर्खः सिंहः कूपमध्ये आत्मप्रतिबिम्बं जलमध्यगतं दृष्ट्वा सिंहनादं मुमोच। ततः प्रतिशब्देन कूपमध्याद् द्विगुणतरो नादः समुत्थितः। अथ तेन तं शत्रुं मत्वात्मानं तस्योपरि प्रक्षिप्य प्राणाः परित्यक्ताः। शशकोऽपि हृष्टमनाः सर्वमृगानानन्द्य तैः सह प्रशस्यमानो यथासुखं तत्र वने

भावः, प्रोन्नतं प्रबलम्, अरिं शत्रुम्, निहन्तुं विनाशयितुं, याति, स शीर्णदन्तः भग्नदशनः, गजो यथा हस्तीव, विमदः हृतगर्वः सन्, निवर्तते पराजितो भवेदित्यर्थः ॥ २६१ ॥

(१) अनेन व्यापारेण—तव प्रयासेन, तस्य बलख्यापनपूर्वकं मां निवारयितुं विचेष्टितेनेत्यर्थः। अग्रे व्यवस्थितः—अग्रे प्रस्थितः, आगच्छता—आगमनकाले, प्रतापम्—तेजः, तदनु—पश्चात्, आत्मप्रतिबिम्बम्—आत्मछायाम्, सिंहनादम्—सिंहगर्जनम्, मुमोच—अकरोत्। प्रतिशब्देन—प्रतिध्वनिगर्जितशब्देन, समुत्थितः—समुत्पन्नः, प्रक्षिप्य—पातयित्वा, प्राणाः परित्यक्ताः। आनन्द्य—प्रसादयित्वा, तैः—मृगैः, प्रशस्यमानः—कीर्त्यमानः, निवसति स्म।

लिए जाता है, वह दाँत टूटे हुए हाथी के समान विफल होकर लौट आता है ॥ २६१ ॥

भासुरक ने कहा—"तुम्हें इस प्रकार की मन्त्रणा देने से क्या मतलब ? किले में स्थित होते हुए भी मुझे उसे दिखा दो।" शशक ने कहा—यदि ऐसी बात है तो आइए।" ऐसा कह कर वह आगे आगे चल पड़ा। तब उसने आते समय जो कुआँ देखा था, उसी कुएँ पर पहुँचकर भासुरक ने कहा—'स्वामी भला आप के प्रताप को कौन सहन करता है ? आप को दूर ही से देखकर वह चोर सिंह दुर्ग के भीतर चला गया है। आइए, मैं उसे दिखा दूँ। भासुरक ने कहा—मुझे किला दिखाओ। तब खरगोश ने उसे कुआँ दिखा दिया। इसके बाद उस मूर्ख सिंह ने भी कुएँ के भीतर अपनी ही परछाईं देखकर बड़े जोरों की दहाड़ मारी। जिससे उसकी प्रतिध्वनि के कारण कुएँ से दूनी ध्वनि उत्पन्न हुई। तब उसे (अपनी ही छाया को) शत्रु समझकर उस पर कूद पड़ा और उसने अपने प्राणों

निवसति स्म। अतोऽहं ब्रवीमि—'यस्य बुद्धिर्बलं तस्य' इति। तद्यदि भवान्कथयति, तर्हि तत्रैव गत्वा तयोः स्वबुद्धिप्रभावेण मैत्रीभेदं करोमि।' करटक आह—'भद्र, यद्येवं तर्हि गच्छ। शिवास्ते पन्थानः सन्तु। यथाऽभिप्रेतमनुष्ठीयताम्।

अथ दमनकः संजीवकवियुक्तं पिङ्गलकमवलोक्य तत्रान्तरे प्रणम्याग्रे समुपविष्टः। पिङ्गलकोऽपि तमाह—'भद्र, किं चिराद्दृष्टः? दमनक आह—'न किञ्चिद्देवपादानामस्माभिः प्रयोजनम्, तेनाहं नागच्छामि। तथापि राजप्रयोजनविनाशमवलोक्य संदह्यमानहृदयो व्याकुलतया स्वयमेवाभ्यागतो वक्तुम्। उक्तं च—

प्रियं वा यदि वा द्वेष्यं शुभं वा यदि वाऽशुभम्।
अपृष्टोऽपि हितं वक्ष्येद्यस्य नेच्छेत्पराभवम्'॥ २६२॥

---

(१) शिवाः—कल्याणदाः, ते—तव, पन्थानः,—मार्गाः, सन्तु—भवन्तु, पथि ते विघ्नं मा भूदित्यर्थः, तव यात्रा सफला भवतु इति भावः।

(२) सञ्जीवकवियुक्तं—सञ्जीवकेन रहितम्, रहसि स्थितमिति भावः। तत्रान्तरे—तस्मिन्नवसरे।

(३) राजप्रयोजनविनाशमवलोक्य—राजकार्यध्वंसं दृष्ट्वा। सन्दह्यमानहृदयः—सन्तप्यमानचेताः। अभ्यागतः अनाहूतः, सन् प्राप्तः।

प्रियमिति। यो जनः, यस्य पराभवं पराजयं, नाशमित्यर्थः, न इच्छेत् द्रष्टुं

का परित्याग कर दिया। शशक भी प्रसन्न होकर तथा सभी जानवरों को आनन्दित करके उनके द्वारा प्रशंसित होकर सुखपूर्वक उस बन में रहने लगा। इसी लिए मैं कहता हूँ कि "जिसके पास बुद्धि है उसी के पास बल है।" इस लिए यदि आप कहें तो मैं वहाँ जाकर अपनी बुद्धि के प्रभाव से उन दोनों की मित्रता में भेद पैदा कर दूँ। करटक ने कहा—भद्र! यदि ऐसी बात है तो जाओ। तुम्हारा मार्ग कल्याणकारी बने। तुम अपना इच्छित कार्य पूरा करो।

इसके पश्चात् जब दमनक ने देखा कि पिंगलक के पास संजीवक नहीं है तब वह उसे प्रणाम करके उसके आगे बैठ गया। पिंगलक ने भी उससे कहा—भद्र! बहुत दिनों के बाद क्यों दिखाई पड़े? दमनक ने कहा—आप के श्रीचरणों को मुझसे कोई प्रयोजन नहीं था, इसीलिए मैं नहीं आया। फिर भी राजकार्य का विनाश होते देखकर दुःख से संतप्त तथा व्याकुल हृदय से मैं स्वयं आप के पास कुछ कहने के लिए आया हूँ। कहा भी गया है—

जो जिसकी पराजय देखना नहीं चाहता, उसे चाहिए कि प्रिय या अप्रिय

अथ तस्य साभिप्रायं वचनमाकर्ण्य पिङ्गलक आह—'किं वक्तुमना भवान्? तत्कथ्यतां यत्कथनीयमस्ति।' स प्राह—'देव संजीवको युष्मत्पादानामुपरि द्रोहबुद्धिः; स विश्वासगतस्य मम विजने इदमाह—'भो दमनक दृष्टा मयास्य पिङ्गलकस्य सारासारता। तदहमेनं हत्वा सकलमृगाधिपत्यं त्वत्साचिव्यपदवीसमन्वितं करिष्यामि।' इति पिङ्गलकोऽपि तद्वज्रसारप्रहारसदृशं दारुणं वचः समाकर्ण्य मोहमुपगतो न किंचिद-प्युक्तवान्। दमनकोऽपि तस्य तमाकारमालोक्य चिन्तितवान्—अयं तावत्संजीवकनिबद्धरागः। तन्नूनमनेन मन्त्रिणा राजा विनाशमवाप्स्यति' इति। उक्तञ्च—

नाभिलषेदित्यर्थः, सः अपृष्टोऽपि अजिज्ञासितोऽपि, सम्भावितनाशेन तेनेति शेषः; तस्य प्रियं वा, यदि वा द्वेषम् अप्रियं, शुभं वा, यदि वा अशुभं, स्वोक्तमिति भावः; भवतु इति शेषः, हितं वक्ष्येत् कथयेत्। वक्षधातोर्दैवादिकात् विधिलिङ्॥ २६२॥

(१) साभिप्रायम्—सुगूढम्, सोद्देश्यम्।

(२) द्रोहबुद्धिः,—द्रोहे—अनिष्टे, बुद्धिर्यस्य तथाभूतः, विद्रोहार्थीत्यर्थः। विश्वासगतस्य—विश्वस्तस्य। विजने—एकान्ते, सारासारता—बलाबलत्वम्। त्वत्साचिव्येति। तव या साचिव्यपदवी—मन्त्रिपदं, तत्सहितम्, मम मृगाधिराज्ये त्वया मन्त्रिणा भवितव्यमिति भावः।

(३) वज्रेति। वज्रेण—अशनिना, यः सारः,—कठिनः इत्यर्थः, प्रहारः,—आघातः, तत्सदृशं—तत्तुल्यम्। दारुणं—कष्टदम्। मोहं—मूर्च्छा।

(४) सञ्जीवकेति। सञ्जीवके निबद्धः,—दृढसंसक्तः, रागो यस्य तादृशः, सञ्जीवके बद्धानुराग इत्यर्थः। अनेन मन्त्रिणा—सञ्जीवकेनेत्यर्थः।

शुभ या अशुभ जो भी हितकारी बात हो, बिना उसके पूँछे ही उससे कह दे॥ २६२॥

पिंगलक ने उसकी अर्थभरी वाणी सुनकर उससे कहा—"आप क्या कहना चाहते हैं? जो कुछ कहना है उसे कह डालिए।" उसने कहा—देव! संजीवक आप के चरणों के प्रति शत्रुता का भाव रखता है। विश्वास पात्र समझ कर उसने मुझसे एकान्त में कहा कि—दमनक! मैंने पिंगलक का बलाबल देख लिया। इस लिए इसे मारकर मैं सभी जानवरों का स्वामी बनूँगा और तुम्हें मन्त्री पद पर नियुक्त करूँगा। पिंगलक ने भी उसके वज्र-प्रहार जैसे कठोर वचन सुनकर संज्ञाशून्य हो जाने के कारण कुछ भी नहीं कहा। दमनक ने उसकी ऐसी दशा देखकर विचार किया—यह तो संजीवक के प्रेम में बंधा हुआ है। अतः इस

एकं भूमिपतिः करोति सचिवं राज्ये प्रमाणं यदा
तं मोहाच्छ्रयते मदः स च मदाद्दास्येन निर्वेद्यते ।
निर्विण्णस्य पदं करोति हृदये तस्य स्वतन्त्रस्पृहा
स्वातन्त्र्यस्पृहया ततः स नृपतेः प्राणेष्वभिद्रुह्यते ।। २६३ ।।

तत्किमत्र युक्तम् ?' इति। पिङ्गलकोऽपि चेतनां समासाद्य कथमपि तमाह--'दमनक ! संजीवकस्तावत्प्राणसमो भृत्यः । स कथं ममोपरि द्रोहबुद्धिं करोति ? दमनक आह--'देव, भृत्योऽभृत्य इत्यनैकान्तिकमेतत् ।

एकमिति । यदा भूमिपतिः, एकं सचिवं मन्त्रिणं राज्ये प्रमाणं कर्त्तव्याकर्त्तव्यावधारकं, करोति, एकस्मिन्नेव सचिवे सर्वराज्यभारं निक्षिपत्ति इत्यर्थः, तदा मोहात् अज्ञानात्, मदः गर्वः, 'अहमेव सर्वेषां प्रभुः' इत्येवंरूपः इति भावः, तं सचिवं, श्रयते आश्रयति, स च सचिवः, मदात् तादृशात् गर्वात्, दास्येन निर्वेद्यते निर्वेदं गच्छति, 'अहं सर्वस्य प्रभुरपि अस्य दासः' इति आत्मावमाननां मन्यते इति भावः, । ततः निर्विण्णस्य निर्वेदं गतस्य, तस्य सचिवस्य, हृदये स्वतन्त्रस्पृहा स्वाधीनताऽऽकाङ्क्षा, पदं स्थानं, करोति, 'कथमहं स्वाधीनो भवामि ?' इति आकाक्षा जायते इति भावः; ततः सः स्वातन्त्र्यस्पृहया नृपते प्राणेषु विवक्षया सप्तमी, प्राणान् इति भाव्यं, "क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म" (१।४।३८ पा०) इति कर्मसंज्ञात्वात् अभिद्रुह्यते द्रोहमाचरति, 'राजनि निहते ममैवाधिपत्यं भवेत्' इति अभिलाषेण नृपति नाशयतीति भावः । अत्र आत्मनेपदं चिन्त्यम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।। २६३ ।।

(१) अनैकान्तिकम्—अनियतवृत्ति, यो भृत्यः स चिरमेव भृत्यभावेन स्थास्यति

मन्त्री द्वारा यह राजा अवश्य ही विनष्ट हो जायगा । कहा भी गया है—

राजा जब राष्ट्र में एक ही मन्त्री को प्रमाणित कर देता है अर्थात् राज्य की समस्त व्यवस्था एक ही मन्त्री के अधीन कर देता है तब वह मन्त्री मोह में पड़कर अहंकारी बन जाता है । अहंकार के कारण उसे राजसेवा में दासत्व की अनुभूति होने लगती है जिससे दुःखी होने पर उसके हृदय में स्वतन्त्र बनने की भावना जाग उठती है । इसी स्वाधीनता की इच्छा के कारण वह राजा के प्राणों से द्रोह करने लगता है अर्थात् उसमें राजा को मार डालने की भावना उत्पन्न हो जाती है ।। २६३ ।।

इसलिए इस अवसर पर क्या करना उचित है ? पिंगलक ने किसी प्रकार चैतन्य होकर उससे कहा—संजीवक तो मेरा प्राणों से भी प्रिय सेवक है । वह क्यों मुझसे शत्रुता करेगा ? दमनक ने कहा—देव ! सेवक सर्वदा सेवक ही बना

उक्तञ्च—

न सोऽस्ति पुरुषो राज्ञां यो न कामयते श्रियम्।
अशक्ता एव सर्वत्र नरेन्द्रं पर्युपासते' ॥ २६४ ॥

पिङ्गलक आह—'भद्र, तथापि मम तस्योपरि चित्तवृत्तिर्न विकृतिं याति। अथवा साध्विदमुच्यते—

अनेकदोषदुष्टोऽपि कायः कस्य न वल्लभः ?।
कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः' ॥ २६५ ॥

दमनक आह—'अत एवायं दोषः। उक्तञ्च—

यस्मिन्नेवाधिकं चक्षुरारोपयति पार्थिवः।
अकुलीनः कुलीनो वा स श्रियो भाजनं नरः ॥ २६६ ॥

इति न कदाचिदपि सम्भवेत्, दास्यात् आत्मानं मोचयितुं सर्वे एव यतन्ते इति भावः।

नेति। यः राज्ञां श्रियं न कामयते नाभिलषति, सः तादृशः, पुरुषो नास्ति, सर्व एव राजश्रियं कामयते इत्यर्थः; सर्वत्र सर्वस्मिन् प्रदेशे, अशक्ताः अक्षमा एव पुरुषाः, दुर्बला निर्धनाश्च इति भावः, नरेन्द्रं नृपं, पर्य्युपासते सेवन्ते ॥ २६४ ॥

(१) चित्तवृत्तिः,—मनोभावः। विकृतिं—विकारम्, अन्यथाभावमित्यर्थः।

अनेकेति। यः प्रियः, स व्यलीकानि अप्रियाणि, "व्यलीकमप्रियाकार्य्यवैलक्ष्येष्वपि पीडने" इति मेदिनी। कुर्वन्नपि आचरन्नपि, प्रियः एव स्वाभाविकः प्रेमाकर एवेत्यर्थः। तदेव दृष्टान्तेन द्रढयति,—अनेकदोषदुष्टोऽपि बहुभिर्दोषैराघ्रातोऽपि, कायः देहः, कस्य जनस्य, वल्लभः प्रियः, न ? अपि तु सर्वस्यैव प्रिय इत्यर्थः ॥ २६५ ॥

यस्मिन् इति। पार्थिवः पृथिव्या ईश्वरः, नृपतिः, यस्मिन् एव जने, अधिकं

रहे, यह कोई निश्चित नियम तो नहीं है। कहा भी गया है—

ऐसा कोई भी राजपुरुष नहीं होता जो राज्यलक्ष्मी की कामना न करे। केवल सभी प्रकार के असमर्थ लोग हीं राजा की सेवा करते रहते है ॥ २६४ ॥

पिंगलक ने कहा—भद्र ! फिर भी उसके प्रति मेरी भावनाएँ विकृत नहीं हो पा रही हैं। अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

जो प्रिय होता है वह अहित करने पर भी प्रिय ही बना रहता है। जैसे अनेक दोषों से दूषित होने पर भी अपना शरीर किसे प्रिय नहीं होता है ? अर्थात् वह सभी को सर्वदा प्रिय बना रहता है ॥ २६५ ॥

दमनक ने कहा—इसीलिए तो यह दोष है। कहा भी गया है—

अपरं, केन गुणविशेषेण स्वामी सञ्जीवकं निर्गुणकमपि निकटे धारयति ? अथ देव, यद्येवं चिन्तयसि—महाकायोऽयम्। अनेन रिपून् व्यापादयिष्यामि। तदप्यस्मान्न सिध्यति, यतोऽयं शष्पभोजी। देवपादानां पुनः शत्रवो मांसाशिनः। तद्रिपुसाधनमस्य साहाय्येन न भवति। तस्मादेनं दूषयित्वा हन्यताम्' इति। पिङ्गलक आह—

उक्तो भवति यः पूर्वं गुणवानिति संसदि।
तस्य दोषो न वक्तव्यः प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा ॥ २६७ ॥

यथा तथा चक्षुः दृष्टिम्, आरोपयति ददाति, यम् अधिकम् आद्रियते इत्यर्थः, स नरः अकुलीनः असद्वंशोऽहम् कुलीनः तदितरः सद्वंशोद्भवो वा, श्रियः सम्पदः, भाजनं पात्रः, भवतीति शेषः। यः कश्चित् राजानुगृहीतो धनवान् बलवांश्च भवतीति निष्कर्षः ॥ २६६ ॥

(१) निर्गुणकं—गुणरहितम्, निकटे धारयति—समीपे स्थानं ददाति। रक्षति। महाकायः—बृहच्छरीरः। रिपून्=शत्रून्। शष्पभोजी—तृणभक्षकः। मांसाशिनः-मांसभक्षकाः। रिपुसादनं—शत्रुविनाशः। दूषयित्वा—आक्षिप्य, दूषितं कृत्वा, छलेन दोषोद्भावनादिनेति भावः।

उक्त इति। यो जनः, पूर्वं प्रथमं, संसदि सभायां, गुणवान् अयं गुणी, इति उक्तः कथितः, गुणित्वेन स्वीकृतः इत्यर्थः, भवति, प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा प्रागुक्तस्वीकारान्यथाकरणशङ्किना जनेन, तस्य दोषो न वक्तव्यः, स निर्गुण इति पुनर्न वाच्यः; तथाकृते तद्वचसि कोऽपि न विश्वसितीति इति भावः ॥ २६७ ॥

राजा जिस व्यक्ति पर अधिक कृपा दृष्टि रखता है वह चाहे कुलीन हो, चाहे अकुलीन हो, किन्तु लक्ष्मीवान् तो अवश्य ही हो जाता है ॥ २६६ ॥

इसके अतिरिक्त स्वामी किस विशेष गुण के कारण उस निर्गुण संजीवक को अपना निकटवर्ती बनाए हुए हैं ? यदि स्वामी ऐसा सोचते हों कि वह महान शरीर वाला है। उससे मैं अपने शत्रुओं का नाश कर दूँगा तो यह भी उससे सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि वह शष्पभोजी (घास खाने वाला) है और आप के शत्रु मांस भोजी (हिंसक) है। इस लिए वह शत्रु को पराजित करने का साधन नहीं बन सकता है। अतः उसके ऊपर दोष लगाकर मार डालिए। पिंगलक ने कहा—

यदि किसी ने किसी व्यक्ति को सभा में पहिले गुणी कह दिया हो तो उसे बाद में अपनी बात झूठी हो जाने के भय से फिर उसके दोषों को नहीं कहना चाहिए ॥ २६७ ॥

अन्यच्च,—मयास्य तव वचनेनाभयप्रदानं दत्तम्। तत्कथं स्वयमेव व्यापादयामि ? सर्वथा सञ्जीवकोऽयं सुहृदस्माकम्। न तं प्रति कश्चित् मन्युरिति। उक्तञ्च—

इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम्।
विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् ॥ २६८ ॥

आदौ न वा प्रणयिनां प्रणयो विधेयो
दत्तोऽथवा प्रतिदिनं परिपोषणीयः।
उत्क्षिप्य यत्क्षिपति यत्प्रकरोति लज्जां
भूमौ स्थितस्य पतनाद्भयमेव नास्ति ॥ २६९ ॥

---

(१) अभयप्रदानं—न हनिष्यामि इति आश्वासवचनम्। सुहृदस्माकं—अस्माकं मित्रम्।

(२) मन्युः,—क्रोधः, क्रोधकारणमिति भावः।

इत इति। तारकासुरपीडितान् तद्वधार्थिनो देवान् प्रति ब्रह्मण उक्तिरियम्। स दैत्यः तारकः, इतः मत्तः, मत्सकाशादित्यर्थः, प्राप्ता श्रीः त्रिलोकैश्वर्य्यं येन तथाभूतः, अतः इत एव मत्त एव, क्षयं ध्वंसं, न अर्हति, तथा हि—विषवृक्षः, साम्प्रतमित्यव्यययोगेन प्रथमा। अपि स्वयम् आत्मना, संवर्द्ध्य उप्त्वा जलसेकादिना वर्द्धयित्वा इत्यर्थः, छेत्तुं कर्त्तितुम्, असाम्प्रतम् अयुक्तः। "युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने इत्यमरः ॥ २६८ ॥

आदाविति। आदौ प्रथममेव, प्रणयिनां प्रेमलाभेच्छूनां सम्बन्धे, प्रणयः न विधेयः वा, न कर्त्तव्यः वा, अथवा किंवा, दत्तः विहितश्चेत्, प्रणय इत्यनुषङ्गः, तर्हि प्रतिदिनं परिपोषणीयः सः वर्द्धनीयः; प्रथमं तावत् प्रणयो न कर्तव्यः एव, कृतश्चेत् नासौ त्याज्य इति भावः, तथा हि, उत्क्षिप्य ऊर्द्ध्वमुत्तोल्य, क्षिपति, अधः

इसके अतिरिक्त मैंने तुम्हारे ही कहने से उसे अभयदान दिया है। तो फिर मैं ही उसे कैसे मारूँगा ? यह संजीवक सभी प्रकार से मेरा मित्र है। उसके प्रति मुझसे जरा भी क्रोध नहीं है। कहा है—

(यह ब्रह्मा ने देवताओं से कहा था) यह तारकासुर मेरे ही द्वारा दिए गए वर के फलस्वरूप त्रैलोक्य की राज्य लक्ष्मी को धारण करने वाला बना हुआ है। अतः मेरे ही द्वारा उसका विनाश होना उचित नहीं है। क्योंकि विष वृक्ष को भी पाल पोसकर बड़ा करके उसे अपने ही हाथों से काटना अनुचित है ॥ २६८ ॥

पहिले तो प्रेमियों को किसी से प्रेम ही नहीं करना चाहिए। किन्तु प्रेम दे देने के बाद निरन्तर उसे पुष्ट करते रहना चाहिए। क्योंकि किसी को उठाकर

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः ?।
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते ॥ २७० ॥

तद्द्रोहबुद्धेरपि मयास्य न विरुद्धमाचरणीयम् ।' दमनक आह—'स्वामिन्, नैष राजधर्मो यद्द्रोहबुद्धिरपि क्षम्यते । उक्तं च—

तुल्यार्थं तुल्यसामर्थ्यं मर्मज्ञं व्यवसायिनम् ।
अर्धराज्यहरं भृत्यं यो न हन्यात्स हन्यते ॥ २७१ ॥

इति शेषः, इति यत्, तत् लज्जां प्रकरोति जनयति, परन्तु भूमौ स्थितस्य जनस्य, पतनात् भयं नास्ति एव, कस्यापि वर्द्धनं कृत्वा अधःपातनात् वर्द्धनाकरणमेव वरमिति भावः ॥ २६९ ॥

उपकारिष्विति । यः उपकारिषु हितकारिजनेष्वित्यर्थः, साधुः सद्व्यवहारपरः, तस्य साधुत्वे तादृशव्यवहारे, कः गुणः ? न कोऽपीत्यर्थः, यः अपकारिषु अहितकारिजनेष्वित्यर्थः, साधुः, स एव सद्भिः साधुः उच्यते ॥ २७० ॥

(१) विरुद्धं—विपरीतम्, आचरणीयं कर्तव्यम् ।

तुल्यार्थमिति । यः तुल्यार्थं तुल्यप्रयोजनं, राज्याकाङ्क्षिणमिति यावत्, तुल्यसामर्थ्यं समानबलं, मर्मज्ञम्, आशयज्ञं, छिद्राभिज्ञमिति भावः, व्यवसायिनम्-उद्योगिनम्, अत एव अर्द्धराज्यहरं तादृग्गुणयोगात् राज्योर्द्धहारित्वेन सम्भाव्यमिति भावः, भृत्यं, न हन्यात्, स हन्यते स्वयमेव बध्यते, तेनैव भृत्येनेति शेषः ॥ २७१ ॥

(किसी के साथ प्रेम करके) मुँह फिराना (प्रेम छोड़ देना) अत्यन्त लज्जा की बात होती है। किन्तु जो भूमि पर ही स्थित रहता है, उसके गिरने की कोई आशंका ही नहीं होती अर्थात् जिससे प्रेम ही नहीं होगा उसे छोड़ने की शंका नहीं होगी ॥ २६९ ॥

जो व्यक्ति उपकार करने वालों के प्रति सद्व्यवहार करता है उसके सद्व्यवहार में कौन सा गुण हुआ ? सज्जनों ने तो उसे ही अच्छा व्यवहार करने वाला बताया है जो अपकार करने वाले के प्रति भी सज्जनता का व्यवहार करता है ॥ १७० ॥

अतः यदि वह मेरे प्रति शत्रुता का भाव रखता भी हो तब भी मैं उसके विरुद्ध कोई कार्य नहीं करूँगा।" दमनक ने कहा—स्वामी ! यह राजधर्म नहीं है कि शत्रुता का भाव रखने वाले को भी क्षमा कर दिया जाय। कहा भी गया है—

जो राजा अपने तुल्य प्रयोजन वाले, (राज्य की अभिलाषा रखने वाले);

अपरं, त्वयास्य सखित्वात्सर्वोऽपि राजधर्मः परित्यक्तः, राजधर्माभावात् सर्वोऽपि परिजनो विरक्ति गतः। यतः सञ्जीवकः शष्पभोजी, भवान्मांसादः, तव प्रकृतयश्च। यत्तवावध्यव्यवसायबाह्यं कुतस्तासां मांसाशनम्? यद्रहितास्तास्त्वां त्यक्त्वा यास्यन्ति। ततोऽपि त्वं विनष्ट एव। अस्य संगत्या पुनस्ते न कदाचिदाखेटके मतिर्भविष्यति।

उक्तं च—यादृशैः सेव्यते भृत्यैर्यादृशांश्चोपसेवते।
कदाचिन्नात्र सन्देहस्तादृग्भवति पूरुषः॥ २७२॥

(१) सखित्वात्—मित्रत्वात्, परिजनः—मृगवर्गः, अनुयायिनः। भवान् मांसादः,—मांसभोजी, तव प्रकृतयश्च मांसादः—मांसभोजिनः, एकवचनान्तपक्षे अन् प्रत्ययः, बहुवचनान्तपक्षे क्विप्प्रत्ययो बोध्यः। मांसाशिशष्पाशिनोः प्रकृतिविरोधिनोः सखित्वं न युज्यते इति भावः। यदिति। यत्—मांसाशनं तव अवध्यव्यवसायात्—अहिंसाऽऽचरणात्, बाह्यं—बहिर्भूतं, तत् तासां—मांसादानां प्रकृतीनां, कुतः? वधव्यवसायराहित्येन मांसस्य दुष्प्रापत्वादिति भावः।

(२) यद्रहिताः,—येन— मांसेन, रहिताः,—वञ्चिता इत्यर्थः, ताः,—प्रकृतयः, अमात्यादयः अनुचरवर्गाः इत्यर्थः; वृत्त्यभावात् परिजनाः त्वां त्यक्ष्यन्ति इति भावः।

(३) ततः—प्रकृतिभिः परित्यक्तत्वादित्यर्थः। अस्य—सञ्जीवकस्य, सङ्गत्या—संसर्गेण, ते—तव, आखेटके—मृगयायां, मतिर्न भविष्यतीति सम्बन्धः।

यादृशैरिति। यादृशैः भृत्यैः सेव्यते, प्रभुरिति शेषः, यादृशांश्च, जनानिति

समान बल वाले, अपनी दुर्बलताओं को जानने वाले, उद्यमी तथा आधा राज्य हड़प लेने वाले सेवक को नहीं मारता है, वह स्वयं उसके हाथों मारा जाता है॥ २७१॥

इसके अतिरिक्त आपने इसकी मित्रता में फँसकर सभी राजधर्मों (दण्डादि) का परित्याग कर दिया है। अतः राजधर्म के अभाव से आपके सभी परिजन (सेवक) अपने अधिकारियों के पालन करने में उदासीन हो गए हैं। वह संजीवक घास खाने वाला है और आप तथा आपके अमात्यादि सेवक मांसभोजी हैं। आपके अहिंसक आचार से बाहर रहने वाले (अर्थात् हिंसा द्वारा जीवित रहने वाले) उन सेवकों को मांस का भोजन कैसे मिलेगा? और उसके न मिलने से वे आप को छोड़कर चले जायेंगे। इससे भी आप का विनाश ही होगा। इसकी संगति में रहने से फिर कभी भी आप की प्रवृत्ति शिकार की ओर नहीं होगी। कहा भी गया है—

जिस प्रकार के गुणों वाले सेवक राजा की सेवा करते हैं और राजा जिस

तथा च—संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते।
स्वातौ सागरशुक्तिकुक्षिपतितं तज्जायते मौक्तिकं
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संवासतो जायते ॥ २७३ ॥

तथा च—असतां सङ्गदोषेण साधवो यान्ति विक्रियाम्।
दुर्योधनप्रसङ्गेन भीष्मो गोहरणे गतः ॥ २७४ ॥

अत एव सन्तो नीचसङ्गं वर्जयन्ति। उक्तं च—

शेषः, उपसेवते आश्रयति, पुरुषः प्रभुरिति भावः, तादृक् तादृशगुणसम्पन्नः भवति अत्र विषये, कदाचित् सन्देहः न, अस्तीति शेषः; "संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति" इति भावः ॥ २७२ ॥

सन्तप्तायसीति। सन्तप्ते, अयसि लौहे, संस्थितस्य, पयसः जलस्य, नामापि न ज्ञायते, सद्य एव शुष्यमाणत्वादिति भावः। तदेव पयः, नलिनीपत्रस्थितं पद्मिनीपलाशसंस्थितं सत्, मुक्ताकारतया अत्यच्छतया मौक्तिकवत् इत्यर्थः, राजते शोभते; स्वातौ स्वातिनक्षत्रे स्थितमित्यर्थः, तत् पयः, सागरस्य शुक्तेः मुक्तास्फोटस्य, कुक्षिपतितम् अभ्यन्तरनिपतितं सत्, मौक्तिकं जायते; तस्मात् संवासतः एकत्र वासात्, संसर्गादित्यर्थः, प्रायेण अधमः मध्यमः उत्तमश्च गुणः जायते। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २७३ ॥

असतामिति। असतां दुर्जनानां, सङ्गदोषेण साधवः विक्रियां विकारं, यान्ति, तथा हि, भीष्मः दुर्योधनप्रसङ्गेन दुर्योधनसंसर्गेण, विराटनगरे गोहरणे, उत्तरगोग्रहे इति भावः, गतः प्रस्थितः, प्रवृत्तो वा इत्यर्थः ॥ २७४ ॥

प्रकार के गुणों वाले सेवकों को अपने आश्रय में रखता है, वह भी उसी प्रकार के गुणों वाला बन जाता है—इसमें कोई सन्देह नही है ॥ २७२ ॥

और भी—अत्यधिक तपे हुए लोहे पर पड़ा पानी नाम मात्र के लिए भी नहीं जान पड़ता है किन्तु वही कमल के पत्ते पर मोती के समान सुशोभित होता है और वही स्वाती नक्षत्र में समुद्र की सीपी के गर्भ में पड़कर मोती बन जाता है। अतः किसी वस्तु में उत्तम, मध्यम और अधम गुण सहवास से ही उत्पन्न होते हैं ॥ २७३ ॥

और भी—दुष्टों के सहवास में रहने से सज्जन की प्रकृति भी विकृत हो जाती है। अर्थात् उसमें भी दुष्टता आ जाती है। तभी तो दुर्योधन के साथ में रहने के कारण भीष्म जैसे महापुरुष भी (राजा विराट की) गाय चुराने गए थे ॥ २७४ ॥

इसी लिए सज्जन नीचों का साथ नहीं करते हैं। कहा भी गया है—

न ह्यविज्ञातशीलस्य प्रदातव्यः प्रतिश्रयः।
मत्कुणस्य च दोषेण हता मन्दविसर्पिणी ॥ २७५ ॥

पिङ्गलक आह—'कथमेतत्।' सोऽब्रवीत्—

९ : मन्दविसर्पिणी-मत्कुण-कथा

अस्ति कस्यचिन्महीपतेः कस्मिंश्चित्स्थाने मनोरमं शयनस्थानम्। तत्र शुक्लतरपटयुगलमध्यसंस्थिता मन्दविसर्पिणी नाम श्वेता यूका प्रतिवसति स्म। सा च तस्य महीपते रक्तमास्वादयन्ती सुखेन कालं नयमाना तिष्ठति। अन्येद्युश्च तत्र शयने क्वचिद् भ्राम्यन्नग्निमुखो नाम मत्कुणः समायातः। अथ च दृष्ट्वा सा विषण्णवदना प्रोवाच—'भो अग्निमुख! कुतस्त्वमत्रानुचितस्थाने समायातः? तद्यावन्न कश्चिद्वेत्ति, तावच्छीघ्रं गम्यताम्' इति। स आह—'भगवति, गृहागतस्यासाधोरपि

न इति। अविज्ञातशीलस्य अज्ञातचरित्रस्य, जनस्य इति शेषः, प्रतिश्रयः आश्रयः न हि प्रदातव्यः; तथा हि, मत्कुणस्य रक्तपायिनः शय्याकीटविशेषस्य, दोषेण मन्दविसर्पिणी तदभिधाना काचित् यूका, हता विनाशिता। २७५।

[९]

(१) तत्र—शयनस्थाने। शुक्लेति। शुक्लतरम्—अतिशुभ्रं, यत् पटयुगलम्—आवरणवस्त्रद्वयं, तन्मध्यसंस्थिता।

(२) यूका—क्रिमिविशेषः, केशकीटः (जूँ) इति यावत्। विषण्णवदना—खिन्नानना, अनुचितस्थाने—स्वनिवासायोग्ये स्थाने, समायातः—प्राप्तः। असाधोः—

अज्ञात स्वभाव वाले व्यक्ति को अपने समीप में आश्रय नहीं देना चाहिए। क्योंकि एक खटमल (को आश्रय देने) के दोष से मन्दविसर्पिणी नाम की जूँ मारी गयी थी। २७५।

पिंगलक ने कहा—यह कैसे? उसने कहा—

जूँ और खटमल की कथा

किसी राजा के किसी स्थान पर एक मनोरम शैय्या थी। उसमें अत्यन्त उजले दो कपड़ों के जोड़े के बीच में मन्दविसर्पिणी नाम की एक सफेद जूँ रहती थी। वह उस राजा के रक्त का स्वाद लेती हुई तथा आनन्द के साथ समय बिताती हुई रह रही थी। एक दिन उस शय्या में अग्निमुख नाम का एक खटमल घूमता हुआ आ पहुँचा। उसे देखकर दुःखी होकर जूँ ने कहा—अरे अग्नि मुख! इस अनुचित स्थान में तू कहाँ से आ गया? अतः किसी के जानने के पहिले ही तू यहाँ

नैतद् युज्यते वक्तुम् । उक्तं च—

एह्यागच्छ समाश्वासनमिदं कस्माच्चिराद् दृश्यसे ?
का वार्ता ? न्वतिदुर्बलोऽसि कुशल ? प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात् ।
एवं नीचजनेऽपि युज्यति गृहे प्राप्ते सतां सर्वदा
धर्मोऽयं गृहमेधिनां निगदितः स्मार्तैर्लघुः स्वर्गदः ॥ २७६ ॥

अपरं, मयानेकमानुषाणामनेकविधानि रुधिराण्यास्वादितान्याहारदोषात् कटुतिक्तकषायाम्लरसास्वादानि, न च मया कदाचिन्मधुररक्तं समास्वादितम् । तद्यदि त्वं प्रसादं करोषि, तदस्य नृपतेर्विविधव्यञ्जनान्नपानचोष्यलेह्यस्वाद्याहारवशादस्य शरीरे यन्मिष्टं रक्तं संजातम्, तदास्वादनेन

दुष्टस्य, युज्यते—शोभते ।

एहीति । एहि, आगच्छ, समाश्वस समाश्वस्तो भव, समाश्वसेति चिन्त्यं, "समाश्वसिहि" इति भाव्यम् । आसनमिदम्, अत्र उपविशेति भावः; कस्मात् चिरात् दृश्यसे ? नु भोः ! का वार्त्ता ? कः संवादः ? अतिदुर्बलोऽसि, कुशलम् ? तवेति शेषः; ते तव, दर्शनात् प्रीतोऽस्मि । नीचजनेऽपि गृहं प्राप्ते सति, सतां साधूनां, सर्वदा एवम् उक्तप्रकारम्, आलपनमिति शेषः, युज्यति, परस्मैपदमत्र छन्दोऽनुरोधात् । स्मार्तैः स्मृतिशास्त्रविशारदैः पण्डितैः इत्यर्थः गृहमेधिनां गृहिणाम्, अयं धर्मः, लघुस्वर्गदः आशुस्वर्गसाधनं, निगदितः कथितः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २७६ ॥

से शीघ्र ही चला जा । उसने कहा—देवि ! घर आने वाले दुष्ट से भी ऐसा कहना उचित नहीं है । कहा भी है—

आइए, आइए ! विश्राम कीजिए ! यह आसन लगा है । आप बहुत दिनों के बाद क्यों दिखाई पड़े ? क्या समाचार है ? क्यों अत्यन्त दुर्बल दिखाई पड़ रहे हैं । कुशल पूर्वक हैं न ? आप के दर्शन से मुझे बड़ी खुशी हुई—इस प्रकार की बात सज्जन लोग अपने घर आने वाले दुष्ट के प्रति भी सर्वदा किया करते हैं, क्योंकि धर्मशास्त्र के निर्माताओं ने इसे ही गृहस्थों का धर्म बताया है जो शीघ्र ही स्वर्ग देने वाला है ॥ २७६ ॥

इसके अतिरिक्त मैंने अनेक मनुष्यों के आहार दोष के कारण (कटु) कड़ुवे, (तीते), कषाय (कसैले) और अम्ल (खट्टे) स्वाद वाले रुधिरों का आस्वादन तो किया है किन्तु मधुर (मीठे) रक्त का आस्वादन कभी नहीं किया है । इस लिए यदि तुम कृपा करो तो विविध प्रकार के व्यञ्जन तथा अन्न पान, चोष्य (चूसकर खाने योग्य), लेह्य (चाटने योग्य) आदि स्वादिष्ट आहार के कारण इस

सौख्यं सम्पादयामि जिह्वाया इति । उक्तं च—

रङ्कस्य नृपतेर्वापि जिह्वासौख्यं समं स्मृतम् ।
तन्मात्रं च स्मृतं सारं यदर्थं यतते जनः ॥ २७७ ॥
यद्येवं न भवेल्लोके कर्म जिह्वाप्रतुष्टिदम् ।
तन्नभृत्यो भवेत्कश्चित्कस्यचिद्वशगोऽथवा ॥ २७८ ॥
यदसत्यं वदेन्मर्त्यो यद्वासेव्यं च सेवते ।
यद्गच्छति विदेशं च तत्सर्वमुदरार्थतः ॥ २७९ ॥

रङ्कस्येति । रङ्कस्य कृपणस्य, मन्दस्य वा, नृपतेर्वापि राज्ञश्चापि, जिह्वासौख्यं रसनातृप्तिरित्यर्थः, समं तुल्यं, स्मृतम्, तदर्थं रसनासौख्यार्थं, जनः यतते चेष्टते, यतः, तन्मात्रं रसनासौख्यमेव, सारम् उत्कृष्टं, स्मृतम्; जनानां रुचिभिन्नत्वेऽपि सर्वेषामेव रसनातुष्टेः समतया तत उत्कृष्टं किमपि नास्तीति फलितार्थः ॥ २७७ ॥

यदीति । यदि लोके जगति, जिह्वाप्रतुष्टिदं रसनासन्तोषप्रदं, कर्म नैव भवेत्; तत् तदा, कश्चित् कोऽपि जनः, कस्यचित् कस्यापि, भृत्यः किङ्करः, अथवा वशगः वश्यः, न भवेत्, सर्व एव जिह्वातुष्टये लोकस्य वशगो भवतीति भावः ॥ २७८ ॥

यदिति । मर्त्यः मानवः, यत् असत्यं वदेत्, यद्वा असेव्यं नीचजनमिति भावः; सेवते, यच्च विदेशं गच्छति, तत् सर्वम् उदरार्थतः उदरपोषणार्थमेव, अन्यथा कथं मिथ्याभाषणं; हीनसेवनं, स्वजनं हित्वा दूरदेशगमनञ्च स्वीकुर्य्यात् ? इत्यर्थः ॥ २७९ ॥

राजा के शरीर में जो मीठा रक्त पैदा हो गया है उसका आस्वादन करके मैं भी अपनी जीभ को तृप्त कर लूँ । कहा भी है—

राजा या गरीब दोनों के जीभ का सुख समान ही कहा जाता है । अर्थात् दोनों का जीभ का सुख एक जैसा ही होता है । इस संसार में मनुष्य उसी सुख को पाने के लिए प्रयत्न करता है क्योंकि वही इस संसार का तत्व है ॥ २७७ ॥

यदि इस संसार में इस प्रकार जीभ को तृप्त करने वाला कोई कर्म आवश्यक न हो तो न तो कोई किसी का सेवक बनेगा न तो कोई किसी के अधीन रहेगा ॥ २७८ ॥

मनुष्य जो असत्य बोलता है, सेवा न करने योग्य व्यक्ति की सेवा करता है, अथवा घर छोड़कर परदेश चला जाता है—वह ये सब कर्म केवल पेट भरने के लिए ही करता है ॥ २७९ ॥

तन्मया गृहागतेन बुभुक्षया पीड्यमानेन त्वत्सकाशाद् भोजनमर्थनीयम्, तन्न त्वयैकाकिन्यास्य भूपतेः रक्तपानं कर्तुं युज्यते।' तच्छ्रुत्वा मन्दविसर्पिण्याह—'भो मत्कुण, अहमस्य नृपतेर्निद्रावशं गतस्य रक्तमास्वादयामि। पुनस्त्वमग्निमुखश्चपलश्च। तद्यदि मया सह रक्तपानं करोषि, तत्तिष्ठ। अभीष्टतरं रक्तमास्वादय।' सोऽब्रवीत्—'भगवति, एवं करिष्यामि। यावत्त्वं नास्वादयसि प्रथमं नृपरक्तम्, तावन्मम देवगुरुकृतः शपथः स्यात्, यदि तदास्वादयामि।' एवं तयोः परस्परं वदतोः स राजा तच्छयनमासाद्य प्रसुप्तः।

अथासौ मत्कुणो जिह्वालौल्यप्रकृष्टौत्सुक्याज्जाग्रतमपि तं महीपतिमदशत्। अथवा साध्विदमुच्यते—

स्वभावो नोपदेशेन शक्यते कर्तुमन्यथा।
सुतप्तमपि पानीयं पुनर्गच्छति शीतताम्॥ २८०॥

---

(१) गृहागतेन—अतिथिना, द्वितीयासमासः, बुभुक्षया—क्षुधया। अर्थनीयं—प्रार्थनीयम्। अभीष्टतरम्—यथाभिलषितम्।

(२) देवगुरुकृतः,—देवान् गुरुंश्च उद्दिश्य: यः क्रियते स इत्यर्थः।

(३) जिह्वेति। जिह्वायाः—रसनायाः, लौल्यात्—चापल्यात्, अतिलोभादित्यर्थः, यत् प्रकृष्टं—महत्, औत्सुक्यम्—आग्रहः तस्मात्।

स्वभाव इति। उपदेशेन स्वभावः प्रकृतिः, अन्यथा कर्तुं परावर्त्तयितुं; न

भूख से पीड़ित होकर मैं तुम्हारे घर आया हूँ और तुमसे भोजन पाने की अभिलाषा रखता हूँ। इस लिए तुम्हें अकेले ही इस राजा के रक्त का पान करना उचित नहीं है।" यह सुनकर मन्दविसर्पिणी ने कहा—"रे खटमल! मैं इस राजा के सो जाने पर इसके रक्त का स्वाद लेती हूँ। फिर तू तो अग्निमुख और चंचल है। इसलिए यदि मेरे साथ रक्त पान करना चाहता है तो ठहर जा। (मेरे रक्त पान कर लेने के बाद) इच्छानुसार पान कर लेना।" उसने कहा—'देवि! ऐसा ही करूंगा। जब तक पहिले आप राजा का रक्त-पान नहीं कर लेंगी, तब तक मैं देवता और गुरु की शपथ लेकर कहता हूँ कि रक्तपान नहीं करूंगा। वे दोनों जिस समय ऐसी मन्त्रणा कर ही रहे थे कि उसी बीच राजा शैय्या पर आकर सो गया।

इसके पश्चात् उस खटमल ने जीभ की चंचलता और अत्यन्त उत्कण्ठा के वशीभूत होकर उस जागते हुए ही राजा को काट लिया। अतः यह सत्य ही कहा गया है—

किसी व्यक्ति के स्वभाव में उपदेश द्वारा परिवर्तन नहीं किया जा सकता है।

यदि स्याच्छीतलो वह्निः शीतांशुर्दहनात्मकः ।
न स्वभावेऽत्र मर्त्यानां शक्यते कर्तुमन्यथा ॥ २८१ ॥

अथासौ महीपतिः सूच्यग्रविद्ध इव तच्छयनं त्यक्त्वा तत्क्षणादेवोत्थितः—'अहो, ज्ञायतामत्र प्रच्छादनपटे मत्कुणो यूका वा नूनं तिष्ठति, येनाहं दष्टः' इति । अथ ये कञ्चुकिनस्तत्र स्थितास्ते सत्वरं प्रच्छादनपटं गृहीत्वा सूक्ष्मदृष्टया वीक्षांचक्रुः । अत्रान्तरे स मत्कुणश्चापल्यात् खट्वान्तः प्रविष्टः । सा मन्दविसर्पिण्यपि वस्त्रसन्ध्यन्तर्गता तैर्दृष्टा, व्यापादिता च । अतोऽहं ब्रवीमि—'न ह्यविज्ञातशीलस्य' इति । एवं ज्ञात्वा त्वयैष बध्यः । नो चेत्त्वां व्यापादयिष्यति । उक्तं च—

शक्यते । तदेव दृष्टान्तेन द्रढयति, सुतप्तमिति । तथा हि पानीयं जलं, सुतप्तमपि अत्युष्णमपि, पुनः शीततां शैत्यं, गच्छति प्राप्नोति, शीतप्रकृतिकत्वादिति भावः ॥ २८० ॥

यदीति । यदि चेत्, वह्निः अग्निः, शीतलः शैत्यगुणाक्रान्तः, यथा शीतांशुश्चन्द्रः, दहनात्मकः ऊष्णगुणसम्पन्नः, स्यात्, तथाऽपि अत्र संसारे, मर्त्यानां स्वभावः अन्यथा कर्त्तुं न शक्यते । यथा "अङ्गारः शतधौतेन मलिनत्वं न मुञ्चति" तथेति भावः ॥ २८१ ॥

(१) प्रच्छादनपटे—आस्तरणवस्त्रे । वीक्षांचक्रुः—निरीक्षितवन्तः ।

जैसे कि भलीभाँति गरम किया जाने पर भी पानी फिर ठंडा हो ही जाता है ॥ २८० ॥

अग्नि (अपनी ऊष्ण प्रकृति को छोड़कर) भले ही ठंडी हो जाय और चन्द्रमा (अपनी शीतल प्रकृति को छोड़कर) भले ही आग की तरह जलाने वाला बन जाय किन्तु इस संसार में मनुष्यों की प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता है ॥ २८१ ॥

इसके बाद सुई की नोक से विधा हुआ सा वह राजा तत्काल ही शय्या छोड़कर उठ खड़ा हुआ और बोला—"अरे देखो तो इस चादर में कोई खटमल या जूं अवश्य ही है, जिसने मुझे काट लिया है ।" उस समय वहाँ जो कंचुकी उपस्थित थे, उन्होंने तत्काल ही उस चादर को लेकर सूक्ष्म दृष्टि से देखना प्रारम्भ किया । इसी बीच चंचलता के कारण खटमल तो चारपाई में घुस गया किन्तु वह मदविसर्पिणी (धीरे-धीरे चलने वाली) कपड़े की जोड़ के भीतर दिखाई पड़ी और मार डाली गई । इसीलिए मैं कहता हूँ—"अज्ञात चरित्र वाले को" इत्यादि । ऐसा जानकर आप को उसे मार डालना ही उचित है । नहीं तो आप ही को वह मार डालेगा । कहा भी गया है—

'त्यक्ताश्चाभ्यन्तरा येन बाह्याश्चाभ्यन्तरीकृताः।
स एव मृत्युमाप्नोति यथा राजा ककुद्द्रुमः' ॥ २८२ ॥

पिङ्गलक आह—'कथमेतत्' ? सोऽब्रवीत्—

१० : चण्डरवशृगाल-कथा

कस्मिंश्चिद्वनप्रदेशे चण्डरवो नाम शृगालः प्रतिवसति स्म। स कदाचित्क्षुधाविष्टो जिह्वालौल्यान्नगरान्तरे प्रविष्टः। अथ तं नगरवासिनः सारमेया अवलोक्य सर्वतः शब्दायमाना परिधाव्य तीक्ष्णदंष्ट्राग्रैर्भक्षितुमारब्धाः। सोऽपि तैर्भक्ष्यमाणः प्राणभयात्प्रत्यासन्नरजकगृहं प्रविष्टः। तत्र च नीलीरसपरिपूर्णं महाभाण्डं सज्जीकृतमासीत्। तत्र सारमेयैराक्रान्तो भाण्डमध्ये पतितः। अथ यावन्निष्क्रान्तस्तावन्नीलीवर्णः सञ्जातः। तत्रापरे सारमेयास्तं शृगालमजानन्तो यथाऽभीष्टदिशं जग्मुः।

त्यक्ता इति। येन जनेन, अभ्यन्तरा आत्मीयाः, स्वजना इत्यर्थः, त्यक्ताः, तथा बाह्याः इतरे, अस्वजना इत्यर्थः, आभ्यन्तरीकृताः आत्मीयत्वेन परिगृहीता इत्यर्थः, स एव राजा ककुद्द्रुमः यथा ककुद्द्रुमनामशृगालवत्, मृत्युमाप्नोति ॥ २८२ ॥

[१०]

(१) क्षुधाविष्टः—बुभुक्षितः। जिह्वालौल्यात्—जिह्वाचापल्यात्। नगरान्तरे—नगरमध्ये। सारमेयाः—कुक्कुराः। शब्दायमानाः शब्दं कुर्वाणाः, क्यङन्तात् शब्दायधातोः शानचि रूपम्। परिधाव्य—धावित्वा। भक्षितुं—दष्टुम्।

(२) प्रत्यासन्नेति। प्रत्यासन्नं-समीपवर्त्ति, यत् रजकगृहं-वस्त्ररञ्जकभवनम्।

जिस (राजा) ने अपने अन्तरंग व्यक्तियों को छोड़ दिया है और बाहरी व्यक्तियों को (उच्चपद देकर) अपना अन्तरंग बना लिया है वह अवश्य मृत्यु को प्राप्त करता है जैसे राजा ककुद्द्रुम ने प्राप्त किया था ॥ २८२ ॥

पिंगलक ने कहा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

चण्डरव नामक सियार की कथा

किसी वन में चण्डरव नाम का गीदड़ रहता था। एक बार वह भूख से व्याकुल होकर जीभ की लोलुपता के कारण नगर के भीतर चला गया। तब नगर के रहने वाले कुत्ते उसे देखकर भूंकते हुए चारों ओर से दौड़ पड़े और अपने तेज दाढ़ों से उसे चबाने लगे। वह भी उनके द्वारा काटे जाने पर प्राणों के भय से समीप के एक धोबी के घर में घुस गया। वहाँ नील रंग से भरी हुई एक नांद रखी हुई थी। वह कुत्तों के आक्रमण से हड़बड़ी में उसी नांद में गिर पड़ा। जब वह बाहर निकला तो उसका रंग नीला हो गया। जिससे वे कुत्ते उसे गीदड़ न जानकर

चण्डरवोऽपि दूरतरं प्रदेशमासाद्य काननाभिमुखं प्रतस्थे। न च नीलवर्णेन कदाचिन्निजरङ्गस्त्यज्यते। उक्तं च—

वज्रलेपस्य मूर्खस्य नारीणां कर्कटस्य च।
एको ग्रहस्तु मीनानां नीलीमद्यपयोर्यथा॥ २८३॥

अथ तं हरगलगरलतमालसमप्रभमपूर्वं सत्त्वमवलोक्य सर्वे सिंहव्याघ्रद्वीपिवृकप्रभृतयोऽरण्यनिवासिनो भयव्याकुलचित्ताः समन्तात्पलायनक्रियां कुर्वन्ति। कथयन्ति च— न ज्ञायतेऽस्य कीदग्विचेष्टितं पौरुषं च। तद्दूरतरं

(१) काननाभिमुखम्—वनाभिमुखम्, प्रतस्थे—प्रचलितः। निजरङ्गः,—आत्मरागः, स्ववर्णः इत्यर्थः, "रङ्गो ना रागे नृत्ये—" इति मेदिनी। बहुशो धावनेनापि नीलीरञ्जितं द्रव्यं न कदाऽपि स्ववर्णं प्राप्नोतीति भावः।

वज्रेति। वज्रलेपस्य आमतिन्दुकफलादिना विरचितस्य प्रलेपविशेषस्य, मूर्खस्य मूढस्य, नारीणां स्त्रीणां, कर्कटस्य कुलीरकस्य, मीनानां मत्स्यानाञ्च, ग्रहः ग्रहणम्, आक्रान्तिरित्यर्थः, आग्रहश्च, सङ्कल्प इत्यर्थः, यथा एकस्तु एक एव, तुकारोऽत्रावधारणार्थः; कदाचिदपि नान्यथा भवेदित्यर्थः; तथा नीलीमद्यपयोः अपीति शेषः; नीलवर्णस्य मद्यपस्य च ग्रहोऽपि तथैवेत्यर्थः, यथा वज्रलेपलिप्तस्य वस्तुनः, कर्कटमीनयोः दशनाग्रेण ग्रहणस्य च ततो विमुक्तिरतिदुष्करी, तथा नीलवर्णस्य सङ्गेऽपि ततो विमुक्तिरतिदुष्करी, यथा मूर्खनार्योः सङ्कल्पो न प्रबोधोपशमनीयः, तथा मद्यपस्य सङ्कल्पोऽपीति भावः॥ २८३॥

(२) हरेति। हरस्य—शम्भोः, गले—कण्ठे, यत् गरलं—कालकूटमित्यर्थः, तथा तमालः,—तदाख्यवृक्षश्च, तयोः समा प्रभा यस्य तथाभूतम्। सत्त्वं-जीवम् द्वीपी—चित्रव्याघ्रः।

(३) भयव्याकुलितचित्ताः-भयत्रस्ताः, विचेष्टितम्-कृत्यं स्वभावञ्च, पौरुषम्-

अपने अपने स्थान की ओर चले गए। चण्डरव भी बहुत दूर जाकर जंगल की ओर चला गया। किन्तु नीला रंग कभी अपना रङ्ग नहीं छोड़ता है। कहा भी गया है—

वज्र के लेप का मिटना, मूर्खों, स्त्रियों तथा शराबियों के संकल्प का बदलना, केकड़ों और मछलियों की जीभ में पड़कर छूटना, तथा नील रंग का छूट जाना असंभव होता है, अर्थात् उनकी एक ही दशा होती हैं॥ २८३॥

इसके पश्चात् शंकर जी के गले के विष तथा तमाल वृक्ष के समान गाढ़े नीले रंग वाले अपूर्व प्राणी को देखकर सिंह, व्याघ्र, भेड़िए, चीते आदि सभी जंगली जानवर भय से व्याकुल होकर चारो ओर भागने लगे और कहने लगे

गच्छामः । उक्तं च—

न यस्य चेष्टितं विद्यान्न कुलं न पराक्रमम् ।
न तस्य विश्वसेत् प्राज्ञो यदीच्छेच्छ्रियमात्मनः' ॥ २८४ ॥

चण्डरवोऽपि तान्भयव्याकुलितान्विज्ञायेदमाह—'भो भोः श्वापदाः ! किं यूयं मां दृष्ट्वैव सन्त्रस्ता व्रजथ ? तन्न भेतव्यम् । अहं ब्रह्मणाद्य स्वयमेव सृष्ट्वाऽभिहितः—'यच्छ्वापदानां मध्ये कश्चिद्राजा नास्ति । तत्त्वं मयाद्य सर्वश्वापदप्रभुत्वेऽभिषिक्तः ककुद्द्रुमाभिधः । ततो गत्वा क्षितितले तान् सर्वान् परिपालय' इति, ततोऽहमत्रागतः । तन्मम छत्रच्छायायां सर्वैरेव श्वापदैर्वर्तितव्यम् । अहं ककुद्द्रुमो नाम राजा त्रैलोक्येऽपि सञ्जातः ।' तच्छ्रुत्वा सिंहव्याघ्रपुरःसराः श्वापदाः—'स्वामिन्, प्रभो, समादिश' इति वदन्तस्तं परिवव्रुः ।

बलम् ।

नेति । प्राज्ञो बुद्धिमान् जनः, यदि आत्मनः श्रियं सम्पदं, कल्याणमित्यर्थः, इच्छेत् अभिलषेत् तदा यस्य जनस्य, चेष्टितम् आचरणं, न, कुलं वंशं, न, तथा पराक्रमं शौर्य्यञ्च, न विद्यात् जानीयात्, तस्य अज्ञातचेष्टितकुलपराक्रमस्य जनस्य, विवक्षया षष्ठी । न विश्वसेत् न तं विश्वास्यत्वेन प्रतीयादित्यर्थः ॥ २८४ ॥

(१) श्वापदाः—सिंहादयो मृगाः । सन्त्रस्ताः—अतिभीताः । अभिहितः—आज्ञप्तः । ककुद्द्रुमाभिधः—ककुद्द्रुमनामा ।

(२) छत्रच्छायाम्—अधीनत्वे इति भावः, छद्+णिच्—त्रः, ह्रस्वश्च ।

कि पता नहीं इसका आचरण कैसा है और इसमें कितना बल है ? इस लिए दूर चले चलो । कहा भी गया है—

जिसके आचरण, वंश और पराक्रम का पता न हो अपना कल्याण चाहने वाले व्यक्ति को कभी भी उस पर विश्वास नहीं करना चाहिए ॥ २८४ ॥

चण्डरव ने भी उन्हें भय से व्याकुल देखकर इस प्रकार कहा—रे रे जानवरो ! मुझे देखकर तुम लोग भय से भाग क्यों रहे हो ? तुम लोग डरो मत । आज ब्रह्मा ने स्वयं ही मेरा निर्माण करके कहा है कि जानवरों के बीच में कोई राजा नहीं है । इस लिए मैं आज तुम्हें जानवरों के राजा पद पर अभिषिक्त करता हूँ और तुम्हारा नाम ककुद्द्रुम रख रहा हूँ। तुम पृथ्वी पर जाकर उन सभी जानवरों का पालन करो ।" इसीलिए मैं यहाँ आया हूँ। अतः अब मेरी छत्र छाया में रहकर तुम सभी जानवरों को अपना जीवन बिताना चाहिए । ककुद्द्रुम नाम वाला मैं अब तीनों लोकों का राजा हो गया हूँ । तब यह सुनकर 'हे स्वामी, हे प्रभो, आज्ञा दीजिए'—इस प्रकार कहते हुए सिंह व्याघ्र आदि के साथ सभी जानवर

अथ तेन सिंहस्यामात्यपदवी प्रदत्ता । व्याघ्रस्य शय्यापालत्वम् । द्वीपिनस्ताम्बूलाधिकारः । वृकस्य द्वारपालकत्वम् । ये चात्मीयाः शृगालास्तैः सहालापमात्रमपि न करोति । शृगालाः सर्वेऽप्यर्धचन्द्रं दत्त्वा निःसारिताः । एवं तस्य राज्यक्रियायां वर्तमानस्य ते सिंहादयो मृगान्व्यापाद्य तत्पुरतः प्रक्षिपन्ति । सोऽपि प्रभुधर्मेण सर्वेषां तान् प्रविभज्य प्रयच्छति । एवं गच्छति काले कदाचित्तेन सभागतेन दूरदेशे शब्दायमानस्य शृगालवृन्दस्य कोलाहलोऽश्रावि । तं शब्दं श्रुत्वा पुलकिततनुरानन्दाश्रुपरिपूर्णनयन उत्थाय तारस्वरेण विरोतुमारब्धवान् ।

अथ ते सिंहादयस्तं तारस्वरमाकर्ण्य शृगालोऽयमिति मत्वा सलज्जमधोमुखाः क्षणमेकं स्थित्वा मिथः प्रोचुः—'भोः ! वाहिताः वयमनेन क्षुद्रशृगालेन तद्वध्यताम् इति ।' सोऽपि तदाकर्ण्य पलायितुमिच्छस्तत्र स्थान एव सिंहादिभिः खण्डशः कृतो मृतश्च । अतोऽहं ब्रवीमि—'त्यक्ताश्चा-

(१) आलापमात्रम्—वार्ताप्रसङ्गमपि । अर्द्धचन्द्रं—गलहस्तमिति भावः । राजक्रियायाम्—राजसञ्चालनव्यवस्थायां, मृगान्—वन्यजीवान्, प्रविभज्य—भागादिकं विधाय, प्रयच्छति । सभागतेन—सभामध्यस्थितेन, कोलाहलः—शब्दः, अश्रावि ।

(२) पुलकिततनुः, रोमाञ्चितगात्रः । आनन्देति—हर्षाश्रुपूर्णनेत्रः तारस्वरेण—उच्चरवेण । विरोतुं—शब्दायितुम् । आरब्धवान् । मत्वा—विनिश्चित्य ।

(३) वाहिताः,—भृत्यभावेन कर्मकारिताः, प्रतारिता इति भावः ।

उसे चारों ओर से घेरकर खड़े हो गए ।

इसके पश्चात् उसने सिंह को मंत्री का पद दे दिया, तथा बाघ को शय्यापालक, चीते को ताम्लबूवाहक और भेंड़ियों को द्वारपाल के पद पर नियुक्त किया । वह अपने सगे सम्बन्धी गीदड़ों से बात चीत तक भी नहीं करता था । यहाँ तक कि समस्त गीदड़ों के गले में हाथ लगवाकर उन्हें बाहर निकलवा दिया । इस प्रकार उसके राज्य करने पर वे सिंह आदि जानवरों को मारकर उसके सामने रख दिया करते थे । वह भी राजधर्म के अनुसार उसे बाँटकर सभी को दे देता था । इस प्रकार कुछ समय बीतने पर किसी समय सभा में बैठे हुए उसे दूर से आने वाला गीदड़ों के झुण्ड का कोलाहल सुनाई पड़ा । उस शब्द को सुनकर उसका शरीर रोमाञ्चित हो उठा, नेत्र आनन्द के आँसुओं से भर गए और उसने उठकर उच्च स्वर से चिल्लाना प्रारम्भ किया ।

तब वे सिंहादि उसके उच्चस्वर को सुनकर, तथा यह तो गीदड़ है—ऐसा समझकर लज्जा के कारण सिर झुकाकर थोड़ी देर ठहरकर फिर परस्पर कहने लगे—'इस नीच गीदड़ ने हम लोगों से सेवक का काम कराया । अतः इसे मार डालो । वह

भ्यन्तरा येन' इति।

तदाकर्ण्य पिङ्गलक आह—'भो दमनक ! कः प्रत्ययोऽत्र विषये, यत्स ममोपरि दुष्टबुद्धिः ?' स आह—'यदद्य ममाग्रे तेन निश्चयः कृतो यत्—प्रभाते पिङ्गलकं वधिष्यामि।' तदत्रैव प्रत्ययः—प्रभातेऽवसरवेलायामारक्तमुखनयनः स्फुरिताधरो दिशोऽवलोकयन्ननुचितस्थानोपविष्टस्त्वां क्रूरदृष्टया विलोकयिष्यति। एवं ज्ञात्वा यदुचितं तत्कर्तव्यम्।' इति कथयित्वा सञ्जीवकसकाशं गतस्तं प्रणम्योपविष्टश्च। सञ्जीवकोऽपि सोद्वेगाकारं मन्दगत्या समायान्तं तमुद्वीक्ष्य सादरतरमुवाच—'भो मित्र ! स्वागतम्। चिराद् दृष्टोऽसि। अपि शिवं भवतः ? तत्कथय, येनादेयमपि तुभ्यं गृहागताय प्रयच्छामि। उक्तं च—

ते धन्यास्ते विवेकज्ञास्ते सभ्या इह भूतले।
आगच्छन्ति गृहे येषां कार्यार्थं सुहृदो जनाः' ॥ २८५ ॥

अवसरवेलायां—भवत्सन्निधानागमनोचितसमये इत्यर्थः, राजकार्यविरतिसमये इत्यर्थो वा। क्रूरदृष्टया—कोपदृष्टया।

ते इति। सुहृदो जनाः मित्राणीत्यर्थः, कार्यार्थं येषां गृहे आगच्छन्ति, इह

यह सुनकर भागना ही चाहता था कि सिंह आदि ने वहीं उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिए और वह मर गया। इसी लिए मैं कहता हूँ—जो अपने अन्तरंग का छोड़ देते हैं—इत्यादि।

यह सुनकर पिंगलक ने कहा—दमनक ! इस विषय में क्या प्रमाण है कि वह मुझसे शत्रुता का भाव रखता है ? उसने कहा—आज उसने मेरे सामने निश्चय किया कि मैं प्रातःकाल पिंगलक को मार डालूँगा। यही प्रमाण है कि प्रातःकाल जब वह आप के पास आएगा तब उस समय उसके मुख और नेत्र लाल होंगे, उसके होंठ फरकते होंगे और वह इधर उधर देखते हुए अनुचित स्थान में बैठकर आप की ओर क्रूर दृष्टि से देखेगा। फिर उसमें यह सब लक्षण देखकर आप जैसा उचित समझिएगा, वैसा कीजिएगा। ऐसा कहकर वह संजीवक के पास जाकर प्रणाम करके बैठ गया। संजीवक ने भी उसकी घबराई हुई मुखाकृति को तथा उसे धीरे धीरे आते हुए देखकर अत्यन्त आदर के साथ कहा—मित्र ! आइए आप का स्वागत है। बहुत दिनों के बाद दिखाई पड़े। कुशल तो है न ! कहिए आप को क्या चाहिए ? यदि वह अदेय (न देने योग्य) भी होगी तो भी मैं घर पर आए हुए आप को अवश्य ही दूँगा। कहा भी गया है—

वे ही इस पृथ्वी पर धन्य हैं, विवेकशील हैं, सभ्य हैं, जिनके घर पर मित्र

दमनक आह—'भोः ! कथं शिवं सेवकजनस्य ?

सम्पत्तयः परायत्ताः सदा चित्तमनिर्वृत्तम् ।
स्वजीवितेऽप्यविश्वासस्तेषां ये राजसेवकाः ॥ २८६ ॥

तथा च—सेवया धनमिच्छद्भिः सेवकैः पश्य यत्कृतम् ।
स्वातन्त्र्यं यच्छरीरस्य मूढैस्तदपि हारितम् ॥ २८७ ॥

तावज्जन्मातिदुःखाय ततो दुर्गतता सदा ।
तत्रापि सेवया वृत्तिरहो दुःखपरम्परा ॥ २८८ ॥

अस्मिन्, भूतले ते जनाः, धन्याः पुण्यवन्तः, ते जनाः, विवेकज्ञाः परमविज्ञाः इत्यर्थः, तथा ते जनाः, सभ्याः साधवः ॥ २८५ ॥

सम्पत्तयः इति । ये जनाः, राजसेवकाः नृपकिङ्कराः, तेषां सम्पत्तयः धनानि, परायत्ताः पराधीनाः, चित्तं मनः, सदा सर्वस्मिन् काले, अनिर्वृतम् अस्वस्थं, तथा स्वजीवितेऽपि निजजीवनेऽपि, अविश्वासः अप्रत्ययः, कदा राजा किं कुर्यादिति चिन्तयेति भावः, सेवकानां जीवनमतीव दुःखावहमिति तात्पर्यम् ॥ २८६ ॥

सेवयेति । सेवया प्रभुशुश्रूषया, दास्येन इत्यर्थः, धनमिच्छद्भिः सम्पदमभिलषद्भिः, सेवकैः दासैः, यत् कृतम् आचरितं, तदिति ऊहनीयं, पश्य अवलोकय किन्तत् ? इत्याह,—मूढैः मूर्खैः, सेवकैरिति पूर्वानुषङ्गः, शरीरस्य यत् स्वातन्त्र्यं स्वाधीनत्वं तदपि हारितं नाशितम्; शरीरध्वंसे भवत्यपि प्रभोराज्ञा पालनीयेति भावः ॥ २८७ ॥

तावदिति । जन्म तावत् देहधारणमेव, प्रथममिति भावः, अतिदुःखाय, भवतीति शेषः, एवमुत्तरत्रापि, ततः तत्र, अतिदुःखावहदेहधारणे इत्यर्थः, सदा आजीवनमित्यर्थः, दुर्गतता दारिद्र्यं तत्रापि दारिद्र्येऽपि, सेवया दास्येन, वृत्ति-

---

किसी कार्य के लिए आते हैं ॥ २८५ ॥

दमनक ने कहा—अरे भाई ! सेवकों की कुशल कैसे ?

जो लोग राज सेवक होते हैं उनकी सुख सम्पत्ति तो पराधीन होती है, उनका चित्त भी सर्वदा अशान्त ही रहता है यहाँ तक कि उन्हें अपने जीवन का भी भरोसा नहीं रहता है ॥ २८६ ॥

और भी—सेवा द्वारा धनप्राप्ति के इच्छुक सेवकों ने क्या किया उसे तो देखो । अरे उन मूर्खों ने तो अपने शरीर की स्वतंत्रता तक को अपने ही हाथों नष्ट कर दिया ॥ २८७ ॥

पहिले तो जन्म लेना ही दुःख के लिए होता है । उस पर जन्म लेकर दरिद्र होना तो और दुःखदायी होता है किन्तु यदि सेवावृत्ति भी ग्रहण करनी पड़ी तक

जीवन्तोऽपि मृताः पञ्च श्रूयते किल भारते ।
दरिद्रो व्याधितो मूर्खः प्रवासी नित्यसेवकः ॥ २८९ ॥
नाश्नाति स्वेच्छयौत्सुक्याद्विनिद्रो न प्रबुध्यते ।
न निःशङ्कं वचो ब्रूते सेवकोऽप्यत्र जीवति ? ॥ २९० ॥
सेवा श्ववृत्तिराख्याता यैस्तैर्मिथ्या प्रजल्पितम् ।
स्वच्छन्दं चरति श्वाऽत्र सेवकः परशासनात् ॥ २९१ ॥

जीवनम्, अहो इति खेदसूचकमव्ययं, दुःखपरम्परा दुःखधारा, एतत् सर्वं क्लेश-सन्ततिः इति यावत् ॥ २८८ ॥

जीवन्त इति । भारते महाभारतग्रन्थे इत्यर्थः, दरिद्रः दीनः, व्याधितः रुग्णः, मूर्खः मूढः; प्रवासी विदेशस्थः, तथा नित्यसेवकः चिरदासः, एते पञ्च पञ्चविधाः, लोका इति शेषः; जीवन्तः प्राणन्तोऽपि, मृताः किल मृता एव, किलशब्दोऽत्र अवधारणार्थः, इति श्रूयते एवं कीर्त्तितमस्ति इति आकर्ण्यते इत्यर्थः ॥ २८९ ॥

नेति । यः सेवकः औत्सुक्यात् उत्कण्ठावशात्, साम्प्रतमेव प्रभुसमीपे गन्तव्यमिति उद्वेगादिति भावः; स्वेच्छया रुचिपूर्वकमित्यर्थः, न अश्नाति न भक्षयति; विनिद्रः विगतनिद्रः सन्; न प्रबुध्यते न जागर्त्ति, सुनिद्रानन्तरं, न जागर्त्ति, किन्तु कदा प्रभुः किमादिक्ष्यति इत्युद्वेगात् निद्राऽऽवेशे सत्यपि कृत्स्नां रात्रिमेव जागर्त्तीत्यर्थः, तथाः निःशङ्कं निर्भयं यथा तथा, वचः न ब्रूते न वक्तुं शक्नोतीति भावः, अत्र संसारे, एवम्भूतोऽपि सेवकः जीवति ? ईदृशस्य स्वातन्त्र्यरहितस्य जीवनात् मरणमेव वरमिति भावः ॥ २९० ॥

सेवेति । यैः शास्त्रकारैरिति भावः, सेवा, श्ववृत्तिः कुक्कुरजीविका, आख्याता उक्ता, तैः एतत् मिथ्या अलीकं, प्रजल्पितम्, यतः श्वा कुक्कुरः, अत्र जगति स्वच्छन्दं निर्बाधं, चरति भ्रमति, सेवकः परशासनात् प्रभोरादेशात्, चरतीति

तो दुःखों की परम्परा ही बन जाती है ॥ २८८ ॥

महाभारत में दरिद्र, रोगी, मूर्ख, प्रवासी (विदेश में रहने वाले) तथा नित्य सेवा करने वाले इन पाँचों प्रकार के प्राणियों को जीवित रहते हुए भी मरा ही हुआ कहा गया है ॥ २८९ ॥

जो सेवक अपनी इच्छानुसार भोजन तक नहीं कर पाता, नींद पूरी होने के पहिले ही उठ बैठता है और भय के कारण कोई बात नहीं कह सकता । क्या वह सेवक इस संसार में जीवित रहता है ? अर्थात् वह तो मृतक तुल्य ही है ॥ २९० ॥

जिन्होंने सेवा को श्वानवृत्ति कहा है उन्होंने नितांत असत्य कल्पना की है क्योंकि इस संसार में कुत्ता तो स्वच्छन्द होकर विचरण करता है किन्तु सेवक

भूशय्या ब्रह्मचर्यं च कृशत्वं लघुभोजनम् ।
सेवकस्य यतेर्यद्वद्विशेषः पापधर्मजः ॥ २९२ ॥
शीताऽऽतपादिकष्टानि सहते यानि सेवकः ।
धनाय तानि चाल्पानि यदि धर्मान्न मुच्यते ॥ २९३ ॥
मृदुनापि सुवृत्तेन सुमिष्टेनापि हारिणा ।
मोदकेनापि किं तेन निष्पत्तिर्यस्य सेवया ? ॥ २९४ ॥

शेषः. श्वाऽपि स्वाधीनः, सेवकस्तु पराधीनः, अतः कुक्कुरोऽपि सेवकाद् वरमिति भावः ॥ २९१ ॥

भूशय्येति । यतेः सन्न्यासिनः, यद्वत् यथा, भूशय्या मृत्तिकाशयनं, ब्रह्मचर्यं स्रक्चन्दनवनिताद्युपभोगराहित्यमिति भावः, कृशत्वं क्षीणकायत्वं, तपोजनितक्लेशेन इति भावः, लघुभोजनञ्च यत्किञ्चनाशित्वमित्यर्थः, अस्तीति शेषः, सेवकस्य दासजनस्यापि, तद्वदिति शेषः तत् सर्वं भूशय्यादिकम् उभयोरेव तुल्यम् अस्तीत्यर्थः स्वामिकार्य्यसम्पादनत्वरया तज्जनितश्रमेण च इति भावः, विशेषः प्रभेदः तु, सेवकसन्यासिनोरिति शेषः; पापधर्मजः पापनिबन्धनः धर्मनिबन्धनश्च; सेवकः पापी यतिस्तु पुण्यवानिति भावः ॥ २९२ ॥

शीतेति । सेवकः धनाय यानि शीतातपादिकष्टानि सहते, यदि सः धर्मात् न मुच्यते न हीयते, धर्मार्थं यतते चेदित्यर्थः, तदा तानि शीतातपादिकष्टानि, अल्पानि च तदपेक्षया न्यूनानि, सहते इति शेषः, धनार्थं यादृशानि कष्टान्यनुभूयन्ते सेवकेन; धर्मार्थं यतमानेन तेन ततोऽल्पक्लेशेनैव तल्लभ्यते इति भावः ॥ २९३ ॥

मृदुनेति । सेवया दास्येन, यस्य मोदकस्य इत्यर्थः, निष्पत्तिः प्राप्तिरित्यर्थः, मृदुना कोमलेनापि, सुवृत्तेन सुवर्त्तुलेन, सुमिष्टेन अतिमधुरेणापि, हारिणा मनः प्रीतिकरेणापि, तेन मोदकेन मिष्टान्नविशेषेणेत्यर्थः, किम् ? प्राक्दुःखमनुभूय तदनु

स्वामी का आदेश पाने पर ही कहीं आ जा सकता है ॥ २९१ ॥

पृथ्वी पर सोना, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना, शरीर की क्षीणता और अल्प भोजन—यह सभी राजसेवक और सन्यासी में समान रूप से होती हैं। किन्तु राजसेवक में यह विशेषता होती है कि उसके उक्त कर्मों से पाप ही उत्पन्न होता है जब कि सन्यासी के उक्त सभी कर्मों से पुण्य की उत्पत्ति होती है। २९२ ॥

धन की प्राप्ति के लिए सेवक शीत गर्मी आदि जिन कष्टों को सहन करता है, यदि वह धर्म को न छोड़े, तो उसके लिए वह कष्ट उठाना थोड़ा ही है ॥ २९३ ॥

कोमल, गोल-गोल, अत्यन्त मीठे तथा मनोहर उस लड्डू से क्या लाभ है जिसकी प्राप्ति सेवा करने से होती है ? ॥ २९४ ॥

सञ्जीवक आह—'अथ भवान् किं वक्तुमनाः?' सोऽब्रवीत्—'मित्र सचिवानां मन्त्रभेदं कर्तुं न युज्यते। उक्तं च—

यो मन्त्रं स्वामिनो भिन्द्यात्साचिव्ये सन्नियोजितः।
स हत्वा नृपकार्यं तत्स्वयं च नरकं व्रजेत् ॥ २९५ ॥
येन यस्य कृतो भेदः सचिवेन महीपतेः।
तेनाशस्त्रवधस्तस्य कृत इत्याह नारदः ॥ २९६ ॥

तथापि मया तव स्नेहपाशबद्धेन मन्त्रभेदः कृतः। यतस्त्वं मम वचनेनात्र राजकुले विश्वस्तः, प्रविष्टश्च। उक्तं च—

विश्रम्भाद्यस्य यो मृत्युमवाप्नोति कथञ्चन।
तस्य हत्या तदुत्था सा प्राहेदं वचनं मनुः ॥ २९७ ॥

लभ्यत्वात् तत्र न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः, यथाकथञ्चित् प्राप्तेन शाकादिनाऽपि उदरपूरणं वरं, न तु सेवया मिष्टान्नभोजनमिति भावः ॥ २९४ ॥

यः इति। साचिव्ये मन्त्रित्वे, सन्नियोजितः प्रतिष्ठितः, प्रभुणेति शेषः, यो जनः, स्वामिनः प्रभोः, मन्त्रं गूढं परामर्शं, भिन्द्यात् प्रकाशयेत्, स दुरात्मा इति भावः, तत् नृपकार्य्यं! हत्वा प्राक् विनाश्य, स्वयञ्च नरकं निरयं, व्रजेत् गच्छेत् ॥ २९५ ॥

येनेति। येन सचिवेन मन्त्रिणा, यस्य महीपतेः भेदः मन्त्रभेदः इत्यर्थः, कृतः, तेन मन्त्रिणा, तस्य महीपतेः, अशस्त्रवधः शस्त्रधारणं विना विनाशः, कृत इति नारदः आह। मन्त्रभेदेन प्रभुवधः सुनिश्चितम् एवेति भावः ॥ २९६ ॥

विश्रम्भादिति। यः जनः, यस्य जनस्य, विश्रम्भात् विश्वासात्, यं जनं विश्वास्येत्यर्थः, कथञ्चन येन केनापि प्रकारेण, मृत्युमवाप्नोति, तस्य विश्वस्तस्य जनस्य इत्यर्थः, सा हत्या हननं, मृत्युरित्यर्थः, हन्तेः भावे क्यप्। तदुत्था तत्कृता

संजीवक ने कहा—आप कहना क्या चाहते हैं? उसने कहा—मित्र, मन्त्रियों को मन्त्रभेद करना उचित नहीं है। कहा भी गया है—

जो मन्त्रिपद पर नियुक्त होकर स्वामी के मन्त्र (गुप्त विचार) का भेदन (दूसरों पर प्रकट) करता है, वह राजा के कार्य को नष्ट करके स्वयं नरक का भागी होता है ॥ २९५ ॥

नारद जी ने ऐसा कहा है कि जिस मन्त्री ने जिस राजा का मन्त्रभेद कर दिया, उसने बिना अस्त्र के ही उसका वध कर दिया है ॥ २९६ ॥

फिर भी तुम्हारे प्रेम के बन्धन में बँधे होने के कारण मैंने मन्त्र भेद कर दिया है। क्योंकि तुमने मेरे ही कहने से राजकुल पर विश्वास किया और उसमें प्रवेश किया है। कहा भी है—

भगवान् मनु ने कहा है कि जिसकी मृत्यु जिसके विश्वास में आने के कारण

तत्तवोपरि पिङ्गलकोऽयं दुष्टबुद्धिः कथितं चाद्यानेन मत्पुरतश्चतुष्कर्णतया यत्—प्रभाते सञ्जीवकं हत्वा समस्तमृगपरिवारं चिरात् तृप्तिं नेष्यामि।' ततः स मयोक्तः—'स्वामिन्, न युक्तमिदं यन्मित्रद्रोहेण जीवनं क्रियते। उक्तं च—

अपि ब्रह्मवधं कृत्वा प्रायश्चित्तेन शुध्यति।
तदर्हेण विचीर्णेन न कथञ्चित्सुहृद्द्रुहः ॥ २९८ ॥

ततस्तेनाहं सामर्षेणोक्तः—'भो दुष्टबुद्धे, सञ्जीवकस्तावच्छष्पभोजी, वयं मांसाशिनः, तदस्माकं स्वाभाविकं वैरम्, इति कथं रिपुरुपेक्ष्यते? तस्मात् सामादिभिरुपायैर्हन्यते। न च हते तस्मिन्दोषः स्यात्। उक्तं च—

विश्वास्यजनकृता एव इत्यर्थः, इदं वचनं मनुः प्राह ॥ २९७ ॥

(१) चतुष्कर्णतया—"षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः" इति महाजनवाक्यात् केवलं द्वयोर्यत् मन्त्रणं तन्मन्त्रस्य चतुष्कर्णत्वमिति भावः। जीवनं—जीविका, जीवनधारणमित्यर्थः, "आजीवो जीविका वार्त्ता वृत्तिर्वर्त्तनजीवने" इत्यमरः।

अपीति। ब्रह्मवधमपि कृत्वा, तदर्हेण ब्रह्मवधपापक्षालनयोग्येन, विचीर्णेन विशेषेणानुष्ठितेन, प्रायश्चित्तेन, चतुर्विंशतिवार्षिक-द्वादशवार्षिकादिव्रतरूपेण इति भावः, शुध्यति पापात् विमुक्तो भवति, जन इति शेषः, सुहृद्द्रुहः मित्रद्रोही मित्रद्रोहिणो वा, कथञ्चित् केनापि प्रकारेण, न, शुध्यति वा शुध्यन्तीति शेषः। अत्र द्रुहधातोः क्प्रत्यय-क्विप्प्रत्ययभेदेन एकवचन-बहुवचनान्तता बोध्या ॥ २९८ ॥

(२) सामर्षेण—सक्रोधेन। उपेक्ष्यते—औदासीन्येन त्यज्यते इत्यर्थः।

किसी प्रकार हो जाती है उसकी मृत्यु की हत्या उसी के सिर पर जाती है॥ २९७ ॥

स्वामी पिंगलक के भाव तुम्हारे प्रति ठीक नहीं हैं। उसने आज मेरे सामने हमी दोनों के बीच में कहा है कि मैं प्रातःकाल संजीवक को मारकर समस्त जानवरों को बहुत दिनों के लिए तृप्त कर दूँगा। तब मैंने उससे कहा—स्वामी, यह उचित नहीं है कि मृत्यु द्रोह करके जीविका चलाई जाय। कहा भी गया है—

ब्राह्मण का बध करके भी तदनुकूल प्रायश्चित्त का अनुष्ठान करके शुद्ध हुआ जा सकता है किन्तु मित्रद्रोही किसी भी प्रकार के अनुष्ठान से शुद्ध नहीं हो सकता॥ २९८ ॥

तब उसने मुझसे क्रोध के साथ कहा—अरे दुष्ट! संजीवक तो घास खाने वाला प्राणी है और हम मांसाहारी हैं अतः हमारी उसकी शत्रुता स्वाभाविक है।

दत्त्वाऽपि कन्यकां वैरी निहन्तव्यो विपश्चिता।
अन्योपायैरशक्यो यो हते दोषो न विद्यते ॥ २९९ ॥

कृत्याकृत्यं न मन्येत क्षत्रियो युधि सङ्गतः।
प्रसुप्तो द्रोणपुत्रेण धृष्टद्युम्नः पुरा हतः ॥ ३०० ॥

तदहं तस्य निश्चयं ज्ञात्वा त्वत्सकाशमिहागतः। साम्प्रतं मे नास्ति विश्वासघातकदोषः। मया सुगुप्तमन्त्रस्तव निवेदितः। अथ यत्ते प्रतिभाति तत्कुरुष्व' इति। अथ सञ्जीवकस्य तद्वज्रपातदारुणं वचनं श्रुत्वा मोहमुपागतः। अथ चेतनां लब्ध्वा सवैराग्यमिदमाह—' भोः साध्विदमुच्यते—

दत्त्वेति। यः वैरी शत्रुः अन्योपायैः साधनान्तरैः, अशक्यः असाध्यः, हन्तुमिति शेषः, विपश्चिता विदुषा, कन्यकां दत्त्वाऽपि, स निहन्तव्यः, हते तस्मिन् वैरिणि विनष्टे सतीत्यर्थः, दोषो न विद्यते, येन केनापि शत्रुवधो न दोषायेति भावः ॥ २९९ ॥

कृत्येति। युधि युद्धे, सङ्गतः उपस्थितः, युयुत्सुरित्यर्थः, क्षत्रियः वीर इति भावः, कृत्याकृत्यं कर्त्तव्याकर्त्तव्यं, न्यायान्यायमित्यर्थः, न मन्येत न विचारयेत्, तथा हि पुरा पूर्वस्मिन् काले, द्रोणपुत्रेण अश्वत्थाम्ना, प्रसुप्तः निद्रितः, धृष्टद्युम्नः पाण्डवसेनायाः सेनापतिः हतः ॥ ३०० ॥

फिर शत्रु की अपेक्षा क्यों की जाय? इस लिए साम-दाम आदि उपायों से उसे मरना ही चाहिए। उसके मारे जाने में कोई दोष नहीं है। कहा भी गया है—

जब शत्रु किसी अन्य उपाय द्वारा न मारा जा सके तो नीतिज्ञ को चाहिए कि उसे अपनी कन्या देकर भी उसका बध कर डाले, क्योंकि उस शत्रु के मारने में कोई दोष नहीं है ॥ २९९ ॥

युद्धक्षेत्र में उतरे हुए क्षत्रिय को कार्याकार्य (उचित, अनुचित) का विचार नहीं करना चाहिए। प्राचीन काल में द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने सोए हुए धृष्टद्युम्न को मार डाला था ॥ ३०० ॥

मैं उसका निश्चय जानकर यहाँ तुम्हारे पास आया हूँ। अब मुझ पर विश्वासघात का दोष नहीं लग सकता। मैंने यह गुप्त मन्त्रणा तुम्हें बता दी है। फिर जैसा तुम्हें अच्छा लगे वैसा करो। तब संजीवक उसकी उस वज्रपात जैसी मर्मभेदी वाणी सुनकर बेहोश हो गया और फिर होश में आने पर उसने उदासीनता के साथ इस प्रकार कहा—मित्र! यह बिल्कुल ठीक ही कहा गया है—

दुर्जनगम्या नार्यः प्रायेणास्नेहवान् भवति राजा ।
कृपणानुसारि च धनं मेघो गिरिदुर्गवर्षी च ॥ ३०१ ॥
अहं हि सम्मतो राज्ञो य एवं मन्यते कुधीः ।
बलीवर्दः स विज्ञेयो विषाणपरिवर्जितः ॥ ३०२ ॥
वरं वनं वरं भैक्ष्यं वरं भारोपजीवनम् ।
वरं व्याधिर्मनुष्याणां नाधिकारेण सम्पदः ॥ ३०३ ॥

तदयुक्तं मया कृतं यदनेन सह मैत्री विहिता । उक्तं च—

दुर्जनेति । नार्य्यः प्रायेण दुर्जनगम्याः दुर्जनानां प्राप्याः, लम्पटभोग्याः इत्यर्थः; राजा प्रायेण अस्नेहवान् भवति, न कुत्रापि स्निह्यतीत्यर्थः; धनञ्च कृपणानुसारि कृपणोऽदाता, व्ययकुण्ठः इत्यर्थः; तदनुसारि प्रायेण तद्गामि, भवतीति शेषः; मेघश्च प्रायेण गिरिदुर्गवर्षी गिरौ दुर्गे दुर्गमनीये स्थाने, लोकानामिति शेषः । गहनादौ इत्यर्थः, वर्षतीति तथोक्तः, न तु उर्वरक्षेत्रादिषु मेघो बहु वर्षतीति भावः । आर्य्या वृत्तम् ॥ ३०१ ॥

अहमिति । यः कुधीः कुबुद्धिः पुमान्, अहं हि अहमेव, राज्ञः, वर्त्तमाने-क्तप्रत्ययात् "क्तस्य च वर्त्तमाने" (पा० २।३।६७) इति सूत्रेण कर्त्तरि षष्ठी, सम्मतः प्रियः इत्यर्थः, इत्येवं मन्यते, स विषाणपरिवर्जितः शृङ्गविहीनः, बलीवर्दः पुङ्गवः षण्ड इत्यर्थः, ज्ञातव्यः राज्ञामिह जगति न कोऽपि प्रिय इति भावः ॥ ३०२ ॥

वरमिति । मनुष्याणां वनम् अरण्यवासः, वरं मनाक् प्रियं, भैक्ष्यं भिक्षाशित्व-मपि, वरं मनाक् प्रियं, तथा भारोपजीवनं भारवहनेन जीवनधारणमपि, वरं मनाक् प्रियं, व्याधिः रोगोऽपि, वरं मनाक् प्रियः, सर्वं चेद् वरं तदा अप्रियं किम् ? इत्याह, नाधिकारेणेति । अधिकारेण नियोज्यव्यापारेण, सेवादिरूपेणेत्यर्थः, सम्पदः न, वरमिति योजना । तस्य एतेभ्योऽपि क्लेशबहुलत्वात् श्वाजीवत्वाच्चेति

स्त्रियाँ प्रायः लम्पटों द्वारा भोग्य होती हैं, राजा स्नेह-शून्य होता है धन कंजूसों के पास ही रहता है और बादल पर्वतों के अगम्य प्रदेशों में ही वर्षा करते हैं ॥ ३०१ ॥

जो मूर्ख निश्चित रूप से यह समझता है कि मैं तो राजा का प्रेमपात्र हूँ उसे सींगरहित बैल ही समझना चाहिए ॥ ३०२ ॥

मनुष्य के लिए वन में रहना अच्छा है, भीख माँगना अच्छा है, बोझा ढोकर जीविकोपार्जन करना अच्छा है, रोगी बना रहना ही अच्छा है किन्तु सेवावृत्ति द्वारा सम्पत्ति प्राप्त करना अच्छा नहीं है ॥ ३०३ ॥

इसलिए यह मैंने ठीक नहीं किया जो इसके साथ मित्रता की । कहा भी गया है—

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम्।
तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥ ३०४ ॥

तथा च—मृगा मृगैः सङ्गमनुव्रजन्ति
गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरङ्गैः।
मूर्खाश्च मूर्खैः सुधियः सुधीभिः
समानशीलव्यसनेषु सख्यम् ॥ ३०५ ॥

तद्यदि गत्वा तं प्रसादयामि, तथापि न प्रसादं यास्यति। उक्तं च—
निमित्तमुद्दिश्य हि यः प्रकुप्यति
ध्रुवं स तस्यापगमे प्रशाम्यति।

भावः ॥ ३०३ ॥

ययोरिति। ययोर्जनयोः, वित्तं धनं सममेव, ययोः कुलं सममेव, तयोः तादृशयोः तुल्यकुलैश्वर्ययोरेव, मैत्री सौहार्दं, विवाहः परिणयश्च, परस्परमिति भावः, शुभाय भवतीति शेषः, पुष्टविपुष्टयोः धनिनिर्धनयोः, कुलीनाकुलीनयोश्च, मैत्री विवाहो वेति शेषः, न तु नैव, शुभायेति भावः ॥ ३०४ ॥

मृगा इति। मृगाः कुरङ्गाः, मृगैः स्वजातीयैरिति भावः, गावः गोभिः, तुरगाः अश्वाः, तुरङ्गैः अश्वैः, मूर्खाः मूर्खैः, तथा सुधियः पण्डिताः, सुधीभिः, सर्वत्र सहार्थे तृतीया। सङ्गं संसर्गम्, अनुव्रजन्ति कुर्वन्ति, यतः, समानशीलव्यसनेषु तुल्यशीलाचारेषु, समानं शीलव्यसनञ्च येषां ते, तेषु तुल्यचरित्रेषु समदुःखेषु च जनेषु, सख्यं मैत्रं च, साधु भवतीति शेषः। उपजाति वृत्तम् ॥ ३०५ ॥

निमित्तमिति। यः निमित्तं कारणम्, उद्दिश्य उपलक्ष्य, अनुसृत्य, प्रकुप्यति

मैत्री और विवाह सम्बन्ध अपने समान ही सम्पत्ति वाले तथा समान कुल वाले व्यक्ति के साथ ही करना चाहिए क्योंकि पुष्ट (सबल-धन से या कुल से श्रेष्ठ) और अपुष्ट (निर्बल-धन या कुल से हीन) का पारस्परिक सम्बन्ध उचित नहीं होता है ॥ ३०४ ॥

और भी—मृग, मृगों से, गाय, गायों से, घोड़े घोड़ों से, मूर्ख मूर्खों से और बुद्धिमान बुद्धिमानों से ही सम्बन्ध स्थापित करते हैं क्योंकि समान चरित्रों वाले तथा एक ही समान विपत्तियों में पड़े हुए व्यक्तियों में ही मित्रता उचित होती है ॥ ३०५ ॥

इसलिए यदि मैं उसे जाकर प्रसन्न भी करूँ तो वह प्रसन्न नहीं होगा। कहा भी गया है—

जो मनुष्य किसी कारण को दृष्टि में रखकर क्रुद्ध होता है वह उस कारण

अकारणद्वेषपरो हि यो भवेत्
कथं नरस्तं परितोषयिष्यति ? ॥ ३०६ ॥

अहो ! साधु चेदमुच्यते—

भक्तानामुपकारिणां परहितव्यापारयुक्तात्मनां
सेवासंव्यवहारतत्त्वविदुषां द्रोहच्युतानामपि ।
व्यापत्तिः स्खलितान्तरेषु नियता सिद्धिर्भवेद्वा न वा
तस्मादम्बुपतेरिवावनिपतेः सेवा सदा शङ्किनी ॥३०७॥

तथा च—

कुपितो भवति, स जनः, तस्य कोपनिमित्तस्य, अपगमे नाशे सति, ध्रुवं निश्चितं, प्रशाम्यति शान्तिं गच्छति, वीतक्रोधो भवतीति भावः, यः हि अकारणद्वेषपरः अहेतु कुपितः, भवेत्, नरः लोकः, तं जनम्, अकारणद्वेषिणमित्यर्थः, कथं केन प्रकारेण, परितोषयिष्यति ? परितुष्टं करिष्यति ? न केनापि इति भावः। वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ ३०६ ॥

भक्तानामिति। भक्तानाम् अनुरक्तानाम्, उपकारिणाम्, उपकरणशालिनां, परिहितव्यापारे परेषां हितानुष्ठाने, युक्तः अभिनिविष्टः, आत्मा येषां तथाभूतानां, परहितानुरक्तानाम्, तथा सेवायाः दास्यस्य, यः संव्यवहारः सम्यगाचरणनियमः, तस्य तत्त्वविदुषां तत्त्वज्ञानां, द्रोहच्युतानां परानिष्टचिरतानामपि, सेवकानामिति शेषः, स्खलितान्तरेषु च्युतान्तःकरणवृत्तिषु, नष्टस्वभावेषु इत्यर्थः, अस्थिरस्वभावेषु; च, प्रभुष्विति शेषः; सिद्धिः स्वार्थसिद्धिः स्वप्रयोजनस्येति भावः; भवेत् वा अथवा, न वा नैव; भवेदिति शेषः, सिद्धिविषये सन्देहाऽस्त्येवेत्यर्थः; व्यापत्तिः विशिष्टा आपत्तु, नियता निश्चिता, अवश्यम्भाविनीत्यर्थः, तस्मात् व्यापत्तेर्नियतत्वात् सिद्धेश्चानियतत्वात्, अम्बुपतेरिव समुद्रस्येव, अवनीपतेः भूपतेरपि सेवा

के दूर हो जाने पर शान्त हो जाता है किन्तु जो अकारण ही शत्रु बन गया हो; भला मनुष्य उसे कैसे प्रसन्न कर सकता है ? ॥ ३०६ ॥

और यह बिलकुल ठीक ही कहा गया है—

स्वामीभक्त, उपकारी, परोपकार में तल्लीन रहने वाले, सेवा धर्म के तत्त्व को भलीभाँति जानने वाले तथा दूसरों के प्रति कभी भी द्रोहभाव (अनिष्ट करने की भावना) न रखने वाले सेवकों को भी सेवा से लाभ हो या न हो किन्तु थोड़ी सी त्रुटि हो जाने पर विपत्ति में तो पड़ना ही पड़ता है। अतः जैसे समुद्र की सेवा सन्देहास्पद होती है उसी प्रकार राजा की सेवा भी सन्देह युक्त होती है ॥ ३०७ ॥

भावस्निग्धैरुपकृतमपि द्वेष्यतां याति लोके
साक्षादन्यैरपकृतमपि प्रीतये चोपयाति ।
दुर्ग्राह्यत्वान्नृपतिमनसां नैकभावाश्रयाणां
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ ३०८ ॥

तत्परिज्ञातं मया यत्प्रसादमसहमानैः समीपवर्त्तिभिरेष पिङ्गलकः प्रकोपितः । तेनायं ममादोषस्याप्येवं वदति । उक्तं च—

सदा शङ्किनी भयजननी, प्राणसंशयास्पदमित्यर्थः । यथा समुद्रसेवायां रत्नादिलाभः सन्दिग्धः, प्राणरक्षणन्तु प्रायेण न घटते, तद्वत् राजसेवायामपीति भावः । यद्वा, सेवा, सदा आशङ्किनी—विशङ्कनीया भवतीति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३०७ ॥

भावस्निग्धैरिति । भावेन भक्त्या, अनुरागेणेत्यर्थः, स्निग्धैः स्नेहान्वितैः जनैः; उपकृतमपि कृतः उपकारोऽपि, लोके संसारे, द्वेष्यताम्, अप्रियताम् अनिष्टभावमित्यर्थः, याति प्राप्नोति, अन्यैः अननुरक्तैरित्यर्थः, साक्षात् समक्षकृतमित्यर्थः; अपकृतमपि अनिष्टकरणमपि, प्रीतये उपयाति च प्रीतिं जनयति च इत्यर्थः । इत्थं नैकभावाश्रयाणां विविधाशयवतां, नृपतिमनसां राजहृदयानां, प्रभुचित्तानामिति यावत्, दुर्ग्राह्यत्वात् दुर्बोधत्वात् परमगहनः ज्ञानागम्यः, अतिदुष्प्रवेशः, सेवाधर्मः परिचर्य्यारूपो विधिः, योगिनामपि त्रैकालिकनिखिलज्ञानशालिनामपीत्यर्थः, योगदृष्ट्यापि द्रष्टुमशक्यमेव भवति, अगम्यः दुर्बोधः; प्रभुचित्तं कदा कीदृगाशयं स्यात्; सेवकैः तत् बोद्धुं न शक्यते, अतः तस्य हितकर्मण्यपि अहितबुद्धिः, अहितकर्मण्यपि हितबुद्धिर्जायते; तस्मात् तत्सेवा अतीव दुष्करेति भावः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ ३०८ ॥

(१) प्रसादं—प्रसन्नताम्, अनुग्रहमिति यावत्, मयीति शेषः । राज्ञः कृपामसहमानैः । समीपवर्तिभिः—तस्यान्तेवासिभिर्जनैः वदति—कथयति ।

और भी,

इस संसार में कभी कभी प्रेमभाव से किया गया उपकार भी शत्रुता का कारण बन जाता है और कभी-कभी दूसरों द्वारा किया गया अपकार भी प्रत्यक्षतः प्रसन्नता का कारण हो जाता है । किन्तु राजाओं का मन कभी भी एक भाव पर स्थिर नहीं रहता है । अतः उसके विषय में ठीक-ठीक ज्ञान न हो सकने के कारण सेवा धर्म अत्यन्त ही दुर्गम होता है, जहाँ योगियों का भी पहुँच पाना कठिन होता है ॥ ३०८ ॥

अतः मैंने जान लिया कि मेरे ऊपर स्वामी की कृपा को न सहन कर सकने वाले कुछ समीपवर्त्ती लोगों ने पिंगलक को मेरे ऊपर क्रुद्ध करा दिया है । इसी

प्रभोः प्रसादमन्यस्य न सहन्तीह सेवकाः।
सपत्न्य इव सङ्क्रुद्धाः सपत्न्याः सुकृतैरपि ॥ ३०९ ॥

भवति चैव यद् गुणवत्सु समीपवर्तिषु गुणहीनानां न प्रसादो भवति। उक्तं च—

गुणवत्तरपात्रेण छाद्यन्ते गुणिनां गुणाः।
रात्रौ दीपशिखाकान्तिर्न भानावुदिते सति ॥ ३१० ॥

दमनक आह—'भो मित्र, यद्येवं तन्नास्ति ते भयम्। प्रकोपितोऽपि स दुर्जनैस्तव वचनरचनया प्रसादं यास्यति।' स आह—'भोः, न युक्त-

प्रभोरिति। इह संसारे, सुकृतैः स्वाचरितैरपि, सङ्क्रुद्धाः स्वभाववैरित्वादिति भावः, सपत्न्यः एकपतिकाः स्त्रियः सपत्न्याः अन्यतरस्याः, प्रसादमिव, पत्युरिति भावः, सेवकाः भृत्याः, अन्यस्य स्वभिन्नस्य, स्वभिन्ने भृत्ये इति भावः; प्रभोः प्रसादं न सहन्ति न क्षमन्ते। सहधातोरात्मनेपदित्वेऽपि अत्र परस्मैपदं विवक्षित बोध्यम्—"परस्मैपदमिच्छन्ति आत्मनेपदिनां क्वचित्"—इति नियमादित्यभिप्रायः ॥ ३०९ ॥

(१) प्रकाशः—गुणस्य प्रसारः।

गुणवत्तरेति। गुणवत्तरपात्रेण अतिगुणशालिना जनेन, गुणिनाम् अत्यल्पगुणवतां, गुणाः छाद्यन्ते तिरस्क्रियन्ते; तथा हि, दीपशिखायाः कान्तिः शोभा रात्रौ रजन्यामेव, भवतीति शेषः; यथा सूर्योदये दीपशिखा न शोभते, तथा गुणवत्तर-सन्निधाने अत्यल्पगुणवान् न आद्रियते इति भावः ॥ ३१० ॥

(२) सः,—पिङ्गलक इत्यर्थः। दुर्जनैः—दुष्टैः, वचनरचनया—वाक्कौशलेन।

से वह मुझ निर्दोष के प्रति ऐसा कह रहा है। कहा भी गया है—

जैसे सौतें (एक ही पति की कई पत्नियाँ) सदाचारिणी होते हुए भी अपनी किसी सौत पर पति का विशेष प्रेम देखकर क्रुद्ध हो जाती हैं, उसी प्रकार सेवक भी किसी सेवक पर स्वामी की विशेष कृपा को देखकर उसे सहन नहीं कर पाते हैं ॥ ३०९ ॥

और ऐसा होता ही है कि जब राजा के समीप में गुणी लोग रहते हैं तो गुण-हीनों के प्रति उनकी कृपा नहीं हो पाती है। कहा भी गया है—

विशिष्ट गुणों वाले गुणियों के द्वारा सामान्य गुणियों के गुण आच्छादित (ढँक) हो जाते हैं; जैसे दीपक की कान्ति रात ही में शोभा पाती है, किन्तु सूर्य के उदय हो जाने से वह (सूर्य के प्रकाश से) आच्छादित (कान्तिहीन) हो जाती है ॥ ३१० ॥

दमनक ने कहा—मित्र! यदि ऐसी बात है (अर्थात् तुम निर्दोष हो) तब

मुक्तं भवता, लघूनामपि दुर्जनानां मध्ये वस्तुं न शक्यते। उपायान्तरं विधाय ते नूनं घ्नन्ति। उक्तं च—

बहवः पण्डिताः क्षुद्राः सर्वे मायोपजीविनः।
कुर्युः कृत्यमकृत्यं वा उष्ट्रे काकादयो यथा॥ ३११॥

दमनक आह—'कथमेतत्? सोऽब्रवीत्—

११ : उष्ट्र-काक-सिंह-द्वीपि-शृगालादीनां-कथा

कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे मदोत्कटो नाम सिंहः प्रतिवसति स्म। तस्य चानुचरा अन्ये द्वीपि-वायस-गोमायवः सन्ति। अथ कदाचित् तैः इतस्ततो भ्रमद्भिः सार्थभ्रष्टः क्रथनको नामोष्ट्रो दृष्टः। अथ सिंह आह—'अहो, अपूर्वमिदं सत्त्वम्। तज्ज्ञायतां किमेतदारण्यकं ग्राम्यं वा' इति।

वस्तुम्—निवसितुम्, घ्नन्ति—मारयन्ति।

बहव इति। बहवः अनेके, पण्डिताः विद्वांसः, नीतिनिपुणा इत्यर्थः, क्षुद्राः नीचाः, मूर्खा वा इत्यर्थः, भवन्तु इति शेषः, ते सर्वे मायोपजीविनः कपटिनः, प्रवञ्चकाः चेत् भवन्तीति शेषः। तदा उष्ट्र यथा काकादयः उष्ट्रं प्रति मिलिताः काकादयः इव; अकृत्यं वा अकर्तव्यमपि, वाशब्दोऽत्र अप्यर्थे; कृत्यं करणीयं, कुर्युः कुर्वन्तीत्यर्थः; धूर्तैः सर्वं कर्तुं शक्यते इति भावः॥ ३११॥

[११]

(१) कस्मिंश्चिद्; वनोद्देशे-वनप्रदेशे। द्वीपि-वायस-गोमायवः—शार्दूल-काक-शृगालाः। सार्थभ्रष्टः,—यूथच्युतः, वणिक्समूहे, परिच्युतः। अपूर्वं—न पूर्वं

तो तुम्हें कोई भय नहीं है। दुष्टों द्वारा क्रुद्ध कराया गया वह तुम्हारी वाणी की कुशलता से प्रसन्न हो जायगा। उसने कहा—अरे! आप ने उचित बात नहीं कही। दुष्ट चाहे छोटे भी हों किन्तु उनके बीच में रहना कठिन है। क्योंकि वे दूसरे उपायों द्वारा अवश्य ही मार डालते हैं। कहा भी है—

चाहे विद्वान् हों, चाहे क्षुद्र विचार वाले हों प्रायः सभी कपट द्वारा ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं और कृत्याकृत्य का विचार नहीं करते हैं जैसे कौवे आदि ने ऊँट के साथ किया था॥ ३११॥

दमनक ने कहा—'यह कैसे'? उसने कहा—

ऊँट, कौवा, सिंह, चीते और सियार आदि की कथा

किसी वन में मदोत्कट नाम का एक सिंह रहता था। चीता, कौवा और गीदड़ उसके अनुचर थे। एक बार इधर उधर घूमते-घूमते उन्होंने क्रथनक नाम

तच्छ्रुत्वा वायस आह--भोः स्वामिन्, ग्राम्योऽयमुष्ट्रनामा जीवविशेषस्तव भोज्यः, तद्व्यापाद्यताम्। सिंह आह--'नाहं गृहागतं हन्मि। उक्तं च—

गृहे शत्रुमपि प्राप्तं विश्वस्तमकुतोभयम्।
यो हन्यात्तस्य पापं स्याच्छतब्राह्मणघातजम्॥ ३१२॥

तदभयप्रदानं दत्वा मत्सकाशमानीयतां येनास्यागमनकारणं पृच्छामि।' अथासौ सर्वैरपि विश्वास्याभयप्रदानं दत्त्वा मदोत्कटसकाशमानीतः प्रणम्योपविष्टश्च। ततस्तस्य पृच्छतस्तेनात्मवृत्तान्तः सार्थभ्रंशसमुद्भवो निवेदितः।

ततः सिंहेनोक्तम्—'भोः क्रथनक, मा त्वं ग्रामं गत्वा भूयोऽपि भारोद्वहन-कष्टभागी भूयाः। तदत्रैवारण्ये निर्विशङ्को मरकतसदृशानि शष्पाग्राणि

दृष्टमित्यर्थः आश्चर्यमिति यावत्। सत्त्वं—जीवम्। अरण्यं वन्यं, ग्राम्यं—ग्रामवास्तव्यं वा।

गृहे इति। यः विश्वस्तम्—विश्वासयुक्तम्, अत एव अकुतोभयं निःशङ्कं—नास्ति कुतोऽपि भयं यस्य, मयूरव्यंसकादित्वात् समासः, विभक्तेरलोपश्च। गृहे प्राप्तं गृहागतं, शत्रुमपि हन्यात्, तस्य शतब्राह्मणघातजं शतब्रह्महत्याजनितं, पापंस्यात्॥ ३१२॥

(१) असौ—उष्ट्रः। विश्वास्य-विश्वासप्रदानेन भृशं परितोष्य। पृच्छतः,—जिज्ञासमानस्य। सार्थेति। सार्थभ्रंशात्—यूथच्युतेः, समुद्भवः,—समुत्पन्नः,

---

का एक ऊँट देखा। तब सिंह ने कहा— अरे यह तो बड़ा ही आश्चर्यजनक जन्तु है। इसलिए मालूम करो कि यह जंगली है या गाँव का रहने वाला है। यह सुनकर कौवे ने कहा—स्वामी! यह गाँव का रहने वाला ऊँट नाम का एक विशेष पशु है जो आप का भोज्य भी है, अतः आप इसे मार डालिए। सिंह ने कहा—मैं अपने घर पर आए हुए प्राणी को नहीं मारता हूँ। कहा भी गया है—

यदि विश्वास करके तथा निर्भय होकर शत्रु भी घर पर आ जाय तो जो व्यक्ति उसे मारता है उसे सौ ब्राह्मणों की हत्या का पाप लगता है॥ ३१२॥

इसलिए अभय दान देकर उसे मेरे पास ले आओ ताकि मैं उससे यहाँ आने का कारण पूँछूं। तब वे सब उसे विश्वास दिलाकर तथा अभयदान देकर मदोत्कट के पास ले आए और वह भी प्रणाम करके बैठ गया। उसके पूँछने पर उसने सार्थवाहों से बिछुड़ जाने का अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

तब सिंह ने कहा—हे क्रथनक! अब तुम गाँव में जाकर फिर बोझा ढोने का कष्ट मत उठाओ। इसी जंगल में निर्भय होकर मरकत मणि जैसी हरी-हरी घासें खाते

भक्षयन्मया सह सदैव वस । सोऽपि 'तथा' इत्युक्त्वा तेषां मध्ये विचरन्न कुतोऽपि भयमिति सुखेनास्ते ।

अथान्येद्युर्मदोत्कटस्य महागजेनारण्यचारिणा सह युद्धमभवत् । ततस्तस्य दन्तमुसलप्रहारैर्व्यथा सञ्जाता । व्यथितः कथमपि प्राणैर्न वियुक्तः । अथ शरीरासामर्थ्यान्न कुत्रचित्पदमपि चलितुं शक्नोति । तेऽपि सर्वे काकादयोऽप्रभुत्वेन क्षुधाविष्टाः परं दुःखं भेजुः । अथ तान्सिंहः प्राह--'भोः अन्विष्यतां कुत्रचित्किञ्चित्सत्त्वं, येनाहमेतामपि दशां प्राप्तस्तद्धत्वा युष्मद्भोजनं सम्पादयामि ।'

अथ ते चत्वारोऽपि भ्रमितुमारब्धा यावन्न किंचित्सत्त्वं पश्यन्ति, तावद्वायसशृगालौ परस्परं मन्त्रयतः । शृगाल आह--'भो वायस, किं प्रभूतभ्रान्तेन ? अयमस्माकं प्रभोः क्रथनको विश्वस्तस्तिष्ठति । तदेनं हत्वा प्राणयात्रां कुर्मः ।' वायस आह--'युक्तमुक्तं भवता । परं स्वामिना

यूथभ्रंशजनितावस्था इत्यर्थः । निर्विशङ्कः--विगतशङ्कः सन्, मरकतसदृशानि--मरकततुल्यानि । सुखेनास्ते--यथासुखं न्यवसत् । अरण्यचारिणा--वनचारिणा; दन्तमुसलप्रहारैः--मुसलसदृशदन्तप्रहारैः, प्राणैर्न वियुक्तः--मृतिं न गतः ।

(१) अप्रभुत्वेन--असमर्थत्वेन, स्वयं भक्ष्याहरणे इति भावः । क्षुधाविष्टाः--बुभुक्षिताः ।

(२) प्रभूतभ्रान्तेन--अधिकेन भ्रमणेन, भ्रमधातोः क्तप्रत्ययः । प्राणयात्रां--

---

हुए सर्वदा मेरे ही साथ निवास करो । वह भी 'अच्छा' कहकर निर्भय हो करके विचरण करता हुआ सुख के साथ उन्हीं के बीच रहने लगा ।

इसके पश्चात् एक दिन मदोत्कट की एक जंगली हाथी से मुठभेड़ हो गई । जिससे उसके मूसल जैसे दाँतों के प्रहार से उसे बड़ी पीड़ा हो गई, किन्तु पीडित होने पर भी उसके प्राण किसी प्रकार बच गए । फिर भी उसका शरीर शक्तिहीन हो गया, जिससे वहएक पग भी चल फिर सकने में असमर्थ हो गया, वे सब कौवे आदि भी स्वामी के शक्तिहीन हो जाने पर भूख से व्यथित होकर बहुत दुःखी हो गए । तब सिंह ने उनसे कहा--कहीं से किसी जानवर को ढूँढ़ो, जिससे मैं ऐसी दशा में पहुच जाने पर भी उसे मारकर तुम लोगों के लिए भोजन दे सकूँ ।

वे चारो इधर-उधर घूमने लगे । किन्तु जब उन्हें कोई जानवर नहीं मिला तब कौवे और गीदड़ ने आपस में सलाह किया। गीदड़ ने कहा--अरे भाई कौआ ! बहुत घूमने से कोई लाभ नहीं है । हमारे स्वामी का विश्वास पात्र यह क्रथनक, जो उसके पास रहता है, उसी को मारकर क्यों न भोजन करके प्राणों की रक्षा करें । कौवे

तस्याभयप्रदानं दत्तमास्ते, न बध्योऽयमिति ।' शृगाल आह—'भो वायस, अहं स्वामिनं विज्ञाप्य तथा करिष्ये, यथा स्वामी अस्य वधं करिष्यति । तत्तिष्ठन्तु भवन्तोऽत्रैव, यावदहं गृहं गत्वा प्रभोराज्ञां गृहीत्वा चागच्छामि !' एवमभिधाय सत्वरं सिंहमुद्दिश्य प्रस्थितः । अथ सिंहमासाद्येदमाह—स्वामिन्, समस्तं वनं भ्रान्त्वा वयमागताः । न किञ्चित्सत्त्वमासादितम् । तत्किं कुर्मो वयम् ? सम्प्रति वयं बुभुक्षया पदमेकमपि प्रचलितुं न शक्नुमः । देवोऽपि पथ्याशी वर्त्तते । तद्यदि देवादेशो भवति, तदा क्रथनकपिशितेनाद्य पथ्यक्रिया क्रियते ।'

अथ सिंहस्य तद्दारुणं वचनमाकर्ण्य सकोपमिदमाह—'धिक् पापाधम, यद्येवं भूयोऽपि वदसि, ततस्त्वां तत्क्षणमेव वधिष्यामि । यतो मया तस्याभयं प्रदत्तम्, तत्कथं व्यापादयामि ? उक्तं च—

जीवनयापनं, जीवनधारणमित्यर्थः, "यात्रा तु यापनेऽपि स्यात् गमनोत्सवयोः स्त्रियाम्" इति मेदिनी । विज्ञाप्य—प्रबोधयित्वा ।

(१) भ्रान्त्वा—भ्रमित्वा । पथ्याशी—पथ्यं—हितं, "पथ्या स्त्री हरितक्यां हिते विषु" इति मेदिनी, यत्किञ्चन् हितकरं द्रव्यमिति यावत्, अश्नातीति तथोक्तः; पूर्वेद्युः गजदन्ताघातजनितपीडया यत्किञ्चित् हितभोजनार्थी सन् इत्यर्थः । क्रथनकपिशितेन—क्रथनकं हत्वा तन्मांसेनेत्यर्थः । पथ्यक्रिया—हितभोजनकार्य्यम् । क्रियते—विधीयते । दारुणम्—हृदयविदारकम् ।

ने कहा—आपने बहुत ही ठीक कहा है, किन्तु स्वामी ने उसे अभयदान दिया है । अत: वह वध करने योग्य नहीं है । गीदड़ ने कहा—भाई कौवा ! मैं स्वामी से निवेदन करके ऐसा (उपाय) करूँगा, जिससे स्वामी उसका वध कर देंगे । इसलिए तब तक तुम यहीं ठहरो, जब तक कि मैं घर जाकर और स्वामी की आज्ञा लेकर यहाँ न आऊँ । ऐसा कहकर वह सिंह की ओर चल दिया और सिंह के पास पहुँचकर बोला—"सारा जंगल छान कर हम लोग लौट आए, किन्तु कोई भी जानवर नहीं मिला । अत: हम लोग क्या करें ? अब तो हमलोग भूख के कारण एक पग भी नहीं चल सकते हैं । श्रीमान् को भी कुछ भोजन तो करना ही है । इसलिए यदि आप की आज्ञा हो तो क्रथनक के मांस से आप के भोजन का प्रबन्ध किया जाय ।"

सिंह ने उसकी यह कठोर वाणी सुनकर क्रोध के साथ कहा—अरे नीच पापी ! तुझे धिक्कार है ! यदि तुमने फिर ऐसा कहा तो तुम्हें उसी क्षण मार डालूँगा । क्योंकि मैंने उसे अभयदान दिया है, फिर कैसे उसे मार सकता हूँ ? कहा भी गया है—

न गोप्रदानं न महीप्रदानं
न चान्नदानं हि तथा प्रधानम्।
यथा वदन्तीह बुधाः प्रधानं
सर्वप्रदानेष्वभयप्रदानम् ॥ ३१३ ॥

तच्छ्रुत्वा शृगाल आह—'स्वामिन्, यद्यभयप्रदानं दत्वा वधः क्रियते तदैष दोषो भवति। पुनर्यदि देवपादानां भक्त्या स आत्मनो जीवितं प्रयच्छति, तन्न दोषः। ततो यदि स स्वयमेवात्मानं वधाय नियोजयति तद्वध्यः। अन्यथास्माकं मध्यादेकतमो बध्य इति। यतो देवपादाः पथ्याशिनः क्षुन्निरोधादन्त्यां दशां यास्यन्ति। तत्किमेतैः प्राणैरस्माकं, ये स्वाम्यर्थे न यास्यन्ति ? अपरं पश्चादप्यस्माभिर्वह्निप्रवेशः कार्यः, यदि स्वामिपादानां किञ्चिदनिष्टं भविष्यति। उक्तं च—

नेति। इह संसारे, बुधाः विद्वांसः सर्वप्रदानेषु सर्वप्रकारदानेषु। मध्ये, अभयप्रदानम् आश्वासदानमित्यर्थः, यथा प्रधानं वदन्ति, कथयन्ति गोप्रदानं गवां विनियोगः, तथा प्रधानं न तादृशं वरं न तथा महीप्रदानं पृथिवीदानमपि, न तथा—प्रधानं नेत्यर्थः, अन्नदानञ्च तथा प्रधानं न हि नैव, वदन्तीति सर्वत्रानुषङ्गः। उपेन्द्रवज्रेन्द्रवज्रयोरुपजातिः वृत्तम् ॥ ३१३ ॥

(१) देवपादानाम्—भवताम्, जीवितम्—जीवनम्, नियोजयति—ददाति। तत्—तदा। पथ्याशिनः,—हितभोजनार्थिन इत्यर्थः। क्षुन्निरोधात्—क्षुधाऽवरोधात्, क्षुधाकाले अभोजनादित्यर्थः। अन्त्यां—चरमाम्, प्राणान्ताम्। दशाम्—

गोदान, भूमिदान और अन्न दान इतने महत्त्वपूर्ण दान नहीं है क्योंकि विद्वानों ने इस संसार में सभी दानों में अभयदान को ही सबसे विशिष्ट दान बताया है ॥ ३१३ ॥

यह सुनकर गीदड़ ने कहा—यदि अभय दान देकर वध किया जाय तब यह दोष होता है किन्तु यदि वह श्रीमान् के चरणों में भक्तिवश जीतेजी अपने आप को समर्पित कर दे तो इसमें दोष नहीं होगा। अतः यदि वह स्वयं अपने को वध के लिए उपस्थित कर दे तो उसे मरिएगा। अन्यथा हम लोगों में से किसी एक को मार डालिएगा। क्योंकि श्रीमान् को भोजन की नितान्त आवश्यकता है और भूख रोकने से आपका प्राणान्त हो जायगा। फिर हम लोगों के इन प्राणों से क्या लाभ हुआ जो स्वामी के काम न आ सके ? इसके अतिरिक्त यदि श्री चरणों का (आप की मृत्युरूपी) कुछ अनिष्ट हो गया तो बाद में हमलोगों को अग्नि में प्रवेश करना होगा। कहा भी गया है—

यस्मिन्कुले यः पुरुषः प्रधानः
स सर्वयत्नैः परिरक्षणीयः ।
तस्मिन्विनष्टे कुलसारभूते
न नाभिषङ्गे ह्यरयो वहन्ति ॥ ३१४ ॥

तदाकर्ण्य मदोत्कट आह—'यद्येवं तत्कुरुध्व यद्रोचते ।' तच्छ्रुत्वा स सत्वरं गत्वा तानाह—'भोः, स्वामिनो महत्यवस्था वर्त्तते । तत्किं पर्यटितेन ? तेन विना कोऽत्रास्मान् रक्षयिष्यति ? तद्गत्वा तस्य क्षुद्रोगात्परलोकं प्रस्थितस्यात्मशरीरदानं कुर्मः, येन स्वामिप्रसादस्यानृणतां गच्छामः ।

उक्तं च—

आपदं प्राप्नुयात्स्वामी यस्य भृत्यस्य पश्यतः ।
प्राणेषु विद्यमानेषु स भृत्यो नरकं व्रजेत् ॥ ३१५ ॥

प्राणैः—जीवनैः, न यास्यन्ति—गमिष्यन्तीति भावः । अनिष्टम्—मरणादिकम् ।

यस्मिन्निति । यस्मिन् कुले वंशे, यः पुरुषः प्रधानः सर्वश्रेष्ठः, स्यादिति शेषः, स सर्वैः यत्नैः निखिलचेष्टया, परिरक्षणीयः पालनीयः, सर्वेषामेवेति शेषः । कुलसारभूते कुलस्य स्थिरांशस्वरूपे, वंशप्रधानतमे इति यावत्, "सारो बले स्थिरांशे च" इति मेदिनी । यस्मिन् विनष्टे सति, अभिषङ्गे तादृशे पराभवे, "अभिषङ्गः पराभवे" इत्यमरः अरयः शत्रवः, न वहन्ति प्राप्नुवन्ति, तं कुलमिति शेषः, इति न, अपि तु सर्वतः समाक्रामन्ति इत्यर्थः । उपेन्द्रवजेन्द्रवज्रयोरुपजातिः वृत्तम् ॥ ३१४ ॥

(१) महत्यवस्था—कष्टतरावस्था, अन्तिमावस्थेति यावत्, पर्यटितेन—वृथाभ्रमणेन । क्षुद्रोगात्—क्षुत्—क्षुधा एव रोगः,—प्राणान्तकरत्वात् व्याधिस्वरूपस्तस्मात् । प्रस्थितस्य—प्रचलितस्य । अनृणताम्—ऋणान्मुक्तताम् ।

आपदमिति । पश्यतः अवलोकयतः, स्वामिप्राणनाशमिति शेषः, न तु दूर-

---

कुल के प्रधान व्यक्ति की प्रत्येक उपाय से रक्षा करनी ही चाहिए । क्योंकि कुल के तत्व स्वरूप उसके नष्ट हो जाने से शत्रु लोग उस कुल को पराजित कर देते हैं ॥ ३१४ ॥

यह सुनकर मदोत्कट ने कहा—यदि ऐसी बात है तो तुम्हें जो अच्छा लगे, वहीं करो । यह सुनकर उसने शीघ्र ही जाकर उन अनुचरों से कहा—अरे ! स्वामी अब अन्तिम दशा में (मृत्यु के समीप) पहुँच गए हैं । इसलिए अब इधर-उधर घूमने से कोई लाभ नहीं है । उनके बिना यहाँ हम लोगों की रक्षा कौन करेगा ? अतः हम लोग चलकर भूख के कारण मरते हुए स्वामी को अपना शरीर समर्पित कर दें, जिसमें स्वामी की कृपा के ऋण से मुक्त हो जाय । कहा भी गया है—

प्राणों के रहते हुए भी जिस सेवक की आँखों के सामने स्वामी विपत्ति में-

तदनन्तरं ते सर्वे बाष्पपूरितदृशो मदोत्कटं प्रणम्योपविष्टाः। तान्दृष्ट्वा मदोत्कट आह—'भोः, प्राप्तं दृष्टं वा किञ्चित्सत्त्वम्?' अथ तेषां मध्यात्-काकः प्रोवाच—'स्वामिन्, वयं तावत्सर्वत्र पर्यटिताः। परं न किञ्चित्-सत्त्वमासादितं दृष्टं वा। तदद्य मां भक्षयित्वा प्राणान्धारयतु स्वामी, येन देवस्याश्वासनं भवति, मम पुनः स्वर्गप्राप्तिरिति। उक्तं च—

स्वाम्यर्थे यस्त्यजेत्प्राणान्भृत्यो भक्तिसमन्वितः।
परं स पदमाप्नोति जरामरणवर्जितम्॥ ३१६॥

तच्छ्रुत्वा शृगाल आह—'भोः स्वल्पकायो भवान्, तव भक्षणात् स्वामिनस्तावत् प्राणयात्रा न भवति। अपरो दोषश्च तावत्समुत्पद्यते। उक्तं च—

स्थितस्येति भावः, यस्य भृत्यस्य प्राणेषु विद्यमानेषु सत्सु, स्वामी आपदं प्राप्नुयात् विपद्येत इत्यर्थः, स भृत्यः नरकं व्रजेत्, प्राणत्यागेन अपि प्रभुरक्षा विधेया इति भावः॥ ३१५॥

(१) बाष्पपूरितदृशः—अश्रुपूर्णनेत्राः। पर्यटिताः—भ्रमणं कृतवन्तः। प्राणान् धारयतु—स्वप्राणानां रक्षां करोतु। आश्वासनं—जीवनधारणम्। स्वर्गप्राप्तिः, प्रभुरक्षार्थं प्राणदानेनेति भावः।

स्वाम्यर्थे इति। यो भृत्यः भक्तिसमन्वितः प्रभौ अनुरक्तः सन्, स्वाम्यर्थे प्रभु-कार्य्यार्थं, प्राणान् त्यजेत्, स जरामरणवर्जितं जरया वार्द्धकेन, मरणेन मृत्युना च रहितम्, अपुनरावृत्तिरूपमित्यर्थः, परं पदं मोक्षमित्यर्थः, आप्नोति लभते॥ ३१६॥

(२) स्वल्पकायः—क्षुद्रदेहः। दोषः—अभक्ष्यभक्षणजनितं पापम् इत्यर्थः, काक-

---

फंस जाता है उस सेवक को नरक में जाना पड़ता है॥ ३१५॥

इसके पश्चात् वे सभी आँसू भरी आँखों से मदोत्कट को प्रणाम करके बैठ गए। उनको देखकर मदोत्कट ने कहा—कोई जानवर मिला या देखा कि नहीं? तब उनमें से कौवे ने कहा—स्वामी! हमलोग सभी जगह घूम चुके, किन्तु न तो कोई जानवर मिला न दिखाई ही पड़ा। अतः आज मुझे खाकर स्वामी अपने प्राणों की रक्षा करें जिससे आप का जीवन रह जाए और मुझे स्वर्ग की प्राप्ति हो जाए। कहा भी गया है—

जो सेवक स्वामिभक्ति से परिपूर्ण होकर स्वामी के लिए प्राणों का परित्याग कर देता है वह जरामरणरहित मुक्ति पद प्राप्त कर लेता है॥ ३१६॥

यह सुनकर गीदड़ ने कहा—आप तो बहुत छोटे शरीर वाले हैं। एक तो आप

काकमांसं शुनोच्छिष्टं स्वल्पं तदपि दुर्लभम् ।
भक्षितेनापि किं तेन तृप्तिर्येन न जायते ? ॥ ३१७ ॥

तद्दर्शिता स्वामिभक्तिर्भवता, गतं चानृण्यं भर्तृपिण्डस्य । प्राप्तश्चोभयलोके साधुवादः, तदपसराग्रतः, अहं स्वामिनं विज्ञापयामि । तथाऽनुष्ठिते शृगालः सादरं प्रणम्योपविष्टः प्रोवाच—'स्वामिन् मां भक्षयित्वाद्य प्राणयात्रां विधाय ममोभयलोकप्राप्तिं कुरु । उक्तं च—

स्वाम्यायत्ताः सदा प्राणा भृत्यानामर्जिता धनैः ।
यतस्ततो न दोषोऽस्ति तेषां ग्रहणसम्भवः ॥ ३१८ ॥

मांसस्य अभक्ष्यत्वादिति भावः ।

काकमांसमिति । एकत इति अध्याहार्यम् । एकतः काकमांसम्, अभक्ष्यमिति भावः; तदपि शुना कुक्कुरेण, उच्छिष्टं भुक्ताऽवशेषितं, तदपि स्वल्पं स्तोकं; तदपि दुर्लभं दुष्प्रापम्; अन्यच्च, येन तृप्तिः परितोषः, न जायते, तेन भक्षितेनापि किम् ? फलम् इति शेषः, न किमपि इति भावः ॥ ३१७ ॥

(१) गतं—प्राप्तम् । आनृण्यम्—ऋणशून्यत्वम् । भर्तृपिण्डस्य—स्वाम्यन्नस्य । उभयलोके—इह परत्र च । साधुवादः,—धन्यवादः, प्रशंसा इत्यर्थः । अपसर—दूरं गच्छ । विज्ञापयामि—निवेदयामि ।

स्वामीति । यतः यस्मात्, धनैः अर्जिताः क्रीता इत्यर्थः; भृत्यानां प्राणाः सदा स्वामिनः आयत्ताः, ततः, तेषां भृत्यप्राणानां, ग्रहणसम्भवो हत्याजन्यः, दोषः नास्ति ॥ ३१८ ॥

के खाने से स्वामी की भूख भी नहीं मिट पाएगी, दूसरे आप के खाने में दोष भी होगा । कहा भी गया है—

पहिले तो कौवे का मांस, वह भी कुत्ते के खाने से बचा हुआ, दूसरे अत्यन्त थोड़ा तथा रस धातु, आदि को बढ़ाने में अत्यन्त असमर्थ होने के कारण बलहीन मांस खाने से क्या लाभ जिससे भूख की तृप्ति भी न हो सके ? ॥ ३१७ ॥

अतः आपने अपनी स्वामिभक्ति दिखला दी और स्वामी द्वारा प्राप्त जीविका के ऋण से मुक्त भी हो गए । तथा दोनों लोकों में साधुवाद भी मिल गया, अतः अब आप आगे से हटिए जिसमें मैं स्वामी से कुछ निवेदन करूँ । उसके दूर हट जाने पर गीदड़ ने आदर के साथ प्रणाम किया और बैठकर कहा—स्वामी ! आज मुझे खाकर अपनी प्राणयात्रा करें (भूख से प्राणों की रक्षा करें) और मुझे दोनों लोकों की प्राप्ति कराएँ । कहा भी गया है—

धन द्वारा खरीदे गए सेवक के प्राण सर्वदा स्वामी के अधीन होते हैं अतः उन प्राणों के लेने से किसी प्रकार का हिंसाजन्य दोष नहीं होता है ॥ ३१८ ॥

अथ तच्छ्रुत्वा द्वीप्याह—'भोः, साधूक्तं भवता। पुनर्भवानपि स्वल्पकायः स्वजातिश्च। नखायुधत्वादभक्ष्य एव। उक्तं च—

नाभक्ष्यं भक्षयेत्प्राज्ञः प्राणैः कण्ठगतैरपि।
विशेषात्तदपि स्तोकं लोकद्वयविनाशकम्॥ ३१९॥

तद्दर्शितं त्वयात्मनः कौलीन्यम्। अथवा साधु चेदमुच्यते—

एतदर्थं कुलीनानां नृपाः कुर्वन्ति संग्रहम्।
आदिमध्यावसानेषु न ते गच्छन्ति विक्रियाम्॥ ३२०॥

---

(१) द्वीपी-व्याघ्रः, स्वजातिश्च-सजातीयश्च। नखायुधत्वात्—नखास्त्रत्वात्, स्वजातिः, श्वापदा हि नखैरेव अस्त्रैः अन्यान् पशून् हिंसन्तीति तेषां नखायुधत्वम्, अत एव अभक्ष्यः, ज्ञातिभक्षणं नैव दृश्यते कदाचिदिति भावः। पञ्चपञ्चनखातिरिक्तनखायुधपशुभक्षणञ्च शास्त्रनिषिद्धमिति द्रष्टव्यम्।

नाभक्ष्यमिति। प्राज्ञः पण्डितो जनः, प्राणैः कण्ठगतैरपि कण्ठागतप्राणोऽपीत्यर्थः, "इत्थम्भूतलक्षणे" (पा० २।३।२१) इति सूत्रेण विशेषणे तृतीया, आहाराभावेन इति भावः, अभक्ष्यं शास्त्रनिषिद्धं वस्तु, न भक्षयेत्, विशेषात् विशेषतस्तु, तदपि अभक्ष्यभक्षणमपीत्यर्थः, स्तोकम् अल्पम्, उदरपरिपोषणासमर्थमित्यर्थः, चेदिति शेषः, लोकद्वयविनाशकम् अतृप्तिकरत्वात् नेह लोके प्रशस्यम्, अभक्ष्यत्वात् परलोकव्याघातकञ्चेति भावः॥ ३१९॥

(२) कौलीन्यम्—आभिजात्यं, सत्कुलप्रसूतत्वम् इत्यर्थः, स्वाभ्यनुरागादिति भावः।

एतदर्थमिति। नृपाः राजानः एतदर्थम् एतन्निमित्तं, विपत्तौ साहाय्यलाभार्थं-

---

यह सुनकर चीते ने कहा—आप ने ठीक ही कहा है किन्तु आप भी तो स्वल्पकाय (छोटे शरीर वाले) तथा सजातीय हैं और नखायुध (जिनका नख हथियार का काम करता है) होने के कारण अभक्ष्य भी हैं (नख से अस्त्र का काम लेने वाले पशुओं का मांस खाना शास्त्र से निषिद्ध है)। कहा भी गया है—

प्राणों के गले तक आ जाने पर भी (मृत्यु के समीप पहुँच जाने पर भी) बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वह अभक्ष्य का भक्षण न करे। विशेष करके उस दशा में तो और भी नहीं खाना चाहिए जब कि वह बहुत थोड़ा हो और उससे भूख की तृप्ति भी न हो सके। वस्तुतः ऐसा करने से तृप्ति न होने के कारण इह लोक तथा पाप से वह लोक-दोनों ही नष्ट हो जाते हैं॥ ३१९॥

तुमने अपनी कुलीनता दिखला दी। अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

इसीलिए तो राजा लोग (अपने राजकीय कार्यों में) कुलीन व्यक्तियों का

तदपसराग्रतः, येनाहं स्वामिनं विज्ञापयामि ।'

तथानुष्ठिते द्वीपी प्रणम्य मदोत्कटमाह—'स्वामिन्, क्रियतामद्य मम प्राणैः प्राणयात्रा। दीयतामक्षयो वासः स्वर्गे मम, विस्तार्यतां क्षितितले प्रभूततरं यशः । तन्नात्र विकल्पः कार्यः । उक्तं च—

मृतानां स्वामिनः कार्ये भृत्यानामनुवर्त्तिनाम् ।
भवेत्स्वर्गेऽक्षयो वासः कीर्तिश्च धरणीतले ॥ ३२१ ॥

तच्छ्रुत्वा क्रथनकश्चिन्तयामास 'एतैस्तावत्सर्वैरपि शोभनानि वाक्यानि प्रोक्तानि । न चैकोऽपि स्वामिना विनाशितः । तदहमपि प्राप्तकालं विज्ञापयामि । येन मम वचनमेते त्रयोऽपि समर्थयन्ति ।' इति निश्चित्य प्रोवाच—'भोः, सत्यमुक्तं भवता । परं भवानपि नखायुधः । तत्कथं भवन्तं स्वामी

मित्यर्थः, कुलीनानां महाकुलप्रसूतानां जनानां, संग्रहं कुर्वन्ति तान् पालयन्ति इत्यर्थः, यतः ते कुलीनाः, आदिमध्यावसानेषु कदापीत्यर्थः, विक्रियां भावान्तरं, न गच्छन्ति न प्राप्नुवन्ति, समभावेनैव तिष्ठन्तीति भावः ॥ ३२० ॥

(१) क्षितितले—भूमौ, विकल्पः—सन्देहः, अन्यथाभावः ।

मृतानामिति । स्वामिनः कार्य्ये कार्य्यार्थमित्यर्थः, मृतानां त्यक्तप्राणानाम् अनुवर्त्तिनाम् अनुरक्तानां, भृत्यानां सेवकानां, स्वर्गे सुरलोके, अक्षयो वासः, धरणीतले च कीर्त्तिः यशः, अक्षया इति शेषः, दृष्टान्तरूपेति भावः, भवेत् जायेत ॥ ३२१ ॥

(२) प्राप्तकालं—यथावसरम्, समयोचितमित्यर्थः । समर्थयन्ति—अनुमन्यन्ते,

---

संग्रह (नियुक्ति) करते हैं ; क्योंकि वे प्रारम्भ, मध्य और अन्त किसी भी दशा में विकार ग्रस्त नहीं होते हैं अर्थात् स्वामी के प्रति उनमें सर्वदा सद्भाव बना रहता है ॥ ३२० ॥

इसलिए आप सामने से हटिए, जिसमें मैं स्वामी से निवेदन करूँ। उसके सामने से हट जाने पर चीते ने प्रणाम करके मदोत्कट से कहा—स्वामी आज मेरे प्राणों से अपने प्राणों की रक्षा कीजिए और मुझे स्वर्ग में सदैव के लिए स्थान दीजिए तथा संसार में मेरी कीर्ति का विस्तार कीजिए । इस विषय में आप कुछ भी संशय मत कीजिए । कहा भी गया है—

स्वामी के कार्य में मरे हुए तथा स्वामी की आज्ञा का पालन करने वाले सेवकों को स्वर्ग में अक्षय निवास तथा संसार में यश की प्राप्ति होती है ॥ ३२१ ॥

यह सुनकर क्रथनक ने विचार किया कि इन सबों ने अच्छी अच्छी बातें कही हैं किन्तु स्वामी ने किसी को नहीं मारा । अतः मैं भी समयोचित निवेदन करूँ, जिससे ये तीनों मेरी बात का समर्थन करें । ऐसा निश्चय करके उसने कहा—

भक्षयति ? उक्तं च—

मनसापि स्वजात्यानां योऽनिष्टानि प्रचिन्तयेत् ।
भवन्ति तस्य तान्येव इह लोके परत्र च ॥ ३२२ ॥

तदपसराग्रतः, येनाहं स्वामिनं विज्ञापयामि ।'

तथानुष्ठिते क्रथनकोऽग्रे स्थित्वा प्रणम्योवाच—'स्वामिन्, एते तावद-भक्ष्या भवताम् । तन्मम प्राणैः प्राणयात्रां विधीयताम्, येन ममोभयलोक-प्राप्तिर्भवति । उक्तं च—

न यज्वानोऽपि गच्छन्ति तां गतिं नैव योगिनः ।
यां यान्ति प्रोज्झितप्राणाः स्वाम्यर्थे सेवकोत्तमाः ॥ ३२३ ॥

एवमभिहिते ताभ्यां शृगालचित्रकाभ्यां विदारितोभयकुक्षिः क्रथनकः

सम्यक् स्पृहयन्ति वा, समर्थशब्दात् "तत् करोति" (ग०) इति णिचि रूपम् ।

मनसेति । यः मनसाऽपि, का कथा कार्य्येणेति भावः; स्वजात्यानाम् अनिष्टानि प्रचिन्तयेत्, तस्य इह लोके, परत्र च परलोके च, तान्येव अनिष्टानि, भवन्ति ॥ ३२२ ॥

नेति । सेवकेषु भृत्येषु, उत्तमाः श्रेष्ठाः, स्वाम्यर्थे प्रोज्झिताः परित्यक्ताः, प्राणाः यैः तथाभूताः सन्तः, यां गतिं, यान्ति प्राप्नुवन्ति, यज्वानः विधिना इष्टवन्तोऽपि जनाः, "यज्वा तु विधिनेष्टवान्" इत्यमरः, तां गतिं न गच्छन्ति, योगिनोऽपि नैव, तां गतिं गच्छन्ति इत्यनुषङ्गः, स्वाम्यर्थमुत्सृष्टप्राणस्य मोक्षप्राप्तिर्नियतेति भावः ३२३ ॥

(१) शृगालचित्रकाभ्यां—जम्बूकद्वीपिभ्याम् ।

आप भी तो नखायुध वाले हैं, इसलिए आप को कैसे खायँगे ? कहा भी गया है—

जो मन से भी अपनी जाति वालों का अनिष्ट सोचता है; उसका इस लोक और परलोक दोनों में अनिष्ट ही होता है । ३२२ ॥

इसलिए सामने से हटिए जिससे मैं भी स्वामी से निवेदन करूँ । उसके सामने से हट जाने पर क्रथनक ने प्रणाम करके कहा—स्वामी ! ये सभी आप के खाने योग्य नहीं हैं । इसलिए मेरे प्राणों से अपनी प्राण यात्रा कीजिए जिससे मुझे दोनों लोकों की प्राप्ति हो । कहा भी गया है—

श्रेष्ठ सेवक अपने स्वामी के लिए प्राणों का परित्याग करके जिस गति को प्राप्त करते हैं उसे न तो यज्ञ करने वाले ही पाते हैं और न योगी ही पा सकते हैं ॥ ३२३ ॥

ऐसा कहने पर गीदड़ और चीते ने उसकी दोनों कोखें फाड़ डालीं जिससे

प्राणानत्याक्षीत् । ततश्च तैः क्षुद्रपण्डितैः सर्वैर्भक्षितः । अतोऽहं ब्रवीमि— 'बहवः पण्डिताः क्षुद्राः' इति ।

तद्भद्र, क्षुद्रपरिवारोऽयं ते राजा मया सम्यग्ज्ञातः । सतामसेव्यश्च । उक्तं च—

अशुद्धप्रकृतौ राज्ञि जनता नानुरज्यते ।
यथा गृध्रसमासन्नः कलहंसः समाचरेत् ॥ ३२४ ॥

तथा च—गृध्राकारोऽपि सेव्यः स्याद्धंसाकारैः सभासदैः ।
हंसाकारोऽपि सन्त्याज्यो गृध्राकारैः स तैर्नृपः ॥ ३२५ ॥

---

(१) क्षुद्रपण्डितैः—अधमोत्तमैः 'क्षुद्रभारपीडितैः' अपपाठोऽयम् ।

(२) क्षुद्रपरिवारः—नीचाशयपरिजन इत्यर्थः । सम्यज्ञातः—सम्यक्परीक्षितः; सताम्—साधुपुरुषाणाम् । असेव्यः—अनाश्रयणीयः ।

अशुद्धेति । अशुद्धा सदोषा, प्रकृतिर्यस्य तादृशे राज्ञि जनता लोकसमूहः, न अनुरज्यते नानुरागं व्रजति; यथा गृध्रसमासन्नः गृध्रपरिवृतः, कलहंसः समाचरेत् आचरणं कुर्य्यादित्यर्थः; हिंस्रपक्षिपरिवृतत्वेन निर्मलोऽपि कलहंसः हिंसाचरणात् जनैर्यथा न सेव्यते, तथा अयं ते राजा इति भावः ॥ ३२४ ॥

गृध्रेति । नृपः गृध्राकारः गृध्रः शवभोजी निकृष्टपक्षिविशेषः; तस्य आकार इव आकारो यस्य तादृशः, गृध्रवत् आचारवानपीति भावः ; हंसाकारैः हंसानामाकार इव आकारो येषां तादृशैः, हंसवत् सुनिर्मलैरिति भावः, सभासदैः सभ्यैः; सचिवादिभिरित्यर्थः, परिवृतश्चेदिति अध्याहार्य्यं, सेव्यः स्यात्, सत्सङ्गेन हिंस्रप्रकृतेरपि तस्य प्रकृतिपरिवर्त्तनसम्भवादिति भावः । हंसाकारोऽपि हंसवत् सुनिर्मलप्रकृतिरपि;

क्रथनक मर गया । इसके पश्चात् उन सभी क्षुद्र पण्डितों ने उसे खा डाला । इसी लिए मैं कहता हूँ कि 'बहुत से क्षुद्र पण्डित' इत्यादि ।

इसलिए हे भद्र ! मैंने भली भाँति समझ लिया है कि तुम्हारे इस राजा के परिवार में सभी नीच ही नीच भरे पड़े हैं । अतः सज्जनों के लिए इसकी सेवा उचित नहीं है । कहा भी गया है—

जैसे गृद्धों से घिरा हुआ राजहंस उत्तम आचरण नहीं कर सकता (इसी कारण वह लोगों की प्रसन्नता का पात्र नहीं बन पाता) उसी प्रकार दुष्ट प्रकृति (मन्त्री, अधिकारी आदि) से घिरे हुए राजा से भी (सदाचरण न कर सकने के कारण) प्रजा प्रसन्न नहीं रह सकती है ॥ ३२४ ॥

और भी—यदि राजा गृद्ध के समान कठोर आकृति वाला हो किन्तु उसके सभासद हंस के समान कोमल आकृति वाले हों तो उसकी सेवा करनी ही चाहिए ।

तन्नूनं ममोपरि केनचिद् दुर्जनेनायं प्रकोपितः, तेनैवं वदति। अथवा भवत्येतत्। उक्तं च—

मृदुना सलिलेन खन्यमाना-
न्यवघृष्यन्ति गिरेरपि स्थलानि।
उपजापविदां च कर्णजापैः
किमु चेतांसि मृदूनि मानवानाम्?॥ ३२६॥

कर्णविषेण च भग्नः किं किं न करोति बालिशो लोकः।
क्षपणकतामपि धत्ते पिबति सुरां नरकपालेन॥ ३२७॥

स नृपः, गृध्राकारैः तैः सभ्यैः, परिवृतश्चेत् सन्त्याज्यः, असत्सङ्गेन निर्मल-प्रकृतेरपि तस्य प्रकृतिविपर्य्ययाशङ्क्येति भावः॥ ३२५॥

मृदुनेति। गिरेः पर्वतस्यापि, स्थलानि प्रदेशाः, मृदुना कोमलेन, सलिलेन जलेन, खन्यमानानि सततमुपरिदेशात् पतनेन ताड्यमानानि सन्ति, अवघृष्यन्ति क्षयं गच्छन्ति, उपजापविदां भेदकुशलानाञ्च, कर्णजापैः पैशुन्यव्यवहारैः, कर्णभञ्जनैः कुमन्त्रणैरित्यर्थः, खन्यमानानि इति पूर्वानुषङ्गः, मानवानां मृदूनि चेतांसि किमु? नूनमेव विकृतानि भवन्तीत्यर्थः, निरन्तरमतिकोमलजलप्रपातेन कठोरपर्वतस्यापि यतः परिक्षयो दृश्यते, अतः भेदपटूनां दारुणैः कुमन्त्रणैः कोमलानां चेतसां विकारस्तु अवश्यमेव सम्भवतीति भावः। मालभारिणी वृत्तम्॥ ३२६॥

कर्णविषेणेति। कर्णविषेण विषतुल्यकर्णजापेन, कर्णजापस्य अतीवानिष्ट-फलत्वात् तत्र विषत्वारोपः इति बोध्यम्; भग्नः भेदं गतः, विकृतचित्त इति भावः; बालिशो मूर्खो लोकः, विद्वांस्तु कर्णजापवचनं न शृणोतीति भावः, किं किं, दुष्कार्य-मिति शेषः, न करोति? सर्वमेव करोतीत्यर्थः। किं बहुना? क्षपणकतां बौद्ध-

---

परन्तु यदि राजा हंस जैसी आकृति वाला हो किन्तु उसके सभासद गृद्ध जैसी आकृति वाले हों तो उसे छोड़ देना चाहिए॥ ३२५॥

इसलिए निश्चय ही किसी ने उसे मेरे ऊपर क्रुद्ध बना दिया है इसीलिए वह ऐसा कहता है, अथवा ऐसा होता ही है। कहा भी गया है—

जब पहाड़ की कड़ी से कड़ी चट्टान भी कोमल जल के निरन्तर आघात से टूट फूट जाती है तब भेद बुद्धि (वैमनस्य) उत्पन्न करने में कुशल दुष्टों के निरन्तर कान भरते रहने से मनुष्यों के कोमल हृदयों के विचलित हो जाने में आश्चर्य ही क्या है?॥ ३२६॥

निरन्तर कान भरने के विष से बिगड़े हुए अदूरदर्शी व्यक्ति क्या क्या नहीं करते? देखिए, बुद्धि के विकार से ही मनुष्य क्षपणक (बौद्ध सन्यासी) बन जाता

अथवा साध्विदमुच्यते—

पादाहतोऽपि　दृढदण्डसमाहतोऽपि
　　यं दंष्ट्रया स्पृशति तं किल हन्ति सर्पः।
कोऽप्येष　एव पिशुनोग्रमनुष्यधर्मः
　　कर्णे परं स्पृशति हन्ति परं समूलम् ? ॥ ३२८ ॥

तथा च—अहो खलभुजङ्गस्य विपरीतो वधक्रमः।
　　कर्णे लगति चैकस्य प्राणैरन्यो वियुज्यते ॥ ३२९ ॥

सन्न्यासित्वमपि, धत्ते अवलम्बते, नर-कपालेन नृकरोटिकया, सुरां पिबति च, कापालिकतामपि आश्रयतीत्यर्थः विकृतचित्तत्वादिति भावः ॥ ३२७ ॥

पादाहत इति। सर्पः पादाहतोऽपि चरणदलितोऽपि, दृढेन कठिनेन, अथवा दृढं यथा तथा, दण्डेन समाहतोऽपि प्राप्ताघातोऽपि, दंष्ट्रया यं स्पृशति दशतीत्यर्थः, तं हन्ति किल नाशयत्येव, किन्तु, एष पिशुनानां खलस्वभावानां, "पिशुनो दुर्जनः खलः" इत्यमरः। उग्राणां दारुणानां, मनुष्याणां धर्मः व्यवसाय इत्यर्थः; कोऽपि अविदितगुणः एव; दुर्ज्ञेय इत्यर्थः, यत् परं कर्णे स्पृशति एकस्य कर्णे प्रविशतीत्यर्थः, परम् अन्यं जनञ्च, समूलं हन्ति नाशयति, सर्पादपि क्रूरतरः खलः इति भावः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ३२८ ॥

अहो इति। अहो! आश्चर्य्यम् एतत्, यत् खल एव भुजङ्गः सर्पः तस्य, वधक्रमः हत्यानियमः, विपरीतः विभिन्नरूपः; तथा हि, सः एकस्य कर्णे लगति जपति, अन्यश्च अपरो जनः, प्राणैः वियुज्यते विहीयते; सर्पस्तु यं दंष्ट्रया स्पृशति तमेव हन्ति, खलः पुनः एकं कर्णे स्पृष्ट्वा तेनैवापरं नाशयतीति विचित्रमिति भावः ॥ ३२९ ॥

है और औघड़ मनुष्य की खोपड़ी के पात्र में मदिरा पीने लगता है ॥ ३२७ ॥

अथवा यह ठीक कहा गया है—

पैरों से कुचले जाने पर तथा मजबूत डण्डे से मारे जाने पर साँप जिसे अपने विष के दाँतों से डँस लेता है उसे मार डालता है। किन्तु यह चुगली करने वाला निर्दयी मनुष्य लगता तो एक के कान में हैं किन्तु दूसरे को जड़ से ही नष्ट कर देता है ॥ ३२८ ॥

और भी—कितने आश्चर्य की बात है कि इस दुष्ट रूपी साँप के मारने का क्रम ही उल्टा है। यह लगता (डँसता) तो एक कान में है किन्तु मरता कोई दूसरा ही है ॥ ३२९ ॥

तदेवं गतेऽपि किं कर्तव्यमित्यहं त्वां सुहृद्भावात्पृच्छामि।' दमनक आह—'तद्देशान्तरगमनं युज्यते। नैवंविधस्य कुस्वामिनः सेवां विधातुम्। उक्तं च—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते॥ ३३०॥

संजीवक आह—'अस्माकमुपरि स्वामिनि कुपिते गन्तुं न शक्यते, न चान्यत्र गतानामपि निवृतिर्भवति। उक्तं च—

महतां योऽपराध्येत दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत्।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहु ताभ्यां हिंसति हिंसकम्॥ ३३१॥

---

(१) सुहृद्भावात्—मित्रभावात्, पृच्छामि।

गुरोरिति। अवलिप्तस्य उद्धतस्य, कार्य्याकार्य्यं कर्त्तव्याकर्त्तव्यम्, अजानतः, उत्पथप्रतिपन्नस्य कुमार्गगामिनः, गुरोः पित्रादेरपि, परित्यागो विधीयते विहिततया क्रियते इत्यर्थः; तादृशगुरुत्यागो न दोषायेति भावः॥ ३३०॥

(२) निर्वृतिः,—सुखम्, उद्वेगशून्यता वा भवति।

महतामिति। यः महतां बलवताम्, अपराध्येत् अपराधं कुर्य्यात्, स दूरस्थोऽस्मि इति मत्वाऽपि न आश्वसेत् न सान्त्वनां प्राप्नुयात्; यतः बुद्धिमतो जनस्य, बाहु भुजौ, दीर्घौ दूरस्थितवस्तुग्रहणसमर्थौ, ताभ्यां बाहुभ्यां, दूरदेशप्रसृताभ्यामिति भावः, हिंसकम् अपराधिनं; हिंसति नाशयति, स महान् इति शेषः॥ ३३१॥

अतः ऐसा होने पर भी क्या करना चाहिए, यह मैं तुमसे मित्रता के नाते पूँछ रहा हूँ। दमनक ने कहा—'यहाँ से किसी दूसरे स्थान में चला जाना ही उचित है। ऐसे दुष्ट स्वामी की सेवा करना ठीक नहीं है। कहा गया है—

उद्धत स्वभाव वाले तथा कर्तव्याकर्तव्य का विवेक न रखने वाले कुमार्गगामी गुरु का भी परित्याग कर देना चाहिए॥ ३३०॥

संजीवक ने कहा—अपने ऊपर स्वामी के क्रुद्ध होने पर मैं दूसरी जगह नहीं जा सकता हूँ और न तो दूसरी जगह जाने से मुझे छुटकारा ही मिल सकता है। कहा भी गया है—

जो बड़ों के प्रति अपराध करता है उसे यह सोचकर आश्वस्त नहीं होना चाहिए कि मैं तो उनसे दूर चला आया हूँ। क्योंकि बुद्धिमान् की भुजाएँ बड़ी लम्बी होती हैं। वह अपने से बहुत दूर रहने वाले अपराधी को भी मार डालने में समर्थ होता है॥ ३३१॥

तद्युद्धं मुक्त्वा मे नान्यदस्ति श्रेयस्करम् । उक्तं च—

न तान् हि तीर्थैस्तपसा च लोकान्
स्वर्गैषिणो दानशतैः सुवृत्तैः ।
क्षणेन यान् यान्ति रणेषु धीराः
प्राणान् समुज्झन्ति हि ये सुशीलाः ॥ ३३२ ॥

मृतैः सम्प्राप्यते स्वर्गो जीवद्भिः कीर्तिरुत्तमा ।
तदुभावपि शूराणां गुणावेतौ सुदुर्लभौ ॥ ३३३ ॥

ललाटदेशे रुधिरं स्रवत्तु
शूरस्य यस्य प्रविशेच्च वक्त्रे ।
तत्सोमपानेन सम भवेच्च
सग्रामयज्ञे विधिवत्प्रदिष्टम् ॥ ३३४ ॥

नेति । ये रणषु सङ्ग्रामेषु, प्राणान् समुज्झन्ति सन्त्यजन्ति, त क्षणेन प्राणत्यागमात्रेण, न तु विलम्बेनेति भावः, यान् लोकान्, यान्ति प्राप्नुवन्ति, सुशीलाः धीराश्च हि निश्चितं, स्वर्गैषिणः स्वर्गकामाः सन्तः, तीर्थैः पुण्यक्षेत्रपर्य्यटनैरित्यर्थः, तपसा चान्द्रायणादिना, तथा सुवृत्तैः सुसम्पन्नैः, दानशतैश्च तान् लोकान्, न हि नैव, यान्तीत्यनुषज्यते, युद्धे मृतस्य सुनिश्चितः स्वर्गवासः इति भावः । उपजातिः वृत्तम् ॥ ३३२ ॥

मृतैरिति । मृतैः, सङ्ग्रामे इति शेषः, स्वर्गः; जीवद्भिः; युद्धं जित्वेति शेषः, उत्तमा कीर्त्तिः सम्प्राप्यते लभ्यते, तत् तस्मात्; शूराणां वीराणाम्, एतौ उभौ अपि स्वर्गलाभयशोलाभरूपाविति भावः, गुणौ सुदुर्लभौ, शूरेतरैरिति भावः ॥ ३३३ ॥

ललाटेति । यस्य तु शूरस्य ललाटदेशे स्रवत् निर्गच्छत्. रुधिरं, सङ्ग्राम-

---

अतः युद्ध के अतिरिक्त मेरे लिए और कोई कल्याणकारी उपाय नहीं रह गया है। कहा भी गया है—

स्वर्ग की कामना करने वाले तीर्थों, तपस्याओं, सैकड़ों दानों तथा सदाचरणों से भी उन लोकों को नहीं प्राप्त करते, जिन्हें धैर्यवान् तथा सुशील व्यक्ति युद्ध में प्राणों का परित्याग करके क्षण भर में ही प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३३२ ॥

युद्ध में मृत्यु होने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है और (विजयी बनकर) जीवित रहने से उत्तम कीर्ति मिलती है। वीरों के ये दोनों गुण (स्वर्ग एवं यशप्राप्ति) अन्य लोगों के लिए अत्यन्त दुर्लभ होते हैं ॥ ३३३ ॥

शास्त्रकारों ने ऐसा बताया है कि जिस वीर पुरुष के माथे से बहता हुआ

तथा च—

होमार्थैर्विधिवत्प्रदानविधिना सद्विप्रवृन्दार्चनै-
र्यज्ञैर्भूरिसुदक्षिणैः सुविहितैः सम्प्राप्यते यत्फलम् ।
सत्तीर्थाश्रमवासहोमनियमैश्चान्द्रायणाद्यैः कृतैः
पुम्भिस्तत्फलमाहवे विनिहतैः सम्प्राप्यते तत्क्षणात् ।। ३३५ ।।

तदाकर्ण्य दमनकश्चिन्तयामास—'युद्धाय कृतनिश्चयोऽयं दृश्यते दुरात्मा । तद्यदि कदाचित्तीक्ष्णशृङ्गाभ्यां स्वामिनं प्रहरिष्यति तन्महाननर्थः सम्पत्स्ये । तदेनं भूयोऽपि स्वबुद्धया प्रबोध्य तथा करोमि यथा देशान्तरगमनं करोति ।' आह च—'भो मित्र, सम्यगभिहितं भवता । परं

प्रहारोत्थमिति भावः, वक्त्रे मुखे, प्रविशेच्च, तत् रुधिरं, सङ्ग्रामयज्ञे विधिवत् यथाविधि; सोमपानेन समं तुल्यं, प्रदिष्टं कीर्तितं, भवेच्च । उपजातिः वृत्तम् ।। ३३४ ।।

होमार्थैरिति । पुम्भिः पुरुषैः, विधिवत् यथाविधि, कृतैः सङ्गृहीतैः, होमार्थैः यज्ञीयवस्तुभिः, "अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु" इत्यमरः, प्रदानविधिना प्रकृष्टेन दानरूपेण विधानेन, सतां विदुषां, विप्रवृन्दानां ब्राह्मणसमूहानाम्, अर्चनैः; पूजनैः, तथा सुविहितैः सुनिष्पादितैः, भूरिसुदक्षिणैः बहुशोभनदक्षिणावद्भिः, यज्ञैः सत्सु श्रेष्ठेषु, तीर्थेषु आश्रमेषु च वासैः, होमैः अग्निहोत्रानुष्ठानैरित्यर्थः, नियमैः इन्द्रियसंयमादिभिः, तथा चान्द्रायणाद्यैः व्रतविशेषैः, सर्वत्र करणे तृतीया, यत् फलं, सम्प्राप्यते लभ्यते, तत् फलम् आहवे सङ्ग्रामे, विनिहतैः तत्क्षणात्, न तु विलम्बेनेति भावः, सम्प्राप्यते । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।। ३३५ ।।

(१) दुरात्मा–दुष्टः, तीक्ष्णशृङ्गाभ्यां—तीव्रविषाणाभ्याम्, अनर्थः—अनिष्टः ।

रक्त उसके मुँह में जाता है वह युद्ध रूपी यज्ञ में विधिपूर्वक सोमरस पीने के समान ही होता है । ३३४ ।।

और भी—विधिपूर्वक होम करने, विधिवत् दान देने, विद्वान् ब्राह्मणों की पूजा करने तथा बड़ी बड़ी दक्षिणा वाले यज्ञों के करने से एवं तीर्थ करने, आश्रमों में निवास करने, होम, नियम तथा चान्द्रायण आदि व्रतों के करने से मनुष्य को जो फल मिलते हैं, वे फल युद्ध में मरने वाले वीरों को उसी क्षण मिल जाते है ।। ३३५ ।।

यह सुनकर दमनक ने विचार किया कि 'यह दुष्ट तो युद्ध के लिए उद्यत दिखाई दे रहा है । अतः यदि इसने कहीं अपनी तीखीं सींगों से स्वामी के ऊपर प्रहार कर दिया तो महान् अनर्थ उत्पन्न हो जायगा । इसलिए इसे फिर एक बार अपनी बुद्धि द्वारा समझाकर ऐसा करूँ कि यह कहीं दूसरी जगह चला जाय ।'

कः स्वामिभृत्ययोः संग्रामः ? उक्तं च—

बलवन्तं रिपुं दृष्ट्वा किलात्मानं प्रगोपयेत् ।
बलवद्भिश्च कर्तव्या शरच्चन्द्रप्रकाशता ॥ ३३६ ॥

अन्यच्च—शत्रोर्विक्रममज्ञात्वा वैरमारभते हि यः ।
स पराभवमाप्नोति समुद्रष्टिट्टिभाद्यथा ॥ ३३७ ॥

सञ्जीवक आह—'कथमेतत् ।' सोऽब्रवीत्—

१२ : समुद्र-टिट्टिभयोः कथा

कस्मिंश्चित्समुद्रतीरैकदेशे टिट्टिभदम्पती प्रतिवसतः स्म । ततो गच्छति काले ऋतुसमयमासाद्य टिट्टिभी गर्भमाधत्त । अथासन्नप्रसवा

प्रबोध्य—सान्त्वयित्वा । स्वामिभृत्ययोरिति । सङ्ग्रामः समावस्थयोरेव युज्यते, स्वामिभृत्ययोस्तु साम्याभावात् कथं सङ्ग्रामः ? इति भावः ।

बलवन्तमिति । बलवन्तं प्रबलं, रिपुं शत्रुं, दृष्ट्वा आत्मानं प्रगोपयेत् प्रकर्षेण गोपितं कुर्य्यात्, दुर्बल, इति शेषः, किलेत्यवधारणे, बलवद्भिश्च जनैः, शरच्चन्द्रप्रकाशता शरच्चन्द्रवत् आत्मप्रकाश इत्यर्थः, अगोपनमिति भावः, कर्त्तव्या, बलिभिः सह सङ्ग्रामे बलिनः एव आत्मानं प्रकाशयन्ति न तु दुर्बला इति भावः ॥ ३३६ ॥

शत्रोरिति । यः हि शत्रोः विक्रमम् अज्ञात्वा वैरं विरोधम्, आरभते, सः समुद्रः यथा टिट्टिभात् क्षुद्रपक्षिविशेषात्, तथा पराभवम् आप्नोति ॥ ३३७ ॥

[१२]

(१) ऋतुसमयम्—गर्भाधानकालम्, आसन्नप्रसवा—प्रसवकालमुपगता, निरुप-

---

यह विचार कर उसने कहा कि 'मित्र ! आप ने कहा तो विल्कुल ठीक ही है किन्तु स्वामी और सेवक की लड़ाई उचित नहीं है । कहा भी गया है—

शत्रु को अपने से बलवान् देखकर अपने आप को छिपा लेना चाहिए अर्थात् विग्रह न करके संधि कर लेनी चाहिए किन्तु बलवान् व्यक्ति को (निर्बल शत्रु के प्रति) शरद्कालीन चन्द्रमा के समान अपना प्रकाश (पौरुष) प्रकट करना चाहिए ॥ ३३६ ॥

और भी—जो व्यक्ति शत्रु के पराक्रम को समझे बिना उसके प्रति लड़ाई ठान देता है वह (बलवान् होते हुए भी) उसी प्रकार पराजित होता है जैसे समुद्र टिट्टिभ (टिटिहरी नाम के पक्षी) से पराजित हुआ था ॥ ३३७ ॥

संजीवक ने कहा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

समुद्र और टिट्टिभ की कथा

किसी समुद्र के किनारे एक स्थान में टिट्टिभ का एक जोड़ा रहा करता था ।

सती सा टिट्टिभमूचे—'भोः कान्त, मम प्रसवसमयो वर्तते। तद्विचिन्त्यतां किमपि निरुपद्रवंस्थानम्, येन तत्राहमण्डकविमोक्षणं करोमि।' टिट्टिभः प्राह—'भद्रे, रम्योऽयं समुद्रप्रदेशः। तदत्रैव प्रसवः कार्यः।' साह—'अत्र पूर्णिमादिने समुद्रवेला चरति। सा मत्तगजेन्द्रानपि समाकर्षति। तद्दूरमन्यत्र किञ्चित्स्थानमन्विष्यताम्।' तच्छ्रुत्वा विहस्य टिट्टिभः प्राह—'भद्रे, युक्तमुक्तं भवत्या। का मात्रा समुद्रस्य या मम दूषयिष्यति प्रसूतिम्। किं न श्रुतं भवत्या—

बद्ध्वाम्बरचरमार्गं व्यपगतधूमं सदा महद्भयदम्।
मन्दमतिः कः प्रविशति हुताशनं स्वेच्छया मनुजः॥ ३३८॥

द्रवम्—निर्विघ्नम्, शान्तमिति भावः। अण्डकविमोक्षणम्—अण्डकानां क्षुद्रडिम्बानां, विमोक्षणं गर्भात् निःसारणम्।

(१) समुद्रवेला। सागरजलस्य विकृतिः, जलोच्छ्वास इत्यर्थः, "अब्ध्यम्बुविकृतौ वेला" इत्यमरः। चरति भवतीत्यर्थः, चन्द्रोदयदर्शनात् वृद्धिं गच्छति इति भावः। सा—वेला। समाकर्षति—आयत्तीकरोति, समाकृष्य जलनिमग्नान् करोतीत्यर्थः।

(२) का मात्रा—किं वित्तं, का शक्तिसम्पदिति भावः। प्रसूतिम्—अपत्यं, 'प्रसूतिरुद्भवेऽपि स्यात् तनये दुहितर्यपि" इति मेदिनी। दूषयिष्यति—समाहरिष्यति।

बद्ध्वेति। कः मन्दमतिः मूढचेताः, मनुजः मानवः, बद्धः रुद्ध इत्यर्थः, अम्बरचराणां खेचराणां, मार्गः पन्थाः येन तादृशं, गगनस्पर्शिशिखमित्यर्थः, व्यपगतधूमं धूमशून्यं नियतं तीव्रं ज्वलन्तमिति भावः, अत एव सदा महाभयदम् अतिभयङ्करं,

कुछ समय बीतने के पश्चात् ऋतु समय पाकर टिट्टिभी ने गर्भ धारण किया। प्रसवकाल समीप होने पर उसने टिट्टिभ से कहा—'हे प्रिय! मेरे प्रसव का समय हो गया है। अतः किसी उपद्रवरहित स्थान की खोज कीजिए, जहाँ मैं अण्डे दे सकूँ।' टिट्टिभ ने कहा—'कल्याणि! समुद्र का तट ही बहुत रमणीय है। इसलिए यहीं प्रसव करो।' उसने कहा—'इस स्थान पर पूर्णिमा के दिन समुद्र की लहर आ जाती है। वह मतवाले हाथियों को भी अपने साथ खींच ले जाती है। इसलिए यहाँ से दूर किसी स्थान की खोज कीजिए।' यह सुनकर टिट्टिभ ने हँसकर कहा—कल्याणि! तुम्हारा कहना तो ठीक है, किन्तु समुद्र की क्या हस्ती है जो मेरी सन्तान को नष्ट कर सके? क्या तुमने सुना नहीं है—

पक्षियों के मार्ग आकाश को रोक लेने वाली (आकाश में दूर तक उठी हुई

मत्तेभकुम्भविदलनकृतश्रमं सुप्तमन्तकप्रतिमम् ।
यमलोकदर्शनेच्छुः सिंहं बोधयति को नाम ॥ ३३९ ॥
को गत्वा यमसदनं स्वयमन्तकमादिशत्यजातभयः ।
प्राणानपहर मत्तो यदि शक्तिः काचिदस्ति तव ॥ ३४० ॥
प्रालेयलेशमिश्रे मरुति प्राभातिके च वाति जडे ।
गुणदोषज्ञः पुरुषो जलेन कः शीतमपनयति ॥ ३४१ ॥

हुताशनम् अग्नि, स्वेच्छया प्रविशति ? न कोऽपीत्यर्थः, मया सह विरोधः हुताशने प्रवेश इव भयङ्करः इति भावः । आर्य्या वृत्तम् ॥ ३३८ ॥

मत्तेति । को नाम यमलोकदर्शनेच्छः सन्, मत्तानां मदस्राविणाम्, इभानां गजानां, कुम्भविदलने मस्तकस्थपिण्डाकारांशविशेषस्य विदारणे इत्यर्थः, कृत श्रमो येन तादृशम्, अन्तकप्रतिमं यमसदृशं, सुप्तं निद्रितं, सिंहं बोधयति जागरयति ? न कोऽपीत्यर्थः, कोऽपि मया सह न विवदिष्यतीति भावः । आर्य्या वृत्तम् ॥ ३३९ ॥

क इति । को जनः, यमसदनं गत्वा अजातभयः निर्भयः सन्, स्वयम् अन्तकं यमं, तव यदि काचित् शक्तिः अस्ति, तदा मत्तः मत्सकाशात्, मम वा, प्राणान् अपहर गृहाण, इति आदिशति ? न कोऽपि इत्थमादिशतीत्यर्थः, जीवतो युगपुर-गमनमिव मदपत्यविनाशः अतिसाहस इति भावः । आर्या वृत्तम् ॥ ३४० ॥

प्रालेयेति । प्रालेयमिश्रे तुषारसंवलिते, "......तुषारस्तुहिनं हिमम् । प्रालेयं मिहिका च" इत्यमरः । अत एव जडे अत्यन्तशीतले, प्राभातिके प्रातःकालिके; मरुति वायौ, शैत्योत्पादके इति भावः, वाति वहति सति, गुणदोषज्ञः कश्च को हि, पुरुषः जलेन शीतम् अपनयति निवारयति ? न कोऽपीत्यर्थः । आर्य्या वृत्तम् ॥ ३४१ ॥

लपटों वाली) धुँए से रहित (प्रज्वलित) भयभीत करने वाली आग में कौन सा मूर्ख मनुष्य अपनी इच्छा से प्रवेश करना चाहेगा ? ॥ ३३८ ॥

यमलोक का दर्शन करने की इच्छा रखने वाला कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो मद से मतवाले हाथियों के गण्डस्थल को फाड़ने के श्रम से थककर सोए हुए मूर्तिमान काल के समान सिंह को जगाने का साहस करेगा ॥ ३३९ ॥

कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो स्वयं यमलोक में जाकर निर्भयता के साथ यमराज से कहेगा कि यदि तुझमें शक्ति हो तो मेरे प्राणों को ले लो ॥ ३४० ॥

ऐसा कौन गुण-दोष का विवेकी व्यक्ति होगा जो तुषार के कणों से परिपूर्ण अतः अत्यधिक शीतल प्रातःकालीन वायु के बहने पर उस शीतलता को जल से दूर करने का प्रयास करेगा ॥ ३४१ ॥

तस्माद्विश्रब्धात्रैव गर्भं मुञ्च। उक्तं च—

> यः पराभवसन्त्रस्तः स्वस्थानं सन्त्यजेन्नरः।
> तेन चेत्पुत्रिणी माता तद्वन्ध्या केन कथ्यते ? ॥ ३४२ ॥

तच्छ्रुत्वा समुद्रश्चिन्तयामास—अहो गर्वः पक्षिकीटस्यास्य। अथवा साध्विदमुच्यते—

> उत्क्षिप्य टिट्टिभः पादावास्ते भङ्गभयाद्दिवः।
> स्वचित्तकल्पितो गर्वः कस्य नात्रापि विद्यते ॥ ३४३ ॥

तन्मयास्य प्रमाणं कुतूहलादपि द्रष्टव्यम्। किं ममैषोऽण्डापहारे कृते

---

(१) विश्रब्धा—विगतभया, निःशङ्केत्यर्थः।

यः इति। यः नरः पराभवसन्त्रस्तः पराजयाद् भीतः सन्, स्वस्थानं सन्त्यजेत्, माता तज्जननी, चेत् यदि, तेन नरेण, पुत्रिणी पुत्रवती, भवतीति शेषः, तत् तदा केन कीदृशेन पुत्रेण, वन्ध्या कथ्यते ? कापुरुषमातैव वन्ध्या, न तु अप्रसवा इति भावः ॥ ३४२ ॥

(२) पक्षिकीटस्य-क्षुद्रखगस्य।

उत्क्षिप्येति। टिट्टिभः दिवः आकाशस्य भङ्गभयात् पतनाशङ्कयेत्यर्थः; पादौ उत्क्षिप्य ऊर्ध्वीकृत्य, अवष्टम्भनार्थमिति भावः, आस्ते तिष्ठति, तथा हि, अपि प्रश्ने; अत्र जगति, कस्य जनस्य, स्वचित्तकल्पितः गर्वः अहङ्कारः, न विद्यते ? क्षुद्रस्य महतो वा सर्वस्यापि आत्मगर्वः स्वचित्तानुसारी वर्त्तते इत्यर्थः ॥ ३४३ ॥

इस लिए निश्चिन्त होकर यहीं गर्भ का त्याग (प्रसव कार्य) करो। कहा भी गया है—

जो व्यक्ति पराजय के भय से अपना स्थान छोड़ देता है, यदि ऐसे व्यक्ति को पैदा करके कोई माता अपने को पुत्रवती कहे तो फिर वंध्या किसे कहा जायगा ? ॥ ३४२ ॥

यह सुनकर समुद्र ने विचार किया कि इस कीड़े-मकोड़े जैसे तुच्छ पक्षी में इतना अभिमान है ? अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

कहीं आकाश मेरे ऊपर टूटकर गिर न पड़े—इस भय से टिट्टिभ अपने पैरों को ऊपर करके सोता है (ताकि मैं उस पर आकाश को रोक लूं)। इससे यही सिद्ध होता है कि इस संसार के सभी छोटों एवं बड़ों में अपने मन की कल्पना के अनुसार अभिमान की मात्रा पाई जाती है ॥ ३४३ ॥

अतः मैं कौतुकवश इसकी शक्ति की परीक्षा लूँगा। मेरे द्वारा अण्डे हरण

करिष्यति ?' इति चिन्तयित्वा स्थितः। अथ प्रसवानन्तरं प्राणयात्रार्थं गतायाष्टिटि्टभ्याः समुद्रो वेलाव्याजेनाण्डान्यपजहार। अथायाता सा टिट्टिभी प्रसवस्थानं शून्यमवलोक्य प्रलपन्ती टिट्टिभमूचे—'भो मूर्ख, कथितमासीन्मया ते यत्समुद्रवेलयाण्डानां विनाशो भविष्यति। तद् दूरतरं व्रजावः। परं मूढतयाहङ्कारमाश्रित्य मम वचनं न करोषि। अथवा साध्विदमुच्यते—

सुहृदां हितकामानां न करोतीह यो वचः।
स कूर्म इव दुर्बुद्धिः काष्ठाद् भ्रष्टो विनश्यति॥ ३४४॥

टिट्टिभ आह—'कथमेतत्।' साऽब्रवीत्—

---

(१) प्रमाणं—निदर्शनमित्यर्थः। अण्डापहारे—अण्डानां—डिम्बानाम्, अपहारः,—हरणं, तस्मिन्। प्राणयात्रार्थम्—जीविकोपार्जनार्थम्।

(२) वेलाव्याजेन—स्वीयाम्बुविकृतिच्छद्मना, जलोच्छ्वासच्छलेनेत्यर्थः, "अम्बुधाविकृतौ वेला कालमर्यादयोरपि" इत्यमरः। प्रलपन्ती-विलपन्ती, मूढतया—स्वमूर्खतया, अहङ्कारमाश्रित्य—गर्वमाश्रित्य, न करोषि—नाकार्षीः।

सुहृदामिति। इह जगति, यः हितकामानां हितार्थिनां, सुहृदां, वचः न करोति न शृणोतीत्यर्थः, न प्रतिपालयतीति यावत्, स दुर्बुद्धिः काष्ठाद् भ्रष्टः स्खलितः कूर्मः इव विनश्यति॥ ३४४॥

कर लेने पर देखूँ कि यह क्या करेगा? ऐसा सोचकर वह शान्त हो गया। इसके पश्चात् अण्डे देकर जब टिट्टिभी चारे की खोज में कहीं चली गई तब समुद्र ने लहरों द्वारा अण्डों का अपहरण कर लिया। लौटने पर प्रसवस्थान को अण्डों से रहित देखकर बिलखती हुई टिट्टिभी ने टिट्टिभ से कहा—'मूर्ख! मैंने तुमसे पहिले ही कहा था कि समुद्र की लहरों से अण्डे नष्ट हो जायँगे। अतः यहाँ से दूर चलें। किन्तु मूर्खतावश अभिमान में पड़कर तुमने मेरी बात नहीं मानी। अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

इस संसार में जो व्यक्ति अपने हितैषी बन्धुओं की बात नहीं मानता है वह दुर्बुद्धि काठ से गिरे हुए कछुवे के समान नष्ट हो जाता है॥ ३४४॥

टिट्टिभ ने कहा—यह कैसे? उसने कहा—

१३ : हंसद्वयकच्छपानां कथा

अस्ति कस्मिंश्चिज्जलाशये कम्बुग्रीवो नाम कच्छपः। तस्य च संकट-विकटनाम्नी मित्रे हंसजातीये परमस्नेहकोटिमाश्रिते नित्यमेव सरस्तीरमासाद्य तेन सहानेकदेवर्षिमहर्षीणां कथाः कृत्वास्तमयवेलायां स्वनीडासंश्रयं कुरुतः। अथ गच्छता कालेनावृष्टिवशात् सरः शनैः शनैः शोषमगमत्। ततस्तद्दुःखदुःखितौ तावूचतुः—'भो मित्र, जम्बालशेषमेतत्सरः सञ्जातम्। तत्कथं भवान् भविष्यतीति व्याकुलत्वं नो हृदि वर्तते।' तच्छ्रुत्वा कम्बुग्रीव आह—'भोः, साम्प्रतं नास्त्यस्माकं जीवितव्यं जलाभावात्। तथाप्युपायश्चिन्त्यतामिति। उक्तं च—

त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि काले
धैर्यात् कदाचिद्गतिमाप्नुयात् सः।
यथा समुद्रेऽपि च पोतभङ्गे
सांयात्रिको वाञ्छति तर्तुमेव ॥ ३४५ ॥

---

[१३]

(१) परमस्नेहकोटिं—प्रणयातिशय्यम्। अस्तमयवेलायां—सायङ्काले। स्वनीडसंश्रयं—निजवासाश्रयम्। शोषम्—शुष्कताम्। तद्दुःखदुःखितौ—कूर्मस्य दुःखेन दुःखितौ। जीवितव्यम्—जीवनधारणम्।

(२) जम्बालशेषं—कर्दमावशिष्टं, "निषद्वरस्तु जम्बालः पङ्कोऽस्त्री शादकर्दमौ" इत्यमरः। भविष्यति—स्वजीवनं धारयिष्यति।

त्याज्यमिति। काले समये, विधुरे—विकलेऽपि, शोकादिजन्यवैकल्यसमये-

---

हंसद्वय और कछुए की कथा

किसी तालाब में कम्बुग्रीव नाम का कछुवा रहता था। संकट और विकट नाम के दो हंस उसके मित्र थे। वे स्नेह के साथ नित्य तालाब के किनारे आकर उसके साथ अनेक देवर्षियों की कथा कहते और सायंकाल अपने घोसलों में बसेरा लेते थे। कुछ समय बीत जाने पर वर्षा न होने के कारण तालाब धीरे धीरे सूखने लगा। तब उसके दुःख से दुःखित उन दोनों हंसों ने कहा—'मित्र! इस तालाब में अब तो कीचड़ मात्र ही शेष रह गया है। अतः अब आप का क्या होगा—यह सोचकर मेरा हृदय अत्यन्त व्याकुल हो रहा है। यह सुनकर कम्बुग्रीव ने कहा—मित्र! इस समय जल के न रहने के कारण मैं जीवित न रह सकूँगा। फिर भी कोई उपाय सोचिए। कहा भी गया है—

समय के प्रतिकूल हो जाने पर भी धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए। क्योंकि धैर्य

अपरं च—मित्रार्थे बान्धवार्थे च बुद्धिमान् यतते सदा।
जातास्वापत्सु यत्नेन जगादेदं वचो मनुः ॥ ३४६ ॥

तदानीयतां काचिद् दृढरज्जुर्लघुकाष्ठं वा। अन्विष्यतां च प्रभूतजल-सनाथं सरः, येन मया मध्यप्रदेशे दन्तैर्गृहीते सति युवां कोटिभागयोस्तत्-काष्ठं मया सहितं संगृह्य तत्सरो नयथः।' तावूचतुः—'भो मित्र, एवं करिष्यावः। परं भवता मौनव्रतेन स्थातव्यम्। नो चेत्तव काष्ठात्पातो भविष्यति।' तथानुष्ठिते गच्छता कम्बुग्रीवेणाधोभागव्यवस्थितं किञ्चित्पुर-

ऽपीत्यर्थः, धैर्यं धीरत्वं, न त्याज्यम् अवलम्बनीयमित्यर्थः, जनेनेति शेषः, सः तादृशसमयेऽपि धैर्यवान् पुरुष इत्यर्थः, धैर्यात् धीरतासंश्रयात्, कदाचित् गतिम् उपायम्, आप्नुयात्, यथा समुद्रे पोतभङ्गे यानव्यसनेऽपि, सांयात्रिकः पोतवणिक्, तत्तुमेव उदधेः पारं गन्तुमेव, वाञ्छति इच्छति, धैर्याश्रयेणेति भावः, अधीरतया न निश्चेष्टस्तिष्ठतीत्याशयः। उपजातिः वृत्तम् ॥ ३४५ ॥

मित्रार्थे इति। आपत्सु विपत्सु जातासु उपस्थितासु सतीषु, बुद्धिमान् जनः, मित्रार्थे सुहृन्निमित्ते, बान्धवार्थे पित्राद्यर्थे च, सदा यत्नेन आग्रहातिशयेन, यतते विपदुद्धरणार्थं चेष्टते; मनुः इदं वचो जगाद उक्तवान् ॥ ३४६ ॥

(१) लघुकाष्ठं—क्षुद्रकाष्ठम्। प्रभूतजलसनाथं—बहुजलपूर्णम् इत्यर्थः। कोटि-भागयोः,—प्रान्तभागयोः।

(२) भवता—त्वया, मौनव्रतेन—मौनिना इत्यर्थः। नो चेत्—अन्यथा,

धारण करने से कदाचित् विपत्ति से पार पाने का कोई रास्ता निकल ही आवे। समुद्र में जहाज के टूट जाने पर भी उस पर यात्रा करने वाले किसी न किसी प्रकार समुद्र को पार करने की ही अभिलाषा रखते हैं ॥ ३४५ ॥

और भी—भगवान् मनु ने कहा है कि विपत्ति आ जाने पर बुद्धिमान् मनुष्य को मित्रों तथा बान्धवों के लिए सर्वदा यत्नपूर्वक उद्योग करना चाहिए ॥ ३४६ ॥

इसलिए कोई मजबूत रस्सी या लकड़ी ले आइए और जल से भरे हुए तालाब की खोज कीजिए। मैं उस लकड़ी के मध्यभाग को अपने दाँतों से पकड़ लूँगा और तुम दोनों उसके दोनों किनारों को पकड़ कर मुझे अपने साथ उस तालाब में ले चलो। उन दोनों ने कहा—मित्र! ऐसा ही करेंगे। किन्तु आप चुप्पी साधे रहिएगा, नहीं तो लकड़ी से नीचे गिर जाइएगा। ऐसा हो जाने पर जाते हुए (लकड़ी के मध्य भाग में स्थित) कम्बुग्रीव ने नीचे की ओर (पृथ्वी पर) स्थित

मालोकितम्। तत्र ये पौरास्ते तथा नीयमानं विलोक्यं सविस्मयमिदमूचुः—'अहो, चक्राकारं किमपि पक्षिभ्यां नीयते। पश्यत! पश्यत!' अथ तेषां कोलाहलमाकर्ण्य कम्बुग्रीव आह—'भोः, किमेष कोलाहलः' इति वक्तुमना अर्धोक्ते पतितः पौरैः खण्डशः कृतश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—'सुहृदां हितकामानाम्' इति। तथा च—

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा।
द्वावेतौ सुखमेधेते यद्भविष्यो विनश्यति॥ ३४७॥

टिट्टिभ आह—'कथमेतत्'। साब्रवीत्—

मौनत्यागे सति इत्यर्थः। पातः—पतनं, भविष्यति।

(१) अधोभागव्यवस्थितं—निम्नस्थितम् पौराः—नागरिकाः, सविस्मयम्—साश्चर्यम्, चक्राकारम्—वर्तुलम्। कोलाहलम्—शब्दम्, अर्धोक्तिपतितः—उच्चारितार्थवचनमात्रेणैव पतितः।

अनागतेति। अनागतस्य अनुपस्थितस्य, विषयस्येति भावः, विधाता प्रतिकर्त्ता, भविष्यद्विविच्य कर्मकर्त्ता इत्यर्थः, तथा प्रत्युत्पन्ना तत्कालोचिता, विपत्प्रतीकारसमर्था इत्यर्थः, मतिः बुद्धिः यस्य तथोक्तः, विपदुपस्थितावेव सञ्जाततत्प्रतीकारबुद्धिरित्यर्थः, एतौ द्वौ सुखं यथा तथा, एधेते वृद्धिं गच्छतः, यत् भविष्यं भाव्यं यस्य तथोक्तः, यत् भविष्यति तत् भविष्यत्येव इति भाग्यनिर्भरात् प्रतीकारपराङ्मुखः इत्यर्थः, विनश्यति॥ ३४७॥

किसी नगर को देखा। वहाँ के नागरिकों ने उसे इस प्रकार ले जाते हुए देखकर आश्चर्य के साथ कहना शुरू किया—अरे! देखो तो सही चक्के जैसी कोई गोल वस्तु दो पक्षी लिए जा रहे हैं। उनका कोलाहल सुनकर कम्बुग्रीव ने कहा—'अरे! यह कैसा कोलाहल हो रहा है। वह ज्यों ही यह कहना चाहा कि आधी बात कहते ही नीचे गिर पड़ा और नागरिकों ने उसे टुकड़े-टुकड़े कर डाला। इसीलिए मैं कहता हूँ कि 'हित की कामना रखने वाले मित्रों' इत्यादि। और भी—

अनागत विधाता (भविष्य में आने वाली विपत्तियों का अनुमान करके उसके अनुसार उसे दूर करने के प्रयत्न से पूर्ण कर्म करने वाला) और प्रत्युत्पन्नमति (विपत्तियों के आ जाने पर उसके प्रतीकार के लिए तीव्र बुद्धि रखने वाले) ये दोनों हीं सुखपूर्वक उन्नति करते हैं किन्तु यद्भविष्य (जो होना होगा ही ऐसा सोचकर बिपत्तियों से छुटकारा पाने का प्रयत्न न करने वाला) नष्ट हो जाता है॥ ३४७॥

१४ : मत्स्यत्रय कथा

कस्मिंश्चिज्जलाशयेऽनागतविधाता प्रत्युत्पन्नमतिर्यद्भविष्यश्चेति त्रयो मत्स्याः सन्ति। अथ कदाचित्तं जलाशयं दृष्ट्वा गच्छद्भिर्मत्स्यजीविभिरुक्तम्—'अहो, बहुमत्स्योऽयं ह्रदः। कदाचिदपि नास्माभिरन्वेषितः। तदद्य तावदाहारवृत्तिः सञ्जाता। सन्ध्यासमयश्च संवृत्तः। ततः प्रभातेऽत्रागन्तव्यमिति निश्चयः।' अतस्तेषां तत्कुलिशपातोपमं वचः समाकर्ण्यानागतविधाता सर्वान्मत्स्यानाहूयेदमूचे—'अहो, श्रुतं भवद्भिर्यन्मत्स्यजीविभिरभिहितम्। तद्रात्रावेव गम्यतां किञ्चिन्निकटं सरः। उक्तं च—

अशक्तैर्बलिनः शत्रोः कर्तव्यं प्रपलायनम्।
संश्रितव्योऽथवा दुर्गो नान्या तेषां गतिर्भवेत् ॥ ३४८ ॥

---

[१४]

(१) मत्स्यजीविभिः—धीवरैः, नास्माभिरन्वेषितः—इतः पूर्वं न कदाचिदपि दृष्टः। आहारवृत्तिः—भोजनव्यापारः, क्षुधोद्रेको वा। संवृत्तः—उपस्थितः।
(२) कुलिशपातोपमं—वज्रपातसदृशम्। अभिहितम्—उक्तम्। रात्रावेव—रात्रिकाले एव।

अशक्तैरिति। अशक्तैः दुर्बलैः, असमर्थैः जनैरिति शेषः, बलिनः बलवतः शत्रोः सकाशादिति भावः, प्रपलायनं प्रकर्षेण पलायनं कर्तव्यम्; अथवा दुर्गः कोट्टः, "गढ़" इति ख्यातं पर्वतप्राचीरादिवेष्टितं शत्रुदुर्गमस्थानमित्यर्थः, संश्रितव्यः

टिट्टिभ ने कहा—यह कैसे? उसने कहा—

तीन मछलियों की कथा

किसी सरोवर में 'अनागतविधाता' 'प्रत्युत्पन्नमति' और 'यद्भविष्य' नाम की तीन मछलियाँ रहती थीं। किसी समय जाते हुए मछुओं ने उस तालाब को देखकर कहा कि—'यह तालाब तो बहुत सी मछलियों से भरा हुआ है। हम लोगों ने कभी इसकी खोज ही नहीं की। आज के लिए पर्याप्त भोजन-सामग्री मिल चुकी है। संध्या भी हो गई है। अतः कल प्रातःकाल यहाँ अवश्य ही आएँगे।' तब उनकी वज्रपात जैसी विनाशकारी वाणी सुनकर अनागतविधाता ने सभी मछलियों को बुलाकर कहा—मछुवों ने जो कुछ कहा है उसे आप लोगों ने सुना है न। अतः रात ही में समीप के किसी सरोवर में चले चलो। कहा भी गया है—

अपने से बलवान् शत्रु से बचने के लिए भाग जाना चाहिए अथवा दुर्ग का आश्रय लेकर छिप जाना चाहिए, क्योंकि निर्बलों को सबलों से बचने के लिए

तन्नूनं प्रभातसमये मत्स्यजीविनोऽत्र समागम्य मत्स्यसंक्षयं करिष्यन्ति– एतन्मम मनसि वर्तते। तन्न युक्तं साम्प्रतं क्षणमप्यत्रावस्थातुम्। उक्तं च—

विद्यमाना गतिर्येषामन्यत्रापि सुखावहा।
ते न पश्यन्ति विद्वांसो देहभङ्गं कुलक्षयम्॥ ३४९॥

तदाकर्ण्य प्रत्युत्पन्नमतिः प्राह—'अहो, सत्यमभिहितं भवता। ममाप्यभीष्टमेतत्। तदन्यत्र गम्यताम्' इति। उक्तं च—

परदेशभयाद् भीता बहुमाया नपुंसकाः।
स्वदेशे निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः॥ ३५०॥

आश्रयणीयः, विवक्षया इडभावः, गुणाभावश्च छान्दसः। वस्तुतस्तु 'संश्रयितव्यः' इत्येव प्रयोगः साधुः; तेषां दुर्बलानाम्, अन्या गतिः पलायनं विना अन्यः उपायः, न भवेत् नास्ति इत्यर्थः॥ ३४८॥

(१) नूनं—निश्चयेन; मत्स्यसंक्षयम्—मत्स्यविनाशम्, साम्प्रतम्—अधुना, अवस्थातुम्—स्थातुम्।

विद्यमानेति। येषां जनानाम्, अन्यत्रापि स्थानान्तरेऽपि, सुखावहा सम्यक् सुखजनिका, गतिः उपायः, अनायासम् अवस्थानोपाय इत्यर्थः, विद्यमाना अस्तीत्यर्थः, ते विद्वांसः देहभङ्गं निजशरीरक्षयं; कुलक्षयं वंशनाशञ्च, न पश्यन्ति॥ ३४९॥

(२) सत्यमभिहितम्—युक्तं कथितम्; ममाप्यभीष्टम्—ममाप्यनुमतम्, मह्यमपि रोचते।

परेति। काकाः वायसाः, कापुरुषाः भीरवः मृगाः हरिणाश्च; एते त्रयः पर-

---

इन दो (भागने और छिपने) के अतिरिक्त और कोई तीसरा उपाय नहीं है॥ ३४८॥

यह बात मेरे मन में बैठ गई है कि निश्चित रूप से वे मछुवे प्रातःकाल यहाँ आकर मछलियों का नाश कर डालेंगे। अतः अब यहाँ क्षण भर के लिए भी ठहरना उचित नहीं है। कहा भी गया है—

जिन व्यक्तियों के लिए दूसरे स्थान पर भी सुखदायक आश्रय होते हैं वे विद्वान् अपने शरीर तथा कुल का विनाश नहीं देख सकते हैं॥ ३४९॥

उस [अनागत विधाता] की बात को सुनकर प्रत्युत्पन्नमति ने कहा– मित्र! आपका कथन सत्य है। यही मेरा भी अभिमत है। इसलिए यहाँ से अन्यत्र चलना चाहिए। क्योंकि कहा भी गया है कि–

परदेश में निवास करने के भय से व्याकुल तथा स्वदेश की माया में पड़े

यस्यास्ति सर्वत्र गतिः स कस्मात्-
स्वदेशरागेण हि याति नाशम् ।
तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः
क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति ॥ ३५१ ॥

अथ तत्समाकर्ण्य प्रोच्चैर्विहस्य यद्भविष्यः प्रोवाच—"अहो, न भवद्भ्यां मन्त्रितं सम्यगेतदिति, यतः किं वाङ्मात्रेणापि तेषां पितृपैतामहकमेतत्सरस्त्यक्तुं युज्यते ? यद्यायुःक्षयोऽस्ति, तदन्यत्र गतानामपि मृत्युर्भविष्यत्येव । उक्तं च—

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं
सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।

देशभयात् भीताः परस्मिन् देशे कथं वस्तव्यमिति सन्त्रस्ताः, बहुमायाः स्वदेशं प्रति सातिशयममताशालिनः, अत एव नपुंसकाः क्लीवाः, अक्षमा इति भावः, सुतरां स्वदेशे निधनं नाशं, यान्ति प्राप्नुवन्ति ॥ ३५० ॥

यस्येति । यस्य जनस्य, सर्वत्र अन्यत्रापि, गतिः गमनोपायः, अस्ति, स जनः, स्वदेशरागेण निजदेशप्रियतया, कस्मात् कथं नाशं याति प्राप्नोति ? कापुरुषाः जनाः, तातस्य पितुः, अयं कूप इति ब्रुवाणाः सन्तः, क्षारं लवणाक्तं, जलं पिबन्ति; पैत्र्यं सर इति मायया बद्धाः तत्त्यक्त्वा न कुत्रापि गच्छन्तीति भावः । उपजातिः वृत्तम् ॥ ३५१ ॥

(१) मन्त्रितम्—विचारितम्, सम्यग्—उचितम्, युक्तमेवेति, वाङ्मात्रेण—वचनमात्रेण, तेषां—मत्स्यजीविनाम् । पितृपैतामहकमेणाध्युषितम् वंशक्रमादागतमिति भावः ।

अरक्षितमिति । अरक्षितं यत्नेन अप्रतिपालितमपीत्यर्थः, वस्तु इति शेषः, दैव-

हुए पौरुषहीन कौवे, कायर पुरुष और मृग ही अपने देश में मरते हैं ॥ ३५० ॥

जिस पुरुष के लिए सर्वत्र आश्रय प्राप्त हो जाता है वह अपने देश के अनुराग में पड़कर भला क्यों मरने जायगा । यह मेरे पिता का बनवाया हुआ कुआँ है—ऐसा सोचकर कायर पुरुष ही उसका खारा पानी पीते हैं ॥ ३५१ ॥

यह सुनकर यद्भविष्य ने ठठाकर हँसते हुए कहा—आप लोगों ने इस विषय पर अच्छी तरह विचार नहीं किया । क्या उन मछुवों की बातों से ही पितापितामहों की निवास भूमि इस सरोवर का त्याग करना उचित है ? यदि आयु पूरी हो जायगी तो दूसरी जगह जाने पर भी मृत्यु होगी ही । कहा भी गया है—

(सांसारिक दृष्टि से) अरक्षित होते हुए भी भाग्य अथवा विधाता द्वारा

जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः
कृतप्रयत्नोऽपि गृहे विनश्यति ॥ ३५२ ॥

तदहं न यास्यामि भवद्भ्यां च यत्प्रतिभाति तत्कर्तव्यम् ।

अथ तस्य तं निश्चयं ज्ञात्वानागतविधाता प्रत्युत्पन्नमतिश्च निष्क्रान्तौ सह परिजनेन । अथ प्रभाते तैर्मत्स्यजीविभिर्जालैस्तं जलाशयमालोड्य यद्भविष्येण सह तत्सरो निर्मत्स्यतां नीतम् । अतोऽहं ब्रवीमि—'अनागतविधाता च' इति ।

तच्छ्रुत्वा टिट्टिभ आह—'भद्रे, किं मां यद्भविष्यसदृशं संभावयसि ? तत्पश्य मे बुद्धिप्रभावं, यावदेनं दुष्टसमुद्रं स्वचञ्च्वा शोषयामि । टिट्टिभ्याह—अहोः कस्ते समुद्रेण सह विग्रहः ? तन्न युक्तमस्योपरि कोपं

रक्षितं दैवेन भाग्येन, रक्षितं वातं सत्, तिष्ठति; सुरक्षित यत्नपालितमपि वस्तु, दैवहतं दैवेन विडम्बितं, विनश्यति न तिष्ठतीत्यर्थः; वने विसर्जितः स्वार्थणिजन्तात् कर्मणि क्तः परित्यक्तः, अनाथोऽपि अशरणोऽपि, जीवति; गृहे कृतप्रयत्नोऽपि जनः, विनश्यति नाशं गच्छति । वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ ३५२ ॥

(१) प्रतिभाति—रोचते, निष्क्रान्तौ—निर्गतौ, सह परिजनेन—अनुयायिवर्गेण सह । आलोड्य—परितः समालोड्य, निर्मत्स्यतां—मत्स्यैर्हीनतां, नीतं—प्रापितमिति ।

(२) सम्भावयसि—वितर्कयसि । विग्रहः—युद्धः ।

रक्षित होने पर बचा रह जाता है अर्थात् उसे काई भी नष्ट नहीं कर सकता किन्तु अत्यन्त सुरक्षित होने पर भी दैव अथवा विधाता का मारा हुआ किसी भी प्रकार बच नहीं सकता है । यही कारण है कि वन में छोड़ा हुआ अनाथ व्यक्ति तो बच जाता है किन्तु प्रयत्न करने पर भी सनाथ व्यक्ति घर पर ही मर जाता है ॥ ३५२ ॥

इस लिए मैं नहीं जाऊँगा । आप दोनों को जैसा प्रतीत हो वैसा कीजिए ।

उसके इस निश्चय को जानकर अनागतविधाता और प्रत्युत्पन्नमति अपने-अपने परिवार के साथ वहाँ से चले गए । इसके पश्चात् प्रातःकाल उन मछुवों ने जाल से उस तालाब को मथकर यद्भविष्य के साथ ही उस तालाब को मछलियों से रहित कर दिया । इसी लिए मैं कहता हूँ कि 'अनागत विधाता और'' इत्यादि ।

यह सुनकर टिट्टिभ ने कहा—'कल्याणी ! तुम मुझे यद्भविष्य जैसा क्यों समझ रही हो । मेरी बुद्धि का प्रभाव तो देखो । मैं इस दुष्ट समुद्र को अपनी चोंच से सुखा डालूँगा । टिट्टिभी ने कहा—अरे ! समुद्र के साथ कैसी तुम्हारी

कर्तुम् । उक्तं च—

पुंसामसमर्थानामुपद्रवायात्मनो भवेत्कोपः ।
पिठरं ज्वलदतिमात्रं निजपार्श्वानेव दहतितराम् ।। ३५३ ।।

तथा च—अविदित्वाऽऽत्मनः शक्तिं परस्य च समुत्सुकः ।
गच्छन्नभिमुखो नाशं याति वह्नौ पतङ्गवत् ।। ३५४ ।।

टिट्टिभ आह—'प्रिये, मा मैवं वद । येषामुत्साहशक्तिर्भवति, ते स्वल्पा अपि गुरून्विक्रमन्ते । उक्तं च—

विशेषात्परिपूर्णस्य याति शत्रोरमर्षणः ।
आभिमुख्यं शशाङ्कस्य यथाऽद्यापि विधुन्तुदः ।। ३५५ ।।

पुंसामिति । असमर्थानाम् अक्षमाणां बलविहीनानां पुंसां कोपः आत्मनः स्वस्य, उपद्रवाय नाशाय इत्यर्थः, भवेत्; तथा हि, अतिमात्रं ज्वलत् पिठरं स्थाली, "पिठरः स्थाल्युखा कुण्डम्" इत्यमरः । अत्र क्लीबत्वं चिन्त्यम् । निजपार्श्वानेव दहतितराम् अतिशयेन दहति; मृत्पात्रं नितरां दह्यमानं रक्तीभूतमपि स्वमेव दहतीति निष्कर्षः । आर्य्या वृत्तम् ।। ३५३ ।।

अविदित्वेति । आत्मनः परस्य च शक्तिम् अविदित्वा अविविच्य, समुत्सुकः समुत्तेजितः सन्, अभिमुखो गच्छन् जनः, वह्नौ पतङ्गवत् नाशं याति ।। ३५४ ।।

(१) उत्साहशक्तिः—अध्यवसायः । स्वल्पाः—क्षुद्राः, गुरून्—सशक्तान्; विक्रमन्ते—अतिक्रमन्ते इत्यर्थः, तच्च चिन्त्यम् ।

विशेषादिति । विधुन्तुदो राहुः, अद्यापि यथा परिपूर्णस्य शशाङ्कस्य चन्द्रस्य आभिमुख्यं याति, तथा अमर्षणः कोपनः जनः, विशेषात् विशेषेण, परिपूर्णस्य शत्रोः

लड़ाई ? अतः इस पर क्रोध करना उचित नहीं है । कहा भी गया है—

असमर्थ मनुष्यों का क्रोध स्वयं उनका ही विनाश करने वाला होता है । क्योंकि जलती हुई भट्ठी अपने ही अङ्गों को और अधिक उत्तप्त बनाती है ।। ३५३ ।।

और भी—अपनी तथा शत्रु की शक्ति को समझे बिना ही जो व्यक्ति उत्तेजित होकर शत्रु का सामना करने के लिए चल पड़ता है वह अग्नि में पड़े हुए फतिंगे के समान स्वयं नष्ट हो जाता है ।। ३५४ ।।

टिट्टिभ ने कहा—'प्रिये ! ऐसा मत कहो । जिनके पास उत्साह की शक्ति होती हैं वे छोटे होते हुए भी बड़े से बड़े शत्रु पर भी आक्रमण कर देते हैं । कहा भी गया है—

क्रोधी व्यक्ति अपने से अधिक विशेषताओं से परिपूर्ण शत्रु के सम्मुख उसी

तथा च—प्रमाणादधिकस्यापि गण्डश्याममदच्युतेः।
पदं मूर्ध्नि समाधत्ते केसरी मत्तदन्तिनः॥ ३५६॥

तथा च—बालस्यापि रवेः पादाः पतन्त्युपरि भूभृताम्।
तेजसा सह जातानां वयः कुत्रोपयुज्यते ?॥ ३५७॥

हस्ती स्थूलतरः स चाङ्कुशवशः किं हस्तिमात्रोऽङ्कुशः ?
दीपे प्रज्वलिते प्रणश्यति तमः, किं दीपमात्रं तमः।

आभिमुख्यं याति गच्छति, न हि शूराः दुर्बलान् योधयन्तीति भावः॥ ३५५॥

प्रमाणादिति। केशरी सिंहः, प्रमाणात् स्वपरिमाणात्, अधिकस्य अतिरिक्तस्य, उन्नतस्येत्यर्थः, गण्डश्याममदच्युतेः—श्याममदप्रवाहयुक्तगण्डस्थलस्य; गण्डयोः श्यामस्य श्यामवर्णस्य, मदस्य च्युतिः क्षरणं यस्य तादृशस्य, मदस्राविण इत्यर्थः, मत्तदन्तिनः मत्तगजस्यापि, मूर्ध्नि शिरसि, पदं समाधत्ते अर्पयति; क्षुद्राकारोऽपि उत्साही महाकायं शत्रुं पराजयते इति भावः॥ ३५६॥

बालस्येति। बालस्य नवोदितस्य अपि, अल्पतेजस इति भावः, रवेः सूर्यस्य, प्रकृत्या चण्डांशोरिति भावः, पादाः किरणाः भूभृतां पर्वतानाम् एव, दृढोन्नतानामिति भावः, उपरि, न त्वधः इति भावः, पतन्ति, तेजसा सह जातानाम् उत्पन्नानां, तेजस्विनामित्यर्थः, वयः तारुण्यप्रौढत्वादिकं, कुत्र उपयुज्यते उपयोगि भवति ? न कुत्रापीत्यर्थः। तेजीयस अल्पकायस्यापि जयः, न तु महाकायस्यापि विस्तेजस इति भावः॥ ६५७॥

हस्तीति। हस्ती स्थूलतरः अतिशयेन स्थूलकाय इत्यर्थः, स च हस्ती, अङ्कुशस्य

प्रकार चले जाते हैं, जैसे राहु आज भी पूर्ण चन्द्रमा के सम्मुख चला जाता है॥ ३५५॥

और भी—अपने शरीर से अधिक लम्बे चौड़े तथा श्यामल कपोलों से मद बहाने वाले मतवाले हाथी के मस्तक पर सिंह ही अपना चरण रखता है (अर्थात् अल्प शरीर वाला उत्साही व्यक्ति अपने से विशालकाय शत्रु को भी पराजित कर देता है।)॥ ३५६॥

और भी--बालसूर्य (नवोदित सूर्य) की किरणें भी (ऊँचे से ऊँचे) पहाड़ों की चोटियों पर पड़ती ही हैं। तेज के साथ ही उत्पन्न होने वाले व्यक्तियों की अवस्था नहीं देखी जाती। तात्पर्य यह है कि तेजस्वी स्वल्पकाय व्यक्ति भी विशालकाय व्यक्ति को पराजित कर देता है॥ ३५९॥

हाथी अत्यन्त स्थूल शरीर वाला होता है, वह भी अंकुश के वश में होता है किन्तु क्या अंकुश हाथी जैसा विशालकाय होता है ? दीपक के जलते ही अन्धकार

वज्रेणापि हताः पतन्ति गिरयः किं वज्रमात्रो गिरिः ?
तेजो यस्य विराजते स बलवान्स्थूलेषु कः प्रत्ययः ? ॥ ३५८ ॥

तदनया चञ्च्वाऽस्य सकलं तोयं शुष्कस्थलतां नयामि ।' टिट्टिभ्याह—भोः कान्त, यत्र जाह्नवी नदनदीशतानि गृहीत्वा नित्यमेव प्रविशति, तथा सिन्धुश्च । तत्कथं त्वमष्टादशनदीशतैः पूर्यमाणस्य तत विप्रुषवाहिन्या चञ्च्वा शोषयिष्यसि ? तत्किमश्रद्धेयेनोक्तेन ?' टिट्टिभ आह—'प्रिये—

शृणेः, हस्तिताडनदण्डस्य इत्यर्थः, वशः अधीनः, सः अङ्कुशः किं हस्तिमात्रः ? हस्तिप्रमाणः ? नैवेत्यर्थः, परिमाणार्थे मात्रच् प्रत्ययः । दीपे प्रज्वलिते तमः तिमिरं, प्रणश्यति, तत् तमः किं दीपमानं दीपप्रमाणम् ? नैवेत्यर्थः । वज्रेण हताः, शतमिति पाठे शतं शतसङ्ख्यकाः, गिरयः पर्वताः, पतन्ति, गिरिः किं वज्रमात्रः वज्रपरिमाणः ? नैवेत्यर्थः, वज्रमतिक्षुद्रं, गिरिस्तु अतिमहानिति भावः, एवं पूर्वयोरपि बोध्यम्, अत एव यस्य तेजः विराजते विशेषेण भाति, स बलवान्, भवतीति शेषः, स्थूलेषु, पृथुषु, महाकायेषु इत्यर्थः, प्रत्ययः विश्वासः कः ? नास्ति कोऽपि विश्वास इत्यर्थः, शक्तिरेव सर्वैराद्रियते, न स्थूलत्वादिकमिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३५८ ॥

(१) जाह्नवी—गङ्गा, सिन्धुः,—नदविशेषः । तस्य—सागरस्य । तत्—तोयम् । विप्रुषवाहिन्या—जलादीनां कणवाहिन्या इत्यर्थः । अश्रद्धेयेन—विश्वासायोग्येन । उक्तेन—कथितेन ।

नष्ट हो जाता है किन्तु क्या दीपक अंधकार जैसा विशाल होता है ? वज्र के आघात से पर्वत गिर पड़ते हैं किन्तु क्या वज्र पर्वत जैसा विशाल होता है ? इससे यही सिद्ध होता है । कि शरीर की स्थूलता का कोई विश्वास नहीं है । वास्तव में तेजस्वी व्यक्ति ही (स्वल्पकाय होते हुए भी स्थूलकाय वाले से) अधिक बलवान् होता है ॥ ३५८ ॥

अतः इस चोंच से ही इस समुद्र के सारे जल को सुखा कर उसे स्थल जैसा बना दूँगा । टिट्टिभी ने कहा—हे प्रिय ! जिसमें नौ सौ नदियों को लेकर गंगा तथा नौ सौ नदियों को लेकर सिन्धु नित्य प्रवेश करती रहती है उस अठारह सौ नदियों (के जल से) भरे हुए समुद्र को पानी की एक बूँद ले जा सकने वाली (अपनी) चोंच से कैसे सुखा सकोगे ? इसलिए ऐसी अविश्वसनीय बात कहने से क्या लाभ है ? टिट्टिभ ने कहा—प्रिये !

अनिर्वेदः श्रियो मूलं चञ्चूर्मे लोहसन्निभा ।
अहोरात्राणि दीर्घाणि समुद्रः किं न शुष्यति? ॥ ३५९ ॥

दुरधिगमः परभागो यावत्पुरुषेण पौरुषं न कृतम् ।
जयति तुलामधिरूढो भास्वानपि जलदपटलानि ॥ ३६० ॥

टिट्टिभ्याह—'यदि त्वयाऽवश्यं समुद्रेण सह विग्रहानुष्ठानं कार्यम्, तदन्यापि विहङ्गमानाहूय सुहृज्जनसहित एव समाचर। उक्तं च—

बहूनामप्यसाराणां समवायो हि दुर्जयः ।
तृणैरावेष्टयते रज्जुर्यया नागोऽपि बद्धयते ॥ ३६१ ॥

अनिर्वेद इति। निर्वेदः स्वावमाननं, स्वावज्ञा इत्यर्थः, तदन्यः अनिर्वेदः स्वोत्कर्षज्ञानमित्यर्थः, उत्साहावलम्बनमिति भावः, श्रियः सम्पदः, मूलं निदानम्; मे मम, चञ्चुः लोहसन्निभा लौहवत् कठिना; दीर्घाणि महान्ति, अहोरात्राणि च, सन्तीति शेषः, अहोरात्रान् इति साधुः, रात्रान्तशब्दस्य पुंलिङ्गत्वात्। समुद्रः किं न शुष्यति ? न शोषं याति ? अपि तु शुष्यत्येवेत्यर्थः; सोत्साहोऽहं कठिनया चञ्च्वा दीर्घैरहोरात्रैः समुद्रं शोषयिष्यामिति आशयः ३५९ ॥

दुरधिगम इति। पुरुषेण यावत् पौरुषं न कृतं न नानुष्ठितं, भवेदिति शेषः, तावत् परभागः उत्कर्षः, दुरधिगमः दुर्लभः; पराक्रमं विना महत्त्वं न प्रकाशते इति भावः। भास्वान् सूर्योऽपि, का कथा अन्येषामिति भावः, तुलां राशिविशेषम्, अधिरूढः सन्, जलदपटलानि मेघवृन्दानि, जयति, तुलास्थो रविर्न मेघैराच्छाद्यते इति भावः, यावत् पराक्रमो न प्रकाश्यते, तावत् महताऽपि वैरिनिर्यातनं कर्तुं न शक्यत इति निष्कर्षः। आर्या वृत्तम् ॥ ३६० ॥

(१) विहङ्गमान्—खगान्।

बहूनामिति। असाराणां सारहीनानामपि, बहूनां वस्तूनां, समवायः संहतिः,

---

आत्मोत्साह ही सम्पत्ति की जड़ है, यह चोंच लौह के समान कठोर है और दिन रात इतने बड़े होते हैं तो क्या इतने पर भी समुद्र नहीं सूख सकेगा ? अर्थात् उत्साह पूर्वक रात दिन निरन्तर कार्य करके मैं इस चोंच से ही समुद्र को अवश्य ही सुखा डालूँगा ॥ ३५९ ॥

जब तक मनुष्य पुरुषार्थ नहीं करता तब तक उसे उच्चपद की प्राप्ति दुर्लभ होती है अर्थात् पौरुष द्वारा उन्नति सुलभ हो जाती है। जैसे तुला राशि में पहुँचा हुआ सूर्य मेघों के ऊपर विजयी बन जाता है। तात्पर्य यह है कि पराक्रम द्वारा निर्बल भी सबल पर विजय प्राप्त कर सकता है ॥ ३६० ॥

टिट्टिभ ने कहा—यदि तुम्हे समुद्र के साथ लड़ाई मोल लेनी ही है तो अन्य पक्षियों को बुलाकर मित्रों के साथ ही ऐसा करो। कहा भी गया है—

तथा च—चटकाकाष्ठकूटेन मक्षिकादर्दुरैस्तथा ।
महाजनविरोधेन कुञ्जरः प्रलयं गतः' ॥ ३६२ ॥

टिट्टिभ आह—'कथमेतत् ?' सा प्राह—

१५ : चटककुञ्जरकथा

कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे चटकदम्पती तमालतरुकृतनिलयौ प्रतिवसतः स्म । अथ तयोर्गच्छता कालेन सन्ततिरभवत् । अन्यस्मिन्नहनि कश्चित् प्रमत्तो वनगजः घर्मार्तश्छायार्थी तमालवृक्षं तं समाश्रितः । ततो मदोत्कर्षात्तां तस्य शाखां चटकाश्रितां पुष्करवाग्रेणाकृष्य बभञ्ज । तस्या भङ्गेन चटकाण्डानि

दुर्जयः जेतुमशक्यः, हि तथा हि, तृणैः अतितुच्छैर्लताप्रतानादिभिः, रज्जुः पाशः, आवेष्टयते विरच्यते इति भावः, येन संहतेन तृणेन, नागोऽपि गजोऽपि, बध्यते बद्धः क्रियते; अतो बहूनामस्माकमपि समवायः समुद्रं शोषयिष्यतीति भावः ॥ ३६१ ॥

चटकेति । चटकया सह काष्ठकूटेन "कठफोड़वा" इति प्रसिद्धेन पक्षिणा, तथा मक्षिकया सह मिलितैः दर्दुरैः भेकैः, एवं महाजनविरोधेन महतां बहूनामित्यर्थः, जनानां विरोधेन, कुञ्जरः गजः, प्रलयं नाशं गतः ॥ ३६२ ॥

[१५]

(१) कस्मिंश्चित्, वनोद्देशे—वनस्य प्रान्तभागे, तमालतरुकृतनिलयौ—तमालवृक्षाश्रितनीडौ, गच्छता कालेन—कतिपयकाले व्यतीते सति, सन्ततिः—प्रसूतिः, प्रमत्तः—मदोन्मत्तः । घर्मार्त्तः,—आतपपीडितः । छायार्थी—छायायां विश्रामेच्छुकः; समाश्रितः—निसेवितः ।

(२) मदोत्कर्षात्—मत्तताऽतिरेकात्, अहङ्काराऽऽधिक्याच्च इति शेषः । चटका-

---

बहुत सी तत्वहीन (दुर्बल) वस्तुओं का समूह भी अजेय बन जाता है । जैसे तृणों को बटकर बनाई हुई रस्सी से हाथी भी बाँध लिए जाते हैं ॥ ३६१ ॥

और भी—चटका (गौरैया) और काष्ठकूट (कठफोड़वा) पक्षी तथा मेढ़क और मक्खियों के मिलकर विरोध करने से हाथी का विनाश हुआ था ॥ ३६२ ॥

टिट्टिभ ने कहा—यह कैसे ? उसने कहा—

गौरय्या और हाथी की कथा

किसी बन में गौरैये का एक जोड़ा तमाल के पेड़ पर घोंसला बनाकर रहता था । कुछ समय बीतने के बाद उन्हें सन्तान उत्पन्न हुई । एक दिन एक मतवाला हाथी धूप से व्याकुल होकर छाया पाने के लिए उसी तामाल वृक्ष के नीचे आया ।

सर्वाणि विशीर्णानि । आयुःशेषतया च चटकौ कथमपि प्राणैर्न वियुक्तौ । अथ चटका स्वाण्डभङ्गाभिभूता प्रलापान्कुर्वाणा न किञ्चित्सुखमाससाद । अत्रान्तरे तस्यास्तान्प्रलापाञ्श्रुत्वा काष्ठकूटो नाम पक्षी तस्याः परमसुहृद् तद्दुःखदुःखितोऽभ्येत्य तामुवाच—'भगवति, किं वृथा प्रलापेन ? उक्तं च—

नष्टं मृतमतिक्रान्तं नानुशोचन्ति पण्डिताः ।
पण्डितानां च मूर्खाणां विशेषोऽयं यतः स्मृतः ॥ ३६३ ॥

श्रितां—चटकनीडयुक्ताम् । पुष्पकराग्रेण—शुण्डाग्रेण । बभञ्ज—खण्डितवान् । तस्याः शाखायाः ।

(१) विशीर्णानि—भग्नानि । आयुःशेषतया—आयुषः अवशिष्टतया । प्राणैर्न वियुक्तौ—न मृतौ । अण्डभङ्गाभिभूता—अण्डानां विनाशेन शोकाकुलासती, प्रलापान् कुर्वाणा—प्रलपन्ती, सुखं, नाससाद—न प्राप । काष्ठकुट्टः—पक्षिविशेषः, कठफोड़वा इति भाषा । तस्याः—चटकायाः, अभ्येत्य-तत्रागत्य, प्रलापनेन—रोदनेन ।

नष्टमिति । पण्डिताः विद्वांसः, नष्टम् अदर्शनं गतं, द्रव्यमिति शेषः, चौरादिभिरपहृततयेति भावः; मृतं निधनं गतं, पुत्रकलत्रादिस्वजनमिति शेषः, अतिक्रान्तम् अतीतञ्च, व्यापारमिति शेषः; न अनुशोचन्ति एतत् त्रयमुद्दिश्य शोकं न प्रकाशयन्तीत्यर्थः; यतः पण्डितानां मूर्खाणाञ्च अयं विशेषः प्रभेदः, स्मृतः उक्तः; त्वमपि ज्ञानिजनाचरितमनुसृत्य नष्टानां सन्तानानां कृते मा शुचः इत्यभिप्रायः ॥ ३६३ ॥

मदोन्मत्त होने के कारण उसने उस वृक्ष की उसी डाल को अपनी सूँड़ से खींचकर तोड़ डाला, जिस पर गौरैये ने अण्डा दिया था। उसके टूट जाने से गौरैया के सभी अण्डे फूट-फाट गए। आयुशेष रहने के कारण किसी प्रकार चटक और चटका मरने से बच गए। चटका (मादा गौरैया) अण्डों के फूट जाने से व्याकुल होकर विलाप करती हुई किसी प्रकार शान्ति नहीं पा रही थी। इसी बीच उसके विलाप को सुनकर उसका घनिष्ठ मित्र-काष्ठकूट (कठफोड़वा) उसके दुःख से दुःखी होकर वहाँ आया और उससे कहने लगा—देवी व्यर्थ विलाप करने से क्या लाभ है ? कहा भी गया है—

जो वस्तु नष्ट हो गई, जो बन्धु बान्धव मर गए तो जो कुछ हो गया उसके लिये विवेकी पुरुष शोक नहीं करते हैं। शास्त्रकारों ने ज्ञानियों और अज्ञानियों में यही भेद बताया है ॥ ३६३ ॥

तथा च -अशोच्यानीह भूतानि यो मूढस्तानि शोचति ।
स दुःखे लभते दुःखं द्वावनर्थौ निषेवते ।। ३६४ ।।

अन्यच्च— श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतरोऽवशः ।
तस्मान्न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याश्च शक्तितः ।। ३६५ ।।

चटका प्राह—'अस्त्वेतत् । परं दुष्टगजेन मदान्मम सन्तानक्षयः कृतः । तद्यदि मम त्वं सुहृत्सत्यस्तदस्य गजापसदस्य कोऽपि वधोपायश्चिन्त्यताम्, यस्यानुष्ठानेन मे सन्ततिनाशदुःखमपसरेदिति । उक्तं च—

अशोच्यानीति । इह जगति, भूतानि प्राणिनः, "युक्ते क्ष्मादावृते भूतं प्राण्यतीते समे त्रिषु" इत्यमरः । अशोच्यानि शोकानर्हाणि, यो मूढः तानि भूतानि, शोचति, सः दुःखे नाशजन्ये एकस्मिन् सतीति भावः, दुःखं शोकजन्यमपरं लभते; अतः द्वौ अनर्थौ नष्टादिजन्यमेकं तदनुशोचनेनानशनादिरूपञ्चापरमिति भावः, निषेवते अनुभवति ।। ३६४ ।।

श्लेष्मेति । यतः प्रेतः मृतः, अवशः पराधीनः, अनिच्छन्नपीति भावः, बान्धवैः, मुक्तं परित्यक्तं श्लेष्माश्रु श्लेष्मा नासानिर्गत इति भावः, तद्युक्तं नेत्रजलं, भुङ्क्ते पिबति; तस्मात् न रोदितव्यं हि रोदनं न कर्त्तव्यमेव; शक्तितः शक्तिमनुसृत्य, साध्यानुरूपमित्यर्थः; क्रियाश्च और्ध्वदेहिककार्य्याणि च, श्राद्धतर्पणादिकानि इत्यर्थः, कार्य्याः कर्त्तव्याः, जनैरिति शेषः, प्रेततृप्त्यर्थमिति भावः ।। ३६५ ।।

(१) सुहृत्-सत्यः—वास्तविको हितेच्छुः । मदात्—गर्वात् । गजापसदस्य—गजाधमस्य । तस्य अनुष्ठानेन—गजस्य निधनव्यापारेण । सन्ततिनाशदुःखम्—सन्तानक्षयाज्जातं दुःखम् । अपसरति—दूरं गच्छति ।

जो अज्ञानी इस संसार में शोक न करने योग्य विषयों के प्रति शोक करता है वह (वस्तुनाश से उत्पन्न) एक दुःख के साथ ही (शोक जन्य) दूसरे दुःख का भी अनुभव करने से दो अनर्थों का क्लेश उठाता है ।। ३६४ ।।

(बन्धु-बान्धवों के रोने से) मृतात्मा को विवश होकर अपने कुटुंबी जनों द्वारा परित्यक्त कफ और आंसू का पान करना पड़ता है अतः (अपने कुटुम्बियों की मृत्यु के पश्चात्) रोना नहीं चाहिए बल्कि (उनकी सुगति के लिए) अपनी शक्ति के अनुसार प्रेत क्रिया करनी चाहिए ।। ३६५ ।।

चटका ने कहा—यह तो ठीक है किन्तु दुष्ट हाथी ने मदोन्मत्त होकर मेरी सन्तान का विनाश कर डाला है । इसलिए यदि तुम मेरे सच्चे मित्र हो तो इस नीच हाथी के मारने का कोई उपाय सोचो जिसके करने से सन्ताननाश से उत्पन्न मेरी पीड़ा दूर हो सके । कहा भी है—

आपदि येनापकृतं येन च हसितं दशासु विषमासु ।
अपकृत्य तयोरुभयोः पुनरपि जातं नरं मन्ये ॥ ३६६ ॥

काष्ठकूट आह—'भगवति, सत्यमभिहितं भवत्या । उक्तं च—

स सुहृद्व्यसने यः स्यादन्यजात्युद्भवोऽपि सन् ।
वृद्धौ सर्वोऽपि मित्रं स्यात् सर्वेषामेव देहिनाम् ॥ ३६७ ॥
स सुहृद्व्यसने यः स्यात्स पुत्रो यस्तु भक्तिमान् ।
स भृत्यो यो विधेयज्ञः सा भार्या यत्र निर्वृतिः ॥ ३६८ ॥

तत्पश्य मे बुद्धिप्रभावद् । परं ममापि सुहृद्भूता वीणारवा नाम

आपदीति । आपदि येन जनेन, अपकृतम् अनिष्टमाचरितं, येन च विषमासु दारुणासु, दशासु दुरवस्थासु इत्यर्थः, हसितं, तयोः उभयोः, द्वयोः अपकृत्य अनिष्टं विधाय नरं मृतजनमिति भावः, पुनरपि जातम् उत्पन्नम् । इति मन्ये तर्कयामि । आर्य्या वृत्तम् ॥ ३६६ ॥

स इति । यः व्यसने विपदि, स्यात्, सहाय इति शेषः, सः अन्यजात्युद्भवः जात्यन्तरोत्पन्नः सन् अपि, सुहृद् मित्रम्, सर्वोऽपि जनः, सर्वेषामेव देहिनां, वृद्धौ अभ्युदये, न तु व्यसने इति भावः, मित्रं स्यात्; अतस्ते न खलु सुहृद इति भावः ॥ ३६७ ॥

स इति । सुहृद्, व्यसने विपदि, स्यात्, सहाय इति शेषः, स एव सुहृत् बन्धुपदवाच्यः, यस्तु पुत्रः, भक्तिमान् पूज्येषु अनुरक्तः, स एव पुत्रः, यः भृत्यः विधेयज्ञः कार्य्यज्ञः, सः एव भृत्यः किङ्करपदवाच्यः, यत्र भार्य्यायां, निर्वृतिः सुखं, लभ्यते इति शेषः, सा एव भार्य्या यथार्थजाया ॥ ३६८ ॥

जिसने विपत्ति के समय अपकार किया हो तथा जिसने भयङ्कर परिस्थितियों में हँसी उड़ाई हो ऐसे दोनों प्रकार के लोगों का जो अपकार करता है उस मनुष्य का मैं पुनर्जन्म हुआ मानता हूँ तात्पर्य यह कि अपकारी का अपकार करना ही मनुष्यता की कसौटी है ॥ ३६६ ॥

काष्ठकूट ने कहा—देवी ! आपने सच ही कहा है । कहा भी गया है—

दूसरी जाति में उत्पन्न होकर भी जो विपत्ति के समय सहायक होता है वही सच्चा मित्र है । यों तो सभी प्राणियों के ऐश्वर्य की दशा में सभी मित्र बन जाते हैं ॥ ३६७ ॥

विपत्तियों में जो साथ दे वही मित्र है, जो (पिता माता) के प्रति सेवाभाव रखता हो वही पुत्र है, जो आज्ञा का पालन करने में कुशल हो वही सेवक हैं और जो आनन्द देने वाली हो वही पत्नी है ॥ ३६८ ॥

अतः मेरी बुद्धि का प्रभाव देखो । वीणारव नाम की एक मक्खी मेरी भी

मक्षिकाऽस्ति । तत्तामाहूयागच्छामि, येन स दुरात्मा दुष्टगजो बध्यते' ।

अथासौ चटकया सह मक्षिकामासाद्य प्रोवाच— भद्रे, ममेष्टेयं चटका । केनचिद्दुष्टगजेन पराभूताऽण्डस्फोटने । तत्तस्य वधोपायमनुष्ठितो मे साहाय्यं कर्तुमर्हसि ।' मक्षिकाप्याह—'भद्र, किमुच्यतेऽत्र विषये ? उक्तं च—

> पुनः प्रत्युपकाराय मित्राणां क्रियते प्रियम् ।
> यत्पुनर्मित्रमित्रस्य कार्यं मित्रैर्न किं कृतम् ? ॥ ३६९ ॥

सत्यमेतत् । परं ममापि भेको मेघनादो नाम मित्रं तिष्ठति । तमप्याहूय यथोचितं कुर्मः । उक्तं च—

---

(१) आसाद्य—प्राप्य, मेलयित्वा । इष्टा—प्रिया । पराभूता—अपमानिता । अण्डस्फोटनेन—डिम्बभङ्गेन ।

पुनरिति : पुनः प्रत्युपकाराय कृतोपकारस्य प्रतिदानलाभाय, मित्राणां प्रियं क्रियते, लोकैरिति शेषः, मित्रमित्रस्य मित्रसुहृदः; पुनः यत् कार्यं, तत् किं मित्रैः न कृतम् ? अपि तु कृतमेव इत्यन्यत्र दृश्यते इत्यर्थः, यथा प्रत्युपकाराशया मित्रस्य उपकारः क्रियते, तथा मित्रसन्तोषार्थं तन्मित्रस्यापि इति लोके दृश्यते, अतः अवश्यमेव उपकर्त्तव्यः इति भावः ॥ ३६९ ॥

(२) भेकः—दर्दुरः ।

मित्र है । मैं उसे बुला लाता हूँ । जिससे वह दुष्ट हाथी मारा जा सके ।

तब वह उस चटका के साथ मक्खी के पास जाकर बोला—'भद्रे ! यह मेरी प्रिय मित्र चटका है । किसी दुष्ट हाथी ने इनके अण्डों को फोड़कर इन्हें अत्यधिक दुःखी बना दिया है । अतः तुम्हें उसके मारने के उपाय में मेरी सहायता करनी चाहिए । मक्खी ने कहा—भद्र ! इस विषय में आप मुझे क्या आदेश दे रहें हैं । कहा भी गया है—

जिस प्रकार मित्रों के उपकार का बदला चुकाने के लिए उनके हित का कार्य किया जाता है उसी प्रकार मित्र के हित का भी कार्य अवश्य करना चाहिए । यदि ऐसा मित्र ने नहीं किया तो फिर उसने कुछ नहीं किया ॥ ३६९ ॥

आप का कहना सत्य है (अर्थात् मुझे आप की सहायता अवश्य करनी चाहिए) । किन्तु मेघनाद नाम का एक मेढक मेरा भी मित्र है । इसलिए उसे भी बुला कर हम लोग जैसा उचित समझें वैसा करें । कहा भी गया है—

हितैः साधुसमाचारैः शास्त्रज्ञैर्मतिशालिभिः ।
कथञ्चिन्न विकल्पन्ते विद्वद्भिश्चिन्तिता नयाः ॥ ३७० ॥

अथ ते त्रयोऽपि गत्वा मेघनादस्याग्रे समस्तं वृत्तान्तं निवेद्य तस्थुः । अथ स प्रोवाच—'कियन्मात्रोऽसौ वराको गजो महाजनस्य कुपितस्याग्रे ? तन्मदीयो मन्त्रः कर्तव्यः । मक्षिके, त्वं गत्वा मध्याह्नसमये तस्य मदोद्धतस्य गजस्य कर्णे वीणारवसदृशं शब्दं कुरु, येन श्रवणसुखलालसो निमीलितनयनो भवति । ततश्च काष्ठकूटचञ्च्वा स्फोटितनयनोऽन्धीभूतस्तृषार्तो मम गर्त्ततटाश्रितस्य सपरिकरस्य शब्दं श्रुत्वा जलाशयं मत्वा समभ्येति; ततो गर्तमासाद्य पतिष्यति, पञ्चत्वं यास्यति चेति । एवं समवायः कर्तव्यः यथा वैरसाधनं भवति ।'

हितैरिति । हितैः हितार्थिभिः, साधुसमाचारैः सच्चरितैः, शास्त्रज्ञैः शास्त्रविद्भिः, मतिशालिभिः बुद्धिमद्भिः—विद्वद्भिः नीतिकुशलैः जनैः, चिन्तिताः मनः कल्पिताः, नयाः नीतिव्यापाराः, कथञ्चित् केनापि प्रकारेण, न विकल्पन्ते नान्यथा भवन्तीत्यर्थः ॥ ३७० ॥

(१) कियन्मात्रः—किंप्रमाणः, अतितुच्छ इत्यर्थः । वराकः—दीनः, नगण्य इति भावः । महाजनस्य—जनसमूहस्य । मन्त्रः—मन्त्रणा, उपदेश इत्यर्थः । कर्त्तव्यः—पालयितव्य इत्यर्थः । मदोद्धतस्य—मदविह्वलस्य, वीणारवसदृशं तन्त्रीस्वरतुल्यम्, श्रवणसुखलालसः—श्रवणसुखलोलुपः ।

(२) स्फोटितनयनः—उत्पाटितचक्षुः तृषार्त्तः—पिपासाकुलः सपरिकरस्य—सपरिवारस्य, 'भवेत् परिकरः सङ्घ पर्य्यङ्कपरिवारयोः" इति मेदिनी, समभ्येति—

हित की चिन्ता में लगे हुए, सदाचारी, शास्त्र के नियमों के ज्ञाता तथा प्रतिभाशाली विद्वानों द्वारा बिचारे गए नीति के कार्य कभी भी विफल नहीं होते हैं ॥ ३७० ॥

इसके पश्चात् वे तीनों वहाँ जाकर मेघनाद के सामने सारा समाचार सुना कर बैठ गए । तब उस मेढक ने कहा—क्रुद्ध होकर जब हम लोग संघ बना लेंगे तो हमलोगों के सामने वह क्षुद्र हाथी क्या चीज है ? इस लिए आप लोग मेरी राय के अनुसार काम कीजिए । हे मक्खी ! तुम कल दोपहर को जाकर उस हाथी के कान में वीणा की ध्वनि के समान शब्द करो । जिससे वह श्रवण-सुख की लालसा में अपनी आँखे मूँद लेगा । उस समय कठफोड़वा अपनी चोंच से उसकी आँखे फोड़ देगा । इसके पश्चात् जब वह अन्धा होकर प्यास से व्याकुल हो जायगा तब इसे मेरे गड्ढे के पास मेरे परिवार वालों का शब्द सुनकर इसे जलाशय

अथ तथाऽनुष्ठिते स मत्तगजो मक्षिकागेयसुखान्निमीलितनेत्रः काष्ठकूटहृतचक्षर्मध्याह्नसमये भ्राम्यन्मण्डूकशब्दानुसारी गच्छन्महान्तं गर्तमासाद्य पतितो मृतश्च । अतोऽहं ब्रवीमि—'चटका काष्ठकूटेन' इति ॥

टिट्टिभ आह—'भद्रे, एवं भवतु । सुहृद्वर्गसमुदायेन सह समुद्रं शोषयिष्यामि' इति निश्चित्य बकसारसमयूरादीन् समाहूय प्रोवाच—'भोः, पराभूतोऽहं समुद्रेणाण्डकापहारेण । तच्चिन्त्यतामस्य शोषणोपायः ।' ते सम्मन्त्र्य प्रोचुः—'अशक्ता वयं समुद्रशोषणे, तत्किं वृथा प्रयासेन ? उक्तं च—

अबलः प्रोन्नतं शत्रुं यो याति मदमोहितः ।
युद्धार्थं स निवर्त्तेत शीर्णदन्तो गजो यथा ॥ ३७१ ॥

आगमिष्यति । पञ्चत्वं—मृत्युम् । समवायः—सङ्घः, मेलनमिति यावत् । वैरसाधनं—प्रतिहिंसासिद्धिः । वैरस्य प्रतिशोधो भविष्यतीति भावः ।

(१) गेयम्—गानम् ।

(२) संमन्त्र्य—परस्परं विचार्य, वृथा प्रयासेन व्यर्थप्रयत्नेन, यः, मदमोहितः—मदविह्वलः सन् ।

अबल इति । यः अबलः दुर्बलः, मदमोहितः सन्; प्रोन्नतं प्रबलं, शत्रुं याति;

समझ कर आयेगा और यहाँ आकर गड्ढे में गिरकर मर जायगा । इस प्रकार संघ बनाकर कार्य करने से शत्रुता सध जायगी अर्थात् उसने हमलोगों के साथ जो शत्रुता की है, उसका फल उसे मिल जायगा ।

इसके पश्चात् वैसा (मेघनाद की राय के अनुसार कार्य) करने पर हाथी ने उस मक्खी के गीत के सुख में ज्योंहि अपनी आँखे बन्द कीं, त्योंहि कठफोड़वा ने उसकी आँखें फोड़ दी । इसके बाद दोपहर को प्यास के मारे इधर-उधर घूमता हुआ वह हाथी मेढ़कों के शब्द का अनुसरण करते हुए उस बड़े गड्ढे के पास पहुँचा और उसी में गिरकर मर गया । इसीलिए मैं कहती हूँ कि 'चटका और कठफोड़वा से' इत्यादि ।

टिट्टिभ—(टिटिहरे) ने कहा—भद्रे, जैसा तुम कह रही हो, वैसा ही होगा । मैं अपने मित्रों का संघ बनाकर उस समुद्र को सोख डालूँगा । ऐसा निश्चय करके उसने बगुले, सारस और मोर आदि को बुलाकर कहा—'भाइयो, समुद्र ने मेरे अण्डों का अपहरण करके मुझे बहुत दुःखी बना दिया है । इसलिए आप लोग उसे सुखाने का कोई उपाय सोचिए ।' उन्होंने आपस में राय बात करके कहा—'हमलोगों में समुद्र सोखने की शक्ति नहीं है । फिर व्यर्थ परिश्रम करने से क्या लाभ ? क्योंकि कहा भी गया है—

तदस्माकं स्वामी वैनतेयोऽस्ति। तस्मै सर्वमेतत्परिभवस्थानं निवेद्यताम्, येन स्वजातिपरिभवकुपितो वैरानृण्यं गच्छति; अथवाऽत्रावलेपं करिष्यति, तथाऽपि नास्ति वो दुःखम्। उक्तं च—

सुहृदि निरन्तरचित्ते गुणवति भृत्येऽनुवर्तिनि कलत्रे।
स्वामिनि शक्तिसमेते निवेद्य दुःखं सुखी भवति॥ ३७२॥

तद्यामो वैनतेयसकाशं 'यतोऽसावस्माकं स्वामी'।

तथाऽनुष्ठिते सर्वे ते पक्षिणो विषण्णवदना बाष्पपूरितदृशो वैनतेयसकाशमासाद्य करुणस्वरेण फूत्कर्त्तुमारब्धाः—'अहो, अब्रह्मण्यमब्रह्मण्यम्!!

युद्धार्थमिति भावः, स शीर्णदन्तो भग्नदन्तो गजो यथा; तथा निवर्त्तेत; पराभूतः सन् इति शेषः॥ ३७१॥

(१) वैनतेयः,—विनतानन्दनः, गरुडः इत्यर्थः। परिभवस्थानं—तिरस्कारविषयम्। वैरानृण्यं—शत्रुताप्रतिशोधमित्यर्थः। अवलेपं—गर्वम्, अहं समुद्रमतितुच्छं योधयिष्यामीति तेन ममैव लाघवमित्येवंरूपमिति भावः।

सुहृदीति। निरन्तरचित्ते अभिन्नहृदये, सुहृदि, गुणवति सगुणे भक्तियुक्ते भृत्ये सेवके अनुवर्त्तिनि अनुरक्ते, अनुकूलगामिन्यां कलत्रे भार्य्यायां, तथा शक्तिसमेते सामर्थ्यवति, स्वामिनि प्रभौ, दुःखं निवेद्य सुखी भवति, जन इति शेषः। आर्य्या वृत्तम्॥ ३७२॥

(२) यामः—गच्छामः, विषण्णवदनाः—खिन्नाननाः, बाष्पपूरितदृशः—अश्रुपूरितनयनाः, फूत्कर्त्तुं—चीत्कर्त्तुम्। अब्रह्मण्यम्—अवध्यं, "यथा वयं न हन्यामहे

जो निर्बल होते हुए भी अभिमान के वशीभूत होकर अपने से बहुत बलवान् शत्रु के पास युद्ध करने के लिए जाता है वह टूटे हुए दाँत वाले हाथी की तरह (जैसे हाथी अपने दाँतों से पहाड़ में टक्कर मार कर उसे गिराना चाहता है लेकिन पहाड़ तो गिरता नहीं, उल्टे हाथी के दाँत ही टूट जाते हैं वैसे ही) पराजित होकर लौट आता है॥ ३७१॥

अतः गरुड़ हम लोगों के स्वामी हैं। इसलिए उनसे इस दुःख का सारा कारण बता देना चाहिए। जिससे वे अपनी जाति की इस पराजय से क्रुद्ध होकर शत्रुता का बदला चुकाने के लिए कोई न कोई उपाय अवश्य करेंगे। यदि हमलोगों की बातें सुनकर वह घमण्ड भी करें तो भी हम लोगों को दुःखी नहीं होना चाहिए। कहा भी गया है—

अभिन्न हृदय मित्र, गुणी सेवक, प्रेम करने वाली पत्नी और शक्तिशाली स्वामी से अपना दुःख निवेदन करके व्यक्ति सुखी ही होता है॥ ३७२॥

इस लिए हम लोग गरुड़ के पास चलें क्योंकि वे हम लोगों के स्वामी हैं। ऐसा निश्चय कर लेने पर वे सभी पक्षी उदास मुँह होकर, आँखों में आँसू भर

अधुना सदाचारस्य टिट्टिभस्य भवति नाथे सति समुद्रेणाण्डान्यपहृतानि तत्प्रनष्टमधुना पक्षिकुलम्। अन्येऽपि स्वेच्छया समुद्रेण व्यापादयिष्यन्ते।

उक्तं च—

एकस्य कर्म संवीक्ष्य करोत्यन्योऽपि गर्हितम्।
गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः॥ ३७३॥
चाटुतस्करदुर्वृत्तैस्तथा साहसिकादिभिः।
पीड्यमानाः प्रजा रक्ष्याः कूटच्छद्मादिभिस्तथा॥ ३७४॥

तथा क्रियताम्" इत्येवमार्त्तवचनमिति भावः, "अब्रह्मण्यमवध्योक्तौ" इत्यमरः। सदाचारस्य—निर्दोषस्य। भवति—त्वयि। नाथे—शरण्ये, प्रभौ।

(१) प्रनष्टम्—विनष्टम्, पक्षिकुलम्—पक्षिवृन्दम्, खगकुलमिति यावत्।

एकस्येति। एकस्य जनस्य, कर्म कार्य्यं, गर्हितमिति शेषः, संवीक्ष्य दृष्ट्वा, अन्योऽपि गर्हितं निन्दितं कर्म, करोति; यतो लोकः गतानुगतिकः गतान् अनुगतानां पश्चात्, गतिः पन्थाः, गमनं वा यस्य तादृशः, "गतिः स्त्री मार्गदर्शयोर्ज्ञाने यात्राऽभ्युपाययोः" इति मेदिनी परानुवर्तकः अपरकार्य्यानुसारीत्यर्थः, पारमार्थिकः परमार्थपरः, सत्यानुसारीत्यर्थः, लोकः न, अस्तीति शेषः; गर्हितमाचरतः समुद्रस्य प्रतीकाराभावे अन्येऽपि तथा करिष्यन्ति, ततः संसारस्य अतीवानिष्टं सम्पत्स्यते इति भावः॥ ३७३॥

चाटुतस्करेति। चाटुतस्करदुर्वृत्तैः प्रतारकचोरदुराचारैः, चाटुः—प्रियभाषी, 'चाट' इति पाठे यो विश्वास्य परधनमपहरति; स चाट इति मिताक्षरा; तथा साहसिकादिभिः अविमृष्यकारकादिभिः, दुर्जनैरिति भावः; तथा कूटच्छद्मादिभिः कौटिल्यच्छलादिभिः, पीड्यमानाः प्रजाः रक्ष्याः रक्षणीयाः; यथा न पीड्यन्ते

कर तथा गरुड़ के समीप जाकर करुण स्वर में चिल्लाने लगे—रक्षा करें, रक्षा करें। आप जैसे स्वामी के होने पर भी इस निरपराधी बेचारे टिट्टिभ के अण्डों को समुद्र ने अपहरण कर लिया है। इस लिए अब तो पक्षियों के वंश का नाश ही समझिए। क्योंकि (इसका प्रतीकार न करने पर) समुद्र के समान ही दूसरे भी मनमाने ढंग से पक्षियों को मार डालेंगे। कहा भी गया है—

एक को बुरा कर्म करते देख कर दूसरे भी उसी प्रकार का निन्दनीय कर्म करने लगते हैं। क्योंकि लोग अन्धभक्त (आँख मूँद कर दूसरों के पीछे चलने वाले) होते हैं। वे सच्चाई की छान-बीन करने वाले नहीं होते॥ ३७३॥

(स्वामी का यह कर्तव्य है कि) धूर्त चोर, दुराचारी, डाकू, कटुवादी तथा कपटाचारी से पीड़ित प्रजा की रक्षा करे॥ ३७४॥

प्रजानां धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षितुः ।
अधर्मादपि षड्भागो जायते यो न रक्षति ॥ ३७५ ॥
प्रजापीडनसन्तापात्समुद्भूतो हुताशनः ।
राज्ञः श्रियं कुलं प्राणान्नादग्ध्वा विनिवर्त्तते ॥ ३७६ ॥
राजा बन्धुरबन्धूनां राजा चक्षुरचक्षुषाम् ।
राजा पिता च माता च सर्वेषां न्यायवर्तिनाम् ॥ ३७७ ॥
फलार्थी पार्थिवो लोकान् पालयेद्यत्नमास्थितः ।
दानमानादितोयेन मालाकारोऽङ्कुरानिव ॥ ३७८ ॥

तथा कार्य्या इत्यर्थः, नृपेणेति शेषः ॥ ३७४ ॥

प्रजानामिति । रक्षितुः त्राणकर्त्तुः, दुर्जनेभ्य इति शेषः, राज्ञः प्रजानां धर्मस्य षड्भागः षष्ठो भागः, "सङ्ख्यावाचकानां वृत्तिविषये पूरणार्थत्वम्" इति नियमात् अत्र पूरणार्थता भवति, लभ्य इति शेषः, यः राजा, न रक्षति, प्रजा इति शेषः, तस्य अधर्मादपि, प्रजाकृतादिति शेषः, षड्भागः षष्ठो भागः, जायते, अतः धर्मार्थिना राज्ञा प्रजा अवश्यमेव पालनीया इति तात्पर्यम् ॥ ३७५ ॥

प्रजेति । प्रजानां पीडनेन यः सन्तापः तासां मनसि यत् दुःखमित्यर्थः, तस्मात्, समुद्भूतः सञ्जातः, हुताशनः अग्निः, पापवह्निरित्यर्थः, राज्ञः श्रियं कुलं प्राणांश्च अदग्ध्वा न विनिवर्त्तते; अतो राज्ञः प्रजापीडनं सर्वानर्थमूलमिति भावः ॥ ३७६ ॥

राजेति । राजा अबन्धूनां बन्धुरहितानां, बन्धुः मित्रस्वरूपः, तादृशहितकारित्वादिति भावः, राजा अचक्षुषाम् अन्धानां चक्षुः नयनरूपः प्रतिपालकत्वादिति भावः, राजा सर्वेषां न्यायवर्त्तिनां न्यायपथावलम्बिनां, न तु कुमार्गगामिनामिति भावः, पिता च माता च पित्रोः स्वरूपः, तद्वदाचरणवत्त्वादिति भावः ॥ ३७७ ॥

फलार्थीति । फलार्थी फलम् ऐहिकं राजस्वादि, पारलौकिकञ्च स्वर्गादि, तदर्थी

प्रजा के धर्म का छठाँ भाग रक्षा करने वाले राजा को प्राप्त होता है किन्तु यदि वह प्रजा की रक्षा न करे तो अधर्म (पाप) के छठे भाग का भी उसे अधिकारी बनना पड़ता है ॥ ३७५ ॥

प्रजा-पीड़न के संताप से उत्पन्न होने वाली आग राजा की लक्ष्मी, उसके बन्धु-बान्धवों तथा प्राणों का नाश करके ही शान्त होती है ॥ ३७६ ॥

राजा ही बन्धुहीनों (असहायों) का बन्धु (सहायक) है, राजा ही नेत्रहीनों (अन्धों) की आँख है और राजा ही न्याय-पथ पर चलने वाले सभी लोगों का माता पिता भी है ॥ ३७७ ॥

जिस प्रकार फल की इच्छा रखने वाला माली पानी देकर यत्नपूर्वक पौधों

यथा बीजाङ्कुरः सूक्ष्मः प्रयत्नेनाभिरक्षितः ।
फलप्रदो भवेत्काले तद्वल्लोकः सुरक्षितः ॥ ३७९ ॥
हिरण्यधान्यरत्नानि यानानि विविधानि च ।
तथाऽन्यदपि यत्किञ्चित्प्रजाभ्यः स्यान्नृपस्य तत् ॥ ३८० ॥

अथैवं गरुडः समाकर्ण्य तद्दुःखितं कोपाविष्टश्च व्यचिन्तयत्—'अहो, सत्यमुक्तमेतैः पक्षिभिः तदद्य गत्वा तं समुद्रं शोषयामः।' एवं चिन्तयतस्तस्य विष्णुदूतः समागत्याह—'भो गरुत्मन्, भगवता नारायणेनाहं तव पार्श्वे प्रेषितः। देवकार्याय भगवानमरावत्यां यास्यतीति। तत्सत्वरमागम्यताम्।' तच्छ्रुत्वा गरुडः साभिमानं प्राह—'भो दूत, किं मया

तत्कामी, पार्थिवः राजा, मालाकारः अङ्कुरानिव, तोयेनेति भावः, यत्नमास्थितः सयत्नः सन्, दानमानादि तोयमिव तेन, लोकान् प्रजाः, पालयेत् ॥ ३७८ ॥

यथेति । सूक्ष्मः अत्यल्पमात्रः, बीजाङ्कुरः प्रयत्नेन अभिरक्षितः सन्, यथा काले फलप्रदो भवेत्, तद्वत् तथा, सुरक्षितो लोकः; राज्ञः फलप्रदो भवतीति शेषः ॥ ३७९ ॥

सम्यक् प्रजापालने यत् फलं तदाह—हिरण्येति । हिरण्यानि स्वर्णानि; धान्यावि रत्नानि मणयश्च; विविधानि, यानानि वाहनानि, अश्वादीनि इत्यर्थः, तथा अन्यदपि यत्किञ्चित् वस्तु, नृपस्य, प्रयोजनीयमिति शेषः, तत् सर्वं, प्रजाभ्यः स्यात् ॥ ३८० ॥

का पालन-पोषण करता है उसी प्रकार फल की इच्छा रखने वाले राजा को भी दान मान आदि देकर यत्नपूर्वक प्रजा का पालन-पोषण करना चाहिए ॥ ३७८ ॥

जिस प्रकार अत्यन्त छोटा बीजाङ्कुर यत्नपूर्वक रक्षा करने पर यथा समय फल देने वाला बन जाता है उसी प्रकार सुरक्षित प्रजा भी यथा समय फल देने वाली होती है ॥ ३७९ ॥

सोना, अन्न, मणि, अनेक प्रकार की सवारियाँ तथा अन्य जो भी वस्तुएँ राजा की हैं वे सभी उसे प्रजा से प्राप्त होती हैं ॥ ३८० ॥

पक्षियों की इस प्रकार की बातें सुनकर उनके दुःख से दुःखी तथा क्रुद्ध होकर गरुड़ ने विचार किया—"इन पक्षियों ने ठीक ही कहा है। अतः आज ही जाकर उस समुद्र को सुखा दूँगा।" गरुड़ इस प्रकार सोच ही रहे थे कि इसी बीच विष्णु के दूत ने आकर कहा—"हे गरुड़! भगवान् नारायण ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है। देव-कार्य के लिए वे अमरावती (इन्द्र की नगरी) जायँगे। इसलिए जल्दी ही आ जाओ।" यह सुनकर गरुड़ ने गर्व के साथ कहा—"हे दूत! मुझ जैसे दुष्ट सेवक को लेकर भगवान् क्या करेंगे? इसलिए उनसे जाकर

कुभृत्येन भगवान्करिष्यति ? तद्गत्वा तं वद—यदन्यो भृत्यो वाहनायास्मत्स्थाने क्रियताम् । मदीयो नमस्कारो वाच्यो भगवतः । उक्तं च —

यो न वेत्ति गुणान् यस्य न तं सेवेत पण्डितः ।
न हि तस्मात्फलं किञ्चित्सुकृष्टादूषरादिव ।। ३८१ ।।

दूत आह – भो 'वैनतेय, कदाचिदपि भगवन्तं प्रति त्वया नैतदभिहितमीदृक्, तत्कथय, किं ते भगवतापमानस्थानं कृतम् ?' गरुड आह —'भगवदाश्रयभूतेन समुद्रेणास्मट्टिट्टिभाण्डान्यपहृतानि । तद्यदि तस्य निग्रहं न करोति, तदहं भगवतो न भृत्य इत्येष निश्चयस्त्वया वाच्यः । तद् द्रुततरं गत्वा भवता भगवतः समीपे वक्तव्यम् ।'

अथ दूतमुखेन प्रणयकुपितं वैनतेयं विज्ञाय भगवांश्चिन्तयामास—'अहो, स्थाने, स्थाने कोपो वैनतेयस्य तत् स्वयमेव गत्वा सम्मानपुरःसरं तमान·

य इति । यः यस्य गुणान् न वेत्ति न जानाति, पण्डितः तम् अविदितगुणं जनं, न सेवते, हि यतः, सुकृष्टात् सुष्ठु कृतकर्षणात्, ऊषरात् मरुभूमेरिव, "ऊषरो मरुधन्वानौ" इत्यमरः, तस्मात् जनात्, सुसेवितादपीति भावः, किञ्चिदपि फलं न, भवतीति शेषः ।। ३८१ ।।

(१) वैनतेयः—गरुडः, ईदृक्—एतादृशं वाक्यम्, अपमानस्थानम्—अपमानजनकं कृत्यम् । आश्रयभूतेन—निवासभूतेन, तस्य—समुद्रस्य, निग्रहः—दण्डविधानम् ।

(२) स्थाने—युक्त इत्यर्थः, अव्ययमेतत् "युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने" इत्यमरः ।

कहो कि सवारी के लिए मेरे स्थान पर किसी दूसरे सेवक की नियुक्ति कर लें । और भगवान् से मेरा प्रणाम भी कह देना ।" कहा भी गया है—

जो (स्वामी) जिस (सेवक) के गुण का नहीं पहचानता, उसकी सेवा नीतिज्ञ सेवक को नहीं करनी चाहिए क्योंकि उससे कोई फल उसी तरह नहीं मिलता, जैसे अच्छी तरह जोतने पर भी ऊसर भूमि से कोई फल प्राप्त नहीं होता है ।। ३८१ ।।

दूत ने कहा—"हे गरुड़ ! तुम ने भगवान् के प्रति कभी भी इस प्रकार की बात नहीं कही थी । अतः यह बताओ कि भगवान् ने तुम्हारा क्या अपमान किया है ?" गरुड़ ने कहा—"भगवान् के आश्रय स्थान समुद्र ने हमारे इस टिट्टिभ के अण्डों को अपहृत कर लिया है । यदि वे उसे दण्ड नहीं देंगे तो मैं भी उनकी सेवा नहीं करूँगा । तुम्हें मेरा यह निश्चय उनसे कहना है । इसलिए जल्दी ही भगवान् के पास जाकर उनसे कह दो ।"

इसके बाद दूत के कथनानुसार गरुड़ को प्रणय कुपित (जिस क्रोध में शत्रुता

यामि । उक्तं च—

भक्तं शक्तं कुलीनं च न भृत्यमवमानयेत् ।
पुत्रवल्लालयेन्नित्यं य इच्छेच्छ्रियमात्मनः ॥ ३८२ ॥

अन्यच्च--राजा तुष्टोऽपि भृत्यानामर्थमात्रं प्रयच्छति ।
ते तु सम्मानितास्तस्य प्राणैरप्युपकुर्वते ॥ ३८३ ॥

इत्येवं सम्प्रधार्य रुक्मपुरे वैनतेयसकाशं सत्वरमगमत् । वैनतेयोऽपि गृहागतं भगवन्तमवलोक्य त्रपाऽधोमुखः प्रणम्योवाच—'भगवन्, त्वदाश्रयोन्मत्तेन समुद्रेण मम भृत्यस्याण्डान्यपहृत्य ममापमानो विहितः । परं

भक्तमिति । यः प्रभुः, आत्मनः श्रियम् इच्छेत्, स भक्तम् अनुरक्तं, शक्तं समर्थं; कुलीनं सत्कुलप्रसूतञ्च, अभिजातमिति यावत्, भृत्यं सेवकं, न अपमानयेत् नावजानीयात्, प्रत्युत नित्यं पुत्रवत् पुत्रमिव, लालयेत् प्रतिपालयेत् ॥ ३८२ ॥

राजेति । राजा तुष्टोऽपि भृत्यानाम्, अत्र सम्प्रदानत्वेऽपि सम्बन्धविवक्षया षष्ठी । अर्थमात्रम् अर्थमेव, प्रयच्छति पुरस्करोति । ते भृत्याः, तु सम्मानिताः सन्तः, प्राणैरपि तस्य राज्ञः, उपकुर्वते उपकारं कुर्वन्ति । तस्य इति करोतेः कर्मणि "कृञः प्रतियत्ने" (पा० सू० २।३।५३) इति सूत्रेण शेषत्वलक्षणा षष्ठी ॥ ३८३ ॥

(१) रुक्मपुरे—तदाख्ये गरुडनगरे । त्रपाऽधोमुखः—लज्जाऽवनतमुखः अपमानं—तिरस्कारः । भगवल्लज्जया—भगवदाश्रयोऽसाविति, तदपमानेन भगवतो

की भावना के स्थान पर प्रेम-भावना होती है उसे प्रणय कोप को) जानकर भगवान् ने विचार किया कि गरुड़ का क्रुद्ध होना उचित ही है । इसलिए मैं स्वयं वहाँ जाकर आदरपूर्वक उसे ले आऊँगा । कहा भी है—

यदि स्वामी अपना कल्याण चाहता हो तो उसे अपने प्रति भक्तिभाव रखने वाले, समर्थ एवं अच्छे वंश में उत्पन्न सेवक का अपमान कभी नहीं करना चाहिए और अपने पुत्र के समान ही उसका लाड़-प्यार करना चाहिए ॥ ३८२ ॥

और भी—सेवकों पर प्रसन्न होने पर भी राजा उन्हें केवल धन मात्र ही देता है किन्तु सेवक सम्मानित होने पर राजा के लिए अपने प्राणों को भी देकर उसके उपकार का बदला चुका देते हैं ॥ ३८३ ॥

ऐसा निश्चय करके भगवान् शीघ्र ही रुक्मपुर में गरुड़ के पास जा पहुँचे । गरुड़ ने भी अपने घर आए हुए भगवान् को देखकर लज्जा से सिर झुका लिया और प्रणाम करके कहा—भगवन् ! आपने समुद्र को अपना आश्रय स्थान बना लिया । इससे वह समुद्र बड़ा ही गर्वोन्मत्त हो गया है । उसने मेरे सेवक के अण्डों का अपहरण कर मेरा अपमान किया है । किन्तु आप के संकोच के कारण ही मैं

भगवल्लज्जया मया विलम्बितम्, नो चेदेवमहं स्थलान्तरमद्यैव नयामि। यतः स्वामिभयाच्छुनोऽपि प्रहारो न दीयते। उक्तं च—

येन स्याल्लघुता वाऽथ पीडा चित्ते प्रभोः क्वचित्।
प्राणात्ययेऽपि तत्कर्म न कुर्यात् कुलसेवकः॥ ३८४॥

तच्छ्रुत्वा भगवानाह—'भो वैनतेय, सत्यभिहितं भवता। उक्तं च—

भृत्यापराधजो दण्डः स्वामिनो जायते यतः।
तेन लज्जाऽपि तस्योत्था न भृत्यस्य तथा पुनः॥ ३८५॥

तदागच्छ, येनाण्डानि समुद्रादादाय टिट्टिभं सम्भावयावः, अमरावतीं च गच्छावः।'

तथाऽनुष्ठिते समुद्रो भगवता निर्भर्त्स्याग्नेयं शरं सन्धायाभिहितः—'भो

लज्जा स्यादिति भयेनेति भावः। स्थलान्तरम्—स्थलमात्रावशेषम्। शुनः—कुक्कुरस्य प्रभोरिति शेषः।

येनेति। येन कार्य्येण, प्रभोः लघुता ह्रासता, अवमाननमिति भावः, अथवा चित्ते पीडा सन्तापः, स्यात्, कुलसेवकः कुलीनः, भृत्यः इति शेष, प्राणात्ययेऽपि क्वचित् कदाऽपि, तत् कर्म न कुर्य्यात्॥ ३८४॥

भृत्येति। यतः यस्मात् कारणात्, भृत्यापराधजः भृत्यदोषजनितः, दण्डः, अन्यैः कृत इति भावः, स्वामिनः एव जायते भवति, तेन लज्जाऽपि, दण्डजनितेति भावः, तस्य स्वामिनः एव, उत्था उत्पन्ना, भवति, भृत्यस्य पुनर्न तथा, लज्जेति शेषः॥ ३८५॥

(१) सम्भावयावः—सन्तोषयावः। निर्भर्त्स्य—विनिन्द्य, आग्नेयं शरं—समुद्र-

---

अब तक रुका रहा। नहीं तो इसे आज ही सुखा कर स्थल बना दूं। क्योंकि स्वामी के डर से उसके कुत्ते पर भी चोट नहीं पहुँचाई जाती। कहा भी है—

जिस काम से स्वामी की तुच्छता (मान हानि) होती हो या स्वामी के मन में पीड़ा उत्पन्न होती हो तो सत्कुलोत्पन्न सेवक को वैसा काम प्राण जाने का अवसर उपस्थित हो जाने पर भी नहीं करना चाहिए॥ ३८४॥

यह सुनकर भगवान् ने कहा—हे गरुड़! तुम बिलकुल ठीक कह रहे हो। कहा भी है—

सेवक द्वारा किए हुए अपराध का दण्ड क्योंकि स्वामी को ही भोगना पड़ता है। इसलिए उसके दण्ड पाने की लज्जा भी जितनी स्वामी को होती है उतनी सेवक को नहीं होती है॥ ३८५॥

इस लिए आओ, जिससे समुद्र से अण्डों को लेकर टिट्टिभ को सन्तुष्ट कर दें

दुरात्मन्, दीयन्तां टिट्टिभाण्डानि। नो चेत्स्थलतां त्वां नयामि।' ततः समुद्रेण सभयेन टिट्टिभाण्डानि तानि प्रदत्तानि। अतोऽहं ब्रवीमि—'शत्रोर्बलमविज्ञाय' इति। तस्मात् पुरुषेणोद्यमो न त्याज्यः।"

तदाकर्ण्य सञ्जीवकस्तमेव भूयोऽपि पप्रच्छ—'भो मित्र, कथं ज्ञेयो मयाऽसौ दुष्टबुद्धिरिति? इत्यन्तं कालं यावदुत्तरस्नेहेन प्रसादेन चाहं दृष्टः। न कदाचित्तद्विकृतिर्दृष्टा। तत्कथ्यतां, येनाहमात्मरक्षार्थं तद्वधायोद्यमं करोमि।

दमनक आह—भद्र, किमत्र ज्ञेयम्? एष ते प्रत्ययः। यदि रक्तनेत्रस्त्रिशिखां भ्रुकुटिं दधानः सृक्कणी परिलेलिहन् त्वां दृष्ट्वा भवति, तद्दुष्टबुद्धिः। अन्यथा सुप्रसादश्चेति' तदाज्ञापय माम्। स्वाश्रयं प्रति

शोषमाग्नेयास्त्रं, सन्धाय—प्रत्यञ्चायामारोप्य।

(१) प्रत्ययः,—ज्ञानहेतुरित्यर्थः। त्रिशिखां—त्रिवलियुक्ताम्, सृक्कणी परिलेलिहत्—ओष्ठप्रान्तद्वयं जिह्वया मार्जयन्, परिलेलिहत् इति परिपूर्वस्य लिहधातोः यङि शतृप्रत्यये "नाभ्यस्ताच्छतुः" (पा० सू० ७।१।७८) इत्यनेन 'शतुर्नुम' निषेधः। त्वां दृष्ट्वा रक्तनेत्रादिर्भवतीत्यन्वयः। सुप्रसादः—प्रसादसम्पन्नः इत्यर्थः।

और फिर अमरावती चलें।

इतना हो जाने पर भगवान् ने समुद्र को फटकारते हुए अग्निबाण चढ़ाकर कहा—रे दुष्ट! टिट्टिभ के अण्डे दे दो। नहीं तो तुम्हें स्थल बना दूँगा। तब डरकर समुद्र ने टिट्टिभ के अण्डों को दे दिया। टिट्टिभ ने भी उसे अपनी पत्नी को ले जाकर दे दिया। इसी लिए मैं कहता हूँ कि "शत्रु का बल बिना जाने" इति। इस लिए मनुष्य को उद्यम नहीं छोड़ना चाहिए।

यह सुनकर सञ्जीवक ने उससे फिर पूछा "मित्र कैसे समझूँ कि वह दुष्ट बुद्धि (मेरे प्रति बुरे विचार रखने) वाला है। इतने दिनों तक तो मैंने उसमें अपने प्रति प्रेम और प्रसन्नता का भाव ही दिन-प्रतिदिन बढ़ते हुए पाया है ओर उसमें कभी भी कोई विकार नहीं देखा है। इसलिए बताओ जिससे मैं अपनी रक्षा के लिए उसे मारने का प्रयत्न करूँ।"

दमनक ने कहा—भद्र, इसमें समझने की क्या बात है? फिर भी तुम्हें विश्वास दिलाने के लिए बताता हूँ। यदि तुम्हें देखकर उसकी आँखें लाल तथा भौं टेढ़ी हो जायँ और वह ओठों के किनारों को चाटने लगे तो समझ लेना कि वह दुष्ट बुद्धि (तुम्हारे प्रति बुरा विचार रखने वाला) है अन्यथा (उक्त लक्षण न मिलने पर समझ लेना कि) प्रसन्न है। इसलिए अब मुझे आज्ञा दो। मैं अब अपने घर जा रहा हूँ। तुम भी ऐसा करना कि हम दोनों की यह गुप्त बात

गच्छामि। त्वया च यथायं मन्त्रभेदो न भवति तथा कार्यम्। यदि निशामुखं प्राप्य गन्तुं शक्नोषि तद्देशत्यागः कार्यः। यतः—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे स्वात्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥ ३८६॥
आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि॥ ३८७॥

बलवताभिभूतस्य विदेशगमनं तदनुप्रवेशो वा नीतिः। तद्देशत्यागः कार्यः। अथवाऽऽत्मा सामादिभिरुपायैरभिरक्षणीयः। उक्तं च—

स्वाश्रयं—स्वनिवासम्। मन्त्रभेदः—रहस्योद्घाटनम्, निशामुखं—सन्ध्यासमयम्, शक्नोषि—समर्थोऽसि।

त्यजेदिति। कुलस्य अर्थे वंशरक्षार्थमित्यर्थः, एकं त्यजेत्, यदि एकस्य स्वजनस्य त्यागे वंशरक्षा स्यात्, तदा स कार्य्य इति भावः; ग्रामस्यार्थे ग्रामवासिनां रक्षार्थमित्यर्थः, कुलं वंशं, त्यजेत्, यदि वंशत्यागे ग्राम्याणां सर्वेषां रक्षा स्यात्, तदा तस्यापि त्यागः कार्य्य इति भावः; जनपदस्यार्थे देशवासिनां रक्षार्थमित्यर्थः, ग्रामं ग्राम्यान्, त्यजेत्, यदि ग्राम्याणां त्यागे देशवासिनां रक्षा स्यात्, तदा स कार्य्य इति भावः; आत्मार्थे स्वरक्षार्थं, पृथिवीं त्यजेत्, पृथिवीस्थानां सर्वेषां त्यागेऽपि यदि आत्मरक्षा स्यात् तदा तदपि कार्य्यमिति भावः॥ ३८६॥

आपदर्थे इति। आपदर्थे विपन्निवारणार्थं, धनं रक्षेत्, धनैरपि दारान् स्त्रियः, रक्षेत्, दारैरपि धनैरपि आत्मानं सततं रक्षेत्; दारादित्यागेनाप्यात्मा रक्ष्य इति भावः॥ ३८७॥

(१) अभिभूतस्य—आक्रान्तस्य। विदेशगमनम्—देशत्यागः। तदनुप्रवेशः,—तस्य बलवतः आश्रयणम्। नीतिः—राजनीतिः, तत—तस्मात् हेतोः। सामा-

---

फूटने न पाए। यदि जाने की शक्ति हो तो सायंकाल होते ही इस स्थान से चले जाना। क्योंकि—

वंश की रक्षा के लिए एक व्यक्ति को छोड़ देना चाहिए, गाँव की रक्षा के लिए परिवार का त्याग कर देना चाहिए, देश की रक्षा के लिए गाँव और अपनी रक्षा के लिए तो पृथ्वी तक को छोड़ देना चाहिए॥ ३८६॥

आपत्ति से बचने के लिए धन की रक्षा करनी चाहिए। धन से भी स्त्री की रक्षा करनी चाहिए और धन तथा स्त्री दोनों द्वारा सर्वदा अपनी रक्षा का उपाय करना चाहिए॥ ३८७॥

ऐसी नीति है कि यदि अपने से बलवान् व्यक्ति दबा बैठे तो या तो विदेश

अपि पुत्रकलत्रैर्वा प्राणान् रक्षेच्च पण्डितः।
विद्यमानैर्यतस्तैः स्यात्सर्वं भूयोऽपि देहिनाम् ॥ ३८८ ॥

तथा च – येन केनाप्युपायेन शुभेनाप्यशुभेन वा।
उद्धरेद्दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ ३८९ ।

यो मायां कुरुते मूढः प्राणत्यागे धनादिषु।
तस्य प्राणाः प्रणश्यन्ति तैर्नष्टैर्नष्टमेव तत्' ॥ ३९० ॥

दिभिः,— सामदानभेददण्डरूपैरित्यर्थः, तत्र साम—सन्धिः, दानं—भूहिरण्यादि-समर्पणं, भेदः—उपजापः, शत्रुणा सह तदमात्यमित्रादेर्मनोभङ्गकरणमित्यर्थः, सर्वाभावे दण्डः—युद्धम् ।

अपीति । पण्डितो जनः, पुत्रकलत्रैरपि वा प्राणान् रक्षेत् च, यतः तैः प्राणैः, विद्यमानैः तिष्ठद्भिः सद्भिः, भूयोऽपि पुनरपि, देहिनां सर्वं पुत्रकलत्रादिकमित्यर्थः, स्यात्; आत्ममूलत्वात् सर्वेषामिति भावः ॥ ३८८ ॥

येनेति । शुभेन अपि वा अशुभेन येन केनापि उपायेन दीनं विपन्नम्, आत्मानम् उद्धरेत् रक्षेत्, समर्थः शक्तिमान् सन्, धर्ममाचरेत् अनुतिष्ठेत्, विपन्नस्य धर्मानुष्ठानासम्भवादिति भावः ॥ ३८९ ॥

य इति । यः मूढः प्राणत्यागे प्राणविनाशसम्भवे इत्यर्थः, धनादिषु मायां ममतां, कुरुते, तस्य प्राणाः प्रणश्यन्ति, प्राणरक्षार्थं धनव्ययादिषु कुण्ठितत्वादिति भावः, नष्टैः तैः प्राणैः करणैः, तत् सर्वं धनादिकं, नष्टमेव, भोक्तुरभावात् इति भावः, भवतीति शेषः, "सम्बन्धो जीवनावधि" इत्युक्तेरिति बोध्यम् ॥ ३९० ॥

चला जाना चाहिए या उसकी अधीनता मान लेनी चाहिए। इस समय देश त्याग ही उचित है। अथवा साम, दामादि उपायों से अपनी रक्षा करनी चाहिए। कहा भी गया है—

नीति-कुशल व्यक्ति को चाहिए कि पत्नी-पुत्रादि का परित्याग करके भी अपने प्राणों की रक्षा करे। क्योंकि प्राणों के बच जाने पर मनुष्य फिर पत्नी पुत्रादि प्राप्त कर लेता है ॥ ३८८ ॥

और भी— विपत्ति में पड़े हुए मनुष्य को अच्छे-बुरे किसी भी कार्य से अपनी रक्षा कर लेनी चाहिए। फिर विपत्ति टल जाने और समर्थ हो जाने पर धर्म का पालन करना चाहिए ॥ ३८९ ॥

जो अज्ञानी मनुष्य मृत्यु के आ जाने पर धन आदि के मोह में फँस जाता है अर्थात् धन आदि का व्यय करके प्राणों की रक्षा नहीं करता उसके प्राण तो चले ही जाते हैं साथ ही धन आदि भी नष्ट हो जाता है ॥ ३९० ॥

एवमभिधाय दमनकः करटकसकाशमगमत्। करटकोऽपि तामायान्तं दृष्ट्वा प्रोवाच—'भद्र, किं कृतं तत्रभवता ?' दमनक आह—'मया तावन्नीतिबीजनिर्वापणं कृतम्, परतो दैवविहितायत्तम्। उक्तं च यतः—

परांङ्मुखेऽपि दैवेऽत्र कृत्यं कार्यं विपश्चिता।
आत्मदोषविनाशाय स्वचित्तस्तम्भनाय च॥ ३९१॥

तथा च—उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः॥ ३९२॥

---

(१) यावत्—साकल्येन। नीतिबीजनिर्वापणं—नीतयः बीजानीव, तेषां निर्वापणं—सम्यक् रोपणम्। परतः—इतः परं, भविष्यदित्यर्थः। दैवविहितायत्तम्—देवेन यत् विहितं—निर्दिष्टं, तस्य आयत्तम्—अधीनम्; अतः परं यत् तत् दैवाधीनमिति भावः।

पराङ्मुख इति। अत्र संसारे, दैवे पराङ्मुखे प्रतिकूलेऽपि, विपश्चिता विदुषा, आत्मदोषविनाशाय स्वदोषक्षालनाय, स्वस्य चित्तस्य स्तम्भनाय धैर्याय च, प्रबोधदानायेत्यर्थः, कृत्यं पुरुषकारः, कार्य्यं, यत्र कर्त्तव्यइत्यर्थः, दैवोपहतस्य सर्वत्र विफलायामपि चेष्टायां यत्राकरणे परतः आत्मग्लानिः स्यात्, अतः सयत्नेन भाव्यमिति भावः॥ ३९१॥

उद्योगिनमिति। लक्ष्मीः उद्योगिनं पुरुषसिंहम् उपैति प्राप्नोति, कापुरुषाः दैवं दैवम् इति वदन्ति हि, अतः दैवं निहत्य अगणयित्वा, आत्मशक्त्या स्वसामर्थ्येन, पौरुषं पुरुषकारं, कुरु। यत्ने कृते सति यदि न सिध्यति, कार्य्यमिति शेषः, तदा

ऐसा कहकर दमनक करटक के पास चला गया। करटक ने भी उसे आते हुए देखकर कहा—"भद्र ! आप ने वहाँ क्या किया ?" दमनक ने कहा—"मैंने भेदनीति (आपसी फूट) का बीज तो बो दिया है। अब आगे क्या होगा ? यह तो दैव के अधीन है। कहा भी गया है—

दैव के प्रतिकूल होने पर भी नीतिमान् मनुष्य को अपने दोषों को मिटाने तथा अपने चित्त में धैर्य जमाने के लिए उचित कार्य करना ही चाहिए॥ ३९१॥

और भी—सिंह जैसे पराक्रमी उद्योगी पुरुषों के पास लक्ष्मी स्वयं चली आती है। भाग्य ! भाग्य की रट तो कायर पुरुष लगाए रहते हैं। अतः भाग्य का भरोसा छोड़कर अपनी पूरी शक्ति से पुरुषार्थ करते हुए आगे बढ़ो। यदि प्रयत्न करने पर भी सफलता न मिले तो (उद्योग मत छोड़ो, बल्कि) विचार करो

करटक आह—'तत्कथय कीदृक्त्वया नीतिबीजं निर्वापितम्'? सोऽब्रवीत्—'मयाऽन्योऽन्यं ताभ्यां मिथ्याप्रजल्पनेन भेदस्तथा विहितो यथा भूयोऽपि मन्त्रयन्तावेकस्थानस्थितौ न द्रक्ष्यसि।' करटक आह—'अहो, न युक्तं भवता विहितं, यत्परस्परं तौ स्नेहार्द्रहृदयौ सुखाश्रयौ कोपसागरे प्रक्षिप्तौ। उक्तं च—

अविरुद्धं सुखस्थं यो दुःखमार्गे नियोजयेत्।
जन्मजन्मान्तरे दुःखी स नरः स्यादसंशयम् ॥ ३९३ ॥

अपरं; त्वं यद् भेदमात्रेणापि हृष्टस्तदप्ययुक्तम्, यतः सर्वोऽपि जनो विरूपकरणे समर्थो भवति नोपकर्तुम्। उक्तं च—

अत्र एतस्मिन् प्रयत्ने, को दोषः काऽपि अलक्षिता त्रुटिः, अस्तीति शेषः, योग्यपौरुषप्रयोगे तु कार्य्यसिद्धिः सुनिश्चितेति भावः, । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ३९२ ॥

(१) ताभ्यां, पिङ्गलकसंजीवकाभ्याम्, सहेति शेषः, मिथ्याप्रजल्पनेन—मृषावचनेन। भेदः,—मनोभङ्गः। मन्त्रयन्तौ—वार्तालापं कुर्वन्तौ, न द्रक्ष्यसि—नावलोकयिष्यसि।

(२) सुखाश्रयौ—सुखेन निवसन्तौ।

अविरुद्धमिति। यः अविरुद्धम् अविरोधिनं, सुखस्थं सुखिनं जनं, दुःखमार्गे क्लेशवर्त्मनि, नियोजयेत् पातयेत्, स नरः, जन्मजन्मान्तरे प्रतिजन्म इत्यर्थः, असंशयं दुःखी स्यात्, परापकृतेः स्वापकृतिफलकत्वादिति भावः ॥ ३९३ ॥

(३) विरूपकरणे—विरुद्धाचरणे विरोधोत्पादने वा। समर्थः—शक्तः।

कि मेरे उद्योग में ही कौन सा दोष आ गया जिससे सिद्धि नहीं मिली ॥ ३९२ ॥

करटक ने कहा—"यह तो बताओ कि तुमने भेद-नीति का बीज किस प्रकार बोया?" उसने कहा—'मैंने उन दोनों में एक दूसरे के प्रति झूठ बोलकर ऐसी फूट पैदा की है कि तुम फिर कभी दोनों को एक स्थान पर बैठकर परस्पर बात-चीत करते हुए नहीं देखोगे।" करटक ने कहा—'यह तो तुमने उचित नहीं किया कि परस्पर स्नेहपूर्ण हृदय से अत्यन्त सुखी उन दोनों को क्रोध के समुद्र में फेंक दिया। कहा भी गया है—

अपने से किसी प्रकार का विरोध न रखने वाले तथा सुख के साथ जीवन बिताने वाले व्यक्ति को जो व्यक्ति दुःख के मार्ग में पहुँचा देता है वह मनुष्य निःसन्देह जन्म-जन्मान्तर में सदा दुःखी रहता है ॥ ३९३ ॥

इसके अतिरिक्त तुम उन दोनों में फूट मात्र पैदा करके जो प्रसन्न हो रहे हो वह भी उचित नहीं है, क्योंकि परस्पर विरोध पैदा कर देने में तो सभी समर्थ होते

घातयितुमेव नीचः परकार्यं वेत्ति न प्रसाधयितुम् ।
पातयितुमस्ति शक्तिर्वायोर्वृक्षं न चोन्नमयितुम्' ॥ ३९४ ॥

दमनक आह—'अनभिज्ञो भवान्नीतिशास्त्रस्य, तेनैतद् ब्रवीषि । उक्तं च यतः—

जातमात्रं न यः शत्रुं व्याधिं च प्रशमं नयेत् ।
महाबलोऽपि तेनैव वृद्धिं प्राप्य स हन्यते ॥ ३९५ ॥

तच्छत्रुभूतोऽयमस्माकं मन्त्रिपदापहरणात् । उक्तं च—

पितृपैतामहं स्थानं यो यस्यात्र जिगीषते ।
स तस्य सहजः शत्रुरुच्छेद्योऽपि प्रिये स्थितः ॥ ३९६ ॥

घातयितुमिति । नीचः पामरः जनः, परकार्य्यं घातयितुं नाशयितुमेव, वेत्ति जानाति, न प्रसाधयितुं सम्पादयितुम्, वृक्षं पातयितुं वायोः शक्तिरस्ति, उन्नमयितुम् उत्तोलयितुं च न, वायुर्यथा तरुपातने क्षमः तदुत्तोलने तु सर्वथा असमर्थः, तथा नीचोऽपि परापकारे क्षमः, न तु तेषां कार्य्यसाधने इति भावः । दृष्टान्तालङ्कारः । आर्य्या वृत्तम् ॥ ३९४ ॥

जातमात्रमिति । यः शत्रुं व्याधिञ्च जातमात्रम् उत्पन्नमात्रं, न प्रशमं नयेत् नोपशमयेदित्यर्थः, स महाबलोऽपि तेनैव शत्रुणा व्याधिना वा कर्त्रा, वृद्धिं प्राप्य हन्यते विनाश्यते, अतः शत्रुः सर्वात्मना समूलघातं हन्तव्य इति भावः ॥ ३९५ ॥

पित्रिति । अत्र संसारे, यः यस्य पितृपैतामहं स्थानं पदं, जिगीषते अत्रात्मने पदं मृग्यम्, जेतुमिच्छति, जिघृक्षति इत्यर्थः, स तस्य सहजः स्वाभाविकः, शत्रुः, अतः प्रिये प्रियकार्य्ये, स्थितोऽपि उच्छेद्यः विनाश्यः, स इति शेषः ॥ ३९६ ॥

हैं किन्तु उपकार करने में कोई समर्थ नहीं होता है । कहा भी गया है—

नीच पुरुष दूसरे के काम को बिगाड़ना ही जानता है न कि बनाना । जैसे वायु की शक्ति वृक्षों को गिराने का काम करती है । वह गिरे हुए वृक्षों को उठाने का काम नहीं कर सकती ॥ ३९४ ॥

दमनक ने कहा—'आप नीतिशास्त्र तो जानते नहीं हैं, इसीलिए ऐसा कहते हैं । कहा भी गया है कि—

जो अपने शत्रु और रोग को उत्पन्न होते ही नष्ट नहीं कर देता वह महाबलवान् होते हुए भी बढ़ जाने पर उन्हीं (शत्रु तथा रोग) के द्वारा मारा जाता है ॥ ३९५ ॥

मेरा मन्त्रिपद छीन लेने के कारण वह मेरा शत्रु ही है । कहा भी गया है—

जो व्यक्ति बाप दादे की जगह (भूमि या पद तथा अधिकार आदि) को अपने अधिकार में करने की इच्छा करता है वह प्रियपात्र होते हुए भी स्वाभाविक

तन्मया स उदासीनतया समानीतोऽभयप्रदानेन यावत्तावदहमपि तेन साचिव्यात् प्रच्यावितः। अथवा साध्विदमुच्यते —

दद्यात् साधुर्यदि निजपदे दुर्जनाय प्रवेशं
　　तन्नाशाय प्रभवति ततो वाञ्छमानः स्वयं सः।
तस्माद् देयो विपुलमतिभिर्नावकाशोऽधमानां
　　जारोऽपि स्याद् गृहपतिरिति श्रूयते वाक्यतोऽत्र ॥ ३९७ ॥

तेन मया तस्योपरि वधोपाय एष विरच्यते। देशत्यागाय वा भविष्यति उपाय एषः। तच्च त्वां मुक्त्वाऽन्यो न ज्ञास्यति। तद्युक्तमेतत् स्वार्थायानुष्ठितम्। उक्तं च—

उदासीनतया—अपरिचिततया, अभयप्रदानेन—प्राणदानपुरःसरेण, तेन—सञ्जीवकेन, साचिव्यात्—मन्त्रिपदात्। प्रच्यावितः—प्रभ्रंशितः।

दद्यादिति। साधुर्जनः, यदि दुर्जनाय निजपदे प्रवेशं दद्यात्, ततस्तदा, स स्वयं तस्य साधोः, नाशाय वाञ्छमानः सन्, अत्र परस्मैपदिनोऽपि धातोः शानच्प्रत्ययः विवक्षावशादेव, प्रभवति प्रभुर्भवतीत्यर्थः, तस्मात् विपुलमतिभिः सुधीभिः, अधमानां दुर्जनानां, सम्बन्धे षष्ठी, अवकाशः न देयः; अत्र संसारे, जारोऽपि उपपतिरपि, गृहपतिः स्यात्, भिक्षुपादप्रसारणन्यायेन इति भावः। इति वाक्यतः श्रूयते। अतः पूर्वमेव सावधानेन भवितव्यम् इति भावः। मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ ३९७ ॥

(१) मुक्त्वा—विहाय, स्वार्थाय—स्वलाभाय, अनुष्ठितम्—विहितम्।

शत्रु ही होता है। अतः उसे जड़ मूल से नष्ट कर देना चाहिए ॥ ३९६ ॥

पहले तो मैं तटस्थ भाव से (राग-द्वेष से रहित) उसे अभय दान देकर ले आया। किन्तु उसने मुझे मन्त्रिपद से ही गिरा दिया। यह उचित ही कहा गया है कि—

यदि कोई साधु पुरुष अपने स्थान पर किसी दुष्ट को जगह दे दे तो वह उसका पद ले लेने का इच्छुक बनकर उसी का नाश कर बैठता है। अतः बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि नीचों को घुसने का अवसर ही न दें क्योंकि यह कहावत सुनी जाती है कि जार भी (उपपति भी) कभी-कभी गृहपति (स्वामी) बन जाता है ॥ ३९७ ॥

इसलिए मैंने यह उसके मारने की युक्ति निकाली हैं। यदि मारा नहीं गया तो भी देश निकाला तो हो ही जायगा। अतः यह बात तुम्हारे सिवा दूसरा कोई न जान सके। मैंने जो कुछ किया है, स्वार्थ-सिद्धि के लिए उचित ही किया है। कहा भी गया है—

निस्त्रिंशं हृदयं कृत्वा वाणीं क्षुरसमोपमाम्।
विकल्पोऽत्र न कर्तव्यो हन्यात्तत्रापकारिणम् ॥ ३९८ ॥

अपरं मृतोऽप्यस्माकं भोज्यो भविष्यति। तदेकं तावद् वैरसाधनम्, अपरं साचिव्यं च भविष्यति, तृप्तिश्च इति। तद्गुणत्रयेऽस्मिन्नुपस्थिते कस्मान्मां दूषयसि त्वं जाड्यभावात्? उक्तं च—

परस्य पीडनं कुर्वन् स्वार्थसिद्धिं च पण्डितः।
मूढबुद्धिर्न भक्षेच्च वने चतुरको यथा' ॥ ३९९ ॥

करटक आह—'कथमेतत्?' स आह—

निस्त्रिंशमिति। हृदयं निस्त्रिंशम् असिम्, असिसममित्यर्थः, वाणीं क्षुरसमोपमां क्षुरसदृशीं, 'वाणीमिक्षुरसोपमाम्, अपपाठोऽयम्। कृत्वा तत्र अपकारिणं हन्यात्, अत्र विकल्पः सन्देहः, न कर्त्तव्यः।' ३९८ ॥

(१) वैरसाधनं—वैरस्य—विद्वेषस्य साधनं—सम्पादनं, शत्रोः निर्यातनमित्यर्थः। साचिव्यं—मन्त्रिपदम्। तृप्तिः, भोजनजन्यपरितोषः।

(२) गुणत्रये—वैरसाधनसाचिव्यतृप्तिरूपे इत्यर्थं। जाड्याभावात्—मौर्ख्यात्।

परस्येति। पण्डितो जनः, वने चतुरको यथा चतुरकाख्यः शृगाल इव, परस्य शत्रोः, पीडनं स्वार्थसिद्धिञ्च कुर्वन् भक्षेत् भुञ्जीत, न च मूढबुद्धिः, तथा भक्षेदिति शेषः; मूर्खस्तु भक्षयितुं न शक्नुयादिति भावः। चौरादिकस्यापि भक्षधातोः केषाञ्चिन्मते भौवादिकेष्वपि पाठदर्शनात् भक्षेदिति सिद्धम् ॥ ३९९ ॥

हृदय को तलवार के समान तेज तथा वाणी को छूरे के सदृश कठोर (या गन्ने के रस जैसा मीठा) बनाकर शत्रुता करने वाले को मार ही डालना चाहिए इसमें जरा भी 'ननु न च' नहीं करना चाहिए ॥ ३९८ ॥

इसके अतिरिक्त मरने पर वह हम लोगों का भोजन बनेगा। एक तो शत्रुता का बदला चुक जायगा दूसरे मन्त्रिपद मिलेगा, तीसरे (भोजन से) तृप्ति भी मिलेगी। अतः इन तीन गुणों से युक्त इस कार्य के लिए अपनी ही मूर्खता से मुझे क्यों दोषी ठहराते हो। कहा भी गया है—

नीतिमान पुरुष दूसरों को कष्ट देकर भी अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेते हैं। मूर्ख मनुष्य तो भोजन भी नहीं प्राप्त कर पाता। जैसे बन में चतुरक नामक सियार ने किया ॥ ३९९ ॥

करटक ने कहा—'यह कैसे"? उसने कहा—

१६ : सिंह-शृगाल कथा

'अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे वज्रदंष्ट्रो नाम सिंहः। तस्य चतुरक-क्रव्यमुखनामानौ शृगालवृकौ भृत्यभूतौ सदैवानुगतौ तत्रैव वने प्रतिवसतः। अथान्यदिने सिंहेन कदाचिदासन्नप्रसवा प्रसववेदनया स्वयूथाद् भ्रष्टोष्ट्रयुपविष्टा कस्मिंश्चिद्वनगहने समासादिता। अथ तां व्यापाद्य यावदुदरं स्फोटयति, तावज्जीवँल्लघुदासेरकशिशुर्निष्क्रान्तः। सिंहोऽपि दासेरक्याः पिशितेन सपरिवारः परां तृप्तिमुपागतः। परं स्नेहाद्बालदासेरकं त्यक्तं गृहमानीयेदमुवाच— भद्र, न तेऽस्ति मृत्योर्भयं मत्तो नान्यस्मादपि। ततः स्वेच्छयाऽत्र वने भ्राम्यतामिति। यतस्ते शङ्कुसदृशौ कर्णौ, ततः 'शङ्कुकर्णो'

---

[१६]

[१] शृगालवृकौ—जम्बूक-कुक्कुराकारव्याघ्रभेदौ। पूर्वनिपातस्य विकल्पितत्वात् वृकस्य परतः सन्निवेशः। आसन्नप्रसवा—प्राप्तिप्रसूतिसमया, स्वयूथाद्भ्रष्टा—स्वसमूहात् परिभ्रष्टा, उष्ट्री, वनगहने—सघनवने, समासादिता—प्राप्ता।

[२] स्फोटयति—विदारयति। जीवदिति। जीवन् लघुः—क्षुद्रकायः, दासेरकशिशुः,—करभशावकः, उष्ट्रशावकः इत्यर्थः, "दासेरकस्तु करभे दासीपुत्रे च धीवरे" इति मेदिनी। दासेरक्याः—उष्ट्र्याः। पिशितेन—मांसेन। त्यक्तं—तन्मातृबधरूपापव्यवहारात् अभयं दत्त्वा मुक्तमित्यर्थः। मत्तो न, अन्यस्मादपि न इति सम्बन्धः। भ्राम्यतां—विचरतु, शमादित्वात् दीर्घः। शङ्कुसदृशौ—कीलोपमौ।

सिंह शृगाल कथा

किसी जंगल में वज्रदंष्ट्र नाम का एक सिंह रहता था। चतुरक नाम का एक गीदड़ और क्रव्यमुख नाम का एक भेड़िया उसके सेवक बनकर सर्वदा उसके पीछे लगे रहते और वे दोनों भी उसी वन में रहते थे। एक दिन किसी घने जंगल में उस सिंह ने एक ऊँटनी पाई जो बहुत शीघ्र ही बच्चा देने वाली तथा प्रसब पीड़ा के कारण अपने झुण्ड से बिछुड़ गई थी। सिंह ने उसे मारकर ज्यों ही उसका पेट फाड़ा त्योंहि उससे से जीता हुआ एक छोटा सा ऊँट का बच्चा निकला। सिंह उस ऊँटनी के मांस से सपरिवार परितृप्त हो गया। किन्तु स्नेहवश ऊँट के बच्चे को घर लाकर उसने कहा—'भद्र, अब न तो तुम्हें मुझसे मृत्यु का भय है न दूसरों से ही। अतः तुम इच्छानुसार बन में विचरण करो। तुम्हारे कान शंकु (काँटे) की तरह हैं इसलिए तुम्हारा नाम 'शङ्कुकर्ण' होगा। ऐसा होने

नाम भविष्यति।' एवमनुष्ठिते चत्वारोऽपि ते एकस्थाने विहारिणः परस्पर-मनेकप्रकारगोष्ठीसुखमनुभवन्तस्तिष्ठन्ति। शङ्कुकर्णोऽपि यौवनपदवी-मारूढ क्षणमपि न तं सिंहं मुञ्चति। अथ कदाचिद्वज्रदंष्ट्रस्य केनचिद्वन्येन मत्तगजेन सह युद्धमभवत्। तेन मदवीर्यात्स दन्तप्रहारैस्तथा क्षतशरीरो विहितो यथा प्रचलितुं न शक्नोति। तदा क्षुत्क्षामकण्ठस्तान् प्रोवाच—'भोः, अन्विष्यतां किञ्चित्सत्त्वं येनाहमेवं स्थितोऽपि तद् व्यापाद्यात्मनो युष्माकं च क्षुत्प्रणाशं करोमि।' तच्छ्रुत्वा ते त्रयोऽपि वने सन्ध्या-कालं यावद् भ्रान्ताः, परं न किञ्चित्सत्त्वमासादितम्। अथ चतुरकश्चिन्तयामास—यदि शङ्कुकर्णोऽयं व्यापाद्यते। ततः सर्वेषां कति-चिद्दिनानि तृप्तिर्भवति। परं नैनं स्वामी मित्रत्वादाश्रयसमाश्रितत्वाच्च विनाशयिष्यति। अथवा बुद्धिप्रभावेण स्वामिनं प्रतिबोध्य तथा करिष्ये, यथा व्यापादयिष्यति। उक्तं च—

> अवध्यं चाथवाऽगम्यमकृत्यं नास्ति किञ्चन।
> लोके बुद्धिमतां बुद्धेस्तस्मात्तां विनियोजयेत्॥ ४००॥

(१) एवमनुष्ठिते—एवं दत्ताभये इत्यर्थः। गोष्ठीसुखं—संलापसुखं, "गोष्ठी सभासंलापयोः स्त्रियाम्" इति मेदिनी।

(२) क्षुत्क्षामकण्ठः,—क्षुधाक्षीणकण्ठस्वर इत्यर्थः। क्षैधातोः क्तः।

अवध्यमिति। लोके जगति, किञ्चन वस्तु, बुद्धिमतां बुद्धेः, अवध्यम्—अवि-

पर वे चारो विचरण करते हुए तथा परस्पर बात चीत का सुख अनुभव करते हुए एक ही जगह रहते थे। शङ्कुकर्ण भी जवान होकर एक क्षण के लिए भी उस सिंह को नहीं छोड़ता था। एक बार वज्रदंष्ट्र की किसी जंगली हाथी से लड़ाई हो गयी। उस हाथी के दाँतों से उस निर्बल सिंह का शरीर इतना घायल हो गया कि वह चलने में असमर्थ हो गया। तब भूख के कारण सूखे गले से सिंह ने उनसे (गीदड़, भेड़िए और ऊँट से) कहा—तुम लोग कोई जानवर खोजो, जिससे मैं इस दशा में भी उसे मारकर अपनी तथा तुम लोगों की भी भूख मिटा सकूँ। यह सुनकर वह तीनों वन में संध्या होने तक घूमते रहे, किन्तु कोई भी जानवर नहीं पा सके। इसके पश्चात् चतुरक (गीदड़) ने विचार किया—यदि यह शङ्कुकर्ण (स्वामी द्वारा) मारा जाये तो हम सबों की कई दिनों के लिए तृप्ति हो जायगी। किन्तु स्वामी मैत्रीभाव तथा अपने आश्रय में रहने के कारण इसको नहीं मारेंगे। फिर भी बुद्धि के प्रभाव से स्वामी को समझाकर ऐसा करूँगा कि स्वामी इसे मार डालेंगे। कहा भी गया है—

इस संसार में बुद्धिमानों की बुद्धि के लिए न तो कोई अवध्य है, न अगम्य है

एवं विचिन्त्य शङ्कुकर्णमिदमाह—'भोः शङ्कुकर्ण, स्वामी तावत्पथ्यं विना क्षुधया परिपीड्यते। स्वाम्यभावादस्माकमपि ध्रुवं विनाश एव। ततो वाक्यं किञ्चित्स्वाम्यर्थे वदिष्यामि। तत् श्रूयताम्।' शङ्कुकर्ण आह—'भोः, शीघ्रं निवेद्यताम्, येन ते वचनं शीघ्रं निर्विकल्पं करोमि। अपरं, स्वामिनो हिते कृते मया सुकृतशतं कृतं भविष्यति।' अथ चतुरक आह—'भो भद्र, आत्मशरीरं द्विगुणलाभेन स्वामिने प्रयच्छ, येन ते द्विगुणं शरीरं भवति, स्वामिनः पुनः प्राणयात्रा भवति।' तदाकर्ण्य शङ्कुकर्णः प्राह—'भद्र, यद्येवं तन्मदीयप्रयोजनमेतदुच्यताम्। 'स्वाम्यर्थः क्रियताम्' इति, परमत्र धर्मः प्रतिभूः।' इति विचिन्त्य ते सर्वे सिंहसकाशमाजग्मुः। ततश्चतुरक आह—'देव, न किञ्चित्सत्त्वं प्राप्तम्। भगवानादित्योऽप्यस्तं गतः। तद्यदि स्वामी द्विगुणं शरीरं प्रयच्छति, ततः शङ्कुकर्णोऽयं द्विगुणवृद्धया स्वशरीरं

नाश्यम्, अथवा अगम्यम् अविषयम्, अकृत्यञ्च अकर्त्तव्यं वा, नास्ति: तस्मात् तां बुद्धिं, विनियोजयेत् विशेषेण स्वव्यापारे नियुक्तां कुर्यात् इत्यर्थः ॥ ४०० ॥

(१) निर्विकल्पं—निःसन्देहम्। सुकृतशतं—पुण्यशतम्।

(२) अत्र—द्विगुणलाभविषये। प्रतिभूः—प्रत्ययहेतुः, लग्नकः वा, "स्युर्लग्नकाः प्रतिभुवः' इत्यमरः, "जमानत" इति भाषा। विचिन्त्य—परस्परमालोच्य इत्यर्थः।

न अकृत्य है, अर्थात् बुद्धि द्वारा मनुष्य सबको मार सकता है, सब जगह पहुँच सकता है। और सब काम कर सकता है। इसलिए इस विषय में बुद्धि को लगाना चाहिए ॥ ४०० ॥

ऐसा सोचकर उसने शंकुकर्ण से कहा—"हे शंकुकर्ण! स्वामी भोजन के विना भूख से पीड़ित हैं। स्वामी के मरने पर हम लोगों का नाश भी निश्चित है। इसलिए स्वामी के हित की कुछ बातें कहूँगा। उसे सुनो।" शंकुकर्ण ने कहा—"शीघ्र ही कहिए जिससे मैं बिना ननु न च किए आप की बात पूरी करूँ। इसके अतिरिक्त स्वामी का हित करने पर मुझे सौ गुना पुण्य होगा।" इसके बाद चतुरक ने कहा—"हे भद्र! तुम अपने शरीर को दुगने लाभ पर स्वामी को दे दो। इससे तुम्हारा शरीर भी दुगना हो जायगा और स्वामी का भोजन भी हो जायगा।" यह सुनकर शंकुकर्ण ने कहा—यदि ऐसा है तो मेरा यह अभिप्राय स्वामी से कह दो और स्वामी का हित करो किन्तु इसमें धर्म ही मध्यस्थ होगा। इस प्रकार सोच विचार कर वे सभी सिंह के पास गए। तब चतुरक ने कहा—'स्वामी, कोई भी जानवर नहीं मिला और सूर्य भी अस्त हो गए।

प्रयच्छति धर्मप्रतिभुवा।' सिंह आह—'भोः, यद्येवं तत्सुन्दरतरम्। व्यवहारस्यास्य धर्मः प्रतिभूः क्रियताम्' इति।

अथ सिंहवचनानन्तरं वृकश्रृगालाभ्यां विदारितोभयकुक्षिः शङ्कुकर्णः पञ्चत्वमुपागतः। अथ वज्रदंष्ट्रश्चतुरकमाह—'भोश्चतुरक, यावदहं नदीं गत्वा स्नानं देवताऽर्चनविधिं कृत्वाऽऽगच्छामि, तावत्त्वयाऽत्राप्रमत्तेन भाव्यम्' इत्युक्त्वा नद्यां गतः। अथ तस्मिन् गते चतुरकश्चिन्तयामास—'कथं ममैकाकिनो भोज्योऽयमुष्ट्रो भविष्यति?' इति विचिन्त्य क्रव्यमुखमाह—'भोः क्रव्यमुख, क्षुधालुर्भवान्। तद्यावदसौ स्वामी नागच्छति, तावत्त्वमस्योष्ट्रस्य मांसं भक्षय। अहं त्वां स्वामिनो निर्दोषं प्रतिपादयिष्यामि।' सोऽपि तच्छ्रुत्वा यावत् किञ्चिन्मांसमास्वादयति, तावच्चतुरकेणोक्तम्—'भोः क्रव्यमुख, समागच्छति स्वामी। तत्त्यक्त्वैनं दूरे तिष्ठ, येनास्य भक्षणं न विकल्पयति।' तथाऽनुष्ठिते सिंहः समायातो यावदुष्ट्रं पश्यति, तावद्रिक्तीकृतहृदयो दासेरकः।

---

(१) धर्मप्रतिभुवा—धर्मलग्नकेन, धर्मं साक्षिणं कृत्वेत्यर्थः। व्यवहारस्य—कर्मणः।

(२) अप्रमत्तेन—अवहितेन। विकल्पयति—सन्देग्धि, स्वामीति शेषः, त्वयि अत्र स्थिते स्वामी सन्देहं करिष्यतीति भावः।

(३) रिक्तीकृतहृदयः,—भक्षिततया शून्यीकृतोरःस्थलः, वृकेणेति भावः।

इसलिए यदि स्वामी दूना शरीर दें तो यह शंकुकर्ण दूने लाभ के लिए धर्म की मध्यस्थता में अपना शरीर दे रहा है। सिंह ने कहा—यदि ऐसा है तो यह तो बहुत सुन्दर है। इस व्यवहार (ऋण-ग्रहण) का मध्यस्थ धर्म को ही बना लिया जाय।

सिंह के इतना कहने के बाद भेड़िए और गीदड़ दोनों ने शंकुकर्ण की दोनों कुक्षि (कोख) फाड़ डाली जिससे वह मर गया। इसके बाद वज्रदंष्ट्र ने चतुरक से कहा—"हे चतुरक! जब तक मैं नदी में जाकर स्नान और पूजन क्रिया करके न लौटूँ तब तक तुम यहाँ सावधान रहना।" ऐसा कहकर वह नदी की ओर चला गया। उसके चले जाने पर चतुरक ने विचार किया कि किस प्रकार यह ऊँट अकेले मुझे ही खाने को मिल जायगा। कुछ सोचकर उसने क्रव्यमुख से कहा—"हे क्रव्यमुख, तुम भूखे हो। इसलिए जब तक स्वामी नहीं आते, तब तक इस ऊँट का मांस खाओ। मैं तुम्हें स्वामी के सामने निर्दोष सिद्ध कर दूँगा।" यह सुनकर उसने ज्योंही थोड़ा सा मांस खाया त्योंही चतुरक ने कहा—क्रव्यमुख स्वामी आ रहे हैं इसलिए ऊँट को छोड़कर दूर खड़े हो जाओ, जिससे वे इसके

ततो भृकुटिं कृत्वा परुषतरमाह—अहो, केनैष उष्ट्र उच्छिष्टतां नीतः? येन तमपि व्यापादयामि।' एवमभिहिते क्रव्यमुखश्चतुरकमुखमवलोकयति किल।[1] अथ चतुरको विहस्योवाच—'भोः, मामनादृत्य पिशितं भक्षयित्वाऽधुना मन्मुखमवलोकयसि? तदास्वादयास्य दुर्नयतरोः फलम्' इति। तदाकर्ण्य क्रव्यमुखो जीवननाशभयाद् दूरदेशं गतः। एतस्मिन्नन्तरे तेन मार्गेण दासेरकसार्थो भाराक्रान्तः समायातः। तस्याग्रेसरोष्ट्रस्य कण्ठे महती घण्टा बद्धा। तस्याः शब्दं दूरतोऽप्याकर्ण्य सिंहो जम्बूकमाह—'भद्र, ज्ञायतां किमेषः रौद्रः शब्दः श्रूयतेऽश्रुतपूर्वः।' तच्छ्रुत्वा चतुरकः किञ्चिद्वनान्तरं गत्वा

(१) परुषतरम्—अतिनिष्ठुरम्। येन—उच्छिष्टीकरणेनेत्यर्थः।

(२) क्रव्यमुखः,—तदाख्यः वृकः। चतुरकमुखं—चतुरकस्य—तदाख्यस्य शृगालस्य मुखम्। अवलोकयति किल—किलेत्यनुनयार्थमव्ययम्; सानुनयं पश्यतीत्यर्थः, 'किलशब्दस्तु वार्त्तायां सम्भाव्यानुनयार्थयोः'' इति मेदिनी। तत्—तथेत्यर्थः।

(३) अनादृत्य—अगणयित्वा। पिशितं—मांसम्। दुर्नयतरोः,—अविनयः वृक्षस्य।

(४) जीवननाशभयात्—मरणशङ्कया। दूरदेशं गतः—पलायित इत्यर्थः।

(५) दासेरकसार्थः—उष्ट्रयूथम्। भाराक्रान्तः—भारवहनेनातिश्रान्तः इत्यर्थः।

(६) तस्येति। तस्य—उष्ट्रसार्थस्य, अग्रेसरः—अग्रवर्त्ती, यः उष्ट्रः तस्य।

(७) रौद्रः—भयङ्करः। अश्रुतपूर्वः—पूर्वं कदाऽप्यनाकर्णितः। वनान्तरम्—

खाने का सन्देह न करें। ऐसा करने पर सिंह ने आकर जब ऊँट को देखा तो उसे कलेजे से रहित पाया। तब भौंहें टेढ़ी करके उसने कड़ी आवाज में कहा—किसने इस ऊँट को जूठा कर दिया है? इससे मैं उसे भी मारता हूँ। यह सुनकर क्रव्यमुख चतुरक की ओर इस अभिप्राय से देखने लगा कि कुछ कहो जिससे मेरी जान बच जाय। चतुरक ने हँसते हुए कहा—अरे क्रव्यमुख, उस समय तो मेरी बात न मान कर मांस खाया अब मेरी ओर क्या देख रहो हो? अब अपने उस अशिष्ट आचरण का फल भोगो। यह सुनकर क्रव्यमुख प्राण जाने के भय से बहुत दूर भाग गया। इसी बीच बोझों से लदा हुआ ऊँटों का एक काफिला उसी रास्ते से आ रहा था। उस काफिले के आगे वाले ऊँट के गले में एक बड़ा घंटा बँधा था। दूर से ही उसके शब्द को सुनकर सिंह ने गीदड़ से कहा—भद्र, पता लगाओ कि यह कैसा भीषण शब्द सुनाई पड़ रहा है? ऐसा शब्द तो पहले कभी नहीं

(१) किल, यथा, 'तद् वद किञ्चित्, येन मम शान्तिर्भवति' इति प्रतीयते।'—अधिकोऽयं पाठः।

सत्वरमभ्युपेत्य प्रोवाच–'स्वामिन्, गम्यतां गम्यताम् यदि शक्नोषि गन्तुम् ।' सोऽब्रवीत्—'भद्र, किमेवं मां व्याकुलयसि ? तत्कथय किमेतत् ?' इति चतुरक आह—'स्वामिन् एष धर्मराजस्तवोपरि कुपितः, यदनेनाकाले दासेरकोऽयं मदीयो व्यापादितः । तत्सहस्रगुणमुष्ट्रमस्य सकाशाद् ग्रहीष्यामि' इति निश्चित्य बृहन्मानमादायाऽग्रेसरस्योष्ट्रस्य ग्रीवायां घण्टां बद्ध्वा व्यापन्न दासेरकसक्तानपि पितृपितामहानादाय वैरनिर्यातनार्थमायात एव ।' सिंहोऽपि तच्छ्रुत्वा सर्वतो दूरादेवावलोक्य मृतमुष्ट्रं परित्यज्य प्राणभयात्प्रणष्टः । चतुरकोऽपि शनैः शनैस्तस्योष्ट्रस्य मांसं भक्षयामास । अतोऽहं ब्रवीमि—'परस्य पीडनं कुर्वन्' इति ॥

अथ दमनके गते संजीवकश्चिन्तयामास—अहो किमेतन्मया कृतम्, यच्छष्पादोऽपि मांसाशिनस्तस्यानुगः संवृत्तः । अथवा साध्विदमुच्यते—

अन्यत् वनम्, नित्यसमासः । गम्यतां—पलाय्यतामित्यर्थः ।

[१] व्याकुलयसि—व्याकुलं करोषि, उद्वेजयसि इत्यर्थः ।

[२] धर्मराजः—यमः, धर्मदेवो वा । अनेन—सिंहेन, त्वयेत्यर्थः । बृहन्मानं—महापरिमाणं, बहूनुष्ट्रानित्यर्थः । व्यापन्नदासेरकसक्तान्—विनाशितोष्ट्रसम्बन्धिनः इत्यर्थः । सर्वतः—समन्तात् । प्रनष्टः—पलायितः, अन्तर्हितः इत्यर्थः ।

[३] शष्पादः—तृणभोजी, क्विपो वैकल्पात् अण् । मांसेति—मांसाशिनः मांसभोजिनः । तस्य—पिङ्गलकस्य । अनुगः—अनुचरः, संवृत्तः, अस्मीति शेषः ।

सुना गया था । यह सुनकर चतुरक कुछ दूर जंगल में जाकर और फिर लौटकर बोला—स्वामी, यदि भाग सकते हों तो शीघ्र ही यहाँ से भाग जाइए । सिंह ने कहा—भद्र, तुम क्यों मुझे इस प्रकार व्याकुल बना रहे हो ? बताओ तो सही यह क्या है ? चतुरक ने कहा—'स्वामी, यमराज आप के ऊपर क्रुद्ध हो गए हैं कि इसने हमारे ऊँट को असमय में ही (मृत्यु काल के पहिले ही) मार डाला है । इसलिए ऊँट का हजार गुना बदला सिंह से लूँगा–ऐसा निश्चय करके ऊँटों का बहुत बड़ा काफिला लेकर, आगे वाले ऊँट के गले में घंटा बाँधकर और इस मरे हुए ऊँट के बाप दादा आदि सम्बधियों को साथ लेकर यमराज शत्रुता का बदला लेने के लिए यहाँ पहुँच चुके हैं । सिंह भी यह सुनकर और दूर ही से सब कुछ देखकर प्राण जाने के भय से मरे ऊँट को छोड़कर भाग खड़ा हुआ । चतुरक भी धीरे धीरे ऊँट के मांस को खा गया । इसीलिए मैं कहता हूँ कि—'शत्रु को पीड़ा पहुँचा कर भी'—इत्यादि ।

इसके पश्चात् दमनक के चले जाने पर संजीवक ने विचार किया कि मैंने यह

अगम्यान् यः पुमान् याति असेव्यांश्च निषेवते ।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ ४०१ ॥

तत्किं करोमि ? क्व गच्छामि ? कथं मे शान्तिर्भविष्यति ? अथवा तमेव पिङ्गलकं गच्छामि । कदाचिन्मां शरणागतं रक्षति, प्राणैर्न वियोजयति । यत उक्तं च—

धर्मार्थं यततामपीह विपदो दैवाद्यदि स्युः क्वचित्
तत्तासामुपशान्तये सुमतिभिः कार्यो विशेषान्नयः ।
लोके ख्यातिमुपागताऽत्र सकले लोकोक्तिरेषा यतो
दग्धानां किल वह्निना हितकरः सेकोऽपि तस्योद्भवः[1] ॥४०२॥

अगम्यानिति । यः पुमान् अगम्यान् गमनायोग्यान्, याति गच्छति, असेव्यांश्च सेवानर्हांश्च, निषेवते भजते, अश्वतरी गर्भं यथा मृत्यवे गृह्णातीति भावः; तथा स मृत्युम् उपगृह्णाति प्राप्नोति, अकार्य्यकारिणो मरणमवश्यम्भावीति भावः ॥ ४०१ ॥

धर्मार्थमिति । इह जगति, धर्मार्थं धर्मनिमित्तं, यततां चेष्टमानानां, यतधातोरात्मनेपदित्वात् शतृप्रत्ययो मृग्यः । यदि क्वचित् दैवात् विपदः अपि स्युः भवेयुः, तत् तदा, तासां विपदाम्, उपशान्तये प्रशमनाय, सुमतिभिः सुबुद्धिभिः, पुरुषैरिति शेषः, विशेषात् नयः न्याय्याचरणमित्यर्थः, कार्य्यः विधेयः, धार्मिकाणां विपदि जातायामपि न खलु अधर्मस्तैषां सेवनीय इति भावः, यतः अत्र सकले सर्वस्मिन्, लोके जगति, एषा लोकोक्तिः जनश्रुतिः, ख्यातिमुपागता प्रसिद्धिं गता

उचित नहीं किया जो तृण-भोजी (घास खाने वाला) होकर इस मांसभोजी का सेवक बना : अथवा यह ठीक ही कहा गया है कि—

सेवा न करने योग्य पुरुष की सेवा जो आश्रय न लेने योग्य व्यक्ति का आश्रय तथा ग्रहण करता है वह उसी प्रकार मृत्यु को ग्रहण करता है जैसे खच्चरी (अपनी मृत्यु के लिए) गर्भ धारण करती है ॥ ४०१ ॥

तो क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? कैसे मुझे शान्ति मिलेगी ? अथवा उसी पिंगलक के पास ही जाऊँ । संभव है कि वह शरणागत हो जाने पर मेरी रक्षा करें और मेरा बध न करे । क्योंकि कहा गया है—

इस संसार में धर्म के लिए प्रयत्न करते समय यदि दैववशात् कुछ विपत्तियाँ उठ खड़ी हों तो उनकी शान्ति के लिए बुद्धिमान् मनुष्य को विशेष रूप से अनुनय विनय का सहारा लेना चाहिए । क्योंकि इस संसार में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध ही

---

(१) 'स्वेदोऽपि तत्सम्भवः ।' इति वा पाठः ।

तथा च—लोकेऽथवा तनुभृतां निजकर्मपाकं
नित्यं समाश्रितवतां विहितक्रियाणाम् ।
भावार्जितं शुभमथाप्यशुभं निकामं
यद्भावि तद् भवति नात्र विचारहेतुः ॥ ४०३ ॥

अपरं चान्यत्र गतस्यापि मे कस्यचिद्दुष्टसत्त्वस्य मांसाशिनः सकाशान्मृत्युर्भविष्यति । तद्वरं सिंहात् । उक्तं च—

महद्भिः स्पर्धमानस्य विपदेव गरीयसी ।
दन्तभङ्गोऽपि नागानां श्लाघ्यो गिरिविदारणे ॥ ४०४ ॥

इत्यर्थः, यत् वह्निना अग्निना, दग्धानाम्, अङ्गानामिति शेषः, तस्मात् वह्नेः, सम्भवः जातः, स्वेदोऽपि तापोऽपि, हितकरः उपकारी, किलेति वार्त्तायाम्, वह्निना दग्धदेहे यथा तत्तापः, हितकरः, तथा प्राणविपत्तिसम्भावनायां येन तद्विपत्सम्भावना, तदाश्रयणमेव श्रेयः, "विषस्य विषमौषधम्" इति स्मरणादिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४०२ ॥

लोके इति । अथवा लोके जगति, नित्यं सततमेव, निजकर्मपाकं स्वकर्मजनितां परिणतिमित्यर्थः, समाश्रितवताम्, उपभुक्तवतां, विहितक्रियाणां विहिता अनुष्ठिता, क्रिया शुभाशुभं कर्म इत्यर्थः, यैः तथोक्तानाम्, इह जन्मनि पूर्वजन्मनि वा इति भावः, तनुभृतां प्राणिनां, भावार्जितं स्वकर्मोपार्जितं शुभम् अथापि अथवा, अशुभं यत् निकामम् अत्यर्थम्, भावि अवश्यम्भावि इत्यर्थः, तत् भवति, अत्र न विचारहेतुः, अस्ति कश्चिदिति शेषः; कर्मफलस्य सर्वेषामेवावश्यभोक्तव्यतया व्यर्थमेव विचारणमिति भावः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ४०३ ॥

महद्भिरिति । महद्भिः, जनैः सहेति शेषः, स्पर्द्धमानस्य स्पर्द्धां कुर्वतः जनस्य,

---

है कि 'आग से जले हुए अंगों को आग से सेंकना ही लाभदायक होता है' ॥ ४०२ ॥

और भी— इस संसार में शरीरधारी समस्त प्राणियों को अपने द्वारा किए गए कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। क्योंकि अपने कर्मों द्वारा शुभ या अशुभ जो भी उपार्जित किया गया है और जो भवितव्यता (होनहार) है वह तो होकर ही रहेगी। इसलिए इसमें सोचने विचारने की आवश्यकता ही नहीं है ॥ ४०३ ॥

इसके अतिरिक्त अन्यत्र जाने पर भी यदि किसी दूसरे मांसाहारी प्राणी से मेरी मृत्यु हो ही जायगी तो इससे अच्छा तो इस सिंह द्वारा मरना ही है। कहा भी गया है—

महान् लोगों के साथ स्पर्धा करने में यदि विपत्ति भी आ जाए (मृत्यु

तथा च—महतोऽपि क्षयं लब्ध्वा श्लाघ्यं नीचोऽपि गच्छति ।
दानार्थी मधुपो यद्वद् गजकर्णसमाहतः ॥ ४०५ ॥

एवं निश्चित्य स स्खलितगतिर्मन्दं गत्वा सिंहाश्रयं पश्यन्नपठत्,—'अहो, साध्विदमुच्यते—

अन्तर्लीनभुजङ्गमं गृहमिव व्यालाकुलं वा वनं
ग्राहाकीर्णमिवाभिरामकमलच्छायासनाथं सरः ।
नानादुष्टजनैरसत्यवचनासक्तैरनार्यैर्वृतं
दुःखेन प्रतिगम्यते प्रचकितै राज्ञां गृहं वाधिवत् ॥४०६॥

विपदेव विपत्तिरपि, गरीयसी श्रेयसी; गिरिविदारणे शुण्डादण्डप्रतिघातेन पर्वतप्रस्फोटनकर्मणि, नागानां हस्तिनां, दन्तभङ्गः दशनस्फोटनम् अपि, श्लाघ्यः प्रशस्यः ॥ ४०४ ॥

महत इति । नीचोऽपि क्षुद्रोऽपि जनः, दानार्थी गजमदार्थी, अत एव गजकर्णसमाहतः हस्तिकर्णतालताडितः, मधुपो यद्वत् मधुकर इव, महतः जनात् क्षयं, विपदमित्यर्थः, लब्ध्वाऽपि श्लाघ्यं श्लाघनीयत्वं, भावे यप्रत्ययः । गच्छति प्राप्नोति ॥ ४०५ ॥

अन्तरिति । अन्तर्लीनः, अभ्यन्तरे स्थितः, भुजङ्गमो यस्य तादृशं, गृहमिव, व्यालैः श्वापदैः, हिंस्रैरिति यावत्; "व्यालो दुष्टगजे सर्पे श्वापदे" इति मेदिनी आकुलं व्याप्तं, वनं वा वनमिव, ग्राहैः जलचरविशेषैः, "मगर" इति भाषा प्रसिद्धैः, आकीर्णं व्याप्तम्, अभिरामा शोभना, कमलानां या छाया कान्तिः, तत्सनाथं तद्युक्तं, सर इव, नानादुष्टजनैः विविधैर्दुर्जनैः, असत्यवचनासक्तैः मृषावादरतैः,

---

उपस्थित हो जाय) तो वह भी श्रेयस्कर ही है । जैसे पहाड़ों पर टक्कर मारकर उन्हें तोड़ते समय हाथी के दाँतों का टूट जाना भी प्रशंसनीय ही माना जाता है ॥ ४०४ ॥

और भी- नीच प्राणी महान् प्राणियों से मृत्यु को प्राप्त करके भी प्रशंसा का पात्र बनता है । जैसे हाथी के मद को चाहने वाला भौंरा उसके कानों से मारे जाने पर भी सराहनीय होता है ॥ ४०५ ॥

ऐसा निश्चय करके धीरे धीरे लड़खड़ाकर चलते हुए सिंह के रहने के स्थान को देख संजीवक यह श्लोक पढ़ने लगा—

जैसे भीतर छिपे हुए साँपों से युक्त घर में, अथवा दुष्ट हाथी या सिंह से भरे वन में या सुन्दर कमलों की शोभा से सुशोभित होने पर भी घड़ियाल से युक्त सरोवर में मनुष्य बड़े कष्ट के साथ डरते हुए प्रवेश करता है उसी प्रकार नाना

एवं पठन्दमनकोक्ताकारं पिङ्गलकं दृष्ट्वा प्रचकितः संवृतशरीरो दूरतरं प्रणामकृतिं विनाप्युपविष्टः। पिङ्गलकोऽपि तथाविधं तं विलोक्य दमनकवाक्यं श्रद्दधानः कोपात्तस्योपरि पपात। अथ सञ्जीवकः खरनखरविकर्त्तितपृष्ठः शृङ्गाभ्यां तदुदरमुल्लिख्य कथमपि तस्मादपेतः शृङ्गाभ्यां हन्तुमिच्छन् युद्धायावस्थितः। अथ द्वावपि तौ पुष्पितपलाशप्रतिमौ परस्परवधाकाङ्क्षिणौ दृष्ट्वा करटको दमनकमाह—'भो मूढमते, अनयोर्विरोधं वितन्वता त्वया साधु न कृतम्, न च त्वं नीतितत्त्वं वेत्सि। नीतिविद्भिरुक्तं च—

अनार्य्यैः असाधुभिः, वृतं वेष्टितं, राज्ञां गृहं वार्धिवत् वारिधिरिव, वारि जलानि धीयन्ते अत्र इति धाधातोः कि; वार+धा+कि, प्रचकितैः प्रकर्षेण भीतैः, सद्भिः जनैरिति शेषः, दुःखेन प्रतिगम्यते; राजभवनं सुतामसेव्यमिति फलितम्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४०६ ॥

(१) संवृतशरीरः—सङ्कुचितदेह इत्यर्थः। प्रणामकृतिं—प्रणामक्रियाम्।

(२) श्रद्दधानः—विश्वसन्।

(३) खरेति। खरैः—तीक्ष्णैः, नखरैः विकर्त्तितं—विशेषेण छिन्नं, पृष्ठं यस्य तथाभूतः। तदुदरं—तस्य सिंहस्य उदरम्। उल्लिख्य—विपाट्येत्यर्थः। अपेतः—अपसृतः।

(४) पुष्पितेति। विकसितपलाशतरुसदृशौ, रुधिरस्रावादिति भावः। वितन्वता—विस्तारयता, घटयता इत्यर्थः। नीतितत्त्वं—नीतिशास्त्रस्य तत्त्वं—याथार्थ्यम्।

प्रकार के दुष्टों, असत्यवादियों और दुराचारियों से भरे हुए राजभवन रूपी सागर में भी मनुष्य भय और कष्ट के साथ ही प्रवेश करता है ॥ ४०६ ॥

संजीवक इस प्रकार पढ़ता हुआ दमनक के द्वारा बताए गए आकार वाले पिंगलक को देखकर आश्चर्य में पड़ गया और अपने शरीर को समेट कर प्रणाम किए बिना ही दूर पर ही बैठ गया। पिंगलक भी उसे इस रूप में देखकर तथा दमनक द्वारा कही हुई बात को सच मानकर क्रोध के साथ उसके ऊपर टूट पड़ा। सिंह के तेज नाखूनों से संजीवक की पीठ फट गई। तब उसने अपने सींगों से उसके पेट में प्रहार करके किसी प्रकार अपने को उससे अलग किया और फिर सींगों से मारने की इच्छा से युद्ध करने के लिए खड़ा हो गया। इसके पश्चात् फूले हुए पलाश वृक्ष के समान (खून से सराबोर) एक दूसरे को मार डालने की इच्छा वाले उन दोनों को देखकर करटक ने दमनक से कहा—अरे मूर्ख! तुमने इन दोनों में विरोध बढ़ाकर अच्छा नहीं किया। तुम नीति का तत्त्व नहीं

कार्याण्युत्तमदण्डसाहसफलान्यायाससाध्यानि ये
प्रीत्या संशमयन्ति नीतिकुशलाः साम्नैव ते मन्त्रिणः।
निःसाराल्पफलानि ये त्वविधिना वाञ्छन्ति दण्डोद्यमै-
स्तेषां दुर्नयचेष्टितैर्नरपतेरारोप्यते श्रीस्तुलाम् ॥ ४०७ ॥

तद्यदि स्वाम्यभिघातो भविष्यतीति तत्किं त्वदीयमन्त्रबुद्ध्या क्रियते ? अथ सञ्जीवको न वध्यते, तथाप्यभव्यम्। यतः प्राणसन्देहात्तस्य च वधः। तन्मूढ, कथं त्वं मन्त्रिपदमभिलषसि ? सामसिद्धिं न वेत्सि, तद्वृथा मनोरथोऽयं ते दण्डरुचेः। उक्तं च—

कार्य्याणीति। ये नीतिकुशलाः नीतिज्ञाः, प्रीत्या साम्नैव सान्त्वेनैव, प्रियवाक्यादिनेत्यर्थः आयाससाध्यानि कष्टसाध्यानि, उत्तमदण्डः प्रबलसङ्ग्राम एव, साहसफलं येषां तानि, कार्य्याणि संशमयन्ति सम्यक् शान्ति नयन्ति, ते मन्त्रिणः मन्त्रिपदाधिकारिण इत्यर्थः; ये तु अविधिना अन्यायेन, दण्डोद्यमैः युद्धोद्योगैः, निःसाराल्पफलानि निःसाराणि असाराणि, अल्पफलानि, च कार्य्याणि वाञ्छन्ति, तेषां दुर्नयचेष्टितैः अन्यायाचरणैः, नरपतेः श्रीः राजलक्ष्मीः, तुलां सन्देहम्, आरोप्यते नीयते, तत्र स्थास्यामि न वेति सन्दिग्धा भवति राजलक्ष्मीरित्यर्थः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४०७ ॥

(१) अभव्यम्—अशुभम्। प्राणसन्देहात्—सञ्जीवके जीवति स्वामिनः जीवनसन्देहादिति यावत्। तस्य—सञ्जीवकस्य, बधः, कर्त्तव्य इति शेषः। सामसिद्धि—साम्ना—सन्धिना, सिद्धिः ताम्। दण्डरुचेः—दण्डे रुचिः यस्य तथोक्तस्य, युद्ध-

---

जानते हो। नीतिज्ञों ने कहा है—

जो अत्यन्त उग्र दण्ड और साहस युक्त फल वाले कष्ट साध्य युद्ध जैसे कार्यों को प्रेम तथा शान्ति (साम और दाम) से शान्त कर देते हैं वे ही सच्चे मन्त्री होते हैं और जो निरर्थक और थोड़े से फलों वाले कार्य को अन्याय (भेद नीति) तथा युद्ध (दण्ड नीति) से पूरा करना चाहते हैं, उन मन्त्रियों की इस बुरी नीति के कारण राजा की राज्यलक्ष्मी ही खतरे में पड़ जाती है ॥ ४०७ ॥

इस लिए यदि कहीं (इस दण्ड नीति अर्थात् युद्ध द्वारा) स्वामी की मृत्यु हो गई तो तुम्हारी इस मन्त्रबुद्धि से क्या लाभ हुआ ? और यदि कहीं संजीवक न मारा गया तो भी ठीक नहीं होगा क्योंकि इससे स्वामी के प्राणों के विषय में सन्देह बना रहेगा। इस लिए उसका बध आवश्यक है। इसलिए हे मूर्ख जब तुम सामनीति (संधि द्वारा कार्य सिद्धि) जानते ही नहीं हो तो फिर कैसे मन्त्रि पद पाने की इच्छा करते हो। तुम्हारे जैसे दण्डनीति में रुचि रखने वाले

सामादिदण्डपर्यन्तो नयः प्रोक्तः स्वयम्भुवा।
तेषां दण्डस्तु पापीयांस्त पश्चाद्विनियोजयेत् ॥ ४०८ ॥

तथा च—साम्नैव यत्र सिद्धिर्न तत्र दण्डो बुधेन विनियोज्यः।
पित्त यदि शर्करया शाम्यति कोऽर्थः पटोलेन ? ॥ ४०९ ॥

तथा च—आदौ साम प्रयोक्तव्यं पुरुषेण विजानता।
सामसाध्यानि कार्याणि विक्रियां यान्ति न क्वचित् ॥ ४१० ॥

प्रियस्य इत्यर्थः।

सामादीति। स्वयम्भुवा ब्रह्मणा, सामादिदण्डपर्य्यन्तः सामदानभेददण्डावधिरित्यर्थः, नयः नीतिः प्रोक्तः कथितः, तेषां मध्ये, दण्डः सङ्ग्रामः, पापीयान् अतिनिकृष्टः, पश्चात् सामादित्रये विफले सति, तं दण्डं, विनियोजयेत् प्रयुञ्जीत ॥ ४०८ ॥

साम्नैवेति। यत्र साम्ना सान्त्वेनैव, सिद्धिः, भवेदिति शेषः; बुधेन विदुषा, तत्र दण्डः सङ्ग्रामः, न विनियोज्यः, न प्रयोज्यः, "न दण्डेन कदाचन" इति स्मरणादित्यर्थः। यदि शर्करया गुडविकारविशेषेण, पित्तं शाम्यति, तदा पटोलेन तिक्तौषधिविशेषेण, कोऽर्थः ? किं प्रयोजनम् ? न किञ्चित्, परन्तु मुखविकारसम्पादनमेव इति भावः। आर्य्या वृत्तम् ॥ ४०९ ॥

आदाविति। विजानता विदुषा, पुरुषेण इति शेषः, आदौ प्रथमं, साम प्रयोक्तव्यं, यतः सामसाध्यानि साम्ना निष्पाद्यानि कार्य्याणि, क्वचित् कुत्रापि, विक्रियां विकारं, यान्ति गच्छन्ति, सर्वत्रैव फलन्ति इत्यर्थः ॥ ४१० ॥

के लिए यह (मन्त्री बनने की) अभिलाषा व्यर्थ है। कहा भी गया है—

ब्रह्मा ने साम से लेकर दण्ड तक (साम, दाम, भेद, दण्ड) जितनी नीति कही है उसमें दण्ड नीति सबसे पाप पूर्ण है। अतः इस लिए उसका प्रयोग सबसे अन्त में (साम दाम आदि नीतियों के विफल होने पर) करना चाहिए ॥ ४०८ ॥

और भी—जहाँ साम नीति से ही कार्य सिद्ध हो जाय वहाँ नीतिज्ञ पुरुष को दण्ड का प्रयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि यदि शक्कर खिलाने से ही पित्त की शान्ति हो जाय तो पटोल (परवल, जो स्वाद में कसैला होता है) देने की क्या आवश्यकता है ॥ ४०९ ॥

और भी—राजनीतिज्ञ पुरुष को पहले साम नीति का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि उस (संधि) के द्वारा सिद्ध किए हुए कार्य कभी भी विकृत नहीं होते हैं ॥ ४१० ॥

न चन्द्रेण न चौषध्या न सूर्येण न वह्निना।
साम्नैव विलयं याति विद्वेषिप्रभवं तमः ॥ ४११ ॥

तथा यत्त्वं मन्त्रित्वमभिलषसि, तदप्ययुक्तम्। यतस्त्वं मन्त्रिगतिं न वेत्सि। यतः पञ्चविधो मन्त्रः। स च कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसम्पत्, देशकालविभागः, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिश्चेति। सोऽयं स्वाम्यमात्ययोरेकतरस्य किं वा द्वयोरपि विनिपातः समुत्पद्यते लग्नः। तद्यदि

नेति। विद्वेषिप्रभवं शत्रुसमुत्थं, तमः तिमिररूपः क्रोधः इत्यर्थः, चन्द्रेण न, ओषध्या तृणज्योतिर्लतया न, सूर्येण न, वह्निना च न; विलयं नाशं, याति, किन्तु साम्ना सान्त्वेनैव, विलयं यातीत्यनुषङ्गः ॥ ४११ ॥

(१) मन्त्रिगतिं—मन्त्रिणः कर्त्तव्यम् इत्यर्थः, वक्ष्यमाणपञ्चविधमन्त्रमिति यावत्।

(२) कर्मणामारम्भोपायः—कर्मणां सन्ध्यादीनाम्, आरम्भे अनुष्ठाने, षाड्गुण्यप्रयोगे इत्यर्थः, उपायः कौशलम्। पुरुषद्रव्यसम्पत्—पुरुषाणां—सेनानां, कर्मचारिणां वा द्रव्याणां—धनानाञ्च, सम्पत्—समृद्धिः, पर्य्याप्तः सद्भाव इति भावः। देशकालविभागतः—अस्मिन् देशे साम, अस्मिन् देशे दानं विधेयम्; अस्मिन् देशे भेदः, अस्मिन् दण्डः प्रयोक्तव्यः, अस्मिन् काले साम, अस्मिन् काले दानं प्रयोज्यम्; अस्मिन् काले भेदः, अस्मिन् काले दण्डः प्रयोक्तव्यः इत्येवंरूपो विभागः व्यवस्थापनमित्यर्थः। विनिपातप्रतीकारः—विनिपातः अपायः, तस्य प्रतीकारः यथा न अपायः आपतति तथा प्रतिविधानम्। कार्य्यसिद्धिः,—कार्य्याणां सन्ध्यादीनां सिद्धिः—सम्यक् साधनम्।

शत्रुता से उत्पन्न अपकार रूपी अन्धकार जितना सामनीति से दूर होता है उतना चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, तथा औषधि (ज्योतिष्मती लता विशेष) जैसी प्रकाशमान वस्तुओं से दूर नही होता है ॥ ४११ ॥

और तुम जो मन्त्रित्व की अभिलाषा करते हो वह भी उचित नहीं है क्योंकि तुम्हें मन्त्रित्व के कर्तव्य का भी तो ज्ञान नहीं है। मन्त्र पाँच प्रकार के होते हैं—(१) इच्छित कार्य में संधि विग्रहादि नीति के प्रयोग की कुशलता (२) कर्मचारियों तथा राज-कोश की वृद्धि करना, (३) साम, दाम, दण्ड, भेद के प्रयोग से स्थान और काल की व्यवस्था करना, (४) इष्ट सिद्धि के मार्ग में उपस्थित बाधाओं को दूर करना और (५) सामादि नीतियों से कार्य की सिद्धि करना। इस प्रकार स्वामी पिङ्गलक और मन्त्री संजीवक इन दोनों में से एक अथवा दोनों का यह मृत्यु संकट उपस्थित हो गया है। इस लिए यदि तुममें कोई शक्ति है तो इस विघ्न के दूर करने

काचिच्छक्तिरस्ति तद्विचिन्त्यतां विनिपातप्रतीकारः। भिन्नसन्धाने हि मन्त्रिणां बुद्धिपरीक्षा। तन्मूर्ख, तत्कर्त्तुमसमर्थत्वं यतो विपरीतबुद्धिरसि।

उक्तं च—

मन्त्रिणां भिन्नसन्धाने भिषजां सान्निपातिके।
कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा स्वस्थे को वा न पण्डितः ? ॥ ४१२ ॥

अन्यच्च—घातयितुमेव नीचः परकार्यं वेत्ति न प्रसाधयितुम्।
पातयितुमेव शक्तिर्नाखोरुद्धर्तुमन्नपिटकम् ॥ ४१३ ॥

---

(१) स्वाम्यमात्ययोः,—नृपति-मन्त्रिणोः, प्रस्तुते पिङ्गलक सञ्जीवकयोरित्यर्थः। विनिपातः—विध्वंसकरः। समुत्पद्यते—समुदेति। लग्नः—समयः।

(२) भिन्नसन्धाने—भग्नसङ्घटने, विरोधापनयते इत्यर्थः। विद्वेषेण भिन्नानां दूरीभूतानां सन्धानं मैत्रीकरणम्। तत्कर्त्तुम्—भिन्नसन्धानं कर्त्तुम्।

मन्त्रिणामिति। भिन्नसन्धाने वियुक्तयोजने, अघटनीयघटनायामिति यावत्, मन्त्रिणाम् अमात्यानाम्; तथा सान्निपातिके प्रकुपितानां वायुपित्तकफाभिधानानां दोषत्रयाणां समवायजनिते चेत्यर्थः, कर्मणि व्यापारे, भिषजां चिकित्सकानां, प्रज्ञा बुद्धिः, व्यज्यते बोध्यते, स्वयं प्रतीयते इत्यर्थः, स्वस्थे प्रकृतिस्थे जने, को वा जनः पण्डितो न ? अपि तु सर्वं एव पाण्डित्यं दर्शयितुं समर्थः इति भावः। ॥ ४१२ ॥

घातयितुमिति। नीचः क्षुद्रो जनः; परकार्य्यं घातयितुं नाशयितुमेव, वेत्ति जानाति, प्रसाधयितुं सम्पादयितुं, न वेत्तीत्यनुषङ्गः। आखोः मूषिकस्य, अन्नपिटकं भक्षणीयद्रव्याधारविशेषं; पातयितुमेव भूमाववतारयितुमेव, शक्तिः सामर्थ्यम्; अस्तीति शेषः, उद्धर्तुम् उत्तोलयितुं; न शक्तिरित्यनुषङ्गः। आर्य्या वृत्तम् ॥ ४१३ ॥

उपाय सोचो। भेद को सन्धि द्वारा दूर करने में ही मंत्रियों की बुद्धि की परीक्षा होती है। मूर्ख ! तुम वह करने में असमर्थ हो क्योंकि तुम विपरीत बुद्धि वाले (भेद को मिटाने वाले नहीं वल्कि भेद पैदा करने वाले) हो। कहा भी गया है—

भिन्न-संन्धान (भेद में संधि करा देना अथवा विरोध एवं कलह को मैत्री भाव में बदल देना) के कार्य में मंत्रियों की और संनिपात ज्वर के समय वैद्यों की बुद्धि स्पष्ट लक्षित हो जाती है। सामान्य स्थिति में तो कौन पंडित नहीं होता ॥ ४१२ ॥

और भी—क्षुद्र स्वभाव का पुरुष दूसरों के कार्य को नष्ट ही करना जानता है न कि बनाना। चूहा अन्न के कोठार को गिरा सकता है किन्तु उसे उठाकर खड़ा नहीं कर सकता है ॥ ४१३ ॥

अथवा न ते दोषः। अयं स्वामिनो दोषः, यस्ते वाक्यं श्रद्दधाति। उक्तं च

नराधिपा नीचजनानुवर्तिनो
बुधोपदिष्टेन पथा न यान्ति ये।
विशन्ति दुर्गममार्गनिर्गमं
समस्तसम्बाधमनर्थपिञ्जरम् ॥ ४१४ ॥

तद्यदि त्वमस्य मन्त्री भविष्यसि, तदान्योऽपि कश्चिन्नास्य समीपे साधुजनः समेष्यति। उक्तं च—

गुणालयोऽप्यसन्मन्त्री नृपतिर्नाधिगम्यते।
प्रसन्नस्वादुसलिलो दुष्टग्राहो यथा ह्रदः ॥ ४१५ ॥

नराधिपा इति। ये नराधिपाः राजानः, नीचजनानुवर्त्तिनः क्षुद्रजनमतानुसारिणः सन्तः, बुधोपदिष्टेन विद्वत्प्रदर्शितेन, पथा न यान्ति चलन्ति, कार्य्ये न प्रवर्त्तन्ते इत्यर्थः, ते अमार्गनिर्गमं नास्ति मार्गः निर्गमाय यस्य तत्, निर्गममार्गरहितमित्यर्थः; समस्तसम्बाधं प्रतिबन्धभूयिष्ठं, दुर्गं दुर्गमम्, अनर्थपिञ्जरं व्यसनरूपं पिञ्जरं, विशन्ति, विपद्यन्ते इति भावः। वशस्थविलं वृत्तम् ॥ ४१४ ॥

गुणालय इति। गुणाः दयादाक्षिण्यादयः; तेषाम् आलयः आकरोऽपि, नृपतिः; असन्तः असाधवः, मन्त्रिणो यस्य तथाभूतः, दुर्मन्त्रिपरिवृतः चेत् इत्यर्थः, प्रसन्नं स्वच्छं, स्वादु सुस्वादं, सलिलं यस्य तादृशः, अथ च दुष्टाः ग्राहाः जलजन्तुभेदाः यत्र तथाभूतः, ह्रदः यथा जलाशयः इव; अधिगम्यते न सेव्यते, लोकैरिति शेषः ॥ ४१५ ॥

अथवा इसमें तुम्हारा दोष नहीं है। इसमें स्वामी का ही दोष है जो कि वे तुम्हारी बात का विश्वास करते हैं। कहा भी गया है—

दुष्ट लोगों की राय के अनुसार काम करने वाले लोग नीतिज्ञों द्वारा बताए गए मार्ग का अनुसरण नहीं करते हैं। इसलिए वे सभी प्रकार की बाधाओं से परिपूर्ण उस कठोर सङ्कट रूपी पिंजड़े में चले जाते हैं जिससे निकलने का कोई रास्ता ही नहीं है ॥ ४१४ ॥

यदि तुम इसके मन्त्री होगे तो दूसरा कोई सज्जन पुरुष इसके पास नहीं आवेगा। कहा भी गया—

(दान-दाक्षिण्यादि) सभी गुणों से पूर्ण होते हुए भी यदि राजा दुष्ट मंत्रियों से सेवित होता है तो वह उस सरोवर के समान त्याज्य होता है जो निर्मल और मीठे जल से युक्त होने पर भी मगर से परिपूर्ण होता है ॥ ४१५ ॥

तथा च शिष्टजनरहितस्य स्वामिनोऽपि नाशो भविष्यति । उक्तं च—

चित्रास्वादकथैर्भृत्यैरनायासितकार्मुकैः ।
ये रमन्ते नृपास्तेषां रमन्ते रिपवः श्रिया ॥ ४१६ ॥

तत्किं मूर्खोपदेशेन ? यतः तत्र केवलं दोषो न गुणः । उक्तं च—

नानाम्यं नमते दारु नाश्मनि स्यात्क्षुरक्रिया ।
सूचीमुखं विजानीहि नाशिष्यायोपदिश्यते ॥ ४१७ ॥

दमनक आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

चित्रेति । ये नृपाः, चित्राः मनोज्ञाः, आस्वादाः यासां तादृश्यः, कथाः वचनानि येषां तैः, मधुरभाषिभिरित्यर्थः, किन्तु अनायासितं कर्मणि अनियुक्तं; कार्मुकं धनुः यैः तथाभूतैः, कार्य्याक्षमैरित्यर्थः, भृत्यैः सेवकैः, रमन्ते क्रीडन्ति, न तु राजकार्य्यं कुर्वन्तीति भावः, रिपवः शत्रवः, तेषां नृपाणां, श्रिया सम्पदा, रमन्ते हृष्यन्तीत्यर्थः, रिपवस्तान् पराभूय सम्पदो हरन्तीति भावः ॥ ४१६ ॥

नेति । अनाम्यम् अनमनीयं, दारु काष्ठं, न नमते, आत्मनेपदम् अत्र छन्दोऽनुरोधात्, केनापि नतं न भवति, अश्मनि प्रस्तरे, क्षुरक्रिया चौरकर्म, न स्यात्, प्रस्तरं क्षुरेण छेत्तुं न कोऽपि शक्नुयादिति भावः । अशिष्याय अयोग्यशिष्याय, अजिज्ञासवे इत्यर्थः, न उपदिश्यते, अत्र दृष्टान्तं—सूचीमुखं तदाख्यं पक्षिणं, विजानीहि, सूचीमुखः अजिज्ञासमानेभ्य उपदिश्य विपन्नोऽभवदिति निष्कर्षः ॥ ४१७ ॥

और शिष्ट लोगों से रहित होने पर स्वामी का भी नाश हो जाता है । कहा भी गया है—

जो तरह तरह की चिकनी चुपड़ी बाते करते हैं, समय आने पर धनुष चलाना नहीं जानते ऐसे (डींग हाकने वाले) अधिकारियों के साथ जो राजा मौज उड़ाता है, उसकी लक्ष्मी के साथ शत्रु मौज उड़ाते हैं ॥ ४१६ ॥

इसलिए मूर्ख को उपदेश देना निष्प्रयोजन है क्योंकि उससे दोष ही होता है गुण नहीं । कहा भी गया है—

न झुकने वाली लकड़ी (सूखी लकड़ी) टेढ़ी नहीं हो सकती, पत्थर को छूरे की धार से काटा नहीं जा सकता और उपदेश के अयोग्य शिष्य को उपदेश नहीं दिया जा सकता । सूची मुख इसका उदाहरण है ॥ ४१७ ॥

दमनक ने कहा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

१७ : सूचीमुखवानरयूथ-कथा

अस्ति कस्मिंश्चित्पर्वतैकदेशे वानरयूथम्। तच्च कदाचिद्धेमन्तसमये अतिकठोरवातसंस्पर्शवेपमानकलेवरं तुषारवर्षोद्धत प्रवर्षघनधारानिपात-समाहतं न कथञ्चिच्छान्तिमगमत्। अथ केचिद्वानराः वह्निकणसदृशानि गुञ्जाफलान्यवचित्य वह्निवाञ्छया फूत्कुर्वन्तः समन्तात्तस्थुः। अथ सूचीमुखो नाम पक्षी तेषां तं वृथायासमवलोक्य प्रोवाच—'भोः, सर्वे मूर्खाः यूयम्। नैते वह्निकणाः, गुञ्जाफलानि एतानि। तत्किं वृथा श्रमेण? नैतस्माच्छीतरक्षा भविष्यति। तदन्विष्यतां कश्चिन्निर्वातो वनप्रदेशो गुहा वा गिरिकन्दरो वा। अद्यापि साटोपा मेघा दृश्यन्ते।' अथ तेषामेकतमो वृद्धः

[१७]

(१) वानरयूथम्—कपिवृन्दम्। तच्च—वानरयूथम्। अतिकठोरेति। अति-कठोरेण अत्युत्कटेन, वातसंस्पर्शेन वायुयोगेन, वेपमानं कम्पमानं, कलेवरं शरीरं यस्य तथोक्तम्। तुषारेति। तुषारवर्षवत्—तुहिननिःस्रव इव, उद्धतेन—उत्कटेन, प्रवर्षस्य—प्रबलवृष्टेः, घनधारानिपातेन—सान्द्राऽऽसारपतनेन, समाहृतं—सम्यक् ताडितम्। शान्ति—स्वास्थ्यम्।

(२) वह्निकणसदृशानि—स्फुलिङ्गतुल्यानि, वर्णसाम्यादिति भावः। अव-चित्य- एकाकीकृत्य, आयासं—परिश्रमम्।

(३) गुहा—पर्वतगह्वरम्, अकृत्रिमबिलमित्यर्थः। कन्दरः—दरी, पर्वता-कृत्रिमगुहेत्यर्थः। साटोपाः—सदर्पाः, साडम्बरा इत्यर्थः, सगर्जिता इति यावत्।

सूचीमुख एवं वानरयूथ की कथा

किसी पहाड़ के एक हिस्से में वानरों का एक झुण्ड रहता था। वह किसी हेमन्त ऋतु में अत्यन्त ठंडी हवा से काँपते हुए शरीर के कारण तथा हिम की वर्षा के समान अत्यन्त तीव्र मूसलाधार जल वृष्टि के कारण अत्यन्त पीड़ित होकर किसी प्रकार शान्ति नहीं पा रहा था। कुछ बन्दर आग की चिनगारी के समान (लाल लाल) घुँमचियों (गुञ्जाफलों) को एकत्रित करके आग जलाने की इच्छा से फूँकते हुए उसको चारों ओर से घेरे हुए बैठे थे। इसके पश्चात् उन वानरों के इस व्यर्थ के प्रयत्न को देखकर सूचीमुख नाम के एक पक्षी ने कहा—अरे! तुम सभी मूर्ख हो। यह आग की चिनगारियाँ नहीं हैं। यह तो गुञ्जा के फल हैं। इसलिए व्यर्थ क्यों परिश्रम करते हो? इसके द्वारा शीत से रक्षा न होगी। इसलिए कोई ऐसा वनप्रदेश, गुफा या पहाड़ की खोज करो जहाँ हवा

वानरस्तमुवाच—'भो मूर्ख, किं तावदनेन व्यापारेण? तद्गम्यताम्। उक्तं च—

महुर्विघ्नितकर्माणं द्यूतकारं पराजितम्।
नालापयेद्विवेकज्ञो यदीच्छेत्सिद्धिमात्मनः ॥ ४१८ ॥

तथा च—आखेटकं वृथाक्लेशं मूर्खं व्यसनसंस्थितम्।
आलापयति यो मूढः स गच्छति पराभवम् ॥ ४१९ ॥

सोऽपि तमनादृत्य भूयोऽपि वानराननवरतमाह—'भोः, भोः, किं वृथा क्लेशेन?' अथ यावदसौ न कथञ्चित्प्रलपन्विरमति, तावदेकेन वानरेण व्यर्थश्रमत्वात्कुपितेन पक्षाभ्यां गृहीत्वा शिलायामास्फालित उपरतश्च।

मुहुरिति। विवेकज्ञः प्राज्ञो जनः, यदि आत्मनः स्वस्य, सिद्धिं कल्याणम्, इच्छेत् अभिलषेत्, तदा मुहुः पुनः पुनः, विघ्नितकर्माणं विघ्नितं व्याहतं, कर्म येन तादृशं, कार्य्यव्याघातकमित्यर्थः, तथा द्यूतकारं, तथा पराजितञ्च जनं, न आलापयेत् न तैः आलापं कुर्यादित्यर्थः। अयं तु पक्षी विघ्नितकर्मेति भावः ॥ ४१८ ॥

आखेटकमिति। यः मूढः आखेटकं मृगयाशीलं, वृथाक्लेशम् अनर्थकपरिश्रमिणं, मूर्खम्, तथा व्यसनसंस्थितं कामजक्रोधजेषु द्यूतादिषु अष्टादशसु समाशक्तं जनम्, आलापयति तैरालापं कुर्य्यादित्यर्थः, सः पराभवं गच्छति ॥ ४१९ ॥

(१) तमनादृत्य—तस्य वाक्यं तिरस्कृत्य, अनवरतं—निरन्तरम्; क्लेशेन—

न लग सके। और भी घने बादलों की घटा छाई हुई दिखाई पड़ रही है। तब उनमें में एक बूढ़े वानर ने कहा—अरे! मूर्ख तुझे इस (उपदेश देने) से क्या मतलब? अतः यहाँ से चले जाओ। कहा भी गया है—

किसी कार्य में बार-बार असफल हो जाने वाले व्यक्ति तथा हारे हुए जुआड़ी से अपनी कुशल चाहने वाले बुद्धिमान् व्यक्ति को बार्तालाप नहीं करना चाहिए ॥ ४१८ ॥

और भी—जो शिकारी, व्यर्थ परिश्रम करने वाले, मूर्ख और किसी भी प्रकार के व्यसन में आसक्त व्यक्ति से बात चीत करता है वह मूर्ख बनता है और अपमानित होता है ॥ ४१९ ॥

वह भी उसका अनादर करके बार बार बानरों से यही कहता रहा कि इसे बेकार के कष्ट उठाने से क्या लाभ? इसके पश्चात् जब वह किसी प्रकार भी चुप नहीं हुआ तो बेकार के परिश्रम से क्रुद्ध एक वानर ने उसके पंखों को पकड़ कर

अतोऽहं ब्रवीमि —'नानाम्यं नमते दारु' इत्यादि। तथा च—

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये।
पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम् ॥ ४२० ॥

अन्यच्च—उपदेशो न दातव्यो यादृशे तादृशे जने।
पश्य वानरमूर्खेण सुगृही निर्गृहीकृतः ॥ ४२१ ॥

दमनक आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

१८ : चटकदम्पतिवानर-कथा

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे शमीवृक्षः। तस्य लम्बमानशिखायां कृतां-

---

परिश्रमेण। प्रलपन्—अविरतं भाषमाणः। आस्फालितः—आक्षिप्तः। उपरतः—मृतः।

उपदेश इति। भुजङ्गानां पयःपानं दुग्धपानं, केवलं विषवर्द्धनं विषमेव वर्द्धयति इत्यर्थः, हि तथा हि मूर्खाणाम् उपदेशः प्रकोपाय कोपवर्द्धनाय, भवतीति शेषः, शान्तये न प्रशमाय न, अतो मूर्खाः नोपदेष्टव्या इति भावः ॥ ४२० ॥

उपदेश इति। यादृशे यस्मिन् कस्मिन्नपि, जने, अत्र मुख्यदानाभावेन सम्प्रदानत्वाभावात् विषयाधिकरणे सप्तमी, उपदेशः न दातव्यः; पश्य अवलोकय, वानरमूर्खेण सुगृही उत्तमगृहस्थः, निगृहीकृतः गृहशून्यीकृतः ॥ ४२१ ॥

[१८]

(१) अस्ति, कस्मिंश्चिद् वनोद्देशे, शमीवृक्षः—सक्तुफलावृक्षः, 'शमी सक्तुफला

पत्थर की चट्टान पर पटक दिया जिससे वह मर गया। इसी लिए मैं कहता हूँ कि 'न झुकने वाली लकड़ी' इत्यदि।

और भी—मूर्खों को दिया गया उपदेश उनके लिए क्रोध बढ़ाने वाला होता है न कि उन्हें शान्ति देने वाला। जैसे साँप को दूध पिलाना उनके विष को बढ़ाने वाला ही होता है ॥ ४२० ॥

और भी—जिस किसी व्यक्ति को उपदेश नहीं देना चाहिए। देखो (उपदेश ही देने के कारण) एक मूर्ख बन्दर ने एक उत्तम गृहस्थ (घर बनाकर रहने वाले) पक्षी को गृहहीन बना दिया ॥ ४२१ ॥

दमनक ने कहा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

चटक दम्पती और वानर की कथा

किसी वनप्रदेश में एक शमी का वृक्ष था। उसकी लम्बी शाखा पर घोंसला

वासावरण्यचटकदम्पती वसतः स्म। अथ कदाचित्तयोः सुखसंस्थयोर्हेमन्तमेघो मन्दं मन्दं वर्षितुमारब्धः। अत्रान्तरे कश्चिच्छाखामृगो वातासारसमाहतः प्रोद्धूलितशरीरो दण्डवीणां वादयन्वेपमानस्तच्छमीमूलमासाद्योपविष्टः। अथ तं तादृशमवलोक्य चटका प्राह—'भो भद्र—

'हस्तपादसमायुक्तो दृश्यते पुरुषाकृतिः।
शीतेन खिद्यसे मूढ, कथं न कुरुषे गृहम्' ?॥ ४२२॥

एतच्छ्रुत्वा तां वानरः सकोपमाह—'अधमे कस्मान्न त्वं मौनव्रता भवसि? अहो, धाष्टर्यमस्याः। अद्य मामुपहसति—

'सूचीमुखी दुराचारा रण्ड पण्डितमानिनी।
नाशङ्कते प्रजल्पन्ती तत्किमेनां न हन्म्यहम्'॥ ४२३॥

शिवा' इत्यमरः। सुखसंस्थयोः—सुखेन निवसतोः। शाखामृगः—वानरः, वातासारसमाहतः—वातसंवलितवृष्टिधाराताडितः। प्रोद्धूषितशरीरः—वृष्टिजलसिक्तदेहः। दण्डवीणां—दण्डं एव वीणा तां, दण्डेन वीणां कृतञ्चित् प्राप्तामिति वा। वेपमानः—कम्पमानः। शमीमूलं—शम्याः अग्निगर्भतरुविशेषस्य, सक्तुफलेत्यपरपर्यायिकस्य वृक्षभेदस्य "शमी सक्तुफला शिवा" इत्यमरः, मूलं—पाददेशः तत्।

हस्तेति। रे मूढ! हस्तपादेन समायुक्तः करचरणविशिष्टः, पुरुषाकृतिः नराकृतिः, दृश्यसे, अथ च शीतेन खिद्यसे क्लिश्यसे, कथं गृहं न कुरुषे? ।४२२॥

(१) मौनव्रता भवसि—तूष्णीं न तिष्ठसीत्यर्थः। धाष्टर्यं—चापल्यं; प्रागल्भ्यम् इत्यर्थः।

सूचीति। इयं सूचीमुखी सूचीव मुखं यस्याः सा, दुराचारा दुर्वृत्ता, रण्डा धूर्ता

बनाकर चटक (गौरा) पक्षी का एक जोड़ा रहता था। एक समय वे आनन्द के साथ (अपने घोंसले में) बैठे हुए थे कि जाड़े की ऋतु का बादल धीरे धीरे बरसने लगा। इसी बीच वायु के झोंकों से युक्त वर्षा से युक्त पीड़ित कोई बन्दर कांपते हुए शरीर से दांतों को कटकटाता हुआ उसी शमी वृक्ष के नीचे आकर बैठ गया। तब उसे ऐसी दशा में देखकर चटका ने कहा—हे भद्र,

तुम तो हाथ पैर से युक्त पुरुष जैसी आकृति वाले दिखाई पड़ते हो फिर शीत में क्यों कष्ट उठा रहे हो? अरे मूर्ख! अपने रहने के लिए घर क्यों नहीं बना लेते हो? ॥ ४२२॥

यह सुनकर उस चटका से बन्दर ने क्रोध के साथ कहा—नीच! चुप क्यों नहीं रहती है? इसकी ढिठाई तो देखो! आज यह भी मेरी हँसी उड़ा रही है।

सूई जैसी मुख वाली (चुभने वाली बात बोलने वाली) दुराचारिणी धूर्त तथा

एवं सञ्चिन्त्य स आह—'मुग्धे ! किं ममोपरि चिन्तया तव प्रयोजनम् ?' उक्तं च—

वाच्यं श्रद्धासमेतस्य पृच्छतश्च विशेषतः।
प्रोक्तं श्रद्धाविहीनस्य अरण्यरुदितोपमम् ॥ ४२४ ॥

तत्किं बहुना तावत्।[1] कुलायस्थितया तया पुनरप्यभिहितः। स तावत्तां शमीमारुह्य तस्याः कुलायं शतधा खण्डशोऽकरोत्। अतोऽहं ब्रवीमि—'उपदेशो न दातव्यः' इति।

तन्मूर्ख, शिक्षापितोऽपि न शिक्षितस्त्वम्। अथवा न ते दोषोऽस्ति, यतः

विधवा वा, "रांड़" इति भाषायां व्यवहृता इति भावः, पण्डितमानिनी पण्डितमिव आत्मानं मन्यते या सा, "आत्ममाने खश्च" (पा०सू० ३-२-८३) इति सूत्रेण मनधातोर्णिनिः, सती प्रजल्पन्ती वदन्ती, मामिति शेषः, न आशङ्कते न बिभेति, तत् तस्मात्, एनां चटकां, किं कथम्, अहं न हन्मि न नाशयामि ? ॥ ४२३ ॥

वाच्यमिति। श्रद्धासमेतस्य श्रद्धान्वितस्य, विशेषतः विशेषेण, पृच्छतश्च जिज्ञासमानस्य च, जनस्य इति शेषः, सम्बन्धे वाच्यं वक्तव्यं, श्रद्धाविहीनस्य अश्रद्दधानस्य, समीपे प्रोक्तं वचनम्, अरण्यरुदितोपमम् अरण्यरोदनतुल्यम्, निष्फलत्वादिति भावः, अश्रद्दधाने अजिज्ञासमाने च मयि ते वचनं निष्फलमित्याशयः ॥ ४२४ ॥

(१) कुलायस्थितया—नीडवासिन्या।

(२) शिक्षापितः—शिक्षावान् कृतः। शिक्षावत् शब्दात् तत्करोत्यर्थे णिचि

अपने को पण्डिता मानने वाली यह इस प्रकार बड़बड़ाती हुई यदि कुछ भी भयभीत नहीं हो रही है तो मैं इसे क्यों न मार डालूँ ? ॥ ४२३ ॥

इस प्रकार सोचकर उसने कहा—अरी भोली ! तुझे मेरी चिन्ता से क्या मतलब है ? कहा भी गया है—

यदि कोई कुछ पूँछे, और वह भी विशेष रूप में श्रद्धा के साथ पूँछे तो उससे बात करनी चाहिए किन्तु श्रद्धा-हीन व्यक्ति से बातें करना तो जंगल में रोने के समान (अर्थात् व्यर्थ, जिसको सुनने वाला कोई न हो) है ॥ ४२४ ॥

सो, अधिक कहने से क्या लाभ ? घोंसले में बैठी हुई चटका ने ज्योंही उससे फिर (वही बात) कहा त्योंही उस बन्दर ने उस शमी वृक्ष पर चढ़कर उसके घोंसले को सौ टुकड़े कर डाले। इसीलिए मैं कहता हूँ कि 'उपदेश नहीं देना चाहिए'—इत्यादि।

अतः हे मूर्ख ! शिक्षा देने पर भी तू शिक्षित न हो सका अर्थात् सिखाने पर

१. 'तत् अनुभव ते धार्ष्टयस्य फलम्' इत्युक्त्वा यावत्—इति वा पाठः।

साधोः शिक्षा गुणाय सम्पद्यते, नासाधोः। उक्तं च—

किं करोत्येव पाण्डित्यमस्थाने विनियोजितम् ?।
अन्धकारप्रतिच्छन्ने घटे दीप इवाहितः ॥ ४२५ ॥

तद्व्यर्थपाण्डित्यमाश्रित्य मम वचनमशृण्वन्नात्मनः शान्तिमपि वेत्सि। तन्नूनमपजातस्त्वम्। उक्तं च—

जातः पुत्रोऽनुजातश्च अतिजातस्तथैव च।
अपजातश्च लोकेऽस्मिन्मन्तव्यः शास्त्रवेदिभिः ॥ ४२६ ॥
मातृतुल्यगुणो जातस्त्वनुजातः पितुः समः।
अतिजातोऽधिकस्तस्मादपजातोऽधमाधमः ॥ ४२७ ॥

ईडुवद्भावात् मतुपो लुक्, ततः पुगागमः।

किमिति। अस्थाने अपात्रे, विनियोजितं समाहितं, पाण्डित्यं सदुपदेशः; अन्धकारप्रतिच्छन्ने तिमिरपूर्णे, घटे घटस्याभ्यन्तरे इत्यर्थः, आहितः अर्पितः, दीप इव किं करोत्येव ? प्रतिरुद्धप्रकाशोऽसौ केवलं तद्बाह्याभ्यन्तरस्थितं वस्तु प्रकाशयितुमसमर्थः इति न, अपि तु स्वयं सपदि विलयं गच्छत्येवेति भावः ॥ ४२५ ॥

(१) व्यर्थपाण्डित्यम्—अहं जानीति मिथ्याऽभिमानम्। अपजातः—अधमजातः।

जात इति। अस्मिन् लोके शास्त्रवेदिभिः शास्त्रज्ञैः, जातः, अनुजातः, अतिजातः, तथा अपजातः इति चतुर्विधः पुत्रः मन्तव्यः ॥ ४२६ ॥

मातृतुल्येति। मातुस्तुल्यः गुणो यस्य तथाविधः, पुत्रः, जातः जातसंज्ञकः;

भी न सीख सका। अथवा इसमें तुम्हारा दोष नहीं है क्योंकि शिक्षा सज्जन के लिए गुणवती होती है, दुष्ट स्वभाव वालों के लिए नहीं होती। कहा भी गया है—

अनुचित पात्र में उपदिष्ट सदुपदेश क्या कर सकता है ? जिस प्रकार अन्धकार से पूर्ण घड़े के ऊपर रखा हुआ दीपक घड़े के भीतर क्या प्रकाश कर सकता है ? ॥ ४२५ ॥

सो व्यर्थ पाण्डित्य ('मैं विद्वान् हूँ' इस प्रकार के झूठे अहङ्कार) का अवलम्बन कर तुमने मेरा वचन नहीं सुना और जो मन की शान्ति थी उसे भी नहीं समझ पाया। अतः निश्चय ही तुम अपजात (अत्यन्त अधम) हो। कहा भी गया है—

इस संसार में शास्त्र के वेत्ताओं को, (१) जात (२) अनुजात (३) अतिजात और (४) अपजात नाम वाले चार प्रकार के पुत्रों को मानना चाहिए ॥ ४२६ ॥

इन चारों की परिभाषाएं इस प्रकार हैं— माता के समान गुण वाला पुत्र

अप्यात्मनो विनाशं गणयति न खलः परव्यसनहृष्टः ।
प्रायो मस्तकनाशे समरमुखे नृत्यति कबन्धः ॥ ४२८ ॥

अहो, साध्विदमुच्यते—

'धर्मबुद्धिः कुबुद्धिश्च द्वावेतौ विदितौ मम ।
पुत्रेण व्यर्थपाण्डित्यात्पिता धूमेन घातितः' ॥ ४२९ ॥

दमनक आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

पितुः समः पितृतुल्यगुणः, पुत्रः, अनुजातः, तस्मात् पितुः, अधिकः अधिकगुणः, पुत्रः, अतिजातः; अधमाधमः अत्यधमः, पुत्रः अपजातः, उच्यते इति शेषः ॥ ४२७ ॥

अपीति । खलः दुर्जनः, परव्यसने परेषां स्वेतरेषां, व्यसने विपदि, हृष्टः आनन्दितः सन्, आत्मनः स्वस्य, विनाशमपि न गणयति न पश्यतीत्यर्थः; कबन्धः छिन्नशिराः कायः, मस्तकस्य नाशे सत्यपि, स्वविनाशमगणयित्वाऽपीति भावः; समरमुखे रणशिरसि, युद्धक्षेत्रे इत्यर्थः, प्रायः बाहुल्येन, नृत्यति; खलस्तु कबन्धवत् स्वव्यसनानभिज्ञः जड इति भावः । दृष्टान्तालङ्कारः । आर्य्या वृत्तम् ॥ ४२८ ॥

धर्मबुद्धिरिति । धर्मबुद्धिः कुबुद्धिश्च एतौ द्वौ मम विदितौ ज्ञातौ, पुत्रेण कुबुद्धिनेति भावः, व्यर्थपाण्डित्यात्, विफलचातुर्य्यात्, पिता, आत्मन इति शेषः; धूमेन सधूमाग्निना इत्यर्थः, घातितः विनाशितः ॥ ४२९ ॥

'जात' होता है, पिता के समान गुण वाला 'अनुजात', पिता से अधिक गुण वाला पुत्र 'अतिजात' और अत्यन्त अधम पुत्र 'अपजात' होता है ॥ ४२७ ॥

दुष्ट मनुष्य दूसरों की पीड़ा से इतना प्रसन्न होता है कि अपने विनाश का भी विचार नहीं करता । जैसे प्रायः यह देखने में आता है कि कबन्ध (मस्तक कटा हुआ शरीर अर्थात् धड़) मस्तक के कट जाने पर भी युद्ध भूमि में नाचता रहता है ॥ ४२८ ॥

अहो ! यह ठीक ही कहा गया है—

मैंने धर्मबुद्धि और कुबुद्धि इन दोनों को समझ लिया है । (कुबुद्धि) पुत्र ने अपनी व्यर्थ पण्डिताई के फेर में धुँए से अपने पिता को मार डाला ॥ ४२९ ॥

दमनक ने कहा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

१९ : धर्मबुद्धिपापबुद्धि–कथा

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने धर्मबुद्धिः पापबुद्धिश्च द्वे मित्रे प्रतिवसतः स्मः। अथ कदाचित्पापबुद्धिना चिन्तितम्—'अहं तावत्मूर्खो दारिद्रयोपेतश्च। तदेनं धर्मबुद्धिमादाय देशान्तरं गत्वास्याश्रयेणार्थोपार्जनं कृत्वैनमपि वञ्चयित्वा सुखीभवामि।' अथान्यस्मिन्नहनि पापबुद्धिः धर्मबुद्धिं प्राह—'भो मित्र, वार्धकभावे किं त्वमात्मविचेष्टितं स्मरिष्यसि? देशान्तरमदृष्ट्वा कां शिशुजनस्य वार्तां कथयिष्यसि? उक्तं च—

देशान्तरेषु बहुविधभाषावेशादि येन न ज्ञातम्।
भ्रमता धरणीपीठे तस्य फलं जन्मनो व्यर्थम्॥ ४३०॥

तथा च—विद्यां वित्तं शिल्पं तावन्नाप्नोति मानवः सम्यक्।
यावद् व्रजति न भूमौ देशाद् देशान्तरं हृष्टः॥ ४३१॥

---

[१९]

(१) अधिष्ठाने—पुरे, नगरे इति यावत्, "अधिष्ठानं चक्रपुरप्रभावाध्यासनेष्वपि" इत्यमरः। दारिद्रयोपेतः—दारिद्रयुक्तः, निर्धन इत्यर्थः। अस्याश्रयेण—अस्य: प्रभावेन। वार्द्धकेति। वार्धकभावे—वृद्धावस्थायां, किम् आत्मवेष्टितं—स्वकार्य्यं, स्मरिष्यसि—स्मृतिविषयमानेष्यसि? इत्यर्थः।

देशान्तरेष्विति। येन जनेन, देशान्तरेषु भ्रमता विचरता सता, बहुविधभाषावेशादि न ज्ञातं; तस्य धरणीपीठे भूतले, जन्मनः फलं व्यर्थम्; अविज्ञातविदेशवृत्तान्तस्य कूपमण्डूकवत् वृथैव जन्म इति भावः। आर्य्या वृत्तम्॥ ४३०॥

विद्यामिति। भूमौ पृथिव्यां, मानवः हृष्टः सन्; यावत् देशात् देशान्तरं न व्रजति, विद्यां, वित्तं धनं, शिल्पं वैज्ञानिकव्यापारमित्यर्थः "विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः"

धर्मबुद्धि एवं पापबुद्धि की कथा

किसी स्थान में धर्मबुद्धि और पापबुद्धि नाम के दो मित्र निवास करते थे। एक बार पापबुद्धि ने विचार किया कि एक तो मैं मूर्ख हूँ दूसरे दरिद्र भी हूँ। इसलिए इस धर्मबुद्धि को लेकर किसी दूसरे देश में जाकर इसके सहारे धन पैदा करूँ और फिर इसको धोखा देकर सुखी हो जाऊँ। इसके बाद किसी दूसरे दिन पापबुद्धि ने धर्मबुद्धि से कहा—'मित्र! तुम बुढ़ापे में अपने किए हुए कार्य का स्मरण करोगे? दूसरे देश को देखे बिना बच्चों से कौन सी बातें बताओगे। कहा भी गया है—

जिसने दूसरे देशों में घूम घूमकर विभिन्न प्रकार की भाषा तथा वेशभूषा

अथ तस्य तद्वचनमाकर्ण्य प्रहृष्टमनास्तेनैव सह गुरुजनानुज्ञातः शुभेऽहनि देशान्तरं प्रस्थितः। तत्र च धर्मबुद्धिप्रभावेण भ्रमता पापबुद्धिना प्रभूततरं वित्तमासादितम्। ततश्च द्वावपि तौ प्रभूतोपार्जितद्रव्यौ प्रहृष्टौ स्वगृहं प्रत्यौत्सुक्येन निवृत्तौ। उक्तं च—

प्राप्तविद्यार्थशिल्पानां देशान्तरनिवासिनाम्।
क्रोशमात्रोऽपि भूभागः शतयोजनवद्भवेत्॥ ४३२॥

अथ स्वस्थानसमीपवर्तिना पापबुद्धिना धर्मबुद्धिरभिहितः—'भद्र,

इत्यमरोक्तेः तावत्, सम्यक् सुष्ठु, न आप्नोति न लभते। आर्या वृत्तम्॥ ४३१॥

प्राप्तेति। प्राप्तानि विद्यार्थशिल्पानि यैः तथाभूतानां, लब्धविद्यानाम् उपार्जितधनानां, शिक्षितशिल्पकौशलानाञ्चेत्यर्थः, देशान्तरनिवासिनाम् अन्यदेशप्रोषितानां, जनानामिति शेषः, क्रोशमात्रोऽपि क्रोशपरिमितोऽपि, प्रमाणे मात्रच् प्रत्ययः, भूभागः शतयोजनवत् चतुःशतीक्रोशमित इव, अतिदूरवर्त्तीव इत्यर्थः, भवेत्। यदर्थं जना देशान्तरं गच्छन्ति, यावत् तदधिगमो न स्यात्, तावत् स्वदेशं प्रति निरुत्सुकाः तिष्ठन्ति; कृतकार्य्यास्तु स्वदेशं प्रति सातिशयसमुत्सुकतया मुहूर्त्तस्यापि विलम्बस्यासहनीयत्वात् अल्पमात्रमपि पन्थानं बहुदूरमिव मन्यन्ते इति भावः॥ ४३२॥

आदि का ज्ञान प्राप्त नहीं किया, उसका इस पृथ्वी पर जन्म लेना ही निष्फल है॥ ४३०॥

और भी—कोई भी मनुष्य इस पृथ्वी तल (संसार) पर विद्या, धन और शिल्प (कारीगरी) को जब तक अच्छी तरह नहीं प्राप्त कर सकता है जब तक कि वह इस पृथ्वी पर विभिन्न देशों में जाकर प्रसन्नता के साथ भ्रमण नहीं करता है॥ ४३१॥

इसके पश्चात् उसकी बात सुनकर अत्यन्त प्रसन्न मन से धर्मबुद्धि के साथ उसने बड़ों की आज्ञा लेकर एक शुभ मुहूर्त में दूसरे के लिए प्रस्थान किया। वहाँ इधर उधर घूमते हुए पापबुद्धि ने धर्मबुद्धि के प्रभाव से बहुत अधिक धन प्राप्त किया। फिर बहुत अधिक धनोपार्जन से प्रसन्न होकर वे दोनों बड़ी उत्सुकता के साथ अपने घर को लौट पड़े। कहा भी गया है—

विदेश में रहकर विद्या, धन, तथा कारीगरी को उपार्जित करने वालों के रास्ते की एक कोश भूमि भी सौ योजन के समान प्रतीत होने लगती है॥ ४३२॥

इसके पश्चात् अपने घर के पास पहुँच कर पापबुद्धि ने धर्मबुद्धि से कहा—

न सर्वमेतद्धनं गृहं प्रति नेतुं युज्यते। यतः कुटुम्बिनो बान्धवाश्च प्रार्थयिष्यन्ते। तदत्रैव वनगहने क्वापि भूमौ निक्षिप्य किञ्चिन्मात्रमादाय गृहं प्रविशावः। भूयोऽपि प्रयोजने सञ्जाते तन्मात्रं समेत्यास्मात्स्थानान्नेष्यावः। उक्तं च—

न वित्तं दर्शयेत्प्राज्ञः कस्यचित्स्वल्पमप्यहो।
मुनेरपि यतस्तस्य दर्शनाच्चलते मनः॥ ४३३॥

तथा च—यथामिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि।
आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान्॥ ४३४॥

तदाकर्ण्य धर्मबुद्धिराह—'भद्र, एवं क्रियताम्। तथाऽनुष्ठिते द्वावपि

(१) कुटुम्बिनः—पोष्यगृहजनाः। बान्धवाः—ज्ञातयः, सुहृदो वा।

(२) तन्मात्रं—प्रयोजनोपयुक्तम् इत्यर्थः।

नेति। प्राज्ञः पण्डितः, प्रज्ञा विद्यतेऽस्य, इति प्रज्ञादित्वात् अण्प्रत्ययः, जन इति शेषः, स्वल्पमपि वित्तं धनं, कस्यचित् न दर्शयेत्, अहो! आश्चर्यमेतत्, यतः तस्य वित्तस्य, दर्शनात् मुनेरपि विषयानिःस्पृहस्यापि इत्यर्थः, मनः चलते; आत्मनेपदमत्र चिन्त्यम्, सलालसं भवतीति भावः॥ ४३३॥

यथेति। यथा मत्स्यैः मीनैः, जले सलिले, श्वापदैः हिंस्रैः, भुवि पृथिव्यां; स्थले इति यावत्, पक्षिभिश्च विहगैश्च, आकाशे अन्तरिक्षे स्थितमिति शेषः; आमिषं भोग्यवस्तु, "आमिषं पुन्नपुंसकम्। भोग्यवस्तुनि सम्भोगे—" इति मेदिनी, भक्ष्यते, तथा सर्वत्र सर्वस्मिन् देशे, वित्तवान् धनवान् लोकः, भक्ष्यते, जनैरिति शेषः; सर्व एव धनवतो धनं काङ्क्षतीति भावः॥ ४३४॥

भद्र! यह सब धन घर ले चलना उचित नहीं है। क्योंकि परिवार तथा जाति-बिरादरी के लोग उसे माँगने लगेंगे। इसलिए इसी घने जंगल में कहीं भूमि में गाड़कर थोड़ा सा ही साथ लेकर घर चलें। फिर काम पड़ने पर जितने की आवश्यकता होगी उतना आकर ले लेंगे। कहा भी गया है—

बुद्धिमान् व्यक्ति को अपना बहुत थोड़ा सा धन भी किसी को नहीं दिखलाना चाहिए क्योंकि उसे देखकर मुनियों का मन भी चंचल हो जाता है अर्थात् उस धन को लेने के लिए लालायित हो उठता है॥ ४३३॥

और भी—जैसे मांस जल में मछलियों द्वारा, पृथ्वी पर हिंसक जानवरों द्वारा तथा आकाश में पक्षियों द्वारा खा लिया जाता है उसी प्रकार धनी व्यक्ति भी सब जगह खाया (लूटा) जाता है॥ ४३४॥

यह सुनकर धर्मबुद्धि ने कहा—भद्र, ऐसा ही करो। ऐसा कर

तौ स्वगृहं गत्वा सुखेन संस्थितवन्तौ ।

अथान्यस्मिन्नहनि पापबुद्धिर्निशीथेऽटव्यां गत्वा तत्सर्वं वित्तं समादाय गर्तं पूरयित्वा स्वभवनं जगाम । अथान्येद्युः धर्मबुद्धिं समभ्येत्य प्रोवाच—'सखे, बहुकुटुम्बा वयं वित्ताभावात्सीदामः । तद् गत्वा तत्र स्थाने किञ्चिन्मात्रं धनमानयावः ।' सोऽब्रवीत्—'भद्र, एवं क्रियताम्' । अथ द्वावपि गत्वा तत्स्थानं यावत्खनतस्तावद्रिक्तं भाण्डं दृष्टवन्तौ । अत्रान्तरे पापबुद्धिः शिरस्ताडयन् प्रोवाच—'भो धर्मबुद्धे ! त्वया हृतमेतद्धनं, नान्येन । यतो भूयोऽपि गर्तापूरणं कृतम् । तत्प्रयच्छ मे तस्यार्धम् । अन्यथाऽहं राजकुले निवेदयिष्यामि ।' स आह—'भो दुरात्मन्, मैवं वद । धर्मबुद्धिः खल्वहम् । नैनच्चौरकर्म करोमि । उक्तं च—

मातृवत्परदाराणि परद्रव्याणि लोष्टवत् ।
आत्मवत्सर्वभूतानि वीक्षन्ते धर्मबुद्धयः' ॥ ४३५ ॥

---

(१) निशीथे—अर्द्धरात्रे । अटव्यां—वने ।

(२) बहुकुटुम्बाः—अनेकपरिजनाः । सीदामः—क्लेशं प्राप्नुमः ।

मातृवदिति । धर्मबुद्धयः धर्मे पुण्यकर्मणि, बुद्धिः मतिर्येषां तथोक्ताः, धार्मिका इत्यर्थः, परदाराणि परकलत्राणि, दारशब्दस्य पुंस्त्वेऽपि क्लीवलिङ्गत्वं

(धन को भूमि में गाड़) देने पर वे दोनों अपने-अपने घर जाकर सुख-पूर्वक रहने लगे ।

इसके पश्चात् किसी दूसरे दिन पापबुद्धि ने आधी रात के समय जंगल में जाकर सारा धन ले लिया और गड्ढे को भरकर अपने घर लौट आया । फिर दूसरे दिन धर्मबुद्धि के पास जाकर कहा—"मित्र, मैं बहुत बड़े परिवार वाला हूँ । और धन के अभाव में कष्ट पा रहा हूँ । उस स्थान पर चलकर थोड़ा सा धन ले आवें ।" उसने कहा—'भद्र ऐसा ही करो' । इसके बाद दोनों ने वहाँ जाकर जब उस स्थान को खोदा तो बर्तन को खाली देखा । इस बीच पापबुद्धि ने सिर पीटते हुए कहा—"अरे धर्मबुद्धि, तुमने इस धन को चुराया है न कि किसी दूसरे ने । क्योंकि (धन लेने के बाद भी) तुमने इस गड्ढे को भर दिया है (चोर लेता तो गड्ढा नहीं भरता) । इसलिए मुझे उसका आधा दे दो । नहीं तो मैं राजदरबार में जाकर निवेदन करूँगा ।" उसने कहा—अरे दुष्ट, ऐसा मत कहो । मैं धर्मबुद्धि हूँ । मैं यह चोरी का काम नहीं करता हूँ । कहा भी गया है—

जो लोग धर्मबुद्धि वाले होते हैं वे परस्त्री को माँ के समान, पराये धन को मिट्टी के ढेले के समान तथा सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के समान

एवं द्वावपि तौ विवदमानौ धर्माधिकारिणं गतौ ? प्रोचतुश्च परस्परं दूषयन्तौ । अथ धर्माधिकरणाधिष्ठितपुरुषैर्दिव्यार्थे यावन्नियोजितौ तावत् पापबुद्धिराह—'अहो, न सम्यग्दृष्टोऽयं न्यायः ! उक्तं च—

विवादेऽन्विष्यते पत्रं तदभावेऽपि साक्षिणः ।
साक्ष्यभावात्ततो दिव्यं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ४३६ ॥

तदत्र विषये मम वृक्षदेवताः साक्षिभूतास्तिष्ठन्ति । तावच्यावयोरेकतरं चौरं साधुं वा करिष्यन्ति ।' अथ तैः सर्वैरभिहितम्—'भोः, युक्तमुक्तं भवता । उक्तं च—

विवक्षावशात् । मातृवत् जननीरिव, परद्रव्याणि लोष्ठवत् भूपतितमृत्खण्डानीव, तथा सर्वभूतानि सर्वान् प्राणिनः, आत्मवत् आत्मन इव वीक्षन्ते पश्यन्ति; धार्मिकाः सर्वत्रैव निस्पृहाः वर्त्तन्ते इति भावः ॥ ४३५ ॥

(१) विवदमानौ—कलहायमानौ । धर्माधिकारिणं—विचारकम् । दिव्यार्थं—शपथकरणार्थम् । नियोजितौ—आदिष्टौ इत्यर्थः । न्यायः,—विचारः, युक्तिरिति यावत् । दृष्टः, युष्माभिरिति शेषः ।

विवादे इति । विवादे व्यवहारकर्मणि, प्रथमं पत्रं लेख्यमित्यर्थः, अन्विष्यते अनुसन्धीयते, द्रष्टुं प्रार्थ्यते इत्यर्थः, धर्माधिकरणिकैरिति शेषः, तदभावे तस्य पत्रस्य अभावे, साक्षिणः, अन्विष्यन्ते इति शेषः, ततः साक्षिणाम् अभावात् अभावे सति इत्यर्थः, मनीषिणः विद्वांसः, दिव्यं प्रवदन्ति प्रमाणत्वेन कथयन्ति; अतः प्रथममेव दिव्यानुसन्धानमतीवानुचितमिति भावः ॥ ४३६ ॥

(२) वृक्षदेवताः,—वनदेवताः । साक्षीभूताः—प्रत्यक्षद्रष्टयाः ।

देखते हैं ॥ ४३५ ॥

इस प्रकार दोनों झगड़ते हुए धर्माधिकारी के पास पहुँचकर एक दूसरे को दोषी ठहराते हुए उनसे (अपनी अपनी बात) कहने लगे । जब न्यायालय के न्यायाधीशों ने (उन दोनों को) शपथ लेने के लिए कहा तो पापबुद्धि ने कहा—यह न्याय तो पूर्णतः उचित नहीं प्रतीत होता है । कहा भी गया है—

राजनीतिक विद्वानों का कहना है कि किसी विषय में विवाद उत्पन्न हो जाने पर पहले लेख-पत्र की छान-बीन की जाती है, उसके न मिलने पर साक्षी (गवाह) खोजे जाते है और जब गवाह भी नहीं मिलते तब शपथ कराया जाता है ॥ ४३६ ॥

इस विषय में वृक्ष देवता हमारे गवाह हैं । वे ही हम दोनों में से किसी एक को चोर या साधु सिद्ध करेंगे । तब उन सभी राजपुरुषों ने कहा—आप ने

अन्त्यजोऽपि यदा साक्षी विवादे सम्प्रजायते ।
न तत्र विद्यते दिव्यं किं पुनर्यत्र देवताः ॥ ४३७ ॥

तदस्माकमप्यत्र विषये महत्कौतूहलं वर्त्तते । प्रत्यूषसमये युवाभ्यामप्यस्माभिः सह तत्र वनोद्देशे गन्तव्यम्' इति । एतस्मिन्नन्तरे पापबुद्धिः स्वगृहं गत्वा स्वजनकमुवाच—'तात, प्रभूतोऽयं मयार्थो धर्मबुद्धेश्चोरितः । स च तव वचनेन परिणतिं गच्छति । अन्यथाऽस्माकं प्राणैः सह यास्यति' । स आह—वत्स, द्रुतं वद, येन प्रोच्य तद्द्रव्यं स्थिरतां नयामि ।' पापबुद्धिराह—'तात ! अस्ति तत्प्रदेशे महाशमी । तस्यां महत्कोटरमस्ति । तत्र त्वं साम्प्रतमेव प्रविश । ततः प्रभाते यदाहं सत्यश्रावणं करोमि, तदा त्वया वाच्यं यद् 'धर्मबुद्धिश्चौरः' इति । तथानुष्ठिते प्रत्यूषे पापबुद्धिः

अन्त्यज इति । विवादे अन्त्यजोऽपि नीचजातीयोऽपि, यदा यदि इत्यर्थः, साक्षी सम्प्रजायते लभ्यो भवतीत्यर्थः, तत्र दिव्यं, प्रमाणमिति शेषः, न विद्यते, यत्र पुनः देवताः, साक्षिण्य इति शेषः, तत्र किम् ? वक्तव्यमिति भावः ॥ ४३७ ॥

(१) परिणतिं—परिपाकम् । अस्माकं सम्यगायत्तमित्यर्थः ।

(२) येन—त्वद्वचनानुसारेण इत्यर्थः । प्रोच्य—कथयित्वा, साक्ष्यं दत्त्वेति भावः । स्थिरतां—स्थायित्वम् । नयामि—प्रापयामि; यथा तद्धनम् अस्मद्गृहात् न बहिर्याति, तथा करोमीति भावः ।

(३) सत्यश्रावणं करोमि—सत्यं श्रावयामि, राजपुरुषेभ्यः सत्यवाक्यं

बिल्कुल उचित ही कहा है । कहा भी गया है—

यदि किसी विवाद (मुकदमें) में अन्त्यज (अछूत जाति का) भी गवाह मिल जाता है तो वहाँ शपथ की आवश्यकता नहीं होती । फिर जहाँ देवता (गवाह) हों तो वहाँ का कहना ही क्या है ? ॥ ४३७ ॥

इस लिए हम लोगों को भी इस विषय में बड़ी उत्सुकता है । प्रातः काल तुम दोनों हम लोगों के साथ वहाँ जंगल में चलना । इस बीच पाप बुद्धि ने अपने घर जाकर अपने पिता से कहा—तात् ! मैंने यह बहुत अधिक धन धर्मबुद्धि से चुरा लिया हैं । तुम्हारे कहने से वह धन मुझे बच जायगा अर्थात् मेरे पास रह जायगा अन्यथा मेरे प्राणों के साथ चला जायगा ।" उसने कहा—"पुत्र, शीघ्र ही बताओ । जिसे कहकर मैं उस धन को तुम्हारे पास स्थिर कर दूँ ।" पापबुद्धि ने कहा—'हे तात; उस स्थान पर एक बहुत बड़ा शमी का पेड़ है । उसमें एक बहुत बड़ा खोखला है । तुम इसी समय उसमें जाकर घुस जाओ । फिर प्रातःकाल जब मैं सत्य कहने को कहूँगा तो तुम कहना कि धर्मबुद्धि चोर है । ऐसा हो जाने पर

स्नात्वा धौतप्रावरणो धर्मबुद्धिपुरःसरो धर्माधिकरणिकैः सह तां शमीमभ्येत्य तारस्वरेण प्रोवाच—

'आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च
द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये
धर्मो हि जानाति नरस्य वृत्तम् ॥ ४३८ ॥

भगवति वनदेवते, आवयोर्मध्ये यश्चौरस्तं कथय।' अथ पापबुद्धि-पिता शमीकोटरस्थः प्रोवाच—'भो, शृणुत शृणुत। धर्मबुद्धिना अपहृत-मेतद्धनम्।' तदाकर्ण्य सर्वे ते राजपुरुषा विस्मयोत्फुल्ललोचना यावद्धर्म-बुद्धेर्वित्तहरणोचितं निग्रहं शास्त्रदृष्टयाऽवलोकयन्ति तावद्धर्मबुद्धिना तच्छमीकोटरं बह्निभोज्यद्रव्यैः परिवेष्टय वह्निना सन्दीपितम्।

श्रावयितुं वनदेवतां प्रार्थयामि इत्यर्थः, भविष्यदर्थे लट्। धौतप्रावरणः, शुभ्रवसनः। तारस्वरेण—उच्चैःस्वरेण।

आदित्येति। आदित्यचन्द्रौ सूर्याचन्द्रमसौ, अनिलो वायुः अनलः अग्निः, द्यौः अन्तरिक्षं, भूमिः पृथिवी, आपः जल, अप्शब्दः नित्यबहुवचनान्तः, तथा च—"आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि" इत्यमरः, हृदयं मनः, यमः अन्तकः, अहः दिनं, रात्रिश्च, उभे द्वे, सन्ध्ये प्रातःसायंरूपे, तथा धर्मः, नरस्य मानवस्य, वृत्तं चरित्रं, जानाति हि जानात्येव। उपजातिः वृत्तम् ॥ ४३८ ॥

(१) बह्निभोज्यद्रव्यैः—इन्धनैः, तृणकाष्ठादिभिः द्रव्यैरित्यर्थः।

(२) स्फुटितेक्षणः—स्फुटिते—दग्धत्वात् बहिर्निर्गते, ईक्षणे—अक्षितारके

प्रातःकाल स्नान करके पापबुद्धि ने धर्मबुद्धि को आगे करके धर्माधिकारियों के साथ उस शमी वृक्ष के पास पहुँच कर उच्च स्वर से कहा—

सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, आकाश, भूमि, जल, हृदय, यम, दिन, रात और दोनों सन्ध्यायें तथा धर्म मनुष्य के चरित्र को को जानते हैं ॥ ४३८ ॥

हे भगवती वनदेवते! हम दोनों में जो चोर हो, उसे कहो। इसके पश्चात् शमी वृक्ष के खोखले में बैठे हुए पापबुद्धि के पिता ने कहा—तुम सभी लोग सुनो। इस धन को धर्मबुद्धि ने चुराया है। यह सुनकर सभी राजपुरुषों की आँखे आश्चर्य में खुली की खुली रह गई। अभी वे सब धन चुराने के बदले में धर्मबुद्धि के लिए शास्त्रानुसार उचित दण्ड का विचार कर ही रहे थे कि धर्मबुद्धि ने उस शमी वृक्ष के खोखले में घास फूस लकड़ी आदि डालकर आग लगा दी।

अथ ज्वलति तस्मिन् शमीकोटरेऽर्धदग्धशरीरः स्फुटितेक्षणः करुणं परिदेवयन्पापबुद्धिपिता निश्चक्राम। ततश्च तैः सर्वैः पृष्टः—'भोः किमिदम् ?' इत्युक्ते[1] 'इदं सर्वं कुकृत्यं पापबुद्धेः कारणाद् जातम्' इत्युक्त्वा मृतः। ततस्ते राजपुरुषाः पापबुद्धिं शमीशाखायां प्रतिलम्ब्य धर्मबुद्धिं प्रशंस्येदमूचुः—'अहो, साध्विदमुच्यते—

उपायं चिन्तयेत् प्राज्ञस्तथापायं च चिन्तयेत्।
पश्यतो बकमूर्खस्य नकुलेन हता बकाः ॥ ४३९ ॥

धर्मबुद्धिः प्राह—'कथमेतत् ?' ते प्रोचुः—

इत्यर्थः, यस्य तथोक्तः, गलितदृष्टिः इति भावः। करुणं—दीनम्। परिदेवयन्—विलपन्। निश्चक्राम—बहिराजगाम।

उपायमिति। प्राज्ञः बुद्धिमान् जनः, उपायं साधनं, चिन्तयेत् तथा उपायस्य विनाशमपि, चिन्तयेत्; यथा उपायः चिन्तनीयः, तथा तस्मिन् उपाये अनुसृते अचिन्तितपूर्वः कोऽप्यपायः आगमिष्यति न वा इत्यपि विभावनीयः इति तात्पर्यम्; तथा हि पश्यतो बकमूर्खस्य "षष्ठी चानादरे" (पा०सू० २।३।३८) इति अनादरे षष्ठी पश्यन्तं मूर्खबकमनादृत्येत्यर्थः, नकुलेन बकाः हताः नाशिताः ॥ ४३९।

उस खोखले के जलने पर उसमें से आधेजले हुए शरीर तथा फूटी हुई आँखों वाला पापबुद्धि का पिता कारुणिक स्वर में विलाप करता हुआ निकला। तब उन राजपुरुषों ने पूछा—यह क्या हुआ ? ऐसा कहने पर यह कहते हुए कि 'यह सब कुकर्म पापबुद्धि के कारण हुआ है, वह (पाप बुद्धि का पिता) मर गया। इसके पश्चात् उन धर्माधिकारियों ने पापबुद्धि को शमी वृक्ष की डाल में लटका दिया और धर्मबुद्धि की प्रशंसा करते हुए कहा—

बुद्धिमान् व्यक्ति को किसी प्रकार का उपाय करने के साथ ही उसमें खड़ी होने वाली विपत्तियों को भी सोच लेना चाहिए क्योंकि मूर्ख बगुले की आँखों के सामने ही नेवले ने उसके सभी बच्चों का भक्षण कर डाला ॥ ४३९ ॥

धर्मबुद्धि ने कहा—'यह कैसे ?' उन्होंने कहा—

---

१. इत्युक्ते स पापबुद्धिविचेष्टितं सर्वमिदमिति निवेदयित्वोपरतः।' इति वा पाठः। सः—पापबुद्धिपिता। निवेदयित्वा—कथयित्वा, सोपसर्गात् धातोः ल्यब्विधानात् क्त्वास्थितिश्चात्र चिन्त्या। "निवेद्य" इति साधु। उपरतः—मृतः।

२० : बकनकुल-कथा

'अस्ति कस्मिश्चिद्वनोद्देशे बहुबकसनाथो वटपादपः। तस्य कोटरे कृष्णसर्पः प्रतिवसति स्म। स च बकबालकानजातपक्षानपि सदैव भक्षयन्कालं नयति। अथैको बकस्तेन भक्षितान्यपत्यानि दृष्ट्वा शिशुवैराग्यात्सरस्तीरमासाद्य बाष्पपूरितनयनोऽधोमुखस्तिष्ठति। तं च तादृक्चेष्टितमवलोक्य कुलरीकः प्रोवाच—'मातुल, किमेवं रुद्यते भवताऽद्य ?' स आह—'भद्र ! किं करोमि ? मम मन्दभाग्यस्य बालका कोटरनिवासिना सर्पेण भक्षिताः। तद्दुःखदुःखितोऽहं रोदिमि। तत्कथय मे यद्यस्ति कश्चिदुपायस्तद्विनाशाय।' तदाकर्ण्य कुलीरकश्चिन्तयामास—'अयं तावदस्मज्जातिसहजवैरी। अतः तथोपदेशं प्रयच्छामि सत्यानृतं यथान्येऽपि बकाः सर्वे संक्षयमायान्ति। उक्तं च—

[२०]

(१) बहुबकसनाथः—अनेकवकयुक्तः।

(२) वाष्पपूरपूरितनयनः,—अश्रुप्रवाहपूर्णाक्षः। अस्मज्जातिसहजवैरी—अस्मज्जातीनां—मत्स्यादीनां, सहजवैरी—स्वभावशत्रुः। सत्यानृतं—सत्यम्; अनृतं--मिथ्या च, सत्येन सह अनृतम् इति वा विग्रहः।

मूर्ख बगुला और चतुरक शृगाल की कथा

किसी जंगल में एक बरगद का पेड़ था जिस पर बहुत से बगुले रहा करते थे। उसी वट के खोखले में एक काला साँप रहता था। वह पंख न निकलते हुए बगुले के बच्चों को खाकर ही सदा अपना जीवन निर्वाह करता था। एक बार एक बगुला उस साँप द्वारा खाए गए अपने बच्चों को देखकर बच्चों की मृत्यु से उदासीन होकर एक तालाब के किनारे चला गया था और आँखों में आँसू भर कर मुँह नीचे की ओर लटकाकर बैठा था। उसको इस अवस्था में स्थित देखकर एक केकड़े ने उससे पूँछा—"मामा, आप आज इस तरह रो क्यों रहे हैं।,, उसने कहा—"भद्र, क्या करूँ। मुझ भाग्यहीन के बच्चों को खोखले में रहने वाले साँप ने खा लिया हैं। उसी दुःख से दुःखी होकर मैं रो रहा हूँ। इस लिए यदि उसके विनाश का कोई उपाय हो तो मुझे बताओ।" यह सुनकर कुलीरक (केकड़े) ने विचार किया—यह मेरी जाति का स्वाभाविक शत्रु है। इस लिए ऐसा झूठ सच उपदेश दूँ कि (इसके साथ ही) दूसरे सभी बगुलों का भी नाश हो जाय। कहा भी गया है—

नवनीतसमां वाणीं कृत्वा चित्तं तु निर्दयम् ।
तथा प्रबोध्यते शत्रुः सान्वयो म्रियते यथा ॥ ४४० ॥

आह च—'माम, यद्येवं तन्मत्स्यमांसखण्डानि नकुलस्य बिलद्वारात् सर्पकोटरं यावत्प्रक्षिप यथा नकुलस्तन्मार्गेण गत्वा तं दुष्टसर्पं विनाशयति।' अथ तथानुष्ठिते मत्स्यमांसानुसारिणा नकुलेन तं कृष्णसर्पं निहत्य तेऽपि तद्वृक्षाश्रयाः सर्वे बकाश्च शनैः शनैर्भक्षिताः। अतो वयं ब्रूमः—'उपायं चिन्तयेद्' इति।

तदनेन पापबुद्धिना उपायश्चिन्तितो नापायः। ततस्तत्फलं प्राप्तम्। अतोऽहं ब्रवीमि—'धर्मबुद्धिः कुबुद्धिश्च' इति।

एव मूढ, त्वयाप्यपायश्चिन्तितो नोपायः पापबुद्धिवत्। तन्न भवसि त्वं सज्जनः, केवलं पापबुद्धिरसि। ज्ञातो मया स्वामिनः प्राणसन्देहा-

---

नवनीतेति। वाणीं वाचः, नवनीतसमाम् अपि कोमलामित्यर्थः, तु किन्तु, चित्तं मनः, निर्दयं निष्ठुरं, कृत्वा विधाय, शत्रुः रिपुः तथा तेन प्रकारेण, प्रबोध्यते उपदिश्यते, यथा येन प्रकारेण, सान्वयः सवंशः, म्रियते नयं गच्छति इत्यर्थः, शत्रुरिति शेषः; येन केनापि प्रकारेण, शत्रुनाशस्य अवश्यकर्त्तव्यत्वादिति भावः ॥ ३४० ॥

(१) प्रक्षिप्य—पातय, क्षिपेर्बैवादिकस्य श्यनि लोटि रूपम्।

वाणी को मक्खन जैसा कोमल तथा हृदय को पत्थर जैसा कठोर बना कर शत्रु को इस प्रकार समझना चाहिए कि जिससे वह अपने कुल के साथ मौत के मुँह में चला जावे ॥ ४४० ॥

और कहा—मामा, यदि ऐसा है तो मछली के मांस के टुकड़ों को नेवले की बिल के द्वार से साँप के खोखले तक डाल दो जिससे नेवला उस मार्ग से जाकर साँप को मार डालेगा। ऐसा किए जाने पर मछली के मांस का अनुसरण करने वाले नेवले ने उस काले साँप को मार डाला और धीरे-धीरे उस वृक्ष पर रहने वाले सारे बगुलों को भी खा डाला। इसी लिए हम कहते हैं कि—"उपाय का यदि चिन्तन करें ... ... इत्यादि।

सो इस पाप बुद्धि ने (साराधन हड़प जाने का) उपाय तो सोचा किन्तु उससे होने वाली आगामी विपत्तियों का विचार नहीं किया। इसी से उसका फल पाया। इसी लिए मैं सत्य कहता हूँ कि 'धर्मबुद्धि और कुबुद्धि' इत्यादि।

इसी प्रकार अरे मूर्ख, तुमने भी उपाय तो ढूँढ़ निकला लेकिन पाप बुद्धि की तरह आगामी विपत्तियों का विचार नहीं किया। इस लिए तुझे सज्जन नहीं माना जा सकता। तुम केवल पापबुद्धि ही हो। स्वामी पिङ्गलक के प्राणों को

नयनात्। प्रकटीकृतं त्वया स्वयमेवात्मनो दुष्टत्वं कौटिल्यं च। अथवा साध्विदमुच्यते—

> यत्नादपि कः पश्येच्छिखिनामाहारनिःसरणमार्गम्?।
> यदि जलदध्वनिमुदितास्त एव मूढा न नृत्येयुः ॥ ४४१ ॥

यदि त्वं स्वामिनमेनां दशां नयसि तदस्मद्विधस्य का गणना? तस्मान्ममासन्नेन भवता न भाव्यम्। उक्तं च—

> तुलां लोहसहस्रस्य यत्र खादन्ति मूषकाः।
> राजन्! तत्र हरेच्छ्येनो बालकं नात्र संशयः ॥ ४४२ ॥

---

(१) प्राणेति। जीवेन्न वा इति शङ्कोत्पादनात्। प्रकटीकृतम्—प्रकाशीकृतम्।

यत्नादिति। कः यत्नादपि यत्नमाश्रित्यापि, शिखिनां मयूराणाम्, आहारनिःसरणमार्गम् अपानं, पुरीषद्वारमित्यर्थः, पश्येत्? न कोऽपीत्यर्थः, यदि मूढाः ते एव शिखिन एव, जलदानां मेघानां, ध्वनिना मुदिताः हृष्टाः सन्तः, द नृत्येयुः; नृत्यकाले एव तेषामाहारनिःसरणमार्गो दृश्यते, नान्यदा इति भावः ॥ ४४१ ॥

(२) दशाम्—अवस्थां, दुरवस्थामित्यर्थः, मृत्युदशामिति भावः। अस्मद्विधस्येति। अस्माकमपि ईदृशी दशा त्वया घटयितव्येति अत्र न सन्देह इति भावः।

तुलामिति। यत्र मूषिकाः लोहसहस्रस्य द्विसहस्रपललोहस्य, तुलां तोलनयन्त्रं, खादन्ति, हे राजन्! तत्र श्येनः पक्षिविशेषः, बालकं हरेत्; अत्र न संशयः सन्देहो नास्ति इत्यर्थः। अतिकठिनस्य लोहतुलादण्डस्य मूषिककर्तृकभक्षणं यथा न सम्भवति, तथा श्येनपक्षिणाऽपि बालकहरणम्, एकस्य सम्भवत्वे तु अपरस्यापि सम्भव इति भावः, तथा च त्वं स्वामिनमपि यदा एतादृशीमापदं नयसि, तदा अस्माकम्

ही तुमने सन्देहास्पद स्थान पर पहुँचा दिया है—यह मैं समझ गया हूँ। इससे तुमने स्वयं अपनी दुष्टता और धूर्तता प्रकट कर दी है। अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

यदि बादलों की गरज से आनन्दित होकर नादान मोर स्वयं अपने आप नाचने लगें तो भला प्रयत्न करने पर भी उनके आहार निकलने के मार्ग (गुदा) को कौन देख सकता है? ॥ ४४१ ॥

यदि तुम स्वामी पिंगलक को इस दशा में ले जा सकते हो तो मेरे जैसे लोगों की क्या गिनती है? अब तुम्हारा मेरे पास रहना उचित नहीं है। कहा भी गया है—

जहाँ एक हजार पल लोहे की तराजू को चूहे खा जाते हैं तो हे राजन्! वहाँ यदि बाज पक्षी बालक को लेकर उड़ जाय तो इसमें शंका की बात ही क्या

दमनक आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

२१ : लोहतुला-वणिक्पुत्र-कथा

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने जीर्णधनो नाम वणिक्पुत्रः। स च विभव-क्षयाद् देशान्तरगमनमना व्यचिन्तयत्—

'यत्र देशेऽथवा स्थाने भोगान्भुक्त्वा स्ववीर्यतः।
तस्मिन्विभवहीनो यो वसेत्स पुरुषाधमः॥ ४४३॥

यथा च—येनाहङ्कारयुक्तेन चिरं विलसितं पुरा।
दीनं वदति तत्रैव यः परेषां स निन्दितः॥ ४४४॥

---

[२१]

एतादृगवस्थायां त्वया पातनं नासम्भवमित्यभिप्रायः॥ ४४२॥

(१) जीर्णधनः—जीर्णं—क्षीणं, धनं—वित्तं यस्य तथोक्तः।

(२) विभवक्षयात्—धननाशात्।

यत्रेति। यो जनः, यत्र देशे, अथवा स्थाने, स्ववीर्य्यतः निजपौरुषबलात्, भोगान् सुखानि, भुक्त्वा, तस्मिन् पुनः विभवहीनः निर्धनः, वसेत्, स पुरुषेषु मध्ये अधमः; प्रभाववतां धनिनाम् आकस्मिकदारिद्रचस्य लघुतासम्पादकत्वादिति भावः॥ ४४३॥

येनेति। येन जनेन, पुरा पूर्वम्, अहङ्कारयुक्तेन अहमिकापूर्णेन सता, चिरं दीर्घकालं, विलसितं व्यवहृतं, यश्च पुनः तत्रैव देशे, दीनं कातरतां, वदति व्यनक्ति इत्यर्थः, सः, परेषाम् अन्यैः, परेषामिति सम्बन्धविवक्षया षष्ठी, निन्दितः तिरस्कृतः,

---

है ?॥ ४४२॥

दमनक ने कहा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

जीर्णधन वणिक् पुत्र की कथा

किसी गाँव में जीर्णधन नाम का एक बनिए का लड़का था। उसने सम्पत्ति के नष्ट हो जाने के कारण विदेश में जाने की इच्छा से विचार किया—

जिस देश अथवा स्थान में अपने पराक्रम के प्रभाव से जो पुरुष अनेक प्रकार के भोगों को भोग चुका हो, वह यदि धनहीन होकर उस स्थान में निवास करे तो उसे पुरुषों में अधम माना जाता है॥ ४४३॥

और भी—जिसने किसी स्थान पर बड़े गर्व के साथ पहले बहुत दिनों तक सुखोपभोग किया है, यदि वही उसी स्थान पर दूसरों के सामने दीन वाणी कहता है तो वह निन्दा का पात्र बन जाता है॥ ४४४॥

तस्य च गृहे सहस्रलोहभारघटिता पूर्वपुरुषोपार्जिता तुलाऽऽसीत् । तां च कस्यचिच्छ्रेष्ठिनो गृहे निक्षेपभूतां कृत्वा देशान्तरं प्रस्थितः । ततः सुचिरं कालं देशान्तरं यथेच्छया भ्रान्त्वा पुनः स्वपुरमागत्य तं श्रेष्ठिनमुवाच—'भोः श्रेष्ठिन्, दीयतां मे सा निक्षेपतुला ।' स आह—'भोः नास्ति सा त्वदीया तुला मूषकैर्भक्षिता ।' जीर्णधन आह—'भोः, श्रेष्ठिन्, नास्ति दोषस्ते, यदि सा मूषकैर्भक्षितेति । ईदृगेवायं संसारः न किञ्चिदत्र शाश्वतमस्ति । परमहं नद्यां स्नानार्थं गमिष्यामि । तत्त्वमात्मीय शिशुमेनं धनदेवनामानं मया सह स्नानोपकरणहस्तं प्रेषय' इति । सोऽपि चौर्यभयात्तस्य शङ्कितः स्वपुत्रमुवाच—'वत्स पितृव्योऽयं तव, स्नानार्थं नद्यां यास्यति । तद् गम्यतामनेन सार्धं स्नानोपकरणमादाय' इति । अहो, साध्विदमुच्यते—

भवति इति शेषः ॥ ४४४ ॥

(१) तस्य—जीर्णधनस्य । लोहभारघटिता—द्विसहस्रपललोहनिर्मिता इत्यर्थः, "पलानां द्विसहस्रञ्च भार एकः प्रकीर्तितः" इति वैद्यकोक्तेः ।

(२) तां—तुलामित्यर्थः । निक्षेपभूतां कृत्वा—न्यासीकृत्य इत्यर्थः ।

(३) अत्र—संसारे । शाश्वतम्—अक्षयम् । स्नानोपकरणहस्तम्—स्नानस्य उपकरणं—तैलादिकं हस्ते यस्य तथाभूतम् ।

(४) तस्य—जीर्णधनस्य, सम्बन्धविवक्षया अपादाने षष्ठी ।

उसके घर में पूर्वजो की कमाई की एक हजार पल वजन की लोहे की एक तराजू थी । वह उसे किसी सेठ के घर में धरोहर रख कर दूसरे देश में चला गया । इसके पश्चात् बहुत दिनों तक इच्छा पूर्वक विभिन्न देशों का भ्रमण करके फिर अपने गाँव में आकर उस सेठ से कहा—"हे सेठ जी वह धरोहर में रखी गई मेरी तराजू दो ।" उसने कहा—"अरे ! वह तुम्हारी तराजू तो नहीं है । उसे तो चूहों ने खा डाला ।" जीर्णधन ने कहा—हे सेठ जी, यदि चूहों ने खा डाला तो इसमें आप का कोई दोष नहीं है । यह संसार ही ऐसा है कि यहाँ कोई भी वस्तु सर्वदा टिकने वाली नहीं है । लेकिन मैं नदी में स्नान करने जाऊँगा । इसलिए तुम अपने इस धनदेव नाम के पुत्र को स्नान की सामग्री लेकर मेरे साथ भेज दो । उसने भी चोरी लगने के भय से भयभीत होकर अपने पुत्र से कहा—हे पुत्र ! यह तुम्हारे चाचा नदी में नहाने के लिए जा रहे हैं । तुम स्नान की सामग्री लेकर इनके साथ चले जाओ ।' यह उचित ही कहा गया है कि—

न भक्त्या कस्यचित्कोऽपि प्रियं प्रकुरुते नरः।
मुक्त्वा भयं प्रलोभं वा कार्यकारणमेव वा ॥ ४४५ ॥

तथा च—अत्यादरो भवेद्यत्र कार्यकारणवर्जितः।
तत्र शङ्का प्रकर्त्तव्या परिणामेऽसुखावहा ॥ ४४६ ॥

अथासौ वणिक्शिशुः स्नानोपकरणमादाय प्रहृष्टमनास्तेनाभ्यागतेन सह प्रस्थितः। तथाऽनुष्ठिते स वणिक्स्नात्वा तं शिशुं नदीगुहायां प्रक्षिप्य तद्द्वारं बृहच्छिलयाऽऽच्छाद्य सत्वरं गृहमागतः, पृष्टश्च तेन वणिजा—'भो अभ्यागत, कथ्यतां कुत्र मे शिशुर्यस्त्वया सह नदीं गतः' इति। स आह—'नदीतटात्स श्येनेन हृतः' इति। श्रेष्ठ्याह—'मिथ्यावादिन्, किं क्वचिच्छ्येनो बालं हर्तुं शक्नोति? तत्समर्पय मे सुतम्, अन्यथा राजकुले निवेदयिष्यामि' इति। स आह—'भोः सत्यवादिन्, यथा श्येनो बालं न

नेति। कोऽपि नरः, भयं त्रासहेतुं, प्रलोभं वा प्रलोभनं वा, कार्य्यकारणं वा हेतुहेतुमद्भावं वा, मुक्त्वा विहाय, भक्त्या अनुरागेण एव, कस्यचित् प्रियम् उपकारं, न प्रकुरुते न विदधाति इत्यर्थः, 'गन्धनावक्षेपण—' (पा०सू० १।३।३२) इत्यात्मनेपदम्; प्रियकरणं लोकस्य भयाद्यधीनं, न तु भक्तिनिबन्धनमिति भावः ॥ ४४५ ॥

अत्यादर इति। यत्र कार्य्यकारणवर्जितः विना कार्य्यकारणमित्यर्थः; अत्यादरः अतिभक्तिः, भवेत्, तत्र तस्मिन् आदरे, परिणामे, असुखावहा विषमा इत्यर्थः, शङ्का प्रकर्त्तव्या; कारणमन्तरेण प्रकृष्टादरस्यासम्भवादिति भावः ॥४४६॥

[१] प्रहृष्टमनाः,=सन्तुष्टचित्तः। अभ्यागतेन=आगन्तुकेन, जीर्णधनेनेत्यर्थः। नदीगुहायां=नदीतीरस्थगर्त्ते। तद्द्वारं=गुहाद्वारम्।

भय, लोभ या किसी प्रयोजन को छोड़कर अन्य किसी दशा में भी कोई मनुष्य श्रद्धा के साथ किसी का प्रिय नहीं करता है ॥ ४४५ ॥

और भी—यदि बिना किसी प्रयोजन के ही जहाँ किसी का अधिक सम्मान हो रहा हो तो वहाँ निश्चित रूप से संदेह करना चाहिए क्योंकि उस सम्मान का परिणाम दुखदाई होता है ॥ ४४६ ॥

इसके पश्चात् उस सेठ का लड़का स्नान की सामग्री लेकर प्रसन्न चित्त से उस अतिथि के साथ चल दिया। उस आए हुए बनिए ने स्नान करके तथा उस बच्चे को नदी की एक गुफा में छिपाकर उसके द्वार को पत्थर की चट्टान से बन्द कर दिया। इसके बाद उसके लौटने पर बनिए ने पूछा—"हे अतिथि, वह मेरा बच्चा कहाँ है, जो तुम्हारे साथ नदी पर गया था।" उसने कहा—"नदी के किनारे से उस बाज ने अपहृत कर लिया। सेठ ने कहा—"अरे असत्यवादी! क्या बाज बच्चे का अपहरण कर सकता है? अतः मेरा पुत्र मुझे दे दो, नहीं तो राजदरबार में जाकर निवेदन करूँगा। उसने कहा—अरे

नयति तथा मूषका अपि सहस्रलोहभारघटितां तुलां न भक्षयन्ति। तदर्पय मे तुलाम्, यदि दारकेण प्रयोजनम्। एवं तौ विवदमानौ द्वावपि राजकुलं गतौ। तत्र श्रेष्ठी तारस्वरेण प्रोवाच—'भोः, अब्रह्मण्यमब्रह्मण्यम्। मम शिशुरनेन चौरेणापहृतः'। अथ धर्माधिकारिणस्तमूचुः—'भोः, समर्प्यतां श्रेष्ठिसुतः। स आह—'किं करोमि ? पश्यतो मे नदीतटाच्छ्येनेनापहृतः शिशुः।' तच्छ्रुत्वा ते प्रोचुः—'भोः, न सत्यमभिहितं भवता। किं श्येनः शिशुं हर्तुं समर्थो भवति ?' स आह—'भोः, भोः, श्रूयतां मद्वचः।

तुलां लोहसहस्रस्य यत्र खादन्ति मूषकाः।
राजंस्तत्र हरेच्छ्येनो बालकं नात्र संशयः॥ ४४७॥

ते प्रोचुः—'कथमेतत् ?' ततः श्रेष्ठीः सभ्यानामग्रेरादितः सर्वं वृत्तान्तं निवेदयामास। ततस्तैर्विहस्य द्वावपि तौ परस्परं सम्बोध्य तुलाशिशुप्रदानेन

(१) दारकेण=पुत्रेण।

तुलामिति। अत्र मूषिकाः लोहसहस्रस्य द्विसहस्रपललोहस्य, तुलां तोलनयन्त्रं; खादन्ति, हे राजन्! तत्र श्येनः पक्षिविशेषः, बालकं हरेत, अत्र न संशयः सन्देहो नास्ति इत्यर्थः। अतिकठिनस्य लोहतुलादण्डस्य मूषिककर्तृकभक्षणं यथा न सम्भवति, तथा श्येनपक्षिणाऽपि बालकहरणम्, एकस्य सम्भवत्वे तु अपरस्यापि सम्भव इति भावः। तथा च त्वं स्वामिनमपि यदा एतादृशीमापदं नयसि, तदा अस्माकम् एतादृगवस्थायां त्वया पातनं नासम्भवमित्यभिप्रायः॥ ४४७॥

सत्यवादी ! जैसे बाज बालक को नहीं ले जा सकता है वैसे ही चूहे भी एक हजार पल वजन की तराजू भी नहीं खा सकते हैं। इसलिए यदि अपना पुत्र पाना चाहते हो तो मेरी तराजू दे दो।" इस प्रकार दोनों विवाद करते हुए राजदरबार में गए। वहाँ सेठ ने उच्च स्वर से कहा—"यह तो बड़ा ही अनर्थ है। इस चोर ने मेरे पुत्र का अपहरण कर लिया है।" धर्माधिकारियों ने उससे कहा—"रे दुष्ट, इस सेठ के बच्चे को दे दो।" उसने कहा—मैं क्या करूं? मेरी आँखों के सामने ही नदी के किनारे से बाज ने उस बालक का अपहरण कर लिया। यह सुनकर उन धर्माधिकारियों ने कहा—"तुम झूठ बोलते हो। भला बाज भी बालक का अपहरण कर सकता है ?" उसने कहा—"आप लोग मेरी बातें सुनें—

जहाँ हजार पल वजन वाली लोहे की तराजू को चूहे खा सकते हैं वहाँ हे राजन्! बाज भी बच्चे का अपहरण कर ले तो इसमें सन्देह ही क्या है ?॥ ४४७॥

तब (धर्माधिकारियों) ने कहा—"इसका क्या अभिप्राय है" तब सेठ ने

सन्तोषितौ । अतोऽहं ब्रवीमि--'तुलां लोहसहस्रस्य' इति ।

तन्मूर्ख ! सञ्जीवकप्रसादमसहमानेन त्वयैतत्कृतम् । अहो; साध्विद-मुच्यते—

प्रायेणात्र कुलान्वितं कुकुलजाः श्रीवल्लभं दुर्भगा
दातारं कृपणा ऋजूननृजवो वित्ते स्थितं निर्धनाः ।
वैरूप्योपहताश्च कान्तवपुषं धर्माश्रयं पापिनो
नानाशास्त्रविचक्षणं च पुरुषं निन्दन्ति मूर्खाः सदा ॥ ४४८ ॥

तथा च--मूर्खाणां पण्डिता द्वेष्या निर्धनानां महाधनाः ।
व्रतिनः पापशीलानामसतीनां कुलस्त्रियः ॥ ४४९ ॥

---

[१] सञ्जीवकप्रसादं=सञ्जीवके राजकृतानुग्रहम् इत्यर्थः ।

प्रायेणेति । अत्र जगति, प्रायेण कुकुलजाः नीचकुलोत्पन्नाः, जनाः इति शेषः, कुलान्वितं सत्कुलीनं, दुर्भगाः मन्दभाग्याः, श्रीवल्लभं लक्ष्मीप्रियमित्यर्थः, कृपणाः दातारम्, अनृजवः कुटिलाः, नराः इति शेषः, ऋजून् सरलान् नरान् इत्यर्थः; निर्धनाः वित्ते स्थितं धनिनं, वैरूप्योपहताः—कुरूपाः, कान्तवपुषं रम्याकृतिं, पापिनः धर्माश्रयं धार्मिकं, तथा मूर्खाः, नानाशास्त्रेषु विचक्षणं पण्डितं, पुरुषं सदा निन्दन्ति, स्वाधिकगुणवतां जनानामुत्कर्षासहमेव नीचानां स्वभावः इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४४८ ॥

मूर्खाणामिति । पण्डिताः विद्वांसः, मूर्खाणां शास्त्रज्ञानविवर्जितानां, महाधनाः धनिनः, निर्धनानां धनहीनानां, व्रतिनः धर्मानुष्ठायिनः, पापशीलानाम्

सभी सभासदों के सामने प्रारम्भ से ही सारा वृत्तान्त सुना दिया । तब हँसते हुए उन धर्माधिकारियों ने दोनों को समझा-बुझा कर एक दूसरे को तराजू और बालक दिलवा कर संतुष्ट कर दिया । इसीलिए मैं कहता हूँ कि 'हजार पल भार वाली तराजू" इत्यादि ।

अतः अरे ! मूर्ख तू तो सञ्जीवक के प्रति की गई राजकीय कृपा को सहन ही नहीं कर सका, इसीलिए तूने ऐसा किया है । यह ठीक ही कहा गया है कि—

इस संसार में नीच कुल में पैदा होने वाले कुलीन व्यक्ति की, भाग्यहीन भाग्यवान् की, कंजूस दानी की, कुटिल स्वभाव वाले सीधे सादे मनुष्य की, दरिद्र धनी की, कुरूप सुन्दर पुरुष की, पापी लोग पुण्यात्मा की, और मूर्ख लोग नाना प्रकार के शास्त्रों में कुशल विद्वान् की प्रायः सर्वदा निन्दा ही करते है ॥ ४४८ ।

और भी—मूर्ख पण्डितों से, दरिद्र धनियों से, पापी पुण्यात्माओं से और

तन्मूर्ख; त्वया हितमप्यहितं कृतम् । उक्तं च—

पण्डितोऽपि वरं शत्रुर्न मूर्खो हितकारकः ।
वानरेण हतो राजा विप्राश्चौरेण रक्षिताः ।। ४५० ।।

दमनक आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

२२ : नृपसेवकवानर—कथा

'कस्यचिद्राज्ञो नित्यं वानरोऽतिभक्तिपरोऽङ्गसेवकोऽन्तःपुरेऽप्यप्रतिषिद्धप्रसरोऽतिविश्वासस्थानमभूत् । एकदा राज्ञो निद्रां गतस्य वानरे व्यजनं नीत्वा वायुं विदधति राज्ञो वक्षःस्थलोपरि मक्षिकोपविष्टा । व्यज-

---

अधर्मकर्मनिरतानां, तथा कुलस्त्रियः कुलकामिन्यः, पतिपरायणाः रमण्य इत्यर्थः, असतीनां कुलटानां, द्वेष्याः विद्वेषास्पदानि, निन्दनीयाः इति यावत्, भवन्ति इति शेषः ।। ४४९ ।।

पण्डित इति । पण्डितः विद्वान्, शत्रुरपि वरं मनाक् प्रियः, हितकारकः प्रियकारी, मूर्खो न, वरमिति शेषः, तथा हि, राजा वानरेण, हितकारकेण मूर्खेण इति भावः, हतः; विप्राः चौरेण तस्करेण, प्राणहरणेच्छुनाऽपि पण्डितेनेति भाव, रक्षिताः परित्राताः ।। ४५० ।।

[२२]

(१) अङ्गसेवकः=शरीरपरिचारकः । अप्रतिषिद्धप्रसरः=अव्याहतगतिः अतिविश्वासस्थानं=सम्यक्प्रत्ययभाजनम् ।

(२) व्यजनं=तालवृन्तम् । विदधति=कुर्वति, भावे सप्तमी ।

कुलटा स्त्रियां कुलस्त्रियों से द्वेष करती हैं ।। ४४९ ।।

अतः हे मूर्ख ! तुमने हित का काम करने में अहित कर दिया । कहा भी गया है—

विद्वान् शत्रु भी श्रेष्ठ होता है किन्तु मूर्ख हितकारी भी अच्छा नहीं होता । क्योंकि हितकारी बानर के द्वारा राजा मारा गया और चोर द्वारा ब्राह्मण के प्राणों की रक्षा हुई ।। ४५० ।।

दमनक ने कहा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

मूर्ख वानर और राजा की कथा

किसी राजा के पास अत्यन्त भक्त, शरीर की सेवा करने वाला, अन्तःपुर में भी बेरोक-टोक जा सकने वाला तथा अत्यन्त विश्वास पात्र एक वानर था । एक बार रात में राजा के सो जाने पर वानर पंखा झल रहा था कि इसी

नेन मुहुर्मुहुर्निषिध्यमानाऽपि पुनःपुनस्तत्रैवोपविशति। ततस्तेन स्वभावचपलेन मूर्खेण वानरेण क्रुद्धेन सता तीक्ष्णं खड्गमादाय तस्या उपरि प्रहारो विहितः। ततो मक्षिकोड्डीय गता। तेन शितधारेणासिना राज्ञो वक्षो द्विधा जातं राजा मृतश्च। तस्माच्चिरायुरिच्छता नृपेण मूर्खोऽनुचरो न रक्षणीयः। अपरम्—

२३ : चौरब्राह्मण-कथा

एकस्मिन्नगरे कोऽपि विप्रो महाविद्वान्परं पूर्वजन्मयोगेन चौरो वर्तते। स तस्मिन्पुरेऽन्यदेशादागतांश्चतुरो वस्तूनि विप्रान्बहूनि विक्रीणतो दृष्ट्वा चिन्तितवान्—'अहो, केनोपायेनैषां धनं लभे?' इति विचिन्त्य तेषां पुरोऽनेकानि शास्त्रोक्तानि सुभाषितानि चातिप्रियाणि मधुराणि वचनानि जल्पता तेषां मनसि विश्वासमुत्पाद्य सेवा कर्तुमारब्धा। अथवा साध्विदमुच्यते—

---

[१] शितधारेण—तीक्ष्णधारेण।

[२३]

[२] "परिव्यवेभ्यः क्रियः" (पा०सू० १।३।१८) इत्यात्मनेपदनियमात् "विक्रीणानान्" इति पदमेवात्र साधु, "विक्रीणतः" इति प्रयोगस्तु चिन्तनीयः।

बीच राजा की छाती पर एक मक्खी आकर बैठ गई। वह पंखे से बार-बार उड़ाने पर भी वहीं आकर बैठ जाती थी। तब स्वभाव से ही चंचल उस मूर्ख वानर ने क्रोध में आकर तेज तलवार लेकर उस (मक्खी) के ऊपर प्रहार कर दिया। मक्खी तो उड़ गई; लेकिन तेज धार वाली उस तलवार से राजा की छाती दो टुकड़े हो गई और राजा मर गया। इसलिए दीर्घायु की कामना करने वाले राजा को मूर्ख सेवक नहीं रखना चाहिए। दूसरी कथा इस प्रकार है कि—

चोर ब्राह्मण की कथा

एक नगर में कोई बहुत बड़ा विद्वान् ब्राह्मण रहता था जो पूर्वजन्म के संस्कार के कारण चोर बन गया था। उसने उस नगर में दूसरे देश से आए हुए चार ब्राह्मणों को बहुत सी वस्तुएँ बेचते हुए देखकर विचार किया—किस उपाय से मैं इसका धन ले लूँ? इस प्रकार विचार करके उसने उसके सामने शास्त्रों में कही गई अनेक प्रकार की सुभाषित उक्तियों और मधुर बातों को कहकर उनके मन में अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करके उनकी सेवा करना आरम्भ किया। अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

असती भवति सलज्जा क्षारं नीरं च शीतलं भवति ।
दम्भी भवति विवेकी प्रियवक्ता भवति धूर्तजनः ॥ ४५१ ॥

अथ तस्मिन् सेवां कुर्वति तैर्विप्रैः सर्ववस्तूनि विक्रीय बहुमूल्यानि रत्नानि क्रीतानि। ततस्तानि जङ्घामध्ये तत्समक्षं प्रक्षिप्य स्वदेशं प्रति गन्तुमुद्यमो विहितः। ततः स धूर्तविप्रस्तान्विप्रान्गन्तुमुद्यतान्प्रेक्ष्य चिन्ताव्याकुलितमनाः सञ्जातः—'अहो, धनमेतन्न किञ्चिन्मम चटितम्। अथैभिः सह यामि। पथि क्वापि विषं दत्त्वैतान्निहत्य सर्वरत्नानि गृह्णामि।' इति विचिन्त्य तेषामग्रे सकरुणं विलप्येदमाह—'भो मित्राणि, यूयं मामेकाकिनं मुक्त्वा गन्तुमुद्यताः। तन्मे मनो भवद्भिः सह स्नेहपाशेन बद्धं भवद्विरहनाम्नैवाकुलं सञ्जातं यथा धृतिं क्वापि न धत्ते। यूयमनुग्रहं विधाय सहायभूतं मामपि सहैव नयत।' तद्वचः श्रुत्वा ते करुणार्द्रचित्तास्तेन सममेव स्वदेशं प्रति प्रस्थिताः। अथाध्वनि तेषां

असतीति। असती कुलटा; सलज्जा कपटत्रपावती, भवति; क्षारं लवणाक्तं, नीरं जलञ्च, शीतलं भवति, दम्भी अहङ्कारी जनः, विवेकी प्रज्ञाव्याजोपहितः, भवति, धूर्तजनश्च प्रियवक्ता प्रियवादी, भवति ॥ ४५१ ॥

(१) तत्समक्षं=तस्य चौरस्य समक्षम्। चटितं=दत्तं, "चट भेदने" इति भौवादिकस्य निष्ठायां रूपम्।

(२) यथा—येन विरहेणेत्यर्थः। धृतिं—सन्तोषम्।

कुलटा स्त्री कृत्रिम लज्जा प्रकट करती है, खारा पानी ठढा होता है, दम्भी मनुष्य ज्ञान प्रकट करता है और धूर्त व्यक्ति प्रिय बोलने वाला होता है ॥ ४५१ ॥

इसके पश्चात् उसके सेवा काल में ही उन ब्राह्मणों ने सारी वस्तुएँ बेचकर बहुमूल्य रत्न खरीदे और उस (चोर ब्राह्मण) के सामने ही जाँघों मे रखकर अपने देश को जाने के लिए उद्यत हुए। तब वह धूर्त ब्राह्मण उन ब्राह्मणों को जाने के लिए उद्यत देखकर बहुत चिन्तित और व्याकुल हो उठा कि यह धन कुछ भी मेरे हाथ न आ सका। अतः मैं भी इसके साथ चलूँ और मार्ग में कहीं विष देकर इन्हें मार करके सारे रत्न ले लूँ। यह सोचकर उनके सामने करुणापूर्वक विलाप करते हुए कहा—हे मित्र, तुम लोग मुझे अकेला छोड़कर जाने के लिए तैयार हो। इसलिए आप लोगों के स्नेह बन्धन में बंधा हुआ मेरा मन आप लोगों के विरह के नाममात्र से ही इतना व्याकुल हो गया है कि किसी प्रकार धैर्य धारण नहीं कर पा रहा है। आप लोग अनुग्रह करके मुझे भी सहकारी के रूप में अपने साथ ले चलिए। उनकी बातें सुनकर वे ब्राह्मण करुणा

पञ्चानामपि पल्लीपुरमध्ये व्रजतां ध्वाङ्क्षाः कथयितुमारब्धाः—'रे रे ! किराताः, धावत, धावत सपादलक्षधनिनो यान्ति ! एतान्निहत्य धनं नयत।'

ततः किरातैर्ध्वाङ्क्षवचनमाकर्ण्य सत्वरं गत्वा ते विप्रा लगुडप्रहारैर्जर्जरीकृत्य वस्त्राणि मोचयित्वा विलोकिताः। परं धनं किञ्चिन्न लब्धम्। तदा तैः किरातैरभिहितम्'—भोः पान्थाः, पुरा कदापि ध्वाङ्क्ष-वचनमनृतं नासीत्। ततो भवतां सन्निधौ क्वापि धनं विद्यते, तदर्पयत। अन्यथा सर्वेषामपि वधं विधाय चर्म विदार्य प्रत्यङ्गं प्रेक्ष्य धनं नेष्यामः।' तदा तेषामीदृशं वचनमाकर्ण्य चौरविप्रेण मनसि चिन्तितम्—'यदैषां विप्राणां वधं विधायाङ्गं विलोक्य रत्नानि नेष्यन्ति, तदा मां अपि वधिष्यन्ति। ततोऽहं पूर्वमेवात्मानमरत्नं समर्प्यैतान्मुञ्चामि। उक्तं च—

---

(१) व्रजतां—गच्छताम्। ध्वाङ्क्षाः—काकाः। किराताः—व्याधाः। सपादलक्षधनिनः—पञ्चविंशतिसहस्राधिकलक्षसङ्ख्यकद्रविणवन्तः।

(२) लगुडप्रहारैः—दण्डाघातैः। जर्जरीकृत्य—कुट्टयित्वा।

(३) ध्वाङ्क्षवचनं—काकवाक्यम्। अनृतम्—अलीकं, मिथ्या इत्यर्थः।

(४) चर्म—त्वक्। प्रत्यङ्गं—सर्वाणि अङ्गानि, वीप्सार्थे अव्ययीभावः।

(५) अरत्नं—रत्नहीनम्। एतान्—विप्रान्। मुञ्चामि—किरातेभ्यो मोचयामि इत्यर्थः; मयि अरत्ने दृष्टे सर्वे एव रिक्ता इति विज्ञाय सर्वान् विप्रान् किराताः मोचयिष्यन्तीति भावः।

से परिपूर्ण हो गए और उसको साथ लेकर अपने घर चल पड़े। जब मार्ग में वे पाँचों पल्लीपुर के पास जा रहे थे तो कौवा ने इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया—अरे भीलो ! दौड़ो, दौड़ो, सवा लाख के धनी जा रहे हैं। इसको मारकर धन ले लो।

कौवे की वाणी सुनकर भीलों ने वहाँ शीघ्रता से पहुँच करके डण्डों से मारकर उन्हें जर्जर बना दिया और उनके कपड़े उतारकर देखा लेकिन जब कुछ भी धन नहीं प्राप्त हुआ तो उन्होंने कहा—अरे पथिको, इसके पहिले कौवे की वाणी कभी भी असत्य नहीं हुई है। इसलिए तुम लोगों के पास जो भी धन हो उसे दे दो। नहीं तो सबको मार करके चमड़े फाड़कर सभी अङ्गों को देख करके हम लोग धन ले लेंगे। तब उन भीलों की ऐसी बातें सुनकर चोर ब्राह्मण ने मन में विचार किया—जब इन ब्राह्मणों को मारकर उनके अंगों को देखकर ये रत्नों को ले लेंगे तो मुझे भी मार डालेंगे। इसलिए मैं पहले ही रत्नरहित अपने शरीर को अर्पित करके इनको छुड़ा लेता हूँ। कहा भी गया है—

मृत्योर्बिभेषि किं बाल ! न स भीतं विमुञ्चति ।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ॥ ४५२ ॥

तथा च—गवार्थे ब्राह्मणार्थे च प्राणत्यागं करोति यः ।
सूर्यस्य मण्डलं भित्त्वा स याति परमां गतिम् ॥ ४५३ ॥

इति निश्चित्याभिहितम्—'भोः किराताः, यद्येवं ततो मां पूर्वं निहत्य विलोकय ।' ततस्तैस्तथाऽनुष्ठिते तं धनरहितमवलोक्यापरे चत्वारोऽपि मुक्ताः । अतोऽहं ब्रवीमि—'पण्डितोऽपि वरं शत्रुः' इति ।

अथैवं संवदतोस्तयोः[1] सञ्जीवकः क्षणमेकं पिङ्गलकेन सह युद्धं कृत्वा तस्य खरनखरप्रहाराभिहतो गतासुर्वसुन्धरापीठे निपपात । अथ तं गता-

---

मृत्योरिति । हे बाल ! विवेकहीन ! किं कथं, मृत्योः बिभेषि ? स मृत्युः, भीतं जनं, न विमुञ्चति न त्यज्यति; अद्य वा अब्दशतान्ते वर्षशतान्ते वा, प्राणिनां मृत्युः ध्रुवः निश्चितः; न कोऽपि मृत्युहस्तात् आत्मानं मोचयितुमीष्टे इति फलितम् । अतो मयाऽत्र निर्भीकेण भवितव्यमिति भावः ॥ ४५२ ॥

गवार्थे इति । यः गवार्थे गोरक्षणार्थं, ब्राह्मणार्थे ब्राह्मणरक्षार्थञ्च, प्राणत्यागं करोति प्राणान् त्यजति, सः सूर्य्यस्य मण्डलं भित्त्वा अतिक्रम्येत्यर्थः, परमाम् उत्कृष्टां, गतिं लोकमिति यावत्, याति प्राप्नोति, मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ ४५३ ॥

(१) संवदतोः—परस्परं जल्पतोः । तयोः—दमनककरटकयोः । खरनखरप्रहाराभिहतः—तीक्ष्णनखाघातताडितः इत्यर्थः । गतासुः—मृतः ।

अरे ! भोले, तू मौत से क्यों डरता है ? वह डरे हुए प्राणियों को भी नहीं छोड़ती है । क्योंकि आज या सौ बर्षों के बाद प्राणियों की मृत्यु कभी न कभी होती ही है ॥ ४५२ ॥

और भी—जो व्यक्ति गौ और ब्राह्मण के लिए अपने प्राणों का परित्याग करता है, वह सूर्य-मण्डल को भेदकर परमगति (मोक्षपद) को प्राप्त करता है ॥ ४५३ ॥

ऐसा निश्चय करके उसने भीलों से कहा—हे भीलो, यदि ऐसी बात है तो पहले मुझे मार कर देख लो । तब उन्होंने वैसा ही करके उसे धन से रहित देखकर उन चारों ब्राह्मणों को छोड़ दिया । इसीलिए मैं कहता हूँ कि—'विद्वान् शत्रु भी अच्छा है'—इत्यादि ।

इसके पश्चात् जिस समय ये दोनों (दमनक और करटक) इस प्रकार की बातें कर ही रहे थे उसी समय संजीवक क्षणमात्र पिंगलक के साथ युद्ध करके उसके तीखे नखों के प्रहार से घायल हो गया और प्राणरहित होकर पृथ्वी पर गिर

सुमवलोक्य पिङ्गलकस्तद्गुणस्मरणार्द्रहृदयः प्रोवाच—'भोः, अयुक्तं मया पापेन कृतं सञ्जीवकं व्यापादयता। यतो विश्वासघातादन्यन्नास्ति पापतरं कर्म। उक्तं च—

मित्रद्रोही कृतघ्नश्च यश्च विश्वासघातकः।
ते नरा नरकं यान्ति यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥ ४५४॥
भूमिक्षये राजविनाश एव
भृत्यस्य वा बुद्धिमतो विनाशे।
नो युक्तमुक्तं ह्यनयोः समत्वं
नष्टापि भूमिः सुलभा न भृत्याः॥ ४५५॥

तथा मया सभामध्ये स सदैव प्रशंसितः। तत्किं कथयिष्यामि

मित्रद्रोहीति। यः मित्रद्रोही सुहृदामपकारकः, यश्च कृतघ्नः उपकारस्य विस्मर्त्ता, यश्च विश्वासघातकः विश्वासकारिणः अन्तकर्त्ता, ते नराः चन्द्रदिवाकरौ यावत्, तिष्ठत इति शेषः, तावत् नरकं यान्ति निरयं आप्नुवन्ति ॥ ४५४॥

भूमीति। भूमिक्षये राज्यनाशे, वा बुद्धिमतः सदसद्विवेकशालिन इत्यर्थः; भृत्यस्य विनाशे राजविनाश एव राज्ञ एव मरणम्; किन्तु अनयोः भूमिक्षयभृत्य-नाशयोः, समत्वं समानता, यदुक्तं कथितं, तत् नो युक्तं नोचितं, हि यतः, भूमिः नष्टाऽपि सुलभा अनायासेन लभ्या, भृत्याः, न, सुलभा इत्यनुषङ्गः, तस्मात् भृत्य-विनाशो भूमिक्षयादधिको राजहानिकर इति भावः। इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ४५५॥

पड़ा। उसे मरा हुआ देखकर पिङ्गलक ने उसके गुणों का स्मरण करके दुःखी हृदय से कहा—मुझ पापी ने संजीवक को मारकर बड़ा ही अनर्थ किया है। क्योंकि विश्वासघात से बढ़कर दूसरा कोई पाप कर्म नहीं होता है। कहा भी गया है—

मित्र के साथ द्रोह करने वाले, किसी के उपकार को न मानने वाले (कृतघ्न) और विश्वासघात करने वाले मनुष्य तब तक नरक में निवास करते हैं जब तक कि सूर्य और चन्द्र का अस्तित्व कायम रहता है ॥ ४५४॥

भूमि का नाश होने (राज्य की सीमा के भीतर पड़ने वाली भूमि का दूसरों के हाथ में चले जाने) अथवा बुद्धिमान् सेवक के नष्ट हो जाने से राजा का भी विनाश हो जाता है। लेकिन इन दोनों को एक समान (हानिकर) बताना ठीक नहीं, क्योंकि नष्ट हो जाने वाली (दूसरे के हाथ में गई) भूमि तो फिर से प्राप्त की जा सकती है किन्तु सेवक के नष्ट हो जाने पर वह फिर नहीं प्राप्त किया जा सकता ॥ ४५५॥

फिर सभा के बीच मैंने सदैव उसकी प्रशंसा ही की है तो मैं उनके सामने

तेषामग्रतः। उक्तं च—

उक्तो भवति यः पूर्वं गुणवानिति संसदि।
न तस्य दोषो वक्तव्यः प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा ॥ ४५६ ॥

एवंविधं प्रलपन्तं दमनकः समेत्य सहर्षमिदमाह— देव, कातरतमस्तवैष न्यायः, यद्द्रोहकारिणं शष्पभुजं हत्वेत्थं शोचसि। तन्नैतदुपपन्नं भूभुजाम्। उक्तं च—

पिता वा यदि वा भ्राता पुत्रो भार्याऽथवा सुहृत्।
प्राणद्रोहं यदा गच्छेद्धन्तव्यो नास्ति पातकम् ॥ ४५७ ॥

तथा च—राजा घृणी ब्राह्मणः सर्वभक्षी
स्त्री चात्रपा दुष्टमतिः सहायः।

उक्त इति। यः यो हि जनः, पूर्वं, येनेति अध्याहार्य्यम्; संसदि सभायां, गुणवानिति उक्तः भवति, प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा पूर्ववाक्यालीकत्वभयाकुलेन, तेनेति शेषः, तस्य जनस्य, दोषः प्रकृतापराधोऽपीति भावः, न वक्तव्यः, तथात्वे पूर्वापरविरोधे महत्त्वहानिः स्यादिति भावः ॥ ४५६ ॥

(१) कातरतमः—अतिदीनः, दुर्बलचित्त इत्यर्थः। न्यायः—व्यवहारः। द्रोहकारिणम्—अनिष्टकारिणम्। शष्पभुजं—तृणाशिनम्। उपपन्नं—युक्तम्। भूभुजां—राज्ञाम्।

पितेति। पिता वा, भ्राता यदि वा, पुत्रो वा, भार्य्या वा, अथवा सुहृत् मित्रं, यदा प्राणद्रोहं गच्छेत् प्राणान् हन्तुमिच्छेदित्यर्थः, तदा हन्तव्यः बध्यः, तत्र पातकं नास्ति, आततायिबधस्यापापजनकत्वस्मरणादिति भावः ॥ ४५७ ॥

राजेति। घृणी, घृणा कृपा अस्य अस्ति इति इनिः, दयालुः दयार्द्र-

---

क्या कहूँगा ? कहा भी गया है—

सभा के बीच यदि कोई किसी को पहले गुणवान् कह दे तो फिर उसे अपनी बात झूठी न पड़ जाय, इस डर से उसके दोषों का वर्णन नहीं करना चाहिए ॥ ४५६ ॥

इस प्रकार प्रलाप करते हुए पिंगलक के पास जाकर दमनक ने प्रसन्नता के साथ कहा—हे स्वामि ! आपकी यह नीति कायरों की नीति है जो उस तृण खाने वाले विद्रोही बैल को मारकर इस प्रकार शोक में पड़ हुए हैं। यह नीति राजाओं के लिए उचित नहीं है। कहा भी गया है—

पिता, भाई, पुत्र, स्त्री और मित्र-इनमें से चाहे कोई भी जब प्राण लेने की चेष्टा करे तो उसे अवश्य मार डालना चाहिए। ऐसा करने से कोई भी पाप नहीं होता ॥ ४५७ ॥

और भी—कोमल हृदय का राजा, भक्ष्याभक्ष्य (सभी प्रकार की वस्तुएँ खाने

प्रेष्यः प्रतीपोऽधिकृतः प्रमादी
त्याज्या अमी यश्च कृतं न वेत्ति ॥ ४५८ ॥

अपि च—सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या।
भूरिव्यया प्रचुरवित्तसमागमा च
वेश्याऽङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा। ४५९ ॥

अपि च—अकृतोपद्रवः कश्चिन्महानपि न पूज्यते।
पूजयन्ति नरा नागान्न तार्क्ष्यं नागघातिनम् ॥ ४६० ॥

हृदयत्वात् दुष्टनिग्रहासमर्थ इति भावः, 'घृणा जुगुप्साकृपयोः' इति मेदिनी, राजा, सर्वभक्षी सर्वभोजी, खाद्याखाद्यविचाररहितः इत्यर्थः, सदाचारविवर्जित इति भावः, ब्राह्मणः, अत्रपा निर्लज्जा, स्त्री कुलस्त्री इत्यर्थः, दुष्टमतिः कलुषितबुद्धिः, सहायः सहचरः, 'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति' इति स्मरणादिति भावः, प्रतीपः प्रतिकूलः, प्रेष्यः भृत्यः, प्रमादी अनवधानवान् अधिकृतः अध्यक्षः, राज्ञः प्रधानपुरुष इत्यर्थः, तथा यश्च कृतं कृतोपकारं, न वेत्ति न स्मरतीत्यर्थः कृतघ्न इति भावः, अमी त्याज्याः न आश्रणीया इति भावः। इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ४५८ ॥

सत्येति। नृपनीतिः राजनीतिः, वेश्याऽङ्गनेव वारवनितेव, अनेकरूपा बहुप्रकारा, बहुरूपविलासा इत्यर्थः, यतः सा क्वचित् सत्या, क्वचिदनृता मिथ्या च, परुषा निष्ठुरा, प्रियवादिनी च, हिंस्रा दयालुरपि च, अर्थपरा स्वार्थतत्परा, वदान्या बहुप्रदा चेत्यर्थः, भूरिव्यया बहुव्ययकारिणी, तथा प्रचुरवित्तसमागमा बहुधनोपार्जनशीला च, सत्यानृतत्वादीनां परस्परविरुद्धानामपि प्रियाप्रियविषयकतया एकत्र धर्मिभूतायां वेश्याऽङ्गनायां राजनीतौ च स्थितिर्न विरुध्यते इति ज्ञेयम्। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ४५९ ॥

अकृतोपद्रव इति। अकृतः अननुष्ठितः उपद्रवः अत्याचारः, परपीडनमित्यर्थः,

---

वाला) ब्राह्मण, लज्जारहित स्त्री, दुष्टबुद्धि वाला सहायक, विरुद्ध आचरण करने वाला सेवक, प्रमाद (आलस्य) करने वाला अध्यक्ष, और उपकार न मानने वाला (कृतघ्न) व्यक्ति—ये सभी त्याग देने योग्य होते हैं ॥ ४५८ ॥

और भी—जैसे वेश्या सत्य जैसा लगने पर भी असत्य बोलने वाली होती है, मीठी मीठ बातें करने पर भी कठोर हृदय वाली होती है, दया दिखाती हुई भी हिंसा से भरी होती है, धन का लोभ करती हुई भी दानी जैसी लगती है और बहुत सा धन चूसते हुए भी बहुत अधिक खर्च करने वाली होती है उसी प्रकार राजनीति भी विभिन्न रूपों को धारण करने वाली होती है ॥ ४५९ ॥

और भी—महान् से महान् व्यक्ति भी बिना उपद्रव किए लोगों द्वारा पूजनीय

तथा च—अशोच्यानन्वशोचँस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूँश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।। ४६१ ।।

एवं तेन सम्बोधितः पिङ्गलकः सञ्जीवकशोकं त्यक्त्वा दमनकसाचिव्येन राज्यमकरोत् ।

।। इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्र मित्रभेदो नाम प्रथमं तन्त्रम् ।। १ ।।

———०———

येन तादृशः, महानपि कश्चित् न पूज्यते नाद्रियते, तथा हि, नराः नागान् सर्पान्, अत्याचारिण इति भावः, पूजयन्ति, नागघातिनं सर्पहन्तारं, तार्क्ष्यं गरुडं, न, पूयजन्ति इत्यनुषङ्गः, सर्वत्र भक्तिः भयमूलिका एव, न तु क्वचित् भावमूलिका दृश्यते इति भावः ।। ४६० ।।

अशोच्यानीति । त्वम् अशोच्यान् शोकानर्हान्; अन्वशोचः अनुशोचसीत्यर्थः, सामान्यवचनेऽत्र लङ्, प्रज्ञावादांश्च बुद्धियुक्तवचनानि च, अथवा प्रज्ञानां पण्डितानाम्, अवदान् अवाच्यान्, तथा हि पण्डिता नैवं वदन्तीत्यर्थः, भाषसे कथयसि, किन्तु पण्डिताः जनाः, गतासून् मृतान्, अगतासूंश्च अमृतांश्च, न अनुशोचन्ति, मृतानुशोचनात् नितराम् अपण्डितस्त्वमिति भावः ।। ४६१ ।।

।। इति महाकवि पं० रामकुबेरमालवीयात्मज डा० सुधाकरमालवीयकृतायां पञ्चतन्त्रव्याख्यायां 'ज्योत्स्ना' मित्रभेदो नाम प्रथमं तन्त्रम् ।। १ ।।

———०———

नहीं बनता है । जैसे लोग साँपों को मारने वाले गरुड़ की पूजा नहीं करते किन्तु नागों की पूजा सभी लोग करते हैं ।। ४६० ।।

और भी—जिस विषय में शोक नहीं करना चाहिए, उसी के विषय में तुम शोक कर रहे हो और बातें तो बुद्धिमानों जैसी कर रहे हो । किन्तु जो पण्डित होते हैं वे मरने और जीने वालों के विषय में सोच-विचार करते ही नहीं है ।। ४६१ ।।

इस प्रकार उसके कहने पर पिंगलक संजीवक के मरने का शोक छोड़कर दमनक को मन्त्री बनाकर उसी के मंन्त्रित्व से राज्य करने लगा ।

।। इस प्रकार पञ्चतन्त्र के 'मित्रभेद' नामक प्रथम तन्त्र का डा० सुधाकर मालवीय कृत 'मृदुला' हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ ।। १ ।।

———०———

मित्रसम्प्राप्तिः

(द्वितीयं तन्त्रम्)

वाञ्छाविच्छेदनं प्राहुः स्वास्थ्यं शान्ता महर्षयः ।
वाञ्छा निवर्तते नार्थैः पिपासेवाग्नि सेवनैः ॥

शान्त महर्षियों ने इच्छाओं की निवृत्ति को ही मन की शान्ति कहा है, जैसे अग्निसेवन से प्यास नहीं मिटती उसी तरह इच्छा की निवृत्ति धन से नहीं होती ॥

—मित्रसम्प्राप्तिः १६०

अप्रियाण्यापि पथ्यानि ये वदन्ति नृणामिह ।
त एव सुहृदः प्रोक्ता अन्ये स्युर्नामधारकाः ॥

इस लोक में जो मनुष्य अप्रिय लगने वाले (परन्तु) हितकर वचन कहते हैं वे ही सच्चे मित्र कहे जाते हैं—और लोग तो नाममात्र के मित्र होते हैं ॥

—मित्रसम्प्राप्तिः १६७

कृष्णदास संस्कृत सीरीज
१२६

श्रीविष्णुशर्मविरचितम्

पञ्चतन्त्रम्

[मित्रसम्प्राप्तिः]

'ज्योत्स्ना' 'मृदुला' संस्कृतहिन्दीटीकोपेतम्

सम्पादक एवं व्याख्याकार
डॉ० सुधाकर मालवीय
एम०ए०, पीएच्०डी०, साहित्याचार्य
संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी



कृष्णदास अकादमी, वाराणसी-२२१००१
१९९०

प्रकाशक : कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०४७
मूल्य : १५ रु०

पो० बा० नं० ११५८
चौक (चित्रा सिनेमा बिल्डिंग), वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ६२१५०

अपरञ्च प्राप्तिस्थानम्
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० १००८, वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ६३१४५

KRISHNADAS SANSKRIT SERIES
126

PANCATANTRA
(MITRASAMPRAPTI)
OF
SRI VISHNU SHARMA

With Jyotsna & Mridula Sanskrit
& Hindi Commentaries

Edited & Translated by
Dr. SUDHAKAR MALAVIYA
M.A., Ph. D., Sahityacarya
Department of Sanskrit, Arts Faculty
Banaras Hindu Universiry, Varanasi



KRISHNADAS ACADEMY
VARANASI - 221001
1990

Publisher : Krishnadas, Academy, Varanasi
Printer : Chowkhamba Press, Varanasi
Edition : First, 1990
Price : Rs. 15/-

Oriental Publishers and Distributers
Post Box No 1118
Chowk (Chitra Cinema Building), Varanasi-221001
(INDIA)
Phone : 62150

Also can be had from :
Chowkhamba Sanskrit Series Office
K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1008, Varanasi-221001 (India)
Phone : 63145

मित्रसम्प्राप्ति

कथासूची

——०——

पञ्चतन्त्रम्

अथ मित्रसम्प्राप्तिः

(द्वितीयं तन्त्रम्)

अथेदमारभ्यते मित्रसम्प्राप्तिर्नाम द्वितीयं तन्त्रम्। यस्यायमाद्यः श्लोकः—

असाधना अपि प्राज्ञा बुद्धिमन्तो बहुश्रुताः।
साधयन्त्याशु कार्याणि काकाखुमृगकूर्मवत्॥ १॥

---

* ज्योत्स्ना *

वाचकः प्रणवो यस्य क्रीडावस्त्वखिलं जगत्।
श्रुतिराज्ञा वपुर्ज्ञानं तं वन्दे देवकीसुतम्॥
टीकामभिनवां रम्यां 'ज्योत्स्नां' च 'मृदुलां' तथा।
करोति बालबोधाय मालवीयः सुधाकरः॥

मित्रसम्प्राप्तिः—मित्रस्य सम्प्राप्तिः यत्र इति विग्रहे सुहृन्मिलनसाधनम् इत्यर्थः। तन्त्रं—प्रबन्धः, परिच्छेदः इति वा, अध्याय इति यावत्।

असाधना इति। बुद्धिमन्तः, बहुश्रुताः बहुशास्त्रदर्शिनः, श्रुतसंसारवृत्तान्ता वा, प्राज्ञाः विद्वांसः, जना इति शेषः; असाधनाः निरुपायाः अपि, काकाखुमृगकूर्मवत् काकमूषिकहरिणकच्छपा इव, आशु शीघ्रं, कार्याणि, साधयन्ति निष्पादयन्ति॥ १॥

---

* मृदुला *

इसके पश्चात् यह 'मित्रसम्प्राप्ति' नाम का दूसरा तन्त्र आरम्भ किया जा रहा है, जिसका यह प्रारम्भिक श्लोक है—

सांसारिक व्यवहार में चतुर तथा प्रतिभाशाली बुद्धिमान् व्यक्ति साधन के अभाव में भी कौवे, चूहे, हिरन, और कछुवे के समान अपने कार्य को शीघ्र ही परिपूर्ण कर लेते हैं॥ १॥

तद्यथानुश्रूयते—

अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम् । तस्य नातिदूरस्थो महोच्छ्रायवान्नानाविहङ्गोपभुक्तफलः कीटैरावृतकोटरश्छायाश्वासितपथिकजनसमूहो न्यग्रोधपादपो महान् । अथवा युक्तम्—

छायासुप्तमृगः शकुन्तनिवहैर्विष्वग्विलुप्तच्छदः
कीटैरावृतकोटरः कपिकुलैः स्कन्धे कृतप्रश्रयः ।
विश्रब्धं मधुपैर्निपीतकुसुमः श्लाघ्यः स एव द्रुमः
सर्वाङ्गैर्बहुसत्त्वसङ्गसुखदो भूभारभूतोऽपरः ॥ २ ॥

---

(१) नातिदूरस्थः—समीपस्थः, नञर्थस्य न-शब्दस्य 'सुप्सुपा' इति समासः । महोच्छ्रायवान्—अत्युन्नतः । नानाविहङ्गोपभुक्तफलः—नानाविहङ्गैः विविधपक्षिभिः, उपभुक्तानि भक्षितानीत्यर्थः, फलानि यस्य तथाविधः ।

(२) छायेति । छायया आश्वासितः—छायादानेन तर्पितः, पथिकजनानां समूहो येन तथोक्तः । न्यग्रोधपादपः—वटवृक्षः । महान्—श्लाघ्य इत्यर्थः ।

छायेति । छायासु अनातपेषु, सुप्ता मृगा यस्य तथोक्तः, विष्वक् समन्तात्; शकुन्तनिवहैः पक्षिसङ्घैः, विलुप्ताः त्रोटिताः भक्षिताः वा, छदाः पत्राणि यस्य तादृशः, कीटैः क्षुद्रजीवविशेषैः, आवृतानि व्याप्तानि, कोटराणि यस्य तादृशः, कपिकुलैः वानरवृन्दैः, स्कन्धे प्रकाण्डदेशे, कृतः प्रश्रयः प्रणयः, आश्रयग्रहणादिति भावः, 'प्रश्रयप्रणयौ समौ' इत्यमरः, यस्य तादृशः, मधुपैः भ्रमरैः, विश्रब्धं निःशङ्कं, निर्जनत्वादिति भावः, निपीतानि निःशेषेण आस्वादितानि, कुसुमानि पुष्पमधूनि इत्यर्थः, यस्य तथोक्तः, तथा सर्वैः अङ्गैः शाखाप्रशाखादिभिः बहूनां सत्त्वानां प्राणिनां, सङ्गे संसर्गे, आश्रयणे इत्यर्थः, सुखदः, य इति शेषः, स एव द्रुमः वृक्षः, श्लाघ्यः प्रशस्यः, अपरः एतद्व्यतिरिक्तः भुवः पृथिव्याः, भारभूतः भारस्वरूपः, अकिञ्चित्करः

जैसा कि सुना जाता है कि—

दक्षिण देश में महिलारोप्य नाम का एक नगर था । उसके निकट ही एक बहुत ऊँचा विशाल बरगद का पेड़ था । तरह-तरह के पक्षी उसके फल को खाया करते थे । उसके खोखले कीड़ों से भरे हुए थे । वह अपनी छाया से पथिकों को विश्रान्ति प्रदान करता था । अथवा यह उचित ही है कि—

जिस वृक्ष की छाया में हरिणों के झुण्ड सोया करते हैं, जिसके पत्ते पक्षियों के झुण्डों से चारों ओर से ढके रहते हैं, जिसके खोखलों में तरह-तरह के कीड़े-मकोड़े रहते हैं, जिसकी शाखाओं पर बन्दरों के झुण्ड आश्रय पाते हैं और जिसके फूलों का रस भौंरे निडर होकर पीते रहते हैं—इस

तत्र च लघुपतनको नाम वायसः प्रतिवसति स्म। स कदाचित्प्राणयात्रार्थं पुरमुद्दिश्य प्रचलितो यावत्पश्यति; तावज्जालहस्तोऽतिकृष्णतनुः स्फुटितचरण ऊर्ध्वकेशो यमकिंकराकारो नरः संमुखो बभूव। अथ तद्दृष्ट्वा शङ्कितमना व्यचिन्तयत्—'यदयं दुरात्माऽद्य ममाश्रयवट पादपसम्मुखोऽभ्येति। तन्न ज्ञायते किमद्य वटवासिनां विहङ्गमानां संक्षयो भविष्यति न वा।' एवं बहुविधं विचिन्त्य तत्क्षणान्निवृत्य तमेव वटपादपं गत्वा सर्वान्विहङ्गमान्प्रोवाच—'भोः! अयं दुरात्मा लुब्धको जालतण्डुलहस्तः समभ्येति। तत्सर्वथा तस्य न विश्वसनीयम्। एष जालं प्रसार्य तण्डुलान्प्रक्षेप्स्यति। ते तण्डुला भवद्भिः सर्वैरपि कालकूटसदृशा द्रष्टव्याः।' एवं वदतस्तस्य स लुब्धकस्तत्र वटतल आगत्य जालं प्रसार्य सिन्दुवारसदृशाँस्तण्डुलान्प्रक्षिप्य नातिदूरं गत्वा निभृतः स्थितः। अथ

इत्यर्थः, सर्वेषामविशेषेण आश्रयदाता एव धन्यः, नेतर इति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २ ॥

(१) प्राणयात्रार्थं—जीविकाऽन्वेषणार्थमित्यर्थः। पुरं—नगरम्। जालहस्तः—वागुराधारी। स्फुटितचरणः—विदीर्णचरणतलः।

(२) यमकिङ्कराकारः—यमदूतसदृशः, संक्षयः—विनाशः। लुब्धकः—व्याधः—सिन्दुरवारसदृशान्—सिन्दुरवारस्य 'निसिन्दा' इति प्रसिद्धवृक्षजात-

प्रकार अपने सभी अंगों से जीवों को सुख देने वाले वृक्ष का जीवन प्रशंसनीय होता है। इसके अतिरिक्त अन्य वृक्ष तो केवल पृथ्वी के बोझ मात्र होते हैं ॥ २ ॥

उस वट वृक्ष पर लघुपतनक नाम का कौवा रहता था। किसी दिन वह भोजन की खोज में नगर की ओर चला ही था कि तब तक हाथ में जाल लिए हुए अत्यन्त काले शरीर, कटे फटे पैरों एवं खड़े-खड़े बालों वाला यमदूत जैसा एक मनुष्य उसके सामने आता हुआ दिखाई पड़ा। उसे देखकर भयभीत हृदय से उसने विचार किया कि "यह दुष्टात्मा आज मेरे आश्रय स्थान वट वृक्ष की ओर आ रहा है। पता नहीं आज वट वृक्ष पर रहने वाले पक्षियों का विनाश हो जायगा या नहीं?" इस प्रकार तरह-तरह का विचार करता हुआ वह तत्काल ही लौट पड़ा और उसी वट वृक्ष पर जाकर सभी पक्षियों से उसने कहा—भाइयो, यह दुष्ट बहेलिया हाथ में जाल और चावल के दाने लिए हुए आ रहा है। इसलिए वह बिल्कुल विश्वास करने योग्य नहीं है। यह जाल को फैला कर चावल के दानों को बिखेर देगा। आप सब लोग उन चावल के दानों को हलाहल विष के समान देखिएगा। अभी वह इस प्रकार कह ही रहा था कि वह बहेलिया वहाँ वट वृक्ष के नीचे आकर जाल को फैला करके तथा निगुंण्डी

ये पक्षिणस्तत्र स्थितास्ते लघुपतनकवाक्यार्गलया निवारितास्ताँस्तण्डुलान् हालाहालाङ्कुरानिव वीक्षमाणा निभृतास्तस्थुः ।

अत्रान्तरे चित्रग्रीवो नाम कपोतराजः सहस्रपरिवारः प्राणयात्रार्थं परिभ्रमँस्ताँस्तण्डुलान्दूरतोऽपि पश्यल्लघुतरनकेन निवार्यमाणोऽपि जिह्वालौल्याद्भक्षणार्थमपतत् । सपरिवारो निबद्धश्च । अथवा साध्विवदमुच्यते—

जिह्वालौल्यप्रसक्तानां जलमध्यनिवासिनाम् ।
अचिन्तितो वधोऽज्ञानां मीनानामिव जायते ।। ३ ।।

अथवा दैवप्रतिकूलतया भवत्येवम् । न तस्य दोषोऽस्ति । उक्तं च—

कुसुमस्य, सदृशान् तुल्यान्, तस्य श्वेतत्वादिति भावः, तथा च 'मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारम्' इति कुमारे श्वेतपुष्पत्वात् मुक्तातुल्यत्वमुक्तम् । निभृतः—प्रच्छन्नः, गुप्त इति यावत् । लघुपतनकेति । लघु—क्षिप्रं, पतनम्—उड्डयनं यस्य तस्य; तदाख्यस्य काकस्य इत्यर्थः, वाक्यमेव अर्गला—द्वारावरोधकदण्डविशेषः तया ।

(१) हालाहलाङ्कुरान्–विषवृक्षप्ररोहान् । वीक्षमाणाः—पश्यन्तः । निभृताः—प्रच्छन्नाः, गुप्तभावेनेत्यर्थः ।

जिह्वेति । जिह्वायाः रसनायाः, लौल्यं चापल्यं, तस्मिन् प्रसक्तानाम् आसक्तानाम्, अतिलुब्धानाम् इत्यर्थः, अज्ञानां मूढानां, जलमध्यनिवासिनां सलिलमध्यस्थानां, मीनानां मत्स्यानामिव, अचिन्तितः अतर्कितः, वधः विनाशः, जायते सम्पद्यते, अतः अतिलोभो न कर्त्तव्यः इति भावः ।। ३ ।।

(एक प्रकार का पुष्प वृक्ष) के फूलों जैसे चावल के दानों को विखेर कर थोड़ी दूर पर छिप कर बैठ गया । उस वृक्ष पर जितने पक्षी मौजूद थे वे सभी लघुपतनक के वचन रूपी साँकल से अवरुद्ध होकर उन चावल के दानों को हालाहल विष के अङ्कुर के समान मानते हुए चुपचाप बैठे रहे ।

इसी बीच हजार कबूतरों का परिवार लिए कबूतरों का राजा चित्रग्रीव भोजन की खोज में घूमता हुआ उन चावल के दानों को दूर ही से देख कर लघुपतनक के मना करने पर भी जीभ की लोलुपता से खाने के लिए उन पर टूट पड़ा और पूरे परिवार के साथ जाल में बँध गया । अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

जीभ की लोलुपता में आसक्त तथा जल के बीच रहने वाली मछली के समान मूर्खों की मौत अचानक आ धमकती है ।। ३ ।।

अथवा दैव की प्रतिकूलता से ही ऐसा होता है । इसमें उसका दोष नहीं है । कहा भी गया है—

पौलस्त्यः कथमन्यदारहरणे दोषं न विज्ञातवान्
रामेणापि कथं न हेमहरिणस्यासंभवो लक्षितः ? ।
अक्षैश्चापि युधिष्ठिरेण सहसा प्राप्तो ह्यनर्थः कथं
प्रत्यासन्नविपत्तिमूढमनसां प्रायो मतिः क्षीयते ।। ४ ।।

तथा च—

कृतान्तपाशबद्धानां दैवोपहतचेतसाम् ।
बुद्धयः कुब्जगामिन्यो भवन्ति महतामपि ।। ५ ।।

अत्रान्तरे लुब्धकस्तान् बद्धान्विज्ञाय प्रहृष्टमनाः प्रोद्यतयष्टिस्तद्वधार्थं

---

(१) दैवप्रतिकूलतया—भाग्यविपर्ययेण ।

पौलस्त्य इति । पुलस्त्यस्यापत्यं पुमान् पौलस्त्यः पुलस्त्यकुलोत्पन्नः रावण इत्यर्थः; कथम् अन्यदारहरणे परस्त्रीहरणे, दोषं न विज्ञातवान् ? विदितवतोऽपि कथं बुद्धिभ्रंशः सञ्जात इति भावः, रामेणापि प्रमापुरुषेणापि, हेमहरिणस्य काञ्चनमृगस्य; असम्भवः कथं न लक्षितः ? युधिष्ठिरेणापि अक्षैः द्यूतैः, कथं सहसा अनर्थः विपद्, प्राप्तः हि ? पूर्वोक्तमर्थं दृढयति—प्रत्यासन्नेति । प्रत्यासन्न समीपवर्त्तिन्या उपस्थितया इत्यर्थः । विपत्त्या विपदा मूढं विभ्रान्तं, मनो येषां तादृशानां, मतिः बुद्धिः, प्रायः बाहुल्येन; क्षीयते स्वयमेव विलुप्यते, कर्मकर्त्तर्य्ययं प्रयोगः, विनाशकाले ह ज्ञानवतामपि बुद्धिविपर्य्ययो जायते इति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।। ४ ।।

कृतान्तेति । कृतान्तस्य यमस्य, पाशेन रज्ज्वा, बद्धानां, सन्निहितमृत्यूनामित्यर्थः, दैवेन; दुष्टेन इति भावः, उपहृतं विकृतमित्यर्थः, चेतः चित्तं येषां तादृशानां, महतामपि बुद्धयः कुब्जगामिन्यः कुब्जवत् सङ्कुचितप्रसराः, जडप्राया इत्यर्थः भवन्ति ।। ५ ।।

(२) लुब्धकः—व्याधः । प्रोद्यतयष्टिः—उद्धृतदण्डः ।

क्या पुलस्त्य के कुल में उत्पन्न रावण परस्त्री के हरण करने में दोष नहीं जानता था ? क्या राम ने यह नहीं समझा था कि सोने का मृग होना असम्भव है ? युद्धिष्ठिर ने जुआ खेलकर सहसा महान् अनर्थ (वनवास) कैसे प्राप्त कर लिया ? सच तो यह है कि विपत्ति के अत्यन्त सन्निकट आने पर किंकर्त्तव्यविमूढ़ पुरुषों की बुद्धि प्रायः नष्ट हो जाती है ।। ४ ।।

और भी—यमराज के फंदे में पड़े हुए तथा दैववशात् विवेकभ्रष्ट महापुरुषों की बुद्धि भी टेढ़ी-मेढ़ी होकर चलने लगती है अर्थात् बुरा रास्ता पकड़ लेती है ।। ५ ।।

प्रधावितः। चित्रग्रीवोऽप्यात्मानं सपरिवारं बद्धं मत्वा लुब्धकमायान्तं दृष्ट्वा तान्कपोतानूचे—'अहो, न भेतव्यम्। उक्तं च—

व्यसनेष्वेव सर्वेषु यस्य बुद्धिर्न हीयते।
स तेषां पारमभ्येति तत्प्रभावादसंशयम्॥ ६॥
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता।
उदये सविता रक्तो रक्तश्चास्तमये तथा॥ ७॥

तत्सर्वे वयं हेलयोड्डीय सपाशजाला अस्यादर्शनं गत्वा मुक्तिं प्राप्नुमः। नो चेद् भयविक्लवाः सन्तो हेलया समुत्पातं न करिष्यथ, ततो मृत्युमवाप्स्यथ। उक्तं च—

व्यसनेष्विति। सर्वेषु व्यसनेषु विपत्सु एव, यस्य बुद्धिः न हीयते, हाधातोः कर्मकर्त्तरि लट्, स्वयमेव न भ्रश्यते, सः तत्प्रभावात् तस्याः बुद्धेः प्रभावात सामर्थ्यात्, असंशयं निःसन्देहं यथा तथा, तेषां व्यसनानां, पारम् अन्तम्, अभ्येति प्राप्नोति, धीराः विपद्भ्यः स्वयमेव उत्तीर्य्यन्ते इति भावः॥ ६॥

सम्पत्ताविति। सम्पत्तौ अभ्युदये च, विपत्तौ विपदि च, महताम् एकरूपता समभावः एव, न भावान्तरमिति भावः, विद्यते इति शेषः, तथा हि सविता सूर्य्यः, उदये रक्तः लोहितवर्णः, तथा अस्तमये च रक्तः, न तु उदयास्तमययोर्भिन्नरूपमिति भावः। 'उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च। उत्सवे व्यसने चैव महतामेकरूपता।' इति वा पाठान्तरम्॥ ७॥

(१) मुक्तिं—मोक्षणं, अतस्त्राणमित्यर्थः, 'मुक्तिर्मोक्षे च मोक्षणे' इति मेदिनी।

इसके पश्चात् बहेलिया उन कबूतरों को फँसा हुआ देखकर प्रसन्नता के साथ डंडा उठाकर उन्हे मारने के लिए दौड़ा। चित्रग्रीव ने भी सपरिवार अपने को (जाल में) फँसा हुआ समझ कर तथा बहेलिए को आते देख कर उन कबूतरों से कहा—भाइयों! इस समय डरने का काम नहीं है। कहा भी गया है—

सभी प्रकार की विपत्तियों के आ जाने पर भी जिसकी बुद्धि नष्ट नहीं होती है, वह निस्सन्देह अपनी उसी बुद्धि के प्रभाव से ही उन विपत्तियों के पार पहुँच जाता है॥ ६॥

जैसे सूर्य उदय के समय रक्तवर्ण होकर निकलता है और अस्त के समय रक्तवर्ण का ही होकर अस्त भी होता है उसी प्रकार चाहे सम्पत्ति का समय हो या विपत्ति का समय हो किन्तु महान् पुरुष दोनों स्थिति में समान भाव से रहते हैं॥ ७॥

इसलिए हम सब खेल ही खेल में इस जाल रूपी फन्दे को लेकर उड़ चलें तो इसकी आँख से ओझल होने पर इससे छुटकारा पा सकते हैं। यदि भय से

तनवोऽप्यायता नित्य तन्तवो बहुलाः समाः ।
बहून्बहुत्वादायासान्सहन्तीत्युपमा सताम् ॥ ८ ॥

तथाऽनुष्ठिते लुब्धको जालमादायाकाशे गच्छतां तेषां पृष्ठतो भूमिष्ठोऽपि पर्यधावत् । तत ऊर्ध्वाननः श्लोकमेनमपठत्—

जालमादाय गच्छन्ति संहताः पक्षिणोऽप्यमी ।
यावच्च विवदिष्यन्ते पतिष्यन्ति न संशयः ॥ ९ ॥

हेलया—अवज्ञया । समुत्पातम्—उड्डयनम् ।

तनव इति । नित्यं सततं, तनवः सूक्ष्माः, आयताः विस्तीर्णाः, दीर्घा वा, तथा बहुलाः प्रभूताः, समाः तुल्यरूपाः अपि, तन्तवः वस्त्रापरनामलब्धानि सूत्राणि, बहुत्वात् बहुसङ्ख्यकत्वात्, बहून् आयासान् गुरुभारवहनादिरूपान्, सहन्ति, सह-धातोः परस्मैपदं विवक्षावशात्, इति सतां साधूनाम् उपमा निदर्शनम्, यथा सूक्ष्माण्यपि सूत्राणि बहूनि मिलितानि गुरुभारं वहन्ति, तथा क्षुद्रा अपि बहवः मिलिताः स्वकार्य्यं साधयन्ति इति भावः ॥ ८ ॥

(१) भूमिष्ठः—भूमौ पृथिव्यां तिष्ठति इति कः । 'अम्बाम्बगोभूमि—(पा० सू० ८।३।९७) इति षत्वम् । 'भूमिस्थः' इति पाठस्तु चिन्त्य एव ।

जालमिति । पक्षिणः अपि अमी दुर्बला अपीति भावः, संहताः मिलिताः सन्तः, जालमादाय गच्छन्ति यावच्च विवदिष्यन्ते विरुद्धबुद्धिपूर्वकं विचित्रं वक्ष्यन्ति इत्यर्थः, परस्परमिति शेषः, अत्र वदतेः विमत्यर्थे वर्त्तमानत्वात् 'भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः' (पा० सू० १।३।४७) इति तङ् तावच्च पतिष्यन्ति, न संशयः सन्देहो नास्ति इत्यर्थः ॥ ९ ॥

व्याकुल होकर तुम लोग (एक-साथ) उड़ान नहीं भरोगे तो मृत्यु को प्राप्त करोगे । कहा भी गया है—

तन्तु (पतला सूत) बहुत सूक्ष्म और लम्बा होने पर भी यदि बहुत सा एक साथ इकट्ठा हो जाय तो वे बहुत से बोझ या झटकों को सहन करने में समर्थ हो जाते हैं । ठीक यही स्थिति सज्जनों की भी होती है । अर्थात् वे भी स्वयं निर्बल होने पर भी दूसरों के साथ मिलकर काम करने पर विपत्तियों से छुटकारा पा जाते हैं ॥ ८ ॥

ऐसा करने पर अर्थात् कबूतरों द्वारा जाल लेकर उड़ जाने पर बहेलिया जाल लेकर आकाश में जाते हुए उन पक्षियों के पीछे पीछे पृथ्वी पर ही दौड़ने लगा । और मुँह ऊपर उठा कर यह श्लोक पढ़ने लगा—

ये पक्षी एक जुट होकर जाल लेकर उड़े जा रहे हैं किन्तु जब ये आपस में झगड़ने लगेंगे तो निःसन्देह (आकाश से) नीचे गिर पड़ेंगे ॥ ९ ॥

लघुपतनकोऽपि प्राणयात्राक्रियां त्यक्त्वा 'किमत्र भविष्यति' इति कुतूहलात्तत्पृष्ठतोऽनुसरति। अथ दृष्टेरगोचरतां गतान्विज्ञाय लुब्धको निराशः श्लोकमपठन्निवृत्तश्च—

'नहि भवति यन्न भाव्यं भवति' च भाव्यं विनापि यत्नेन।
करतलगतमपि नश्यति यस्य हि भवितव्यता नास्ति ॥ १० ॥

तथा च— पराङ्मुखे विधौ चेत्स्यात्कथंचिद्द्रविणोदयः।
तत्सोऽन्यदपि संगृह्य याति शङ्खनिधिर्यथा ॥ ११ ॥

तदास्तां तावद्विहङ्गामिषलोभो यावत्कुटुम्बवर्तनोपायभूतं जालमपि मे

न हीति। यत् न भाव्यं केनापि नैव भवितव्यम् इत्यर्थः, तदिति शेषः, यत्नेन अपीति अध्याहार्य्यं, न हि भवति सम्पद्यते, यच्च भाव्यं केनचित्, भवितव्यमेव, तदिति शेषः, प्रयत्नेन प्रकृष्टचेष्टया विना, अपीति शेषः, भवति च भवत्येव, यस्य भवितव्यता अवश्यम्भाविता नास्ति, करतलगतमपि हस्तस्थमपि, तत् द्रव्यमिति शेषः, नश्यति दूरं याति; भाग्यहीनस्य कुतः लाभः? इति भावः। आर्य्या वृत्तम् ॥ १० ॥

पराङ्मुखे इति। विधौ दैवे, पराङ्मुखे, चेत् यदि, कथञ्चित् द्रविणोदयः धनागमः, स्यात्, तत् तदा, सः द्रविणोदयः, अन्यदपि पूर्वार्जितं धनमपि, संगृह्य याति गच्छति, दैवानुकम्पितमिति शेषः; शङ्खनिधिर्यथेति—शङ्खनिधिर्यथा स्वाकारिणः पुत्रकलत्रादीनमपि वञ्चयित्वा केवलं तमेव पोषयति तथा प्रसन्नं दैवं प्रतिकूलदैवस्य सर्वं धनं गृहीत्वा स्वानुगृहीतमेव पोषयतीति भावः ॥ ११ ॥

(१) विहङ्गाऽऽमिषलोभः— विहङ्गः—पक्षी विहायसा गच्छति इति गमधातोः

लघुपतनक भी अपने चारे की खोज करना छोड़कर 'देखें इसमें क्या दोष होगा?' इस कुतूहल से उन पक्षियों के पीछे-पीछे चल पड़ा। बहेलिया भी उनके अपनी आँख से ओझल हो जाने पर निराश होकर यह श्लोक पढ़ता हुआ लौट पड़ा—

जो होने वाला नहीं है वह कदापि नहीं होता और जो होने वाला है वह विना प्रयत्न किए ही हो जाता है। अगर भवितव्यता नहीं है तो हाथ में आई हुई वस्तु भी नष्ट हो जाती है ॥ १० ॥

और भी—यदि किसी प्रकार कुछ धन की प्राप्ति हो भी जाय तो भी दैव के प्रतिकूल होने पर वह पास की अन्य सम्पत्ति को भी लेकर शङ्खनिधि के समान नष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

पक्षियों के मांस खाने की लालच पूरी होने की तो बात ही दूर रही, सारे

नष्टम् ।'

चित्रग्रीवोऽपि लुब्धकमदर्शनीभूतं ज्ञात्वा तानुवाच—'भोः, निवृत्तः स दुरात्मा लुब्धकः । तत्सर्वैरपि स्वस्थैर्गम्यतां महिलारोप्यस्य प्रागुत्तर-दिग्भागे । तत्र मम सुहृद्धिरण्यको नाम मूषकः सर्वेषां पाशच्छेदं करिष्यति । उक्तं च—

सर्वेषामेव मर्त्यानां व्यसने समुपस्थिते ।
वाङ्मात्रेणापि साहाय्यं मित्रादन्यो न सन्दधे ॥ १२ ॥

एवं ते कपोताश्चित्रग्रीवेण सबोधिता महिलारोप्ये नगरे हिरण्यक-बिलदुर्गं प्रापुः । हिरण्यकोऽपि सहस्रमुखबिलदुर्गं प्रविष्टः सन्नकुतोभयः

खचि 'विहायसो विह इति वाच्यम्' इति वार्तिक सूत्रेण विहादेशात् 'खच्च डिद्वा वाच्यः' ईति वार्तिकेन खचः वैभाषिकडिद्भावात् मुमागमे च विहङ्ग इति सिद्धम् । पक्षे विहगः विहङ्गम इति च, तस्य आमिषलोभः—पक्षिमांसलोभः इत्यर्थः ।

(१) कुटुम्बेति । कुटुम्बानां—परिवाराणां, वर्त्तनं—जीविका, तस्य उपाय-भूतम्—उपायस्वरूपम् । स्वस्थैः—निःशङ्कैरित्यर्थः । पाशच्छेदं—बन्धन-कर्त्तनम् ।

सर्वेषामिति । सर्वेषामेव मर्त्यानां, व्यसने विपदि, समुपस्थिते सति, मित्रात् सुहृदः, अन्यः अपरः, मित्रात् इत्यत्र 'अन्यारादितरर्त्ते—' (पा० सू० २।३।२९) इत्यादिना पञ्चमी । वाङ्मात्रेण वचनमात्रेणापि, साहाय्यं सहायतां, न सन्दधे नानुष्ठितवान् । धाञ् धातोः लिटि रूपम् ॥ १२ ॥

(२) सहस्रेति । सहस्रशब्दोऽत्र बहुवाची । अकुतोभयः—नास्ति कुतोऽपि भयं यस्येति 'मयूरव्यंसकादयश्च' (पा० सू० २।१।७२) इति समासः निर्भीकः

परिवार के पालन पोषण का एक मात्र साधन मेरा जाल भी चला गया ।

चित्रग्रीव ने भी बहेलिए की आँख से ओझल हो जाने पर उन पक्षियों से कहा—'भाइयों, वह दुष्ट बहेलिया लौट गया है । इसलिए तुम सभी निर्भय होकर महिलारोप्य नगर के पूरब उत्तर की ओर चलो । वहाँ मेरा मित्र हिरण्यक नाम का चूहा सबके बन्धन को काट देगा । कहा भी गया हैं—

सभी मनुष्यों के ऊपर विपत्ति आ जाने पर मित्र के अतिरिक्त अन्य कोई भी व्यक्ति उनकी वचन मात्र से भी सहायता नहीं करता है ॥ १२ ॥

चित्रग्रीव के इस प्रकार कहने पर वे सभी कबूतर महिलारोप्य नगर में स्थित हिरण्यक के बिल रूपी किले में पहुँच गए । हिरण्यक भी वहाँ हजार मुख (द्वार) वाले बिल रूपी किले में प्रविष्ट होकर निर्भयता के साथ सुख पूर्वक निवास कर

सुखेनास्ते। अथवा साध्विदमुच्यते—

[अनागतं भयं दृष्ट्वा नीतिशास्त्रविशारदः।
अवसत् मूषकस्तत्र कृत्वा शतमुखं बिलम्॥]
दंष्ट्राविरहितः सर्पो मदहीनो यथा गजः।
सर्वेषां जायते वश्यो दुर्गहीनस्तथा नृपः॥ १३॥

तथा च— न गजानां सहस्रेण न च लक्षेण वाजिनाम्।
तत्कर्म सिध्यते राज्ञां दुर्गेणैकेन यद्रणे॥ १४॥
शतमेकोऽपि सन्धत्ते प्राकारस्थो धनुर्धरः।
तस्माद्दुर्गं प्रशंसन्ति नीतिशास्त्रविदो जनाः॥ १५॥

इत्यर्थः।

[अनागतमिति। नीतिशास्त्रविशारदः नयविद्यानिपुणः, मूषकः उन्दुरुः, अनागतम् आगामि इत्यर्थः, भयं दृष्ट्वा विविच्य, शतमुखं शतशब्दोऽत्र बहुवाची बिल गर्त्तं, तत्र अवसत्॥]

दंष्ट्रेति। यथा दंष्ट्राविरहितः विषदन्तहीनः, सर्पः, यथा च मदहीनो गजः, सर्वेषां वश्यः वशीभूतः, जायते भवति, तथा दुर्गहीनो नृपः, सर्वेषां वश्यो जायते इत्यनुषङ्गः॥ १३॥

नेति। एकेन दुर्गेण रणे राज्ञां यत् कर्म, सिद्ध्यते निष्पाद्यते, सेनानीभिरिति शेषः कर्मणि लट् तत् कर्म गजानां सहस्रेण न, वाजिनाम् अश्वानां; लक्षेण च न, सिध्यते इत्यनुषङ्गः॥ १४॥

शतमिति। प्राकारास्थः दुर्गप्राचीरस्थः एकोऽपि धनुर्धरः शतं बहून् योधान्

रहा था। अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

[नीतिशास्त्र के ज्ञाता लोग मूषक के समान आगामी विपत्ति को जानकर अनेक द्वार वाले दुर्ग में रहते हैं।]

जैसे दाँत (विष के दाँत) से रहित साँप और मद से रहित हाथी सबके वश में हो जाता है। वैसे ही दुर्ग (किला) से रहित राजा भी सबके अधीन हो जाता है अर्थात् शत्रु से पराजित हो जाता है॥ १३॥

और भी—युद्ध के समय राजाओं का जितना काम केवल एक किले से सिद्ध होता है उतना हजारों हाथियों और लाखों घोड़ों से भी नहीं सिद्ध हो सकता है॥ १४॥

दुर्ग की चहारदीवारी पर खड़ा एक ही धनुष धारण करने वाला सैनिक सैकड़ों सैनिकों को भी निशाना बना सकता है। इसीलिए नीतिशास्त्र के विद्वानों ने दुर्ग की प्रशंसा की है॥ १५॥

अथ चित्रग्रीवो बिलमासाद्य तारस्वरेण प्रोवाच—'भोः भोः मित्र हिरण्यक, सत्वरमागच्छ। महती मे व्यसनावस्था वर्तते।' तच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि बिलदुर्गान्तर्गतः सन्प्रोवाच—'भोः, को भवान्? किमर्थमायातः? किं कारणम्? कीदृक्ते व्यसनावस्थानम्? तत्कथ्यताम्' इति। तच्छ्रुत्वा चित्रग्रीव आह—'भोः, चित्रग्रीवो नाम कपोतराजोऽहं ते सुहृत्। तत्सत्वरमागच्छ। गुरुतरं प्रयोजनमस्ति।' तदाकर्ण्य पुलकिततनुः प्रहृष्टात्मा स्थिरमनास्त्वरमाणो निष्क्रान्तः।

अथवा साध्विदमुच्यते—

सुहृदः स्नेहसम्पन्ना लोचनानन्ददायिनः।
गृहे गृहवतां नित्यं नागच्छन्ति महात्मनाम् ॥ १६ ॥
आदित्यस्योदयस्तात! ताम्बूलं भारती कथा।
इष्टा भार्या सुमित्रं च अपूर्वाणि दिने दिने ॥ १७ ॥

इत्यर्थः, सन्धत्ते योधयति इत्यर्थः, तस्मात् नीतिशास्त्रविदा जनाः दुर्गं प्रशंसन्ति ॥ १५ ॥

(१) व्यसनावस्था—विपदवस्था।

सुहृद इति। स्नेहसम्पन्नाः स्निग्धाः, अत एव लोचनानन्ददायिनः नेत्रप्रीतिप्रदाः, सुहृदः महात्मनां धन्यानां, गृहवतां गृहिणां, गृहे नित्यं न आगच्छन्ति, कदाचिदागच्छन्ति इत्यर्थः, तस्मात् तेषां परिचर्य्या अवश्यं कर्त्तव्या इति भावः ॥ १६ ॥

आदित्यस्येति। हे तात! आदित्यस्य उदयः सूर्योदयः 'उदयस्तु पुमान्

इसके पश्चात् चित्रग्रीव ने बिल के समीप जाकर उच्च स्वर से कहा—"हे मित्र हिरण्यक, शीघ्र ही आओ। इस समय मैं बहुत बड़ी विपत्ति में फँस गया हूँ।" यह सुनकर हिरण्यक ने भी बिल रूपी किले के भीतर ही से कहा—आप आप कौन है? किस लिए आए हैं? क्या कारण है? आप किस प्रकार की विपत्ति में पड़े हैं? इन सभी प्रश्नों का उत्तर दीजिए?" यह सुनकर चित्रग्रीव ने कहा—"मैं कबूतरों का राजा तुम्हारा मित्र चित्रग्रीव हूँ। इस लिए शीघ्र ही आओ। बहुत बड़ा काम है।" यह सुनकर पुलकित शरीर और प्रसन्न हृदय से निर्भय होकर वह शीघ्रता के साथ बिल से बाहर निकला।

अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

स्नेह से परिपूर्ण तथा नेत्रों को आनन्द प्रदान करने वाले मित्र सज्जन गृहस्थों के घर सर्वदा नहीं आते हैं ॥ १६ ॥

सुहृदो भवने यस्य समागच्छन्ति नित्यशः।
चित्ते च तस्य सौख्यस्य न किञ्चित्प्रतिमं सुखम् ॥ १८ ॥

अथ चित्रग्रीवं सपरिवारं पाशबद्धमालोक्य हिरण्यकः सविषादमिदमाह—'भोः, किमेतत् ?' स आह—भोः, जानन्नपि किं पृच्छसि ? उक्तं च यतः—

यस्माच्च येन च यदा च यथा च यच्च
यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकर्म।
तस्माच्च तेन च तदा च तथा च तच्च
तावच्च तत्र च कृतान्तवशादुपैति ॥ १९ ॥

पूर्वपर्वते च समुन्नतौ' इति मेदिनी ताम्बूलं, भारती कथा महाभारतीयमाख्यानम् इत्यर्थः; इष्टा प्रिया, भार्य्या पत्नी, तथा सुमित्रं सद्बन्धुश्च, एतानि दिने दिने प्रतिदिनम्, अपूर्वाणि नवानि इव प्रीतिकराणि इति भावः ॥ १७ ॥

सुहृद इति। यस्य भवने गृहे, सुहृदः मित्राणि, नित्यशः सततं समागच्छन्ति तस्य चित्ते मनसि, जातस्येति शेषः, सौख्यस्य सुखसन्तानस्य, प्रतिमं तुल्यं, सुखं सन्तोषः, किञ्चित् किमपि; न च नैव, अस्ति इति शेषः ॥ १८ ॥

यस्मादिति। कृतान्तवशात् दैववशात्, 'कृतान्तो यमदैवयोः' इत्यमरः यस्माच्च प्रदेशाच्च, येन च कारणेन च, यदा च यस्मिन् काले च, यथा च यादृशञ्च, यावच्च यत्परिमितञ्च, यत्र च यस्मिन् लोके च, यच्च शुभाशुभम्, आत्मकर्म, कृतमिति शेषः, तस्माच्च देशाच्च, तेन च कारणेन च, तदा च तस्मिन् काले च, तथा च तादृशञ्च, तावच्च तत्परिमितञ्च, तत्र च तस्मिन् लोके च, तच्च

हे तात ! सूर्य का उदय, पान का बीड़ा, महाभारत की कथा, मनोनुकूल पत्नी और सच्चे मित्र प्रतिदिन नए नए से प्रतीत होते रहते हैं अर्थात् इन्हें देखकर प्रतिदिन नया नया सुख मिलता रहता है ॥ १७ ॥

जिस व्यक्ति के घर में नित्य ही मित्र आते रहते हैं उस व्यक्ति के चित्त में होने वाले सुख के समान दूसरा सुख नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

इसके पश्चात् चित्रग्रीव को सपरिवार जाल के बन्धन में पड़ा हुआ देखकर हिरण्यक ने दुःख के साथ कहा—'मित्र यह तुम्हारी क्या हालत है?' उसने कहा—'मित्र, जानते हुए भी क्यों पूँछ रहे हो ? कहा भी गया है कि—

मनुष्य अपने पूर्व जन्म में जिस स्थान से, जिस हेतु से, जिस समय, जैसा, जो, जितना और जहाँ अच्छा या बुरा कर्म करता है वह भाग्यवश (अपने वर्तमान जीवन में) अपने उन्हीं कर्मों का उसी स्थान से, उसी हेतु से, उसी समय, वैसा

तत्प्राप्तं मयैतद्बन्धनं जिह्वालौल्यात्। साम्प्रतं त्वं सत्वरं पाशविमोक्षं कुरु। तदाकर्ण्य हिरण्यकः प्राह—

अर्धार्धाद्योजनशतादामिषं वीक्षते खगः।
सोऽपि पार्श्वस्थितं दैवाद् बन्धनं न च पश्यति ॥ २० ॥

तथा च—

रविनिशाकरयोर्ग्रहपीडनं
गजभुजङ्गविहङ्गमबन्धनम् ।
मतिमतां च निरीक्ष्य दरिद्रतां
विधिरहो ! बलवानिति मे मतिः ॥ २१ ॥

शुभमशुभं वा आत्मकर्म, उपैति उपगच्छति, सर्वमविकलमेव प्राक्तनकर्मफलमुपभुञ्जते जना इति तु तात्पर्यम्। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ १९ ॥

अर्द्धार्द्धादिति। खगः पक्षी, अर्द्धार्द्धात् योजनशतात् पञ्चविंशतियोजनात्, 'अध्यर्द्धात्' इति पाठान्तरं साधु, आमिषं भोग्यं वस्तु; वीक्षते पश्यति, किन्तु सोऽपि खगः, दैवात् दौर्भाग्यात्, पार्श्वस्थितं बन्धनं बन्धनहेतुं पाशम् इत्यर्थः, न च पश्यति ॥ २० ॥

रवीति। रविनिशाकरयोः सूर्य्यचन्द्रमसोः, ग्रहेण राहुणा पीडनं ग्रसनमित्यर्थः, गजानां, भुजङ्गानां सर्पाणां, विहङ्गमानां पक्षिणाञ्च, बन्धनं संयमनं मतिमतां बुद्धिमताञ्च, दरिद्रतां वीक्ष्य दृष्ट्वा, विधिः दैवम् इत्यर्थः, 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः। बलवान् सर्वेभ्यः बलवत्तमः। तथा हि—'बलवता दैवेन सर्वमनुष्ठीयते, निमित्तमात्रमन्यत्' इति मे मम, मतिः बुद्धिः, इति जानीयात् इति शेषः, अहो आश्चर्य्यम्। द्रुतविलम्बितं वृत्तं—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात् ॥ २१ ॥

ही, वही, उतना ही और वहीं फल भी करता है ॥ १९ ॥

मैंने यह बन्धन अपनी जीभ की लोलुपता के कारण प्राप्त किया है। तुम शीघ्र ही हमलोगों को जाल से मुक्त करो। यह सुनकर हिरण्यक ने कहा—

पक्षी पचास पचास योजन की दूरी से भी अपने भोजन की सामग्री देख लेता है किन्तु वही दैव के अधीन होकर अपने पास में ही स्थित फंदे को नहीं देख पाता ॥ २० ॥

और भी—सूर्य और चन्द्र जैसे ग्रहों का राहु से पीड़ित होने, हाथी जैसे बलवान् और साँप जैसे विषैले प्राणियों का बन्धन में पड़ जाने तथा बुद्धिमानों को दरिद्र होने को देखकर मेरा तो यह दृढ़ विचार है कि भाग्य ही सबसे अधिक बलवान् है ॥ २१ ॥

तथा च—

व्योमैकान्तविचारिणोऽपि विहगाः संप्राप्नुवन्त्यापदं
बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्मीनाः समुद्रादपि।
दुर्नीतं किमिहास्ति ? किं च सुकृतं कः स्थानलाभे गुणः ?
कालः सर्वजनान्प्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि ॥ २२ ॥

एवमुक्त्वा चित्रग्रीवस्य पाशं छेत्तुमुद्यतं स तमाह—'भद्र, मा मैवं कुरु। प्रथमं मम भृत्यानां पाशच्छेदं कुरु। तदनु ममापि च।' तच्छ्रुत्वा कुपितो हिरण्यकः प्राह—'भोः, न युक्तमुक्तं भवता। यतः स्वामिनोऽनन्तरं

व्योमैकान्तेति। विहगः पक्षिणः, व्योमैकान्तविचारिणोऽपि आकाशैकदेशविहरणशीला अपि, आपदं सम्प्राप्नुवन्ति। निपुणैः जनैः जालिकैरित्यर्थः, अगाधसलिलात् अगाधम् अतलस्पर्शं, सलिलं जलं यस्मिन् तस्मात्, 'अगाधतलस्पर्शम्' इत्यमरः। समुद्रादपि मीनाः मत्स्याः, बध्यन्ते, ध्रियन्ते। इह जगति, दुर्नीतं दुर्नयः, किम् अस्ति ? नास्ति इत्यर्थः। सुकृतञ्च किम् ? अस्ति इति शेषः, न किमपि इत्यर्थः, स्थानलाभे उत्तमस्थानप्राप्तौ च, कः गुणः ? उपकारः ? न कोऽपि इत्यर्थः, कालः प्राक्तनकर्मणां परिणतिसमय इत्यर्थः, प्रसारितकरः हस्तौ प्रसार्येत्यर्थः, दूरादपि सर्वजनान् गृह्णाति आकर्षति, समय एव बलाबलं करोति, नात्र पुरुषदोष इति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २२ ॥

(१) स्वामिनः—प्रभोः, पालयितुरित्यर्थः। अनन्तरं—पश्चादेव। भृत्याः—सेवकाः, उपजीवका इत्यर्थः, रक्षणीया इति शेषः, इयन्तु नीतिः यत्, आदौ प्रभवः संरक्षणीयाः, ततश्च सेवकाः इति, रक्षके रक्षिते सर्वेषामेव रक्षितत्वात्, त्वया तु तद्विरुद्धमनुष्ठातुमुच्यते, अतोऽन्याय्यमेतदित्याशयः।

और भी—आकाश के निर्जन प्रदेश में भी विचरण करने वाले पक्षी भी आपत्तियों में फंस जाते हैं, अथाह सागर से भी मछलियाँ चतुर मछेरों द्वारा पकड़ ली जाती हैं। (इससे तो यही सिद्ध होता है कि) इस संसार में न तो कोई पाप है, न तो कोई पुण्य है और किसी विशेष स्थान की प्राप्ति से भी कोई लाभ नहीं है। क्योंकि काल अपनी लम्बी भुजाएँ फैलाकर दूर से ही सभी प्राणियों को खींच लेता है ॥ २२ ॥

ऐसा कहकर हिरण्यक ज्यों ही चित्रग्रीव का बन्धन केनेटका ज़ि! तैयार हुआ त्यों ही चित्रग्रीव ने उससे कहा—'हे सौम्य, ऐसा मत कीजिए। पहले मेरे अनुचरों का बन्धन काटो। उसके पश्चात् मेरा बन्धन भी काटना।' यह सुन

भृत्याः ।' स आह—भद्र, मा मैवं वद । मदाश्रयाः सर्वे एते वराकाः । अपरं स्वकुटुम्बं परित्यज्य समागताः । तत्कथमेतावन्मात्रमपि सम्मानं न करोमि ? उक्तं च—

य: संमानं सदा धत्ते भृत्यानां क्षितिपोऽधिकम् ।
वित्ताभावेऽपि तं दृष्ट्वा ते त्यजन्ति न कर्हिचित् ॥ २३ ॥

तथा च—

विश्वासः सम्पदां मूलं तेन यूथपतिर्गजः ।
सिंहो मृगाधिपत्येऽपि न मृगैः परिवार्यते । २४ ॥

---

(१) मदाश्रयाः—मन्नाथाः, मदनुगता इत्यर्थः । एते—कपोताः । वराकाः—दीनाः । सम्मानं—समादरम् ।

य इति । यः क्षितिपः राजा, सदा भृत्यानाम् अधिकं सम्मानं धत्ते करोति इत्यर्थः; ते भृत्याः, वित्ताभावेऽपि धनाभावेऽपि, क्षितिपस्येति शेषः, तं क्षितिपं दृष्ट्वा कर्हिचित्, न त्यजन्ति, चिरमनुरक्तास्तिष्ठन्तीति भावः ॥ २३ ॥

विश्वास इति । विश्वासः अयमस्माकं राजा रक्षकश्चेति प्रत्ययः, सम्पदां मूलं कारणं, तेन विश्वासेन, गजः यूथपतिः गजसमूहानां प्रभुरित्यर्थः; गजाधिपत्य-मात्रे स्थितोऽप्ययमस्माकं विपदस्त्राता इति यूथपतौ तेषां प्रत्ययात् तैः सदा असौ परिवार्य्यते इति भावः, तथा मृगाधिपत्येऽपि, स्थित इति शेषः, सिंहः मृगैः न परि-वार्य्यते, सकलमृगाधिपत्ये स्थितोऽपि मृगेन्द्रः हिंस्रतया तत्र मृगाणां विश्वासाभावात् तैः सदा परित्यज्यते इति भावः, विश्वासस्यैवाभ्युदयमूलत्वादित्याशयः ॥ २४ ॥

कर क्रुद्ध होकर हिरण्यक ने कहा—'यह आपने उचित नहीं कहा है। क्योंकि स्वामी के पश्चात् सेवक का स्थान होता है।' उसने कहा—'सौम्य, ऐसा न कहें। एक तो ये सभी बेचारे मेरे आश्रित हैं, दूसरे अपने कुटुम्ब को छोड़कर मेरे साथ आए हैं। तो क्या मैं इनका इतना भी आदर न करूँ। कहा भी गया है—

जो राजा सर्वदा अपने सेवकों का सर्वाधिक सम्मान करता है उसके वे सेवक वैभव से रहित होने पर भी उसका साथ कभी नहीं छोड़ते हैं ॥ २३ ॥

और भी—विश्वास ही ऐश्वर्य का मूल कारण है (अर्थात् लोगों का विश्वास भाजन बनकर ही कोई व्यक्ति ऐश्वर्यशाली बनता है और लोग उसे घेरे रहते हैं) जैसे उसी विश्वास को प्राप्त करके हाथी अपने झुण्ड का मालिक बनता है और सभी हाथी उसको घेरे रहते हैं। किन्तु जंगल के पशुओं का विश्वासपात्र न होने के कारण मृगपति होते हुए भी सिंह को वे घेरे नहीं रहते हैं ॥ २४ ॥

अपरं मम कदाचित्पाशच्छेदं कुर्वतस्ते दन्तभङ्गो भवति। अथवा दुरात्मा लुब्धकः समभ्येति। तन्नूनं मम नरकपात एव। उक्तं च—

सदाचारेषु भृत्येषु संसीदत्सु च यः प्रभुः।
सुखी स्यान्नरकं याति परत्रेह च सीदति ॥ २५ ॥

तच्छ्रुत्वा प्रहृष्टो हिरण्यकः प्राह—'भोः, वेद्म्यहं राजधर्मम्। परं मया तव परीक्षा कृता। तत्सर्वेषां पूर्वं पाशच्छेदं करिष्यामि। भवानप्यनेन विधिना बहुकपोतपरिवारो भविष्यति। उक्तं च—

कारुण्यं संविभागश्च यस्य भृत्येषु सर्वदा।
सम्भवेत्स महीपालस्त्रैलोक्यस्यापि रक्षणे ॥ २६ ॥

एवमुक्त्वा सर्वेषां पाशच्छेदं कृत्वा हिरण्यकश्चित्रग्रीवमाह—'मित्र, गम्यतामधुना स्वाश्रयं प्रति, भूयोऽपि व्यसने प्राप्ते समागन्तव्यम्।' इति

सदिति। यश्च प्रभुः, सदाचारेषु सद्वृत्तेषु, अनुरक्तेष्वित्यर्थः, भृत्येषु ससीदत्सु विपद्यमानेषु सत्सु, सुखी निरुद्वेग इत्यर्थः, स्यात् भवेत्; स परत्र परलोकं, नरकं याति गच्छति, इह च अस्मिन् लोके च, सीदति कष्टं प्राप्नोति ॥ २५ ॥

कारुण्यमिति। यस्य भृत्येषु सर्वदा कारुण्यं दया, संविभागश्च सम्यक् विभज्य व्यवस्थापनञ्च, गुणदोषौ विविच्य धनदानमित्यर्थः, स्यादिति शेषः, स महीपालः, त्रैलोक्यास्यापि रक्षणे पालने, सम्भवेत् समर्थो भवेत् इत्यर्थः; नान्यथेति भावः ॥ २६ ॥

इसके अतिरिक्त यह भी तो हो सकता है कि मेरा बन्धन काटते समय कहीं तुम्हारा दाँत ही टूट जाय या वह दुष्ट बहेलिया ही आ जाय तो निश्चय ही मुझे नरक में गिरना पड़ेगा। कहा भी गया है—

जो स्वामी सच्चरित्र सेवकों की कष्टावस्था में भी (उसकी ओर ध्यान न देकर अपने ही सुख में मस्त रहता है वह इस संसार में तो कष्ट पाता ही है परलोक में भी वह नरक ही प्राप्त करता है ॥ २५ ॥

यह सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हृदय से हिरण्यक ने कहा—'चित्रग्रीव मैं राजधर्म जानता हूँ किन्तु मैंने तुम्हारी परीक्षा ली है। अतः सबसे पहिले मैं इन्हीं सबों का बन्धन काटूँगा। इससे आप बहुत कबूतरों का संयुक्त परिवार वाले बन जायेंगे। कहा भी गया है—

जिस राजा की अपने सेवकों पर सदा करुणा और कृपा रहती हैं वह राजा तीनों लोकों की रक्षा करने में भी समर्थ होता है ॥ २६ ॥

ऐसा कहकर सभी के बन्धनों को काटकर हिरण्यक ने चित्रग्रीव से कहा—मित्र, अब तुम अपने गन्तव्य स्थान को चले जाओ। किसी विपत्ति के आने पर

तान्संप्रेष्य पुनरपि दुर्गं प्रविष्टः। चित्रग्रीवोऽपि सपरिवारः स्वाश्रयमगमत्। अथवा साध्विदमुच्यते—

मित्रवान् साधयत्यर्थान् दुःसाध्यानपि वै यतः।
तस्मान्मित्राणि कुर्वीत समानान्येव चात्मनः॥ २७॥

लघुपतनकोऽपि वायसः सर्वं तं चित्रग्रीवबन्धमोक्षमवलोक्य विस्मितमना व्यचिन्तयत्—अहो बुद्धिरस्य हिरण्यकस्य शक्तिश्चदुर्गसामग्री च। तदीदृगेव विधिःविहङ्गानां बन्धनमोक्षात्मकः। अहं च न कस्यचिद्विश्वसिमि चलप्रकृतिश्च। तथाप्येनं मित्रं करोमि। उक्तं च—

अपि संपूर्णतायुक्तैः कर्तव्याः सुहृदो बुधैः।
नदीशः परिपूर्णोऽपि चन्द्रोदयमपेक्षते॥ २८॥

मित्रवानिति। यतः यस्मात् हेतोः, मित्रवान् अकृत्रिमसुहृत्सम्पन्नः, पुमानिति शेषः, दुःसाध्यानपि अशक्यानपि, अर्थान् प्रयोजनानि; साधयति वै सम्पादयति, तस्माच्च आत्मनः समानानि एव अनुरूपाणि एव, मित्राणि कुर्वीत॥ २७॥

(१) दुर्गसामग्री—दुर्गरक्षणोपायनिचयः। ईदृगेव विधिः—ईदृशैः सह मैत्रीकरणरूपं विधानमित्यर्थः।

(२) चलप्रकृतिः—चञ्चलस्वभावः। एनं—हिरण्यकम्।

अपीति। सम्पूर्णतायुक्तैः समस्तपरिपूर्णैरपि, बुधैः विद्वद्भिः, सुहृदः मित्राणि, कर्तव्याः। नदीशः समुद्रः, परिपूर्णोऽपि चन्द्रोदयम् अपेक्षते आकाङ्क्षति, समधिकपूर्णताऽऽशया इति भावः। अत्र पूर्णस्यापि जलधेः समधिकपूर्णताऽऽशया

फिर आना। इस प्रकार उन्हें विदा देकर वह फिर अपने बिलरूपी किले में चला गया। चित्रग्रीव भी सपरिवार अपने निवासस्थान पर चला गया। यह उचित ही कहा गया है कि—

मित्र वाला व्यक्ति कठिन से कठिन कार्यों को भी (मित्र की सहायता से) सिद्ध कर लेता है। अतः अपने अनुकूल मित्र अवश्य बनाना चाहिए॥ २७॥

लघुपतनक नाम वाले उस कौवे ने उस चित्रग्रीव के बन्धन में पड़ने और (हिरण्यक द्वारा) मुक्त होने को देखकर आश्चर्यचकित हृदय से विचार किया—इस हिरण्यक की बुद्धि और शक्ति तथा इसका दुर्ग भी कितना अद्भुत है! पक्षियों के बन्धन से मुक्त होने की यही विधि है। किन्तु एक तो मैं किसी पर विश्वास ही नहीं करता दूसरे चञ्चल स्वभाव का भी हूँ। फिर भी मैं इसे (हिरण्यक को) अपना मित्र बनाऊँगा। कहा भी गया है—

सभी प्रकार से भरा-पुरा (धन-धान्य, नौकर-चाकर आदि से युक्त) होने पर भी बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह मित्र जरूर बनावे। देखो—जल से

एवं संप्रधार्य पादपादवतीर्य बिलद्वारमाश्रित्य चित्रग्रीववच्छब्देन हिरण्यकं समाहूतवान्—'एह्येहि भोः हिरण्यक, एहि।' तच्छब्दं श्रुत्वा हिरण्यको व्यचिन्तयत्—'किमन्योऽपि कश्चित्कपोतो बन्धनशेषस्तिष्ठति येन मां व्याहरति ?' आह च—'भोः, को भवान्' ? स आह—'अहं लघुपतनको नाम वायसः।' तत् श्रुत्वा विशेषादन्तर्लीनो हिरण्यक आह—'भोः, द्रुतं गम्यतामस्मात्स्थानात्।' वायस आह—'अहं तव पार्श्वे गुरुकार्येण समागतः। तत्किं न क्रियते मया सह दर्शनम् ?' हिरण्यक आह—'न मेऽस्ति त्वया सह संगमेन प्रयोजनम्' इति। स आह—'भोः, चित्रग्रीवस्य मया तव सकाशात्पाशमोक्षणं दृष्टम्। तेन मम महती प्रीतिः संजाता। तत्कदाचिन्ममापि बन्धने जाते तव पार्श्वान्मुक्तिर्भविष्यति। तत्क्रियतां मया सह मैत्री।' हिरण्यक आह—'अहो, त्वं भोक्ता। अहं ते भोज्यभूतः, तत्का त्वया सह

चन्द्रोदयाकाङ्क्षावत् ऋद्धिमतोऽपि बुधस्य मित्राकाङ्क्षा कर्त्तव्येति सादृश्याक्षेपात् दृष्टान्तालङ्कारः ॥ २८ ॥

(१) सम्प्रधार्य्य—निश्चित्य। बिलद्वारं—गर्त्तमुखम्। बन्धनशेषः—बद्धावशिष्टः, अच्छिन्नपाश इति यावत्।

(२) अन्तर्लीनः—अभ्यन्तरगतः, शत्रुतः स्वपराभवमाशङ्क्येति भावः।

भरा होने भी समुद्र चन्द्रोदय की प्रतीक्षा करता ही है ॥ २८ ॥

ऐसा निश्चय करके पेड़ से उतरा और बिल के दरवाजे पर पहुँचकर चित्रग्रीव की तरह आवाज करते हुए हिरण्यक को पुकारा—आओ, आओ, हे हिरण्यक आओ। उसके शब्द को सुनकर हिरण्यक ने सोचा कि क्या कोई और भी दूसरा कबूतर अभी तक बन्धन में पड़ा ही रह गया है, जिससे मुझे बुला रहा है ? और कहा—'आप कौन हैं ?' उसने कहा—'मैं लघुपतनक नाम का कौवा हूँ।' यह सुनकर विशेषरूप से अपने को (बिल के भीतर) छिपाते हुए हिरण्यक ने कहा—'इस जगह से जल्दी चले जाओ।' कौवे ने कहा—'आप के पास बहुत बड़े काम से आया हूँ। फिर दर्शन क्यों नहीं दे रहे हैं ?' हिरण्यक ने कहा—'मुझे आप के साथ मेल करने की कोई आवश्यकता नहीं है।' उसने कहा—'मैंने तुम्हारे द्वारा चित्रग्रीव को बन्धनमुक्त होते देखा है। इससे तुम्हारे प्रति मुझे बड़ा स्नेह उत्पन्न हो गया है। कदाचित् मेरे भी बन्धन में पड़ने पर तुम्हारे द्वारा मुझे भी छुटकारा मिल जायेगा। इसलिए मेरे साथ मित्रता कर लो।' हिरण्यक ने कहा—'तुम भोक्ता (भोजन करने वाले) हो और मैं तुम्हारा भोजन हूँ। फिर तुम्हारे साथ मेरी मित्रता कैसी ? इसलिए तुम जाओ। हम तुम दोनों एक दूसरे

मम मैत्री ? तद्गम्यताम् । मन्त्री विरोधाभावात्कथम् ? उक्तं च—

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम् ।
तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥ २९ ॥

यो मित्रं कुरुते मूढ आत्मनोऽसदृशं कुधीः ।
हीनं वाऽप्यधिकं वापि हास्यतां यात्यसौ जनः ॥ ३० ॥

तद्गम्यताम्' इति । वायस आह—'भोः हिरण्यक ! एषोऽहं तव दुर्गद्वार उपविष्टः । यदि त्वं मैत्री न करोषि, ततोऽहं प्राणमोक्षणं तवाग्रे करिष्यामि । अथवा प्रायोपवेशनं मे स्यात्' इति । हिरण्यक आह—'भोः, त्वया वैरिणा सह कथं मैत्रीं करोमि ? उक्तं च

मैत्री—सौहार्दं, विरोधभावात्—सहजशत्रुतासत्त्वात्, कथम् ? सम्भवतीति शेषः; विरोधिना सह मैत्री अविधेयैवेत्याशयः ।

ययोरिति । ययोः वित्तं धनं, समम् एव, ययो कुलम् आभिजात्यं, समम् एव; तयोरेव मैत्री बन्धुता, विवाहश्च, परस्परं सङ्गच्छते इति शेषः, पुष्टविपुष्टयोः अधिकहीनयोः, परस्परविरुद्धयोरित्यर्थः, न, सङ्गच्छते इति शेषः, विषममिलनस्यानर्थफलकत्वान्नावयोः मैत्री शुभोदर्का इति भावः ॥ २९ ॥

य इति । यः कुधीः दुर्बुद्धिः, मूढः अविवेकी जनः, आत्मनः हीनं वा अधिकमपि वा, असदृशं मित्रं कुरुते, असौ हास्यताम् उपहासाऽऽस्पदत्वं, याति लभते; अतः त्वया सह मैत्री न युज्यते इति भावः ॥ ३० ॥

(१) प्रायोपवेशनं—अनशनव्रतम् ।

के विरोधी स्वभाव के हैं । इसलिए मित्रता कैसे हो सकती है ? कहा भी गया है—

जिन दो व्यक्तियों के धन और कुल में समानता होती है । उन्हीं दोनों के बीच मित्रता हो सकती । एक दूसरे से अधिक या कम स्थिति वालों के बीच मित्रता नहीं होती है ॥ २९ ॥

और भी—जो अज्ञानी और कुत्सित बुद्धि वाला व्यक्ति अपने से असमान अर्थात् अधिक या न्यून स्थिति वाले के साथ मित्रता करता है, वह व्यक्ति हँसी का पात्र बनता है ॥ ३० ॥

इसलिए चले जाओ ।' कौवे ने कहा—'हे हिरण्यक ! यह मैं तुम्हारे द्वार पर धरना दे रहा हूँ । यदि तुम मेरे साथ मित्रता नहीं करोगे तो मैं तुम्हारे सामने ही प्राण-त्याग कर दूँगा । अतः अब मैं अनशन करूँगा ।' हिरण्यक ने कहा—अरे भाई ! तुम जैसे शत्रु के साथ मैं कैसे मित्रता कर लूँ ? कहा भी गया है—

वैरिणा न हि संदध्यात्सुश्लिष्टेनापि संधिना ।
सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव पावकम् ।। ३१ ।।

वायस आह—भोः, त्वया सह दर्शनमपि नास्ति । कुतो वैरम् ? तत्किमनुचितं वदसि ?' हिरण्यक आह—द्विविधं वैरं भवति—सहजं कृत्रिमं च । तत्सहजवैरी त्वमस्माकम् । उक्तं च—

कृत्रिमं नाशमभ्येति वैरं द्राक्कृत्रिमैर्गुणैः ।
प्राणदानं विना वैरं सहजं याति न क्षयम् ।। ३२ ।।

वायस आह—भोः, द्विविधस्य वैरस्य लक्षणं श्रोतुमिच्छामि । तत्कथ्य-

---

वैरिणेति । सुश्लिष्टेनापि सुघटितेनापि, सन्धिना उपायविशेषेण, वैरिणा शत्रुणा सह, न हि सन्दध्यात् न हि सङ्गच्छेत; तथा हि, पानीयं जलं, सुतप्तमपि अत्युष्णमपि, तुल्यगुणमपीति यावत्, पावकम् अग्निं, शमयत्येव; सहजवैरित्वादिति भावः ।। ३१ ।।

(१) कृत्रिमं—कार्य्यवशाज्जातम् । सहजवैरी—स्वभावशत्रुः ।

कृत्रिममिति । कृत्रिमं क्रियया निर्वृत्तमिति 'ड्वितः क्त्रिः' (पा०सू० ३।३।८८) इत्यनेन कृधातोः क्त्रिप्रत्यये "क्त्रेर्मम् नित्यम्" (पा० सू० ४।४।२०) इति सूत्रेण सिद्धम्, क्रियाकृतमित्यर्थः, वैरं, कृत्रिमैः क्रियाजन्यैः, गुणैः उपकारादिभिरित्यर्थः द्राक् झटिति, नाशम् अभ्येति प्राप्नोति, सहजं स्वाभाविकं, वैरं प्राणदानं विना जीवनत्यागमन्तरेण, आजीवनमिति भावः, क्षयं न याति । "सखा गरीयान् शत्रुश्च कृत्रिमस्तौ हि कार्य्यतः । स्यातामभित्रौ मित्रे च सहजप्राकृतावपि ।।" इति माघे त्रिविधं वैरम्; तेषु कृत्रिमस्यैव प्राधान्यमुक्तम्, अत्र तु सहजस्य इति; अतः प्रयोजनवशात् मुख्यामुख्यत्वकल्पनमिति विरोधाभावः ।। ३२ ।।

भलीभाँति की गई सन्धि के द्वारा भी शत्रु के साथ मेल नहीं करना चाहिए। क्योंकि पानी को भलीभाँति तपाने पर भी वह आग को बुझा ही देता है ।। ३१ ।।

कौवे ने कहा—अरे ! तुम्हारे साथ मेरी देखादेखी भी नहीं हुई फिर (हम दोनों के बीच) शत्रुता कैसी ? क्यों अनुचित बात कह रहे हो ?' हिरण्यक ने कहा—'शत्रुता दो प्रकार की होती है—स्वाभाविक और कृत्रिम अर्थात् किसी कारण से उत्पन्न । तुम हमारे स्वाभाविक शत्रु हो । कहा भी गया है—

कृत्रिम शत्रुता कृत्रिम गुणों (उपकारादि साधनों) से नष्ट हो जाती है किन्तु स्वाभाविक शत्रुता प्राण-त्याग किये बिना नष्ट नहीं होती है ।। ३२ ।।

कौवे ने कहा—'भाई हिरण्यक, मैं दोनों प्रकार की शत्रुता का लक्षण सुनना

ताम् ।' हिरण्यक आह—'भोः, कारणेन निर्वृत्तं कृत्रिमम् । तत्तदर्होपकार-करणाद् गच्छति । स्वाभाविकं पुनः कथमपि न गच्छति । तद्यथा—नकुल-सर्पाणाम्, शष्पभुङ्नखायुधानाम्, जलवह्न्योः, देवदैत्यानाम्, सारमेयमार्जा-राणाम्, ईश्वरदरिद्राणाम्, सपत्नीनाम्, सिंहगजानाम्, लुब्धकहरिणानाम्; श्रोत्रियभ्रष्टक्रियाणाम्, मूर्खपण्डितानाम्, पतिव्रताकुलटानाम्, सज्जनदुर्ज-नानाम् । न कश्चित्केनापि व्यापादितः, तथापि प्राणान्सन्तापयन्ति । वायस आह—'भोः; अकारणमेतत् । श्रूयतां मे वचनम्—

(१) तदिति । तत्—कृत्रिमं वैरम् । तदर्होपकारकरणात्—येन कारणेन वैरं जातं, तस्य यथायोग्यप्रतीकारविधानादित्यर्थः ।

(२) शष्पभुङ्नखायुधानां—तृणभोजिभिः सह श्वापदानाम् । सारमेयमार्जा-राणां—कुक्कुरबिडालानाम् । ईश्वरदरिद्राणां—धनिदुर्गतानाम् ।

(३) लुब्धकहरिणानां—व्याधमृगाणाम् । श्रोत्रियभ्रष्टक्रियाणां—वेदविद्भिः विप्रैः सह ब्राह्मणब्रुवाणाम् । "येषाञ्च विरोधः शाश्वतिकः" (पा०सू० २।४।९) इति द्वन्द्वसमासे शाश्वतिकविरोधानाम् एकवचनप्राप्तिरुक्ता, अत्र तु बहुवचनेन एतेषां कुत्रचित् कुत्रचित् मित्रता सम्भवतीति बोध्यते; तेन हिरण्यकेन सार्द्धं लघुपतनकस्य मैत्री भविष्यति इति सूच्यते ।

(४) नेति । यद्यपि अशक्तिदशायाम् एतेषां मध्ये दुर्बलेन केनापि बलवान् कश्चित् न विनाशितः, तथाऽपि एते परस्परं प्राणान् सन्तापयन्ति, विरोधस्य

चाहता हूँ ।' हिरण्यक ने कहा—'जो शत्रुता किसी सांसारिक कारण से उत्पन्न होती है, उसे कृत्रिम कहते हैं । वह उस कारण को दूर करने योग्य उपकारादि साधनों से समाप्त हो जाती है । किन्तु स्वाभाविक शत्रुता किसी प्रकार से भी दूर नहीं होती है । जैसे नेवले और साँप की शत्रुता, शस्यभोजी (घास खाने वाले मृग, गाय, बैल, भैंस आदि) पशुओं और नखायुधों (नख से हथियार का काम लेने वाले सिंह व्याघ्र आदि) की शत्रुता, जल और आग की, देवों और दैत्यों की, कुत्तों और बिल्लियों की, धनियों और दरिद्रों की, सपत्नियों (सौतों अर्थात् एक पति की कई स्त्रियों) की, सिंह तथा हाथियों की, बहेलियों और मृगों की, श्रोत्रियों (वेद-विधि से यज्ञादि क्रिया करने वालों) और भ्रष्ट क्रिया (वेद विधि के विपरीत कर्म) करने वालों की, मूर्खों और पण्डितों की, पतिव्रता और व्यभिचारिणी स्त्रियों की तथा सज्जनों और दुष्टों की होती है । इनमें से किसी ने भी किसी को मारा नहीं है फिर भी प्राणों को कष्ट देते ही हैं ।' कौवे ने कहा—'आपका यह कहना तर्कसंगत नहीं है । मेरी बात सुनिए—

वैरिणा न हि संदध्यात्सुश्लिष्टेनापि संधिना ।
सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव पावकम् ।। ३१ ।।

वायस आह—भोः, त्वया सह दर्शनमपि नास्ति । कुतो वैरम् ? तत्किमनुचितं वदसि ?' हिरण्यक आह—द्विविधं वैरं भवति—सहजं कृत्रिमं च । तत्सहजवैरी त्वमस्माकम् । उक्तं च—

कृत्रिमं नाशमभ्येति वैरं द्राक्कृत्रिमैर्गुणैः ।
प्राणदानं विना वैरं सहजं याति न क्षयम् ।। ३२ ।।

वायस आह—भोः, द्विविधस्य वैरस्य लक्षणं श्रोतुमिच्छामि । तत्कथ्य-

---

वैरिणेति । सुश्लिष्टेनापि सुघटितेनापि, सन्धिना उपायविशेषेण, वैरिणा शत्रुणा सह, न हि सन्दध्यात् न हि सङ्गच्छेत; तथा हि, पानीयं जलं, सुतप्तमपि अत्युष्णमपि, तुल्यगुणमपीति यावत्, पावकम् अग्नि, शमयत्येव; सहजवैरित्वादिति भावः ।। ३१ ।।

(१) कृत्रिमं—कार्य्यवशाज्जातम् । सहजवैरी—स्वभावशत्रुः ।

कृत्रिममिति । कृत्रिमं क्रियया निर्वृत्तमिति 'ड्वितः क्त्रिः' (पा०सू० ३।३।८८) इत्यनेन कृधातोः क्त्रिप्रत्यये "क्त्रेर्मम नित्यम" (पा० सू० ४।४।२०) इति सूत्रेण सिद्धम्, क्रियाकृतमित्यर्थः, वैरं, कृत्रिमैः क्रियाजन्यैः, गुणैः उपकारादिभिरित्यर्थः, द्राक् झटिति, नाशम् अभ्येति प्राप्नोति, सहजं स्वाभाविकं, वैरं प्राणदानं विना जीवनत्यागमन्तरेण, आजीवनमिति भावः, क्षयं न याति । "सखा गरीयान् शत्रुश्च कृत्रिमस्तौ हि कार्य्यतः । स्याताममित्रौ मित्रे च सहजप्राकृतावपि ।।" इति माघे त्रिविधं वैरम्; तेषु कृत्रिमस्यैव प्राधान्यमुक्तम्, अत्र तु सहजस्य इति; अतः प्रयोजनवशात् मुख्यामुख्यत्वकल्पनमिति विरोधाभावः ।। ३२ ।।

भलीभाँति की गई सन्धि के द्वारा भी शत्रु के साथ मेल नहीं करना चाहिए । क्योंकि पानी को भलीभाँति तपाने पर भी वह आग को बुझा ही देता है ।। ३१ ।।

कौवे ने कहा—अरे ! तुम्हारे साथ मेरी देखादेखी भी नहीं हुई फिर (हम दोनों के बीच) शत्रुता कैसी ? क्यों अनुचित बात कह रहे हो ?' हिरण्यक ने कहा—'शत्रुता दो प्रकार की होती है—स्वाभाविक और कृत्रिम अर्थात् किसी कारण से उत्पन्न । तुम हमारे स्वाभाविक शत्रु हो । कहा भी गया है—

कृत्रिम शत्रुता कृत्रिम गुणों (उपकारादि साधनों) से नष्ट हो जाती है किन्तु स्वाभाविक शत्रुता प्राण-त्याग किये बिना नष्ट नहीं होती है ।। ३२ ।।

कौवे ने कहा—'भाई हिरण्यक, मैं दोनों प्रकार की शत्रुता का लक्षण सुनना

ताम् ।' हिरण्यक आह—'भोः, कारणेन निर्वृत्तं कृत्रिमम् । तत्तदर्होपकार-करणाद् गच्छति । स्वाभाविकं पुनः कथमपि न गच्छति । तद्यथा—नकुल-सर्पाणाम्, शष्पभुङ्नखायुधानाम्, जलवह्न्योः, देवदैत्यानाम्, सारमेयमार्जाराणाम्, ईश्वरदरिद्राणाम्, सपत्नीनाम्, सिंहगजानाम्, लुब्धकहरिणानाम्, श्रोत्रियभ्रष्टक्रियाणाम्, मूर्खपण्डितानाम्, पतिव्रताकुलटानाम्, सज्जनदुर्जनानाम् । न कश्चित्केनापि व्यापादितः, तथापि प्राणान्सन्तापयन्ति । वायस आह—'भोः, अकारणमेतत् । श्रूयतां मे वचनम्—

---

(१) तदिति । तत्—कृत्रिमं वैरम् । तदर्होपकारकरणात्—येन कारणेन वैरं जातं, तस्य यथायोग्यप्रतीकारविधानादित्यर्थः ।

(२) शष्पभुङ्नखायुधानां—तृणभोजिभिः सह श्वापदानाम् । सारमेयमार्जाराणां—कुक्कुरबिडालानाम् । ईश्वरदरिद्राणां—धनिदुर्गतानाम् ।

(३) लुब्धकहरिणानां—व्याधमृगाणाम् । श्रोत्रियभ्रष्टक्रियाणां—वेदविद्भिः विप्रैः सह ब्राह्मणब्रुवाणाम् । "येषाञ्च विरोधः शाश्वतिकः" (पा०सू० २।४।९) इति द्वन्द्वसमासे शाश्वतिकविरोधानाम् एकवचनप्राप्तिरुक्ता, अत्र तु बहुवचनेन एतेषां कुत्रचित् कुत्रचित् मित्रता सम्भवतीति बोध्यते; तेन हिरण्यकेन सार्द्धं लघुपतनकस्य मैत्री भविष्यति इति सूच्यते ।

(४) नेति । यद्यपि अशक्तिदशायाम् एतेषां मध्ये दुर्बलेन केनापि बलवान् कश्चित् न विनाशितः, तथाऽपि एते परस्परं प्राणान् सन्तापयन्ति, विरोधस्य

चाहता हूँ ।' हिरण्यक ने कहा—'जो शत्रुता किसी सांसारिक कारण से उत्पन्न होती है, उसे कृत्रिम कहते हैं । वह उस कारण को दूर करने योग्य उपकारादि साधनों से समाप्त हो जाती है । किन्तु स्वाभाविक शत्रुता किसी प्रकार से भी दूर नहीं होती है । जैसे नेवले और साँप की शत्रुता, शस्यभोजी (घास खाने वाले मृग, गाय, बैल, भैंस आदि) पशुओं और नखायुधों (नख से हथियार का काम लेने वाले सिंह व्याघ्र आदि) की शत्रुता, जल और आग की, देवों और दैत्यों की, कुत्तों और बिल्लियों की, धनियों और दरिद्रों की, सपत्नियों (सौतों अर्थात् एक पति की कई स्त्रियों) की, सिंह तथा हाथियों की, बहेलियों और मृगों की, श्रोत्रियों (वेद-विधि से यज्ञादि क्रिया करने वालों) और भ्रष्ट क्रिया (वेद विधि के विपरीत कर्म) करने वालों की, मूर्खों और पण्डितों की, पतिव्रता और व्यभिचारिणी स्त्रियों की तथा सज्जनों और दुष्टों की होती है । इनमें से किसी ने भी किसी को मारा नहीं है फिर भी प्राणों को कष्ट देते ही हैं ।' कौवे ने कहा—'आपका यह कहना तर्कसंगत नहीं है । मेरी बात सुनिए—

कारणान्मित्रतां याति कारणादेति शत्रुताम् ।
तस्मान्मित्रत्वमेवात्र योज्यं वैरं न धीमता ।। ३३ ।।

तस्मात् कुरु मया सह समागमं मित्रधर्मार्थम् ।'

हिरण्यक आह—भो, श्रूयताम् नीतिसर्वस्वम्—

सकृद्दुष्टमपीष्टं यः पुनः संधातुमिच्छति ।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ।। ३४ ।।

अथवा गुणवानहम्, न मे कश्चिद्वैरयातानां करिष्यति, एतदपि न संभाव्यम् । उक्तं च—

शाश्वतिकत्वादिति भावः ।

कारणादिति । कारणात् केनापि हेतुना, उपकारादिनेत्यर्थः, मित्रतां याति गच्छति, जनः इति शेषः, तथा कारणात् अपकारादिनेत्यर्थः, शत्रुताञ्च एति गच्छति; तस्मात् अत्र संसारे, धीमता बुद्धिमता, जनेन इति शेषः, मित्रत्वमेव योज्यं कर्त्तव्यं, न वैरम्, उभयोरेव कारणप्रयोज्यत्वेन साम्येऽपि कस्य न निखिलसुखनिलये मित्रत्वे रुचिः ? इति भावः ।। ३३ ।।

(१) नीतिसर्वस्वं—नीतिसारः ।

सकृदिति । यः सकृद्दुष्टम् एकबारमेव दुष्टं, का कथा पुनः पुनः दुष्टस्येति भावः; इष्टमपि प्रियजनमपि, सर्पदष्टामङ्गुलीमिवेति भावः, पुनः सन्धातुं सम्मेलयितुम्, इच्छति, सः अश्वतरी गर्भं यथा, तथा मृत्युम् आत्मविनाशमित्यर्थः, उपगृह्णाति आश्रयति, अश्वतर्याः गर्भधारणं यथा मृत्यवे, तथा तस्य तादृशमित्रसम्मेलनमपि भवतीत्यर्थः ।। ३४ ।।

(२) वैरयातानां—वैरेण पीडनं; शत्रुतासाधनमित्यर्थः ।

कोई भी व्यक्ति किसी कारण विशेष से मित्र बन जाता है और कारण विशेष से ही शत्रु भी बन जाता है । इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति को इस संसार में मित्रता ही करनी चाहिए, न कि शत्रुता ।। ३३ ।।

इसलिए मित्रता का कार्य सम्पन्न करने के लिए मुझसे मिलने की कृपा कीजिए ।'

हिरण्यक ने कहा—नीति का तत्त्व क्या है उसे सुनिये—

जो एक बार भी दुष्टता कर देने वाले मित्र से फिर मिलने की इच्छा करता है वह मानो मृत्यु को ही आलिंगन करता है । जैसे खच्चरी गर्भ को धारण करके मृत्यु को ही गले लगाती है ।। ३४ ।।

अथवा मैं गुणवान् हूं, मुझे कोई भी शत्रुता जन्य कष्ट नहीं पहुँचायेगा ऐसा

सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत्प्राणान्प्रियान्पाणिने-
मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम् ।
छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गल-
मज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः ? ॥ ३५ ॥

वायस आह—'अस्त्येतत् । तथापि श्रूयताम्—

उपकाराच्च लोकानां निमित्तान्मृगपक्षिणाम् ।
भयाल्लोभाच्च मूर्खाणां मैत्री स्याद्दर्शनात्सताम् ॥ ३६ ॥

सिंह इति । सिंह व्याकरणस्य कर्त्तुः विदुषः, निरपराधस्येति भावः, पाणिनेः मुनेः प्रियान् प्राणान् अहरत्, हस्ती मीमांसाकृतं मीमांसादर्शनकारिणं, जैमिनिं मुनिं सहसा उन्ममाथ विनाशितवान्, मथतेः लिटि रूपम्, मकरः जलजन्तुविशेषः वेलातटे समुद्रोपकूले, छन्दोज्ञाननिधिं छन्दःशास्त्रप्रणेतारम् इत्यर्थः, पिङ्गलं मुनिं जघान, अज्ञानावृतचेतसां मोहाक्रान्तचित्तानाम्, अतिरुषाम् अतिकोपनानां, तिरश्चां पशुपक्षिणां, गुणैः गुणविचारैः, अयं गुणी, एनं न हनिष्यामि, अयं निर्गुणः, एनं मारयिष्यामि इति वितर्कैरिति भावः, कोऽर्थः, ? किं प्रयोजनम् ? न कोऽपीत्यर्थः, दुर्जना गुणदोषौ न गणयन्तीति भावः ॥ ३५ ॥

उपकारादिति । लोकानां नराणाम्, उपकारात् परस्परोपकारकरणात् इत्यर्थः, मृगपक्षिणां निमित्तात् कुतश्चित् कारणात्, मूर्खाणां भयात्, लोभाच्च, तथा सतां साधूनां, दर्शनात् परस्परावलोकनात्, मैत्री स्यात् ॥ ३६ ॥

(यह सोचना) भी सम्भव नहीं है । कहा भी गया है—

सिंह ने व्याकरण शास्त्र के रचयिता पणिनि के प्राणों को ले ही लिया, मीमांसाशास्त्र की रचना करने वाले जैमिनी मुनि को अकस्मात् हाथी ने ही मार डाला, छन्दशास्त्र के महान् वेत्ता पिंगल मुनि को समुद्र के किनारे घड़ियाल ने मार डाला। अज्ञानरूपी अन्धकार से आच्छादित तथा अत्यन्त क्रोधी पशु-पक्षियों (पशुवद् व्यवहार करने वाले जड मनुष्यों) का गुणों से कोई मतलब नहीं होता है। अर्थात् उनमें गुणों को पहिचानने की शक्ति ही नहीं होती और गुणों से उनका कोई स्वार्थ भी सिद्ध नहीं होता ॥ ३५ ॥

कौवे ने कहा—यह तो है ही । फिर भी सुनिये—

मनुष्यों की मित्रता परस्पर उपकार करने से, पशु-पक्षियों की मित्रता किसी कारण के उपस्थित हो जाने से, मूर्खों की मित्रता भय और लोभ से तथा सज्जनों की मित्रता एक दूसरे के दर्शनमात्र से होती है ॥ ३६ ॥

मृद्‌घट इव सुखभेद्यो दुःसंधानश्च दुर्जनो भवति ।
सुजनस्तु कनकघट इव दुर्भेद्यः सुकरसन्धिश्च ॥ ३७ ॥
इक्षोरग्रात्क्रमशः पर्वणि पर्वणि यथा रसविशेषः ।
तद्वत्सज्जनमैत्री विपरीतानां तु विपरीता ॥ ३८ ॥
आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण
लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना
छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥ ३९ ॥

मृद्‌घटेति । दुर्जनः मृद्‌घटवत् मृत्कलश इव, सुखेन भेद्यः, दुःसन्धानश्च, न पुनर्योजनायोग्यश्चेत्यर्थः, भवति, मृद्‌घटा यथा लोष्टादिना लघुप्रहारमात्रेण भग्नः पुनः कथञ्चित योजयितुमशक्यम्, तथा दुर्जनोऽपि येन केनचिदेव कारणेन भग्नमैत्रः सन् न पुनः प्रयत्नशतेनापि संयोजनीयो भवतीति भावः, सुजनस्तु कनकघट इव काञ्चनकलश इव, दुर्भेद्यः भेत्तुमशक्यः, सुकरसन्धिश्च अक्लेशं सन्धेयश्च, भवतीति शेषः, कनककलसो यथा दैवात् केनापि भग्नोऽपि पुनरुपायेन संयोजनयोग्यः, तथा सुजनोऽपीति भावः । वृत्तमार्य्या ॥ ३७ ॥

इक्षोरिति । इक्षोः अग्रात् क्रमारभ्य, पर्वणि पर्वणि अधो ग्रन्थौ इत्यर्थः, यथा क्रमशः रसविशेषः रसस्य उत्कर्षः, इत्यर्थः, तिष्ठतीति शेषः, सज्जनमैत्री साधुसौहार्दं, तद्वत् क्रमशः सुरसा इति भावः, भवतीति शेषः, विपरीतानान्तु दुर्जनानान्तु, विपरीता प्रागुक्तस्य विपर्य्ययः, प्रथमतः सौहार्दं, पश्चात् शत्रुत्वमिति भावः । आर्य्या वृत्तम् ॥ ३८ ॥

आरम्भेति । खलानां दुर्जनानां, सज्जनानां सताञ्च, मैत्री, दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्द्ध भिन्ना पूर्वाह्णापराह्णभेदेन पृथग्भूता, छायेव आरम्भगुर्वी आदौ महती, क्रमेण

दुष्ट व्यक्ति की मित्रता मिट्टी के घड़े के समान सरलता से टूट जाती है किन्तु फिर से उसका जुड़ना अत्यन्त कठिन होता है । और सज्जन व्यक्ति की मित्रता सोने के घड़े के समान कठिनाई से टूटती और आसानी से जुड़ जाती है ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार गन्ने के प्रत्येक पोर में ऊपर से नीचे की ओर रस विशेष मीठा और गाढ़ा होता जाता है, उसी प्रकार सज्जनों की मित्रता भी (समयानुसार परिपक्व और गाढ़ी) होती है किन्तु दुष्टों की मित्रता इसके विपरीत अर्थात् धीरे-धीरे कम होती है ॥ ३८ ॥

और भी—दुष्टों की मित्रता दिन के पूर्वार्ध भाग की छाया के समान प्रारम्भ में बहुत बड़ी किन्तु उत्तरोत्तर घटने वाली होती है, इसके विपरीत सज्जनों की

तत्साधुरहम् । अपरं त्वां शपथादिभिर्निर्भयं करिष्यामि ।

स आह—'न मेऽस्ति ते शपथैः प्रत्ययः । उक्तं च—

शपथैः संधितस्यापि न विश्वासं व्रजेद्रिपोः ।
श्रूयते शपथं कृत्वा वृत्रः शक्रेण सूदितः ॥ ४० ॥
न विश्वासं विना शत्रुर्देवानामपि सिध्यति ।
विश्वासात्त्रिदशेन्द्रेण दितेर्गर्भो विदारितः ॥ ४१ ॥

क्षयिणी अपचयशीला च, तथा पुरा लघ्वी स्वल्पा, स्यात् वृद्धिमती वर्द्धमाना च, यथा दिनपूर्वार्द्धच्छाया प्रथमं महती, पश्चात् क्षयवती च, तथा खलस्य मैत्री, यथा च दिनपरार्द्धच्छाया प्रथमं लघ्वी, पश्चात् महती, तथा सज्जनस्य मैत्रीति भावः । वृत्तमुपजातिः ॥ ३९ ॥

शपथैरिति । शपथैः दिव्यैः, सन्धा सन्धानं, मिलनमित्यर्थः, जाता अस्यति तारकादित्वादितच्, सन्धितस्य दिव्यं कृत्वा परस्परं मिलितस्य अपि, रिपोः विश्वासं न व्रजेत्, न गच्छेत्, जन इति शेषः; तथा हि शक्रेण इन्द्रेण, शपथं कृत्वा "नाहं तुभ्यं द्रुह्यामि" इति प्रतिज्ञां कृत्वाऽपि, वृत्रः तन्नामासुरः, सूदितः नाशितः; इति श्रूयते; देवा अपि शपथं भङ्क्त्वा शत्रुं नाशयन्ति किमुतापरे ? इति भावः ॥ ४० ॥

नेति । विश्वासं विना विश्वासोत्पादनमन्तरेणेत्यर्थः, देवानामपि शत्रुः न सिध्यति न वश्यो भवति इत्यर्थः; विश्वासात् विश्वासम् उत्पाद्य इत्यर्थः; "ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च" इति वार्तिकसूत्रेण पञ्चमी त्रिदशेन्द्रेण देवराजेन, दितेः विमातुः, गर्भः, भ्रूणः, "गर्भो भ्रूणेऽर्भके कुक्षौ सन्धौ पनसकण्टके" इति मेदिनी, स्वजिघांसुरिति भावः, विदारितः खण्डितः । पुरा हिरण्यकशिपुशोकेन आर्त्ता दितिः

मित्रता दिन के आधे भाग की छाया के समान प्रारम्भ में छोटी किन्तु उत्तरोत्तर बढ़ने वाली होती है । इस प्रकार दोनों की मित्रता में भिन्नता होती है ॥ ३९ ॥

एक तो मैं सज्जन हूँ दूसरे शपथ आदि के द्वारा मैं तुम्हें निर्भय कर दूँगा ।"

हिरण्यक ने कहा—मुझे तुम्हारे शपथ पर विश्वास नहीं है । कहा भी गया है—

शपथों द्वारा सन्धि कर लेने पर भी शत्रु का विश्वास नहीं करना चाहिए । क्योंकि ऐसा सुना जाता है कि शपथ करके ही इन्द्र ने वृत्रासुर का संहार किया था ॥ ४० ॥

देवता लोग भी विश्वास में लाए बिना शत्रु को वश में नहीं कर पाते या शत्रु का नाश करने में सफल नहीं हो पाते हैं । विश्वास में लाकर ही इन्द्र ने दिति के गर्भ को टुकड़े-टुकड़े कर दिया था ॥ ४१ ॥

अन्यच्च—बृहस्पतेरपि प्राज्ञस्तस्मान्नैवात्र विश्वसेत् ।
य इच्छेदात्मनो वृद्धिमायुष्यं च सुखानि च ॥ ४२ ॥
तथा च—सुसूक्ष्मेणापि रन्ध्रेण प्रविश्याभ्यन्तरं रिपुः ।
नाशयेच्च शनैः पश्चात्प्लवं सलिलपूरवत् ॥ ४३ ॥
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥ ४४ ॥

स्वपुत्राणां रिपुमिन्द्रं हन्तुं तद्धातनक्षमं गर्भं धृतवती । देवराजोऽपि तदनुसन्धाय विमातुः परिचर्य्याच्छलेन सततं रन्ध्रान्वेषी, एकदा दिवा शयानां दितिमवलोक्य तद्गर्भे प्रविष्टः गर्भस्थं जीवम् एकोनपञ्चाशत्कृत्वः, खण्डयामास, एकोनपञ्चाशद्विभक्तश्च स पवनदेवत्वमगादिति पौराणिकी कथा अत्र अनुसन्धेया ॥ ४१ ॥

बृहस्पतेरिति । तस्मात् हेतोः, यः आत्मनः वृद्धिं कल्याणम्, आयुष्यं दीर्घजीवनं, सुखानि च इच्छेत्, सः प्राज्ञश्चेत् अत्र संसारे, बृहस्पतेरपि न विश्वसेत्, अपरस्य किमु वक्तव्यम् ? इति भावः । 'श्वस प्राणने' इति अदादिगणीयत्वात् 'विश्वसेत्' इति न साधु, 'विश्वस्यात्' इत्येव सम्यक् । विपूर्वस्य श्वसधातोः अच्प्रत्यये विश्वस इति शब्दस्य नामधातौ कथञ्चित् साधनीयम् ॥ ४२ ॥

सुसूक्ष्मेणेति । रिपुः शत्रुः, सुसूक्ष्मेण अत्यल्पेनापि, रन्ध्रेण छिद्रेण, शनैः क्रमेण, अभ्यन्तरं प्रविश्य आत्मीयः सन्निव इत्यर्थः, पश्चात् प्लवम् उडुपं, नौकामिति भावः, सलिलपूरवत् जलप्रवाह इव, नाशयेच्च, यथा अल्पेनापि छिद्रेण सलिलप्रवाहः नौकां क्रमेण प्रविश्य निमज्जयति, तद्वत् शत्रुरपि केनचित् छलेन प्रविश्य नाशयतीति भावः ॥ ४३ ॥

नेति । अविश्वस्ते जने न विश्वसेत्, विश्वस्ते न अतिविश्वसेत्, विश्वासात् उत्पन्नं भयं मूलानि अपि निकृन्तति नाशयति ॥ ४४ ॥

और भी—अपना अभ्युदय, दीर्घायु और सुख चाहने वाले बुद्धिमान् व्यक्ति को बृहस्पति का भी विश्वास नहीं करना चाहिए ॥ ४२ ॥

और भी—अत्यन्त सूक्ष्म छिद्र पाकर (अर्थात् बहुत छोटी सी त्रुटि पाकर) शत्रु उसी मार्ग से भीतर घुसकर मनुष्य को उसी प्रकार नष्ट कर देता है जैसे जल का प्रवाह छोटे से छेद से नाव के भीतर घुसकर नाव को डुबो देता है ॥ ४३ ॥

विश्वास न करने योग्य व्यक्ति पर तो विश्वास नहीं ही करना चाहिए, यहाँ तक कि विश्वास करने योग्य व्यक्ति पर भी अधिक विश्वास नहीं करना चाहिए। क्योंकि विश्वास द्वारा उत्पन्न भय जड़ को ही काट देता है अर्थात् सर्वथा नष्ट कर देता है ॥ ४४ ॥

न वध्यते ह्यविश्वस्तो दुर्बलोऽपि बलोत्कटैः ।
विश्वस्ताश्चाशु बध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्बलैः ।। ४५ ।।

सुकृत्यं विष्णुगुप्तस्य मित्राप्तिर्भार्गवस्य च ।
बृहस्पतेरविश्वासो नीतिसन्धिस्त्रिधा स्थितः ।। ४६ ।।

तथा च—

महताऽप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शत्रुषु ।
भार्यासु सुविरक्तासु तदन्तं तस्य जीवितम् ।। ४७ ।।

नेति । दुर्बलोऽपि, जनः इति शेषः, अविश्वस्तः अकृतविश्वासश्चेत्, बलोत्कटैः प्रबलैः, न बध्यते न हन्यते, बलवन्तोऽपि विश्वस्ताः कृतविश्वासाः सन्तः, दुर्बलैः आशु शीघ्रं, बध्यन्ते, विश्वस्तत्वेन अनवहितत्वादिति भावः । ४५ ।

सुकृत्यमिति । नीतिसन्धिः नीतिशास्त्रोक्तः कार्य्यसाधकोपायविशेषः, त्रिधा त्रिप्रकारः, स्थितः, भवतीति शेषः, विष्णुगुप्तस्य चाणक्यस्येत्यर्थः, सुकृत्यं सुष्ठु कार्य्यं, कर्त्तव्यानुष्ठानमित्यर्थः, भार्गवस्य भृगुनन्दनस्य शुक्राचार्य्यस्य; मित्राप्तिः मित्रलाभः, बृहस्पतेः अविश्वासः विश्वासाकरणम्, चाणक्यमते नीत्यनुसारेण कार्य्यानुष्ठानं, भार्गवमते मित्रसङ्ग्रहः, बृहस्पतिमते सर्वत्रापि अविश्वास एव नीतिरीति भावः ।। ४६ ।।

महतेति । यः महताऽपि प्रभूतेनापि, अर्थसारेण सारधनेन, प्रभूतहीरकरत्नादिधनलाभेनेति भावः, शत्रुषु, रिपुषु तथा सुविरक्तासु अननुरक्तासु भार्य्यासु, विश्वसिति, विपूर्वकश्वसधातोः लटि "रुदादिभ्यः सार्वधातुके" (पा०सू० ७।२।७६) इत्यनेन इटि रूपम् तस्य जीवितं तदन्तं तत्पर्य्यन्तम्; तेन विश्वासेनैव स विनश्यतीति भावः ।। ४७ ।।

विश्वास न करने वाला अत्यन्त दुर्बल व्यक्ति भी अत्यन्त बली व्यक्तियों से भी मारा नहीं जा सकता । किन्तु विश्वास करने वाले बलवान् व्यक्ति भी दुर्बलों से मारे जाते हैं ।। ४५ ।।

नीति सन्धि तीन प्रकार की होती है—चाणक्य के मतानुसार अच्छे अच्छे कर्म करना, शुक्राचार्य के अनुसार मित्रों की प्राप्ति करना और बृहस्पति के अनुसार (शत्रु पर) विश्वास न करना ।। ४६ ।।

और भी—जो व्यक्ति अत्यन्त अधिक धन पाकर शत्रुओं का तथा अपने प्रति उपेक्षा भाव रखने वाली पत्नियों का विश्वास करता है उसके जीवन का अन्त उसी विश्वास के कारण ही होता है ।। ४७ ।।

तच्छ्रुत्वा लघुपतनकोऽपि निरुत्तरश्चिन्तयामास—'अहो बुद्धिप्रागल्भ्यमस्य नीतिविषये। अथवा स एवास्योपरि मैत्रीपक्षपातः।' स आह—'भो हिरण्यक—

सतां साप्तपदं मैत्रमित्याहुर्विबुधा जनाः।
तस्मात्त्वं मित्रतां प्राप्तो वचनं मम तच्छृणु॥ ४८॥

दुर्गस्थेनाऽपि त्वया मया सह नित्यमेवालापो गुणदोषसुभाषितगोष्ठीकथाः सर्वदा कर्तव्याः, यद्येवं न विश्वसिषि।' तच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि व्यचिन्तयत्—'विदग्धवचनोऽयं दृश्यते लघुपतनको सत्यवाक्यश्च तद्युक्तमनेन मैत्रीकरणम्। परं कदाचिन्मम दुर्गे चरणपातोऽपि न कार्यः। उक्तं च—

---

(१) बुद्धिप्रागल्भ्यं—ज्ञानप्राचुर्य्यम् इत्यर्थः।

सतामिति। विबुधाः विद्वांसो जनाः, साधूनां, मैत्रं साप्तपदं सप्तपदोच्चारणसाध्यम्, इति आहुः कथयन्ति, अत्र सप्तपदान्युपलक्षणानि, बहुविध आलाप एव मैत्रलक्षणं, तत् येन सह संवृत्तं स एव मित्रमिति भावः। तस्मात् त्वं मित्रतां प्राप्तः, विविधालापवशादिति भावः, तत् ततः, मित्रताप्राप्तेः, मम वचनं शृणु॥ ४८॥

(२) दुर्गस्थेन—बिलस्थेन। गुणेति। गुणाश्चदोषाश्च तेषां सुभाषितानि शोभनालापा एव, गोष्ठीकथाः परस्परसौहार्दसंलापाः, "गोष्ठी सभासंलापयोः स्त्रियाम्" इति मेदिनी।

(३) विदग्धवचनः—विदग्धस्य इव—पण्डितस्येव, वचनं यस्य

यह सुनकर लघुपतनक निरुत्तर होकर विचार करने लगा—'नीति के विषय में इसकी बुद्धि बड़ी ही कुशल है। इसीलिए तो मैं इससे मित्रता करना चाहता हूँ।' फिर उसने कहा—हे हिरण्यक—

विद्वान् व्यक्तियों का कहना है कि सज्जनों बीच सात पग साथ साथ चलने या सात शब्द परस्पर बोलने से ही मित्रता हो जाती है। इसलिए तुम मेरे मित्र हो गये। क्योंकि तुम्हारे साथ तो मेरी काफी बातचीत हो चुकी है। अतः अब मेरी बातें सुनो॥ ४८॥

यदि तुम इस प्रकार (बिल के बाहर आकर) मुझ पर विश्वास नहीं करते हो तो तुम बिल के भीतर ही रहकर नित्य मेरे साथ वार्तालाप (विभिन्न विषयों के) गुण-दोष का विवेचन, सुभाषित उक्तियों तथा कथाओं सम्बन्धी गोष्ठी किया करो।'

यह सुनकर हिरण्यक ने विचार किया कि यह लघुपतनक बातचीत करने में चतुर तथा सत्यवादी प्रतीत हो रहा है। इसलिए इसके साथ मित्रता करना

भीतभीतः पुरा शत्रुर्मन्दं मन्दं विसर्पति ।
भूमौ प्रहेलया पश्चाज्जारहस्तोऽङ्गनास्विव ॥ ४९ ॥

तच्छ्रुत्वा वायस आह—'भद्र, एवं भवतु ।' ततः प्रभृति तौ द्वावपि सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्तौ तिष्ठतः । परस्परं कृतोपकारौ कालं नयतः । लघुपतनकोऽपि मांसशकलानि मेध्यानि बलिशेषाण्यन्यानि वात्सल्याहृतानि पक्वान्नविशेषादीनि हिरण्यकार्थमानयति । हिरण्यकोऽपि तण्डुलानन्यांश्च भक्ष्यविशेषाल्लघुपतनकार्थं रात्रावाहृत्य तत्कालायातस्यार्पयति । अथवा

तथाभूतः, सुवक्ता इत्यर्थः ।

भीतेति । शत्रुः पुरा पूर्वं भीतभीतः सन्, भूमौ भवन्त्यस्मिन् भूतानि इति भूमिः तस्यां, स्थाने, शत्रुपुरे इति भावः, "भूमिर्वसुन्धरायां स्यात् स्थानमात्रेऽपि च स्त्रियाम् इति मेदिनी, मन्दं मन्दं विसर्पति पदं निदधाति इत्यर्थः, पश्चात् प्रहेलया अत्यन्तावहेलया, अनायासेनैवेत्यर्थः, प्रकृष्टेन विलासेन च, अङ्गनासु स्त्रीषु, जारहस्त इव उपपतेः कर इव, विसर्पति इत्यनुषङ्गः, यथा जारः शनैः शनैः अभिलषणीयामङ्गनामादौ स्पृशति, पश्चात् प्रणये जाते स्वच्छन्दं, तद्वत् शत्रुरपि प्रथमं मन्दं मन्दं प्रविश्य, पश्चात् भिक्षुपादप्रसारणन्यायेन सर्वमेवायत्तीकरोतीति भावः ॥ ४९ ॥

(१) ततः प्रभृति—तस्मादारभ्य, "अपादाने पञ्चमी" (पा० सू० २।३।२८) इति सूत्रे कार्त्तिक्याः प्रभृतीति भाष्यप्रयोगात् प्रभृतियोगे पञ्चमी । मांसशकलानि—पिशितखण्डानि । मेध्यानि—विशुद्धानि । बलिशेषाणि—काकमुद्दिश्य दत्तस्य उपहारद्रव्यस्य अवशिष्टानि । वात्सल्याऽऽहृतानि—प्रेम्णा सञ्चितानि । तत्कालायातस्य—तत्काले—रात्रौ, आयातस्य—उपस्थितस्य, सम्बन्धविवक्षया

उचित है । किन्तु मेरे बिल में कभी भी पैर मत रखना । कहा भी गया है—

पहले तो शत्रु धीरे धीरे डरते हुए अपने विपक्षी के स्थान में प्रवेश करता है किन्तु तत्पश्चात् वह अत्यन्त धृष्ट बनकर उसी प्रकार सरलता से आगे बढ़ने लगता है जैसे जार (व्यभिचारी) पुरुष का हाथ परस्त्रियों के अंगों का स्पर्श करने के लिए आसानी से उसकी ओर बढ़ता चला जाता है ॥ ४९ ॥

यह सुनकर कौवे ने कहा—'हे भद्र, ऐसा ही होवे । उसी समय से वे दोनों सुभाषित गोष्ठी का आनन्द लेते हुए रहने लगे और एक दूसरे का उपकार करते हुए समय बिताने लगे । लघुपतनक भी मांस के टुकड़े, बलिकार्य से बचे पवित्र पदार्थ तथा दूसरे पके हुए भोजन आदि प्रेमपूर्वक एकत्रित करके हिरण्यक के लिए ले आता था । हिरण्यक भी चावल के दाने तथा दूसरे भोज्य पदार्थ लघुपतनक

युज्यते द्वयोरप्येतत्। उक्तं च—

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्॥ ५०॥
नोपकारं विना प्रीतिः कथंचित्कस्यचिद्भवेत्।
उपयाचितदानेन पश्य देवा ह्यभीष्टदाः॥ ५१॥
तावत्प्रीतिर्भवेल्लोके यावद्दानं प्रदीयते।
वत्सः क्षीरक्षयं दृष्ट्वा परित्यजति मातरम्॥ ५२॥

सम्प्रदाने षष्ठी।

ददातीति। ददाति, प्रतिगृह्णाति, गुह्यं रहस्यम्, आख्याति कथयति, पृच्छति गुह्यमिति शेषः, भुङ्क्ते, भोजयते च; एवं षड्विधं दान-प्रतिग्रह-गुह्यभाषण-प्रश्न भोजन-भोज्यदानात्मकमिति भावः, प्रीतेः प्रणयस्य, लक्षणं चिह्नम्॥ ५०॥

नोपकारमिति। उपकारं विना हितसाधनादृते, कस्यचित् कथञ्चित् प्रीतिः न भवेत्, हि तथा हि, देवाः, अपि अत्राध्याहार्य्यः, उपयाचितदानेन "यदि मम एतं मनोरथं पूरयिष्यसि, तदा तुभ्यमिदमभीष्टं दास्यामि" इत्येवंरूपं दिव्यदोहदम् उपयाचितम्, उपयाच्यतेऽनेन इति करणे इतच्प्रत्ययः। तदुक्तं,—"यत् दीयते देवताभ्यो मनोराज्यस्य सिद्धये। उपयाचितकं दिव्य-दोहदं तत् विदुर्बुधाः॥" इति तस्य दानेन प्रदानेन, अभीष्टदाः मनोरथपूरकाः, भवन्ति, इति शेषः, कामं ददाति इत्यर्थः, पश्य इति दृष्टान्तमवलोकय इत्यर्थः; देवानामपि दानसापेक्षा प्रीतिः, मर्त्यानान्तु सुतरामेवेति भावः॥ ५१॥

तावदिति। लोके यावत् दानम्, अन्नवस्त्रधनादिकमित्यर्थः, प्रदीयते, तावत् प्रीतिः भवेत् तिष्ठतीत्यर्थः, तथा हि,—वत्सः गोशिशुः, क्षीरक्षयं दुग्धह्रासं, दृष्ट्वा क्षीरमप्राप्य इत्यर्थः, मातरं जननीं, परित्यजति; मातृतनयसम्बन्धोऽपि दानसाध्य

के लिए रात में इकठ्ठा करके समय पर उपस्थित होने पर उसे देता था। फिर दोनों का ऐसा करना दोनों के लिए उचित ही था। कहा भी गया है—

देना, लेना, गुप्त बातें कहना तथा पूँछना, खाना और खिलाना—ये छः मैत्री के लक्षण होते हैं॥ ५०॥

उपकार किये बिना किसी प्रकार भी मैत्री नहीं होती है। देखो, देवता भी उपहार देने पर ही इच्छित वस्तु प्रदान करते हैं॥ ५१॥

जब तक देने की क्रिया होती रहती है तभी तक इस संसार में प्रेमभाव बना रहता है। देखो, दूध में कमी देखकर बछड़ा अपनी माता को भी छोड़ देता है॥ ५२॥

पश्य दानस्य माहात्म्यं सद्यः प्रत्ययकारकम् ।
यत्प्रभावादपि द्वेषी मित्रतां याति तत्क्षणात् ॥ ५३ ॥
पुत्रादपि प्रियतरं खलु तेन दानं
मन्ये पशोरपि विवेकविवर्जितस्य ।
दत्ते खले तु निखिलं खलु येन दुग्धं
नित्य ददाति महिषी ससुतापि पश्य ॥ ५४ ॥
प्रीतिं निरन्तरां कृत्वा दुर्भेद्यां नखमांसवत् ।
मूषको वायसश्चैव गतौ कृत्रिममित्रताम् ॥ ५५ ॥

इत्यहो ! दानमाहात्म्यमिति भावः ॥ ५२ ॥

पश्येति । दानस्य माहात्म्यं महिमा, सद्यः तत्क्षणात्, प्रत्ययकारकं विश्वास-जनकं भवतीति शेषः, इति पश्य, यत्प्रभावात् यस्य दानस्य, प्रभावात् सामर्थ्यात्, द्वेषी शत्रुरपि; तत्क्षणात् दानमात्रत एव इत्यर्थः, मित्रतां याति गच्छति, शत्रुमपि वशीकरोति दानं, किमन्यत् वक्तव्यम् ? इति भावः ॥ ५३ ॥

पुत्रादिति । येन कारणेन, महिषी ससुता सवत्साऽपि, खले तिलकल्के; दत्ते भक्षणार्थमर्पिते सति, खलु निश्चितं, नु भोः, निखिलं समस्तं, स्ववत्सार्थं किञ्चिदरक्षित्वैवेत्यर्थः, दुग्धं क्षीरं, नित्यं प्रत्यहं, ददाति प्रयच्छति, तेन हेतुना; सुतार्थमपि किञ्चिदरक्षणेनेति भावः, विवेकविवर्जितस्य अज्ञानस्य, पशोरपि पशुजातेरपि, दानम् अभीष्टवस्तुनोऽर्पणं, पुत्रादपि परमस्नेहनिलयात् स्वसुतादपि प्रियतरं खलु अतिशयेन प्रियमेव, मन्ये सम्भावयामि, पश्य इत्थमत्याश्चर्यकरम् उदाहरणमवलोकय । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ५४ ॥

प्रीतिमिति । नखमांसवत् नखमांसमिव; प्राणप्रङ्गत्वात् एकवद्भावः । निर-न्तराम् अविच्छिन्नां, दुर्भेद्यां दुरपनेयां, प्रीतिं प्रणयं, दानादिनेति शेषः, कृत्वा मूषकः हिरण्यकः, वायसः लघुपतनकश्च, कृत्रिममित्रतां गतौ प्राप्तौ, नख-तदधःस्थमांस-

---

तत्काल ही विश्वास उत्पन्न करा देने वाले दान के महत्व को तो देखो, जिसके प्रभाव से बैरी भी तत्काल ही (दान पाते) ही मित्र बन जाता है ॥ ५३ ॥

मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि विवेक रहित पशु भी दान को पुत्र से भी अधिक प्रिय समझता है तभी तो अपने बच्चे के रहने पर भी भैंस खली देने पर सारा दूध नित्य ही खली खिलाने वाले को ही दे देती है ॥ ५४ ॥

अधिक क्या ? जैसे नख और मांस परस्पर मिले रहते हैं; कभी अलग नहीं होते उसी प्रकार चूहा और कौवा दोनों अभिन्न प्रीति करते हुए कृत्रिम मित्रता को प्राप्त हुए ॥ ५५ ॥

एवं स मूषकस्तदुपकाररञ्जितस्तथा विश्वस्तो यथा तस्य पक्षमध्ये प्रविष्टस्तेन सह सर्वदैव गोष्ठीं करोति।

अथान्यस्मिन्नहनि वायसोऽश्रुपूर्णनयनः समभ्येत्य सगद्गदं तमुवाच— 'भद्र हिरण्यक, विरक्तिः सञ्जाता मे सांप्रतं देशस्यास्योपरि तदन्यत्र यास्यामि।' हिरण्यक आह— 'भद्र, किं विरक्तेः कारणम्।' स आह— भद्र, श्रूयताम्। अत्र देशे महत्यानावृष्ट्या दुर्भिक्षं संजातम्। दुर्भिक्षत्वाज्जनो बुभुक्षापीडितः कोऽपि बलिमात्रमपि न प्रयच्छति। अपरं गृहे गृहे बुभुक्षित-जनैर्विहङ्गानां बन्धनाय पाशाः प्रगुणीकृताः सन्ति। अहमप्यायुःशेषतया पाशेन बद्ध उद्धारितोऽस्मि। एतद्विरक्तेः कारणम्। तेनाऽहं विदेशं चलित इति बाष्पमोक्षं करोमि'। हिरण्यक आह—'अथ भवान् क्व प्रस्थितः।'

योर्मध्ये यथा अन्तरं नास्ति, किञ्च नखस्य काठिन्यात् मांसस्य नखावृतत्वाच्च उभे अपि यथा दुर्भेद्ये तथा अनयो प्रणयोऽपि निरन्तरो दुर्भेद्यश्च इति सरलार्थः॥ ५५॥

(१) गोष्ठीम्—अन्योऽन्यसंलापम् 'गोष्ठी सभासंलापयोः स्त्रियाम्' इति मेदिनी।

(२) दुर्भिक्षम्—भिक्षायाः अपि अभावः। अत्र अभावार्थेऽव्ययीभावः।

(३) बुभुक्षापीडितः—क्षुधार्त्तः। बलिमात्रम्=बलिः—काकबलिनाम्ना प्रसिद्धं वायसेभ्यो देयं यत्किञ्चिदन्नं, तावत्परिमितं 'प्रमाणपरिमाणाभ्यां—' (वा०) इतिमात्रच्प्रत्ययः, पाशाः—बन्धनरज्जुविशेषः। प्रगुणीकृताः, सज्जीकृत्यस्थापिताः। आयुःशेषतया—आयुषः अवशिष्टतया। उद्धारितः—विमोचितः। बाष्पमोक्षम्—

इस प्रकार वह चूहा (हिरण्यक) उस (लघुपतनक कौवे) के उपकारों से अनुरक्त होकर उसके प्रति इतना विश्वस्त हो गया कि उसके पंखों के बीच में घुस कर उसके साथ सर्वदा बातचीत करता रहता था। इसके पश्चात् किसी दिन आँसुओं से भरी आँखों से युक्त कौवे ने उसके पास आकर रुँधे हुए गले से कहा—"हे भद्र हिरण्यक, इस स्थान के प्रति मुझमें विरक्ति उत्पन्न हो गई है, इसलिए दूसरी जगह जा रहा हूँ।" हिरण्यक ने कहा—'हे सौम्य, विरक्ति का कारण क्या है?" उसने कहा—हे सौम्य, सुनिये! इस देश में बहुत दिनों से जल वर्षा न होने से अत्यधिक सूखा पड़ गया है जिससे अकाल उत्पन्न हो गया है। अकाल के कारण लोग भूख से पीड़ित होकर बलि तक नहीं दे रहे हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक घरों में भूखे लोगों ने पक्षियों को पकड़ने के लिए जाल फैला रखा है। मैं भी जाल में फँस गया था किन्तु आयु शेष रहने के कारण किसी प्रकार छूट गया हूँ। यही मेरी विरक्ति का कारण है। इसी से मैं परदेश जा रहा हूँ। अतः आँसू बहा रहा हूँ।' हिरण्यक ने कहा—'तो फिर आप कहाँ

स आह—'अस्ति दक्षिणापथे वनगहनमध्ये महासरः। तत्र त्वत्तोऽधिकः परमसुहृत्कूर्मो मन्थरको नाम। स च मे मत्स्यमांसखण्डानि दास्यति। तद्भक्षणात्तेन सह सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्सुखेन कालं नेष्यामि। नाहमत्र विहङ्गानां पाशबन्धनेन क्षयं द्रष्टुमिच्छामि उक्तं च—

अनावृष्टिहते देशे शस्ये च प्रलयं गते।
धन्यास्तात न पश्यन्ति देशभङ्गं कुलक्षयम् ॥ ५६ ॥
कोऽतिभारः समर्थानां ? किं दूरं व्यवसायिनाम् ?।
को विदेशः सविद्यानां ? कः परः प्रियवादिनाम् ॥ ५७ ॥

अनु विसर्जनम्। वनगहनमध्ये—दुर्गमकाननाभ्यन्तरे, गहनशब्दोऽत्र दुर्गमवाची।

(१) सुभाषितेति। सुभाषिता—सदालोचनरूपा; या गोष्ठी—संलापः, तया सुखं, सद्विषयकालोचनारूपालापजनितानन्दमित्यर्थः।

अनावृष्टिहते इति। हे तात ! देशे अनावृष्टिहते अनावृष्ट्या विनाशं गते, शस्ये च प्रलयं प्रणाशं, गते सति, धन्याः पुण्यवन्तः जनाः, देशभङ्गं देशोच्छेदं, कुलक्षयञ्च वंशनाशञ्च, न पश्यन्ति; अतो देशभङ्गादेः पूर्वमेव पलायनमुचितमिति भावः ॥ ५६ ॥

क इति। समर्थानां शक्तानाम्, अतिभारः गुरुतरकार्यमित्यर्थः कः ? न कोऽपि इत्यर्थः व्यवसायिनां वणिजां, दूरं किम् ? न किमपि दूरमस्तीत्यर्थः; सविद्यानां विदुषां विदेशः कः ? अयं देशः अयं विदेश इति गणना नास्ति इत्यर्थः; प्रिय-

---

जा रहे हैं ?' उसने कहा—दक्षिण भारत में घने जंगलों के बीच एक बहुत बड़ा सरोवर है। वहाँ मंथरक नाम का कछुवा रहता है जो मेरा तुमसे भी अधिक प्रिय मित्र है। वह मुझे मछलियों के मांस के टुकड़े देगा जिसे खाकर उसी के सुंदर सुन्दर बातों का आनन्द लेते हुए सुख से समय बिताऊँगा। मैं यहाँ जाल के बन्धन में पड़ने से पक्षियों का विनाश नहीं देखना चाहता हूँ। कहा भी गया है—

अनावृष्टि (पानी के न बरसने, सूखे) की चपेट में पड़े हुए देश में फसलों के नष्ट हो जाने पर हे तात ! वह मनुष्य धन्य है जो देश और कुल का विनाश अपनी आँखों से नहीं देखता है ॥ ५६ ॥

सामर्थ्यशाली व्यक्तियों के लिए कोई भी कार्य भारी नहीं होता, उद्योगी व्यक्तियों के लिए कोई भी वस्तु दूर नहीं होती, विद्वानों के लिए कोई भी स्थान परदेश नहीं होता और प्रिय वचन कहने वालों के लिए कोई भी व्यक्ति पराया (शत्रु) नहीं होता है ॥ ५७ ॥

विद्वत्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान्सर्वत्र पूज्यते ॥ ५८ ॥

हिरण्यक आह— यद्येवं तदहमपि त्वा सह गमिष्यामि। ममापि महद् दुःखं वर्तते।' वायस आह—'भोः, तव किं दुःखम्? तत्कथय?' हिरण्यक आह—'भोः, बहु वक्तव्यमस्त्यत्र विषये। तत्रैव गत्वा सर्वं सविस्तरं कथयिष्यामि।' वायस आह—'अहं तावदाकाशगतिः। तत्कथं भवतो मया सह गमनम्?' स आह—'यदि मे प्राणान्रक्षसि, तदा स्वपृष्ठमारोप्य मां तत्र प्रापयिष्यसि। नान्यथा मम गतिरस्ति।' तच्छ्रुत्वा सानन्दं वायस आह— यद्येवं तद्धन्योऽहं यद्भवताऽपि सह तत्र कालं नयामि। अहं सम्पातादिकानष्टावुड्डीनगतिविशेषान्वेद्मि। तत्समारोह मम पृष्ठम्, येन सुखेन त्वां तत्सरः प्रापयामि।' हिरण्यक आह—'उड्डीनानां नामानि श्रोतुमिच्छामि।' स आह—

वादिनां प्रियभाषिणां, परः कः? न कोऽपि इत्यर्थः; तेषां प्रियवाक्येनैव सर्वे आत्मीया भवन्तीति भावः ॥ ५७ ॥

विद्वत्वमिति। विद्वत्वञ्च, विद्यावत्वञ्च नृपत्वञ्च, राजत्वञ्च, कदाचन तुल्यं नैव, भवतीति शेषः, यतः राजा स्वदेशे पूज्यते, विद्वान् जनः, सर्वत्र पूज्यते; नृपादपि श्रेष्ठो विद्वानिति पर्यवसितम् ॥ ५८ ॥

(१) सम्पातादिकान्—सम्पातप्रभृतीन वक्ष्यमाणान्। उड्डीनगतिविशेषान्

विद्वता और राजत्व कभी भी एक समान नहीं हो सकते हैं क्योंकि राजा तो केवल अपने ही देश में (राज्य में) आदर और प्रतिष्ठा का पात्र होता है किन्तु विद्वान् की प्रतिष्ठा सब जगह होती है ॥ ५८ ॥

हिरण्यक ने कहा—'यदि ऐसी बात है तो मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा। मुझे भी बहुत कष्ट है।' कौवे ने कहा—'मित्र, तुम्हें क्या दुःख है? उसे बताओ।' हिरण्यक ने कहा—'इस विषय में बहुत सी बातें कहनी हैं। वहीं चलकर सारी बातें विस्तार के साथ बताऊँगा।' कौवे ने कहा— 'मैं तो आकाश मार्ग से चलने वाला हूँ, अतः आप का मेरे साथ जाना कैसे हो सकता है?' उसने कहा—'यदि मेरे प्राणों की रक्षा करना चाहते हो तो अपनी पीठ पर बिठाकर मुझे वहाँ पहुँचा दोगे। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।' यह सुनकर कौवे ने प्रसन्नता से कहा—'यदि ऐसा है तब तो मैं भाग्यशाली हूँ क्योंकि वहाँ आपके साथ भी समय बिता सकूँगा। मैं सम्पात आदि उड़ने की आठ विशेष गतियों को जानता हूँ। इसलिए मेरी पीठ पर चढ़ जाओ, जिससे मैं तुम्हें आसानी से उस सरोवर के किनारे

'सपातं विप्रपातं च महापातं निपातनम् ।
वक्रं तिर्यक्तथा चोर्ध्वमष्टमं लघुसंज्ञकम् ॥ ५९ ॥

तच्छ्रुत्वा हिरण्यकस्तत्क्षणादेव तदुपरि समारूढः। सोऽपि शनैःशनैस्तमादाय सम्पातोड्डीनप्रस्थितः क्रमेण तत्सरः प्राप्तः। ततो लघुपतनकं मूषकाधिष्ठितं विलोक्य दूरतोऽपि देशकालविदसामान्यकाकोऽयमिति ज्ञात्वा सत्वरं मन्थरको जले प्रविष्टः। लघुपतनकोऽपि तीरस्थतरुकोटरे हिरण्यकं मुक्त्वा शाखाग्रमारुह्य तारस्वरेण प्रोवाच—'भो मन्थरक, आगच्छागच्छ। तव मित्रमहं लघुपतनको नाम वायसश्चिरात्सोत्कण्ठः समायातः, तदागत्यालिङ्गय माम्। उक्तं च—

—नभोगमनप्रकारान्।

तानेवाह—सम्पातमिति। सम्पातं समभावेन गमनं, विप्रपातं पक्षौ विधूय विशेषधावेनगमनं, महापातं बहुदूरमुत्थाय द्रुतगमनं, निपातनं निम्नदेशेन गमनं; वक्रं कुटिलगमनं, तिर्यक् पार्श्वदेशेन गमनम्, ऊर्ध्वं किञ्चिदूर्ध्वेन गमनम्, अष्टमं लघुसंज्ञकं द्रुतगमननामकम्, एतदष्टप्रकारमुड्डीनम् इत्यर्थः ॥ ५९ ॥

(१) सम्पातेति। सम्पाताख्यं यत् उड्डीनं, तेन प्रस्थितं प्रस्थानं, तत्क्रमेण। मूषकाधिष्ठितं—पृष्ठारूढमूषिकम्। देशकालवित्—अस्मिन् देशे इदं करणीयम्

पहुँचा दूँ।' हिरण्यक ने कहा—'मैं उड़ने की गतियों के नाम सुनना चाहता हूँ।' उसने कहा—

सम्पात (पंखों को बिना हिलाए डुलाए उड़ना); विप्रपात (पंख मारकर उड़ना), महापात (तीव्रगति से उड़ना), निपातन (नीचे सिर करके उड़ना); वक्र (टेढ़े-मेढ़े होकर उड़ना), तिर्यक (तिरछे होकर उड़ना) और लघु (अत्यन्त तेजी से उड़ना) नाम की उड़ने की आठ गतियाँ होती हैं।

यह सुनकर हिरण्यक तत्काल ही कौवे की पीठ पर चढ़ गया। वह भी उसे लेकर सम्पात गति से उड़ता हुआ धीरे-धीरे उस सरोवर के पास पहुँचा। तब पीठ पर चूहे को बिठाए लघुपतनक को दूर ही से देखकर 'यह देश-काल का ज्ञाता कोई विशेष कौवा है' ऐसा समझकर मन्थरक शीघ्र जल के भीतर चला गया। लघुपतनक ने भी सरोवर के किनारे वृक्ष के खोखले में हिरण्यक को छोड़कर डाली के अगले भाग पर बैठकर ऊँचे स्वर से पुकारा—'हे मन्थरक, आओ, आओ। मैं तुम्हारा मित्र लघुपतनक नाम का कौवा हूँ और बहुत दिनों से देखने के लिए उत्कण्ठित था इसलिए तुम्हारे दर्शन के लिए आया हूँ। अतः आकर मेरे गले लग जाओ।' कहा भी गया है—

किं चन्दनैः सकर्पूरैस्तुहिनैः किं च शीतलैः ? ।
सर्वे ते मित्रगात्रस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ६० ॥

तथा च—

केनामृतमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ।
आपदां च परित्राणं शोकसंतापभेषजम् ॥ ६१ ॥

तच्छ्रुत्वा निपुणतरं परिज्ञाय सत्वरं सलिलान्निष्क्रम्य पुलकिततनुरानन्दाश्रुपूरितनयनो मन्थरकः प्रोवाच—'एह्येहि मित्र, आलिङ्ग माम् । चिरकालान्मया त्वं न सम्यक्परिज्ञातः । तेनाहं सलिलान्तः प्रविष्टः । उक्तं च—

अस्मिन् काले इदं करणीयमिति वेत्तीति समीकः, विचक्षण इत्यर्थः । असामान्यकाकः—अपूर्वरूपो वायसः ।

किमिति । सकर्पूरैः कर्पूरसहितैः, चन्दनैः अतिशीतलैरिति भावः, किम् ? शीतलैः तुहिनैः तुषारैश्च, किम् ? न किमपि प्रयोजनम् इत्यर्थः; यतः ते सर्वे सकर्पूरचन्दनादयः, मित्रगात्रस्य बन्धुशरीरस्य, षोडशीं कलां षोडशभागैकभागम् इत्यर्थः, न अर्हन्ति; बन्धुगात्रसंस्पर्शः तादृशचन्दनादिभ्योऽपि सन्तापनाशक इति भावः ॥ ६० ॥

केनेति । आपदां विपदां, परित्राणं रक्षणकारणं, शोकसन्तापभेषजञ्च इष्टवियोगजनितसन्तापस्य प्रशमने औषधभूतम्, अत एव अमृतम् अमृतरूपम् इत्यर्थः; इदम् एतत्, "मित्रम्" इति अक्षरद्वयं, केन जनेन, सृष्टम् ? उत्पादितम् ? मित्रदर्शनस्य परमप्रीतिजनकत्वादिति भावः ॥ ६१ ॥

(१) चिरकालात्—बहुकालादर्शनात् । परिज्ञातः—परिचितत्वेन, विदितः

कपूर से मिले हुए चन्दन तथा अत्यन्त शीतल हिम बिन्दुओं से क्या हो सकता है ? ये सब मित्र के शरीर के १६वें भाग की भी समानता नहीं कर सकते हैं । अर्थात् मित्र के शरीर के स्पर्श से जो शीतलता मिलती है वह कपूर मिश्रित चन्दन तथा हिम बिन्दुओं के लेप से नहीं मिल सकती ॥ ६० ॥

और भी—आपत्तियों से रक्षा करने वाले तथा शोक सन्ताप की एकमात्र औषधि अमृततुल्य इस दो अक्षर वाले मित्र की रचना किसने की है ? ॥ ६१ ॥

यह सुनकर और भलीभाँति पहिचान कर शीघ्र ही जल के भीतर से निकल पड़ा और रोमाञ्चित शरीर तथा आनन्द के आँसुओं से भरी आँखों से मन्थरक बोला—आओ मित्र, आओ मेरे गले लग जाओ । बहुत दिनों तक मैंने तुम्हें देखा नहीं था इसलिए पहचान न सकने के कारण जल के भीतर चला गया था । कहा भी गया है—

यस्य न ज्ञायते वीर्यं न कुलं न विचेष्टितम् ।
न तेन सङ्गतिं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः ॥ ६२ ॥

एवमुक्ते लघुपतनको वृक्षादवतीर्य तमालिङ्गितवान् । अथवा साध्विद-मुच्यते—

अमृतस्य प्रवाहैः किं कायक्षालनसम्भवैः ।
चिरान्मित्रपरिष्वङ्गो योऽसौ मूल्यविवर्जितः ॥ ६३ ॥

एवं द्वावपि तौ विहितालिङ्गनौ परस्परं पुलकितशरीरौ वृक्षादधः समुपविष्टौ प्रोचतुरात्मचरितवृत्तान्तम् । हिरण्यकोऽपि मन्थरकस्य प्रणामं कृत्वा वायसाभ्याशे समुपविष्टः । अथ तं समालोक्य मन्थरको लघुपतनक-

---

इत्यर्थः । सलिलान्तःप्रविष्टः—जलमध्यं गतः ।

यस्येति । यस्य वीर्यं बलं, न, कुलं वंशं, न, विचेष्टितञ्च आचारञ्च, न ज्ञायते, तेन सह सङ्गतिं मिलनं, न कुर्यादिति बृहस्पतिः उवाच, तथा च वीर्यवंश-चेष्टितान् अवगत्यैव मैत्री विधेया इति तात्पर्यम् ॥ ६२ ॥

अमृतस्येति । कायस्य देहस्य क्षालनाय सम्भवः उत्पत्तिः; प्रयोजनमिति यावत्, येषां तथाभूतैः; शरीरप्रक्षालनमात्रसाधनैरित्यर्थः, अमृतस्य प्रवाहैः जलपूरैः, किम् ? न किमपि प्रयोजनम् इत्यर्थः. यः चिरात् दीर्घकालादनन्तरं. मित्रपरिष्वङ्गः सुहृदा-लिङ्गनम्, असौ परिष्वङ्गः, मूल्यविवर्जितः अमूल्यः इत्यर्थः; चित्तसन्तापनाशकत्वात् अनुपममेतत् मित्रालिङ्गनं, केवलदैहिकसन्तापनाशको जलप्रवाहस्तु न तथेति भावः ॥ ६३ ॥

(१) पुलकितशरीरौ—रोमाञ्चितकलेवरौ । वायसाभ्यासे—काकसमीपे;

बृहस्पति ने ऐसा कहा है कि जिसके पराक्रम, वंश और आचरण के विषय में जानकारी न हो उसके साथ मेल-मिलाप नहीं करना चाहिए ॥ ६२ ॥

इस प्रकार कहने पर लघुपतनक ने वृक्ष से उतरकर उसका आलिङ्गन किया । अथवा ठीक ही कहा गया है—

उस जल की धारा से क्या लाभ, जिससे केवल शरीर को धोने मात्र का ही काम लिया जा सकता है ? बहुत दिनों के पश्चात् प्राप्त होने वाले इस मित्र के आलिंगन की कीमत नहीं आँकी जा सकती । तात्पर्य यह कि जलस्पर्श से शरीरमात्र शीतल और सुखी होता है किन्तु मित्र के शरीर स्पर्श से शरीर और हृदय दोनों शीतल और सुखी हो जाते हैं । इसलिए मित्र का आलिंगन अमूल्य है ॥ ६३ ॥

इस प्रकार वह दोनों एक दूसरे के गले लगकर रोमाञ्चित शरीर से वृक्ष के नीचे बैठकर अपने-अपने किए गए कार्यों का समाचार कहने लगे । हिरण्यक भी मन्थरक को प्रणाम करके कौवे के पास बैठ गया । उसे देखकर मन्थरक ने

माह—'भोः, कोऽयं मूषकः ? कस्मात्त्वया भक्ष्यभूतोऽपि पृष्ठमारोप्यानीतः ? तन्नात्र स्वल्पकारणेन भाव्यम्।' तच्छ्रुत्वा लघुपतनक आह—'भोः हिरण्यको नाम मूषकोऽयम्। मम सुहृद्द्वितीयमिव जीवितम्।' तत्किं बहुना ?—

पर्जन्यस्य यथा धारा यथा च दिवि तारकाः।
सिकता-रेणवो यद्वत्सख्यया परिवर्जिताः॥ ६४॥

गुणाः संख्यापरित्यक्तास्तद्वदस्य महात्मनः।
परं निर्वेदमापन्नः संप्राप्तोऽयं तवान्तिकम्'॥ ६५॥

मन्थरक आह—'किमस्य वैराग्यकारणम् ?' वायस आह—पृष्टो मया। परमनेनाभिहितम्, यद् बहु वक्तव्यमस्ति। तत्तत्रैव गतः कथयिष्यामि।' इति ममापि न निवेदितम्। तद्भद्र हिरण्यक, इदानीं निवेद्यतामुभयोरप्यावयोस्त-

---

''समीपे निकटासन्न ···। सदेशाभ्याससविध ···''॥ इत्यमरः।

सङ्क्षेपतो मूषकस्य गुणाधिक्यं प्रकटयन् आगमनकारणमपि संक्षेपेणाह—पर्जन्यस्येत्यादि द्वाभ्याम्। यथा पर्जन्यस्य मेघस्य, धाराः, यथा च दिवि अन्तरीक्षे, तारकाः, सिकतानां बालुकानां, रेणवः कणा इत्यर्थः, यद्वत् यथा, सङ्ख्यया गणनया, परिवर्जिताः परित्यक्ताः असङ्ख्येया इत्यर्थः, तद्वत् अस्य महात्मनः मूषकस्य, गुणाः सङ्ख्यया परित्यक्ताः, असङ्ख्येयाः इत्यर्थः, सोऽयं मूषकः, परं निर्वेदं वैराग्यम्, आपन्नः प्राप्तः सन्, तव अन्तिकं समीपं, सम्प्राप्तः आगतः; असङ्ख्यगुणविभूषितोऽपि पुमान् दुर्दैववशात् परं विपन्नः आपत्प्रतीकाराय आधिविघाताय वा हितैषिणं सुहृदं समाश्रयतीति वक्तुराशयः॥ ६४-६५॥

लघुपतनक से कहा—'भाई यह मूषक कौन है ? किस कारण तुम अपना भोज्य (भोजन की वस्तु) होते हुए भी इसे पीठ पर बिठाकर लाए हो ? ऐसा करने में कोई छोटा-मोटा कारण नहीं हो सकता। यह सुनकर लघुपतनक ने कहा—यह हिरण्यक नाम के मूषक हैं। यह मेरे मित्र तथा दूसरे प्राण भी हैं। अतः अधिक क्या कहें।

जैसे बादल की धाराएँ, आकाश के तारे और बालू के कण संख्या से परे होते हैं अर्थात् उन्हें गिना नहीं जा सकता है। वैसे ही इस महापुरुष हिरण्यक के गुण भी संख्या से परे हैं। ये असंख्य गुणों से युक्त हैं किन्तु किसी विशेष कारण से ये अत्यन्त विरक्त होकर आपके पास आये हैं॥ ६४-६५॥

मन्थरक ने कहा—'इनकी विरक्ति का कारण क्या है ?' कौवे ने कहा—मैंने पूछा था किन्तु इन्होंने कहा था कि इस विषय में बहुत कुछ कहना है। अतः

दात्मनो वैराग्यकारणम् ।' सोऽब्रवीत् —

१ : हिरण्यकताम्रचूड-कथा

'अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम् । तस्य नातिदूरे मठायतनं भगवतः श्रीमहादेवस्य । तत्र च ताम्रचूडो नाम परिव्राजकः प्रतिवसति स्म । स च नगरे भिक्षाटनं कृत्वा प्राणयात्रां समाचरति । भिक्षाशेषं च तत्रैव भिक्षापात्रे निधाय तद्भिक्षापात्रं नागदन्तेऽवलम्ब्य पश्चाद्रात्रौ स्वपिति । प्रत्यूषे च तदन्नं कर्मकराणां दत्त्वा सम्यक् तत्रैव देवतायतने समार्जनोपलेपनमण्डनादिकं समाज्ञापयति ।

अन्यस्मिन्नहनि मम बान्धवैर्निवेदितम्—'स्वामिन्, मठायतने सिद्धमन्नं मूषकभयात्तत्रैव भिक्षापात्रे निहितं नागदन्तेऽवलम्बितं तिष्ठति सदैव । तद्वयं भक्षयितुं न शक्नुमः । स्वामिनः पुनरगम्यं किमपि नास्ति । तत्किं वृथाटनेनान्यत्र ? अद्य तत्र गत्वा यथेच्छं भुञ्जामहे भवत् प्रसादात् ।'

[१]

(1) मठायतनं—देवतावासस्थानं, मन्दिरम् इत्यर्थः । परिव्राजकः—पर्यटकः, सन्यासी इत्यर्थः । भिक्षाटनं—भिक्षार्थं भ्रमणम् । नागदन्ते—गृहभित्तौ प्रोथिते "खूँटी" इति भाषया प्रसिद्धे दण्डविशेषे ।

कर्मकराणां—भृत्यानाम्, सम्बन्धविवक्षया षष्ठी । सम्माजनोपलेपमण्डनादिकं—धूल्यपनयन-गोमयलेपनादिकार्यमिति भावः । बान्धवैः—ज्ञातिभिः । वृथाऽटनेन—

वहीं पहुँचकर कहेंगे । मैंने भी कुछ नहीं कहा । इसलिए हे सौम्य हिरण्यक, अब हम दोनों से अपनी विरक्ति का कारण बतलाइये । उसने कहा—

हिरण्यक और ताम्रचूड की कथा

दक्षिण भारत में महिलारोप्य नाम का एक नगर है । उसके समीप ही एक भगवान् शंकर का मन्दिर है । वहाँ ताम्रचूड नाम का एक सन्यासी रहता था । वह नगर में भीख माँगकर अपनी जीविका चलाता था । बचे हुए भिक्षा के अन्न को भिक्षापात्र में रखकर रात्रि में वहीं खूँटी पर लटका कर सोता था । प्रातःकाल उसी अन्न को नौकरों को देकर उनसे देवमन्दिर में झाड़ू लगवाने, लिपवाने तथा रंगोली आदि का काम कराता था ।

एक दिन मेरे भाई बन्धुओं ने मुझसे कहा—हे स्वामी इस मन्दिर में सिद्धान्न चूहों के भय से सदा भिक्षापात्र में रखा हुआ खूँटी पर लटका रहता है । अतः उसे हमलोग खा नहीं पाते हैं । किन्तु आप के लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं है । तो फिर अन्य स्थानों पर बेकार घूमने से क्या लाभ है ? इसलिए आज वहाँ

तदाकर्ण्याहं सकलयूथपरिवृतस्तत्क्षणादेव तत्र गतः। उत्पत्य च तस्मिन् भिक्षापात्रे समारूढः। तत्र भक्ष्यविशेषान् सेवकेभ्यो दत्त्वा पश्चात्स्वयमेव भक्षयामि। सर्वेषां तृप्तौ जातायां भूयः स्वगृहं गच्छामि। एवं नित्यमेव तदन्नं भक्षयामि। परिव्राजकोऽपि यथाशक्ति रक्षति। परं यदैव निद्रान्तरितो भवति, तदाहं तत्रारुह्यात्मकृत्यं करोमि।

अथ कदाचित्तेन मम रक्षणार्थं महान् यत्नः कृतः, जर्जरवंशश्चैकः समानीतः। तेन सुप्तोऽपि मम भयाद्भिक्षापात्रं ताडयति। अहमप्यभक्षितेऽप्यन्ने प्रहारभयादपसर्पामि। एवं तेन सह सकलां रात्रिं विग्रहपरस्य कालो व्रजति।

अथान्यस्मिन्नहनि तस्मिन् मठे बृहत्स्फिङ्नामा परिव्राजकस्तस्य सुहृत्तीर्थयात्राप्रसङ्गेन पान्थः प्राघुणिकः समायातः। तं दृष्ट्वा प्रत्युत्थानविधिना सम्भाव्य प्रतिपत्तिपूर्वकमभ्यागतक्रियया नियोजितः। ततश्च रात्रावेकत्र

विफलभ्रमणेन।

(१) निद्रान्तरितः—सुप्तः, निद्रित इत्यर्थः। आत्मकृत्यं—स्वकार्यं भक्षणादिकम्।

(२) मम रक्षणार्थं—मत्तः भोज्यद्रव्याणां गुप्त्यर्थम्। जर्जरवंशः—जीर्णवंशदण्डः। विग्रहपरस्य—युध्यमानस्य।

(३) बृहत्स्फिक्—बृहत्यौ—विशाले, स्फिचौ—नितम्बमांसपिण्डौ यस्य सः बृहत्स्फिक्, स नाम यस्य सः। प्राघुणिकः—अतिथिः। प्रत्युत्थानविधिना—

चलकर आपकी कृपा से हमलोग इच्छानुसार भोजन करें। यह सुनकर मैं अपनी सम्पूर्ण झुण्ड के साथ उसी समय वहाँ पहुँच गया और कूदकर उस भिक्षापात्र पर चढ़ गया। वहाँ विशेष प्रकार के भोज्यपदार्थों को अपने सेवकों को देकर बाद में खुद भी खाता था और सबके सन्तुष्ट हो जाने पर फिर घर लौट जाता था। इस प्रकार नित्य ही मैं उस अन्न को खाया करता था। सन्यासी भी यथाशक्ति उसकी रखवाली करता था। किन्तु ज्योंही वह सो जाता था त्योंही मैं उस भिक्षापात्र पर चढ़कर अपना कार्य करने लगता था।

इसके बाद उसने मुझसे उसे बचाने के लिए बहुत प्रयत्न किया और एक फटा पुराना बाँस लाया। वह उससे सोते हुए भी मेरे भय से भिक्षापात्र को पीटा करता था। मैं भी बिना अन्न खाए ही प्रहार के भय से दूर हट जाता था। इस प्रकार सारी रात उससे लड़ाई करने में ही बीत जाया करती थी।

इसके पश्चात् एक दिन उसके मन्दिर में उसका मित्र बृहत्स्फिक् नाम का एक संन्यासी तीर्थयात्रा के प्रसंग में घूमता-घामता अकस्मात् आ पहुँचा। उसे देखकर उसने उठकर स्वागत किया और आदरभाव से अतिथि सत्कार किया।

कुशसंस्तरे द्वावपि प्रसुप्तौ धर्मकथां कथयितुमारब्धौ ।

अथ बृहत्स्फिक्कथागोष्ठीषु स ताम्रचूडो मूषकत्रासार्थं व्याक्षिप्तमना: जर्जरवंशेन भिक्षापात्रं ताडयंस्तस्य शून्यं प्रतिवचनं प्रयच्छति । तन्मयो न किञ्चिदुदाहरति ।

अथासावभ्यागतः परं कोपमुपागतस्तमुवाच—'भोस्ताम्रचूड, परिज्ञातः न त्वं सम्यक् सुहृत् । तेन मया सह साह्लादं न जल्पसि । तद्रात्रावपि त्वदीयं मठं त्यक्त्वाऽन्यत्र मठे यास्यामि । उक्तं च—

एह्यागच्छ समाश्रयासनमिदं, कस्माच्चिराद् दृश्यसे ?
का वार्ता ह्यतिदुर्बलोऽसि कुशलं प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात् ।

प्रत्युद्गमनाद्यनुष्ठानेन । सम्भाव्य—सत्कृत्य । प्रतिपत्तिपूर्वकं—सम्मानपूर्वकम् । अभ्यागतक्रियया—अतिथिपरिचर्यया । नियोजितः, आत्मा इति शेषः । कुश-संस्तरे—दर्भशय्यायाम् । प्रसुप्तौ—शयितौ ।

(१) बृहदिति । बृहत्स्फिचा—तन्नाम्ना परिव्राजकेन सह, कथागोष्ठीषु—संलापावसरेषु । व्याक्षिप्तमनाः—व्यस्तचित्तः ।

(२) प्रतिवचनम्—उत्तरम् । तन्मयः—बृहत्स्फिक्कथायामवहितः, मूषक-ध्यानेन तत्रैव निविष्टमनस्कत्वाद् इति भावः । उदाहरति—कथयति, स्वयं प्रवृत्तः न किञ्चित् भाषते इत्यर्थः ।

एहीति । अत्र मत्समीपे, एहि एहि आगच्छ आगच्छ, इदम् आसनं समाश्रय गृहाण, कस्मात् किमर्थं, चिरात् दीर्घकालात्, परमिति शेषः, दृश्यसे ? का वार्त्ता ?

इसके बाद रात्रि में दोनों एक ही कुश के बिछौने पर लेटे लेटे आपस में धर्म चर्चा करने लगे ।

बृहत्स्फिक् के साथ बातचीत करने के समय भी वह ताम्रचूड चूहे को डराने के लिए उस फटे-पुराने बाँस से भिक्षापात्र को पीटता रहता था और अन्यमनस्क होने से निरर्थक उत्तर दिया करता था । चूहे को डराने में लगा हुआ वह स्वयं कुछ भी नहीं कहता था ।

इससे वह अतिथि अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा और उसने उससे कहा—हे ताम्रचूड ! मैंने भलीभाँति समझ लिया कि तुम मेरे मित्र नहीं हो, इसी से मेरे साथ प्रसन्नतापूर्वक बातचीत नहीं करते हो । अतः इस रात में ही मैं तुम्हारे मठ को छोड़कर दूसरे मठ में चला जाऊँगा । कहा भी गया है—

आइए, आइए, इस आसन को ग्रहण कीजिए, बहुत दिनों के पश्चात् क्यों दिखाई पड़े ? क्या समाचार है ? बहुत दुबले दिखाई दे रहे हैं, कुशल है न ?

एवं ये समुपागतान्प्रणयिनः प्रह्लादयन्त्यादरा-
त्तेषां युक्तमशङ्कितेन मनसा हर्म्याणि गन्तुं सदा ॥ ६६ ॥
गृही यत्रागतं दृष्ट्वा दिशो वीक्षते वाप्यधः ।
तत्र ये सदने यान्ति ते शृङ्गरहिता वृषाः ॥ ६७ ॥
नाभ्युत्थानक्रिया यत्र नालापा मधुराक्षराः ।
गुणदोषकथा नैव तत्र हर्म्ये न गम्यते ॥ ६८ ॥

तदेकमठप्राप्त्यापि त्वं गर्वितः । त्यक्तः सुहृत्स्नेहः । नैतद्वेत्सि, यत्त्वया

कः वृत्तान्तः ? अतिदुर्बलोऽसि ? अत्यन्तं कृशोऽसि ? कुशलं मङ्गलम् ? ते तव, दर्शनात् प्रीतोऽस्मि; ये जनाः समुपागतान् उपस्थितान्, प्रणयिनः बान्धवान्, एवम् उक्तप्रकारेण, आदरात् प्रह्लादयन्ति, प्रीणयन्ति, अशङ्कितेन असङ्कुचितेनेत्यर्थः, मनसा तेषां हर्म्याणि गृहाणि इत्यर्थः, विशेषार्थपरशब्दस्यापि कुत्रचित् सामान्य-वाचकत्वदर्शनात् अत्र हर्म्यशब्दस्य गृहसामान्यपरता । सदा गन्तुं युक्तम् उचितं, साधूनामिति शेषः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६६ ॥

गृहीति । गृही गृहस्थः, यत्र यस्मिन् गृहे, आगतम् अभ्यागतम्, अतिथिम् इत्यर्थः, दृष्ट्वापि दिशः वा अधः वीक्षते इतस्ततो दृष्टिं निक्षिपति, अधोमुखो वा भवति इत्यर्थः, तत्र सदने गृहे, ये यान्ति, ते शृङ्गरहिताः शृङ्गहीनाः, वृषाः, तद्वत् विवेक-हीना इत्यर्थः, पशुवत् मानापमानज्ञानवर्जिता इति भावः ॥ ६७ ॥

नेति । यत्र गृहे, अभ्युत्थानक्रिया सादरप्रत्युद्गमनं, न, मधुराक्षराः मधुराणि अक्षराणि येषु तादृशाः, आलापाः वचनानि, न, तथा गुणदोषकथा अन्योऽन्यगुण-दोषचर्चा, न अस्तीति शेषः, तत्र हर्म्ये नैव गम्यते, तत्र गमनं नोचितमिति भावः ॥ ६८ ॥

आपका दर्शन पाकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ । इस प्रकार जो मनुष्य घर पर आए हुए मित्रों को आदर के साथ आनन्दित करते हैं, उन्हीं के घर पर सदा निर्भय मन से जाना उचित होता है ॥ ६६ ॥

जिस घर में गृहस्थ अभ्यागत को आते हुए देखकर बगलें झांकने लगता है अथवा नीचे की ओर देखने लगता है—ऐसे घर में जो व्यक्ति जाते हैं वे बिना सींग के बैल होते हैं अर्थात् वे बुद्धिहीन होते हैं ॥ ६७ ॥

जहाँ उठकर स्वागत करने की क्रिया नहीं होती, जहाँ मधुर शब्दों में बात-चीत नहीं होती और न तो गुण दोष की चर्चा ही होती है उस घर में नहीं जाना चाहिए ॥ ६८ ॥

तुम तो एक ही मठ पाने से इतने अभिमानी बन गए हो कि मित्र के प्रेम को

मठाश्रयव्याजेन नरकोपार्जनं कृतम् । उक्तं च—

नरकाय मतिस्ते चेत्पौरोहित्यं समाचार ।
वर्षं यावत्किमन्येन मठचिन्तां दिनत्रयम् ॥ ६९ ॥

तन्मूर्ख, 'शोचितव्यस्त्वं गर्वं गतः । तदहं त्वदीयं मठं परित्यज्य यास्यामि ।' अथ तच्छ्रुत्वा भयत्रस्तमनास्ताम्रचूडस्तमुवाच—'भो भगवन्, मैव वद । न त्वत्समोऽन्यो मम सुहृत्कश्चिदस्ति । पर तच्छ्रूयतां गोष्ठीशैथिल्यकारणम् । एष दुरात्मा मूषकः प्रोन्नतस्थाने धृतमपि भिक्षापात्रमुत्प्लुत्यारोहति, भिक्षाशेषं च तत्रस्थं भक्षयति । तदभावादेव मठे मार्जनक्रियापि

---

(१) एकमठप्राप्तया—एकस्य मठस्य—देवमन्दिरस्य, प्राप्तया—आधिपत्यलाभेनेत्यर्थः त्यक्तसुहृत्स्नेहः—परित्यक्तबन्धुप्रणयः ।

नरकायेति । चेत् यदि, ते तव, नरकाय नरकं गन्तुं, मतिः बुद्धिः, वर्त्तते इति शेषः, तदा वर्षं यावत् एकवर्षं व्याप्य इत्यर्थः, "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" (पा०सू० २।३।५) इति अत्यन्तसंयोगे द्वितीया पौरोहित्यं देवमन्दिरस्य पुरोहितकार्यं, लोकप्रतारणात्मकमिति भावः; पौरोहित्यं- ग्रामयाजित्वमिति वा "देवलो ग्रामयाजी च" इत्यादि स्मरणादिति भावः; भिक्षोपजीविनां परिव्राजकानां देवलेषु याजकेषु च सोल्लुण्ठनोक्तिरियमिति ज्ञेयम् समाचर अनुतिष्ठ; अन्येन किं किं बहुना इत्यर्थः, दिनत्रयं व्याप्य मठचिन्तां मठसंरक्षणभावनां, समाचर इति पूर्वानुषङ्गः; दिनत्रयं व्याप्य मठचिन्तां कर्त्तुः देवलस्यापि नरके वासो भवति, एतदेव ते समुचितम् अवज्ञाताभ्यागतस्येति भावः ॥ ६९ ॥

(२) भयत्रस्तमनाः—भयेन शङ्कितचित्तः । परः—श्रेष्ठः । गोष्ठीति । गोष्ठ्याम्—अन्योऽन्यस्य सदालापे, यत् शैथिल्यम्—अनभिनिवेशः, तस्य कारणम् ।

(३) उत्प्लुत्य—उद्गत्य तदिति । तदभावात्—तस्य—मूषकस्य,

भी छोड़ बैठे हो । तुम इसे तो समझते नहीं हो कि तुमने यह मठ की प्राप्ति नहीं की है बल्कि इसके बहाने नरक की प्राप्ति की है । कहा भी गया है—

यदि तुम्हारी इच्छा नरक में जाने की हो तो एक वर्ष तक पुरोहिती का कर्म करो । अथवा और कुछ करने से कोई लाभ नहीं, केवल तीन दिन मठ की चिन्ता मात्र ही कर लो ॥ ६९ ॥

इसलिए हे मूर्ख ! अभिमानी बनकर तुम शोचनीय हो गए हो । इसलिए मैं तुम्हारे मठ को छोड़कर जा रहा हूँ । यह सुनकर भयभीत मन से ताम्रचूड़ ने उससे कहा—हे भगवन्, ऐसा मत कहिए । तुम्हारे समान दूसरा कोई मेरा मित्र नहीं है । बातचीत में मेरी ओर से होने वाली शिथिलता का कारण सुनिए । यह दुष्ट चूहा ऊँचे स्थान पर भी रखे हुए इस भिक्षापात्र पर कूदकर चढ़ जाता है

न भवति। तन्मूषकत्रासार्थमेतेन वंशेन भिक्षापात्रं मुहुर्मुहुस्ताडयामि। नान्यत्कारणमिति। अपरमेतत्कुतूहलं पश्यास्य दुरात्मनो यन्मार्जारमर्कटाद्योऽपि तिरस्कृता अस्योत्पतनेन। बृहत्स्फिगाह—'अथ ज्ञायते तस्य बिलं कस्मिंश्चित्प्रदेशे'? ताम्रचूड आह—'भगवन् न वेद्मि सम्यक्।' स आह—नूनं निधानस्योपरि तस्य बिलम्। निधानोष्मणा प्रकूर्दते। उक्तं च—

ऊष्मापि वित्तजो वृद्धिं तेजो नयति देहिनाम्।
किं पुनस्तस्य सम्भोगस्त्यागकर्मसमन्वितः॥ ७०॥

आयाद्—अस्य विद्यमानत्वात् इत्यर्थः। मार्जनक्रिया—सम्मार्जनव्यापारः, तद्रेणु-महत्त्वादित्याशयः। कुतूहले—कौतुकम्।

(१) मार्जारमर्कटादयः—मार्जाराः—बिडालाः, मर्कटाः—वानराः, तत्प्रभृतयोऽपि ये अस्य तीव्रोत्फणप्रसिद्धाः शत्रुपक्षास्तेऽपीति भावः। तिरस्कृताः—खर्वीकृताः; ततोऽपि शीघ्रतरमस्योत्पतनमिति भावः। अस्य—मूषकस्य।

(२) बृहत्स्फिक्—बृहत्यौ स्फिचौ—नितम्बौ यस्य तथाभूतः, तदाख्यः इत्यर्थः। बिलं—गर्त्तः। निधानस्य—शङ्खपद्मादिनामकस्य रत्नविशेषस्य। निधानोष्मणा—चिरसञ्चितलब्धभूतनिधिप्रभावजनितगर्वेण इत्यर्थः। प्रकूर्दते—प्रकर्षेण क्रीडति इत्यर्थः, "कूर्दते" इत्यस्य धातोः भौवादिकस्य लटि रूपम्।

ऊष्मेति। वित्तजः धनजातः, ऊष्मा उत्तापः, अहङ्कार इत्यर्थः। "ऊष्मो धर्मेऽश्रुणि ज्येष्ठे पुमानूष्मा स्त्रियां त्विषि" इति ऊष्मशब्दो नान्तोऽदन्तोऽपि कोषे दृश्यते। अपि देहिनां प्राणिनां, तेजः प्रभावं, वृद्धिं नयति प्रापयति नयतेर्द्विकर्मक-

---

और उसमें रखे हुए भोजन से शेष अन्न को खा जाता है। उसके अभाव से मठ में झाड़ू लगाने का काम भी नहीं हो पाता है। इसलिए चूहे को भयभीत करने के लिए इस बाँस से मैं भिक्षापात्र को बार बार पीटा करता हूँ और कोई दूसरा कारण नहीं है। इसके अतिरिक्त इस दुष्ट का यह भी तमाशा देखो कि इसके कूदने की क्रिया ने बिल्ली बन्दर आदि को भी मात कर दिया। बृहत्स्फिक् ने कहा—"क्या तुम्हें मालूम है कि उसका बिल किस स्थान पर है? ताम्रचूड ने ने कहा—'भगवन्, निश्चित रूप से नहीं जानता हूँ।" उसने कहा—निश्चय ही खजाने के ऊपर उसका बिल है। खजाने की गर्मी से कूदता है। कहा भी गया है—

धन से उत्पन्न होने वाली गरमी भी शरीरधारियों के तेज को बढ़ा देती है। फिर त्याग (दान) आदि कर्मों से संयुक्त उस धन के भोग का तो कहना ही क्या है? ॥ ७० ॥

तथा च—
'नाकस्माच्छाण्डिली मातर्विक्रीणाति तिलैस्तिलान् ।
लुञ्चितानितरैर्येन हेतुरत्र भविष्यति' ॥ ७१ ॥

ताम्रचूड आह—'कथमेतत् ?' स आह—

२ : तिलचूर्णविक्रय-कथा

एकदाहं कस्मिंश्चित्स्थाने प्रावृट्काले व्रतग्रहणनिमित्तं कञ्चिद् ब्राह्मणं वासार्थं प्रार्थितवान् । ततश्च तद्वचनात्तेनापि शुश्रूषितः सुखेन देवार्चनपरस्तिष्ठामि ।

अथान्यस्मिन्नहनि प्रत्यूषे प्रबुद्धोऽहं ब्राह्मणब्राह्मणीसंवादे

त्वात् ; त्यागकर्मणा दानव्यापारेण, समन्वितः युक्तः, तस्य वित्तस्य, सम्भोगः किं पुनः ? तेजोवृद्धिं नयत्येव, तत्र किं वक्तव्यमस्तीत्यर्थः; वित्तस्य दाने भोगे च, किं बहुना वित्तसंसर्गेऽपि ऊष्मा जायते, अर्थस्यानर्थमूलत्वादिति भावः ॥ ७० ॥

नेति । हे मातः ! शाण्डिली तदाख्या, शण्डिलगोत्रसम्भूता वा काचित् ब्राह्मणी, येन हेतुना, इतरैः अलुञ्चितैः इति भावः, तिलैः लुञ्चितान् अपनीतत्वचः, तिलान् अकस्मात् विना कारणम् इत्यर्थः, न विक्रीणाति तुषरहितैः तिलैः सतुषान् तिलान् न विनिमिनोति इति भाव; । "परिव्यवेभ्यः क्रियः" (पा०सू० १।३।१८) इत्यनुशासनेन आत्मनेपदव्यवस्थित: । अत्र विक्रीणीते" इत्येवमेव भवितुं युक्तम्, तेन अत्र अविक्रये, हेतुः कारणं, भविष्यति, प्रयोजनमुद्दिश्यैव सर्वेषां प्रवर्त्तनादिति भावः ॥ ७१ ॥

[२]

(१) प्रावृट्काले—वर्षाकाले । प्रावृडिति प्रपूर्वस्य वृषधातोः क्विपि "नहिवृतिवृषि—" (पा०सू० ६।३।११६) इति सूत्रेण उपसर्गस्य दीर्घत्वम् । व्रतग्रहणनिमित्तं—कस्यचित् नियमस्य पालनार्थम् । वासार्थं—तद्गृहे अवस्थानार्थम् । तद्वचनात्—तस्मात् वचनात्, मत्प्रार्थनावचनात् इत्यर्थः । तेन—प्रार्थितब्राह्मणेन । शुश्रूषितः सेवितः ।

और भी—हे माँ, यह शाण्डिली छिलके उतारे गए तिलों को छिलके वाले तिलों के साथ अकस्मात् ही नहीं बदल रही है । ऐसा करने में कोई न कोई कारण अवश्य होगा ॥ ७१ ॥

ताम्रचूड ने कहा–'यह कैसे' । उसने कहा—

तिल बेचने वाली शाण्डिली माता की कथा

एक बार मैंने किसी स्थान पर वर्षाकाल में व्रत का अनुष्ठान करने के लिए किसी ब्राह्मण से (उसके घर) निवास करने की प्रार्थना की । इसके पश्चात् उसके द्वारा सेवित हो कर सुख के साथ देवपूजा में तल्लीन होकर रहने लगा ।

दत्तावधानः शृणोमि । तत्र ब्राह्मण आह—'ब्राह्मणि, प्रभाते दक्षिणायन-संक्रान्तिरनन्तदानफलदा भविष्यति । तदहं प्रतिग्रहार्थं ग्रामान्तरं यास्यामि । त्वया ब्राह्मणस्यैकस्य भगवतः सूर्यस्योद्देशेन किञ्चिद्भोजनं दातव्यम्' इति । अथ तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणी परुषतरवचनैस्तं भर्त्सयमाना प्राह—'कुतस्ते दारिद्र्योपहतस्य भोजनप्राप्तिः ? तत्किं न लज्जसे एवं ब्रुवाणः । अपि च न मया तव हस्तलग्नया क्वचिदपि लब्धं सुखम् । न मिष्ठान्नस्यास्वादनम्, न च हस्तपादकण्ठादिभूषणम् ।' तच्छ्रुत्वा भयत्रस्तोऽपि विप्रो मन्दं मन्दं प्राह—'ब्राह्मणि, नैतद्युज्यते वक्तुम् ।' उक्तं च—

ग्रासादपि तदर्धञ्च कस्मान्नो दीयतेऽर्थिषु ? ।
इच्छाऽनुरूपो विभवः कदा कस्य भविष्यति ? ॥ ७२ ॥

---

(१) प्रबुद्धः—जागरितः । ब्राह्मणेति । ब्राह्मणब्राह्मणीसंवादे—ब्राह्मणस्य ब्राह्मण्या सह परस्परकथोपकथने, दत्तावधानः—अभिनिविष्टचित्तः ।

(२) प्रतिग्रहार्थं—दत्तवस्तुनः स्वीकारः प्रतिग्रहः, तस्मै इदं, दानग्रहणार्थ-मित्यर्थः । अत्र नित्यसमासः, "अर्थेन नित्यसमासः सर्वलिङ्गता चेति वक्तव्यम्" इति वार्त्तिकात् । ब्राह्मणस्येति, सम्बन्धविवक्षया सम्प्रदाने षष्ठी । सूर्यस्य उद्देशेन—सूर्यदेवप्रीत्यर्थम् इत्यर्थः ।

(३) परुषतरवचनैः—अतिकर्कशवाक्यैः । भर्त्सयमाना—तिरस्कुर्वन्ती । दारिद्र्योपहतस्य—निर्धनस्य इत्यर्थः । हस्तलग्नया—हस्तपतितया । हस्तपादकण्ठादिभूषणं—बलयनूपुरहाराद्यलङ्करणं, न लब्धमित्यनुषङ्गः ।

एक दिन मैंने प्रातःकाल ही जग कर ब्राह्मण और ब्राह्मणी के बीच होने वाली बात चीत में ध्यान लगाए हुए सुना । ब्राह्मण ने कहा—हे ब्राह्मणि, प्रातःकाल अनन्त फलों को देने वाली दक्षिणायन (मकर) की संक्रान्ति होगी । इसलिए मैं दान लेने के लिए दूसरे गाँव को जाऊँगा । तुम भगवान् सूर्य के निमित्त एक ब्राह्मण को कुछ भोजन दे देना । यह सुनकर ब्राह्मणि ने कठोर वचनों से फटकारते हुए उससे कहा—दरिद्रता से मारे गए तुम्हारे घर भोजन कहाँ से मिल सकता है ! ऐसा कहते हुए तुम लज्जित भी नहीं हो रहे हो ? तुम्हारे हाथ में पड़कर मैंने कोई भी सुख नहीं प्राप्त किया । न तो मीठे मीठे भोजन ही खाने को मिले और न तो हाथ, पैर, गले आदि में पहनने के गहने ही मिले । यह सुनकर भयभीत होकर भी ब्राह्मण ने धीरे धीरे कहा—हे ब्राह्मणि, ऐसा कहना उचित नहीं है । कहा भी गया है—

एकग्रास (कौर) का भी आधा भाग याचकों को क्यों नहीं देते हो ? अपनी

ईश्वरा भूरिदानेन यल्लभन्ते फलं किल।
दरिद्रस्तच्च काकिण्या प्राप्नुयादिति नः श्रुतिः ॥ ७३ ॥

दाता लघुरपि सेव्यो भवति न कृपणो महानपि समृद्धया।
कूपोऽन्तःस्वादुजलः प्रीत्यै लोकस्य न समुद्रः ॥ ७४ ॥

तथा च —अकृतत्यागमहिम्ना मिथ्या किं राजराजशब्देन।
गोप्तारं न निधीनां कथयन्ति महेश्वरं विबुधाः ॥ ७५ ॥

ग्रासादिति। ग्रासादपि एककवलपरिमितादपि अन्नादित्यर्थः, तदर्द्धं ग्रासार्द्धं कस्मात् अर्थिषु भिक्षुकेषु, अधिकरणविवक्षया सप्तमी, नो दीयते ? न समर्प्यते ? जनैरिति शेषः; तद्दानमुचितमेवेति भावः। कदा कस्य जनस्य, इच्छानुरूपः अभिलाषानुयायी विभवः सम्पत् भविष्यति ? नैव कदाचिदपि भविष्यति इत्यर्थः, इच्छाऽनुरूपविभवस्य दुर्लभत्वादित्याशयः ॥ ७२ ॥

ईश्वरा इति। ईश्वरा धनिनः, भूरिदानेन, बहुदानेन, यत् फलं स्वर्गादिरूपं, किल लभन्ते, दरिद्रो जनः, काकिण्या वराटकानां विंशत्या, "वराटकानां दशकद्वयं यत् सा काकिणी" इति लीलावती काकिणीमात्रदानेन इत्यर्थः, तच्च फलं, प्राप्नुयात् लभेत, इति नः अस्माकं, श्रुतिः शास्त्रेषु श्रुतम्, अतोऽस्माकं दरिद्राणाम् अल्पदानस्यापि भूरिफलकतया किञ्चिदपि दातव्यमिति भावः ॥ ७३ ॥

दातेति। दाता लघुरपि निर्धनोऽपीत्यर्थः, सेव्यः भवति, लोकैरिति शेषः, कृपणः अदाता, समृद्धया, अत्र करणे तृतीया सम्पदा, महानपि न, सेव्यः इत्यनुषङ्गः; तथा हि, अन्तर्गतानि स्वादूनि जलानि यस्य तादृशः कूपः क्षुद्रोऽपीति भावः, लोकस्य जनस्य, प्रीत्यै, अलमिति शेषः, तस्य मधुरजलदातृत्वात्; समुद्रो बृहदपीति भावः; न, लवणमयजलत्वात् तेन न कोऽपि तृप्यतीति भावः। विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः। आर्या वृत्तम् ॥ ७४ ॥

अकृतेति। अकृतः अविस्तारित इत्यर्थः, त्यागस्य दानस्य, महिमा महत्त्वं येन

इच्छा के अनुसार धन-सम्पत्ति तो कब किसे मिलती है ? ॥ ७२ ॥

हमने ऐसा सुना है कि सम्पत्तिशाली लोग अत्यधिक देने से जो फल प्राप्त करते हैं, वही फल दरिद्र एक कौड़ी देने से प्राप्त करता है ॥ ७३ ॥

धनहीन होने पर भी दानी लोगों द्वारा सेव्य बनता है किन्तु अत्यन्त वैभवशाली होने पर भी कंजूस सेव्य नहीं होता है। मीठे जल से पूर्ण कुवाँ छोटा होने पर लोगों का प्रिय होता है, पर बड़ा होने पर भी (समुद्र खारे जल के कारण) प्रिय नहीं होता है ॥ ७४ ॥

त्याग के (दान के) महत्व से रहित झूठे राजराज (कुबेर) शब्द से कोई लाभ

अपि च—

सदा दानपरिक्षीणः शस्त एव करीश्वरः।
अदानः पीनगात्रोऽपि निन्द्य एव हि गर्दभः ॥ ७६ ॥
सुशीलोऽपि सुवृत्तोऽपि यात्यदानादधो घटः।
पुनः कुब्जापि काणापि दानादुपरि कर्कटी ॥ ७७ ॥

तादृशेन, दानवर्जितेनेत्यर्थः, अत एव मिथ्या अयथार्थभूतेन, राजराजशब्देन नृपश्रेष्ठ इति पदेन, अथ च राजराजशब्देन कुबेरस्य नामविशेषेण, "कुबेरस्त्र्यम्बकसखः··· ···राजराजो धनाधिपः।" इत्यमरः, किम्? न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः, विबुधाः पण्डिताः, निधीनां रत्नानां, गोप्तारं रक्षितारं, न तु दातारं, तस्य महेश्वरकोष-रक्षकत्वादिति भावः। कुबेरमिति शेषः महेश्वरं न कथयन्ति, धनवत्त्वमेव न महेश्वर-शब्दप्रतिपाद्यत्वे हेतुः, अपि तु त्यागशीलत्वमेवेति भावः। आर्या वृत्तम् ॥ ७५ ॥

सदेति। सदा सततं, दानेन एकत्र—मदजलेन, अन्यत्र—धनवितरणेन, परिक्षीणः एकत्र,—कृशः, अन्यत्र—दैन्यमापन्नः इत्यर्थः, करीश्वरः करिणामीश्वरः, गजेन्द्रः इति यावत्, शस्तः प्रशंसान्वितः, एकत्र—मदस्राविंत्वात्, अन्यत्र—सदा धनदानादिति भावः; अदानः एकत्र—अमदस्रावी, अन्यत्र—कृपण इति भावः पीनगात्रः स्थूलकायोऽपि, एकत्र—स्वभावात्, अन्यत्र—स्वोदरमात्रपरिपोषकत्वात् केवलं मांसपिण्डमयशरीरधारक इति भावः; गर्दभः रासभः, निन्द्य एव गर्हणीयः एव, हि निश्चये, दृश्यते हि तिरश्चामपि दानमूलिकैव प्रशंसा, किमुत परेषामिति तु फलितार्थः। अत्र विशेषणमात्रश्लेषवशात् अप्रस्तुतात् करीश्वरात् गर्दभाश्च प्रस्तुतस्य दातुः कृपणस्य च प्रतीतेः अप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारः ॥ ७६ ॥

सुशील इति। सुशीलोऽपि, सुस्वभावोऽपि, एकत्र—माङ्गलिकद्रव्यत्वात्, अन्यत्र—केषाञ्चिदपि अनिष्टानाचरणादिति भावः, सुवृत्तोऽपि एकत्र,—सुवर्त्तुलोऽपि

नहीं है। सम्पूर्ण निधियों की रक्षा करने वाले कुबेर को विद्वान् लोग महेश्वर नहीं कहते हैं ॥ ७५ ॥

नित्य मदजल देने से क्षीण हाथी और दान देने से धनहीन धनी प्रशंसा के पात्र होते हैं। किन्तु मदजल न देने से स्थूल-शरीर वाला गदहा और दान न देने से प्रचुर धन वाला धनी निन्दनीय होता है ॥ ७६ ॥

घड़ा सुगठित और गोल होने पर भी जल न देने से घट नीचे जाता है। उसी प्रकार सुशील और सदाचारी होने पर भी दान न देने से मनुष्य अधोगति को प्राप्त होता है। किन्तु कुबड़ी कानी ककड़ी भी देने से ऊपर को जाती है (उसी प्रकार देने से कुरूप और कुविचारी भी उच्च गति को प्राप्त होता है) ॥ ७७ ॥

यच्छञ्जलमपि जलदो वल्लभतामेति सकललोकस्य ।
नित्य प्रसारितकरो मित्रोऽपि न वीक्षितुं शक्यः ।। ७८ ।।

एवं ज्ञात्वा दारिद्र्याभिभूतैरपि स्वल्पात्स्वल्पतरं काले पात्रे च देयम् । उक्तं च—

अन्यत्र—सुपरितोऽपि, घटः कलसः, अदानात् एकत्र—जलस्याविसरणात् अन्यत्र—कार्पण्यादिति भावः, अधो याति अधस्तिष्ठति, जलशून्यावस्थायामधोमुखं कृत्वा स्थापनादिति भावः, जनानामनादरनीयत्वात् इति च भावः, पुनः किन्तु, कुब्जाऽपि वक्राऽपि, काणाऽपि विकृताऽऽकृतिरपि, पक्षद्वयेऽपि समानम्, कर्कटी एर्वारुफलं, "ककड़ी" इति हिन्दीभाषया प्रसिद्धं, दानात् एकत्र—पथिकेभ्यः आत्मसमर्पणात्, अन्यत्र—धनवितरणात्, उपरि समुन्नते प्रदेशे, मञ्चोपरि प्रशंसनीयस्थाने च इत्यर्थः, यातीति पूर्वेणान्वयः, एकत्र—आतपोत्तप्तपान्थानां क्षुत्पिपासानिवारकतया, अन्यत्र—आर्त्तानां विपन्नानां वा दैन्यविनाशकतया इति भावः, अत्रापि विशेषणमात्रश्लेषवत् अप्रस्तुतात् घटात् कर्कटयाश्च प्रस्तुतस्य अदातुः दातुश्च प्रतीतेः अप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारः ।। ७७ ।।

यच्छन्निति । जलदः मेघः, सूर्य्यादधःस्थः इति भावः; जलं वारि, यच्छन्नपि ददत्पि, सर्वत्र सुप्राप्यजलदानादपि इति भावः, सकललोकस्य वल्लभतां सर्वजनप्रियताम्, एति प्राप्नोति, अकातरदानशीलत्वादिति भावः, नित्यं सततं, प्रसारितकरः एकत्र—भूम्याः सहस्ररश्मिभिः जलसमाकर्षणार्थं विस्तारितकिरणः, अन्यत्र—धनप्रार्थनार्थं हस्तं प्रसारयन्निति भावः, मित्रोऽपि एकत्र—सूर्य्योऽपि, पूर्वोक्तजलदात् प्रत्युन्नतस्थलस्थितोऽपीति भावः, अन्यत्र—बन्धुरपि, अतिप्रियोऽपीति भावः; मित्रशब्दस्य बन्धुवाचकत्वे क्लीवत्वं सूर्य्यवाचकत्वे तु पुंस्त्वमेवेति ज्ञेयं । वीक्षितुं द्रष्टुं; न शक्यः, एकत्र—तेजोऽतिरेकात् दृष्टिशक्तेरुपरोधकतया, अन्यत्र—नियतप्रार्थनावशात् लोकैरनादरणीयतयेति भावः; अत्रापि विशेषणमात्रश्लेषवशात् अप्रस्तुतात् जलदात् मित्राच्च प्रस्तुतस्य वदान्यस्य, अदातुः प्रत्युत प्रार्थयितुरेव कृपणस्य च प्रतीतेः पूर्ववदप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारः । आर्या वृत्तम् ।। ७८ ।।

जल जैसी साधारण वस्तु भी देने के कारण बादल सभी लोगों का प्रिय बन जाता है किन्तु नित्य कारण रूपी हाथ फैलाने वाला सूर्यरूपी बन्धु भी देखा नहीं जा सकता है ।। ७८ ।।

ऐसा समझकर दरिद्रता से परिपूर्ण होने पर भी मनुष्य को समय पर योग्य पात्र को कम से कम देना चाहिए । कहा भी गया है—

सत्पात्रं महती श्रद्धा देशे काले यथोचिते।
यद्दीयते विवेकज्ञैस्तदनन्ताय कल्पते ॥ ७९ ॥

तथा च—

अतितृष्णा न कर्तव्या तृष्णां नैव परित्यजेत्।
अतितृष्णाभिभूतस्य शिखा भवति मस्तके ॥ ७९ ॥

ब्राह्मण्याह—'कथमेतत् ?' स आह—

३ : शबरशूकरकथा

'अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे कश्चित्पुलिन्दः। स च पापर्द्धिं कर्तुं वनं प्रति प्रस्थितः। अथ तेन प्रसर्पता महानञ्जनपर्वतशिखराकारः क्रोडः

सत्पात्रमिति। सत्पात्रम् उत्कृष्टं दानपात्रम्, महती समाधिका, श्रद्धा धर्मकार्य्येषु प्रत्ययः, अस्ति चेदिति शेषः, तदा विवेकज्ञैः सुविवेचकैः यथोचिते देशे काश्यादौ, तथा काले पौर्णमास्यादौ, यत् दीयते, श्रद्धाऽतिशयेन सत्पात्रायेति शेषः, तत् दानम्, अनन्ताय अक्षयफलाय, कल्पते प्रभवति, "अनन्ताय" इत्यत्र "क्लृपि सम्पद्यमाने च" (वा०) इति चतुर्थी अक्षयफलं भवति इत्यर्थः, ॥ ७९ ॥

अतितृष्णेति। अतितृष्णा अतिलोभः, न कर्त्तव्या, तृष्णां शास्त्रसङ्गतलाभं, नैव परित्यजेत्, अतितृष्णया अभिभूतस्य अत्यन्तलोभाऽऽक्रुष्टस्य, जनस्य इति शेषः, मस्तके, शिरोमध्ये, शिखा शिखावत् प्रतीयमानः चापस्याग्रभागः इत्यर्थः, भवति उत्तिष्ठते ॥ ८० ॥

[३]

(१) पुलिन्दः—म्लेच्छजातिविशेषः। पापर्द्धिं—पापवृद्धिं, जीवहत्यापापेन सम्पदं वा। प्रसर्पता—विचरता। अञ्जनपर्वतशिखराऽऽकारः—कज्जलाचल-

देश काल के अनुसार श्रद्धा से युक्त सत्पात्र को विवेकी पुरुष जो कुछ भी देता है वह अक्षय फल को देने वाला होता है ॥ ७९ ॥

और भी—न तो अधिक लालच ही करनी चाहिए और न तो एकदम लालच का परित्याग ही करना चाहिए। अत्यन्त लालच में पड़े हुए व्यक्ति के सिर पर चोटी होती है ॥ ८० ॥

ब्राह्मणी ने कहा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

भील और सूअर की कथा

किसी जंगली स्थान में कोई भील रहता था। वह शिकार करने के लिए जंगल में गया। वहाँ घूमते-घूमते उसे एक काले पहाड़ की चोटी और सूअर

समासादितः। तं दृष्ट्वा कर्णान्ताकृष्टनिशितसायकेन समाहतः। तेनापि कोपाविष्टेन चेतसा बालेन्दुद्युतिना दंष्ट्राग्रेण पाटितोदरः पुलिन्दो गतासुर्भूतलेऽपतत्। अथ लुब्धकं व्यापाद्य शूकरोऽपि शरप्रहारवेदनया पञ्चत्वं गतः। एतस्मिन्नन्तरे कश्चिदासन्नमृत्युः शृगाल इतस्ततो निराहारतया पीडितः परिभ्रमंस्तं प्रदेशमाजगाम। यावद्वराहपुलिन्दौ द्वावपि पश्यति तावत्प्रहृष्टो व्यचिन्तयत्—भोः, सानुकूलो मे विधिः। तेनैतदप्यचिन्तितं भोजनमुपस्थितम्। अथवा साध्विदमुच्यते—

> अकृतेऽप्युद्यमे पुंसामन्यजन्मकृतं फलम्।
> शुभाऽशुभं समभ्येति विधिना सन्नियोजितम्॥ ८१॥

चूडासदृशमूर्त्तिः। क्रोडः—शूकरः, "क्रोडः शनौ शूकरे ना न पुमानङ्करक्षसोः" इति मेदिनी।

(१) कर्णान्तेति। कर्णान्तम्—आकर्णम्, आकृष्टः—कृताकर्षणः, निशितः—तीक्ष्णः। सायकः—शरो येन तथोक्तेन सता। समाहतः—ताडितः।

(२) बालेन्दुद्युतिना—नवोदितचन्द्रकान्तिना, शुभ्रकुटिलेनेति भावः। पाटितोदरः—विदारितकुक्षिः। पुलिन्दः—व्याधः। गतासुः—विगतप्राणः। अनुकूलः—सदयः।

अकृते इति। उद्यमे यत्ने, अकृतेऽपि, पुंसाम् अन्यजन्मकृतं जन्मान्तरीणकर्मणैव निष्पादितं, शुभाशुभं फलं सुखदुःखादिरूपं, विधिना दैवेन, सन्नियोजितं सम्यक् प्रेरितं सदित्यर्थः, समभ्येति समाश्रयति, पुरुषानिति शेषः॥ ८१॥

मिला। उसे देखकर उसने कान तक खींचे गए तीखे बाण से उसे मारा। उसने भी क्रुद्ध होकर द्वितीया के चन्द्रमा जैसे अपने दाढ़ से उसका पेट फाड़ दिया। जिससे वह भील प्राणविहीन होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा इसके बाद शिकारी भील मारकर सूअर भी बाण की चोट की पीड़ा से मर गया। इसी बीच भोजन न पाने से पीड़ित तथा मरणासन्न कोई गीदड़ इधर-उधर भटकता हुआ उस स्थान पर आ पहुँचा। उसने जब सूअर और भील दोनों को (मरा हुआ) देखा तो प्रसन्न होकर विचार किया कि भाग्य मेरे अनुकूल है। इसीसे अकस्मात् ही यह भोजन प्राप्त हो गया है। अथवा यह उचित ही कहा गया है—

उद्यम न करने पर भी विधि की प्रेरणा से मनुष्य को पूर्व जन्म में किए गए शुभाशुभ कर्मों का फल प्राप्त हो ही जाता है॥ ८१॥

तथा च—यस्मिन् देशे च काले च वयसा यादृशेन च।
कृतं शुभाशुभं कर्म तत्तथा तेन भुज्यते॥ ८२॥

तदहं तथा भक्षयामि यथा बहून्यहानि मे प्राणयात्रा भवति। तत्तावदेनं स्नायुपाशं धनुष्कोटिगतं भक्षयामि। उक्तं च—

शनैः शनैश्च भोक्तव्यं स्वयं वित्तमुपार्जितम्।
रसायनमिव प्राज्ञैर्हेलया न कदाचन॥ ८३॥

इत्येवं मनसा निश्चित्य चापचटितकोटिं मुखमध्ये प्रक्षिप्य स्नायुं

यस्मिन्निति। यस्मिन् देशे च, काले च, यादृशेन वयसा च, यत् शुभाशुभं कर्म कृतं, स्यादिति शेषः, येन पूर्वजन्मनीति पदद्वयमध्याहार्यम्; तत् सर्वं, तथा तादृशमेव, तस्मिन् देशे, तत्र काले, तादृशे वयसि च, तत्तत्कर्मानुरूपमित्यर्थः, तेन पुंसा, भुज्यते॥ ८२॥

(२) प्राणयात्रा—जीविका। स्नायुपाशं—स्नायुनिर्मितां रज्जुम्। धनुष्कोटिगतं—धनुषोऽग्रभागलग्नम्।

शनैरिति। प्राज्ञैः बुद्धिमद्भिः, जनैरिति शेषः, स्वयम् आत्मना, कर्त्तरि तृतीया उपार्जितं वित्तं धनं, रसायनमिव जराव्याधिनाशकौषधमिव, शनैः शनैश्च अल्पमल्पमेव, क्रमेणेत्यर्थः, भोक्तव्यं, कदाचन हेलया अवज्ञया, प्रकृत्यादित्वात् तृतीया ममत्वबोधाभावात् अनादरेणेति भावः, न, भोक्तव्यमित्यनुषङ्गः, रसायनं यथा स्तोकपरिमितमेव सादरं भुञ्जीत, न तु यदृच्छया, स्वोपार्जितं वित्तमपि तथैवेति भावः॥ ८३॥

(१) चापेति। चापस्य—धनुषः, चटितकोटिं—खण्डिताग्रभागं, ज्यारोपण-

---

और भी—जिस स्थान, समय, तथा आयु में मनुष्य ने (अपने पूर्व जन्म में) जैसा (शुभ-अशुभ) कर्म किया है, उसका फल उसे (उसी प्रकार, उसी स्थान पर; उसी काल और उसी आयु में) भोगना पड़ता है॥ ८२॥

इसलिए इसे मैं इस प्रकार खाऊँ ताकि बहुत दिनों तक मेरी जीविका चलती रहे। अतः पहिले इस धनुष के सिरों से बँधी हुई ताँत की इस रस्सी को खाऊँगा। कहा भी गया है—

बुद्धिमान् व्यक्ति को अपने द्वारा कमाए हुए धन को रसायन की तरह धीरे-धीरे भोगना चाहिए। कभी भी लापरवाही से उसका भोग नहीं करना चाहिए॥ ८३॥

इस प्रकार मन में निश्चय करके ताँत से बँधे धनुष के शिर को मुँह में

भक्षितुं प्रवृत्तः। ततश्च त्रुटिते पाशे तालुदेशं विदार्य चापकोटिर्मस्तकमध्येन निष्क्रान्ता। सोऽपि तद्वेदनया तत्क्षणान्मृतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'अतितृष्णा न कर्तव्या' इति।

स पुनरप्याह—'ब्राह्मणि, न श्रुतं भवत्या ?'

[ब्राह्मण्यास्तिलविक्रय कथा]

'आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः'॥ ८४॥

थथैवं सा तेन प्रबोधिता ब्राह्मण्याह—''यद्येवं तदस्ति मे गृहे स्तोकतिलराशिः। ततस्तिलांल्लुञ्चित्वा तिलचूर्णेन ब्राह्मणं भोजयिष्यामि' इति। ततस्तद्वचनं श्रुत्वा ब्राह्मणो ग्रामं गतः। साऽपि तिलानुष्णोदकेन सम्मर्द्य कुट्टित्वा सूर्यातपे दत्तवती। अत्रान्तरे तस्या गृहकर्मव्यग्रायास्तिलानां मध्ये

स्थानमित्यर्थः, यद्वा—चापे चटिता—बद्धा, कोटिः—अग्रभागः, प्रान्तदेश इत्यर्थः; यस्य तम्, धनुरग्रभागार्थकस्यापि कोटिशब्दस्यात्र ''क्वचिद्विशेषार्थशब्दस्यापि सामान्यार्थे प्रयोगः'' इति न्यायात् स्नाय्वग्रभागार्थे प्रयोगः। त्रुटिते—छिन्ने। निष्क्रान्ता—बहिर्गता, मस्तकमध्यदेशे शिखावत् उद्गत्य अवस्थिता इति भावः।

आयुरिति। आयुः जीवनकालः, कर्म कार्य्यं, वित्तं धनं, विद्या शास्त्रज्ञानं; तथः निधनं मृत्युः, एतानि 'नपुंसकमनपुंसके—'(पा०सू० १।२।६९) इति सूत्रेणैकशेषात् पक्षे बहुवचनं क्लीवत्वञ्च, पञ्च, गर्भस्थस्य उदरस्थितस्यैव, देहिनः सृज्यन्ते हि, विधाता इति शेषः॥ ८४॥

(१) स्तोकतिलराशिः—अल्पतिलराशिः।

(२) लुञ्चित्वा—कण्डयित्वा, त्वचोऽपनीय इत्यर्थः। ''वञ्चिलुञ्च्यातश्च'' (पा० सू० १।२।२४) इति किन्त्वपक्षे 'लुचित्वा' इत्यपि।

रखकर तांत को खाना प्रारम्भ किया। इसके पश्चात् तांत के टूटने पर धनुष का सिरा तालु को फाड़कर मस्तक के बाहर निकल गया। वह भी उसकी पीड़ा से तत्काल ही मर गया। इसीलिए मैं कहता हूँ कि अत्यधिक लालच नहीं करनी चाहिए। उसने फिर कहा—हे ब्राह्मणी! तुमने क्या यह नहीं सुना है—

आयु, कर्म, धन, विद्या और मृत्यु ये पाँचों ही गर्भ की स्थिति काल में ही (मनुष्य के लिए विधाता द्वारा) निश्चित कर दिए जाते हैं॥ ८४॥

इस प्रकार उसके (ब्राह्मण) द्वारा समझाने पर ब्राह्मणी ने कहा—'यदि ऐसी बात है तो मेरे घर में थोड़ा सा तिल है। अतः उन तिलों को साफ करके तिल के चूर्ण से ब्राह्मण को भोजन कराऊँगी।' उसकी बात को सुनकर ब्राह्मण गाँव को चला गया। उसने भी तिलों को गरम जल से मलकर तथा कूटकर धूप में

कश्चित्सारमेयो मूत्रोत्सर्गं चकार। तं दृष्ट्वा सा चिन्तितवती—'अहो नैपुण्यं पश्य पराङ्मुखीभूतस्य विधेः, यदेते तिला अभोज्याः कृताः। तदहमेतान्समादाय कस्यचित् गृहं गत्वा लुञ्चितैरलुञ्चितानायामि। सर्वोऽपि जनोऽनेन विधिना प्रदास्यति' इति।

अथ यस्मिन् गृहेऽहं भिक्षार्थं प्रविष्टस्तत्र गृहे साऽपि तिलानादाय प्रविष्टा विक्रयं कर्तुम्। आह च—'गृह्णातु कश्चिदलुञ्चितैर्लुञ्चितांस्तिलान्।'

अथ तद्गृहगृहिणीग्रहं प्रविष्टा यावदलुञ्चितैर्लुञ्चितान्गृह्णाति, तावदस्याः पुत्रेण कामन्दकशास्त्रं दृष्ट्वा व्याहृतम्—'मातः, अग्राह्याः खल्विमे तिलाः। नास्या अलुञ्चितैर्लुञ्चिता ग्राह्याः। कारणं किञ्चिद्भविष्यति। तेनैषाऽलुञ्चितैर्लुञ्चितान्प्रयच्छति'। तच्छ्रुत्वा तया परित्यक्तास्ते तिलाः। अतोऽहं ब्रवीमि—'नाकस्माच्छाण्डिलीमातः' इति।

---

(१) सारमेयः—कुक्कुरः। नैपुण्य—कौशलम्, अस्मान् विडम्बयितुमिति शेषः। पराङ्मुखीभूतस्य—प्रतिकूलस्य इत्यर्थः। विधेः—दैवस्य।
(२) कामन्दकशास्त्रं—नीतिशास्त्रविशेषम्। व्याहृतम्—उक्तम्।

रख दिया। इसी बीच उसके गृहकार्य में व्यस्त हो जाने पर तिलों पर किसी कुत्ते ने पेशाब कर दिया। यह देखकर उसने विचार किया कि प्रतिकूल हुए विधाता की चतुराई तो देखो! जिसने इन तिलों को भोजन के अयोग्य बना दिया। इसलिए मैं इनको लेकर किसी के घर जाकर साफ किए गए तिलों के बदले बिना साफ किया हुआ तिल ले आऊँगी। सभी लोग इस प्रकार से दे देंगे।

मैं जिस घर में भिक्षा के लिए गया हुआ था उसी घर में वह भी तिलों को लेकर बेचने के लिए गई और उसने कहा कि कोई साफ किए गए तिलों को बिना साफ किए गये बदले ले ले। इसके पश्चात् ज्योंही उस घर की स्वामिनी बिना साफ किए हुए तिलों से साफ किए गए तिलों को घर में जाकर लेने लगी त्योंही उसके पुत्र ने कामन्दकीय नीतिशास्त्र देखकर कहा—माँ, ये तिल लेने योग्य नहीं है। इसके धुले तिलों की अपने बिना साफ किए तिलों के बदले मत लो। (इसमें इस प्रकार से बदलने में) कोई कारण होगा। इसी से यह बिना साफ किए गए तिलों के बदले साफ किया हुआ तिल दे रही है। यह सुनकर उसने उन तिलों को छोड़ दिया (नहीं लिया)। इसी लिए मैं कहता हूँ कि—हे माँ अकस्मात् यह शांडिली-इत्यादि।

[हिरण्यकताम्रचूडकथा]

एतदुक्त्वा स भूयोऽपि प्राह—'अथ ज्ञायते तस्य क्रमणमार्गः ?' ताम्रचूड आह—'भगवन् ज्ञायते। यत एकाकी न समागच्छति। किन्त्वसंख्ययूथपरिवृतः पश्यतो मे परिभ्रमन्नितस्ततः सर्वजनेन सहागच्छति याति च। अभ्यागत आह—'अस्ति किञ्चित्खनित्रकम् ?' स आह—'बाढमस्ति एषा सर्वलोहमयी स्वहस्तिका। अभ्यागत आह—'तर्हि प्रत्यूषे त्वया मया सह स्थातव्यम्, येन द्वावपि जनचरणामलिनायां भूमौ तत्पदानुसारेण गच्छावः।' मयाऽपि तद्वचनमाकर्ण्य चिन्तितम्—'अहो, विनष्टोऽस्मि, तोऽस्य साभिप्रायवचांसि श्रूयन्ते। नूनं यथा निधानं ज्ञातं तथा दुर्गमप्यस्माकं ज्ञास्यति। एतदभिप्रायादेव ज्ञायते। उक्तं च—

---

(१) सः—बृहत्स्फिक्। तस्य—मूषकस्य। क्रमणमार्गः—विचरणस्य पन्थाः। पश्यतो मे—पश्यन्तं माम् अनादृत्य; अनादरे षष्ठी।

(२) बाढं—स्वीकारार्थकमव्ययम्। स्वहस्तिका—खनित्रम्। जनचरणामलिनायां—लोकानां पदविन्यासेनाक्षुण्णायामिति भावः। तदिति। तस्य—मूषकस्य, पदानुसारेण—पदचिह्नानुसारेण। मया—हिरण्यकेन। साभिप्रायवचांसि—अभिप्राययुक्तानि वचनानि, मद्वासस्थानज्ञानसूचकानीति भावः। निधानं—निधिः; यद्वा—निधीयते अस्मिन् इति निधानं वित्तपेटिका, धनरक्षणपात्रमित्यर्थः, 'सिन्दूक' इति भाषा। ज्ञातम्—अनुमितम्। दुर्गं—बिलम्।

यह कह कर उसने फिर कहा—क्या उसके आने जाने का रास्ता मालूम है ? ताम्रचूड ने कहा—हाँ भगवन् मालूम है। क्योंकि वह अकेला नहीं आता है। बल्कि अनगिनत परिवार वालों से घिरा हुआ वह मेरी आँखों के सामने ही इधर-उधर घूमता हुआ सबके साथ आता और चला जाता है। आने वाले सन्यासी ने कहा—खोदने के लिए कोई वस्तु है ? उसने कहा—हाँ है। यह लोहे की बनी हुई कुदाली है। अतिथि ने कहा—लो तुम बहुत तड़के ही मेरे साथ जाग जाना ताकि हम दोनों लोगो के आने-जाने से (चरण चिह्नों द्वारा) भूमि के मलिन होने से पहिले ही (लोगों के चरणचिह्नों से चूहों के चरणचिह्नों के मिटाने के पहिले ही) उसके पैरों की निसानी का अनुसरण करते हुए चलेंगे। मैंने भी उसकी बात सुनकर सोचा कि अरे ! अब तो मेरा विनाश ही समझो। क्योंकि इसकी बातें अभिप्राय से भरी हुई सुनाई पड़ रही हैं। निश्चय ही जैसे इसने खजाने को जान लिया है उसी प्रकार मेरे बिल रूपी दुर्ग को भी जान जायगा अर्थात् पता पा लेगा। यह इसके अभिप्राय से ही प्रतीत हो रहा है। कहा भी गया है—

सकृदपि दृष्ट्वा पुरुषं विबुधा जानन्ति सारतां तस्य ।
हस्ततुलयाऽपि निपुणाः पलप्रमाणं विजानन्ति ।। ८५ ।।

वाञ्छैव सूचयति पूर्वतरं भविष्यं
पुंसां यदन्यतनुजं त्वशुभं शुभं वा ।
विज्ञायते शिशुरजातकलापचिह्नः
प्रत्युद्गतैरपसरन्सरसः कलापी ।। ८६ ।।

ततोऽहं भयत्रस्तमनाः सपरिवारो दुर्गमार्गं परित्यज्यान्यमार्गेण गन्तुं प्रवृत्तः । सपरिजनो यावदग्रतो गच्छामि, तावत्सम्मुखो बृहत्कायो मार्जारः समायाति । स च मूषकवृन्दमवलोक्य तन्मध्ये सहसोत्पपात ।

सकृदिति । विशेषेण बुध्यन्ते इति विबुधाः विद्वांसः देवा वा, पुरुषं सकृदपि एकबारमपि, दृष्ट्वा तस्य पुरुषस्य, सारताम् उत्कर्षापकर्षौ इत्यर्थः, जानन्ति बुध्यन्ते, निपुणाः कुशलाः, नरा इति शेषः, हस्ततुलयाऽपि हस्तरूपतुलदण्डेनापि, पलप्रमाणं पलस्य परिमाणं, विजानन्ति, न हि ते तुलया तोलयन्ति इति भावः । आर्या वृत्तम् ।। ८५ ।।

वाञ्छेति । पुंसां वाञ्छैव आकाङ्क्षैव, चित्तवृत्तिः एव इत्यर्थः, पूर्वतरम् अतीतं, भविष्यञ्च, अन्यतनुजं जन्मान्तरीणदेहभवं, यत् अशुभं शुभं वा, तत् सूचयति प्रकटयति, तथा हि; अजातम् अनुत्पन्नं, कलापस्य बर्हस्य, चिह्नं यस्य तादृशः; अपसरन् अपगच्छन्, सरसः रसवान्, मनोहर इत्यर्थः, शिशुः कलापी बालमयूरः इत्यर्थः, प्रत्युद्गतैः रमणीयगतिविशेषैरेवेत्यर्थः, विज्ञायते, जनैरिति शेषः । मयूर-चिह्नस्य कलापस्यानुद्गमेऽपि पूर्वजन्माभ्यस्तगतिविशेषेणैव "अयं मयूरः, नेतरः खगः" इति जनानां चित्तवृत्तिः एव प्रभापयतीति भावः । वसन्ततिलका वृत्तम् ।। ८६ ।।

किसी पुरुष को एक बार ही देखकर बुद्धिमान् उसकी शक्ति आदि तत्त्वों को जान जाते हैं । जैसे कुशल व्यक्ति हाथ से ही तौलकर एक पल की तौल का भी अन्दाजा लगा लेते हैं ।। ८५ ।।

मनुष्यों की अभिलाषा ही पूर्वजन्म में किए गए कर्मों के फलस्वरूप शुभ अथवा अशुभ भविष्य की सूचना दे देती हैं । जैसे कलाप (शिखा)रूपी चिह्न के न उत्पन्न होने पर भी मोर का बच्चा अपनी मतवाली गति से चलता हुआ, यह मोर है; ऐसा पहचान लिया जाता है ।। ८६ ।।

तब मैं भयभीत हृदय से अपने परिवार के साथ किले बिलरूपी के रास्ते को छोड़कर दूसरे रास्ते से जाने लगा । ज्योंही मैं अपने परिवार के साथ आगे की

अथ ते मूषका मां कुमार्गगामिनमवलोक्य गर्हयन्तः हतशेषा रुधिर-प्लावितवसुन्धरास्तमेव दुर्गं प्रविष्टाः । अथवा साध्विदमुच्यते—

छित्त्वा पाशमपास्य कूटरचनां भङ्क्त्वा बलाद्वागुरां
पर्यन्ताग्निशिखाकलापजटिलान्निर्गत्य दूरं वनात् ।
व्याधानां शरगोचरादपि जवेनोत्पत्य धावन्मृगः
कूपान्तःपतितः करोतु विधुरे किं वा विधौ पौरुषम् ? ॥ ८७ ॥

अथाहमेकोऽन्यत्र गतः, शेषा मूढतया तत्रैव दुर्गे प्रविष्टाः । अत्रान्तरे स दुष्टपरिव्राजको रुधिरबिन्दुचर्चितां भूमिमवलोक्य तेनैव दुर्गमार्गेणागत्यो-

---

(१) कुमार्गगामिनं—दुर्गमार्गं परित्यज्य विपथप्रवृत्तम् । गर्हयन्तः—निन्दन्तः । रुधिरप्लावितवसुन्धराः—रक्ताक्तभूमयः ।

छित्त्वेति । मृगः पाशं जालं, छित्त्वा, कूटरचनां मृगबन्धनार्थं यन्त्रविशेषस्य विस्तारमित्यर्थः, अपास्य अतिक्रम्य, बलात् बलमाश्रित्य, वागुरां बन्धनवृत्तिं, भङ्क्त्वा खण्डयित्वा, पर्यन्तेषु प्रान्तेषु, अग्निशिखाकलापैः वह्निज्वालासमूहैः, जटिलात् गहनात्, दुःखापगमादित्यर्थः, वनात् दूरं निर्गत्य, तथा व्याधानां शरगोचरात् वेगेन निक्षिप्तशरस्य सम्भावितपतनस्थानादपि, जवेन वेगेन, उत्पत्य उत्प्लुत्य, धावन् वेगेन गच्छन्, कूपान्तःपतितः कूपमध्यनिमग्नः, भवतीति शेषः; तत्रापि विपद्यते इति भावः । तथा हि, विधौ दैवे, विधुरे प्रतिकूले सति, पौरुषं पुरुषकारः, किं वा करोतु ? न किमपि कर्त्तुं शक्नोति, प्राणिनो हि सर्वाण्येव मनुष्यकृतानि मरणकारणानि उत्तरितुमलं न दैवकृतानि इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ८७ ॥

ओर चला त्यों ही एक मोटा ताजा बिलाव सामने से गुजरा । वह चूहों का झुण्ड देखते ही सहसा उस पर टूट पड़ा ।

इसके पश्चात् मरने से बचे हुए चूहे मुझे बुरे रास्ते से जाते हुए देखकर मेरी निन्दा करते हुए अपने खून से पृथ्वी को सींचते हुए उसी बिल रूपी दुर्ग में घुस गए । अथवा यह उचित ही कहा गया है—

फन्दे को काटकर, कूट रचना (फंसाने के जाल) से बचकर बलपूर्वक जाल को तोड़कर, अपने चारों ओर जलती हुए आग की भयंकर लपटों से निकल कर वन से दूर जाकर, बहेलियों के बाणों की पहुँच से बाहर होकर तीव्रगति से भागता हुआ मृग कुएँ में गिर पड़ा । भाग्य के प्रतिकूल होने पर कोई भी कौन सा पुरुषार्थ दिखा सकता है ।। ८७ ।।

इसके बाद मैं अकेला ही दूसरी जगह चला गया । बाकी सभी मूर्खतावश

सकृदपि दृष्ट्वा पुरुषं विबुधा जानन्ति सारतां तस्य ।
हस्ततुलयाऽपि निपुणाः पलप्रमाणं विजानन्ति ।। ८५ ।।

वाञ्छैव सूचयति पूर्वतरं भविष्यं
पुंसां यदन्यतनुजं त्वशुभं शुभं वा ।
विज्ञायते शिशुरजातकलापचिह्नः
प्रत्युद्गतैरपसरन्सरसः कलापी ।। ८६ ।।

ततोऽहं भयत्रस्तमनाः सपरिवारो दुर्गमार्गं परित्यज्यान्यमार्गेण गन्तुं प्रवृत्तः । सपरिजनो यावदग्रतो गच्छामि, तावत्सम्मुखो बृहत्कायो मार्जारः समायाति । स च मूषकवृन्दमवलोक्य तन्मध्ये सहसोत्पपात ।

सकृदिति । विशेषेण बुध्यन्ते इति विबुधाः विद्वांसः देवा वा, पुरुषं सकृदपि एकबारमपि, दृष्ट्वा तस्य पुरुषस्य, सारताम् उत्कर्षापकर्षौ इत्यर्थः, जानन्ति बुध्यन्ते, निपुणाः कुशलाः, नरा इति शेषः, हस्ततुलयाऽपि हस्तरूपतुलदण्डेनापि, पलप्रमाणं पलस्य परिमाणं, विजानन्ति, न हि ते तुलया तोलयन्ति इति भावः । आर्या वृत्तम् ।। ८५ ।।

वाञ्छेति । पुंसां वाञ्छैव आकाङ्क्षैव, चित्तवृत्तिः एव इत्यर्थः, पूर्वतरम् अतीतं, भविष्यञ्च, अन्यतनुजं जन्मान्तरीणदेहभवं, यत् अशुभं शुभं वा, तत् सूचयति प्रकटयति, तथा हि; अजातम् अनुत्पन्नं, कलापस्य बर्हस्य, चिह्नं यस्य तादृशः, अपसरन् अपगच्छन्, सरसः रसवान्, मनोहर इत्यर्थः, शिशुः कलापी बालमयूरः इत्यर्थः, प्रत्युद्गतैः रमणीयगतिविशेषैरेवेत्यर्थः, विज्ञायते, जनैरिति शेषः । मयूर-चिह्नस्य कलापस्यानुद्गमेऽपि पूर्वजन्माभ्यस्तगतिविशेषेणैव "अयं मयूरः, नेतरः खगः" इति जनानां चित्तवृत्तिः एव प्रभापयतीति भावः । वसन्ततिलका वृत्तम् ।। ८६ ।।

किसी पुरुष को एक बार ही देखकर बुद्धिमान् उसकी शक्ति आदि तत्त्वों को जान जाते हैं । जैसे कुशल व्यक्ति हाथ से ही तौलकर एक पल की तौल का भी अन्दाजा लगा लेते हैं ।। ८५ ।।

मनुष्यों की अभिलाषा ही पूर्वजन्म में किए गए कर्मों के फलस्वरूप शुभ अथवा अशुभ भविष्य की सूचना दे देती हैं । जैसे कलाप (शिखा)रूपी चिह्न के न उत्पन्न होने पर भी मोर का बच्चा अपनी मतवाली गति से चलता हुआ, यह मोर है; ऐसा पहचान लिया जाता है ।। ८६ ।।

तब मैं भयभीत हृदय से अपने परिवार के साथ किले बिलरूपी के रास्ते को छोड़कर दूसरे रास्ते से जाने लगा । ज्योंही मैं अपने परिवार के साथ आगे की

अथ ते मूषका मां कुमार्गगामिनमवलोक्य गर्हयन्तः हतशेषा रुधिर-प्लावितवसुन्धरास्तमेव दुर्गं प्रविष्टाः । अथवा साध्विदमुच्यते—

छित्त्वा पाशमपास्य कूटरचनां भङ्क्त्वा बलाद्वागुरां
पर्यन्ताग्निशिखाकलापजटिलान्निर्गत्य दूरं वनात् ।
व्याधानां शरगोचरादपि जवेनोत्पत्य धावन्मृगः
कूपान्तःपतितः करोतु विधुरे किं वा विधौ पौरुषम् ? ॥ ८७ ॥

अथाहमेकोऽन्यत्र गतः, शेषा मूढतया तत्रैव दुर्गे प्रविष्टाः । अत्रान्तरे स दुष्टपरिव्राजको रुधिरबिन्दुचर्चितां भूमिमवलोक्य तेनैव दुर्गमार्गेणागत्यो-

---

(१) कुमार्गगामिनं—दुर्गमार्गं परित्यज्य विपथप्रवृत्तम् । गर्हयन्तः—निन्दन्तः । रुधिरप्लावितवसुन्धराः—रक्ताक्तभूमयः ।

छित्त्वेति । मृगः पाशं जालं, छित्त्वा, कूटरचनां मृगबन्धनार्थं यन्त्रविशेषस्य विस्तारमित्यर्थः, अपास्य अतिक्रम्य, बलात् बलमाश्रित्य, वागुरां बन्धनवृत्तिं, भङ्क्त्वा खण्डयित्वा, पर्यन्तेषु प्रान्तेषु, अग्निशिखाकलापैः वह्निज्वालासमूहैः, जटिलात् गहनात्, दुःखापगमादित्यर्थः, वनात् दूरं निर्गत्य, तथा व्याधानां शर-गोचरात् वेगेन निक्षिप्तशरस्य सम्भावितपतनस्थानादपि, जवेन वेगेन, उत्पत्य उत्प्लुत्य, धावन् वेगेन गच्छन्, कूपान्तःपतितः कूपमध्यनिमग्नः, भवतीति शेषः; तत्रापि विपद्यते इति भावः । तथा हि, विधौ दैवे, विधुरे प्रतिकूले सति, पौरुषं पुरुषकारः, किं वा करोतु ? न किमपि कर्त्तुं शक्नोति, प्राणिनो हि सर्वाण्येव मनुष्य-कृतानि मरणकारणानि उत्तरितुमलं न दैवकृतानि इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ८७ ॥

ओर चला त्यों ही एक मोटा ताजा बिलाव सामने से गुजरा । वह चूहों का झुण्ड देखते ही सहसा उस पर टूट पड़ा ।

इसके पश्चात् मरने से बचे हुए चूहे मुझे बुरे रास्ते से जाते हुए देखकर मेरी निन्दा करते हुए अपने खून से पृथ्वी को सींचते हुए उसी बिल रूपी दुर्ग में घुस गए । अथवा यह उचित ही कहा गया है—

फन्दे को काटकर, कूट रचना (फँसाने के जाल) से बचकर बलपूर्वक जाल को तोड़कर, अपने चारों ओर जलती हुए आग की भयंकर लपटों से निकल कर वन से दूर जाकर, बहेलियों के बाणों की पहुँच से बाहर होकर तीव्रगति से भागता हुआ मृग कुएँ में गिर पड़ा । भाग्य के प्रतिकूल होने पर कोई भी कौन सा पुरुषार्थ दिखा सकता है ॥ ८७ ॥

इसके बाद मैं अकेला ही दूसरी जगह चला गया । बाकी सभी मूर्खतावश

पस्थितः। ततश्च स्वहस्तिकया खनितुमारब्धः।

अथ तेन खनता प्राप्तं तन्निधानं, यस्योपरि सदैवाऽहं कृतवसतिर्यस्योष्मणा महादुर्गमपि गच्छामि। ततो हृष्टमनास्ताम्रचूडमिदमूचेऽभ्यागतः—'भो भगवन्, इदानीं स्वपिहि निःशङ्कः। अस्योष्मणा मूषकस्ते जागरणं सम्पादयति।' एवमुक्त्वा निधानमादाय मठाभिमुखं प्रस्थितौ द्वावपि। अहमपि यावन्निधानरहितं स्थानमागच्छामि, तावदरमणीयमुद्वेगकारकं तत्स्थानं वीक्षितुमपि न शक्नोमि। अचिन्तयं च—'किं करोमि? क्व गच्छामि? कथं मे स्यान्मनसः प्रशान्तिः?' एवं चिन्तयतो महाकष्टेन स दिवसो व्यतिक्रान्तः। अथास्तमितेऽर्के सोद्वेगो निरुत्साहस्तस्मिन्मठे सपरिवारः प्रविष्टः।

अथास्मत्परिग्रहशब्दमाकर्ण्य ताम्रचूडोऽपि भूयो भिक्षापात्रं जर्जरवंशेन ताडयितुं प्रवृत्तः। अथासावभ्यागतः प्राह—सखे, किमद्यापि निःशङ्को न निद्रां गच्छसि?' स आह—'भगवन् भूयोऽपि समायातः सपरिवारः स दुष्टात्मा मूषकः। तद्भयाज्जर्जरवंशेन भिक्षापात्रं ताडयामि।'

---

(१) ऊष्मणा—उत्तापेन, प्रभावेणेति भावः। महेति—अतिदुर्गमस्थानमपि।
(२) अस्मत्परिग्रहशब्दम्—अस्मत्परिग्रहाणां—मम परिजनानां; शब्दं—भाण्डाद्यालोडनध्वनिम।

उसी बिल में चले गए। इसी बीच वह दुष्ट सन्यासी खून से रँगी भूमि को देखता हुआ उसी बिल के रास्ते से आ गया और कुदाली से खोदने लगा।

खोदते-खोदते उसने वह खजाना प्राप्त कर लिया जिसके ऊपर मैं सर्वदा निवास करता था और जिसकी गर्मी से अत्यन्त अगम्य स्थानों पर भी पहुँच जाता था। फिर अतिथि सन्यासी ने ताम्रचूड से कहा—भगवन्, अब निर्भय होकर सोइए। इसकी ही गर्मी से चूहा तुम्हें रात भर जगाता रहता था। ऐसा कहकर खजाने को लेकर दोनों मठ की ओर चले गए। मैं भी जब खजाने से रहित स्थान पर आया तो उस अरमणीय और व्यग्र बना देने वाले स्थान को देख भी नहीं सकता था। मैं सोचने लगा कि क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? मेरे मन को कैसे शान्ति मिले? इस प्रकार के सोच-विचार में बड़े कष्ट के साथ वह दिन बीता। सूर्य के अस्त हो जाने पर व्यग्र और निरुत्साह होकर मैंने सपरिवार उस मठ में प्रवेश किया।

मेरे परिवार के लोगों का शब्द सुनकर ताम्रचूड भी फिर फटे पुराने बाँस से भिक्षापात्र पीटने लगा। तब अतिथि सन्यासी ने कहा—"मित्र, अब भी क्यों नहीं निर्भय होकर सो रहे हो?" उसने कहा—"भगवन्, वह दुष्ट चूहा सपरिवार फिर आ गया है। उसके डर से बाँस द्वारा भिक्षा पात्र को पीट रहा हूँ।"

तो विहस्याभ्यागतः प्राह—'सखे, मा भैषीः। वित्तेन सह गतोऽस्य कूर्दनोत्साहः। सर्वेषामपि जन्तूनामियमेव स्थितिः। उक्तं च—

यदुत्साही सदा मर्त्यः पराभवति यज्जनान्।
यदुद्धतं वदेद्वाक्यं तत्सर्वं वित्तजं बलम्॥ ८८॥

अथाहं तच्छ्रुत्वा कोपाविष्टो भिक्षापात्रमुद्दिश्य विशेषादुत्कूर्दितोऽप्राप्त एव भूमौ निपतितः। तद्दृष्टवासौ मे शत्रुर्विहस्य ताम्रचूडमुवाच—भोः, पश्य पश्य कौतूहलम्।' आह च—

'अर्थेन बलवान्सर्वोऽप्यर्थयुक्तः स पण्डितः।
पश्यैनं मूषकं व्यर्थं स्वजातेः समतां गतम्'॥ ८९॥

---

(१) कूर्दनोत्साहः,—उत्प्लवनसामर्थ्यमित्यर्थः। स्थितिः—मर्यादा, नियमः इत्यर्थः।

यदिति। मर्त्यः मानवः, सदा यत् उत्साही अध्यवसायी, भवतीति शेषः; यत् जनान् पराभवति पराजयते, यच्च उद्धतं परुषं, वाक्यं वदेत् तत् सर्वं वित्तजं धनजातं, बलम्, धनोष्मणा एव एतादृशा भवन्ति लोका इति भावः॥ ८८॥

(२) कौतूहलं—कौतुकम्।

अर्थेनेति। सर्वो जनः, अर्थेन धनेन, बलवान् भवतीति शेषः, यः अर्थयुक्तः धनवान्, सः जनः, पण्डितः विद्वान्, भवतीति शेषः, एनं व्यर्थं विगतार्थम्, अपहृतार्थमित्यर्थः, मूषकं स्वजातेः आत्मजातेः, इतरमूषकस्येत्यर्थः; समतां तुल्यतां, गतं प्राप्तं, दूरोल्लम्फनशक्तिहीनमिति यावत्, धनबलाभावादिति भावः, पश्य॥ ८९॥

तब हँसकर अतिथि ने कहा—मित्र, डरो मत। धन के साथ ही इसके कूदने का उत्साह चला गया। सभी प्राणियों की यही दशा होती है। कहा भी गया है—

मनुष्य जो सर्वदा उत्साही बना रहता है, जो अन्य लोगों को अपमानित करता रहता है और जो बढ़ चढ़कर उद्दण्डता के साथ बातें किया करता है, वह सब धन का बल होता है॥ ८८॥

यह सुनकर मैं क्रुद्ध होकर भिक्षापात्र को लक्ष्य बनाकर सारी शक्ति के साथ कूदा किन्तु वहाँ तक न पहुँच कर पृथ्वी पर गिर पड़ा। यह देखकर उस मेरे शत्रु (अभ्यागत सन्यासी) ने हँसकर ताम्रचूड से कहा—अरे, देखो, वह तमाशा देखो? और फिर कहा—

सभी लोग धन से ही बली होते हैं और जो धनयुक्त होता है वही विद्वान् भी होता है। देखो, यह धन-हीन चूहा अपनी जाति वालों के समान हो

तत्स्वपिहि त्वं गतशङ्कः। यदस्योत्पतनकारणं तदावयोर्हस्तगतं जातम्। अथवा साध्विदमुच्यते—

दंष्ट्राविरहितः सर्पो मदहीनो यथा गजः।
तथाऽर्थेन विहीनोऽत्र पुरुषो नामधारकः' ॥ ९० ॥

तच्छ्रुत्वाऽहं मनसा विचिन्तितवान्—'यतोऽङ्गुलिमात्रमपि कूर्दनशक्तिर्नास्ति, तद्धिगर्थहीनस्य पुरुषस्य जीवितम्। उक्तं च—

अर्थेन च विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः।
उच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥ ९१ ॥

दंष्ट्रेति। दंष्ट्राविरहितः भग्नदन्तः, सर्पो यथा, मदहीनो गजो यथा, तथा अत्र संसारे, अर्थेन विहीनः दरिद्रः, पुरुषः नामधारकः, स्यादिति शेषः, केवलं पुरुष इति नाममात्रं धरति, न तु किञ्चिदपि पौरुषं दर्शयितुं समर्थ इति भावः ॥ ९० ॥

अर्थेनेति। अर्थेन विहीनस्य अत एव अल्पमेधसः—अल्पा मेधा यस्येति बहुव्रीहिसमासे—अल्पोत्तरवार्त्तमेधाया असिच् समासान्तः—"नित्यमसिच् प्रजामेधयोः" (पा० सू० ५।४।१०२) इत्यत्र "अन्यत्रापि भवति" इति काशिकोक्तेः अल्पशब्दस्य ग्रहणम् मन्दबुद्धेरित्यर्थः, अर्थबलेनैव मतेः स्फुरणादिति भावः, पुरुषस्य नरस्य, सर्वास्तु सकलाः एव, क्रियाः कर्माणि, ग्रीष्मे निदाघे, कुसरितः यथा क्षुद्रसरितः इव, उच्छिद्यन्ते स्वयमेव नश्यन्ति, कर्मकर्त्तरि लट्; न फलदा भवन्ति इति भावः ॥ ९१ ॥

गया है ॥ ८९ ॥

इस लिए तुम निर्भय होकर सोओ। इसके कूदने का जो हेतु था, वह हम दोनों के हाथ में आ गया है। अथवा यह उचित ही कहा गया है—

जैसे दांत रहित सांप और मद-रहित हाथी केवल नाम के सांप और हाथी होते हैं उसी प्रकार धन-हीन भी नाममात्र से पुरुष होता है ॥ ९० ॥

यह सुनकर मैंने मन में विचार किया कि मुझ में अंगुलमात्र भी कूदने की शक्ति नहीं रह गई। अतः धनहीन पुरुष के जीवन को धिक्कार है। कहा भी गया है—

धन से रहित अतः कम बुद्धि वाले मनुष्य की सारी क्रियाएँ उसी प्रकार व्यर्थ हो जाती हैं जैसे ग्रीष्म ऋतु में छोटी छोटी नदियाँ (जल के अभाव से) बेकार हो जाती हैं ॥ ९१ ॥

यथा काकयवाः प्रोक्ता यथाऽरण्यभवास्तिलाः ।
नाममात्रा न सिद्धौ हि धनहीनास्तथा नराः ॥ ९२ ॥
सन्तोऽपि न हि राजन्ते दरिद्रस्येतरे गुणाः ।
आदित्य इव भूतानां श्रीर्गुणानां प्रकाशिनी ॥ ९३ ॥
न तथा बाध्यते लोके प्रकृत्या निर्धनो जनः ।
यथा द्रव्याणि संप्राप्य तैर्विहीनोऽसुखे स्थितः ॥ ९४ ॥

यथेति । यथा काकयवाः कङ्कराः शस्यविहीनधान्यानीत्यर्थः, यथा अरण्यभवाः वन्याः, तिलाः शस्यविशेषाः, नाममात्राः यवतिलनामधारिण एव, प्रोक्ताः न हि सिद्धौ, न कदापि कार्य्ये व्यवह्रियन्ते इति भावः, तथा धनहीनाः नराः न किमपि कार्य्यं साधयितुमर्हन्तीति भावः ॥ ९२ ॥

सन्त इति । दरिद्रस्य निर्धनस्य, सन्तोऽपि विद्यमाना अपि, इतरे गुणाः दयादाक्षिण्यादयः, न हि राजन्ते नैव शोभन्ते, नैव प्रकटीभवन्तीत्यर्थः, यतः भूतानां क्षित्यादीनां पदार्थानाम्, आदित्यः सूर्य्यः इव, श्रीः लक्ष्मीः, गुणानां प्रकाशिनी; सूर्य्यो यथा स्वकिरणजालेन पदार्थान् प्रकाशयति, तथा सम्पदपि स्वप्रभावेण सर्वान् गुणान् इति भावः। अत्र उपमानभूतसूर्य्यपदस्य उपमेयभूतश्रीपदेन सह भिन्नलिङ्गनिर्देशस्तु न दोषावहः "न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकताऽपि वा इत्याद्युक्तेः ॥ ९३ ॥

नेति । लोके जगति; प्रकृत्या स्वभावेन; आजन्म इत्यर्थः, निर्धनः जनः, तथा न बाध्यते न क्लिश्यते, यथा द्रव्याणि धनानि, सम्प्राप्य सुखे स्थितः सुखी, पश्चात् तैः द्रव्यैः, विहीनः परित्यक्तः, बाध्यते इत्यनुषङ्गः; आकस्मिकदारिद्र्यम् अतीव दुःखजनकमिति निष्कर्षः; "सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां धृतः शरीरेण मृतः स जीवति" इति भावः ॥ ९४ ॥

जैसे काक, जौ, और वनतिल नाममात्र के जो और तिल होते हैं, उनसे किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं की जा सकती । उसी प्रकार धन-रहित पुरुष से भी कोई सिद्ध नहीं सकता है ॥ ९२ ॥

दरिद्र व्यक्ति के सभी अन्य गुण (धन के अभाव में) सुशोभित नहीं होते हैं क्योंकि जैसे सूर्य ही सम्पूर्ण भूतों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार लक्ष्मी ही सभी गुणों को प्रकाशित करने वाली होती है ॥ ९३ ॥

जो व्यक्ति प्रारम्भ से ही धनहीन होता है उसे उतना कष्ट नहीं होता जितना कि धन प्राप्त करके बाद में उससे रहित हो जाने वाले व्यक्ति को होता है ॥ ९४ ॥

शुष्कस्य कीटखातस्य वह्निदग्धस्य सर्वतः ।
तरोरप्यूषरस्थस्य वरं जन्म न चार्थिनः ॥ ९५ ॥
शङ्कनीया हि सर्वत्र निष्प्रतापा दरिद्रता ।
उपकर्तुमपि प्राप्तं निःस्वं सन्त्यज्य गच्छति ॥ ९६ ॥
उन्नम्योन्नम्य तत्रैव निर्धनानां मनोरथाः ।
हृदयेष्वेव लीयन्ते विधवास्त्रीस्तनाविव ॥ ९७ ॥
व्यक्तेऽपि वासरे नित्यं दौर्गत्यतमसावृतः ।
अग्रतोऽपि स्थितो यत्नान्न केनापीह दृश्यते ॥ ९८ ॥

शुष्कस्येति । शुष्कस्य नीरसस्य, कीटखातस्य कीटैः भक्षितसारस्येति भावः; सर्वतः समन्तात्, वह्निना दग्धस्य, ऊषरस्थस्य क्षारभूमिस्थितस्य, तरोरपि जन्म वरं मनाक्प्रियम्, अर्थिनः भिक्षोश्च, न जन्म वरमित्यनुषङ्गः; एवंविधविशेषणविशिष्टतरुरपि कदाचित् जनानां किमपि कार्य्यं साधयति, न च तान् कथञ्चिदुद्वेजयति, दरिद्रस्तु नान्येषामुपकारकः, प्रत्युत उद्वेजक एव; अतः याचकात् क्षीणस्य रुग्णस्य सन्तप्तस्य हीनवंशसमुत्पन्नस्यापि अयाचकस्य श्रेष्ठत्वमिति भावः ॥ ९५ ॥

शङ्कनीयेति । निष्प्रतापा प्रभावशून्या, दरिद्रता निर्धनता, सर्वत्र सर्वस्मिन् विषये, शङ्कनीया शङ्कास्थानमित्यर्थः, हि यतः, उपकर्तुं प्राप्तमपि उपस्थितमपि, निःस्वं निर्धनं जनं, सन्त्यज्य विहाय, प्रत्याख्यायेत्यर्थः, गच्छति, जनः इति शेषः; दारिद्र्यात् धनापहरणादिशङ्कया न कोऽपि निःस्वेन कृतमुपकारं बहु मन्यते इति भावः ॥ ९६ ॥

उन्नम्येति । निर्धनानां दरिद्राणां, मनोरथाः अभिलाषाः, विधवायाः स्त्रियाः स्तनाविव, हृदयेषु एव उन्नम्य उन्नम्य उत्थाय उत्थाय, तत्रैव हृदयेष्वेव, लीयन्ते लयं गच्छन्ति; फलसिद्ध्यभावात् वृथैव तेषामभिलाष इति भावः ॥ ९७ ॥

व्यक्ते इति । इह संसारे, व्यक्ते सुप्रकाशेऽपि, सूर्य्यकिरणोद्भासितेऽपीत्यर्थः;

सूखे, कीड़े-मकोड़ों से खाए गए, आग से भली भाँति जले, हुए ऊसर में स्थित वृक्ष का जीवन भी भीख माँगने वाले के जीवन से कहीं उत्तम है ॥ ९५ ॥

प्रताप-रहित दरिद्रता सर्वदा शंका की दृष्टि से देखी जाती है। क्योंकि उपकार करने के लिए आने वाले धनहीन व्यक्ति को भी लोग छोड़ कर चल देते हैं ॥ ९६ ॥

धनहीन मनुष्य की अभिलाषाएँ विधवा स्त्री के स्तनों की तरह हृदय में ही उठ उठ कर वहीं नष्ट हो जाती है ॥ ९७ ॥

सर्वदा दरिद्रतारूपी अंधकार से आच्छादित रहने वाला व्यक्ति दिन के

एवं विलप्याहं भग्नोत्साहस्तन्निधानं गण्डोपधानीकृतं दृष्ट्वा स्वं दुर्गं प्रभाते गतः। ततश्च मद्भृत्याः प्रभाते गच्छन्तो मिथो जल्पन्ति—'अहो, असमर्थोऽयमुदरपूरणेऽस्माकम्। केवलमस्य पृष्ठलग्नानां बिडालादिविपत्तयः तत्किमनेनाराधितेन? उक्तं च—

'यत्सकाशान्न लाभः स्यात्केवलाः स्युर्विपत्तयः।
स स्वामी दूरतस्त्याज्यो विशेषादनुजीविभिः॥ ९९॥

एवं तेषां वचांसि श्रुत्वा स्वदुर्गं प्रविष्टोऽहम्। यावन्न कश्चिन्मम सम्मुखेऽभ्येति तावन्मया चिन्तितम्—'धिगियं दरिद्रता।' अथवा

वासरे दिवसे, नित्यं सततं, दौर्गत्यं दारिद्र्यमेव, तमः तिमिरं तेन, आवृत्तः आच्छादितः, जन इति शेषः, अग्रतः सम्मुखे, स्थितोऽपि, केनापि जनेन, यत्नात् न दृश्यते अभ्रानुभेद्यमिदं तमः दारिद्र्यप्रभवमिति। भावः॥ ९८॥

(१) गण्डेति। गण्डस्य—कोपलस्य, उपधानीकृतम्—उपबर्हीकृतं, शिरम् उपधानवत् गण्डस्य उपधानीकृतं, गण्डनिम्ने स्थापयित्वा शयितमित्यर्थः, परिव्राजकेन इति शेषः। मिथः—परस्परं, जल्पन्ति—आलपन्ति। पृष्ठलग्नानां—पृष्ठानुयायिनाम्; अस्माकम् इत्यर्थः।

यदिति। यत्सकाशात् यस्य आश्रये स्थित्वेत्यर्थः, लाभः प्रयोजनसिद्धिरूप इत्यर्थः न स्यात्, (प्रत्युत) केवला विपत्तयः विपदः, स्युः, सः स्वामी अनुजीविभिः अनुचरैः, विशेषात् विशेषेण, दूरतः त्याज्यः; न हि विपत्तिमात्रजनके केषामप्यनुराग इति भावः॥ ९९॥

प्रकाश में भी सबसे आगे रहने पर भी प्रयत्न करने पर भी किसी के द्वारा नहीं देखा जाता अर्थात् उसकी ओर कोई भी ध्यान नहीं देता॥ ९८॥

इस प्रकार रो-धोकर मैं उस खजाने को सिरहाने के नीचे रखा हुआ देखकर निरुत्साह हो जाने से प्रातः काल अपने बिल रूपी किले में चला गया। मेरे सेवक प्रातः काल चलते समय आपस में कहने लगे कि यह हम लोगों के पेट भरने में असमर्थ हो गया है। इसके पीछे लगे रहने में केवल बिल्ली आदि द्वारा आने वाली विपत्तियाँ ही मिलेंगी। फिर इसकी सेवा करने से क्या फायदा? कहा भी गया है—

जिससे किसी प्रकार का लाभ न हो बल्कि उससे केवल विपत्तियाँ ही प्राप्त हों, ऐसे स्वामी को दूर ही से छोड़ देना चाहिए। विशेषकर सेवकों को तो अवश्य ही ऐसा करना चाहिए॥ ९९॥

इस प्रकार उनकी बातें सुनकर मैं अपने बिल रूपी किले में चला गया।

साध्विदमुच्यते—

मृतो दरिद्रः पुरुषो मृतं मैथुनमप्रजम् ।
मृतमश्रोत्रियं श्राद्धं मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः' ॥ १०० ॥

एवं मे चिन्तयतस्ते भृत्या मम शत्रूणां सेवका जाताः । ते च मामेकाकिनं दृष्ट्वा बिडम्बनां कुर्वन्ति ।

अथ मयैकाकिना योगनिद्रां गतेन भूयो विचिन्तितम्—'यत्तस्य कुतपस्विनः समाश्रयं गत्वा तद्गण्डोपधानवर्त्तिकृतां वित्तपेटां शनैः शनैर्विदार्य तस्य निद्रावशं गतस्य स्वदुर्गं तद्वित्तमानयामि, येन भूयोऽपि मे वित्तप्रभावेणाधिपत्त्यं पूर्ववद्भविष्यति । उक्तं च—

मृत इति । दरिद्रः पुरुषः मृतः मृतवत् शक्तिहीन इत्यर्थः, अप्रज, समासविधेरनित्यत्वात् "नित्यमसिच्—" (पा० सू० ४।५।१२२) इति सूत्रेण प्रजाशब्दात् असिच्निषेधः अपुत्रं, पुत्रोत्पादनशक्तिविरहितमित्यर्थः, मैथुनं स्त्रीसङ्गमः; मृतं निष्फलमित्यर्थः, अश्रोत्रियं वेदपारगब्राह्मणवर्जितं, श्राद्धं पितृदानं, मृतं नष्टं, विफलमित्यर्थः, अदक्षिणः दक्षिणाशून्यः, यज्ञः, मृतः हतः, फलप्राप्तिविरहित इत्यर्थः, सर्वमेतत् व्यर्थमिति भावः ॥ १०० ॥

(१) विडम्बनां कुर्वन्ति—उपहसन्ति, तिरस्कुर्वन्ति वा, पीडयन्तीत्यर्थः ।

(२) योगनिन्द्रां—युक्तिस्थिरीकरणार्थं नेत्रनिमीलनरूपव्यापारमित्यर्थः समाश्रयम्—आश्रमम् । तदिति । तस्य—तपस्विनः, गण्डस्य उपधानं—"तकिया" इति यस्य भाषा, तद्वर्त्तिकृतां—तत्स्थानीकृतम् । वित्तपेटाम्—अर्थपेटिकाम् ।

जब मेरे सामने कोई भी नहीं आया तब मैंने विचार किया कि इस दरिद्रता को धिक्कार है । अथवा यह उचित ही कहा गया है—

निर्धन पुरुष मरा हुआ या निस्तत्व होता है, संतान उत्पन्न करने में असमर्थ मैथुन व्यर्थ होता है, वेदज्ञ ब्राह्मण से रहित श्राद्ध क्रिया निष्फल होती है और विना दक्षिणा का यज्ञ वेकार होता है ॥ १०० ॥

मैं इस प्रकार का सोच विचार कर ही रहा था अर्थात् मेरे सभी सेवक मेरे शत्रुओं के सेवक बन गए । वे मुझे अकेला देखकर मेरी खिल्ली उड़ाया करते थे । इसके पश्चात् मैंने अकेले योग-निद्रामें तल्लीन होकर फिर विचार किया—'उस दुष्ट तपस्वी के निवास-स्थान पर जाकर उसके सिरहाने तकिए के नीचे रखी हुई धन की पेटी का उसके सोने के समय धीरे-धीरे काटकर उस धन को अपने बिल रूपी किले में ले आऊँ । जिससे फिर उस धन के प्रभाव से मेरा आधिपत्य पहिले जैसा हो जायगा । कहा भी गया हैं—

व्यथयन्ति परं चेतो मनोरथशतैर्जनाः ।
नानुष्ठानैर्धनैर्हीनाः कुलजा विधवा इव ॥ १०१ ॥
दौर्गत्यं देहिनां दुःखमपमानकरं परम् ।
येन स्वैरपि मन्यन्ते जीवन्तोऽपि मृता इव ॥ १०२ ॥
दैन्यस्य पात्रतामेति पराभूतेः परं पदम् ।
विपदामाश्रयः शश्वद्दौर्गत्यकलुषीकृतः ॥ १०३ ॥
लज्जन्ते बान्धवास्तेन सम्बन्धं गोपयन्ति च ।
मित्राण्यमित्रतां यान्ति यस्य न स्युः कपर्दकाः ॥ १०४ ॥

व्यथयन्तीति । धनैः हीनाः दरिद्रा जनाः, कुलजाः सद्वंशोत्पन्नाः विधवा इव मनोरथशतैः विविधाभिलाषैः, चेतः चित्तं, परं केवलं, व्यथयन्ति क्लेशयन्ति, किन्तु अनुष्ठानैः तत्तन्मनोरथसम्पादनयोग्यकर्मकरणैः, न, मोदयन्तीति शेषः; उपायाभावादिति भावः; दरिद्राणाम् अभिलाषपरम्पराः केवलं मनसि स्फुरन्ति, नैव ते किञ्चिदपि साफल्यं प्राप्नुवन्तीति निष्कर्षः ॥ १०१ ॥

दौर्गत्यमिति । दौर्गत्यं दारिद्र्यं, देहिनां, प्राणिनां, परम् अत्यन्तं, दुःखं दुःखकरम्, अपमानकरञ्च अवज्ञाजनकञ्च; येन दौर्गत्येन हेतुना, स्वैरपि स्वजनैरपि, जीवन्तोऽपि प्राणान् धारयन्तोऽपि, दरिद्राः स्वजना इति शेषः, मृता इव कर्मानर्हाः इत्यर्थः मन्यन्ते, बुध्यन्ते, मृतवत् मत्वा अवज्ञया नापि तान् स्पृशन्तीति भावः ॥ १०२ ।

दैन्यस्येति । दौर्गत्यं दारिद्र्यं, तेन कलुषीकृतः, मलिनीकृतः, पुरुषः इति शेषः, शश्वत् निरन्तरं, दैन्यस्य दीनतायाः, पात्रताम् एति प्राप्नोति, पराभूतेः पराभवस्य, परं पदं प्रधानं स्थानं, तथा विपदाम् आश्रयः, भवतीति शेषः ॥ १०३ ॥

लज्जन्ते इति । यस्य जनस्य, कपर्दकाः, वराटकाः, अपिरत्र अध्याहार्य्यः न

प्रतिष्ठित वंश की विधवाओं के समान निर्धन व्यक्ति भी सैकड़ों अभिलाषाओं से केवल अपने हृदय को दुःखी ही बनाते हैं क्योंकि उन इच्छाओं के अनुसार कार्य करके वे मन को प्रसन्न नहीं कर पाते हैं ॥ १०१ ॥

प्राणियों के लिए दरिद्रता अत्यन्त दुःखदायिनी तथा अपमानित करने वाली होती है । निर्धनता के ही कारण निर्धन के सगे सम्बन्धी भी उसे जीवित अवस्था में भी मरा हुआ ही समझते हैं ॥ १०२ ॥

दरिद्रता के दोष से कलुषित पुरुष सर्वदा दीनता का पात्र, पराजय का स्थान तथा विपत्तियों का घर होता है ॥ १०३ ॥

जिसके पास धन नहीं होता, उसके बन्धु-बान्धव उसके साथ अपना सम्बन्ध

मूर्त्तं लाघवमेवैतदपायानामिदं गृहम् ।
पर्यायो मरणस्यायं निर्धनत्वं शरीरिणाम् ॥ १०५ ॥
अजाधूलिरिव त्रस्तैर्मार्जनीरेणुवज्जनैः ।
दीपखद्योतछायेव त्यज्यते निर्धनो जनैः ॥ १०६ ॥
शौचावशिष्टयाऽप्यस्ति किञ्चित्कार्यं क्वचिन्मृदा ।
निर्धनेन जनेनैव न तु किञ्चित्प्रयोजनम् ॥ १०७ ॥

स्युः, यः अकिञ्चन इति भावः, बान्धवाः, तस्येति शेषः, तेन दरिद्रस्वजनेन, लज्जन्ते, अत एव सम्बन्धं सम्पर्कं, तेन सह इति शेषः, गोपयन्ति च, गोपनार्थस्य भौवादिकस्य आत्मनेपदिनः गुपूधातोः णिचि परस्मैपदत्वात् सिद्धं, गूहन्ति, अपमानभयान्न प्रकाशयन्ति इति भावः, मित्राणि च अमित्रतां शत्रुतां, याति प्राप्नुवन्ति; सर्वे विरक्ता भवन्ति इति निष्कर्षः ॥ १०४ ॥

मूर्त्तमिति । एतत् निर्धनत्वं दारिद्र्यं, शरीरिणां प्राणिनां, मूर्त्तं मूर्त्तिमत्, लाघवं लघुता, अपमानस्वरूपमित्यर्थः, इदं निर्धनत्वम्, अपायानां विपदां, गृहम्; अयं निर्धनभावः, मरणस्य पर्य्यायः नामान्तरं, मरणमेव इत्यर्थः । "मरणस्यायम्" इत्यत्र "मरणस्येदम्" इति पाठः साधुः, निर्धनत्वमिति नपुंसकविशेष्यस्य पुंलिङ्ग-विशेषणासङ्गत्या ॥ १०५ ॥

अजेति । त्रस्तैः त्रासं गतैः, किञ्चित्प्रार्थयन्ते चेत् दरिद्रा इति शङ्कयेति भावः; जनैः धनिभिरित्यर्थः, अजाधूलिरिव छागपदोत्थरज इव, तथा मार्जनीरेणुवत् सम्मार्जनीताडनोत्थधूलिवत्, तथा दीपखद्योतछायेव दीपस्य छाया अन्धकारं, तद्वत्, तथा खद्योतस्य ज्योतिरिङ्गणाख्यकीटविशेषस्य च, छायेव कान्तिरिव, 'असिद्धविधेर-नित्यत्वात्' अत्र छकारस्य द्वित्वाभावः, निर्धनो जनः त्यज्यते, अस्पृश्यत्वादमङ्गल-करत्वाच्च यथा अजाधूलिप्रभृतिकं जनैस्त्यज्यते, तथा दरिद्रोऽपीति भावः । मालो-पमाऽलङ्कारः ॥ १०६ ॥

शौचेति । शौचावशिष्टया शौचकार्य्यादुद्वृत्तया, अपवित्रया इत्यर्थः, मृदा

बताने में लज्जित होते हैं इसलिए उसके साथ अपना सम्बन्ध छिपा लेते हैं । यहाँ तक कि उसके मित्र भी शत्रु बन सकते हैं ॥ १०४ ॥

प्राणियों की दरिद्रता उसके लिए मूर्तिमती तुच्छता, विपत्तियों का घर तथा मृत्यु का पर्याय (दूसरा नाम) होती है ॥ १०५ ॥

बकरी के पैरों से उड़ी हुई धूलि, झाड़ू देने से इकट्ठी हुई गर्द तथा दीपक एवं जुगनू द्वारा पड़ी हुई छाया के समान निर्धन व्यक्ति लोगों द्वारा छोड़ दिया जाता है ॥ १०६ ॥

शौचक्रिया के बाद अंगों को साफ करने से बची हुई मिट्टी से भी कभी

अधनो दातुकामोऽपि सम्प्राप्तो धनिनां गृहम् ।
मन्यते याचकोऽयं धिग्दारिद्र्यं खलु देहिनाम् ॥ १०८ ॥

अतो वित्तापहारं विदधतो यदि मे मृत्युः स्यात्तथापि शोभनम् । उक्तं च—

स्ववित्तहरणं दृष्ट्वा यो हि रक्षत्यसून्नरः ।
पितरोऽपि न गृह्णन्ति तद्दत्तं सलिलाञ्जलिम् ॥ १०९ ॥

मृत्तिकया अपि, क्वचित् किञ्चित् कार्य्यम् अस्ति भवति, निर्धनेन जनेन तु किञ्चिदेव किमपि, प्रयोजनं न, अस्तीति शेषः; तथा च तादृशमृदोऽपि अपवित्रत्वम् अकिञ्चित्करत्वञ्च दरिद्राणामिति भावः ॥ १०७ ॥

अधन इति । अधनः दरिद्रः, जनः इति शेषः, दातुकामोऽपि "तुङ्काममनसोरपि" इति कारिकया तुमः मकारलोपः, दानार्थी सन्नपि, न तु भिक्षाऽर्थीति भावः; धनिनां गृहं सम्प्राप्तः चेदिति शेषः, अयं याचक इति मन्यते, लोकैरिति शेषः, तस्मात् देहिनां दारिद्र्यं धिक्शब्दयोगे द्वितीया, खलु निश्चितं, धिक् निन्दामि इत्यर्थः, धिक् निर्भर्त्सननिन्दयोः" इत्यमरः ॥ १०८ ॥

(१) वित्तापहारं—चौर्य्यम् । विदधतः—कुर्वतः ।

स्ववित्तेति । यो नरः स्ववित्तहरणं स्वस्य धनहरणं दृष्ट्वा, असून् प्राणान्, रक्षति पालयति, जीवतीत्यर्थः, हि निश्चये, पितरोऽपि तद्दत्तं तेन दत्तं, सलिलाञ्जलिम्, अञ्जलिमितं सलिलम् इति राजदन्तादिवत् पूर्वनिपातसमासः । 'द्वौ युतावञ्जलिः पुमान्" इत्यमरः । तर्पणजलं, न गृह्णन्ति, स्वधनहरणात् प्राक् मरणमपि श्रेयः इति भावः ॥ १०९ ॥

न कभी कोई काम हो सकता है किन्तु दरिद्र से किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती ॥ १०७ ॥

यदि कोई धनहीन व्यक्ति किसी धनी के घर कुछ देने की इच्छा से भी जाये तब भी लोग उसे याचना करने वाला ही समझ लेते हैं । अतः प्राणियों की इस निर्धनता को धिक्कार है ॥ १०८ ॥

अतः यदि उस धन के ले आने के प्रयत्न में मेरी मृत्यु भी हो जाय तो वह भी (मेरे लिए) अच्छा ही है : कहा भी गया है—

जो व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का हरण देखते हुए भी (उसकी रक्षा न करके) अपने प्राणों की रक्षा में ही लगा रहता है, उसके द्वारा दी गई जलाञ्जलि को उसके पितर लोग भी नहीं ग्रहण करते हैं ॥ १०९ ॥

तथा च—

गवार्थे ब्राह्मणार्थे च स्त्रीवित्तहरणे तथा।
प्राणांस्त्यजति यो युद्धे तस्य लोकाः सनातनाः' ॥ ११० ॥

एवं निश्चित्य रात्रौ तत्र गत्वा निद्रावशमुपागतस्य पेटायां मया छिद्रं कृतं यावत्, तावत्प्रबुद्धो दुष्टतापसः। ततश्च जर्जरवंशप्रहारेण शिरसि ताडितः कथञ्चिदायुःशेषतया निर्गतोऽहम्, मृत इव। उक्तं च—

प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो
देवोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे
यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम् ॥ १११ ॥

गवार्थ इति। यः गवार्थे ब्राह्मणार्थे तथा स्त्री-वित्तयोहरणे च गो ब्राह्मण-स्त्री धनरक्षार्थमित्यर्थः, युद्धे प्राणान् त्यजति, तस्य सनातनाः अक्षयाः लोकाः स्वर्गा इत्यर्थः, भवन्तीति शेषः, स स्वर्गं यातीत्यर्थः, अतो धनरक्षणार्थं मे प्राणत्यागोऽपि वरमिति भावः ॥ ११० ॥

(१) आयुःशेषतया—जीवितकालस्य अवशिष्टतया।

प्राप्तव्यमिति। मनुष्यः प्राप्तव्यम् अवश्यप्राप्यम्, अर्थं वस्तु, लभते, देवोऽपि तं प्राप्तव्यमर्थं, लङ्घयितुम् अन्यथा कर्तुं, न शक्तः, तस्मात् न शोचामि, अहमिति शेषः, अर्थार्थमिति भावः, मे मम, विस्मयः "कथं मम अर्थो नष्टः ? कथं वा न प्राप्तः ?" इत्यादिविषयक इति भावः, न, भवतीति शेषः। हि यतः, यत् वस्तु, अस्मदीयं, तत् परेषाम् अन्येषां, न, भवितुमर्हतीति शेषः, यत् मम वस्तु, तत् चिरं ममैव स्थास्यतिः

जो व्यक्ति गाय तथा ब्राह्मण की रक्षा में एवं स्त्री और धन के अपहरण के समय (उनकी रक्षा में) तथा युद्ध में अपने प्राणों का परित्याग कर देता है, उसको अक्षय लोकों की प्राप्ति होती है ॥ ११० ॥

ऐसा निश्चय करके रात्रि के समय वहाँ जाकर ज्यों ही मैंने उस तपस्वी के सो जाने पर पिटारी में छेद किया, त्यों ही वह दुष्ट सन्यासी जाग गया। उसने पुराने बाँस से मेरे सिर पर प्रहार किया किन्तु आयु रहने के कारण मैं मरा नहीं और किसी प्रकार वहाँ से निकल गया। कहा भी गया है—

मनुष्य पाने योग्य (भाग्य में लिखे हुए) पदार्थ को प्राप्त कर ही लेता है। उसे व्यर्थ करने में दैव भी समर्थ नहीं होता है। इसी लिए न तो मैं शोक ही करता हूँ और न आश्चर्य ही करता हूँ। क्योंकि जो भी मुझे प्राप्य है; वह दूसरे का नहीं हो सकता है ॥ १११ ॥

काककूर्मौ पृच्छतः—'कथमेतत् ?' हिरण्यक आह—

४ : वणिक्पुत्र-कथा

'अस्ति कस्मिश्चिन्नगरे सागरदत्तो नाम वणिक् । तत्सूनुना रूपकशतेन विक्रीयमाणं पुस्तकं गृहीतम् । तस्मिश्च लिखितमस्ति—

(प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो देवोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः ।
तस्मान्नशोचामि न विस्मयो मे यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम् ।।)

तद्दृष्ट्वा सागरदत्तेन तनुजः पृष्टः—'पुत्र, कियता मूल्येनैतत् पुस्तकं गृहीतम् ?' सोऽब्रवीत्—'रूपकशतेन ?' तच्छ्रुत्वा सागरदत्तोऽब्रवीत्—'धिङ्मूर्ख, त्वं लिखितैकश्लोकं रूपकशतेन यद्गृह्णासि, एतया बुद्धया कथं

न केनापि नेतुं शक्यते, अतस्तदनुशोचनं तत्र विस्मयश्च व्यर्थमिति भावः । उपजातिः वृत्तम् ।। १११ ।।

[४]

(१) तत्सूनुना—वणिक्पुत्रेण । रूपकशतेन—शतशङ्ख्यकरौप्यमुद्रया इत्यर्थः ।

प्राप्तव्यमिति । मनुष्यः प्राप्तव्यम् अवश्यप्राप्यम्, अर्थं वस्तु, लभते, देवोऽपि तं प्राप्तव्यमर्थं, लङ्घयितुम् अन्यथा कर्तुं, न शक्तः, तस्मात् न शोचामि; अहमिति शेषः, अर्थार्थमिति भावः, मे मम, विस्मयः 'कथं मम अर्थो नष्टः ? कथं वा न प्राप्तः ?" इत्यादिविषयक इति भावः, न, भवतीति शेषः, हि यतः; यत् वस्तु, अस्मदीयं, तत् परेषाम् अन्येषां, न, भवितुमर्हतीति शेषः; यत् मम वस्तु; तत् चिरं ममैव स्थास्यति, न केनापि नेतुं शक्यते, अतस्तदनुशोचनं तत्र विस्मयश्च व्यर्थमिति भावः । उपजातिः वृत्तम ।।

कौवे और कछुवे ने पूछा—'यह कैसे ?' हिरण्यक ने कहा—

वणिक् पुत्र कथा

किसी नगर में सागरदत्त नाम का एक बनिया था । उसके लड़के ने सौ रुपये में बिकती हुई एक पुस्तक खरीदी । उसमें लिखा हुआ था—

(मनुष्य अपना प्राप्य पाता ही है, उसे दैव भी रोक नहीं सकता इसीलिए न मैं शोक करता हूँ, न आश्चर्य । जो मेरा है वह दूसरा नहीं ले सकता ।)

उसे देखकर सागरदत्त ने अपने पुत्र से पूछा—'पुत्र, कितने मूल्य में यह पुस्तक खरीदी है ?' उसने कहा—'सौ रुपये में ।' यह सुनकर सागरदत्त ने कहा—मूर्ख, तुझे धिक्कार है ! यदि तुम एक लिखित श्लोक को सौ रुपये में

द्रव्योपार्जनं करिष्यसि ? तदद्यप्रभृति त्वया मे गृहे न प्रवेष्टव्यम् ।' एवं निर्भर्त्स्य गृहान्निःसारितः । स च तेन निर्वेदेन विप्रकृष्टं देशान्तरं गत्वा किमपि नगरमासाद्यावस्थितः ।

अथ कतिपयदिवसैस्तन्नगरनिवासिना केनचिदसौ पृष्टः— कुतो भवाननागतः ? किं नामधेयो वा ? इति । असावब्रवीत्—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः ।'

अथान्येनापि पृष्टेनानेन तथैवोत्तरं दत्तम् । एवं च तस्य नगरस्य मध्ये प्राप्तव्यमर्थं इति तस्य प्रसिद्धं नाम जातम् । अथ राजकन्या चन्द्रवती नामाभिनवरूपयौवनसम्पन्ना सखीद्वितीयैकस्मिन्महोत्सवदिवसे नगरं निरीक्षमाणाऽस्ति । तत्रैव च कश्चिद्राजपुत्रोऽतीवरूपसम्पन्नो मनोरमश्च कथमपि तस्या दृष्टिगोचरं गतः । तद्दर्शनसमकालमेव कुसुमबाणाहतया तया निजसख्यभिहिता—'सखि, यथा किलानेन सह समागमो भवति, तथाऽद्य त्वया यतितव्यम् ।' एवं च श्रुत्वा सा सखी तत्सकाशं गत्वा शीघ्रमब्रवीत्—'यदहं चन्द्रवत्या तवान्तिकं प्रेषिता । भणितं च त्वां प्रति तया, यन्मम

---

(१) पुत्रं निर्भर्त्स्य —तिरस्कृत्य । निःसारितः—बहिष्कृतः ।
(२) निर्वेदेन—स्वावमानेन, वैराग्येण वा । विप्रकृष्टं—दूरस्थम् ।

खरीदते हो तो इस बुद्धि से कैसे धन कमाओगे ? इसलिए आज से तुम मेरे घर में मत घुसना । इस प्रकार डाँट फटकार कर उसे घर से निकाल दिया वह इससे उदासीन होकर बहुत दूर दूसरे देश में चला गया और किसी नगर में पहुँच कर रहने लगा ।

कुछ दिनों के बाद उस नगर के किसी निवासी ने उससे पूछा——आप कहाँ से आए हैं ? आप का क्या नाम है ? उसने कहा——"प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः" ।

फिर किसी दूसरे के द्वारा पूछने पर उसने वही उत्तर दिया । इस प्रकार उस नगर के बीच उसका नाम 'प्राप्तव्यमर्थ' प्रसिद्ध हो गया । इसके पश्चात् रूप और यौवन से परिपूर्ण राजकुमारी चन्द्रवती सखी के साथ किसी बहुत बड़े उत्सव के दिन नगर को देख रही थी । वहाँ उसे अत्यन्त सुन्दर और मनोहर कोई राजकुमार दिखाई पड़ा । उसको देखते ही वह कामबाण से घायल हो गईं और अपनी सखी से बोली—सखि, तुम ऐसा उद्योग करो कि जिससे आज इसके साथ मेरा समागम हो जाय । ऐसा सुनकर उसकी सखी ने तत्काल ही उसके पास जाकर कहा——"मैं चन्द्रवती द्वारा तुम्हारे पास भेजी गयी हूँ । उसने तुम्हारे

त्वद्दर्शनान्मनोभवेन पश्चिमावस्था कृता । तद्यदि शीघ्रमेव मदन्तिके न समेष्यसि, तदा मे मरणं शरणम् ।' इति श्रुत्वा तेनाभिहितम्—'यद्यवश्यं मया तत्र गन्तव्यं तत्कथय केनोपायेन प्रवेष्टव्यम् ?' अथ सख्याभिहितम्—'रात्रौ सौधावलम्बितया दृढवरत्रया त्वया तत्रारोढव्यम् ।' सोऽब्रवीत्—'यद्येवं निश्चयो भवत्यास्तदहमेवं करिष्यामि ।' इति निश्चित्य सखी चन्द्रवतीसकाशं गता ।

अथागतायां रजन्यां स राजपुत्रः स्वचेतसा व्यचिन्तयत्—'अहो, महदकृत्यमेतत् । उक्तं च—

गुरोः सुतां मित्रभार्यां स्वामिसेवकगेहिनीम् ।
यो गच्छति पुमांल्लोके तमाहुर्ब्रह्मघातिनम् ॥ ११२ ॥

---

(१) मनोभवेन—कामेन । पश्चिमावस्था—अन्त्यावस्था, मृत्युदशा इत्यर्थः । शरणं–रक्षकम्, आश्रय इत्यर्थः, 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । सौधावलम्बितया—सौधात्—अट्टात्, अवलम्बितया—लम्बमानया । दृढवरत्रया—दृढया—कठिनया दुश्छेद्यया इति भावः, वरत्रया—बद्ध्या, चर्मरज्जुविशेषेण इत्यर्थः, 'वध्री वरत्रा स्यात्'' इत्यमरः ।

(२) तत्र—कुमारीसौधे इत्यर्थः, आरोढव्यम्—आरोहणं कर्त्तव्यं, गन्तव्यमित्यर्थः । अकृत्यम्—अकार्य्यम् ।

गुरोरिति । यः पुमान् गुरोः सुतां कन्यां, मित्रभार्य्यां, स्वामि सेवकगेहिनीं प्रभुभार्य्यां, भृत्यभार्य्याञ्च, उपलक्षणञ्चैतत्, विधिवदूढेतराभिप्रायकं सुताभार्य्यादि-

---

प्रति कहा है कि तुम्हारे देखने के समय से ही काम ने मुझे अन्तिम दशा में पहुँचा दिया है। इसलिए यदि शीघ्र ही मेरे पास नहीं आओगे तो मृत्यु ही मुझे शरण देगी।'' यह सुनकर उसने कहा—''यदि मेरा वहाँ चलना जरूरी है तो बताओ कि मैं (राजमहल में) कैसे प्रवेश कर सकता हूँ।'' सखि ने कहा कि रात में महल से लटकते हुए मजबूत रस्से से तुम वहाँ चढ़ जाना। उसने कहा—'यदि आप का ऐसा निश्चय है तो मैं भी वैसा ही करूँगा।' ऐसा निश्चय करके सखी चन्द्रावती के पास चली गई।

रात हो जाने पर उस राजपुत्र ने अपने मन में विचार किया कि अरे ! यह कितना बड़ा कुकर्म है। कहा भी गया है—

गुरु की पुत्री और मित्र, स्वामी तथा सेवक की पत्नी के साथ जो व्यक्ति संभोग करता है उसे ब्रह्मघाती कहा जाता है। अर्थात् वह ब्रह्म हत्या के पाप का भागी होता है ॥ ११२ ॥

अपरं च—

अयशः प्राप्यते येन येन चापगतिर्भवेत् ।
स्वर्गाच्च भ्रश्यते येन तत्कर्म न समाचरेत्' ॥ ११३ ॥

इति सम्यग्विचार्य तत्सकाशं न जगाम ।

अथ प्राप्तव्यमर्थः पर्यटन्धवलगृहपार्श्वे रात्राववलम्बितवरत्रां दृष्ट्वा कौतुकाविष्टहृदयस्तामालम्ब्याधिरूढः । तया च राजपुत्र्या स एवायमित्याश्वस्तचित्तया स्नानखादनपानाच्छादनादिना सम्मान्य तेन सह शयनतलमाश्रितया तदङ्गसंस्पर्शसंजातहर्षरोमाञ्चितगात्रयोक्तम्—'युष्मद्दर्शनमात्रा-

---

पदोपादानं वेदितव्यम् गच्छति, लोके जगति, तं जनं, ब्रह्मघातिनं ब्रह्महत्यापापिसममहापापिनमित्यर्थः, आहुः कथयन्ति, बुधा इति शेषः; एतासु गमनं महापापकरम्, अतो नानुष्ठेयमिति भावः ॥ ११२ ॥

अयश इति । येन कर्मणा, अयशः अकीर्त्तिः, प्राप्यते लभ्यते, येन च कर्मणा, अपगतिः दुर्गतिः, नरकमित्यर्थः, भवेत्, येन च कर्मणा, स्वर्गात् भ्रश्यते, दैवादिकस्य भ्रशधातोः भावविहितस्यैव रूपमेतत्; पुरुषेणेति कर्त्तृपदमत्रोह्यं वेदितव्यम्, पुरुषः च्यवते इत्यर्थः, तत् कर्म न समाचरेत् न कुर्य्यात् ॥ ११३ ॥

(१) प्राप्तव्यमर्थः—सागरदत्तसुत इति भावः, प्राप्तव्यमर्थम्—पौनःपुन्येनाभिदधाति यः इत्यर्थे अर्थशब्दात् णिचि पश्चात् पचाद्यचि रूपमेतत्, अन्यथा कर्त्तुरनुपस्थितेः, धवलगृहपार्श्वे—सौधपार्श्वे ।

(२) स्नानेति । स्नानभोजनपानीयवसनादिना । तदङ्गेति । तस्य—वणिक्पुत्रस्य; अङ्गसंस्पर्शेन—देहस्पर्शेन, सञ्जातः—उत्पन्नः, यो हर्षः—आनन्दः, तेन रोमाञ्चितं—पुलकितं, गात्रं यस्याः तया, तद्देहसंस्पर्शजनिताऽऽनन्देन पुलकितशरीरया ।

और भी—जिस काम के करने से अपकीर्ति फैले, जिससे अधोगति (नीच योनियों) में जाना पड़े तथा जिससे स्वर्ग से गिरना पड़े, वह काम कदापि नहीं करना चाहिए ॥ ११३ ॥

इस प्रकार अच्छी तरह विचार करके वह वहाँ नहीं गया ।

इसके पश्चात् प्राप्तव्यमर्थ घूमता हुआ राजमहल के पास पहुँचा उसने वहाँ रस्सा लटकते हुए देखा । उसके मन में कुतूहल उत्पन्न हो उठा और वह उसी के सहारे ऊपर चढ़ गया । राजपुत्री ने समझा कि यह वही है अतः आश्वस्त होकर स्नान, भोजन, पान, वस्त्र आदि से सम्मानित करके उसके साथ शैय्या पर बैठी और उसके अंगस्पर्श से रोमाञ्चित होकर बोली— तुम्हें देखकर ही मैं इतना

नुरक्तया मयात्मा प्रदत्तोऽयम्। त्वद्वर्जमन्यो भर्त्ता मनस्यपि मे न भविष्यति इति। तत्कस्मान्मया सह न ब्रवीषि? सोऽब्रवीत्—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः।' इत्युक्ते तयाऽन्योऽयमिति मत्वा धवलगृहादुत्तार्य मुक्तः। स तु खण्डदेवकुले गत्वा सुप्तः।

अथ तत्र कयाचित्स्वैरिण्या दत्तसंकेतको यावद्दण्डपाशकः प्राप्तः, तावदसौ पूर्वसुप्तस्तेन दृष्टो रहस्यसंरक्षणार्थमभिहितश्च—'को भवान्'? सोऽब्रवीत्—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः।' इति श्रुत्वा दण्डपाशकेनाभिहितम्—'यच्छून्यं देवगृहमिदम्। तदत्र मदीयस्थाने गत्वा स्वपिहि।' तथा प्रतिपद्य स मतिविपर्यासादन्यशयने सुप्तः।

---

(१) त्वद्वर्जं—तव वर्जः—वर्जनं यस्मिन् कर्मणि तत् यथा स्यात् तथा, क्रियाविशेषणमेतत्, त्वां वर्जयित्वा इत्यर्थः, अथवा द्वितीयान्तोपपदात् वर्जयतेः णमुल्प्रत्ययः, द्वितीयायाञ्च" (पा० सू० ३।४।५३) इति सूत्रात्। अत्र दीक्षितमते—परीप्सायामित्येव त्वरायां गम्यमानायामेवेत्यर्थः; पद्मनाभमते—अत्वरायामपि वेदितव्यम्। ब्रवीषि—आलपसि। उत्तार्य—निष्काश्य। मुक्तः—त्यक्तः। खण्डदेवकुले—भग्नदेवमन्दिरे।

(२) स्वैरिण्या—कुलटया। दत्तसङ्केतकः—अभिसारार्थं कृतेङ्गितः। दण्डपाशकः तदाख्यः पुरुषः, नगररक्षको वा। असौ—वणिक्सुतः इत्यर्थः। पूर्वसुप्तः—पूर्वनिद्रितः, "पूर्वापराधरोत्तरम्" (पा० सू० २।२।१८) इति सूत्रेण पूर्वादिशब्दयोगात् अवयविना सह एकदेशिसमासस्यैव दर्शनात्, अत्र तु तथाऽभावात् "सुपा सुप्" (पा० सू० २।१।४) इति सूत्रेण समासः।

(३) प्रतिपद्य—बुद्ध्वा, "प्रतिपज्ज्ञप्तिचेतना" इत्यमरोक्तेः, अङ्गीकृत्य इत्यर्थो वा, "प्रतिपन्नोऽन्यलिङ्गः स्यात् विज्ञातेऽङ्गीकृतेऽपि च" इति मेदिनीवचनात्।

अनुरक्त हो गई कि अपने आप को (तुम्हारे लिए) समर्पित कर दिया। तुम्हें छोड़कर मैं मन में भी दूसरे को अपना पति नहीं बना सकती। इसलिए तुम मुझसे बोलते क्यों नहीं हो? उसने कहा—"प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः।' उसके ऐसा कहने पर उसे दूसरा समझ कर उसे राजमहल से उतार कर छोड़ दिया। वह एक टूटे-फूटे मंदिर में जाकर सो गया।

किसी दुराचारिणि स्त्री का संकेत पाकर वहाँ कोतवाल ने आकर उसे अब पहिले से ही सोया हुआ देखा तो अपना भेद छिपाने के लिए उससे कहा—"आप कौन है?, उसने कहा—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः।' यह सुनकर कोतवाल ने कहा—"यह देव मंदिर निर्जन है। इसलिए मेरी जगह पर जाकर

अथ तस्य रक्षकस्य कन्या विनयवती नाम रूपयौवनसम्पन्ना कस्यापि पुरुषस्यानुरक्ता संकेतं दत्त्वा तत्र शयने सुप्ताऽऽसीत् ।

अथ सा तमायातं दृष्ट्वा 'स एवायमस्मद्वल्लभः' इति रात्रौ घनतरान्धकारव्यामोहितोत्थाय भोजनाच्छादनादिक्रियां कारयित्वा गान्धर्वविवाहेनात्मानं विवाहयित्वा तेन समं शयने स्थिता विकसितवदनकमला तमाह— 'किमद्यापि मया सह विश्रब्धं भवान्न ब्रवीति ?' सोऽब्रवीत्— 'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः ।' इति श्रुत्वा तया चिन्तितम्—'यत्कार्यमसमीक्षितं क्रियते तस्येदृक्फलविपाको भवति' इति । एवं विमृश्य सविषादया तया निःसारितोऽसौ । स च यावद्वीथीमार्गेण गच्छति, तावदन्यविषयवासी वरकीर्त्तिर्नाम वरो महता वाद्यशब्देनागच्छति । प्राप्तव्यमर्थोऽपि तैः समं गन्तुमारब्धः ।

मतिविपर्यासात्—बुद्धिवैपरीत्यात् ।

(१) घनेति । घनतरेण—अतिमात्रेण, अन्धकारेण—तिमिरेण, व्यामोहिता—व्यामोहं गता, भ्रान्ता सतीत्यर्थः । विवाहयित्वा—उद्वाह्य । अत्र ल्यप्प्रयोगाभावश्चिन्त्यः; अथवा विवाहं कृत्वेत्यर्थे विवाहशब्दात् तत्करोत्यर्थे णिजन्तात् क्त्वाचि रूपम् । असमीक्षितम्—अपरीक्षितम्, अविविच्येत्यर्थः । फलविपाकः—परिणामः । वीथीमार्गेण—वीथीपदश्चात्र लक्षणया गृहालिपरं बोध्यं, तथा च तद्शोभितेन मार्गेण, राजपथेनेत्यर्थः ।

(२) अन्यविषयवासी—अन्यदेशवासी, "विषयो गोचरे देशे तथा जनपदेऽपि

सो रहो ।" वह इसे मानकर भ्रम-वश दूसरी शय्या पर सो गया ।

उस शय्या पर कोतवाल की रूप-यौवन से सम्पन्न कन्या विनयवती किसी पुरुष में अनुरक्त होकर उसे (वहाँ आने का) संकेत देकर सोई हुई थी ।

उसने उसे आते देख कर 'यही मेरा प्रिय है'-ऐसा समझकर रात के घने अन्धकार में भ्रम में पड़ी हुई उठकर उसका भोजन वस्त्र आदि से सत्कार किया और गान्धर्व विवाह करके उसके साथ शय्या पर स्थित प्रफुल्लित मुख कमल से कहा—"आप अब भी निश्चिन्त भाव से मुझसे क्यों नहीं बोल रहे हैं ।" उसने कहा—"प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः" । यह सुनकर उसने विचार किया कि जो काम बिना विचारे किया जाता है, उसका ऐसा ही परिणाम होता है । ऐसा विचार करके दुःख के साथ उसने उसे निकाल दिया । वह जिस समय गली के रास्ते से जा रहा था उसी समय किसी दूसरे देश का रहने वाला वरकीर्ति नाम का कोई दूल्हा बाजे-गाजे के साथ आ रहा था । प्राप्तव्यमर्थ भी उन्हीं के साथ चलने लगा ।

अथ यावत्प्रत्यासन्ने लग्नसमये राजमार्गासन्नश्रेष्ठिगृहद्वारे रचितमण्डपवेदिकायां कृतकौतुकमङ्गलवेशा वणिक्सुतास्ति, तावन्मदमत्तो हस्त्यारोहकं हत्वा प्रणश्यज्जनकोलाहलेन लोकमाकुलयंस्तमेवोद्देशं प्राप्तः। तं च दृष्ट्वा सर्वे वरानुयायिनो वरेण सह प्रणश्य दिशो जग्मुः।

अथास्मिन्नवसरे भयतरललोचनामेकाकिनीं कन्यामवलोक्य 'मा भैषीः, अहं परित्राता' इति सुधीरं स्थिरीकृत्य दक्षिणपाणौ संगृह्य महासाहसिकतया प्राप्तव्यमर्थः परुषवाक्यैर्हस्तिनं निर्भर्त्सितवान्। ततः कथमपि दैवयोगादपाये हस्तिनि ससुहृद्बान्धवेनातिक्रान्तलग्नसमये वरकीर्तिनागत्य तावत्तां कन्यामन्यहस्तगतां दृष्ट्वाऽभिहितम्—'भोः श्वशुर, विरुद्धमिदं

च" इति मेदिनी।

(१) राजमार्गेति। राजपथसमीपस्थितवणिग्भवनद्वारसमीपे। कृतेति। कृत—धृतः, कौतुकं—विवाहसूत्रं, विवाहकाले हस्ते धार्य्यम् इत्यर्थः, "कौतुकमभिलाषे··· । विवाहसूत्रगीतादिभोगयोरपि न द्वयोः।" इति मेदिनी। मङ्गलवेशश्च यया तादृशी। आरोहकं—हस्तिपालम्। प्रणश्यदिति। प्रणश्यतां—पलायमानानां, जनानां—लोकानां, कोलाहलेन—जनकलध्वनिना, सहार्थे तृतीया। आकुलयन्—व्याकुलीकुर्वन्, इतस्ततो विक्षिपन् इत्यर्थः। वरानुयायिनः—वरयात्रिकाः। प्रणश्य—पलाय्य।

(२) भयेति। भयेन—त्रासेन, तरले—चपले, लोचने—नयने यस्यास्तथाभूताम्। परित्राता—रक्षिता। सुधीरं—सधैर्यम्। स्थिरीकृत्य—सान्त्वयित्वा।

(३) अन्यहस्तगतां—प्राप्तव्यमर्थहस्तलग्नाम्। अभिहितम्—उक्तम्। विरुद्धम्

विवाह के शुभ मुहूर्त के थोड़ी देर पहिले सड़क के समीप स्थित सेठ के घर के दरवाजे पर बने हुए मंडप की वेदी पर मंगल-सूत्र बाँधे तथा विवाह के मांगलिक वेश भूषा में सेठ की लड़की बैठी हुई थी। इसी समय एक मतवाला हाथी अपने पीलवान को मारकर भागते हुए मनुष्यों के कोलाहल से लोगों को व्याकुल बनाते हुए उसी स्थान पर आ पहुँचा। उसे देखकर सारे बराती बर के साथ ही भाग कर इधर-उधर चले गए।

इस अवसर पर प्राप्तव्यमर्थ भय से चंचल नेत्रों वाली कन्या को देखकर 'मत डरो' मैं तुम्हारा रक्षक हूँ—इस प्रकार धैर्य देकर उसे आश्वस्त करके उसका दाहिना हाथ पकड़ लिया और अत्यन्त साहस के साथ कठोर शब्दों से हाथी को डाँटा। इसके पश्चात् भाग्यवशात् हाथी के चले जाने और विवाह का मुहूर्त व्यतीत हो जाने पर वरकीर्ति अपने मित्रों और बान्धवों के साथ आकर कन्या

त्वयाऽनुष्ठितं यन्मह्यं प्रदाय कन्यान्यस्मै प्रदत्ता' इति। सोऽब्रवीत्—'भोः, अहमपि हस्तिभयपलायितो भवद्भिः सहायातो न जाने किमिदं वृत्तम्।' इत्यभिधाय दुहितरं प्रष्टुमारब्धः—'वत्से, न त्वया सुन्दरं कृतम्।' तत्कथ्यतां कोऽयं वृत्तान्तः?' सोऽब्रवीत्—'यदहमनेन प्राणसंशयाद्रक्षिता, तदेनं मुक्त्वा मम जीवन्त्या नान्यः पाणिं ग्रहीष्यति' इति। अनेन वार्ताव्यतिकरेण रजनी व्युष्टा।

अथ प्रातस्तत्र संजाते महाजनसमवाये वार्ताव्यतिकरं श्रुत्वा राजदुहिता तमुद्देशमागता। कर्णपरम्परया श्रुत्वा दण्डपाशकसुताऽपि तत्रैवागता।

अथ तं महाजनसमवायं श्रुत्वा राजाऽपि तत्रैवाजगाम। प्राप्तव्यमर्थं प्राह च—'भोः, विश्रब्धं कथय। कीदृशोऽसौ वृत्तान्तः?' अथ सोऽब्रवीत्—प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः' इति राजकन्या स्मृत्वा प्राह—देवोऽपि तं लङ्घ-

—अन्याय्यम्। वार्ताव्यतिकरेण—परस्परवादविसंवादेन इत्यर्थः। व्युष्टा—अतिक्रान्ता, प्रभाता इत्यर्थः। "उष् दाहे" इति धातोः निष्ठायां रूपम्, "औषीत् औक्षत्" इति लुङिरूपद्वयं वेदितव्यम्।

(१) महाजन समवाये—बहुलोकसम्मेलने। कर्णपरम्परया—श्रुतिक्रमेण, जनश्रुत्यनुसारेणेत्यर्थः।

को दूसरे के हाथ में पड़ी देखकर बोला—"हे श्वसुर, आपने यह विरुद्ध कार्य क्यों किया जो कन्या मुझे देने को कहकर दूसरे को दे दिया।" उसने कहा—"मैं तो हाथी के भय से भाग गया था। आप लोगों के साथ ही आया हूँ।" मुझे नहीं मालूम कि यह कौन सी घटना हो गई है।" ऐसा कहकर उसने लड़की से पूछना प्रारम्भ किया—"पुत्री, तुमने यह अच्छा नहीं किया बताओ क्या बात है? उसने कहा—इन्होंने मुझे मृत्यु के खतरे से बचाया है, इसलिए मेरे जीवित रहते इन्हें छोड़कर दूसरा कोई मेरा पाणि ग्रहण नहीं कर सकेगा इस प्रकार की बात-चीत में सारी रात बीत गई।

प्रातःकाल वहाँ लोगों की बहुत बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गई। यह समाचार सुनकर राजपुत्री वहाँ आ गई। एक कान से दूसरे कान में होती हुई इस बात को सुनकर कोतवाली की कन्या भी वहाँ आई।

लोगों की बहुत बड़ी भीड़ सुनकर राजा भी वहाँ आए। उन्होंने प्राप्तव्यमर्थ से कहा—"निर्भय होकर कहो। यह कैसा वृत्तान्त है?" उसने कहा-प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः"। राजकन्या ने स्मरण करके कहा—"देवोऽपि तं लंघयितुं

यितुं न शक्तः' इति। ततो दण्डपाशकसुताऽब्रवीत्—'तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे' इति। तमखिललोकवृत्तान्तमाकर्ण्य वणिक्सुताऽब्रवीत्—'यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्' इति। ततश्च अभयदानं दत्त्वा राजा पृथक्-पृथग्वृत्तान्ताञ्ज्ञात्वावगततत्त्वस्तस्मै प्राप्तव्यमर्थाय स्वदुहितरं सबहुमानं ग्रामसहस्रेण समं सर्वालंकारपरिवारयुतां दत्त्वा 'त्वं मे पुत्रोऽसि' इति नगर-विदितं तं यौवराज्येऽभिषिक्तवान्। दण्डपाशकेनापि स्वदुहिता स्वशक्त्या वस्त्रदानादिना संभाव्य प्राप्तव्यमर्थाय प्रदत्ता।

अथ प्राप्तव्यमर्थेनापि स्वीयमातापितरौ समस्तकुटुम्बावृतौ तस्मिन्नगरे सम्मानपुरःसरं समानीतौ। अथ सोऽपि स्वगात्रेण सह विविधभोगानुप-भुञ्जानः सुखेनावस्थितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः' इति।

तदेतत्सकलं सुखदुःखमनुभूय परं विषादमुपागतोऽनेन मित्रेण त्वत्सकाश-मानीतः। तदेतन्मे वैराग्यकारणम्।

---

(१) अवगततत्त्वः—विदितयाथार्थ्यः, ज्ञातसर्ववृत्तान्त इत्यर्थः। सबहुमानं—सादरम्। सर्वेति। विविधभूषणभूषितपरिजनसहिताम्।

(२) सुखदुःखं—सुखञ्च दुःखञ्चेति समाहारद्वन्द्वः, "विप्रतिषिद्धं चानधि-

---

न शक्तः"। तब कोतवाल की कन्या ने कहा—"तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे।" यह सारा समाचार सुन कर वणिक् पुत्री ने कहा—'यदस्मदीयं नहि तत्परेषाम्।' राजा ने अभय दान देकर सारा वृत्तान्त अलग अलग जान लिया और सबका तत्व समझकर अपनी पुत्री को एक हजार गाँवों, सभी आभूषणों तथा दासियों के साथ आदरपूर्वक प्राप्तव्यमर्थ को समर्पित कर दिया तथा 'तुम मेरे पुत्र हो' नगर में ऐसी घोषणा करके युवराज के पद पर अभिषिक्त कर दिया। कोतवाल ने भी अपनी शक्ति के अनुसार वस्त्र आदि से सम्मानित करके अपनी कन्या प्राप्तव्यमर्थ को समर्पित कर दी।

इसके पश्चात् प्राप्तव्यमर्थ ने समस्त परिवार के साथ अपने माता-पिता को सम्मान के साथ उसी नगर में बुला लिया। वह अपने परिवार के साथ तरह-तरह के वैभव-सुख को भोगता हुआ आनन्द के साथ रहने लगा। इसीलिए मैं कहता हूँ कि 'जो कुछ प्राप्य है; मनुष्य उसे पाता ही है।'

इन सब दुखों-सुखों का अनुभव करके मैं अत्यन्त विषाद से परिपूर्ण हो गया। और अब इस मित्र के द्वारा आप के पास लाया गया हूँ। यही मेरे वैराग्य का कारण है।

मन्थरक आह—'भद्र, भवति सुहृदयमसन्दिग्धं यत् क्षुत्क्षामोऽपि शत्रुभूतं त्वां भक्ष्यस्थाने स्थितमेवं पृष्ठमारोप्यानयति, न मार्गेऽपि भक्षयति। उक्तं च ततः—

विकारं याति नो चित्तं वित्ते यस्य कदाचन।
मित्रं स्यात्सर्वकाले च कारयेन्मित्रमुत्तमम्॥ ११४॥
विद्वद्भिः सुहृदामत्र चिह्नैरेतैरसंशयम्।
परीक्षाकरणं प्रोक्तं होमाग्नेरिव पण्डितैः॥ ११५॥

करणवाचि" (पा०सू० २।४।१३) इति सूत्रात् समाहारः वैकल्पिकः, तथा च सुख-दुःखे इत्यपि भवितुमर्हतीति बोध्यम्।

(१) सुहृदयमसन्दिग्धम्—अयं-वायसः, सुहृत्—मित्रम्, असन्दिग्धम्—अत्र सन्देहो नास्तीत्यर्थः। क्षुत्क्षामः—क्षुधार्त्तः, क्षैधातोः क्तप्रत्ययेन क्षाम इति पदं सिद्धम्। भक्ष्यस्थाने स्थितं—भक्ष्यभूतम्।

विकारमिति। यस्य वित्ते धनविषये, चित्तं कदाचन विकारं नो याति-न प्राप्नोति, न विकृतं भवतीत्यर्थः, यश्च सर्वकाले सम्पदि विपदि च इत्यर्थः, मित्रं सुहृत् स्यात्, न कदाचित् कुतश्चित् शत्रुर्भवतीत्यर्थः, एवम्भूतम् उत्तमं, जनमिति शेषः, मित्रं कारयेत्, जन इति शेषः॥ ११४॥

विद्वद्भिरिति। विद्वद्भिः प्राज्ञैः, एतैश्चिह्नैः लक्षणैः, अविकृतसुखभावादिभि-रिति भावः, असंशयं यथा तथा, अत्र संसारे, सुहृदां मित्राणां, परीक्षाकरणं चित्त-मविकृतं न वेति निर्णयकरणमित्यर्थः, पण्डितैः वेदविद्भिः, होमाग्नेः आहवनीयादि-यज्ञीयाग्नेरिव, प्रोक्तं कथितम्; पण्डितैर्यथा यज्ञादौ दक्षिणावर्त्तत्व-शुभ्रशिखावत्त्वा-दिभिर्लक्षणैः वह्नेर्मङ्गलजनकत्वादिकं परीक्षया ज्ञातव्यमुक्तम्, तथा मित्रताकरणे सुहृदामपि प्रोक्तलक्षणैः हृदयविशुद्धत्वादिकमिति भावः॥ ११५॥

मन्थरक ने कहा—भद्र, यह निःसन्देह आप का अत्यन्त प्रिय मित्र है। जो भूख से व्याकुल होने पर भी भोजन रूप आप को पीठ पर चढ़ा कर यहाँ लाया है। मार्ग में खाया नहीं। कहा भी गया है—

धन पाकर भी जिसके मन में कभी भी कोई विकार नहीं उत्पन्न होता और जो सर्वदा (सुख:दुख दोनों में) सच्चा मित्र बना रहता है, उसी सज्जन पुरुष के साथ मित्रता करनी चाहिए॥ ११४॥

विद्वान् पुरुषों को चाहिए कि होम की अग्नि के समान इन सभी लक्षणों से मित्र की परीक्षा कर लें॥ ११५॥

तथा च—

आपत्काले तु संप्राप्ते यन्मित्रं मित्रमेव तत् ।
वृद्धिकाले तु संप्राप्ते दुर्जनोऽपि सुहृद्भवेत् ॥ ११६ ॥

तन्मामप्यद्यास्य विषये विश्वासः समुत्पन्नो यतो नीतिविरुद्धेयं मैत्री मांसाशिभिर्वायसैः सह जलचराणाम् । अथवा साध्विदमुच्यते—

मित्रं कोऽपि न कस्यापि नितान्तं न च वैरकृत् ।
दृश्यते मित्रविध्वस्तात्कार्याद्वैरी परीक्षितः ॥ ११७ ॥

तत्स्वागतं भवतः? स्वगृहवदास्यतामत्र सरस्तीरे । यच्च वित्तनाशो विदेशवासश्च ते संजातस्तत्र विषये सन्तापो न कर्त्तव्यः । उक्तं च—

आपत्काले इति । आपत्काले विपत्तिसमये, सम्प्राप्ते तु उपस्थिते सति, यत् मित्रम् आपत्कालेऽपि यः सुहृत भवति इत्यर्थः, तदेव मित्रं मित्रपदवाच्यम्; वृद्धिकाले सम्पत्समये सम्प्राप्ते तु दुर्जनोऽपि सुहृत् भवेत्, आत्मनः हितसाधनेच्छयेति भावः; विपत्सहाय एव बन्धुरिति निष्कर्षः ॥ ११६ ॥

मित्रमिति । कोऽपि जनः, कस्यापि न नितान्तं मित्रं, न च वैरकृत् शत्रुः; अत्रापि "नितान्तम्" इति पदं योजनीयम्; मित्रविध्वस्तात् मित्रेण मित्रभावेनावस्थितेन जनेन, विध्वस्तात् कारणविशेषात् स्वार्थसाधनाय वा नाशं गमितात्; विफलीकृतादित्यर्थः, कार्यात् वैरी शत्रुः, परीक्षितः, भवतीति शेषः, इति दृश्यते, जनैरिति शेषः, मित्रभावेनावस्थितोऽपि जनः स्वार्थवशात् रिपुरपि भवतीति भावः ॥ ११७ ॥

और भी—विपत्तियों के आ जाने पर भी जो मित्र बना रहता है वही (वास्तव में) मित्र है । वैभव काल में तो दुष्ट भी मित्र की तरह व्यवहार करने वाले होते हैं ॥ ११६ ॥

अतः आज इस विषय में मुझे भी विश्वास उत्पन्न हो गया है क्योंकि मांसभोजी कौवों के साथ जलचारी जीवों की यह मैत्री नीति के विरुद्ध है । अथवा यह उचित कहा गया है—

कोई किसी का न तो सर्वथा मित्र ही होता है न शत्रु ही । क्योंकि कार्यवशात् मित्र द्वारा विनाश तथा शत्रु द्वारा रक्षा होते देखा गया है ॥ ११७ ॥

इस लिए आप का स्वागत है । इस तालाब के किनारे अपने घर की तरह निवास कीजिए । और जो आप का धन नष्ट हो गया तथा जो आप को विदेश में रहना पड़ रहा है, उसका दुःख नही करना चाहिए । कहा भी गया है—

अभ्रच्छाया खलप्रीतिः सिद्धमन्नं च योषितः ।
किंचित्कालोपभोग्यानि यौवनानि धनानि च ।। ११८ ।।

अत एव विवेकिनो जितात्मानो धनस्पृहां न कुर्वन्ति । उक्तं च—

सुसंचितैर्जीवनवत्सुरक्षितै-
निजेऽपि देहे न वियोजितैः क्वचित् ।
पुंसो यमान्तं व्रजतोऽपि निष्ठुरै-
रेतैर्धनैः पञ्चपदी न दीयते ।। ११९ ।।

अभ्रेति । अभ्राणां मेघानां, छाया अनातपः, खलानां दुर्जनानां, प्रीतिः प्रणयः, सिद्धं पक्वम्, अन्नं भक्ष्यं, योषितः स्त्रियः, यौवनानि तारुण्यानि, धनानि वित्तानि च, किञ्चित्कालोपभोग्यानि अल्पकालसम्भोगार्हाणि, भुजधातोः "ऋहलो-र्ण्यत्" (पा०सू० ३।१।१२४) इति ण्यति "चजोः कु घिण्यतोः" (पा०सू० ७।३।५२) इति कुत्वात् भोग्यमिति सिद्धं, भक्षणार्थे तु 'भोज्यं भक्षे' (पा० सू० ७।३।६९) इति सूत्रेण भोज्यमित्येव स्यात् । एतानि च चिरं तिष्ठन्तीत्यर्थः, अतः क्षयेऽप्येतेषां कदाऽपि नानुशोचितव्यमिति भावः ।। ११८ ।।

(१) विवेकिनः—सदसद्विचारकुशलाः । जितात्मानः—जितेन्द्रियाः ।

सुसञ्चितैरिति । सुसञ्चितैः अतिकष्टेन सङ्गृहीतैः, जीवनवत् प्राणवत्, सुरक्षितैः दस्युतस्करादिभ्यः इति भावः, निजे देहेऽपि निजदेहार्थमपि, निमित्ते सप्तमी, क्वचित् न वियोजितैः कदाऽपि न व्ययितैरिति भावः, एतैः ईदृशैरपीत्यर्थः, निष्ठुरैः आत्मानं वञ्चयित्वाऽपि तद्रक्षणार्थं यतमानस्य उपकारविस्मरणात् अतीव कठिनैरित्यर्थः, अ-कृतज्ञैरिति भावः, धनैः यमान्तं यमसकाशं, व्रजतः गच्छतोऽपि, पुनरागमनसम्भावना-विरहितस्यापीति भावः, पुंसः स्वरक्षकस्येत्यर्थः, पञ्चपदी अपिरत्राध्याहार्य्यः । पञ्चानां पदानां वस्तूनां समाहारः पञ्चपदी, लोकान्तरगमनकालिकं पाथेयभूतं काकिनीपञ्चकमपि; न दीयते न समर्प्यते इत्यर्थः, अथवा पदपञ्चकमपि नानुगम्यते

बादल की छाया, दुष्टों का प्रेम, पका हुआ अन्न, स्त्री, यौवन और धन—ये सभी वस्तुएँ कुछ ही समय तक भोग करने योग्य होती हैं अर्थात् ये सब अल्प समय तक ही टिकती हैं ।। ११८ ।।

इसलिए विचारशील और संयमी पुरुष धन की अभिलाषा नहीं करते हैं । कहा भी गया है—

भली भाँति (दुःख उठाकर भी) संचित किया हुआ प्राणों की तरह बचाया गया, कभी भी अपने ही शरीर के लिए भी खर्च न किया गया यह निष्ठुर धन यम के पास जाते हुए (मरते हुए) मनुष्य के पीछे पाँच कदम भी नहीं

अन्यच्च

यथामिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि ।
आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥ १२० ॥
निर्दोषमपि वित्ताढ्यं दोषैर्योजयते नृपः ।
निर्धनः प्राप्तदोषोऽपि सर्वत्र निरुपद्रवः ॥ १२१ ॥
अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे ।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान्कष्टसंश्रयान् ॥ १२२ ॥

इत्यर्थः । वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ ११९ ॥

यथेति । मत्स्यैः जले, श्वापदैः भुवि, पक्षिभिश्च आकाशे, आमिषं भक्ष्यं वस्तु, यथा भक्ष्यते, तथा वित्तवान् धनवान् जनः, सर्वत्रैव सुगमे दुर्गमे वा यत्रैव प्रदेशे गच्छति तत्रैवेत्यर्थः, भक्ष्यते इत्यनुषज्यते, अन्यामिषस्य स्थाननियमः वर्त्तते, धनिरूपामिषन्तु यत्रैव गच्छति, तत्रैवार्थिभिः अर्थगृध्नुभिः तस्करैश्च ग्रस्यते इति भावः ॥ १२० ॥

निर्दोषमिति । नृपः निर्दोषमपि दोषहीनमपि, वित्ताढ्यं धनिनं, दोषैः योजयते दूषितं करोति इत्यर्थः, धनलोभात् मिथ्यादोषं प्रख्याप्य दण्डयतीति भावः, निर्धनः जनः, प्राप्तदोषोऽपि दोषी अपि, सर्वत्र निरुपद्रवः उत्पातहीनः, कैरपि न दूष्यते इत्यर्थः, धनप्राप्त्याशाविरहादिति भावः, धनमूला हि विपत्तिः सर्वेषामिति तात्पर्यम् ॥ १२१ ॥

अर्थानामिति । अर्थानां धनानाम्, अर्जने उपार्जने, दुःखं कष्टम्, अर्जितानाञ्च, अर्थानामिति शेषः, रक्षणे दुःखं नाशे, अर्थानामिति शेषः, दुःखं व्यये वितरणे, दुःखं, तस्मात् कष्टसंश्रयान् केवलकष्टाऽऽधारान्, अर्थान् अत्र धिक्शब्दयोगे द्वितीया,

---

जाता है ॥ ११९ ॥

और भी — जैसे मांस जल में मछलियों, पृथ्वी पर हिंसक पशुओं और आकाश में पक्षियों द्वारा खा लिया जाता है उसी प्रकार धनी पुरुष भी (लोगों द्वारा) सभी जगह खाया जाता है ॥ १२० ॥

राजा दोष रहित होने पर भी धनी पुरुष को दोषी बना देता है (दोष लगाकर दंड रूप में धन वसूल करता है) । किन्तु दोषी होने पर भी धनहीन व्यक्ति सब जगह उपद्रवों से बचा रहता है ॥ १२१ ॥

पहले तो धन के कमाने ही में कष्ट उठाना पड़ता है, फिर उस कमाए हुए धन की रक्षा करने में दुःख उठाना पड़ता है । यदि वह नष्ट हो गया तब भी दुःख होता होता है और यदि खर्च हो गया तब भी दुःख होता है । इस प्रकार केवल कष्ट

अर्थार्थी यानि कष्टानि मूढोऽयं सहते जनः ।
शतांशेनापि मोक्षार्थी तानि चेन्मोक्षमाप्नुयात् ।। १२३ ।।

अपरं विदेशवासजमपि वैराग्यं त्वया न कार्यम् । यतः—

को धीरस्य मनस्विनः स्वविषयः को वा विदेशः स्मृतो
यं देशे श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम् ।
यद्दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणैः सिंहो वनं गाहते
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्त्यात्मनः ।। १२४ ।।

"उपान्वध्याङ्वसः" (पा०सू० १।४।४८) इत्यस्य दीक्षितवृत्तौ धिक्शब्दयोगे द्वितीया स्यादित्युक्तम्, तथा हि—"उभसर्वतसोः कार्य्या धिगुपर्य्यादिषु त्रिषु । द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ।।" इति धिक् निन्दामि इत्यर्थः, सर्वदा दुःखकरत्वात् अर्थलोभः परिहरणीयः इति निष्कर्षः ।। १२२ ।।

अर्थार्थीति । अयं मूढो जनः, अर्थार्थी धनार्थी सन्, यानि कष्टानि सहते, चेत् यदि, मोक्षार्थी सन् तानि कष्टानि, शतांशेनापि, सहते इति शेषः, तदा स मोक्षम् आप्नुयात् लभेत, परमपुरुषार्थमुक्तिसाधनादपि अर्थसाधनं नितरां दुःखकरमित्यहो ! विडम्बना इति भावः ।। १२३ ।।

क इति । धीरस्य मनस्विनः स्वविषयः स्वदेशः, कः ? को वा विदेशः स्मृतः ? न देशविदेशगणनेति भावः; यं देशं श्रयते श्रयति, धीरो जनः इति शेषः, तमेव देशं, बाहुप्रतापार्जितं स्वबाहुबललब्धं, स्वायत्तमित्यर्थः, कुरुते, तत्रैव प्रभूतधनधानादिकम् अर्जयतीति भावः; दंष्ट्रा नखाः लाङ्गुलञ्च तानि ह्रस्वोकारवल्लाङ्गूलशब्दोऽत्र छन्दोभङ्गशङ्कया प्रयुक्तः । प्रहरणानि अस्त्राणि यस्य तादृशः, सिंहः यत् वनं गाहते प्रविशति, तस्मिन्नेव वने, हतानां स्वबाहुबलेन विनाशितानां, द्विपेन्द्राणां

ही कष्ट देने वाले धन को धिक्कार है ।। १२२ ।।

यह मूर्ख मनुष्य धनार्थी बनकर जितना कष्ट उठाता है अर्थात् धन कमाने के लिए जितना दुःख सहन करता है यदि मोक्ष की कामना से उसका सौवाँ भाग भी कष्ट उठावे तो मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है ।। १२३ ।।

इसके अतिरिक्त तुम्हें परदेश में निवास करने का खेद भी नहीं करना चाहिए । क्योंकि—

धैर्यवान् मनस्वी पुरुषों के लिए स्वदेश कैसा ? और विदेश कैसा ? वह तो जिस देश में रहते हैं उसको ही अपनी भुजाओं के प्रताप से अपने अधीन कर लेते हैं । जैसे सिंह जिस किसी भी वन में जाता है, वहाँ ही दाँतों, नखों और पूँछ के अस्त्रों से बड़े बड़े हाथियों को मारकर उनके रक्त से अपनी प्यास बुझा

अर्थहीनः परे देशे गतोऽपि यः प्रज्ञावान्भवति स कथंचिदपि न सीदति। उक्तं च—

कोऽतिभारः समर्थानां ? किं दूरं व्यवसायिनाम्।
को विदेशः सुविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ॥ १२५ ॥

तत्प्रज्ञानिधिर्भवान्न प्राकृतपुरुषतुल्यः। अथवा,—

उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं
क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम्।
शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदं च
लक्ष्मीः स्वयं मार्गति वासहेतोः ॥ १२६ ॥

गजश्रेष्ठानां, रुधिरैः रक्तैः, आत्मनः स्वस्य, तृष्णां छिनत्ति अपनयति; न हि परतन्त्रवृत्तिता मनस्विस्वभाव इति भावः। विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १२४ ॥

(१) परे देशे—अस्मिन् देशे। सीदति—क्लिश्यति।

क इति। समर्थानां शक्तिमताम्, अतिभारः कः ? व्यवसायिनां वणिजां; दूरं किम् ? सुविद्यानां सुशिक्षितविद्यानां, सविद्यानामिति वा पाठः। विदेशः कः ? तथा प्रियवादिनां परः कः ? न कोऽपि; तेषां प्रियवाक्येनैव सर्वे अनात्मीया अपि आत्मीया भवन्ति इति भावः ॥ १२५ ॥

(२) प्रज्ञानिधिः—बुद्धिमान्। प्राकृतपुरुषतुल्यः—नीचजनसदृशः, विवर्णः; पामरो नीचः प्राकृतश्च पृथग्जनः" इत्यमरः।

उत्साहेति। लक्ष्मीः सम्पत्; वासहेतोः हेतुशब्दयोगात् "षष्ठी हेतुप्रयोगे"

ही लेता है ॥ १२४ ॥

परदेश में पहुँचा हुआ दरिद्र व्यक्ति भी यदि बुद्धिमान् होता है तो उसे किसी भी प्रकार कष्ट नहीं उठाना पड़ता। कहा भी गया है—

शक्तिशाली व्यक्ति के लिए कुछ भी अत्यन्त भारी नहीं होता, उद्यमी पुरुष के के लिए कोई भी स्थान दूर नहीं होता, विद्वान् पुरुष के लिए कोई भी देश विदेश नहीं होता और प्रिय बातें बोलने वालों के लिए कोई दूसरा या शत्रु नहीं होता है ॥ १२५ ॥

आप तो बहुत बड़े बुद्धिमान् हैं। आप साधारण मनुष्य जैसे भी नहीं हैं। अथवा—

उत्साह से परिपूर्ण, किसी कार्य में देरी न करने वाले, क्रिया विधि को जानने वाले, दुर्व्यसनों से अलग रहने वाले, शौर्य गुण से सम्पन्न, दूसरे के उपकार को

अपरं, प्राप्तोऽप्यर्थः कर्मप्राप्त्या नश्यति । तदेतावन्ति दिनानि त्वदीयमासीत् । मुहूर्तमप्यनात्मीयं भोक्तुं न लभ्यते । स्वयमागतमपि विधिनाऽपह्रियते ।

अर्थस्योपार्जनं कृत्वा नैव भोगं समश्नुते ।
अरण्यं महदासाद्य मूढः सोमिलको यथा ॥ १२७ ॥

हिरण्यक आह—'कथमेतत्' ? स आह—

(पा० सू० २।३।२६) इति सूत्रेण षष्ठी आश्रयार्थम्, उत्साहसम्पन्नम् उद्योगिनम्, अदीर्घसूत्रम् अचिरक्रियम्, अनलसमित्यर्थः, "दीर्घसूत्रश्चिरक्रियः" इत्यमरः । क्रियाविधिज्ञं कार्य्यानुष्ठानदक्षं, व्यसनेषु कामजक्रोधजाद्यष्टादशविधमृगयादिदोषेषु; असक्तम् अनासक्तं, शूरं बलवन्तं, कृतज्ञम् उपकारस्मर्त्तारं, तथा दृढं स्थिरं, सौहृदं मैत्र्यं यस्य तादृशं, मित्रधर्मादस्खलितञ्च इत्यर्थः, जनमिति शेषः, स्वयं मार्गति अन्विष्यति; एतादृशपुरुषस्य करतलगतैव लक्ष्मीरिति तात्पर्य्यम् । उपजातिः वृत्तम् ॥ १२६ ॥

(१) कर्मप्राप्त्या—कर्मवशेनेत्यर्थः । प्राक्तनकर्मपरिपाककाले इति भावः । नश्यति—नष्टः भवति । दिनानि इति अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । त्वदीयं—त्वदायत्तं; धनमिति शेषः । मुहूर्त्तमपि—अल्पकालमपि । अनात्मीयम्—अस्वम्, अन्यदीयं वस्तु इत्यर्थः । लभ्यते—प्राप्यते । स्वयमागतमपि अनात्मीयमिति शेषः ।

अर्थस्येति । महत् अरण्यम् आसाद्य प्राप्य, सोमिलकः यथा, तथा मूढः अज्ञः जनः, अर्थस्य उपार्जनं कृत्वा भोगं नैव समश्नुते लभते इत्यर्थः ॥ १२७ ॥

मानने वाले, तथा अत्यन्त स्थिर मित्रता करने वाले पुरुषों को लक्ष्मी अपना निवास स्थान बनाने के लिए स्वयं खोज लेती है ॥ १२६ ॥

इसके अतिरिक्त मिला हुआ धन भी कर्मानुसार नष्ट हो जाता है । वह केवल इतने ही दिनों तक तुम्हारा था । क्षणमात्र भी जो अपना नहीं है, उसका भोग नहीं कर सकते हो । अपने आप आया हुआ धन भी भाग्य द्वारा छीन लिया जाता है ।

धन कमा करके भी मनुष्य उसका भोग नहीं कर पाता है । जैसे मूर्ख सोमलिक बहुत बड़े जंगल में पहुँचकर कमाए हुए धन को खो बैठा ॥ १२९ ॥

हिरण्यक ने कहा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

५ : मन्दभाग्यसोमिलक-कथा

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने सोमिलको नाम कौलिको वसति स्म। स चानेकविधपट्टरचनारञ्जितानि पार्थिवोचितानि सदैव वस्त्राण्युत्पादयति। परं तस्य चानेकविधपट्टरचनानिपुणस्यापि न भोजनाच्छादनाभ्यधिकं कथमप्यर्थमात्रं सम्पद्यते। अथान्ये यत्र सामान्यकौलिकाः स्थूलवस्त्रसम्पादनविज्ञानिनो महर्द्धिसम्पन्नाः। तानवलोक्य स स्वभार्यामाह—'प्रिये, पश्यैतांस्थूलपट्टकारकान्धनकनकसमृद्धान्। तदधारणकं ममैतत्स्थानम्। तदन्यत्रोपार्जनाय गच्छामि।' सा प्राह—'भोः प्रियतम, मिथ्याप्रलपितमेतद्यदन्यत्र गतानां धनं भवति, स्वस्थाने न भवति। उक्तं च—

---

[५]

(३) कौलिकः—तन्तुवायाख्यजातिविशेषः। अनेकेति। बहुप्रकारवस्त्रवयनकौशलाभिज्ञतया मनोज्ञानीत्यर्थः। पार्थिवोचितानि—राजयोग्यानि। उत्पादयति—वयतीत्यर्थः।

(१) स्थूलेति। स्थूलवस्त्रवयनकुशलाः। महर्द्धिसम्पन्नाः—महाधनशालिनः।

(२) अधारणकं—न धारकम्, एतत् स्थानं मां न धारयति इत्यर्थः; अत्र मम सौभाग्यं नास्तीति भावः। धार्य्यतेऽस्मिन्ननेन वेत्यर्थेऽधिकरणे करणे वार्थे ल्युटि पश्चात् स्वार्थे कनि रूपं, पश्चात् नञ् समासः।

भाग्यहीन सोमिलक की कथा

किसी स्थान पर सोमिलक नाम का जुलाहा रहता था। वह विभिन्न प्रकार की विनने की कला से परिपूर्ण राजाओं के योग्य वस्त्रों को बुना करता था। किन्तु अनेक प्रकार के वस्त्र बुनने में कुशल होने पर भी उसे भोजन वस्त्र से अधिक थोड़ा भी धन नहीं मिलता था। वहाँ जो मोटे कपड़े बुनने वाले साधारण जुलाहे थे वे बहुत ही धन सम्पन्न थे। उन्हें देखकर उसने अपनी पत्नी से कहा—'प्रिये! धनधान्य तथा सोने से सम्पन्न इन साधारण कपड़ा बनाने वालों को देखो। यह स्थान मेरे रहने लायक या मेरे लिए लाभदायक नहीं हैं। इसलिए मैं धन कमाने के लिए दूसरी जगह जाऊँगा। उसने कहा—प्रियतम! यह कहना व्यर्थ है कि दूसरी जगह जाने वालों को धन मिलता है, अपने स्थान पर नही मिलता है। कहा भी गया है—

उत्पतन्ति यदाकाशे निपतन्ति महीतले।
पक्षिणां तदपि प्राप्त्या नादत्तमुपतिष्ठते ॥ १२८ ॥

तथा च—

न हि भवति यन्न भाव्यं भवति च भाव्यं विना प्रयत्नेन।
करतलगतमपि नश्यति यस्य तु भवितव्यता नास्ति ॥ १२९ ॥

उत्पतन्तीति। आकाशे नभसि, यत् उत्पतन्ति उड्डीयन्ते, कदाचिदिति भावः; यच्च महीतले पृथिव्यां, निपतन्ति कदाचिदवतरन्तीत्यर्थः, पक्षिण इति शेषः, पक्षिणां खगानामपि सम्बन्धे इत्यर्थः, तत् कदाचिदुत्पतनं कदाचिच्च निपतनमित्यर्थः, प्राप्त्या किञ्चित् लाभाशया इत्यर्थः, "प्राप्तिर्महोदये। लाभेऽपि च स्त्रियाम्" इति मेदिनी। किन्तु अदत्तं कदाचित् कस्मैचित् किमपि अवितरितं द्रव्यं, न उपतिष्ठते न प्राप्नोतीत्यर्थः, "तन्नष्टं यन्न दीयते" इति स्मरणात्, उपपूर्वकात् तिष्ठतेः "अकर्मकाच्च" (पा० सू० १।३।२६) इति सूत्रेण आत्मनेपदम्; योजनशतादपि आमिषं द्रष्टुं समर्थानां किञ्चित् प्राप्त्यर्थं दिवि भुवि च मुहुर्विचरतां खगानामपि प्राप्तिः यदा कर्मफलायत्ता, तदा भूमात्रचराणामदूरदर्शिनां कर्माधीनानां मानवानां तत्प्राप्तौ का कथा? यदि त्वया कदाऽपि कस्मैचित् किमपि दत्तमासीत् तदा गृहे स्थित्वैव प्रभूतधनं प्राप्स्यसि, किं बहिर्गमनायासेनेति निष्कर्षः। "प्राप्त्या" इत्यत्र "प्राप्तौ" इति पाठे—प्राप्तिविषये इत्यर्थः ॥ १२८ ॥

न हीत्यादि। यत् न भाव्यं केनापि नैव भवितव्यम् इत्यर्थः, तदिति शेषः, यत्नेन अपीति अध्याहार्य्यं, न भवति सम्पद्यते, यच्च भाव्यं केनचित्, भवितव्यमेव तदिति शेषः, प्रयत्नेन प्रकृष्टचेष्टया विना, अपीति शेषः, भवति च भवत्येव, यस्य भवितव्यता अवश्यम्भाविता नास्ति, करतलगतमपि हस्तस्थमपि; तत् द्रव्यमिति शेषः, नश्यति दूरं याति, भाग्यहीनस्य कुतः लाभः? इति भावः। आर्य्या वृत्तम् ॥ १२९ ॥

ये पक्षी आकाश में उड़ते हैं और (भोजन प्राप्त करने के लिए) पृथ्वी पर उतरते हैं यह सब उनके पूर्वजन्म के कर्मों का फल है क्योंकि (पूर्व जन्म में) बिना दिये (इस जन्म में) कोई भी वस्तु प्राप्त नहीं होती है ॥ १२८ ॥

और भी—जो नहीं होने वाला है वह नहीं होता और जो होने वाला है वह बिना प्रयत्न किए ही हो जाता है। जो भाग्य में नहीं है वह हाथ में आकर भी नष्ट हो जाता है ॥ १२९ ॥

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथा पुराकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥ १३० ॥
शेते सह शयानेन गच्छन्तमनुगच्छति ।
नराणां प्राक्तनं कर्म तिष्ठेदथ सहात्मना ॥ १३१ ॥
यथा छायातपौ नित्यं सुसबद्धौ परस्परम् ।
एवं कर्म च कर्ता च संश्लिष्टावितरेतरम् ॥ १३२ ॥

'तस्मादत्रैव व्यवसायपरो भव ।' कौलिक आह—'प्रिये, न सम्यगभिहितं भवत्या । व्यवसायं बिना कर्म न फलति । उक्तं च—

यथेति । धेनुसहस्रेषु मध्ये, अत्र निर्द्धारणे सप्तमी, वत्सः गोशावकः, यथा मातरं बिन्दति आश्रयति, बहुषु गोषु मध्ये अवस्थितां स्वमातरं परिचित्य तदन्तिकं गच्छति इत्यर्थः, तथा पुराकृतं प्राक्तनं, कर्म, कर्त्तारं तत्तत्कर्मणः फलभोक्तारम्; अनुगच्छति प्राप्नोति, स्वयमन्विष्य इति भावः ॥ १३० ॥

शेते इति । नराणां प्राक्तनं पूर्वकृतं, कर्म शयानेन, नरेण इति शेषः, सह शेते, गच्छन्तं नरम् अनुगच्छति; अथ आत्मना सह तिष्ठेत् स्थितिं करोति इत्यर्थः । दुस्त्यजमेतत् प्राक्तनं कर्म प्राणिभिरिति तात्पर्यम् ॥ १३१ ॥

यथेति । छायातपौ छाया प्रतिबिम्बम्, आतपः रौद्रं तौ, यथा नित्यं सततं, परस्परं सुसम्बद्धौ संयुक्तौ, तिष्ठते इति शेषः, यत्रैव आतपस्तत्रैव छायेति भावः, एवं तथा, कर्म च प्राक्तनमिति भावः, कर्त्ता च द्वावपीत्यर्थः, इतरेतरम् अन्योऽन्यं, संश्लिष्टौ सन्नद्धौ, जात्वपि नान्योऽन्यं जहीत इत्यर्थः; स्वकर्मफलभुक् समानिति भावः ॥ १३२ ॥

(१) व्यवसायपरः—उद्योगपरः, यत्नवान् इत्यर्थः । व्यसायं—यत्नम् ।

जिस प्रकार से बछड़ा हजारों गायों के बीच में अपनी माँ को पहचान लेता है उसी प्रकार पूर्व जन्म में किया हुआ कर्म अपने कर्ता का अनुसरण करता है ॥ १३० ॥

पूर्व जन्म में किया गया मनुष्यों का कर्म उनके सोने पर साथ साथ सोता और चलने पर साथ साथ चलता है । इस प्रकार वह सदा उनकी आत्मा के साथ लगा रहता है ॥ १३१ ॥

जैसे छाया और धूप नित्य ही परस्पर एक दूसरे से मिले हुए होते हैं वैसे ही कर्म और कर्ता भी एक दूसरे से बद्ध होते हैं ॥ १३२ ॥

अतः यहीं पर अपने व्यवसाय में लगे रहो । जुलाहे ने कहा—प्रिये, तुमने ठीक नहीं कहा । विना उद्यम के कर्म फल नहीं देता है । कहा भी गया है—

यथैकेन न हस्तेन तालिका संप्रपद्यते ।
तथोद्यमपरित्यक्तं न फलं कर्मणः स्मृतम् ।। १३३ ।।
पश्य कर्मवशात्प्राप्तं भोज्यकालेऽपि भोजनम् ।
हस्तोद्यमं बिना वक्त्रे प्रविशेन्न कथञ्चन ।। १३४ ।।

तथा च—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ।। १३५ ।।

फलति—सिध्यति ।

यथेति । यथा एकेन हस्तेन तालिका करतलशब्दः, न सम्प्रपद्यते, न निष्पद्यते न उत्पद्यते इत्यर्थः, तथा उद्यमपरित्यक्तं यत्नरूपसिद्धिकारणविवर्जितं, कर्मणः फलं न स्मृतं न कथितम् : पुरुषकारं विना एकेन दैवेनैव कर्म न सिध्यति इत्यर्थः ।। १३३ ।।

पश्येति । पश्य अवलोकय, कर्मवशात्, प्राक्तनादिति भावः, भोज्यकाले भोजनसमये, प्राप्तमपि उपस्थितमपि, भोजनं हस्तस्य उद्यमं चेष्टां, विना वक्त्रे मुखे, कथञ्चन न प्रविशेत्; पूर्वकर्मणा भोजनकाले भोजनमुपस्थातुमर्हति, किन्तु मुखविवरप्रवेशः प्रयत्नसाध्यः; अतः सर्वत्र सयत्नेन भवितव्यमिति भावः ।। १३४ ।।

उद्योगिनमिति । लक्ष्मीः श्रीः, उद्योगिनं प्रयत्नवन्तं, पुरुषसिंहं नरवरम्, उपैति प्राप्नोति, कापुरुषाः हि दैवं दैवमिति वदन्ति । दैवं निहत्य दूरीकृतम् आत्मशक्त्या पौरुषं यत्नं, कुरु, यत्ने कृते सति यदि न सिध्यति, कार्यमिति शेषः, तदा अत्र एतस्मिन् यत्ने, कोऽपि दोषः, वर्त्तते इति शेषः; यत्नापि सिध्यभावस्य दर्शनात् सम्यक् यत्नो न भूतः, इति मन्तव्यमिति भावः ।। १३५ ।।

जिस प्रकार एक ही हाथ से ताली नहीं बजती है । वैसे ही उसी प्रकार उद्यम से रहित कर्म भी फल देने वाला नहीं होता है ।। १३३ ।।

देखो—पूर्वजन्म के कर्मानुसार प्राप्त भोजन भी भोजन करते समय हाथ की चेष्टा के विना किसी प्रकार भी मुख में नहीं जा सकता है ।। १३४ ।।

और भी—पुरुषों में सिंह जैसे पराक्रमी उद्योगी पुरुष को लक्ष्मी प्राप्त होती है किन्तु कायर पुरुष भाग्य, भाग्य की रट लगाए रहते हैं । अतः भाग्य को छोड़कर अपनी शक्ति के अनुसार पौरुष करो और यदि प्रयत्न करने पर भी कार्य सिद्धि न हो तो देखो कि मेरे प्रयत्न में कहाँ दोष रह गया है ।। १३५ ।।

तथा च—

उद्यमेन हि सिद्धयन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सिंहस्य सुप्तस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥ १३६ ॥

उद्यमेन विना राजन्न सिद्ध्यन्ति मनोरथाः।
कातरा इति जल्पन्ति यद्भाव्यं तद्भविष्यति॥ १३७ ॥

स्वशक्त्या कुर्वतः कर्म न चेत्सिद्धिं प्रयच्छति।
नोपालभ्यः पुमांस्तत्र दैवान्तरितपौरुषः॥ १३८ ॥

तन्मयाऽवश्यं देशान्तरं गन्तव्यम्।' इति निश्चित्य वर्धमानपुरं

उद्यमेनेति। कार्य्याणि उद्यमेन हि यत्नेनैव, सिध्यन्ति फलन्ति मनोरथैः सङ्कल्पैः, अभिलाषमात्रैरित्यर्थः, न सिध्यन्तीत्यनुषङ्गः; तथा हि, सुप्तस्य निद्रितस्य, सिंहस्य मुखे मृगाः न हि प्रविशन्ति; तदा तस्य यत्नाभावादिति भावः; अत्र विशेषेण सामान्यसमर्थनादर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः॥ १३६ ॥

उद्यमेनेति। हे राजन्! उद्यमेन यत्नेन, विना मनोरथाः अभिलाषाः, न सिध्यन्ति; कातराः अलसाः जनाः इति शेषः, यत् भाव्यं तत् भविष्यतीति जल्पन्ति कथयन्ति; न श्रद्धेयं तेषां वाक्यमिति भावः॥ १३७ ॥

स्वशक्त्येति। स्वशक्त्या निजसामर्थ्येन, कुर्वतः कार्य्यं सम्पादयतः, जनस्य इति शेषः, कर्म चेत् यदि, सिद्धिं साफल्यं, न प्रयच्छति न विदधाति, न सफलं भवतीत्यर्थः, तदा तत्र असिद्धौ, पुमान् न उपालभ्यः न तिरस्कार्य्यः, "उपात् प्रशंसायाम्" (पा० सू० ७।१।६६) इति सूत्रेण उपपूर्वकात् लभधातोः यकारादिप्रत्ययविषये प्रशंसायां गम्यमानायामेव नुमागमः; अत्र तु निन्दाऽर्थकत्वात् न नुमिति वेदितव्यम्, यतः सः दैवेन अन्तरितं व्याहतं, पौरुषं प्रयत्नः यस्य तथाभूतः; दैवविघ्निते पुरुषदोषानवकाशात् न कोऽपि भवति निन्दास्पदमिति भावः॥ १३८ ॥

कार्य केवल अभिलाषा करने से नहीं प्रत्युत उद्यम करने से सिद्ध होते हैं। सोते हुए सिंह के मुख में पशु स्वयं नहीं चले जाते हैं (प्रत्युत सिंह को उद्यम करके उन्हें मारकर खाना पड़ता है)॥ १३६ ॥

हे राजन् उद्यम के बिना अभिलाषाएँ कभी भी पूरी नहीं होती हैं। कायर पुरुष ही कहा करते हैं कि जो होने वाला होगा वह होगा ही॥ १३७ ॥

अपनी शक्ति के अनुसार कर्म करने पर भी यदि (पौरुष) सिद्धि (कर्म-फल) नहीं देता तो इसमें भाग्य द्वारा नष्ट किए गए पौरुष वाले मनुष्य की निन्दा नहीं करनी चाहिए॥ १३८ ॥

इसलिए मैं अवश्य दूसरे देश में जाऊँगा। ऐसा निश्चय कर वह बर्धमानपुर

गतः। तत्र च वर्षत्रयं स्थित्वा सुवर्णशतत्रयोपार्जनं कृत्वा भूयः स्वगृहं प्रस्थितः।

अथार्धपथे गच्छतस्तस्य कदाचिदटव्यां पर्यटतो भगवान् रविरस्तमुपागतः। तदासौ व्यालभयात्स्थूलतरवटस्कन्धमारुह्य यावत्प्रसुप्तस्तावन्निशीथे स्वप्ने द्वौ पुरुषौ रौद्राकारौ परस्परं प्रजल्पन्तावश्रृणोत्। तत्रैक आह—'भोः कर्तः, त्वं किं सम्यङ्न वेत्सि यदस्य सोमिलकस्य भोजनाच्छादनाभ्यधिका समृद्धिर्नास्ति। तत्किं त्वयास्य सुवर्णशतत्रयं प्रदत्तम्?' स आह—'भोः कर्मन्, मयावश्यं दातव्यं व्यवसायिनाम्। तत्र च तस्य परिणतिस्त्वदायत्ता' इति।

अथ यावदसौ कौलिकः प्रबुद्धः सुवर्णग्रन्थिमवलोकयति तावद्रिक्तं

---

(१) पर्य्यटतः—विचरतः। व्यालभयात्- हिंस्रभयात्। स्थूलतरवटस्कन्धं—पीनतरवटवृक्षकाण्डम्। निशीथे—अर्द्धरात्रे। रौद्राकारौ—भीषणाकृती। कर्त्तः! प्रभो! कर्मफलदातः! इत्यर्थः भोजनाच्छादनाभ्यधिका—अन्नवस्त्रातिरिक्ता, समृद्धिः—सम्पत्, नास्ति, भाग्येति शेषः।

(२) व्यवसायिनाम्—उद्योगिनाम्, अत्र सम्प्रदाने सम्बन्धविवक्षया षष्ठी। तस्य—वस्त्रस्येत्यर्थः, परिणतिः—परिणामः, स्थितिरिति यावत्। त्वदायत्ता—तवाधीना।

(३) प्रबुद्धः—जागरितः। सुवर्णग्रन्थि—सुवर्णमुद्राणां वसनप्रान्तेन बन्धनं, सुवर्णसनाथं सुदृढनिबध्नितं वस्त्राञ्चलमिति यावत्। रिक्तं—शून्यम्।

गया। वहाँ तीन वर्ष रहकर तीन सौ सोने की मुहरें कमा करके फिर उसने अपने स्थान को प्रस्थान किया। अभी उसका आधा ही रास्ता तै हुआ था कि किसी जंगल में घूमते घामते भगवान् सूर्य अस्त हो गए। तब वह हिंसक जानवरों के भय से वट वृक्ष की एक मोटी डाली पर चढ़कर सो गया। उसने आधी रात के समय स्वप्न में भयंकर आकृति वाले दो पुरुषों को परस्पर बात-चीत करते सुना। उसमें से एक ने कहा—हे कर्ता क्या तुम यह बात अच्छी तरह नहीं जानते हो कि इस सोमलिक के भाग्य में भोजन-वस्त्र से अधिक सम्पत्ति नहीं है। फिर क्यों तुमने इसे तीन सौ स्वर्ण मुद्राएँ दे दीं। उसने कहा—हे कर्म; मैं उद्यमी पुरुषों को अवश्य ही दूँगा। वैसे उसके पास उसका स्थिर रहना तुम्हारे वश में है।

इसके पश्चात् जब उस जुलाहे ने जागकर सोने के सिक्के वाली टहनी

पश्यति । ततः साक्षेपं चिन्तयामास—'अहो. किमेतत्? महता कष्टेनोपार्जितं वित्तं हेलया क्वापि गतम्? तद्व्यर्थश्रमोऽकिंचनः कथं स्वपत्न्या मित्राणां च मुखं दर्शयिष्यामि ।' इति विचिन्त्य पुनरपि तदेव पत्तनं गतः । तत्र च वर्षमात्रेणापि सुवर्णशतपञ्चकमुपार्ज्य भूऽयोपि स्वस्थानं प्रति प्रस्थितः । यावदर्धपथे भूयोऽटवीगतस्य भगवान्भानुरस्तं जगाम ।

अथ सुवर्णनाशभयात्सुश्रान्तोऽपि न विश्राम्यति । केवलं कृतगृहोत्कण्ठः सत्वरं व्रजति । अत्रान्तरे द्वौ पुरुषौ तादृशौ दृष्टिदेशे समागच्छन्तौ जल्पन्तौ चाश्रृणोत् । तत्रैकः प्राह—'भोः कर्तः, किं त्वयैतस्य सुवर्णशतपञ्चकं प्रदत्तम्? तत्किं न वेत्सि, यद्भोजनाच्छादनाभ्यधिकमस्य किंचिन्नास्ति?' स आह—'भोः कर्मन्, मयावश्यं देयं व्यवसायिनाम् । तस्य परिणामस्त्वदायत्तः । तत्किं मामुपालम्भयसि ।' तच्छ्रुत्वा सोमिलको यावद् ग्रन्थि-

---

साक्षेपं—सखेदम् । हेलया—अवज्ञया, अतर्कितभावेनेत्यर्थः । अकिञ्चनः—निर्धनः । नास्य किञ्चिदस्तीत्यकिञ्चनः । मयूरव्यंसकादिवत् समासः । पत्तनं—नगरं । वर्षमात्रेणापि—एकवर्षेणैव, अपवर्गे तृतीया ।

(१) कृतगृहोत्कण्ठः—गृहं प्रति उत्कण्ठितः इत्यर्थः ।

(२) उपालम्भयसि—तिरस्करोषि, उपपूर्वकात् लभधातोः स्वार्थे णिचि नुमागमः

देखी तो उसे खाली पाया । तब उसने भाग्य को दोषी ठहराते हुए विचार किया कि यह क्या हो गया जो इतने बड़े कष्ट से कमाया हुआ सारा सोना इतनी आसानी से चला गया मेरा सारा प्रयत्न बेकार हो गया । मैं निर्धन बन गया, फिर अपनी पत्नी और मित्रों के सामने कैसे मुँह दिखाऊँगा । ऐसा निश्चय करके वह फिर उसी नगर में गया और वहाँ एक वर्ष में ही पाँच सौ स्वर्ण-मुद्राएँ कमाकर फिर अपने घर को चल पड़ा । ज्योंही आधे रास्ते में जंगल में पहुँचा त्योंही सूर्य अस्त हो गए ।

सोने के नष्ट हो जाने के डर से अत्यन्त थका हुआ होने पर भी उसने विश्राम नहीं किया । केवल घर पहुँचने की उत्सुकता से जल्दी जल्दी चलने में लगा रहा । इसी बीच वैसे ही (पहले जैसे ही) दो पुरुष आते हुए उसे दिखाइ पड़े और उसने उन्हें परस्पर बात-चीत करते सुना । उसमें से एक ने कहा—"हे कर्ता, तुमने इसे पाँच सौ सोने के सिक्के क्यों दे दिए? क्या तुम नहीं जानते हो कि भोजन-वस्त्र से अधिक इसके भाग्य में कुछ नहीं है?" उसने कहा—हे कर्म मैं उद्योगियों को अवश्य दूँगा । उनका उसके पास टिकना या न टिकना तुम्हारे अधीन है । फिर क्यों मुझे

मवलोकयति तावत्सुवर्णं नास्ति। ततः परं दुःखमापन्नो व्यचिन्तयत्—'अहो, किं मम धनरहितस्य जीवितेन? तदत्र वटवृक्ष आत्मानमुद्बध्य प्राणांस्त्यजामि।' एवं निश्चित्य दर्भमयीं रज्जुं विधाय स्वकण्ठे पाशं नियोज्य शाखायामात्मानं निबध्य यावत्प्रक्षिपति, तावदेकः पुमानाकाशस्थः एवेदमाह—'भो भोः सोमिलक, मैवं साहसं कुरु। अहं ते वित्तापहारकः। न ते भोजनाच्छादनाभ्यधिकां वराटिकामपि सहामि। तद्गच्छ स्वगृहं प्रति। अन्यच्च भवदीयसाहसेनाहं तुष्टः। तथा मे न स्याद्व्यर्थं दर्शनम्। तत्प्रार्थ्यतामभीष्टो वरः कश्चित्।' सोमिलक आह—'यद्येवं तद्देहि मे प्रभूतं धनम्।' स आह—'भोः, किं करिष्यसि भोगरहितेन धनेन? यतस्तव भोजनाच्छादनाभ्यधिका प्राप्तिरपि नास्ति। उक्तं च—

"लभेश्च" (पा०सू० ७।१।६४) इति सूत्रात्, उपालभसे इति तु अणिजन्तप्रयोग एवात्र समीचीनम्। दर्भमयीं—कुशमयीम्, दर्भनिर्मितामिति "मयड्वैतयोः" (पा० सू० ४।३।१४३) इति सूत्रात् अवयवार्थे मयट्। साहसं—हठकारिताम्। वित्तापहारकः—धनहर्ता। वराटिकामपि—कपर्दकमपि, न सहामि—मर्षयितुं न शक्नोमीत्यर्थः, सहधातोः वैकल्पिकचौरादिकस्य शक्त्यर्थकस्य रूपमेतत्, 'साहयति' 'सहति' च लटि रूपद्वयं वेदितव्यम्।

दोषी ठहराते हो? यह सुनकर सोमिलक ने जब अपनी गाँठ देखी तो उसमें देखा कि सोना नहीं है। तब अत्यन्त दुःखी होकर विचार किया—मुझ धनहीन के जीने से क्या लाभ? इसलिए इस वट वृक्ष में अपने को बाँधकर लटका करके प्राण त्याग कर देता हूँ। ऐसा निश्चय करके कुश की रस्सी बनाकर अपने गले में फंदा डालकर और डाली में अपने को बाँधकर ज्योंही लटकना चाहा कि त्योंही आकाश में ही स्थित एक पुरुष ने इस प्रकार कहा—"अरे सोमिलक, ऐसा साहस मत करो। तुम्हारा धन लूट लेने वाला मैं हूँ। भोजन और वस्त्र से अधिक एक कौड़ी का भी तुम्हारे पास रहना मैं सहन नहीं कर सकता हूँ। इस लिए अब अपने घर चले जाओ। इसके अतिरिक्त मैं तुम्हारे साहस से प्रसन्न हूँ; तथा मेरा दर्शन व्यर्थ नहीं हो सकता। इसलिए अपना कोई इच्छित वर माँगो।" सोमिलक ने कहा—'यदि ऐसी बात है तो मुझे बहुत अधिक धन दो।' उसने कहा—भोग रहित धन लेकर क्या करोगे? क्योंकि भोजन-वस्त्र से अधिक तो तुम्हें प्राप्त ही नहीं होगा। कहा भी गया है—

किं तया क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिव केवला ? ।
या न वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते ? ।। १३९ ।।

सोमिलक आह—'यद्यपि तस्य धनस्य भोगो नास्ति, तथापि तद्भवतु । उक्तं च—

कृपणोऽप्यकुलीनोऽपि सज्जनैर्वर्जितः सदा ।
सेव्यते स नरो लोके यस्य स्याद्वित्तसञ्चयः ।। १४० ।।

तथा च—

शिथिलौ च सुबद्धौ च पततः पतितो न वा ।
निरीक्षितौ मया भद्रे दश वर्षाणि पञ्च च ।। १४१ ।।

किमिति । या लक्ष्मीः, केवला वधूरिव स्नुषेव, पुत्रवधूरिवेत्यर्थः, केवल पुत्रस्यैव भोग्या न आत्मनः इति भावः, या च लक्ष्मीः, सामान्या साधारणी, वेश्येव कुलटेव, पथिकैः सर्वसाधारणैरित्यर्थः, उपभुज्यते, न तु स्वयमित्यर्थः, तया लक्ष्म्या सम्पदा, किं क्रियते ? न किमपि प्रयोजनं तत्र, पुत्रस्यैव भोगार्हा भवतु अन्येषां वा, या नात्मभोगसाधिका, सा नैव काम्या इति भावः ।। १३९ ।।

कृपण इति । यस्य वित्तसञ्चयः धनसङ्ग्रहः, सञ्चितं धनमिति यावत्, स्यात्, सः नरः कृपणः व्ययवर्जितः, अकुलीनः असत्कुलप्रसूतः, तथा सज्जनैः वर्जितः परित्यक्तोऽपि, सदा लोके संसारे, सेव्यते पूज्यते, लोकैरिति शेषः, धनस्यैव मानहेतुत्वादिति भावः ।। १४० ।।

शिथिलाविति । हे भद्रे ! मया दश पञ्च च वर्षाणि पञ्चदशवत्सरान् व्याप्य; अत्र कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" (पा० सू० २।३।५) इति द्वितीया, शिथिलौ च लम्बमानौ चेत्यर्थः, सुबद्धौ दृढसंश्लिष्टौ च, पततः न वा पततः, वृषणाविति शेषः,

---

उस लक्ष्मी से क्या लाभ जो केवल पत्नी की तरह अपने ही उपभोग की वस्तु हो और जो साभान्य वेश्या के समान सभी पथिकों के उपभोग में न आ सके ? ।। १३९ ।।

सोमिलक ने कहा—'यद्यपि उस धन का मेरे लिए भोग नहीं है फिर भी वह मेरे पास होवे । कहा भी गया है—

जिस पुरुष के पास धन संचित रहता है, वह कंजूस तथा नीच वंश में उत्पन्न एवं सज्जनों द्वारा छोड़ा हुआ भी क्यों न हो किन्तु वह पुरुष संसार में सेवा करने योग्य होता है ।। १४० ।।

और भी—ये गिरते हैं या नहीं—इस प्रतीक्षा में मैं इन लटकते हुए तथा दृढ़ता से बँधे हुए वृषणों को निरन्तर पन्द्रह वर्षों तक देखता

पुरुष आह —'किमेतत् ?' सोऽब्रवीत् —

६ : वृषभानुगशृगाल—कथा

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने तीक्ष्णविषाणो नाम महावृषभः प्रतिवसति स्म। स च मदातिरेकात्परित्यक्तनिजयूथः शृङ्गाभ्यां नदीतटानि विदारयन्स्वेच्छया मरकतसदृशानि शष्पाणि भक्षयन्नरण्यचरो बभूव।

अथ तत्रैव वने प्रलोभको नाम शृगालः प्रतिवसति स्म। स कदाचित्स्वभार्यया सह नदीतीरे सुखोपविष्टस्तिष्ठति। अत्रान्तरे स तीक्ष्णविषाणो जलार्थं तदेव पुलिनमवतीर्णः। ततश्च तस्य लम्बमानौ वृषणाववलोक्य शृगाल्या शृगालोऽभिहितः—'स्वामिन्, पश्यास्य वृषभस्य मांसपिण्डौ लम्बमानौ यथा स्थितौ। तदेतौ क्षणेन प्रहरेण वा पतिष्यतः। एवं ज्ञात्वा भवता पृष्ठानुयायिना भाव्यम्।' शृगाल आह— प्रिये, न ज्ञायते कदाचि-

---

निरीक्षितौ दृष्टौ, चाञ्चल्यात् पतनसन्देहास्पदीभूततया इति भावः, तात्पर्यमस्य परतः स्फुटीभविष्यति ॥ १४१ ॥

[६]

(१) तीक्ष्णविषाणः— निशिताग्रशृङ्गः। मदातिरेकात्—गर्वाधिक्यात्। मरकतसदृशानि — हरिद्वर्णमणिविशेषतुल्यानि, श्यामलानि इत्यर्थः। शष्पाणि—तृणानि।
(२) पुलिनं—तोयोत्थितं तटम्। वृषणौ—अण्डकोषौ। पृष्ठानु-

रहा ॥ १४१ ॥

पुरुष ने कहा—'यह कैसे ?' उसने कहा —

बैल के अनुगामी सियार की कथा

किसी स्थान पर तीक्ष्ण विषाण (नुकीली सींगो वाला) नाम का एक बहुत बड़ा बैल रहता था। वह अपने बल के अभिमान से अपने झुण्ड से अलग होकर सींगों से नदी के किनारों को गिराते हुए स्वेच्छापूर्वक मरकत मणि जैसी हरी-हरी घासों को खाता हुआ जंगल में ही रहने लगा।

उसी जंगल में प्रलोभक नाम का एक सियार रहता था। किसी समय वह अपनी पत्नी के साथ नदी के किनारे सुखपूर्वक बैठा हुआ था। इसी बीच वह तीक्ष्णविषाण जल पीने के लिए उसी बालूदार किनारे पर उतरा तब उसके लटकते हुए अण्डकोशों को देखकर शृगाली ने शृगाल से कहा—'स्वामी, देखो, इस बैल के ये दोनों मांसपिण्ड लटक रहे हैं। क्षण भर में या पहर भर में गिरेंगे ऐसा समझकर इसके पीछे

देतयोः पतनं भविष्यति वा न वा। तत्किं वृथा श्रमाय मां नियोजयसि? अत्रस्थस्तावज्जलार्थमागतान्मूषकान्भक्षयिष्यामि समं त्वया, मार्गोऽयं यतस्तेषाम्। अपरं यदि त्वां मुक्त्वास्य तीक्ष्णविषाणस्य वृषभस्य पृष्ठे गमिष्यामि, तदागत्यान्यः कश्चिदेतत्स्थानं समाश्रयिष्यति। नैतद्युज्यते कर्तुम्। उक्तं च—

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव च'॥ १४२॥

शृगाल्याह—'भोः, कापुरुषस्त्वम्। यत्किञ्चित्प्राप्तं तेनापि सन्तोषं करोषि। उक्तं च—

सुपूरा स्यात्कुनदिका सुपूरो मूषिकाञ्जलिः।
ससन्तुष्टः कापुरुषः स्वल्पकेनापि तुष्यति॥ १४३॥

यायिना—पश्चाद्गामिना, अनुसरणपरेण इत्यर्थः। समं—सह। यतः—यस्मात् हेतोः, तेषां—मूषकाणाम्; अयं मार्गः—पन्थाः। मुक्त्वा—विहाय।

य इति। यो जनः, ध्रुवाणि निश्चितानि; परित्यज्य त्यक्त्वा, अध्रुवाणि अनिश्चितानि, निषेवते आश्रयति, तस्य ध्रुवाणि नश्यन्ति, अध्रुवञ्च अनिश्चितं पुनः, नष्टमेव पूर्वमेव नष्टमित्यर्थः; "नासमीक्ष्य परं स्थानं पूर्वमायतनं त्यजेत्" इति भावः॥ १४२॥

सुपूरेति। कुनदिका क्षुद्रा नदी, सुपूरा अल्पेनैव पूरणीया, स्यात्; मूषिकस्य

पड़ जाइए। शृगाल ने कहा—प्रिये, मालूम नहीं कि ये कभी गिरेंगे भी या नहीं। इसलिए व्यर्थ मुझे इस परिश्रम में क्यों लगा रही हो? यहीं रहकर जल पीने के लिए आने वाले चूहों को तुम्हारे साथ खाऊँगा; क्योंकि यहीं उनके आने का रास्ता है। इसके अतिरिक्त यदि तुम्हें छोड़कर तीक्ष्णविषाण बैल के पीछे चला जाऊँगा तो दूसरा कोई आकर इस स्थान को अपने अधीन कर लेगा। अतः ऐसा करना उचित नहीं है। कहा भी गया है—

जो व्यक्ति निश्चित रूप से प्राप्त होने वाली वस्तुओं को छोड़कर अनिश्चित वस्तुओं के पीछे दौड़ता है उसकी निश्चित वस्तुएँ भी नष्ट हो जाती हैं अर्थात् वह भी हाथ में आकर भी निकल जाती हैं और अनिश्चित तो नष्ट है ही अर्थात् उसके मिलने की संभावना ही नहीं है॥ १४२॥

शृगाली ने कहा—अरे तुम तो कायर हो जो कि थोड़ी बहुत मिली हुई वस्तु पर ही संतोष कर रहे हो। कहा भी गया है—

जैसे छोटी नदी थोड़े से जल से ही भर जाती है तथा मूषक की अंजुली थोड़े

तस्मात्पुरुषेण सदैवोत्साहवता भाव्यम् । उक्तं च—

यत्रोत्साहसमारम्भो यत्रालस्यविहीनता ।
नयविक्रमसंयोगस्तत्र श्रीरचला ध्रुवम् ॥ १४४ ॥

तद्दैवमिति सञ्चिन्त्य त्यजेन्नोद्योगमात्मनः ।
अनुयोगं विना तैलं तिलनां नोपजायते ॥ १४५ ॥

अञ्जलिः अतिक्षुद्र इति भावः, सुपूरः अल्पेनैव पूर्य्यः, सर्वत्र सुपूरशब्दे कर्मणि खल्-प्रत्ययः तथा सुसन्तुष्टः स्वावस्थायामेव परितुष्टः इत्यर्थः, कापुरुषः "कुगति—" (पा०सू० २।२।१८) इति नित्यसमासः, ततश्च "विभाषा—" (पा०सू० ६।३।१०६) इति कुशब्दस्य 'का' आदेशे कापुरुषः कुपुरुष इति, अधमो नरः, स्वल्पकेनापि, वस्तुनेति शेषः, तुष्यति, उत्तमस्तु न तथा इति भावः ॥ १४३ ॥

यत्रेति । तत्र उत्साहेन समारम्भः सम्यक् उद्योगः, "आरम्भस्तु त्वरायां स्यादुद्यमे वधदर्पयोः" इति मेदिनी यत्र आलस्यविहीनता अनालस्यं, श्रमशीलता इत्यर्थः, तथा नयविक्रमयोः नीतिपुरुषकारयोः, संयोगः समावेशः, तत्र श्रीः सम्पत्, ध्रुवं निश्चितम्, अचला स्थिरा सती, तिष्ठतीति शेषः, पौरुषपक्षपातिन्यः सम्पद इति हृदयम् ॥ १४४ ॥

तदिति । तत् तस्मात्, उत्साहसमारम्भादौ श्रिया अचलत्वेनावस्थानादित्यर्थः, यद्वा—तत् प्रसिद्धम् इत्यर्थः, दैवम् अप्रतिसमाधेयमिति भावः, इति सञ्चिन्त्य आत्मनः उद्योगं पुरुषकारं, न त्यजेत्, तथा हि, अनुयोगं पीडनयन्त्रेण सह योगं, पुरुषव्यापारमिति यावत्; विना पीडनादृते इति भावः, तिलानां तैलं न उपजायते न वहिः प्रकटीभवतीत्यर्थः, पौरुषादेव कार्य्यसिद्धिः भवतीति भावः ॥ १४५ ॥

से पदार्थ से ही परिपूर्ण हो जाती है उसी प्रकार कायर पुरुष भी बहुत थोड़ी सी वस्तु से ही संतुष्ट होकर प्रसन्न हो जाता है ॥ १४३ ॥

अतः पुरुष को सर्वदा उत्साहवान् होना चाहिए । कहा गया है—

जहाँ उत्साह के साथ कार्य किया जाता है, जिसके करने में आलस्य का नाम मात्र भी नहीं होता तथा जहाँ नीति और पौरुष दोनों का संयोग होता है वहीं लक्ष्मी अचल होकर निवास करती है ॥ १४४ ॥

यह तो भाग्य है (यह सभी भाग्य का खेल है)—ऐसा सोच कर मनुष्य को अपना उद्योग नहीं छोड़ बैठना चाहिए। उद्योग (तिल को कोल्हू में डाल कर पेरवाने) के बिना तिलों से तेल नहीं निकल सकता है ॥ १४५ ॥

अन्यच्च—

य: स्तोकेनापि सन्तोषं कुरुते मन्दधीर्जनः।
तस्य भाग्यविहीनस्य दत्ता श्रीरपि माज्यंते ॥ १४६ ॥

यच्च त्वं वदसि, एतौ पतिष्यतो न वेति, तदप्ययुक्तम्। उक्तं च—

कृतनिश्चयिनो वन्द्यो तुङ्गिमा न प्रशस्यते।
चातकः को वराकोऽयं यस्येन्द्रो वारिवाहकः ॥ १४७ ॥

य इति। यः मन्दधीः मूढमतिः, जनः स्तोकेनापि अल्पेनैव, सन्तोषं कुरुते सन्तुष्टो भवति इत्यर्थः, भाग्यविहीनस्य मन्दभाग्यस्य, तस्य दत्ताऽपि, केनचिदिति शेषः, श्रीः सम्पत्, मार्ज्यते शोध्यते, तादृशकापुरुषसमीपे अवस्थानजनितलोकवाद-परिहारार्थं तस्मात् पलाय्य आत्मा निर्दोषीक्रियते इत्यर्थः; स्वयमेवेति शेषः।

"सम्पदा सुस्थिरं मन्यो भवति स्वल्पयाऽपि यः।

कृतकृत्यो विधिर्मन्ये न वर्द्धयति तस्य ताम्॥" इति भावः।

चौरादिकस्य मार्जधातोः णिजन्तस्य मृजिधातोर्वा रूपमेतत् ॥ १४६ ॥

कृतेति। कृतनिश्चयिनः "न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेदर्थप्रतिपत्ति-करः" इति नियमात् कृतनिश्चयिनः इति पदस्य असाधुत्वेऽपि एतन्नियमस्यासार्व-त्रिकत्वस्वीकारात् कथञ्चित् समाधेयम्। कार्यसिद्धौ दृढसङ्कल्पस्य इत्यर्थः, वन्द्यो वन्दनीयः, समादरणीयः इत्यर्थः, तुङ्गिमा तुङ्गशब्दात् भावे इमन्प्रत्ययः उच्चा-भिलाष इति यावत्, नः अस्माकं, प्रशस्यते प्रशंसनीयो भवति, "प्रशस्यते" इति कर्मकर्त्तरि प्रयोगः, "नः" इति सम्बन्धविवक्षायां षष्ठी; तथा हि, वराकः दीनः; अयं चातकः कः? यस्य चातकस्य, कृतनिश्चयस्येति भावः। इन्द्रः देवराजः; वारिवाहकः जलदाता; चातकः अतिक्षुद्रोऽपि कार्यं साधयामीति कृतनिश्चयः सन् जलार्थं देवराजं प्रार्थयते, तेन च देवराजोऽपि तस्य मनोरथं पूरयतीति भावः ॥ १४७ ॥

और भी—जो मन्द बुद्धि वाला व्यक्ति थोड़े में ही संतोष कर लेता है, उसे भाग्य हीन पुरुष के हाथ में आई हुई सम्पत्ति भी नष्ट हो जाती है ॥ १४६ ॥

और जो तुम कहते हो कि ये गिरेंगे या नहीं यह भी उपयुक्त नहीं है। कहा भी गया है—

बहुत बड़ा पद प्रशंसनीय नहीं होता अपितु अपने निश्चय पर दृढ़ रहने वाले पुरुष ही प्रशंसा के पात्र बनते हैं। उस चातक की हस्ती ही क्या है? किन्तु उसके दृढ़ निश्चय को ही देखकर इन्द्र भी उसके लिए जलदाता बनता है ॥ १४७ ॥

अपरं मूषकमांसस्य निर्विण्णाहम्। एतौ च मांसपिण्डौ पतनप्रायौ दृश्येते। तत्सर्वथा नान्यथा कर्तव्यम्' इति।

अथासौ तदाकर्ण्य मूषकप्राप्तिस्थानं परित्यज्य तीक्ष्णविषाणस्य पृष्ठमन्वगच्छत्। अथवा साध्विदमुच्यते—

तावत्स्यात्सर्वकृत्येषु पुरुषोऽत्र स्वयं प्रभुः।
स्त्रीवाक्याङ्कुशविक्षुण्णो यावन्नोद्ध्रियते बलात् ॥ १४८ ॥
अकृत्यं मन्यते कृत्यमगम्यं मन्यते सुगम्।
अभक्ष्यं मन्यते भक्ष्यं स्त्रीवाक्यप्रेरितो नरः ॥ १४९ ॥

---

(१) निर्विणा—विरक्ता, मूषकमांसभक्षणे न मम रुचिरस्तीति भावः।

तावदिति। अत्र संसारे, पुरुषः यावत् बलात् प्रसह्य, स्त्रीणां वाक्यमेव अङ्कुशः ताडनदण्डविशेषः, तेन विक्षुण्णः विताड़ितः, नो ध्रियते न तिष्ठति; तावत् सर्वेषु कृत्येषु कार्य्येषु, स्वयं प्रभुः स्वाधीनः; स्यात्; स्त्रीवशानां हि स्वाधीनता नश्यतीति भावः ॥ १४८ ॥

अकृत्यमिति। स्त्रीणां वाक्येन प्रेरितः नियुक्तः, चालितः इत्यर्थः, नरः अकृत्यम् अकार्यं, कृत्यं मन्यते, अगम्यं सुगं सुगमं, मन्यते, तथा अभक्ष्यं भक्ष्यं मन्यते; तथा च प्रतिकूलमपि सर्वम् अनुकूलमिव मन्यते स्त्रैण इति भावः।

"तावदेव प्रधानं स्यात् तावद्गुरुजने रतः।
पुरुषो योषितां यावन्नशृणोति वचो रहः॥"

इति मनूक्तिस्मरणात् स्त्रीवशता न समीचीना इति निष्कर्षः ॥ १४९ ॥

इसके अतिरिक्त चूहे के मांस के प्रति मेरी रुचि नहीं रह गई है। ये मांस पिण्ड अब गिरने ही वाले हैं। इस लिए अब तुम्हें और कुछ भी नहीं करना है।

इसके पश्चात् यह सुनकर वह मूषक मिलने की जगह छोड़कर तीक्ष्ण विषाण के पीछे पीछे रहने लगा। अथवा यह उचित ही कहा गया है—

इस लोक में पुरुष तभी तक सभी कामों के करने में स्वतन्त्र होता है जब तक कि बलपूर्वक स्त्री के वचनरूपी अंकुश से ताड़ित होकर रोक नहीं दिया जाता ॥ १४८ ॥

स्त्री के वाक्यों से प्रेरित होकर मनुष्य न करने योग्य कार्य को करने योग्य; अगम्य (कठिन कार्य) को सुगम (सरल) तथा न खाने योग्य पदार्थ को खाने योग्य समझ बैठता है ॥ १४९ ॥

एवं सः तस्य पृष्ठतः सभार्यः परिभ्रमंश्चिरकालमनयत्। न च तयोः पतनमभूत्। ततश्च निर्वेदात्पञ्चदशे वर्षे शृगालः स्वभार्यामाह—'शिथिलौ च सुबद्धौ च' इत्यादि।

तयोस्ततपश्चादपि पातो न भविष्यति। तत्तदेव स्वस्थानं गच्छावः' अतोऽहं ब्रवीमि—'शिथिलौ च सुबद्धौ च' इति।

[मन्दभाग्यसोमिलक कथा]

पुरुष आह—'यद्येव तद्गच्छ भूयोऽपि वर्द्धमानपुरम्। तत्र द्वौ वणिक्पुत्रौ वसतः। एको गुप्तधनः, द्वितीय उपभुक्तधनः। ततस्तयो स्वरूपं बुद्ध्वैकस्य वरः प्रार्थनीयः। यदि ते धनेन प्रयोजनमभक्षितेन, तत्त्वामपि गुप्तधनं करोमि। अथवा दत्तभोग्येन धनेन ते प्रयोजनं तदुपभुक्तधनं करोमि' इति। एवमुक्त्वाऽदर्शनं गतः।

---

(१) तस्य—वृषभस्य। पृष्ठतः—पश्चात्, अदादित्वात् सप्तम्यां तसिल्प्रत्ययः तयोः—वृषणयोः निर्वेदात्—खेदात्।

कृपणः धनं वितरतु न वा, तस्य पेटकाबद्धं धनं 'यदि कथमपि बहिः जायेत' इति धिया जनाः तं सेवन्ते, यथा शृगालौ सुबद्धावपि वृषभवृषणौ अचिरादेव पतिष्यमाणौ मत्वा दीर्घकालं तदनुसरणपरौ अभूताम् इति।

(२) गुप्तधनः—रक्षितधनः। उपभुक्तधनः—व्ययितधनः। स्वरूपं—धनभोगादिविषयकपरिचयम् इत्यर्थः। बुद्ध्वा—ज्ञात्वा। अभक्षितेन—भोगरहितेन। दत्तभोग्येन—दत्तं भोग्यं येन तादृशेन उपभोगार्हेण इत्यर्थः॥

इस प्रकार उसने पत्नी के साथ उसके पीछे पीछे घूमते हुए बहुत समय बिता दिया। किन्तु वे दोनों (मांसपिंड) गिरे नहीं। इसके पश्चात् पन्द्रहवें वर्ष में खिन्नता के साथ शृगाल ने अपनी पत्नी से कहा—लटकते हुए और अच्छी तरह बँधे हुए इत्यादि।

इसके बाद भी उन दोनों (अण्डकोशों) का पतन नहीं होगा। अतः अब हम दोनों अपने स्थान पर लौट चलें। इसीलिए मैं कहता हूँ कि 'लटकते हुए और अच्छी तरह बँधे हुए' इत्यादि।

पुरुष ने कहा—यदि ऐसी बात है तो फिर वर्धमानपुर जाओ। वहाँ बनिए के दो लड़के रहते हैं। एक गुप्त धन (उपभोग न करके धन को संचित रखने वाला) तथा दूसरा उपभुक्तधन (धन का उपभोग करने वाला) है। तुम उनका स्वरूप (रहन-सहन आदि) समझकर एक जैसा बनने का वर माँग लेना। यदि उपभोग रहित धन से तुम्हारा प्रयोजन होगा तो मैं तुम्हें भी गुप्त धन कर दूँगा। अथवा दान और भोग से युक्त धन से तुम्हारा प्रयोजन होगा तो तुम्हें उपभुक्त धन कर

सोमिलकोऽपि विस्मितमना भूयोऽपि वर्धमानपुरं गतः। अथ सन्ध्यासमये श्रान्तः कथमपि तत्पुरं प्राप्तो गुप्तधनगृहं पृच्छन्कृच्छाल्लब्ध्वास्तमितसूर्य प्रविष्टः।

अथासौ भार्यापुत्रसमेतेन गुप्तधनेन निर्भर्त्स्यमानो हठाद् गृहं प्रविश्योपविष्टः। ततश्च भोजनवेलायां तस्यापि भक्तिवर्जितं किञ्चिदशनं दत्तम्। ततश्च भुक्त्वा तत्रैव यावत्सुप्तो निशीथे पश्यति, तावत्तावपि द्वौ पुरुषौ परस्परं मन्त्रयतः। तत्रैक आह—'भोः कर्तः, किं त्वयास्य गुप्तधनस्यान्योऽधिको व्ययो निर्मितो यत् सोमिलकस्यानेन भोजनं दत्तम्? तदयुक्तं त्वया कृतम्।' स आह—'भोः कर्मन्, न ममात्र दोषः। मया पुरुषस्य लाभप्राप्तिर्दातव्या। तत्परिणतिः पुनस्त्वदायत्ता' इति।

अथासौ यावदुत्तिष्ठति, तावद्गुप्तधनो विषूचिकया खिद्यमानो रुजाभि-

---

(१) कृच्छ्रात्—कष्टेन। अस्तमितसूर्य्ये—अस्तमितः—अस्तङ्गतः सूर्य्यः तस्मिन् सूर्य्ये अस्तं गते, प्रदोषे इत्यर्थः।

(२) निर्भर्त्स्यमानः—तिरस्क्रियमाणः। भक्तिवर्जितम्—अनुरागविहीनम्, अनादरोपकल्पितमित्यर्थः, अशनं—भोजनम्। अन्य इत्यादि—स्वोदरपूरणमात्रव्ययादतिरिक्तः व्ययः, निर्मितः—कल्पितः, निर्द्धारित इत्यर्थः। सोमिलकस्य—सोमिलकाय इत्यर्थः, अत्र सम्प्रदाने सम्बन्धविवक्षया षष्ठी।

दूँगा। ऐसा कहकर वह (पुरुष) अदृश्य हो गया।

सोमिलक भी आश्चर्यचकित होकर फिर वह वर्धमानपुर गया। वह संध्या समय थका मांदा किसी प्रकार उस नगर में पहुँचा और गुप्त धन का घर पूछते पूछते बड़ी कठिनाई से पाकर सूर्यास्त हो जाने पर उसमें प्रवेश किया।

पत्नी तथा पुत्र सहित गुप्तधन के डाँटने फटकारने पर भी वह जबरदस्ती घर में घुसकर बैठ गया। भोजन के समय उसने अनादर के साथ उसे भी कुछ भोजन दिया। जब उसे खाकर वह सोया तो आधी रात के समय स्वप्न में देखा कि वही दोनों पुरुष आपस में बात-चीत कर रहे हैं। उसमें से एक ने कहा—हे कर्ता, तुमने आज गुप्तधन का (रोज से) अधिक खर्च क्यों करा दिया क्योंकि इसने सोमिलक को भोजन दिया है। यह तो तुमने अनुचित किया है। उस (दूसरे) ने कहा—हे कर्म, इसमें मेरा दोष नहीं है। मैं तो मनुष्य को लाभ की प्राप्ति करा देता हूँ किन्तु उसका क्या परिणाम होगा, यह तो तुम्हारे वश की बात हैं।

भूतः क्षणं तिष्ठति। ततो द्वितीयेऽह्नि तद्दोषेण कृतोपवासः सञ्जातः। सोमिलकोऽपि प्रभाते तद्गृहान्निष्क्रम्योपभुक्तधनगृहं गतः। तेनापि चाभ्युत्थानादिना सत्कृतो विहितभोजनाच्छादनसम्मानस्तस्यैव गृहे भव्यशय्यायामारुह्य सुष्वाप। ततश्च निशीथे यावत् पश्यति, तावत् तौ एव द्वौ पुरुषौ मिथो मन्त्रयतः। अथ तयोः एक आह—'भोः कर्तः, अनेन सोमिलकस्योपकारं कुर्वता प्रभूतो व्ययः कृतः। तत्कथय कथमस्योद्धारकविधिर्भविष्यति? अनेन सर्वमेतद्व्यवहारकगृहात्समानीतम्।' स आह—'भोः कर्मन्, मम कृत्यमेतत्, परिणतिस्त्वदायत्ता।' इति।

अथ प्रभातसमये राजपुरुषो राजप्रसादजं वित्तमादाय समायात

---

(१) असौ—सोमिलकः। उत्तिष्ठति—जागर्त्ति। विषूचिकया—व्याधिविशेषण। खिद्यमानः—पीड्यमानः।

(२) तद्दोषेण—तेन दोषेण, व्याधिनेति भावः; सोमिलकाय एकवारभोजनदानेन आत्मनस्तदंशस्य स्वल्पीभावात् एकदिनोपवासेन तत्पूरणं कृतं कर्मणेति भावः।

(३) विहितेति। विहितः—कृतः, भोजनाच्छादनाभ्यां सम्मानः—आदरः यस्य तथोक्तः। भव्यशय्यायां—योग्यशयनीये, उत्तमशय्यायामित्यर्थः; "भव्यं शुभे च सत्ये च योग्ये भाविनि च त्रिषु" इति मेदिनि।

(४) उद्धारकविधिः—परिशोधविधानं, व्ययितधनस्य पूरणमिति यावत्। एतत्—सोमिलकस्य परिचर्य्यार्थं द्रव्यम्। व्यवहारकगृहात्—व्यवसायिगृहादित्यर्थः; समानीतं—मूल्यमदत्त्वैव कालान्तरे दास्यामि इति प्रतिश्रुत्य सङ्गृहीतमित्यर्थः।

इसके बाद जब वह सोकर उठा तो उसने गुप्तधन को देखा कि वह विषूचिका रोग से पीड़ित और दुःखी होकर पड़ा है। तब दूसरे दिन इस रोग के कारण उसे उपवास करना पड़ा। (इस तरह कर्म द्वारा सोमिलक को दिए गए भोजन की कमी पूरी कर दी गई)। इसके बाद प्रातःकाल सोमिलक भी उसके घर से निकल कर उपभुक्तधन के घर गया। उसने भी अगवानी आदि से स्वागत किया और वह भोजन वस्त्र आदि से सम्मानित होकर उसी के घर मनोहर शैय्या पर सो गया। आधी रात के समय उसने देखा कि वही दोनों पुरुष आपस में बात-चीत कर रहे हैं। उनमें से एक ने कहा—हे कर्ता, इसने सोमिलक का स्वागत करने में बहुत अधिक खर्च किया है। तो बताओ कि यह कैसे पूरा होगा? इसने यह सब सामान महाजन के यहाँ से मँगाया है। उसने कहा—हे कर्म, मेरा कर्तव्य इतना ही है। आगे क्या होगा, यह तो तुम्हारे अधीन है।

उपभुक्तधनाय समर्पयामास। तद्दृष्ट्वा सोमिलकश्चिन्तयामास—'सञ्चय-रहितोऽपि वरमेष उपभुक्तधनः, नासौ कदर्यो गुप्तधनः। उक्तं च—

अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवित्तफलं श्रुतम्।
रतिपुत्रफला दारा दत्तभुक्तफलं धनम् ॥ १५० ॥

तद्विधाता मां दत्तभुक्तफलं करोतु। न कार्यं मे गुप्तधनेन। ततः सोमिलको दत्तभुक्तधनः सञ्जातः। अतोऽहं ब्रवीमि—'अर्थस्योपार्जनं कृत्वा' इति।

तद्भद्र हिरण्यक, एवं ज्ञात्वा धनविषये सन्तापो न कार्यः। अथ

---

(१) राजप्रसादजं—कुतोऽपि कारणात् राज्ञा पुरस्काररूपेणदत्तमित्यर्थः, आतिथ्यसत्काररूपकर्मफलभूतमिदं विधिप्रेरितमिति भावः।

अग्नीति। वेदाः अग्निहोत्रं तन्नामकयज्ञानुष्ठानं, मन्त्रकरणवदग्निस्थापनपूर्वक-होमादिकं वा, फलं प्रयोजनं येषां तादृशाः, साग्निकत्वमेव वेदाध्ययनफलमित्यर्थः; श्रुतं शास्त्रज्ञानं, शीलं सुचरित्रं वित्तं धनञ्च, फलं प्रयोजनं यस्य तादृशं, विद्वान् जनः सुशीलो भवति, सत्पात्रतया सम्पदश्च लभते इति भावः, दाराः दारशब्दस्तु पुंलिङ्गः नित्यबहुवचनान्तः स्त्रियः, रतिः सुरतं, पुत्रश्च, फलं येषां तादृशाः, पुत्रार्थं रत्यर्थं च क्रियते भार्येति भावः; धनं दत्तं दानं, भुक्तं भोगश्च, फलं यस्य तथाभूतं भवतीति शेषः, धनं भुज्यते दीयते चेति भावः; अन्यथा सर्वं निष्फलमिति तात्पर्यम् ॥ १५० ॥

प्रातःकाल एक राजपुरुष प्रसन्नता के कारण भेजे गए राजा के उपहार स्वरूप धन को लेकर आया और उसे उपभुक्त धन को समर्पित कर दिया। यह देख कर सोमिलक ने विचार किया—धन-संग्रह से रहित होने पर भी यह उपभुक्त धन ही श्रेष्ठ है न कि (कौड़ी कौड़ी जोड़ने वाला) वह कंजूस गुप्तधन। कहा भी गया है—

वेदों का फल अग्निहोत्र है, शास्त्र का फल शील तथा धन है, स्त्री का फल रति तथा पुत्र है और धन का फल दान तथा भोग है ॥ १५० ॥

इसलिए विधाता मुझे दत्तभुक्त फल (ऐसा धनी, जिसके धन का उपयोग दान और भोग में हो) करें। मुझे गुप्तधन (बनने) से कोई प्रयोजन नहीं है। इसके बाद सोमिलक दत्तभुक्तधन वाला बन गया। इसीलिए मैं कहता हूँ—'अर्थ का उपार्जन करके' इत्यादि।

इसलिए हे आर्य हिरण्यक, ऐसा जान कर तुम्हें धन के विषय में सन्ताप

विद्यमानमपि धनं भोज्यबन्ध्यतया तदविद्यमानं मन्तव्यम् । उक्तं च—

गृहमध्यनिखातेन धनेन धनिनो यदि ।
भवामः किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ? ॥ १५१ ॥
उपार्जितानामर्थानां त्याग एव हि रक्षणम् ।
तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम् ॥ १५२ ॥
दातव्यं भोक्तव्यं धनविषये सञ्चयो न कर्तव्यः ।
पश्येह मधुकरीणां सञ्चितमर्थं हरन्त्यन्ये ॥ १५३ ॥

---

(१) भोज्यबन्ध्यतया—भोगफलाभावेन, केवलं सञ्चयवासनया स्वेषां भोजनादिव्ययनिर्वाहेऽपि बद्धमुष्टितया इत्यर्थः ।

गृहेति । यदि; मानवाः इति कर्तृपदमत्र ऊहनीयम्; गृहमध्ये निखातेन भूतलप्रोथितेन इत्यर्थः; भोगसाधनानर्हेण इति हृदयं, धनेन धनिनः धनवन्तः; भवन्ति इति शेषः, तदा वयमपि तेनैव धनेन किं कथं; धनिनः न भवामः ? तत् धनं तेषाम् अस्माकञ्च एतदिति नास्ति विशेषः; भोगराहित्यमेवात्र नियामकमिति भावः ॥ १५१ ॥

उपार्जितानामिति । तडागोदरसंस्थानां सरोवरमध्यस्थितानाम्; अम्भसां जलानां; परीवाहः परिपूर्ववह्धातोः घञि रूपम् ; अत्र "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्" (पा०सू० ६।३।१२२) इति सूत्रेण उपसर्गस्य दीर्घता, इव जलोच्छ्वास इव, जलनिःसारणमिव इत्यर्थः; उपार्जितानाम् अर्थानां धनानां, त्यागः एव दानमेव, रक्षणं हि रक्षणोपायः; तन्नाशस्यावश्यम्भावित्वादिति भावः ॥ १५२ ॥

दातव्यमिति । धनविषये दातव्यं दानं कर्तव्यं, भोक्तव्यं भोगः कर्तव्यः, सञ्चयः सङ्ग्रहः, न कर्तव्यः; पश्य; इह संसारे, मधुकरीणां, मधुकराणामिति वा पाठः, मधु-

---

नहीं करना चाहिए । धन रहने पर भी जो धन भोग रहित हो उसको न रहने के समान ही समझना चाहिए । कहा भी गया है—

यदि घर में गड़े हुए धन से ही कोई धनी बने तो फिर उस धन से हमलोग धनी क्यों न होवें ॥ १५१ ॥

और भी—पैदा किए गए धन की रक्षा का उपाय त्याग ही है । जैसे तालाब में भरे हुए जल की रक्षा (सड़ने और गन्दे होने से बचाने का उपाय) परीवाह (नाली के द्वारा जल का निकलना) ही है ॥ १५२ ॥

धन का (कमा करके) दान और उपभोग ही करना चाहिए । उसे संचित नहीं करना चाहिए । देखो, मधुमक्खियों द्वारा संचित किया हुआ पदार्थ (मधु)

अन्यच्च—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥ १५४ ॥

एवं ज्ञात्वा विवेकिना न स्थित्यर्थं वित्तोपार्जनं कर्त्तव्यम्, यतो दुःखाय तत्। उक्तं च—

धनादिकेषु विद्यन्ते येऽत्र मूर्खा सुखाशया।
तप्तग्रीष्मेण सेवन्ते शैत्यार्थं ते हुताशनम् ॥ १५५ ॥

मक्षिकाणां, केवलसञ्चयशीलानामिति भावः, सञ्चितम् अर्थं मधुरूपं धनम्, अन्ये जनाः, हरन्ति; तथा च मधुकर्य्येव सदा केवलसञ्चयशीलेन न भवितव्यमिति भावः। आर्य्या वृत्तम् ॥ १५३ ॥

दानमिति। वित्तस्य धनस्य, दानं, भोगः, नाशश्च इति तिस्रो गतयः अवस्थाः, भवति; यो जनः, न ददाति, न भुङ्क्ते, तस्य धनस्य तृतीया गतिः नाशः इति भावः, भवति, धनानामिति शेषः। आर्या वृत्तम् ॥ १५४ ॥

धनादिकेष्विति। अत्र संसारे, ये मूर्खाः धनादिकेषु भोग्यवस्तुषु इत्यर्थः, सुखाशया स्वसुखमभिलष्य इत्यर्थः, विद्यन्ते तिष्ठन्ति, धनादिनैव सुखं भवति इति ये मन्यन्ते इत्यर्थः, ते तप्तग्रीष्मेण, उपलक्षणे तृतीया, उपलक्षिताः, आर्त्ता सन्तः इत्यर्थः; 'तप्ताग्रीष्मेण' इति पाठकल्पना साध्वी, शैत्यार्थं हुताशनम् अग्निं, सेवन्ते आश्रयन्ति; धनादिना सुखाशा ग्रीष्मार्तस्य अग्निसेवनमिवेति भावः। निदर्शनाऽलङ्कारः॥ १५५ ॥

दूसरे हरण कर लेते हैं (वह मधुमक्खी के किसी काम में नहीं आता है, वैसे ही संचित किया हुआ धन संचय करने वाले के काम में नहीं आता) ॥ १५३ ॥

और भी—दान, भोग और नाश—यह धन की तीन दशाएँ होती हैं। जो धन को न तो देता है और न भोग ही करता है, उसके धन की तीसरी दशा (नाश) होती है॥ १५४ ॥

ऐसा समझ कर विवेकी पुरुष को संचित करने के लिए धन का उपार्जन नहीं करना चाहिए। क्योंकि वह उसके दुःख के लिए ही होता है। कहा भी गया है—

जो अज्ञानी व्यक्ति धन आदि भोग्य पदार्थों में सुख पाने की आशा करते हैं वे ग्रीष्मऋतु की उष्णता से तप कर शीतलता प्राप्त करने के लिए अग्नि का सेवन ही करते हैं ॥ १५५ ॥

सर्पाः पिबन्ति पवनं न च दुर्बलास्ते
शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिनो भवन्ति ।
कन्दैः फलैर्मुनिवरा गमयन्ति कालं
सन्तोष एव पुरुषस्य परं निधानम् ।। १५६ ।।

संतोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ? ।। १५७ ।।

पीयूषमिव सन्तोषं पिबतां निर्वृतिः परा ।
दुःखं निरन्तरं पुंसामसन्तोषवतां पुनः ।। १५८ ।।

सर्पा इति । सर्पाः, पवनं वायुं, पिबन्ति, न च ते सर्पाः दुर्बलाः; वनगजाः शुष्कैः नीरसैः, तृणैः भक्षितैरिति भावः, बलिनः बलवन्तः, भवन्ति, मुनिवराः कन्दैः मूलविशेषैः, फलैश्च कालं गमयन्ति यापयन्ति, जीवन्तीति यावत् ; एते स्वल्पेनैव सन्तुष्टा इत्याशयः; तस्मात् सन्तोष एव यत्किञ्चिल्लाभेनापि आत्मतृप्तिरेव, दुराकाङ्क्षावर्जनमेवेति भावः, पुरुषस्य परं निधानं रत्नम्, आश्रयो वा । अत्र सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः । वसन्ततिलका वृत्तम् ।। १५६ ।।

सन्तोषेति । सन्तोष एव अमृतं, तेन तृप्तानां परितोषं गतानां , शान्तचेतसां शान्त, शम् धातोः णिचि निष्ठाप्रत्यये "वा दान्तशान्तेत्यादि–" (पा०सू० ७।२।२७) इत्यनेन निपातनात् सिद्धम्; पक्षे शमित इति रूपम्, चेतो येषां तथोक्तानां निःस्पृहचित्तानां, यत् सुखं, भवतीति शेषः, धनलुब्धानाम् अर्थगृध्नूनाम्, अत एव इतश्च इतश्च, इदम् शब्दात् सप्तम्यां तसिल्प्रत्ययः समन्तादित्यर्थः धावतां धनार्थं चेष्टमानानाम् इत्यर्थः, जनानामिति शेषः, तत् सुखं, कुतः ? कस्मात् ? भवति इति शेषः; नैव भवति इत्यर्थः; लोभपरित्याग एव सुखहेतुः सर्वेषाम् इति भावः ।।१५७।।

पीयूषमिवेति । पीयूषमिव अमृतमिव; सन्तोषं परितोषं, पिबतां सेवमानानां

साँप वायु पीते हैं किन्तु वे बलहीन नहीं होते हैं, जंगली हाथी सूखी घास खाकर भी बली होते हैं, मुनि लोग कन्द मूल तथा फल ही खा कर अपना जीवन बिताते हैं । इससे सिद्ध है कि संतोष ही मनुष्य के लिए सबसे बड़ा खजाना है ।। १५६ ।।

संतोष रूपी अमृत से तृप्त हो जाने वाले शान्त हृदय पुरुषों को जो सुख मिलता है वह (धन के लिए) इधर उधर भटकने वाले धन लोलुपों को कहाँ मिल सकता है ? ।। १५७ ।।

अमृत के समान संतोष का पान करने वाले व्यक्तियों को परम आनन्द प्राप्त

निरोधाच्चेतसोऽक्षाणि निरुद्धान्यखिलान्यपि ।
आच्छादिते रवौ मेघैराच्छन्नाः स्युर्गभस्तयः ॥ १५९ ॥

वाञ्छाविच्छेदनं प्राहुः स्वास्थ्यं शान्ता महर्षयः ।
वाञ्छा निवर्त्तते नार्थैः पिपासेवाग्निसेवनैः ॥ १६० ॥

साग्रहमाश्रयतामित्यर्थः, जनानामिति शेषः, परा निर्वृतिः परमं सुखं, भवतीति शेषः । असन्तोषवताम् असन्तुष्टानां, केनापि अपरितुष्यतामित्यर्थः, पुंसां पुरुषाणां, पुनः किन्तु, निरन्तरम् अविच्छिन्नं, दुःखं, भवतीति शेषः, सर्वत्र असन्तोषस्यैव दुःख मूलकत्वादिति भावः ॥ १५८ ॥

निरोधादिति । चेतसः चित्तस्य, निरोधात् दमनादित्यर्थः, अखिलानि समग्राणि, अक्षाणि इन्द्रियाणि अपि, श्रोत्रादीन्यपीत्यर्थः, निरुद्धानि वशीकृतानि, दान्तानि इत्यर्थः; भवतीति शेषः, मनः संयोगादृते ज्ञानसामान्यस्यानुदयात् मनस एव सर्वेन्द्रियाध्यक्षकत्वं वेदितव्यम् इति भावः; तथा हि, रवौ सूर्य्ये, मेघैः आच्छादिते सति गभस्तयः सूर्य्यकिरणाः, आच्छन्नाः स्युः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ १५९ ॥

वाञ्छेति । शान्ताः महर्षयः वाञ्छायाः वासनायाः, विच्छेदनं विध्वंसः, स्वास्थ्यं सुस्थतां सुखमित्यर्थः, प्राहुः कथयन्ति; अग्निसेवनैः पिपासेव जलतृष्णेव अर्थैः धनैः, वाञ्छा आकाङ्क्षा न निवर्त्तते, परन्तु वर्द्धते एव इत्यर्थः, "हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते" इति भावः ॥ १६० ॥

होता है । किन्तु असंतोषी पुरुषों को निरन्तर कोई न कोई दुःख लगा ही रहता है ॥ १५८ ॥

मन को वश में कर लेने से सभी इन्द्रियाँ भी वश में हो जाती हैं । जैसे बादलों द्वारा सूर्य के आच्छादित हो जाने पर उसकी किरणे भी आच्छन्न हो जाती हैं ॥ १५९ ॥

शान्त स्वभाव वाले महर्षियों ने इच्छाओं का नाश कर देना ही अर्थात् मन में इच्छाओं को उत्पन्न न होने देना ही मन का स्वस्थ होना बताया है । जिस प्रकार आग तापने से प्यास नहीं बुझती उसी प्रकार धन से इच्छाओं का अन्त या इच्छाओं से छुटकारा नहीं मिल सकता है ॥ १६० ॥

मनुष्य धन के लिए निन्दा करने योग्य (श्रद्धेय) पुरुषों की निन्दा करने और स्तुति न करने योग्य पुरुषों की स्तुति करते हैं । इस प्रकार वे धन के लिए क्या नहीं करते हैं ? अर्थात् सभी कुछ करते हैं । ॥ १६१ ॥

अनिन्द्यमपि निन्दन्ति स्तुवन्त्यस्तुत्यमुच्चकैः ।
स्वापतेयकृते मर्त्याः किं किं नाम न कुर्वते ? ॥ १६१ ॥

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा तस्यापि न शुभावहा ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥१६२ ॥

दानेन तुल्यो निधिरस्ति नान्यो
लोभाच्च नान्योऽस्ति रिपुः पृथिव्याम् ।
विभूषणं शीलसमं न चान्यत्
सन्तोषतुल्यं धनमस्ति नान्यत् ॥ १६३ ॥

अनिन्द्यमिति । मर्त्याः मानवाः, स्वापतेयकृते धनार्थं, "द्रव्यं वित्तं स्वापतेयं रिक्थमृक्थं धनं वसु" इत्यमरः । अनिन्द्यमपि निन्दानर्हमपि, जनमिति शेषः, निन्दन्ति, अस्तुत्यञ्च स्तुत्ययोग्यञ्च उच्चकैः अतिमात्रं, स्तुवन्ति प्रशंसन्ति ; किं बहुना, किं किं नाम न कुर्वते ? सर्वमेव कुर्वते इत्यर्थः; धनार्थं तेषां किमपि अकार्य्यं नास्तीति भावः ॥ १६१ ॥

धर्मार्थमिति । यस्य जनस्य, धर्मार्थं धर्मकार्य्यानुष्ठानार्थं, वित्तेहा धनार्जनचेष्टा, तस्यापि धर्मेप्सोरपि, सा चेष्टा इत्यत्रोहनीयम; न शुभावहा न शुभकरी ; हि यतः, पङ्कस्य कर्दमस्य, प्रक्षालनात्, अत्र ल्यबलोपे पञ्चमी, आदौ गात्रे पङ्कं प्रलिप्य पश्चात् तस्य प्रक्षालनमपेक्ष्य इत्यर्थः, दूरात् "दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च" (पा० सू० २।३।३५) इति सूत्रेण पञ्चमी, अस्पर्शनं वरं मनाक् प्रियम् ; प्रथमतः धनार्जनहेतोः पापं सञ्चित्य ततः परं तत्करणकधर्माचरणेन तदपनयनेच्छा स्वेच्छया प्रक्षितकर्दम-प्रक्षालनवत् नितरां हेयमिति भावः ॥ १६२ ॥

दानेनेति । दानेन तुल्यः समः अन्यः अपरः निधिः रत्नं, नास्ति, लोभात् अत्र "अन्यारादितरर्त्तेदिक्—" (पा० सू० २।३।२९) इति सूत्रेण पञ्चमी अन्यः पृथिव्यां रिपुः नास्ति; शीलेन सत्स्वाभावेन, समं तुल्यम्, अन्यत् अपरं, विभूषणञ्च न, अस्तीति शेषः, सन्तोषेण तुल्यम् अन्यत् धनं नास्ति । उपजातिः वृत्तम् ॥१६३॥

जो व्यक्ति धर्म के लिए भी धन की अभिलाषा करता है उसकी वह कामना भी मंगलकारिणी नहीं होती । क्योंकि कीचड़ लगाकर धोने से तो उत्तम यही है कि कीचड़ को दूर से भी स्पर्श ही न किया जाय ॥ १६२ ॥

(मनुष्य के लिए) इस संसार में दान के समान दूसरा कोई खजाना नहीं है; लोभ के समान कोई शत्रु नहीं है, शील (सदाचार) के समान कोई आभूषण नहीं है, तथा संतोष के समान दूसरा कोई धन नहीं है ॥ १६३ ॥

दारिद्र्यस्य परा भूतिर्यन्मानद्रविणाल्पता ।
जरद्गवधनः शर्वस्तथापि परमेश्वरः ॥ १६४ ॥
सकृत्कन्दुकपातेन पतत्यार्यः पतन्नपि ।
तथा पतति मूर्खस्तु मृत्पिण्डपतनं यथा ॥ १६५ ॥

एवं ज्ञात्वा भद्र, त्वया सन्तोषः कार्यः' इति । मन्थरकवचनमाकर्ण्य वायस आह—'भद्र, मन्थरको यदेवं वदति, तत्त्वया चित्ते कर्त्तव्यम् । अथवा साध्विदमुच्यते—

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ १६६ ॥

दारिद्र्यस्येति । यत् या इत्यर्थकमव्ययम्, मान एव द्रविणं धनं, तस्य अल्पता न्यूनता, सा एव दारिद्र्यस्य दैन्यस्य, परा भूतिः श्रेष्ठा सम्पत्, चरमोत्कर्षः इत्यर्थः ; तथा हि, शर्वः शम्भुः जरद्गवधनः जरन् गौरिति जरद्गवः वृद्धोक्षः, "गोरतद्धित-लुकि" (पा० सू० ५।४।९२) एति समासान्तः टच् । 'वृद्धोक्षस्तु जरद्गवः' इत्यमरः । स एव धनं यस्य सः; जीर्णवृषमात्रसमृद्धिरित्यर्थः, तथाऽपि परमेश्वरः, निर्धनत्वेऽपि मानोन्नतत्वादिति भावः ; मानहीनतैव दरिद्रता नाम, न धनहीनता इत्य-भिप्रायः ॥ १६४ ॥

सकृदिति । आर्य्यः सुजनः, पतन्नपि अधोगच्छन्नपि, कन्दुकपातेन कन्दुक-पतनवत्, सकृत् एकवारम्, पतति तत्क्षणादेव पुनरुत्पततीति भावः, मूर्खस्तु तथा पतति, यथा मृत्पिण्डपतनं मृत्पिण्डो यथा पतति, तथा मृत्पिण्डो यथा पतित्वा पुनर्नोत्पतति, तथामूर्खोऽपि पतनानन्तरमभ्युदयं न लभते इति भावः ॥ १६५ ॥

सुलभा इति । हे राजन् ! सततं प्रियवादिनः प्रियभाषिणः, पुरुषाः सुलभाः

दरिद्रता का अन्तिम रूप मानरूपी धन की कमी है अर्थात् यदि मान में कमी न हो तो धन की दरिद्रता नहीं कही जा सकती । देखो, एक बूढ़े बैल मात्र के धनी होकर भी भगवान् शिव परमेश्वर कहे जाते हैं ॥ १६४ ॥

आर्य पुरुष गिरकर भी गेंद के समान गिरते हैं अर्थात् गिरकर पुनः ऊपर उठ जाते हैं किन्तु अज्ञानी व्यक्ति मिट्टी के ढेले के समान एक बार ही गिरता है और चकनाचूर हो जाता है ॥ १६५ ॥

ऐसा सोच कर हे भद्र, तुम्हें संतोष करना चाहिए । मन्थरक की बात सुनकर कौवे ने कहा—भद्र मन्थरक जो कह रहे हैं उसे तुम्हें ध्यान में रखना चाहिए । अथवा यह उचित ही कहा गया है—

हे राजन्, प्रिय बोलने वाले (झूठी प्रशंसा करने वाले) लोग तो हमेशा आसानी

अप्रियाण्यपि पथ्यानि ये वदन्ति नृणामिह ।
त एव सुहृदः प्रोक्ता अन्ये स्युर्नामधारकाः ॥ १६७ ॥

अथैवं जल्पतां तेषां चित्राङ्गो नाम हरिणो लुब्धकत्रासितस्तस्मिन्नेव सरसि प्रविष्टः ।

अथायान्तं ससम्भ्रममवलोक्य लघुपतनको वृक्षमारूढः । हिरण्यको निकटवर्तिनं शरस्तम्बं प्रविष्टः । मन्थरकः सलिलाशयमास्थितः ।

अथ लघुपतनको मृगं सम्यक्परिज्ञाय मन्थरकमुवाच—एह्येहि सखे मन्थरक, मृगोऽयं तृषार्तोऽत्र समायातः सरसिप्रविष्टः, तस्य शब्दोऽयं, न

सुप्रापाः, सर्वे एव सततं श्रुतिसुखानि वक्तुं शक्नुवन्ति इति भावः; किन्तु अप्रियस्य श्रुतिकर्कशस्य, च अथ च, पथ्यस्य हितस्य, वचनस्य इति शेषः, वक्ता श्रोता च दुर्लभः; यः अप्रियं किन्तु हितम् उपदिशति, यश्च तत् शृणोति, तावुभौ दुर्लभौ इत्यर्थः । मन्थरकस्तु एवं वक्ता इति भावः ॥ १६६ ॥

अप्रियाणीति । इह अस्मिन् संसारे, ये जनाः, नृणां पुरुषाणाम्, अप्रियाणि आपाततः असन्तोषकराण्यपि, पथ्यानि हितानि, परिणामसुखानीति यावत् वदन्ति भाषन्ते, ते एव सुहृदः सु शोभनं हृदयं येषां ते "सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः" (पा० सू० ५।४।१५०) इति हृदयस्य हृद्भावः निपात्यते मित्राणि, प्रोक्ताः कथिताः; अन्ये तद्भिन्नाः पुनः, नामधारकाः सुहृद इति नाममात्रधारिणः, स्युः, न एते परमार्थतः सुहृद इति भावः ॥ १६७ ॥

(१) शरस्तम्बं—शराख्यतृणगुच्छम् ।

से मिल जाया करते हैं किन्तु अप्रिय, किन्तु हित की बात कहने वाला, तथा उसको सुनने वाला दोनों ही दुर्लभ होते हैं ॥ १६६ ॥

इस संसार में जो अप्रिय किन्तु हितकर वाणी ही बोलते हैं वे ही सच्चे मित्र कहे जाते हैं । इसके अतिरिक्त अन्य लोग तो केवल नाममात्र के मित्र होते हैं ॥ १६७ ॥

जिस समय वे इस प्रकार की बातें कर रहे थे उसी समय बहेलिए से भयभीत चित्राङ्ग नाम का हरिण उसी तालाब में आकर घुस गया ।

उसको आते हुए देखकर लघुपतनक घबड़ाकर वृक्ष पर चढ़ गया । हिरण्यक पास में ही स्थित सरपत की झुरमुट में घुस गया । मन्थरक तालाब में चला गया ।

इसके पश्चात् लघुपतनक ने हरिण को अच्छी तरह जानकर मन्थरक

मानुषसंभवः'' इति। तच्छ्रुत्वा मन्थरको देशकालोचितमाह—'भो लघुपतनक, यथाऽयं मृगो दृश्यते प्रभूतमुच्छ्वासमुद्वहन्नुद्भ्रान्तदृष्टया पृष्ठतोऽवलोकयति, तन्न तृषार्त्त एषः, नूनं लुब्धकत्रासितः। तज्ज्ञायतामस्य पृष्ठे लुब्धका आगच्छन्ति न वा'? इति। उक्तं च—

'भयत्रस्तो नरः श्वासं प्रभूतं कुरुते मुहुः।
दिशोऽवलोकयत्येव न स्वास्थ्य व्रजति क्वचित्' ॥ १६८ ॥

तच्छ्रुत्वा चित्राङ्ग आह—'भो मन्थरक, ज्ञातं त्वयासम्यङ् मे त्रासकारणम्। अहं लुब्धकशरप्रहारादुद्धारितः कृच्छ्रेणात्र समायातः। मम यूथं तैर्लुब्धकैर्व्यापादितं भविष्यति। तच्छरणागतस्य मे दर्शय किञ्चिदगम्यं स्थानं लुब्धकानाम्। तदाकर्ण्य मन्थरक आह—'भोश्चित्राङ्ग, श्रूयतां नीतिशास्त्रम्—

---

(१) प्रभूतं—समधिकम्। उच्छ्वासं—निश्वासम्।
(२) उद्भ्रान्तदृष्टया—चकितदर्शनेन।

भयत्रस्त इति। भयेन त्रस्तः उद्विग्नः, नरः मुहुः पुनः पुनः, प्रभूतम् अधिकं श्वासं कुरुते दीर्घं निश्वासति इत्यर्थः, दिशः अवलोकयति समन्तात् निरीक्षते एव, तथा क्वचित् कुत्रापि, स्वास्थ्यं न व्रजति नाधिगच्छति ॥ १६८ ॥

(३) उद्धारितः—निस्तीर्णः।

ने कहा— आओ, आओ, मित्र मन्थरक, इस हिरन ने प्यास से व्याकुल होकर इस तालाब में प्रवेश किया है। उसीका यह शब्द है, किसी मनुष्य का शब्द नहीं है। यह सुनकर मन्थरक ने देश-काल के अनुसार कहा— हे लघुपतनक, जैसा यह हिरण दिखाई देता है कि बड़ी शीघ्रता से लम्बी लम्बी सांसे ले रहा है, भयभीत दृष्टि से पीछे की ओर देख रहा है, इससे तो यह प्यासा नहीं मालूम पड़ता। निश्चय ही यह बहेलिये से डरा हुआ है। इसलिए मालूम करो कि इसके पीछे बहेलिए आ रहे हैं या नहीं। कहा भी गया है—

भय से व्याकुल व्यक्ति बार बार लम्बी लम्बी सांसे खींचता है, चारो ओर देखता है और उसे कहीं भी शान्ति नहीं मिलती है। ॥ १६८ ॥

यह सुनकर चित्राङ्ग ने कहा— हे मन्थरक, तुमने मेरे भय का कारण अच्छी तरह समझ लिया है। मैं बहेलिए के बाणप्रहार से बचकर बड़ी कठिनाई से यहाँ आया हूँ। मेरा गिरोह उन बहेलियों से मार डाला गया होगा। मुझ शरणागत को कोइ ऐसा स्थान बताओ, जहाँ बहेलिए न पहुँच सकें। यह सुनकर मन्थरक ने कहा—नीतिशास्त्र के बचनों को सुनो—

द्वावुपायाविह प्रोक्तौ विमुक्तौ शत्रुदर्शने।
हस्तयोश्चालनादेको द्वितीयः पादवेगजः॥ १६९॥

तद्गम्यतां शीघ्रं सघनं वनम्, यावदद्यापि नागच्छन्ति ते दुरात्मानो लुब्धकाः।' अत्रान्तरे लघुपतनकः सत्वरमभ्युपेत्योवाच—'भो मन्थरक, गतास्ते लुब्धकाः स्वगृहोन्मुखाः प्रचुरमांसपिण्डधारिणः। तच्चित्राङ्ग! त्वं विश्रब्धो जलाद् बहिर्भव।

ततस्ते चत्वारोऽपि मित्रभावमाश्रितास्तस्मिन्सरसि मध्याह्नसमये वृक्षच्छायाया अधस्तात्सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्तः सुखेन कालं नयन्ति। अथवा युक्तमेतदुच्यते—

द्वाविति। इह संसारे, शत्रुदर्शने, जाते इति शेषः, वैरिकृतपराभवसम्भावनायां समागतायाम् इति भावः, विमुक्तौ परित्राणविषये; द्वौ उपायौ साधने, प्रोक्तौ कथितौ, एकः, उपाय इति शेषः; हस्तयोश्चलानात् करयोः व्यापारात्, हस्ताभ्यां प्रहारादिरूव इति भावः, द्वितीयः, उपाय इत्यनुषङ्गः, पादवेगजः चरणवेगजनितः, दूरतः पलायनरूप इति भावः॥ १६९॥

(१) सघनं—सान्द्रं, निविडमिति भावः।

(२) विश्रब्धः—विश्वस्तः, निःशङ्क इति यावत्। वनादिति—'अन्धारा-(पा० सू० २।३।२९) इति सूत्रे 'अपपरिवहिरिति समासविधानात् ज्ञापकात् वहिर्योगे पञ्चमी' इति वृत्तिकारवचनात् वहिःशब्दयोगे पञ्चमी।

(३) अधस्तात्—तलदेशे। सुभाषितगोष्ठीसुखम्—सुभाषिते—सुखालापे, या गोष्ठी—सभा, तया सुखम्—आनन्दम्।

शत्रु के सामने आ जाने पर उससे बचने के दो उपाय कहे गये हैं— एक तो हाथों को चलाना अर्थात् चतुराई से अस्त्रों को चलाना, दूसरे पैरों में वेग होना अर्थात् तीव्र गति से भाग जाना॥ १६९॥

इसलिए जबतक वे दुष्ट बहेलिये नहीं आते हैं, तबतक शीघ्र ही घने जंगलों में भाग जाओ। इसी बीच लघुपतनक ने शीघ्रता से आकर कहा—हे मन्थरक, वे व्याधे बहुत अधिक मांस लिए हुए अपने घर की ओर चले गए हैं। इसलिए हे चित्राङ्ग! तुम आश्वस्त होकर पानी के बाहर चले आओ।

तब वे चारो आपस में मित्रता के साथ उस तालाब के किनारे रहने लगे और दोपहर के समय वृक्ष की छाया के नीचे सुभाषित वार्तालाप का आनन्द लेते हुए सुखपूर्वक समय बिताने लगे। अथवा यह उचित ही कहा गया है—

सुभाषितरसास्वादबद्धरोमाञ्चकञ्चुकाः ।
विनाऽपि संगमं स्त्रीणां सुधियः सुखमासते ॥ १७० ॥
सुभाषितमयद्रव्यसंग्रहं न करोति यः ।
स तु प्रस्तावयज्ञेषु कां प्रदास्यति दक्षिणाम् ॥ १७१ ॥
तथा च—सकृदुक्तं न गृह्णाति स्वयं वा न करोति यः ।
यस्य संपुटिका नास्ति कुतस्तस्य सुभाषितम् ? ॥ १७२ ॥

सुभाषितेति । सुधियः विद्वांसः, सुभाषितस्य मधुरालापस्य, रसास्वादेन बद्धः जनितः, रोमाञ्चः लोमहर्षणमेव, कञ्चुकः वारबाणः येषां तादृशा सन्तः स्त्रीणां सङ्गमं साहचर्यं विनाऽपि सुखम् आसते अवतिष्ठन्ते, सुधियां स्त्रीसङ्गमादपि मित्रसङ्गः नितरां प्रीतिप्रदः इति तात्पर्यम् ॥ १७० ॥

सुभाषितेति । यः सुभाषितमयानां सूक्तिरूपाणां, द्रव्याणां धनानां, सङ्ग्रहं न करोति, स तु प्रस्तावयज्ञेषु प्रस्तावाः परस्परालापः एव, यज्ञाः तेषु, कां दक्षिणां प्रदास्यति ? कथं सभ्यान् तोषयिष्यतीत्यर्थः, सभ्यसन्तोषसम्पादनार्थं सुभाषितस्यैव आवश्यकत्वात् इति भावः ॥ १७१ ॥

सकृदिति । यः सकृत् एकवारम्, उक्तं भाषितं, न गृह्णाति वाक्यप्रयोगमात्रेणैव तदर्थं बोद्धुं न शक्नोति इत्यर्थः, स्वयं वा न करोति वक्तुं न शक्नोतीति भावः, यस्य च सम्पुटिका आधारविशेषः, सुभाषितमयद्रव्यं सङ्गृह्य तद्रक्षणार्थमिति भावः, सद्वाक्य सङ्ग्रह इति निष्कर्षः, यद्वा—सम्पुटिका आवरणभवः अवधानमिति भावः, नास्ति । यद्वा—यस्य सम्पुटिका वचनावरणं, नास्ति, निरन्तरमेव यः, प्रसङ्गरहितमपि वक्तीति भावः, तस्य सुभाषितं कुतः ? स सुभाषिते नाधिकरोति भावः, यः भावज्ञः, यश्च स्वयं विदग्धः, यस्य च विविध, सूक्तिसङ्ग्रहोऽस्ति, स एव सभाभूषणं, नान्य इति तात्पर्यम् ॥ १७२ ॥

मनोहर सूक्तियों से युक्त वार्तालाप के रसास्वादन से उत्पन्न रोमाञ्चरूपी कंचुकी धारण करने वाले विद्वान् पुरुष स्त्री-सम्भोग के बिना भी सुखपूर्वक रहते हैं ॥ १७० ॥

जो व्यक्ति मनोहर सूक्ति रूपी धन का संग्रह नहीं करता है, वह पारस्परिक वर्तालापरूपी यज्ञों में कौन सी दक्षिणा देगा । अर्थात् बातचीत के प्रसङ्ग में लोगों को कैसे प्रसन्न कर सकेगा ? ॥ १७१ ॥

और भी—जो एक बार कही हुई उक्ति को स्मरण नहीं रखता जो स्वयं सुभाषित उक्तियों की रचना नहीं कर सकता तथा जिसने सूक्तियों का संग्रह नहीं किया है अर्थात् जिसने बहुत सी सूक्तियाँ कठण्स्थ नहीं की हैं, वह व्यक्ति मनोहर ढंग से वार्तालाप नहीं कर सकता ॥ १७२ ॥

अथैकस्मिन्नहनि गोष्ठीसमये चित्राङ्गो नायातः। अथ ते व्याकुलीभूताः परस्परं जल्पितुमारब्धाः। 'अहो, किमद्य सुहृन्न समायातः ? किं सिंहादिभिः क्वापि व्यापादितः ? उत लुब्धकैः ? अथवा अनले प्रपतितः ? गर्ते विषमे वा नवतृणलौल्यात्' इति। अथवा साध्विदमुच्यते—

स्वगृहोद्यानगतेऽपि स्निग्धैः पापं विशङ्क्यते मोहात्।
किमु दृष्टबह्वपायप्रतिभयकान्तारमध्यस्थे ? ॥ १७३ ॥

अथमन्थरको वायसमाह—'भो लघुपतनक, अहं हिरण्यकश्च तावद्द्वावप्यशक्तौ तस्यान्वेषणं कर्तुं मन्दगतित्वात्। तद्गत्वा त्वम् अरण्यं शोधय, यदि कुत्रचित्तं जीवन्तं पश्यसि' इति। तदाकर्ण्य लघुपतनको नातिदूरे

( ) गर्ते विषमे—गर्तवशात् उन्नतानते प्रदेशे इत्यर्थः। नवतृणलौल्यात्—नवेषु—नूतनेषु, कोमलेषु इति यावत्, तृणेषु लौल्यात्—लोभावेगवशात्।

स्वगृहोद्यानेति। स्निग्धैः सुहृद्भिः, मोहात् मायावशात्, स्वगृहस्य यत् उद्यानं गृहसन्निहितम् उपवनं, तत्र गतेऽपि, सुहृदि इति शेषः, पापम् अनिष्टं, विशङ्क्यते विशेषेण चिन्त्यते। दृष्टेति। दृष्टा बहवः अपायाः विपदः यत्र तादृशः, अतएव प्रतिभयः भयावहः, यः कान्तारः दुर्गमं वनं, वर्त्म वा, तस्य मध्यस्थे मध्यवर्तिनि सति, किमु ? वक्तव्यमिति शेषः, तादृशे देशे प्रियजनानां स्थितिरतीव शङ्कास्पदमिति भावः। आर्या वृत्तम् ॥ १७३ ॥

(२) शोधय—अन्वेषयेति भावः।

इसके पश्चात् एक दिन गोष्ठी के समय चित्राङ्ग नहीं आया। तब वे सभी व्याकुल होकर आपस में इस प्रकार बातचीत करने लगे—आश्चर्य है कि आज हम लोगों का प्रिय मित्र क्यों नहीं आया ? क्या उसे कहीं सिंह आदि ने तो नहीं मार डाला अथवा व्याधों ने तो नहीं फँसा लिया या कहीं दावाग्नि में तो नहीं पड़ गया अथवा हरी नई घास के लोभ में किसी गड्ढे में तो नहीं गिर पड़ा। अथवा यह उचित ही कहा गया है—

बन्धु बान्धव अपने प्रिय लोगों के घर के बगीचे में भी आने पर जब मोहवश नाना प्रकार के अनिष्ट की आशंका करने लगते हैं तो फिर जब प्रियजन विभिन्न प्रकार के संकटों से परिपूर्ण भयावह जंगल में स्थित हो तो कहना ही क्या ? ॥ १७३ ॥

मन्थरक ने भी कौवे से कहा—हे लघुपतनक, मैं और हिरण्यक दोनों ही धीमी गति के कारण उसकी खोज करने में असमर्थ हैं इसलिए तुम जंगल में जाकर खोज करो। कदाचित् वह तुम्हें जीवित दिखाई पड़ जाय। यह सुन कर लघु-

यावद् गच्छति तावत्पल्वलतीरे चित्राङ्गः कूटपाशनियन्त्रितस्तिष्ठति । इति तं दृष्ट्वा शोकव्याकुलितमनास्तमवोचद्—'भद्र, किमिदम् ?' चित्राङ्गोऽपि वायसमवलोक्य विशेषेण दुःखितमना बभूव । अथवा युक्तमेतत्—

अपि मन्दत्वमापन्नो नष्टो वापीष्टदर्शनात् ।
प्रायेण प्राणिनां भूयो दुःखावेगोऽधिको भवेत् ॥ १७४ ॥

ततश्च वाक्यावसाने चित्राङ्गो लघुपतनकमाह—'भोः मित्र, सजातोऽयं तावन्मम मृत्युः । तद्युक्तं सम्पन्नं यद्भवता सह मे दर्शनं सञ्जातम् ।

उक्तं च—

प्राणात्यये समुत्पन्ने यदि स्यान्मित्रदर्शनम् ।
तद्द्वाभ्यां सुखदं पश्चाज्जीवतोऽपि मृतस्य च ॥ १७५ ॥

---

(१)पल्वलतीरे—क्षुद्रसरोवरतटे 'पल्वलञ्चाल्पसरः' इत्यमरः ।

(२) कूटेति । कूटपाशेन-कपटजालेन, नियन्त्रितः-निबद्धः ।

अपीति । इष्टस्य प्रियस्य, दर्शनात् मन्दत्वम् लाघवम्; आपन्नोऽपि प्राप्तोऽपि, नष्टोऽपि नाशं गतोऽपि वा, प्राणिनां दुःखाऽऽवेगः, प्रायेण प्रायशः, बाहुल्येन वा, भूयः पुनरपि, अधिको भवेत्, 'स्वजनस्य हि दुःखमग्रतः विवृतद्वारमिवोपजायते' इत्यादिदर्शनात् मन्दीभूतं विलुप्तमपि वा तद्दुःखमभिनवीभूय स्वजनदर्शनावसरे पुनरभिवर्द्धते इत्याशयः ॥ १७४ ॥

(३) युक्तम्—उचितम् । सम्पन्नम्-भूतम् ।

प्राणात्यये इति । प्राणानाम् अत्यये अपगमे; प्राणविनाशहेतौ इत्यर्थः;

पतनक अभी बहुत दूर नहीं गया था कि एक छोटी सी तलैया के किनारे बहेलिये के जाल में फँसा पड़ा हुआ चित्रांग मिला । उसको देखकर शोक से व्याकुल मन से उसने कहा—भद्र, यह क्या ? चित्राङ्ग भी कौवे को देखकर बहुत दुःखी हुआ । अथवा उचित ही है ।

किसी प्रकार की हीनता प्राप्त होने या बिनाश के प्राप्त होने पर अपने किसी प्रिय को देखने से प्राणियों का दुःखावेग प्रायः और भी अधिक हो जाता है ॥ १७४ ॥

इसके पश्चात् वाक्य समाप्त हो पर चित्राङ्ग ने लघुपतनक से कहा—मित्र मेरी तो यह मृत्यु हुई ही समझो । अतः अच्छा हुआ कि आपका दर्शन मुझे मिल गया । कहा भी गया है—

प्राणों का अन्त उपस्थित होने पर मित्र यदि दिखाई पड़ जाय तो पीछे

तत्क्षन्तव्यं यन्मया प्रणयात्सुभाषितगोष्ठीष्वभिहितम्। तथा हिरण्यकमन्थरकौ मम वाक्याद्वाच्यौ—

अज्ञानाज्ज्ञानतो वाऽपि दुरुक्तं यदुदाहृतम्।
तत्क्षन्तव्यं युवाभ्यां मे कृत्वा प्रीतिपरं मनः ॥ १७६ ॥

तच्छ्रुत्वा लघुपतनक आह—भद्र, न भेतव्यमस्मद्विधैर्मित्रैर्विद्यमानैः; यावदहं द्रुततरं हिरण्यकं गृहीत्वाऽऽगच्छामि। अपरं ये सत्पुरुषा भवन्ति, ते व्यसने न व्याकुलत्वमुपयान्ति। उक्तं च—

समुत्पन्ने समुपस्थिते, यदि मित्रदर्शनं स्यात्; तदा पश्चात् मित्रदर्शनानन्तरं; जीवतः मित्रसाहाय्येन प्राप्तजीवनस्य, मृतस्य च मृतस्य वा जनस्य, उभयोरेवेत्यर्थः; द्वाभ्यां जीवनमरणाभ्यामपि, उभाभ्यामेव अवस्थाभ्यामित्यर्थः, जीवनं वा तिष्ठतु; मरणं वा भवतु, उभयोरेव अवस्थयोरिति यावत्, तत्, मित्रदर्शनं, सुखदं सुखप्रदम्, मित्रकौशलेन; जीवनरक्षाऽपि भवितुमर्हति, मरणेऽपि वा मित्रकर्त्तव्यौर्द्ध्वदैहिकव्यापारेण मृतस्य सद्गतिलाभः भवितुमर्हति इति द्वयोरेव जीवनमृतयोः चास्मद्दर्शनालाभाभ्यां सुखसम्भावनेति भावः, तेन हि अहमिदानीं जीविष्यामि मरिष्यामि वा एतद्द्वयमपि मे सममेव, अन्तिमसमये मित्रदर्शनस्यैव केवलं वाञ्छनीयत्वादित्याशयः ॥ १७५ ॥

अथेदानीमन्तिमसमयं निश्चित्य प्रार्थयते—अज्ञानादिति। अज्ञानात्, ज्ञानतोऽपि वा, यत्, दुरुक्तं दुर्वचः; उदाहृतम् उक्तं, मया सुभाषितगोष्ठीषु इति शेषः, युवाभ्यां प्रीतिपरं प्रणयपूर्णं, मनः कृत्वा, सानुग्रहमिति भावः, यद्वा—मे मम, मनः प्रीतिपरम् इति कृत्वा प्रणयवशादेव मया तदभिहितमिति विविच्येत्यर्थः, मे मम, तत्, दुरुक्तं; क्षन्तव्यं सोढव्यम्, मृत्युसमये प्रियसुहृद्भ्यां पूर्वोक्तमशोभनं मे वचनजातं सपद्येव विस्मरणीयं, सम्बन्धस्य जीवनाधिकत्वादित्याशयः ॥ १७६ ॥

जीवित बच जाने अथवा मर जाने—इन दोनों स्थितियों में सुखद ही होता है॥ १७५ ॥

इसलिए सुभाषित गोष्ठी में मैंने प्रेमपूर्वक जो कुछ भी कहा हो उसे क्षमा करना और मेरी ओर से हिरण्यक तथा मन्थरक से भी कहना—

मैंने जाने या अनजाने जो भी अप्रिय बातें कह दी हों उसे तुम दोनों प्रेम पूर्वक क्षमा कर देना॥ १७६ ॥

यह सुनकर लघुपतनक ने कहा—भद्र, हमलोगों जैसे मित्रों के रहते तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिए। मैं हिरण्यक को लेकर अत्यंत शीघ्र ही आ रहा हूँ। इसके अतिरिक्त सज्जन पुरुष विपत्ति में व्याकुल नहीं होते हैं। कहा भी है—

'सम्पदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे न भीरुत्वम् ।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम्' ।। १७७ ।।

एवमुक्त्वा लघुपतनकश्चित्राङ्गमाश्वास्य यत्र हिरण्यकमन्थरकौ तिष्ठतस्तत्र गत्वा सर्वं चित्राङ्गपाशपतनं कथितवान् । हिरण्यकं च चित्राङ्गपाशमोक्षणं प्रति कृतनिश्चयं पृष्ठमारोप्य भूयोऽपि सत्वरं चित्राङ्गसमीपे गतः । सोऽपि मूषकमवलोक्य किञ्चिज्जीविताशया संश्लिष्ट आह—

'आपन्नाशाय विबुधैः कर्तव्याः सुहृदोऽमलाः ।
न तरत्यापदं कश्चिद्योऽत्र मित्रविवर्जितः' ।। १७८ ।।

इदानीं सुहृदः चित्तस्थैर्यं सम्पादयितुं यतते—सम्पदीति । यस्य जनस्य, सम्पदि हर्षः अतिभूमिं गत आनन्दः, न ; विपदि आपत्काले, विषादोऽत्यधिकं दुःखं, न ; रणे युद्धे, भीरुत्वं भयशीलता, न विद्यते इति शेषः, जननी माता; भुवनत्रयतिलकं लोकत्रयललामभूतं, श्रेष्ठमित्यर्थः, तं तादृशं, सुतं पुत्रं, विरलम् अल्पं; जनयति प्रसूते ; एतल्लक्षणलाञ्छितः भुवि दुर्लभ एव, अतः सत्पुरुषेण भवता न विपदि व्याकुलीभूतेन भवितव्यमिति तु निष्कर्षः । आर्य्या वृत्तम् ।। १७७ ।।

(१) चित्राङ्गपाशमोक्षणम्—चित्राङ्गस्य तदाख्यस्य मृगस्य, पाशात् मोक्षणं—मोचनं प्रति, मोचनार्थम् इत्यर्थः । कृतनिश्चयं —विहितसिद्धान्तं, कृतप्रतिज्ञमित्यर्थः । संश्लिष्टः—समालिङ्गितः, युक्तः इत्यर्थः ।

इदानीं सुहृत्सङ्ग्रहस्य अवश्यकर्त्तव्यतामाह—आपदिति । विबुधैः विद्वद्भिः; आपन्नाशाय विपदो मुक्तये, अमलाः निर्दोषाः, सज्जना इत्यर्थः, सुहृदः कर्तव्याः ;

सम्पत्ति के समय जो प्रसन्न नहीं होता, विपत्ति के समय जो दुःखी नहीं होता तथा युद्ध में जो कायरता नहीं ग्रहण करता— ऐसे तीनों लोकों में श्रेष्ठ विरले पुत्र को ही माता जन्म देती है ।। १७७ ।।

ऐसा कह कर लघुपतनक ने चित्राङ्ग को आश्वासन देकर जहाँ हिरण्यक और मन्थरक थे, वहाँ जाकर चित्राङ्ग के फन्दे में पड़ जाने का सारा समाचार कह सुनाया । चित्राङ्ग को फन्दे से मुक्त करने के लिए तत्पर हिरण्यक की पीठ पर चढ़ा कर फिर शीघ्र ही वह चित्राङ्ग के पास पहुँचा । उसने भी चूहे को देख कर जीवित बच जाने की आशा से कहा—

विद्वान् पुरुषों को विपत्तियों का नाश करने के लिए निश्छल हृदय वाले मित्रों को अपनाना चाहिए । क्योंकि कोई भी मित्रों से रहित होकर (बिना मित्र की सहायता के) आपत्ति से पार नहीं पा सकता है ।। १७८ ।।

हिरण्यक आह—'भद्र, त्वं तावन्नीतिशास्त्रज्ञो दक्षमतिः। तत्कथमत्र कूटपाशे पतितः ?' स आह—'भोः, न कालोऽयं विवादस्य। तन्न यावत्स पापात्मा लुब्धकः समभ्येति, यावत् द्रुततरं कर्तयेमं मत्पादपाशम्।' तदाकर्ण्य विहस्याह हिरण्यकः—'किं मय्यपि समायाते लुब्धकाद् बिभेषि ? ततः शास्त्रं प्रति महती मे विरक्तिः सम्पन्ना, यद्भवद्विधा अपि नीतिशास्त्रविद एनामवस्थां प्राप्नुवन्ति। तेन त्वां पृच्छामि।' स आह—'भद्र; कर्मणा बुद्धिरपि हन्यते। उक्तं च—

कृतान्तपाशबद्धानां दैवोपहतचेतसाम्।
बुद्धयः कुब्जगामिन्यो भवन्ति महतामपि॥ १७९॥

अत्र संसारे, यः कश्चित् मित्रविवर्जितः बन्धुविहीनः, स आपदं न तरति आपदो न मुच्यते इत्यर्थः ; आपत्परित्राणे बन्धुः एव एकः ; समर्थः इति भावः ; अतः प्रियसुहृत मूषकः नूनं मां मोचयिष्यतीति निगूढाशयः॥ १७८॥

(१) दक्षमतिः—निपुणबुद्धिः।

(२) विवादस्य—अनुयोगस्य, तिरस्कारस्य इत्यर्थः ; अथवा विवादस्य—विविधवादस्य उक्तिप्रत्युक्तिरूपस्य विरुद्धस्य भाषणस्य इत्यर्थः। कर्त्तय—छिन्धि। मत्पादपाशम् मम पादानां—चरणानां, पाशः तम्। विरक्तिः—अनास्था। सम्पन्ना—जाता।

दैवप्रभावमाह—कृतान्तेति। कृतान्तस्य यमस्य, "कृतान्तो यमदैवयोः" इति विश्वः, पाशेन बद्धानां नियन्त्रितानाम्, आसन्नमृत्यूनामित्यर्थः, दैवेन उपहतं विनष्टं विकृतमिति यावत्, चेतो येषां, दुर्दैवविलुप्तमतीनाम् इत्यर्थः, महतामपि विदुषामपि; बुद्धयः, कुब्जगामिन्यः वक्रगतयः, कुपथगा इत्यर्थः, भवन्ति; नीतिविसर्जिताः

हिरण्यक ने कहा— हे भद्र, तुम तो नीति शास्त्र के जानने वाले तथा बहुत ही चतुर हो। तो फिर कैसे इस फन्दे में फँस गए ? उसने कहा— मित्र, यह समय वाद-विवाद करने का नहीं है। इस लिए जब तक वह दुष्ट व्याधा नहीं आ जाता तब तक शीघ्र ही मेरे पैर के इस फन्दे को काट दो। यह सुनकर हँसते हुए हिरण्यक ने कहा— मेरे आ जाने पर भी क्यों व्याध से डरते हो। जब आप जैसे नीतिज्ञ भी इस अवस्था को पहुँच गये तो मुझे नीतिशास्त्र के प्रति बहुत अधिक अश्रद्धा हो गई है। इसीसे मैंने तुमसे पूछा है। उसने कहा—'मित्र, भाग्य द्वारा बुद्धि भी मारी जाती है। कहा भी गया है—

मृत्यु के फंदे में पड़े हुए तथा दुर्भाग्य द्वारा नष्ट चित्त वाले महापुरुषों की भी बुद्धि टेढे मेढे रास्ते से चलने वाली बन जाती है॥ १७९॥

विधात्रा रचिता या सा ललाटेऽक्षरमालिका ।
न तां मार्जयितुं शक्ताः स्वबुद्ध्याऽप्यतिपण्डिताः ॥ १८० ॥

एवं तयोः प्रवदतोः सुहृद्व्यसनसंतप्तहृदयो मन्थरकः शनैः शनैस्तं प्रदेशमाजगाम । तं दृष्ट्वा लघुपतनको हिरण्यकमाह—'अहो, न शोभनमापतितम् ' हिरण्यक आह—'किं स लुब्धकः समायाति ?' स आह—'आस्तां तावल्लुब्धकावार्ता । एष मन्थरकः समागच्छति । अदनीतिरनुष्ठितानेन, यतो वयमप्यस्य कारणान्नूनं व्यापादनं यास्यामो यदि स पापात्मा लुब्धकः समागमिष्यति । तदहं तावत्खमुत्पतिष्यामि । त्वं पुनर्बिलं प्रविश्यात्मानं रक्षयिष्यसि । चित्राङ्गोऽपि वेगेन दिगन्तरं यास्यति । एष पुनर्जलचरः स्थले

धियोऽपि दौर्भाग्यात् कुण्ठिता भवन्तीति भावः ; दैवविलसितत्वात् नात्र मे दोषो दातव्य इति गूढाभिप्रायः ॥ १७९ ॥

इदानीं दैवस्य अलङ्घनीयतामाह—विधात्रेति । विधात्रा विधिना; "विधाता विश्वसृग्विधिः" इत्यमरः, ललाटे भालदेशे, सा पौर्वदैहिककर्मफलेन जन्मसमकालमेव निर्दिष्टा इत्यर्थः, या अक्षरमालिका वर्णावली, रचिता लिखिता, या हि स्वप्राक्तनकर्मवशादायाता इति भावः ; अतिपण्डिताः अपि स्वबुद्ध्या आत्मबुद्धिप्रभावेण इत्यर्थः, ताम् अक्षरमालिकां, मार्जयितुं शोधयितुं, खण्डयितुम् इत्यर्थः, न शक्ताः न समर्थाः, भवन्ति इति शेषः; अप्रतिविधेया हि भवन्ति दैवगतय इति भावः ॥ १८० ॥

(१) सुहृद्व्यसनसन्तप्तहृदयः—बन्धुविपच्छ्रवणेन दुःखितचित्तः । आपतितम्—उपस्थितम्, लुब्धकवार्त्ता—व्याधवृत्तान्तः, व्याधप्रसङ्ग इति यावत् । अनीतिः—दुर्नयः । अस्य—मन्थरकस्य । व्यापादनं—विनाशम् ; मन्दगामित्वेन पलायनाक्षमम् अमुं विहाय प्रणयपाशबद्धानाम् अस्माकमपि गन्तुमशक्यत्वादिति भावः । खम्—

ब्रह्मा ने ललाट में जिन अक्षर-पंक्तियों को लिख दिया है, उन्हें पण्डित पुरुष भी अपनी बुद्धि से मिटाने में समर्थ नहीं हो सकता ॥ १८० ॥

जिस समय वह दोनों बातें कर रहे थे उसी समय मित्र की बिपत्ति से दुःखी होकर मन्थरक धीरे धीरे उस स्थान पर आया । उसको देखकर लघुपतनक ने हिरण्यक से कहा—अरे यह तो अच्छा नही हुआ । हिरण्यक ने कहा—'क्या वह व्याधा आ रहा है ।' उसने कहा—"व्याध की बात जाने दो । यह मन्थरक जो आ रहा है इसने नीति का अनुसरण नहीं किया क्योंकि यदि वह दुष्ट व्याध आ जायेगा तो इसके कारण निश्चय ही हम सभी मारे जायेंगे । मैं आकाश में उड़ जाऊँगा, तुम बिल में घुसकर अपनी रक्षा कर लोगे । चित्राङ्ग भी तेजी के साथ दूसरी ओर

कथं भविष्यतीति व्याकुलोऽस्मि ? अत्रान्तरे प्राप्तोऽयं मन्थरकः। हिरण्यक आह— 'भद्र न युक्तमनुष्ठितं भवता, यदत्र समायातः। तद्भूयोऽपि द्रुततरं गम्यताम्, यावदसौ लुब्धको न समायाति।' मन्थरक आह—'भद्र, किं करोमि ? न शक्नोमि तत्रस्थो मित्रव्यसनाग्निदाहं सोढुम्। तेनाहमत्रागतः। अथवा साध्विदमुच्यते—

दयितजनविप्रयोगो वित्तवियोगाश्च केन सह्याः स्युः ?।
यदि सुमहौषधकल्पो वयस्यजनसङ्गमो न स्यात् ॥ १८१ ॥

वरं प्राणपरित्यागो न वियोगो भवादृशैः।
प्राणा जन्मान्तरे भूयो न भवन्ति भवद्विधाः ॥ १८२ ॥

आकाशम्। कथं भविष्यति—किं करिष्यति इत्यर्थः, जलचरस्य स्थलगमनासामर्थ्यादितिभावः। तत्रस्थः—तस्मिन् स्थाने स्थितः। मित्रव्यसनाग्निदाहम्—बन्धुविपत्तिरूपः यो वह्निः तेन दाहं—तदुद्भूतं सन्तापमित्यर्थः।

इदानीं मित्रव्यसनस्य असह्यतावर्णनप्रसङ्गात् मित्रसङ्गमस्य सुखहेतुत्वमाह—दयितेति। यदि सुमहौषधकल्पः "ईषदसमाप्तौ कल्पप्" (पा०सू० ५।३।६७) इति सूत्रेण कल्पप्प्रत्ययः। वीर्य्यवदौषधसदृशः, सकलव्यथाऽपहारक इति यावत् वयस्यजनसङ्गमः सुहृत्समागमः, न स्यात् तदा दयितजनानां प्रियजनानां, विप्रयोगाः विरहाः वित्तवियोगाश्च धननाशाश्च, केन जनेन, सह्याः सोढव्याः, स्युः ? मित्रसङ्गमेन प्रियजनानां धनानाञ्च विरहात् जायमानः शोको विस्मर्य्यते लोकैः इति तु निष्कर्षः। आर्या वृत्तम् ॥ १८१ ॥

अथ अकृत्रिमबन्धोः अतीव दुर्लभतामाह—वरमिति। प्राणपरित्यागो मरणं,

---

भाग जायगा। यह तो जल में रहने वाला है, स्थल पर इसकी क्या दशा होगी ? इसी से मैं व्याकुल हो रहा हूँ। इसी बीच मन्थरक वहाँ पहुँच गया। हिरण्यक ने कहा—भद्र, आप ने यह ठीक नहीं किया जो यहाँ आ गए। इसलिए जब तक वह व्याध यहाँ नही आ जाता, फिर शीघ्रता के साथ चले जाइए। मन्थरक ने कहा—भद्र, क्या करूँ ? वहाँ ही रहकर मैं मित्र की विपत्तिरूपी अग्नि की जलन सहने में समर्थ नहीं हो सका। इसीलिए यहाँ आया हूँ। अथवा यह उचित ही कहा गया है—

यदि अत्युत्तम औषधि के समान (वेदना को नष्ट कर देने वाली) मित्रों की संगति न हो तो अपने प्रिय जनों का वियोग तथा धन नाश की महान् पीड़ा कौन सहन कर सकता है ? अर्थात् मित्रों के सम्पर्क से प्रिय-वियोग तथा धन नाश की पीड़ा दूर हो जाती है ॥ १८१ ॥

प्राणों का परित्याग कर देना श्रेष्ठ है किन्तु आप जैसे मित्रों का वियोग अच्छा

एवं तस्य प्रवदत आकर्णपूरितशरासनो लुब्धकोऽप्युपागतः। तं दृष्ट्वा मूषकेण तस्य स्नायुपाशस्तत्क्षणात्खण्डितः। अत्रान्तरे चित्राङ्गः सत्वरं पृष्ठमवलोकयन्प्रधावितः। लघुपतनको वृक्षामारूढः हिरण्यकश्च समीपवर्ति-बिलं प्रविष्टः।

अथासौ लुब्धको मृगगमनाद्विषण्णवदनो व्यर्थश्रमस्तं मन्थरकं मन्दं मन्दं स्थलमध्ये गच्छन्तं दृष्टवान्, अचिन्तयच्च—'यद्यपि कुरङ्गो धात्रापहृतस्त-थाऽप्ययं कूर्म आहारार्थं सम्पादितः। तदद्यास्यामिषेण मे कुटुम्बस्याहार-निर्वृत्तिर्भविष्यति। एवं विचिन्त्य तं दर्भैः सञ्छाद्य धनुषि समारोप्य स्कन्धे कृत्वा गृहं प्रति प्रस्थितः। अत्रान्तरे तं नीयमानमवलोक्य हिरण्यको दुःखाकुलः

वरं मनाक्प्रियः, अत्र मनाक्प्रियार्थे वरशब्दस्य क्लीवत्वम्; "देवादृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबेम नाक्प्रिये" इत्यमरवचनात्, किन्तु भवादृशैः सुहृद्भिरिति भावः, वियोग विच्छेदः, न, वरमित्यनुषङ्गः; प्राणाः जन्मान्तरे भूयः पुनः, भवन्ति, लभ्या इतिः शेषः, भवद्विधाः भवादृशाः, सुहृदः, न, लभ्या इति शेषः; भवादृशसज्जनबन्धु-वियोगक्लेशो हि प्राणवियोगदुःखादपि सुदुःसह इति भावः, प्राणेभ्योऽपि बन्धुः गरीयानिति निष्कर्षः ॥ १८२ ॥

(१) एवं तस्य प्रवदतः—एवं कथयन्तं तं मन्थरकमनादृत्येत्यर्थः; तस्येति—'षष्ठी चानादरे' (पा०सू० २।३।३८) इति अनादरे षष्ठी। आकर्णेति—कर्णपर्य्यन्तम् आकृष्टकार्मुकः। तस्य—चित्राङ्गस्य, स्नायुपाशः—स्नायुनिर्मित-

---

नही हैं। क्यों कि प्राण तो मृत्यु के बाद दूसरे जन्म में भी मिल जायगा किन्तु आप जैसे मित्र नही मिलेगे ॥ १८२ ॥

जिस समय वह इस प्रकार कह रहा था उसी समय कान तक धनुष को खींचे हुए बहेलिया भी आ गया। उसे देखकर चूहे ने तुरन्त उसके तांत के बने फन्दे को तत्काल ही काट दिया। इसके बाद चित्राङ्ग पीछे देखता हुआ भाग खड़ा हुआ। लघुपतनक भी वृक्ष पर चढ़ गया और हिरण्यक समीप में स्थित बिल में घुस गया।

वह बहेलिया मृग के भाग जाने और अपने परिश्रम के व्यर्थ हो जाने से उदास हो गया, किन्तु उसने धीरे धीरे भूमि पर जाते हुए कछुवे को देखा और विचार किया कि यद्यपि विधाता ने मृग को छीन लिया तथापि इस कछुवे को मेरे भोजन के लिए दे दिया। तो आज इसी के मांस से मेरे परिवार की भोजनक्रिया पूरी होगी। इस प्रकार विचार करके उसने उसे कुशों से बांध करके धनुष में लटका लिया और कंधे पर रखकर घर की ओर प्रस्थान किया। इस बीच उसको ले जाते हुए देखकर

पर्यदेवयत्—'कष्टं भोः, कष्टमापतितम् ।

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं
गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य ।
तावद्द्वितीयं समुपस्थितं मे
छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ।। १८३ ।।

तावदस्खलितं यावत्सुखं याति समे पथि ।
स्खलिते च समुत्पन्ने विषमञ्च पदे पदे ।। १८४ ।।

बन्धनरज्जुः ।

(१) पर्यदेवयत्—व्यलपत्, विलापं कृतवान् इत्यर्थः ।

कष्टकारणं विपरीतं विपदः रन्ध्रानुशरणशीलत्वमाह—एकस्येति । अहम् अर्णवस्य समुद्रस्य, असीमस्येति भावः, पारमिव परतीरमिव, एकस्य दुःखस्य यावत् अन्तम् अवसानं, न गच्छामि न प्राप्नोमि, तावत् मे मम, द्वितीयम् अपरं दुःखं; समुपस्थितम् ; तथा हि छिद्रेषु रन्ध्रेषु प्राप्तेषु सत्सु, अनर्थाः विपदः, बहुलीभवन्ति विस्तारं गच्छन्ति रन्ध्रानुसारिणः विपदः इति भावः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ।। १८३ ।।

उक्तमेवार्थं प्रकारान्तरेणाह–तावदिति । यावत् समे समतले, पथि अस्खलितम् अपतितमित्यर्थः, अविचलितपदमिति यावत्, याति, तावत् सुखम् अनायासेन, यातीति अनुषज्यते, तावत्कालं हि निरवच्छिन्नं सुखमुपभुञ्जते जना इति भावः, ; च किन्तु, स्खलिते पतने, पदच्युतौ इत्यर्थः, समुत्पन्ने समुपस्थिते सति, दुर्दैववशात् सकृदपि पादस्खलने जाते इति भावः, पदे पदे प्रतिपदं, प्रतिकार्यम् इत्यर्थः, विषमं दारुणं, विपत्सङ्कटनरूपमित्यर्थं, उपतिष्ठते इति शेषः ; सुसमये हि सुखधाराः, दुःसमये च दुःखपरम्पराः उपर्युपरि समापतितुमारभन्ते इति गूढाभिप्रायः ।। १८४ ।।

हिरण्यक दुःख से व्याकुल हो उठा और विलाप करने लगा—अरे यह तो महान् विपत्ति आ पहुँची ।

मैं अभी एक दुःखरूपी समुद्र के पार भी नहीं पहुँचा कि दूसरा दुःख आ पहुँचा । यह बहुत ठीक कहा गया है कि बुरे दिन आने पर तरह तरह के अनेक अनर्थ होने लगते हैं ।। १८६ ।।

मनुष्य समतल मार्ग में तब तक बड़े आराम से चलता रहता है जब तक कि वह लड़खड़ाता नहीं है किन्तु मार्ग के विषम हो जाने पर जब वह एक बार भी लड़खड़ा जाता है तो पग-पग पर ठोकरें खाने लगता है ।। १८४ ।।

यन्नम्रं सरलं चापि यच्चापत्सु न सीदति ।
धनुर्मित्रं कलत्रं च दुर्लभं शुद्धवंशजम् ॥ १८५ ॥
न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न चात्मजे ।
विश्रम्भस्तादृशः पुंसां यादृङ्मित्रे निरन्तरे ॥ १८६ ॥

यदि तावत्कृतान्तेन मे धननाशो विहितस्तन्मार्गश्रान्तस्य मे विश्रामभूतं मित्रं कस्मादपहृतम्? अपरमपि मित्रं परं मन्थरकसमं न स्यात् । उक्तं च—

सरलचापवत् सुकलत्रवच्च सन्मित्रस्य दुर्लभतामाह—यदिति । यत् धनुः, मित्रं, कलत्रं भार्य्या च, नम्रम् अवनमनयोग्यं विनयान्वितञ्च, तथा सरलम् अवक्रम्, ऋजुस्वभावञ्च, तथा शुद्धवंशजं सद्वेणुसम्भूतं, सत्कुलोत्पन्नञ्च, तथा आपत्सु धन्विनः मित्रस्य भर्त्तुश्च विपत्तिष्वपि च, न सीदति न भनक्ति, न खण्डितं भवतीत्यर्थः, न अवसादं गच्छति च, न विकृतिं लभते इत्यर्थः, दृढतया सहायतामेव करोतीति भावः; तत् तादृशं धनुरादित्रयं, दुर्लभं दुष्प्रापं, विरलमित्यर्थः, अयं तु तथाविधो बन्धुरिति भावः ॥ १८५ ॥

अकृत्रिममित्रस्य सर्वेभ्यो गरीयस्त्वमाह—नेति । निरन्तरे अभिन्ने, अभिन्नहृदये इति भावः, "स्वभावजे" इति पाठान्तरम् । मित्रे पुंसां यादृक् विश्रम्भः विश्वासः, भवतीति शेषः, तादृशः विश्रम्भः, मातरि न, दारेषु स्त्रिषु, सोदर्य्ये सहोदरे भ्रातरि, न, आत्मजे पुत्रे च, न, भवतीति शेषः ; तथा च, अतिविश्वासस्थानेभ्यः प्रागुक्तचतुष्टयेभ्योऽपि समधिकविश्वासास्पदं मित्रमिति तात्पर्य्यम् ॥ १८६ ॥

(१) कृतान्तेन—दैवेन । धननाशः—अर्थापहरणं, विहितः—कृत इत्यर्थः, मार्गश्रान्तस्य—अध्वक्लिष्टस्य अनाश्रयस्येति भावः । विश्रामभूतं—विश्रामस्वरूपम्, आश्रय इति भावः । अपहृतमिति—स्वर्णरौप्यादिरूपं धनं मे विधात्रा अपहृतम्, तेन न तादृशदुःखं, किन्तु सर्वथा निःस्वस्य मे सर्वदुःखापहरणं महार्घं मित्रधनं यत् अपहृतं तत्तु मे अतीव असह्यमेव इति भावः ।

जिस प्रकार शुद्ध बाँस का बना हुआ लचकदार कोमल तथा युद्ध के समय अटूट धनुष दुर्लभ होता है, उसी प्रकार अच्छे कुल में उत्पन्न, विनम्र, सरल और आपत्ति के समय दुःखी न होने वाले मित्र और पत्नी भी दुर्लभ होती है ॥ १८५ ॥

मनुष्य सर्वदा मित्र बने रहने वाले व्यक्ति पर जितना विश्वास रखता है उतना माता, पत्नी; भाई तथा पुत्र पर नहीं रखता है ॥ १८६ ॥

यदि विधाता ने मेरे धन का नाश कर ही दिया तो कोई बात नहीं । किन्तु उसने जीवन के मार्ग में थके हुए मुझको विश्राम देने वाले मेरे मित्र को मुझसे क्यों

असम्पत्तौ परो लाभो गुह्यस्य कथनं तथा ।
आपद्विमोक्षणं चैव मित्रस्यैतत्फलत्रयम् ॥ १८७ ॥

तदस्य पश्चान्नान्यः सुहृन्मे । तत्किं ममोपर्यनवरतं व्यसनशरैर्वर्षति हन्त विधिः ? यतः आदौ तावद्वित्तनाशः, ततः परिवार भ्रंशः ततो देशत्यागः; ततो मित्रवियोग इति । अथवा स्वरूपमेतत्सर्वेषामेव जन्तूनां जीवितधर्मस्य उक्तं च—

कायः सन्निहितापायः संपदः क्षणभङ्गुराः ।
समागमाः सापगमाः सर्वेषामेव देहिनाम् ॥ १८८ ॥

मित्रसङ्ग्रहस्य फलमाह—असम्पत्ताविति । असम्पत्तौ निर्धनत्वे सति, परः महान्, लाभः; धनस्येति शेषः, तथा गुह्यस्य रहस्यस्य च, कथनम् आलापः, आपद्विमोक्षणं विपत्परित्राणञ्च, मित्रस्य एतदेव फलत्रयम् एतानि त्रीण्येव प्रयोजनानि ॥ १८७ ॥

(१) तत्—तस्मात्, अस्य—मन्थरकस्य, "षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन" (पा०सू० २।३।३०) इति आतिप्रत्ययान्तपश्चाच्छब्दयोगे षष्ठी, पश्चात्—अपरः, अपरशब्दात् प्रथमार्थे 'पश्चात्' (पा०सू० ५।३।३२) इति आतिप्रत्ययः पश्चादेशश्च, मन्थरकव्यतिरिक्त इत्यर्थः, अन्यः—इतरः, सुहृत्—मित्रं, मे—मम, न, अस्तीति शेषः; एतत्समकक्षः अपरः बन्धुः मया दुर्लभ इति भावः ।

(२) व्यसनशरैः—व्यसनान्येव—विपद एव, शराः तैः । "व्यसनशरान्" इति साधुः । हन्त—खेदे । विधिः—दैवं, 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः । स्वरूपं—लक्षणम् इत्यर्थः । जीवितधर्मस्य—जीवितस्य—जीवनस्य, यो धर्मः—व्यापारः तस्य, जीवनधारणरूपव्यापारस्य इत्यर्थः ।

सर्वेषामेव क्षयित्वं प्रतिपादयति—काय इति । सर्वेषामेव देहिनां प्राणिनां,

---

छीन लिया । मेरे और भी मित्र हैं किन्तु मन्थरक के समान कोई भी नहीं है । कहा भी गया है—

मित्र बनने के ये तीन फल होते हैं—धनहीनता के समय बहुत बड़ा लाभ, गोप्य बातों का कहना तथा आपत्ति से छुटकारा मिलना ॥ १८७ ॥

इस मन्थरक के पश्चात् मेरा दूसरा कोई भी मित्र नहीं रह जायगा । तो फिर विधाता न मालूम क्यों मेरे ऊपर विपत्तियों की बाणवर्षा करता रहता है ? क्योंकि पहिले तो धन का नाश किया, फिर परिवार का विनाश किया, फिर देश छुड़ा दिया । इसके बाद मित्र के साथ वियोग भी करा दिया, अथवा सभी प्राणियों के जीवन-धर्म का यही स्वरूप है । कहा भी गया है—

सभी देहधारियों का शरीर दुःखों से परिपूर्ण है, अथवा सभी प्राणियों का

तथा च—

क्षते प्रहारा निपतन्त्यभीक्ष्णं धनक्षये दीप्यति जाठराग्निः ।
आपत्सु वैराणि समुल्लसन्ति छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥ १८९ ॥

अहो साधूक्तं केनापि—

प्राप्ते भये परित्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनम् ।
केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ॥ १९० ॥

"सर्वेषामेव देहिनाम्" इत्यत्र 'सर्वमुत्पादि भङ्गुरम्' इति पाठान्तरम्, कायः देहः; सन्निहितः आसन्नः; अपायो विध्वंसो यस्य तादृशः, अचिरविनश्वर इत्यर्थः, तथा सम्पदः धनानि, क्षणभङ्गुराः क्षणध्वंसिनः, "क्षणभङ्गुराः" इत्यत्र "पदमापदाम्" इति पाठान्तरम् । समागमाः प्रियसंयोगाः, सापगमाः सविच्छेदाः, भवन्तीति शेषः ॥ १८८ ॥

विपदां विपत्त्यन्तरजनकत्वमाह—क्षत इति । क्षते क्षतस्थाने एव, अभीक्ष्णं सततं, प्रहाराः ताडनानि, निपतन्ति सम्भवन्ति, जायन्ते इत्यर्थः; धनक्षये सति जठरसम्भूतोऽग्निः जाठराग्निः उदरानलः, क्षुधा इत्यर्थः; दीप्यति क्रीडति, वर्द्धते इत्यर्थः; तथा आपत्सु वैराणि विद्वेषाः, समुल्लसन्ति सम्यक् स्फुरन्ति; तथा हि, छिद्रेषु रन्ध्रेषु, अनर्थाः विपदः, बहुलीभवन्ति प्रसरन्ति; विपदां विपदानुगामित्वादिति भावः । उपजातिः वृत्तम् ॥ १८९ ॥

इदानीं मित्रस्य सर्वसहायेभ्योऽप्याधिक्यमाह—प्राप्त इति । भये प्राप्ते उपस्थिते सति, परित्राणं परित्रायते अनेनेति करणे ल्युट्, रक्षणहेतुरित्यर्थः, तथा प्रीत्याः प्रणयस्य, विश्रम्भस्य विश्वासस्य च, भाजनं पात्रम्, अत एव रत्नं रत्नभूतं, सर्वोत्कृष्टमित्यर्थः, इदं मित्रमिति अक्षरद्वयं द्वे अक्षरे इत्यर्थः, केन महापुरुषेणेति भावः, सृष्टम् ? निर्मितम् ? ॥ १९० ॥

शरीर नश्वर है, सम्पत्ति छण भर में नष्ट होने वाली है, और संयोग वियोग से संबद्ध है ॥ १८८ ॥

चोट में निरन्तर चोट लगती रहती है, धन के नष्ट हो जाने पर पेट की आग प्रज्वलित हो जाती है अर्थात् बहुत भूख लगती है, विपत्तियों में शत्रुता भी अधिक हो जाती है अर्थात बहुत से शत्रु बन जाते हैं। इससे सिद्ध हो जाता है कि विपत्ति के समय अनेक अनर्थ खड़े हो जाते हैं ॥ १८९ ॥

किसी ने ठीक ही कहा है—

भय के आ जाने पर रक्षा करने वाले, प्रेम और विश्वास के पात्र, दो अक्षर वाले रत्न स्वरूप इस मित्र की सृष्टि किसने की है ? ॥ १९० ॥

अत्रान्तरे चाक्रन्दपरौ चित्राङ्गलघुपतनकौ तत्रैव समायातौ । अथ हिरण्यक आह—'अहो, किं वृथा प्रलपितेन ? तद्यावदेव मन्थरको दृष्टिगोचरान्न नीयते, तावदस्य मोक्षोपायश्चिन्त्यताम्' इति । उक्तं च—

व्यसनं प्राप्य यो मोहात्केवलं परिदेवयेत् ।
क्रन्दनं वर्धयत्येव तस्यान्तं नाधिगच्छति ॥ १९१ ॥

केवलं व्यसनस्योक्तं भेषजं नयपण्डितैः ।
तस्योच्छेदसमारम्भो विषादपरिवर्जनम् ॥ १९२ ॥

---

(१) आक्रन्दपरौ—रुदन्तौ । प्रलपितेन—प्रलापेन, अनर्थकेन वचसा इत्यर्थः, । मोक्षोपायः—परित्राणोपायः ।

धैर्य्याश्रयणमेव विपदुद्धरणोपायः इत्याशयेन श्लोकद्वयमाह—व्यसनमिति । यः व्यसनं विपदं, प्राप्य लब्ध्वा, मोहात् अज्ञानात्, केवलं परिदेवयेत विलपेदेव, तथा क्रन्दनं वर्द्धयति क्रन्दनपर एव भवति इत्यर्थः; स तस्य व्यसनस्य, अन्तम् अवसानं, अधिगच्छति न प्राप्नोति, न विपदो मुच्यते इत्यर्थः; अति व्यसनपरिजिहीर्षुणा विलापो न कर्त्तव्य इति भावः ॥ १९१ ॥

केवलमिति । नयपण्डितैः नीतिकुशलैः, जनैरिति शेषः, तस्य व्यसनस्य, उच्छेद-समारम्भः विध्वंसकरणोद्योग इत्यर्थः, तथा विषादस्य अधैर्य्यस्य, विलापस्य वा-परिवर्जनं परित्यागः व्यसनस्य विपदः, केवलम् एकम्, एकमेवेत्यर्थः, "एकं मुख्या, न्यकेवलाः" इत्यमरः । भेषजम् औषधम्, उक्तं कथितम्; धैर्य्यं हि विपदुद्धारहेतु-रिति भावः ; विषादपरीहारसहकृतप्रतीकारचिन्तनमेव विपदं समूलघातं हन्तीति निष्कर्षः ॥ १९२ ॥

इसी बीच विलाप करते हुए चित्राङ्ग और लघुपतनक भी वहीं आए । तब हिरण्यक ने कहा— अरे, इस प्रकार व्यर्थ प्रलाप करने से क्या होगा ? इसलिए जब तक यह मन्थरक आँखों से ओझल नहीं हो जाता तब तक इसके छुड़ाने का उपाय सोचिए । कहा भी गया है—

जो व्यक्ति विपत्तियों में पड़कर व्याकुलता के कारण केवल चीखता चिल्लाता है, उसके इस चीखने चिल्लाने से विपत्ति बढ़ती ही है न कि उससे वह विपत्ति को पार पा सकता है ॥ १९१ ॥

नीतिशास्त्र के पण्डितों ने विषाद को छोड़ कर विपत्ति को दूर करने के उद्योग को ही विपत्तिरूपी रोग का एकमात्र औषध बताया है ॥ १९२ ॥

अन्यच्च—

अतीतलाभस्य सुरक्षणार्थं
भविष्यलाभस्य च सङ्गमार्थम् ।
आपत्प्रपन्नस्य च मोक्षणार्थं
यन्मन्त्र्यतेऽसौ परमो हि मन्त्रः' ॥ १९३ ।

तच्छ्रुत्वा वायस आह—'भोः यद्येवं तत्क्रियतां मद्वचः । एष चित्राङ्गोऽस्य मार्गं गत्वा किञ्चित्पल्वलमासाद्य तस्य तीरे निश्चेतनो भूत्वा पततु । अहमप्यस्य शिरसि समारुह्य मन्दैश्चञ्चुप्रहारैः शिरं उल्लेखयिष्यामि, येनासौ दुष्टलुब्धकोऽमुं मृतं मत्वा मम चञ्चुप्रहरणप्रत्ययेन मन्थरकं भूमौ क्षिप्त्वा मृगार्थं परिधाविष्यति । अत्रान्तरे त्वया दर्भमयानि पाशानि खण्ड-

---

योगक्षेममूलिकायाः मन्त्रणायाः श्रेष्ठतामाह—अतीतेति । अतीतः भूतः, पूर्वोपार्जित इति भावः,लभ्यते इति लाभो धनम्, अतीतश्चासौ लाभश्चेति तस्य, पूर्वोपार्जितधनस्य इत्यर्थः, सुरक्षणार्थं सुष्ठु, सञ्चयार्थं, भविष्यस्य भाविनः, अप्राप्तस्येत्यर्थः लाभस्य सङ्गमार्थं सङ्ग्रहार्थञ्च, प्राप्त्यर्थम् इत्यर्थः, आपदं प्रपन्नः प्राप्तः तस्य विपन्नस्य, मोक्षणार्थं त्राणार्थञ्च, यत् मन्त्र्यते रहसि परस्परं स्थिरीक्रियते, असौ हि परमो महान् मन्त्रः मन्त्रणा ; यथा इदानीम् आपदो मुच्येमहि, तथा मन्त्र्यतामिति भावः । उपजातिः वृत्तम् ॥ १९३ ॥

(१) अस्य—लुब्धकस्य । पल्वलं—क्षुद्रं सरः । मन्दैः—स्वल्पैः । उल्लेखयिष्यामि—विदारयिष्यामि ।

(२) चञ्चिवति—चञ्चुभ्यां यत् प्रहरणम्—आघातः, तेन यः प्रत्ययः—मृत इति विश्वासः तेन ।

(३) दर्भमयाणि—कुशमयानि । "तत्प्रकृतवचने मयट्" (पा०सू० ५।४।२१)

और भी—भूतकाल में प्राप्त किए गए लाभ की सुरक्षा, तथा भविष्य में लाभ की सम्प्राप्ति के लिए एवं आपत्ति में पड़े हुए को छुड़ाने के लिए जो मंत्रणा की जाती है, वही सर्वोत्तम मन्त्रणा (सलाह) होती है ॥ १९३ ॥

यह सुनकर कौवे ने कहा—यदि ऐसी बात है तो मेरे कहने के अनुसार करो । यह चित्रांग इस (व्याध) के मार्ग में किसी तालाब के पास पहुँच कर उसके किनारे चेतनाहीन सा होकर लेट जाय । मैं भी इसके सिर पर बैठ कर धीरे-धीरे चोंच का प्रहार करने लगूँगा । इससे यह दुष्ट व्याध इस (चित्रांग) को मरा हुआ जान और मेरे चोंच के प्रहार से विश्वस्त हो कर इस मन्थरक को भूमि पर फेंक कर

नीयानि, येनासौ मन्थरको द्रुततरं पल्वलं प्रविशति।' चित्राङ्ग आह,—"भोः, भद्रोऽयं त्वया दृष्टो मन्त्रः। नूनं मन्थरकोऽयं मुक्तो मन्तव्यः' इति।

उक्तं च—

'सिद्धं वा यदि वासिऽद्धं चित्तोत्साहो निवेदयेत्।
प्रथमं सर्वजन्तूनां तत्प्राज्ञो वेत्ति नेतरः॥ १९४॥

तदेवं क्रियताम्' इति। तथाऽनुष्ठिते स लुब्धकस्तथैव मार्गासन्नपल्वल-तीरस्थं चित्राङ्गं वायससनाथमपश्यत्। तं दृष्ट्वा हर्षितमना व्यचिन्तयत्—'नूनं पाशबन्धनवेदनया वराकोऽयं मृगः सावशेषजीवितः पाशं त्रोटयित्वा

इति मयट्।

(१) खण्डनीयानि—कर्त्तनीयानि।

मन्थरकस्य मुक्तिनिश्चयकरणे मनसः प्रामाण्यमाह—सिद्धमिति। चित्तस्य मनसः, उत्साहः उद्यमः, एकाग्रता इति यावत्, प्रथमं सिद्ध्यसिद्धिभ्यां प्रागित्यर्थः, सर्वेषां जन्तूनां सिद्धं सफलं वा, असिद्धं निष्फलं यदि वा; कार्य्यमिति शेषः; निवेदयेत् ज्ञापयेत्; प्राज्ञो जनः; तत् वेत्ति बुध्यते, इतरोऽनभिज्ञ इत्यर्थः, न, वेत्तीति पूर्वानुषङ्गः; तथा च कार्य्यस्य सिद्ध्यसिद्धिविषये सताम् अन्तःकरणमेव प्रमाणं, तच्च प्राज्ञैः आदावेव शक्यते बोद्धुम्; इतरैस्तु दुर्बोधमिति सरलार्थः। "सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः" इत्यस्यानुरूपोऽयं श्लोकः। १९४॥

(२) सावशेषजीवितः—किञ्चिदवशिष्टजीवनः, मृतप्राय इत्यर्थः। त्रोट-

---

मृग के लिए दौड़ेगा। इसी बीच तुम कुश के बने हुए फन्दे को काट देना जिससे यह मन्थरक शीघ्र ही गड्ढे में घुस जाएगा। चित्राङ्ग ने कहा—तुमने यह उत्तम विचार किया। इससे निश्चय ही मन्थरक को छूटा हुआ समझो। कहा भी गया है—

सबसे पहले मनुष्य के मन का उत्साह ही कार्य की सिद्धि या असिद्धि को बतला देता है। इसे केवल बुद्धिमान् पुरुष ही समझ पाते हैं दूसरे लोग नहीं समझ सकते॥ १९४॥

इसलिए ऐसा ही करो। ऐसा करने पर उस बहेलिये ने उसी प्रकार रास्ते के समीप ही तालाब के किनारे पड़े हुए चित्राङ्ग तथा उस पर बैठे हुए कौवे को देखा। उसे देख कर प्रसन्न चित्त से उसने विचार किया—आयु शेष रहने के कारण यह बेचारा मृग फन्दे को तोड़ कर किसी प्रकार इस वन में पहुँच तो गया

कथमप्येतद्वनान्तरं यावत्प्रविष्टस्तावन्मृतः। तद्वश्योऽयं मे कच्छपः सुयन्त्रि-तत्वात्। तदेनमपि तावद्गृह्णामि।' इत्यवधार्य कच्छपं भूतले प्रक्षिप्य मृग-मुपाद्रवत्। एतस्मिन्नन्तरे हिरण्यकेन वज्रोपमदंष्ट्राप्रहरणेन तद्दर्भवेष्टनं खण्डशः कृतम्। मन्थरकोऽपि तृणमध्यान्निष्क्रम्य समीपवर्तिनं पल्वलं प्रविष्टः चित्राङ्गोऽप्यप्राप्तस्यापि तस्य तल उत्थाय वायसेन सह पला-यितः। एतस्मिन्नन्तरे विलक्षो विषादपरो लुब्धको निवृत्तो यावत्पश्यति, तावत्कच्छपोऽपि गतः। ततश्च तत्रोपविश्येमं श्लोकमपठत्—

यित्वा—छित्वा।

(१) सुयन्त्रितत्वात्—सुबद्धत्वात्।

(२) उपाद्रवत्—अधावत।

(३) वज्रोपमदंष्ट्रापहारेण—वज्रोपमया—कुलिशतुल्या, या द्रंष्ट्रा—दन्तः, सा एव प्रहरणम्—अस्त्रं तेन; सुकठिनदन्तरूपास्त्रेण।

(४) दर्भवेष्टनं—कुशबन्धनम्।

(५) चित्राङ्ग इत्यादि—अप्राप्तस्यापि—अनुपस्थितस्य एव, अपिशब्दश्च एवार्थे। तस्य—लुब्धकस्य, अप्राप्तं तमनादृत्येत्यर्थः, 'षष्ठी चानादरे' (पा० सू० २।३।३८) इति षष्ठी। भूतले-भूतले, शायितः इति शेष, चित्राङ्गोऽपीत्यनेनान्वयः। 'तले' इत्यत्र "तूर्ण" "त्वरितम्" इत्यादि पाठकल्पनं साधु, भूतले शायित इत्याद्यर्थस्य कष्टकल्पनत्वात्।

(६) विलक्षः—विस्मितो लज्जितो वा। विषादपरः—विषण्णः, दुःखित इत्यर्थः।

किन्तु फन्दे के बन्धन की पीड़ा से मृत्यु को प्राप्त हो गया। यह कछुवा अच्छी तरह बँधा होने से मेरे वश में तो है ही। इसलिए इस मृग को भी ले लूँ। ऐसा निश्चय कर के कछुवे को पृथ्वी पर डाल कर मृग की ओर दौड़ा। इसी बीच हिरण्यक ने अपने वज्र जैसे दाँतों के प्रहार से उस कुश के वेष्टनों को टुकड़े टुकड़े कर दिया। मन्थरक भी कुशों के बीच से निकल कर समीप में ही स्थित छोटे से तालाब में घुस गया। चित्राङ्ग भी उसके पहुँचने के पहिले ही उठ कर कौवे के साथ भाग गया। इसके बाद जब लज्जित और दुःखी हो कर बहेलिए ने लौट कर देखा तो कछुवा भी चला गया था। तब उसने वहाँ बैठकर यह श्लोक पढ़ा—

'प्राप्तो बन्धनमप्ययं गुरुमृगस्तावत्त्वया मे हृतः
सम्प्राप्तः कमठः स चापि नियतं नष्टस्तवादेशतः।
क्षुत्क्षामोऽत्र वने भ्रमामि शिशुकैस्त्यक्तः समं भार्यया
यच्चान्यन्न कृतं कृतान्त ! कुरुते तच्चापि सह्यं मया' ॥ १९५ ॥

एवं बहुविधं विलप्य स्वगृहं गतः। अथ तस्मिन्व्याधे दूरतरं गते, सर्वेऽपि ते काककूर्ममृगमूषकाः परमानन्दभाजः परस्परमालिङ्ग्य पुनर्जातमिवात्मानं मन्यमानास्तदेव सरं प्राप्य महासुखेन सुभाषितकथागोष्ठीविनोदेन कालं नयन्ति स्म। एवं ज्ञात्वा विवेकिना मित्रसंग्रहः कार्यः। न च मित्रेण सह

लुब्धकस्य दैवोपालम्भनं विवृणोति—प्राप्त इति। हे कृतान्त ! दैव ! अयं गुरुमृगः महान् मृगः, बन्धनं प्राप्तोऽपि बद्धोऽपि, त्वया तावत् मे मम, "षष्ठी चानादरे" (पा०सू० २।३।३८) इत्यनादरे षष्ठी। मामनादृत्य इत्यर्थः, हृतः गृहीतः; कमठः कच्छपः, सम्प्राप्तः, मयेति शेषः, स चापि स कच्छपोऽपि, नियतं निश्चितं; तव आदेशतः आज्ञया, नष्टः पलायितः; भार्य्यया पत्न्या, शिशुकैः बालकैः, पुत्रैरित्यर्थः, समं समकालं, त्यक्तः विरहितः, पुत्रकलत्रवियुक्त इत्यर्थः, अत्र वने क्षुत्क्षामः क्षुधया निपीडितः सन् भ्रमामि पर्य्यटामि, यच्च अन्यत्, अनिष्टमिति शेषः, ते त्वयेत्यर्थः, त्वया मया इत्यर्थे ते मे इत्यवगन्तव्यौ। तथा च वामनः—"ते मे शब्दो निपातेषु" (५म अधि २अ० १० सू०) अस्यार्थस्तु वृत्तौ—"त्वया मया इत्यस्मिन्नर्थे ते मे शब्दो निपातेषु द्रष्टव्यौ"। न कृतं, तत् कुरु, तच्चापि, सर्वमिति शेषः, मया सह्यं सोढव्यम्; जगति तव नियोगस्य अशक्यपरिहारत्वात् इति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १९५ ॥

(१) विवेकिना—विज्ञेन।

हे दैव, मेरे जाल में फँसे हुए इस मोटे ताजे हिरन को तो तूने छीन ही लिया और जब यह कछुवा मिला तो वह भी तुम्हारे ही आदेश से जाता रहा। मैं इस वन में पत्नी और पुत्र से वियुक्त होकर भूखे प्यासे घूम रहा हूँ। तुमने अब तक जो नहीं किया है, उसे भी कर डालो। मैं उसे भी सहन करने के लिए तत्पर हूँ ॥ १९५ ॥

इस प्रकार तरह तरह से विलाप करते हुए वह घर को चला गया। इसके बाद उस बहेलिए के काफी दूर चले जाने पर कौवा, कछुवा, हिरन और चूहा सभी अत्यन्त आनन्दित होकर परस्पर आलिंगन करने लगे और अपने को पुनर्जीवित समझते हुए उसी तालाब पर पहुँच कर अत्यन्त आनन्द के साथ कथाओं तथा सुभाषित चर्चाओं द्वारा समय बिताने लगे। ऐसा समझ कर विवेकी पुरुषों को

व्याजेन वर्त्तितव्यमिति। उक्तं च यतः—

यो मित्राणि करोत्यत्र, न कौटिल्येन वर्त्तते।
तैः समं न पराभूतिं सम्प्राप्नोति कथञ्चन॥ १९६॥

॥ इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रे मित्रसम्प्राप्तिर्नाम
द्वितीयं तन्त्रं समाप्तम्॥ २॥

—— ० ——

---

(१) व्याजेन—कपटेन।

अकपट मित्रताया गुणमाह—य इति। अत्र संसारे, यः मित्राणि करोति, त मित्रैः, समं सह, कौटिल्येन कापट्येन, न वर्त्तते च, सः कथञ्चन कदाचन, पराभूतिं पराभवम्, अतिबलवद्भ्योऽपि शत्रुभ्यः इति शेषः, न सम्प्राप्नोति; तथा च कापट्यरहिता मैत्री करणीया, तया च परमैश्वर्य्यलाभः भवतीति निष्कर्षः॥१९६॥

॥ इति महाकवि पं० रामकुबेरमालवीयात्मज डा० सुधाकरमालवीयकृतायां
पञ्चतन्त्रस्य 'ज्योत्स्ना' व्याख्यायां मित्रसम्प्राप्तिर्नाम
द्वितीयं तन्त्रं समाप्तम्॥ २॥

—— ० ——

मित्रों का संग्रह करना चाहिए। मित्र के साथ कपट का व्यवहार नहीं करना चाहिए। कहा भी गया है—

जो मनुष्य इस संसार में मित्र बनाता है और उसके साथ कपट का व्यवहार नहीं करता है वह कभी भी शत्रुओं से पराजित नहीं किया जा सकता॥ १९६॥

॥ इस प्रकार पञ्चतन्त्र के 'मित्रसम्प्राप्ति' नामक द्वितीय तन्त्र की
डा० सुधाकर मालवीयकृत 'मृदुला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई॥ २॥

—— ० ——

पञ्चतन्त्रम्

अथ काकोलूकीयम्

(तृतीयं तन्त्रम्)

अथेदमारभ्यते काकोलूकीयं नाम तृतीयं तन्त्रम् । यस्यायमाद्यः श्लोकः—

न विश्वसेत्पूर्वविरोधितस्य शत्रोश्च मित्रत्वमुपागतस्य ।
दग्धां गुहां पश्य उलूकपूर्णां काकप्रणीतेन हुताशनेन ॥ १ ॥

---

* ज्योत्स्ना *

देवीं दूर्वादलश्यामां दधानां शालिमञ्जरीम् ।
चिन्तयेद् भारतीं देवीं वीणापुस्तकधारिणीम् ॥ १ ॥
टीकामभिनवां रम्यां 'ज्योत्स्नां' च 'मृदुलां' तथा ।
करोति बालबोधाय मालवीयः सुधाकरः ॥ २ ॥

(१) काकोलूकीयं—काकश्च उलूकश्च तयोः समाहारः काकोलूकम्, तस्य संवादो वर्णितो यस्मिन् तत्, तदधिकृत्य कृतमेतत् वा ।

शत्रौ विश्वास्यानर्थकरत्वमाह—नेति । पूर्वविरोधितस्य पूर्वं विद्वेषमापादितस्य, शत्रोः रिपोः, पश्चात् मित्रत्वं बन्धुताम्, उपागतस्य प्राप्तस्य, अपीति शेषः, न च नैव, विश्वसेत्, शत्रौ मित्रभावमापन्नेऽपि विश्वासो नैव कर्त्तव्य इत्यर्थः, श्वसितेरादादिकत्वात् 'विश्वस्यात्' इति पदमेवात्र साधुतया प्रतिभाति, तथा हि, उलूकपूर्णां पेचकाऽऽकीर्णां, गुहां काकप्रणीतेन काकेन वायसेन, मित्रतया प्रविष्टेनेति भावः, प्रणीतः

---

* मृदुला *

अब काकोलूकीय नाम का तीसरा तन्त्र प्रारम्भ हो रहा है जिसका यह पहला श्लोक है—

पहले विरोध रखने वाले किन्तु पीछे मित्रता को प्राप्त होने वाले शत्रु का विश्वास नहीं करना चाहिए । कौवे द्वारा लगाई गई अग्नि से जली हुई उल्लुओं से भरी हुई इस गुफा को देखो ॥ १ ॥

तद्यथाऽनुश्रूयते—अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम्। तस्य समीपस्थोऽनेकशाखासनाथोऽतिघनतरपत्रच्छन्नो न्यग्रोधपादपोऽस्ति। तत्र च मेघवर्णो नाम वायसराजोऽनेककाकपरिवारः प्रतिवसति स्म। स तत्र विहितदुर्गरचनः सपरिजनः कालं नयति स्म। तथाऽन्योऽरिमर्दनो नामोलूकराजोऽसङ्ख्योलूकपरिवारः गिरिगुहादुर्गाश्रयः प्रतिवसति स्म। स च रात्रावभ्येत्य सदैव तस्य न्यग्रोधस्य समन्तात्परिभ्रमति। अथोलूकराजः पूर्वविरोधवशाद्यं कञ्चिद्वायसमासादयति, तं व्यापाद्य गच्छति। एवं नित्याभिगमनाच्छनैः शनैस्तन्न्यग्रोधपादपदुर्गं तेन समन्तान्निर्वायसं कृतम्। अथवा भवत्येवम्। उक्तञ्च—

दत्तः तेन, हुताशनेन अग्निना, दग्धां भस्मीकृतां, पश्य अवलोकय। विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः। उपजातिः वृत्तम् ॥ १ ॥

(१) अनेकशाखासनाथः—बहुविटपसमन्वित इत्यर्थः।

(२) अतिघनतरपत्रच्छन्नः—अतिघनतरैः—अतिनिबिडैरित्यर्थः, पत्रैः छन्नः—आकीर्णः। न्यग्रोधपादपः—वटतरुः।

(३) विहितदुर्गरचनः—विहिता—कृता, दुर्गस्य—कोट्टस्य, शत्रुप्रवेशनिवारणार्थं दुर्गमस्थानविशेषस्येत्यर्थः, रचना—निर्माणं येन तथाभूतः।

(४) अरिमर्दनः—शत्रुनाशकः।

(५) गिरिगुहादुर्गाऽऽश्रयः—गिरेः—पर्वतस्य, गुहा—कन्दरः एव, दुर्गं—कोट्टं, शत्रुप्रवेशनिवारणार्थं दुर्गमस्थानविशेषः इत्यर्थः, आश्रयः यस्य तथोक्तः।

(६) पूर्वविरोधवशात्—पूर्ववैरहेतुना।

(७) समासादयति—प्राप्नोति। व्यापाद्य—विनाश्य।

ऐसा सुना जाता है कि दक्षिण देश में महिलारोप्य नाम का नगर है। उसके समीप ही अनेक शाखाओं से परिपूर्ण तथा सघन पत्तों से आच्छादित एक बट का वृक्ष है। उस पर मेघवर्ण नाम का कौवों का राजा कौवों के अनेक परिवारों के साथ निवास करता था। वह वहाँ दुर्ग बनाकर परिजनों के साथ समय बिता रहा था। इसके अतिरिक्त अरिमर्दन नाम का उल्लुओं का राजा असंख्य उल्लुओं वाले परिवारों के साथ पहाड़ की गुफा के किले में आश्रय लेकर निवास करता था। वह रात को आकर सदा उस बट वृक्ष के चारों ओर घूमा करता था। वह उलूकराज पहले की शत्रुता के कारण जिस किसी कौवे को पाता उसे मारकर चला जाता था। इस प्रकार प्रतिदिन आक्रमण करके धीरे-धीरे उसने बाहर की ओर से उस वटवृक्ष रूपी किले

उत्साहशक्तिसम्पन्नो हन्याच्छत्रुं लघुर्गुरुम् ।
यथा कण्ठीरवो नागं भारद्वाजः प्रक्षते ॥ २९ ॥
मायया शत्रवो वध्या अवध्याः स्युर्बलेन ये ।
यथा स्त्रीरूपमास्थाय हतो भीमेन कीचकः ॥ ३० ॥

तथा च--

उत्साहेति । नागे हस्तिनि, महाकाये इति भावः, वर्त्तमाने सत्यपीति शेषः, यथा कण्ठीरवः सिंहः, 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्यक्षः केशरी हरिः । कण्ठीरवो मृगरिपुर्मृगदृष्टिमृगाशनः ।' इति कोषः, 'नागे सुसाम्राज्यं प्रपद्यते' इति पाठे तु--नागापेक्षया क्षुद्रकायोऽपि इति भावः यथा सुसाम्राज्यं प्रपद्यते सुखेन साम्राज्यं करोति, उत्साहशक्तिसम्पन्नत्वात् इति भावः, तथा लघुः क्षुद्रो जनः, सोत्साहा अध्यवसायसमन्विता, या शक्तिः तया सम्पन्नः संयुक्तः, उत्साहशक्तिसंयुक्तश्चेत् इत्यर्थः, गुरुं महान्तमपि, प्रबलमपीत्यर्थः, शत्रुं हन्यात् ॥ २९ ॥

माययेति । ये शत्रवः बलेन पराक्रमेण, अवध्याः स्युः, ते मायया छलेन, वध्याः हन्तव्याः, यथा भीमेन स्त्रीरूपं, सैरिन्ध्रीवेशमिति यावत्, आस्थाय अवलम्ब्य, कीचकः विराटसेनापतिः, द्रौपदीधर्षणोद्यत इति यावत्, हतः विनाशितः, तद्वदिति शेषः, पुरा अज्ञातवासावस्थायां पाण्डवाः सह पाञ्चाल्या छद्मवेशेन विराटनगरमधिवसन्ति स्म । तदा अन्तःपुरवर्त्तिनीं सैरिन्ध्रीवेशां पाञ्चालीं कीचकी विराटसेनानीः कामयाञ्चक्रे । सा तु तद्वार्त्तां महानसाधिकृते भीमाय समाचचक्षे । तदाकर्ण्य भीमः 'अहमेव तव वेशेन सङ्केतस्थानं गत्वा तं निपातयिष्यामि' इत्युक्त्वा तां प्रियां समाश्वास्य कीचकाय सङ्केतं कर्त्तुमादिदेश । ततश्च रात्रौ कीचकं प्राप्य छद्मवेशेन तत्रैव निहतवानिति भारतीया कथाऽत्रानुसन्धेया ॥ ३० ॥

चौड़े तथा भारी-भरकम) मतवाले हाथी के सिर पर अपना पाँव जमा देता है अर्थात् उसे पराजित कर देता है ॥ २८ ॥]

भारद्वाज कहते हैं कि उत्साह शक्ति से भरा-पुरा छोटा (निर्बल) व्यक्ति भी अपने से बड़े (बलवान्) शत्रु को भी मार सकता है । जैसे (आकार-प्रकार में) छोटा सिंह भी (बड़े आकार-प्रकार वाले) हाथी को मार डालता है ॥ २९ ॥

जो शत्रु बल के द्वारा नहीं मारने योग्य होते हैं वे छल-कपट द्वारा मारे जा सकते हैं । जैसे भीम ने स्त्री का वेश धारण करके कीचक को मारा था ॥ ३० ॥

मृत्योरिवोग्रदण्डस्य राज्ञो यान्ति वशं द्विषः।
शष्पतुल्यं हि मन्यन्ते दयालुं रिपवो नृपम् ॥ ३१ ॥
न जातु शमनं यस्य तेजस्तेजस्वितेजसाम्।
वृथा जातेन किं तेन मातुर्यौवनहारिणा ॥ ३२ ॥
या लक्ष्मीर्नानुलिप्ताङ्गी वैरिशोणितकुङ्कुमैः।
कान्ताऽपि मनसः प्रीतिं न सा धत्ते मनस्विनाम् ॥ ३३ ॥

मृत्योरिति। द्विषः शत्रवः, मृत्योरिव यमस्येव, उग्रदण्डस्य तीक्ष्णतेजसः इत्यर्थः, राज्ञो वशम् अधीनतां, यान्ति वश्याः भवन्ति इत्यर्थः। रिपवः शत्रवः, दयालुं कृपाशीलं, युद्धविमुखमिति भावः, दयालुरिति, 'स्पृहि-गृहि-पति-दयि-निद्रा-तन्द्रा-श्रद्धाभ्य आलुच्' (पा० सू० ३।२।१५८) इति आलुच् नृपं शष्पतुल्यं तृणसमं, हेयमिति भावः, मन्यन्ते हि, तथा च जगति प्रभुत्वकामनां नृपाणां तेजस्विता कदाचिदपि न परित्यक्तव्या इति भावः ॥ ३१ ॥

न जात्विति। यस्य तेजः प्रतापः, तेजस्विनः प्रतापवतः, तेजसा प्रभावेण, शमनं शान्ति, न जातु न गच्छति, पराभवं प्राप्नोतीति भावः, मातुः जनन्याः, यौवनहारिणा तारुण्यक्षयकारिणा, वृथा जातेन निरर्थकमुत्पन्नेन, तेजोहीनत्वेन सर्वस्यैव पराभवस्थानत्वादिति भावः, तेन नरेण, किम्? न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः ॥ ३२ ॥

येति। या लक्ष्मीः वैरिणां शत्रूणाम्, शोणितान्येव कुङ्कुमानि काश्मीरजानि, रञ्जकद्रव्यविशेषाः, इति यावत्, तैः, नानुलिप्तं न म्रक्षितम्, अङ्गं यस्याः तादृशी, भवतीति शेषः, सा लक्ष्मीः, कान्ताऽपि कमनीयाऽपि, स्पृहणीयाऽपि इत्यर्थः मनस्विनां वीराणां, मनसः चित्तस्य, प्रीतिम् आनन्दम्, न धत्ते नोत्पादयति युद्धप्रियत्वात् शक्तिमतां स्वयङ्ग्रहस्वभावानां मनस्विनां न अनायाससाध्ये प्रीतिरिति

मृत्यु अर्थात् यमराज के समान कठोर दण्ड देने वाले राजा के शत्रु उसके अधीन हो जाते हैं। किन्तु सब कुछ सहन कर लेने वाले (शत्रु का प्रतीकार न करने वाले) दयालु राजा के शत्रु उसे तिनके के समान (तुच्छ) समझने लगते हैं ॥ ३१ ॥

जिस पुरुष के तेज से तेजस्वी पुरुषों का तेज शान्त न हो सका अर्थात् जो अपने तेज से तेजस्वियों को भी पराभूत न कर सका उस माता के यौवन को नष्ट करने वाले पुरुष के जन्म लेने से क्या लाभ हुआ? अर्थात् उसका जन्म लेना व्यर्थ है ॥ ३२ ॥

जिस राज्य सम्पत्ति का शरीर शत्रुओं के रुधिर रूपी कुम्कुम से लिप्त नहीं हुआ, वह सम्पत्ति रमणीय होने पर भी मनस्वी पुरुषों में अपने प्रति प्रेम नहीं उत्पन्न कर

रिपुरक्तेन संसिक्ता तत्स्त्रीनेत्राम्बुभिस्तथा ।
न भूमिर्यस्य भूपस्य का श्लाघा तस्य जीवने ॥ ३४ ॥

एवं सञ्जीवि विग्रहमन्त्रं विज्ञापयामास । अथ तच्छ्रुत्वाऽनुजीविनमपृच्छत्—'भद्र ! त्वमपि स्वाभिप्रायं निवेदय ।' सोऽब्रवीत्—'देव ! दुष्ट, स दलाधिको निर्मर्यादश्च, तत्तेन सह न सन्धिर्न विग्रहो युक्तः । केवल यानमर्हं स्यात् । उक्तञ्च—

बलोत्कटेन दुष्टेन मर्यादारहितेन च ।
न सन्धिविग्रहौ नैव विना यानं प्रशस्यते ॥ ३५ ॥

भावः ॥ ३३ ॥

रिपुरक्तेनेति । यस्य भूपस्य राज्ञः भूमिः रिपूणां रक्तेन, तथा तत् रिपूणां, याः स्त्रियः तासां नेत्राम्बुभिः नयनजलैः, पतिपुत्रादिशोकजनितैरिति भावः न संसिक्ता न सम्यक् आर्द्रा, न सिञ्चिता इत्यर्थः, तस्य जीवने का श्लाघा? का प्रशंसा ? न काऽपि इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

(१) निर्मर्यादः—मर्यादालङ्घनकारी, अशिष्टाचार इत्यर्थः । यानं—स्वराज्यस्य रक्षाविधानं कृत्वा रिपुविनाशार्थे गमनम्, शत्रोर्भीत्युत्पादनाय युद्धोद्योग इति भावः । अर्हं—योग्यम् ।

बलोत्कटेनेति । बलोत्कटेन, बलाधिकेन, दुष्टेन अनार्येण, मर्यादा शिष्टाचारः, तद्रहितेन, शत्रुणा सहेति शेषः, चकारः समुच्चये, सन्धिविग्रहो नैव, कार्यौ इति शेषः,

---

पाती है ॥ ३३ ॥

जिस राजा की भूमि शत्रुओं के रक्त तथा शत्रु-स्त्रियों के आँसू से सिंची हुई नहीं होती, उस राजा के जीवन में प्रशंसा की बात ही क्या है ? अर्थात् उसका जीवन प्रशंसनीय नहीं होता ॥ ३४ ॥

इस प्रकार संजीवी ने युद्धनीति का विचार व्यक्त किया । यह सुनकर मेघवर्ण ने अनुजीवी से प्रश्न किया—भद्र, तुम भी अपने विचारों को कह सुनाओ । उसने कहा—राजन्, वह दुष्ट बल में अधिक और अशिष्ट है । अतः उसके साथ न सन्धि ही ठीक है न विग्रह (युद्ध) ही उचित है । केवल यान ही उपयुक्त हो सकता है । कहा भी गया है—

अत्यन्त बलशाली, दुर्जन और शिष्टाचार-विहीन शत्रु के साथ सन्धि और विग्रह दोनों नीतिविरुद्ध हैं । उसके साथ केवल यान के अतिरिक्त और कोई उपाय ठीक

द्विधाकारं भवेद्यानं भयत्रस्तप्ररक्षणम् ।
एकमन्यज्जिगीषोश्च यात्रालक्षणमुच्यते ।। ३६ ।।

कार्तिके वाऽथ चैत्रे वा विजीगीषोः प्रशस्यते ।
यानमुत्कृष्टवीर्यस्य शत्रुदेशे न चान्यदा ।। ३७ ।।

अवस्कन्दप्रदानस्य सर्वे कालाः प्रकीर्तिताः ।
व्यसने वर्तमानस्य शत्रोश्छिद्रान्वितस्य च ।। ३८ ।।

तत्र यानं विना यात्राव्यतिरेकेण, अन्यदिति शेषः, न प्रशस्यते न युज्यते, यानमेव तत्र योग्यमिति भावः ।। ३५ ।।

द्विधेति । यानं द्विधाकारं द्विप्रकारं, भवेत्, एकं, तयोरिति शेषः, भयत्रस्तप्ररक्षणं भयत्रस्तानां रिपुभयार्त्तानां, प्रकर्षेण रक्षणम्, अन्यत् द्वितीयं, जिगीषोः जिधातोः सन्नतात् उप्रत्ययः जयार्थिनः, यात्रालक्षणं युद्धार्थं शत्रुं प्रति गमनस्वरूपं, नो वयं रिपुभीताः, अपि तु युद्धकामाः इत्येवं प्रकटनमिति भावः, उच्यते कथ्यते ।। ३६ ।।

कार्त्तिक इति । उत्कृष्टवीर्यस्य अधिकतेजसः, विजिगीषोः विजयार्थिनः, राज्ञः इति शेषः, कार्त्तिके वा, अथवा चैत्रे शत्रुदेशे यानं यात्रा, प्रशस्यते, अन्यदा अन्यस्मिन् काले, न च नैव, प्रशस्यते इत्यनुषङ्गः ।। ३७ ।।

अवस्कन्देति । व्यसने स्त्रीमद्यादौ, वर्त्तमानस्य प्रसक्तस्य, तथा छिद्रान्वितस्य च प्रकृतिकोपादिरूपदोषयुक्तस्य इत्यर्थः, शत्रोः अवस्कन्दप्रदानस्य अवस्कन्दः आक्रमणं,

---

नहीं है ।। ३५ ।।

यान दो प्रकार का होता है—एक (शत्रु द्वारा) भय उपस्थित होने पर प्राण और धन की रक्षा करने वाला होता है । अर्थात् प्राण तथा धन पर संकट के समय भाग कर उनकी रक्षा करना प्रथम प्रकार का यान है और दूसरा विजय चाहने वाले राजा का शत्रु पर चढ़ाई करना है अर्थात् विजय को निश्चित समझकर शत्रु पर चढ़ाई करना द्वितीय प्रकार का यान है ।। ३६ ।।

अत्यधिक शक्तिशाली तथा विजय के अभिलाषी राजा के लिए कार्त्तिक तथा चैत्र महीने में शत्रुदेश पर आक्रमण करना उत्तम माना गया है । अन्य समय अच्छे नहीं होते ।। ३७ ।।

किसी प्रकार की विपत्ति में पड़े हुए अथवा किसी प्रकार की दुर्बलता के शिकार शत्रु पर चढ़ाई करने के लिए सभी समय उत्तम बतलाए गए हैं ।। ३८ ।।

स्वस्थानं सुदृढं कृत्वा शूरैश्चाप्तैर्महाबलैः ।
परदेशं ततो गच्छेत्प्रणिधिव्याप्तमग्रतः ।। ३९ ।।
अज्ञातविवधासारतोयशस्यो व्रजेत्तु यः ।
परराष्ट्रं स नो भूयः स्वराष्ट्रमधिगच्छति ।। ४० ।।

तत्ते युक्तं कर्तुमपसरणम् । अन्यच्च—

तस्य यत् प्रदानं विधानं तस्य, सर्वे कालाः प्रकीर्त्तिताः कथिताः, तादृशशत्रुनिधनाय कालाकालविचारः न करणीयः इति भावः ।। ३८ ।।

स्वस्थानमिति । शूरैः वीरैः, महाबलैः आप्तैः विश्वस्तैः पुरुषैः, स्वस्थानं स्वं नगरं, सुदृढं शत्रुदुरासदमित्यर्थः, कृत्वा, सुसंरक्ष्येति हृदयं, राज्यरक्षणाय तथाविधाऽऽप्तपुरुषान् संस्थाप्य इति निष्कर्षः, ततः अनन्तरम्, अग्रतः पूर्वं, प्रणिधिभिः चारैः शत्रुणां छिद्रज्ञानार्थं स्वप्रेरितैरिति भावः, व्याप्तम् आकीर्णं, परदेशं शत्रुराज्यं गच्छेत्, राज्ञः चक्षुःसदृशा एव चाराः, अतः तान् अग्रतः अनियोज्य शत्रुराज्याभिगमने अन्धवत् पदे पदे स्खलनमिति तात्त्विकम् ।। ३९ ।।

अज्ञातेति । अज्ञातानि अविदितानि, विवधः अध्वा शत्रुदेशगमनमार्ग इत्यर्थः, 'विवधो वीवधश्चापि पर्याहारेऽध्वभारयोः' इति विश्वः । आसारः सुहृद्बलम्, 'आसारस्तु सुहृद्बलम् । प्रसारस्तृणकाष्ठादेः प्रवेशः ।।' इति वैजयन्ती, तोयं जलं, शस्यञ्च तानि विवधासारतोयशस्यानि येन तादृशः, शत्रुराज्ये गमनाय सुगममार्गं तथा स्वपक्षस्य शत्रुपक्षस्य च सहायखाद्यपानीयादीनां प्राचुर्यादिमननुसन्धाय इत्यर्थः, यस्तु राजा, परराष्ट्रं शत्रुदेशं, व्रजेत् गच्छेत्, सः भूयः पुनः, स्वराष्ट्रं न, अधिगच्छति न प्राप्नोति, शत्रुभिः पराजीयते इति भावः ।। ४० ।।

(१) अपसरणं—यानम् ।

(राजा को चाहिए कि) विश्वस्त महाबली शूरवीर सैनिकों द्वारा अपने देश को भलीभाँति सुरक्षित करके पहले शत्रुदेश को अपने गुप्तचरों से परिपूर्ण कर दे अर्थात् शत्रुदेश में गुप्तचरों का जाल बिछा दे। इसके पश्चात् वहाँ स्वयं प्रवेश करे ।। ३९ ।।

जो राजा (शत्रु देश के) मार्गों, अन्य साधनों, जल तथा अन्न की स्थिति को बिना जाने शत्रु-देश में जाता है, वह पुनः लौटकर अपने देश में नहीं पहुँच पाता अर्थात् या तो शत्रु देश में मारा जाता है या शत्रु द्वारा बन्दी बना लिया जाता है ।। ४० ।।

इसलिए आप के लिए यहाँ से भाग जाना ही उचित है। और भी—

न विग्रहो न संधानं बलिना तेन पापिना।
कार्यलाभमपेक्ष्याऽपसरणं क्रियते बुधैः ॥ ४१ ॥

उक्तञ्च—

यदपसरति मेषः कारणं तत्प्रहर्त्तुं,
मृगपतिरपि कोपात्संकुचत्युत्पतिष्णुः।
हृदयनिहितभावा गूढमन्त्रोपचाराः,
किमपि विगणयन्तो बुद्धिमन्तः सहन्ते ॥ ४२ ॥

नेति। बलिना बलवता, पापिना सदाचारभ्रष्टेन, तेन उलूकेन, विग्रहो युद्धं, न सन्धानं सन्धिश्च, न, कर्त्तव्यमिति शेषः, कार्यलाभं कार्यस्य विजयरूपस्य, लाभं प्राप्तिम्, अपेक्ष्य प्रतीक्ष्य, बुधैः विद्वद्भिः, अपसरणं यानं क्रियते ॥ ४१ ॥

यदिति। मेषः मेडकः यत् अपसरति पश्चात् गच्छति, अपर मेषेणाक्रान्तः इति शेषः, तत् अपसरणं, प्रहर्त्तुं कारणम् आक्रामकमेषस्य प्रहारनिमित्तमित्यर्थः, भवतीति शेषः, कोपात् उत्पतिष्णुः उत्पतनेच्छुः, उत्पूर्वकपतधातोः 'अलङ्कृञ्निराकृञ्प्रजनोत्पचोत्पतोन्मदरुच्यपत्रपवृतुवृधुसहचर इष्णुच्' (पा० सू० ३।२।१३६) इतीष्णुचि रूपम्। लक्ष्योपरीति भावः, मृगपतिः सिंहोऽपि, सङ्कुचति सङ्कोचं प्राप्नोति, कस्यापि लक्ष्यभूतस्य प्राणिन उपरि उत्पनात् प्राक् स्वाङ्गं सङ्कोच्य तत्कालावच्छेदेन उत्पतनात् निवर्त्तते इत्यर्थः, तत् द्वयोरपि कार्यं समुचितम् इति भावः। तथा हि, बुद्धिमन्तो जनाः, हृदये विहितं वैरं यैः तथोक्ताः अपि गूढः अप्रकाशितः, मन्त्रः मन्त्रणमेव, उपचारः मनोवृत्तिविशेषः येषां तथाभूताः सन्तः किमपि कारणविशेषं,

---

हे राजन्, (उस पापी और बलशाली शत्रु पर) आपको न तो दूसरे प्रकार का यान (शत्रु देश पर चढ़ाई) करना ही ठीक है और न तो उसके साथ सन्धि या युद्ध करना ही उचित है। इसके अतिरिक्त बुद्धिमान् पुरुष कारण विशेष के वशीभूत होकर अपसरण (यान अर्थात् प्राण और धन की रक्षा के लिए भाग जाना) का सहारा लेते हैं ॥ ४१ ॥

कहा भी गया है—

भेंड़ के पीछे हटने में प्रहार करना ही कारण होता है अर्थात् वह प्रहार करने के प्रयोजन से ही पीछे हटती हैं। अपने शिकार पर आक्रमण करते समय सिंह भी अपने अङ्गों को सिकोड़ लेता है। हृदय के भावों को छिपाए हुए तथा अपने विचारों और चेष्टाओं को प्रकाशित न करते हुए बुद्धिमान् पुरुष किसी (मानापमान) की भी परवाह न करते हुए सभी कुछ सहन करते रहते हैं ॥ ४२ ॥

अन्यच्च—

बलवन्तं रिपुं दृष्ट्वा देशत्यागं करोति यः।
युधिष्ठिर इवाप्नोति पुनर्जीवन् स मेदिनीम् ॥ ४३ ॥
युध्यतेऽहङ्कृतिं कृत्वा दुर्बलो यो बलीयसा।
स तस्य वाञ्छितं कुर्यादात्मनश्च कुलक्षयम् ॥ ४४ ॥

तद्बलवताभियुक्तस्यापसरणसमयोऽयं न सन्धेर्विग्रहस्य च। एवमनुजीविमन्त्रोऽपसरणस्य। अथ तस्य वचनमाकर्ण्य प्रजीविनमाह—'भद्र! त्वमप्यात्मनोऽभिप्रायं वद।' सोऽब्रवीत्—'देव! मम सन्धिविग्रहयानानि त्रीण्यपि न प्रतिभान्ति। विशेषतश्चासनं प्रतिभाति। उक्तञ्च—

विगणयन्तः विचारयन्तः, सहन्ते, शत्रूणामुपद्रवमिति शेषः। मालिनी वृत्तम् ॥ ४२ ॥

बलवन्तमिति। यः बलवन्तम् अधिकवीर्यं, रिपुं शत्रुं, दृष्ट्वा देशत्यागं करोति। स पुनर्जीवन् पुनरुभ्युदयं गच्छन्, युधिष्ठिर इव मेदिनीं राज्यम्, आप्नोति, अतः जाग्रति प्रबले वैरिणि भाविराज्यस्थैर्यमिच्छुना देशत्यागोऽपि कर्त्तव्य इति भावः ॥ ४३ ॥

युध्यते इति। यः दुर्बलः अहङ्कृतिं गर्वं, कृत्वा बलीयसा प्रबलेन सह, युध्यते, सः तस्य बलीयसः रिपोः, वाञ्छितम् अभिप्रेतं, स्वपराभवरूपम् इत्यर्थः, आत्मनः कुलक्षयञ्च वंशनाशञ्च कुर्यात् ॥ ४४ ॥

(१) न प्रतिभान्ति—न रोचन्ते, मनसि न जाग्रति इति भावः। आसनं—नायं युद्धकालः किन्तु दुर्गादिः संस्कार्यः इति कालादि प्रतीक्षया स्वस्थाने अवस्थितिः।

और भी—जो राजा अपने से बलवान् शत्रु को देखकर अपने देश का परित्याग कर देता है वह युधिष्ठिर के समान जीवित बचा रह जाता है और समयानुसार फिर अपने राज्य को प्राप्त कर लेता है ॥ ४३ ॥

जो शक्तिहीन राजा अभिमान के वशीभूत होकर अपने से शक्तिशाली राजा के साथ युद्ध करता है, वह उसी (शक्तिशाली राजा) की ही इच्छा की पूर्ति करता और अपने कुल का नाश कर डालता है ॥ ४४ ॥

इसलिए बलवान् शत्रु द्वारा आक्रान्त होने वाले हम लोगों का यह अपसरण करने (भाग जाने) का ही समय है। सन्धि या युद्ध करने का समय नहीं है। इस प्रकार अनुजीवी की राय अपसरण (यान) के पक्ष में रही। उसकी बातें सुनकर मेघवर्ण ने प्रजीवी से कहा—'हे भद्र, तुम भी अपना विचार प्रकट करो।' उसने कहा—'राजन्, मुझे तो सन्धि, विग्रह और यान तीनों ही ठीक नहीं प्रतीत

नक्रः स्वस्थानमासाद्य गजेन्द्रमपि कर्षति ।
स एव प्रच्युतः स्थानाच्छुनापि परिभूयते ॥ ४५ ॥

अन्यच्च—

अभियुक्तो बलवता दुर्गे तिष्ठेत्प्रयत्नवान् ।
तत्रस्थः सुहृदाह्वानं प्रकुर्वीतात्ममुक्तये ॥ ४६ ॥
यो रिपोरागमं श्रुत्वा भयसन्त्रस्तमानसः ।
स्वस्थानं हि त्यजेत्तत्र न स भूयो वसेन्नरः ॥ ४७ ॥

नक्र इति । नक्रः कुम्भीरः, स्वस्थानम् आसाद्य स्वस्मिन् स्थाने स्थित्वेत्यर्थः, गजेन्द्रमपि गजराजमपि, स्वस्मात् बलवन्तमपि इति भावः, कर्षति, स एव गजेन्द्राकर्षी नक्रः एव, स्थानात् स्वस्थानात्, जलादित्यर्थः, प्रच्युतः भ्रष्टः चेत्, शुना कुक्कुरेणापि, हीनबलेनेति भावः, परिभूयते पराजीयते, बध्यते इत्यर्थः, 'स्थानस्थितः कापुरुषोऽपि सिंहः' इति भावः ॥ ४५ ॥

अभियुक्त इति । बलवता प्रबलेन, शत्रुणा इति शेषः, अभियुक्तः आक्रान्तः, जनः इति शेषः, प्रयत्नवान् सावहितः सन्, दुर्गे तिष्ठेत्, तत्रस्थः दुर्गस्थितः, आत्ममुक्तये आत्मनस्त्राणाय, सुहृदां मित्राणाम्, आह्वानं प्रकुर्वीत, साहाय्यार्थं मन्त्रणार्थं वा इति भावः ॥ ४६ ॥

य इति । यः रिपोः शत्रोः, आगमम् आगमनं, युद्धार्थमिति भावः, श्रुत्वा भयेन सन्त्रस्तम् अतिभीतं, मानसं यस्य तथाभूतः सन्, स्वस्थानं सन्त्यजेत्, स नरः तत्र स्वस्थाने, भूयः पुनः, न वसेत् न वसतिं कर्त्तुं शक्नुयादित्यर्थः, नातः स्थानभ्रष्टेन भवितव्यमिति भावः ॥ ४७ ॥

होते । विशेष रूप से आसन ही उचित प्रतीत हो रहा है । कहा भी गया है—

नाक (घड़ियाल नाम का पानी का जानवर) अपने स्थान पर स्थित रहकर (अपने से बहुत बली) हाथी को भी (पानी में) खींच ले जाता है किन्तु वही नाक अपने स्थान से हटने पर (जल से बाहर होने पर) कुत्ते के द्वारा भी पराजित कर दिया जाता है ॥ ४५ ॥

और भी—बलवान् शत्रु से आक्रान्त राजा को (अपनी रक्षा का) प्रयत्न करते हुए किले में ही स्थित रहना चाहिए और वहीं रहकर शत्रु से छुटकारा पाने के लिए मित्रों को बुला भेजना चाहिए ॥ ४६ ॥

जो राजा शत्रु का आना सुनकर भय से व्याकुल होकर अपने स्थान का परित्याग कर देता है वह फिर अपने राज्य में प्रवेश नहीं पा सकता है ॥ ४७ ॥

दंष्ट्राविरहितः सर्पो मदहीनो यथा गजः।
स्थानहीनस्तथा राजा गम्यः स्यात्सर्वजन्तुषु ॥ ४८ ॥
निजस्थानस्थितोऽप्येकः शतं योद्धुं सहेन्नरः।
शक्तानामपि शत्रूणां तस्मात्स्थानं न सन्त्यजेत् ॥ ४९ ॥
तस्माद्दुर्गं दृढं कृत्वा सुभटासारसंयुतम्।
प्राकारपरिखायुक्तं शस्त्रादिभिरलङ्कृतम् ॥ ५० ॥
तिष्ठेन्मध्यगतो नित्यं युद्धाय कृतनिश्चयः।
जीवन्सम्प्राप्स्यसि क्ष्माऽन्तं, मृतो वा स्वर्गमेष्यसि ॥ ५१ ॥

दंष्ट्रेति। दंष्ट्राविरहितः भग्नदन्तः सर्पः मदहीनः मदस्रावशून्यः, गजश्च, यथा एतौ यथा निर्वीर्यत्वात् सर्वैरेव अभिभवनीयौ स्यातामित्यर्थः, तथा स्थानहीनः स्वस्थानात्, भ्रष्टः, राजा सर्वेषु जन्तुषु प्राणिषु मध्ये, येन केनचिदिति शेषः, गम्यः सुधर्षणीयः स्यात् ॥ ४८ ॥

निजेति। एकोऽपि असहायोऽपि, नरः निजस्थानस्थितः स्वदुर्गावस्थितः सन्, शक्तानामपि शक्तिमतामपि, प्रबलानामित्यर्थः, शत्रूणां शतं योद्धुं शतेन वीरैः सह विग्रहं कर्तुमित्यर्थः, सहेत् क्षमेत, शक्नुयादित्यर्थः, उभयपदिनः सहेः चौरादिकस्य वैकल्पिकतया णिचः अभावपक्षे रूपमिदम्, तस्मात् स्थानं स्वाऽऽवासं, न सन्त्यजेत् ॥ ४९ ॥

स्वमतमाह—तस्मादित्यादिद्वाभ्याम्। तस्मात् युद्धाय कृतनिश्चयः दृढसङ्कल्पः सन्, दुर्गं सुभटैः सुयोधैः, आसारैः सुहृद्बलैश्च, 'आसारस्तु सुहृद्बलम्' इति वैजयन्ती। संयुतं, प्राकारैः प्राचीरैः, परिखाभिश्च युक्तं, शस्त्रादिभिः प्रहरणादिभिः, प्रहारसाधनैरित्यर्थः, अलङ्कृतं सज्जितम्, अत एव दृढं शत्रुदुर्भेद्यमिति भावः, कृत्वा मध्यगतः तन्मध्यवर्ती सन्, नित्यं सततं, तिष्ठेत्, एवं कृते जीवन् प्राणान् तिष्ठंश्चेत्,

---

दाँत से रहित साँप तथा मद से रहित हाथी के समान अपने स्थान से च्युत राजा को सामान्य प्राणी भी अपने अधीन बना लेते हैं ॥ ४८ ॥

अपने स्थान में स्थित अकेला एक पुरुष भी सैकड़ों शक्तिशाली शत्रुओं के साथ युद्ध करने में समर्थ होता है। अतः अपना स्थान कदापि नहीं छोड़ना चाहिए ॥ ४९ ॥

इसलिए दुर्ग को दृढ़ बनाकर उसे वीर सैनिकों और रसद सामग्री से परिपूर्ण करके तथा किले के चारों ओर दीवाल (परकोटा या कोट) और खाई से वेष्टित एवं शस्त्र इत्यादि से सजाकर सर्वदा युद्ध के लिए दृढ़ निश्चय करके (राजा को) उसके

अन्यच्च—

बलिनाऽपि न बध्यन्ते लघवोऽप्येकसंश्रयाः ।
विपक्षेणापि मरुता यथैकस्थानवीरुधः ॥ ५२ ॥
महानप्येकजो वृक्षः बलवान्सुप्रतिष्ठितः ।
प्रसह्य इव वातेन शक्यो धर्षयितुं यतः ॥ ५३ ॥
अथ ये संहता वृक्षाः सर्वतः सुप्रतिष्ठिताः ।
न ते शीघ्रेण वातेन हन्यन्ते ह्येकसंश्रयात् ॥ ५४ ॥

क्ष्माऽन्तं पृथिव्यन्तं, समग्रां पृथिवीमित्यर्थः, सम्प्राप्स्यसि, मृतो वा मृतश्चेत्, युद्धे इति शेषः, स्वर्गम् एष्यसि प्राप्स्यसि, धर्मार्थयोः द्वयोरेव पुरुषार्थत्वात् युगपत् उभयप्राप्तेरसम्भावच्च तदेकतराभ्युदय एव महोदयः पुरुषाणाम्, स च इत्थं कृते भवितव्यमेव इति भावः ॥ ५०-५१ ॥

बलिनेति । मरुता वायुना, प्रबलेनापीति भावः, एकस्थानवीरुधः स्वस्थाने एव सजातीयाभिः बह्वीभिः सह अवस्थिताः, लताः यथा न बध्यन्ते न विनाश्यन्ते, तथा बलिनाऽपि प्रभूतशक्तिनाऽपि, विपक्षेण शत्रुणा, एकः संश्रयो येषां तथोक्ताः एकस्थानस्थाः, स्वस्थाने एव मित्रवर्गैः सह अवस्थिताः इत्यर्थः, लघवोऽपि दुर्बला अपि, न बध्यन्ते इति पूर्वानुषङ्गः ॥ ५२ ॥

महानिति । महान् विशालः, बलवान् सुप्रतिष्ठितोऽपि सुबद्धमूलोऽपि, एकजः एकाकी एव स्थितः इत्यर्थः, वृक्षः यतः वातेन वायुना प्रसह्य इव बलादिव, धर्षयितुं भङ्क्तुं शक्यः समर्थः, तस्मात् एकाकी न सन्तिष्ठेदिति भावः ॥ ५३ ॥

अथेति । अथ पक्षान्तरे, ये वृक्षाः संहताः मिलिताः, अपरवृक्षैरिति शेषः,

---

भीतर रहना चाहिए । क्योंकि यदि वह जीवित बचा रह गया तो राज्य फिर प्राप्त हो जायेगा और यदि मर गया तो स्वर्ग को प्राप्त करेगा ॥ ५०-५१ ॥

और भी—एक ही स्थान में मिलकर आश्रय लेने वाले निर्बल व्यक्ति भी शक्तिशाली शत्रु द्वारा उसी प्रकार पराजित नहीं किए जा सकते जिस प्रकार एक ही स्थान पर मिलीजुली उगी हुई लताएँ प्रतिकूल वायु द्वारा भी उखाड़ी नहीं जा सकती हैं ॥ ५२ ॥

बहुत बड़ा, पुष्ट एवं मजबूत जड़ों वाला वृक्ष अकेला होने के कारण सहन करने योग्य अर्थात् मन्द वायु द्वारा भी उखाड़ कर गिरा दिया जाता है ॥ ५३ ॥

इसके अतिरिक्त आपस में मिले हुए तथा सभी ओर से मजबूत जड़ों वाले वृक्ष एक स्थान पर स्थित होने के कारण ही अत्यन्त तीव्र गति वाले वायु से भी गिराए

एवं मनुष्यमप्येकं शौर्येणापि समन्वितम् ।
शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते हिंसन्ति च ततः परम् ॥ ५५ ॥

एवं प्रजीविमन्त्रः। इदमासनसंज्ञकम्। एतत्समाकर्ण्य चिरञ्जीविनं प्राह—'भद्र! त्वमपि स्वाभिप्रायं वद।' सोऽब्रवीत्—'देव! षाड्गुण्यमध्ये मम संश्रयः सम्यक् प्रतिभाति। तत्तस्यानुष्ठानं कार्यम्।' उक्तञ्च—

असहायः समर्थोऽपि तेजस्वी किं करिष्यति ।
निर्वाते ज्वलितो वह्निः स्वयमेव प्रशाम्यति ॥ ५६ ॥

सर्वतः समन्तात्, सुप्रतिष्ठिताः सुबद्धमूलाः, ते शीघ्रेण वेगवताऽपि, प्रबलेनापि इत्यर्थः, वातेन एकसंश्रयात् एकत्रावस्थानात्, न हन्यन्ते हि नैव विनाश्यन्ते इत्यर्थः, अत एव स्वाऽऽवासे एव सर्वैः मिलित्वा अवस्थातव्यमिति भावः ॥ ५४ ॥

एवमिति। द्विषन्तः शत्रवः, शौर्येण विक्रमेण, समन्वितमपि युक्तमपि, एकम् असहायं, मनुष्यम्, एवम् एकं वृक्षं वायुरिवेति भावः, शक्यम्, अभिभवितुमिति शेषः, मन्यन्ते, ततः परं तदनन्तरम्, अभिभवनीयज्ञानानन्तरमित्यर्थः हिंसन्ति च, वीर्यवन्तमपि शत्रुम् एकाकिनम् अवलोक्य को नाम विरमेत्? इति भावः ॥ ५५ ॥

(१) षाड्गुण्यमध्ये—सन्धिविग्रहयानाऽऽसनद्वैधीभावसमाश्रयमध्ये। संश्रयः—दुर्बलस्य बलवद्धार्मिकविजयिनृपसमाश्रयणम्।

संश्रयस्य प्रयोजनमाह—असहाय इति। तेजस्वी शक्तिमान् जनः, समर्थोऽपि योग्योऽपि, युद्धं कर्तुमिति शेषः, असहायः चेत् किं करिष्यति? न किमपि कर्तुं

नहीं जा सकते हैं ॥ ५४ ॥

इसी प्रकार वीरता से परिपूर्ण होते हुए भी अकेले व्यक्ति को शत्रु विनाश करने योग्य समझते और अवसर मिलते ही उसका विनाश भी कर डालते हैं ॥ ५५ ॥

इस प्रकार प्रजीवी ने अपनी राय व्यक्त की। यह 'आसन' नाम वाली नीति (यान) है। इसे सुनकर मेघवर्ण ने चिरंजीवी से कहा—'भद्र, तुम भी अपना विचार प्रकट करो।' उसने कहा—'देव, सन्धि आदि छः प्रकार की नीतियों में मुझे संश्रय नाम की नीति ही उचित प्रतीत होती है। इसलिए उसका ही अनुष्ठान करना चाहिए। कहा भी गया है—

अत्यन्त तेजस्वी और पराक्रमी होते हुए भी सहायताहीन अर्थात् अकेला व्यक्ति क्या कर सकेगा? अर्थात् सहायता के अभाव में उसका तेज उसी प्रकार नष्ट हो

सङ्गतिः श्रेयसी पुंसां स्वपक्षे च विशेषतः।
तुषैरपि परिभ्रष्टा न प्ररोहन्ति तण्डुलाः॥ ५७॥

तदत्रैव स्थितेन त्वया कश्चित् समर्थः समाश्रयणीयः, यो विपत्प्रतीकारं करोति। यदि पुनस्त्वं स्वस्थानं त्यक्त्वाऽन्यत्र यास्यसि; तत्कोऽपि ते वाङ्मात्रेणाऽपि सहायत्वं न करिष्यति। उक्तञ्च यतः—

वनानि दहतो वह्नेः सखी भवति मारुतः।
स एव दीपनाशाय कृशे कस्यास्ति सौहृदम्॥ ५८॥

शक्ष्यतीत्यर्थः, तथा हि, निर्वाते वायुशून्यदेशे, वह्नेः वायुसखत्वात् सहायाभवावति स्थाने इति भावः, ज्वलितो वह्निः तेजोमयोऽपीति भावः, स्वयमेव, आत्मनैव, प्रशाम्यति निर्वाणमेति, सहायाभावादिति भावः, वायोः सहायतामन्तरेण यथा तेजसा प्रदीप्तोऽपि वह्निः स्वयमुपशाम्यति, तथा तेजःप्रदीप्तः शक्तिसम्पन्नोऽपि पुमान् सहायहीनश्चेत् शमतामेव धत्ते इति निष्कर्षः। दृष्टान्तालङ्कारः॥ ५६॥

तदेव भङ्ग्यन्तरेणाह—सङ्गतिरिति। पुंसां पुरुषाणां, सङ्गतिः सम्मेलनं, सहायसङ्ग्रहः इत्यर्थः बहुभिरेकत्रावस्थानम् इत्यर्थो वा, विशेषतः विशेषेण, प्रकृत्यादित्वात् तृतीया, ततः तसिल् स्वपक्षे श्रेयसी अतिशयेन श्रेयस्करीत्यर्थः, तथा हि, तण्डुलाः तुषैरपि बुषैरपि, परिभ्रष्टाः विच्युताः सन्तः, न प्ररोहन्ति नोत्पद्यन्ते, नाङ्कुरिता भवन्तीत्यर्थः, संहत्यभावादिति भावः॥ ५७॥

(१) समर्थः—शक्तिमान्, शत्रुपराजयक्षम इत्यर्थः।

वनानीति। मारुतः वायुः, वनानि दहतः भस्मीकुर्वतः, प्रबलस्येति भावः, वह्नेः

जायगा जैसे वायु रहित स्थान में जलती हुई अग्नि अपने आप बुझ जाती है॥ ५६॥

मनुष्यों का परस्पर मिल-जुल कर रहना और खास करके अपने सजातीयों से मेल रखना अत्यन्त उत्तम होता है। सब जाति से अलग रहकर मनुष्य उसी प्रकार उन्नति नहीं कर सकता जैसे चावल (भूसी रहित धान) भूसी से रहित हो जाने पर अंकुरित नहीं हो सकता है॥ ५७॥

इसलिए यहीं रहकर तुम्हें किसी पराक्रमी व्यक्ति का आश्रय (सहारा) लेना चाहिए जो तुम्हारी विपत्तियों के दूर करने का उपाय करे। यदि तुम अपना स्थान छोड़कर अन्यत्र चले जाओगे तो कोई केवल बात से भी तुम्हारी सहायता नहीं करेगा। क्योंकि कहा भी गया है—

जंगलों को जलाती हुई आग की सहायता हवा भी करती है किन्तु वही हवा दीपक की लौ को शान्त कर देती है। भला दुर्बल व्यक्ति के प्रति कौन मित्रभाव

अथवा नैतदेकान्तं यद्बलिनमेकं समाश्रयेत्। लघूनामपि संश्रयो रक्षायै एव भवति। उक्तञ्च यतः—

सङ्घातवान् यथा वेणुर्निबिडो वेणुभिर्वृतः।
न शक्यः स समुच्छेत्तुं दुर्बलोऽपि तथा नृपः ॥ ५९ ॥

यदि पुनरुत्तमसश्रयो भवति तत्किमुच्यते ? उक्तञ्च—

महाजनस्य सम्पर्कः कस्य नोन्नतिकारकः।
पद्मपत्रस्थितं तोयं धत्ते मुक्ताफलश्रियम् ॥ ६० ॥

सखा सहाय इत्यर्थः, भवति, स एव प्रबलवह्नेः सखा स मारुतः एवेत्यर्थः, दीपनाशाय प्रदीपनिर्वापणाय, वर्त्तिकां दहतः क्षीणस्य वह्नेः ध्वसाय इति भावः, प्रभवतीति शेषः, तथा हि, कृशे क्षीणे जने, कस्य सौहृदं सद्भावः, अस्ति ? न कस्यापीत्यर्थः ॥ ५८ ॥

(१) एकान्तं—दृढं, सिद्धान्तितमित्यर्थः।

सङ्घातवानिति। वेणुभिः वंशैः, वृतः वेष्टितः, सङ्घातवान् समूहालम्बनः, अत एव निविडः घनः, सः अतिकृश इति भावः, वेणुः यथा समुच्छेत्तुं विनाशयितुं, न शक्यः, तथा दुर्बलोऽपि, ससहायः इति शेषः, नृपः, न समुच्छेत्तुं शक्यः इति पूर्वानुषङ्गः, 'स्वल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका' इति भावः ॥ ५९ ॥

महाजनस्येति। महाजनस्य महतो जनस्य, सम्पर्कः सम्बन्ध इत्यर्थः, कस्य जनस्य, उन्नतिकारकः न ? अपि तु सर्वस्यैवेत्यर्थः, तथा हि, पद्मपत्रस्थितं तोयं जलं, मुक्ताफलस्य श्रियं कान्तिं, धत्ते धारयति, महतः संसर्गादिति भावः ॥ ६० ॥

रखता है ? ॥ ५८ ॥

किन्तु किसी बलवान् का ही आश्रय लिया जाय, यह कोई आवश्यक नियम नहीं है। बल्कि बहुत से निर्बलों का आश्रय भी रक्षा करने में समर्थ होता हैं। क्योंकि कहा भी गया है—

जिस तरह बहुत से घने बाँसों से घिरा हुआ एक छोटा बाँस भी (बिना सभी बाँसों के काटे) काटा नहीं जा सकता। उसी तरह दुर्बल राजा भी बहुतों की सहायता पाने से नष्ट नहीं किया जा सकता है ॥ ५९ ॥

फिर यदि श्रेष्ठ लोगों का आश्रय मिले तो कहना ही क्या है ? कहा भी गया है—

बड़े लोगों का सम्पर्क किस की उन्नति करने वाला नहीं होता अर्थात् बड़े लोगों का सम्पर्क सबको उन्नति पर पहुँचा देता है। देखिए कमल के पत्ते पर स्थिर पानी (की बूँद) मोती जैसी शोभा प्राप्त कर लेता है ॥ ६० ॥

तदेवं संश्रयं विना न कश्चित्प्रतीकारो भवति। तस्मात् संश्रयः कार्यः इति मेऽभिप्रायः। एवं चिरञ्जीविमन्त्रः।

अथैवमभिहिते स मेघवर्णो राजा चिरन्तनं पितृसचिवं दीर्घायुषं सकलनीतिशास्त्रपारङ्गतं स्थिरजीविनामानं प्रणम्य प्रोवाच—'तात! यदेते मया पृष्टाः सचिवास्तावदत्रस्थितस्यापि तव तत्परीक्षार्थम्, येन त्वं सकलं श्रुत्वा यदुचितं, तन्मे समादिशसि। तद्युक्तं भवति, तत्समादेश्यम्।' स आह—'वत्स! सर्वैरप्येतैर्नीतिशास्त्राश्रयमुक्तं सचिवैः। तदुपयुज्यते स्वकालोचितं सर्वमेव। परमेष द्वैधीभावस्य कालः। उक्तञ्च—

अविश्वासं सदा तिष्ठेत्सन्धिना विग्रहेण च।
द्वैधीभावं समाश्रित्य नैव शत्रौ बलीयसि॥ ६१॥

---

(१) चिरन्तनं—चिरकालादागतम्, कुलक्रमागतमित्यर्थः। अत्र स्थितस्यापि तव—अत्र स्थाने स्थितं त्वामनादृत्येत्यर्थः, अनादरे षष्ठी, अथवा सम्बन्धविवक्षया षष्ठी, त्वयि अत्र स्थितेऽपि इत्यर्थः, तत्र 'तत्परीक्षार्थम्' इति एकं पदम्, तेषां परीक्षायां भवानेव मध्यस्थो भविष्यतीति भावः। नीतिशास्त्राश्रयं—नीतिशास्त्रानुमोदितं, वचनमिति शेषः। स्वकालोचितं—स्वसमयोचितं, स्वावस्थाऽनुरूपमित्यर्थः। द्वैधीभावस्य—प्रबलरिपुद्वयमध्ये काकाक्षिवदलक्षिततया स्थितः 'इदं राज्यमहञ्च तवैव' इति वाचा उभयत्र आत्मानं समर्पयन् अवस्थानस्य।

अविश्वासमिति। बलीयसि प्रबले, शत्रौ सन्धिता मैत्रीस्थापनेन, विग्रहेण युद्धेन

इसलिए मेरी धारणा है कि संश्रय (दूसरे के सहारे) के बिना (इस विपत्ति से छूटने का) कोई (दूसरा) उपाय नहीं है। इस प्रकार चिरंजीवी ने अपना विचार प्रकट किया।

उन सभी (मन्त्रियों) के ऐसा कहने के पश्चात् राजा मेघवर्ण ने अपने पिता के पुराने दीर्घजीवी तथा सम्पूर्ण नीतिशास्त्र के पारगामी स्थिरजीवी नाम वाले मन्त्री को प्रणाम करके कहा—'हे तात, तुम्हारे यहाँ उपस्थित रहने पर भी मैंने जो इन मन्त्रियों से पूँछा, वह उनकी परीक्षा के लिए ही था। जिससे आप सभी सुनकर जो उचित हो, वह मुझे आदेश करेंगे। इसलिए जो उचित हो, वैसा आदेश प्रदान करें।' उसने कहा—'पुत्र, इन सभी मन्त्रियों ने नीतिशास्त्र का आश्रय लेकर ही कहा है जो सभी अपने-अपने समय के लिए उचित है। किन्तु यह समय द्वैधीभाव का समय है। कहा भी गया है—

शत्रु के बलवान् होने पर (नीतिज्ञ पुरुष को चाहिए कि) वह उसका विश्वास

तच्छत्रुं विश्वास्याविश्वस्तैर्लोभं दर्शयद्भिः सुखेनोच्छिद्यते रिपुः ।
उक्तञ्च—

उच्छेद्यमपि विद्वांसो वर्धयन्त्यरिमेकदा ।
गुडेनवर्धितः श्लेष्मा सुखं वृद्धया निपात्यते ॥ ६२ ॥

तथा च—

स्त्रीणां शत्रोः कुमित्रस्य पण्यस्त्रीणां विशेषतः ।
यो भवेदेकभावेन न स जीवति मानवः ॥ ६३ ॥

च, सदा अविश्वासं सन्दिग्धं यथा तथा, तिष्ठेत्, केनापि छलेन सन्धिभङ्गभयात् युद्धे पराजयाशङ्कया च इति भावः, किन्तु द्वैधीभावं प्रबलरिपुद्वयमध्ये काकाक्षिवदलक्षित-भावेनावस्थितः 'राज्येन सह अहं तवैव' इति उभयत्र वाचा आत्मानं समर्पयन् दुर्गमाश्रित्य स्वाभ्युदयापेक्षया अवस्थानं, समाश्रित्य अवलम्ब्य, नैव अविश्वासं तिष्ठेत्, एकेन वैरिणा कदाचिदाक्रान्ते अपर साहाय्येन आत्मानं रक्षयामि इति निश्चित्य निश्चिन्तत्वादिति भावः ॥ ६१ ॥

उच्छेद्यमिति । विद्वांसः पण्डिताः, उच्छेद्यमपि विनाशयोग्यमपि, अरिं रिपुम्, एकदा एकस्मिन् काले, कदाचिदित्यर्थः, वर्द्धयन्ति तस्य विश्वासोत्पादनाय अभ्युदया-दिकमुपेक्षन्ते इत्यर्थः, तथा हि, गुडेन वर्द्धितः वृद्धिं नीतः, श्लेष्मा वृद्धया वर्द्धनेनैव, सुखम् अनायासेन निपात्यते निहन्यते, यथा कश्चित् गुडेन श्लेष्मिणः श्लेष्माणं वर्द्धयित्वा पश्चात् तं श्लेष्माणम् अनायासेन निपातयति, तद्वत् प्रथमं विश्वासमुत्पाद्य उपेक्ष्य च शत्रुं वर्द्धयन् पश्चात् अनवहितं तं सुखेन निपातयेदिति भावः ॥ ६२ ॥

स्त्रीणामिति । यः मानवः, स्त्रीणां, शत्रोः, कुमित्रस्य निन्दितबन्धोः, विशेषतश्च पण्यस्त्रीणां वेश्यानां सम्बन्धे, एकभावेन एकरूपमनोवृत्त्या उपलक्षितः, भवेत्, मनसा

न करते हुए, द्वैधीभाव (छल से, शत्रु के साथ बाहर से मित्रता का व्यवहार करके अन्त में उसे नष्ट कर देने) के द्वारा (अर्थात् कभी सन्धि और कभी युद्ध का अभियान करता हुआ) रहे ॥ ६१ ॥

स्वयं शत्रु का विश्वास न करे। परन्तु अपने ऊपर विश्वास दिलाकर और (नयी-नयी) आशाएँ दिखाते हुए शत्रु को आसानी से बुद्धिमान् पुरुष नष्ट कर देते हैं। कहा भी गया है—

नीतिनिपुण पुरुष विनाश के योग्य भी शत्रु को एक बार बढ़ावा देते हैं। क्योंकि गुड़ के द्वारा बढ़ाया हुआ कफ (खाँसी) आसानी से नष्ट कर दिया जाता है ॥ ६२ ॥

और भी, इस संसार में जो मनुष्य स्त्री, शत्रु, दुष्टमित्र और विशेष रूप से

कृत्यं देवद्विजातीनामात्मनश्च गुरोस्तथा ।
एकभावेन कर्तव्यं शेषं द्वैध समाश्रितम् ।। ६४ ।।
एको भावः सदा शस्तो यतीनां भावितात्मनाम् ।
स्त्रीलुब्धानां न लोकानां विशेषेण महीभृताम् ।। ६५ ।।

तद् द्वैधीभाव संश्रितस्य तव स्वस्थाने वासो भविष्यति, लोभाश्रयाच्च शत्रुमुच्चाटयिष्यसि । अपरं—यदि किञ्चिच्छिद्रं तस्य पश्यसि, तद्गत्वा व्यापादयिष्यसि । मेघवर्ण आह—'तात ! मया सोऽविदितसंश्रयः ।

अन्यं वचसा च अन्यं भावं न दर्शयेदिति भावः, स मानवः न जीवति, स्त्र्यादिभिरेव स हन्यते, अतः जिजीविषुणा तत्र तादृशविश्वासः न कर्त्तव्य इति भावः ।। ६३ ।।

कृत्यमिति । देवद्विजातीनां देवताब्राह्मणानाम्, आत्मनः स्वस्य, तथा गुरोः कृत्यं कार्यम्, एकभावेन बाह्याभ्यन्तरैक्येनेति भावः, कर्त्तव्यं विधेयं, शेषम् अवशिष्टं, देवादिकृत्यादन्यदित्यर्थः, कृत्यमिति शेषः, द्वैधं द्विभावं, समाश्रितं प्राप्तं, द्विभावेनैव युक्तमित्यर्थः, कर्त्तव्यमिति पूर्वानुषङ्गः, तदन्यथाऽनर्थापातशङ्कयेति भावः ।। ६४ ।।

एक इति । भावितात्मनां शुद्धस्वरूपाणाम्, ईश्वरासक्तचेतसामित्यर्थः, यतीनां योगिनां सम्बन्धे, सदा एको भावः अनुरागः, विश्वासः वा, शस्तः प्रशंसनीयः, स्त्रीषु लुब्धानां लोभपरायणानां, स्त्र्यासक्तानामित्यर्थः, लोकानां, विशेषेण महीभृतां राज्ञां न, एको भावः शस्त इति पूर्वानुषङ्गः, तेषां तु द्वैधीभावः विधेयः इत्यर्थः ।। ६५ ।।

(१) लोभाश्रयात्—लोभपरवशत्वात्, शत्रोरिति शेषः । उच्चाटयिष्यसि—

वेश्याओं के साथ निष्कपट व्यवहार करता है, वह जीवित नहीं रहता ।। ६३ ।।

देवता, ब्राह्मण, अपना और गुरु का कार्य निष्कपट भाव से करना चाहिए, शेष (मनुष्यों के) कार्य द्वैधीभाव (अर्थात् बाहर से कुछ और अन्दर से कुछ और) से करना चाहिए ।। ६४ ।।

ईश्वरासक्त शुद्धान्तःकरण यति लोगों के साथ निष्कपट व्यवहार करना चाहिए, किन्तु स्त्रीपरायण पुरुष के साथ और विशेषकर राजाओं के साथ शुद्ध भाव से व्यवहार नहीं करना चाहिए ।। ६५ ।।

इसलिये द्वैधीभाव का आश्रयण (अर्थात् मन में कुछ और, कर्म में कुछ और) करने से आप अपने स्थान पर भी बने रहेंगे (अर्थात् अपना स्थान छोड़ने की आवश्यकता न होगी) और शत्रु को लुभाकर उखाड़ भी सकेंगे और, यदि उसकी निर्बलता आपको ज्ञात होगी तो आप जाकर उसका नाश भी कर सकेंगे । मेघवर्ण ने कहा—'हे तात ! मुझे तो उसके स्थान का भी पता नहीं है । फिर मैं उसकी कमजोरी

तत्कथं तस्य छिद्रं ज्ञास्यामि ?' स्थिरजीव्याह—वत्स ! न केवलं स्थानं, छिद्राण्यपि तस्य प्रकटीकरिष्यामि प्रणिधिभिः। उक्तञ्च—

गावो गन्धेन पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति वै द्विजाः।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनः ॥ ६६ ॥

उक्तञ्चात्र विषये—

यस्तीर्थानि निजे पक्षे परपक्षे विशेषतः।
गुप्तैश्चारैर्नृपो वेत्ति न स दुर्गतिमाप्नुयात् ॥ ६७ ॥

मेघवर्ण आह—'तात ! कानि तीर्थान्युच्यन्ते ? कति संख्यानि च ? कीदृशाः गुप्तचराः ? तत्सर्वं निवेद्यताम्' इति। स आह—'अत्र विषये

दूरीकरिष्यसि। अविदितसंश्रयः—अज्ञातावासः। प्रकटीकरिष्यामि—प्रकाशयिष्यामि। प्रणिधिभिः—चारैः।

गाव इति। गावः गन्धेन पश्यन्ति जानन्ति, पदार्थान् निरूपयन्ति इत्यर्थः, द्विजाः ब्राह्मणाः, वेदैः सामादिभिः, पश्यन्ति सदसती विचारयन्ति इति भावः, राजानः चारैः प्रणिधिभिः, पश्यन्ति परराष्ट्रव्यापारं जानन्तीत्यर्थः, इतरे जनाः द्विजातिनृपतिव्यतिरिक्ता इत्यर्थः, चक्षुर्भ्यां, पश्यन्तीत्यनुषङ्गः ॥ ६६ ॥

य इति। यः नृपः गुप्तैः छद्मवेशिभिः, चारैः निजे पक्षे विशेषतः परपक्षे शत्रुपक्षे, तीर्थानि मन्त्र्याद्यष्टादशस्थानानि, तीर्थं शास्त्रेऽध्वरे क्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु। 'योनौ जलावतारेषु मन्त्र्याद्यष्टादशस्वपि।' इति विश्वः। वेत्ति जानाति, सः दुर्गतिं दुरवस्थां, न आप्नुयात् न पराभवं लभेत् ॥ ६७ ॥

कैसे जान सकूँगा ?' स्थिरजीवी ने कहा—'वत्स ! मैं गुप्तचरों द्वारा केवल उसका स्थान ही नहीं, प्रत्युत उसके (अन्तः) छिद्र भी प्रकाशित करूँगा। कहा भी गया है—

गाय (आदि पशु) गन्ध (घ्राण शक्ति) के द्वारा वस्तुओं का पता लगा लेते हैं। ब्राह्मण वेदों (शास्त्रों) के द्वारा, राजा गुप्तचरों से दूसरे राष्ट्र की बात जान लेते हैं, और साधारण जन तो नेत्रों से ही देखते हैं ॥ ६६ ॥

इस विषय में कहा भी गया है—

जो राजा गुप्तचरों द्वारा अपने पक्ष के (लोगों की गतिविधि को) और विशेष कर शत्रु पक्ष के तीर्थों (राजपुरुषों) को जानता है वह दुर्गति (संकट) को प्राप्त नहीं होता ॥ ६७ ॥

मेघवर्ण ने कहा—'हे तात ! तीर्थ किसे कहते हैं ? और वे कितने हैं ?

भगवता नारदेन युधिष्ठरः प्रोक्तः, यच्छत्रुपक्षेऽष्टादशतीर्थानि, स्वपक्षे पञ्चदश। त्रिभिस्त्रिभिर्गुप्तचरैस्तानि ज्ञेयानि। तैर्ज्ञातैः स्वपक्षः परपक्षश्च वश्यो भवति। उक्तञ्च नारदेन युधिष्ठिरं प्रति—

कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः॥ ६८॥

तीर्थशब्देनायुक्तकर्माभिधीयते। तद्यदि तेषां कुत्सितं भवति, तत्स्वामिनोऽभिघाताय, यदि प्रधानं भवति तद्वृद्धये स्यादिति। तद्यथा—मन्त्री, पुरोहितः, सेनापतिः, युवराजः, दौवारिकः, अन्तर्वेशिकः, प्रशासकः

कच्चिदिति। त्रिभिः त्रिभिः अविज्ञातैः गूढैः छद्मवेशेङ्गितैरित्यर्थः, चारकैः प्रणिधिभिः, अन्येषु विपक्षेषु इत्यर्थः, अष्टादश, स्वपक्षे दश पञ्च च पञ्चदश तीर्थानि वेत्सि कच्चित्? जानासि किम्? अपि तु जानास्येव इत्यभिप्रायवेदनं कच्चित् शब्दस्यार्थः, 'कच्चित कामप्रवेदने' इत्यमरः॥ ६८॥

(१) अयुक्तकर्म—अयुक्ते—अनवहिते रिपौ, कर्म—विनाशचेष्टादिरूपमित्यर्थः, अयुक्ते—आपद्गते प्रभौ, कर्म—आपदुद्धरणरूपमित्यर्थो वा, यस्य सः, मन्त्र्यादीत्यर्थः। तत्—तीर्थम्। दौवारिकः—द्वाररक्षकः। अन्तर्वेशिकः—अन्तर्वेशे—अन्तःपुरे नियुक्तः, 'तत्र नियुक्तः' (पा० सू० ४।४।६९) इति सूत्रेण नियुक्तार्थे ठक्, संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वात् न वृद्धिः। अन्तर्वेशः नियोज्यतया अस्ति अस्य इति व्युत्पत्त्या वा। अन्तःपुरचरः, अन्तःपुररक्षणाय नियुक्तः कञ्चुक्यादिरिति यावत्। अन्तर्वेशिकशब्दोऽप्यत्रैव अर्थे व्यवह्रियते—'अन्तःपुरे त्वधिकृतः स्यादन्तर्वेशिको जनः' इत्यमरः। प्रशासकः—प्रकर्षेण शासनकर्त्ता, सर्वशासनाध्यक्षः इत्यर्थः। समा-

---

गुप्तचर कैसे होते हैं? यह सब बताइए।' उसने कहा—'इस विषय में भगवान् नारद ने युष्धिठर से कहा है कि शत्रु पक्ष में अठ्ठारह और अपने पक्ष में पन्द्रह तीर्थ होते हैं। तीन-तीन गुप्तचरों के द्वारा उनको जानना चाहिए। उनको जानने से अपने और शत्रु दोनों पक्ष के लोग वश में हो जाते हैं। नारद ने युधिष्ठिर से कहा है—

क्या आप गुप्तवेशधारी तीन-तीन चरों के द्वारा शत्रुओं के अठ्ठारह और अपने पक्ष के पन्द्रह तीर्थों को जानते हैं?॥ ६८॥

'तीर्थ' शब्द से राजकार्य में नियुक्त पुरुषों को कहा जाता है। यदि यह तीर्थ अर्थात् राजपुरुष शत्रु पक्ष में मिला हुआ (विश्वासघाती) हो तो स्वामी के विनाश का कारण होता है और वही श्रेष्ठ हो तो उन्नति का कारण होता है। जैसे वे तीर्थ ये हैं—१. मन्त्री, २. पुरोहित, ३. सेनापति, ४. युवराज, ५. द्वाररक्षक, ६. अन्तः-

समाहर्तृ-मन्त्रिधातृ-प्रदेष्टृ-ज्ञापकाः, साधनाध्यक्षः, गजाध्यक्षः, कोशाध्यक्षः, दुर्गपाल-करपाल-सीमापाल प्रोत्कटभृत्याः, एषां भेदेन द्राक् रिपुः साध्यते।

स्वपक्षे च देवी, जननी, कञ्चुकी, मालिकः, शय्यापालकः, स्पर्शाध्यक्षः; सांवत्सरिकः, भिषक्, जलवाहकः, ताम्बूलवाहकः, आचार्यः, अङ्गरक्षकः, स्थानचिन्तकः, छत्रधरः, विलासिनी, एषां वैरद्वारेण स्वपक्षे विघातः।

हर्त्रित्यादि—समाहर्त्ता—करसङ्ग्रहकर्त्ता, सन्निधाता—सङ्गृहीतकराणां सन्निधानकारकः। प्रदेष्टा—मार्गोपदेष्टा। ज्ञापकः—वेदयिता, संवादस्येति भावः। साधनाध्यक्षः—बलाध्यक्षः। कोशाध्यक्षः—धनाध्यक्षः। दुर्गेत्यादि—दुर्गपालः—दुर्गरक्षिता। करपालः—राजस्वरक्षकः। सीमापालः—सीमाध्यक्षः। प्रोत्कटभृत्यः—प्रबलकर्मचारी। भेदेन—उपजापेन, स्वामिन उपरि वैरूप्यसम्पादनेन इत्यर्थः। द्राक्—झटिति, 'स्राग्झटित्यञ्जमाह्नाय द्राङ्मङ्क्षु, सपदि द्रुते' इत्यमरः। साध्यते—वशीक्रियते।

(१) देवी—कृताभिषेका स्त्री, 'देवी कृताभिषेकायाम्' इत्यमरः। कञ्चुकी—'अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः। सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते।' इत्युक्तलक्षणः। मालिकः—मालाकरः, राज्ञः अन्तःपुरे नित्यमाल्यदायकः इत्यर्थः। शय्यापालकः—शय्यारक्षिता। स्पर्शाध्यक्षः—राज्ञः स्पर्शेन्द्रियग्राह्याणाम् अनुलेपनादीनाम् अधिपतिः। सांवत्सरिकः—दैवज्ञः। भिषक्—चिकित्सकः। जलवाहकः—पानीयभारी। आचार्यः—गुरुः। अङ्गरक्षकः—शरीररक्षी। स्थानचिन्तकः—उपवेशनस्थानस्य सदसद्भावविवेचकः। विलासिनी—वेश्या। एषां—देवीप्रभृतीनां, वैरद्वारेण—शत्रुतासम्पादनद्वारा, राजसमीपं अबाधगतित्वात् एषां वैरद्वारेण हननस्य

पुररक्षक, ७. कलेक्टर, ८. मालगुजारी एकत्र करने वाला, ९. पुरुषों को परिचय कराने वाला, १०. न्यायाध्यक्ष (जज), ११. प्रजा की सूचनाओं अथवा आवेदनपत्रों को राजा को बताने वाला (पेशकार), १२. सेना का मुख्य अधिपति, १३. हस्ति-विभाग का अध्यक्ष, १४. खजाञ्ची, १५. किले का अधिकारी, १६. टैक्स वसूल करने वाला (पाठान्तर में जेलर, कैदखाने का मालिक), १७. सीमाप्रदेश की रक्षा करने वाला, १८. प्रिय भृत्य आदि। इनको अपनी ओर मिला लेने पर शत्रु पक्ष शीघ्र ही वश में हो जाता है।

अपने पक्ष में—१. राजपत्नी, २. राजमाता, ३. अन्तःपुर में रहने वाला वृद्ध ब्राह्मण, ४. माली, ५. शय्यारक्षक, ६. गुप्तचरों का अध्यक्ष, ७. ज्योतिषी, ८. वैद्य, ९. जल लाने वाला, १०. पानदान के रखने वाला, ११. आचार्य ...

भगवता नारदेन युधिष्ठरः प्रोक्तः, यच्छत्रुपक्षेऽष्टादशतीर्थानि, स्वपक्षे पञ्चदश। त्रिभिस्त्रिभिर्गुप्तचरैस्तानि ज्ञेयानि। तैर्ज्ञातैः स्वपक्षः परपक्षश्च वश्यो भवति। उक्तञ्च नारदेन युधिष्ठिरं प्रति—

कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः॥ ६८॥

तीर्थशब्देनायुक्तकर्माभिधीयते। तद्यदि तेषां कुत्सितं भवति, तत्स्वामिनोऽभिघाताय, यदि प्रधानं भवति तद्वृद्धये स्यादिति। तद्यथा—मन्त्री, पुरोहितः, सेनापतिः, युवराजः, दौवारिकः, अन्तर्वेशिकः, प्रशासकः

कच्चिदिति। त्रिभिः त्रिभिः अविज्ञातैः गूढैः छद्मवेशेङ्गितैरित्यर्थः, चारकैः प्रणिधिभिः, अन्येषु विपक्षेषु इत्यर्थः, अष्टादश, स्वपक्षे दश पञ्च च पञ्चदश तीर्थानि वेत्सि कच्चित्? जानासि किम्? अपि तु जानास्येव इत्यभिप्रायवेदनं कच्चित् शब्दस्यार्थः, 'कच्चित कामप्रवेदने' इत्यमरः॥ ६८॥

(१) अयुक्तकर्म—अयुक्ते—अनवहिते रिपौ, कर्म—विनाशचेष्टादिरूपमित्यर्थः, अयुक्ते—आपद्गते प्रभौ, कर्म—आपदुद्धरणरूपमित्यर्थो वा, यस्य सः, मन्त्र्यादीत्यर्थः। तत्—तीर्थम्। दौवारिकः—द्वाररक्षकः। अन्तर्वेशिकः—अन्तर्वेशे—अन्तःपुरे नियुक्तः, 'तत्र नियुक्तः' (पा० सू० ४।४।६९) इति सूत्रेण नियुक्तार्थे ठक्, संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वात् न वृद्धिः। अन्तर्वेशः नियोज्यतया अस्ति अस्य इति व्युत्पत्त्या वा। अन्तःपुरचरः, अन्तःपुररक्षणाय नियुक्तः कञ्चुक्यादिरिति यावत्। अन्तर्वेशिकशब्दोऽप्यत्रैव अर्थे व्यवह्रियते—'अन्तःपुरे त्वधिकृतः स्यादन्तर्वेशिको जनः' इत्यमरः। प्रशासकः—प्रकर्षेण शासनकर्त्ता, सर्वशासनाध्यक्षः इत्यर्थः। समा-

---

गुप्तचर कैसे होते हैं? यह सब बताइए।' उसने कहा—'इस विषय में भगवान् नारद ने युधिष्ठर से कहा है कि शत्रु पक्ष में अठारह और अपने पक्ष में पन्द्रह तीर्थ होते हैं। तीन-तीन गुप्तचरों के द्वारा उनको जानना चाहिए। उनको जानने से अपने और शत्रु दोनों पक्ष के लोग वश में हो जाते हैं। नारद ने युधिष्ठिर से कहा है—

क्या आप गुप्तवेशधारी तीन-तीन चरों के द्वारा शत्रुओं के अठारह और अपने पक्ष के पन्द्रह तीर्थों को जानते हैं?॥ ६८॥

'तीर्थ' शब्द से राजकार्य में नियुक्त पुरुषों को कहा जाता है। यदि यह तीर्थ अर्थात् राजपुरुष शत्रु पक्ष में मिला हुआ (विश्वासघाती) हो तो स्वामी के विनाश का कारण होता है और वही श्रेष्ठ हो तो उन्नति का कारण होता है। जैसे वे तीर्थ ये हैं—१. मन्त्री, २. पुरोहित, ३. सेनापति, ४. युवराज, ५. द्वाररक्षक, ६. अन्तः-

समाहर्तृ-सन्निधातृ-प्रदेष्टृ-ज्ञापकाः, साधनाध्यक्षः, गजाध्यक्षः, कोशाध्यक्षः, दुर्गपाल-करपाल-सीमापाल प्रोत्कटभृत्याः, एषां भेदेन द्राक् रिपुः साध्यते।

स्वपक्षे च देवी, जननी, कञ्चुकी, मालिकः, शय्यापालकः, स्पर्शाध्यक्षः; सांवत्सरिकः, भिषक्, जलवाहकः, ताम्बूलवाहकः, आचार्यः, अङ्गरक्षकः, स्थानचिन्तकः, छत्रधरः, विलासिनी, एषां वैरद्वारेण स्वपक्षे विघातः।

हर्त्रित्यादि—समाहर्त्ता—करसङ्ग्रहकर्त्ता, सन्निधाता—सङ्गृहीतकराणां सन्निधानकारकः। प्रदेष्टा—मार्गोपदेष्टा। ज्ञापकः—वेदयिता, संवादस्येति भावः। साधनाध्यक्षः—बलाध्यक्षः। कोशाध्यक्षः—धनाध्यक्षः। दुर्गेत्यादि—दुर्गपालः—दुर्गरक्षिता। करपालः—राजस्वरक्षकः। सीमापालः—सीमाध्यक्षः। प्रोत्कटभृत्यः—प्रबलकर्मचारी। भेदेन—उपजापेन, स्वामिन उपरि वैरूप्यसम्पादनेन इत्यर्थः। द्राक्—झटिति, 'स्राग्झटित्यञ्जसाह्नाय द्राङ्मङ्क्षु, सपदि द्रुते' इत्यमरः। साध्यते—वशीक्रियते।

(१) देवी—कृताभिषेका स्त्री, 'देवी कृताभिषेकायाम्' इत्यमरः। कञ्चुकी—'अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः। सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते।' इत्युक्तलक्षणः। मालिकः—मालाकरः, राज्ञः अन्तःपुरे नित्यमाल्यदायकः इत्यर्थः। शय्यापालकः—शय्यारक्षिता। स्पर्शाध्यक्षः—राज्ञः स्पर्शेन्द्रियग्राह्याणाम् अनुलेपनादीनाम् अधिपतिः। सांवत्सरिकः—दैवज्ञः। भिषक्—चिकित्सकः। जलवाहकः—पानीयभारी। आचार्यः—गुरुः। अङ्गरक्षकः—शरीररक्षी। स्थानचिन्तकः—उपवेशनस्थानस्य सदसद्भावविवेचकः। विलासिनी—वेश्या। एषां—देवीप्रभृतीनां, वैरद्वारेण—शत्रुतासम्पादनद्वारा, राजसमीपे अबाधगतित्वात् एषां वैरद्वारेण हननस्य

पुररक्षक, ७. कलेक्टर, ८. मालगुजारी एकत्र करने वाला, ९. पुरुषों को परिचय कराने वाला, १०. न्यायाध्यक्ष (जज), ११. प्रजा की सूचनाओं अथवा आवेदनपत्रों को राजा को बताने वाला (पेशकार), १२. सेना का मुख्य अधिपति, १३. हस्तिविभाग का अध्यक्ष, १४. खजान्ची, १५. किले का अधिकारी, १६. टैक्स वसूल करने वाला (पाठान्तर में जेलर, कैदखाने का मालिक), १७. सीमाप्रदेश की रक्षा करने वाला, १८. प्रिय भृत्य आदि। इनको अपनी ओर मिला लेने पर शत्रु पक्ष शीघ्र ही वश में हो जाता है।

अपने पक्ष में—१. राजपत्नी, २. राजमाता, ३. अन्तःपुर में रहने वाला वृद्ध ब्राह्मण, ४. माली, ५. शय्यारक्षक, ६. गुप्तचरों का अध्यक्ष, ७. ज्योतिषी, ८. वैद्य, ९. जल लाने वाला, १०. पानदान ले चलने वाला, ११. आचार्य, १२. अङ्गरक्षक,

तथा च—

वैद्यवात्सरिकाऽऽचार्याः स्वपक्षेऽधिकृताश्चराः ।
यथाऽऽहितुण्डिकोन्मत्ताः सर्वं जानन्ति शत्रुषु ॥ ६९ ॥

तथा च—

कृत्वा कृत्यविदस्तीर्थेष्वन्तः प्रणिधयः पदम् ।
विदाङ्कुर्वन्तु महतस्तलं विद्विषदम्भसः ॥ ७० ॥

सुकरत्वादिति भावः ।

वैद्येति । चराः गूढचारिणः, अहितुण्डिकोन्मत्ताः विषयवैद्याः क्षिप्ताय सन्तः, गुप्तचराः विषवैद्यवेशम् उन्मत्तवेशञ्च परिगृह्य चरन्तः इति निष्कर्षः, यथा शत्रुषु सर्वं रहस्यमित्यर्थः जानन्ति तथा अधिकृताः प्राप्ताधिकाराः अतीवविश्वस्तत्वात् तदधिकारं नियुक्ता इत्यर्थः, वैद्यवात्सरिकाऽऽचार्याः भिषग्दैवज्ञगुरवः, स्वपक्षे, सर्वं जानन्तीति पूर्वानुषङ्गः, अत एषां वैरद्वारेण स्वपक्षे विघातः इति बोध्यम् ॥ ६९ ॥

कृत्वेति । कृत्यविदः कार्यज्ञाः विधिज्ञाश्च, प्रणिधीयन्ते इति प्रणिधयः गूढपुरुषाः, गुप्तचराः, इति यावत्, 'प्रणिधिर्गूढपुरुषः' इति हलायुधः, तीर्थेषु मन्त्र्याद्यष्टादशस्थानेषु, जलावतारेषु च 'योनौ जलावतारे च मन्त्र्याद्यष्टादशस्वपि । पुण्यक्षेत्रे तथा पात्रे तीर्थं स्यात्' इति हलायुधः । अन्तः पदं स्थानं पादप्रक्षेपञ्च, कृत्वा महतः प्रबलस्य, गभीरस्य च, विद्विषन् शत्रुरेवाम्भः तस्य तलं स्वरूपम्, आशयमिति यावत्,

---

१३. निवासाध्यक्ष (राजमहल का रक्षक), १४. छत्रधर, १५, वेश्या आदि— इनकी शत्रुता के द्वारा अपने वर्ग का विनाश होता है । जैसा कि कहा भी गया है—

अपने पक्ष में वैद्य, ज्योतिषी और गुरु को गुप्तचर कार्य में नियुक्त करना चाहिए, तथा सपेरे और उन्मत्त अर्थात् पागल का छद्म वेश धारण करने वाले पुरुष को भी शत्रुओं के सब हाल को जानते हैं (अतः इन्हें भी नियुक्त करना चाहिए) ॥ ६९ ॥

विमर्श—शत्रुपक्ष में इन्हें इसलिए नियुक्त करना चाहिए क्योंकि वैद्य आदि सब जगह आसानी से आ जा सकते हैं । इसलिए इनको गुप्तचर बनाने को कहा गया है । इसी प्रकार सपेरे आदि भी बिना किसी सन्देह के शत्रुपक्ष में आ जा सकते हैं ॥६९॥

जिस प्रकार कार्य में चतुर कारीगर घाटों में उतर कर गहरे जल की भी थाह पा लेते हैं उसी तरह कार्य को समझने वाले गुप्तचर मन्त्री आदि पूर्वोक्त अट्ठारह तीर्थों में अपना स्थान करके—उनमें हिलमिल कर—शत्रु के कार्य को जानें ॥ ७० ॥

एवं मन्त्रिवाक्यम् आकर्ण्य मेघवर्ण आह—'तात ! अथ किं निमित्तम् एवंविधं प्राणान्तिकं सदैव वायसोलूकानां वैरम् ?' स आह—'वत्स !

१ : काकोलूकवैर-कथा

कदाचित् हंस-शुक-वक-कोकिल-चातकोलूक-मयूर-कपोत पारावत-विष्किर-प्रभृतयः सर्वेऽपि पक्षिणः समेत्य सोद्वेगं मन्त्रयितुम् आरब्धाः—'अहो ! अस्माकं तावत् वैनतेयो राजा, स च वासुदेवभक्तः न कामपि चिन्ताम् अस्माकं करोति, तत् किं तेन वृथास्वामिना, यो लब्धकपाशैः नित्यं निबध्यमानानां न रक्षां विधत्ते ? उक्तञ्च —

अधश्च, 'अधःस्वरूपयोरस्त्री तलम्' इत्यमरः विदाङ्कुर्वन्तु विदधातोर्लोटि 'विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्' (पा० सू० ३।१।४१) इति निपातः जानन्तु ॥ ७० ॥

(१) प्राणान्तिकं—जीवनान्तकरम् । वायसेति । 'येषाञ्च विरोधः—' (पा० सू० २।४।९) इति सूत्रेण नित्यद्वन्द्वैकवद्भावव्यवस्थितेः 'वायसोलूकानाम्' इत्यत्र वायसोलूकस्य' इत्येव भवितुं युक्तम्, 'काकोलूकमित्यादौ परत्वात् विभाषा वृक्ष-मृगेति प्राप्त चकारेण बाध्यते' इति दीक्षितोक्तेः, बहुवचनबीजन्तु मित्रसम्प्राप्तौ (३२५) पृष्ठस्थटीकायां प्रागेवास्माभिः प्रदर्शितम् इत्यवधेयम् ।

[१]

(२) वैनतेयः—विनतानन्दनः, गरुड इत्यर्थः । लुब्धकपाशैः—व्याधजालैः ।

इस तरह का मन्त्री का वचन सुनकर बीच में ही मेघवर्ण ने कहा—'हे तात ! कौवे और उल्लुओं का यह प्राण लेने वाला वैर किस कारण से हुआ ?' उसने कहा—वत्स !

कौए और उल्लू के वैर की कथा

किसी समय हंस, तोता, बगुला, कोयल, पपीहा, उल्लू, मोर, कबूतर, परेवा और कुक्कुट आदि सभी पक्षी एकत्रित होकर शोकाकुल चित्त से परस्पर मन्त्रणा करने लगे—'हमारे राजा तो वैनतेय हैं, वे नारायण के भक्त हैं, परन्तु हमारी कुछ भी खबर नहीं लेते । इसलिए उस नाममात्र के स्वामी से क्या लाभ, जो शिकारियों के जाल में फँसते हुए भी हम लोगों की रक्षा नहीं करते ? कहा भी गया है—

योऽ न रक्षति वित्रस्तान् पीड्यमानान् परैः सदा ।
जन्तून् पार्थिवरूपेण स कृतान्तो न संशयः ॥ ७१ ॥
यदि न स्यान्नरपतिः सम्यङ्नेता ततः प्रजा ।
अकर्णधारा जलधौ विप्लवेतेह नौरिव ॥ ७२ ॥
षडिमान् पुरुषो जह्याद्भिन्नां नावमिवार्णवे ।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥ ७३ ॥
अरक्षितारं राजानं भार्याञ्चाप्रियवादिनीम् ।
ग्रामकामञ्च गोपाल वनकामञ्च नापितम् ॥ ७४ ॥

य इति । यः परैः शत्रुभिः, पीड्यमानान्, अत एव सदा वित्रस्तान् भीतान्, जन्तून् प्रजा इत्यर्थः, न रक्षति, स पार्थिवरूपेण, राजरूपेण राजरूपीत्यर्थः, 'प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' (वा०) इति तृतीया कृतान्तो यमः, अत्र संशयः न नास्ति ॥ ७१ ॥

यदीति । यदि सम्यक् सुष्ठु, नेता नायकः, परिचालक इत्यर्थः, नरपतिः न स्यात्, ततः तदा, प्रजा जलधौ समुद्रे, अकर्णधारा नाविकशून्या, नौः तरणिः इव, इह संसारे, विप्लवेत विपर्यासं गच्छेत्, म्रियेत इत्यर्थः ॥ ७२ ॥

युग्मेन त्याज्यानाह—षडित्यादि । पुरुषः अर्णवे समुद्रे, अर्णस् शब्दात् अस्त्यर्थे वप्रत्ययः, सलोपश्च निपातनात्, भिन्नां त्रुटितां, नावमिव तरणिमिव, अप्रवक्तारं प्रकृष्टवाक्यकथनानर्हम्, असम्यगुपदेष्टारमिति यावत्, मौनिनमिति वा, आचार्यं गुरुम्, अनधीयानम् अध्ययनवर्जितं, मूर्खमित्यर्थः, ऋत्विजं पुरोहितम्, अरक्षितारं रक्षणपराङ्मुखं, राजानम्, अप्रियवादिनीं कर्कशभाषिणीं, भार्याम्, ग्रामकामं ग्रामलुब्धं, गोचारणाय ग्रामं विहाय प्रचुरतृणसम्पन्नं वनमगच्छन्तमित्यर्थः, गोपालं

जो शत्रुओं से सताए जाते हुए, अतएव सदा ही भयभीत रहने वाले प्राणियों की अर्थात् अपनी प्रजा की रक्षा नहीं करता, वह निस्सन्देह राजा के रूप में यमराज ही है ॥ ७१ ॥

यदि राजा प्रजा का उचित नेतृत्व नहीं करता अर्थात् अच्छा मार्गदर्शक (सन्मार्ग में चलाने वाला) राजा न हो, तब प्रजा उसी प्रकार नष्ट हो जाती हैं जैसे नाविक के बिना समुद्र में नौका डूब जाती है ॥ ७२ ॥

जैसे नाविक समुद्र में टूटी हुई, डूबने वाली नाव को छोड़ देते हैं—वैसे ही इन छः पुरुषों को भी छोड़ देना चाहिए—१. अच्छी तरह न पढ़ाने वाले आचार्य को, २. स्वाध्याय न करने वाले (मूर्ख) पुरोहित को, ३. रक्षा न करने वाले राजा को,

तत् सञ्चिन्त्य अन्यः कश्चित् राजा विहङ्गमानां क्रियताम् इति ।

अथ तैः भद्राऽऽकारम् उलूकम् अवलोक्य सर्वैः अभिहितं—'यत् एष उलूको राजा अस्माकं भविष्यति, तत् आनयीन्तां नृपाभिषेकसम्बन्धिनः सम्भाराः' इति ।

अथ साधिते विविधतीर्थोदके, प्रगुणीकृते अष्टोत्तरशतमूलिकासङ्घाते, प्रदत्ते सिंहासने, वर्त्तिते सप्तद्वीपसमुद्रभूधरविचित्रे धरित्रीमण्डले, प्रसारिते व्याघ्रचर्मणि, आपूरितेषु हेमकुम्भेषु, दीपेषु वाद्येषु च, सज्जीकृतेषु दर्पणादिषु माङ्गल्यवस्तुषु, पठत्सु वन्दिमुख्येषु, वेदोच्चारणपरेषु, समुदितमुखेषु

गोपम्, वनकामम् अरण्याभिलाषिणं, लोकालयं विहाय केवलं वनं गन्तुमुन्मुखमित्यर्थः, वने लोकाभावात् विस्मृतक्षौरकार्यमिति भावः, नापितञ्च, इमान् षट् जह्यात् त्यजेत्, एषां परिग्रहे कार्यवैफल्यस्यावश्यम्भावित्वादिति भावः ॥ ७३-७४ ॥

(१) भद्राकारं—शोभनावयवं, प्रशान्तमूर्त्तिमित्यर्थः । सम्भाराः—द्रव्याणि ।

(२) साधिते—प्रकर्षेण सज्जीकृते, यथाप्रयोजनं सङ्गृह्य गणानां कृत्वा स्थापिते इत्यर्थः । अष्टेत्यादि—अष्टाधिकशतविधमूलसमूहे । वर्त्तिते—उपस्थिते । प्रसारिते—विस्तारिते, पतिते इत्यर्थः । आपूरितेष्विति । विशेषणमिदं हेमकुम्भदीपवाद्येषु यथासम्भवं योज्यम्, तथा च, प्रथमम् आपूरितेषु पूर्णेषु, जलेन इति शेषः, द्वितीयं तैलेन, तृतीयं शब्देन इति यथार्हं शेषानुसन्धानं कार्यम् । वन्दिमुख्येषु—स्तुतिपाठकश्रेष्ठेषु । समुदितमुखेषु—समुदितानि—परस्परं मिलितानि, मुखानि—

---

४. कटुभाषिणी पत्नी को, ५. ग्राम पसन्द करने वाले ग्वाले को और ६. जंगल चाहने वाले नाई को (क्योंकि इनसे किसी का हित नहीं होता है अतः ये त्याज्य हैं) ॥ ७३–७४ ॥

इसलिए विचार कर किसी दूसरे को पक्षियों का राजा बनाना चाहिए ।

इसके बाद उलूक को सुरूपवान् समझ कर उन सब ने मिलकर कहा कि–'यह उल्लू ही हमारा राजा होगा। इसलिए राज्याभिषेक सम्बन्धी सब सामग्रियाँ लानी चाहिए ।'

तत्पश्चात् नाना पवित्र नदियों के जल लाने, १०८ जड़ी-बूटियों के संग्रह करने, सिंहासन रखने, पृथ्वीमण्डल का ऐसा चित्र—जिसमें कि सात द्वीप, सात समुद्र और सात पर्वत चित्रित किए गए हों—बनाने, व्याघ्रचर्म बिछाने, (जल से) सुवर्णकलशों, (तेल से) दीपकों और (मुखवायु से) वाद्यों के भरने, दर्पण आदि माङ्गलिक वस्तुओं के तैयार करने, उत्तम चारणों से स्तुति-पाठ करने, मिलकर—एक साथ

ब्राह्मणेषु, गीतपरे युवतीजने, आनीतायाम् अग्रमहिष्यां कृकालिकायाम्, उलूकोऽभिषेकार्थं यावत् सिंहासने उपविशति, तावत् कुतोऽपि वायसः समायातः। सोऽचिन्तयत्—'अहो ! किमेष सकलपक्षिसमागमो महोत्सवश्च ?'

अथ ते पक्षिणः तं दृष्ट्वा मिथः प्रोचुः—'पक्षिणां मध्ये वायसः चतुरः श्रूयते ॥ उक्तञ्च—

नराणां नापितो धूर्त्तः पक्षिणाञ्चैव वायसः।
दंष्ट्रिणाञ्च शृगालस्तु श्वेतभिक्षुस्तपस्विनाम् ॥ ७५ ॥

तदस्यापि वचनं ग्राह्यम्। उक्तञ्च—

कण्ठस्वराः इत्यर्थः, येषां तेषु, समस्वरेण वेदपाठं कुर्वत्सु इति निष्कर्षः, समपूर्वकवद्धातोः क्तप्रत्ययेन रूपमिदम्। अग्रमहिष्यां—प्रधानमहिष्यां, कृकालिकायां—तदाख्यपेचकपत्न्याम्।

नराणामिति। नराणां मनुष्याणां मध्ये, नापितः, पक्षिणां मध्ये वायसः काकः, दंष्ट्रिणां जन्तूनां मध्ये शृगालः तथा तपस्विनां मुनीनां मध्ये, सर्वत्र निर्द्धारणे षष्ठी। श्वेतभिक्षुः श्वेताम्बरः, क्षपणकभेदः, धूर्त्तः, जैनसम्प्रदायेषु श्वेताम्बराः दिगम्बराश्च परिव्राजकभेदाः दृश्यन्ते, तेषां निन्दितत्वेनात्र धूर्त्तत्वमुक्तम्, जिनदत्तसूरिणा जैनं मतमित्थमुक्तं, यथा—'भुङ्क्ते न केवलं न स्त्रीं मोक्षमेति दिगम्बरः। प्राहुरेषामयं भेदो महान् श्वेताम्बरैः सह।' इति। अपरे तु—श्वेतभिक्षुः श्वेतः श्वेतवर्णः, भिक्षुः परिव्राजकः, नारद इत्यर्थः, धूर्त्तः, तस्य श्वेतवर्णत्वात्, 'मुनिधूर्त्तश्च नारदः' इति पाठान्तराच्च इत्याहुः ॥ ७५ ॥

एक स्वर से ब्राह्मणों के वेदपाठ करने, युवतियों के गीत गाने, कृकालिका नामक प्रधान रानी के लाए जाने पर जिस समय उलूक सिंहासन पर बैठने को उद्यत हुआ उसी समय कहीं से एक कौवा आ गया। वह सोंचने लगा—ये सब पक्षी क्यों सम्मिलित हुए हैं और यह उत्सव कैसा है ?

तब उन पक्षियों ने उसको देख कर आपस में कहा—'पक्षियों में कौवा सबसे अधिक चतुर सुना जाता है। क्योंकि कहा भी गया है—

मनुष्यों में नाई, पक्षियों में काक, हिंस्र (नखजीवी) जन्तुओं में सियार और तपस्वियों में श्वेताम्बर (जैन) भिक्षु सबसे अधिक चतुर एवं धूर्त्त सुने जाते है ॥ ७५ ॥

इसलिए इसकी भी परामर्श लेनी चाहिए। क्योंकि कहा भी गया है—

बहुधा बहुभिः सार्द्धं चिन्तिताः सुनिरूपिताः ।
कथञ्चिन्न विलीयन्ते विद्वद्भिश्चिन्तिता नयाः ॥ ७६ ॥

अथ वायसः समेत्य तान् आह—'अहो किं महाजनसमागमोऽयं परम-महोत्सवश्च ?' ते प्रोचुः—'भोः ! नास्ति कश्चित् विहङ्गमानां राजा, तदस्य उलूकस्य विहङ्गराज्याभिषेको निरूपितः तिष्ठति समस्तपक्षिभिः, तत् त्वमपि स्वमतं देहि, प्रस्तावे समागतोऽसि ।'

अथ असौ काको विहस्य आह—'अहो ! न युक्तमेतत्, यन्मयूर हंस-कोकिल चक्रवाक शुक-कारण्डव-हारीत-सारसादिषु पक्षिप्रधानेषु विद्य-मानेषु दिवाऽन्धस्य अस्य करालवक्त्रस्य अभिषेकः क्रियते, तन्न एतत् मम मतम् । यतः—

बहुधेति । विद्वद्भिः विचक्षणैः जनैः, चिन्तिताः स्वयमवहितैः सद्भिः तर्किताः, तथा बहुभिः सार्द्धं बहुधा चिन्तिताः भाविताः, अत एव सुनिरूपिताः सुनिर्द्धारिताः, नयाः नीतयः, नीतिप्रयोगा इत्यर्थः, कथञ्चित् न विलीयन्ते न विकृतिं गच्छन्ति, 'लीयन्ते' इति दैवादिकस्य लीधातोर्लटि रूपम् ॥ ७६ ॥

(१) प्रस्तावे—प्रसङ्गे, प्रारम्भे इति यावत् ।

(२) करालवक्त्रस्य—भीषणवदनस्य ।

पारदृश्वा विद्वानों द्वारा सोचे हुए, अनेक मनुष्यों के साथ मिलकर तरह-तरह से विचारे हुए और अच्छे प्रकार से निश्चित किए हुए नीति-प्रयोग किसी प्रकार भी अन्यथा नहीं होते अर्थात् निष्फल नहीं जाते ॥ ७६ ॥

इसके बाद उनके पास आकर कौवे ने कहा—'इतने अधिक पक्षी क्यों एकत्रित हुए हैं और यह भारी उत्सव क्यों हो रहा है ?' उन्होंने कहा—भद्र ! पक्षियों का कोई राजा नहीं है । इसलिए सब पक्षियों ने इस उल्लू को पक्षियों का राजा बनाने का निश्चय किया है । अतः तुम भी अपनी सलाह दो ; क्योंकि समय पर आ गए हो ।

तब इस कौवे ने हँस कर कहा—'यह ठीक नहीं है कि मोर, हंस, कोयल, चकवा, शुक, जलमुर्गा, हारिल, सारस आदि प्रधान-प्रधान पक्षियों के रहते हुए इस दिवान्ध, भयानक मुख वाले उल्लू का राज्याभिषेक हो । इसलिए इसमें मेरी सहमति नहीं है । क्योंकि—

वक्रनासं सुजिह्माक्षं क्रूरमप्रियदर्शनम् ।
अक्रुद्धस्येदृश वक्त्रं भवेत् क्रुद्धस्य कीदृशम् ? ॥ ७७ ॥

तथा च—

स्वभावरौद्रमत्युग्रं क्रूरमप्रियवादिनम् ।
उलूकं नृपतिं कृत्वा का नः सिद्धिर्भविष्यति ? ॥ ७८ ॥

अपरं, वैनतेये स्वामिनि स्थिते किमेषः दिवान्धः क्रियते राजा ? तत् यद्यपि गुणवान् भवति, तथाऽपि एकस्मिन् स्वामिनि स्थिते नान्यो भूपः प्रशस्यते—

एक एव हितार्थाय तेजस्वी पार्थिवो भुवः ।
युगान्त इव भास्वन्तो बहवोऽत्र विपत्तये ॥ ७९ ॥

वक्रनासमिति । अक्रुद्धस्य कोपमकुर्वन्तोऽपि, अस्येति शेषः, वक्त्रं वदनम्, ईदृशम् इत्थं, विकृतमिति शेषः, तथा हि, वक्रा नासा यत्र तथोक्तं, कुटिलनासिकमित्यर्थः, सुजिह्मे अत्यर्थं कुञ्चिते, कोटरप्रविष्टे इत्यर्थः, अक्षिणी नेत्रे यत्र तादृशं क्रूरं विकटम्, अत एव अप्रियदर्शनं विकृताकारम्, क्रुद्धस्य कुप्यतः सतः, अस्य इति शेषः, मुखं कीदृशं किम्प्रकारं भवेत् ? नूनं तदतिभीषणमिति भावः ॥ ७७ ॥

स्वभावेति । स्वभावेन रौद्रं भीषणम्, अत्युग्रम् अतिदारुणं, क्रूरं निष्ठुरम्, अप्रियवादिनं कर्कशभाषिणम्, उलूकं पेचकं, नृपतिं कृत्वा नः अस्माकं, का सिद्धिः भविष्यति ? किं फलं भविष्यति ? न काऽपि इति भावः, कुलाचारसदाचारैरतिशुद्धः प्रतापवान् । धार्मिको नीतिकुशलः स राजा युज्यते भुवि ।' इत्युक्तेः, एतादृशलक्षणाक्रान्तस्यैव राजासनार्हत्वादित्याशयः ॥ ७८ ॥

(१) वैनतेये—गरुडे, विनताशब्दात् अपत्यार्थे ढक्प्रत्ययः । दिवाऽन्धः—उलूकः ।

एक इति । एक एव, न तु द्वौ बहवो वा इत्यर्थः: तेजस्वी विक्रान्तः, पार्थिवः

बिना क्रोध किए हुए भी जब इसकी [आकृति ऐसी विकृत है कि] नाक टेढ़ी, आँखें कोने में घुसी हुई, मुख से कठोरता प्रतीत होती है तथा देखने में भी भद्दा मालूम पड़ता है, तब जब इसे क्रोध आता होगा तब कैसा होता होगा ? ॥ ७७ ॥

और भी, स्वभाव से ही भयङ्कर, अत्यन्त क्रोधी, कठोर और अप्रियवादी इस उल्लू को राजा बनाने से हम लोगों का क्या हित होगा ? ॥ ७८ ॥

फिर गरुड़ जैसे राजा के होते हुए इस दिवान्ध को राजा क्यों बनाया जा रहा हैं ? यद्यपि यह गुणवान् ही क्यों न हो, परन्तु एक स्वामी के रहते हुए दूसरा राजा अच्छा नहीं समझा जाता ।

एक ही तेजस्वी राजा संसार के लिए कल्याणकारी होता है । प्रलयकाल में

तत् तस्य नाम्नाऽपि यूयं परेषाम् अगम्याः भविष्यथ। उक्तञ्च—

गुरूणां नाममात्रेऽपि गृहीते स्वामिसम्भवे।
दुष्टानां पुरतः क्षेमं तत्क्षणादेव जायते॥ ८०॥

तथा च—

व्यपदेशेन महतां सिद्धिः सञ्जायते परा।
शशिनो व्यपदेशेन वसन्ति शशकाः सुखम्॥ ८१॥

ते ऊचुः—'कथमेतत् ?' स आह—

नृपः, भुवः पृथिव्याः, हितार्थाय कल्याणसाधनाय, भवतीति शेषः, युगान्ते प्रलये, बहवो द्वादशेत्यर्थः, भास्वन्तः सूर्याः इव, अत्र संसारे, बहवो नृपाः, विपन्नये, भवन्तीति शेषः, बहूनां परस्परद्वेषात्, तैः प्रजानामेव उच्छेदः सम्पद्यते इति इति भावः॥ ७९॥

(१) तस्य—वैनतेयस्य। परेषां—शत्रूणाम्। अगम्याः—दुर्द्धर्षा इत्यर्थः।

गुरूणामिति। स्वामिसम्भवे स्वामित्वसम्बन्धवति इत्यर्थः, गुरूणां महतां, नाममात्रे गृहीते उच्चारिते, अपि 'अमुकस्य महामहिमशालिनः प्रजा वयम्' इति कीर्त्तितेऽपीति भावः, दुष्टानां दुर्जनानां, पुरतः समीपे, तत्क्षणादेव नाममात्रत एव, क्षेमं मङ्गलं जायते, ते च नामश्रवणमात्रेण भीता नापकुर्वन्तीति भावः॥ ८०॥

व्यपदेशेनेति। महतां व्यपदेशेन नामकीर्त्तनेन, परा महती, सिद्धिः सञ्जायते। तथा हि, शशकाः शशिनः चन्द्रस्य, व्यपदेशेन सुखं वसन्ति॥ ८१॥

अनेक सूर्यों के समान इस लोक में अनेक नृपति प्रजा के लिए विपत्तिकारक ही होते हैं॥ ७९॥

फिर, उस गरुड़ के नाम लेने मात्र से ही शत्रुओं से तुम लोग बचे रहोगे अर्थात् शत्रुओं से अप्राप्य रहोगे। कहा भी गया है—

दुष्टों के सामने स्वामी का गौरवपूर्ण नाम ले लेने पर ही (चाहे वे बलवान् क्यों न हो) उसी समय अपना कल्याण होता है॥ ८०॥

जैसा कहा भी गया है—

महान् पुरुषों के नाम ग्रहणमात्र से ही बहुत लाभ होता है, चन्द्रमा के नाम ले लेने से ही खरगोश (सरोवर में) सुखपूर्वक रहते हैं॥ ८१॥

पक्षियों ने पूछा—'यह कैसे ?' तब उस कौवे ने कहा—

२ : शशक-गजयूथप-कथा

कस्मिंश्चित् वने चतुर्दन्तो नाम महागजो यूथाधिपः प्रतिवसति स्म। तत्र कदाचित् महती अनावृष्टिः सञ्जाता प्रभूतवर्षाणि यावत्, तया तडागह्रदपल्वलसरांसि शोषमुपगतानि।

अथ तैः समस्तगजैः स गजराजः प्रोक्तः–'देव! पिपासाऽऽकुलाः गजकलभाः मृतप्रायाः, अपरे मृताश्च, तत् अन्विष्यतां कश्चित् जलाशयः, यत्र जलपानेन स्वस्थतां व्रजन्ति।' ततश्चिरं ध्यात्वा तेन अभिहितम् –'अस्ति महान् ह्रदः विविक्ते प्रदेशे स्थलमध्यगतः पातालगङ्गाजलेन सदैव पूर्णः, तत् तत्र गम्यताम् इति। तथाऽनुष्ठिते पञ्चरात्रम् उपसर्पद्भिः समासादितः तैः स

---

[२]

(१) प्रभूतवर्षाणि—बहून् वत्सरान् व्याप्य, अत्यन्त संयोगे द्वितीया। तया—अनावृष्ट्या। तडागेति। तडागः—सपद्मागाधजलाशयः, ह्रदः—अगाधजलाशयः, पल्वलं—क्षुद्रजलाशयः, सरः—सरोवरः, पुष्करिणीत्यर्थः, तानि। शोषमुपगतानि—शुष्काणि।

(२) गजकलभाः—करिशावकाः। मृतप्रायाः—मृततुल्याः, प्रायेण मृता इति राजदन्तादिवत् पूर्वनिपातः। अपरे—अन्ये, कलभव्यतिरिक्ता वृद्धयोषिदादय इत्यर्थः। विविक्ते—विजने। पातालगङ्गाजलेन—भोगवतीसलिलेन। पञ्चरात्र—पञ्चानां रात्रीणां समाहारः इति समाहारद्विगुः, 'अहःसर्वैकदेश—' (पा० सू० ५।४।८७) इति अच् प्रत्ययः, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया, दिवा आतपतापेन गमनस्य अतीवक्लेशकरत्वात्

खरगोश और गजयूथपति की कथा

किसी वन में चतुर्दन्त नाम का एक विशाल यूथाधिप हाथी रहता था। किसी समय उस वन में बहुत वर्षों तक भारी अनावृष्टि हुई, जिस अवर्षण से सभी तडाग, ह्रद, झील, तलैया और छोटे बड़े सरोवर सूख गये।

इसके बाद सब हाथियों ने उस गजराज से कहा––'हे राजन् ! बच्चे प्यास से व्याकुल हो मरणासन्न हो रहे हैं और बहुत से तो मर भी चुके हैं। इसलिए कोई ऐसा तालाब तलाश कीजिए जिसका जल पीकर (सब) स्वस्थ हो सकें।' तब कुछ देर तक सोच कर उसने कहा––निर्जन स्थान में, जमीन में खुदा हुआ और हमेशा पाताल गंगा के जल से भरा हुआ, एक तालाब है। इसलिए वहाँ चलना चाहिए।' ऐसा करने पर पाँच रात तक निरन्तर चलते रहने पर वे लोग उस तालाब पर पहुँचे। वहाँ इच्छा–

ह्रदः। तत्र स्वेच्छया जलमवगाह्य अस्तमनवेलायां निष्क्रान्ताः। तस्य च ह्रदस्य समन्तात् शशकबिलानि असङ्ख्यानि सुकोमलभूमौ तिष्ठन्ति, तानि च समस्तैरपि तैः गजैः इतस्ततो भ्रमद्भिः परिभग्नानि, बहवः शशकाः भग्न-पादशिरोग्रीवाः विहिताः, केचिन्मृताः, केचित् जीवशेषा जाताः।

अथ गते तस्मिन् गजयूथे, शशकाः सोद्वेगाः गजपादक्षुण्णसमावासाः केचिद्भग्नपादाः, अन्ये जर्जरितकलेवराः, रुधिरप्लुताः, अन्ये हतशिशवः बाष्पपिहितलोचनाः समेत्य मिथो मन्त्रं चक्रुः—'अहो! विनष्टा वयम्, नित्यमेव एतद् गजयूथमागमिष्यति, यतो नान्यत्र जलमस्ति, तत् सर्वेषां नाशो भविष्यति। उक्तञ्च—

स्पृशन्नपि गजो हन्ति जिघ्रन्नपि भुजङ्गमः।
हसन्नपि नृपो हन्ति मानयन्नपि दुर्जनः॥ ८२॥

इति भावः उपसर्पद्भिः—गच्छद्भिः। समासादितः—प्राप्तः। तैः—गजैः। अस्त-मनवेलायां—सन्ध्यासमये। निष्क्रान्ताः—ह्रदात् निर्गताः। समन्तात्—चतु-र्दिक्षु। तानि—बिलानि। परिभग्नानि—विदलितानीत्यर्थः। विहिताः—कृताः, गजैरिति शेषः। जीवशेषाः—जीवनमात्रावशिष्टाः, हस्तादिभग्नत्वान्मृतप्राया इति यावत्॥

गजेति। गजानां पादैः, क्षुण्णाः—दलिताः, समावासाः—संश्रयाः, वासभूमय इत्यर्थः, येषां तथाभूताः। रुधिरप्लुताः—रक्तलिप्तकलेवराः इत्यर्थः। बाष्पपिहित-लोचनाः—साश्रुनेत्राः। मिथः—परस्परं। मन्त्रं—मन्त्रणाम्।

स्पृशन्निति। गजः स्पृशन्नपि स्पर्शं कुर्वन्नपि, भुजङ्गमः सर्पः, जिघ्रन्नपि गन्धं

नुकूल जल में स्नान कर सायंकाल के समय वे उस तालाब से बाहर निकले। उस तालाब के चारों ओर मुलायम जमीन में सैकड़ों खरगोशों के बिल बने हुए थे। इधर-उधर घूमते हुए उन सभी हाथियों के द्वारा उन खरगोशों के बिल कुचल डाले गए। बहुत से खरगोशों के पैर, सिर और गर्दन टूट गए; कुछ मर गए और कुछ अधमरे हो गए।

फिर, हाथियों के उस झुण्ड के चले जाने पर, घबड़ाए हुए वे खरगोश, जिनके निवासस्थान हाथियों के पैरों से कुचल डाले गए थे और जिनमें कुछ के पैर टूट गए थे, कुछ के शरीर क्षत-विक्षत (घायल) हो गए थे, कुछ खून से लथपथ थे और कुछ रो रहे थे जिनके बच्चे मारे गए थे वे सब इकट्ठे होकर मन्त्रणा करने लगे—'हम लोग तो अब विनष्ट हो गए। यह हाथियों का झुण्ड नित्य ही आयेगा क्योंकि और जगह जल नहीं है। इसलिए सब का नाश हो जायगा।' कहा भी गया है—

तच्चिन्त्यतां कश्चिदुपायः ?' तत्रैकः प्रोवाच-- गम्यतां देशत्यागेन, किमन्यत् ? उक्तञ्च मनुना व्यासेन च-

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ ८३ ॥

क्षेम्यां शस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि ।
परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥ ८४ ॥

गृह्णन्नपि, आघ्राणं कुर्वन्नपीति यावत्, नृपः, हसन्नपि स्मेरमुखोऽपीति भावः, दुर्जनः मानयन्नपि सम्मानं दर्शयन्नपि, हन्ति नाशयति ॥ ८२ ॥

त्यजेदिति । कुलस्य वंशस्य, अर्थे निमित्तम्, एकं, जनमिति शेषः, त्यजेत् एकत्यागे यदि कुलरक्षा स्यात्, तदा तदपि कर्त्तव्यमित्यर्थः, ग्रामस्य अर्थे कुलं त्यजेत्, यदि कुले त्यक्ते ग्रामरक्षा स्यात्, तदा तदपि कर्त्तव्यमित्यर्थः, जनपदस्य देशस्य, अर्थे ग्रामं त्यजेत्, यदि ग्रामे त्यक्ते देशरक्षा स्यात्, तदा तदपि कर्त्तव्यमित्यर्थः, आत्मार्थे आत्मरक्षार्थे, पृथिवीं पृथिवीस्थनिखिलद्रव्यं, पृथिवीस्थवस्तुमात्रे अत्र पृथिवीशब्दोपचार इति बोध्यं, त्यजेत्, यदि पृथिवीस्थसर्वद्रव्यत्यागेऽपि आत्मरक्षा स्यात्, तदा तदपि कार्यमित्यर्थः, 'सततमेवाऽऽत्मानं गोपायीत' इति श्रुतेरिति भावः ॥ ८३ ॥

क्षेम्यामिति । नृपः अविचारयन् किमपि विचारमकुर्वन् हिताहिते अविविच्यैव इत्यर्थः, आत्मार्थं स्वहितार्थं, क्षेम्यां क्षेमङ्करीं, नित्यं शस्यप्रदा बहुशस्यामित्यर्थः, पशुवृद्धिकरीं तृणशस्याद्युत्पादनेन पशून् वर्द्धयन्तीं, सर्वथा सुखकरीमित्यर्थः, भूमिम् अपि, भूमिशब्दोऽत्र सर्वस्ववाची, सर्वस्वमपीत्यर्थः, परित्यजेत्, मयि जीवति कदाचिदपि

हाथी स्पर्शमात्र से, साँप सूँघने मात्र से ही मार डालता है तथा राजा हँसते हुए (प्राणदण्ड देकर) और दुष्ट आदर भाव दिखाते हुए मारता है ॥ ८२ ॥

इसलिए आत्मरक्षार्थ कोई उपाय सोचिए। उनमें से एक खरगोश ने कहा— इस स्थान को छोड़कर चले चलो, और क्या उपाय ही हो सकता है ? मनु और व्यास ने कहा भी है--

वंश की रक्षा के लिए एक व्यक्ति को छोड़ दे, ग्राम की रक्षा के लिए कुल का परित्याग कर दे, देश की रक्षा के लिए ग्राम छोड़ दे और अपनी रक्षा के लिए पृथ्वी का परित्याग कर दे ॥ ८२ ॥

सुखदायिनी, धान्य उत्पन्न करने वाली तथा पशुओं की वृद्धि करने वाली भूमि को अपनी रक्षा के लिए राजा बिना किसी प्रकार का सोच विचार करते हुए छोड़ दे ॥ ८४ ॥

आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि ॥ ८५ ॥

ततश्च अन्ये प्रोचुः--'भोः! पितृपैतामहं स्थानं न शक्यते सहसा त्यक्तुम्, तत् क्रियतां तेषां कृते काचित् विभीषिका, यत् कथमपि दैवात् न समायान्ति। उक्तञ्च--

निर्विषेणापि सर्पेण कर्त्तव्या महती फटा।
विषं भवतु मा वाऽस्तु फटाऽऽटोपो भयङ्करः॥ ८६ ॥

अथ अन्ये प्रोचुः—'यदि एवं, ततः तेषां महद्विभीषिकास्थानम् अस्ति,

---

सकलमेतद्भवितुमर्हतीति मत्वा इति भावः ॥ ८४ ॥

आपदर्थे इति। आपदर्थे विपन्निवारणार्थे, धनं वित्तं, रक्षेत्, धनैः वित्तैः, सर्वधन-व्ययेनापीत्यर्थः, महता आयासेन सञ्चितैः, रक्षितैश्चेति भावः, दारान् स्त्रियः, रक्षेत्, दारैरपि धनैरपि सर्वथा आत्मानं स्वं, स्वजीवनमित्यर्थः, सततं रक्षेत्, येन केनोपायेनैव आत्मा रक्षणीय इति भावः ॥ ८५ ॥

(१) तेषां—गजानाम्। विभीषिका--भयप्रदर्शनोपायः। यत्--येनेत्यर्थक-मव्ययं, येन भयप्रदर्शनेन हेतुनेत्यर्थः। दैवात्—भाग्यात्, अस्माकं भाग्यबलेनेति भावः। समायान्ति--समागच्छन्ति।

निर्विषेणेति। निर्विषेणापि विषशून्येनापि, सर्पेण भुजगेन, महती प्रशस्ता इत्यर्थः, फटा फणा, 'फटायान्तु फणा द्वयो' इत्यमरः। कर्त्तव्या क्रियते इति भावः, विषं भवतु, मा अस्तु वा—न भवतु वा, फटाऽऽटोपः फणविस्तारः, तस्य इति शेषः, भयङ्कर, भवतीति शेषः; भयप्रदर्शनेनापि कदाचित् शत्रुजयः स्यादिति भावः ॥ ८६ ॥

विपत्ति के समय काम आने के लिए धन-संचय करना चाहिए। धन के द्वारा (धन व्यय करके भी) अपनी पत्नी की रक्षा करनी चाहिए तथा पत्नी और धन दोनों के द्वारा सदैव अपनी रक्षा करनी चाहिए ॥ ८५ ॥

तब दूसरों ने कहा—'अरे! बाप दादाओं से वंश परम्परागत आया हुआ स्थान अकस्मात् नहीं छोड़ा जा सकता। इसलिए उनको डराने के लिए कोई अन्य उपाय करना चाहिए। कदाचित् इस उपाय से सौभाग्यवश वे यहाँ न आवें। कहा भी गया है—

विषरहित भी साँप को अपना फण फैला कर फुफकारते रहना चाहिए। विष हो या न हो, उनके फण फैलाने से उत्पन्न भयङ्करता ही भयभीत करने के लिए पर्याप्त होती है ॥ ८६ ॥

तब यह सुनकर दूसरों ने कहा– यदि यह बात है तो उनको त्रस्त करने के लिए

येन न आगमिष्यन्ति, सा च चतुरदूतायत्ता विभीषिका । तत्र विजयदत्तो नाम राजा अस्मत्स्वामी शशकः चन्द्रमण्डले निवसति, तत् प्रेष्यतां कश्चित् मिथ्यादूतो यूथाधिपसकाशं, यत् चन्द्रः त्वाम् अत्र ह्रदे आगच्छन्तं निषेधयति, यतः अस्मत्परिग्रहोऽस्य समन्ताद्वसति । एवं, अभिहिते श्रद्धेयवचनात् कदाऽपि निवर्त्तते ।'

अथ अन्ये प्रोचुः—'यदि एवं; तदस्ति लम्बकर्णो नाम शशकः, स च वचनरचनाचतुरो दूतकर्मज्ञः, स तत्र प्रेष्यताम् इति । उक्तञ्च—

साकारो निःस्पृहो वाग्मी नानाशास्त्रविचक्षणः ।
परचित्तावगन्ता च राज्ञो दूतः स इष्यते ॥ ८७ ॥

---

(१) चतुरेति । चतुरस्य—विज्ञस्य । दूतस्य—वार्त्तावहस्य । आयत्ता—अधीना, तत्साध्या इत्यर्थः । अस्मत्परिग्रहः—अस्मत्परिजनः, 'परिग्रहः परिजने पत्न्यां स्वीकारमूलयोः' इति मेदिनी । अस्य—ह्रदस्य । श्रद्धेयवचनात्—देवादेशत्वेन समादरयोग्यवाक्यात् । वचनरचनाचतुरः—वाक्यविन्यासपटुः । दूतकर्मज्ञः—वार्त्तावहकार्याभिज्ञः ।

साकार इति । अत्र य इत्यध्याहार्यं; तच्छब्देन परामर्शात् । यः साकारः शोभनावयवसम्पन्नः; निस्पृहः अलुब्धः; वाग्मी वाक्पटुः; नानाशास्त्रेषु विचक्षणः अभिज्ञः; परचित्तावगन्ता परचित्तावबोधक्षमश्च; अन्यहृदयभावाभिज्ञः इत्यर्थः; स तादृशः; राज्ञः दूतः इष्यते काम्यते; अभीष्ट इत्यर्थः ॥ ८७ ॥

एक बड़ा भारी भय का कारण हो सकता है जिससे वे लोग नहीं आयेंगे । परन्तु वह विभिषिका एक चतुर दूत के अधीन है अर्थात् उसे एक चतुर दूत ही कर सकता है । जो विजयदत्त नामक हम लोगों का राजा चन्द्रमा में रहता है, (उसी पर हमारा यह कपट उपाय अवलम्बित है) कोई बनावटी दूत उस गजाधिपति के पास यह कह कर भेजना चाहिए कि चन्द्रमा तुम्हें इस तालाब में आने का निषेध करता है । क्योंकि हमारे (चन्द्रमा के) कुटुम्बी जन इसके चारों ओर रहते हैं । ऐसा कहने पर कदाचित् श्रद्धेय (चन्द्रमा) के वचन होने के कारण वे लौट जावें (और फिर यहाँ न आवें) ।

तब दूसरों ने कहा—यदि ऐसा ही है तो लम्बकर्ण नाम का एक खरगोश है । वह बोलने में निपुण और दूतकार्य को जानने वाला है उसे ही वहाँ भेजना चाहिए । कहा भी गया है—

वस्तुतः, सुन्दर, लोभरहित, भाषण-चतुर, अनेक विद्याओं में निपुण और दूसरों

अन्यच्च --

योमूर्खं लौल्यसम्पन्नं राजद्वारिकमाचरेत् ।
मिथ्यावादं विशेषेण तस्य कार्यं न सिध्यति ॥ ८८ ॥

तदन्विष्यतां यथा अस्मात् व्यसनात् आत्मनां सुनिर्मुक्तिः ।' अथ अन्ये प्रोचुः —'अहो ! युक्तमेतत्, न अन्यः कश्चिदुपायोऽस्माक जीवितस्य; तथा एव क्रियताम् ।'

अथ लम्बकर्णो गजयूथाधिपसमीपे निरूपितो गतश्च । तथाऽनुष्ठिते लम्बकर्णोऽपि गजमार्गम् आसाद्य अगम्यं स्थलम् आरुह्य तं गजम् उवाच— 'भो भो दुष्टगज ! किमेवं लीलया निःसङ्कतया अत्र चन्द्रह्रदे आगच्छसि ? तन्न आगन्तव्यं, निवर्त्यताम्' इति । तदाकर्ण्य विस्मितमना गज आह—

य इति । यः मूर्खं निर्बोधं; लौल्यसम्पन्नं लुब्धं; विशेषेण मिथ्यावादम् अलीकवादरतं; जनम् इति शेषः; राजद्वारिकं राजद्वारे नियुक्तं; दूतमित्यर्थः; आचरेत् कुर्यात्; तस्य कार्यं न सिध्यति न फलति ॥ ८८ ॥

(१) व्यसनात्—विपदः । आत्मनां—स्वेषां; शशकानामिति यावत् । सुनिर्मुक्तिः—सुखेन परित्राणं; भवेदिति शेषः ।

(२) निरूपितः—गमनार्थं सर्वैर्निर्द्धारित इत्यर्थः ।

की मन की बात समझने वाले पुरुष को ही राजा का दूत बनाना चाहिए ॥ ८७ ॥

और भी—जो राजा मूर्ख, लोभी और विशेषकर मिथ्याभाषी पुरुष को अपना दूत बना कर राज-दरबार में भेजता है उसका कार्य सिद्ध नहीं होता । (क्योंकि मूर्ख तो अपना अभिप्राय ठीक-ठीक प्रकाशित ही नहीं कर सकता और लोभी पुरुष लोभवश शत्रु से मिलकर अपने स्वामी को हानि पहुँचा सकता है) ॥ ८८ ॥

अतः उसको खोज कर शीघ्र भेजने का प्रबन्ध करना चाहिए जिससे इस भयङ्कर विपत्ति से हम लोगों को मुक्ति मिल जाय । तब दूसरे लोग कहने लगे—'यह उपाय ठीक है । इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय हमारे जीने का नहीं है । अतः ऐसा ही करना चाहिए ।'

अनन्तर लम्बकर्ण को गज के यूथाधिपति के पास भेजना निश्चय किया गया और वह गया भी । तब लम्बकर्ण हाथी के रास्ते में अर्थात् जिस मार्ग से हाथी तालाब पर आते थे, एक ऐसे ऊँचे स्थान पर—जहाँ हाथी नहीं पहुँच सकता था—चढ़कर कहने लगा—'अरे दुष्ट गज ! क्यों इस चन्द्र के जलाशय पर इतनी असावधानी और निर्भयता से आया करते हो ? तुमको यहाँ नहीं आना चाहिए ।

'भोः कस्त्वम् ?' स आह—'अहं लम्बकर्णो नाम शशकः, चन्द्रमण्डले वसामि, साम्प्रतं भगवता चद्रमसा तव पार्श्वे प्रहितो दूतः, जानाति एव भवान्, यथार्थवादिनो दूतस्य न दोषः करणीयः, दूतमुखाः हि राजानः सर्वे एव। उक्तञ्च—

उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु बन्धुवर्गबधेष्वपि।
परुषाण्यपि जल्पन्तो बध्या दूता न भूभुजा॥ ८९॥

तत् श्रुत्वा स आह—'भोः शशक ! तत्कथय भगवतः चन्द्रमसः सन्देशं, येन सत्वरं क्रियते।' स आह—'भवता अतीतदिवसे यूथेन सह आगच्छता प्रभूताः शशका निपातिताः, तत् किं न वेत्ति भवान्, यत् मम परिग्रहोऽयम् ? तत् यदि जीवितेन ते प्रयोजनं, तदा केनापि प्रयोजनेन अत्र ह्रदे न आग-

---

उद्यतेष्विति। शस्त्रेषु उद्यतेषु उत्तोलितेष्वपि; सङ्ग्रामसमारम्भकालेऽपि इति भावः, बन्धुवर्गाणां स्वजनानां, बधेषु अपि सत्सु; स्वजनविनाशानन्तरमपीत्यर्थः; दूताः शत्रुप्रेरिता इति भावः; परुषाणि निष्ठुराणि; जल्पन्तः कथयन्तोऽपि; भूभुजा राज्ञा; न बध्याः न हन्तव्याः॥ ८९॥

(१) परिग्रहः—परिजनः; आश्रितः इत्यर्थः। अयं—शशकसमूह इत्यर्थः।

लौट जाओ।' यह सुनकर आश्चर्य में पड़ कर वह बोला—'तुम कौन हो ?' उसने कहा—'मैं लम्बकर्ण नाम का खरगोश चन्द्र-मण्डल में रहता हूँ। इस समय भगवान् चन्द्रमा ने मुझे तेरे पास दूत बना कर भेजा है। आप जानते ही हैं कि यथार्थवादी अर्थात् जैसा उसके स्वामी ने कहा है वैसा ही कहने वाले दूत को दोष नहीं देना चाहिए। क्योंकि सभी राजा दूत-मुख होते हैं (अर्थात् दूत के द्वारा ही अपना सन्देश कहते हैं, यदि उनको ही मार दिया जाय तो एक का सन्देश दूसरे के पास कैसे पहुँच सकेगा ?) कहा भी गया है—

(क्रोधवश दूत द्वारा) तलवार आदि शस्त्रों के उठाए जाने पर या किसी आत्मीय बन्धुओं के मारे जाने पर तथा कठोर वचन कहने वाले भी दूतों को राजा के द्वारा नहीं मारना चाहिए॥ ८९॥

यह सुन कर उस गजराज ने कहा—हे शशक ! भगवान् चन्द्र का सन्देश कहो, जिससे कि शीघ्र ही उसका पालन किया जाय।' उसने कहा—(चन्द्रमा का सन्देश यह है कि) कल हाथियों के समूह के साथ आते हुए आपने बहुत से खरगोश मार डाले। क्या आप यह नहीं जानते कि ये लोग मेरे कुटुम्बी जन हैं ? अतः यदि आप जीना चाहते हो तो किसी भी काम से, कभी भी इस तालाब पर आने का

न्तव्यमिति सन्देशः।' गज आह—'अथ क्व वर्तते भगवान् स्वामी चन्द्रः ?' स आह—'अत्र ह्रदे साम्प्रतं शशकानां भवद्यूथमथितानां हतशेषाणां समाश्वासनाय समायातः तिष्ठति। अहं पुनः तवान्तिकं प्रेषितः।' गज आह—'यदि एवं, तद्दर्शय मे तं स्वामिनं, येन प्रणम्य अन्यत्र गच्छामि।' शशक आह—'भोः! आगच्छ मया सह एकाकी, येन दर्शयामि।'

तथाऽनुष्ठिते शशको निशासमये तं गजं ह्रदतीरे नीत्वा जलमध्ये स्थितं चन्द्रबिम्बम् अदर्शयत्, आह च—'भोः! एष नः स्वामी जलमध्ये समाधिस्थः तिष्ठति, तत् निभृतं प्रणम्य सत्वरं व्रज, नो चेत् समाधिभङ्गात् भूयोऽपि प्रभूतं कोपं करिष्यति।'

अथ गजोऽपि त्रस्तमनाः तं प्रणम्य पुनर्गमनाय प्रस्थितः। शशकाश्च तद्दिनात् आरभ्य सपरिवाराः सुखेन स्वेषु स्थानेषु तिष्ठन्ति स्म। अतोऽहं ब्रवीमि—'व्यपदेशेन महताम्' इत्यादि। अपि च—

सन्देशः—वाचिकादेश इत्यर्थः। भवद्यूथमथितानां—भवतां गजानामित्यर्थः; यूथेन सङ्घातेन; मथितानां विपर्यस्तानाम्। हतशेषाणां—हतावशिष्टानाम्। समाश्वासनाय—सम्यक्सान्त्वनाऽर्थम्। एकाकी—असहायः 'एकादाकिनिच् चासहाये' (पा० सू० ५।३।५२) इति एकशब्दात् आकिनिच्प्रत्ययः। समाधिस्थः—ध्यानस्थः। निभृतं—निःशब्दम्।

प्रयास न कीजिएगा। गज ने कहा—'भगवान् स्वामी चन्द्र कहाँ हैं ?' उसने कहा—'इस समय वह आपके समूह से कुचले हुए, परन्तु मरने से बचे हुए खरगोशों को आश्वासन देने के लिए इस तालाब में आए हुए हैं और मुझे आपके पास भेजा है।' गज ने कहा—'अच्छा, यदि ऐसी बात है तो मुझे उन स्वामी के दर्शन कराओ, जिससे मैं उन्हें प्रणाम कर अन्यत्र चला जाऊँ।' खरगोश ने कहा—'मेरे साथ अकेले ही आइए जिससे मैं आपको उनका दर्शन करा दूँ।'

तब खरगोश रात्रि के समय उस हाथी को तालाब के किनारे ले गया और पानी में पड़ते हुए चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को दिखाया, और कहा—'यह हमारे स्वामी जल में ध्यानमग्न हो समाधिस्थ बैठे हैं। इसलिए चुपचाप प्रणाम कर जल्दी चले जाइए, नहीं तो समाधि के भङ्ग होने से फिर से अधिक क्रोध करेंगे।'

तब हाथी भी भयभीत होकर उसे प्रणाम कर पुनः न आने के लिए वहाँ से चला गया। खरगोश भी उसी दिन से परिवार सहित अपने बिलों में सुख से रहने लगे। इसीलिए मैं कहता हूँ कि 'बड़ों का नाम लेने से ही मनुष्य को त्राण हो जाता है'—इत्यादि। और भी—

क्षुद्रमलसं कापुरुषं व्यसनिनमकृतज्ञं जीवितकामः।
पृष्ठप्रलपनशीलं स्वामित्वेन नाभियोजयेत् ॥ ९० ॥

उक्तञ्च—

क्षुद्रमर्थपतिं प्राप्य न्यायान्वेषणतत्परौ।
उभावपि क्षयं प्राप्तौ पुरा शश कपिञ्जलौ ॥ ९१ ॥

ते प्रोचुः—'कथमेतत् ?' स आह—

३ : शश-कपिञ्जल-कथा

कस्मिंश्चिद्वृक्षे पुरा अहम् अवसम्। तस्य अधस्तात् कोटरे कपिञ्जलो नाम चटकः प्रतिवसति स्म। अथ सदैव अस्तमनवेलायाम् आगतयोः द्वयोः अनेकसुभाषितगोष्ठ्या देवर्षिब्रह्मर्षिराजर्षि-

क्षुद्रमिति। जीवितकामः जीवनार्थी जनः; क्षुद्रं नीचम्; अलसम् आलस्यपरं; कर्मानुत्साहिनमित्यर्थः; कापुरुषं निन्द्यं; गतिसमासे कोः कादेशः वैभाषिकः। व्यसनिनं मृगयाद्यासक्तम्; अकृतज्ञम् उपकाराविदं; तथा पृष्ठे पश्चात्; असमक्षमित्यर्थः; प्रलपनशीलं परोक्षे कुत्साकारिणमित्यर्थः; पुरुषमिति शेषः; स्वामित्वेन प्रभुत्वेन; न अभियोजयेत् न स्वामिनं कुर्यादित्यर्थः ॥ ९० ॥

क्षुद्रमिति। पुरा पूर्वस्मिन् काले; न्यायान्वेषणतत्परौ न्यायविचारानुसन्धानपरायणौ इत्यर्थः; शशकपिञ्जलौ उभौ अपि; क्षुद्रं नीचान्तःकरणम् इत्यर्थः; अर्थपतिं प्रभुं; विचारकमिति यावत्; प्राप्य क्षयं निधनं; प्राप्तौ गतौ ॥ ९१ ॥

[३]

(१) द्वयोः—मम चटकस्य च इत्यर्थः। अनेकसुभाषितगोष्ठ्या—विविधसदालाप-

जीवित रहने की इच्छा रखने वाले पुरुष को चाहिए कि नीच स्वभाव वाले, आलसी, कायर या निन्द्य, मृगया आदि व्यसनों में फँसे हुए, कृतघ्न, पीठ पीछे (परोक्ष में) निन्दा करने वाले पुरुष को कभी भी अपना राजा नहीं बनाना चाहिए ॥ ९० ॥

जैसा कहा भी गया है—

(किसी समय) क्षुद्र राजा के यहाँ न्याय की आशा में जाकर शशक और कपिञ्जल दोनों ही (नीच विचारक पाकर) नष्ट हो गए ॥ ९१ ॥

उन पक्षियों ने पूँछा—'यह कैसे ?' उस कौवे ने कहा—

खरगोश और कपिञ्जल गौरैय्या की कथा

पहिले कभी मैं किसी वृक्ष पर रहता था। उस वृक्ष के नीचे कोटर में कपिञ्जल नाम का एक चटक पक्षी रहता था। सायंकाल के समय सदा ही हम दोनों जब

पुराणचरितकीर्त्तनेन च पर्यटनदृष्टानेक कौतूहलप्रकथनेन च परमसुखमनुभवतोः कालो व्रजति। अथ कदाचित् कपिञ्जलः प्राणयात्रार्थमन्यैः चटकैः सह अन्यं पक्वशालिप्रायं देशं गतः। ततो यावत् निशासमयेऽपि न आयातः; तावदहं सोद्वेगमनाः तद्वियोगदुःखितः चिन्तितवान्,—'अहो! किमद्य कपिञ्जलो न आयाति? किं केनापि पाशेन बद्धः? उताऽऽहोस्वित् केनापि व्यापादितः? सर्वथा यदि कुशली भवति, तन्मां विना न तिष्ठति' एवं मे चिन्तयतो बहूनि अहानि व्यतिक्रान्तानि। ततश्च तत्र कोटरे कदाचित् शीघ्रगो नाम शशकोऽस्तमनवेलायाम् आगत्य प्रविष्टः। मया अपि कपिञ्जलनिराशत्वेन न निवारितः।

अथ अन्यस्मिन् अहनि कपिञ्जल, शालिभक्षणात् अतीवपीवरतनुः स्वयम् आश्रयं स्मृत्वा भूयोऽपि तत्रैव समायातः। अथवा साधु इदमुच्यते—

युक्तसम्मेलनेन। देवर्षिब्रह्मर्षिराजर्षिपुराणचरितकीर्तनेन—देवर्षिः—नारदादिः; ब्रह्मर्षिः—ब्रह्मा—ब्राह्मणः चतुर्मुखतुल्यो वा ऋषिः वशिष्ठादिः; राजर्षिः—राजा—क्षत्रियः सन् ऋषिः जनकादिः, तेषां यत् पुराणचरितं—पुराणवर्णितचरित्रं, तस्य कीर्त्तनेन—वर्णनेन। पर्यटनेति। पर्यटनेन—समन्तात् विचरणेन, दृष्टं यत् अनेक कौतूहलं—बहुविस्मयकरो व्यापारः, तस्य प्रकथनेन —प्रकृष्टवर्णनेन।

आते थे तब तरह-तरह की मधुर बातचीत करते, देवर्षि, ब्रह्मर्षि और राजर्षियों के पुराणों में वर्णित प्राचीन चरित्र कहते और घूमने के समय देखे हुए विचित्र घटनाओं का वर्णन करके बडे आनन्द से अपना समय बिताया करते थे। एक समय कपिञ्जल भोजन की तलाश में दूसरे चटकों के साथ, पके हुए (शालि) धान्य से युक्त किसी दूसरे प्रदेश की ओर चला गया। जब वह रात हो जाने पर भी नहीं आया, तब मैं उसके वियोग से उद्विग्न हो, दुःख से पीड़ित हो मन में सोंचने लगा—'आज कपिञ्जल क्यों नहीं आया? क्या किसी ने जाल में फँसा लिया? अथवा किसी ने मार डाला? निश्चय ही यदि सकुशल होता तो वह मेरे बिना अन्यत्र नहीं रुकता।' इस तरह सोंचते हुए बहुत दिन व्यतीत हो गए किन्तु वह न आया। एक दिन उसी कोटर में शीघ्रग नाम का शशक सायङ्काल सूर्यास्त के समय आकर उस कोटर में घुस गया। मैं भी कपिञ्जल के विषय में निराश हो चुका था। इसलिए मैंने उसे नहीं रोका।

इसके बाद एक दिन कपिञ्जल, अनाज खाने से मोटा-ताजा होकर अपने स्थान को याद कर पुनः वहीं आया। अथवा ठीक ही कहा गया है—

न तादृक् जायते सौख्यमपि स्वर्गे शरीरिणाम् ।
दारिद्रयेऽपि हि यादृक् स्यात् स्वदेशे स्वपुरे गृहे ॥ ९२ ॥

अथ असौ कोटरान्तर्गत शशकं दृष्ट्वा साक्षेपमाह—'भोः शशक ! न त्वया सुन्दरं कृतम्, यत् मम आवसथस्थाने प्रविष्टोऽसि, तत् शीघ्रं निष्क्रम्यताम् ।' शशक आह—'न तव इदं गृहं, किन्तु मम एव, तत् किं मिथ्या परुषाणि जल्पसि ?' उक्तञ्च—

वापीकूपतडागानां देवालयकुजन्मनाम् ।
उत्सर्गात् परतः स्वाम्यमपि कर्त्तुं न शक्यते ॥ ९३ ॥

नेति । स्वदेशे निजजनपदे, स्वपुरे स्वनगरे, गृहे स्वे भवने, स्थितस्य इति शेषः, दारिद्रयेऽपि दरिद्रावस्थायामपि, यादृक् सौख्यं सुखं, स्यात्, स्वर्गेऽपि शरीरिणां देहिनां, तादृक् सौख्यं, न जायते, हि निश्चये, 'दिवसस्याष्टमे भागे शाकं पचति यो नरः । अऋणी चाप्रवासी च स मोद इति कथ्यते ।' इति महाभारते स्मरणात् । 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' इति भावः ॥ ९२ ॥

(१) कोटरान्तर्गतं—वृक्षरन्ध्रमध्यस्थितम् । साक्षेपं—सभर्त्सनं, सतिरस्कारम् इत्यर्थः, 'आक्षेपो भर्त्सनाऽऽकृष्टिकाव्यालङ्कृतिषु स्मृतः' इति मेदिनी । आवसथ-स्थाने—वासस्थाने इत्यर्थः । परुषाणि—कर्कशानि, वचनानीति शेषः ।

वापीति । वापी दीर्घिका, कूपः प्रसिद्धः, तडागः सपद्मसरोवरः तेषां, तथा देवालयानां, कुजन्मनाञ्च कौ पृथिव्यां, जन्म येषां तेषां, महीरुहाणामित्यर्थः, उत्सर्गात् यागाद्यनुष्ठानपूर्वकं साधारणमुद्दिश्य दानादित्यर्थः, अत्र परशब्दयोगेन 'अन्यारादितर—' (पा० सू० २।३।२९) इति पञ्चमी परतोऽपि अनन्तरमेवेत्यर्थः, स्वाम्यं प्रभुत्वं, स्वाधिकारसंस्थापनमित्यर्थः, कर्त्तुं न शक्यते, कैरपीति शेषः, वाप्या-

---

शरीरधारियों को स्वर्ग में भी वैसा सुख नहीं होता जैसा कि दरिद्रावस्था में भी अपने देश, अपने नगर और अपने घर में प्राप्त होता है ॥ ९२ ॥

तब कोटर के अन्दर खरगोश को देखकर उस कपिञ्जल ने तिरस्कारपूर्वक कहा—'हे शशक ! तुमने यह अच्छा नहीं किया कि जो तुम मेरे घर में आ घुसे । इसलिए शीघ्र ही निकल जाओ ।' शशक ने कहा—'यह घर तुम्हारा नहीं है । किन्तु मेरा ही है । फिर क्यों झूठे ही कठोर वचन कहते हो ।' कहा भी गया है—

प्रतिष्ठा करने के बाद से ही वापी (बावड़ी), कुआँ, तालाब तथा देवमन्दिर और वृक्ष—इन वस्तुओं पर किसी का अधिकार नहीं रहता (अर्थात् उत्सर्ग के बाद ही वह वस्तु समाज की हो जाती है) ॥ ९३ ॥

यथा च—

प्रत्यक्षं यस्य यत् भुक्तं क्षेत्राद्यं दश वत्सरान् ।
तत्र भुक्तिः प्रमाणं स्यान्न साक्षी नाक्षराणि वा ॥ ९४ ॥
मानुषाणामयं न्यायो मुनिभिः परिकीर्तितः ।
तिरश्चाञ्च विहङ्गानां यावदेव समाश्रयः ॥ ९५ ॥

तन्मम एतत् गृहं, न तव' इति । कपिञ्जल आह—'भोः यदि स्मृति

दीनां प्रतिष्ठानन्तरं तत्र सर्वेषां समानाधिकारात् उत्सर्गीकृते अस्मिन् वृक्षे तव एककस्य स्वामित्वाभावादिति भावः ॥ ९३ ॥

प्रत्यक्षमिति । दश वत्सरान् व्याप्य अत्र 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा० सू० ३।३।५) इति द्वितीया यस्य प्रत्यक्षम् अक्ष्णाः अभिमुखम्, आभिमुख्ये अव्ययीभावसमासः, 'प्रतिपर—' (ग०) इति टच्प्रत्ययः समासान्तः साक्षादित्यर्थः, यत् क्षेत्राद्यं भूम्यादिकं वस्तु, भुक्तं, येनेति शेषः, तत्र भुक्तिः भोगः एव, दशवार्षिकीति भावः, प्रमाणं तस्य स्वत्वनिश्चायिका, स्वत्वकारणमित्यर्थः, न साक्षी न साक्षात् द्रष्टा, अक्षराणि लेख्यमित्यर्थः, वा न, प्रमाणमिति शेषः, साक्षिलेख्यादिभ्योऽपि दशवर्षीया भुक्तिरधिकं स्वत्वे प्रमाणमिति भावः ॥ ९४ ॥

मानुषाणामिति । मुनिभिः मानुषाणाम् अयं न्यायः पूर्वोक्ता विवादनिर्णायिका नीतिरित्यर्थः, परिकीर्तितः कथितः, तिरश्चां पशूनां 'तिर्यक् तिरोऽर्थे वक्रे च विहङ्गादौ त्वनव्ययम्' इति मेदिनीवचने विहङ्गादौ इत्यत्र आदिपदेन पश्वादीनां प्राप्तया, 'विहङ्गानाम्' इत्यस्य श्लोके पृथगुपादानादत्र पश्वर्थक एव तिर्यक् शब्दः इति बोद्धव्यम् । विहङ्गनाञ्च, यावदेव यावन्ति दिनानि व्याप्येत्यर्थः, समाश्रयः अवस्थितिः, तावदेव तत्र तत्र स्वत्वमिति भावः ॥ ९५ ॥

(१) स्मृतिं—धर्मशास्त्रं, व्यवहारतत्त्वमित्यर्थः, 'स्मृतिस्तु धर्मसंहिता' इत्यमरः ।

जैसा कहा भी गया है—

जिसने दस वर्ष तक जिस क्षेत्र अर्थात् खेत का भोग किया है उसमें कोई साक्षी या हस्ताक्षर प्रमाण नहीं माना जाता है अर्थात् केवल भोग ही उसका प्रमाण होता है और क्षेत्र भोगने वाले का ही माना जाता है ॥ ९४ ॥

मुनियों ने भी यह पूर्वोक्त न्याय मनुष्यों के सम्बन्ध में कहा है । पशु तथा पक्षियों का (किसी स्थान पर) तभी तक स्वत्व रहता है जब तक वे वहाँ रहने हैं ॥ ९५ ॥

'इसलिए यह घर मेरा ही है न कि तुम्हारा ।' कपिञ्जल ने कहा—'यदि तुम

प्रमाणीकरोषि, तदागच्छ मया सह, येन स्मृतिपाठकं पृच्छामि, स यस्य ददाति, स गृह्णातु'। तथाऽनुष्ठिते मया अपि चिन्तितं—'किमत्र भविष्यति ? मया द्रष्टव्योऽयं न्यायः'। ततः कौतुकात् अहमपि तावनु प्रस्थितः।

अत्रान्तरे तीक्ष्णदंष्ट्रो नाम आरण्यमार्जारः तयोर्विवादं श्रुत्वा, मार्गासन्नं नदीतटम् आसाद्य कृतकुशोपग्रहो निमीलितनयन ऊर्ध्वबाहुः अर्द्धपादस्पृष्टभूमिः श्रीसूर्याभिमुख इमां धर्मोपदेशनाम् अकरोत्—'अहो ! असारोऽयं संसारः, क्षणभङ्गुराः प्राणाः, स्वप्नसदृशः प्रियसमागमः, इन्द्रजालवत् कुटुम्बपरिग्रहोऽयम्। तत् धर्मं मुक्त्वा नान्या गतिः अस्ति। उक्तञ्च—

प्रमाणीकरोषि—अस्मिन् विषये याथार्थ्यनिर्णायकत्वेन जानासीत्यर्थः। यस्य ददाति—यस्मै अर्पयति, सम्प्रदाने सम्बन्धविवक्षया षष्ठी। न्यायः—विचारः। तावनु—तयो पश्चात्, अत्रानुयोगे 'लक्षणेत्थम्भूता—' (पा० सू० १।४।९०) इति कर्मप्रवचनीयत्वात् द्वितीया। मार्गासन्नं—पथसमीपस्थम्। कृतकुशोपग्रहः—कृतः कुशस्य उपग्रहः—ग्रहणं येन तथोक्तः, दर्भपाणिरित्यर्थः, अतिपवित्रभावज्ञापनार्थमिति भावः। अर्द्धपादस्पृष्टभूमि—अर्द्धपादेन—पादार्द्धेन, पादाग्रमात्रेणेत्यर्थः, स्पृष्टा—अवलम्बिता, भूमिः येन सः, एकचरणस्य अग्रभागमात्रेण धरणीं स्पृशन्नित्यर्थः। धर्मोपदेशनां—धर्मशास्त्रोपदेशम्। संसारः—जगत्, पुत्त्रकलत्रादिरूपदृश्यमानवस्तुनिचया इत्यर्थः। क्षणभङ्गुराः—अचिरविनाशिनः। कुटुम्बपरिग्रहः—स्त्रीपुत्त्रादिपरिजनः। मुक्त्वा—विहाय। गतिः—उपायः।

स्मृतियों (—धर्मशास्त्र) को प्रमाण मानते हो तो मेरे साथ चलो। हमलोग किसी धर्मशास्त्री से पूछें। (यह वृक्ष-कोटर) वह जिसको दे, वही ले लेवे। ऐसा करने पर (जब वे दोनों चलने लगे तो) मैंने भी सोचा—इस विषय में क्या होगा ? यह न्याय मुझे देखना चाहिए। तब कौतुकवश मैं भी उनके पीछे-पीछे चल दिया।

इसी समय तीक्ष्णदंष्ट्र नाम का जङ्गली बिडाल उनके इस झगड़े को सुनकर मार्ग के पास वाली नदी के किनारे पर पहुँच कर हाथ में कुशा लेकर आँख मींच करके ऊपर की ओर अपनी भुजाओं को उठाकर पैर के अग्रभाग से भूमि को छूता हुआ (अर्थात् एक पैर से खड़ा होकर), सूर्याभिमुख होकर यह धर्मोपदेश कहने लगा—'ओह ! यह संसार असार है। (प्राण) क्षणभङ्गुर है। प्रियों का समागम स्वप्न के समान (अल्पकालिक एवं असत्य) है। कुटुम्ब का परिपालन इन्द्रजाल निर्मित आकर्षक दृश्य सदृश झूठा है। इसलिए इस सांसारिक प्रपञ्च से बचने के लिए धर्म को छोड़कर दूसरा मार्ग नहीं है।' कहा भी गया है—

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्त्तव्यो धर्मसंग्रहः॥ ९६ ॥
यस्य धर्मविहीनानि दिनान्यायान्ति यान्ति च।
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति॥ ९७ ॥
नाच्छादयति कौपीनं यो दंशमशकापहम्।
शुनः पुच्छमिव व्यर्थं पाण्डित्यं धर्मवर्जितम्॥ ९८ ॥

अनित्यानीति। शरीराणि जीवदेहाः, अनित्यानि नश्वराणि, विभवः सम्पत्, नैव शाश्वतः न हि नित्यः, मृत्युः मरणं, यमः वा, नित्यं सततं, सन्निहितः आसन्नः, अत एव धर्मसङ्ग्रहः धर्मस्य उपार्जनं, कर्त्तव्यः, धर्मस्य अविनश्वरत्वात् लोकान्तरेऽपि सुखहेतुत्वाच्च तदालम्बनमेव श्रेय इति भावः॥ ९६ ॥

यस्येति। यस्य दिनानि दिवसाः, धर्मविहीनानि धर्मशून्यानि सन्ति, केनापि धर्मकार्येण अनुपलक्षितान्येव इत्यर्थः, आयान्ति आगच्छन्ति, यान्ति च, स लोहकारस्य कर्मकारस्य, भस्त्रा चर्म प्रसेविका, अग्न्युद्दीपनार्थं चर्मनिर्मितयन्त्रविशेष इति यावत्, 'भस्त्रा चर्मप्रसेविका' इत्यमरः। सा इव, श्वसन् श्वासं त्यजन्नपि, न जीवति न प्राणिति, धर्मबहिर्भूतस्य जीवनं वृथैव इति भावः॥ ९७ ॥

नाच्छादयतीति। यो जनः, दंशमशकापहं वनमक्षिका मशकाख्यक्षुद्रकीट-निवारकं, केवलं दंशादिदंशनेभ्यः आत्मरक्षार्थं न धर्मार्थमिति भावः, कौपीनं मुनि-धार्यचीरमिति यावत्, आच्छादयति परिदधाति, तत् धर्मवर्जितं पाण्डित्यं वैराग्य-सूचककौपीनधारणेन संसारोऽयमसार इत्यादिज्ञानोत्पत्तिजन्यविद्वत्त्वं, शुनः सारमेयस्य, पुच्छमिव लाङ्गूलमिव, व्यर्थं विफलम्, तथा च यस्य चीरादिधारणं दंशमशकादि-दंशननिवारणार्थं, न तु जीवक्लेशापनोदनाय, तस्य तद्धारणं दंशनमात्रवारणप्रयोजनं

शरीर नाशवान् है, धनसम्पत्ति हमेशा रहने वाली नहीं है, मृत्यु हर समय सिर पर खड़ी है। इसलिए मनुष्य को धर्मसञ्चय करते रहना चाहिए॥ ९६ ॥

जिस पुरुष के दिन, धर्मानुष्ठान आदि शुभ कर्मों के बिना आते और चले जाते हैं वह लुहार की धौंकनी के समान श्वास लेता हुआ भी निर्जीव ही होता है॥ ९७ ॥

जो (कुत्ते की पूँछ) न तो उसके गुह्य अङ्ग को ही ढकती है और जो न मक्खी तथा मच्छर आदि को उड़ा ही सकती है ऐसी कुत्ते की पूँछ के समान धर्म-शून्य शास्त्र चातुर्य भी व्यर्थ ही होता है। (अर्थात् वह न तो वैराग्य उत्पन्न कर कौपीन धारण कर संन्यासी बनाता है और न मच्छर आदि के समान काम आदि मनोविकारों को ही नष्ट कर सकता है)॥ ९८ ॥

अन्यच्च—

पुलाका इव धान्येषु पूतिका इव पक्षिषु।
मशका इव मर्त्येषु येषां धर्मो न कारणम् ॥ ९९ ॥

श्रेयः पुष्पं फलं वृक्षात् दध्नः श्रेयो घृतं स्मृतम्।
श्रेयस्तैलञ्च पिण्याकात् श्रेयान् धर्मस्तु मानुषात् ॥ १०० ॥

सृष्टा मूत्रपुरीषार्थमाहाराय च केवलम्।
धर्महीनाः परार्थाय पुरुषाः पशवो यथा ॥ १०१ ॥

कुक्कुरलाङ्गूलमिव अकिञ्चित्करत्वेन हेयमेवेति निष्कर्षः, कुक्कुरलाङ्गूलं यथा कुटिलमेव तिष्ठति, न कदाऽपि सरलं जायते, तथा अधार्मिकस्य वैराग्यज्ञापकं कौपीनावरणं कुटिलताचरणार्थमेव, न सरलव्यवहारार्थमिति भावः ॥ ९८ ॥

पुलाका इति। धर्मः येषां मनुष्याणां, न कारणं न प्रमाणमित्यर्थः, संसारस्थिताविति शेषः, ये धर्मं प्रमाणीकृत्य न व्यवहरन्तीति भावः, ते धान्येषु मध्ये, पुलाका इव अन्तःसारशून्यधान्यविशेषा इव, पक्षिषु पूतिका इव तदाख्यक्षुद्रपक्षिविशेषा इव, मर्त्येषु मरणधर्मिषु, प्राणिषु इति यावत्, मशका इव, अतिहीना इति भावः ॥ ९९ ॥

श्रेय इति। वृक्षात् पुष्पं फलञ्च श्रेयः श्रेष्ठः, दध्नः घृतं श्रेयः स्मृतं, पिण्याकात् तिलकल्कात्, 'अथ सिल्हके तिलकल्के च पिण्याकः' इत्यमरः। तैलञ्च श्रेयः, मानुषात् तु धर्म एव श्रेयान्, इह सर्वत्र वृक्षादित्यादौ 'पञ्चमी विभक्तेः' (पा० सू० २।३।४०) इति पञ्चमी। यथा हि सारतया वृक्षादिषु फलादीनां श्रेयस्त्वं मानुषस्यापि तथैव सारत्वेन धर्मस्य श्रेष्ठत्वमिति निष्कर्षः ॥ १०० ॥

सृष्टा इति। ये पुरुषाः केवलं मूत्रपुरीषार्थं मलमूत्रत्यागार्थं, तथा आहाराय च भोजनार्थञ्च, सृष्टाः निर्मिताः विधात्रेति शेषः, ते धर्महीनाः पुरुषाः, पशवो यथा गवादय इव, परार्थाय अन्येषां प्रयोजनाय, भवन्तीति शेषः, जनास्तैः नीचोचितं

और भी,

जैसे धान्यों में पुलाक, पक्षियों में पूतिका (पतङ्ग) और प्राणियों में मच्छर तुच्छ और निन्दनीय हैं उसी प्रकार धर्मविमुख मनुष्य तुच्छ और निन्दनीय ही होता है ॥ ९९ ॥

वृक्ष की अपेक्षा उनका सार फूल तथा फल श्रेष्ठ होते हैं, दही से उनका सार तत्त्व घी उत्तम होता है, खली से तेल श्रेष्ठ है और मनुष्य-शरीर में धर्मकार्य श्रेष्ठ होते हैं ॥ १०० ॥

धर्महीन पुरुष जो केवल मलमूत्र के त्याग और पेट भरने के लिए ही यत्न करते

स्थैर्यं सर्वेषु कृत्येषु शंसन्ति नयपण्डिताः।
बह्वन्तराययुक्तस्य धर्मस्य त्वरिता गतिः ॥ १०२ ॥
सङ्क्षेपात् कथ्यते धर्मो जनाः ! किं विस्तरेण वः।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥ १०३ ॥
श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥ १०४ ॥

कर्म साधयन्तीत्यर्थः, उत्तमपुरुषार्थरूपधर्मस्यानपेक्षणात् वृथैव तेषां जन्म इति भावः ॥ १०१ ॥

स्थैर्यमिति। नयपण्डिताः नीतिज्ञा जनाः, सर्वेषु निखिलेषु, कृत्येषु कार्येषु, धर्मानुष्ठानव्यतिरिक्तेषु इति भावः, स्थैर्यं स्थिरतां, विविच्य करणमित्यर्थः, शंसन्ति प्रशंसन्ति, विवेकसहकृतकार्य्यस्य नियतफलोत्पादकत्वादिति भावः, किन्तु बह्वन्तराययुक्तस्य बहुविघ्नसमन्वितस्य, धर्मस्य गतिः त्वरिता सवेगा, कालविलम्बे सति विघ्नाऽऽपातस्य सम्भवात् धर्मः विचारं विनैव त्वरितम् अनुष्ठातव्यः, 'शुभस्य शीघ्रम्' इति नीतिस्मरणात् इति भावः ॥ १०२ ॥

सङ्क्षेपादिति। हे जनाः ! सङ्क्षेपात् वः युष्मभ्यम्, अत्र क्रियाग्रहणात् चतुर्थी धर्मः कथ्यते, विस्तरेण किम् ? बाहुल्येन न प्रयोजनमित्यर्थः, परोपकारः पुण्याय, परपीडनं पापाय, भवतीति शेषः, तथा च परोपकारकरणम् एव जगति मुख्यो धर्मः, परपीडनं तु महत् पापम् इति निष्कर्षः ॥ १०३ ॥

श्रूयतामिति। धर्मस्य सर्वस्वं सारभूतमित्यर्थः, 'यत्' 'तत्' इति पदद्वयमध्याहरणीयं, श्रूयतां, श्रुत्वा च अवधार्यतां निश्चीयताम्, आत्मनः प्रतिकूलानि विरुद्धानि,

---

हैं वे पशुओं के समान ही अन्य पुरुषों का कार्य करने के लिए जन्म लेते हैं ॥ १०१ ॥

नीतिकुशल पुरुष सब कार्यों में स्थिरता अर्थात् जल्दबाजी न करने की प्रशंसा करते हैं किन्तु अनेक विघ्नों से युक्त धर्म की गति तेज है अर्थात् धर्मकार्य शीघ्र कर डालने चाहिए। अधिक सोच-विचार से उसमें विघ्न का भय बना रहता है ॥ १०२ ॥

हे मनुष्यो ! संक्षेप से तुम्हें धर्म का स्वरूप बताता हूँ, विस्तार से क्या लाभ ? परोपकार करना ही पुण्य है और दूसरों को दुःख देना ही पाप है। (अतः दूसरों को कष्ट न देते हुए सदैव परोपकार में ही संलग्न रहना चाहिए) ॥ १०३ ॥

धर्म का सार तत्त्व सुनो और सुनकर उसे हृदय में धारण करो। जो कार्य अपने लिए अहितकर प्रतीत हों उन्हें दूसरों के साथ भी नहीं करना

अथ तस्य तां धर्मोपदेशनां श्रुत्वा शशक आह—'भो भोः कपिञ्जल ! एष नदीतीरे तपस्वी धर्मवादी तिष्ठति; तदेनं पृच्छावः'। कपिञ्जल आह—'ननु स्वभावतोऽस्माकं शत्रुभूतोऽयमस्ति, तत् दूरे स्थितौ पृच्छावः, कदाचित् अस्य व्रतवैकल्यं सम्पद्यते'। ततो दूरस्थितौ ऊचतुः—'भो भोः तपस्विन् ! धर्मोपदेशक ! आवयोर्विवादो वर्त्तते, तत् धर्मशास्त्र-द्वारेण अस्य निर्णयं कुरु. यो हीनवादी, स ते भक्ष्यः' इति। स आह—'भद्रौ ! मा मैवं वदतं, निवृत्तोऽहं नरकपातकमार्गात्, अहिंसैव धर्ममार्गः। उक्तञ्च—

अहिंसापूर्वको धर्मो यस्मात् सद्भिरुदाहृतः।
यूकमत्कुणदंशादींस्तस्मात् तानपि रक्षयेत् ॥ १०५ ॥

स्वस्य क्लेशकराणीत्यर्थः, परेषाम् अत्र सर्वनामत्वं चिन्त्यम्, 'पराणाम्' इति तु सम्यक्, व्यवस्थायामेव पूर्वादिः सर्वनामत्वस्वीकाराविति दिक् अन्येषां सम्बन्धे, न समाचरेत् न कुर्यात्, येन कर्मणा परकृतेन आत्मा क्लिश्यते, तत् कर्म परान् प्रति न प्रयुञ्जीत इति निष्कर्षः, आत्मवत् सर्वभूतानि द्रष्टव्यानीति भावः ॥ १०४ ॥

(१) व्रतवैकल्यं—व्रतभङ्गः, अस्मद्भक्षणलोभादिति भावः। निर्णयं—निश्चयं, विचारद्वारा सत्यमिथ्यानिरूपणमित्यर्थः। हीनवादी—मिथ्यावादीत्यर्थः। नरक-पातकमार्गात्। नरके—पातयतीति नरकपातकः, यः मार्गः—पन्थाः, तस्मात्। धर्ममार्गः—धर्मस्य पन्थाः।

अहिंसेति। यस्मात् सद्भिः साधुभिः, धर्मः अहिंसापूर्वकः अहिंसा पूर्वं प्रधानं

चाहिए ॥ १०४ ॥

उस बिडाल के धर्मोपदेश को सुनकर खरगोश ने कहा—'हे कपिञ्जल ! नदी के किनारे धर्मतत्त्व का निरूपण करने वाला यह तपस्वी बैठा है। चलो इसी से पूँछ लिया जाय। कपिञ्जल ने कहा—'यह तो हमारा स्वभाव से ही शत्रु है। इसलिए दूर खड़े होकर ही पूँछना चाहिए। कदाचित् (हमारे खाने के लोभ से) इसका व्रत भङ्ग न हो जावे।' तब दूर खड़े हो उन्होंने अर्थात् शशक तथा कपिञ्जल ने कहा—'हे धर्मोपदेष्टा तपस्विन् ! हम दोनों के बीच एक पारस्परिक विवाद है। धर्मशास्त्रानुसार उसका निर्णय करो। जिसका पक्ष निर्बल हो (अर्थात् जो झूठा हो) उसे तुम खा जाना।' उसने कहा—'हे सज्जनो ! आपको ऐसी बात नहीं करनी चाहिए। मैं नरक के मार्ग वाले हिंसा कर्म को छोड़ चुका हूँ। क्योंकि अहिंसा ही धर्म का मार्ग है।' कहा भी गया है—

क्योंकि (धर्मवित्) सज्जन मनुष्यों ने अहिंसा को ही धर्म कहा है। इसलिए

हिंसकान्यपि भूतानि यो हिनस्ति स निर्घृणः।
स याति नरकं घोरं किं पुनर्यः शुभानि च ? ॥ १०६ ॥

एतेऽपि ये याज्ञिका यज्ञकर्मणि पशून् व्यापादयन्ति, ते मूर्खाः परमार्थं श्रुतेः न जानन्ति। तत्र किल एतदुक्तम्—'अजैः यष्टव्यम्', अजा—व्रीहयः तावत् सप्तवार्षिकाः कथ्यन्ते, न पुनः पशुविशेषाः। उक्तञ्च—

वृक्षांश्छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येव गम्यते स्वर्गं नरकं केन गम्यते ? ॥ १०७ ॥

यस्य तथाविधः, उदाहृतः उक्तः 'अहिंसा एव परमो धर्मः' इति कथितः इत्यर्थः, तस्मात् तान् क्षुद्रानिति भावः, यूकमत्कुणदंशादीन् अपि रक्षयेत्, स्वार्थे णिच्, मा हिंस्यात्, अन्येषां मानवादीनान्तु का कथा इति भावः ॥ १०५ ॥

हिंसकानीति। यः हिंसकानि हिंसाकारकाणि, प्राणिपीडकानीत्यर्थः, अपि भूतानि प्राणिनः, हिनस्ति, स निर्घृणः निर्दयः, अपि च, स हिंसक हिंसकोऽपीत्यर्थः, घोरं भीषणं नरकं याति, यश्च शुभानि अहिंसकानि भूतानि, हिनस्तीति शेषः, तस्य पुनः किम् ? वक्तव्यमिति शेषः, अवश्यमेव तेन अतिघोरं नरके गन्तव्यमिति भावः ॥ १०६ ॥

(१) परमार्थं—याथार्थ्यम्। श्रुतेः—वेदस्य। अजैः—छागैः। यष्टव्यं—यागः कर्त्तव्यः। व्रीहयः—धान्यानि। सप्तवार्षिकाः—सप्तवर्षमुषिताः, वर्षसप्तकस्य पुराणानि धान्यानीत्यर्थः।

वृक्षानिति। वृक्षान् छित्त्वा, यूपाद्यर्थमिति भावः, पशून् हत्वा, यागार्थमिति भावः, रुधिरेण तेषां शोणितेन, कर्दमं कृत्वा यदि एव चेत्, स्वर्गं, अत्र कर्मणि

अत्यन्त क्षुद्र (नीच) यूका, खटमल और डांस आदि की भी रक्षा करनी चाहिए ॥ १०५ ॥

जो मनुष्य हिंसक प्राणियों को भी मारता है वह निर्दयी होता है और वह भीषण नरक को प्राप्त होता है तथा जो अहिंसक पशुओं को मारता है उसका तो कहना ही क्या (वह तो घोर नरक को प्राप्त होता ही है) ॥ १०६ ॥

और, ये जो वैदिक लोग यज्ञ कर्मों में पशुओं को मारते हैं वे अत्यन्त मूर्ख हैं, क्योंकि वे श्रुति का वास्तविक अर्थ नहीं समझते। श्रुति में वहाँ केवल यह कहा गया है कि 'अजों से यज्ञ करना चाहिए'। (वस्तुतः) सात वर्ष के पुराने यव 'अज' कहलाते हैं न कि 'पशु-विशेष' छाग। कहा भी गया है—

वृक्षों को काटकर, पशुओं को मार कर तथा (उनके) रुधिर से पृथ्वी को

तन्न अहं भक्षयिष्यामि, परं जयपराजयनिर्णयं करिष्यामि। किन्तु अहं वृद्धः, दूरात् युवयोः भाषान्तरं सम्यक् न शृणोमि, एवं ज्ञात्वा मम समीपवर्त्तिनौ भूत्वा मम अग्रे न्यायं वदतं, येन विज्ञाय विवादपरमार्थं वचो वदतो मे परलोकबाधो न भवति। उक्तञ्च यतः—

मानाद्वा यदि वा लोभात् क्रोधाद्वा यदि वा भयात्।
यो न्यायमन्यथा ब्रूते स याति नरकं नरः॥ १०८॥

अधिकरणविवक्षया सप्तमी गम्यते, लोकैरिति शेषः, तदा नरकं केन गम्यते ? त एव नरकगामिनः, न त्वन्ये केऽपीत्यर्थः, पशुवधादिकं विधाय यत् यज्ञमनुतिष्ठन्ति लोकाः, तत् केवलं नरकायेति भावः॥ १०७॥

(१) भाषान्तरं—वाक्यभेदम्। न्यायं—युक्तियुक्तं, सत्यमित्यर्थः। विवादपरमार्थम्—विवादे—परस्परविरुद्धवादे व्यवहारकर्मणि इत्यर्थः, परमार्थं—सिद्धान्तानुगुणतया प्रकृतार्थं, कस्य सत्याभियोगः, कस्य वा मिथ्या ? इत्थं नयसिद्धमित्यर्थः। वचः—वाक्यं, जयपराजयसूचकं सिद्धान्तमित्यर्थः। परलोकबाधः—स्वर्गप्रतिरोधः, अन्यायविचारकरणादिति भावः।

धर्माधिकरणे विचारार्थमुपगतयोर्वादिप्रतिवादिनोः अन्यतरपक्षपातकरणे प्राड्विवाकानां दोषमाह—मानादिति। यः नरः, मानात् वा सम्मानलाभादेव इत्यर्थः, अत्र वाशब्दः एवार्थे, बलीयसां जयसम्पादने स्वस्य विशेषसम्मानलाभा भवेदित्याशयेति भावः, यदि वा लोभात् लालसावशात्, धनादीनाम् इति शेषः, वा अथवा, क्रोधात् कोपात्, केनापि कारणेन विचारकस्य क्रोधोत्पत्तेरित्यर्थः, यदि वा अथवा, भयात् त्रासात्, बलवत्तरपक्षादित्यर्थः, न्यायं सङ्गतं, सत्यमिति भावः, अन्यथा ब्रूते विरुद्धं वदति, पक्षपातात् असङ्गतं कथयति इति यावत्, स नरकं याति॥ १०८॥

कीचड़ बनाकर यदि स्वर्ग की प्राप्ति होती है तो फिर नरक पहुँचाने वाला कौन सा कर्म है ? अर्थात् नरकगामी कौन व्यक्ति होगा ?॥ १०७॥

अतः मैं तुम लोगों को खाऊँगा नहीं। हाँ, तुम्हारी हार-जीत का निर्णय अवश्य करूँगा। परन्तु मैं वृद्ध हो चुका हूँ। अतः दूर से तुम दोनों का उत्तर-प्रत्युत्तर ठीक-ठीक सुन नहीं पाता। इसलिए मेरे पास आकर अपना विवाद पेश करो जिससे मैं (उसे) अच्छी तरह समझकर ठीक-ठीक निर्णय कर सकूँ जिससे मेरे परलोक-प्राप्ति में कोई विघ्न न पड़े। कहा भी गया है—

अभिमान से अर्थात् (जो पुरुष अपना सम्मान स्थिर रखने के लिए) अथवा लोभ से, किंवा क्रोध के वशीभूत होकर अथवा किसी के भय से अनुचित न्याय देता है

पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते।
शतं कन्याऽनृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ १०९ ॥
उपविष्टः सभामध्ये यो न वक्ति स्फुटं वचः।
तस्माद्दूरेण स त्याज्यो न्यायो वा कीर्त्तयेदृतम् ॥ ११० ॥
तस्मात् विश्रब्धौ मम कर्णोपान्तिके स्फुटं निवेदयतम्'। किं बहुना ?

मिथ्याकथनस्य विषयभेदेन पापन्यूनाधिक्यं दर्शयति—पञ्चेति। पश्वनृते साधारणपशुविषयकमिथ्याकथने, पञ्च, पुरुषानिति शेषः, हन्ति नरके पातयतीति भावः, गवानृते गोरूपविशेषपशुविषयकमिथ्याकथने, दश, पुरुषान् इति शेषः, हन्ति, कन्याऽनृते कन्याविषयकमिथ्याकथने, शतं हन्ति, पुरुषानृते पुरुषविषयकमिथ्याकथने, सहस्रम्, पुरुषान् इति शेषः, हन्ति, अतो न मिथ्या वक्तव्यमिति भावः। (मनु० ८।९८ ॥ १०९ ॥

मिथ्याभाषणे एवं दोषमुक्त्वा इदानीमर्थिप्रत्यर्थिनौ सत्यं वाचयितुं प्रणोदयति—उपविष्ट इति। यः, जन इति शेषः, सभामध्ये धर्माधिकरणे इत्यर्थः, उपविष्टः सन्, स्फुटं विशदं, स्पष्टमित्यर्थः, यथा तथा वचः वाक्यं, सत्यमिति भावः, न वक्ति न भाषते, विषदभावेन तत्त्वार्थं न प्रकाशयति इति भावः, सः अस्फुटभाषी, मिथ्यावादी इति यावत्, तस्मात् अस्फुटकथनात्, यथार्थस्याप्रकाशनादित्याशयः, दूरेण दूरादेव, त्याज्यः परिवर्जनीयः, सभामण्डपात् बहिष्करणीय इत्यर्थः, न्यायो वा तदभिहिता युक्तिरपीत्यर्थः, दूरेण त्याज्यः इत्यनुषङ्गः, न विश्वसनीय इत्यर्थः, तर्हि एतादृशवस्तुस्थितौ सत्यां किमु कर्तव्यमिति प्रश्ने सामान्यतः फलितमाह—ऋतमिति। ऋतं सत्यं, कीर्त्तयेत् कथयेत् ॥ ११० ॥

(१) विश्रब्धौ—निःशङ्कौ, विश्वस्तौ वा। कर्णोपान्तिके—कर्णसमीपे। स्फुटं—

तो वह नरकगामी होता है ॥ १०८ ॥

पशु सम्बन्धी विवाद के लिए अनुचित निर्णय देने पर पाँच पुरुषों को मारता है अर्थात् पाँच पुरुषों की हत्या का पाप होता है, गौ सम्बन्धी विवाद के लिए झूठ बोलने में दस को मारने का पाप होता है, कन्या के विषय में अनुचित निर्णय करने पर सौ पुरुषों को मारने का पाप होता है और पुरुष के विषय में अनुचित निर्णय देने पर एक हजार पुरुषों को मारने का पाप होता है ॥ १०९ ॥

जो मनुष्य न्यायालय में बैठकर (निर्भय हो स्पष्टतः अपना फैसला नहीं देता), ऐसे पुरुष को दूर से ही छोड़ देना चाहिए या न्यायासन से हटा देना चाहिए, क्योंकि सत्य बोलना ही न्याय है। अतः राजा का कर्त्तव्य है कि सत्य बात का परीक्षण करे ॥ ११० ॥

तेन क्षुद्रेण तथा तौ तूर्णं विश्वासितौ, यथा तस्य उत्सङ्गवर्त्तिनौ सञ्जातौ, ततश्च तेनापि समकालम् एव एकः पदान्तेन आक्रान्तः, अन्यः दंष्ट्राक्रकचेन च, ततो गतप्राणौ भक्षितौ इति। अतोऽहं ब्रवीमि—'क्षुद्रमर्थपतिं प्राप्य' इत्यादि।

भवन्तोऽपि एनं दिवाऽन्धं क्षुद्र अर्थपतिम् आसाद्य रात्र्यन्धाः सन्तः शश-कपिञ्जलमार्गेण यास्यन्ति। एवं ज्ञात्वा यदुचितं, तद्विधेयम् अतःपरम्।

अथ तस्य तत् वचनम् आकर्ण्य 'साधु अनेन अभिहितम्' इति उक्त्वा 'भूयोऽपि पार्थिवार्थं समेत्य मन्त्रयिष्यामहे' इति ब्रुवाणाः सर्वे पक्षिणो यथाभिमतं जग्मुः केवलम् अवशिष्टः भद्रासनोपविष्टः अभिषेकाभिमुखो दिवाऽन्धः कृकालिकया सह आस्ते, आह च—'कः कोऽत्र भो! किमद्यापि

स्पष्टं, सत्यमित्यर्थः। क्षुद्रेण—नीचेन, पापाशयेनेति यावत्। तौ—शशकपिञ्जलौ। तूर्णं—शीघ्रम्। उत्सङ्गवर्त्तिनौ—क्रोडस्थितौ, समीपस्थौ इत्यर्थः। समकालं—युगपत्, एकदा इत्यर्थः। पदान्तेन—चरणाग्रेण। दंष्ट्राक्रकचेन—दन्तरूपेण करपत्रेण।

(१) भद्राऽऽसनोपविष्टः—भद्राय लोकक्षेमाय आस्यते अत्रेति व्युत्पत्त्या आस्तेर-

---

इसलिए निःशङ्क हो मेरे कान के पास आकर स्पष्ट रूप से कहो। अधिक क्या कहा जाय—उस पापी ने शीघ्र ही उनको ऐसा विश्वास दिला दिया कि वे दोनों ही उसकी गोद में जा बैठे। तब उसने एक साथ ही एक को पैर के अग्र-भाग से और दूसरे को आरे के समान तेज दाँतों से दबोच लिया। अनन्तर उन्हें मार कर खा लिया। इसलिए मैं कहता हूँ—'नीच स्वामी को पाकर प्रजा विनष्ट हो जाती है'—इत्यादि।

अतः, आप लोग भी इस दिवान्ध एवं क्षुद्र (नीच) स्वामी को पाकर रात्रि में अन्धे होने के कारण शशक और कपिञ्जल की गति पाकर एक दिन यमलोक पाओगे। यह समझकर जो उचित हो वह कार्य करो। (हमें जो कहना था बता दिया।)

इसके बाद वायस की यह बात सुनकर 'इसने बहुत ठीक कहा है' यह कह कर 'फिर किसी समय मिल कर राजा के विषय में मन्त्रणा करेंगे' ऐसा कहते हुए सब पक्षी अपने-अपने अभीष्ट स्थान को चले गये। वहाँ केवल कृकालिका के साथ राजसिंहासन पर बैठा हुआ दिवान्ध उल्लू अपने अभिषेक की प्रतीक्षा में बचा रहा। उसने

न क्रियते मम अभिषेकः ?' इति श्रुत्वा कृकालिकया अभिहितं—'भद्र ! तव अभिषेके कृतोऽयं विघ्नो वायसेन, गताश्च सर्वेऽपि विहगाः यथेप्सितासु दिक्षु, केवलमेकोऽयं वायसोऽवशिष्टः केनापि हेतुना तिष्ठति, तत् त्वरितमुत्तिष्ठ, येन त्वां स्वाश्रयं प्रापयामि'। तत् श्रुत्वा सविषादम् उलूको वायसम् आह—'भो भो दुष्टात्मन् ! किं मया ते अपकृतं, यत् राज्याभिषेको मे विघ्नितः ? तत् अद्य प्रभृति सान्वयम् आवयोर्वैरं सञ्जातम्। उक्तञ्च—

रोहति सायकैर्विद्धं छिन्नं रोहति चासिना।
वचो दुरुक्तं बीभत्सं न प्ररोहति वाक्क्षतम् ॥ १११ ॥

एवमभिधाय कृकालिकया सह स्वाश्रयं गतः।

धिकरणे ल्युट् भद्राऽऽसनं—नृपाऽऽसनं, 'नृपाऽऽसनं यत्तत् भद्राऽऽसनम्' इत्यमरः। तत्र उपविष्टः—आसीनः। यथेप्सितासु—यथाऽभिलषितासु, अत्र 'सुप्सुपा' इति समासः : स्वाश्रयं—स्वस्थानम्। सान्वयं—सवंशं कुलानुक्रममित्यर्थः।

रोहतीति। सायकैः शरैः, विद्धं, वृक्षादिकम् अङ्गं वा इति शेषः, रोहति पुनः पूर्णं भवति, त्वचा मांसेन वा इति भावः, असिना खड्गेन, छिन्नमपि रोहति, किन्तु वाक्क्षतं वाचा जनितं क्षतं, दुर्वाक्यविद्धमित्यर्थः हृदयमिति शेषः, न प्ररोहति न स्वास्थ्यमापद्यते, न पूर्णताम् अधिगच्छतीति भावः, शत्रुप्रयुक्तं दुर्वाक्यं न कदाऽपि विस्मर्यते लोकैरिति तात्पर्यम्, तस्मात् दुरुक्तं दुष्टं वचः, बीभत्सम् अतीव घृणाकरम् ॥ १११ ॥

कहा—यहाँ कौन उपस्थित है ? (इतना विलम्ब होने पर) अब भी मेरा राज्याभिषेक क्यों नहीं किया जा रहा है ?' यह सुन कर कृकालिका ने कहा—'तुम्हारे अभिषेक में कौवे ने विघ्न डाल दिया है। सभी पक्षी अपने-अपने अभीष्ट स्थानों को चले भी गए। केवल यह कौवा किसी कारणवश बैठा है, इसलिए आप भी अब जल्दी उठें जिससे आपको भी आपके स्थान पर पहुँचा दूँ।' यह सुनकर उल्लू ने दुःखपूर्वक कौवे से कहा—'अरे दुष्ट ! मैंने तेरी क्या बुराई की थी, जो तुमने मेरे राज्याभिषेक में विघ्न डाल दिया ? इसलिए आज से हमारा-तुम्हारा अनुवंशिक (वंश परम्परागत) वैर हो गया है। क्योंकि कहा भी गया है—

बाणों से विद्ध घाव आदि भर जाता है, तलवार से काटा गया घाव भी पूरा हो जाता है किन्तु (कटु) वाणी से विद्ध (हृदय का) घाव कभी नहीं भरता। (इसलिए मनुष्य को दुर्वाच्य और घृणास्पद वचन कभी भी नहीं बोलना चाहिए) ॥ १११ ॥

अथ भयव्याकुलो वायसो व्यचिन्तयत्—'अहो ! अकारणं वैरम् आसादितं मया, किमिदं व्याहृतम् ? उक्तञ्च—

अदेशकालज्ञमनायतिक्षमं
यदप्रियं लाघवकारि चात्मनः ।
योऽत्राब्रवीत् कारणवर्जितं वचः
न तद्वचः स्यात् विषमेव तद्वचः ॥ ११२ ॥

बलोपपन्नोऽपि हि बुद्धिमान् नरः
परं नयेन्न स्वयमेव वैरिताम् ।
भिषक् ममास्तीति विचिन्त्य भक्षयेत्
अकारणात् को हि विचक्षणो विषम् ? ॥ ११३ ॥

(१) वैरं—विरोधः, 'वैरं विरोधो विद्वेषः' इत्यमरः । आसादितं—प्राप्तम् । व्याहृतम्—उक्तं, 'व्यवहार उक्तिर्लपितम्' इत्यमरः ।

अदेशेति । अत्र संसारे, यः अदेशकालज्ञं देशकालज्ञानवर्जितं, यत्र देशे यस्मिन् काले वा यत् युक्तं तद्विपरीतमित्यर्थः, अनायतिक्षमं परिणामविषमम् इत्यर्थः, अप्रियम् अप्रीतिकरं, लोकानामिति शेषः, आत्मनः स्वस्य च, लाघवकारि लघुत्वप्रकाशकं, कारणवर्जितम् अकारणञ्च, निर्हेतुकमित्यर्थः, यत् वचः अब्रवीत्, तस्य तत् वचः, न स्यात् वाक्यमिति संज्ञायोग्यमेव न भवेत्, अपि तु तद्वचः विषमेव, स्यादित्यन्वयः, विषवत् तत् सदा धीमद्भिरुपेक्ष्यते स्वापकारजननभयादिति भावः । वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ ११२ ॥

बलोपपन्न इति । बुद्धिमान् नरः बलोपपन्नोऽपि सबलोऽपि, स्वयम् आत्मना, परम् अन्यं, वैरितां शत्रुतां; न हि नयेत् नैव प्रापयेत्, तथा हि, विचक्षणः सदस-

---

यह कह कर उल्लू भी कृकालिका के साथ अपने स्थान को चला गया ।

उसके चले जाने पर भय से व्याकुल होकर कौवा सोंचने लगा—'ओह ! विना कारण ही मैंने वैर मोल ले लिया, यह मैंने क्या कह डाला (कि उल्लू का राज्याभिषेक ही खरमण्डल हो गया) । कहा भी गया है—

इस संसार में जो मनुष्य विना कारण ही देश-काल के विरुद्ध, भविष्य में दुःखदायी, अप्रिय और अपने ओछेपन (लघुता) को प्रकाशित करने वाला वचन बोलता है वह वचन ; वचन नहीं है किन्तु वह वचन विष ही होता है ॥ ११२ ॥

बुद्धिमान् पुरुष बलवान् होने पर भी अनायास अपनी ओर से किसी के साथ शत्रुता न करे । कौन समझदार पुरुष 'मेरे घर का ही वैद्य है' यह समझकर बिना कारण ही विष खा लेगा ? ॥ ११३ ॥

परपरिवादः परिषदि न कथञ्चित् पण्डितेन वक्तव्यः ।
सत्यमपि तन्न वाच्यं यदुक्तमसुखाऽऽवहं भवति ॥ ११४ ॥

सुहृद्भिराप्तैरसकृद्विचारितं
स्वयञ्च बुद्धया प्रविचारिताश्रयम् ।
करोति कार्यं खलु यः स बुद्धिमान्
स एव लक्ष्म्या यशसाञ्च भाजनम् ॥ ११५ ॥

एवं विचिन्त्य काकोऽपि प्रयातः । तदा प्रभृति अस्माभिः सह कौशिकानाम् अन्वयगतं वैरमस्ति ।'

द्विवेचकः, को हि जनः, मम भिषक् चिकित्सकः, विषवेगनिवारणक्षम इति भावः, अस्ति इति विचिन्त्य अकारणात् हेतुं विना, विषं भक्षयेत् ? न कोऽपीत्यर्थः, प्रथमतो वैरमुत्पाद्य वलेन पश्चात् तदपनयनप्रयासः विषभक्षणानन्तरं चिकित्सकानुसन्धानवत् नितरां हेय इति भावः । वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ ११३ ॥

परेति । पण्डितेन विज्ञेन जनेन, परिषदि सभायां, परपरिवादः परनिन्दा, कथञ्चित् केनापि प्रकारेण, न वक्तव्यः, यत् उक्तं वचनम्, असुखाऽऽवहम् अप्रीतिकरं, लोकस्येति शेषः, भवति, तत् सत्यमपि न वाच्यम्, 'न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' इति नीतिस्मरणादिति भावः । आर्या वृत्तम् ॥ ११४ ॥

सुहृद्भिरिति । यः आप्तैः विश्वस्तः, सुहृद्भिः सह असकृत् पुनः पुनः, विचारितं विशेषेण कर्त्तव्यतया निर्द्धारितं, स्वयञ्च बुद्धया निजबुद्धयनुसारेणेत्यर्थः, प्रविचारिताश्रयं प्रविचारितः विशेषेण विचार्य निर्णीतः, आश्रयः आधारः, कस्मिन् कीदृशं कार्यं करणमित्येवंरूपः इति भावः, यस्य तथाविधं, प्रकृष्टविचारसङ्गतम् इत्यर्थः, कार्यं करोति स खलु स एव, बुद्धिमान्, स एव लक्ष्म्याः सम्पदः, यशसाञ्च भाजनं पात्रं, भवतीति शेषः, न कदाचिदप्यसौ विपद्यते इति फलितम् ॥ ११५ ॥

(१) कौशिकानां—पेचकानां 'महेन्द्रगुग्गुलूलूकव्यालग्राहिषु कौशिकः' इत्यमरः ।

विद्वान् व्यक्ति को सभा के सामने किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिए और वह सत्य भी नहीं कहना चाहिए जो कहने पर किसी के लिए दुःखदायी वा अप्रीतिकर हो ॥ ११४ ॥

विश्वस्त मित्रों के द्वारा बार-बार विचार करके और स्वयं भी अपनी बुद्धि के अनुसार सावधानी के साथ सोच-विचार कर जो कार्य करता है वही पुरुष बुद्धिमान् है और वही ऐश्वर्य तथा कीर्ति का भागी होता है ॥ ११५ ॥

ऐसा सोचते हुए कौवा भी चला गया । तभी से हमारे साथ उल्लूओं का वंश-

मेघवर्ण आह—'तात ! एवं गते अस्माभिः किं कृतम् अस्ति ? स आह—'वत्स ! एवं गतेऽपि षाड्गुण्यात् अपरः स्थूलोऽभिप्रायोऽस्ति, तम् अङ्गीकृत्य स्वयमेव अहं तद्विजयाय यास्यामि, रिपून् वञ्चयित्वा बधिष्यामि च । उक्तञ्च यतः—

बहुबुद्धिसमायुक्ताः सुविज्ञाना बलोत्कटान् ।
शक्ता वञ्चयितुं धूर्ता ब्राह्मणं छागलादिव ॥ ११६ ॥

मेघवर्ण आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

४ : धूर्तब्राह्मण-छाग-कथा

कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने मित्रशर्मा नाम ब्राह्मणः कृताग्निहोत्रपरिग्रहः

अन्वयगतं—वंशपरम्परागतम् ।

(१) षाड्गुण्यात्—सन्ध्यादिगुणषट्कात् । अपरः—अन्यः, स्थूलः—महान्, अतिसूक्ष्मषाड्गुण्यादिचिन्तायाः बह्वायासकरत्वेन, ततः सुकरः तीक्ष्णधीमात्रसाध्योऽर्थसिद्धिकारकः इत्यर्थः । अभिप्रायः—उपायः, कौशलमिति यावत् । अङ्गीकृत्य—अवलम्ब्य ।

बह्विति । बहुबुद्धिसमायुक्ताः विविधविषयेषु तीक्ष्णमतिसम्पन्नाः, सुविज्ञानाः सुविचक्षणाः, जनाः इति शेषः, धूर्त्ताः वञ्चकाः, ब्राह्मणं छागलादिव, बलोत्कटान् प्रबलान्, अपि शत्रूनिति शेषः, वञ्चयितुं प्रतारयितुं, स्वाधिकारात् विच्यावयितुमिति भावः, शक्ताः समर्थाः, भवन्तीति शेषः ॥ ११६ ॥

परम्परागत वैर हो गया ।

मेघवर्ण ने कहा—'हे तात ! ऐसी दशा में हमें क्या करना चाहिए ?' उसने कहा—'वत्स ! ऐसी स्थिति में भी षाड्गुण्य (सन्धि, विग्रह आदि गुणों) के अतिरिक्त एक अन्य शक्तिशाली उपाय छल भी है । उसी को अङ्गीकार कर स्वयं ही उस शत्रु की विजय के लिए जाऊँगा और शत्रु को धोखा देकर मारूँगा । कहा भी गया है—

अनेक प्रकार की बुद्धि चातुरी से युक्त, विभिन्न उपायों के ज्ञाता एवं छल-छद्म में निपुण पुरुष बलवान् मनुष्यों को भी धोखा दे सकते हैं जैसे कि धूर्तों ने अजा ले जाने वाले ब्राह्मण को उससे वञ्चित कर दिया ॥ ११६ ॥

मेघवर्ण ने कहा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

धूर्त-ब्राह्मण और अज की कथा

किसी नगराधिष्ठान में मित्रशर्मा नाम का ब्राह्मण अग्निहोत्र करने का नियम

प्रतिवसति स्म। तेन कदाचित् माघमासे सौम्यानिले प्रवाति, मेघाच्छादिते गगने, मन्दं मन्दं प्रवर्षति पर्जन्ये, पशुप्रार्थनाय ग्रामान्तरे गत्वा कश्चित् यजमानो याचितः—'भो यजमान! आगामिन्याम् अमावस्यायाम् अहं यक्ष्यामि यज्ञम्, तत् देहि मे पशुम् एकम्।'

अथ तेन तस्य शास्त्रोक्तः पीवरतनुः पशुः प्रदत्तः। सोऽपि तं समर्थम् इतश्चेतश्च गच्छन्तं विज्ञाय स्कन्धे कृत्वा सत्वरं स्वपुराभिमुखः प्रतस्थे।

अथ तस्य गच्छतो मार्गे त्रयो धूर्ताः क्षुत्क्षामकण्ठाः सम्मुखा बभूवुः। तैश्च तादृशं पीवरतनुं स्कन्धे आरूढम् अवलोक्य मिथोऽभिहितम्—'अहो! अस्य पशोः भक्षणात् अद्यतनो हिमपातो व्यर्थतां नीयते, तत् एनं वञ्चयित्वा

---

[४]

(१) कृताग्निहोत्रपरिग्रहः—कृतः अग्निहोत्रपरिग्रहः—अग्निहोत्रस्य—नित्यं गृहस्थापिते वैवाहिकसंस्कृताग्नौ होमरूपस्य नियमविशेषस्य, परिग्रहः—स्वीकारः येन तथोक्तः, अग्निहोत्री, साग्निक इति यावत्। सौम्यानिले—शीतलवायौ। प्रवाति—प्रवहति, अत्र भावे सप्तमी। पर्जन्ये—मेघे। पशुप्रार्थनाय—अजलाभार्थं यज्ञीयच्छागयाञ्चार्थमित्यर्थः, 'पशुर्मृगाऽऽदिदेवाजे नाऽव्ययं पशुदर्शने' इति मेदिनी।

(२) पीवरतनुः—स्थूलकायः। समर्थं—बलवन्तं, यज्ञकर्मप्रयोगयोग्यमिति भावः। इतश्चेतश्च—अस्यां तस्यां दिशि, समन्तादित्यर्थः, अत्र सार्वविभक्तिकः तसिल्।

(३) अद्यतनः—अद्यभवः। हिमपातः—शीतागमः, तुहिनपतनं वा। व्यर्थतां—

करते हुए रहता था। वह एक समय माघ महीने में—जब कि ठण्डी-ठण्डी हवा चल रही थी, आकाश मेघों से ढका हुआ था और धीमी-धीमी वर्षा की फुहार पड़ रही थी—पशु की याचना के लिए किसी दूसरे ग्राम में जाकर उसने किसी अन्य यजमान से कहा—'हे यजमान! मैं आगामी अमावस को यज्ञ करूँगा। इसलिए मुझे एक पशु दे दो!'

उसने शास्त्र-विहित अर्थात् जैसा कि शास्त्रों में यज्ञ के लिए पशु बताया गया था वैसा ही मोटा-ताजा एक पशु दे दिया था। उस ब्राह्मण ने भी हृष्ट-पुष्ट होने के कारण कतराकर इधर-उधर भागते हुए उसे देखकर अपने कन्धे पर चढ़ाकर जल्दी-जल्दी अपने नगर की ओर चल पड़ा।

जब वह रास्ते में जा रहा था तब भूख-प्यास से व्याकुल तीन धूर्त उससे मिले। उन्होंने हृष्ट-पुष्ट शरीर वाले उस बकरे को ब्राह्मण के कन्धे पर चढ़ा हुआ देखकर परस्पर कहा—'ओह! इस पशु को खाकर (आज के शीत से अपनी रक्षा करनी चाहिए)।

पशुम् आदाय शीतत्राणं कुर्मः' ।

अथ तेषाम् एकतमो वेशपरिवर्त्तनं विधाय सम्मुखो भूत्वा अपमार्गेण तम् आहिताग्निम् ऊचे—'भो भोः बालाग्निहोत्रिन् ! किम् एवं जनविरुद्ध हास्यकार्यम् अनुष्ठीयते; यदेषः सारमेयोऽपवित्रः स्कन्धारूढो नीयते ? उक्तञ्च यतः—

श्वानकुक्कुटचाण्डालाः समस्पर्शाः प्रकीर्त्तिताः ।
रासभोष्ट्रौ विशेषेण तस्मात् तान् नैव संस्पृशेत् ।। ११७ ।।

विफलताम्, मांसभक्षणात् शरीरे उष्णे सञ्जाते शीतनिवृत्तिः भविष्यति इत्याशयः। शीतत्राणं—शीतात् त्राणं—रक्षणम्, आत्मन इति शेषः ।

(१) अपमार्गेण—अपरमार्गेण येन मार्गेण ब्राह्मण आयाति, तद्विपरीतमार्गेणेत्यर्थः, पश्चाद्भागेन वा, आगत्य इति शेषः। आहिताग्नि—कृताग्निहोत्रम् । अत्र 'अग्न्याहितम्' इत्यपि भवति, 'वाऽऽहिताग्न्यादिषु' (पा० सू० २।२।३७) इति सूत्रात् । बालाग्निहोत्रिन् । बालः—शिशुः, अनभिज्ञ इत्यर्थः, स चासौ अग्निहोत्री चेति तत्सम्बुद्धौ, कदाऽपि प्राक् भवता अग्निहोत्रयागः नानुष्ठित इत्यनुमीयते, अन्यथा कथं सारमेयेण अग्निहोत्रं चिकीर्षुरसि ? इत्याशयात् सोल्लुण्ठम् एवमामन्त्रितमिति ज्ञेयम् । सारमेयः—सरमा—कुक्कुरी, तस्या अपत्यं पुमान् सारमेयः सरमाशब्दादपत्यार्थे ढक् प्रत्ययः ।

श्वानेति । श्वा एवेति अण्, न टिलोपः, श्वानाः कुक्कुराः, कुक्कुटाश्च, चाण्डालाश्च ते, विशेषेण रासभोष्ट्रौ गर्दभोष्ट्रौ, समस्पर्शाः तुल्यस्पर्शाः, प्रकीर्त्तिताः कथिताः, तस्मात् तान् श्वानादीन्, नैव संस्पृशेत्, एतेषां स्पर्शस्य अपवित्रताकरत्वेन तुल्यपापजनकत्वादिति भावः ।। ११७ ।।

आज का शीत व्यर्थ किया जावे । इसलिए इसको ठग कर और पशु को लेकर शीत से अपनी रक्षा करनी चाहिए ।

तब उनमें से एक ने अपना वेश बदल कर, बगल के पार्श्व मार्ग से सामने आकर उस अग्निहोत्री से कहा—'अरे मूर्ख अग्निहोत्री ! तुम लोकविरुद्ध ऐसा हँसी का काम क्यों कर रहे हो जो इस (अपवित्र) कुत्ते को अपने कन्धे पर चढ़ा कर ले जा रहे हो । क्योंकि कहा भी गया है—

कुत्ते और कुक्कुट को छूना, चाण्डाल अर्थात् डोम चमार आदि के छूने के समान है, गदहे और ऊँट को छूना विशेषकर अपवित्र कहा गया है । इसलिए इनका स्पर्श नहीं करना चाहिए ।। ११७ ।।

ततश्च तेन कोपाभिभूतेन अभिहितम्—'अहो ! किमन्धो भवान्, यत् पशुं सारमेयं प्रतिपादयसि ?' सोऽब्रवीत्—'ब्रह्मन् ! कोपः त्वया न कार्यः, यथेच्छया गम्यताम्' इति। अथ तावत् किञ्चित् अध्वनोऽन्तरं गच्छति, तावत् द्वितीयो धूर्त्तः सम्मुखे समुपेत्य तमुवाच—'भो ब्रह्मन् ! कष्टं कष्टं यद्यपि वल्लभोऽयं ते मृतवत्सः, तथाऽपि स्कन्धमारोपयितुमयुक्तम्। उक्तञ्च यतः—

तिर्यञ्चं मानुषं वाऽपि यो मृतं संस्पृशेत् कुधीः।
पञ्चगव्येन शुद्धिः स्यात् तस्य चान्द्रायणेन च ॥ ११८ ॥

अथासौ सकोपमिदाह—'भोः ! किमन्धो भवान्, यत् पशुं मृतवत्सं वदसि ?' सोऽब्रवीत्—'भगवन् ! मा कोपं कुरु, अज्ञानान्मयाऽभिहितम्,

---

(१) अध्वनः—पथः। अन्तरं—दूरम्। वल्लभः—प्रियः। मृतवत्सः—मृतो गोशिशुः।

तिर्यञ्चमिति। यः कुधीः दुर्बुद्धिः नरः, मृतं तिर्यञ्चं पशुपक्ष्यादिकं, मानुषं वाऽपि संस्पृशेत् परामृशेत्, तस्य मृतस्प्रष्टुः जनस्य, पञ्चगव्येन पञ्चानां गव्यानां समाहारः पञ्चगव्यम् इति द्विगु समासः। तेन दधिदुग्धघृतगोमयगोमूत्ररूपेणेत्यर्थः, भक्षितेनेति शेषः, चान्द्रायणेन च चन्द्रस्य अयनमिव अयनं गतिः यस्य तथाभूतेन, यद्वा—चान्द्रे चन्द्रलोके, अयनं गतिः, वासः इति यावत्, येन तादृशेन माससाध्यव्रत-विशेषेणेत्यर्थः, कृष्णप्रतिपदम् आरभ्य पौर्णमासीं यावदनुष्ठेयेनेति यावत्, 'एकैकं ह्रासयेत् पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्द्धयेत्' इति शास्त्रादिति भावः, शुद्धिः तज्जनितपापक्षय

तब उस ब्राह्मण ने क्रुद्ध होकर कहा—'क्या तुम अन्धे हो ? जो इस पशु को कुत्ता बताते हो।' उसने कहा—'ब्रह्मन् ! आप क्रोध न करें, आप अपनी इच्छानुसार जाइए।' (मुझे आपके इस कार्य से क्या प्रयोजन है ?) वह कुछ ही दूर गया था कि दूसरे धूर्त्त ने सामने आकर कहा—'हे ब्रह्मन् ! बड़े कष्ट की बात है, यद्यपि यह मरा हुआ बछड़ा तुम्हारा प्यारा है तो भी इसे कन्धे पर चढ़ाना उचित नहीं है। क्योंकि कहा भी गया है—

मरे हुए पशु-पक्षी आदि अथवा मृतक मनुष्य को भी जो दुर्बुद्धि पुरुष छूता है तो पञ्चगव्य अथवा चान्द्रायण (व्रत विशेष) से उसकी शुद्धि होती है ॥ ११८ ॥

तब वह ब्राह्मण क्रोधपूर्वक बोला—'क्या आप अन्धे हैं जो इस पशु को मरा बछड़ा बता रहे हैं ?' उसने कहा—'भगवन् ! क्रोध न कीजिए, मैंने अज्ञानवश यह

तत् त्वम् आत्मरुचि समाचर' इति। अथ यावत् स्तोकं वनान्तरं गच्छति, तावत् तृतीयोऽन्यवेशधारी धूर्तः सम्मुखे समुपेत्य तमुवाच—भोः! अयुक्तमेतत्, यत् त्वं रासभं स्कन्धाधिरूढं नयसि, तत् त्यज्यतामेषः। उक्तञ्च—

य: स्पृशेद्रासभं मर्त्यो ज्ञानादज्ञानतोऽपि वा।
सचेलं स्नानमुद्दिष्टं तस्य पापप्रशान्तये॥ ११९॥

तत् त्यजैनं, यावदन्यः कश्चिन्न पश्यति।'

अथासौ तं पशुं रासभं मन्यमानो भयाद् भूमौ प्रक्षिप्य स्वगृहमुद्दिश्य प्रपलायितः। ततस्ते त्रयो मिलित्वा तं पशुमादाय यथेच्छया भक्षितुमारब्धाः। अतोऽहं ब्रवीमि—'बहुबुद्धिसमायुक्ताः' इत्यादि।

इत्यर्थः, स्यात्॥ ११८॥

(१) आत्मरुचि—स्वाभिलषितं यथा तथा: स्तोकम्—अल्पम्। वनान्तरं—वनावकाशं, वनमध्यमित्यर्थः। रासभं—गर्दभम्।

य इति। यः मर्त्यः ज्ञानात् अज्ञानतो वाऽपि रासभं गर्दभं, स्पृशेत्, तस्य पापप्रशान्तये रासभस्पर्शजनितपातकोपशमायेत्यर्थः, सचेलं स्वपरिधेयोत्तरीयवस्त्रसहितं, स्नानम् उद्दिष्टं कथितम्॥ ११९॥

कह दिया। आप अपना कार्य अपनी रुचि के अनुसार करें।' इसके बाद जंगल में वह कुछ दूर ही आगे बढ़ा था कि तीसरे धूर्त ने वेष बदलकर सामने आकर उससे कहा—'हे ब्राह्मण! यह बहुत ही अनुचित है कि तुम गदहे को कन्धे पर चढ़ा कर ले जा रहे हो, इसलिए इसका त्याग कर दो। क्योंकि कहा भी गया है—

जो मनुष्य जानबूझ कर अथवा अनजाने में गदहे का स्पर्श करता है उसके पाप की शान्ति के लिए वस्त्र सहित स्नान का विधान किया गया है॥ ११९॥

'इसलिए इसे किसी के देखने से पूर्व ही छोड़ दो।'

तब वह उस पशु को गदहा समझता हुआ (अर्थात् जो इसे देखता है वही अपवित्र पशु बताता है अतः यह अवश्य ही अपवित्रात्मा प्राणी है। इस प्रकार) डर के कारण पृथ्वी पर उसे फेंक कर अपने घर की ओर भागा। तब उसके भाग जाने पर वे तीनों धूर्त मिलकर उस पशु को इच्छानुसार खाने लगे। इसलिए मैं (स्थिरजीवी) कहता हूँ—'अनेक बुद्धि वाले मिल कर किसी को भी ठग सकते हैं।' इत्यादि।

अथवा साध्विदमुच्यते—

अभिनवसेवकविनयैः प्राघुणिकोक्तैर्विलासिनीरुदितैः ।
धूर्त्तजनवचननिकरैरिह कश्चिदवञ्चितो नास्ति ॥ १२० ॥

किञ्च दुर्बलैरपि बहुभिः सह विरोधो न युक्तः । उक्तञ्च—

बहवो न विरोद्धव्या दुर्जया हि महाजनाः ।
स्फुरन्तमपि नागेन्द्रं भक्षयन्ति पिपीलिकाः ॥ १२१ ॥

मेघवर्ण आह—'कथमेतत् ?' स्थिरजीवी कथयति—

अभिनवेति । इह अस्मिन् जगति, कश्चित् कोऽपि जनः, अभिनवस्य नवाऽऽगतस्य, सेवकस्य भृत्यस्य, विनयैः, विनीतव्यवहारैः, प्राघुणिकोक्तैः आगन्तुकवचनैः, 'स्यादावेशिक आगन्तुरतिथिर्ना गृहागते । प्राघुणिकः प्राघुणकः इति कोषः । विलासिनीनां नारीणां, दुष्टानामिति भावः, रुदितैः विलापैः, धूर्त्तजनानां प्रतारकाणां, वचननिकरैः वाक्प्रपञ्चैः, अवञ्चितः अप्रतारितः, नास्ति, सर्वं एव प्रतारितो भवतीत्यर्थः, एते स्वकार्यसाधनाय मधुरवचनादिभिः जनान् विश्वास्य प्रतारयन्ति इति निष्कर्षः । आर्या वृत्तम् ॥ १२० ॥

बहव इति । बहवः सङ्घवृत्तयः इत्यर्थः, दुर्बला अपीति शेषः, न विरोद्धव्याः न विरोधनीयाः, हि यतः महाजनाः महान्तः बहवः, समवेता इति भावः, जनाः, दुर्जया जेतुमशक्याः, तथा हि, पिपीलिकाः क्षुद्रा अपि समवेताः इति भावः, स्फुरन्तं दीप्यमानं, गर्जन्तमिति यावत्, स्वतेजसेति भावः, नागेन्द्रमपि भुजगेन्द्रमपि, भक्षयन्ति, नाति दुष्करं किञ्चित् सम्भूय कुर्वद्भिः इति निष्कर्षः ॥ १२१ ॥

अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

इस संसार में कोई मनुष्य ऐसा नहीं है जो नये भृत्य के नम्र व्यवहारों, अतिथि के वचनों, कामिनियों के रोने से और धूर्तों के प्रवञ्चनायुक्त जालों से न ठगा गया हो ॥ १२० ॥

किं बहुना, यदि दुर्बल व्यक्ति भी संगठित हों तो उनसे विरोध करना उचित नहीं है । कहा भी गया है—

बहुत से मनुष्यों के साथ विरोध नहीं करना चाहिए । क्योंकि (मिले हुए) अनेक जन दुर्जय होते हैं, जैसे चीटियाँ फुफुकारते हुए भी (भयङ्कर एवं सशक्त) महासर्प को भी खा जाती हैं ॥ १२१ ॥

मेघवर्ण ने कहा—'यह कैसे ?' तब स्थिरजीवी ने कहा—

५ : पिपीलिकाभुजङ्गम-कथा

अस्ति कस्मिंश्चिद्वल्मीके महाकायः कृष्णसर्पोऽतिदर्पो नाम। स कदाचित् विलानुसारमार्गमुत्सृज्य अन्येन लघुद्वारेण निष्क्रमितुमारब्धः। निष्क्रामतश्च तस्य महाकायत्वात् दैववशतया लघुविवरत्वाच्च शरीरे व्रणः समुत्पन्नः। अथ व्रणशोणितगन्धानुसारिणीभिः पिपीलिकाभिः सर्वतो व्याप्तो व्याकुलीकृतश्च। कति व्यापादयति कति वा ताडयति? अथ प्रभूतत्वात् विस्तारितबहुव्रणः क्षतसर्वाङ्गोऽतिदर्पः पञ्चत्वमुपागतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'बहवो न विरोद्धव्याः' इत्यादि।

[काकोलूकवैर-कथा]

'तत् अत्रास्ति किञ्चित् मे वक्तव्यं, तदवधार्य यथोक्तम् अनुष्ठीयताम्।' मेघवर्ण आह—'तत् समादेशय, तवादेशो नान्यथा कर्त्तव्यः।' स्थिरजीवी प्राह—'वत्स! समाकर्णय तर्हि सामादीनतिक्रम्य यो मया पञ्चम उपायो

[५]

(१) कृष्णसर्पः—तीव्रविषधरसर्पविशेषः, नित्यसमासः। बिलानुसारमार्गं—गर्त्तात् बहिर्निःसरणस्य प्रशस्तं पन्थानम्। निष्क्रमितुं—निर्गन्तुम्। व्रणः—क्षतः, घर्षणादिति भावः।

चींटी और साँप की कथा

किसी वल्मीक में बड़े लम्बे शरीर वाला अतिदर्प नाम का काला साँप रहता था। एक समय वह बिल से निकलने के (उत्तम) मार्ग को छोड़कर किसी अन्य सँकरे मार्ग से बाहर निकलने लगा। शरीर के बड़े होने के कारण तथा बिल सँकरा होने के कारण संयोग से निकलते समय छिल जाने से उसके शरीर में घाव हो गए। तब घाव के रुधिर की गन्ध पाकर उसका अनुसरण करती हुई बहुत सी चोटियाँ चारों ओर से लिपट गयीं और उन्होंने उसे व्याकुल कर दिया। (फिर वह कर ही क्या सकता था)। वह कितनी चींटियों को मारता और कितनी चींटियों को घायल करता? किन्तु चींटियों के अत्यधिक होने के कारण घाव बहुत बढ़ गया, उसका सारा शरीर क्षत विक्षत हो गया (और अन्त में) वह मर गया। इसलिए मैं कहता हूँ कि 'बहुतों के साथ विरोध नहीं करना चाहिए।'

'इस विषय में मुझे कुछ कहना है। उसे समझ कर मेरे कथनानुसार कार्य भी करें।' मेघवर्ण ने कहा—'आज्ञा कीजिए, आपकी आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं किया

निरूपितः—तन्मां विपक्षभूतं कृत्वा, अतिनिष्ठुरवचनैः निर्भर्त्स्य, यथा विपक्ष-प्रणिधीनां प्रत्ययो भवति, तथा समाहृतरुधिरैः आलिप्य, अस्यैव न्यग्रोधस्य अधस्तात् प्रक्षिप्य मां, गम्यतां पर्वतम् ऋष्यमूकं प्रति। तत्र सपरिवारस्तिष्ठ। यावदहं समस्तान् सपत्नान् सुप्रणीतेन विधिना विश्वास्य अभिमुखान् कृत्वा कृतार्थो ज्ञातदुर्गमध्यः दिवसे तान् अन्धतां प्राप्तान् ज्ञात्वा व्यापाद-यामि। ज्ञातं मया सम्यक्, नान्यथा अस्माकं सिद्धिरिति, यतो दुर्गम् एतत् अपसाररहितं केवलं बधाय भविष्यति। उक्तञ्च यतः—

अपसारसमायुक्तं नयज्ञैर्दुर्गमुच्यते।
अपसारपरित्यक्तं दुर्गं व्याजेन बन्धनम्॥ १२२॥

---

(१) विपक्षभूतं—शत्रुभूतम्। विपक्षप्रणिधीनां—शत्रुचाराणाम्। प्रत्ययः—विश्वासः। समाहृतरुधिरैः—कुतश्चित् आनीतैः रक्तैः। न्यग्रोधस्य वटवृक्षस्य। सपत्नान्—शत्रून् 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः। द्विड्विपक्षाहितामित्रदस्यु-शात्रवशत्रवः' इत्यमरः। सुप्रणीतेन—सुकल्पितेन। विधिना—उपायेन। अभि-मुखान्—मुखापेक्षिण इत्यर्थः, मां अनुकूलानिति यावत्। सिद्धिः—फललाभ इत्यर्थः, कार्यस्येति शेषः। दुर्गम एतत्—अस्माकमावास इति भावः। अपसाररहितं—पलायनोपायशून्यमित्यर्थः, गुप्तद्वारविरहितमिति भावः।

अपसारेति। नयज्ञैः नीतिकुशलैः जनैः दुर्गम अपसारसमायुक्तं पलायनोपाय-समन्वितं, गुप्तद्वारविशिष्टमित्यर्थः, कर्त्तव्यमिति शेषः, उच्यते, अपसारपरित्यक्तं

जायगा।' स्थिरजीवी ने कहा—'हे वत्स ! तो सुनो, मैंने साम, दान, दण्ड एवं भेद को छोड़कर (छल नामक) जो पाँचवाँ उपाय निश्चय किया है—(उसका स्वरूप यह है कि) मुझे अपना शत्रु समझ कर अति कठोर वचनों से मेरी भर्त्सना करो जिससे शत्रु के गुप्तचरों को यह विश्वास हो जाय कि मैं राज्य से निकाल दिया गया हूँ तथा कहीं से रुधिर लाकर मुझे उससे लिप्त कर दो और इसी वट वृक्ष के नीचे मुझे डाल कर ऋष्यमूक पर्वत पर चले जाओ। तुम तब तक परिवार सहित वहीं रहोगे जब तक इधर सब शत्रुओं को मैं उत्तम उपायों के द्वारा विश्वास दिला कर अपने अनुकूल बना कर काम पूरा न कर लूँ। (वहाँ रह कर मैं) उनके किले का अन्दरूनी हाल जान कर दिन के समय जब कि वे उलूक अन्धे होंगे तब तुमको ले जाकर उन्हें मार डालूँगा। मैंने खूब सोच समझ लिया है। इसके अतिरिक्त हम अन्य किसी प्रकार से सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। यतः शत्रुओं के निष्क्रमण मार्ग से रहित यह दुर्ग स्वयं उनके नाश का कारण होगा। कहा भी गया है—

नीति शास्त्रज्ञ लोग पलायन के लिए निष्क्रमण मार्ग से युक्त (गुप्तद्वारयुक्त) दुर्ग

न च त्वया मदर्थं कृपा कार्या। उक्तञ्च—

अपि प्राणसमानिष्टान् पालितान् लालितानपि।
भृत्यान् युद्धे समुत्पन्ने पश्येच्छुष्कमिवेन्धनम्॥ १२३॥

तथा च—

प्राणवद्रक्षयेत् भृत्यान् स्वकायमिव पोषयेत्।
सदैकदिवसस्यार्थे यत्र स्याद्रिपुसङ्गमः॥ १२४॥

तत् त्वया अहं न अत्र विषये प्रतिषेधनीयः' इत्युक्त्वा तेन सह शुष्क-

---

पलायनमार्गरहितं, दुर्गं व्याजेन छलेन, दुर्गरूपेणेत्यर्थः, बन्धनं कारागृहम्, एवेति शेषः॥ १२२॥

अपीति। युद्धे समुत्पन्ने समुपस्थिते सति, प्राणसमान् जीविततुल्यान्, इष्टान् प्रियान् अपि, तथा पालितान् रक्षितान्, लालितान् पोषितान् अपि भृत्यान् परिजनानित्यर्थः, शुष्कम् इन्धनमिव काष्ठम् इव, पश्येत्, लोको यथा यत्नरक्षितमपि शुष्कं काष्ठं ममत्वबोधशून्यः सन्नग्नौ क्षिपति, तथा विजिगीषुः तादृशानपि जनान् समरानले आहुतिं दद्यात् इति भावः॥ १२३॥

प्राणेति। एकस्य दिवसस्य अर्थे निमित्तं युद्धदिवसमात्रप्रयोजनार्थमित्यर्थः तदानीन्तनविपदुद्धारार्थमिति भावः, सदा यावज्जीवमित्यर्थः, भृत्यान् प्राणवत् स्वान् प्राणानिव, रक्षयेत्, तथा स्वकायमिव आत्मशरीरमिव, पोषयेत् प्रतिपालयेत्। स च दिवसः कः इत्याकाङ्क्षयामाह—यत्रेति। यत्र यस्मिन् दिवसे, रिपुसङ्गमः शत्रुसम्मेलनं, स्यात् रिपुभिः सह सङ्ग्रामः भवेदित्यर्थः; स्वामिनः कर्त्तव्यमिह कदाचिदापतिष्यद्विपदः परित्राणार्थं यावज्जीवं भृत्यप्रतिपालनं, भृत्यस्य च समागमिष्यत्कादाचित्कस्वामिविपदुद्धारणम्, अतोऽनुचरेण मयैतत् कर्त्तव्यमेवेति भावः॥ १२४॥

(१) प्रतिषेधनीयः—निवारणीयः। शुष्ककलहम्—अनर्थकविवादं, कृतक-

को ही (उत्तम) दुर्ग कहते हैं। अन्यथा पलायन के योग्य निष्क्रमण मार्ग से रहित दुर्ग को किले के रूप में कारागार ही समझना चाहिए॥ १२२॥

और इस समय तुम्हें मेरे ऊपर दया नहीं करनी चाहिए। कहा भी गया है—

युद्धकाल उपस्थित होने पर प्राण के समान भी प्रिय, पाले-पोसे गए भृत्यों को भी शुष्क काष्ठ के समान समझना चाहिए॥ १२३॥

मात्र उस दिन के लिए ही राजा को चाहिए कि भृत्यों की प्राणों के समान रक्षा करें और अपने शरीर के समान पालन पोषण करें जिस दिन उसे शत्रु के साथ सामना करना पड़ेगा और युद्ध होगा॥ १२४॥

इसलिए तुम्हें मुझे इस विषय में नहीं रोकना चाहिए। यह कह कर (स्थिर-

कलहं कर्त्तुमारब्धः ।

अथ अन्ये तस्य भृत्याः स्थिरजीविनम् उच्छृङ्खलवचनैः जल्पन्तम् अवलोक्य तस्य बधाय उद्यताः. मेघवर्णेन अभिहिताः—'अहो ! निवर्त्तध्वं यूयम्, अहमेव अस्य शत्रुपक्षपातिनो दुरात्मनः स्वयं निग्रहं करिष्यामि' इत्यभिधाय तस्योपरि समारुह्य, लघुभिश्चञ्चुप्रहारैस्तं प्रहृत्य, आहृतरुधिरेण प्लावयित्वा, तदुपदिष्टम् ऋष्यमूकपर्वतं सपरिवारो गतः ।

एतस्मिन्नन्तरे कृकालिकया द्विषत्प्रणिधीभूतया तत् सर्वं मेघवर्णस्य अमात्यस्य व्यसनम् उलूकराजस्य निवेदितं यत्—'तव अरिः सम्प्रति भीतः क्वचित् प्रचलितः सपरिवारः' इति । अथ उलूकाधिपः तदाकर्ण्य अस्तमनवेलायां सामात्यः सपरिजनो वायसबधार्थं प्रचलितः प्राह च—त्वर्यतां त्वर्यताम् ! भीतः शत्रुः पलायनपरः पुण्यैर्लभ्यते । उक्तञ्च—

शत्रोः प्रचलने छिद्रमेकमन्यच्च संश्रयम् ।
कुर्वाणो जायते वश्यो व्यग्रत्वे राजसेविनाम् ॥ १२५ ॥

विवादमित्यर्थः ।

(१) तस्य मेघवर्णस्य । उच्छृङ्खलवचनैः—अशिष्टवाक्यैः । जल्पन्तं-कथयन्तम् ।

(२) द्विषत्प्रणिधीभूतया—शत्रुपक्षीयचारकर्मणि नियुक्तया ।

शत्रोरिति । शत्रोः प्रचलने पलायने, एकं छिद्रं रन्ध्रं, पलायनसंसाधकमभ्यु-

---

जीवी) उसके साथ बनावटी लड़ाई लड़ने लगा ।

तब मेघवर्ण के अन्य भृत्य स्थिरजीवी को उच्छृङ्खल बातें कहते हुए देखकर उसको मारने के लिए तैयार हो गए । किन्तु मेघवर्ण ने (उन्हें रोक कर) कहा—'तुम लोग रहने दो, इस शत्रु-पक्षपाती दुष्ट को मैं स्वयं दण्ड दूँगा ।' यह कह कर वह स्थिरजीवी को पटक कर चढ़ गया और चोंचों से हलके-हलके प्रहार करके लाये हुए रुधिर से उसे लथपथ कर उसके बताए हुए ऋष्यमूक पर्वत पर परिवार सहित चला गया ।

इधर शत्रुओं के गुप्तचर का काम करने वाली कृकालिका ने मन्त्री से हुए काकराज के कलह और मेघवर्ण के जाने का समाचार उलूकराज से कहा—'तुम्हारा शत्रु इस समय भयभीत हो परिवार सहित कहीं चला गया ।' यह सुन कर उलूकराज सायङ्काल के समय अपने मन्त्री और परिवार सहित कौवों को मारने के लिए चल पड़ा और (भृत्यों से) बोला—'जल्दी करो, जल्दी करो, डरा हुआ शत्रु भागता हुआ बड़े भाग्य से मिलता है । कहा भी गया है—

एक तो भागने के समय और दूसरे नवीन स्थान पर निवास के समय—इन दो

एवं ब्रुवाणः समन्तात् न्यग्रोधपादपमधः परिवेष्टय व्यवस्थितः। यावत् न कश्चित् वायसो दृश्यते, तावत् शाखाग्रम् अधिरूढो हृष्टमनाः वन्दिभिः अभिष्टूयमानोऽरिमर्दनः तान् परिजनान् प्रोवाच—'अहो! ज्ञायतां तेषां मार्गः, कतमेन मार्गेण प्रनष्टाः काकाः? तत् यावत् न दुर्गं समाश्रयन्ति, तावत् एव पृष्ठतो गत्वा व्यापादयामि। उक्तञ्च—

वृतिमप्याश्रितः शत्रुरवध्यः स्याज्जिगीषुणा।
किं पुनः संश्रितो दुर्गं सामग्र्या परया युतम्?॥ १२६॥

पायमिति भावः, अन्यच्च संश्रयम् आवासं, पलायितस्य शत्रोरेवेति भावः, राजसेविनां राजभृत्यानां, व्यग्रत्वे शत्रोश्छिद्रानुसरणावासज्ञानतत्परत्वे, यदि भृत्याः शत्रोश्छिद्रानुसरणार्थमावासज्ञानार्थञ्च तत्परा भवन्ति, तदेति भावः, कुर्वाणः जानन्नित्यर्थः, नृप इति शेषः, वश्यः वशं गतः, तेषामिति शेषः, जायते, स्वप्रियकार्यकारिणामेव राजा वश्यतां गच्छतीति भावः, पलायनपरस्य शत्रोः छिद्रमावासञ्च सत्वरमनुसन्धाय यूयं राज्ञः प्रियमनुतिष्ठन्तः राजानं वशीकुर्वन्तु इति सन्दर्भाशयः॥ १२५॥

(१) वन्दिभिः—स्तावकैः। अभिष्टूयमानः—सम्यक् स्तुतः। अहो!—इति सम्बोधनार्थकमव्ययम्। कतमेन मार्गेण—परिदृश्यमानेषु एतेषु बहुषु पथिषु मध्ये केन पथा। प्रनष्टाः—पलायिताः। पृष्ठतः—पश्चात्।

वृतिमिति। वृतिं वेष्टनं, आश्रितोऽपि अवलम्बितोऽपि, युद्धोपकरणसामग्रीहीनः केवलं वृतिमाश्रित्य स्थितोऽपि इत्यर्थः, शत्रुः जिगीषुणा विजयार्थिना, नृपेण इति शेषः, अवध्यः विनाशयितुमशक्यः, स्यात्, परया महत्या, सामग्र्या प्रहरणाद्युपायेन,

---

छिद्र (रूप अपनी कमजोरी) करते हुए राजभृत्यों के व्यग्र होने के कारण राजा शत्रु के अधीन हो जाता है अर्थात् शत्रु के हाथ पड़ जाता है॥ १२५॥

इस प्रकार (अनुचरों को प्रोत्साहित करने वाले वचन) कहते हुए वह उलूकराज वट वृक्ष के निचले भाग को चारों ओर से घेर कर बैठ गया। जब कोई कौवा दिखाई न पड़ा तब बन्दीजनों के द्वारा स्तुत अरिमर्दन प्रसन्नचित्त हो शाखा पर चढ़ गया, और तब वह अपने भृत्यों से बोला—'उनके रास्ते का पता लगाओ, आखिर कौवे कौन से मार्ग से निकल कर भाग गए? अन्य दुर्ग का आश्रय लेने के पहले ही उनका पीछा कर मार डालूँगा। कहा भी गया है—

वृत्ति (खेत की बाड़ या टाट की आड़) पाकर भी शत्रु अजेय हो जाता है फिर उत्तम युद्ध सामग्री से सुसज्जित दुर्ग का आश्रय पाने पर तो कहना ही क्या है॥ १२६॥

अथ एतस्मिन् प्रस्तावे स्थिरजीवी चिन्तयामास—'यत् एते अस्मच्छत्रवः अनुपलब्धास्मद्वृत्तान्ता यथाऽऽगतमेव यान्ति, ततो मया न किञ्चित् कृतं भवति। उक्तञ्च—

अनारम्भो हि कार्याणां प्रथमं बुद्धिलक्षणम्।
प्रारब्धस्यान्तगमनं द्वितीयं बुद्धिलक्षणम् ॥ १२७ ॥

तद्वरम् अनारम्भः; न च आरम्भविघातः। तदहमेतान् शब्दं संश्राव्य आत्मानं दर्शयामि' इति विचार्य मन्दं मन्दं शब्दमकरोत्। तत् श्रुत्वा ते सकला अपि उलूकाः तद्वधाय प्रजग्मुः। अथ तेनोक्तम्—'अहो! अहं स्थिरजीवी नाम मेघवर्णस्य मन्त्री, मेघवर्णेन एव ईदृशम् अवस्थां नीतः

युतं दुर्गं संश्रित; अवलम्बितः, किं पुनः? वक्तव्यम् इति शेषः, तादृशः शत्रुरजेय एवेति भावः ॥ १२६ ॥

(१) प्रस्तावे—प्रसङ्गे। अनुपलब्धेति। अनुपलब्धः—अज्ञातः, अस्माकं वृत्तान्तः—व्यापारः यैः तथाभूताः, अस्मद्वृत्तान्तमजानन्त इत्यर्थः। यथाऽऽगतं—यत्प्रदेशादागतं तत्रैवेत्यर्थः।

अनारम्भ इति। कार्याणां, विघ्नबहुलानामिति भावः, अनारम्भः आरम्भाकरणं, किं प्रथमम् आद्यं, बुद्धिलक्षणं प्रज्ञाचिह्नम्, सत्यमेतत्, परन्तु समारब्धे किं करणीयम्? तदेवाह—प्रारब्धस्येति। प्रारब्धस्य कृताऽऽरम्भस्य, अन्तगमनं पारगमनं, सम्यक् कार्यस्य साधनम् इत्यर्थः, द्वितीयं बुद्धिलक्षणम्, विघ्नबाहुल्यशङ्कया तन्नाशभयात् बुद्धिमन्तः प्रथमं कार्यं नारभन्ते एव, आरभेरन् तर्हि तत् नूनं निष्पादयेयुरिति भावः ॥ १२७ ॥

इसके बाद इस प्रस्ताव पर स्थिरजीवी सोचने लगा—'ये हमारे शत्रु हमारा समाचार विना जाने ही जैसे आये थे वैसे ही लौट गए तब मेरा काम तो कुछ भी न हुआ। कहा भी गया है—

किसी कार्य का प्रारम्भ ही न करना पहला बुद्धिमान् का लक्षण है और आरम्भ किए हुए काम को अच्छी तरह समाप्त कर लेना दूसरा बुद्धिमत्ता का लक्षण है ॥ १२७ ॥

इसलिए किसी काम का आरम्भ न करना ही अच्छा है, लेकिन आरम्भ करके बीच में ही छोड़ देना अच्छा नहीं है। अतः मैं अपना शब्द करके अपनी उपस्थिति को इनके सामने प्रकट करूँ। यह सोचकर उसने धीरे-धीरे शब्द किया। उसके शब्द को सुनते ही वे सब उल्लू उसे मारने के लिए उधर दौड़े। तब उस स्थिर-

तन्निवेदयत आत्मस्वाम्यग्रे, तेन सह बहुवक्तव्यम् अस्ति।' अथ तैः निवेदितः स उलूकराजो विस्मयाविष्टस्तत्क्षणात् तस्य सकाशं गत्वा प्रोवाच—'भो भोः! किमेतां दशां गतस्त्वम्? तत्कथ्यताम्।' स्थिरजीवी प्राह—'देव! श्रूयतां मदवस्थाकारणम्—अतीतदिने स दुरात्मा मेघवर्णो युष्मद्व्यापादितप्रभूतवायसानां पीडया युष्माकम् उपरि कोपशोकग्रस्तो युद्धार्थं प्रचलित आसीत्। ततो मया अभिहितं—'स्वामिन्! न युक्तं भवतस्तदुपरि गन्तुम्, बलवन्त एते, बलहीनाश्च वयम्। उक्तञ्च—

बलीयसा हीनबलो विरोधं
न भूतिकामो मनसाऽपि वाञ्छेत्।
न बध्यतेऽत्यन्तबलो हि यस्मात्
व्यक्तं प्रणाशोऽस्ति पतङ्गवृत्तेः॥ १२८॥

बलीयसेति। भूतिकामः सम्पदर्थी, हीनबलः दुर्बलः जनः इति शेषः, बलीयसा बलवत्तरेण, अयमनयोरतिशयेन बलवानित्यर्थे बलवत् शब्दात् 'द्विवचनविभज्यो—' (पा० सू० ५।३।५७) इति ईयसुन्प्रत्ययः, ततः 'विन्मतोर्लुक्' (पा० सू० ५।३।६५) इति मतुपः लुक्। सह मनसाऽपि विरोधं न विरोधं न वाञ्छेत्, नेच्छेत्, न चिन्तयेदित्यर्थः, यस्मात् अत्यन्तबलः अतिप्रबलः, न बध्यते हि नैव जीयते इत्यर्थः, किन्तु पतङ्गस्य वृत्तिरिव वृत्तिर्यस्य तादृशस्य, दुर्बलस्येत्यर्थः, व्यक्तं निश्चितं, प्रणाशः विनाशः, अस्ति, अग्निना पतङ्गवत् प्रबलेन दुर्बलः प्रणाश्यते इति भावः। उपजातिः वृत्तम्॥ १२८॥

जीवी) ने कहा—'मैं स्थिरजीवी नामक मेघवर्ण का मन्त्री हूँ। मेघवर्ण ने ही मेरी यह दशा की है, अपने स्वामी से मेरा वृत्तान्त कहो। मुझे उनके साथ बहुत-सी बातचीत करनी है। उनके द्वारा कहे जाने पर उस उलूकराज को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह तुरन्त उसके पास जाकर बोला—कहिए आपकी यह दशा कैसे हुई? स्थिरजीवी ने कहा—'हे देव! मेरी इस दशा का कारण सुनिए। पिछले दिन वह दुष्ट मेघवर्ण आपके द्वारा मारे हुए अनेक कौवों की पीड़ा से वह आपके ऊपर क्रोध और शोक में भर कर युद्ध में चलने लगा। तब मैंने कहा—स्वामिन्! आपका उसके ऊपर आक्रमण करना उचित नहीं, क्योंकि वे बलवान् और हम निर्बल हैं। कहा भी गया है—

अपनी भलाई चाहने वाले दुर्बल पुरुष को चाहिए कि वह बलवान् के साथ मन से भी विरोध करने की इच्छा न करे, (इस संसार में बेंत की वृत्ति को धारण करने वाला अर्थात् शत्रु के सामने नम्रता से व्यवहार करने वाला) व्यक्ति नहीं

तत् तस्य उपायनप्रदानेन सन्धिरेव युक्तः। उक्तञ्च—

बलवन्तं रिपुं दृष्ट्वा सर्वस्वमपि बुद्धिमान्।
दत्त्वा हि रक्षयेत् प्राणान् रक्षितैस्तैर्धनं पुनः॥ १२९॥

तत् श्रुत्वा तेन दुर्जनप्रकोपितेन त्वत्पक्षपातिनं माम् आशङ्कमानेन इमां दशां नीतः। तत् तव पादौ साम्प्रतं मे शरणम्, किं बहुना विज्ञप्तेन, यावत अहं प्रचलितुं शक्नोमि तावत् त्वां तस्य आवासे नीत्वा सर्ववायसक्षयं विधास्यामि' इति।

अथ अरिमर्दनः तदाकर्ण्य पितृपितामहक्रमागतमन्त्रिभिः सार्द्धं मन्त्रयाञ्चक्रे। तस्य च पञ्च मन्त्रिणः, तद्यथा—रक्ताक्षः, क्रूराक्षः, दीप्ताक्षः, वक्रनासः, प्राकारकर्णश्चेति। तत्रादौ रक्ताक्षम् अपृच्छत्—

---

(१) उपायनप्रदानेन—उपहारदानेन।

बलवन्तमिति। बुद्धिमान् जनः, रिपुं शत्रुं, बलवन्तं प्रबलं, दृष्ट्वा, सर्वस्वमपि प्राणातिरिक्तं सर्वमेव इत्यर्थः, दत्त्वा, तस्मै इति शेषः, प्राणान् रक्षयेत्, हि यतः, तैः प्राणैः, रक्षितैः सद्भिः, पुनः धनं, भवतीति शेषः, प्राणसद्भावे सर्वेषां सद्भावः, स्वजीवनमूलत्वात् सर्वेषां भोग्यवस्तूनाम् इति भावः, 'जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत्' इति तात्पर्यम्॥ १२९॥

मारा जाता परन्तु पतङ्ग के समान वृत्ति वाले (अर्थात् दीपक पर गिरने वाले कीड़ों के समान बलवान् शत्रु पर आक्रमण करने वाले) का नाश अवश्यम्भावी है॥ १२८॥

इसलिए उपहार आदि देकर उसके साथ सन्धि कर लेना ही उचित है। कहा भी गया है—

बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि शत्रु को बलवान् समझ कर अपना सब कुछ देकर भी प्राणों की रक्षा करे क्योंकि प्राणों के सुरक्षित रहने पर धन फिर भी मिल सकता है॥ १२९॥

मेरी बात को सुनकर दुष्टों द्वारा प्रोत्साहित वह मेघवर्ण मुझ पर भी क्रुद्ध हो गया और मुझे तुम्हारा पक्षपाती समझकर उसने मुझे इस दशा को पहुँचा दिया है। अतः आपके चरण ही मेरी शरण है। अधिक क्या निवेदन करूँ? जब मैं चलने में समर्थ हो जाऊँ तब तुमको उसके आवास स्थान पर ले जाकर सभी कौवों का नाश करूँगा।'

अरिमर्दन यह सुनकर वंशपरम्परा से प्राप्त अपने मन्त्रियों के साथ सलाह करने लगा। उसके पाँच मन्त्री थे। उनके नाम ये थे—१. रक्ताक्ष, २. क्रूराक्ष, ३.

'भद्र ! एष तावत् तस्य रिपोर्मन्त्री मम हस्तगतः; तत् किं क्रियताम् ?' इति। रक्ताक्षः आह—'देव ! किमत्र चिन्त्यते ? अविचारितमयं हन्तव्यः। यतः—

हीनः शत्रुर्निहन्तव्यो यावन्न बलवान् भवेत्।
प्राप्तस्वपौरुषबलः पश्चाद्भवति दुर्जयः॥ १३०॥

किञ्च, स्वयम् उपागता श्रीस्त्यज्यमाना शपतीति लोके प्रवादः। उक्तञ्च—

कालो हि सकृदभ्येति यन्नरं कालकाङ्क्षिणम्।
दुर्लभः स पुनस्तेन कालकर्माचिकीर्षता॥ १३१॥

---

(१) अविचारितं—विचारम् अकृत्वा, अविविच्यैव इत्यर्थः।

हीन इति। हीनः दुर्बलः, शत्रुः यावत् बलवान् न भवेत्, तावदेव निहन्तव्यः निःशेषेण बध्यः, यतः प्राप्तस्वपौरुषबलः प्राप्तं स्वं पौरुषं पराक्रमः, बलं सैन्यश्च, सहायः इत्यर्थः, येन तादृशः सः, पश्चात् परिणामे, दुर्जयः जेतुमशक्यः, भवति, शत्रुर्हि अप्रबल एव सुजय इति भावः॥ १३०॥

(२) उपागता—उपस्थिता। श्रीः—लक्ष्मीः, सम्पदित्यर्थः। शपति—आक्रोशति, अभिसम्पातेन भाविविध्वंससूचकेन योजयतीत्यर्थः। प्रवादः—प्रसिद्धिः, ऐतिह्यमित्यर्थः।

काल इति। यत् यतः, कालः समयः, सौभाग्योदयस्येति भावः, कालकाङ्क्षिणं सुसमयार्थिनं, नरं सकृत् एकवारमेव, अभ्येति प्राप्नोति, न तु प्रतिनियतं, तस्य दुर्लभत्वात् इति भावः, अतः काले समये, कर्म कार्यम्, सौभाग्याऽऽपादकमिति भावः,

---

दीप्ताक्ष, ४. वक्रनास और ५. प्राकारकर्ण। उनमें से सबसे पहिले रक्ताक्ष से पूँछा—'भद्र ! यह शत्रु का मन्त्री मेरे वश में आ गया है, अब क्या करना चाहिए ?' रक्ताक्ष ने कहा—'स्वामी, इसमें सोचने-विचारने की क्या आवश्यकता है ? बिना विचार किए ही इसे मार डालना चाहिए। क्योंकि—

दुर्बल शत्रु को तभी मार डालना चाहिए जब तक वह बलवान् न हो क्योंकि अपने पुरुषार्थ का सहारा पाकर पीछे वह दुर्जय हो जाता है॥ १३०॥

और भी, लोक में किंवदन्ती है कि 'स्वयं आई हुई लक्ष्मी का यदि त्याग किया जाय तो वह शाप देती है। कहा भी गया है—

(अपनी उन्नति का) सुअवसर चाहने वाले पुरुष को (अपने जीवन में) वह सुअवसर एक बार अवश्य प्राप्त होता है। उस समय जो पुरुष आलस्यवश काम

श्रूयते च यथा—

चितिकां दीपितां पश्य फटां भग्नां ममैव च।
भिन्नश्लिष्टा तु या प्रीतिर्न सा स्नेहेन वर्द्धते॥ १३२॥

अरिमर्दनः प्राह—'कथमेतत् ?' रक्ताक्षः कथयति—

६ : ब्राह्मण-सर्प-कथा

अस्ति कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने हरिदत्तो नाम ब्राह्मणः, तस्य च कृषिं कुर्वतः सदा एव निष्फलः कालः अतिवर्त्तते। अथ एकस्मिन् दिवसे स ब्राह्मण उष्णकालावसाने घर्मार्त्तः स्वक्षेत्र मध्ये वृक्षच्छायायां प्रसुप्तः अनति-

---

अचिकीर्षता सम्पादयितुमनिच्छता, तेन नरेण, सः कालः, सुसमय इत्यर्थः, पुनर्दुर्लभः, दुष्प्रापः, सुसमये गते पुनस्तत्प्राप्तिर्दुर्घटेति भावः, अतः रन्ध्रप्रहारी भव इत्याशयः॥ १३१॥

चितिकामिति। हे ब्राह्मण ! इति अध्याहार्यम्। दीपितां प्रज्वलितां, चितिकां चितां, श्मशानाग्निमिति यावत्, तथा मम भग्नां मर्दिताम्, आहतामित्यर्थः, फटां फणाञ्च, पश्य अवलोकय, तव पुत्त्रो मां शिरसि आहतवान्, तेन मम फणा भग्नां, तव पुत्त्रञ्चाहं ततो दष्टवानिति स चिताग्नौ दग्ध इति निष्कर्षः, अतः भिन्ना चासौ श्लिष्टा चेति तथोक्ता, आदौ खण्डिता पश्चात् पुनर्योजितेत्यर्थः। स्नातानुलिप्तवत् पूर्वकाले कर्मधारयः। या प्रीतिः सा स्नेहेन पुनः प्रदर्शितेन इत्यर्थः, न वर्द्धते एव, न तत्र प्रीतिर्भवत्येवेति भावः॥ १३२॥

[६]

(१) निष्फलः—व्यर्थः, कृषेः फलविरहादिति भावः। अतिवर्त्तते—अतिक्रा-

---

करना नहीं चाहता तो आया हुआ समय पुनः लौटकर नहीं आता॥ १३१॥

जैसा कि सुना जाता है—

(हे विप्र !) जलती हुई चिता और घायल हुए मेरे फण को देखो जो प्रीति खण्डित होकर जोड़ी जाती है वह स्नेह प्रकट करने पर भी नहीं बढ़ती॥ १३२॥

अरिमर्दन ने कहा—'यह कैसे ?' रक्ताक्ष ने कहा—

ब्राह्मण एवं सर्प की कथा

किसी गाँव में हरिदत्त नाम का ब्राह्मण रहता था। खेती करते हुए सदैव ही उसका समय (कृषि कार्य में कभी लाभ न होने के कारण) निष्फल गया। एक दिन वह ब्राह्मण गरमी के अन्त में धूप से पीड़ित हो अपने खेत के बीच वृक्ष

दूरे वल्मीकोपरि प्रसारितं बृहत्फटायुक्तं भीषणं भुजङ्गमं दृष्ट्वा चिन्तयामास—नूनमेषा क्षेत्रदेवता मया कदाचिदपि न पूजिता, तेन इदं कृषिकर्म विफलीभवति, तदस्या अहं पूजाम् अद्य करिष्यामि' इति अवधार्य कुतोऽपि क्षीरं याचित्वा, शरावे निक्षिप्य वल्मीकान्तिकमुपागम्य उवाच—भोः क्षेत्रपाल ! मया एतावन्तं कालं न ज्ञातं यत्, त्वम् अत्र वससि, तेन पूजा न कृता, तत् साम्प्रतं क्षमस्व' इत्येवमुक्त्वा दुग्धञ्च निवेद्य, गृहाभिमुखं प्रायात्। अथ प्रातः यावत् आगत्य पश्यति, तावत् दीनारम् एकं शरावे दृष्टवान्। एवं च प्रतिदिनमेकाकी समागत्य तस्मै क्षीरं ददाति, एकैकञ्च दीनारं गृह्णाति।

अथ एकस्मिन् दिवसे वल्मीके क्षीरनयनाय पुत्रं निरूप्य ब्राह्मणो ग्रामान्तरं जगाम। पुत्रोऽपि क्षीरं तत्र नीत्वा संस्थाप्य च पुनर्गृहं समायातः। दिनान्तरे तत्र गत्वा दीनारमेकञ्च दृष्टवा गृहीत्वा च चिन्तितवान्—'नूनं

मति। उष्णकालावसाने—ग्रीष्मस्यापराह्णे, ग्रीष्मर्त्तुशेषे वा इत्यर्थः। घर्मार्त्तः—ग्रीष्मपीडितः। प्रसुप्तः—शयितः, 'स्वापः शयननिद्रयोः' इति मेदिनी। वल्मीकोपरि—वल्मीकम्—प्रसिद्धकीटविशेषकृतमृत्तिकास्तूपः, तस्योपरि तदूर्द्ध्वदेशे इत्यर्थः। शरावे—मृत्पात्रविशेषे। एतावन्तं कालमिति—'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा० सू० २।३।५) इति व्याप्त्यर्थे द्वितीया। दीनारं—स्वर्णमुद्राभेदम्।

की छाया में लेटा था। तभी उसने पास में ही वल्मीक के ऊपर फन फैलाए हुए भयानक सर्प को देख कर विचार किया—यही मेरे इस क्षेत्र का देवता है। इनकी मैंने कभी पूजा नहीं की, इसी से खेती में मुझे लाभ नहीं होता। इसलिए आज मैं इनकी पूजा करूँगा।' यह निश्चय करके वह कहीं से दूध माँग कर लाया और उसे कसोरे में रख कर वल्मीक के पास जाकर बोला—'हे क्षेत्ररक्षक (क्षेत्राधिपते)! मुझे अब तक मालूम नहीं था कि आप यहाँ ही रहते हैं। इसलिए मैंने पूजा नहीं की, अतः मुझे क्षमा करो।' यह कहकर और उसे दूध देकर अपने घर की ओर चला गया। जब वह दूसरे दिन प्रातःकाल आकर देखता तब है उसने कसोरे में रखी हुई एक मोहर देखी। इसी प्रकार प्रतिदिन एकाकी आकर वह उसे दूध देता और एक-एक मोहर लेता था।

एक दिन वल्मीक पर दूध ले जाने के लिए अपने पुत्र को नियुक्त कर ब्राह्मण दूसरे गाँव को चला गया, पुत्र भी दूध वहाँ ले जाकर और रख कर पुनः घर चला आया। दूसरे दिन वहाँ जाकर एक मोहर देख कर उसे लेकर वह सोचने लगा—

सौवर्णदीनारपूर्णोऽयं वल्मीकः, तत् एनं हत्वा सर्वमेकवारं ग्रहीष्यामि' इत्येवं सम्प्रधार्य्य अन्येद्यु क्षीरं ददता ब्राह्मणपुत्रेण सर्पः लगुडेन शिरसि ताडितः, ततः कथमपि दैववशात् अमुक्तजीवित एव रोषात् तमेव तीव्रविषदशनैः तथा अदशत्, यथा सद्यः पञ्चत्वमुपागतः। स्वजनैश्च नातिदूरे क्षेत्रस्य काष्ठसञ्चयैः संस्कृतः। अथ द्वितीयदिने तस्य पिता समायातः स्वजनेभ्यः सुतविनाशकारणं श्रुत्वा तथैव समर्थितवान्, अब्रवीच्च—

भूतान् यो नानुगृह्णाति ह्यात्मनः शरणागतान्।
भूतार्थास्तस्य नश्यन्ति हंसाः पद्मवने यथा ॥ १३३ ॥

---

(१) क्षीरनयनाय—दुग्धप्रापणाय। निरूप्य—नियुज्य। लगुडेन—दण्डेन। अमुक्तजीवितः—अत्यक्तप्राणः। तीव्रविषदशनैः—तीक्ष्णविषयुक्तदन्तैः। सद्यः—तत्क्षणात्, दंशनसमये एव इत्यर्थः। पञ्चत्वमुपागतः—मृतः। काष्ठसञ्चयैः—काष्ठसमूहैः, प्रज्ज्वलितचिताप्रक्षिप्तैरित्यर्थः। संस्कृतः—अग्निसंस्कारः कृतः, दग्धः इति यावत्। तथैव—सर्पदंशनरूपविनाशकारणस्य याथार्थ्यमेवेत्यर्थः। समर्थितवान्—अनुमोदितवान्, विश्वासघातकस्य अतिलुब्धस्य स्वपुत्रस्य तादृशमृत्युरेव उचितः इति स्वीकृतवानित्यर्थः।

भूतानिति। यः आत्मनः स्वस्य, शरणागतान् आश्रयप्राप्तान्, भूतान् प्राणिनः, न अनुगृह्णाति न दयते, तस्य भूतार्थाः निश्चितार्थाः, अवधारितविषयः, इत्यर्थः पद्मवने हंसा यथा हंसा इव, नश्यन्ति हि नाशं प्राप्नुवन्ति एव, दूरं गच्छन्तीत्यर्थः ॥ १३३ ॥

'निश्चय ही यह वल्मीक सोने की मोहरों से भरा हुआ है। इसलिए इसे (सर्प को) मार कर सब एक ही बार ले लूँ।' यह निश्चय कर दूसरे दिन दूध देते हुए सर्प पर ब्राह्मण के पुत्र ने डण्डे से सिर पर प्रहार किया। भाग्यवश वह नहीं मरा, उसने क्रोध से तेज विषैले दाँतों से उसे ऐसा काटा कि वह तुरन्त मर गया। कुटुम्बी लोगों ने क्षेत्र के पास ही लकड़ियों को इकट्ठा करके उसका दाह-संस्कार कर दिया। इसके बाद दूसरे दिन जब उसका पिता आ गया तब घर के लोगों से पुत्र के विनाश का कारण सुन कर उसने भी उनका समर्थन किया (अर्थात् उसकी जिस प्रकार मृत्यु हुई वह उचित ही हुई, लोभ का फल ऐसा ही होता है), और कहा—

जो पुरुष अपनी शरण में आए हुए प्राणियों की रक्षा नहीं करता उसके वैभव आदि उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे कि 'पद्मसरोवर में हंस नष्ट हो गए थे' ॥ १३३ ॥

पुरुषैरुक्तं—'कथमेतत् ?' ब्राह्मणः कथयति—

७ : हैमहंस-कथा

अस्ति कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने चित्ररथो नाम राजा, तस्य योधैः सुरक्ष्यमाणं पद्मसरो नाम सरस्तिष्ठति। तत्र च प्रभूता जाम्बूनदमया हंसास्तिष्ठन्ति, षण्मासे षण्मासे पिच्छमेकैकं परित्यजन्ति। अथ तत्र सरसि सौवर्णो बृहत् पक्षी समायातः। तैश्चोक्तः—'अस्माकं मध्ये त्वया न वस्तव्यम्, येन कारणेन अस्माभिः षण्मासान्ते पिच्छैकैकदानं कृत्वा गृहीतमेतत् सरः।' एवञ्च किं बहुना, परस्परं द्वैधम् उत्पन्नम्। स च राज्ञः शरणं गतोऽब्रवीत्—'देव! एते पक्षिण एवं वदन्ति यत्—'अस्माकं राजा किं करिष्यति? न कस्यापि आवासं दद्मः।' मया च उक्तं—'न शोभनं युष्माभिः अभिहितम्, अहं गत्वा राज्ञे निवेदयिष्यामि'। एवं स्थिते देवः

[७]

(१) अधिष्ठाने—पुरे, नगरे इत्यर्थः, 'अधिष्ठानं चक्रपुरप्रभावाध्यासनेष्वपि' इत्यमरः। योधैः—सैन्यैः। प्रभूताः—बहवः। जाम्बूनदमयाः—हिरण्मयाः। '—हिरण्यं हेम हाटकम् ······ जाम्बूनदनम्—' इत्यमरः। षण्मासे—षष्ठः मासः षण्मासः तस्मिन्, वृत्तिविषये सङ्ख्यावाचकशब्दस्य पूरणार्थत्वम्' इति नियमात् पूरणार्थता। पिच्छं—बर्हं, पक्षमित्यर्थः, 'पिच्छबर्हे नपुंसके' इत्यमरः। सौवर्णः—स्वर्णमयः। तैः—जाम्बूनदमयैः हंसैः। द्वैधं—विरोधः। कस्यापि इति—सम्बन्ध-

पुरुषों ने पूछा—'यह कैसे ?' ब्राह्मण ने कहा—

स्वर्णहंस की कथा

किसी नगर में चित्ररथ नाम का एक राजा रहता था। उसका सिपाहियों से सुरक्षित पद्मसर नाम का एक सरोवर था। उसमें बहुत से हेमवर्ण के हंस रहते थे। वे छः-छः महीने पर अपने एक-एक पंख गिराया करते थे (जिसे राजा ले लेता था) एक समय उस तालाब में सोने का एक दूसरा बड़ा पक्षी आया। सर में रहने वाले उन पक्षियों ने कहा—'तुम हमारे बीच में नहीं रह सकते, क्योंकि हम लोगों ने हर छठे महीने एक-एक पिच्छ (पंख) देकर यह तालाब किराए पर ले लिया है।' अधिक क्या? इस प्रकार उनमें झगड़ा उत्पन्न हो गया। उस बृहत्काय पक्षी ने राजा के पास जाकर कहा—'हे राजन्! ये पक्षी कहते हैं कि राजा हमारा क्या करेगा? हम किसी को नहीं रहने देंगे।' (उनकी बातें सुनकर) मैंने कहा—'आप लोगों ने यह बात उचित नहीं कही, मैं राजा से जाकर निवेदन

प्रमाणम्। ततो राजा भृत्यान् अब्रवीत्—'भो भोः! गच्छत, सर्वान् पक्षिणः गतासून् कृत्वा शीघ्रमानयत।' राजादेशान्तरमेव प्रचेलुः ते। अथ लगुडहस्तान् राजपुरुषान् दृष्ट्वा तत्र एकेन पक्षिणा वृद्धेन उक्तं—'भोः स्वजनाः! न शोभनम् आपतितम्, ततः सर्वैः एकमतीभूय शीघ्रम् उत्पतितव्यम्। तैश्च तथा अनुष्ठितम्। अतोऽहं ब्रवीमि—'भूतान् यो नानुगृह्णाति' इत्यादि।

इत्युक्त्वा पुनरपि ब्राह्मणः प्रत्यूषे क्षीरं गृहीत्वा, तत्र गत्वा तारस्वरेण सर्पमस्तौत्। तथा सर्पश्चिरं वल्मीकद्वारान्तर्लीन एव ब्राह्मणं प्रत्युवाच—'त्वं लोभादत्र आगतः पुत्रशोकमपि विहाय, अतः परं तव मम च प्रीतिर्नोचिता।

[चितिकां दीपितां पश्य फटां भग्नां ममैव च।
भिन्नश्लिष्टा तु या प्रीतिर्न सा स्नेहेन वर्द्धते॥ इति]

विवक्षया सम्प्रदाने षष्ठी। देवः प्रमाणं—राजा एव याथार्थ्यनिरूपयिता, भवद्भ्यो यद्रोचते, तत् क्रियताम् इत्यर्थः। गतासून्—गतप्राणान्, निहतानित्यर्थः। प्रचेलुः—प्रस्थिताः। ते—राजभृत्याः। शोभनं—भद्रम्। आपतितम्—उपस्थितम्। ततः—तस्मात् कारणात्। एकमतीभूय—एकमतमवलम्ब्येत्यर्थः। उत्पतितव्यम्—उड्डयनीयम्।

करूँगा।' महाराज! मैं आपकी शरण में हूँ अब आप जैसा उचित समझें (वैसा करें।' तब राजा ने अपने सिपाहियों से कहा—'जाओ, सब पक्षियों को मारकर जल्दी ले आओ।' राजा की आज्ञा पाते ही वे सिपाही चल पड़े। लकड़ी हाथ में लिए हुए राजपुरुषों को (आते हुए) देखकर उनमें से एक वृद्ध हंस ने कहा—'स्वजनों! बड़ा अनर्थ उपस्थित हुआ है। इसलिए हम सब को एकमत होकर बिना किसी प्रकार का विवाद या विचार किए हुए) उड़ जाना चाहिए।' उन्होंने वैसा ही किया। इसलिए मैं कहता हूँ—'जो शरणागत प्राणियों की रक्षा नहीं करता।' आदि।

यह कह कर वह ब्राह्मण प्रातःकाल दूध लेकर वहाँ (वल्मीक पर) पुनः गया और ऊँचे स्वर से सर्प की स्तुति करने लगा। तब सर्प बहुत देर के बाद वल्मीक के द्वार के अन्दर से ही ब्राह्मण से कहा—'तू लोभवश पुत्रशोक भी भूल कर यहाँ आया है। अब आगे से तुम्हारी और मेरी मित्रता उचित नहीं है—

[(हे विप्र) जलती हुई चिता और घायल हुए मेरे फण को देखो, जो प्रीति

तव पुत्रेण यौवनोन्मदेन अहं ताडितः, मया स दष्टः, कथं मया लगुड-प्रहारो विस्मर्त्तव्यः ? त्वया च पुत्रशोकदुःखं कथं विस्मर्त्तव्यम् ? इत्युक्त्वा बहुमूल्यं हीरकमणिं तस्मै दत्त्वा—'अतः परं पुनस्त्वया न आगन्तव्यम्' इति पुनरुक्त्वा विवरान्तर्गतः। ब्राह्मणश्च मणिं गृहीत्वा पुत्रबुद्धिं निन्दन् स्वगृहम् आगतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'चितिकां दीपितां पश्य' इत्यादि।

तदस्मिन् हते यत्नादेव राज्यमकण्टकं भवतो भवति।" तस्य एतद्वचनं श्रुत्वा क्रूराक्षं पप्रच्छ—'भद्र ! त्वन्तु किं मन्यसे ?' सोऽब्रवीत्—'देव निर्दयम् एतत्, यदनेन अभिहितम्, यत्कारणं शरणागतो न बध्यते, सुष्ठु खलु इदम् आख्यातम्—

श्रूयते हि कपोतेन शत्रुः शरणमागतः।
पूजितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः॥ १३४॥

अरिमर्दनोऽब्रवीत्—'कथमेतत् ?' क्रूराक्षः कथयति—

श्रूयते इति। श्रूयते इदानीमप्याकर्ण्यते, पौराणिकात् अस्माभिरिति शेषः, एतस्यैतिह्यरूपत्वादित्याशयः, कपोतेन पक्षिविशेषेण, केनचिदिति शेषः, शरणमागतः आश्रयं प्राप्तः, शत्रुः व्याध इत्यर्थः, पक्षिघातकत्वादिति भावः, यथान्यायं यथाऽर्हं,

---

खण्डित होकर जोड़ी जाती है वह स्नेह करने पर भी नहीं बढ़ती॥]

यौवन से उन्मत्त हो तेरे पुत्र ने मुझे मारा मैंने उसे काटा। कैसे मैं डण्डे की चोट भूल सकता हूँ और तुम पुत्रशोकजन्य दुःख को कैसे भूल सकते हो ?' यह कहकर और एक बहुमूल्य हीरे की मणि उसे देकर 'अब से यहाँ कभी न आना' ऐसा पुनः कह कर बिल के अन्दर घुस गया। ब्राह्मण भी उस हीरे की मणि को लेकर पुत्र की बुद्धि पर पश्चात्ताप करते हुए अपने घर लौट आया। इसलिए मैं कहता हूँ—'जलती हुई चिता देख कर' आदि।

शत्रु के उस मन्त्री को मारने पर बिना आयास ही आपका राज्य निष्कण्टक होगा। उस (रक्ताक्ष) के वचन को अरिमर्दन ने सुनकर क्रूराक्ष से पूछा—'हे भद्र ! तुम्हारा क्या विचार है ?' वह (क्रूराक्ष) बोला—'महाराज इसने जो कहा वह अत्यन्त निर्दयतापूर्ण है। क्योंकि शरणागत का वध नहीं किया जाता। इस सम्बन्ध में यह सुन्दर कथा है—

सुना जाता है कि किसी कबूतर ने शत्रु की यथोचित पूजा की और अन्त में अपने मांस से उसकी क्षुधा भी शान्त की॥ १३४॥

अरिमर्दन ने कहा—'यह कैसे ?' क्रूराक्ष ने कहा—

८ : कपोत-लुब्धक-कथा

'कश्चित् क्षुद्रसमाचारः प्राणिनां कालसन्निभः ।
विचचार महाऽरण्ये घोरः शकुनिलुब्धकः ॥ १३५ ॥
नैव कश्चित् सुहृत् तस्य न सम्बन्धी न बान्धवः ।
स तैः सर्वैः परित्यक्तस्तेन रौद्रेण कर्मणा ॥ १३६ ॥

अथवा—

ये नृशंसा दुरात्मानः प्राणिनां प्राणनाशकः ।
उद्वेजनीय भूतानां व्याला इव भवन्ति ते ॥ १३७ ॥

विधिपूर्वकमित्यर्थः, पूजितश्च, स्वैः निजैः, मांसैः, निमन्त्रितः तर्पितश्च । हिशब्दोऽवधारणे ॥ १३४ ॥

[८]

तत्कथामवतारयति—कश्चिदिति । क्षुद्रसमाचारः क्षुद्रः नीचः, समाचारः व्यवहारः यस्य तथोक्तः, प्राणिनां भूतानां, कालसन्निभः यमसदृशः, प्राणिसंहारकत्वादिति भावः, घोरः दारुणः, कश्चित् शकुनिलुब्धकः व्याधः, महाऽरण्ये निविडवने, विचचार बभ्राम ॥ १३५ ॥

नैवेति । तेन रौद्रेण, दारुणेन, प्राणिहिंसारूपेण इत्यर्थः, कर्मणा कार्येण हेतुना कश्चित् जनः, तस्य व्याधस्य, न सुहृत् न मित्रं, न सम्बन्धी न सम्पर्कवान्, न बान्धवः न ज्ञातिः, तत्समीपे आसीदिति शेषः, स व्याधः, तैः सर्वैः सुहृदादिभिः, परित्यक्तः, अभवदिति शेषः, को हि नाम क्रूरकर्मणा दुर्जनेन सह सम्बन्धं स्वीकरोति ? इति भावः ॥ १३६ ॥

ये इति । ये जनाः, नृशंसाः निष्ठुराः दुरात्मानः दुराचाराः, प्राणिनां प्राणनाशकाः, ते व्याला इव हिंस्रजन्तव इव, भूतानां प्राणिनाम्, उद्वेजनीया भीकम्पजनकाः, भवन्ति, उत्पूर्वात् विजतेः कर्त्तरि अनीयर्प्रत्ययः प्रयोगादेव साधुर्बोद्धव्यः,

---

कपोत एवं लुब्धक की कथा

किसी एक घने वन में कोई दुर्वृत्त बहेलिया इधर-उधर घूम रहा था जो प्राणियों के लिए यम के समान और अत्यन्त क्रूर था ॥ १३५ ॥

उसके उस निर्दय कार्य के कारण न तो उसका कोई मित्र था, न सम्बन्धी थे और न कोई बन्धु ही थे । उन सबने उसको छोड़ दिया था ॥ १३६ ॥

अथवा, जो मनुष्य कठोर, दुराचारी और प्राणियों के प्राण हरण करने वाले होते हैं वे प्राणियों के लिए सर्प के समान उद्वेगकारक होते हैं ॥ १३७ ॥

स पञ्जरकमादाय पाशञ्च लगुडं तथा।
नित्यमेव वनं याति सर्वप्राणिविहिंसकः ॥ १३८ ॥
अन्येद्युर्भ्रमतस्तस्य वने काऽपि कपोतिका।
जाता हस्तगता तां स प्राक्षिपत् पञ्जरान्तरे ॥ १३९ ॥
अथ कृष्णा दिशः सर्वा वनस्थस्याभवन् घनैः।
वातवृष्टिश्च महती क्षयकाल इवाभवत् ॥ १४० ॥
ततः सन्त्रस्तहृदयः कम्पमानो मुहुर्मुहुः।
अन्वेषयन् परित्राणमाससाद वनस्पतिम् ॥ १४१ ॥

अन्यत्रापि दृश्यते च, यथा—'वास्तव्यः' इत्यत्र वसेः कर्त्तरि तव्यप्रत्ययः ॥ १३७ ॥

स इति । सर्वप्राणिविहिंसकः सकलभूतहिंसारतः, स व्याधः, पञ्जरकं क्षुद्रपिञ्जरं, पाशं रज्जुं, तथा लगुडं दण्डञ्च, आदाय गृहीत्वा, नित्यमेव प्रतिदिनमेव, वनं याति ॥ १३८ ॥

अन्येद्युरिति । अन्येद्युः 'सद्यःपरुत्–' (पा० सू० ५।३।२२) इति अन्यशब्दात् एद्युस्प्रत्ययः निपातितः, अन्यस्मिन् दिने, वने भ्रमतः विचरतः, तस्य व्याधस्य, काऽपि कपोतिका क्षुद्रकपोती हस्तगता हस्तप्राप्ता, जाता । स व्याधः, तां कपोतिकां, पञ्जरान्तरे पञ्जरमध्ये, प्राक्षिपत् निचिक्षेप ॥ १३९ ॥

अथेति । वनस्थस्य वने तिष्ठत एव तस्य, वनस्थं तमनादृत्येत्यर्थः, 'षष्ठी चानादरे' (पा० सू० २।३।३८) इति अनादरे षष्ठी, सर्वा दिशः, घनैः मेघैः, कृष्णा नीलवर्णाः, आच्छन्ना इत्यर्थः, अभवन्, तथा क्षयकाल इव प्रलयकाल इव, महती प्रबला, वातवृष्टिः वायुना सह वृष्टिश्च, वायुयुक्ता वृष्टिरिति 'शाकपार्थिवादीनां–' (वा०) इति उत्तरपदलोपी कर्मधारयः, अभवत् ॥ १४० ॥

तत इति । ततः अनन्तरं, व्याधः इति कर्त्तृपदमत्र ऊहनीयम्, सन्त्रस्तं भीतं,

---

सभी प्राणियों की हिंसा में तत्पर वह व्याध पिंजड़ा, जाल (रस्सी) तथा दण्डा लेकर प्रतिदिन वन को जाया करता था ॥ १३८ ॥

एक दिन वन में घूमते हुए उस व्याध के हाथ एक कबूतरी पड़ गयी, उसने उसे अपने पिंजड़े में बन्द कर दिया ॥ १३९ ॥

इसके अनन्तर जब कि वह वन में ही घूम रहा था, उसी समय सब दिशाएँ मेघाच्छन्न हो काली हो गईं और प्रलयकाल के समान बड़ी भारी तूफानी वर्षा होने लगी ॥ १४० ॥

इसके बाद वह व्याध अत्यन्त भयभीत हुआ और बार-बार काँपता हुआ

मुहूर्त्तं पश्यते यावद्वियत् विमलतारकम् ।
प्राप्य वृक्षं वदत्येव योऽत्र तिष्ठति कश्चन ॥ १४२ ॥
तस्याऽहं शरणं प्राप्तः स परित्रातु मामिति ।
शीतेन भिद्यमानञ्च क्षुधया गतचेतनम् ॥ १४३ ॥

अथ तस्य तरोः स्कन्धे कपोतः सुचिरोषितः ।
भार्याविरहितस्तिष्ठन् विललाप सुदुःखितः ॥ १४४ ॥

हृदयं यस्य तथोक्तः, तथा मुहुः मुहुः पुनः पुनः, कम्पमानः वेपमानकलेवर इत्यर्थः, सन्, परित्राणम् आत्मरक्षाम्, अन्वेषयन् स्वार्थे णिचि अन्वेषं कुर्वन्नित्यर्थे 'तत्करोति—' (ग) इति णिचि वा साध्यं विचिन्वन्, अपुष्पफलवन्महातरु-विशेषम्, 'अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः' इति मनुः आससाद प्राप ॥ १४१ ॥

मुहूर्त्तमित्यादि । मुहूर्त्तम् अल्पक्षणमात्रेण इत्यर्थः 'कालाध्वनो—' (पा० सू० २।३।५) इति द्वितीया, वियत् अन्तरीक्षं, यावत् विमलाः, प्रसन्नाः, तारका यत्र तादृशं, तारकाशोभितमित्यर्थः, पश्यते अत्र आत्मनेपदमार्षम्, दृष्टवानित्यर्थः मेघापगमा-दिति भावः, तावदिति ऊहनीयम्, वृक्षं तं वनस्पतिं, प्राप्यैव वदति उवाच इत्यर्थः, किमित्याह—य इति । अत्र वनस्पतौ, यः कश्चन, प्राणीति शेषः, तिष्ठति, अहं तस्य शरणम् आश्रयं, प्राप्तः, स शीतेन भिद्यमानम् अत्यर्थं पीड्यमानं, तथा क्षुधया गतचेतनञ्च अचेतनप्रायमित्यर्थः, मां परित्रातु इति रक्षत्विति, शीतात् क्षुधाऽनला-च्चेति भावः ॥ १४२–१४३ ॥

अथेति । अथ अनन्तरं, तस्य तरोः वनस्पतेः, स्कन्धे प्रकाण्डे, स्कन्धशाखाया-मित्यर्थः, सुचिरोषितः सुचिरमुषितः 'अत्यन्तसंयोगे च' (पा० सू० २।१।२९) इति

अपनी रक्षा के लिए कोई आश्रय तलाश करते हुए एक वृक्ष के पास जा पहुँचा ॥ १४१ ॥

कुछ देर बाद देखते ही देखते ही आकाश में तारे चमकने लगे और वर्षा एवं हवा रुक जाने के कारण आकाश निर्मल हो गया । तब वह वृक्ष के पास जाकर यह प्रार्थना करने लगा—'जो कोई भी (प्राणी) इस वृक्ष पर स्थित हो मैं उसी की शरण में आया हूँ, वह मेरी रक्षा करे क्योंकि मैं शीत से पीड़ित और भूख से मूच्छितप्राय होता जा रहा हूँ ॥ १४२–१४३ ॥

उसी वृक्ष की शाखा पर कोई कबूतर बहुत दिनों से रहता था । वह (इस समय) पत्नी-वियोग से व्याकुल हो विलाप करने लगा ॥ १४४ ॥

वातवर्षो महानासीन्न चागच्छति मे प्रिया।
तया विरहितं ह्येतत् शून्यमद्य गृहं मम ॥ १४५ ॥
पतिव्रता पतिप्राणा पत्युः प्रियहिते रता।
यस्य स्यादीदृशी भार्या धन्यः स पुरुषो भुवि ॥ १४६ ॥
न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
गृहं हि गृहिणीहीनमरण्यसदृशं मतम् ॥ १४७ ॥

द्वितीयासमासः। बहुकालकृतनिवासः इत्यर्थः, कपोतः, कश्चिदिति शेषः, भार्याविरहितः प्रागुक्तकपोतिकावियुक्तः, अत एव सुदुःखितः अतिदुःखितः, तिष्ठन् विललाप विलापमकरोत् ॥ १४४ ॥

विलापप्रकारमाह—वातवर्ष इति। महान् प्रबलः, वातवर्षः वायुना सह वृष्टिः, आसीत्, मे मम, प्रिया भार्या, कपोतिका इत्यर्थः, न च आगच्छति, अद्य तथा प्रियया, विरहितं त्यक्तं, मम एतत् गृहं, शून्यं हि शून्यमेव, प्रतिभातीति शेषः ॥ १४५ ॥

पतिव्रतेति। पतिव्रता पतिप्राणा साध्वीति यावत्, पत्युः प्रियहिते रता, यस्य ईदृशी भार्या स्यात्, स पुरुषः भुवि पृथिव्यां, धन्यः प्रशस्यः, सुखी इत्यर्थः, भवतीति शेषः, प्रियायाः प्रियवादिन्याश्च पत्न्याः सुखनिदानत्वादित्याशयः ॥ १४६ ॥

प्रोक्तार्थमेव पुनः विशदीकर्त्तुं व्यनक्ति—नेति। गृहं निकेतनं, गृहम् इति न आहुः न कथयन्ति, विद्वांसः इति शेषः, गृहिणी गृहस्थिता भार्या, एव, गृहम् उच्यते कथ्यते, हि यतः, गृहिणीहीनं भार्याशून्यं, गृहम् अरण्यसदृशं काननतुल्यं, मतम् उक्तं, पण्डितैरिति शेषः, उभयत्रापि सुखराहित्येन साम्यादिति भावः ॥ १४७ ॥

वायु सहित तूफानी वर्षा हो रही थी और मेरी प्रिय पत्नी आई नहीं (कहीं उसका कुछ अनिष्ट तो नहीं हो गया)। उससे रहित आज मेरा यह घर सूना हो गया ॥ १४५ ॥

पतिव्रता, प्राणों के समान पति को चाहने वाली और पति के प्रिय तथा हितकारी कार्य में तत्पर स्त्री, जिस पुरुष की पत्नी हो, वह पुरुष ही इस संसार में धन्य है ॥ १४६ ॥

(ईंट गारे से बने) घर को विद्वान् लोग घर नहीं कहते, अपितु पत्नी ही घर कहलाती है क्योंकि भार्याशून्य गृह वन के समान होता है ॥ १४७ ॥

पञ्जरस्था ततः श्रुत्वा भर्त्तुर्दुःखान्वितं वचः।
कपोतिका सुसन्तुष्टा वाक्यञ्चेदमथाऽऽह सा ॥ १४८ ॥
न सा स्त्रीत्यभिमन्तव्या यस्यां भर्त्ता न तुष्यति।
तुष्टे भर्त्तरि नारीणां तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ॥ १४९ ॥
दावाग्निना विदग्धेव सपुष्पस्तबका लता।
भस्मीभवतु सा नारी यस्यां भर्त्ता न तुष्यति ॥ १५० ॥
मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः।
अमितस्य हि दातारं भार्त्तारं का न पूजयेत् ? ॥ १५१ ॥

पञ्जरस्थेति। ततः पञ्जरस्था, व्याधस्येति शेषः, सा कपोतिका भर्त्तुः स्वामिनः, दुःखान्वितं दुःखपूर्णं, वचः वाक्यं, विलापभूयिष्ठमित्यर्थः, श्रुत्वा, सुसन्तुष्टा अतीव प्रीता सती, अत्र सन्तोषः पत्युः अनुरागपूर्णवाक्यश्रवणजन्यः, न तु तस्य विलापश्रवणकृतः, तस्याः पतिव्रतात्वादित्यवधेयम्। इदं वक्ष्यमाणं, वाक्यम् आह च कथयामास च ॥ १४८ ॥

नेति। यस्यां स्त्रियां, भर्त्ता न तुष्यति न प्रीणाति, सा स्त्री इति न अभिमन्तव्या स्त्रीति न वाच्या इत्यर्थः, भर्त्तरि पत्यौ, तुष्टे प्रीते सति, नारीणां सर्वदेवताः तुष्टाः स्युः भवेयुः, नारीणां पत्युः सर्वदेवमयत्वात् तत्सन्तोषेणैव सकलदेवानां सन्तोष इति भावः ॥ १४९ ॥

दावेति। भर्त्ता यस्यां स्त्रियां, न तुष्यति, सा नारी दावाग्निना वनवह्निना, विदग्धा विशेषेण दग्धा, सुपुष्पस्तबका पुष्पगुच्छवती, लतेव भस्मीभवतु, भर्त्तुः अप्रियाणां पुत्त्रादिसमन्वितानामपि रमणीनां मरणमेव भवतीति भावः ॥ १५० ॥

इदानीं भर्त्तुः अन्येभ्यः स्वप्रियजनेभ्यः उत्कर्षमाह—मितमिति। पिता मितं हि

तब पींजड़े में बैठी हुई कबूतरी पति के दुःखपूर्ण एवं करुण वचन को सुनकर पति के व्यवहार से अत्यन्त सन्तुष्ट होकर यह वचन कहने लगी— ॥ १४८ ॥

जिस स्त्री का पति उसके व्यवहार से प्रसन्न नहीं होता उसे स्त्री नहीं मानना चाहिए। क्योंकि पति के प्रसन्न होने पर स्त्रियों के सब देवता प्रसन्न हो जाते हैं ॥ १४९ ॥

जिस स्त्री पर उसके पति की प्रीति नहीं होती वह स्त्री वन की अग्नि से फूलों के गुच्छों के सहित जली हुई लता के समान भस्मसात् हुई सी रहती है ॥ १५० ॥

पिता, भाई और पुत्र ये सब स्त्रियों को परिमित (अर्थात् गिना चुना सुख और धन) ही दे सकते हैं परन्तु अपरिमित (धन और सुख) देने वाले पति की कौन

पुनश्च अब्रवीत्—

श्रृणुष्वावहितः कान्त ! यत् ते वक्ष्याम्यहं हितम् ।
प्राणैरपि त्वया नित्यं संरक्ष्यः शरणागतः ॥ १५२ ॥
एष शाकुनिकः शेते तवावासं समाश्रितः ।
शीतार्त्तश्च क्षुधार्त्तश्च पूजामस्मै समाचर ॥ १५३ ॥

श्रूयते च—

परिमितमेव, ददाति, कन्यायै इति शेषः, भ्राता मितं ददाति, भगिन्यै इति शेषः, सुतः पुत्रः, मितं ददाति, मात्रे इति शेषः, का नारी, पतिव्रतेत्यर्थः, अमितस्य अपरिमितस्य धर्मार्थादिपुरुषार्थनिचयस्येति भावः, दातारं भर्त्तारं न पूजयेत् ? सर्वैव पूजयेदित्यर्थः, स्वामिनः स्त्रीषु अदेयं किमपि नास्ति, अतः सर्वथा स्त्रीणां स्वामी एव परं पूजनीय इति भावः ॥ १५१ ॥

श्रृणुष्वेति । हे कान्त ! अहं ते तुभ्यं, 'हितयोगे च' (वा०) इति हितशब्दयोगात् चतुर्थी । हितं हितकरं, यत् वचनं, वक्ष्यामि, तत् अवहितः एकाग्रचित्तः सन्, श्रृणुष्व । अत्र आत्मनेपदं महाकविप्रयोगात् सोढव्यम् । त्वया शरणागतः आश्रितः जनः, नित्यं सततं, प्राणैरपि किमुत धनादिभिरिति भावः, संरक्ष्यः परित्रातव्यः, शरणागतारक्षणं हि महाप्रत्यवायजनकम्, अतः अवश्यमेव आश्रितरक्षणं विधेयमिति भावः ॥ १५२ ॥

एष इति । शीतार्त्तश्च हिमपीडितश्च, क्षुधार्त्तश्च बुभुक्षितश्च, एषः शाकुनिकः व्याधः, तव आवासम् आलयं, समाश्रितः समागतः, शेते भूमौ लुठति इत्यर्थः शीतेन क्षुधया च अवसन्नदेहत्वादिति भावः, अस्मै शाकुनिकाय, 'क्रियाया यमभिप्रैति—' (वा०) इति चतुर्थी । पूजां सत्कारं, समाचर विधेहि, कुरु इत्यर्थः ॥ १५३ ॥

स्त्री पूजा नहीं करेगी ? ॥ १५१ ॥

फिर, उसने आगे कहा—

हे प्रिय ! तुम्हें हितकारी एवं शुभ वचन जो मैं कह रही हूँ उसे तुम सावधान होकर सुनो । शरण में आए हुए जन की रक्षा तुम्हें अपने प्राण देकर भी करनी चाहिए ॥ १५२ ॥

सर्दी और भूख प्यास से पीड़ित यह व्याध तेरे घर आकर जमीन पर सोया है, तुम इसकी पूजा एवं सेवा-सुश्रूषा करो ॥ १५३ ॥

क्योंकि ऐसा सुना जाता है कि—

य: सायमतिथिं प्राप्तं यथाशक्ति न पूजयेत्।
तस्यासौ दुष्कृतं दत्त्वा सुकृतञ्चापकर्षति ॥ १५४ ॥
मा चास्मै त्वं कृथा द्वेषं बद्धाऽनेनेति मत्प्रिया।
स्वकृतैरेव बद्धाऽहं प्राक्तनैः कर्मबन्धनैः ॥ १५५ ॥
दारिद्र्यरोगदुःखानि बन्धनव्यसनानि च।
आत्मापराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम् । १५६ ॥

य इति। यः जनः, सायं प्राप्तं दिवाऽवसानकालोपस्थितं, सायमागतस्य प्रत्याख्याने रात्रौ त्रिविधविपदुपस्थितिसम्भावनया तस्य स्थानान्तरगमने असमर्थत्वादिति भावः, अतिथिम् अभ्यागतं, यथाशक्ति निजशक्त्यनुसारेण, न पूजयेत् न सत्कुर्यात्, असौ अतिथिः, तस्य जनस्य, तस्मै जनायेत्यर्थः, सम्बन्धविवक्षया षष्ठी। दुष्कृतं पापं, स्वमिति शेषः, दत्त्वा सुकृतञ्च प्राक्कृतं पुण्यञ्च, तस्माज्जनादिति शेषः, अपकर्षति आहृत्य गच्छति इत्यर्थः ॥ १५४ ॥

अतिथेः सर्वथा समादरणीयत्वेन इदानीं तत्र विरागबीजमन्यथा उत्पादयति—नेति। अनेन व्याधेन, मत्प्रिया मम प्रिया, बद्धा रुद्धा, पञ्जरे इति शेषः, इति हेतोः, त्वम् अस्मै अतिथये, व्याधाय इत्यर्थः, द्वेषं कोपं, मा च कृथाः न कुरु, 'माङि लुङ्' (पा० सू० ३।३।१७५) इति करोतेः लुङ्, 'न माङ्योगे' (पा० सू० ६।४।७४) इत्यडागमप्रतिषेधश्च। अहं स्वकृतैरेव निजकृतैः एव, प्राक्तनैः पूर्वकालिकैः, कर्मबन्धनैः बध्यन्ते एभिरिति बन्धनानि कर्माण्येव बन्धनानि तैः कर्मपाशैरित्यर्थः, बद्धा संयता, भवामीति शेषः, निजकर्मफलस्य अवश्यभोक्तव्यत्वादिति भावः ॥ १५५ ॥

दारिद्र्येति। दारिद्र्यं निर्धनत्वं, रोगः व्याधिः, दुःखञ्च तानि, तथा बन्धनानि व्यसनानि च विपदः, एतानि देहिनां प्राणिनाम्, आत्मापराधवृक्षस्य आत्मनः स्वस्य, अपराध एव अन्यायाचरणमेव, वृक्षस्तस्य निजदोषतरोः, फलानि; प्राक्तनान्यपि

जो मनुष्य सायङ्काल के समय घर पर आए हुए अतिथि का यथाशक्ति सत्कार नहीं करता, वह अतिथि उसको अपना पाप देकर उसका पुण्य लेकर चला जाता है ॥ १५४ ॥

और, तुम इस पर द्वेष मत करो कि इसी दुरात्मा ने मेरी प्रिया को बन्धन में डाल दिया है, क्योंकि मैं तो अपने ही पूर्व किए हुए कर्मरूपी पाशों में बँधी हूँ ॥ १५५ ॥

क्योंकि—दरिद्रता, बीमारी और दुःख तथा पाश आदि में बँधना और विपत्तियाँ—ये सब आत्मापराधरूपी वृक्ष के फल हैं। (अतः प्राणियों को अपने अपराध रूपी वृक्ष के फल का भोग करना ही पड़ता है) ॥ १५६ ॥

तस्मात् त्वं द्वेषमुत्सृज्य मद्बन्धनसमुद्भवम् ।
धर्मे मनः समाधाय पूजयैनं यथाविधि ॥ १५७ ॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा धर्मयुक्तिसमन्वितम् ।
उपगम्य ततोऽधृष्टः कपोतः प्राह लुब्धकम् । १५८ ॥

भद्र ! सुखाऽऽगतं तेऽस्तु ब्रूहि किं करवाणि ते ? ।
सन्तापश्च न कर्त्तव्यः स्वगृहे वर्त्तते भवान् ॥ १५९ ॥

स्वकर्मफलानि भुञ्जते प्राणिन इति भावः ॥ १५६ ॥

अथ अतिथिसत्काराय स्वामिनमेवं प्रणोद्य उपसंहरन्ति—तस्मादिति । तस्मात् दुःखस्य स्वकर्मफलजन्यत्वात्, त्वं मद्बन्धनसमुद्भवं मम बन्धनसमुत्पन्नं, बन्धनं श्रुत्वा जातमित्यर्थः, द्वेषं कोपम्, उत्सृज्य त्यक्त्वा, धर्मे मनः समाधाय निवेश्य, धर्मार्थी सन् इत्यर्थः, एनं शाकुनिकं, यथाविधि विधिमनतिक्रम्य इति अनतिक्रमार्थेऽव्ययीभावः । क्रियाविशेषणञ्चैतत् यथाशास्त्रं, पूजय सत्कुरु, तथाकृते तव धर्मो भविष्यतीति भावः ॥ १५७ ॥

तस्या इति । ततः अनन्तरं, कपोतः तस्याः स्वकान्तायाः कपोतिकायाः, तत् धर्मयुक्तसमन्वितं धर्म्यं युक्तियुक्तञ्च, वचनं श्रुत्वा आकर्ण्य, लुब्धकं व्याधम्, उपगम्य अभ्येत्य, अधृष्टः शालीनः सन्, विनीतः सन्नित्यर्थः, 'स्याद्धृष्टे तु शालीनः' इत्यमरः प्राह ब्रवीति ॥ १५८ ॥

भद्रेति । हे भद्र ! ते तव, सुखाऽऽगतं स्वागतं, शुभसम्पादकम् आगमनमित्यर्थः, अस्तु, ते तव, किं करवाणि ? किं कार्यं साधयानि ? ब्रूहि कथय, सन्तापश्च मनः पीडा पुनः, निःसहायतयेति भावः, न कर्त्तव्यः, भवान् स्वगृहे निजालये एव, वर्त्तते, मदावासे निःसहायावस्थाजनितः कोऽपि क्लेशः ते नैव भविष्यतीति भावः ॥ १५९ ॥

इसलिए तुम मेरे बन्धन में पड़ने के कारण उत्पन्न द्वेष छोड़कर और धर्मबुद्धि से अपने कर्तव्य में मन लगाकर इस व्याध की शास्त्रानुसार पूजा करो ॥ १५७ ॥

अपनी पत्नी कपोती के धार्मिक युक्तियों से परिपूर्ण उस वचन को सुनकर वह कबूतर व्याध के पास जा नम्रतापूर्वक बोला ॥ १५८ ॥

हे भद्र ! आपका स्वागत हो, आप कहें, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? आपको अपने मन में खेद नहीं करना चाहिए, यह समझिए कि आप अपने ही घर में स्थित हैं ॥ १५९ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच विहङ्गमम्।
'कपोत! खलु शीतं मे हिमत्राणं विधीयताम्' ॥ १६० ॥
स गत्वाऽङ्गारकं नीत्वा पातयामास पावकम्।
ततः शुष्केषु पर्णेषु तमाशु समदीपयत् ॥ १६१ ॥
सुसन्दीप्तं ततः कृत्वा तमाह शरणागतम्।
सन्तापयस्व विश्रब्धं स्वगात्राण्यत्र निर्भयः ॥ १६२ ॥
उद्गतेन च जीवामो वयं सर्वे वनौकसः।
न चास्ति विभवः कश्चिन्नाशये येन ते क्षुधम् ॥ १६३ ॥

तस्येति। तस्य कपोतस्य, तद्वचनं तादृशविनयपूर्णवाक्यमित्यर्थः श्रुत्वा विहङ्गमं तं कपोतं, प्रत्युवाच, व्याध इति शेषः। किमित्याह—कपोतेति। हे कपोत! मे मम, शीतं खलु अतिमात्रमित्यर्थः, वर्त्तते इति शेषः, 'शीतम्' इत्यत्र 'शीघ्रम्' इति पाठान्तरः समीचीनः। तस्मात् हिमत्राणं शीतात् परित्राणं, विधीयतां यथा शीतापनयनं भवेत्, तथा क्रियताम् इत्यर्थः ॥ १६० ॥

स इति। सः कपोतः, गत्वा, कुत्रचिदिति शेषः, अङ्गारकं ज्वलन्तं दारुखण्डविशेषं, 'अङ्गारकः कुजेऽपि स्याद् दग्धकाष्ठे कुरुण्टके' इति मेदिनी। नीत्वा, कुतश्चिदिति शेषः, पातयामास स्थापितवान्, ततः शुष्केषु नीरसेषु, पर्णेषु पत्रेषु, तं पावकम् आनीतं तमग्निम्, आशु शीघ्रं, समदीपयत् ज्वालयामास ॥ १६१ ॥

सुसन्दीप्तमिति। ततः अनन्तरं, सुसन्दीप्तं प्रज्ज्वलितम्, अग्निमिति शेषः, कृत्वा तं शरणागतम् आह—हे शाकुनिक! इत्यामन्त्रणपदमत्र ऊहनीयम्, निर्भयः सन् अत्र प्रज्ज्वलितेऽग्नौ, स्वगात्राणि निजानि अङ्गानि, विश्रब्धं गाढं यथा तथा सम्यक् इत्यर्थः, 'विश्रब्धोऽनुद्धटेऽपि स्यात् गाढविश्वस्तयोस्त्रिषु' इति मेदिनी। सन्तापयस्व उष्णीकुरु, त्वमिति शेषः। वयं सर्वे वनौकसः उद्गतेन

उसका यह वचन सुन वह व्याध उस पक्षी से बोला—हे कपोत! मुझे सर्दी लगा रही है। अतः शीत से मेरी रक्षा करो ॥ १६० ॥

तब वह कबूतर कहीं जाकर एक अंगारा ले आया और उसने सूखे पत्तों पर उसे डाल दिया और शीघ्र ही अग्नि प्रज्ज्वलित कर दिया ॥ १६१ ॥

इसके बाद अग्नि को अच्छी तरह प्रदीप्त कर उस कपोत ने शरण में आये हुए उस अतिथि से कहा—हे अतिथे! तुम निर्भय हो अच्छी तरह अपने सम्पूर्ण अङ्गों को सेको ॥ १६२ ॥

वस्तुतः हम सब वनवासी दैवयोग से प्राप्त वस्तुओं पर ही निर्भर रहते हैं। इसलिए मेरे पास कुछ सम्पत्ति नहीं है जिससे मैं आपकी भूख मिटा सकूँ ॥ १६३ ॥

सहस्रं भरते कश्चिच्छतमन्यो दशापरः।
मम त्वकृतपुण्यस्य क्षुद्रस्यात्माऽपि दुर्भरः॥ १६४॥
एकस्याप्यतिथेरन्नं यः प्रदातु न शक्तिमान्।
तस्यानेकपरिक्लेशे गृहे किं वसतः फलम्?॥ १६५।
तत् तथा साधयाम्येतच्छरीरं दुःखजीवितम्।
यथा भूयो न वक्ष्यामि नास्तीत्यर्थिसमागमे॥ १६६॥

दैवादागतेन जीवामः। अतः कश्चित् कोऽपि, विभवः सम्पत्, न चास्ति, ममेति शेषः, येन विभवेन, ते तव, क्षुधं बुभुक्षां, नाशये अपनयामि॥ १६२-१६३॥

सहस्रमिति। कश्चित् जनः, सहस्रं शतसहस्रादयस्तु नित्यमेकवचनान्ताः 'विंशत्याद्याः सदैकत्वे' इति अमरकोषदर्शनात्। जनान्, अन्यः शतं जनान्, अपरः दश जनान्, भरते प्रतिपालयति, अकृतपुण्यस्य सुकृतिरहितस्य, पापकारिण इत्यर्थः, अत एव क्षुद्रस्य नीचस्य, मम 'न लोकाव्यय—' (पा० सू० २।३।६९) इति खलर्थप्रयोगे षष्ठीप्रतिषेधेऽपि 'षष्ठी शेषे' (पा० सू० २।३।५०) इति षष्ठी तु आत्माऽपि दुर्भरः भर्तुमशक्यः, अधन्यः अहम् आत्मानमपि प्रतिपालयितुं न शक्नोमि, किं पुनः भरणे अन्येषामिति भावः॥ १६४॥

एकस्येति। यः एकस्यापि अतिथेः आगन्तुकस्य, गृहागतस्य इत्यर्थः, अन्नं प्रदातुं न शक्तिमान् न समर्थः, तस्य अनेकपरिक्लेशे बहुक्लेशसङ्कुले, गृहे वसतः वासं कुर्वतः, किं फलम्? न किमपि इत्यर्थः। अतिथिसत्कारस्य गृहस्थकर्त्तव्येषु सारभूततया तदशक्तौ गृहवासः वृथैव इति भावः॥ १६५॥

तदिति। तत् तस्मात्, दुःखजीवितं क्लेशबहुलजीवनम्, एतत् शरीरं तथा तादृशं, साधयामि करोमि, यथा अर्थिसमागमे याचकोपस्थितौ, नास्तीति भूयः पुनः, न वक्ष्यामि न कथयिष्यामि, देहं पातयामीति भावः॥ १६६॥

कोई पुरुष हजार, कोई सौ और कोई दस प्राणियों का पेट-पालन करता है। किन्तु मेरे जैसे क्षुद्र एवं पापी के लिए अपना ही पेट पालना कठिन है अर्थात् मैंने पुण्य कार्य नहीं किया इसलिए मैं ऐसा अभागा हूँ कि अपना पेट भी मुश्किल से भर पाता हूँ॥ १६४॥

जो पुरुष घर में आए हुए एक भी अतिथि को भोजन कराने की शक्ति नहीं रखता, उस पुरुष के अनेक दुःखों से परिपूर्ण घर में रहने से क्या लाभ?॥ १६५॥

इसलिए दुःखी जीवन को व्यतीत करने वाले इस शरीर को ऐसा कर दूँ (नष्ट कर दूँ) जिससे फिर कभी याचकों के आने पर 'नहीं है' ऐसा न कहूँ। अर्थात् अपने इस दुःखपरिपूर्ण जीवन को समाप्त करके मैं आपका आतिथ्य करना चाहता हूँ॥ १६६॥

स निनिन्द किलात्मानं न तु तं लुब्धकं पुनः ।
उवाच तर्पयिष्ये त्वां मुहूर्तं प्रतिपालय ॥ १६७ ॥
एवमुक्त्वा स धर्मात्मा प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
तमग्निं सम्परिक्रम्य प्रविवेश स्ववेश्मवत् ॥ १६८ ॥
ततस्तं लुब्धको दृष्ट्वा कृपया पीडितो भृशम् ।
कपोतमग्नौ पतितं वाक्यमेतदभाषत ॥ १६९ ॥
यः करोति नरः पापं न तस्यात्मा ध्रुवं प्रियः ।
आत्मना हि कृतं पापमात्मनैव हि भुज्यते ॥ १७० ॥

स इति । स कपोतः, आत्मानं स्वं निनिन्द तिरस्कृतवान्, किल इति वार्त्तायाम्, दृशी एव जनश्रुतिरित्यर्थः, तं लुब्धकं व्याधं, पुनः न तु, निनिन्द इत्यनुषङ्गः, जायाया न्धने कृतेऽपीति भावः, उवाच च—हे लुब्धक ! इत्यामन्त्रणपदमत्र ऊहनीयम्, वां तर्पयिष्ये तृप्तं कारयिष्ये, आत्ममांसदानेनेति शेषः, मुहूर्त्तं क्षणं, प्रतिपालय पेक्षस्व ॥ १६७ ॥

एवमिति । स धर्मात्मा धार्मिकः, कपोतः इति शेषः, एवमुक्त्वा प्रहृष्टेन प्रीतेन न्तरात्मना मनसा तदुपलक्षितः सन्नित्यर्थः, तम् अग्निं सम्परिक्रम्य प्रदक्षिणीकृत्य, ववेश्मवत् स्वं गृहमिव, अनायासेन इति भावः, प्रविवेश ॥ १६८ ॥

तत इति । ततः अनन्तरं, लुब्धकः तं कपोतम् अग्नौ पतितं दृष्ट्वा कृपया शम् अतिमात्रं, पीडितः आक्रान्तः सन्, एतत् वक्ष्यमाणं, वाक्यम् अभाषत क्तवान् ॥ १६९ ॥

य इति । यः नरः पापं दुष्कर्म, करोति, ध्रुवं नूनं, तस्य आत्मा प्रियः तिकरः; न, भवतीति शेषः, पापस्य दुःखजनकतया आत्मनि दुःखोत्पत्ते- वश्यम्भावित्वादिति भावः, हि यतः, आत्मना कृतम् अनुष्ठितं, पापम् आत्मना

उस कबूतर ने अपनी ही निन्दा की (अतिथि को भोजन न दे सकने के कारण) रन्तु (स्त्री को पकड़ने पर भी) उस व्याध की निन्दा नहीं की। फिर बोला—आप ोड़ी देर प्रतीक्षा करें मैं तृप्त करूँगा ॥ १६७ ॥

ऐसा कह कर वह धर्मात्मा कबूतर प्रसन्न मन से उस अग्नि की प्रदक्षिणा कर समें इस प्रकार प्रविष्ट हो गया मानो वह अपने घर में प्रविष्ट हुआ हो ॥ १६८ ॥

इसके बाद अग्नि में गिरे हुए उस कबूतर को देखकर व्याध को उस पर बड़ी या आई और वह यह कहने लगा— ॥ १६९ ॥

जो मनुष्य पाप करता है निश्चय ही उसे अपनी आत्मा प्रिय नहीं होती क्योंकि यं किया हुआ पाप स्वयं ही भोगना पड़ता है। (वस्तुतः पाप का फल हमेशा

सोऽहं पापमतिश्चैव पापकर्मरतः सदा।
पतिष्यामि महाघोरे नरके नात्र संशयः ॥ १७१ ॥

नूनं मम नृशंसस्य प्रत्यादर्शः सुदर्शितः।
प्रयच्छता स्वमांसानि कपोतेन महात्मना ॥ १७२ ॥

अद्य प्रभृति देहं स्वं सर्वभोगविवर्जितम्।
तोयं स्वल्पं यथा ग्रीष्मः शोषयिष्याम्यहं पुनः ॥ १७३ ॥

एव स्वयमेव, भुज्यते हि, नूनं मत्कृतस्य पापकर्मणः फलं मयैव भोक्तव्यमिति भावः ॥ १७० ॥

स इति। पापमतिः दुष्टबुद्धिः, सदा पापकर्मरतः दुष्कर्मासक्तश्च, सोऽहं महाघोरे अतिदारुणे, नरके पतिष्यामि एव, अत्र नरकपतने, संशयः सन्देहः, न, अस्तीति शेषः, पापरतानां नरकपतनस्यावश्यम्भावित्वादिति भावः ॥ १७१ ॥

नूनमिति। नूनं निश्चितं, महात्मना कपोतेन स्वमांसानि प्रयच्छता प्रददता मता, नृशंसस्य निर्दयस्य, मम प्रत्यादर्शः प्रति प्रतिरूपः, विपरीत इति यावत्, आदर्शः उदाहरणं, सुदर्शितः सुष्ठु प्रकाशित इत्यर्थः, पापमतिरहं स्वतृप्त्यर्थं परान् विनाशयन् नृशंसतायाः प्रकृष्टोदाहरणतां गतः, अयन्तु कपोतः परतृप्त्यर्थमात्मानं प्रयच्छन् कृपालुतायाः चरमदृष्टान्तः सञ्जात इति भावः ॥ १७२ ॥

अद्येति। अहं पुनः अद्य प्रभृति अस्मात् दिनादारभ्य, स्वं देहं सर्वभोगविवर्जितं सर्वेभ्यः भोगेभ्यः सुखादिभ्यः, विवर्जितं विहीनं, कृत्वेति शेषः ग्रीष्मः निदाघ-समयः, स्वल्पं तोयं जलं, यथा, शोषयति इति शेषः, तथा शोषयिष्यामि अनशनेन शुष्कं करिष्यामि, प्राक्कृतपापसङ्क्षयार्थं प्रायोपवेशनं चान्द्रायणव्रतं वा आचरिष्या-मीति भावः ॥ १७३ ॥

दुःख ही होता है और जो दुःख भोगना नहीं चाहता, यदि उसे अपनी आत्मा प्रिय होती तो उसे दुःख भोगने का साधन पापकर्म ही वह क्यों उपस्थित करे) ॥ १७० ॥

दुष्ट बुद्धि और सदा दुष्कर्म में फँसा हुआ मैं महाभयङ्कर नरक में गिरूँगा इसमें जरा भी सन्देह नहीं है ॥ १७१ ॥

निश्चय ही, इस महात्मा कपोत ने अपना मांस मुझे देते हुए मुझ निर्दयी के सामने दया का एक अच्छा उदाहरण उपस्थित किया है ॥ १७२ ॥

आज से मैं भी सब प्रकार के सुख भोग छोड़ कर अपने शरीर को इस प्रकार सुखा दूँगा जैसे कि ग्रीष्म ऋतु थोड़े पानी को सुखा देती है ॥ १७३ ॥

शीतवातातपसहः कृशाङ्गो मलिनस्तथा ।
उपवासैर्बहुविधैश्चरिष्ये धर्ममुत्तमम ॥ १७४ ॥
ततो यष्टिं शलाकाञ्च जालकं पञ्जरं तथा ।
बभञ्ज लुब्धको दीनां कपोतीञ्च मुमोच ताम् ॥ १७५ ॥
लुब्धकेन ततो मुक्ता दृष्ट्वाऽग्नौ पतितं पतिम् ।
कपोती विललापार्त्ता शोकसन्तप्तमानसा ॥ १७६ ॥
न कार्यमद्य मे नाथ ! जीवितेन त्वया विना ।
दीनायाः पतिहीनायाः किं नार्य्या जीविते फलम्? ॥ १७७ ॥

अथेदानीं स्वपापक्षयकरमुपायं स्वयमेव स्वबुद्ध्या स्थिरीकृत्य व्यनक्ति—शीतेति । शीतवातातपसहः शीतं शीतलं जलादिकमित्यर्थः, तुषारपतनमित्यर्थो वा, वातं प्रबलं वायुम्, आतपं सूर्यातपञ्च, सहते इति तथोक्तः, शीतादिजनितक्लेशसहिष्णुरित्यर्थः, शरीरशोषकरकर्मरूपे तपसि द्वन्द्वसहिष्णुताया एव सर्वथोपकारकत्वादित्याशयः, कृशाङ्गः शीर्णदेहः, तथा मलिनः संस्काररराहित्यात् विवर्णशरीरः सन्, बहुविधैः, अनेकैः उपवासैः अनशनैः, उत्तमं धर्मं चरिष्ये, आत्मनेपदमार्षम्, तमश्चरिष्यामि इत्यर्थः ॥ १७४ ॥

तत इति । ततः अनन्तरं, लुब्धकः व्याधः, यष्टिं लगुडं शलाकां जालविन्यासद्रव्यविशेषं, तोमरं वा, जालकं पाशं, तथा पञ्जरञ्च बभञ्ज; तां दीनां कातरां, भर्तृशोकेन व्याकुलामिति भावः, कपोतीं मुमोच तत्याज च ॥ १७५ ॥

लुब्धकेनेति । ततः अनन्तरं, लुब्धकेन व्याधेन, मुक्ता परित्यक्ता, कपोती पतिं कपोतम्, अग्नौ पतितं दृष्ट्वा, आर्त्ता कातरा, तथा शोकसन्तप्तमानसा शोकेन पतिवियोगजनितशुचा, सन्तप्तं व्यथितं मानसं यस्याः तथाभूता सती विललाप ॥ १७६ ॥

नेति । हे नाथ ! अद्य त्वया विना तव विरहेण इत्यर्थः, मे मम, जीवितेन

अब मैं सर्दी, वायु और गरमी सहता हुआ, शरीर को कृश करके, अपने देह की स्वच्छता की भी परवाह न करके नाना प्रकार के उपवासों द्वारा धर्म का पालन करूँगा ॥ १७४ ॥

इस प्रकार विचार करके उस बहेलिये ने लाठी, शलाका, जाल तथा पिंजड़ों को भी तोड़ डाला और उस दीन कबूतरी को भी छोड़ दिया ॥ १७५ ॥

इसके बाद जब बहेलिए ने उस कबूतरी को छोड़ दिया तब अग्नि में पड़े हुए पति को देख, दुःखी हो शोक के कारण व्याकुल मन से वह विलाप करने लगी ॥ १७६ ॥

मनोदर्पस्त्वहङ्कारः कुलपूजा च बन्धुषु ।
दासभृत्यजनेष्वाज्ञा वैधव्येन प्रणश्यति ॥ १७८ ॥
एवं विलप्य बहुशः कृपणं भृशदुःखिता ।
पतिव्रता सुसन्दीप्तं तमेवाग्निं विवेश सा ॥ १७९ ॥
ततो दिव्याम्बरधरा दिव्याभरणभूषिता ।
भर्त्तारं सा विमानस्थं ददर्श स्वं कपोतिका ॥ १८० ॥

प्राणैः, न कार्यं न प्रयोजनं, पतिहीनायाः विधवायाः, अत एव दीनायाः दुःखिन्याः, नार्याः जीविते प्राणधारणे, किं फलम् ? न किमपि प्रयोजनम् इत्यर्थः ॥ १७७ ॥

मन इति । वैधव्येन पतिवियोगेन, मनोदर्पः मनस ऊष्मा, मानसिकं तेजः इत्यर्थः, तेजस्वितेति यावत्, अहङ्कारः धनरूपादिकृतः गर्वः, कुलपूजा कुले स्वामिनः पितुर्वा गृहे, पूजा समादरः, तथा बन्धुषु ज्ञातिषु, दासभृत्यजनेषु दासेषु किङ्करेषु, भृत्यजनेषु पोष्यवर्गेषु च, भरणीयजनेषु इत्यर्थः, आज्ञा कस्मिन्नपि कार्येनियोगः, प्रणश्यति, नारीणामिति शेषः, पतिगौरवेणैव नारीणां गौरवं, तदभावे तासां सुखकरं किमपि नास्तीति भावः ॥ १७८ ॥

एवमिति । भृशदुःखिता अतिमात्रमार्त्ता, पतिव्रता स्वामिपरायणा, सा कपोती, एवम् उक्तप्रकारेण, बहुशः पुनः पुनः, कृपणं दीनं यथा तथा, विलप्य तमेव पतिदेहदाहकारकमेवेत्यर्थः, सुसन्दीप्तं प्रज्ज्वलितम्, अग्निं विवेश प्रविष्टवती, अन्वारोहणधर्ममनुष्ठितवतीति भावः ॥ १७९ ॥

अथ नारीणां सहमरणविध्यनुपालनस्य फलमभिदधाति—तत इति । ततः अग्निप्रवेशानन्तरं, सा कपोतिका दिव्याम्बरधरा दिव्यवस्त्रपरिधाना, दिव्याभरणभूषिता रुचिरालङ्कारशोभिता च सती, विमानस्थं देवयानस्थं, स्वं भर्त्तारं पतिं

हे स्वामिन् ! आज आपके बिना मेरे जीने का कोई फल नहीं है क्योंकि पति से वियुक्त अत एव दीन स्त्री के प्राणधारण से क्या लाभ है ? ॥ १७७ ॥

वैधव्य से स्त्रियों का मानसिक तेज (तेजस्विता), (धनादि का) गर्व, उत्तम वंश में उत्पन्न होना, कुटुम्बियों का (अपने प्रति) आदरभाव और नौकर-चाकरों पर प्रभुत्व यह सब कुछ नष्ट हो जाता है ॥ १७८ ॥

अत्यन्त दुःखित पतिव्रता वह कपोती इस प्रकार बार-बार दीनतापूर्वक विलाप करके जलती हुई उसी अग्नि में प्रविष्ट हो गयी ॥ १७९ ॥

इसके अनन्तर उस कबूतरी ने दिव्य वस्त्र धारण कर और मनोहर आभूषणों से अलंकृत हो विमान में बैठे हुए अपने पति को देखा ॥ १८० ॥

त्रस्तोऽपि चौरोऽब्रवीत्—'को भवान् ?' इति। स आह—'सत्यवचनोऽहं ब्रह्मराक्षसः, भवान् अपि आत्मानं निवेदयितु।' सोऽब्रवीत्—'अहं क्रूरकर्मा चौरः, दरिद्रब्राह्मणस्य गोयुगं हर्तुं प्रस्थितोऽस्मि'। अथ जातप्रत्ययो राक्षसोऽब्रवीत्—'भद्र! षष्ठाह्नकालिकोऽहम्, अतः तमेव ब्राह्मणम् अद्य भक्षयिष्यामि, तत् सुन्दरमिदम्, एककार्यौ एव आवाम्।

अथ तौ तत्र गत्वा एकान्ते कालम् अन्वेषयन्तौ स्थितौ, प्रसुप्ते च ब्राह्मणे तद्भक्षणार्थं प्रस्थितं राक्षसं दृष्ट्वा चौरोऽब्रवीत्—भद्र! नैषः

अपचितस्नायुसन्ततिः—अपचिता—कृशत्वात् बहिर्निसृता, स्नायुसन्ततिः—धमनीसमूहो यस्य तथाभूतः। नतगात्रः—न्युब्जदेहः। शुष्ककपोलः—शीर्णगण्डः, कृशत्वादिति भावः। सुष्ठु हुतः—कृतहोमः, ऋत्विग्भिरिति शेषः, तथाविधः यः हुतवहः—अग्निः, तद्वत् सुहुतेति। पिङ्गलं—कपिशं, श्मश्रुकेशशरीरं यस्य तथाविधः। सत्यवचनः—यथार्थवाक्, सत्यं ब्रवीमि इत्यर्थः, अथवा तन्नाम्ना प्रसिद्धः। क्रूरकर्मा—निष्ठुरकार्यकारकः। जातप्रत्ययः—विश्वस्तः। षष्ठाह्नकालिकः—अह्नः षष्ठो भागः षष्ठाह्नः, षष्ठमहः इति विग्रहे 'राजाहःसखिभ्यः—' (पा० सू० ५।४।९१) इति टच्प्रत्ययः, ततः 'अह्नोऽह्नः एतेभ्यः' (पा० सू० ५।४।८८) इति अहन्शब्दस्याह्नादेशः। स एव कालः षष्ठाह्नकालः, तत्र भुङ्क्ते इति षष्ठाह्नकालिकः भुक्तचर्थे ठञ्प्रत्ययः। दिवसस्य षष्ठे यामार्द्धे एव कृतनियतभोजनः, दिवसम् अष्टभिः यामार्द्धैः विभज्य तस्य षष्ठे एव यामार्द्धे अपराह्णसमयरूपे यः सततमेव भुङ्क्ते तथाभूत इत्यर्थः, अपराह्णसमयस्यैव राक्षसानां भोजनकालत्वेनावधारितत्वात् इति निष्कर्षः। एककार्यौ—एकं—तुल्यं, द्वयोरेवापहरणकर्मणि नियुक्ततया एकविधमित्यर्थः, कार्यं—गोहरणब्राह्मणप्राणहरणरूपं कर्म इत्यर्थः, ययोस्तौ।

एकान्ते—निर्जने। कालं—समयम्, अवसरमिति यावत्। अन्वेषयन्तौ—

बहुत डर गया था तो भी बोला—'आप कौन हैं ?' उसने कहा—'मैं सत्यवचन नामक ब्रह्मराक्षस हूँ। आप भी अपना परिचय दें।' उसने कहा—'मैं कठोर कर्म करने वाला चोर हूँ। एक गरीब ब्राह्मण के दो बछड़े चुराने के लिए जा रहा हूँ।' तब विश्वस्त हो राक्षस ने कहा—'मेरा दिन के छठे भाग (अर्थात् सायङ्काल) में भोजन करने का नियम है। अतः आज उसी ब्राह्मण को खाऊँगा। इसलिए यह बहुत ही अच्छा हुआ कि (हम दोनों साथ ही चल रहे हैं क्योंकि) हम दोनों का कार्य भी समान ही है।

इसके बाद वे दोनों वहाँ ब्राह्मण के घर जाकर सुअवसर की प्रतीक्षा करते हुए एकान्त में खड़े हो गये। ब्राह्मण के सो जाने पर जब राक्षस उसे खाने चला, तब

न्यायः; यतो गोयुगे मया अपहृते पश्चात् त्वम् एनं ब्राह्मणं भक्षय।' सोऽब्रवीत्—'कदाचित् अयं ब्राह्मणो गोशब्देन बुध्येत, तदा अनर्थकोऽयं मम आरम्भः स्यात्।' चौरोऽपि अब्रवीत्—'तवापि यदि भक्षणाय उपस्थितस्य अन्तरे एकोऽपि अन्तराय स्यात्, तदाऽहमपि न शक्नोमि गोयुगम् अपहर्तुम्, अतः प्रथमं मया अपहृते गोयुगे पश्चात् त्वया ब्राह्मणो भक्षयितव्यः।' इत्थञ्च अहम्पूर्विकया तयोर्विवदतोः समुत्पन्ने द्वैधे प्रतिरववशात् ब्राह्मणो जजागार। अथ तं चौरोऽब्रवीत्—'ब्राह्मण! त्वामेव अयं राक्षसो भक्षयितुमिच्छति।' राक्षसोऽपि आह—'ब्राह्मण! चौरोऽयं गोयुगं ते अपहर्तुमिच्छति।' एवं श्रुत्वा उत्थाय ब्राह्मणः सावधानो भूत्वा इष्टदेवतामन्त्राध्यायेन आत्मानं राक्षसात्, उद्गूर्णलगुडेन च चौरात् गोयुगं ररक्ष। अतोऽहं ब्रवीमि—'शत्रवोऽपि हितायैव' इत्यादि।

अपेक्षमाणौ। न्यायः—नीतिः, औचित्यमिति यावत्। बुध्येत—जागृयात्। आरम्भः—उपक्रमः, अत्रागमनरूप इत्यर्थः। अन्तरे—मध्ये। अन्तरायः—विघ्नः। अहम्पूर्विकया—अहमेवाग्रे चोरयिष्यामि, अहमेवाग्रे भक्षयिष्यामि इत्येवंरूपयेत्यर्थः, 'अहं पूर्वमहं पूर्वमित्यहम्पूर्विका स्त्रियाम्' इत्यमरः। द्वैधे—द्वन्द्वे, कलहे इत्यर्थः। प्रतिरववशात्—प्रतिकूलशब्दस्य जायमानत्वात्, कलहजनितकलरवादित्यर्थः, हेत्वर्थे पञ्चमी। इष्टेति। इष्टायाः देवतायाः मन्त्राध्यायेन मन्त्रोच्चारणेन इत्यर्थः। उद्गूर्णलगुडेन—उद्गूर्णेन—उत्क्षिप्तेन, उद्यतेनेत्यर्थः, 'उद्गूर्णोद्यते' इत्यमरः। लगुडेन—दण्डेन।

चोर ने कहा—'यह उचित नहीं है, पहिले मैं जब बछड़ों को ले जाऊँ तब तुम इस ब्राह्मण को खाना।' उसने कहा—'अगर यह ब्राह्मण बछड़ों के स्वर से जाग गया तो मेरा यह उद्योग निष्फल हो जायगा।' चोर ने कहा—'तुम्हारे भी खाने के बीच में अगर कोई विघ्न उपस्थित हो गया तो मैं भी इन बछड़ों को नहीं चुरा सकता। इसलिए प्रथम मेरे बछडे ले जाने पर, बाद में तुम्हें ब्राह्मण को खाना चाहिये। इस प्रकार जब अहमहमिकापूर्वक जब वे विवाद करते हुए लड़ने लगे तब उनके शोर के कारण ब्राह्मण जाग गया। तब उससे चोर ने कहा—'हे ब्राह्मण! यह राक्षस तुम्हें ही खाना चाहता है।' राक्षस ने भी कहा—'हे ब्राह्मण! यह चोर तुम्हारे बछड़ों को चुराना चाहता है।' यह सुनकर ब्राह्मण उठ कर सावधान हो गया और उसने इष्टदेवता तथा मन्त्रों के ध्यान से अपने को राक्षस से बचा लिया तथा डण्डे से अपने बछड़ों को चोर से बचा लिया। इसलिए मैं कहता हूँ—'शत्रु भी हितकारी होते हैं'—इत्यादि।

अथ तस्य वचनम् अवधार्य अरिमर्दनः पुनरपि प्राकारकर्णम् अपृच्छत्—'कथय, किमत्र मन्यते भवान् ?' सोऽब्रवीत् —'देव ! अवध्य एवायं, यतो रक्षितेन अनेन कदाचित् परस्परप्रीत्या कालः सुखेन गच्छति । उक्तञ्च—

परस्पर मर्माणि ये न रक्षन्ति जन्तवः ।
त एव निधनं यान्ति वल्मीकोदरसर्पवत् ।। १९१ ।।

अरिमर्दनोऽब्रवीत्—'कथमेतत् ?' प्राकारकर्णः कथयति—

११ : वल्मीकोदरस्थसर्प कथा

'अस्ति कस्मिंश्चित् नगरे देवशक्तिर्नाम राजा, तस्य च पुत्रः जठराश्रयेण उरगेण प्रतिदिनं प्रत्यङ्गं क्षीयते, अनेकोपचारैः सद्वैद्यैः सच्छास्त्रोप-

---

परस्परस्येति । ये जन्तवः प्राणिनः, परस्परस्य अन्योन्यस्य, 'कर्मव्यतिहारे—' (वा०) इति परशब्दस्य द्वित्वे, 'असमासवद्भावे—' (वा०) इति सुत्वे च, कस्कादित्वात् विसर्गस्य सः । मर्माणि आन्तररहस्यानि, गोप्यविषयानित्यर्थः, न रक्षन्ति, त एव वल्मीकोदरसर्पवत् वल्मीकोदरयोः वल्मीके उदरे च स्थितौ सर्पौ इव, 'न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकताऽपि वा । उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम् ।' इति नियमात् अत्रोपमानोपमेययोः भिन्नवचनप्रयोगो न दोषायेति सुधीभिर्विभाव्यम् । निधनं यान्ति म्रियन्ते इत्यर्थः ।। १९१ ।।

[११]

(१) जठरेति । जठरमुदरमेव, आश्रयो यस्य तेन, उदरस्थेन इत्यर्थः । उरगेण—सर्पेण । प्रत्यङ्गं—प्रत्यवयवं, हस्तपादादिषु अवयवेषु इत्यर्थः, अङ्गमङ्गं प्रति इति विग्रहे वीप्साऽर्थे अव्ययीभावः । क्षीयते—क्षीणोभवति, कार्श्यमापद्यते इत्यर्थः, क्षीयते

उसके वचन को सुनकर अरिमर्दन ने फिर भी प्राकारकर्ण से पूँछा—'कहिए, इस विषय में आपका क्या मत है ?' उसने कहा—'देव ! यह अवध्य ही है क्योंकि यह सम्भव है कि कदाचित् इसकी रक्षा करने से आपस में प्रीतिपूर्वक समय व्यतीत होने लगे ।' कहा भी गया है—

जो प्राणी एक दूसरे की गोप्य बातों की रक्षा नहीं करते वे लोग ही वल्मीक के अन्दर में स्थित सर्पों के समान शीघ्र ही विनष्ट हो जाते हैं ।। १९१ ।।

अरिमर्दन ने पूँछा—'यह कैसे ?' प्राकारकर्ण ने कहा—

वल्मीकोदरस्थ साँप की कथा

किसी नगर में देवशक्ति नाम का राजा रहता था । उसके पुत्र के पेटरूपी बमई में एक साँप रहता था जिसके कारण उसका प्रतिदिन प्रत्येक अंग क्षीण होता

दिष्टौषधयुक्त्याऽपि चिकित्स्यमानो न स्वास्थ्यमाप्नोति। अथ असौ राजपुत्रः निर्वेदात् देशान्तरं गतः कस्मिंश्चित् नगरे भिक्षाऽटनं कृत्वा महति देवालये कालं यापयति।

अथ तत्र नगरे बलिर्नाम राजा आस्ते, तस्य च द्वे दुहितरौ यौवनस्थे तिष्ठतः, तौ च प्रतिदिवसमादित्योदये पितुः पादान्तिकमागत्य नमस्कार चक्रतुः। तत्र च एका अब्रवीत्—'विजयस्व महाराज! यस्य प्रसादात् सर्वं सुखं लभ्यते।' द्वितीया तु—'विहितं भुङ्क्ष्व महाराज!' इति ब्रवीति। तत् श्रुत्वा प्रकुपितो राजा अब्रवीत्—'भो मन्त्रिणः! एनां दुष्टभाषिणीं कुमारिकां कस्यचित् वैदेशिकस्य प्रयच्छत, येन निजविहितम् इयमेव भुङ्क्ते।' अथ 'तथा' इति प्रतिपद्य अल्पपरिवारा सा कुमारिका

इति पदं कर्मकर्त्तरि साधु, तथा च वामनः—क्षीयते इति कर्मकर्त्तरि' (५ अधि० २ अ० ५ सू०)। अनेकोपचारैः—नानाविधाभिः प्रक्रियाभिः। सद्वैद्यैः—सुचिकित्सकैः। सच्छास्त्रेति। सच्छास्त्रेषु—उत्कृष्टशास्त्रेषु, आयुर्वेदादिष्वित्यर्थः, उपदिष्टानि—निर्णीतानि, यानि ओषधानि—भेषजानि, तेषां युक्त्या—प्रयोगेण। निर्वेदात्—वैराग्यात्। भिक्षाऽटनं—भिक्षार्थं—पर्यटनम्।

(१) यौवनस्थे—युवत्यौ इत्यर्थः। पादान्तिकं—चरणसमीपम्। विहितं—स्वकर्मोपार्जितम्। दुष्टभाषिणीम्—अप्रियवादिनीम्। वैदेशिकस्य—विदेशे वसतीति ठक्, तस्य। विदेशीयजनस्य, सम्बन्धविवक्षया सम्प्रदाने षष्ठी। प्रयच्छत—प्रदत्त। निजविहितं—स्वकृतं, कर्मफलमिति भावः। प्रतिपद्य—स्वीकृत्य। अल्पपरिवारा—

जाता था। अच्छे वैद्यों द्वारा अनेक तरह से आयुर्वेदादि उत्तम शास्त्रों में निर्दिष्ट औषधियों का प्रयोग करके चिकित्सा किये जाने पर भी वह स्वस्थ न हुआ। तब वह राजपुत्र विरक्त हो दूसरे देश को चला गया। वह किसी नगर में भीख माँग कर एक बड़े मन्दिर में समय बिताने लगा।

उस शहर में बलि नाम का एक राजा रहता था। उसकी दो युवती पुत्रियाँ थीं। वे दोनों प्रतिदिन सूर्योदय के समय पिता के पास आकर प्रणाम किया करती थीं। उस समय उनमें से एक कहती थी—'हे महाराज! आपकी विजय हो, जिनकी कृपा से सब प्रकार का सुख मिलता है।' और दूसरी—'हे महाराज! अपने किये हुए को भोगो' कहा करती थी। यह सुनकर राजा क्रुद्ध होकर बोला—'हे मन्त्रियो! कटु भाषण करने वाली इस लड़की को किसी विदेशी को दे दो, जिससे यही अपने किये हुए को भोगे।' तब मन्त्रियों ने 'बहुत अच्छा' कह कर थोड़े से परिवार के साथ उस कुमारी को देवकुल

न्त्रिभिः तस्य देवकुलाश्रितराजपुत्रस्य प्रतिपादिता। सा अपि प्रहृष्ट-
ानसा तं पतिं देववत् प्रतिपद्य आदाय च अन्यविषयं गता।

ततः कस्मिंश्चित् दूरतरनगरप्रदेशे तडागतटे राजपुत्रम् आवासरक्षार्थे
ाहृत्य, स्वयञ्च घृततैललवणतण्डुलादिक्रयनिमित्तं सपरिवारा गता।
त्वा च क्रयविक्रयं यावत् आगच्छति, तावत् स राजपुत्रो वल्मीकोपरि
तमूर्द्धा प्रसुप्तः। तस्य च मुखात् भुजगः फणां निष्क्रम्य वायुमश्नाति।
त्र एव च वल्मीकेऽपरः सर्पो निष्क्रम्य तथा एव आसीत्। अथ तयोः
स्परदर्शनेन क्रोधसंरक्तलोचनयोः मध्यात् वल्मीकस्थेन सर्पेण उक्त—
ो भो दुरात्मन् ! कथं सुन्दरसर्वाङ्गं राजपुत्रमित्थं कदर्थयसि ?
ास्थोऽहिरब्रवीत्—'भो भोः ! त्वया अपि दुरात्मना अस्य वल्मीकस्य
ये कथमिदं दूषितं हाटकपूर्णं कलसयुगलम् ?' इति। एवं तौ परस्परस्य

मात्रानुचरी। देवेति। देवकुलं—देवभवनं देवालयमित्यर्थः, 'कुलं जनपदे गोत्रे...
। भवने च तनौ क्लीवम्' इति मेदिनी। आश्रितस्य—तत्रावस्थितस्य,
ीया श्रितातीत—' (पा० सू० २।१।२४) इति द्वितीयासमासः, राजपुत्रस्य।
ादिता—अर्पिता। प्रहृष्टमानसा—आनन्दितचित्ता। प्रतिपद्य—स्वीकृत्य,
ा इत्यर्थः।

(१) अन्यविषयं–भिन्नदेशं, देशान्तरमित्यर्थः, 'विषयो गोचरे देशे तथा जनपदेऽपि
इति मेदिनी। तडागतटे–जलाशयतीरे। निरूप्य–नियुज्य। कदर्थयसि–क्लेशयसि।
कपूर्णं–सुवर्णपूर्णम्, 'स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेम हाटकम्' इत्यमरः। कलसयुगलं–

हने वाले उस राजपुत्र को सौंप दिया। वह (कुमारी) भी प्रसन्न-चित्त
र उस पति को देवता के समान मानकर अपने साथ दूसरे देश को चली गयी।

वहाँ किसी अत्यन्त दूर शहर में तालाब के किनारे राजपुत्र को स्थान की रक्षा
के लिए नियुक्त कर स्वयं घी, तेल, नमक, चावल आदि खरीदने को परिवार
त गयी। जब वह खरीद बेचकर लौटी, उस समय वह राजपुत्र वमई
ीक) के ऊपर सिर रखकर सोया था और जठरस्थ सर्प उसके मुख से फन
लकर वायु-सेवन कर रहा था। उसी समय वल्मीक से दूसरा साँप निकल कर
तरह (वायु सेवन करने लगा)। एक दूसरे को देखने से उन दोनों के नेत्र लाल
के बीच वल्मीकस्थ सर्प ने कहा—'अरे दुष्ट ! सर्वाङ्गसुन्दर इस राजपुत्र को
रह क्यों पीड़ित करता है।' मुख-स्थित सर्प ने कहा—'रे दुरात्मन् ! तूने
स वल्मीक में रखे हुए और सुवर्ण से भरे हुए इन दो कलशों को क्यों दूषित कर

मर्माणि उद्घाटितवन्तौ। पुनः वल्मीकस्थोऽहिरब्रवीत्—'भो दुरात्मन्! भेषजमिदं ते किं कोऽपि न जानाति यत्, जीर्णोत्फालितकाञ्जिकराजिकापानेन भवान् विनाशम् उपयाति ?' अथ उदरस्थोऽहिरब्रवीत्—'तवापि एतत् भेषजं कश्चिदपि न वेत्ति यत्, उष्णतैलेन वा महोष्णोदकेन तव विनाशः स्यात् ?' इति।

एवञ्च सा राजकन्या विटपान्तरिता तयोः परस्परालापान् मर्ममयान् आकर्ण्य तथा एव अनुष्ठितवती, विधाय अव्यङ्गं नीरोगं भर्त्तारं निधिञ्च परमम् आसाद्य स्वदेशाभिमुखं प्रायात्। तत्र च पितृमातृस्वजनैः प्रतिपूजिता विहितोपभोगं प्राप्य सुखेन अवस्थिता। अतोऽहं ब्रवीमि—'परस्परस्य मर्माणि' इत्यादि।

कुम्भद्वयम्। मर्माणि—रहस्यानि इत्यर्थः। उद्घाटितवन्तौ—प्रकाशितवन्तौ। भेषजम्—औषधम्। जीर्णेति। जीर्णयोः—पुरातन्योः, उत्फालितयोः—आलोडितयोः, काञ्जिकराजिकयोः—काञ्जिकं—'काँजी' इति प्रसिद्धं, राजिका—राजसर्षपः, 'राइ' इति प्रसिद्धः तयोः पानेन, 'राजिकाऽपि च केदारे राजसर्षपरेखयोः' इति मेदिनी।

(१) विटपान्तरिता—वृक्षशाखाऽन्तरालस्थिता। मर्ममयान्—रहस्यपूर्णान् इत्यर्थः। अनुष्ठितवती—कृतवती सती। विधाय—कृत्वा। अव्यङ्गम्—अविगलिताङ्गं परिपुष्टशरीरमित्यर्थः। निधिं—वल्मीकाभ्यन्तरस्थितं सुवर्णपूर्णकलसम् इत्यर्थः। प्रतिपूजिता—प्रत्यभिनन्दिता, आदृता इत्यर्थः। विहितोपभोगं—भाग्यलब्धमैश्वर्यम्।

रखा है।' इस तरह उन दोनों ने एक दूसरे की गोप्य बातें प्रकाशित कर दीं। वल्मीक-स्थित साँप फिर कहने लगा—'अरे दुष्ट! क्या कोई भी तुम्हारी यह दवा नहीं जानता कि पुरानी और उबाली हुई कांजी के साथ राई पिलाने से तुम्हारा विनाश होता है।' इस पर पेट मे स्थित सर्प ने कहा—'क्या तुम्हारी भी इस दवा को कोई नहीं जानता कि खौलते हुए तेल या अत्यन्त गरम पानी से तुम्हारी मृत्यु होती है।'

पेड़ों की आड़ में छिपी हुई राजकन्या ने एक दूसरे के मर्म प्रकाशित करने वाली उनकी बातचीत सुनकर वैसा ही किया। इसके अनन्तर वह राजकन्या अपने पति को पूर्णाङ्ग और नीरोग करके तथा बहुत भारी खजाना पाकर अपने देश को चली गयी। तब माता-पिता और बन्धुगणों से सम्मानित होकर अपने कर्मफल को भोगती हुई वह सुख से रहने लगी। इसलिए मैं कहता हूँ—'जो एक दूसरे की गुप्त बातों की रक्षा नहीं करते' इत्यादि।

तच्च श्रुत्वा स्वयम् अरिमर्दनोऽपि एवं समर्थितवान्। तथा च अनुष्ठित दृष्ट्वा अन्तर्लीनं विहस्य रक्ताक्षः पुनरब्रवीत्—'कष्टम् ! विनाशितोऽयं भवद्भिः अन्यायेन स्वामी। उक्तञ्च—

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानाञ्च विमानना।
त्रीणि तत्र प्रवर्त्तन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम् ॥ १९२ ॥

तथा च—

प्रत्यक्षेऽपि कृते पापे मूर्खः साम्ना प्रशाम्यति।
रथकारः स्वकां भार्यां सजारां शिरसाऽवहत् ॥ १९३ ॥

---

(१) समर्थितवान्—शरणागतस्य शत्रोः रक्षणं कर्त्तव्यमिति स्थिरीचकार इत्यर्थः। अनुष्ठितम्—अनुष्ठानं, शरणागतं काकं रक्षितुं परिगृहीतं व्यापारमिति भावः। अन्तर्लीनम्—अन्तर्निगूढम्, अस्पष्टम् इत्यर्थः।

अपूज्या इति। यत्र देशे, अपूज्या अपूजनीयाः, पूजाऽनर्हा इत्यर्थः, नीचा इति यावत्, जनाः इति शेषः, पूज्यन्ते सत्क्रियन्ते, पूज्यानाञ्च पूजार्हाणाञ्च, विमानना अवमानना, क्रियते इति शेषः, तत्र दुर्भिक्षं भिक्षाऽभावः, शस्यहानिरिति यावत्, मरणं मृत्युः, भयञ्च, रोगादिजनितमिति भावः, नराणामिति शेषः, एतानि त्रीणि प्रवर्त्तन्ते सम्भवन्ति, 'प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः' इति स्मरणात् अकार्यकरणेन तस्मिन् राष्ट्रे नियतम् अमङ्गलमेव जायते इति भावः ॥ १९२ ॥

प्रत्यक्षे इति। मूर्खो बुद्धिहीनः, जनः इति शेषः, प्रत्यक्षे साक्षात्, पापे कृतेऽपि साम्ना सन्तोषजनकवाक्येनेत्यर्थः, पापकारिण इति शेषः, प्रशाम्यति प्रसीदति इत्यर्थः, तथा हि, रथकारः सूत्रधरः, सजारां सोपपतिकां, स्वकां निजां, 'स्वकाम्' इत्यत्र

यह सुनकर अरिमर्दन ने भी इसी (शरणागत की रक्षा के मन्तव्य) का ही अनुमोदन किया। जब रक्ताक्ष ने देखा कि ऐसा ही किया जा रहा है तब कुछ अन्दर ही अन्दर हँस कर कहा—'बड़े दुःख की बात है कि आप लोगों ने अनीतिपूर्वक हमारे प्रभु का विनाश कर दिया। कहा भी गया है—

जिस देश में दुर्जनों का आदर और सज्जनों का तिरस्कार किया जाता है वहाँ दुर्भिक्ष, मृत्यु और भय ये तीन प्रवृत्त होते हैं ॥ १९२ ॥

और भी—प्रत्यक्ष पाप करने पर भी मधुर-वचन से मूर्ख शान्त हो जाता है, जैसे रथकार ने (यार के साथ सोई हुई अपनी स्त्री को देखकर भी उसके प्रमाण पर विश्वास कर) जार के सहित अपनी स्त्री को शिर पर लेकर गाँव भर घुमाया ॥ १९३ ॥

मन्त्रिणः प्राहुः—'कथमेतत् ?' रक्ताक्षः कथयति—

१२ : रथकारभार्या कथा

अस्ति कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने वीरवरो नाम रथकारः, तस्य भार्या कामदमनी, सा च पुंश्चलीति जनापवादसंयुक्ता। सोऽपि तस्याः परीक्षणार्थं व्यचिन्तयत्—'अथ मया अस्याः परीक्षणं कर्त्तव्यम्। उक्तञ्च यतः—

यदि स्यात् पावकः शीतः प्रोष्णो वा शशलाञ्छनः।
स्त्रीणां तदा सतीत्वं स्यात् यदि स्यात् दुर्जनो हितः ॥ १९४ ॥

जानामि च एनां लोकवचनात् असतीम्। उक्तञ्च—

'भस्त्रैषा०' (पा० सू० ७।३।४७) इति सूत्रेण वैकल्पिके इकारे कृते 'स्विकाम्' इत्यपि भवति, भार्या शिरसा अवहत् वहति स्म ॥ १९३ ॥

[१२]

(१) पुंश्चली—असती, परपुरुषगामिनीत्यर्थः, भ्रष्टा इति यावत्, 'पुंश्चली धर्षिणी बन्धक्यसती कुलटेत्वरी' इत्यमरः (२.६.१०)। जनापवादसंयुक्ता—लोकनिन्दायुता।

यदीति। यदि पावकः अग्निः, शीतः शीतलः,वा अथवा, शशलाञ्छनः चन्द्रः, प्रोष्णः प्रकर्षेण उष्णः, स्यात्, यदि दुर्जनः हितः हितकरः, सुजनः इत्यर्थः, स्यात्, तदा स्त्रीणां सतीत्वं स्यात्, यथा एते असम्भवाः भावाः कदाचिदपि न सम्भवन्ति, तथा नारीणामपि सतीत्वं न सम्भवति इति निष्कर्षः, चपलाः स्त्रियः प्रायेणासत्य इति भावः ॥ १९४ ॥

मन्त्रियों ने पूँछा—'यह कैसे ?' रक्ताक्ष ने कहा—

रथकार के स्त्री की कथा

किसी नगर में वीरवर नामक एक रथकार (बढ़ई) रहता था। उसकी कामदमनी नाम की (अत्यन्त कामासक्त) स्त्री थी और वह बहुत व्यभिचारिणी थी, अतः (गाँव भर में) उसकी निन्दा हो चुकी थी। उस वीरवर ने भी उसकी परीक्षा लेने का विचार किया—(यह बात झूठ है या सच) 'इसकी परीक्षा मुझे करनी चाहिए। क्योंकि कहा भी गया है—

यदि अग्नि ठण्डी हो अथवा चन्द्रमा गर्म हो जायँ और दुर्जन हितकारी बन जायँ तो कदाचित् स्त्रियाँ भी सती हो सकती हैं ॥ १९४ ॥

लोगों के कथनानुसार इसके व्यभिचारिणी होने की बात से तो मैं अवगत ही हूँ। कहा भी गया है—

यच्च वेदेषु शास्त्रेषु न दृष्टं न च संश्रुतम् ।
तत् सर्वं वेत्ति लोकोऽयं यत् स्यात् ब्रह्माण्डमध्यगम् ॥ १९५ ॥

एवं सम्प्रधार्य भार्याम् अवोचत्— 'प्रिये ! प्रभातेऽहं ग्रामान्तरं यास्यामि, तत्र कतिचिद्दिनानि लगिष्यन्ति, तत् त्वया किमपि पाथेयं मम योग्यं विधेयम् ।' साऽपि तद्वचनं श्रुत्वा हर्षितचित्ता, औत्सुक्यात् सर्वकार्याणि सन्त्यज्य, सिद्धमन्नं घृतशर्कराप्रायमकरोत् । अथवा साधु इदमुच्यते --

दुर्दिवसे घनतिमिरे वर्षति जलदे महाऽटवीप्रभृतौ ।
पत्युर्विदेशगमने परमसुखं जघनचपलायाः ॥ १९६ ॥

यच्चेति । वेदेषु सामादिषु, शास्त्रेषु पुराणादिषु, च यत् न दृष्टं, न च संश्रुतं, ब्रह्माण्डमध्यगं जगतीस्थं, यत् स्यात्, अयं लोकः सांसारिकजनः तत् सर्वं वेत्ति जानाति, लोकेषु किमपि गुप्तं न तिष्ठति इति भावः, अतः सर्वविदां तेषां वाक्यस्य नावज्ञेयतया परीक्षणमवश्यमेव विधेयमित्याशयः ॥ १९५ ॥

(१) हर्षितेत्यत्र तारकादित्वादितच् । औत्सुक्यात्—उत्कण्ठावशात्, उपनाय-कार्थमिति भावः । घृतशर्कराप्रायं—घृतमिश्रितशर्कराबहुलम् ।

दुर्दिवसे इति । घनतिमिरे सान्द्रतमसि, गाढान्धकारे इत्यर्थः, दुर्दिवसे मेघाच्छन्न-दिने, जलदे मेघे, वर्षति, महाऽटवीप्रभृतौ महाऽरण्यप्रभृतिप्रदेशे, तथा पत्युर्विदेशगमने जघनचपलायाः कामुक्याः, भ्रष्टाया इत्यर्थः, परमसुखं महती प्रीतिः, भवतीति शेषः, दुर्दिनादौ च अन्यैः ज्ञातुमशक्यत्वात्, पत्युर्विदेशगमने च गृहेऽपि सर्वथा विघ्नाभावा-दिति भावः । जघनचपलानाम आर्या वृत्तम् ॥ १९६ ॥

जो बातें वेदों और शास्त्रों में भी नहीं देखी गईं और न सुनी गईं उन सब बातों को लोग जान लेते हैं चाहे वे विश्व के किसी कोने में भी क्यों न हुई हों ॥ १९५ ॥

इस प्रकार विचार कर उसने अपनी स्त्री से कहा—'हे प्रिये ! कल प्रातःकाल मैं दूसरे गाँव को जाऊँगा । वहाँ मुझे कुछ दिन लगेंगे । इसलिए तुम कुछ मेरे योग्य मार्ग का भोजन बना दो ।' वह (व्यभिचारिणी स्त्री) भी उसके वचन को सुनकर प्रसन्न हुई और उसने अत्यन्त उत्सुकता से सब गृहकार्य को छोड़कर, घी और चीनी डाल कर उत्तम पक्वान्न (मालपूआ आदि) बना दिया ।

अथवा यह ठीक ही कहा गया है-

जब दिन मेघाच्छन्न हो, अन्धकार छा गया हो, मेघ घनघोर बरस रहा हो, घोर वन हो (शून्य स्थान और गृह हो) अथवा पति परदेश गया हो तब व्यभि-चारिणी स्त्रियों को अत्यन्त आनन्द का अनुभव होता है ॥ १९६ ॥

अथ असौ प्रत्यूषे उत्थाय स्वगृहात् निर्गतः। साऽपि तं प्रस्थितं विज्ञाय प्रहसितवदना अङ्गसंस्कारं कुर्वाणा कथञ्चित् तद्दिवसम् अत्यवाहयत्। अथ पूर्वपरिचितविटगृहे गत्वा तं प्रत्युक्तवती—'स दुरात्मा मे पतिर्ग्रामान्तरं गतः, तत् त्वया अस्मद्गृहे प्रसुप्ते जने समागन्तव्यम्।' तथाऽनुष्ठिते, स रथकारोऽरण्ये दिनम् अतिवाह्य, प्रदोषे स्वगृहे अपरद्वारेण प्रविश्य शय्याऽधस्तले निभृतो भूत्वा स्थितः। एतस्मिन्नन्तरे सः देवदत्तः समागत्य तत्र शरणे उपविष्टः। तं दृष्ट्वा रोषाविष्टचित्तो रथकारो व्यचिन्तयत्—'किम् एनम् उत्थाय हन्मि? अथवा हेलया एव प्रसुप्तौ द्वौ अपि एतौ व्यापादयामि? परं पश्यामि तावदस्याः चेष्टितं, शृणोमि च अनेन सह आलापान्।' अत्रान्तरे सा गृहद्वारं निभृतं पिधाय शयनतलम्

(१) अङ्गसंस्कारं—शरीरशोधनपूर्वकमङ्गरागादिधारणम्। अत्यवाहयत्—यापयामास। पूर्वेति। पूर्वपरिचितस्य—प्राक् संस्तुतस्य, 'संस्तवः स्यात् परिचयः' इत्यमरः। विटस्य—जारस्य इत्यर्थः, गृहे। तथाऽनुष्ठिते—तथा—तादृशे व्यापारे, जारसङ्केतरूपे इत्यर्थः, अनुष्ठिते—कृते, व्यवस्थापिते इति भावः, तथा कुलटयेति शेषः। अतिवाह्य गमयित्वा, प्रदोषे रजनीमुखे। अपरद्वारेण—पक्षद्वारेण इत्यर्थः, खिड़की इति हिन्दीभाषया प्रसिद्धेन। निभृतः—प्रच्छन्न इत्यर्थः। देवदत्तः—तदाख्यो विटः। शरणे—गृहे 'शरणं गृहरक्षित्रोर्बधरक्षणयोरपि' इति मेदिनी। हेलया—अनायासेन, प्रसुप्तत्वादिति भावः। चेष्टितं—व्यवहारम्। सा—रथकारजाया। निभृतं—बद्धमित्यर्थः।

दूसरे दिन प्रातःकाल वह (रथकार) उठकर अपने घर से निकल गया। वह भी पति को परदेश गया समझकर हँसती हुई स्नान और शृङ्गार से शरीर सजाकर किसी प्रकार दिन व्यतीत किया। उसके बाद (शाम को) अपने पूर्व परिचित यार के पास जाकर उससे कहा—'वह मेरा दुष्ट पति अन्य ग्राम को चला गया है। इसलिये सब के सो जाने पर (रात में चुपचाप) हमारे घर आ जाना।' यह कह कर वह अपने घर लौट आयी। वह रथकार भी वन में दिन बिताकर सायंकाल अपने घर के पीछे खिड़की से घुस कर खटिया के नीचे छिपकर चुपचाप बैठ गया। इसी बीच (उस स्त्री का जार) देवदत्त भी आकर उसी शय्या पर बैठ गया। उसे देखकर रथकार ने अत्यन्त क्रोधित होते हुए विचार किया—'क्या मैं उठकर इस (दुष्ट) को अभी मार डालूँ? अथवा जब ये दोनों सो जायें तब उठकर एक साथ दोनों को मारें। किन्तु इसकी चेष्टा को देख लूँ और इसके साथ किस प्रकार बातचीत करती है उसे भी सुन लूँ।' इसी समय उसकी वह स्त्री गृह का द्वार

आरूढा।

अथ तस्याः तत्र आरोहन्त्या रथकारशरीरे पादो विलग्नः। ततः सा व्यचिन्तयत्—नूनम् एतेन दुरात्मना रथकारेण मत्परीक्षणार्थं भाव्यम्, ततः स्त्रीचरित्रविज्ञानं किमपि करोमि।' एवं तस्याः चिन्तयन्त्याः स देवदत्तः स्पर्शोत्सुको बभूव। अथ तया कृताञ्जलिपुटया अभिहितम्—'भो महानुभव! न मे शरीरं त्वया स्पर्शनीयम्, यतोऽहं पतिव्रता महासती च न चेत्, शापं दत्त्वा त्वां भस्मसात् करिष्यामि।' स आह—'यदि एवं तर्हि त्वया किमहम् आहूतः?' सा अब्रवीत्—'भोः! शृणुष्व एकाग्रमनाः, अहमद्य प्रत्यूषे देवतादर्शनार्थं चण्डिकाऽऽयतनं गता, तत्र अकस्मात् खे वाणी सञ्जाता, 'पुत्रि! किं करोमि? भक्ताऽसि मे त्वं, परं षण्मासाभ्यन्तरे विधिनियोगात् विधवा भविष्यसि।' ततो मया अभिहितम्—'भगवति! यथा त्वम् आपदं वेत्सि तथा तत्प्रतीकारमपि जानासि तत् अस्ति कश्चित् उपायः, येन मे पतिः शतसंवत्सरजीवी भवति?' ततः तया अभिहितम्—

(१) भाव्यं—भवितव्यम्। स्त्रीचरित्रविज्ञानम्—स्त्रीणां चरित्रस्य विज्ञानं—विशेषेण ज्ञानं, ज्ञानोपायम् इत्यर्थः, अशिक्षितपटूनां स्त्रीणां कालोचितस्वाभाविकबुद्धिविकाशस्य किञ्चित् परिचयमस्मै ददामीति यावत्। कृताञ्जलिपुटया—कृतः अञ्जलिपुटः—बद्धकरः यया तया, हस्तयुग्ममेकीकृत्य इत्यर्थः, 'द्वौ युतावञ्जलिः पुमान्' इत्यमरः। चण्डिकाऽऽयतनं चण्डीमन्दिरम्। खे वाणी—आकाशवाणी इत्यर्थः। विधिनियो-

धीरे से बन्द कर जार के सोये हुए शय्या पर आकर बैठ गई।

जब वह व्यभिचारिणी शय्या पर बैठ रही थी तब उसका पैर रथकार के शरीर से लग गया। तब उसने सोचा—'निश्चय ही इस दुष्ट रथकार ने मेरी परीक्षा ली है। इसलिए मैं भी स्त्री-चरित्र की विशेषता दिखाती हूँ।' अभी वह स्त्री इस प्रकार की चिन्ता कर ही रही थी कि उसका जार देवदत्त आलिङ्गनादि करने को उत्सुक हुआ। तब उस (रथकार) की स्त्री ने हाथ जोड़कर कहा—'हे महानुभाव! मेरे शरीर को मत छूओ, क्योंकि मैं पतिव्रता और सच्ची सती स्त्री हूँ। यदि हठ से तुम छूओगे तो मैं शाप देकर तुम्हें भस्म कर दूँगी। वह (जार) बोला—'यदि ऐसा ही करना था तो मुझे क्यों बुलाया?' वह बोली—'मेरी बात एकाग्र मन होकर सुनो। आज मैं सवेरे चण्डिका देवी के दर्शन के लिए गयी हुई थी। वहाँ एकाएक यह भविष्यवाणी हुई—'हे पुत्रि! मैं तुमसे क्या कहूँ? तुम मेरी बहुत भक्त हो, परन्तु दैववशात् छः महीने के अन्दर ही तुम विधवा हो जाओगी।' इसके बाद मैंने देवी से कहा—'हे भगवति! जैसे आप आने वाली विपत्ति को जानती हैं वैसे इस विपत्ति

'वत्से ! सन्नपि नास्ति, यतः तव आयत्तः स प्रतीकारः।' तत् श्रुत्वा मया अभिहितम्—'देवि ! यदि तत् मम प्राणैर्भवति, तत् आदिश, येन करोमि।' अथ देव्या अभिहितम्—'यदि अद्य दिने परपुरुषेण सह एकस्मिन् शयने समारुह्य आलिङ्गनं करोषि, तत् तव भर्तृसक्तोऽपमृत्युः तस्य सञ्चरति, भर्त्ताऽपि पुनः वर्षशतं जीवति।' तेन त्वं मया अभ्यर्थितः, तत् यत् किञ्चित् कर्त्तुमनाः तत् कुरुष्व, न हि देवतावचनम् अन्यथा भविष्यति इति निश्चयः।' ततः अन्तर्हासविकाशमुखः सः तदुचितम् आचचार। सोऽपि रथकारो मूर्खः तस्याः तद्वचनमाकर्ण्य पुलकाङ्कितततनुः शय्याऽधस्तलात् निष्क्रम्य तामुवाच—'साधु पतिव्रते ! साधु कुलनन्दिनि ! अहं दुर्जनवचनशङ्कितहृदयः त्वत्परीक्षानिमित्तं ग्रामान्तरव्याजं कृत्वा अत्र खट्वा-

---

गात्—दैवनिर्बन्धात्। सन् अपि—विद्यमानोऽपि, प्रतीकार इति शेषः। आयत्तः—अधीनः। भर्तृसक्तः—पतिगतः पत्यौ अवश्यमेव समापतिष्यन् इत्यर्थः। तस्य—परपुरुषस्य, सञ्चरति—समापतति संलगति इत्यर्थः, तव भर्तुरपमृत्युस्तस्मिन् परपुरुषे सङ्क्रामति इति भावः। अभ्यर्थितः—याचितः। अन्तर्हासेति—प्रच्छन्नहास्येन प्रफुल्लवदनः, स्मेरानन इत्यर्थः। पुलकाङ्कितततनुः। पुलकैः—रोमाञ्चैः, अङ्किता—चिह्निता, व्याप्ता इत्यर्थः, तनुः—शरीरं यस्य तथाभूतः, कण्टकितकलेवर इत्यर्थः। कुलनन्दिनि—वंशानन्ददायिनि ! सत्कुलप्रसूते ! इत्यर्थो वा। दुर्जनेति—दुष्टजनवाक्येन

का प्रतीकार भी अवश्य जानती हैं। क्या कोई ऐसा उपाय है कि जिससे मेरे पति सौ वर्ष तक जीते रहें ?' मेरी इस प्रार्थना पर उन्होंने कहा—'हे पुत्रि ! उपाय है किन्तु वह नहीं के समान है। क्योंकि वह तुम्हारे ही अधीन है।' यह सुनकर मैंने कहा—'हे देवि ! उपाय है तो उसे मुझसे अवश्य कहिए। मैं उसे प्राणों के परित्याग से साध्य होने पर भी करूँगी। तब देवी ने कहा—'यदि आज पर-पुरुष के साथ एक ही शय्या पर बैठ कर आलिङ्गनादि करोगी तो तुम्हारे पति में आसक्त अपमृत्यु उसमें सञ्चरित हो जायेगी। तुम्हारे पति इस प्रकार सौ वर्ष तक जीवित रहेंगे। इसलिए मैंने तुम्हें बुलाया है। अब तुम्हें जो इच्छा हो उसे करो। देवी का वचन कभी भी अन्यथा नहीं हो सकता है—यह मेरा निश्चय है। तब उस जार पति ने स्त्री का चरित्र जानकर मन ही मन हँसते हुए प्रसन्नतापूर्वक (आलिङ्गन चुम्बन आदि) कार्य किया। वह मूर्ख रथकार स्त्रीचातुरी से युक्त वचन सुनकर रोमाञ्चित होते हुए शय्या के नीचे से निकल कर उस (व्यभिचारिणी स्त्री) से बोला—'हे पतिव्रते ! तुम धन्य हो ! कुल को आनन्द देने वाली ! तुम धन्य हो ! मैं दुष्ट के वचनों से शङ्कित होकर तुम्हारी परीक्षा करने के लिए परदेश

ऽधस्तले निभृतं लीनः, तत् एहि, आलिङ्गय माम्, त्वं स्वभर्तृभक्तानां मुख्या नारीणां, यत् एव ब्रह्मव्रत परसङ्गेऽपि पालितवती, मदायुर्वृद्धिकृते अपमृत्युविनाशार्थञ्च त्वमेवं कृतवती।' तामेवमुक्त्वा सस्नेहम् आलिङ्गितवान्, ततः स्वस्कन्धे ताम् आरोप्य, तमपि देवदत्तम् उवाच—'भो महाऽनुभव! मत्पुण्यैः त्वमिह आगतः; त्वत्प्रसादात् मया प्राप्त वर्षशत-प्रमाणमायुः, तत् त्वमपि माम् आलिङ्गय मत्स्कन्धे समारोह।' इति जल्पन् अनिच्छन्तमपि देवदत्तमालिङ्गय बलात् स्वकीयस्कन्धे आरोपितवान्। ततश्च नृत्यं कृत्वा—हे ब्रह्मव्रतधराणां धुरीण! त्वयाऽपि मयि उपकृतम्' इत्यादि उक्त्वा स्कन्धात् उत्तार्य, यत्र यत्र स्वजनगृहद्वारादिषु बभ्राम, तत्र तत्र तयोः उभयोरपि तद्गुणवर्णनम् अकरोत्। अतोऽहं ब्रवीमि—'प्रत्यक्षेऽपि कृते पापे' इत्यादि।

सन्दिग्धचित्तः। ग्रामान्तरव्याजं—ग्रामान्तरगमनरूपं छलम्। निभृतं—प्रच्छन्नं। लीनः—स्थितः। स्वभर्तृभक्तानां—पतिपरायणानाम्। मुख्या—श्रेष्ठा। ब्रह्मव्रतं—तपोरूपनियमम्, यद्वा—ब्रह्मव्रताख्यव्रतविशेषतुल्यं कष्टसाध्यं नियमविशेषमित्यर्थः, यथोक्तं पद्मपुराणे—ब्रह्माणं काञ्चनं कृत्वा तिलराशिसमन्वितम्। ......॥ सम्पूज्य विप्रदं दम्पत्यं माल्यवस्त्रविभूषितम्। ......॥ एतद्ब्रह्मव्रतं नाम निर्वाणफलदं नृणाम्॥' इति। परसङ्गे—परपुरुषसहवासे। पालितवती—रक्षितवती। मदिति। मम आयुषः वृद्धिकृते—मदीयजीवनकालवर्द्धनाय इत्यर्थः। धुरीण!—अग्रणीः।

जाने का छल कर शय्या के नीचे छिपा हुआ था। इसलिए आओ, मुझे आलिङ्गन करो। तुम अपने पति में भक्ति रखने वाली स्त्रियों में मुख्य हो क्योंकि दूसरे के साथ एक शय्या पर सोकर भी तुमने अपने पातिव्रत धर्म का पालन किया है। मेरी अकालमृत्यु का नाश और आयु की वृद्धि के लिए तुमने यह कठिन (पर-पुरुष से आलिङ्गन आदि) काम किया है।' ऐसा कह कर उस मूर्ख ने प्रेमपूर्वक उसका आलिङ्गन कर लिया। अपने कन्धे पर अपनी व्यभिचारिणि स्त्री को लेकर उस देवदत्त (जार) से कहा—'हे महानुभाव! मेरे भाग्य से आप यहाँ आये हैं। आपके प्रसाद से ही मैंने सौ वर्ष का जीवन प्राप्त किया है। इसलिए आप भी मुझे आलिगन कर मेरे कन्धे पर बैठें।' यह कहते हुए इच्छा नहीं करने वाले देवदत्त को आलिंगन करके जबर्दस्ती कन्धे पर बिठा लिया। तब नाच कर 'हे ब्रह्मव्रत अर्थात् परोपकार व्रत धारण करने वालों में श्रेष्ठ! आपने भी मेरा उपकार किया है' यह कह कर कन्धे से उतार कर जहाँ-जहाँ अपने स्वजनों के घर के दरवाजे पर गया वहाँ-वहाँ उन

तत् सर्वथा मूलोत्खाता वयं विनष्टाः स्मः। सुष्ठु खलु इदमुच्यते—

मित्ररूपा हि रिपवः सम्भाव्यन्ते विचक्षणैः।
ये हितं वाक्यमुत्सृज्य विपरीतोपसेविनः ॥ १९७ ॥

तथा च—

सन्तोऽप्यर्था विनश्यन्ति देशकालविरोधिनः।
अप्राज्ञान् मन्त्रिणः प्राप्य तमः सूर्योदये यथा ॥ १९८ ॥

ततः तद्वचोऽनादृत्य सर्वे ते स्थिरजीविनम् उत्क्षिप्य स्वदुर्गमानेतु-

---

(१) मूलोत्खाताः—मूलम् उत्खातम्—उन्मिलितं येषां ते तथोक्ताः, मूलेन सह उन्मिलिताः इत्यर्थः।

मित्रेति। ये जनाः, हितं हितकरं, वाक्यं वचनम्, उत्सृज्य परित्यज्य, अनभिधाय इत्यर्थः, विपरीतोपसेविनः विपरीतम् अहितम्, उपसेवन्ते अभिदधति इति तथोक्ताः, भवन्तीति शेषः, अन्यायमुपदिशन्ति इत्यर्थः, विचक्षणैः विद्वद्भिः, ते मित्ररूपा बन्धुरूपधारिणः, रिपवः हि शत्रवः एव, सम्भाव्यन्ते मन्यन्ते, अहितोपदेष्टार एव शत्रवः, हितोपदेष्टार एव मित्राणीति फलितम् ॥ १९७ ॥

सन्त इति। सूर्योदये तमः यथा अन्धकारमिव, अन्धकारं यथा विनश्यति, तथा इत्यर्थः, देशकालविरोधिनः, यस्मिन् देशे काले वा यत्कर्त्तव्यं, तद्विपरीतमाचरतः, देशकालविरुद्धबुद्धिमित्यर्थः, अत एव अप्राज्ञान् अविचक्षणान्, मूर्खानित्यर्थः, मन्त्रिणः प्राप्य लब्ध्वा, तद्वशमागत्य इत्यर्थः, सन्तोऽपि समीचीनाः अपि, अव्यर्थफलप्रसवोन्मुखा अपीत्यर्थः, अर्था वस्तूनि, राज्ञ इति शेषः, विनश्यन्ति विनाशं यान्ति, मन्त्रिबुद्धिकौशलमेव कार्यसिद्धौ हेतुरिति भावः ॥ १९८ ॥

दोनों का गुणकीर्तन करता रहा। इसलिए मैं कहता हूँ कि– 'प्रत्यक्ष पाप करने पर भी' इत्यादि।

इसलिए (आपलोगों की मूर्खता से) हम सब मूल से ही नष्ट हो जायेंगे। यह ठीक ही कहा गया है–

जो मनुष्य हितवचन न कहकर अहित का उपदेश करते हैं। (अथवा जो मनुष्य भलाई की बात पर ध्यान न देकर उसके विपरीत ही आचरण करते हैं।) विज्ञ पुरुष निश्चय ही उनको मित्ररूपधारी शत्रु समझते हैं ॥ १९७ ॥

राजनीति में दुर्बुद्धि (अपटु) मन्त्रियों को पाकर देश और काल के विरुद्ध आचरण करने वाले राजा के विद्यमान भी अर्थ (धनादि पदार्थ) उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे कि सूर्योदय होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है ॥ १९८ ॥

मारब्धाः।

अथ आनीयमानः स्थिरजीवी आह—'देव ! अद्य अकिञ्चित्करेण एतदवस्थेन किं मया उपसङ्गृहीतेन ? यत्कारणमिच्छामि दीप्तं वह्निमनुवेष्टुम, तत् अर्हसि मामग्निप्रदानेन समुद्धर्त्तुम्।' अथ रक्ताक्षः तस्य अन्तर्गतभावं ज्ञात्वा अब्रवीत्—किमर्थम् अग्निपतनमिच्छसि ?' सोऽब्रवीत्—'अहं तावत् युष्मदर्थे इमाम् आपदं मेघवर्णेन प्रापितः, तदिच्छामि तेषां वैरयातनार्थम् उलूकत्वम्' इति। तच्च श्रुत्वा राजनीतिकुशलो रक्ताक्षः प्राह—'भद्र ! कुटिलस्त्वं, कृतकवचनचतुरश्च, उलूकयोनित्वाभावेऽपि तव स्वकीया एव वायसयोनिः श्लाघ्या। श्रूयते च एतत् आख्यानकम्—

सूर्यं भर्त्तारमुत्सृज्य पर्जन्यं मारुतं गिरिम्।
स्वजातिं मूषिका प्राप्ता स्वजातिर्दुरतिक्रमा ॥ १३१ ॥

---

(१) उत्क्षिप्य—उत्तोल्य। अकिञ्चित्करेण—किमपि कर्तुमक्षमेण इत्यर्थः। एतदवस्थेन—एतामवस्थां प्राप्तेन। उपसङ्गृहीतेन—सयत्नं गृहीतेन। यत्कारणं—यदक्षमताहेतोरित्यर्थः। दीप्तं—प्रज्ज्वलितम्। अनुवेष्टुं—प्रवेष्टुम्। समुद्धर्त्तुं—सम्यक् परित्रातुम् इत्यर्थः, मरणे सर्वयन्त्रणानिवारणादिति भावः। तदिति। तत्—अत एव, उलूकत्वं—पेचकत्वम्, इच्छामि—अभिलषामि, मृतः सन् उलूकीभूय स्ववैरिणः निर्यातयितुमभिलषामि इत्यर्थः। कृतकवचनचतुरः—कृत्रिमवाक्यविन्यासपटुः चाटुवचनरचनानिपुण इत्यर्थः। आख्यानकम्—इतिवृत्तम्।

इसके अनन्तर उस (रक्ताक्ष) की बात न मानकर वे सब स्थिरजीवी को उठा कर अपने दुर्ग में लाने लगे।

तब लाये जाते हुए स्थिरजीवी ने कहा—'हे देव ! आज इस अवस्था में पड़ा हुआ मैं कुछ भी (आप की भलाई) नहीं कर सकता। फिर मेरे संग्रह करने से आप को क्या लाभ ? इसलिए जलती हुई अग्नि में प्रवेश करना चाहता हूँ—मरना चाहता हूँ। इसलिए अग्निप्रदान करके (भस्म करके) मुझे (दुःखों से) छुड़ाइये। तब रक्ताक्ष उसके आन्तरिक भावों को समझ कर बोला—'किसलिए अग्नि में गिरना चाहता है।' उसने कहा—'आप लोगों के कारण ही मेघवर्ण ने मेरी यह दशा की है। इसलिए उससे अपने वैर का बदला लेने के लिए मैं उलूक होना चाहता हूँ।' यह सुन कर राजनीति-कुशल रक्ताक्ष ने कहा—'भद्र ! तुम कुटिल तथा बनावटी बातों के कहने में बड़े चतुर हो, तुम उलूक योनि को प्राप्त होकर भी अपनी वायस-जाति का ही आदर करोगे। इस विषय में यह उपाख्यान सुना जाता है—

एक मूषिका अर्थात् चुहिया सूर्य, मेघ, वायु और पर्वत को पति न बनाकर

मन्त्रिणः प्रोचुः—'कथमेतत् ?' रक्ताक्षः कथयति—

१३ : मूषिकाविवाह कथा

अस्ति विषमशिलातल-स्खलिताम्बुनिर्घोष-श्रवणसन्त्रस्तमत्स्यपरिवर्त्तन-सञ्जनितश्वेतफेनशबलतरङ्गाया गङ्गायाः तटे जपनियमतपः स्वाध्यायोपवासयोगक्रियानुष्ठानपरायणैः परिपूतपरिमितजलजिघृक्षुभिः कन्दमूल-

---

सूर्यमिति । मूषिका उन्दुरी, सूर्यं पर्जन्यं मेघं, मारुतं वायुं, गिरिं पर्वतं, भर्त्तारं, पतिम्, उत्सृज्य विहाय, स्वजातिं निजजातीयं, भर्त्तारमित्यनुषङ्गः, प्राप्ता, यतः स्वजातिः दुरतिक्रमा दुस्त्यजा, नैव स्वजात्यनुरागस्त्यक्तुं शक्यते इत्यर्थः ॥ १९९ ॥

[१३]

(१) विषमेति । विषमेषु—उन्नताऽऽनतेषु, शिलातलेषु—उपलखण्डेषु, स्खलितानां—पतितानां, प्रतिहतानामित्यर्थः, अम्बूनां—जलानां, निर्घोषस्य—कलकलरवस्य, श्रवणात्, सन्त्रस्ताः—सम्यक् भीताः, ये मत्स्याः, तेषां यत् परिवर्त्तनम्—उद्रस्कणप्रोल्लोठनरूपमित्यर्थः, तेन सञ्जनिताः—जाताः, ये श्वेताः—शुक्लाः, फेनाः—हिण्डीराः, तैः शबलाः—चित्रिताः, मिश्रिता इत्यर्थः, तरङ्गा यस्याः तथाभूतायाः । जपेति । जपः—निःशब्दमसकृत मन्त्रोच्चारणं, नियमः—इन्द्रियनिग्रहः, तपः—चान्द्रायणादि, स्वाध्यायः—वेदपाठः, उपवासः—अहोरात्राभोजनरूपः, अनशनमित्यर्थः, योगः—समाधिः, जीवब्रह्मणोरैक्यचिन्तनमित्यर्थः, क्रिया—होमादिका, एतासाम् अनुष्ठानम्—आचरणम्, परं—श्रेष्ठम्, एकमात्रमिति यावत्, अयनम्—आश्रयः, कर्त्तव्यमित्यर्थः, येषां तैः, जपादिषु एकान्तासक्तैरित्यर्थः । परिपूतेति । परिपूतानि—विशुद्धानि, पवित्रताकराणि इत्यर्थः, परिमितानि—अल्पानि, जलानि—

अपनी जाति को प्राप्त हुई, क्योंकि अपनी जाति का छोड़ना अत्यन्त कठिन होता है ॥ १९९ ॥

मन्त्रियों ने पूँछा—'यह कैसे ?' रक्ताक्ष ने कहा—

चुहिया के विवाह की कथा

विषम शिलाखण्डों से गिरने वाले जलप्रवाह से उत्पन्न हुए निर्घोष को सुनकर भयभीत हो उठने वाली मछलियों के उलटने-पलटने से निष्पन्न श्वेत फेनों द्वारा विचित्रवर्ण वाली तरङ्गों से युक्त गङ्गा के तट पर जप, नियम, तप, स्वाध्याय, उपवास एवं योग क्रियाओं में लगे हुए पवित्र परिमित जल को पीकर और कन्द,

फलशैवालाभ्यवहारकदर्थितशरीरैः वल्कलकृतकौपीनमात्रप्रच्छादनैः तपस्विभिः आकीर्णमाश्रमपदम्। तत्र याज्ञवल्क्यो नाम कुलपतिः आसीत्।

तस्य जाह्नव्यां स्नात्वा उपस्प्रष्टुम् आरब्धस्य करतले श्येनमुखात् परिभ्रष्टा मूषिका पतिता। तां दृष्ट्वा न्यग्रोधपत्रेऽवस्थाप्य पुनः स्नात्वा उपस्पृश्य च प्रायश्चित्तादिक्रियां कृत्वा च मूषिकां तां स्वतपोबलेन कन्यकां कृत्वा समादाय स्वाश्रमम् आनिनाय। अनपत्याञ्च जायामाह—'भद्रे! गृह्यतामियम्, तव दुहितोत्पन्ना, प्रयत्नेन संवर्द्धनीया' इति। ततः तया संवर्द्धिता लालिता पालिता च यावत् द्वादशवर्षा संजज्ञे।

सलिलानि, जिघृक्षुभिः—ग्रहीतुमिच्छुभिः, आवश्यकानुरूपजलमात्रादिरक्षुभिरिति भावः। कन्देति। कन्दानां—मूलविशेषाणां, मूलानां—शिफानां, फलाना—कदल्यादीनां, शैवालानां—जलनीलीनाञ्च, अभ्यवहारेण—भोजनेन, कदर्थितानि—क्लेशितानि, शरीराणि यैः तथाभूतैः। वल्कलेति। वल्कलेन—तरुत्वचा, कृतं विहितं, यत् कौपीनं—चीरखण्डं, तन्मात्रं—तदेव, प्रच्छादनम्—आच्छादनं वसनमित्यर्थः, येषां तथोक्तैः। आकीर्णं—व्याप्तम्। आश्रमपदं—तपोवनम् इत्यर्थः। कुलपतिः—'मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नदानादिपोषणात्। अध्यापयति विप्रर्षिः स वै कुलपतिः स्मृतः॥' इत्येवंलक्षणः।

(१) जाह्नव्यां—गङ्गायाम्। उपस्प्रष्टुम्—आचमितुम्। आरब्धस्य—उपक्रान्तस्य। श्येनमुखात्–श्येनस्य तदाख्यपक्षिविशेषस्य, मुखात् चञ्चुपुटादित्यर्थः। न्यग्रोधपत्रे—वटपत्रे। अवस्थाप्य—संस्थाप्य। प्रायश्चिताक्रियाम् —अपवित्रस्पर्शजनितदुरदृष्टनाशकादिव्यापारम्। अनपत्यां—निःसन्ता-

---

मूल, फल एवं शैवाल आदि को खाकर अपने शरीर को सुखा डालने वाले तथा वल्कल द्वारा निर्मित कौपीन मात्र से अपने शरीर को ढकने वाले तपस्वियों से परिपूर्ण एक आश्रम था। उस आश्रम में याज्ञवल्क्य नाम के एक महर्षि रहा करते थे, जो उस आश्रम के कुलपति थे।

गङ्गा के पवित्र जल में स्नान करके आचमन करने को उद्यत उन महर्षि याज्ञवल्क्य के हाथ में श्येन के मुख से छुटी हुई एक चुहिया आ गिरी। उसको देखकर उन्होंने एक वटपत्र पर उसे रख दिया और पुनः स्नान करने के बाद आचमन एवं प्रायश्चित आदि क्रिया करके उन्होंने उस चुहिया को अपने तपोबल से कन्या के रूप में परिवर्तित कर वे उसको लेकर अपने आश्रम में लौट आये। (आश्रम में आकर उन्होंने) अपनी अपत्यहीन स्त्री से कहा—'भद्रे! इस कन्या को ले जाओ, इसे अपनी ही कन्या समझना और प्रयत्नपूर्वक इसका पालन करना।' ऋषिपत्नी के

अथ विवाहयोग्यां तां दृष्ट्वा भर्त्तारमेवं जाया उवाच—'भो भर्त्तः! किमिदं न अवबुध्यसे, यथा अस्याः स्वदुहितुर्विवाहसमयातिक्रमो भवति?' असौ आह—'साधु उक्तम्। उक्तञ्च—

स्त्रियः पूर्वं सुरैर्भुक्ता सोमगन्धर्ववह्निभिः।
भुञ्जते मानुषाः पश्चात् तस्माद्दोषो न विद्यते ॥ २०० ॥
सोमस्तासां ददौ शौचं गन्धर्वाः शिक्षितां गिरम्।
पावकः सर्वमेध्यत्व तस्मान्निष्कलमषाः स्त्रियः ॥ २०१ ॥

नाम्। तया—याज्ञवल्क्यपत्न्या। संजज्ञे—सञ्जाता।

स्त्रिय इति। स्त्रियः, पूर्वः प्राक्, सोमगन्धर्ववह्निभिः सुरैः देवैः, भुक्ताः, पश्चात् अनन्तरं, मानुषाः भुञ्जते, अत्र 'स्त्रियः' इति पदस्य 'भुक्ताः' इत्यस्य कर्मत्वे प्रथमाबहुवचनान्तत्वं, मानुषा भुञ्जते इत्यस्य कर्मत्वे द्वितीयाबहुवचनान्तत्वेनानुषङ्ग इति ज्ञातव्यम्। तस्मात् भोगहेतोरित्यर्थः, दोषः भोगजनित इति भावः, तासामिति शेषः, न विद्यते ॥ २०० ॥

सोम इति। सोमश्चन्द्रः, तासां भुक्तानां स्त्रीणामित्यर्थः, शौचं शुद्धिं, पवित्रतामित्यर्थः, ददौ, भोगेन प्रीतः सन् 'यूयं पवित्रा भवत' इति वरमदादित्यर्थः, अतः स्त्रियः सर्वाः पवित्रा इति भावः, गन्धर्वाः तासां शिक्षितां स्वभावतः कृतशिक्षामिवेत्यर्थः, सुसंस्कृतामिति यावत्, गिरं वाक्यं, भोगसन्तुष्टतया वरत्वेन ददुरिति विभक्तिविपरिणामेन योजनीयम्, पावकः अग्निः, सर्वमेध्यत्वं सर्वाङ्गेषु पवित्रत्वं, भोगप्रीततया वरत्वेन ददौ इत्यनुषज्यते, तस्मात् स्त्रियः निष्कलमषा निष्पापाः,

---

द्वारा संवर्द्धित, लालित एवं पालित वह कन्या धीरे-धीरे बारह वर्ष की हो गयी।

विवाह के योग्य हुई उस कन्या को देखकर याज्ञवल्क्य की स्त्री ने अपने पति से कहा—'पतिदेव! आप यह क्यों नहीं समझ रहे हैं कि आप की इस कन्या के विवाह का समय व्यतीत होता जा रहा है?'

स्त्री की बात सुन कर याज्ञवल्क्य ने कहा—'देवि! तुमने ठीक कहा है। कहा भी गया है कि—

सोम, गन्धर्व तथा अग्नि सर्वप्रथम स्त्रियों का उपभोग करते हैं। उनके उपभोग कर लेने के बाद ही मनुष्य उनका उपभोग करता है। अतः स्त्रियों में किसी प्रकार का दोष नहीं आता। वे सर्वदा निर्दोष ही बनी रहती हैं ॥ २०० ॥

यतः सोम ने स्त्रियों को पवित्रता दी है, गन्धर्वों ने मधुर एवं चतुर वाणी दी है और अग्नि ने उन्हें सर्वमेध्यत्व अर्थात् सर्वाङ्गीण पवित्रता प्रदान की है, अतः वे

असम्प्राप्तरजा गौरी प्राप्ते रजसि रोहिणी ।
अव्यञ्जना भवेत् कन्या कुचहीना च नग्निका ॥ २०२ ॥
व्यञ्जनैस्तु समुत्पन्नैः सोमो भुङ्क्ते हि कन्यकाम् ।
पयोधराभ्यां गन्धर्वा रजस्यग्निः प्रतिष्ठितः ॥ २०३ ॥
तस्माद्विवाहयेत् कन्यां यावन्नर्त्तुमती भवेत् ।
विवाहश्चाष्टवर्षीयाः कन्यायास्तु प्रशस्यते ॥ २०४ ॥

भवन्ति इति शेषः ॥ २०१ ॥

असम्प्राप्तेति । असम्प्राप्तम् अनागतं, रजः आर्त्तवं यस्याः सा, 'रजो रेणौ परागे स्यादार्त्तवे च गुणान्तरे' इति मेदिनी । गौरी तदाख्या इत्यर्थः, रजसि प्राप्ते आगते, जाते इत्यर्थः, रोहिणी, अव्यञ्जना—न व्यञ्जनम् ईषदुद्भिन्नयौवनचिह्नं कुचोद्गमादि यस्याः तादृशी, 'व्यञ्जनं तेमने चिह्ने श्मश्रुण्यवयवेऽहनि' इति मेदिनी । कन्या, कुचहीना च अनुदितस्तना चेत्यर्थः नग्निका भवेत्, स्तनोद्गमात् प्राक् नग्निका-संज्ञा इत्यर्थः ॥ २०२ ॥

व्यञ्जनैरिति । सोमश्चन्द्रः, समुत्पन्नैः समुद्गतैः, व्यञ्जनैः चिह्नैः, कुचाभि-रित्यर्थः, उपलक्षितामिति शेषः, ईषदुद्भिन्नस्तनीमिति यावत्, कन्यकां भुङ्क्ते हि साम्प्रतमपि भुङ्क्ते इत्यर्थः, गन्धर्वाः पयोधराभ्यां स्तनाभ्याम्, उपलक्षितां, भुञ्जते इति शेषः, रजसि, जाते इति शेषः, अग्निः प्रतिष्ठितः भोक्तुं प्रवृत्तः, भवतीति शेषः ॥ २०३ ॥

तस्मादिति । तस्मात् यावत् यत्कालपर्यन्तम्, ऋतुमती रजस्वला, न भवेत्, तावत् तत्कालमध्ये, ऋतुप्रकाशात् प्रागेवेत्यर्थः, कन्यां विवाहयेत् उद्वाहयेत्, अष्ट-

---

निष्पाप होती हैं। उनका शरीर सर्वदा शुद्ध रहता है ॥ २०१ ॥

रजोदर्शन से पूर्व कन्या को 'गौरी' कहा गया है। रजोदर्शन के बाद वह 'रोहिणी' हो जाती हैं। जब उसके शरीर में रोएँ नहीं आ जाते हैं तबतक वह कन्या कहलाती है और स्तनरहित 'नग्निका' कही जाती है ॥ २०२ ॥

रोमादि के उत्पन्न हो जाने पर कन्या का उपभोग सोम करते हैं। पयोधरों के आ जाने पर गन्धर्व उनका उपभोग करते हैं और रजोदर्शन के बाद अग्नि उसका उपभोग करते हैं ॥ २०३ ॥

इसलिए कन्या का विवाह ऋतुमती होने के पहले ही कर देना चाहिए। वस्तुतः आठ वर्ष की कन्या का विवाह ही प्रशंसनीय कहा गया है ॥ २०४ ॥

विवाह से पूर्व यदि कन्या के गुप्तांग में रोम उत्पन्न हो जाता है तो वह पिता के पूर्वसञ्चित पुण्य को नष्ट कर देता है। यदि स्तन उभर आते हैं तो भावी पुण्य को विनष्ट कर देते हैं। यदि पिता के घर में ही कन्या को पति समागम की इच्छा हो

व्यञ्जनं हन्ति वै पूर्वं परञ्चैव पयोधरौ।
रतिरिष्टांस्तथा लोकान् हन्याच्च पितरं रजः॥ २०५॥
ऋतुमत्यान्तु तिष्ठन्त्या स्वेच्छादानं विधीयते।
तस्मादुद्वाहयेन्नग्नां मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥ २०६॥
पितृवेश्मनि या कन्या रजः पश्यत्यसंस्कृता।
अविवाह्या तु सा कन्या जघन्या वृषली स्मृता॥ २०७॥

वर्षायास्तु कन्यायाः गौर्या इत्यर्थः, असञ्जातरजस्काया इति भावः, विवाहः प्रशस्यते प्रशस्त इत्यर्थः। तुशब्दोऽवधारणार्थः॥ २०४॥

व्यञ्जनमिति। व्यञ्जनम् ईषत्प्रकटितस्त्रीचिह्नविशेषः, अनूढायाः कन्याया इति भावः, पूर्वं प्राक्तनं, पित्रोः पुण्यमिति भावः, हन्ति नाशयति, पयोधरौ स्तनौ, उद्गतौ इति शेषः, परं परत्र जन्मनि लभ्यं पित्रोः पुण्यमिति भावः, हत इति शेषः, रतिः सुरतम्, अविवाहिताया इति भावः, इष्टान् प्रियान्, लोकान् स्वर्गादीन्, पित्रोरिति शेषः, तथा रजः आर्त्तवञ्च, पितरं हन्यात् पातयेदित्यर्थः, यौवनचिह्नादीनां सम्भवात् प्राक् कन्यादानं कर्त्तव्यमिति भावः॥ २०५॥

ऋतुमत्यामिति। ऋतुमत्यां रजस्वलायां, कन्यायामिति शेषः, तिष्ठन्त्यां सत्यां, स्वेच्छादानं कन्याया इच्छानुसारेण दानं, विधीयते, न तदानीं पित्रादीनां पात्रापात्रपरीक्षणं कर्त्तव्यम्, कन्या यमभिलषेत्, तस्मै एव सा दातव्येति भावः, तस्मात् नग्नाम् अनागताऽऽर्त्तवाम्, अरजस्कामित्यर्थः, 'नग्निकाऽनागताऽऽर्त्तवा' इत्यमरः। उद्वाहयेत, स्वायम्भुवः ब्रह्मसुतः, मनुः अब्रवीत् बभाषे॥ २०६॥

पितृवेश्मनीति। या कन्या पितृवेश्मनि पितृगृहे, स्थितेति शेषः, असंस्कृता

जाती है तो वह पिता के परलोक को विनष्ट कर डालती है और यदि रजोदर्शन हो जाता है तो पिता का ही विनाश समझना चाहिए॥ २०५॥

यदि कन्या पिता के घर पर ही ऋतुमती हो गयी हो तो उसके विवाह के लिए गोत्रादि का विशेष विचार नहीं करना चाहिए। तत्काल जो भी वर उपलब्ध हो उससे उसका विवाह कर देना चाहिए। उक्त परिस्थितियों से बचने के लिए मनु का कथन है कि—'नग्ना' का ही विवाह सर्वोत्तम होता है॥ २०६॥

पिता के ही घर में यदि कन्या अविवाहित अवस्था में रजोदर्शन कर लेती है तो वह 'वृषली' एवं 'जघन्या' हो जाती है। ऐसी कन्या से (विधिपूर्वक) विवाह नहीं करना चाहिए। अर्थात् (रजोदर्शन के पश्चात् शास्त्रीय विधि से कन्या का विवाह करना आवश्यक नहीं रह जाता है इसको बिना विवाह के ही प्रदान कर देना चाहिए।) ॥ २०७॥

श्रेष्ठेभ्यः सदृशेभ्यश्च जघन्येभ्यो रजस्वला।
पित्रा देया विनिश्चित्य यतो दोषो न विद्यते ॥ २०८ ॥

अतोऽहमेनां सदृशाय प्रयच्छामि, न अन्यस्मै। उक्तञ्च—

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम्।
तयोर्विवाहः सख्यञ्च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥ २०९ ॥

अविवाहिता एव, रजः आर्त्तवं, पश्यति ऋतुमतौ भवति इत्यर्थः, जघन्या अधमा, तथा वृषली शूद्रा, शूद्रतुल्या सा कन्या अविवाह्या, तु नैव उद्वाह्या, स्मृता, यद्वा— वृषली तत्संज्ञाविशिष्टा, 'पितुर्गेहे च या नारी रजः पश्यत्यसंस्कृता। भ्रूणहत्या पितुस्तस्याः सा कन्या वृषली स्मृता' ॥ इति स्मरणात् ॥ २०७ ॥

श्रेष्ठेभ्य इति। यतो यस्मात् कारणात्, दोषः तादृश्यामवस्थायां नीचपात्रेऽपि कन्यादानरूपः इत्यर्थः, न विद्यते न भवति, तस्मात् पित्रा विनिश्चित्य विचार्य, रजस्वला ऋतुमती, रजस्शब्दात् 'रजःकृष्या–' (पा० सू० ५।२।११२) इति अस्त्यर्थे वलच्प्रत्ययः। श्रेष्ठेभ्यः स्वस्मात् प्रकृष्टेभ्यः, सदृशेभ्यः स्वसमानान्वयगुणेभ्यः, तथा जघन्येभ्यश्च अधमेभ्यो वा, अत्र चकारो वाऽर्थे, देया, यस्मै कस्मैचित् दातव्या इत्यर्थः, कन्यायाम् ऋतुमत्यां पात्रापात्रविचारो न कर्त्तव्य इति भावः ॥ २०८ ॥

ययोरिति। ययोः, जनयोरिति शेषः, वित्तं धनं, समं तुल्यं, ययोरेव कुलं वंशः, समं, तयोरेव विवाहः परिणयः, सख्यं मैत्री च, शस्तमिति शेषः, पुष्टविपुष्टयोः सधननिर्धनयोः, न तु नैव, शस्तमिति शेषः, तादृशपरिणयादिकं परिणामे दुःखावहमेव भवेदिति भावः ॥ २०९ ॥

यदि कन्या पिता के यहाँ ही रजस्वला हो जाती है तो यथाशक्य उससे श्रेष्ठ एवं उसके अनुरूप वर से ही उसका विवाह कर देना चाहिए। यदि ऐसा करना शक्य न हो तो उससे हीन एवं असदृश वर से ही विवाह कर देना चाहिए। उक्त अवस्था में पिता को बहुत अधिक विचार नहीं करना चाहिए। ऋतुमती कन्या के विवाह में योग्यायोग्य के विचार का दोष नहीं लगता ॥ २०८ ॥

अतः इसका विवाह मैं योग्य एवं अनुरूप वर से ही करूँगा, अन्य किसी से नहीं करूँगा। कहा भी गया है कि—

जिन व्यक्तियों का कुल तथा वित्त समान हो, उन्ही व्यक्तियों को आपस में मैत्री या शत्रुता का सम्बन्ध करना चाहिए। पुष्ट एवं हीन व्यक्तियों के मध्य में उक्त सम्बन्ध नहीं होना चाहिए ॥ २०९ ॥

अस्याः कथायाः पूर्वभागो भिन्नोऽप्युपलभ्यते—

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने शालङ्कायनो नाम तपोधनो जाह्नव्यां स्नानार्थं गतः। तस्य सूर्योपस्थानं कुर्वतस्तत्र प्रदेशे मूषिका काचित्खरतरनखाग्रपुटेन श्येनेन ग्रहीता। दृष्ट्वा स मुनिः करुणार्द्रहृदयो 'मुञ्च मुञ्चे'ति कुर्वाणस्तस्योपरि पाषाणखण्डं प्राक्षिपत्। सोऽपि पाषाणखण्डप्रहारव्याकुलेन्द्रियो भ्रष्टमूषिको भूमौ निपपात मूषिकाऽपि भयत्रस्ता कर्तव्यमजानन्ती 'रक्ष रक्षे'ति जल्पन्ती मुनिचरणान्तिकमुपाविशत् श्येनेनापि चेतनां लब्ध्वा मुनिरुक्त—'यद्भो मुने ! न युक्तमनुष्ठितं भवता यदहं पाषाणेन ताडितः। किं त्वमधर्मान्न बिभेषि ? तत्सर्पय मामैनां मूषिकाम्। नो चेत्प्रभूतं पातकमवाप्स्यति। इति ब्रुवाणं श्येनं प्रोवाच स—'भो विहङ्गाधम ! रक्षणीयाः प्राणिनां प्राणाः; दण्डनीया दुष्टाः, सम्माननीयाः साधवः, पूजनीया गुरवः, स्तुत्या देवाः तत्किमसम्बद्धं प्रजल्पसि।' श्येन आह—'मुने ! न त्वं सूक्ष्मधर्मं वेत्सि। इह हि सर्वेषां प्राणिनां विधिना सृष्टिं कुर्वताऽऽहारोऽपि विनिर्मितः। ततो यथा भवतामन्न तथाऽस्माकं मूषिकादयो विहिताः। तत्स्वाहारकाङ्क्षिणं मां किं दूषयसि ? उक्तं च—

किसी स्थान में शालङ्कायन नाम के एक तपस्वी रहते थे। वे एक समय गंगा में स्नान करने गए। जब वे सूर्य की पूजा कर रहे थे उस समय उसी स्थान में उनके पास गंगा के किनारे तेज पञ्जों वाले बाज से एक चुहिया पकड़ी गयी। उसको देख कर मुनि का हृदय दया से परिपूर्ण हो गया। 'छोड़' 'छोड़' ऐसा कहते हुए मुनि ने उसके ऊपर एक पत्थर का टुकड़ा फेंका। वह बाज पत्थर के टुकड़े की चोट से व्याकुल हो गया, मूषिका उससे छूट गई और वह स्वयं भी पृथ्वी पर गिर पड़ा। तब भयभीत हुई वह चुहिया किंकर्तव्यविमूढ़ होकर 'बचाओ, बचाओ' ऐसा कहती हुई मुनि के चरणों के पास आकर बैठ गई। बाज ने होश में आकर मुनि से कहा—'हे मुने ! मुझे पत्थर से मार कर आपने उचित नहीं किया। क्या आप अधर्म से नहीं डरते ? यह मूषिका मुझे सौंप दें, नहीं तो आपको बड़ा भारी पाप होगा।' यह सुन कर मुनि ने कहा—'अरे नीच पक्षी ! प्राणियों के प्राणों की रक्षा करनी चाहिए, दुष्टों को दण्ड देना चाहिए, सज्जनों का आदर, गुरुओं का सत्कार और देवताओं की स्तुति करनी चाहिए। फिर तू क्यों अनर्गल बातें करता है।' श्येन ने कहा—'मुने ! आप धर्म की बारीकी नहीं समझते। इस संसार में प्राणियों की रचना करते हुए ब्रह्मा ने उनका भोजन भी बनाया है। जिस प्रकार आप लोगों के लिए अन्न, उसी प्रकार हम लोगों के लिए चूहे आदि बनाये हैं। इसलिए अपना भोजन चाहने वाले मुझ पर आप क्यों दोष लगाते हैं ? क्योंकि कहा भी गया है—

यद्यस्य विहितं भोज्यं न तत्तस्य प्रदुष्यति ।
अभक्ष्ये वहुदोषः स्यात् तस्मात्कार्यो व्यत्ययः ॥ २०० ॥

जिसके लिये जो वस्तु भोजनरूप से निर्दिष्ट की गई है उसके खाने पर उसे कोई पाप नहीं होता । किन्तु अभक्ष्य वस्तु के खाने में बहुत पाप होता है इसलिए इसमें हेरा-फेरी नहीं करनी चाहिए ॥ २०० ॥

भक्ष्यं यथा द्विजातीनां मद्यपानां यथा हविः ।
अभक्ष्यं भक्ष्यतामेति तथाऽन्येषामपि द्विज ! ॥ २०१ ॥

जिस तरह मद्य पीने वालों की पेय सुरा ब्राह्मणादि के लिए पीने योग्य नहीं होती और जिस तरह ब्राह्मणादि का भोज्य यज्ञशेष हवि मद्य पीने वालों के लिए अभक्ष्य होता है, इसी तरह अन्य प्राणियों के भक्ष्याभक्ष्य की भी व्यवस्था जाननी चाहिए । भाव यह है कि जो वस्तु एक के लिए भक्ष्य हो सकती है वह दूसरे के लिए अभक्ष्य भी हो सकती है ॥ २०१ ॥

भक्ष्यं भक्षयतां श्रेयो अभक्ष्यन्तु महदघम् ।
तत्कथं वृथाचार ! त्वं दण्डयितुमर्हसि ॥ २०२ ॥

भक्ष्य का ही भक्षण करने वाले को महान् पुण्य होता है और अभक्ष्य भक्षण करने वाले को महापातक होता है । इसलिए व्यर्थ ही आचार दिखाने वाले हे ब्राह्मण ! आप मुझे कैसे दण्ड दे सकते हैं ? ॥ २०२ ॥

अपरं मुनीनां न चैष धर्मो यतस्तैर्दृष्टं श्रुतमश्रुतमलौल्यत्वमशत्रुत्वं प्रशस्यते । उक्तं च—

समः शत्रौ च मित्रे च समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
सुहृन्मित्रे ह्युदासीनो मध्यस्थो द्वेष्यबन्धुषु ॥ २०३ ॥
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।
साधूनां निरवद्यानां सदाचारविचारिणाम् ॥
योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ॥ २०४ ॥

और भी—मुनियों का दूसरे का मारना धर्म नहीं है । क्योंकि उनके लिए देखा हुआ न देखे हुए के बराबर तथा सुना हुआ न सुने हुए के बाराबर होता है और फिर उनको लालच तथा शत्रुभाव रखना भी उचित नहीं है । कहा भी गया है—

निष्पाप और सदाचार का पालन करने वाले साधु पुरुषों में वही पुरुष श्रेष्ठ समझा जाता है जो शत्रु और मित्र में तथा मिट्टी के ढेले या पाषाण और सोने में समान भाव रखता हो । सुहृत् स्वभाव से ही हितैषी और मित्र स्नेहवश उपकार करने वाले में उदासीन रहना घृणा के योग्य तथा कुटुम्बियों में एक भाव रखना और

सज्जन तथा पापियों को समान समझने वाला होना चाहिए। योग में लगे हुए पुरुष को चाहिए कि वह एकान्त में बैठ कर सदा मन को वश में करने का अभ्यास करे ॥ २०३-२०४ ॥

तत्त्वमनेन कर्मणा भ्रष्टतपाः सञ्जातः। उक्तं च—

मुञ्च मुञ्च पतत्येको मा मुञ्चेति द्वितीयकः।
उभयोः पतनं दृष्ट्वा मौनं सर्वार्थसाधनम् ॥ २०५ ॥

शालङ्कायन आह—'कथमेतत् ?' श्येन आह—

इसलिए आप इस कार्य को करके अपने तप से भ्रष्ट हो गये। अतः आपका तप नष्ट हो गया। कहा भी गया है—

'छोड़ो, छोड़ो' ऐसा कहता हुआ एक अपने तपःप्रभाव से भ्रष्ट हुआ और दूसरा 'मत छोड़ो' ऐसा कहने से भ्रष्ट हुआ, उन दोनों का पतन (तपोविनाश) देख कर तीसरे ने सर्वकार्य सिद्ध करने वाला मौन धारण कर लिया ॥ २०५ ॥

शालङ्कायन ने पूँछा – 'यह कैसे ?' श्येन ने कहा –

कस्मिश्चिन्नदीतट एकत-द्वित-त्रिताभिधानास्त्रयोऽपि भ्रातरो मुनयस्तपः कुर्वन्ति। तेषाञ्च तपःप्रभावादाकाशस्था धौतपोतिका निरालम्बा जलार्द्रभूस्पर्शनभयेन स्नान-समये तिष्ठन्ति। अथान्येद्युर्मयेव काचिन्मण्डूकिका केनापि गृध्रेण बलेन नीता। अथ तां गृहीतां विलोक्य तेषां ज्येष्ठेन करुणार्द्रहृदयेन भवतेव व्याहृतम् 'मुञ्च, मुञ्चे'ति। अत्रान्तरे तस्य धौतपोतिकाकाशाद् भूमौ पतिता। तां पतितां दृष्ट्वा द्वितीयेन तद्भयार्तेन 'मा मुञ्चे'त्यभिहितं यावत्तस्यापि पपात। ततस्तृतीयो द्वयो-रपि धौतपोतिकां भूमीं पतितां दृष्ट्वा तूष्णीं बभूव। अतोऽहं ब्रवीमि—'मुञ्च मुञ्च पतत्येक' इत्यादि।

किसी नदी-तट पर एकत, द्वित और त्रित नामक तीन भाई मुनि तप कर रहे थे, इनके तपःप्रभाव के कारण स्नान के समय उनके धुले हुए गीले वस्त्र पृथ्वी के छूने के भय से बिना सहारे ही आकाश में टँगे रहते थे। एक दिन जिस प्रकार मैंने इस मूषिका को पकड़ा है इसी तरह गिद्ध ने एक मेढ़की को जबरदस्ती पकड़ लिया। उसको पकड़ा हुआ देखकर उनमें सबसे ज्येष्ठ ने करुणा से कातर हृदय हो आपके ही समान 'छोड़ों, छोड़ो' कहा। इसी समय उनका वस्त्र पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसको गिरता हुआ देख दूसरा अपने वस्त्र के गिरने के भय से व्याकुल हो गया और ज्यों ही उसने 'मत छोड़ो' ऐसा कहा त्यों ही उसका भी वस्त्र गिर गया। तब तीसरा उन दोनों के वस्त्रों को गिरा हुआ देख कर चुप हो गया। इसलिए मैं कहता हूँ 'एक मुञ्च मुञ्च' कहने से गिरता है' इत्यादि।

तच्छ्रुत्वा मुनिर्विहस्याह 'भो मूर्ख ! विहङ्गम ! कृतयुगे धर्म सः आसीत् । यतः कृतयुगे पापालापतोऽपि पापं जायते तेन धौतपोतिके पतिते अशिष्टालापेन न सदपवचनदोषतः । एष पुनः कलियुगः । अत्र सर्वोऽपि पापात्मा । तत्कर्म कृतं विना पापं न लगति । उक्तं च—

सञ्चरन्तीह पापानि युगेष्वन्येषु देहिनाम् ।
कलौ तु पापसंयुक्ते यः करोति स लिप्यते ॥ २०६ ॥

यह सुन मुनि ने हँस कर कहा—'अरे मूर्ख पक्षी ! सत्ययुग में यह धर्म था क्योंकि सत्ययुग में पापी पुरुषों के साथ बातचीत करने से भी पाप होता था। इसलिए दुष्ट गृध्र के साथ वार्तालाप करने से धौतवस्त्र भी गिर पड़े। यह तो कलियुग है। इसमें सभी प्राणी स्वभाव से ही पापी होते हैं। इसलिए (वस्तुतः) पापकर्म किए बिना पाप नहीं लगता। कहा भी गया है—

इस संसार में कलि के अतिरिक्त अन्य सत्य आदि युगों में पाप एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य को भी लगता था। परन्तु पाप से परिपूर्ण कलियुग में तो जो पापकर्म करता है उसी को पाप लगता है ॥ २०६ ॥

उक्तं च

आसानाच्छयनाद्यानात् संगतेश्चापि भोजनात् ।
कृते संचरते पापं तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ २०७ ॥

कृतयुग में पाप जल में तेल बिन्दु के समान पापी पुरुष के साथ उठने-बैठने, सोने, जाने तथा संगति में रहने और भोजन करने से भी लगता था ॥ २०७ ॥

तत्किं वृथा प्रलपितेन ? गच्छ त्वम्, नो चेच्छापयिष्यामि । अथ गते श्येने मूषिकया स मुनिरभिहितः 'भगवन् ! नय मां स्वाश्रमम् । नो चेदन्यो दुष्टपक्षी मां व्यापादयिष्यति, तदहं तत्रैवाश्रमे त्वाद्दत्तान्नाहारमुष्ट्या कालं नेष्यामि ।' सोऽपि दाक्षिण्यवान् सकरुणो व्यचिन्तयत् 'कथं मया मूषिका हस्ते धृत्वा नेया जनहास्यकारिणी, तदेनां कुमारिकां कृत्वा नयामि ।' एवं सा कन्यका कृता । तथाऽनुष्ठिते कन्या सहितं मुनिमवलोक्य पत्नी पप्रच्छ – 'भगवन् ! कुत इयं कन्या ?' स आह— 'एषा मूषिका श्येनभयाच्छरणार्थिनी कन्यारूपेण तव गृहमानीता । तत्त्वया यत्नेन रक्षणीया । भूयोऽप्येनां मूषिकां करिष्यामि ।' सा प्राह—'भगवन् ! मैवं कार्षीः । अस्यास्त्वं धर्मपिता ।' उक्तं च—

जनिता चोपनेता च यस्तु विद्यां प्रयच्छति ।
अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः ॥ २०८ ॥

इसलिए व्यर्थ बकवास करने से क्या लाभ ? तुम चले जाओ, नहीं तो शाप

दे दूँगा।' इसके अनन्तर श्येन के चले जाने पर मूषिका ने मुनि से कहा—'भगवन्! मुझे अपने स्थान पर ले चलिए, नहीं तो अन्य दुष्ट पक्षी मुझे मार डालेंगे। इसलिए मैं आपके स्थान पर ही आपके द्वारा दिये हुए मुष्टि-परिमित अन्न से अपना समय विता दूँगी। उदारचेता मुनि ने करुणापूर्वक विचार किया—'इस चुहिया को हाथ में रखकर मैं कैसे ले जाऊँ? इससे मनुष्य हँसी करेंगे। इसलिए इसे पुत्रिका बनाकर ले चलूँ।' तब उसको उन्होंने कन्या बना दिया। ऐसा करने पर वे मूषिका को लड़की बनाकर घर ले जाने पर कन्या-सहित मुनि को देखकर पत्नी ने पूँछा 'भगवन्! यह लड़की कहाँ से मिली?' उन्होंने कहा 'बाज के डर से रक्षा चाहने वाली इस मूषिका को कन्या बनाकर तुम्हारे घर लाया हूँ। तुम यत्न-पूर्वक इसकी रक्षा करना। इसको मैं फिर भी मूषिका बना दूँगा।' उसने कहा—'भगवन्! ऐसा न कीजिए। आप इसके धर्म पिता हैं। कहा भी गया है—

पैदा करने वाला, उपनयन संस्कार करने वाला, विद्या प्रदान करने वाला, अन्न-दाता और भय से रक्षा करने वाला—ये पाँच पिता माने गये हैं ॥ २०८ ॥

तत्त्वयाऽस्याः प्राणप्रदत्ताः। अपरं ममाप्यपत्यं नास्ति। तस्मादेषा मम सुता भविष्यति। तथाऽनुष्ठिते सा कन्या शुक्लपक्षचन्द्रकलिकेव नित्यं वृद्धिं प्राप्नोति। साऽपि तस्य मुनेः शुश्रूषां कुर्वती सपत्नीकस्य यौवनमाश्रयात्। अथ तां यौवनोन्मुखीमवलोक्य शालङ्कायनः स्वपत्नीमुवाच—'प्रिये! यौवनोन्मुखी वर्तत इयं कन्या। अनर्हा सा साम्प्रतं मद्गृहवासस्य।' उक्तं च—

अनूढा मन्दिरे यस्य रजः प्राप्नोति कन्यका।
पतन्ति पितरस्तस्य स्वर्गस्था अपि तैर्गुणैः ॥ २०९ ॥

आपने इसको प्राण दान दिया है। दूसरी बात यह है कि मेरी कोई सन्तान भी नहीं है। इसलिए यह मेरी पुत्री होकर रहेगी। ऐसा करने पर वह कन्या शुक्लपक्ष की चन्द्रकला के समान दिन-दिन बढ़ने लगी। वह कन्या पत्नी सहित मुनि की सेवा करती हुई शीघ्र ही युवावस्था को प्राप्त हुई। फिर कन्या को युवती होते देख शालाङ्कायन ने पत्नी से कहा—'प्रिये! यह कन्या युवावस्था को प्राप्त हो रही है, अब यह हमारे घर रहने योग्य नहीं है। कहा भी गया है—

जिस पुरुष के घर कन्या अविवाहित रहकर रजस्वला हो जाती है, स्वर्ग को प्राप्त हुए भी उसके पितृगण विवाह से पूर्व ही रजस्वला होने से उत्पन्न अधर्म आदि गुणों (दोषों) के कारण स्वर्ग से च्युत हो जाते हैं ॥ २०९ ॥

वरं वरयते कन्या माता वित्तं पिता श्रुतम्।
बान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः ॥ २१० ॥

तथा च—

कुलञ्च शीलञ्च सनाथता च
विद्या च वित्तञ्च वपुर्वयञ्च ।
एतान् गुणान् सप्त विचिन्त्य देया
कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम् ॥ २१० ॥

तत् यदि अस्या रोचते, तदा भगवन्तम् आदित्यमाहूय तस्मै प्रयच्छामि ।' सा प्राह—'इह को दोषः ? क्रियताम् एतत् ।' अथ मुनिना

कुलञ्चेति । बुधैः विद्वद्भिः, कुलञ्च, वंशञ्च, शीलञ्च चरित्रञ्च, सनाथता च सहायवत्त्वञ्च, विद्या च, वित्तञ्च धनञ्च, वपुः शरीरं, सौष्ठवान्वितमिति भावः, वयश्च यौवनञ्च, एतान् सप्त गुणान् विचिन्त्य विचार्य, कन्या देया, पूर्वोक्तगुणसप्तकशालिने वराय दातव्येत्यर्थः, शेषम् अतः परम्, अचिन्तनीयं न चिन्तनीयं, चिन्ताया आवश्यकं नास्तीत्यर्थः, यत् भवितव्यं तदवश्यमेव भवति, भाग्यायत्तत्वात् सर्वस्येति भावः । उपजातिः वृत्तम् ॥ २१० ॥

और भी—कुल, शील, सनाथता, विद्या, वित्त, शरीर तथा वय—केवल इन्हीं सात गुणों का विचार कन्यादान के समय में करना चाहिए । शेष बातों की चिन्ता नहीं करनी चाहिए ॥ २१० ॥

अतः यदि वह प्रस्तुत हो तो भगवान् सूर्य को बुलाकर उनके साथ इसका विवाह कर दूँ ।' पति की बात सुनकर पत्नी ने कहा—'इसमें दोष ही क्या है ? यही कीजिये ।'

विवाह के समय कन्या उत्तम पति चाहती है, माता धन देखती है, पिता दामाद की विद्या पर ध्यान देता है, बन्धु लोग खानदान देखते हैं और अन्य बाराती लोग स्वादिष्ट भोजन ही चाहते हैं ॥ २१० ॥

तथा च—

यावन्न लज्जते कन्या यावत्क्रीडति पांसुना ।
यावत्तिष्ठति गोमार्गे तावत्कन्यां विवाहयेत् ॥ २११ ॥

और भी—जब तक कन्या लजाती नहीं, जब तक धूल के साथ खेले और जब तक गौओं के मार्ग में घूमे तभी तक उसका विवाह कर देना चाहिए ॥ २११ ॥

माता चैव पिता चैव ज्येष्ठभ्राता तथैव च ।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥ २१२ ॥

रजस्वला कन्या को देखने से माता, पिता और ज्येष्ठ भ्राता ये तीनों नरकगामी होते हैं ॥ २१२ ॥

रविराहूतः । वेदमन्त्रामन्त्रणप्रभावात् तत्क्षणदेवाभ्युपगम्यादित्यः प्रोवाच—'भगवन् ! किमहम् आहूतः ?' सोऽब्रवीत्—'एषा मदीया कन्यका तिष्ठति, यदि एषा त्वां वृणोति, तर्हि उद्वहस्व' इति । एवमुक्त्वा स्वदुहितरम् उवाच—'पुत्रि ! किं तव रोचते एष भगवान् त्रैलोक्यदीपको भानुः ?' पुत्रिका अब्रवीत्—'तात ! अतिदहनात्मकोऽयम्, न अहमेनम् अभिलषामि । तस्मात् अन्यः प्रकृष्टतरः कश्चित् आहूयताम् ।' अथ तस्याः तद्वचनं श्रुत्वा मुनिः भास्करमुवाच—'भगवन् ! त्वत्तः अधिकोऽस्ति कश्चित् ?' भास्करः प्राह—'अस्ति मत्तोऽपि अधिको मेघः, येन आच्छादितोऽहमदृश्यो भवामि ।' अथ मुनिना मेघमपि आहूय कन्या अभिहिता—'पुत्रिके ! अस्मै त्वां प्रयच्छामि ?' सा प्राह—'कृष्णवर्णोऽयं जडात्मा च, तदस्मात् अन्यस्य प्रधानस्य कस्यचित् मां प्रयच्छ ।' अथ मुनिना मेघोऽपि पृष्ट—'भो भो मेघ ! त्वत्तोऽपि

---

(१) वेदमन्त्रेति । वेदमन्त्रेण यत् आमन्त्रणम्—आह्वानं, तस्य प्रभावात्—सामर्थ्यात् । तव—तुभ्यमित्यर्थः, 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' (पा० सू० १।४।३३) इति सूत्रेण चतुर्थीप्राप्तौ सत्यामपि सम्बन्धविवक्षया षष्ठी । त्रैलोक्यदीपकः—त्रिलोकीप्रकाशक इत्यर्थः । भानुः—सूर्यः । प्रकृष्टतरः—अत्युत्कृष्टः । अधिकः—अधिकशक्तिमान् । जडात्मा-डलयोरेकत्वात् जलात्मा, जलमयतया अतिशीतलः इत्यर्थः, यद्वा—जडः—इष्टानिष्टज्ञानरहित, आत्मा यस्य तादृशः, मूर्खः इति यावत् ।

पत्नी की सम्मति से मुनि ने सूर्य का आवाहन किया । वेद मन्त्रों के द्वारा किये गये आमन्त्रण के प्रभाव से भगवान् सूर्य ने तत्काल आकर पूँछा—'भगवन् ! आपने मुझे क्यों बुलाया है ?' मुनि ने कहा—'यह मेरी कन्या है । यदि यह आपके साथ विवाह करना चाहे तो आप इसका विवाह अपने साथ कर लीजिए ।' मुनि ने पुनः अपनी कन्या को सम्बोधित करके कहा—'पुत्रि ! क्या भगवान् भुवन भास्कर तुमको पसन्द हैं ?' पुत्री ने कहा 'तात ! ये तो अत्यन्त दाहक हैं । मैं इनके साथ विवाह करना नहीं चाहती । अतः इनसे भी प्रकृष्टतर किसी वर का आवाहन कीजिए । कन्या की बात को सुनकर मुनि ने भास्कर से पूँछा 'भगवन् ! क्या आप से श्रेष्ठ कोई है ?' भास्कर ने उत्तर दिया—'भगवन् ! है, मेघ मुझसे भी श्रेष्ठ हैं । क्योंकि उनके द्वारा आच्छादित होकर मैं अदृश्य हो जाता हूँ ।' मुनि ने तत्काल मेघ को बुलाकर अपनी कन्या से कहा—'पुत्रि ! इनके साथ तुम्हारा विवाह कर दूँ !' कन्या ने कहा—'यह तो बहुत काला और मूर्ख है । अतः इससे श्रेष्ठ कोई हो तो उसी के साथ मेरा विवाह कीजिए ।' मुनि ने मेघ से पूछा—

अधिकोऽस्ति कश्चित् ?' मेघेनोक्तं—'मत्तोऽपि अधिकोऽस्ति वायुः, वायुना हतोऽहं सहस्रधा यामि।' तत् श्रुत्वा मुनिना वायुराहूतः, आह च—'पुत्रिके ! किम् एष वायुस्ते विवाहाय उत्तमः प्रतिभाति ?' सा अब्रवीत्—'तात ! अतिचपलोऽयं, तदस्मादपि अधिकः कश्चित् आनीयताम्। मुनिः आह—वायो ! त्वत्तोऽपि अधिकोऽस्ति कश्चित् ?' पवनेन उक्तम्—'मत्तोऽपि अधिकोऽस्ति पर्वतः, येन संस्तभ्य बलवानपि अहं ध्रिये'। अथ मुनिः पर्वतमाहूय कन्यामुवाच—'पुत्रिके ! त्वाम् अस्मै प्रयच्छामि ?' सा प्राह—'तात ! कठिनात्मकोऽयं स्तब्धश्च, तत् अन्यस्मै देहि माम्।' मुनिना पर्वतः पृष्टः—'भोः पर्वतराज ! त्वत्तोऽपि अधिकोऽस्ति कश्चित् ?' गिरिणा उक्तं—'मत्तोऽपि अधिकाः सन्ति मूषकाः, ये मच्छरीर बलात् विदारयन्ति।' ततो मुनिः मूषकमाहूय तस्या अदर्शयत्, आह च—पुत्रिके ! त्वाम् अस्मै प्रयच्छामि, किम् एष प्रतिभाति ते मूषकराजः ?' साऽपि तं दृष्ट्वा स्वजातीय एष इति मन्यमाना पुलकोद्भूषितशरीरोवाच—'तात !

अन्यस्येति—सम्बन्धविवक्षया सम्प्रदाने षष्ठी। हतः—ताडितः। सहस्रधा—सहस्रभागेन। अतिचपलः—अतिचञ्चलस्वभावः। येन—पर्वतेन। संस्तभ्य—सन्निरुध्य, बाधां प्राप्येत्यर्थः। कठिनात्मकः—कठोरशरीरः, निर्दय इति भावः। स्तब्धः—

'मेघ ! क्या आपसे भी श्रेष्ठ कोई दूसरा है ?' मेघ ने उत्तर दिया—'भगवन् ! मुझसे श्रेष्ठ तो वायु हैं। वायु के आघात से मैं छिन्न-भिन्न होकर हजारों भागों में विभक्त हो जाता हूँ।' पुनः मुनि ने वायु का आवाहन किया। वायु के उपस्थित होने पर उन्होंने उस कन्या से पूछा—'पुत्रि ! क्या ये पवनदेव विवाह के लिए पसन्द हैं ?' कन्या ने उत्तर में कहा—'यह तो अत्यन्त चपल हैं। अतः इससे भी श्रेष्ठतम हो तो उसको आवाहित कीजिए।' मुनि ने वायु से पूछा—'आप से भी कोई श्रेष्ठ है ?' पवन ने कहा—'मुझसे भी श्रेष्ठतर पर्वत हैं। बलवान् होने पर भी मैं उसके द्वारा निगृहीत हो जाता हूँ। उसे हिला डुला भी नहीं पाता।' पुनः मुनि ने पर्वत को बुलाकर कन्या से पूछा—'पुत्रि ! क्या इनके साथ तुम्हारा विवाह कर दूँ ?' कन्या ने कहा—'तात ! यह तो बहुत ही कठोर और निश्चल हैं। किसी अन्य के साथ मेरा विवाह कीजिए तो अच्छा हो।' कन्या के आग्रह को सुनकर मुनि ने पर्वत से पूछा—'पर्वतराज ! क्या आप से भी श्रेष्ठतर कोई है ?' पर्वत ने कहा-'मुझसे श्रेष्ठ चूहे होते हैं। वे मेरे शरीर को अनायास ही काट डालते हैं।' इसके बाद कन्या की बात को सुनकर मुनि ने मूषकराज को बुलाकर कन्या को दिखा दिया और पूछा—'पुत्रि ! इसके साथ तुम्हारा विवाह कर

मां मूषिकां कृत्वा अस्मै प्रयच्छ, येन स्वजातिविहितं गृहधर्मम् अनुतिष्ठामि।' ततः सोऽपि स्वतपोबलेन तां मूषिकां कृत्वा तस्मै प्रादात्। अतोऽहं ब्रवीमि—'सूर्यं भर्त्तारमुत्सृज्य' इत्यादि।

अथ रक्ताक्षवचनम् अनादृत्य तैः स्ववंशविनाशाय स स्वदुर्गम् उपनीतः। नीयमानश्च अन्तर्लीनमवहस्य स्थिरजीवी व्यचिन्तयत्—

'हन्यतामिति येनोक्तं स्वामिनो हितवादिना।
स एवैकोऽत्र सर्वेषां नीतिशास्त्रार्थतत्त्ववित्॥ २११॥

तत् यदि तस्य वचनम् अकरिष्यन् एते, ततो न स्वल्पोऽपि अनर्थोऽ-

निश्चलः। पुलकेति। पुलकेन—आनन्दजनितरोमाञ्चेन, उद्भूषितेन—अलङ्कृतं, शरीरं यस्याः तथाभूता। स्वजातिविहितम्—मूषिकाजात्यनुरूपम्। गृहधर्मं—गृहकार्यम्।

हन्यतामिति। स्वामिनः प्रभोः, हितवादिना येन रक्ताक्षेण, हन्यताम् इति उक्तम्, अत्र सर्वेषाम् उलूकानां मध्ये, इति निर्द्धारणे षष्ठी, स एव एकः केवलः, नान्ये इति भावः, 'एकः सङ्ख्यान्तरे श्रेष्ठे केवलेतरयोस्त्रिषु' इति मेदिनी। नीतिशास्त्रार्थतत्त्ववित् नीतिशास्त्रार्थस्य तत्त्वं याथार्थ्यं, वेत्तीति तथोक्तः भवतीति शेषः॥ २११॥

हूँ? क्या यह मूषकराज तुमको पसन्द है?' कन्या ने उस चूहे को देखकर अपने मन में सोचा कि—'यह स्वजातीय है।' उसको देखते ही वह रोमाञ्चित हो उठी। पुनः अपने पिता से उसने कहा—'तात! मुझे चुहिया बनाकर आप इनके साथ मेरा विवाह कर दें, जिससे मैं स्वजातिविहित गृहिणीधर्म का पालन कर सकूँ।' तब कन्या की इच्छा को जानकर मुनि ने अपने तपोबल से उसको चुहिया बनाकर और उस चूहे के साथ उसका विवाह भी कर दिया। तब उक्त कथा को सुनाने के बाद रक्ताक्ष ने कहा—'इसीलिए मैं कहता हूँ कि चुहिया ने सूर्य, मेघ, वायु तथा पर्वत को छोड़कर चूहे को ही अपना पति चुना था।'

रक्ताक्ष के कथन को तिरस्कृत करके उलूकों ने आत्मविनाश के लिए उस स्थिरजीवी को अपने दुर्ग में पहुँचा दिया। उलूकों के दुर्ग में पहुँचाये जाने वाले स्थिरजीवी ने मन ही मन हँसकर सोचा—

'राजा के प्रिय करने वाले जिस मन्त्री ने मुझे मार डालने का परामर्श दिया था, एकमात्र वही इनमें नीतिज्ञ है॥ २११॥]

अतः यदि उसकी बात को इन उलूकों ने मान लिया होता तो इन पर थोड़ी भी

भविष्यत् एतेषाम् ।' अथ दुर्गद्वारं प्राप्य अरिमर्दनोऽब्रवीत्— भो भोः ! हितैषिणोऽस्य स्थिरजीविनो यथासमीहितं स्थानं प्रयच्छत ।' तच्च श्रुत्वा स्थिरजीवी अचिन्तयत्—मया तावत् एतेषां बधोपायः चिन्तनीयः, स मया मध्यस्थेन न साध्यते यतो मदीयम् इङ्गितादिकं विचारयन्तः तेऽपि सावधाना भविष्यन्ति । तत् दुर्गद्वारम् अधिश्रितोऽभिप्रेत साधयामि' इति निश्चित्य उलूकपतिमाह—'देव ! युक्तमिदं यत् स्वामिना प्रोक्तम्, परमहमपि नीतिज्ञस्ते अहितश्च; यद्यपि अनुरक्तः शुचिः तथाऽपि दुर्गमध्ये आवासो न अर्हः, तत् अहमत्र एव दुर्गद्वारस्थः प्रत्यहं भवत्पादपद्मरजःपवित्रीकृततनुः सेवां करिष्यामि ।' 'तथा' इति प्रतिपन्ने, प्रतिदिनम् उलूकपतिसेवकास्ते प्रकाममाहारं कृत्वा उलूकराजादेशात् प्रकृष्टमांसाहारं स्थिरजीविने प्रयच्छन्ति । अथ कतिपयैः एव अहोभिः मयूर इव स बल

(१) मध्यस्थेन—दुर्गमध्यस्थितेन । न साध्यते—न कर्तुं शक्यते । इङ्गितादिकं—हृद्गतचेष्टादिकम् । विचारयन्तः—विवेचयन्तः । अधिश्रितः—अवलम्बितः । अहितः—शत्रुः स्वभावशत्रुरित्यर्थः । अनुरक्तः—भक्तः । शुचिः—निर्दोषः, अहमिति शेषः । आवासः—अवस्थानं, ममेति शेषः । न अर्हः—न योग्यः, अनुचितः इत्यर्थः । प्रतिपन्ने—अङ्गीकृतवति इत्यर्थः, उलूकराजे इति शेषः । प्रकामं—यथेष्टम् । अहोभिः इति । 'अपवर्गे तृतीया' (पा० सू० २।३।६) इति

विपत्ति नहीं आ पाती ।' तब अपने दुर्ग के द्वार पर अरिमर्दन ने सेवकों से कहा—'सेवको ! स्थिरजीवी मेरे हितैषी हैं । उनको इच्छानुसार स्थान दे दो ।' अरिमर्दन की आज्ञा को सुनकर स्थिरजीवी ने सोचा—'उलूकों के दुर्ग तक तो मैं पहुँच गया । अब इनके वध का उपाय सोचना चाहिए । किन्तु उस कार्य को मैं दुर्ग के भीतर रहकर नहीं कर सकता हूँ । क्योंकि मेरी चेष्टाओं को देखकर ये सावधान हो जायेंगे । अतः दुर्ग के द्वार पर रह कर ही मुझे अपनी उद्देश्य की पूर्ति करनी चाहिए ।' यह सोचकर उसने उलूकाधिपति से कहा—'देव ! आपने जो आदेश दिया है, वह तो ठीक ही है । किन्तु मैं भी नीतिज्ञ हूँ और आपका शत्रु भी हूँ यद्यपि इस समय मैं आपका भक्त, हितैषी तथा विश्वस्त हो चुका हूँ तथापि दुर्ग के भीतर रहना अच्छा नहीं होगा । अतएव मैं दुर्ग के द्वार पर ही रहकर आपके चरण-रज से अपने शरीर को पवित्र करके आपकी सेवा करता रहूँगा ।' राजा के स्वीकार कर लेने पर वह स्थिरजीवी दुर्गद्वार पर रहने लगा । उलूकराज के सेवक यथेच्छ आहार-विहार के बाद राजा की आज्ञा से उत्कृष्ट एवं पर्याप्त मांसाहार लाकर स्थिरजीवी को दिया करते थे । कुछ ही दिनों में वह स्थिरजीवी मयूर की तरह

वान् संवृत्तः।

अथ रक्ताक्षः स्थिरजीविनं पोष्यमाणं दृष्ट्वा सविस्मयो मन्त्रिजनं राजानञ्च प्रत्याह—'अहो! मूर्खोऽयं मन्त्रिजनो भवांश्च, इत्येवमहम् अवगच्छामि। उक्तञ्च—

पूर्वं तावदहं मूर्खो द्वितीयः पाशबन्धकः।
ततो राजा च मन्त्री च सर्वं वै मूर्खमण्डलम् ॥ २१२ ॥

ते प्राहुः—'कथमेतत्?' रक्ताक्षः कथयति—

१४ : सुवर्णपुरीषपक्षी कथा

अस्ति कस्मिंश्चित् पर्वतैकदेशे महान् वृक्षः, तत्र च सिन्धुकनामा कोऽपि पक्षी प्रतिवसति स्म। तस्य पुरीषे सुवर्णमुत्पद्यते। अथ कदाचित् तमुद्दिश्य व्याधः कोऽपि समाययौ। स च पक्षी तदग्रत एव पुरीषम् उत्स-

---

तृतीया। पोष्यमाणं–पीवरतां नीयमानमित्यर्थः, पुष्यतेः णिचि कर्मणि शानचि रूपं, वर्द्धमानमित्यर्थः।

पूर्वमिति। अहं तावत् पूर्वं प्रथमं, मूर्खः, भवामीति शेषः, पाशेन बध्नातीति पाशबन्धकः व्याधः, द्वितीयः, मूर्खः इत्यनुषङ्गः, भवतीति शेषः, ततः अनन्तरं, राजा च, मन्त्री च, मूर्खं इति पूर्वानुषङ्गः, अतः सर्वं वै सर्वमेव, विधेयप्राधान्यात् क्लीवत्त्वं मूर्खमण्डलं मूर्खाणां समष्टिः इत्यर्थः ॥ २१२ ॥

खूब बलवान् एवं पुष्ट हो गया।

स्थिरजीवी को उक्त प्रकार से पालित एवं पोषित होते देखकर विस्मयान्वित होकर रक्ताक्ष ने मन्त्रियों एवं राजा को सम्बोधित करके कहा—'महाराज! आपके ये मन्त्री मूर्ख हैं और आप भी मूर्ख ही हैं। कम से कम मैं तो यही समझ रहा हूँ। कहा भी गया है कि—

पहले तो मैं ही सबसे अधिक मूर्ख हूँ। दूसरा मूर्ख यह पाशबन्धक है। इसके बाद यह राजा मूर्ख है और इसका मन्त्री भी मूर्ख है। जान पड़ता है यह मूर्खों का ही समूह है ॥ २१२ ॥

मन्त्रियों ने पूछा—'यह कैसे?' रक्ताक्ष ने कहा—

स्वर्णविष्ठा वाले पक्षी की कथा

पर्वतीय प्रदेश के किसी एक भाग में बड़ा वृक्ष था। उस वृक्ष पर सिन्धुक नाम का एक पक्षी रहा करता था। उसके पुरीष में सुवर्ण उत्पन्न हुआ करता था। एक दिन एक व्याध आखेट करने के उद्देश्य से उसी प्रदेश में गया और उस पक्षी ने

सर्ज। अथ पातसमकालमेव तत् सुवर्णीभूतं दृष्ट्वा व्याधो विस्मयम् अगमत्—'अहो ! मम शिशुकालात् आरभ्य शकुनिबन्धव्यसनिनः अशीति वर्षाणि समभूवन्, न च कदाचित् अपि पक्षिपुरीषे सुवर्णं दृष्टम्' इति विचिन्त्य तत्र वृक्षे पाशं बबन्ध। अथ असौ अपि पक्षी मूर्खस्तत्रैव विश्वस्तचित्तो यथापूर्वम् उपविष्टः तत्कालमेव पाशेन बद्धः। व्याधस्तु त पाशात् उन्मुच्य पञ्जरके संस्थाप्य निजावासं नीतवान्। अथ चिन्तयामास—'किमनेन सापायेन पक्षिणा अहं करिष्यामि? यदि कदाचित् कोऽपि अमुमीदृशं ज्ञात्वा राज्ञे निवेदयति, तत् नूनं प्राणसंशयो मे भवेत्, अतः स्वयमेव पक्षिणं राज्ञे निवेदयामि' इति विचार्य तथैव अनुष्ठितवान्।

[१४]

(१) पुरीषे—विष्ठायाम्। उत्ससर्ज—तत्याज। पातसमकालमेव—पतनमात्रमेव, पतनक्षण एवेत्यर्थः। तत् पुरीषमित्यर्थः। सुवर्णीभूतम्—असुवर्णं सुवर्णं भूतमिति तथोक्तं, 'कृभ्वस्तियोगे–' (पा० सू० ५।४।५०) इति अभूततद्भावे च्विप्रत्ययः। शकुनिबन्धव्यसनिनः—पक्षिबन्धनासक्तस्य। पाशं—जालम्। विश्वस्तचित्तः—निःशङ्कमनाः। यथापूर्वं—पूर्ववत्। पूर्वम् अनतिक्रम्य इति अनतिक्रमार्थे अव्ययीभावसमासः। तत्कालमेव—उपवेशनसमकालमेव। उन्मुच्य—मोचयित्वा, निःसार्य इत्यर्थः। सापायेन—सविपदा, विपत्तिजनकेनेत्यर्थः, लुब्धस्य राज्ञः कोपोत्पादकत्वादेतस्येति भावः। अमुं—पक्षिणम्। ईदृशं—सुवर्णमयपुरीषमित्यर्थः।

उस व्याध के आगे ही पुरीषोत्सर्ग किया। पुरीष के पृथ्वी पर गिरते ही उसे सुवर्ण होते हुए देखकर व्याध ने साश्चर्य अपने मन में सोचा—'पक्षियों का फँसाने का व्यवसाय करते हुए बचपन से लेकर आज तक मेरी आयु के अस्सी वर्ष व्यतीत हो गये किन्तु कभी भी मैंने किसी पक्षी के पुरीष में सुवर्ण उत्पन्न होते नहीं देखा था।' यह सोचकर उसने उसी वृक्ष पर अपने पाश को बाँध दिया (और स्वयं थोड़ी दूर पर बैठ कर प्रतीक्षा करने लगा)। वह पक्षी भी अपनी मूर्खता के कारण विश्वस्त होकर पाशयुक्त अपने स्थान पर पूर्ववत् बैठा रहा और तत्काल ही वह जाल में फँस गया। व्याध ने जाल में फँसे हुए उस पक्षी को जाल से निकाल कर पिजड़े में बन्द कर दिया और उसे वह अपने घर लाया। इसके बाद घर आकर उसने सोचा कि—'इस आपदयुक्त पक्षी को लेकर मैं क्या करूँगा? यदि किसी ने इस विचित्र पक्षी को देख लिया तो वह राजा से अवश्य कहेगा। तब राजा को इस बात की जानकारी होते ही मेरे प्राणों पर सङ्कट आ जायेंगे। अतः मैं स्वयं इसे ले जाकर राजा को दे आता हूँ।' यह सोचकर व्याध ने उस विचित्र पक्षी को ले जाकर उन्हें दे दिया।

अथ राजाऽपि तं पक्षिणं दृष्ट्वा विकसितनयनवदनकमलः परां तुष्टिमुपागतः; प्राह च एवं—'हंहो ! रक्षापुरुषाः ! एनं पक्षिणं यत्नेन रक्षत, अशनपानादिकञ्च अस्य यथेच्छं प्रयच्छत।' अथ मन्त्रिणा अभिहितं—किमनेन अश्रद्धेयव्याधवचनप्रत्ययमात्रपरिगृहीतेन अण्डजेन ? किं कदाचित् पक्षिपुरीषे सुवर्णं सम्भवति ? तन्मुच्यतां पञ्जरबन्धनादयं पक्षी' इति मन्त्रिवचनात् राज्ञा मोचितोऽसौ पक्षी उन्नतद्वारतोरणे समुपविश्य सुवर्णमयीं विष्ठां विधाय—'पूर्वं तावदहं मूर्खः' इति श्लोकं पठित्वा यथासुखम् आकाशमार्गेण प्रायात्। अतोऽहं ब्रवीमि—'पूर्वं तावदहं मूर्खः' इत्यादि ।

---

(१) हंहो !—भोः ! रक्षापुरुषाः–रक्षिजनाः। अस्य—पक्षिणः इत्यर्थः। सम्बन्धविवक्षया सम्प्रदाने षष्ठी। अश्रद्धेयेति। अश्रद्धेयम्–अविश्वसनीयं, यत् व्याधस्य वचनं, तस्मिन् प्रत्ययमात्रेण परिगृहीतः तेन। अण्डजेन—पक्षिणा, 'शकुन्तपक्षिशकुनि ...। ... पतत्पत्ररथाण्डजाः।' इत्यमरः। उन्नतेति। उन्नतम्–उच्चैः, द्वारं—बहिर्गमनस्थानं यस्य तादृशं यत् तोरणं तस्मिन् बहिर्द्वारप्रदेशे इत्यर्थः, 'तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारम्' इत्यमरः। विधाय–कृत्वा, उत्सृज्य इत्यर्थः। प्रायात्—प्रस्थितः।

राजा भी उस पक्षी को देखकर बहुत आश्चर्यान्वित हुआ और (उस पक्षी को पाकर) उसे बड़ा सन्तोष हुआ। उसने अपने सेवकों को सम्बोधित करके कहा–'रक्षको ! इस पक्षी को प्रयत्नपूर्वक पालो। जैसा और जितना भी यह चाहे भोजन तथा जल आदि प्रदान करते रहना।' तब (राजा के उक्त आदेश को सुनकर) मन्त्री ने कहा—'अविश्वस्त व्याध के कथन में विश्वास करके इस पक्षी को पिंजड़े में बन्द करके रखने से क्या लाभ है ? क्या कभी किसी पक्षी के पुरीष में सोना उत्पन्न हो सकता है ? अतः इस पक्षी को पिंजड़े के बन्धन से मुक्त कर देना चाहिए।' मन्त्री की बात को मानकर राजा ने उस पक्षी को मुक्त कर दिया और अपनी विमुक्ति के बाद वह पक्षी मुख्य द्वार के तोरण पर जाकर बैठ गया और वहाँ पर स्वर्णमय पुरीषोत्सर्ग करके उसने कहा–'सर्वप्रथम तो मैं मूर्ख हूँ। इसके बाद राजा और मन्त्री भी मूर्ख हैं' इत्यादि। उक्त श्लोक पढ़ने के बाद वह आकाश में उड़ गया और अभिलषित दिशा की ओर चला गया। उक्त कथा को सुनने के बाद रक्ताक्ष ने कहा–इसलिए मैं कहता हूँ कि सर्वप्रथम तो मैं ही मूर्ख हूँ। पुनः यह राजा मूर्ख है। तदनन्तर यह मन्त्री मूर्ख है। तत्पश्चात् यह समुदाय ही मूर्ख है। (अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण मण्डली ही मूर्खों की है)।'

अथ ते पुनरपि प्रतिकूलदैवतया हितमपि रक्ताक्षवचनम् अनादृत्य भूयस्तं प्रभूतमांसादिविविधाहारेण पोषयामासुः। अथ रक्ताक्षः स्ववर्गमाहूय रहः प्रोवाच—'अहो! एतावत् एव अस्मद्भूपतेः कुशलं दुर्गञ्च, तदुपदिष्टं मया यत् कुलक्रमागतः सचिवोऽभिधत्ते। तत् वयमन्यत् पर्वतदुर्गं सम्प्रति समाश्रयामः। उक्तञ्च यतः—

अनागतं यः कुरुते स शोभते
स शोच्यते यो न करोत्यनागतम्।
वनेऽत्र संस्थस्य समागता जरा
बिलस्य वाणी न कदाऽपि मे श्रुता॥ २१३॥

---

(१) प्रतिकूलदैवतया– विमुखभागधेयतया, दुर्भाग्यतयेत्यर्थः। भूयः–पुनः। तं स्थिरजीविनम्। प्रभूतेति। प्रचुरपिशितप्रभृतिबहुविधभोजनदानेन। स्ववर्गम्–आत्मपक्षपातिनं स्वजातीयसमूहमित्यर्थः। रहः—एकान्ते। तदिति। कुलक्रमागतः–वंशपरम्परागतः। सचिवः–मन्त्री, यत् अभिधत्ते—वदति, तत् मया उपदिष्टं–तथा उपदेशो दत्त इत्यर्थः।

अनागतमिति। यः जनः, अनागतम् अनुपस्थितं, कुरुते भाविविपदमाशङ्क्य उपायं करोति इत्यर्थः, स शोभते सुखेन वर्त्तते इत्यर्थः, यः अनागतं न करोति, स शोच्यते, सुहृद्भिरिति शेषः, विपन्नस्य तस्य बन्धुभिः तदर्थं शोकः क्रियते इत्यर्थः, अत्र वने संस्थस्य स्थितस्य, मम इति शेषः, जरा वार्द्धकं, समागता उपस्थिता, किन्तु

तब भाग्य के विपरीत होने से उलूकों ने फिर भी रक्ताक्ष के वचन को तिरस्कृत कर दिया और स्थिरजीवि के आहार के लिए पूर्ववत् पर्याप्त मांस आदि देकर वे उसका पालन-पोषण करने लगे। तब उक्त आचरण को देखकर रक्ताक्ष ने अपने अनुयायी सेवकों को बुलाकर एकान्त में कहा—'आज तक ही इस राजा का कुशल था और इसके दुर्ग की भी सुरक्षा थी। मैंने सब कुछ मन्त्रणा दे दी है जो एक कुलक्रमागत मन्त्री को देनी चाहिये और राजा को समझा भी दिया है, (किन्तु जब वह मेरे कथन पर विश्वास करने को प्रस्तुत नहीं है तो क्या किया जाय?)। अतः हमलोगों को अब किसी अन्य पर्वत दुर्ग का आश्रयण कर लेना चाहिए। क्योंकि कहा भी गया है कि—

जो व्यक्ति अपने भविष्य को भलीभाँति समझकर किसी कार्य को आरम्भ करता है वही बाद में प्रशंसा का पात्र होता हैं। जो व्यक्ति अपने भविष्य को बिना सोचे ही कार्यारम्भ कर देता है, वह बाद में कष्ट तो पाता ही है, लोक निन्दा का भी

ते प्रोचुः—'कथमेतत् ?' रक्ताक्षः कथयति—

१५ : बिलवाणी कथा

कस्मिंश्चित् वनोद्देशे खरनखरो नाम सिंहः प्रतिवसति स्म। स कदाचित् इतश्चेतश्च परिभ्रमन् क्षुत्क्षामकण्ठो न किञ्चिदपि सत्त्वम् आससाद। ततश्च अस्तमनसमये महतीं गिरिगुहाम् आसाद्य प्रविष्टः चिन्तयामास—'नूनम् एतस्यां गुहायां रात्रौ केनापि सत्त्वेन आगन्तव्यम्, तत् निभृतो भूत्वा तिष्ठामि।' एतस्मिनन्तरे तत्स्वामी दधिपुच्छो नाम शृगालः समायातः। स च यावत् पश्यति, तावत् सिंहपदपद्धतिर्गुहायां

कदाऽपि बिलस्य गह्वरस्य, वाणी वचनं, मे मया इत्यर्थः, मयेत्यर्थे मे इति शब्दः निपातेषु द्रष्टव्यः, 'ते मे शब्दौ निपातेषु' (५म अधि० २य अ० १० सू०) इति वामनः। न श्रुता न आकर्णिता। वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ २१३ ॥

[१५]

(१) खरनखरः—खराः—तीक्ष्णाः, नखराः यस्य तथोक्तः। क्षुदिति। क्षुधा—बुभुक्षया, क्षामः—शुष्कः, कण्ठो यस्य तादृशः। सत्त्वं—प्राणिनम्। आससाद—प्राप। अस्तमनसमये—सायङ्काले। नूनं—निश्चितम्। सत्त्वेन—जीवेन। आगन्तव्यम्—आगत्य स्थातव्यमित्यर्थः। निभृतः—निस्तब्धः। तत् स्वामी—गुहाधिकारी। सिंहेति। सिंहस्य पदपद्धतिः—पदक्षेपचिह्नम्। अन्तर्गतेन—

पात्र बनता है। इस वन में रहते हुए मेरी वृद्धावस्था आ गयी किन्तु कभी भी मुझे बिल की वाणी सुनने को नहीं मिली थी ॥ २१२ ॥

(रक्ताक्ष की बात को सुनकर) उसके अनुचरों ने पूछा—'यह कैसे ?'

बिल की वाणी की कथा

किसी वन के एक भाग में खरनखर नाम का एक सिंह रहा करता था। एक दिन भूख से व्याकुल होकर वह दिन भर इधर-उधर जीवों की खोज में घूमता रहा, किन्तु उसको कोई भी जीव नहीं मिला। इसके बाद सूर्यास्त हो जाने पर किसी गुफा को देखकर वह उसी में घुस गया। गुफा के भीतर उसने जाकर सोचा कि 'रात्रि में कोई न कोई जीव विश्राम करने के लिए यहाँ अवश्य आयेगा। अतः छिपकर यहीं बैठ जाता हूँ।' (उक्त प्रकार से सोचकर वह उस गुफा में बैठ गया)। इसी बीच उस गुफा में रहने वाला दधिपुच्छ नाम का एक शृगाल वहाँ आ पहुँचा। गुफा के द्वार पर पहुँचते ही उसने देखा कि सिंह के पदचिह्नों की पंक्ति

प्रविष्टा, न च निष्क्रमणं गता इति दृष्टवान्। ततश्च अचिन्तयत्—'अहो! विनष्टोऽस्मि? नूनमस्याम् अन्तर्गतेन सिंहेन भाव्यम्, तत् किं करोमि? कथं ज्ञास्यामि?' एवं विचिन्त्य द्वारस्थः फूत्कर्त्तुम् आरब्धः—'अहो बिल! अहो बिल!' इत्युक्त्वा तूष्णीम्भूय भूयोऽपि तथा एव प्रत्यभाषत—'भोः! किं न स्मरसि, यत् मया त्वया सह समयः कृतोऽस्ति, यत् मया बाह्यात् समागतेन त्वं वक्तव्यः, त्वया च अहम् आकारणीय इति? तत् यदि मां न आह्वयसि, ततोऽहं द्वितीयं बिलं यास्यामि।' अथ तत् श्रुत्वा सिंहः चिन्तितवान्—'नूनम् एषा गुहा अस्य समागतस्य सदा समाह्वानं करोति, परम् अद्य मद्भयात् न किञ्चित् ब्रूते। अथवा साधु इदमुच्यते—

भयसन्त्रस्तमनसां हस्तपादादिकक्रियाः।
प्रवर्त्तन्ते न वाणी च वेपथुश्चाधिको भवेत्॥ २१४॥

अन्तः–मध्यं, गतेन–प्राप्तेन, तत्र स्थितेन इत्यर्थः। फूत्कर्त्तुं—चीत्कर्त्तुम्, आह्वातुम् इत्यर्थः,। तूष्णीम्भूय—मौनी भूत्वा। तथा एव–फूत्कृत्य एवेत्यर्थः। समयः–नियमः। बाह्यात्—बहिर्देशात्। वक्तव्यः—आह्वातव्य इत्यर्थः। आकारणीयः–आमन्त्रणीयः।

भयेति। भयेन सन्त्रस्तं, अतिव्याकुलम्, भयाकुलमित्यर्थः, मनो येषां तथो-

---

गुफा के भीतर चली गयी है किन्तु बाहर नहीं निकली है। उसको देखकर वह सोचने लगा कि 'अब तो मैं मार ही डाला गया। इस गुफा के भीतर कोई न कोई सिंह अवश्य घुसा है। अब मैं क्या करूँ? कैसे समझूँ कि इसके भीतर सिंह है या निकल गया है?' इस प्रकार से सोचते हुए गुफा के द्वार पर खड़ा होकर पुकारने लगा 'हे बिल! हे बिल!' उक्त शब्दों का उच्चारण करके वह मौन हो गया। जब उसे कोई प्रत्युत्तर नहीं मिला तो पुनः कहने लगा...'अरे! क्या तुम्हें स्मरण नहीं है कि मैंने तुम्हारे साथ यह शर्त की थी कि जब मैं तुम्हें बुलाया करूँगा तब तुम भी मेरा आह्वान करोगे। यदि तुम मुझे नहीं बुलाते हो तो मैं किसी दूसरे बिल में चला जाऊँगा।' तब शृगाल की बात को सुनकर सिंह ने सोचा—'यह गुफा इसके आगमन पर सदैव इसका आह्वान अवश्य करती है। किन्तु आज मेरे भय से कुछ बोल नहीं रही है। अथवा किसी ने ठीक ही कहा है—

भयभीत व्यक्ति की हस्तपाद सम्बन्धी सभी क्रियायें रुक जाती हैं, उसकी वाणी भी रुक जाती है और उसके शरीर में कम्पन भी अधिक होने लगता है॥ २१४॥

अथ राजाऽपि तं पक्षिणं दृष्ट्वा विकसितनयनवदनकमलः परां तुष्टिमुपागतः; प्राह च एवं—'हंहो ! रक्षापुरुषाः ! एनं पक्षिणं यत्नेन रक्षत, अशनपानादिकञ्च अस्य यथेच्छं प्रयच्छत।' अथ मन्त्रिणा अभिहितं—किमनेन अश्रद्धेयव्याधवचनप्रत्ययमात्रपरिगृहीतेन अण्डजेन ? किं कदाचित् पक्षिपुरीषे सुवर्णं सम्भवति ? तन्मुच्यतां पञ्जरबन्धनादयं पक्षी' इति मन्त्रिवचनात् राज्ञा मोचितोऽसौ पक्षी उन्नतद्वारतोरणे समुपविश्य सुवर्णमयीं विष्ठां विधाय—'पूर्वं तावदहं मूर्खः' इति श्लोकं पठित्वा यथासुखम् आकाशमार्गेण प्रायात्। अतोऽहं ब्रवीमि—'पूर्वं तावदहं मूर्खः' इत्यादि।

---

(१) हंहो !—भोः ! रक्षापुरुषाः–रक्षिजनाः। अस्य—पक्षिणः इत्यर्थः। सम्बन्धविवक्षया सम्प्रदाने षष्ठी। अश्रद्धेयेति। अश्रद्धेयम्–अविश्वसनीयं, यत् व्याधस्य वचनं, तस्मिन् प्रत्ययमात्रेण परिगृहीतः तेन। अण्डजेन—पक्षिणा, 'शकुन्तपक्षिशकुनि ...। ... पतत्पत्ररथाण्डजाः।' इत्यमरः। उन्नतेति। उन्नतम्–उच्चैः, द्वारं—बहिर्गमनस्थानं यस्य तादृशं यत् तोरणं तस्मिन् बहिर्द्वारप्रदेशे इत्यर्थः, 'तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारम्' इत्यमरः। विधाय–कृत्वा, उत्सृज्य इत्यर्थः। प्रायात्—प्रस्थितः।

राजा भी उस पक्षी को देखकर बहुत आश्चर्यान्वित हुआ और (उस पक्षी को पाकर) उसे बड़ा सन्तोष हुआ। उसने अपने सेवकों को सम्बोधित करके कहा–'रक्षको ! इस पक्षी को प्रयत्नपूर्वक पालो। जैसा और जितना भी यह चाहे भोजन तथा जल आदि प्रदान करते रहना।' तब (राजा के उक्त आदेश को सुनकर) मन्त्री ने कहा—'अविश्वस्त व्याध के कथन में विश्वास करके इस पक्षी को पिंजड़े में बन्द करके रखने से क्या लाभ है ? क्या कभी किसी पक्षी के पुरीष में सोना उत्पन्न हो सकता है ? अतः इस पक्षी को पिंजड़े के बन्धन से मुक्त कर देना चाहिए।' मन्त्री की बात को मानकर राजा ने उस पक्षी को मुक्त कर दिया और अपनी विमुक्ति के बाद वह पक्षी मुख्य द्वार के तोरण पर जाकर बैठ गया और वहाँ पर स्वर्णमय पुरीषोत्सर्ग करके उसने कहा–'सर्वप्रथम तो मैं मूर्ख हूँ। इसके बाद राजा और मन्त्री भी मूर्ख हैं' इत्यादि। उक्त श्लोक पढ़ने के बाद वह आकाश में उड़ गया और अभिलषित दिशा की ओर चला गया। उक्त कथा को सुनने के बाद रक्ताक्ष ने कहा–इसलिए मैं कहता हूँ कि सर्वप्रथम तो मैं ही मूर्ख हूँ। पुनः यह राजा मूर्ख है। तदनन्तर यह मन्त्री मूर्ख है। तत्पश्चात् यह समुदाय ही मूर्ख है। (अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण मण्डली ही मूर्खों की है)।'

अथ ते पुनरपि प्रतिकूलदैवतया हितमपि रक्ताक्षवचनम् अनादृत्य भूयस्तं प्रभूतमांसादिविविधाहारेण पोषयामासुः। अथ रक्ताक्षः स्ववर्ग-माहूय रहः प्रोवाच —'अहो ! एतावत् एव अस्मद्भूपतेः कुशलं दुर्गञ्च, तदु-पदिष्टं मया यत् कुलक्रमागतः सचिवोऽभिधत्ते। तत् वयमन्यत् पर्वतदुर्गं सम्प्रति समाश्रयामः। उक्तञ्च यतः—

अनागतं यः कुरुते स शोभते
　　स शोच्यते यो न करोत्यनागतम्।
वनेऽत्र संस्थस्य समागता जरा
　　बिलस्य वाणी न कदाऽपि मे श्रुता ॥ २१३ ॥

---

(१) प्रतिकूलदैवतया— विमुखभागधेयतया, दुर्भाग्यतयेत्यर्थः। भूयः—पुनः। तं स्थिरजीविनम्। प्रभूतेति। प्रचुरपिशितप्रभृतिबहुविधभोजनदानेन। स्ववर्गम्—आत्मपक्षपातिनं स्वजातीयसमूहमित्यर्थः। रहः—एकान्ते। तदिति। कुल-क्रमागतः—वंशपरम्परागतः। सचिवः—मन्त्री, यत् अभिधत्ते—वदति, तत् मया उपदिष्टं—तथा उपदेशो दत्त इत्यर्थः।

अनागतमिति। यः जनः, अनागतम् अनुपस्थितं, कुरुते भाविविपदमाशङ्क्य उपायं करोति इत्यर्थः, स शोभते सुखेन वर्त्तते इत्यर्थः, यः अनागतं न करोति, स शोच्यते, सुहृद्भिरिति शेषः, विपन्नस्य तस्य बन्धुभिः तदर्थं शोकः क्रियते इत्यर्थः, अत्र वने संस्थस्य स्थितस्य, मम इति शेषः, जरा वार्द्धकं, समागता उपस्थिता, किन्तु

तब भाग्य के विपरीत होने से उलूकों ने फिर भी रक्ताक्ष के वचन को तिरस्कृत कर दिया और स्थिरजीवि के आहार के लिए पूर्ववत् पर्याप्त मांस आदि देकर वे उसका पालन-पोषण करने लगे। तब उक्त आचरण को देखकर रक्ताक्ष ने अपने अनुयायी सेवकों को बुलाकर एकान्त में कहा—'आज तक ही इस राजा का कुशल था और इसके दुर्ग की भी सुरक्षा थी। मैंने सब कुछ मन्त्रणा दे दी है जो एक कुलक्रमा-गत मन्त्री को देनी चाहिये और राजा को समझा भी दिया है, (किन्तु जब वह मेरे कथन पर विश्वास करने को प्रस्तुत नहीं है तो क्या किया जाय ?)। अतः हमलोगों को अब किसी अन्य पर्वत दुर्ग का आश्रयण कर लेना चाहिए। क्योंकि कहा भी गया है कि—

जो व्यक्ति अपने भविष्य को भलीभाँति समझकर किसी कार्य को आरम्भ करता है वही बाद में प्रशंसा का पात्र होता हैं। जो व्यक्ति अपने भविष्य को बिना सोचे ही कार्यारम्भ कर देता है, वह बाद में कष्ट तो पाता ही है, लोक निन्दा का भी

ते प्रोचुः—'कथमेतत् ?' रक्ताक्षः कथयति—

१५ : बिलवाणी कथा

कस्मिंश्चित् वनोद्देशे खरनखरो नाम सिंहः प्रतिवसति स्म। स कदाचित् इतश्चेतश्च परिभ्रमन् क्षुत्क्षामकण्ठो न किञ्चिदपि सत्त्वम् आससाद। ततश्च अस्तमनसमये महतीं गिरिगुहाम् आसाद्य प्रविष्टः चिन्तयामास—'नूनम् एतस्यां गुहायां रात्रौ केनापि सत्त्वेन आगन्तव्यम्, तत् निभृतो भूत्वा तिष्ठामि।' एतस्मिनन्तरे तत्स्वामी दधिपुच्छो नाम श्रृगालः समायातः। स च यावत् पश्यति, तावत् सिंहपदपद्धतिर्गुहायां

कदाऽपि बिलस्य गह्वरस्य, वाणी वचनं, मे मया इत्यर्थः, मयेत्यर्थे मे इति शब्दः निपातेषु द्रष्टव्यः, 'ते मे शब्दौ निपातेषु' (५म अधि० २य अ० १० सू०) इति वामनः। न श्रुता न आकर्णिता। वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ २१३ ॥

[१५]

(१) खरनखरः–खराः—तीक्ष्णाः, नखराः यस्य तथोक्तः। क्षुदिति। क्षुधा—बुभुक्षया, क्षामः—शुष्कः, कण्ठो यस्य तादृशः। सत्त्वं—प्राणिनम्। आससाद—प्राप। अस्तमनसमये—सायङ्काले। नूनं—निश्चितम्। सत्त्वेन—जीवेन। आगन्तव्यम्—आगत्य स्थातव्यमित्यर्थः। निभृतः—निस्तब्धः। तत् स्वामी—गुहाधिकारी। सिंहेति। सिंहस्य पदपद्धतिः—पदक्षेपचिह्नम्। अन्तर्गतेन—

पात्र बनता है। इस वन में रहते हुए मेरी वृद्धावस्था आ गयी किन्तु कभी भी मुझे बिल की वाणी सुनने को नहीं मिली थी ॥ २१२ ॥

(रक्ताक्ष की बात को सुनकर) उसके अनुचरों ने पूछा—'यह कैसे ?'

बिल की वाणी की कथा

किसी वन के एक भाग में खरनखर नाम का एक सिंह रहा करता था। एक दिन भूख से व्याकुल होकर वह दिन भर इधर-उधर जीवों की खोज में घूमता रहा, किन्तु उसको कोई भी जीव नहीं मिला। इसके बाद सूर्यास्त हो जाने पर किसी गुफा को देखकर वह उसी में घुस गया। गुफा के भीतर उसने जाकर सोचा कि 'रात्रि में कोई न कोई जीव विश्राम करने के लिए यहाँ अवश्य आयेगा। अतः छिपकर यहीं बैठ जाता हूँ।' (उक्त प्रकार से सोचकर वह उस गुफा में बैठ गया)। इसी बीच उस गुफा में रहने वाला दधिपुच्छ नाम का एक श्रृगाल वहाँ आ पहुँचा। गुफा के द्वार पर पहुँचते ही उसने देखा कि सिंह के पदचिह्नों की पंक्ति

प्रविष्टा, न च निष्क्रमणं गता इति दृष्टवान्। ततश्च अचिन्तयत्—'अहो! विनष्टोऽस्मि? नूनमस्याम् अन्तर्गतेन सिंहेन भाव्यम्, तत् किं करोमि? कथं ज्ञास्यामि?' एवं विचिन्त्य द्वारस्थः फूत्कर्त्तुम् आरब्धः—'अहो बिल! अहो बिल!' इत्युक्त्वा तूष्णीम्भूय भूयोऽपि तथा एव प्रत्यभाषत—'भोः! किं न स्मरसि, यत् मया त्वया सह समयः कृतोऽस्ति, यत् मया बाह्यात् समागतेन त्वं वक्तव्यः, त्वया च अहम् आकारणीय इति? तत् यदि मां न आह्वयसि, ततोऽहं द्वितीयं बिलं यास्यामि।' अथ तत् श्रुत्वा सिंहः चिन्तितवान्—'नूनम् एषा गुहा अस्य समागतस्य सदा समाह्वानं करोति, परम् अद्य मद्भयात् न किञ्चित् ब्रूते। अथवा साधु इदमुच्यते—

भयसन्त्रस्तमनसां हस्तपादादिकक्रियाः।
प्रवर्त्तन्ते न वाणी च वेपथुश्चाधिको भवेत्॥ २१४॥

अन्तः–मध्यं, गतेन–प्राप्तेन, तत्र स्थितेन इत्यर्थः। फूत्कर्त्तुं—चीत्कर्त्तुम्, आह्वातुम् इत्यर्थः,। तूष्णीम्भूय—मौनी भूत्वा। तथा एव–फूत्कृत्य एवेत्यर्थः। समयः–नियमः। बाह्यात्—बहिर्देशात्। वक्तव्यः—आह्वातव्य इत्यर्थः। आकारणीयः–आमन्त्रणीयः।

भयेति। भयेन सन्त्रस्तं, अतिव्याकुलम्, भयाकुलमित्यर्थः, मनो येषां तथो-

---

गुफा के भीतर चली गयी है किन्तु बाहर नहीं निकली है। उसको देखकर वह सोचने लगा कि 'अब तो मैं मार ही डाला गया। इस गुफा के भीतर कोई न कोई सिंह अवश्य घुसा है। अब मैं क्या करूँ? कैसे समझूँ कि इसके भीतर सिंह है या निकल गया है?' इस प्रकार से सोचते हुए गुफा के द्वार पर खड़ा होकर पुकारने लगा 'हे बिल! हे बिल!' उक्त शब्दों का उच्चारण करके वह मौन हो गया। जब उसे कोई प्रत्युत्तर नहीं मिला तो पुनः कहने लगा...'अरे! क्या तुम्हें स्मरण नहीं है कि मैंने तुम्हारे साथ यह शर्त की थी कि जब मैं तुम्हें बुलाया करूँगा तब तुम भी मेरा आह्वान करोगे। यदि तुम मुझे नहीं बुलाते हो तो मैं किसी दूसरे बिल में चला जाऊँगा।' तब शृगाल की बात को सुनकर सिंह ने सोचा—'यह गुफा इसके आगमन पर सदैव इसका आह्वान अवश्य करती है। किन्तु आज मेरे भय से कुछ बोल नहीं रही है। अथवा किसी ने ठीक ही कहा है—

भयभीत व्यक्ति की हस्तपाद सम्बन्धी सभी क्रियायें रुक जाती हैं, उसकी वाणी भी रुक जाती है और उसके शरीर में कम्पन भी अधिक होने लगता है॥ २१४॥

तत् अहमस्य आह्वानं करोमि, येन तदनुसारेण प्रविष्टोऽयं मे भोज्यतां यास्यति।' एवं सम्प्रधार्य सिंहः तस्याह्वानम् अकरोत्। अथ सिंहशब्देन सा गुहा प्रतिरवसम्पूर्णा अन्यान् अपि दूरस्थान् आरण्यजीवान् त्रासयामास। शृगालोऽपि पलायमान इमं श्लोकम् अपठत्—

अनागतः यः कुरुते स शोभते
स शोच्यते यो न करोत्यनागतम्।
वनेऽत्र संस्थस्य समागता जरा
बिलस्य वाणी न कदाऽपि मे श्रुता'॥ २१५॥

ङ्गतानां, जनानामिति शेषः, हस्तपादादिकक्रियाः, हस्तौ च पादौ च हस्तपादं, द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' (पा० सू० २।४।२) इत्येकवद्भावः। तदादि येषां ते तेषां हस्तपादादिकानां, क्रियाः व्यापाराः, न प्रवर्त्तन्ते न भवन्तीत्यर्थः, ते करचरणसञ्चलनादिकमपि कर्त्तुं न शक्नुवन्ति इति निष्कर्षः, तथा वाणी च वाक् च, न प्रवर्त्तते इति शेषः, वेपथुः वेपधातोः 'ट्वितोऽथुच्' (पा० सू० ३।३।८९) इति भावे अथुच्प्रत्यये सिद्धम्। कम्पश्च अधिकः अतिशयः, भवेत्॥ २१४॥

(१) प्रतिरवसम्पूर्णा—प्रतिध्वनिपूरिता। दूरस्थान्—दूरस्थितान्। आरण्यजीवान्—वन्यजन्तून्, 'गतिबुद्धि—' (पा० सू० १।४।५२) इति अणिकर्त्तुः कर्मत्वम्।

अनागतमिति। यः जनः, अनागतम् अनुपस्थितं, कुरुते भाविविपदमाशङ्क्य उपायं करोति इत्यर्थः, स शोभते सुखेन वर्त्तते इत्यर्थः, यः अनागतं न करोति, स शोच्यते, सुहृद्भिरिति शेषः, विपन्नस्य तस्य बन्धुभिः, तदर्थं शोकः क्रियते इत्यर्थः, अत्र वने संस्थस्य स्थितस्य, मम इति शेषः, जरा वार्द्धकं, समागता उपस्थिता, किन्तु

अतः मैं ही इसका आह्वान करूँगा। मेरे आह्वान के अनुसार गुफा के भीतर प्रवेश करने ही यह मेरा आहार बन जायेगा।' ऐसा सोचकर वह सिंह उसका आह्वान करने लगा। तब सिंह के आह्वान से गुफा प्रतिध्वनित हो उठी। उसकी प्रतिध्वनि से दूरस्थ अन्य जीव भी संत्रस्त हो उठे। (गुफा की प्रतिध्वनि को सुनकर) भागते हुए शृगाल ने भी इस श्लोक को पढ़ा—

जो व्यक्ति पहिले से ही विचार करके कार्यारम्भ करता है वही सकुशल रह पाता है। जो विना विचारे ही कार्यारम्भ कर देता है उसे बाद में पश्चात्ताप करना पड़ता है। इसी वन में रहते हुए मेरी वृद्धावस्था आ गयी किन्तु बिल की वाणी सुनने को मुझे कभी नही मिली थी॥ २१५॥

तदेवं मत्वा युष्माभिर्मया सह गन्तव्यम्' इति। एवमभिधाय आत्मानुयायिपरिवारानुगतो दूरदेशान्तरं रक्ताक्षो जगाम।

अथ रक्ताक्षे गते स्थिरजीवी अतिहृष्टमना व्यचिन्तयत्—अहो ! कल्याणमस्माकम् उपस्थितम्, यत् रक्ताक्षो गतः, यतः दीर्घदर्शी, एते च मूढमनसः, ततो मम सुखघात्याः सञ्जाताः। उक्तञ्च यतः—

न दीर्घदर्शिनो यस्य मन्त्रिणः स्युर्महीपतेः।
क्रमायाता ध्रुवं तस्य न चिरात् स्यात् परिक्षयः॥ २१६ ॥

अथवा साधु इदमुच्यते—

कदाऽपि बिलस्य गह्वरस्य, वाणी वचनं, मे मया इत्यर्थः, मयेत्यर्थे मे इति शब्दः निपातेषु द्रष्टव्यः, 'ते मे शब्दो निपातेषु' (५म अधि० २य अ० १० सूत्र) इति वामनः न श्रुता न आकर्णिता। वंशस्थविलं वृत्तम्॥ २१५॥

(१) आत्मानुयायीति—स्वानुचरपरिजनवर्गयुक्तः।

(२) मूढमनसः—अविवेकिचित्ताः, अज्ञानां इत्यर्थः। सुखघात्याः—सुखेन विनाश्याः, घात्याः इति हनधातोः 'ऋहलोर्ण्यत्' (पा० सू० ३।१।१२४) इति ण्यत्, 'हनस्तोऽचिण्णलोः' (पा० सू० ७।३।३२) इति तत्वं, 'हो हन्तेः—' (पा० सू० ७।३।५४) इति कुत्वम्, अनुपसर्गे सुप्युपपदे तु 'हनस्त च' (पा० सू० ३।१।१०८) इत्यनेन क्यप्प्रत्ययो भवति, अथवा ब्रह्मणो हननं ब्रह्महत्येति।

नेति। यस्य महीपतेः राज्ञः, मन्त्रिणः सचिवाः, क्रमायाताः, कुलक्रमागताः, तथा दीर्घदर्शिनः भविष्यदर्थदर्शनशीलाः, दूरदृष्टयः इत्यर्थः, न स्युः, तस्य न चिरात् अविलम्बेनैव, ध्रुवं निश्चितं, परिक्षयः विनाशः स्यात्, मन्त्रिणः वैचक्षण्यमेव राज्ञः साम्राज्यवृद्धेः निदानमिति भावः॥ २१६॥

उक्त कथा को सुनकर रक्ताक्ष ने अपने अनुचरों से कहा—'किसी कार्य के परिणाम को पहिले से ही सोच लेना चाहिए, इस बात को मानकर आपलोगों को भी मेरे साथ यहाँ से निकल जाना चाहिए।' यह कहकर रक्ताक्ष ने अपने अनुचरों और पारिवारिक सदस्यों को साथ में लेकर अन्यत्र चला गया।

रक्ताक्ष के चले जाने पर स्थिरजीवी ने प्रसन्न होकर सोचा—'हमारे लिए बड़ा कल्याणकर हो गया कि रक्ताक्ष यहाँ से चला गया। कहा भी गया है—

जिस राजा के पास दीर्घदर्शी एवं कुलागत मन्त्री नहीं होते उनका विनाश बहुत शीघ्र हो जाता है॥ २१६॥

अथवा, यह ठीक ही कहा गया है कि—

मन्त्रिरूपा हि रिपवः सम्भाव्यन्ते विचक्षणैः।
ये सन्तं नयमुत्सृज्य सेवन्ते प्रतिलोमतः॥ २१७॥

एवं विचिन्त्य स्वकुलाये एकैकां वनकाष्ठिकां गुहादीपनार्थं दिने दिने प्रक्षिपति। न च ते मूर्खा उलूका विजानन्ति यत्, एष कुलायम् अस्मद्दाहाय वृद्धिं नयति। अथवा साधु इदमुच्यते—

अमित्रं कुरुते मित्रं मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च।
शुभं वेत्त्यशुभं पापं भद्रं दैवहतो नरः॥ २१८॥

मन्त्रिरूपा इति। ये सन्तं शोभनं, नयं नीतिमार्गम्, उत्सृज्य विहाय, प्रतिलोमतः प्रतिकूलेन नयेन, दुर्नयेनेत्यर्थः, सेवन्ते, प्रभुमिति शेषः, विचक्षणैः विद्वद्भिः, ते मन्त्रिरूपाः अमात्यव्यपदेशिनः, रिपवः शत्रवः, सम्भाव्यन्ते हि मन्यन्ते एव, तृणाच्छादितकूपवत् विपरीतनीतिप्रस्थितः सचिवः नियतमनर्थमुत्पादयतीति भावः॥ २१७॥

(१) स्वकुलाये—निजनीडे। वनकाष्ठिकां—वनस्य क्षुद्रं काष्ठमित्यर्थः, ह्रस्वं काष्ठमित्यर्थे 'ह्रस्वे' (पा० सू० ५।३।८६) इति कनि, प्रत्ययस्थात् कात्' (पा० सू० ७।३।४४) इति अकारस्य इत्वम्। गुहादीपनार्थं—दुर्गप्रज्ज्वालनार्थम्। दिने दिने—प्रतिदिनम्।

अमित्रमिति। दैवहतः दैवेन दुर्भाग्येण, हतो विनाशितः, प्रतिकूलदैव इत्यर्थः, नरः अमित्रं शत्रुं मित्रं कुरुते, तस्मिन् मित्रबुद्धिं विदधातीत्यर्थः, मित्रं सुहृदं, द्वेष्टि तदुद्दिश्य द्वेषं करोति, हिनस्ति पीडयति च, शुभम् अशुभं तथा पापम् अमङ्गलम्, भद्रं मङ्गलं, वेत्ति बुध्यते च, दैवे प्रतिकूले बुद्ध्यादिकं सर्वमेव विपर्येति इति भावः॥ २१८॥

उन व्यक्तियों को मन्त्री के रूप में शत्रु ही समझना चाहिए जो राजा के हितकारक परामर्शों के स्थान पर अनुचित परामर्श दिया करते हैं॥ २१७॥

इस प्रकार सोच कर स्थिरजीवी उस गुफा को जलाने के लिए अपने घोंसले में प्रतिदिन एक एक तृण (वनकठ) ले आकर रखने लगा। वे मूर्ख उलूक यह नहीं जान पाते थे कि स्थिरजीवी उन्हीं की गुफा को जलाने के लिए अपने नीड को बढ़ाता चला जा रहा था। अथवा, यह ठीक ही कहा गया है कि—

भाग्य के प्रतिकूल हो जाने पर दुर्भाग्यग्रस्त व्यक्ति शत्रु को ही अपना मित्र समझता है और मित्र को शत्रु समझकर उससे द्वेष करता है, उसका तिरस्कार करने लगता है और उसी को मारने का षड्यन्त्र करने लगता है। वह शुभ को अशुभ समझता है और कल्याणमय पुण्य को पाप समझता है॥ २१८॥

अथ कुलयव्याजेन दुर्गद्वारे कृते काष्ठनिचये, सञ्जाते सूर्योदयेऽन्धतां प्राप्तेषु उलूकेषु सत्सु, स्थिरजीवी शीघ्रं गत्वा मेघवर्णमाह—'स्वामिन् ! दाहसाध्या कृता रिपुगुहा तत् सपरिवारः समेत्य एकैकां वनकाष्ठिकां ज्वलन्तीं गृहीत्वा गुहाद्वारे अस्मत्कुलाय प्रक्षिप, येन सर्वे शत्रवः कुम्भीपाकनरकप्रायेण दुःखेन म्रियन्ते।' तत् श्रुत्वा प्रहृष्टो मेघवर्णमाह—'तात ! कथय आत्मवृत्तान्तं, चिरात् अद्य दृष्टोऽसि।' स आह—'वत्स ! नायं कथनस्य कालः, यतः कदाचित् तस्य रिपोः कश्चित् प्रणिधिर्मम इह आगमनं निवेदयिष्यति, तज्ज्ञानात् अन्धोऽन्यत्र अपसरणं करिष्यति, तत् त्वर्यताम् ! उक्तञ्च—

शीघ्रकृत्ये कार्येषु विलम्बयति यो नरः।
तत्कृत्यं देवतास्तस्य कोपाद्विघ्नन्त्यसंशयम् ॥ २१९ ॥

---

(१) कुलायव्याजेन—नीडनिर्माणच्छलेन। दाहसाध्या—दाहस्य योग्या, भस्मीकरणार्हा इत्यर्थः। कुम्भीपाकेति। कुम्भीपाकाख्यनरकभोगजन्यदुःखसदृशेन। म्रियन्ते—निधनं यान्ति, यथा कुम्भीपाकाख्ये नरके नारकिणः पच्यन्ते, तथा रिपवोऽपि अग्निना दग्धा भविष्यन्तीत्यर्थः। प्रणिधिः—चारः। अपसरणं—पलायनम्। त्वर्यतां-त्वरा क्रियताम्।

शीघ्रेति। यो नरः शीघ्रकृत्येषु अविलम्बेन करणीयेषु कार्येषु विलम्बयति चिर-

---

नीड के व्याज से गुफा के द्वार पर पर्याप्त काष्ठ सञ्चय हो जाने के बाद एक दिन सूर्योदय हो जाने पर जब कि उलूक अन्धे हो चुके थे, स्थिरजीवी शीघ्रतापूर्वक मेघवर्ण के पास पहुँच कर कहा—'स्वामिन् ! शत्रु की उस गुफा को मैंने जलाने योग्य बना दिया है, अतः आप अपने परिजनों के साथ शीघ्र वहाँ चलकर एक-एक जलती हुई लकड़ियो को उठा कर गुफा के द्वार पर स्थित मेरे घोंसले में डाल दीजिये जिसमें कि आप के सम्पूर्ण शत्रु कुम्भीपाक नरक में प्राप्त होने वाले दुःख के समान दुःख से व्याकुल होकर शीघ्र मर जायें।' स्थिरजीवी की बात सुनकर मेघवर्ण ने प्रसन्न होकर पूँछा—'तात ! पहिले आप अपना कुशल समाचार तो कहिए। बहुत दिनों के बाद आज दिखायी पड़े हैं। अब तक आप कहाँ थे और क्या कर रहे थे ?' स्थिरजीवी ने कहा—'वत्स ! यह आत्मवृत्तान्त सुनाने का समय नहीं है। क्योंकि यदि शत्रु का कोई गुप्तचर मेरे यहाँ आने का समाचार जानकर उलूकराज से कह देगा तो वह अन्धा तत्काल वहाँ से भाग जायेगा। अतः आप विलम्ब न करें। शीघ्र वहाँ चलें। कहा भी गया है कि—

शीघ्र करने योग्य कार्य में जो व्यक्ति अनावश्यक विलम्ब करता रहता है, वह

तथा च

यस्य यस्य हि कार्यस्य फलितस्य विशेषतः।
क्षिप्रमक्रियमाणत्वं कालः पिबति तत्फलम् ॥ २२० ॥

तत् गुहायाम् आयातस्य ते हतशत्रोः सर्वं सविस्तरं निर्व्याकुलतया कथयिष्यामि।

अथ असौ तद्वचनम् आकर्ण्य सपरिजन एकैकां ज्वलन्तीं वनकाष्ठिकां चञ्चुग्रेण गृहीत्वा तद्गुहाद्वारं प्राप्य स्थिरजीविकुलाये प्राक्षिपत्। ततः सर्वे ते दिवान्धा रक्ताक्षवाक्यानि स्मरन्तो द्वारस्य आवृतत्वात् अनिःसरन्तो

यति, विलम्बं करोतीत्यर्थे 'तत्करोति—' (ग०) इति णिचि लटि रूपम्। देवताः कोपात् तं प्रति क्रोधात्, तस्य तत् कृत्यं कार्यम्, असंशयं निःसन्देहं, विघ्नन्ति विनाशयन्ति, अलसस्य कार्यविघातः अवश्यम्भावीति भावः ॥ २१९ ॥

यस्येति। यस्य यस्य विशेषतः फलितस्य फलोन्मुखस्य, कार्यस्य क्षिप्रं शीघ्रम्, अक्रियमाणत्वम्, अननुष्ठीयमानत्वं, विलम्बेन अनुष्ठानम् इत्यर्थः, स्यादिति शेषः, कालः विलम्बरूपः इत्यर्थः, अचिराननुष्ठानोपलक्षितः समयः इति भावः, तस्य कार्यस्य, फलं पिबति ग्रसति, विफलयति इत्यर्थः, विलम्बे कार्यहानिसम्भावना, अतस्त्वया शीघ्रमागन्तव्यमिति तात्पर्यम् ॥ २२० ॥

(१) आयातस्य—आगतस्य। हतशत्रोः—निहतवैरिणः। निर्व्याकुलतया—निःशङ्कतया।

(२) आवृतत्वात्—रुद्धत्वात्। अनिःसरन्तः—निर्गन्तुमशक्नुवन्तः। कुम्भो-

---

उसे पूर्ण नहीं कर पाता। क्योंकि उसके विलम्ब से अप्रसन्न होकर देवतागण उसके कार्य को विघ्नित कर देते हैं ॥ २१९ ॥

और भी—विशेषतः ऐसे कार्य में जिसका फलाप्ति काल अत्यन्त सन्निकट आ गया हो, यदि मनुष्य विलम्ब करता है तो समय उस कार्य के रस को भी पी जाता है और उसे सारहीन बना देता है ॥ २२० ॥

अतः शत्रु की गुफा को जला कर जब आप लौट आयेंगे और पूर्ण निष्कण्टक हो जायेंगे तो स्थिर एवं निश्चिन्त होकर सविस्तार सब सुनाऊँगा।'

स्थिरजीवी की बात को सुनकर मेघवर्ण अपने परिजनों के साथ में लेकर वहाँ पहुँच गया। वायसों ने अपनी-अपनी चोंच में एक-एक जलती हुई लकड़ियों को लेकर गुफा के द्वार पर स्थित स्थिरजीवी के घोंसले में डालना प्रारम्भ कर दिया। दिवान्ध उलूक रक्ताक्ष के कथन को स्मरण करते हुए गुफा के भीतर ही कुम्भ में

गुहामध्ये कुम्भीपाकन्यायम् आपन्नाः मृताश्च । एवं शत्रून् निःशेषतां नीत्वा भूयोऽपि मेघवर्णः तमेव न्यग्रोधपादपदुर्गं जगाम। ततः सिंहासनस्थो भूत्वा सभामध्ये प्रमुदितमनाः स्थिरजीविनम् अपृच्छत्—'तात ! कथं त्वया शत्रुमध्ये गतेन एतावत्पर्यन्तं कालो नीतः? तदत्र कौतुकम् अस्माकं वर्त्तते, तत् कथ्यताम्। यतः—

वरमग्नौ प्रदीप्ते तु प्रपातः पुण्यकर्मणाम्।
न चारिजनसंसर्गो मुहूर्त्तमपि सेवितः ॥ २२१ ॥

तत् आकर्ण्य स्थिरजीवी आह— भद्र ! आगामिफलवाञ्छया कष्टमपि

पाकन्यायं—कुम्भीपाकाख्यनरकपचनतुल्यदुःखमित्यर्थः । आपन्नाः—प्राप्ताः, तथैव दग्धा इति भावः। प्रमुदितमनाः—हृष्टान्तःकरणः।

वरमिति। पुण्यकर्मणां पुण्यं पूतं, कर्म क्रिया येषां तेषां, पवित्रचरित्राणामित्यर्थः, जनानामिति शेषः, अत्र हि विशेषणमात्रप्रयोगात् जनानामिति विशेष्यस्यापि प्रतीतिः, तथा च वामनः—विशेषणमात्रप्रयोगो विशेष्यप्रतिपत्तौ' (५म अधि० १म अ० १० सू०) इति प्रदीप्ते प्रज्ज्वलिते, अग्नौ अनले, प्रपातस्तु प्रपतनमपि, वरं मनाक्प्रियः, च किन्तु, मुहूर्त्तमपि क्षणमपि, 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा०सू० २।३।५) इति द्वितीया, सेवितः कृतः, इत्यर्थः, अरिजनसंसर्गः शत्रुलोकमध्यवासः, न, वरमित्यनुषङ्गः, अनलदाहादपि अधिकसन्तापकरः, शत्रुसंसर्गः इति हृदयम् ॥ २२१ ॥

(१) आगामीति। आगामिनः—भाविनः, फलस्य—कार्यस्य, शुभफलस्येत्यर्थः,

---

रखकर पकाये जाने के समान जलकर भस्म हो गये। गुफा के द्वार अवरुद्ध हो जाने के कारण कोई भी बाहर निकल कर भाग नहीं पाया। उक्त प्रकार से अपने सम्पूर्ण शत्रुओं को निःशेष करके मेघवर्ण पुनः उसी वटवृक्ष पर चला गया। वहाँ सिंहासीन होने के बाद प्रसन्न होकर सभा के मध्य स्थित स्थिरजीवी से उसने पूँछा—'तात ! आपने इतने दिनों तक शत्रुओं के मध्य में रहकर अपना समय कैसे व्यतीत किया? इस बात को जानने के लिए हमलोगों के हृदय में बहुत उत्सुकता है। कृपया आप अपना वृत्तान्त सुनाकर हमलोगों की उत्सुकता को शान्त करें। यतः कहा भी गया है—

पुण्यात्माओं के लिए प्रदीप्त अग्नि में गिर कर प्राणत्याग कर देना अच्छा होता है किन्तु शत्रुओं के संसर्ग में रह कर एक भी क्षण व्यतीत करना अच्छा नहीं होता ॥ २२१ ॥

मेघवर्ण के प्रश्नों को सुनकर स्थिरजीवी ने कहा—'भद्र ! सेवकजन भविष्य में

सेवको न जानाति । उक्तञ्च यतः—

उपनतभयैर्यो यो मार्गो हितार्थकरो भवेत्
स स निपुणया बुद्धया सेव्यो महान् कृपणोऽपि वा ।
करिकरनिभौ ज्याऽऽघाताङ्कौ महाऽर्थविशारदौ
रचितवलयैः स्त्रीवद् बद्धौ करौ हि किरीटिना ॥ २२२ ॥

वाञ्छया—प्रत्याशया । जानाति—बुध्यते, गणयति इत्यर्थः ।

अथ षड्भिः श्लोकैः पञ्चानां पाण्डवानां द्रौपद्याश्च अज्ञातवासकालिकाचारवर्णन-मुखेन स्वकार्योद्धरणाय क्लेशकरः, नीचजनाचारोऽपि सेवनीय इत्याह—उपनतेति । उपनतम् उपस्थितं, भयं येषां तैः विपन्नैरित्यर्थः, जनैः इति शेषः, यो यो मार्गः पन्थाः, उपाय इत्यर्थः, हितार्थकरः हितकार्यसाधकः, यद्वा—हितस्य क्षेमस्य, अर्थस्य धनस्य च, करः प्रदायक इत्यर्थः, भवेत्, निपुणया शोभनया, चतुरया इत्यर्थः, बुद्धया महान् उत्कृष्टः, कृपणोऽपि वा अधर्मोऽपि वा, विपत्सङ्कुलोऽपि वा इत्यर्थः स स मार्गः, सेव्यः आश्रयणीयः । प्रोक्तमेवार्थमुदाहरणप्रदर्शनेन विशदीकरोति—करीत्यादिना । हि तथा हि, किरीटिना अर्जुनेन, करिकरनिभौ हस्तिशुण्डसदृशौ, ज्याघाताङ्कौ मौर्वी-किणचिह्नितौ, महाऽर्थविशारदौ विपुलार्थसाधने अभिज्ञौ इत्यर्थः, करौ बाहू, स्त्रीवत् नारीवत्, रचितवलयैः कृत्रिमकङ्कणैः, कपटेन परिहितैः वलयैः इति यावत्, बद्धौ योजितौ, अलङ्कृतौ इत्यर्थः, अज्ञातवासे विराटालये स्त्रीवेशधारिणा बभूवे इत्यर्थः, पुरा वीरप्रधानस्य अर्जुनस्य तुच्छस्त्रीवेशधारणं युज्यते एव विपत्प्रतिकारार्थमिति भावः । अत्र सामान्यस्य भीतपुरुषकृतमहत्कृपणान्यतरमार्गसेवनस्य विशेषेण किरीटि-कृतस्त्रीजनोचितकरबन्धनेन सोपपत्तिकत्वकरणात् विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽयमर्था-न्तरन्यासः । हरिणी वृत्तम् ॥ २२२ ॥

मिलने वाले फल की आशा से कष्टों को भूल जाते हैं । वे उनकी परवाह नहीं करते । यतः कहा भी गया है—

आपत्ति के आ जाने पर मनुष्य को जो-जो उपाय हितकर प्रतीत हों, उन सभी उपायों को बुद्धिमत्ता एवं कुशलता के साथ अपनाते जाना चाहिए । वे उपाय उत्कृष्ट हों या निकृष्ट, उनको छोड़ना नहीं चाहिए । यदि निकृष्ट उपाय से ही अपना हित होता हो तो उसका अवलम्बन अवश्य कर लेना चाहिए । विपत्ति काल आ जाने पर अर्जुन ने अपने गजशुण्ड के समान विशाल, गाण्डीव की प्रत्यञ्चा को खींचने से ज्याघाताङ्कित एवं दिव्यास्त्रों को चलाने में निपुण हाथों में स्त्रियों की तरह खनखनाती हुई चूड़ियों को क्या धारण नहीं किया था ? ॥ २२२ ॥

शक्तेनापि सदा नरेन्द्र ! विदुषा कालान्तरापेक्षिणा
वस्तव्यं खलु वाक्यवज्रविषमे क्षुद्रेऽपि पापे जने ।
दर्वीव्यग्रकरेण धूममलिनेनायासयुक्तेन च
भीमेनातिबलेन मत्स्यभवने किं नोषितं सूदवत् ? ॥ २२३ ॥

यद्वा तद्वा विषमपतितः साधु वा गर्हितं वा
कालापेक्षी हृदयनिहितं बुद्धिमान् कर्म कुर्यात् ।
किं गाण्डीवस्फुरदुरुघनास्फालनक्रूरपाणिः ।
नासील्लीलानटनविलसन् मेखली सव्यसाची ? ॥ २२४ ॥

शक्तेनेति । हे नरेन्द्र ! राजन् ! विदुषा विज्ञेन, शक्तेनापि समर्थेनापि, का कथा असमर्थानामित्यपिकारार्थः, कालान्तरापेक्षिणा सुसमयप्रतीक्षमाणेन, परिणामहितार्थिना इत्यर्थः, तादृशेन सता, वाक्यमेव वज्रम् अतिकठोरत्वात् कुलिशोपममित्यर्थः, तेन विषमे दुःसहे, दुर्वाक्यप्रयोगकारिण इत्यर्थः, क्षुद्रे नीचे, पापे दुराचारे, जनेऽपि, दुर्जनसमीपे इत्यर्थः, सदा वस्तव्यं खलु, वासः कर्तव्यः एव, आ-स्वकार्यसमुद्धारादिति भावः । एतदेव सोपपत्तीकरोति—दर्वीत्यादिना । तथा हि, अतिबलेन महाबलशालिना, भीमेन, मत्स्यभवने विराटगृहे, दर्वीव्यग्रकरेण दर्वी पाकसाधनद्रव्यविशेषः, ('कलछी' इति भाषा) तस्यां तद्ग्रहणे इति भावः, व्यग्रः व्यासक्तः, करो यस्य तादृशेन, धूममलिनेन धूमक्लिष्टेन इत्यर्थः, पाकार्थं सततं रन्धनशालायामवस्थानादिति भावः, आयासयुक्तेन क्लेशसहेन च सता, सूदवत् पाचकवत्, किं न उषितम् ? न स्थितम् ? अपि तु स्थितमेव इत्यर्थः, कार्यार्थिना नीचसंसर्गोऽपि न गणनीय इति भावः । पूर्ववत् विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २२३ ॥

प्रोक्तमेव वस्तु अपृथग्भूतेनैवार्थान्तरोपन्यसनेन भङ्ग्या सोपपत्तीकरोति—यद्वेति । विषमे विपदि, पतितः अत एव कालापेक्षी समयं प्रतीक्षमाणः, बुद्धिमान्, जनः

आपत्ति की स्थिति में चतुर व्यक्ति को चाहिए कि वह शक्ति सम्पन्न होते हुए भी कालापेक्षी बनकर अनुकूल समय की प्रतीक्षा करता रहे और यदि आवश्यक हो तो कटुभाषी, क्षुद्र एवं खल व्यक्तियों के बीच में भी बिना किसी संकोच के रह जाय । धूम से धूमिल कलछी के सञ्चालन में व्यग्र, परिश्रमी एवं अत्यन्त व्यस्त जीवन व्यतीत करते हुए भी महाबलशाली भीम ने मत्स्यराज विराट के भवन में पाचक (भण्डारी) के रूप में क्या निवास नहीं किया था ? ॥ २२३ ॥

आपत्ति-काल में फँस जाने की स्थिति में बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि वह कालापेक्षी बनकर सब कुछ जानते हुए भी अपने नेत्रों को बन्द कर ले और अच्छे या

सिद्धिं प्रार्थयता जनेन विदुषा तेजो निगृह्य स्वकं
सत्त्वोत्साहवताऽपि दैवविधिषु स्थैर्यं प्रकार्यं क्रमात् ।
देवेन्द्रद्रविणेश्वरान्तकसमैरप्यन्वितो भ्रातृभिः
किं क्लिष्टः सुचिरं त्रिदण्डमवहत् श्रीमान्न धर्मात्मजः ? ॥२२५॥

इति शेषः, साधु वा सतां सम्मतं वा गर्हितम् असाधु वा, यद्वा तद्वा यत्तदेव कर्मास्तु समीचीनमसमीचीनं, हीनमहीनं वेत्यर्थः, हृदयनिहितं हृदय मनसि, निहितम् अवस्थितम्, सङ्कल्पितमित्यर्थः, कर्म कुर्यात्, तदा सदसतोः विचारं न कुर्यात् इत्यर्थः । तथा हि, सव्यसाची अर्जुनः, गाण्डीवस्य स्वधनुषः, स्फुरता प्रसरता, उरुणा महता, घनेन सान्द्रेण, गम्भीरेणेत्यर्थः, आस्फालनेन अनवरतटङ्कारेण, मौर्वीयोजनेन इषुसन्धानेन च इत्यर्थः, क्रूरौ कठिनौ, पाणी यस्य तथाभूतोऽपि, मेखली काञ्चीधारी सन्, स्त्रीवेशं धृत्वा इत्यर्थः, लीलया विलासेन, यत् नटनं नर्त्तनं 'ताण्डवं नटनं नाट्यं लास्यं नृत्यञ्च नर्त्तने' इत्यमरः । तेन विलसन् विहरन्, न आसीत् ? अपि तु आसीदेव इत्यर्थः । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽयमपि अर्थान्तरन्यासः । मन्दक्रान्ता वृत्तम् ॥ २२४ ॥

सिद्धिमिति । विदुषा विचक्षणेन, सिद्धिं साफल्यं, कार्यस्येति शेषः, प्रार्थयता अभिलषता, अर्थयतेः, चौरादिकस्य आत्मनेपदत्वेनात्र प्रार्थयमानेनेति प्रयोगस्यैव साधुत्वं, शत्रन्तप्रयोगस्तु महाकविप्रयोगात् सहनीय एवेति जनेन, सत्त्वोत्साहवताऽपि बलवता उत्साहिनाऽपि च इत्यर्थः, स्वकं स्वीयं, तेजः प्रभावं, निगृह्य नियम्य, अप्रकाश्य इत्यर्थः, दैवविधिषु दुर्दैवघटनासु इत्यर्थः, क्रमात् स्थैर्यं धैर्यम् इत्यर्थः, प्रकार्यम् आश्रयणीयम् । तथा हि--श्रीमान् साम्राज्यलक्ष्मीसम्पन्नः, धर्मात्मजः

बुरे कार्यों को जिस किसी भी भाँति मौन भाव से करता चला जाय । गाण्डीव की प्रचण्ड प्रत्यञ्चा को खींचने के कारण कठोर हो जाने वाले करों से युक्त अर्जुन ने नृत्यकाल में अपनी कमर में सुशोभित होने वाली काञ्ची (करधनी) को धारण करके नर्तकों के रूप में क्या नृत्य नहीं किया था ? ॥ २२४ ॥

धैर्य एवं उत्साह से युक्त होते हुए सिद्धि की अपेक्षा रखने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने तेज, प्रताप और बल को रोक कर भाग्य के द्वारा स्वतः सिद्ध होने वाले कार्यों में धैर्यपूर्वक स्थिर भाव से समय की प्रतीक्षा करता रहे । इन्द्र, कुबेर तथा यमराज जैसे प्रतापी भाइयों के रहते हुए भी महाराज युधिष्ठिर को विराट के राज्य में त्रिदण्ड धारण करके रहना पड़ा था और अनेक कष्टों को सहना पड़ा था ॥ २२५ ॥

रूपाभिजनसम्पन्नौ कुन्तीपुत्रौ बलान्वितौ ।
गोकर्मरक्षाव्यापारे विराटप्रेष्यतां गतौ ॥ २२६ ॥

रूपेणाप्रतिमेन यौवनगुणैः श्रेष्ठे कुले जन्मना
कान्त्या श्रीरिव याऽत्र साऽपि विदशां कालक्रमादागता ।
सैरिन्ध्रीति सगर्वितं युवतिभिः साक्षेपमज्ञातया
द्रौपद्या ननु मत्स्यराजभवने घृष्टं न किं चन्दनम् ? ॥ २२७ ॥

युधिष्ठिरः, देवेन्द्रद्रविणेश्वरान्तकसमैः, इन्द्रकुबेरयमतुल्यैः, विक्रमशालिभिरित्यर्थः, भ्रातृभिः भीमादिभिरित्यर्थः, अन्वितोऽपि परिवृतोऽपि, सुचिरं दीर्घकालं, क्लिष्टः विपदि पतितः सन्, त्रिदण्डं त्रयाणां दण्डानां वाङ्मनःकायसम्भूतानां क्लेशानां समाहारः त्रिदण्डं त्रिविधं दुःखमित्यर्थः, यद्वा—त्रयाणां दण्डानां पाशकरूपाणां समाहारः त्रिदण्डं, मत्स्यराजभवने वर्षमेकमुषित्वा पाशकमित्यर्थः, किं न अवहत् ? अपि तु कङ्कनामक्रीडाकरव्याजेन स्वसामान्यं प्रभावं प्रच्छाद्य विराटराजभवने अवसत् इत्यर्थः । अत्रापि अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २२५ ॥

रूपेति । रूपाभिजनसम्पन्नौ परमरूपवन्तौ महाकुलप्रसूतौ च, बलान्वितौ महाबलौ, कुन्तीपुत्रौ नकुलसहदेवौ, (माद्रीपुत्राविति च पाठः) गोकर्मरक्षा व्यापारे गवां पशूनां, 'स्वर्गेषु पशुवाग्वज्रा ... ... । लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः ॥' इत्यमरः । कर्मणि गोपालकाश्वपालकसाध्ये सेवाकार्ये, तथा रक्षाव्यापारे तेषां पालन-कर्मणि च, तेभ्यः यथेच्छं भोजनादिकं दत्वा, तान् सततं विघ्नेभ्यः संरक्ष्य चेत्या-शयः । यद्यपि विराटराजभवने माद्रीसुतौ सौरभेयीणां रक्षणे अश्वसंरक्षणे च पृथक्तथा नियुक्तौ आस्तां, तथाऽप्यत्र गोशब्दस्य पशुमात्रवाचकत्वेन वस्तुगतिमनुरुध्य यथास्थिते भारतनिर्दिष्टे कर्मण्येव तौ नियुक्तावभवतामित्येवात्रोक्तमिति ज्ञेयम् । विराटस्य प्रेष्यतां दासत्वं, गतौ प्राप्तौ, विपत्प्रतिकारेच्छुभिः किमपि अकार्यं न गण-नीयम् इति भावः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम्—'युजोश्चतुर्थतो येन पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्' इति लक्षणात् ॥ २२६ ॥

रूपेणेति । अत्र जगति, या अप्रतिमेन निरुपमेण, रूपेण, यौवनगुणैः यौवनेन चिरस्थिरेणेति भावः, गुणैर्दयादाक्षिण्यादिभिश्च, श्रेष्ठे महति, कुले वंशे जन्मना

रूपवान् तथा बलवान् होने पर नकुल और सहदेव ने राजा विराट के यहाँ भृत्य के रूप में रहकर गायों को चराने का कार्य किया था ॥ २२६ ॥

अनुपम सुन्दरी, युवतियों में श्रेष्ठ, उत्तम कुल में उत्पन्न और कान्ति में साक्षात् लक्ष्मी के समान लगने वाली द्रौपदी भी समय की विपरीतावस्था के कारण दुर्दशा को

मेघवर्ण आह—'तात ! असिधाराव्रतमिदं मन्ये, यत् अरिणा सह संवासः।' सोऽब्रवीत्—'देव ! एवमेतत्, परं न तादृङ्मूर्खसमागमः क्वापि मया दृष्टः; न च महाप्राज्ञम् अनेकशास्त्रेषु अप्रतिमबुद्धिं रक्ताक्षं विना धीमान्; यत्कारणं, तेन मदीयं यथाऽवस्थितं चित्तं ज्ञातम्। ये पुनः अन्ये

उत्पत्त्या, तथा कान्त्या लावण्येन च, एतैः, करणैरित्यर्थः, श्रीरिव लक्ष्मीरिव, आसीदिति शेषः, सा द्रौपद्यपीत्यर्थः, तादृग्रूपादिसम्पत्सु वर्त्तमानाऽपीति भावः, कालक्रमात् दुःसमयवशात्, विदशां विपरीतावस्थाम्, आगता प्राप्ता। एतदेव स्पष्टीकर्त्तुं पुनराह—सैरिन्ध्रीति। ननु तथा हि, युवतिभिः कामिनीभिः, मत्स्यराजाङ्गनाभिः इत्यर्थः, सैरिन्ध्रीति परगृहस्था स्वाधीना शिल्पकारिणीति, 'सैरिन्ध्री परवेश्मस्था स्ववशा शिल्पकारिका' इत्यमरः। सगर्वितं साहङ्कारं, साक्षेपं सतिरस्कारं, बचनम् उक्त्या इति शेषः, अज्ञातया प्रच्छन्नया, द्रौपद्या द्रुपदराजतनयया, मत्स्यराजभवने मत्स्यराजस्य विराटस्य, भवने गृहे, चन्दनं किं न घृष्टम्? न मर्दितम्? अपि तु घृष्टमेवेत्यर्थः। दुर्दैववशात् महाकुलप्रसूता रूपगुणशालिनी मनस्विनी अपि विपन्ना भूत्वा नीचकर्म आश्रयति इति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २२७ ॥

(१) असिधाराव्रतम्—असिधारोपरि स्थितावश्यमेव यथा शरीच्छेदः सञ्जायते इति निश्चयः, तथैव शत्रुसहवासे मृत्युः सुनिश्चितः, सावधानावस्थितावपि शरीरकर्तनवत् मृत्युः कथमपि परिहर्त्तुमशक्य एवेति भावः। यद्वा—तदाख्यं यत् व्रतं नियमः, तद्यथा—'युवा युवत्या सार्द्धं यन्मुग्धभर्तृवदाचरेत्। अन्तर्निवृत्तसङ्गः स्यादसिधाराव्रतं हि तत् ॥' इति। घोरविकृतिकारणे सत्यपि अविकृतभावेन स्थितिरिति फलितार्थः। महाप्राज्ञं—सुपण्डितम्। अप्रतिमबुद्धिम्—अतुलनीयज्ञानम्, अकुण्ठितधियमित्यर्थः। धीमान्—बुद्धिमान्, दृष्ट इति पूर्वेणान्वयः। मन्त्रीति। मन्त्रि-

---

प्राप्त हो गयी थी। मत्स्यराज-विराट के अन्तःपुर की युवतियों के द्वारा सगर्व एवं आक्षेपयुक्त वाक्यों में 'सैरन्ध्री' (दासी) कह कर सम्बोधित की जाती थी और वहाँ चन्दन घीसने का कार्य किया करती थी ॥ २२७ ॥

स्थिरजीवी की बात को सुनकर मेघवर्ण ने कहा—'तात ! शत्रुओं के साथ निवास करने को मैं तलवार की धार पर चलने के समान ही मानता हूँ।' स्थिरजीवी ने कहा—'देव ! आपका कथन यथार्थ है किन्तु वैसा मूर्खों का समाज भी कहीं नहीं देखा था और रक्ताक्ष जैसा बुद्धिमान्, बहुशास्त्रज्ञ, मेधावी तथा अप्रतीम बुद्धि का प्राणी भी कभी मैंने नहीं देखा था। क्योंकि मेरे हृदयगत प्रतिशोधात्मक भाव को वह तत्काल समझ गया था। उलूकराज की सभा में स्थित

मन्त्रिणः, ते महामूर्खाः मन्त्रिमात्रव्यपदेशोपजीविनोऽतत्त्वकुशलाः, यैः इदमपि नज्ञातम्। यतः—

अरितोऽभ्यागतो भृत्यो दुष्टस्तत्सङ्गतत्परः।
अपसर्प्य सधर्मत्वान्नित्योद्वेगी च दूषितः॥ २२८॥
आसने शयने याने पानभोजनवस्तुषु।
दृष्टादृष्टप्रमत्तेषु प्रहरन्त्यरयोऽरिषु॥ २२९॥

मात्रमेव व्यपदेशः—आख्या, तेन उपजीवन्ति इति तथोक्ताः, नाममात्रेण मन्त्रिण इत्यर्थः। अतत्त्वकुशलाः—अतत्त्वविदः, नीतिशास्त्रस्य मर्मानभिज्ञा इत्यर्थः।

इदानीं भृत्यानां द्रुशकतामभिधत्ते—अरित इति। अपसर्प्य गूढं चारकर्म स्वीकृत्य इत्यर्थः, अरितः स्वशत्रुसकाशात्, अभ्यागतः उपस्थितः, तथा तत्सङ्गतत्परः तस्य शत्रोः, सङ्गे सहवासे, तत्परः उत्कटाभिलाषो, तत्सहवासलाभमाकाङ्क्षन् इत्यर्थः, भृत्यः भृत्योचितं कर्म कर्त्तुं सततमीहमानः अनुचर इत्यर्थः, न तु तात्त्विकः भृत्य इति भावः, दुष्टः दुर्जनः, तथा सधर्मत्वात् समानो धर्मः येषां तेषां भावः तस्मात्, चाराणां तुल्यधर्मवत्त्वादित्यर्थः, गूढप्रणिधिवत् कार्यकरणादिति भावः, नित्योद्वेगी च सततम् उद्वेगकारकः, नियतं भीतिजनकः इति भावः, मन्तव्य इति शेषः, अतः तथाविधः भृत्यः दूषितः निन्दितः, नीतिविद्भिरिति शेषः, सुगुप्तं चारकर्म कर्त्तुं शत्रुसकाशादुपस्थिताः तथा तत्सङ्गकाङ्क्षिणश्च भृत्या दुष्टा नित्योद्वेगकराश्च, यत एते भृत्यपाशाः चारसधर्माण एव, ततः न कदाचिदेते विश्वासभूमयः इति भावः॥ २२८॥

कदा ते भृत्यपाशाः स्वप्रभुकार्यं साधयन्ति, तदेवाह—आसने इति। अरयः शत्रवः, आसने अवस्थानसमये, शयने निद्रावस्थायां, याने गमने, पानभोजनवस्तुषु पानभोजनव्यापारेषु, दृष्टादृष्टप्रमत्तेषु दृष्टेषु अदृष्टेषु प्रमत्तेषु अनवहितेषु च इत्यर्थः, अरिषु शत्रुषु, प्रहरन्ति, तत्भृत्यसाहाय्येन इति शेषः, शत्रुनिर्यातनस्य येन केनाप्युपायेन सर्वथा कर्त्तव्यत्वात्, ते हि नानाविधच्छलेन नानासमये स्वभृत्यैः गुप्तहत्यां समाचरन्तीति भावः॥ २२९॥

जो अन्य सचिव थे वे महामूर्ख थे। केवल नाममात्र के लिए ही वे मन्त्री थे। वे इतने मूर्ख थे कि यह भी नहीं जान सके कि—

शत्रु के यहाँ से आया हुआ भृत्य (दूत) शत्रु के सहवास से दुष्ट होता है। वह अपने ही पक्ष का हित करना चाहता है। गुप्तचर होने की सम्भावना होने के कारण वह अविश्वस्त तथा भयकारक भी होता है॥ २२८॥

शत्रुगण आसन, शयन, यात्रा, भोजन तथा जलपान आदि के समय में शत्रु को असावधान पाकर उनपर प्रहार किया कर करते हैं॥ २२९॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन त्रिवर्गनिलयं बुधः।
आत्मानमादृतो रक्षेत् प्रमादाद्धि विनश्यति ॥ २३० ॥

साधु चेदमुच्यते—

सन्तापयन्ति कमपथ्यभुजं न रोगाः ?
दुर्मन्त्रिणं कमुपयान्ति न नीतिदोषाः ?
कं श्रीर्न दर्पयति ? कं न निहन्ति मृत्युः ?
कं स्त्रीकृता न विषयाः परिपीडयन्ति ? ॥ २३१ ॥

एवञ्च सति कथमात्मा संरक्षणीयः ? इत्याशङ्कायां तत्प्रतीकारमुपदिशति—तस्मादिति। तस्मात् कारणात्, बुधः पण्डितः, आदृतः। आदृतम् आदरः अस्यातीति 'अर्शः आदिभ्यः अच्' (पा० सू० ५।२।१२७) इत्यच्प्रत्यये रूपम्। यत्नवान् सन्, अवहितः सन् इत्यर्थः त्रिवर्गनिलयं धर्मार्थकामाश्रयम्, आत्मानं स्वं, सर्वप्रयत्नेन सर्वप्रकारेण, रक्षेत, हि यतः, प्रमादात् अनवधानात्, विनश्यति विनाशं प्राप्नोति, आत्मा इति शेषः, सर्वात्मना प्रमादो हातव्य इति भावः ॥ २३० ॥

सन्तापयन्तीति। रोगाः व्याधयः, कम् अपथ्यभुजं पथोऽनपेतं पथ्यं, 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' (पा० सू० ४।४।९२) इति सूत्रेण यत्प्रत्ययः। न पथ्यम् अपथ्यं, तत् भुङ्क्ते इति अपथ्यभुक् तम् अपथ्यसेविनं, न सन्तापयन्ति ? न पीडयन्ति ? अपि तु सर्वमेव इत्यर्थः, अपथ्याशिनः खलु सततमेव रोगैः सन्तप्ता भवन्तीति भावः, नीतिदोषाः दुर्नीतयः, कं दुर्मन्त्रिणं दुष्टः मन्त्री तादृशं, न उपयान्ति ? न प्राप्नुवन्ति ? अपि तु सर्वमेव इत्यर्थः, कुसचिवाः खलु सततं दुर्नीतिपरायणा भवन्ति इति भावः, श्रीर्लक्ष्मीः, सम्पदित्यर्थः, कं जनं, न दर्पयति ? साहङ्कारं न करोति ? दर्पयतीति दर्पशब्दात् मतुप्, ततो दर्पवन्तं करोतीति णिच्, णाविष्ठवद्भावे 'विन्मतोर्लुक्' (पा० सू० ५।३।६५) इति सूत्रेण मतुपो लोपेन सिद्धम्। यद्वा—दर्पयति ? अहङ्कारयति, अहङ्कृतं कारयतीत्यर्थः, दृप्यतेः णिचि लटि रूपम्, अकर्मकधातुयोगात्

धर्म, अर्थ और काम को प्रदान करने वाले अपने शरीर की रक्षा मनुष्य को अवश्य करनी चाहिए। प्रमाद करने से यह विनष्ट हो जाता है। अतः शरीर के विषय में किसी प्रकार का प्रमाद नहीं करना चाहिए ॥ २३० ॥

यह ठीक ही कहा गया है कि—

रोग किस कुपथ्यसेवी को नहीं सताता ? अनुचित परामर्श देने वाले मन्त्री से युक्त किस राजा में नीति सम्बन्धी दोष नहीं आ जाते ? लक्ष्मी किसको गर्वित नहीं बना देती ? मृत्यु किसका विनाश नहीं करता ? और स्त्रीसम्बन्धी विषय (काम-

लुब्धस्य नश्यति यशः पिशुनस्य मैत्री
नष्टक्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः।
विद्याफलं व्यसनिनः कृपणस्य सौख्यं
राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य ॥ २३२ ॥

तत् राजन् ! असिधाराव्रतं मया आचरितम् अरिसंसर्गात्, इति यद्भवता उक्तं तन्मया साक्षात् एवानुभूतम्। उक्तञ्च

'कम्' इत्यस्य अणिकर्त्तुः 'गतिबुद्धि—' (पा० सू० १।४।५२) इति कर्मत्वञ्चेति ज्ञेयम्, अपि तु सर्वमेव दर्पयति इत्यर्थः। गर्वितानि भवन्ति खलु चेतांसि ऐश्वर्यमदमत्तानामिति भावः, मृत्युः अन्तकः, कं जनं, न निहन्ति ? न नाशयति ? अपि तु सर्वमेव इत्यर्थः, सर्वेषां मरणम् अवश्यम्भावीति भावः, स्त्रीकृताः स्त्रीघटिताः, विषयाः व्यापाराः, कं जनं, न परिपीडयन्ति ? न व्यथयन्ति ? अपि तु सर्वे एव स्त्रीभोगासक्ताः सन्तापिन एव इति भावः। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २३१ ॥

लब्धस्येति। लुब्धस्य लोभपरस्य, जनस्य इति शेषः, यशः कीर्त्तिः, नश्यति विलुप्तं भवति, पिशुनस्य खलस्य, दुर्जनस्य इत्यर्थः, मैत्री प्रणय इत्यर्थः, नश्यतीति पूर्वेणान्वयः, एवं सर्वत्र, नष्टक्रियस्य भ्रष्टाचारस्य, कुलं वंशः, अर्थपरस्य सततं धनचिन्तापरायणस्य, धर्मः, व्यसनिनः कामाद्यासक्तस्य, विद्याफलम्, कृपणस्य, व्ययकुण्ठस्य जनस्य, सौख्यम्, तथा प्रमत्ता अनवहिताः, सचिवाः अमात्याः, यस्य तथाविधस्य, नराधिपस्य राज्ञः, राज्यं राष्ट्रं नश्यतीति पूर्वेणान्वयः। न खलु लुब्धादिभिः यश आदि लब्धुं शक्यते, अनुदारादिप्रकृतिकत्वात् इति भावः। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २३२ ॥

(१) आचरितम्—अनुष्ठितम्। अरिसंसर्गात्—शत्रुसम्पर्कात्। साक्षात् एव अनुभूतं—स्वयमेवानुभूतम् इत्यर्थः।

वासनादि) किसको पीड़ित नहीं करते ?

विमर्श—कुपथ्यसेवी को रोग होता ही है। दुष्ट मन्त्री से युक्त राजा में नीति-दोष आ ही जाता है। लक्ष्मी को पाकर मनुष्य गर्वित हो ही जाता। मृत्यु प्राणियों का विनाश ही करता है और स्त्रीसम्बन्धी विषय मनुष्य को सताते ही हैं ॥ २३१ ॥

जैसे लोभी व्यक्ति की कीर्ति नष्ट हो जाती है, खल व्यक्ति की मैत्री नष्ट हो जाती है, आचार एवं क्रियाहीन व्यक्ति का कुल विनष्ट हो जाता है, अर्थपरायण व्यक्ति का धर्म नष्ट हो जाता है, व्यसनी व्यक्ति की विद्या एवं शक्ति विनष्ट हो जाती है और कृपण व्यक्ति का सुख नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार दुष्ट मन्त्री से युक्त राजा का राज्य भी विनष्ट हो जाता है ॥ २३२ ॥

इसलिए महाराज ! वहाँ शत्रुओं के मध्य रहकर मैंने 'असिधारा-व्रत' किया है,

अपमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा तु पृष्ठतः ।
स्वार्थमभ्युद्धरेत् प्राज्ञः स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता ॥ २३३ ॥
स्कन्धेनापि वहेच्छत्रुं कालमासाद्य बुद्धिमान् ।
महता कृष्णसर्पेण मण्डूका बहवो हताः ॥ २३४ ॥

मेघवर्ण आह—'कथमेतत् ?' स्थिरजीवी कथयति—

१५ : सर्प-मण्डूक-कथा

अस्ति करुणाद्रिसमीपे एकस्मिन् प्रदेशे परिणतवयाः मन्दविषो नाम कृष्णसर्पः । स एवं चित्ते सञ्चिन्तितवान्—'कथं नाम मया सुखोपाय

अपमानमिति । प्राज्ञः पण्डितो जनः, अपमानम् अवज्ञां, निन्दामित्यर्थः, पुरस्कृत्य अग्रतः कृत्वा, स्वीकृत्येति यावत्, मानं सम्मानं, तु पृष्ठतः पश्चात्, कृत्वा न लक्ष्यीकृत्य इत्यर्थः, मानापमाने अविगणय्येति भावः, स्वार्थं स्वकार्यम् अभ्युद्धरेत् साधयेत्, हि यतः, स्वार्थभ्रंशः स्वकार्यहानिः, मूर्खता स्वाविवेकसंसूचिका बालिशता इत्यर्थः ॥ २३३ ॥

स्कन्धेनेति । बुद्धिमान् विचक्षणः जनः, कालं दुःसमयमिति यावत्, आसाद्य प्राप्य, विपन्नो भूत्वा इत्यर्थः, स्कन्धेनापि अंसेनापि, शत्रुं वहेत् नयेत्, विपक्षवधोचितं सुसमयं समपेक्ष्येति भावः । अत्रानुरूपमुदाहरणं प्रदर्शयितुमुपाख्यानान्तरं प्रस्तौति—महतेति । महता विशालेन, कृष्णसर्पेण कालाहिना, तीव्रविषधरेण इत्यर्थः, बहवः मण्डूकाः भेकाः, हताः मारिताः । 'हताः' इत्यत्र 'यथा' इति पाठान्तरम् ॥ २३४ ॥

यह आप का कथन यथार्थ है । मैंने शत्रुओं के मध्य निवास करके इस (कथन) का स्वयं अनुभव भी किया है ।

आत्मसम्मान को पीछे और अपमान को आगे करके अपना कार्य बना ले । आत्मसम्मान को बचाने या अपमान को सहने के भय से स्वार्थहानि कर लेना मनुष्य की सबसे बड़ी मूर्खता समझी जाती है ॥ २३३ ॥

समय आने पर बुद्धिमान् मनुष्य अपनी कार्य की सिद्धि के लिए शत्रु को अपनी पीठ पर बैठाकर घुमावे, समयानुसार अपनी पीठ पर बैठा कर शत्रुओं को ढोने वाले सर्प ने मण्डूकों का विनाश ही कर दिया था ॥ २३४ ॥

(स्थिरजीवी की बात को सुनकर) मेघवर्ण ने पूछा—'यह कैसे ?' स्थिरजीवी ने कहा—

सर्प और मण्डूक की कथा

वरुणाद्रि पर्वत के समीपस्थ किसी प्रदेश मे मन्दविष नाम का एक वृद्ध सर्प रहा करता था । एक दिन उसने अपने मन में सोचा कि—'मैं किस प्रकार बिना किसी

वृत्त्या वर्त्तितव्यम् ?' इति। ततो बहुमण्डूकं ह्रदम् उपगम्य धृतिपरीतमिव आत्मानं दर्शितवान्। अथ तथा स्थिते तस्मिन्, उदकप्रान्तगतेन एकेन मण्डूकेन पृष्टः—'माम ! किमद्य यथापूर्वम् आहारार्थं न विहरसि ?' सोऽब्रवीत्—'भद्र ! कुतो मे मन्दभाग्यस्य आहाराभिलाषः ? यत्कारणम्, अद्य प्रदोषे एव मया आहारार्थं विहरमाणेन दृष्ट एको मण्डूकः, तद्ग्रहणार्थं मया क्रमः सज्जितः। सोऽपि मां दृष्ट्वा मृत्युभयेन स्वाध्यायप्रसक्तानां ब्राह्मणानाम् अन्तरमपक्रान्तः, न विभावितो मया क्वापि गतः। तत्सदृशमोहितचित्तेन मया कस्यचित् ब्राह्मणस्य सूनोः ह्रदतटजलान्तःस्थोऽङ्गुष्ठो

---

[१२]

(१) परिणतवयाः—स्थविरः। सुखोपायवृत्त्या—अनायासलभ्यजीविकया। वर्त्तितव्यं—स्थातव्यं, जीवितव्यम् इत्यर्थः। धृतिपरीतमिव—धैर्यविष्ठब्धमिव, वैराग्यग्रस्तमिवेत्यर्थः। माम !—मातुल ! प्रदोषे—सायंसन्ध्यायां, रजनीमुखे इत्यर्थः। विहरमाणेन—विचरता। क्रमः—परिकरः, आक्रमणोपक्रम इत्यर्थः। सज्जितः—बद्धः, कृतः इत्यर्थः। स्वाध्यायप्रसक्तानां—वेदपाठरतानां, सन्ध्यासमुपासनाप्रवृत्तानामित्यर्थः। अन्तरमपक्रान्तः—अभ्यन्तरं प्रविष्टः, मध्ये पलायित इत्यर्थः। विभावितः—लक्षितः। तदिति। तस्य—मण्डूकस्य, सदृशे—अनुरूपे, ब्राह्मणसूनोरङ्गुष्ठे इत्यर्थः, मोहितं—भ्रान्तिं गतं, मण्डूकभिन्नेऽपि तस्मिन् मण्डूकबुद्धिमागतमित्यर्थः, चित्तं यस्य तादृशेन। सूनोः—पुत्रस्य, सन्ध्यासमुपासनारतस्य

आयास के ही जीविका प्राप्त करूँ ?' इस निर्णय के पश्चात् वह मण्डूकों से युक्त एक तालाब के पास जाकर अपने को कुछ अधीर सा प्रदर्शित करता हुआ इधर-उधर घूमने लगा। उसकी उपर्युक्त दशा को देख कर जल के समीप ही तीर पर बैठे हुए एक मेढक ने उससे पूँछा—'मामा ! पहले की तरह आज तुम भोजन के लिए प्रयत्नशील नहीं दिखाई नहीं पड़ रहे हो ?' सर्प ने उत्तर में कहा—'भद्र ! मुझ जैसे अभागे को अब भोजन की अभिलाषा ही कहाँ रह गयी है ?' क्योंकि आज रात्रि के प्रदोष काल में ही मैं आहार के अन्वेषण में निकल पड़ा था। आहार की खोज में भटकते हुए मैंने किसी तरह से एक मण्डूक को देखा। उसको पकड़ने के उद्देश्य से अभी मैं उपक्रम कर ही रहा था कि उसने भी मुझे देख लिया। मुझे देखते ही मृत्यु के भय से तत्काल वह स्वाध्याय में लीन ब्राह्मणों के बीच में जाकर छिप गया। पुनः मैंने उसे देखा नहीं। वह कहीं अन्यत्र चला गया। किन्तु उसके वहाँ से हट जाने का ज्ञान मुझे नहीं रहा और उसके भ्रम में पड़कर मैंने एक

दष्टः। ततोऽसौ सपदि पञ्चत्वमुपागतः। अथ तस्य पित्रा दुःखितेन अहं शप्तः, यथा—'दुरात्मन् ! त्वया निरपराधो मत्सुतो दष्टः, तत् अनेन दोषेण त्वं मण्डूकानां वाहनं भविष्यसि, तत्प्रसादलब्धजीविकया वर्त्तिष्यसे' इति। ततोऽहं युष्माकं वाहनार्थम् आगतोऽस्मि।' तेन च सर्वमण्डूकानाम् इदमावेदितम्। ततः तैः प्रहृष्टमनोभिः सर्वैरेव गत्वा जलपादनाम्नः दर्दुरराजस्य विज्ञप्तम्। अथ असौ अपि मन्त्रिपरिवृतः 'अत्यद्भुतम् इदम्' इति मन्यमानः, ससम्भ्रम ह्रदात् उत्तीर्य मन्दविषस्य फणिनः फणप्रदेशम् अधिरूढः। शेषा अपि यथाज्येष्ठं तत्पृष्ठोपरि समारुरुहुः, किं बहुना? तदुपरि स्थानमप्राप्तवन्तः तस्य अनुपदं धावन्ति। मन्दविषोऽपि तेषां तुष्टयर्थम् अनेकप्रकारान् गतिविशेषान् अदर्शयत्। अथ जलपादो लब्ध

इह्नि यावत्। ह्रदतटेति। जलाशयतीरसमीपस्थजलमध्यवर्त्ती। सपदि—तत्क्षणात्, दंशनमात्रेण इत्यर्थः, अव्ययमेतत्। शप्तः—आक्रुष्टः, अभिसम्पातेन योजितः इत्यर्थः। वर्त्तिष्यसे—जीविष्यसि, परस्मैपदे तु 'वर्त्स्यसि' इत्यपि। 'वृत्तिर्वर्त्तनजीवने' इत्यमरः। दर्दुरराजस्य—मण्डूकाधिपतेः, दर्दुराणां राजा इति समासे 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' (पा० सू० ५।४।९१) इति टच्प्रत्ययः। विज्ञप्तं—विशेषेण निवेदितम्, ज्ञाधातोः णिचि क्तप्रत्यये 'वा दान्तशान्त' (पा० सू० ७।२।२३) इत्यनेन निपातनात् विज्ञप्तमिति सिद्धम्, पक्षे च विज्ञापितमिति। ससम्भ्रमं—सत्वरं, 'सम्भ्रमस्त्वरा' इत्यमरः। यथाज्येष्ठं—यथाप्रधानं, प्रधानानुक्रमेण इत्यर्थः। अनुपदं—पदस्य पश्चात्, पृष्ठत इत्यर्थः।

ब्राह्मण के लड़के के अंगूठे को काट लिया। वह लड़का तीर के जल में प्रविष्ट होकर स्नान कर रहा था। मेरे काटने से वह तत्काल मर गया। अतः उस लड़के के पिता ने मेरी धृष्टता से क्रुद्ध एवं शोकाकुल होकर मुझे शाप देते हुए कहा—'दुष्ट ! तुमने मेरे लड़के को बिना किसी अपराध के ही काट लिया है। अपने इस अपराध के कारण तुम मण्डूकों के वाहन बनोगे और उनका वाहन बनने से ही तुम्हारी जीविका भी चलेगी।' अतः मैं तुम लोगों का वाहन बन कर तुम लोगों के पास आया हूँ।' सर्प की इस बात को सुनकर मण्डूक ने उस वृत्तान्त को अन्य मेढकों से कहा। उन सभी मेढकों ने अपने राजा जलपाद से अत्यन्त प्रसन्नता से कहा। यह मन्त्रियों से घिरा हुआ जलपाद इस अद्भुत घटना को सुन कर मन ही मन बहुत प्रसन्न हुआ। वह साश्चर्य तालाब से निकलकर उस सर्प के फण पर आरूढ़ हो गया और उसके बाद अन्य मेढक भी यथाक्रम से उस सर्प के शरीर पर चढ़ गये। यहाँ तक हुआ कि जिन मेढकों को उसके शरीर पर चढ़ने का अवसर या स्थान नहीं मिला वे उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगे। मन्दविष भी

केचित् प्रमत्तमनसः परितापदुःखम्
आपत्प्रसङ्गसुलभं पुरुषाः प्रयान्ति ॥ २४७ ॥

तत् अद्य जितारेः मद्विभोः यथापूर्वं निद्रालाभो भविष्यति । उच्यते चैतत्,—

निःसर्पे बद्धसर्पे वा भवने सुप्यते सुखम् ।
सदादृष्टभुजङ्गे तु निद्रा दुःखेन लभ्यते ॥ २४८ ॥

यत्नं विना निष्पाद्यञ्च, अत एव कर्त्तुं शक्ष्यामि सम्पादयितुं शक्तो भविष्यामि, अत्र अस्मिन् कार्यसाधने, आदरः यत्नः कः ? कर्त्तव्य इति शेषः; न कोऽपीत्यर्थः, इति इत्थं विविच्य इत्यर्थः, कृत्यं तत कार्यम्, उपेक्षमाणाः हेलया परित्यजन्तः, अत एव प्रमत्तम् अनवहितं, मनो येषां तादृशाः सन्तः, आपदां प्रसङ्गेन समागमेन, सुलभं सुप्रापं, परितापदुःखम् अनुतापकष्टम्, उपेक्षया कार्यनाशादिति भावः, प्रयान्ति प्राप्नुवन्ति । "हेलयाऽकुर्वतां कार्यं पश्चात्तापो भवेत् ध्रुवम्" इति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २४७ ॥

(१) जितारेः—पराजितशत्रोः । यथापूर्वं पूर्ववत्, पूर्वम् अनतिक्रम्य इति अनतिक्रमार्थे अव्ययीभावः ।

निःसर्पे इति । निःसर्पे—सर्परहिते, बद्धसर्पे धृतसर्पे वा, भवने गृहे, सुखम् अनायासेन, निःशङ्कं यथा तथेत्यर्थः, सुप्यते निद्रायते, जनेन इति शेषः, सदा दृष्टा भुजङ्गा यत्र तादृशे तु सर्पयुक्ते तु इत्यर्थः, भवने इति पूर्वेणान्वयः, निद्रा संवेशः, दुःखेन कष्टेन, लभ्यते, सर्पदंशनभयात् नैव लभ्यते इति भावः; कुटिलमतिशत्रूणां विनाशात् इदानीं सुखसुप्तिर्भवतो भविष्यति इति निष्कृष्टार्थः ॥ २४८ ॥

लिये यह कोई कठिन कार्य नहीं है, अतः इसके विषय में अधिक ध्यान देने की आवश्यकता ही क्या है' इत्यादि वाक्यों का प्रयोग करके किसी कार्य को करने के समय उपेक्षाभाव प्रदर्शित करने वाले आलसी एवं प्रमादी व्यक्ति बाद में कार्य के अपूर्ण रह जाने पर या बिगड़ जाने पर आपत्तिसुलभ पश्चात्ताप आदि दुःखों को ही प्राप्त करते हैं ॥ २४७ ॥

इसलिए शत्रुओं को जीतने के पश्चात् आज महाराज को पूर्ववत् निद्रा आयेगी। कहा भी जाता है कि—

उसी घर में शान्तिपूर्वक सोया जा सकता है जिस घर में या तो सर्प रहता ही न हो, अथवा मार डाला गया हो। एक बार दृष्टि में आकर भाग जाने वाले सर्प से युक्त घर में सुखपूर्वक निद्रा नहीं आ सकती ॥ २४८ ॥

तथा च—

विस्तीर्णव्यवसायसाध्यमहतां स्निग्धोपभुक्ताशिषां
कार्य्याणां नयसाहसोन्नतिमतामिच्छापदारोहिणाम् ।
मानोत्सेकपराक्रमव्यसनिनः पारं न यावद्गताः
सामर्षे हृदयेऽवकाशविषया तावत् कथं निर्वृतिः ? ॥ २४९ ॥

तत् अवसितकार्य्यारम्भस्य विश्राम्यतीव मे हृदयम् । तत् इदम् अधुना निहतकण्टकं राज्यं प्रजापालनतत्परो भूत्वा पुत्रपौत्रादिक्रमेण

का कथा सुखसुप्तेः ? असमाप्तजिगीषस्य कुत्रापि कियत्यपि शान्तिर्नास्तीत्याह—विस्तीर्णेति । मानोत्सेकपराक्रमव्यसनिनः मानस्ये गर्वस्य, उत्सेकः उद्रेकः, पराक्रमश्च, तत्र व्यसनिनः अत्यासक्ताः, अभिमानधनाः विपुलपराक्रमाश्च, सत्पुरुषाः इति शेषः, विस्तीर्णैः विपुलैः, व्यवसायैः उद्योगैः, साध्यानि निष्पाद्यानि, अत एव महान्ति प्रभूतानि, दुष्पारतया आयाससाध्यानीति यावत्, तेषां, तथा स्निग्धैः बन्धुभिः, उपभुक्ताः सततमनुध्यायमानाः, आशिषो मङ्गलाशंसाः येषु तेषां, प्रीतिस्निग्धैः बन्धुभिः सततमेव सिद्धयर्थं चिन्त्यमानानाम् इत्यर्थः, नयः नीतिः, साहसम् उत्साहः, उन्नतिः आत्मनः अभ्युदयश्च, एताः विद्यन्ते येषु तथोक्तानां, नोत्युत्साहात्मोन्नतिसमन्वितानामित्यर्थः, इच्छापदम् अभीष्टरूपं स्थानम्, आरोहन्तीति तथोक्तानाम्, अभिलषितानामिति भावः; कार्य्याणां पारम् अन्तं, यावत् न गताः न कृतकार्य्या इत्यर्थः, तावत् सामर्षे अक्षमापरीते, अतिव्याकुले इत्यर्थः हृदये, अवकाशविषया अवकाशः अवस्थितियोग्यस्थानमेव, विषयः नियतावस्थितरूपव्यापारः यस्याः तथाविधा, पदार्थान्तरानासक्तमानसैकस्थायिनी इत्यर्थः, निर्वृतिः सौख्यं, कथम् ? नैव निर्वृतिर्लभ्यते इत्यर्थः; अकृतकार्य्याणां महामहिमशालिनां हृदयं सर्वदा औत्सुक्येन त्वरापूरितं सदिव वर्त्तते, अतः सुखानि तत्र न स्थातुमर्हन्ति, स्थानाभावात्; एकस्यानपसरणे कथम् अपरस्य तत्र स्थानमिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २४९ ॥

(१) अवसितकार्य्यारम्भस्य—समाप्तारब्धकर्मणः, कृतकार्य्यस्य इत्यर्थः । निहत-

---

और भी—जिन कार्यों की सिद्धि के आशीर्वाद एवं शुभकामना की अपेक्षा की जाती है, जो कठोर एवं पर्याप्त परिश्रमसाध्य होते हैं, जिनकी सिद्धि में नय, साहस, धैर्य आदि का अवलम्बन करना आवश्यक होता है और जिनको पूर्ण करने की प्रबल इच्छा होती है, उन कार्यों को जब तक समाप्त नहीं कर लिया जाता तब तक मानी, पराक्रमी एवं साहसी व्यक्तियों के हृदय में शान्ति तथा सुख के विश्राम का अवकाश ही कहाँ मिलता है ? ॥ २४९ ॥

महाराज ! आरम्भ किये हुये कार्यों के पूर्ण हो जाने से मेरा भी हृदय अब

अचलच्छत्रासनश्रीः चिरं भुङ्क्ष्व ।

अपि च—

प्रजा न रञ्जयेत् यस्तु राजा रक्षादिभिर्गुणैः ।
अजागलस्तनस्येव तस्य राज्यं निरर्थकम् ॥ २५० ॥
गुणेषु रागो व्यसनेष्वनादरो
रतिः सुभृत्येषु च यस्य भूपतेः ।
चिरं स भुङ्क्ते चलचामरांशुकां
सितातपत्राभरणां नृपश्रियम् ॥ २५१ ॥

कण्टकं—विनाशितक्षुद्रशत्रुम् । "कण्टको न स्त्रियां क्षुद्रशत्रौ मत्स्यादिकीकसे" इति मेदिनी । अचलेति । अचलाः—स्थिराः, छत्रासनश्रियः—छत्रं—नृपचिह्नम् आतपत्रम्, आसनं—सिंहासनं, श्रीः—राजलक्ष्मीश्च यस्य तादृशः, स्थिराधिपत्ये स्थितः सन्नित्यर्थः ।

प्रजा इति । यस्तु राजा रक्षादिभिः पालनादिभिः गुणैः तत्तत्कर्मजन्यैरित्यर्थः, प्रजा न रञ्जयेत् न सन्तोषयेत्, अजागलस्तनस्येव छागविशेषकण्ठस्थकुचस्येव, तस्य राज्ञः, राज्यं राज्ञः, भावः कर्म वा इत्यर्थे राजशब्दात् "राजाऽसे" इति गणसूत्रेण राजशब्दाद् यक्, राजकर्म, प्रजापालनादिरूपमित्यर्थः, निरर्थकं विफलं, भवतीति शेषः, पालनाद्यकरणादिति भावः; पक्षान्तरे—तस्य राज्यं राजपदव्यपदेशवशेनैव सङ्केतितं निखिलराजकर्मभूतमिति यावत्, निरर्थकम् अर्थहीनं, व्युत्पत्तिहीनमित्यर्थः; "राजा प्रकृतिरञ्जनात्" इत्यर्थमुपजीव्य रञ्ज्धातुनैव राजशब्दस्य व्युत्पादितत्वादिति भावः; वस्तुतस्तु राजत्वेः कनिनि सिद्धमेतदिति ज्ञेयम् ॥ २५० ॥

चलाऽपि नृपश्रीः कीदृशे राजनि अचञ्चला तिष्ठति, तदेवाह—गुणेष्विति । यस्य—भूपतेः नृपस्य, गुणेषु दयादाक्षिण्यादिषु, रागः अनुरागः, व्यसनेषु मृगयादिषु, अनादरः अनास्था, अनासक्तिरित्यर्थः, सुभृत्येषु च सत्सचिवादिषु च, रतिः प्रीतिः, स्नेहप्रदर्शनम् इत्यर्थः, स नृपः, चलं चञ्चलं, चामरमेव बालव्यजनमेव अंशुकं वस्त्रं यस्याः

पूर्णशान्ति का अनुभव कर रहा है । अतः अब आप प्रजा के हित का ध्यान रखते हुये निष्कण्टक, वंशानुगत और अचल छत्र, चामर, सिंहासन एवं लक्ष्मी से युक्त राज्य का उपभोग कीजिये । कहा भी गया है कि—

जो राजा सद्गुणों से युक्त समुचित सुरक्षा आदि की व्यवस्था करके प्रजा का अनुरञ्जन नहीं करता है, उसका राज्यारोहण बकरी के गले में व्यर्थ लटकने वाले स्तनों की तरह निरर्थक होता है ॥ २५० ॥

जिस राजा के हृदय में गुणों के प्रति अनुराग, व्यसनों के प्रति अनादर एवं सद्भृत्यों के प्रति स्नेह आदि विद्यमान होता है वही चञ्चल हिलती हुई चामर रूपी

न च त्वया "प्राप्तराज्योऽहम्" इति मत्वा श्रीमदेन आत्मा व्यंसयितव्यः; यत् कारणं, चला हि राज्ञो विभूतयः. वंशारोहणवत् राज्यलक्ष्मीः दुरारोहा, क्षणविनिपातरता, प्रयत्नशतैरपि धार्य्यमाणा दुर्द्धरा, प्रशस्ताराधिताऽपि अन्ते विप्रलम्भिनी, वानरजातिरिव विद्रुतानेकचित्ता, पद्मपत्रोदकम् इव अघटितसंश्लेषा, पवनगतिः इव अतिचपला, अनार्य्यसङ्गतमिव अस्थिरा, आशीविष इव दुरुपचारा. सन्ध्याऽभ्रलेखेव मुहूर्त्तरागा जलबुद्बुदावलीव स्वभावभङ्गुरा; स शरीरप्रकृतिरिव कृतघ्ना स्वप्नलब्धद्रव्यराशिरिव क्षणदृष्टनष्टा।

तादृशीं, तथासितं शुभ्रम्, आतपत्रं छत्रम् एव, आभरणं यस्याः तथाभूतां, नृपश्रियं राजलक्ष्मीं, चिरं दीर्घकालं, भुङ्क्ते, "भुजोऽनवने" (पा० सू० १।३।६६) इत्यनेनात्मनेपदम्; चिरस्थायिनी भवति तस्य राजश्रीरिति भावः। वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ २५१ ॥

श्रीमदेन—विभवगर्वेण। व्यंसयितव्यः, प्रतारयितव्यः। वंशारोहणवत् यथा वंशे—वेणुविशेषे, आरोहणं दुःसाध्यं, तद्वदिति भावः। क्षणेति। क्षणेन विनिपातः,—विध्वंसनं, तत्र रता—तदासक्ता, क्षणविनाशिनी इत्यर्थः। प्रशस्तेति। प्रशस्तं—सुष्ठ यथा स्यात् तथा, अतिनिपुणतयेति यावत्, आराधिताऽपि - सेविताऽपि। विप्रलम्भिनी—प्रतारणाकारिणी। विद्रुतेति। विद्रुतं - व्याकुलीकृतं, धनमदेनेति भावः, अनेकेषां चित्तं यया तादृशी; वानरपक्षे,—विद्रुतं—चञ्चलम्, अत एव अनेकम्—अनेकविधं, चित्तं यस्याः तादृशी। अघटितेति। अप्राप्तसम्बन्धा, असम्पृक्ता इत्यर्थः। अनार्य्येति। अनार्य्याणाम्—असाधूनां, सङ्गतमिव—सख्यमिव, अस्थिरा—क्षणस्थायिनी। आशीविष इव—सर्प इव। दुरुपचारा—दुःसेव्या। सन्ध्याऽभ्रेति। सन्ध्यायां या अभ्रलेखा—मेघराजिः, सैव मुहूर्त्तं क्षणं, रागः—अनुरागः,

---

वस्त्रों और श्वेत छत्र रूपी आभरणों से विभूषित राजश्री का उपभोग चिरकाल तक कर पाता है ॥ २५१ ॥

'मैं राजा हूँ' यह सोचकर राजलक्ष्मी के मद से अपने को कभी धोखे में न डालियेगा। क्योंकि—राजा की विभूतियाँ चञ्चल होती हैं। बाँस की तरह लक्ष्मी भी दुरारोह होती है और क्षणमात्र में ही गिर जाने वाली होती है। वह पारद की तरह अनेक प्रयत्नों के द्वारा रोकने योग्य एवं दुर्धरा होती है, अत्यधिक आराधना करने पर भी अन्यत्र गमनशील एवं वियोगदायिका होती है, वानरजाति की तरह चपल एवं अस्थिरबुद्धि होती है, कमलपत्र पर पड़े हुये जल की तरह सम्पर्कविहीन होती है, वायु की गति की तरह चञ्चल होती है, दुष्टों की सङ्गति की तरह अस्थिर होती, सर्प के विष की तरह अत्यन्त कठिन उपचार के योग्य होती है, जल के बुद्बुदों की तरह क्षणभङ्गुर होती है, शरीर की प्रकृति की तरह कृतघ्न होती है

भ्रातृजायया निष्ठुरतरैर्वाक्यैः अभिहितः—'भोः कृतघ्न ! मा मे त्वं स्वमुखं दर्शय, यतः त्वं प्रतिदिनं मित्रम् उपजीवसि, न च तस्य पुनः प्रत्युपकारं गृहदर्शनमात्रेण अपि करोषि; तत् ते प्रायश्चितम् अपि नास्ति। उक्तञ्च—

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते शठे।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥ ११ ॥

---

(१) चिरवेलायाम्—अधिकवेलायाम्। भ्रातृजायया—मत्पत्न्या इति भाव। निष्ठुरतरै—अतिनिष्ठुरै। कृतघ्न!—उपकारविस्मर्त्तः। उपजीवसि—उपकारकत्वेन आश्रयसि, मित्रात् उपकारं प्राप्नोषि इत्यर्थः। गृहदर्शनमात्रेण—दर्श्यत इति दर्शनं, णिजन्तात् दर्शिधातो भावे ल्युट्, गृहस्य दर्शनं गृहदर्शनं, तदेव इति स्वार्थे मात्रच्, तेन। प्रायश्चित्तं—पापक्षयमात्रसाधनत्वेन विधिबोधितं कर्म।

ब्रह्मघ्ने इति। ब्रह्मघ्ने ब्रह्म हन्ति इति वाक्यार्थे ब्रह्मकर्मकहन्धातोः "ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप" (पा० सू० ३।२।८७) इत्यनेन क्विपो विधानात् ब्रह्महा इत्येव भवितुमर्हति, "ब्रह्मादिष्वेव, क्विबेव" इति द्विविधनियमस्य भाष्यकारोक्तत्वेऽपि, अभिधानादिह मूलविभुजादित्वात् कप्रत्यये सिद्धम् ब्रह्मघातिनि, सुरापे मद्यपायिनि, चौरे तस्करे, भग्नव्रते भ्रष्टनियमे, तथा शठे धूर्त्ते, प्रतारके इत्यर्थः, सद्भिः साधुभि, धर्मशास्त्रकृद्भिरित्यर्थः, निष्कृति प्रायश्चित्त, विहिता निरूपिता, किन्तु कृतघ्ने उपकारास्वीकर्त्तरि, अथवा अकृतज्ञे जने इत्यर्थः, कृतं हन्ति इति कृतघ्नः, कृतोपपदात् हन्तेः "कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसङ्ख्यानम्" (वा०) इति सूत्रेण कप्रत्यय, न तु टक्प्रत्यय मनुष्यकर्तृकत्वात्; तथा हि टग्विधौ "अमनुष्यकर्तृके च" (पा० सू० ३।२।५३) इत्यत्र पतिघ्नी पाणिरेखा, पित्तघ्नं घृतं, मनुष्यकर्तृके कर्मण्युपपदे च अणेव, आखुघातः शूद्र, इत्यादिकं दर्शितम्, निष्कृतिः नास्ति; सर्वेभ्यः अधिकपापहेतुः हि कृतघ्नत्वमिति भावः ॥ ११ ॥

'मित्र ! आज तुम्हारी भाभी ने मुझसे बड़े निष्ठुर शब्दों में कहा कि—'अरे कृतघ्न ! मेरे सामने अपना मुख मत दिखाओ क्योंकि तुम नित्य ही मित्र के दिये हुए फलादि खाकर अपनी जीविका चलाते हो, परन्तु कभी भी उसका प्रत्युपकार नहीं कर सके हो। तुम उसे अपने घर भी कभी नहीं ला सके। अतः इस कृतघ्नता का कोई प्रायश्चित्त भी नहीं है। कहा भी गया है—

ब्रह्महत्या करने वाले, मद्य पीने वाले, चोर तथा अपना व्रत-भङ्ग करने वाले के लिये विद्वानों (स्मृतिकारों) ने प्रायश्चित्त कहा है, परन्तु कृतघ्न के लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं कहा है ॥ ११ ॥

तत् त्वं मम देवरं गृहीत्वा अद्य प्रत्युपकारार्थं गृहम् आनय, नो चेत् त्वया सह मे परलोके दर्शनम्'। अतः अहं तया एवं प्रोक्तः तव सकाशम् आगतः। तत् अद्य तया सह त्वदर्थे कलहायतो मम इयती वेला विलग्ना, तत् आगच्छ मे गृहम्। तव भ्रातृपत्नी रचितचतुष्का प्रगुणितवस्त्रमणि-माणिक्याद्युचिताभरणा द्वारदेशबद्धवन्दनमाला सोत्कण्ठा तिष्ठति"। मर्कट आह—"भो मित्र ! युक्तम् अभिहितं मद्भ्रातृपत्न्या। उक्तञ्च—

वर्जयेत् कौलिकाकारं मित्रं प्राज्ञतरो नरः।
आत्मनः सम्मुखं नित्यं य आकर्षति लोलुपः॥ १२॥

(१) परलोके—लोकान्तरे, दर्शनं, भविष्यतीति शेषः, अहं मरिष्यामीति भावः। कलहायतः—कलहं कुर्वतः, कलहशब्दात् 'शब्दवैरकलहाभ्र—(पा० सू० ३।१।१७) इत्यादिना क्यङ्, ततः लटः शतृप्रत्ययः। कलहायमानस्येति साधु, क्यङन्तस्याऽऽत्मनेपदित्वात्; कलहयतः इत्यपि वा पाठः। विलग्ना—सञ्जाता इत्यर्थः। रचितचतुष्का—रचितं—कल्पितं, सज्जितं वा, चतुष्कं—स्तम्भयुक्तमण्डपं यया तादृशी, अतिथेरुपवेशनार्थमिति भावः; यद्वा—गुम्फितचतुर्यष्टिमालिका, 'चार लरी की माला' इति हिन्दीभाषा।[१] प्रगुणितेति—प्रगुणितानि—प्रकृष्टगुणानि, महाऽर्हाणीत्यर्थः, यानि वस्त्रमणिमाणिक्यादीनि, तान्येव उचितानि—न्यस्तानि, अङ्गे धृतानीत्यर्थः, यद्वा—उचितानि—समञ्जसानि, उपयुक्तानीत्यर्थः, 'उचितन्तु भवेन्न्यस्ते मिते ज्ञाने समञ्जसे' इति मेदिनी। आभरणानि—अलङ्काराः यया यस्या वा तादृशी, समयोचितनानाऽलङ्कारभूषिता इत्यर्थः। द्वारेति—द्वारदेशे बद्धा—लम्बीकृता, सज्जीकरणार्थम् इत्यर्थः, वन्दनमाला—वन्दनयोग्यपुष्पमाला यया सा।

वर्जयेदिति। यः कपटसुहृदिति भावः, लोलुपः लुब्धः सन्, नित्यं सततम्, आत्मनः

इसलिये, आज तुम प्रत्युपकार के लिये मेरे देवर को लेकर ही घर आना। नहीं तो हमारा तुमसे परलोक में ही साक्षात्कार होगा। उसके ऐसा कहने से तुम्हारे पास आया हूँ। इसलिये तुम्हारे विषय में उसके साथ वाद-विवाद करते हुए मुझे इतनी देर हो गई। अतः अब मेरे घर चलो, तुम्हारी भाभी चौक बनाकर उत्तम-उत्तम वस्त्र तथा मोती, मूँगा आदि समयोचित आभूषण धारण कर तथा दरवाजे पर वंदनवार बाँधकर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है'। वानर बोला—'मित्र ! मेरी भाभी ने ठीक ही कहा है क्योंकि कहा भी गया है—

१. किन्तु दक्षिण में यह रिवाज है कि जब कोई मान्य अतिथि घर आता है, तब उसके सत्कार के लिये खड़िया अथवा पिसे हुए एक प्रकार के सफेद चूर्ण से दरवाजे पर तथा भोजन-स्थान पर भाँति-भाँति की रेखाएँ खींचते हैं, उसे चौक कहते हैं, वही यहाँ 'चतुष्क' (रंगोली) शब्द से अभिप्रेत है।

तथा च—

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति ।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥ १३ ॥

परं वयं वनचराः, युष्मदीयञ्च जलान्ते गृहं, तत् कथं शक्यते तत्र गन्तुम् ? तस्मात् तामपि मे भ्रातृपत्नीम् अत्र आनय, येन प्रणम्य तस्या आशीर्वादं गृह्णामि"। स आह—"भो मित्र ! अस्ति समुद्रान्तरे सुरम्ये

सम्मुखम् अभिमुखम्, आकर्षति, मित्रं वञ्चयित्वा सर्वाणि स्वायत्तीकर्त्तुमेव इच्छति इत्यर्थः, प्राज्ञतरः अतिप्रज्ञावान्, नरः कौलिकाकारं तन्तुवायसधर्म्माणं, स्वार्थपरमिति यावत्, यथा तन्तुवायः वस्त्रवयनार्थं सूत्राणि प्रगुणीकृत्य यन्त्रेण आत्माभिमुखमेव आकर्षति, तद्वत् इति भावः, मित्रं वर्जयेत् त्यजेत्; स्वार्थतत्परः बन्धुः पयोमुखविषकुम्भसदृशः हेयः इति निष्कर्षः ॥ १२ ॥

ददातीति । प्रीतं प्रणयस्य, लक्षणं चिह्नं, षडविधमेव—ददाति, प्रीतिपात्रायेति शेषः, प्रतिगृह्णाति, प्रीतिपात्रादिति शेषः, गुह्यं रहस्यम्, आख्याति आलपति, प्रीतिपात्रेण सहेति शेषः, पृच्छति, प्रीतिपात्रं गुह्यमेवेति शेषः, भुङ्क्ते, प्रणयिगृहे इति शेषः, "भुजोऽनवने" (पा० सू० १।३।६६) इत्यात्मनेपदम्, अवने तु भुनक्ति महीं राजा इति परस्मैपदमेव, भोजयते च भक्षणं कारयति च, प्रणयिनमिति शेषः, भुज्धातोः "हेतुमति च" (पा० सू० ३।१।२६) इति णिच् "णिचश्च" (पा० सू० १।३।७४) इति कर्त्तृगे क्रियाफले णिजन्तत्वादात्मनेपदम्; दानं, ग्रहणं, रहस्यकथनं, रहस्यप्रश्नः, भोजनं, भोजनदानञ्च एतत् षट्कं प्रीतिलक्षणमिति ॥ १३ ॥

(१) जलान्ते—जलमध्ये । समुद्रान्तरे—समुद्रव्यवधाने, समुद्रमध्ये वा ।

जो लोभी मनुष्य, अपने मित्र की धनादि वस्तु अपनी ओर खींचते रहते हैं (अर्थात् स्वयं ले लेना चाहते हैं), बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि तन्तुवाय-तुल्य ऐसे मित्र को छोड़ देवें (तन्तुवाय- जुलाहा भी डोरों को यन्त्र द्वारा अपनी ओर खींचा करता है स्वयं आगे नहीं बढ़ता) ॥ १२ ॥

और भी—स्नेही पुरुष (मित्र) को अपनी वस्तु देना, उससे लेना, अपनी गोपनीय बात कहना और उससे गोप्य बात पूछना, भोजन करना और उसे भोजन कराना छः प्रीति के चिह्न हैं ॥ १३ ॥

लेकिन हम वन में रहने वाले हैं और आपका घर जल में है। इसलिये वहाँ हम कैसे जा सकते हैं ? अतः हमारी भाभी को भी यहीं ले आइए जिससे मैं उन्हें प्रणाम कर उनका आशीर्वाद ग्रहण करूँ।' उस मगर ने कहा—'मित्र ! हमारा

पुलिनदेशेऽस्मद्गृहम्। तत् मम पृष्ठम् आरुढः सुखेन अकृतभयो गच्छ"। सोऽपि तत् श्रुत्वा सानन्दम् आह—"भद्र! यदि एवं, तत् किं विलम्ब्यते? त्वर्यताम्, एषोऽहं तव पृष्ठम् आरूढः"। तथाऽनुष्ठिते अगाधे जलधौ गच्छतं मकरम् आलोक्य भयत्रस्तमना वानरः प्रोवाच—"भ्रातः! शनैः शनैः गम्यताम्' जलकल्लोलैः प्लाव्यते मे शरीरम्"! तत् आकर्ण्य मकरः चिन्तयामास—"असौ अगाध जल प्राप्तो मे वशः सञ्जातः, मत्पृष्ठगतः तिलमात्रमपि चलितुं न शक्नोति' तस्मात् कथयामि अस्य निजाभिप्रायं, येन अभीष्टदेवतास्मरणं करोति"। आह च—'मित्र! त्वं मया बधाय समानीतो भार्यावाक्येन विश्वास्य; तत् स्मर्यताम् अभीष्टदेवता"। स आह—"भ्रातः! किं मया तस्याः तवापि च अपकृत, येन मे बधोपायः चिन्तितः?" मकर आह—'भोः! तस्याः तावत् तव हृदयस्य अमृतमयफलरसास्वादनमृष्टस्य भक्षणे दोहदः सञ्जातः, तेन एतद-

---

पुलिनदेशे—जलोत्थितभूमौ, ('रेतीला तट' इति हिन्दीभाषा) अगाधे—अतलस्पर्शे। जलधौ—समुद्रे। भयत्रस्तमनाः—भयेन त्रस्तं—समाकुलं, मनः यस्य सः। जलकल्लोलैः—जलस्य कल्लोलैः—महोर्मिभिः, प्रबलतरङ्गैरित्यर्थः, ("अथोर्मिषु। महत्सूल्लोलकल्लोलौ" इत्यमरः) प्लाव्यते—समन्तात् आर्द्रीक्रियते इत्यर्थः। अमृतमयेति—अमृतमयम्—अमृततुल्यं, यत फलं—जम्बूफलमित्यर्थः, तस्य रसास्वादनं—रसानुभवः, तेन मृष्टस्य—शुद्धस्य, मधुरास्वादस्य इत्यर्थः। दोहदः—लालसा,

---

घर समुद्रतल में मनोहर बालुकामय तट पर है। अतः मेरी पीठ पर चढ़कर निर्भय होकर चलो। यह सुनकर वानर ने आनन्दपूर्वक कहा—'भद्र! यदि ऐसी बात है तो फिर देर क्यों? जल्दी करो, यह लो मैं आपकी पीठ पर चढ़ गया।' ऐसा करने पर मगर को अगाध समुद्र में जाता हुआ देखकर वानर ने भयभीत होकर कहा—'भाई! धीरे-धीरे चलो, जल की महान् तरङ्गें मेरे शरीर को डुबा रही हैं।' यह सुनकर मगर सोचने लगा—'इस समय अगाध जल में प्राप्त हुआ यह वानर मेरे अधीन है, मेरी पीठ से तिल मात्र भी इधर-उधर नहीं हो सकता, इसलिये इससे अपने अभिप्राय को कह देना चाहिए, जिससे यह अपने इष्टदेव का स्मरण कर ले।' और (यह सोचकर) बोला—'मित्र! पत्नी के कहने से मैं तुम्हें विश्वास दिलाकर यहाँ मारने के लिये लाया हूँ। अतः तुम अपने इष्ट देव का स्मरण कर लो।' उसने कहा—'भाई! मैंने, उसकी या तुम्हारी क्या बुराई की है, जिसके कारण तुमने मुझे मारने का उपाय किया है।' मगर ने कहा—'हे मित्र! उस (मेरी पत्नी) की अमृततुल्य फलों के रसास्वाद से स्वादिष्ट तुम्हारा हृदय खाने

यित्वा तस्य परोक्षेऽन्यानपि भक्षयति। अथवा साधु इदमुच्यते—

यथा हि मालिनैर्वस्त्रैर्यत्र तत्रोपविश्यते।
एवं चलितवित्तस्तु वित्तशेषं न रक्षति॥ ३०॥

अथ अन्यदिने तेन अपरान् मण्डूकान् भक्षयित्वा गङ्गदत्तसुतो यमुनादत्तो भक्षितः। तं भक्षितं मत्वा गङ्गदत्तः तारस्वरेण 'धिक्! धिक!' इति प्रलापपरः कथञ्चिदपि न विरराम। ततः स्वपत्न्या अभिहितः—

किं क्रन्दसि? दुराक्रन्द! स्वपक्षक्षयकारक!।
स्वपक्षस्य क्षये जाते को नस्त्राता भविष्यति?॥ ३१॥

---

(१) आदिशति—आज्ञापयति, भक्षयितुं ददातीत्यर्थः।

यथेति। मलिनैः वस्त्रैः उपलक्षितैः, इति उपलक्षणे करणे वा तृतीया, मलिनवसनैर्जर्नैरित्यर्थः, यथा यत्र तत्र उपविश्यते, स्वतः एव मलिनतया तस्य वस्त्रस्य पुनः मालिन्यशङ्काविरहादिति भावः, एवं तथा, चलितवित्तः व्ययितवित्तः, जनः इति शेषः, वित्तशेषं धनावशेषं, किञ्चिन्मात्रावशिष्टं धनमित्यर्थः, न रक्षति, यत् प्राप्नोति तदेव व्ययं करोति इत्यर्थः; सर्वधननाशानन्तरं किञ्चिन्मात्ररक्षणे सञ्चयसम्भवाभावतया आग्रहातिशयविरहादिति भावः॥ ३०॥

किमिति। हे दुराक्रन्द! दुष्टरोदन! वृथारोदिन्! इत्यर्थः, स्वपक्षक्षयकारक! स्ववर्गध्वंसिन्! किं कथं, क्रन्दसि? रोदिषि? स्वपक्षस्य स्वगणस्य, क्षये विनाशे, जाते सति, को जनः, नः अस्माकं, त्राता रक्षिता, भविष्यति? न कोऽपि इत्यर्थः;

लगा। वह सर्प उसे खाकर परोक्ष में अन्यान्य मेढकों को भी खा जाता था। अथवा ठीक ही कहा गया है--

जिस प्रकार मलिन वस्त्रधारी पुरुष जहाँ-तहाँ धूलि आदि में भी बैठ जाया करता है, अपने मन में कोई विचार नहीं करता उसी प्रकार सदाचार भ्रष्ट हुआ पुरुष अन्य आचारों की भी परवाह नहीं करता, अर्थात् सब प्रकार के दुराचारों में प्रवृत्त हो जाता है उसी प्रकार अधिक धन के विनष्ट हो जाने पर भी वह बचे हुए धन को व्यय होने से बचाने का प्रयत्न नहीं करता है॥ ३०॥

जब दूसरे दिन वह सर्प अन्य मेढकों को खाकर गंगदत्त के पुत्र यमुनादत्त को भी खा गया, तब उसको खाया हुआ समझकर गङ्गदत्त जोर-जोर से चिल्लाकर अपने को धिक्कारता हुआ कुछ क्षण के लिये भी शान्त नहीं हुआ। तब उसकी पत्नी ने कहा—

हे व्यर्थ रोदन करने वाले और अपने कुल का ही नाश करने वाले! अब क्यों

तत् अद्यापि विचिन्त्यताम् आत्मनः निष्क्रमणम्, अस्य वधोपायश्च'।

अथ गच्छता कालेन सकलमपि कवलितं मण्डूककुलं, केवलमेको गङ्गदत्तः तिष्ठति। ततः प्रियदर्शनेन भणितं—'भो गङ्गदत्त! बुभुक्षितोऽहम्; निःशेषिताः सर्वे मण्डूकाः; तद्दीयतां मे किञ्चित् भोजनं, यतोऽहं त्वया अत्र आनीतः'। स आह—'भो मित्र! न त्वया अत्र विषये मयि अवस्थिते काऽपि चिन्ता कार्या; तत् यदि मां प्रेषयसि, तदा अन्यकूपस्थान् अपि मण्डूकान् विश्वास्य अत्र आनयामि'। स आह—'मम तावत् त्वम् अभक्ष्यो भ्रातृस्थाने; तत् यदि एवं करोषि, तदा सम्प्रतं पितृस्थाने भवसि; तदेवं क्रियताम्' इति। सोऽपि तत् आकर्ण्य अरघट्टघटिकाम् आश्रित्य विविधदेवतोपकल्पितपूजोपयाचितः तस्मात् कूपात् विनिष्क्रान्तः। प्रियदर्शनोऽपि तदाकाङ्क्षया तत्रस्थः प्रतीक्षमाणः तिष्ठति। अथ चिरात् अनागते गङ्गदत्ते

सर्वत्र स्वजन एव रक्षकः भवति, असति रक्षितरि असम्भाव्यमेव रक्षणमिति भावः ॥ ३१ ॥

(१) निष्क्रमणं—निर्गमनम्। कवलितं—भक्षितम्। विविधेति। विविधाभ्यः बह्वीभ्यः, देवताभ्यः, उपकल्पितया—सङ्कल्पितया, पश्वादिकं वस्तु देवेभ्यः देयत्वेन मननीकृतया इति यावत्, ("मानसिक" इति हिन्दी भाषा) पूजया उपयाचितं प्रार्थितं, सर्पादात्मपरित्राणमित्यर्थः, येन तथोक्तः, स्वजीवनरक्षणाय देवेभ्यः सङ्कल्पितविविधपूजोपचारः इत्यर्थः। तदाकाङ्क्षया—तेषाम्—अन्यकूपस्थितानां मण्डूकानाम्,

---

रो रहे हो? अपने पक्ष का नाश होने पर अब हमारी रक्षा कौन करेगा? अतः विनाश अवश्यम्भावी है ॥ ३१ ॥

इसलिये अब भी अपने (यहाँ से) निकलने और इसके मारने का उपाय सोचो।

कुछ दिनों में उस सर्प ने सब मेढक खा लिये। केवल गङ्गदत्त अकेला बच गया। तब प्रियदर्शन (सर्प) ने कहा—हे गङ्गदत्त! मैं बहुत भूखा हूँ, सब मेंढक समाप्त हो चुके हैं। इसलिये मुझे कुछ भोजन दो क्योंकि तुम ही मुझे यहाँ बुलाकर लाये हो। उसने कहा—मित्र! मेरे रहते हुए इस विषय में तुम्हें कोई चिन्ता न करनी चाहिए। यदि तुम मुझे बाहर जाने की अनुमति दे दो तो दूसरे कुओं में रहने वाले अन्य मेढकों को विश्वास दिलाकर अर्थात् बहकाकर यहाँ ले आऊँ। उसने कहा—तुम मेरे भाई तुल्य हो, इसलिए तुम्हें मैं नहीं खा सकता। यदि मेरे लिए भोजन का उपाय करो तो फिर तुम पितृ तुल्य हो जाओगे, इसलिये कोई उपाय करो। वह भी यह सुनते ही रहट के सहारे, अनेक देवो-देवताओं की पूजा और भेंट की मनौती मानता हुआ उस कुएँ से निकला। प्रियदर्शन भी, अन्य कुओं में

प्रियदर्शनः अन्यकोटरनिवासिनीं गोधाम् उवाच—'भद्रे ! क्रियतां स्तोकं साहाय्यम्; यतः चिरपरिचितः ते गङ्गदत्तः ; तत् गत्वा कुत्रचित् जलाशये तम् अन्विष्य मम सन्देशं कथय यत्—'आगम्यताम् एकाकिना अपि भवता द्रुततरं, यदि अन्ये मण्डूका न आगच्छन्ति; अहं त्वया विना नात्र वस्तुं शक्नोमि। तथा, यदि अहं तव विरुद्धम्' आचरामि, तत् सुकृतमन्तरे मया विधृतम्' इति'। गोधा अपि तद्वचनात् गङ्गदत्तं द्रुततरम् अन्विष्य आह— 'भद्र गङ्गदत्त ! स तव सुहृत् प्रियदर्शनः तव मार्गं समीक्षमाणः तिष्ठति; तत् शीघ्रम् आगम्यताम्ः अपरञ्च, तेन तव विरूपकरणे सुकृतमन्तरे धृतम्; तत् निःशङ्केन मनसा समागम्यताम्' इति। तत् आकर्ण्य गङ्गदत्त आह—

आकाङ्क्षया—भक्षणलालसया। अन्यकोटरनिवासिनीं—गर्त्तान्तरस्थायिनीम्। गोधां—गोधिकाम्; "गोह" इति हिन्दीभाषा। स्तोकम्—अल्पम्। सन्देशं—वाचिकम्। एकाकिना—असहायेन, "एकदाकिनिच्चा सहाये" (पा० सू० ५।३।५२) इत्याकिनिच्प्रत्ययः। तदिति। तत्—तदा, सुकृतं—पुण्यं, धर्म इत्यर्थः, मदीयमिति भावः, अन्तरे—आवयोर्मध्य इत्यर्थः, विधृतं—साक्षिभूतत्वेन स्थापितम् इत्यर्थः; मम धर्म एवात्र प्रतिभूकृत इति भावः; अथवा, सुकृतं—पुण्यम्, अन्तरे—दूरे, विधृतं—स्थापितम्; यद्यहं त्वयि अन्यायमाचरेयं, तदा मया पुण्यं परित्यक्तं भवेत्, सर्वथा पापीयसा मया भाव्यम् इति भावः। समीक्षमाणः-प्रतीक्षमाणः। विरूपकरणे—विरुद्धाचरणे।

रहने वाले मण्डूकों को खाने की इच्छा से वहीं रहकर उस (गङ्गदत्त) की प्रतीक्षा करने लगा। बहुत काल बाद भी जब गङ्गदत्त न लौटा, तब उसने दूसरे बिल में रहने वाली गोह से कहा—हे भद्रे ! मेरी थोड़ी सी सहायता करो क्योंकि गङ्गदत्त से तुम्हारा चिरकाल का परिचय है। इसलिए किसी जलाशय में उसकी तलाश करके मेरा सन्देश उससे कहो कि यदि अन्य मेढक नहीं आते तो तुम अकेले ही जल्दी चले आओ। मैं तुम्हारे बिना यहाँ नहीं रह सकता और यदि मैं कोई कार्य तुम्हारे विरुद्ध करूँ तो मेरा पुण्य नष्ट हो जाय। (अर्थात् अपने दोनों के बीच मैं अपना पुण्य साक्षी रखता हूँ। यह एक प्रकार की प्रतिज्ञा है।) गोह भी उसके कहने से गङ्गदत्त को शीघ्र ही तलाश करके उससे बोली—भद्र ! गङ्गदत्त ! तुम्हारा वह मित्र प्रियदर्शन तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। इसलिए शीघ्र चलो। तुम्हारे विरुद्धाचरण न करने के लिए उसने अपना धर्म बीच में रख कर प्रतिज्ञा भी की है। अतः निःशंक होकर चलो।' यह सुनकर गङ्गदत्त ने कहा—

बुभुक्षितः किं न करोति पापम्
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति।
आख्याहि भद्रे! प्रियदर्शनस्य
न गङ्गदत्तः पुनरेति कूपम् ॥ ३२ ॥

एवमुक्त्वा स तां विसर्जयामास। तत् भो दुष्टजलचर! अहमपि गङ्गदत्त इव त्वद्गृहे न कथञ्चित् अपि यास्यामि'। तत् श्रुत्वा मकर आह—'भो मित्र! न एतत् युज्यते; सर्वथा एव मे कृतघ्नतादोषम् अपनय मद्गृहागमनेन; अन्यथा, अत्र अहम् अनशनात् प्राणत्यागं तव उपरि करिष्यामि'। वानर आह—'मूढ! किम् अहं लम्बकर्णो मूर्खः, यत् दृष्टापायोऽपि स्वयमेव तत्र गत्वा आत्मानं व्यापादयामि?—

बुभुक्षित इति। बुभुक्षितः क्षुधितः जनः, बुभुक्षा अस्य सञ्जाता इत्यर्थे 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्यः—' (पा० सू० ५।२।१६) इत्यादिना इतच्। किं पापं न करोति? बुभुक्षानिवारणार्थं सर्वमेव पापं करोति इत्यर्थः, क्षीणाः क्षयमापन्नाः, भोज्याद्यभावादिति भावः, क्षीणः इति क्षिधातोरकर्मकत्वात् कर्त्तरि क्तः 'निष्ठायामण्यदर्थे (पा० सू० ६।४।६०) इति दीर्घः, तत् 'क्षियो दीर्घात्' (पा०सू० ८।२।४६) इति निष्ठा तस्य नकारः, भावकर्मणोस्तु क्षितः कामो मया इत्यधिकं स्यात् जनाः लोकाः, निष्करुणा निर्दयाः, भवन्ति, हे भद्रे! प्रियदर्शनस्य तन्नाम्नः सर्पस्य सम्बन्धविवक्षया षष्ठी। आख्याहि कथय, गङ्गदत्तः तन्नामको भेकविशेषः, पुनः कूपं न एति न आगच्छति। उपजाति वृत्तम् ॥ ३२ ॥

कृतघ्नतादोषम्—अकृतज्ञताऽपराधम्। अपनय—क्षालय। अनशनात्—अनाहारात्। तव उपरि—त्वत्समक्षमित्यर्थः। दृष्टापायोऽपि—दृष्टः अपायः—येन तथाभूतः, विनाशोपक्रमं दृष्ट्वाऽपि इत्यर्थः।

भूखा मनुष्य कौन सा पाप नहीं करता? क्षीण मनुष्य निष्करुण होते ही हैं। हे प्रिये! उस प्रियदर्शन नाम के सर्प से कह दो कि अब गङ्गदत्त पुनः कूप में जाने वाला नहीं है ॥ ३२ ॥

इस प्रकार ऐसा कहकर उसने उसको लौटा दिया। इसलिए हे दुष्ट जलचर! गङ्गदत्त के समान मैं भी किसी प्रकार तुम्हारे घर नहीं जाऊँगा। यह सुनकर मकर ने कहा—मित्र! यह बात ठीक नहीं है, मेरे घर चलकर मेरे ऊपर से कृतघ्नता का लाञ्छन दूर करो। अन्यथा मैं यहीं तुम्हारे ऊपर अनशन कर प्राण त्याग कर दूँगा। वानर ने कहा—मूर्ख! क्या मैं लम्बकर्ण नामक गदहा हूँ, जो अपना नाश देखकर भी फिर वहीं जाकर अपना विनाश कर लूँ।

अथ तेन स्वगृहम् आगच्छता शृगालशिशुरेकः प्राप्तः। सिंहश्च 'बालकोऽयम्' इति अवधार्य्य, तं यत्नेन दंष्ट्रामध्यगतं कृत्वा सिंह्या जीवन्तमेव समर्पितवान्। ततः सिंह्या अभिहित—'भोः कान्त ! त्वया आनीतं किञ्चित् अस्माक भोजनम्? सिंह आह—'प्रिये ! मया अद्य एनं शृगालशिशु परित्यज्य न किञ्चित् सत्त्वम् आसादितम्। स च बालोऽयमिति मत्वा न व्यापादितः, विशेषात् स्वजातीयश्च। उक्तञ्च—

स्त्रीविप्रलिङ्गिबालेषु प्रहर्त्तव्यं न कर्हिचित्।
प्राणत्यागेऽपि सञ्जाते विश्वस्तेषु विशेषतः॥ ४०॥

इदानीं त्वम् एनं भक्षयित्वा पथ्यं कुरु, प्रभातेऽन्यत् किञ्चित् उपार्जयिष्यामि। सा प्राह—'भोः कान्त ! त्वया बालकोऽयं विचिन्त्य न हतः, तत् कथम् एनमहं स्वोदरार्थे विनाशयामि? उक्तञ्च—

अकृत्यं नैव कर्त्तव्यं प्राणत्यागेऽपि संस्थिते।
न च कृत्यं परित्याज्यं धर्म एष सनातनः॥ ४१॥

नान्तता। स इति। स च—मया आसादितः शृगालशिशुरित्यर्थः। स्वजातीयः—श्वापदत्वेन स्ववर्गीय इत्यर्थः।

स्त्रीति। प्राणत्यागे प्राणसंशये इत्यर्थः, सञ्जाते उपस्थितेऽपि, स्त्रीविप्रलिङ्गिबालेषु स्त्रीषु विप्रेषु लिङ्गिषु ब्रह्मचार्यादिषु, बालेषु शिशुषु, विशेषतः विशेषेण, विश्वस्तेषु कृतविश्वासेषु, जनेषु इति शेषः, कर्हिचित् कदाचित्, "अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम्" (पा० सू० ५।३।२१) इत्यनेन किम् इतिशब्दात्, र्हिल् न प्रहर्त्तव्यं न प्रहारः कर्त्तव्यः॥ ४०॥

अकृत्यमिति। प्राणत्यागे संस्थिते उपस्थितेऽपि, अकृत्यम् अकार्य्यं, नैव कर्त्तव्यं,

---

लौटते हुए उसे गीदड़ का एक बच्चा मिला। परन्तु उसे बालक समझकर उसने बड़े यत्न से दोनों दाढ़ों के बीच रखकर जिन्दा ही सिंहनी को सौंप दिया। तब सिंह ने कहा—प्रिये ! आज इस शृगाल शिशु के अतिरिक्त मुझे कोई जानवर नहीं मिला। उसे भी मैंने बालक समझकर नहीं मारा। क्योंकि कहा भी गया है—

प्राण संकट उपस्थित होने पर भी स्त्री, ब्राह्मण, संन्यासी तथा बालक और विशेषकर अपना विश्वास करने वालों पर कभी भी प्रहार नहीं करना चाहिये॥४०॥

अतः इस समय तो तुम इसे खाकर कलेवा करो। प्रातः काल और कुछ लाऊँगा। उसने कहा—हे नाथ ! जब तुमने इसे बालक समझकर नहीं मारा तो मैं अपने पेट के लिए इसे क्यों मारूँ। क्योंकि कहा भी गया है—

प्राणों का संशय उपस्थित होने पर भी मनुष्य को अनुचित कर्म नहीं करना

तस्मात् मम अयं तृतीयः पुत्रो भविष्यति इति, एवमुक्त्वा तमपि स्वस्तनक्षीरेण परां पुष्टिम् अनयत्। एवं ते त्रयोऽपि शिशवः परस्परम् अज्ञातजातिविशेषा एकाचारविहारा बाल्यसमयं निर्वाहयन्ति।

अथ कदाचित् तत्र वने भ्रमन् अरण्यगजः समायातः। तं दृष्ट्वा तौ सिंहसुतौ द्वौ अपि कुपिताननौ तं प्रति प्रचलितौ यावत्, तावत् तेन श्रृगालसुतेन अभिहितम्—'अहो! गजोऽयं युष्मत्कुलशत्रुः, तन्न गतव्य-मेतस्य अभिमुखम्' एवमुक्त्वाऽसौ गृहं प्रधावितः। तौ अपि ज्येष्ठबान्धव-भङ्गान्निरुत्साहतां गतौ। अथवा साधु इदमुच्यते—

एकेनापि सुधीरेण सोत्साहेन रणं प्रति।
सोत्साहं जायते सैन्यं भग्ने भङ्गमवाप्नुयात्॥ ४२॥

कृत्यं कर्त्तव्यञ्च, न परित्याज्यम्; "त्यजेश्च" इति वार्त्तिकसूत्रात् "परित्याज्यम्" इत्यत्र ण्यति न कुत्वम्। एषः सनातनः नित्यः, "सना" इत्यव्ययशब्दात् तनप्रत्ययात् सिद्धम्। "सना नित्ये" इत्यमरः धर्मः; अतः कथमहमकृत्यं करोमि? इति भावः॥ ४१॥

(१) स्वस्तनक्षीरेण—निजस्तनदुग्धेन। अज्ञातजातिविशेषाः—अविदितस्वस्व-गोत्रपरिचयाः इत्यर्थः। निर्वाहयन्ति—यापयन्ति। ज्येष्ठेति। ज्येष्ठबान्धवस्य—प्रधानस्वजनस्य, ज्येष्ठभ्रातुरित्यर्थः, श्रृगालसुतस्येति भावः, "स्वगोत्रबान्धवज्ञाति-बन्धुस्वस्वजनाः समाः" इत्यमरः, भङ्गात्—पलायनात्, निरुत्साहतां—भग्नोत्साहत्वम्, उद्यमहीनतामित्यर्थः।

एकेनेति। एकेनापि सुधीरेण बुद्धिमता, धैर्य्यशालिना वा, सोत्साहेन रणोत्-

---

चाहिये और न उचित कर्म छोड़ना ही चाहिये। यही शाश्वत सनातन धर्म है॥ ४१॥

इसलिए आज से यह मेरा तृतीय पुत्र होगा। यह कहकर उसे भी वह अपने दूध से पालने लगी। इस प्रकार वे तीनों बच्चे, एक दूसरे की जाति को न जानते हुए, साथ-साथ खेलते कूदते हुए समय बिताने लगे। एक समय, उस वन में घूमता हुआ एक जङ्गली हाथी आया। उसे देखकर, वे दोनों सिंह के बच्चे क्रुद्ध होकर जब उस पर आक्रमण करने के लिए उद्यत हुए, तब श्रृगालपुत्र ने कहा—यह हाथी है, जो तुम्हारे कुल का शत्रु है। यह कहकर वह घर को भाग गया। वे दोनों भी बड़े भाई के भयभीत हो जाने से हतोत्साहित हो गये। अथवा ठीक ही कहा गया है—

युद्धस्थल में एक भी पुरुष के धैर्यशाली और उत्साही होने पर सारी सेना युद्ध

तथा च—

अत एव हि वाञ्छन्ति भूपा योधान् महाबलान् ।
शूरान् वीरान् कृतोत्साहान् वर्जयन्ति च कातरान् ॥ ४३ ॥

अथ तौ द्वौ अपि गृहं प्राप्य पित्रोरग्रतो विहसन्तौ ज्येष्ठभ्रातृचेष्टितम् ऊचतुः, यथा—'गजं दृष्टवा दूरतोऽपि नष्टः।' सोऽपि तदाकर्ण्य कोपाविष्टमनाः प्रस्फुरिताधरपल्लवः ताम्रलोचनः त्रिशिखां भ्रकुटिं कृत्वा तौ निर्भर्त्संयन् परुषतर वचनानि उवाच—ततः सिंह्या एकान्ते नीत्वा प्रबोधितोऽसौ—'वत्स ! मैवं कदाचित् जल्प, भवदीयलघुभ्रातरौ एतौ' इति ।

साहवता इत्यर्थः, सेनानायकेन इति शेषः, सैन्यं सेनासमूहः, रणं युद्धं, प्रति सोत्साहम् उत्साहान्वितं, जायते, भग्ने पलायनोद्यते, हतोत्साहे इत्यर्थः, एकस्मिन्नेव सेनानायके इति शेषः, भङ्गं निरुत्साहत्वम्, अवाप्नुयात् प्राप्नोति इत्यमरः, प्रधानसेनानायके—नियमितं हि सैन्यमिति भावः ॥ ४२ ॥

अत इति । अत एव हि अस्मादेव हेतोः, भूपाः राजानः, महाबलान् प्रभूतशक्तियुक्तान् शूरान् पराक्रान्तान्, वीरान् वीर्यवतः, कृतोत्साहान् उत्साहवतः, योधान् सैनिकान्, वाञ्छन्ति अभिलषन्ति, कातरान् रणभीरून्, वर्जयन्ति त्यजन्ति च ॥ ४३ ॥

प्रस्फुरितेति । कम्पितकिसलयकोमलरदनच्छन्दः । ताम्रलोचनः— आरक्तनेत्रः । त्रिशिखां—तिस्रः शिखाः—कोटयः, अग्रभागाः यस्यां तादृशीं, भालदेशाकुञ्चनेन भ्रूद्वयमध्यवर्त्तिस्थाने त्रिशूलवत् प्रतीयमानामित्यर्थः । भ्रकुटिं—भ्रूभङ्गीम् । "अभ्रुकुंसादीनाम्' इति वार्त्तिकसूत्रे अत्र 'भ्रुकुटिः' 'भ्रूकुटिः' इत्यपि रूपद्वयं भवति; सम्प्रसारणे तु भृकुटिरित्यपि पदान्तरं भवतीति; अत्र वार्त्तिकसूत्रे दीक्षिताः—'अकारोऽनेन विधीयते इति व्याख्यान्तरम्; भ्रुकुंसः भ्रकुटिः" इति । अतः भ्रकुटिशब्दसिद्धिरिति ज्ञेयम् । जल्प—कथय । भवदीयलघुभ्रातरौ—त्वदीयकनिष्ठभ्रातरौ ।

में उत्साहित हो जाती है और (एक भी कायर पुरुष के) निरुत्साहित होने पर उत्साहहीन होकर भागने भी लग जाती है ॥ ४२ ॥

इसलिए राजा लोग अपनी सेना में बलवान्, वीर, स्थिरबुद्धि और उत्साही योद्धाओं को चाहते हैं तथा भीरु सिपाहियों का परित्याग कर देते हैं ॥ ४३ ॥

तब उन दोनों सिंह शावकों ने घर जाकर माता-पिता के सामने अपने बड़े भाई शृगाल की करतूत पर हँसते हुए कहा—'यह हाथी को देखकर दूर से ही भाग गया।' वह भी, यह सुनकर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ तथा उसके ओष्ठ फड़कने लगे, आँखें लाल हो गई, और भौंह तानकर उनको धमकाते हुए कठोर वचन कहने लगा।

अथ असौ प्रभूतकोपाविष्टः तामुवाच—'किमहम् एताभ्यां शौर्य्येण रूपेण विद्याभ्यासेन कौशलेन वा हीनः; येन माम् उपहसतः ? तन्मया अवश्यम् एतौ व्यापादनीयौ।' तदाकर्ण्य सिंही तस्य जीवितमिच्छन्ती अन्तर्विहस्य प्राह—

शूरोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि पुत्रक ! ।
यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते ॥ ४४ ॥

तत् सम्यक् शृणु वत्स ! त्वं शृगालीसुतः, कृपया मया स्वस्तनक्षीरेण पुष्टिं नीतः। तत् यावत् एतौ मत्पुत्रौ शिशुत्वात् त्वां शृगाल न जानीतः, तावत् द्रुततरं गत्वा स्वजातीयानां मध्ये मिलितो भव, नो चेत् आभ्यां हतो मृत्युपथं समेष्यति'। सोऽपि तद्वचन श्रुत्वा भयव्याकुलमनाः शनैः शनैः अपसृत्य स्वजात्या मिलितः। तस्मात् त्वमपि, यावत् एते राजपुत्राः त्वां

पुत्रवत्सला काचित् केशरिणी प्रक्रान्तोपाख्यानगोचरं स्वपुत्रद्वयेन विवदमानं तौ च जिघांसुं कृतपुत्रकं शृगालीसुतं सम्बोध्य सानुकम्पमित्थमाह–शूरोऽसीति। हे पुत्रक ! त्वं शूरः बलवान्, असि, कृतविद्यः निखिलाखेटकविद्यापारं गतः, असि भवसि, तथा दर्शनीयः मनोहरकान्तिः, असि, तथाऽपि, यस्मिन् कुले वंशे, त्वम् उत्पन्नः जातः, तत्र तस्मिन् कुले, उत्पन्नेन प्राणिना इति शेषः, गजः न हन्यते न विनाश्यते; सिंह-शावकोचितं गजमारणरूपम् अतिदुष्करं कर्म शृगालीतनयस्यातीव अशक्यमिति भावः; अत्र "सिंहस्तत्र न हन्यते" इति केचित् पठन्ति, सिंहसुतद्वयबधोद्यमस्यात्र प्राकरणिकतया तत्स्वीकारे, सिंहहननं त्वया सुदुष्करमेव इत्यर्थोऽवसीयते इति ज्ञेयम् ॥ ४४ ॥

तब सिंहनीं ने एकान्त में, उसे ले जाकर समझाया——वत्स ! ऐसा मत कहो, यह तुम्हारे छोटे भाई हैं। इस पर वह और भी अधिक क्रोध से भरकर उससे बोला—— शूरता, रूप, विद्याभ्यास और चतुराई में क्या इनमें मैं कम हूँ, जो ये मेरा उपहास करते हैं। इसलिये, मैं अवश्य ही उन्हें मारूँगा। यह सुनकर उसका जीवन चाहती हुई सिंहनी ने मुस्कुराकर कहा——

हे पुत्र ! तुम शूरवीर और शिक्षित तथा दर्शनीय भी हो, परन्तु जिस वंश में तुम उत्पन्न हुए हो, उसमें हाथी का शिकार नहीं किया जाता है ॥ ४४ ॥

इसलिये ध्यान देकर सुनो—हे वत्स ! तुम एक शृगाल पुत्र हो। मैंने कृपाकर अपना दूध पिलाकर तुझे पाला है। अत एव जब तक ये लोग तुझे शृगाल न जाने, उससे पूर्व ही तुम भागकर अपनी जाति में मिल जाओ। नहीं तो कभी इनसे मारे जाकर तुम मृत्यु को प्राप्त होंगे। वह भी उस सिंहनी के वचन सुनकर भयभीत हो तुरन्त भाग गया। इसलिये तुम भी, जब तक ये राजपूत तुम्हें कुम्भकार न

कर्त्तव्यम् । न चैतद्युज्यते कर्त्तुम् । यतः—

किसी नगर में कोई बढ़ई रहता था। उसकी पत्नी के विषय में अफवाह थी कि यह व्यभिचारिणी है। उसकी परीक्षा के लिए उसने विचार किया—किस तरह मैं इसकी परीक्षा करूँ ? परन्तु परीक्षा करना उचित नहीं है। क्योंकि—

नदीनां च कुलानां च मुनिनां च महात्मनाम् ।
परीक्षा न प्रकर्तव्या स्त्रीणां दुश्चरितस्य च ॥ ४९ ॥

नदियों, वंशों, मुनियों, महापुरुषों तथा स्त्रियों के दुराचार की परीक्षा नहीं करनी चाहिए ॥ ४९ ॥

वसोर्वीर्योत्पन्नामभजत मुनिर्मत्स्यतनयां,
तथा जातो व्यासो शतगुणनिवासः किमपरम् ।
स्वयं वेदान् व्यस्यञ्छमितकुरुवंशप्रसविता
स एवाभूच्छ्रीमानहह ! विषमा कर्मगतयः ॥ ५० ॥

पराशर मुनि ने वसु (देवविशेष) के वीर्य से उत्पन्न मत्स्यपुत्री सत्यवती के साथ सम्भोग किया। उससे व्यास उत्पन्न हुए, जो इस प्रकार उत्पन्न होकर भी सैकड़ों गुणों के निवास स्थान थे। अधिक क्या कहें—उन्होंने नष्ट होते हुए कुरुवंश को आगे चलाया और स्वयं वेदों का विभाग किया, वे अत्यन्त तेजस्वी थे। अहो ! कर्मों की गति बड़ी अज्ञेय होती है ॥ ५० ॥

कुलानामिति पाण्डवानामपि महात्मनां नोत्पत्तिरधिगन्तव्या यतः ते क्षेत्रजा इति। स्त्रीदुश्चरितं संधुक्ष्यमाणमनेकदोषान्प्रकटयति स्त्रीणामिति। तथा च—

कुलों अर्थात् महात्मा पाण्डवों की भी उत्पत्ति की परीक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वे क्षेत्रज अर्थात् अन्य पिता से उत्पन्न थे। इसी प्रकार 'स्त्रीणां' पद से स्त्रियों के चरित्र की छान बीन करने से अनेक बुराईयाँ प्रकट होती हैं क्योंकि—

(इसके बाद ५५० पृ० के १९४ श्लोक से लेकर ५५५ पृ० तक की कथा पुनः दी गई है।)

तन्मूढ ! दृष्टिविकारस्त्वम्, तत्कथं तत्र गृहं गच्छामि। अन्यथा यन्मां त्वं विश्वासयसि तत्ते दोषो नास्ति यत् ईदृशी स्वभावदुष्टा युष्मज्जातिर्या शिष्टसङ्गादपि सौम्यत्वं न याति। अथवा स्वभावोऽयं दुष्टानाम्। उक्तं च—

अतः हे मूर्ख ! तेरे चित्त की दुष्ट भावनाएँ मैं देख रहा हूँ। फिर तेरे घर कैसे जा सकता हूँ ? अथवा जो तू मुझे विश्वास दिला रहा है, इसमें तेरा दोष नहीं है। क्योंकि तुम्हारी जाति स्वभाव से ही ऐसी दुष्ट है कि वह सज्जनों का सङ्ग पाकर भी नहीं सुधरती। अथवा यह दुष्टों का स्वभाव ही है। कहा भी गया है—

सद्भिः सम्बोध्यमानोऽपि दुरात्मा पापपौरुषः ।
घृष्यमाण इवाङ्गारो निर्मलत्वं न गच्छति ॥ ५४ ॥

अथ एवं तेन सह वदतो मकरस्य, जलचरेण एकेन आगत्य अभिहितं—"भो मकर! त्वदीया भार्या अनशनोपविष्टा त्वयि चिरयति प्रणयाभिभवाद्विपन्ना।" एवं तत् वज्रपातसदृशवचनम् आकर्ण्य अतीव व्याकुलितहृदयः प्रलपितमेवं चकार—'अहो! किमिदं सञ्जातं मे मन्दभाग्यस्य! उक्तञ्च[1]—

(१) चिरयति विलम्ब कुर्वति सति। प्रणयाभिभवात्—प्रेमावमाननात्, अतिप्रेमभङ्गजनिततीव्रवेदनामसहिष्णुतया इत्यर्थः। विपन्ना—मृता।

इस प्रकार जब वह मगर उस वानर के साथ बातचीत कर ही रहा था, तब एक दूसरे जलचर ने आकर कहा—अरे मगर! अनशन व्रत धारण किये हुए तुम्हारी स्त्री तुम्हें देर होने पर अपने प्रेम का तिरस्कार समझकर मर गई। इस प्रकार वज्रपात सदृश बचनों को सुनकर वह अत्यन्त उद्विग्न हो विलाप करने लगा—ओह! मुझ अभागे पर यह क्या विपत्ति आ गई है। कहा भी गया है—

दुष्ट स्वभाव, पाप-कर्म में रत (लगा हुआ) पुरुष सज्जनों से उपदेश दिये जाने पर भी सत्स्वभाव वाला नहीं होता, जैसे कि कोयला घिसने पर भी सफेद नहीं होता॥ ५४॥

तन्मूर्ख! स्त्रीलुब्ध! स्त्रोजितः! अन्येऽपि ये त्वद्विधा भवन्ति ते स्वकार्यं विभवं मित्रं च परित्यजन्ति तत्कृते। उक्तं च—

अरे मूर्ख! पत्नी-सक्त, भार्याधीन! अन्य पुरुष भी, जो तेरे समान स्त्रीवश्य होते हैं वे स्त्री के लिए अपना कार्य, ऐश्वर्य तथा मित्र को भी छोड़ देते हैं। कहा भी गया है—

(इसके बाद ५३६ पृ० के १८६ श्लोक से लेकर पृ० ५४० के 'हरस्व तत्' तक की कथा पुनरुक्त है।)

१. न गृहं गृहमित्याहुर्गृहणी गृहमुच्यते।
गृहं तु गृहिणीहीनं कान्तारान्नातिरिच्यते॥ ५८॥

निर्मित घर—घर नहीं कहलाता, किन्तु भार्या ही घर कही जाती है। पत्निशून्य घर जङ्गल से भी बढ़ कर होता है॥ ५८॥

अन्यच्च— वृक्षमूलेऽपि दयिता यत्र तिष्ठति तद्गृहम्।
प्रासादोऽपि तया हीनोऽरण्यसदृशः स्मृतः॥ ५९॥

और भी—जहाँ वृक्ष के नीचे भी प्रिया मौजूद हो, वह वृक्षमूल ही घर है और दयिता से सूना राजमहल भी अरण्यतुल्य समझा जाता है॥ ५९॥

माता यस्य गृहे नास्ति भार्या च प्रियवादिनी।
अरण्यं तेन गन्तव्यं यथाऽरण्यं तथा गृहम् ॥ ५० ॥

तत् मित्र ! क्षम्यतां, मया तेऽपराधः कृतः; सम्प्रति अहं तु स्त्रीवियोगात् वैश्वानरप्रवेशं करिष्यामि"। तत् श्रुत्वा वानरः प्रहसन् प्रोवाच—"भोः ! ज्ञातं मया प्रथममेव यत्, त्वं स्त्रीवश्यः स्त्रीजितश्च, साम्प्रतञ्च प्रत्ययः सञ्जातः। तत् मूढ ! आनन्देऽपि जाते त्वं विषादं गतः ! तादृग्भार्यायां मृतायाम् उत्सवं कर्त्तुं युज्यते। उक्तञ्च यतः—

या भार्या दुष्टचारित्रा सततं कलहप्रिया।
भार्यारूपेण सा ज्ञेया विदग्धैर्दारुणा जरा ॥ ५१ ॥

मातेति। यस्य गृहे माता जननी, प्रियवादिनी हितमधुरभाषिणी, भार्य्या पत्नी च, नास्ति, तेन मातृ-पत्नीहीनेति जनेन इत्यर्थः, तेन इति कर्त्तरि तृतीया, पक्षे तु "कृत्यानां कर्त्तरि वा" (पा० सू० २।३।७१) इत्येन षष्ठ्यपि भवति, अरण्यं गन्तव्यम्। कथं हि स्वजनरहितं श्वापदसङ्कुलमरण्यं गन्तुमुपदिश्यते इत्याशङ्कायां, तस्य द्वयोरेतयोः कश्चित् विशेषो नास्तीत्याह—यथेति। अरण्यं यथा गृहञ्च तथा, तस्य इति शेषः, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्; तस्य भवनस्य वनरूपतया उभयं समानम् इत्यर्थः ॥ ५० ॥

(१) वैश्वानरप्रवेशम्—अग्निप्रवेशम्। प्रत्ययः—विश्वासः, नूनं त्वं स्त्रीवश्यः स्त्रीजितश्च इत्याकारकः निश्चयः इत्यर्थः; प्राक् तु मे संशयः आसीत्, इदानीन्तु एवं दृष्ट्वा त्वं तथैवेति निश्चयः सञ्जातः इति भावः।

येति। या भार्या दुष्टं चरित्रं यस्याः तथाभूता दुश्चरित्रा, पांशुला इत्यर्थः, सततं कलहप्रिया च अहेतुकमेव विवदितुमभिलषति इत्यर्थः, विदग्धैः पण्डितैः

जिस पुरुष के घर में माता न हो तथा पत्नी मृदुभाषिणी नहीं हो, उसे वन में चले जाना चाहिए। क्योंकि उसके लिए जैसा अरण्य है, वैसा ही घर है ॥ ५० ॥

मगर ने कहा—इसलिए हे मित्र ! माफ करना, मैंने तुम्हारा बहुत बड़ा अपराध किया है, मैं अब स्त्रीवियोग से अग्नि में प्रविष्ट होकर जल मरूँगा। यह सुनकर वानर हंसता हुआ बोला—भाई ! यह मैंने पहले ही समझ लिया था कि तुम स्त्री के वशीभूत और अधीन हो। अब मुझे पूरा विश्वास हो गया। अतः ओ मूर्ख ! इस आनन्द के अवसर पर भी तुम विषाद करते हो ? ऐसी स्त्री के मरने पर तो प्रसन्न होकर उत्सव मनाना चाहिए। कहा भी गया है—

जिस स्त्री का दुष्ट चरित्र हो और जो सर्वदा कलह पसन्द करती है विद्वानों

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन नामापि परिवर्जयेत्।
स्त्रीणामिह हि सर्वासां य इच्छेत् सुखमात्मनः ॥ ५२ ॥
यदन्तस्तन्न जिह्वायां यज्जिह्वायां न तद्बहिः।
यद्धितं तन्न कुर्वन्ति विचित्रचरिताः स्त्रियः ॥ ५३ ॥

के नाम न विनश्यन्ति मिथ्याज्ञानात् नितम्बिनीम् ?।
रम्यां य उपसर्पन्ति दीपाभां शलभा यथा ॥ ५४ ॥

जनैः, सा भार्यारूपेण भार्यारूपतया, संस्थितेति शेषः, पत्नीव्यपदेशा इत्यर्थः, दारुणा भीषणा, जरा वार्द्धकं सर्वथा शान्तिविघातकत्वात् स्वशरीरक्षयकरीति भावः, ज्ञेया वेदितव्या; भार्य्याकाराकारिता जरा एव सा, न तु तात्त्विकी पत्नी इति भावः ॥ ५१ ॥

तस्मादिति। तस्माद्धेतोः इह संसारे, यः आत्मनः सुखम् आनन्दम्, इच्छेत्, स सर्वप्रयत्नेन सर्वप्रकारेणेत्यर्थः, विशेषचेष्टयेति यावत्, सर्वासामेव स्त्रीणां नामापि परिवर्जयेत् परित्यजेत्, हि निश्चये, का कथा सहवासस्य इत्यपिकारार्थः; इह भुवि स्त्रीपरतन्त्राणां नास्ति मनागपि सुखमिति समुदिताशयः ॥ ५२ ॥

यदिति। स्त्रियः विचित्रचरिताः अद्भुतस्वभावसम्पन्नाः, भवन्तीति शेषः। तदेवोपपादयति—यदिति। आसाम् अन्तः मनसि, यत् विद्यते इति शेषः, जिह्वायां रसनायां, तत् न, जिह्वायां यत् विद्यते इति शेषः, तत् वहिः वाह्य, व्यवहारे इत्यर्थः, न प्रकाशं न ब्रूते इत्यर्थः, एता हि यत् हितं तच्च न कुर्वन्ति, हितबुद्धिरासां कदाऽपि नोदेति, अतश्च सर्वथैव परित्यज्या एता इति भावः ॥ ५३ ॥

के इति। ये मोहोपहतचेतसः इति भावः, मिथ्याज्ञानात् बुद्धिविपर्ययात्, मोह-

---

को चाहिए कि ऐसी पत्नी को भार्यारूप में भयङ्कर वृद्धावस्था ही समझनी चाहिए ॥ ५१ ॥

इसलिये, इस संसार में जो मनुष्य अपनी भलाई चाहे, वह सब प्रकार की स्त्रियों का नाम भी छोड़ दे, (उनके सम्भोग आदि का तो कहना ही क्या है) ॥ ५२ ॥

स्त्रियों के मन में जो रहता है वह जिह्वा में नहीं, जो जिह्वा में रहता है वह बाहर नहीं और जो (कल्याण की) बात होती है, उसके अनुसार आचरण नहीं कर पाती हैं। स्त्रियों का स्वभाव बड़ा विचित्र होता है ॥ ५३ ॥

जो मनुष्य रमणियों के मिथ्या प्रेम में फँसकर बुद्धिभ्रम से स्त्री को (मनोहर समझकर) सेवन करते हैं, उनमें कौन ऐसा है, जो नष्ट नहीं होता, दीपशिखा पर गिरने वाले पतङ्गों के समान सभी नष्ट हो जाते हैं ॥ ५४ ॥

वा। एवं यूथाद्भ्रष्टतया बृहच्छब्दायमाने कियद्दूरं गच्छति च तस्मिन् तच्छब्दानुसारी सिंहः क्रमं कृत्वा निभृतोऽग्रे व्यवस्थितः। ततः यावत् उष्ट्रः समीपम् आगतः, तावत् सिंहेन लम्फयित्वा ग्रीवायां गृहीतो मारितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—'सतां वचनमादिष्टम्' इत्यादि"।

अथ तत् श्रुत्वा मकरः प्राह—'भद्र!—

प्राहुः साप्तपदं मैत्रं जनाः शास्त्रविचक्षणाः।
मित्रताञ्च पुरस्कृत्य किञ्चिद्वक्ष्यामि तत् शृणु॥६६॥

भक्षयन्। वल्लरीः—मञ्जरीः। नेति। कश्चित् मार्गं न पश्यति—सायङ्कालात्ययेन तिमिरोदयादिति भावः। बृहच्छब्दायमाने—उच्चैः घण्टानादं कुर्वाणे। क्रमं—परिकरं, लम्फनार्थमुद्यममित्यर्थः। निभृतः—निश्चलः। व्यवस्थितः-तस्थौ। लम्फयित्वा – उत्प्लुत्य इत्यर्थः, रफि गत्यामिति भौवादिकस्य इदनुबन्धस्य रफधातोः णिचि क्त्वाप्रत्यये च रूपं, रलयोरभेदाच्च रस्य लत्वमिति वेदितव्यम्, लम्फधात्वन्तरस्यादर्शनात्।

प्राहुरिति। शास्त्रविचक्षणाः शास्त्रज्ञाः, जनाः, मैत्रं सख्यं, साप्तपदं 'साप्तपदीनं सख्यम्' (पा० सू० ५।२।२२) इत्यनेन सख्येऽर्थे साप्तपदीनम् एव स्यात्, 'साप्त-

---

कोई सिंह घण्टे का शब्द सुनकर वहाँ आया और उसने दृष्टि फैलाकर देखा कि ऊँटनी और ऊँटों का झुण्ड जा रहा है। इधर उनमें से एक, वह पुनः जब तक नित्य की भाँति पीछे रह कर, क्रीड़ा करता हुआ और लताएँ चरता हुआ जा रहा था, तब तक दूसरे ऊँट जल पीकर घर पहुँच गये। जब एकाकी उसने जंगल से निकलकर इधर उधर देखा, तब उसे लौटने का कोई रास्ता समझ में नहीं आया। तब अपने झुण्ड से बिछुड़कर धीरे-धीरे घण्टे का महाशब्द करता हुआ जब कुछ ही दूर पहुँचा, तब उसके शब्द के अनुसार आक्रमण के लिए तैयार हो, सिंह गुप्त रूप से उसके मार्ग में आगे खड़ा हो गया। इसके बाद जब वह ऊँट सिंह के पास आया, तब सिंह ने झपट कर उसकी गर्दन पकड़ ली और उसे मार डाला। इस लिए मैं (वानर) कहता हूँ कि 'जो व्यक्ति सज्जनों एवं हितैषियों की बातें नहीं मानता' इत्यादि।

वानर की बात सुनकर मगर ने कहा—

'भद्र! विद्वानों का कथन है कि एक साथ सात पग चलने मात्र से ही सज्जन लोगों में मित्रता हो जाती है। मैं तो तुम्हारे साथ बहुत दिनों तक रहा हूँ। अतः मैं उस मित्रता को सामने रखकर तुमसे एक बात कहना चाहता हूँ। उसे कृपा कर सुनो॥ ६६॥

उपदेशप्रदातॄणां नराणां हितमिच्छताम् ।
परस्मिन्निह लोके च व्यसनं नोपपद्यते ॥६७॥

तत् सर्वथा कृतघ्नस्यापि मे कुरु प्रसादम् उपदेशप्रदानेन ।

उक्तञ्च—उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः ? ।
अपकारि यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते" ॥६८॥

तदाकर्ण्य वानरः प्राह—"भद्र ! यदि एवं तर्हि तत्र गत्वा तेन सह

पदं' पदन्तु सुधीभिर्विचार्य्यम्, अथवा—सप्तभिः पदैः सुप्तिङन्तरूपैः, उच्चारितैः निर्वृत्तमित्यर्थ, सप्तानां पदानां समाहार इति विग्रहेण स्थितात् सप्तपदशब्दात् विवक्षया अणिरूपम् । सप्तसङ्ख्यकपदोच्चारणपूर्वकमिति यावत्, 'सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुः" इति कालिदासस्मरणादिति भावः, प्राहुः कथयन्ति, त्वया सह मे बहवः संलापा जाताः, तस्मात् त्वं मे मित्रं तत्र नास्ति सन्देहः, मित्रत्वस्य सप्तपदमात्रसंलापनिष्पाद्य-त्वादित्याशयः, अत एव मित्रतां बन्धुताम्, प्राक् सञ्जातामिति भावः, पुरस्कृत्य अवलम्ब्य, किञ्चित् वक्ष्यामि, यदिदानीं कथयिष्यामि तत्तु पूर्वसौहार्द्यमनुस्मृत्यैवेति भावः, तत् शृणु आकर्णय ॥ ६६ ॥

उपदेशेति । इह अस्मिन्, परस्मिश्च लोके उपदेशप्रदातॄणां तथा हितमिच्छताम् अन्येषां क्षेमं वाञ्छताम्, नराणां व्यसनं विपत्, न उपपद्यते न भवति ॥ ६७ ॥

उपकारष्विति । यः उपकारिषु उपकारकेषु, साधुः सद्व्यवहारपरायणः, स्वोप-कारमपेक्ष्यैव हितैषी इति यावत्, तस्य साधुत्वे को गुणः ? का प्रशंसा ? न कोऽपि गुण इत्यर्थः, यः अपकारिषु स्वानिष्टकारकेषु, जनेषु अपीति शेषः, साधुः समदर्शी, स्वोपकारमनपेक्ष्यैव केवलं हितसाधनतत्पर इति यावत्, सद्भिः सज्जनैः, स एव साधुः महानित्यर्थः, उच्यते कथ्यते । 'सुरधुनि ! मुनिकन्ये ! तारयेः पुण्यवन्तं स तरति निजपुण्यैस्तत्र किं ते महत्त्वम् ? यदि च गतिविहीनं तारयेः पापिनं मां तदिह तव महत्त्वं तन्महत्त्वं महत्त्वम् ॥' इति श्लोकान्तरमत्रानुध्येयम् ॥ ६८ ॥

भद्र ! उपदेश देने वाले और दूसरों की भलाई चाहने वाले पुरुषों को इस लोक अथवा परलोक में भी किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता ॥ ६७ ॥

इसलिए यद्यपि मैं कृतघ्न हूँ, तो भी मुझे उपदेश देकर मेरे ऊपर अनुग्रह करो। क्योंकि कहा भी गया है—

जो मनुष्य उपकार करने वालों के प्रति ही सद्व्यवहार करते हैं, तो उनकी इस सज्जनता में क्या प्रशंसा है ? अपना अहित करने वालों के प्रति भी जो सद्व्यवहार करता है, सज्जन लोग उसे ही सत्पुरुष कहते हैं ॥ ७६ ॥

यह सुनकर वानर ने कहा—'भद्र ! यदि यह बात है तो जाकर उसके साथ

युद्धं कुरु। उक्तञ्च—

हतस्त्वं प्राप्स्यसि स्वर्गं जीवन् गृहमथो यशः।
युध्यमानस्य ते भावि गुणद्वयमनुत्तमम्॥ ६९॥
उत्तमं प्रणिपातेन शूरं भेदेन योजयेत्।
नीचमल्पप्रदानेन समशक्तिं पराक्रमैः"॥ ७०॥

मकरः प्राह—"कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत्—

१० : चतुरक-शृगाल-कथा

"आसीत् कस्मिंश्चित् वनोद्देशे महाचतुरको नाम शृगालः। तेन

समेन सह दण्डरूपोपायावलम्बनस्य फलमाह—हत इति। त्वं हतः सन्, तेनेति शेषः, स्वर्गं प्राप्स्यसि, युद्धे मरणस्य स्वर्गसाधनत्वादिति भावः, अथो पक्षान्तरे, जीवन् प्राणन्, शत्रुं निर्जित्येति शेषः, गृहं स्वालयं, यशः कीर्तिञ्च, प्राप्स्यसीत्यनुषङ्गः। 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' इति स्मरणादिति भावः। अतः युद्धयमानस्य युद्धं कुर्वतः, ते तव, अनुत्तमम् अत्युत्कृष्टं, गुणद्वयम् उक्तशुभफलयुगलं, भावि भविष्यति इत्यर्थः, तथा च समशक्तिना सह अन्तिमः उपायः विग्रहः एव करणीयः, न तु सामादित्रितयम् इति तात्पर्यम्॥ ६९॥

सामादिषु कः उपायः कुत्र अवलम्बनीय इत्यपेक्षायां तत्प्रयोगस्थानं निर्दिशति—उत्तममिति। उत्तमं बलाधिकं, प्रणिपातेन साम्ना, शूरं बलवन्तं, भेदेन उपजापेन, स्वपक्षीयैः सह विच्छेदसाधनेन इत्यर्थः, नीचं क्षुद्रं शत्रुं, किन्तु बलासाध्यमिति भावः, अल्पप्रदानेन यत्किञ्चिद्दानेन, तथा समशक्तिं तुल्यबलं, पराक्रमैः शौर्यैः, शौर्यप्रदर्शनैरित्यर्थः, योजयेत् सन्दध्यात्, तत्र तत्र सामादिचतुष्कं प्रयुज्य तान् तान् रिपून् विजयेत् इति भावः॥ ७०॥

युद्ध करो। क्योंकि—

तुम यदि युद्ध में मारे गये तो स्वर्ग पाओगे और यदि विजयी होकर जीवित रहे तो घर और कीर्ति प्राप्त करोगे। इस प्रकार युद्ध करते हुए तुम्हें दो उत्तम गुणों की प्राप्ति होगी॥ ६९॥

श्रेष्ठ पुरुष को नम्रता से, बलवान् को भेद से अर्थात् आपस में फूट डलवाकर, नीच अर्थात् ओछे मत वाले को कुछ देकर और समान शक्ति वाले को शूरता के द्वारा वश में करना चाहिए॥ ७०॥

मगर ने कहा—'यह कैसे ? उसने कहा—

महाचतुरक शृगाल की कथा

किसी वन में महाचतुरक नामक एक शृगाल रहता था। एक समय उसने

कदाचित् अरण्ये स्वयंमृतो गजः समासादितः अथ शृगालः तस्य समन्तात् परिभ्रमति, परं कठिनां त्वचं भेत्तुं न शक्नोति। अत्रावसरे इतश्चेतश्च विचरन् कश्चित् सिंहस्तत्रैव प्रदेशे समाययौ। अथ सिंहं समागतं दृष्ट्वा स क्षितितलविन्यस्तमौलिमण्डलः संयोजितकरयुगलः सविनयम् उवाच— 'स्वामिन्! त्वदीयोऽहं लागुडिकः स्थितः, त्वदर्थे गजमिमं रक्षामि; तत् एनं भक्षयतु स्वामी'। तं प्रणतं दृष्ट्वा सिंहः प्राह—'भो! न अहमन्येन हतं सत्त्वं कदाचिदपि भक्षयामि। उक्तञ्च—

वनेऽपि सिंहा मृगमांसभक्ष्या
बुभुक्षिता नैव तृणं चरन्ति।
एवं कुलीना व्यसनाभिभूता
न नीतिमार्गं परिलङ्घयन्ति॥ ७१॥

---

[१०]

(१) अत्रावसरे—अस्मिन्नवकाशे, शृगालो यदा मृतं गजं परितः परिभ्रमति, तदा इत्यर्थः। क्षितीति। क्षितितले—भूमौ, विन्यस्तं—पातितं, मौलिमण्डलं—मस्तकदेशः, 'मण्डलं परिधौ कोठे देशे द्वादशराजसु' इति मेदिनी; येन तथोक्तः, प्रणिपतन् इत्यर्थः। संयोजितेति। संयोजितं करयुगलं येन तथोक्तः, बद्धाञ्जलिरित्यर्थः। लागुडिकः—याष्टीकः, लगुडधारी इत्यर्थः, लगुडवाही भृत्य इति यावत्, लगुडः प्रहरणमस्येति लगुडशब्दात् 'प्रहरणम्' (पा० सू० ४।४।५७) इति ठक्।

वने इति। वने मृगमांसभक्ष्याः मृगाणां मांसं भक्ष्यम् आहार्यं येषां तथोक्ताः, पशुमांसभोजिन इत्यर्थः, सिंहाः, हिनस्ति यः सः सिंहः, इदनुबन्धात् हिंस्-धातोः कप्रत्यये वर्णविपर्ययो निपातनात् बुभुक्षिताः क्षुधिता अपि सन्तः, भोक्तुमिच्छा बुभुक्षा भुज् 'धातोः कर्मणः–' (पा० सू० ३।१।७) इति सन्, 'अ प्रत्ययात्' (पा० सू०

वन में स्वयं मरा हुआ हाथी पाया। वह उसके चारों तरफ घूमता रहा। परन्तु उसका चमड़ा न काट सका। इसी समय कोई सिंह इधर-उधर घूमता हुआ उसी स्थान पर आ पहुँचा। उसको आया हुआ देखकर वह शृगाल पृथ्वी में मस्तक रख तथा कमलतुल्य हाथ जोड़कर नम्रता से बोला—'हे स्वामिन्! मैं आपका सिपाही हूँ। अतः आपके लिए इस हाथी की रक्षा कर रहा हूँ। इसलिए आप इसे भक्षण करें।' तब उसे प्रणाम करते हुए देखकर सिंह ने कहा—'मैं कभी भी दूसरे से मारा हुआ जानवर नहीं खाता। क्योंकि कहा भी गया है—

वन में निवास करने वाले और मृगों का मांस खाने वाले सिंह बुभुक्षित होने पर भी जैसे कभी घास नहीं चरते उसी प्रकार कुलीन व्यक्ति आपत्तियों में पड़ जाने पर भी कभी नीतिमार्ग का उल्लङ्घन नहीं करते॥ ७१॥

मानो वा दर्पो वा विज्ञानं विभ्रमः सुबुद्धिर्वा ।
सर्वं प्रणश्यति समं वित्तविहीनो यदा पुरुषः ॥ ३ ॥
प्रतिदिवसं याति लयं वसन्तवाताहतेव शिशिरश्रीः ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामपि कुटुम्बभरचिन्तया सततम् ॥ ४ ॥
नश्यति विपुलमतेरपि बुद्धिः पुरुषस्य मन्दविभवस्य ।
घृतलवणतैलतण्डुल वस्त्रेन्धनचिन्तया सततम् ॥ ५ ॥

सन्तोऽपि एते गुणाः धनाभावादेव सर्वैरनादृतत्वेन नैव विकाशं प्राप्नुवन्तीति भावः। आर्या वृत्तम् ॥ २ ॥

मान इति । यदा पुरुषः वित्तविहीनः निर्धनः, स्यादिति शेषः, तदा मानो वा चित्तोन्नतिर्वा, यद्वा, सम्मानं वा, दर्पो वा गर्वो वा, विज्ञानं विशेषज्ञानं, विभ्रमः, विलासित्वं वा, सुबुद्धिः शोभना प्रज्ञा वा, एतत् सर्वं समं युगपत्, प्रणश्यति नाशं गच्छति । आर्या वृत्तम् ॥ ३ ॥

प्रतिदिवसमिति । वसन्तवातेन मलयमरुता इति यावत्, आहता अभिभूता, शिशिरस्य तदाख्यस्य ऋतोः, श्रीरिव शोभेव, बुद्धिमतामपि, निर्धनानामिति भावः, बुद्धिः ज्ञानं, सततं कुटुम्बभरचिन्तया परिवारभरणभावनया, लयं क्षयं, याति, धन-राहित्येनेति शेषः, वसन्तवायुना यथा शिशिरस्य शोभा विलुप्ता भवति, तथा धना-भावकृतचिन्तया बुद्धिरपि बुद्धिमतामिति निष्कर्षः । आर्या वृत्तम् ॥ ४ ॥

नश्यतीति । विपुलमतेः महाबुद्धेरपि, मन्दविभवस्य निर्धनस्य, पुरुषस्य बुद्धिः ज्ञानं, सततं निरन्तरं, घृतलवणतैलतण्डुलवस्त्रेन्धनानां घृतं हविः, लवणं सैन्धवादिकं, तैलं तिलादिभवस्नेहद्रव्यं, तण्डुलं शालिषष्टिकादिसम्भूतमामान्नं, वस्त्रं वसनम्, इन्धनं दाह्यकाष्ठं, तेषां चिन्तया भावनया, धनाभावतया कथं नित्यप्रयोजनीयान्यपि एतानि द्रव्याणि सङ्ग्रहीतव्यानीत्येवंरूपया इति यावत्, नश्यति विलुप्यति ।

आदर, सम्मान, अहङ्कार, विशेष प्रकार का ज्ञान, विविध प्रकार की काम-चेष्टाएँ एवं उत्तम बुद्धि ये सभी गुण निर्धन पुरुष के धन के नाश होते ही उसी के साथ नष्ट हो जाते हैं ॥ ३ ॥

बड़े-बड़े प्रतिभाशाली लोगों की भी बुद्धि निरन्तर कुटुम्बपोषण की चिन्ता से दिनों-दिन इस प्रकार नष्ट हो जाती है जिस प्रकार वसन्त के वायु के चलने पर शिशिर ऋतु की शोभा नष्ट हो जाती है ॥ ४ ॥

बड़े-बड़े विद्वानों की भी बुद्धि दरिद्रता के कारण निरन्तर कुटुम्बपोषण के साधन-भूत घी, तेल, नमक, चावल, वस्त्र तथा इन्धनादि वस्तु समूहों के संकलन की चिन्ता से नष्ट हो जाती है ॥ ५ ॥

कदाचित् अरण्ये स्वयंमृतो गजः समामादितः अथ शृगालः तस्य समन्तात् परिभ्रमति, परं कठिनां त्वचं भत्तुं न शक्नोति। अत्रावसरे इतश्चेतश्च विचरन् कश्चितं सिंहस्तत्रैव प्रदेशे समाययौ। अथ सिंहं समागतं दृष्टवा स क्षितितलविन्यस्तमौलिमण्डलः संयोजितकरयुगलः सविनयम् उवाच—'स्वामिन्! त्वदीयोऽहं लागुडिकः स्थितः, त्वदर्थे गजमिमं रक्षामि; तत् एनं भक्षयतु स्वामी'। तं प्रणतं दृष्टवा सिंहः प्राह—'भो! न अहमन्येन हतं सत्त्वं कदाचिदपि भक्षयामि। उक्तञ्च—

वनेऽपि सिंहा मृगमांसभक्ष्या
बुभूक्षिता नैव तृणं चरन्ति।
एवं कुलीना व्यसनाभिभूता
न नीतिमार्गं परिलङ्घयन्ति ॥ ७१ ॥

---

[१०]

(१) अत्रावसरे—अस्मिन्नवकाशे, शृगालो यदा मृतं गजं परितः परिभ्रमति, तदा इत्यर्थः। क्षितीति। क्षितितले—भूमौ, विन्यस्तं—पातितं, मौलिमण्डलं—मस्तकदेशः, 'मण्डलं परिधौ कोठे देशे द्वादशराजसु' इति मेदिनी; येन तथोक्तः, प्रणिपतन् इत्यर्थः। संयोजितेति। संयोजितं करयुगलं येन तथोक्तः, बद्धाञ्जलिरित्यर्थः। लागुडिकः—याष्टीकः, लगुडधारी इत्यर्थः, लगुडवाही भृत्य इति यावत्, लगुडः प्रहरणमस्येति लगुडशब्दात् 'प्रहरणम्' (पा० सू० ४।४।५७) इति ठक्।

वने इति। वने मृगमांसभक्ष्याः मृगाणां मांसं भक्ष्यम् आहार्यं येषां तथोक्ताः, पशुमांसभोजिन इत्यर्थः, सिंहाः, हिनस्ति यः सः सिंहः, इदनुबन्धात् हिंस्-धातोः कप्रत्यये वर्णविपर्ययो निपातनात् बुभुक्षिताः क्षुधिता अपि सन्तः, भोक्तुमिच्छा बुभुक्षा भुज् 'धातोः कर्मणः–' (पा० सू० ३।१।७) इति सन्, 'अ प्रत्यत्यात्' (पा० सू०

वन में स्वयं मरा हुआ हाथी पाया। वह उसके चारों तरफ घूमता रहा। परन्तु उसका चमड़ा न काट सका। इसी समय कोई सिंह इधर-उधर घूमता हुआ उसी स्थान पर आ पहुँचा। उसको आया हुआ देखकर वह शृगाल पृथ्वी में मस्तक रख तथा कमलतुल्य हाथ जोड़कर नम्रता से बोला—'हे स्वामिन्! मैं आपका सिपाही हूँ। अतः आपके लिए इस हाथी की रक्षा कर रहा हूँ। इसलिए आप इसे भक्षण करें।' तब उसे प्रणाम करते हुए देखकर सिंह ने कहा—'मैं कभी भी दूसरे से मारा हुआ जानवर नहीं खाता। क्योंकि कहा भी गया है—

वन में निवास करने वाले और मृगों का मांस खाने वाले सिंह बुभुक्षित होने पर भी जैसे कभी घास नहीं चरते उसी प्रकार कुलीन व्यक्ति आपत्तियों में पड़ जाने पर भी कभी नीतिमार्ग का उल्लङ्घन नहीं करते ॥ ७१ ॥

मानो वा दर्पो वा विज्ञानं विभ्रमः सुबुद्धिर्वा ।
सर्वं प्रणश्यति समं वित्तविहीनो यदा पुरुषः ॥ ३ ॥
प्रतिदिवसं याति लयं वसन्तवाताहतेव शिशिरश्रीः ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामपि कुटुम्बभरचिन्तया सततम् ॥ ४ ॥
नश्यति विपुलमतेरपि बुद्धिः पुरुषस्य मन्दविभवस्य ।
घृतलवणतैलतण्डुल वस्त्रेन्धनचिन्तया सततम् ॥ ५ ॥

सन्तोऽपि एते गुणाः धनाभावादेव सर्वैरनादृतत्वेन नैव विकाशं प्राप्नुवन्तीति भावः । आर्या वृत्तम् ॥ २ ॥

मान इति । यदा पुरुषः वित्तविहीनः निर्धनः, स्यादिति शेषः, तदा मानो वा चित्तोन्नतिर्वा, यद्वा, सम्मानं वा, दर्पो वा गर्वो वा, विज्ञानं विशेषज्ञानं, विभ्रमः, विलासित्वं वा, सुबुद्धिः शोभना प्रज्ञा वा, एतत् सर्वं समं युगपत्, प्रणश्यति नाशं गच्छति । आर्या वृत्तम् ॥ ३ ॥

प्रतिदिवसमिति । वसन्तवातेन मलयमरुता इति यावत्, आहता अभिभूता, शिशिरस्य तदाख्यस्य ऋतोः, श्रीरिव शोभेव, बुद्धिमतामपि, निर्धनानामिति भावः, बुद्धिः ज्ञानं, सततं कुटुम्बभरचिन्तया परिवारभरणभावनया, लयं क्षयं, याति, धनराहित्येनेति शेषः, वसन्तवायुना यथा शिशिरस्य शोभा विलुप्ता भवति, तथा धनाभावकृतचिन्तया बुद्धिरपि बुद्धिमतामिति निष्कर्षः । आर्या वृत्तम् ॥ ४ ॥

नश्यतीति । विपुलमतेः महाबुद्धेरपि, मन्दविभवस्य निर्धनस्य, पुरुषस्य बुद्धिः ज्ञानं, सततं निरन्तरं, घृतलवणतैलतण्डुलवस्त्रेन्धनानां घृतं हविः, लवणं सैन्धवादिकं, तैलं तिलादिभवस्नेहद्रव्यं, तण्डुलं शालिषष्टिकादिसम्भूतमामान्नं, वस्त्रं वसनम्, इन्धनं दाह्यकाष्ठं, तेषां चिन्तया भावनया, धनाभावतया कथं नित्यप्रयोजनीयान्यपि एतानि द्रव्याणि सङ्ग्रहीतव्यानीत्येवंरूपया इति यावत्, नश्यति विलुम्पति ।

आदर, सम्मान, अहङ्कार, विशेष प्रकार का ज्ञान, विविध प्रकार की कामचेष्टाएँ एवं उत्तम बुद्धि ये सभी गुण निर्धन पुरुष के धन के नाश होते ही उसी के साथ नष्ट हो जाते हैं ॥ ३ ॥

बड़े-बड़े प्रतिभाशाली लोगों की भी बुद्धि निरन्तर कुटुम्बपोषण की चिन्ता से दिनों-दिन इस प्रकार नष्ट हो जाती है जिस प्रकार वसन्त के वायु के चलने पर शिशिर ऋतु की शोभा नष्ट हो जाती है ॥ ४ ॥

बड़े-बड़े विद्वानों की भी बुद्धि दरिद्रता के कारण निरन्तर कुटुम्बपोषण के साधनभूत घी, तेल, नमक, चावल, वस्त्र तथा इन्धनादि वस्तु समूहों के संकलन की चिन्ता से नष्ट हो जाती है ॥ ५ ॥

गगनमिव नष्टतारं शुष्कं सरः श्मशानमिव च रौद्रम् ।
प्रियदर्शनमपि रूक्षं भवति च गृहं धनहीनस्य ॥ ६ ॥
न विभाव्यन्ते लघवो वित्तैर्हीनाः पुरोऽपि निवसन्तः ।
सततं जातविनष्टाः पयसामिव बुद्बुदाः पयसि ॥ ७ ॥
सुकुलं कुशलं सुजनं विहाय कुलकुशलशीलविकलेऽपि ।
आढ्ये कल्पतराविव नित्यं रज्यन्ति जननिवहाः ॥ ८ ॥

आर्या वृत्तम् ॥ ५ ॥

गगनमिति । धनहीनस्य, लोकस्येति शेषः, गृहं प्रियदर्शनमपि सुदर्शनमपि, नष्टाः तिरोहिताः, अदृश्या इत्यर्थः, ताराः नक्षत्राणि यस्मात् तथाविधं, विलीननक्षत्रमित्यर्थः, गगनमिव, शुष्कं जलहीनं, 'शुष् शोषणे' इति दैवादिकशुष्धातोः क्तप्रत्यये 'शुषः कः' (पा० सू० ८।२।५१) इति निष्ठातस्य ककारः । सरः तडाग इव, रौद्रं भीषणम्, अप्रीतिकरमिति यावत्, श्मशानमिव शवदाहस्थानमिव, च श्मानः शवाः शेरतेऽत्र इति श्मशानं, श्मन्नुपपदात् शीधातोः आनच्च डिच्च, श्मन्शब्देन शवः प्रोक्तः शानः तत्स्थानमुच्यते' इति निरुक्तोऽप्युक्तम्, रूक्षं कर्कशम्, अप्रियम् इत्यर्थः, विगतश्रीकम् इति यावत्, भवति । आर्या वृत्तम् ॥ ६ ॥

नेति । वित्तैः धनैः, हीनाः अत एव लघवः क्षुद्रत्वेन गण्या इति भावः, जना इति शेषः, सततं पुरः अग्रतः, निवसन्तोऽपि तिष्ठन्तोऽपि, पयसि जले, जाता एव प्रादुर्भूता एव, विनष्टाः लयं गताः, उत्पत्त्यनन्तरमेव विलीना इत्यर्थः, पयसां जलानां, बुद्बुदा इव जलविकारा इव, न विभाव्यन्ते सादरं न लक्ष्यन्ते, कैरपीति शेषः, असारत्वादिति भावः । आर्या वृत्तम् ॥ ७ ॥

सुकुलमिति । जननिवहाः लोकनिचयाः; सुकुलं सत्कुलोत्पन्नं, कुशलं कार्यदक्षं, विज्ञमित्यर्थः, 'प्रवीणे निपुणाभिज्ञ-विज्ञनिष्णातशिक्षिताः । वैज्ञानिकः कृतमुखः

दरिद्र पुरुष का अत्यन्त मनोहर भव्य भवन भी ऐश्वर्यरहित होने के कारण तारागणों से शून्य आकाश के समान, जलरहित तालाब के समान एवं भयंकर श्मशान के समान उदास प्रतीत होता है ॥ ६ ॥

कौलीन्य, विद्या आदि गुणों से आगे रहने वाले श्रेष्ठ पुरुष भी धनहीन होने के कारण उसी प्रकार लोक में नगण्य होते हैं जिस प्रकार जल में सर्वदा उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाने वाला पानी का बुलबुला नगण्य होता है ॥ ७ ॥

इस संसार में लोग कुलीनता, दक्षता एवं सज्जनता आदि गुणों से युक्त पुरुष को छोड़कर कुलीनता, दक्षता एवं उत्तम स्वभाव से रहित भी धनवान् पुरुष में कल्पवृक्ष के समान अनुराग करते हैं ॥ ८ ॥

विकलमिह पूर्वसुकृतं विद्यावन्तोऽपि कुलसमुद्भूता ।
यस्या यदा विभवः स्यात् तस्य तदा दासतां यान्ति ॥ ९ ॥
लघुरयमाह न लोकः कामं गर्जन्तमपि पतिं पयसाम् ।
सर्वमलज्जकरन्तु यत् कुर्वन्तीह परिपूर्णाः ॥ १० ॥

कृती कुशल इत्यपि ॥' इत्यमरः । सुजनं सत्पुरुषं, निर्धनमिति भावः, विहाय परित्यज्य, कुलकुशलशीलविकलेऽपि अकुलीने अकुशले दुःशीलेऽपि इत्यर्थः, आढ्ये धनिनिः 'इभ्य आढ्यो धनी' इत्यमरः । कल्पतराविव कल्पवृक्षे इव, नित्यं सततं, रज्यन्ति अनुरक्ता भवन्ति इत्यर्थः, दैवादिकात् अकर्मकररञ्जधातोः, 'दिवादिभ्यः श्यन्' (पा०सू० ३।१।६९) इति श्यन् । आर्या वृत्तम् ॥ ८ ॥

विकलमिति । इह संसारे, पूर्व सुकृतं प्राक्कृतः उपकारः, विकलं व्यर्थम्, अगण्यमित्यर्थः, न किमपि प्रत्युपकारसाधकमिति यावत्, भवेदिति मन्ये इति शेषः, यतः विद्यावन्तः विद्वांसः, कुलसमुद्भूताः सत्कुलोद्भवा अपि, जनाः इति शेषः, केनापि पूर्वमुपकृता इति भावः, का कथा मूर्खाणां नीचवंशोयानां वा इत्यपेरर्थः, यस्य यदा विभवः सम्पत्, स्यात्, तदा तस्य अनुपकारकस्यापीति भावः, दासताम् आनुगत्यमित्यर्थः, यान्ति गच्छन्ति, अकृतज्ञतया क्षयितधनं स्वोपकारिणमपि विहाय धनवन्तं सेवन्ते इति निष्कर्षः । आर्या वृत्तम् ॥ ९ ॥

संसारऽस्मिन् धनराहित्यमेव लाघवबीजं, न तु ज्ञानकुलसामाजिकतादिशून्यत्वमित्यभिप्रेत्याह—लघुरित्यादि । लोकः जनः, कामं पर्याप्तं, यथेच्छमित्यर्थः, गर्जन्तमपि नदन्तमपि, वृथाडम्बरपूर्णवाक्यप्रयोगपरमपीति भावः, अनेन असौ अन्तःसारशून्य इति ध्वन्यते पयसां पतिं समुद्रं, रत्नाकरत्वात् धनिनम् इति ध्वनिः । अयं लघुः क्षुद्रः, इति न आह, धनवान् वृथाभाषी अपि लघुप्रकृतिरयमिति न लोकैरुपेक्ष्यते इति भावः, परिपूर्णाः धनवन्तः इह संसारे, यत् कुर्वन्ति न्यायमन्यायं वा यत् विदधति, तत् सर्वं तु सर्वमेव, अलज्जाकरं तेषां लज्जां न जनयति इत्यर्थः, प्रत्युत श्लाघाकरमिति भावः, सुप्रचुरधनत्वात् रत्नाकरोपमाः धनिनः यदेव कुर्वन्ति, तदेव शोभते, धनमेवात्र सकलगुणाधानहेतुः इति निष्कर्षः । 'केचित तु एवमपि व्याख्यानयन्ति—लोकः ऐश्वर्यमदमत्तः इत्यर्थः, कामं गर्जन्तं पयसां पतिं समुद्रमपि,

---

इस संसार में पूर्वोपार्जित सभी पुण्य व्यर्थ ही हैं क्योंकि बड़े-बड़े कुलीन एवं विद्वान् भी जिस पुरुष के पास धन होता है उसी के वशवर्ती हो जाते हैं ॥ ९ ॥

संसार के लोग व्यर्थ की गर्जना करने वाले समुद्र को 'यह नीच है' ऐसा कभी नहीं कहते । अतः श्रीमान् लोग उचित अनुचित जो भी कार्य करें वह उनके लिए प्रशंसास्पद ही होता है ॥ १० ॥

एव सम्प्रधार्य भूयोऽपि अचिन्तयत् यत्—'अहम् अनशनं कृत्वा प्राणान् उत्सृजामि, किमनेन नो व्यर्थजीवितव्यसनेन !!' एवं निश्चयं कृत्वा सुप्तः। अथ तस्य स्वप्ने पद्मनिधिः क्षपणकरूपी दर्शनं दत्त्वा प्रोवाच—'भोः श्रेष्ठिन् ! मा त्वं वैराग्यं गच्छ, अहं पद्मनिधिः तव पूर्वपुरुषोपार्जितः, तदनेन एव रूपेण प्रातः त्वद्गृहम् आगमिष्यामि, ततः त्वया अहं लगुडप्रहारेण शिरसि ताडनीयः, येन कनकमयो भूत्वा अक्षयो भवामि।'

अतः प्रातः प्रबुद्धः सन् स्वप्नं स्मरन् एवं चिन्ताचक्रम् आरूढः तिष्ठति यत्—'अहो ! सत्योऽयं स्वप्नः, किं वा असत्यो भविष्यति न ज्ञायते, अथवा नूनं मिथ्याऽनेन भाव्य, यतोऽहं केवलं वित्तमेव चिन्तयामि। उक्तञ्च—

लघुरयं लघुवेगं, न आह ! इति काकुः, अपि तु आहैव। अन्यत् समानम्। आर्या वृत्तम् ॥ १० ॥

(१) नः अस्माकम्। व्यर्थेति। व्यर्थेन—विफलेन, जीवितव्यसनेन—जीवनं प्रति ममत्वेन इत्यर्थः, जीवनधारणरूपविपत्तिस्वीकारेणेत्यर्थो वा।

(२) पद्मनिधिः—पूर्वपुरुषैः अधस्तनानां दारिद्र्याशङ्कया कृच्छ्रतपसा सन्तोषितः पद्माख्यः धनाधिदेवविशेषः। क्षपणकरूपी—बौद्धसन्न्यासिवेशवान्। अनेन एव रूपेण—क्षपणकवेशेनैव।

(३) चिन्ताचक्रं—भावनाजालं, विविधचिन्ताम् इत्यर्थः, यद्वा—चिन्तारूपं चक्रं—रथाङ्गं, चिन्तायाः चक्रवत् नियतावर्त्तनशीलत्वात् इति भावः।

ऐसा निश्चय कर वह श्रेष्ठी पुनः विचार करने लगा—दरिद्र होने की अपेक्षा मैं अनशन कर अपना प्राण त्याग कर दूँगा, क्योंकि धनहीन होकर दुःखमय जीवन व्यतीत करने से कोई लाभ नहीं। इसी प्रकार विचार करते-करते जब वह सो गया तब स्वप्न में पद्मनिधि ने क्षपणक (बौद्ध संन्यासी) का रूप धारण करके उसके सामने प्रत्यक्ष होकर कहा—'सेठ ! तुम विरक्त मत होओ, मैं तुम्हारे पूर्वजों द्वारा उपार्जित पद्म नामक निधि (कोश) हूँ। मैं कल प्रात.काल इसी रूप में तुम्हारे घर आऊँगा। तुम्हारे द्वारा मैं डण्डे के प्रहार से शिर फोड़वाकर और तब कोष बन कर उपस्थित हो जाऊँगा।

इसके अनन्तर सोकर उठने के पश्चात् वह सेठ अपने स्वप्न को स्मरण करता हुआ विचार करने लगा कि क्या यह स्वप्न सत्य है अथवा असत्य है, मैं इस विषय में कुछ सोच नहीं पा रहा हूँ। अथवा यही निश्चय है कि यह स्वप्न असत्य ही है। क्योंकि मैं दिन-रात धन की चिन्ता में डूबा रहता हूँ। कहा भी गया है—

नकुलार्थं परं विषादमुपाययौ। ततः सा ब्राह्मणी सुस्थशरीरसुतमुखदर्शनात् प्रबलशोकावेगे प्रशमिते सति ब्राह्मणमाह—'भो भो लोभात्मन्! अतिलोभाभिभूतेन त्वया न कृतं मद्वचः, तदनुभव साम्प्रतं पुत्रमृत्युदुःखवृक्षफलम्'। अथवा साधु इदमुच्यते--

अतिलोभो न कर्त्तव्यो लोभं नैव परित्यजेत्।
अतिलोभाभिभूतस्य चक्रं भ्रमति मस्तके ॥ २२ ॥

तत् श्रुत्वा ब्राह्मणः प्राह—'कथमेतत्?' सा प्राह—

२ : लोभाविष्टचक्रधर-कथा

'कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने चत्वारो ब्राह्मणपुत्राः परस्परं मित्रतां गता

भूतं, प्रतिगृहीतधनम् इत्यर्थः। मद्वचः—'त्वया पुत्रोऽयं रक्षणीयः' इत्येवंरूपं निदेशवाक्यम्। तत्—तस्मात्, अनुभव—भुङ्क्ष्व। पुत्रेति। पुत्रस्य—पुत्रतुल्यस्य, नकुलस्येत्यर्थः, मृत्युः—निधनं, तदुद्भूतं यत् दुःखं, स एव वृक्षः तस्य फलम् अनुशयाऽऽतिशय्यरूपमिति भावः।

अतिलोभ इति। अतिलोभः महती लालसा, न कर्त्तव्यः, लोभं; 'लब्धम्' इति पाठान्तरम्; नैव परित्यजेत् सर्वथा न उत्सृजेत् इत्यर्थः, यथासम्भवं कुर्यादिति भावः; अतिलोभेन अभिभूतस्य आक्रान्तस्य, जनस्य इति शेषः, मस्तके चक्रम् अस्त्रविशेषः, क्रियतेऽनेनेति चक्रं, कृधातोः क-प्रत्ययः द्वित्वञ्च। 'चक्रः कोके पुमान् क्लीबं व्रजे सैन्यरथाङ्गयोः। राष्ट्रे दम्भान्तरे कुम्भकारोपकरणास्त्रयोः॥ जलावर्त्तेऽपि' इति मेदिनी। भ्रमति घूर्णते, प्राक् एकस्य अतिलुब्धस्य शिरसि संलग्नमपि ततश्चापसृत्य अपरस्य तादृशलुब्धस्य शिरः आरुह्य समन्तादनिशं परिवर्त्तते इत्यर्थः, कियत्कालं क्लेश एवात्र लुब्धदण्ड इति भावः॥ २२॥

तो देखा कि नेवले के वध से दुःखी ब्राह्मणी विलाप कर रही है, ब्राह्मणी ने कहा—'हे लोभात्मन्। तुमने लोभ के वश में होकर मेरा कहना नहीं किया। अब पुत्र के मृत्यु से उत्पन्न दुःख रूपी वृक्ष के फल को भोगो।' अथवा यह ठीक ही कहा गया है–

और भी, मनुष्य को बहुत तृष्णा नहीं बढ़ानी चाहिए। किन्तु तृष्णा का परित्याग भी नहीं करना चाहिए। जो लोग अत्यन्त लोभ करते हैं उनके मस्तक पर विपत्ति का चक्र घूमने लगता है॥ २२॥

यह सुनकर ब्राह्मण ने कहा—'यह कैसे?' तब उस ब्राह्मणी ने कहा—

अत्यन्त लोभी चक्रधर की कथा

किसी स्थान पर चार ब्राह्मण के लड़के आपस में मित्रभाव से निवास करते थे।

गता वसन्ति स्म। ते च दारिद्र्योपहताः परस्परं मन्त्रं चक्रुः—'अहो! धिक् इयं दरिद्रता! उक्तञ्च—

वरं वनं व्याघ्रगजादिसेवितं
जनेन हीनं बहुकण्टकावृत्तम्।
तृणानि शय्या परिधानवल्कलं
न बन्धुमध्ये धनहीनजीवितम् ॥ २३ ॥

तथा च—

स्वामी द्वेष्टि सुसेवितोऽपि सहसा प्रोज्झन्ति सद्बान्धवा
राजन्ते न गुणास्त्यजन्ति तनुजाः स्फारीभवन्त्यापदः।
भार्या साधु सुवंशजाऽपि भजते नो यान्ति मित्राणि च
न्यायारोपितविक्रमाण्यपि नृणां येषां न हि स्याद्धनम् ॥ २४ ॥

---

[२]

(१) दारिद्र्योपहताः—दारिद्र्येण पीडिताः।

वरमिति। व्याघ्रगजादिसेवितं शार्दूलहस्त्यादिभिरध्युषितं, जनेन लोकेन, हीनं त्यक्तं हाधातोः कर्मणि क्तः 'ओदितश्च' (पा० सू० ८।१।४५) इति निष्ठातस्य नत्वम् बहुभिः कण्टकैः आवृत्तम् आकीर्णं, वनम् अरण्यं, तथा तृणानि शय्या, तृणोपरि शयनम् इत्यर्थः, शीयतेऽस्यामिति शय्या शीङ्धातोः 'सञ्ज्ञायां समजनिषद–' (पा० सू० ३।३।९९) इत्यादिना स्त्रियां भावे क्यप् तथा परिधानवल्कलं तरुत्वग्वसनमपि, वरं मनाक् प्रियं, किन्तु बन्धूनां मध्ये धनहीनजीवितं न, वरमित्यनुषङ्गः; सधनबान्धवसमीपे दरिद्रात्मीयानामादराभावस्यातीवासहनीयत्वादिति भावः। वंसस्थविलं वृत्तम् ॥ २३ ॥

निर्धनताया दुःखहेतुतामुपपादयति—स्वामीति। येषां हि नृणां धनं वित्तं, न स्यात्, सुसेवितोऽपि सम्यगुपासितोऽपि, स्वामी प्रभुः, द्वेष्टि नाद्रियते इत्यर्थः, तानिति

वे सभी दरिद्रता के दुःख से दुःखी होकर आपस में विचार करने लगे—'ओह। इस दरिद्रता को धिक्कार है' क्योंकि कहा भी गया है—

सिंह हाथी आदि हिंसक वन्यपशुओं से युक्त बहुकण्टकाकीर्ण निर्जन बन में भी निवास करना अच्छा है और तृण की शय्या तथा वल्कल आदि वस्त्र से शरीर को ढक कर निर्वाह कर लेना भी अच्छा है किन्तु अपने बन्धु बान्धवों के मध्य निर्धन होकर जीवित रहना कथमपि अच्छा नहीं है ॥ २३ ॥

और भी, जिस मनुष्य के पास धन नहीं है उसके द्वारा भलीभाँति सेवा किये जाने पर भी उसका स्वामी उससे द्वेष ही करता है। अच्छे बन्धुजन भी उससे प्रेम नहीं

शूरः सुरूपः सुभगश्च वाग्मी
शस्त्राणि शास्त्राणि विदाङ्करोतु ।
अर्थं विना नैव यशश्च मानं
प्राप्नोति मर्त्योऽत्र मनुष्यलोके ॥ २५ ॥

शेषः, कदाचित् सेवां त्यक्ष्यतीति भिया प्रभुः धनवन्तं भृत्यम् आद्रियते, न तु निर्धनमिति भावः ; यद्वा—निर्धनत्वात् लुब्धश्चौरोऽयमिति मत्वा द्वेष्टि इति भावः ; सन्तः साधवः, अपि बान्धवाः ज्ञातयः, बध्नाति मनः स्नेहेन इति बन्धधातोः उ-प्रत्यये बन्धुः, ततः स्वार्थे अण् । 'बान्धवो ज्ञातिसुहृदोः' इति मेदिनी । सहसा कारणाभावेऽपीत्यर्थः, प्रोज्झन्ति त्यजन्ति, नाद्रियन्ते इति भावः ; गुणाः दयादाक्षिण्यादयः न राजन्ते न शोभन्ते, समादरयोग्या न भवन्तीत्यर्थः तेषामिति शेषः ; तनुजाः पुत्राश्च, त्यजन्ति, तानिति शेषः ; आपदः स्फारीभवन्ति विस्तारं गच्छन्ति, स्फारशब्दस्तु स्फुरधातोः घञि 'स्फुरतिस्फुलत्योः घञि' (पा० सू० ६।१।४७) इति एच आत्वम्, तेषामिति शेषः ; सुवंशजा सत्कुलोत्पन्नाऽपि, भार्या साधु सुष्ठु यथा तथा, नो भजते न सेवते, तानिति शेषः ; न्यायेन नीतिमार्गेण, आरोपिताः प्रवर्त्तिताः, विक्रमाः पुरुषकाराः यैः तादृशानि अपि, न्यायपराण्यपीत्यर्थः, तेषां न्यायपरत्वेन धनेषु श्रद्धातिशय्याभावात् निर्धनमित्रत्यागसम्भवत्वेऽपि तत् सम्भवतीति कष्टम् ! इति भावः ; मित्राणि च यान्ति गच्छन्ति, तेभ्य इति शेषः ; निर्धनता हि सर्वापदामास्पदमिति निष्कर्षः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २४ ॥

शूर इति । अत्र मनुष्यलोके संसारे, मर्त्यः मानवः, मर्त्ते भूलोके भवः मर्त्यः; भवार्थे य-प्रत्ययः । शूरः बलवान् सुरूपः रूपवान् सुभगः सर्वलोकप्रियः, तथा वाग्मी वचनचतुरश्च, वाच्शब्दात् 'वाचो ग्मिनिः' (पा० सू० ५।२।१२४) इति ग्मिनि-प्रत्ययः भवतु इति शेषः, शस्त्राणि शास्त्राणि च विदाङ्करोतु वेत्तु, जानातु इत्यर्थः, किन्तु अर्थं विना 'पृथग्विनानानाभिः' (पा० सू० २।३।३२) इत्यादिना विनाशब्दयोगे द्वितीया, पक्षे तृतीयापञ्चम्यौ स्तः, यशः मानञ्च नैव प्राप्नोति; धनमेव कीर्तिमानयोर्निदानमिति

करते । उसमें रहने वाले शौर्यादिक गुण भी शोभा नहीं देते । पुत्र भी छोड़ देते हैं । आपत्तियाँ मुँह फाड़ कर बढ़ती जाती है, सद्वंश में उत्पन्न कुलीन भार्या भी उसकी सेवा से अपना मुँह मोड़ लेती है, बहुत क्या कहा जाय ? न्यायपथ का अनुसरण करने वाले सन्मित्र भी उससे दूर ही रहना चाहते हैं ॥ २४ ॥

शूरवीर, सुन्दर, भाग्यशाली, प्रवक्ता और शस्त्र एवं शास्त्रों का जानने वाला भी मनुष्य इस लोक में धनहीन होने पर यश एवं सम्मान नहीं प्राप्त कर सकता

तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव ।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव
वाह्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥ २६ ॥

तत् गच्छामः कुत्रचित् अर्थाय' सम्मन्त्रा स्वदेशं पुरञ्च स्वसुहृत्सहित बान्धवयुतं गृहञ्च परित्यज्य प्रस्थिताः । अथवा साधु इदमुच्यते—

सत्यं परित्यजति मुञ्चति बन्धुवर्गं
शीघ्रं विहाय जननीमपि जन्मभूमिम् ।

भावः । इन्द्रवज्रा वृत्तम ॥ २५ ॥

जीवन्नपि दरिद्रः मृत एव इति वक्तुमाह—तानीति । तानि सम्पत्काले यथा अवस्थितानीत्यर्थः, इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, अविकलानि अधुना दारिद्रदशायामपि तथैव अविकृतानि, तिष्ठन्तीति शेषः, तदेव पूर्वकालिकमेव, नाम अभिधानं, वर्त्तते इति शेषः, नाम अपि न परिवर्त्तितमित्यर्थः, सा पूर्वकालिकीत्यर्थः, बुद्धिः ज्ञानमपि, अप्रतिहता अनुपहता, अविकृतैवेत्यर्थः, अस्तीति शेषः, तदेव च वचनं वाक्यम्, अस्तीति शेषः, किन्तु स एव पुरुषः अर्थोष्मणा धनजनिततेजसा, विरहितः हीनश्चेत्, क्षणेन अल्पेनैव समयेन वाह्यः मृत इव बहिरवस्थानयोग्यः, सर्वेषां त्याज्यः इत्यर्थः, वहिर्भवः वाह्यः, बहिःशब्दात् ष्यञ् टिलोपश्च । 'बाह्यः' इत्यत्र 'अन्यः' इति पाठे—अन्यः अपरविध एव भवति, इत्येतत् विचित्रम् आश्चर्य्यम्; धनिनो विकलेन्द्रिया जडबुद्धयः परुषभाषिणो यदेव भवन्तु सर्वत्र समाद्रियन्ते, न तु अविकलेन्द्रियग्रामास्तीक्ष्णधियः प्रियंवदाः ख्यातनामानोऽपि क्षयितधना इति निष्कर्षः । दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी इति हृदयम् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २६ ॥

सत्यमिति । अत्र लोके संसारे, पुरुषः दरिद्र इति यावत्, चिन्तया अर्थानामिति भावः, आकुलीकृता मतिर्यस्य तादृशः सन्, सत्यम् ऋतं, परित्यजति, मिथ्यासाक्ष्या-

---

(अर्थात् निर्धनजन सभी से उपेक्ष्य होते हैं) ॥ २५ ॥

मनुष्य की वही स्वस्थ इन्द्रियाँ है, वही नाम है, वही सर्वत्र गामिनी सूक्ष्मप्रतिभा है, वचन भी वही है, किन्तु धन की गर्मी से रहित होने पर वही पुरुष क्षण मात्र में अन्य अर्थात् उपेक्ष्य हो जाता है, इस लोकवैचित्य को देखो ॥ २६ ॥

इसलिए हम लोगों को धनोपार्जन के लिए कहीं चलना चाहिए, ऐसा विचार कर वे अपना देश, पुर और मित्रादि सहित घर को छोड़ कर परदेश के लिए चल पडे । अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

इस संसार में लोग गृहस्थों की विविध चिन्ताओं से ग्रस्त होकर (धन के लिए)

ततश्च तेन औत्सुक्यात् अस्थिसञ्चयः कृतः; द्वितीयेन चर्ममांसरुधिरं संयोजितम्; तृतीयोऽपि यावत् जीवनं सञ्चारयति, तावत् सुबुद्धिना निषिद्धः—भोः ! तिष्ठतु भवान्, एष सिंहो निष्पाद्यते !! यदि एनं सजीवं करिष्यति, ततः सर्वानपि व्यापादयिष्यति'। इति तेन अभिहितः स आह—'धिक् मूर्ख ! नाहं विद्याया विफलतां करोमि'। ततः तेनाभिहितं—'तर्हि प्रतीक्षस्व क्षणं, यावदहं वृक्षमारोहामि'। तथाऽनुष्ठिते; यावत् सजीवः कृत ; तावत् ते त्रयोऽपि सिंहेन उत्थाय व्यापादिताः; स च पुनः वृक्षात् अवतीर्य्य गृहे गतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'वरं बुद्धिर्न सा विद्या' इत्यादि। अतः परमुक्तञ्च सुवर्णसिद्धिना—

जन्तुः, जीवविशेषः इति यावत्, 'सत्त्वं गुणे पिशाचादौ बले द्रव्यस्वभावयोः। आत्मत्वे व्यवसायामुचित्तेष्वस्त्री तु जन्तुषु ॥' इति मेदिनी। तस्य। जीवनसहितं—प्राणसंयुक्तं, सजीवमित्यर्थः। अस्थिसञ्चयम्—अस्थ्नां—कङ्कालानां, सञ्चयं—संयोजनम्। औत्सुक्यात्—उत्सुकः—इष्टसाधनार्थमुद्युक्तः, तस्य भावस्तस्मात्; सत्त्वविशेषस्य प्राणसंयोजनविषये कुतूहलित्वादित्यर्थः, 'इष्टार्थोद्युक्त उत्सुकः, इत्यमरः। चर्ममांसरुधिरं—चर्म च मांसञ्च रुधिरञ्च तत्, इति द्वन्द्वे 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य्यसेनाङ्गानाम्' (पा० सू० २।४।२) इति प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः। संयोजितं—सम्बद्धीकृतं; मन्त्रशक्त्या चर्मादियुक्तं कृतमित्यर्थः। निष्पाद्यते—सृज्यते इत्यर्थः। सजीवं—जीवनसहितम्। प्रतीक्षस्व—अपेक्षस्व, विलम्बं कुरु इत्यर्थः।

हूँ। ऐसा कह कर उसने बड़ी उत्कण्ठा से उन हड्डियों को एकत्रित किया। दूसरे ने उन हड्डियों पर चाम, मांस और रक्त का निर्माण किया। इसके बाद जब तीसरे ने उसमें प्राण का संचार करना प्रारम्भ किया। तब चौथे सुबुद्धि ने उसे रोकते हुए कहा—अरे ! ऐसा मत करो। तुम लोग सिंह को जिला रहे हो, यदि इसे जिला दोगे तो निश्चय ही यह हम लोगों को मार डालेगा। सुबुद्धि के द्वारा इस प्रकार मना करने पर भी वह जिलाने वाला विद्वान् बोला—'अरे मूर्ख तुम्हें धिक्कार है। मैं अपनी विद्या को व्यर्थ नहीं कर सकता।' तब सुबुद्धि ने कहा—'तो थोड़ी देर ठहरो। जब तक मैं पहले वृक्ष पर चढ़ जाऊँ।' तदनन्तर उस सुबुद्धि के वृक्ष पर चढ़ जाने के अनन्तर उसने ज्यों ही सिंह में प्राण का संचार किया, त्यों ही सिंह ने उठ कर उन तीनों बुद्धिहीन विद्वानों को मार डाला। फिर वह सुबुद्धि वृक्ष से उतर कर अपने घर चला आया। इसलिए कहता हूँ कि 'विद्या से बुद्धि अच्छी होती। किन्तु बुद्धि के बिना विद्या अच्छी नहीं होती।' तब सुवर्णसिद्धि ने कहा—

अपि शास्त्रेषु कुशला लोकाचारविवर्जिताः ।
सर्वे ते हास्यतां यान्ति यथा ते मूर्खपण्डिताः ॥ ३९ ॥

चक्रधर आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

४ : मूर्खपण्डित-कथा

कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने चत्वारो ब्राह्मणाः परस्पर मित्रत्वम् आपन्ना वसन्ति स्म । बालभावे तेषां मतिः अजायत यत्—'देशान्तरं गत्वा विद्याया उपार्जनं क्रियते' इति । अथ अन्यस्मिन् दिवसे ते ब्राह्मणाः परस्परं निश्चयं कृत्वा विद्योपार्जनार्थं कान्यकुब्जे गताः; तत्र च विद्यामठे गत्वा पठन्ति । एवं द्वादशाब्दान् यावत् एकचित्ततया विद्याकुशलास्ते सर्वे सञ्जाताः । ततः तैः चतुर्भिर्मिलित्वा उक्तं 'वयं सर्वविद्यापारे गताः; तदुपाध्यायम् उत्कलापयित्वा स्वदेशे गच्छामः' । एवं मन्त्रयित्वा

अपीति । ये शास्त्रेषु हितानुशासनग्रन्थेषु, शिष्यते अनेनेति शास्त्रं, शास्‌धातोः 'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' (उणा० ४. १५८ सू०) इत्यौणादिकः ष्ट्रन्-प्रत्ययः, कुशला निपुणाः अपि, लोकाचारविवर्जिताः लौकिकव्यवहारानभिज्ञाः, भवन्तीति शेषः, ते सर्वे, प्रसिद्धा इत्यर्थः, मूर्खाश्च ते पण्डिताश्चेति मूर्खपण्डिताः, यथा, तथा हास्यताम् उपहासास्पदत्वं, यान्ति ॥ ३९ ॥

[४]

(१) बालभावे–शैशवे । विद्यामठे–विद्यायै–विद्यालाभार्थं, मठः–छात्रनिलयः, छात्रा-

---

शास्त्रज्ञान में कुशल भी व्यक्ति लोकाचार से अनभिज्ञ रहने पर उसी प्रकार उपहास को प्राप्त होते हैं, जिस प्रकार मूर्ख पण्डित लोकाचार न जानने के कारण उपहास को प्राप्त हुए थे ॥ ३९ ॥

चक्रधर ने पूछा–'यह कैसे ?' तब सुवर्णसिद्धि ने कहा–

मूर्ख पण्डित की कथा

किसी नगर में चार ब्राह्मण आपस में मित्रतापूर्वक रहते थे । बचपन में उन लोगों के मन में ऐसा विचार हुआ–भाई ! दूसरे देश में जाकर विद्योपार्जन करना चाहिए । इसके बाद दूसरे दिन ही वे ब्राह्मण इस प्रकार का निश्चय कर विद्या की प्राप्ति के लिए कन्नौज देश चले गये । वहाँ विद्यालय में जाकर पढ़ने लगे । इस प्रकार बारह वर्ष एकाग्रचित्त से विद्या पढ़ने के बाद वे सभी शास्त्रपारङ्गत हो गये । उन चारों ने आपस में मिल कर विचार किया कि 'अब हम लोग सभी विद्याओं में

ब्राह्मणा उपाध्यायमुत्कलापयित्वा; अनुज्ञां लब्ध्वा च पुस्तकानि नीत्वा प्रचलिताः यावत् किञ्चित् मार्गं यान्ति; तावत् द्वौ पन्थानौ समायातौ दृष्टवा उपविष्टाः सर्वे। तत्रैकः प्रोवाच—'केन मार्गेण गच्छामः ?' एतस्मिन् समये तस्मिन् पत्तने कश्चित् वणिक्पुत्रो मृतः; तस्य दाहार्थं महाजनो गतोऽभूत्। ततः चतुर्णां मध्यात् एकेन पुस्तके अवलोकितं—'महाजनो येन गतः स पन्थाः' इति; ततस्तेन अभिहितं—'तत् महाजनमार्गेण गच्छामः' इति। अथ ते पण्डिता यावत् महाजनमेलापथिकेन सह यान्ति; तावत् रासभ कश्चित् तत्र श्मशाने दृष्टः। अथ द्वितीयेन पुस्तकम् उद्घाटच अवलोकितम्; उक्तञ्च—

वास इत्यर्थः, 'मठश्छात्रादिनिलयः' इत्यमरः तत्र, चतुष्पाठ्यामित्यर्थः। उत्कलापयित्वा—उत्केन—तेषां स्वदेशगमनोद्यमाद्धेतोः शिष्यवत्सलत्वेन उन्मनस्केन गुरुणा सह, लापः—भाषणम्, अनुमतिप्रार्थनारूपमित्यर्थः, तथा कृत्वा, स्वदेशगमनाय गुरोरनुमतिग्रहणं कृत्वेत्यर्थः, करोत्यर्थे, णिचि पश्चात् त्वा-प्रत्ययेन साध्यम्। उत्कं लापयित्वा इति पाठकरणं सुगमार्थकम्; उत्कम्—उत्कण्ठितं गुरुं, लापयित्वा—ग्राहयित्वा, धनादिकमिति शेषः, धनादिदानेन सन्तोष्येत्यर्थः। पत्तने—नगरे, पूः स्त्री पुरीनगर्यौ वा पत्तनं पुटभेदनम्' इत्यमरः। महाजनः—बहुसङ्ख्यकलोकः। महाजनो येनेति। महान् जनः—महापण्डितः, ऋषिसमूहः इत्यर्थः, तथा चोक्तं—'पतञ्जलि व्यास-कणाद-गौतमाः, महाजनास्ते कपिलश्च जैमिनिः' इति, साधुजन इति यावत्, येन—येन मार्गेण, यादृशाचारेणेत्यर्थः, गतः—प्रचलितः, स पन्थाः—मार्गः, आचरणीयः इत्यर्थः। महाजनमार्गेण—महान्—प्रभूतः, जनः—मृतवणिक्पुत्रानुगामिलोक इत्यर्थः, तस्य मार्गेण—पथा, तदनुसरणक्रमेणेत्यर्थः। महाजनेति। महाजनानां मेला—तथाविधमिलनं, तस्य पन्थाः मार्गः, तमनुसरति यः तेन, दाहार्थं समवेतानां जनानाम् अनु-

निष्णात हो चुके हैं, इसलिए उपाध्याय को सन्तुष्ट कर उनकी आज्ञा से अपने घर चलना चाहिए। ऐसा निश्चय कर वे गुरुजी के पास गये और उनको संतुष्ट कर उनकी आज्ञा ले अपनी-अपनी पुस्तकें साथ लेकर घर की ओर चल पड़े। कुछ दूर जाने के बाद उन्हें दो मार्ग मिले। तब किस मार्ग से चला जाय ऐसा निश्चय करने के लिए वे वहीं बैठ गये। उनमें से एक ने पूछा—'अब किस मार्ग से चलना चाहिए ?' उसी समय समीप के नगर में एक बनिये का लड़का मरा था। जिसको दाह करने के लिए वणिक् लोग जा रहे थे। तब चारों के मध्य में एक ने पुस्तक खोल कर देखा और कहा—'महाजन लोग जिस रास्ते से जाते हों उसी रास्ते से चलना चाहिए।' उसके ऐसा कहने पर वे चारों ब्राह्मणपुत्र उन वणिक्-पुत्रों के पीछे-पीछे चल पडे। अभी ज्यों ही उन महाजनों के साथ चले ही थे कि उन्हें वहाँ श्मशान पर एक गधा दिखाई पड़ा। तब

'उत्सवे व्यसने प्राप्ते दुर्भिक्षे शत्रुसङ्कटे ।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः' ॥ ४० ॥

तत् अहो! अस्मदीयो बान्धवः'। ततः कश्चित् तस्य ग्रीवायां लगति; कोऽपि पादौ प्रक्षालयति। अथ तैः पण्डितैः दिशाम् अवलोकनं कुर्वद्भिरेव कश्चित् उष्ट्रो द्रुतं गच्छन् दृष्टः। तैश्च उक्तम्—'एतत् किम् ?' ततः तृतीयेन पुस्तकम् उद्घाटय उक्तं—'धर्मस्य त्वरिता गतिः' इति; तन्नूनमेष धर्मः साक्षात् !! चतुर्थेन उक्तम्–'इष्टं धर्मेण योजयेत्' इति तत् बान्धवोऽयमस्माकं धर्मेण नियुज्यताम्'। अथ तैः रासभ उष्ट्रग्रीवायां बद्धः। तत्तु केनचित् तत्स्वामिनः रजकस्य अग्रे कथितम्। श्रुत्वा च असौ रजकः तेषां मूर्खपण्डितानां प्रहारकरणाय समायातः दृष्टवा च तं दूरत

यायिना जनेन।

उत्सवे इति। यः प्राप्ते उपस्थिते, उत्सवे माङ्गलिके आनन्दजनकव्यापारे, व्यसने विपदि, 'व्यसनं विपदि भ्रंशे दोषे कामजकोपजे' इत्यमरः दुर्भिक्षे अन्नकष्टसमये' शत्रुसङ्कटे वैरिसमागमे, राजद्वारे राजसमीपे इत्यर्थः, व्यवहारादौ इति शेषः, तथा श्मशाने शवदाहनयोग्यस्थाने, च तिष्ठति साहाय्यं करोति, स बान्धवः सुहृत् ॥ ४० ॥

(१) इष्टं—प्रियम्। रासभः—गर्दभः, श्मशाने अवस्थानात् बान्धवत्वेन मननात् इष्टभूत इति भावः। प्रनष्टाः—पलायिताः प्रपूर्वात् नश्धातोः क्तप्रत्ययेन

दूसरे ने पुस्तक खोल कर देखा और कहा–

उत्सव, व्यसन, दुर्भिक्ष एवं शत्रुओं के उपद्रव काल में राजशभा में तथा श्मशान में जो साथ देता हैं वही सच्चा बन्धु होता है ॥ ४० ॥

इसलिए यह हमारा बान्धव है।' उसकी बात सुनकर कोई तो उस गदहे के गले से मिलने लगा और कोई उसका पैर धोने लगा। फिर जब उन्होंने अपनी दृष्टि दौड़ायी तो उन्हें तीव्र गति से जाते हुए एक ऊँट दिखाई पड़ा। उसे देखते ही उन लोगों ने कहा—यह क्या है ? तब तीसरे पण्डित ने पुस्तक खोल कर देखा और कहा कि—'धर्म की गति तीव्र होती है' तो निश्चय ही इसे धर्म होना चाहिए। तदनन्तर चौथे पण्डित ने कहा–'मित्र को धर्म के साथ जोड़ देना चाहिए।' ऐसा विचार कर उन पण्डितों ने गदहे को ऊँट के गले में बाँध दिया। फिर जब यह समाचार किसी ने जाकर गधे के मालिक धोबी से कहा। तब यह सुन कर वह धोबी उन पण्डितों को मारने के लिए वहाँ पहुँचा। तब दूर से ही उसे देख कर वे पण्डित वहाँ से रफ्फूचक्कर हो गये। तदनन्तर वे जब और कुछ दूर

स्थानत्रयं यतिपञ्च षड्स्यानि रसा नव ।
रागाः षट्त्रिंशतिर्भावाश्चत्वारिंशत् ततः स्मृताः ॥ ५४ ॥
पञ्चशीत्यधिकं ह्येतद्गीतानां शतं स्मृतम् ।
स्वयमेव पुरा प्रोक्तं भरतेन श्रुतेः परम् ॥ ५५ ॥
नान्यद्गीतात् प्रियं लोके देवानामपि दृश्यते ।
शुष्कस्नायुस्वराह्लादात् त्र्यक्षं जग्राह रावणः ॥ ५६ ॥

कुटुम्बिनः सर्वेऽप्येकीभूता भवन्ति हि । तथा स्वराणां सन्दोहो ग्राम इत्यभिधीयते । षड्जग्रामो भवेदादौ मध्यमग्राम एव च । निषादग्राम इत्येतत् ग्रामत्रयमुदाहृतम् ॥' इति । एकविंशतिः मूर्च्छनाः स्वराणाम् आरोहावरोहक्रमभेदाः, 'क्रमात् स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम् । सा मूर्च्छेत्युच्यते गामस्था एताः सप्त सप्त च ।' इत्युक्तेः । तालास्तु एकोनपञ्चाशत् । मात्राः तिस्रः । लयाः त्रयः । स्थानानाम् उदात्तादीनां; त्रयम् । यतीनां विरामाणां, पञ्च स्थानानि । आस्यानि मुखानि, षट् । रसाः शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकबीभत्साद्भुतवत्सलाख्याः, नव । रागाः षट्विंशतिः । ततः भावाः चत्वारिंशत् स्मृताः, एतद्धि गीतस्य अङ्गानां पञ्चाशीत्यधिकं शतं स्मृतम् । पुरा भरतेन नाट्यशास्त्रप्रणेत्रा तदाख्येन मुनिना, स्वयमेव श्रुतेः वेदस्य, परम् उत्कृष्टं, सारांशमित्यर्थः, एतत् गीताङ्गमिति शेषः, प्रोक्तम् । लोके जगति, देवानामपि गीतात् अन्यत् प्रियं प्रीतिकरं, न दृश्यते, तथा हि, रावणः शुष्काः कठिनतपश्चरणात् नीरसाः, स्नायवः सूक्ष्मशिराजालभेदा यस्य तथाभूतस्य, शरीरस्य इत्यर्थः; यः स्वरः स्तुत्यर्थं कण्ठध्वनिविशेषः इत्यर्थः, यद्वा—शुष्काः नीरसाः, याः स्नायवः वायुमय्यः वीणातन्त्रा इत्यर्थं, तासां स्वराः तन्त्र्युत्थध्वनिविशेषाः इत्यर्थः, वीणावादनपूर्वकस्तुतिगीतानीति यावत् तेन तैर्वा आह्लादात् आनन्दात्, आनन्दजननादिति भावः त्र्याक्षं त्रिलोचनं, त्रीणि अक्षीणि

स्वरों के तीन उद्गम स्थान होते हैं, यति के भी तीन भेद हैं आस्य ६ प्रकार के होते हैं, रस के भेद नव हैं, ३६ रागों के भेद हैं और ४० प्रकार के भेद 'भाव' के कहे गये हैं ॥ ५४ ॥

इस प्रकार से संगीतशास्त्र के एक सौ पचासी भेद भरत मुनि के द्वारा अपने मुख से स्वयं कहे गये हैं जो पञ्चम वेदस्वरूप 'सङ्गीतशास्त्र' के सर्वस्व हैं और सुनने में सुखद होते हैं ॥ ५५ ॥

मनुष्य की बात तो छोड़ दो, इस लोक में देवताओं के लिए भी सङ्गीत से बढ़कर कोई वस्तु प्रिय नहीं है । देखो, रावण ने तपस्या के क्लेश से सूखे हुए अपने कण्ठ की नीरस ध्वनि द्वारा स्तुति गान कर सदाशिव को प्रसन्न कर लिया ॥ ५६ ॥

तत् कथं भगिनीसुत ! माम् अनभिज्ञं वदन् निवारयसि ? शृगाल आह—माम ! यदि एवं, तदहं तावत् वृतेः द्वारस्थितः क्षेत्रपालम् अवलोकयामि, त्वं पुनः स्वेच्छया गीतं कुरु'। तथा अनुष्ठिते रासभरटनम् आकर्ण्य क्षेत्रपः क्रोधात् दन्तान् घर्षयन् प्रधावितः। ततो यावत् तेन रासभो दृष्टः, तावत् लगुडप्रहारैः तथा आहतः यथा प्रताडितो भूपृष्ठे पतितः। ततश्च सच्छिद्रम् उदूखलं तस्य गले बद्ध्वा क्षेत्रपालः प्रसुप्तः। रासभोऽपि स्वजातिस्वभावात् गतवेदनः क्षणेन अभ्युत्थितः। उक्तञ्च—

सारमेयस्य चाश्वस्य रासभस्य विशेषतः।
मुहूर्त्तात् परतो न स्यात् प्रहारजनिता व्यथा ॥ ५७ ॥

ततः तमेव उदूखलम् आदाय वृतिं चूर्णयित्वा पलायितुम् आरब्धः। अत्रान्तरे शृगालोऽपि दूरादेव तं दृष्टवा सस्मितम् आह—'साधु मातुल !

यस्य तं 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' (पा० ५।४।११३) इति सूत्रेण षच् जग्राह वशीचकार, स्तुतिसूचकसङ्गीतेन हरं प्रीणयामासेति भावः ॥ ५३–५६ ॥

(१) रासभरटनं—गर्दभचीत्कारम्। क्षेत्रपः, क्षेत्रस्वामी। घर्षयन्—दशन्नित्यर्थः, उदूखलं—धान्यादिकण्डनसाधनं काष्ठमयं पात्रम्। तस्य—रासभस्य।

सारमेयस्येति। सारमेयस्य कुक्कुरस्य, अश्वस्य विशेषतः रासभस्य गर्दभस्य च;प्रहारजनिता व्यथा मुहूर्त्तात् परतः क्षणात् परं, न स्यात् न तिष्ठेत् ॥ ५७ ॥

इतना सङ्गीत भेद सुना देने के पश्चात् गधे ने पुनः कहा—'हे भाञ्जे ! इतना ज्ञान रखने पर भी तुम मुझे सङ्गीत से अनभिज्ञ बता रहे हो और मुझे गाने से रोक रहे हो ? तब शृगाल ने कहा 'मामा ! यदि ऐसी बात है तो मैं खेत के प्राचीर से बाहर बैठकर इस खेत के रखवाले किसान को देखता हूँ। आप निश्चिन्त होकर गाइये।' इस प्रकार शृगाल के बाहर चले जाने के बाद गधे ने जोर-जोर से चिल्लाना शुरू कर दिया। उसकी आवाज सुनकर किसान क्रोध से दाँतों को पीसता हुआ दौड़ा। खेत में पहुँचने पर जब उसने गधे को देखा तो डण्डे से उसे इतना मारा कि वह उस मार से पृथ्वी पर गिर पड़ा। फिर उसके गले में छेद युक्त उलूखल बाँध कर सो गया। इधर गधा भी अपने जातिगत स्वभाव से उस मार की वेदना को भूलकर थोड़ी ही देर में उठकर खड़ा हो गया। कहा भी गया है—

कुत्ते, घोड़े, विशेष कर गधे को मारने से होने वाली पीड़ा एक मुहूर्त्त से अधिक नहीं रहती ॥ ५७ ॥

फिर तो उस गधे ने उस उलूखल को लिए ही खेत के अवरोध को तोड़कर भागना आरम्भ किया। तब शृगाल ने दूर से ही इस प्रकार भागते हुए गधे को देख

गीतेन' इत्यादि ।

तत् भवानपि मया वार्यमाणोऽपि न स्थितः । अथवा साधु इदमुच्यते—

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा मित्रोक्तं न करोति यः ।
स एव निधनं याति यथा मन्थरकौलिकः ॥ ५८ ॥

चक्रधर आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

७ : मन्थरकौलिक-कथा

कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने मन्थरको नाम कौलिकः प्रतिवसति स्म । तस्य कदाचित् पट्टकर्माणि कुर्वतः सर्वपट्टकर्मकाष्ठानि भग्नानि ।

---

(१) न स्थितः - रत्नप्राप्त्याशया अग्रगमनान्न निवृत्तः मम वाक्यं न श्रुतवानिति भावः ।

यस्येति । यस्य स्वयम् आत्मना; आत्मन इत्यर्थः, प्रज्ञा बुद्धिः, नास्ति, यश्च मित्रोक्तं बन्धुवाक्यं, न करोति, स एव मन्थरकौलिको यथा मन्थराख्यतन्तुवायवदित्यर्थः, निधनं नाशं याति प्राप्नोति ॥ ५८ ॥

[७]

(२) कौलिकः-- तन्त्रवायः । पट्टकर्माणि—वस्त्रवयनकार्याणि । सर्वेति ।

कर हँसते हुए कहा—

शृगाल ने कहा —'हे मामा ! तुम बहुत अच्छे हो, मैंने तुम्हें रोका था कि गाना मत गाओ, किन्तु तुम अपने गाने से विरत नहीं हुए; इस समय तुम्हारे गले में यह अपूर्व मणि बँधी हुई है जो तुम्हारे गाने के पुरस्कार में प्राप्त हुई है ।'

इस प्रकार सुनकर सुवर्णसिद्धि ने कहा—'आप भी इसी प्रकार मेरे मना करने पर नहीं रुके थे ।' अथवा ठीक ही कहा है—

जिसके पास स्वयं बुद्धि नहीं है और जो मित्र का कहना भी नहीं मानता, वह मन्थर नामक जुलाहे के समान मृत्यु को प्राप्त होता है ॥ ५८ ॥

सुवर्णसिद्धि ने कहा —'यह कैसे ?' तब चक्रधर ने कहा —

मन्थर नामक जुलाहे की कथा

किसी नगर में मन्थरक नाम का एक जुलाहा रहता था । एक दिन जब वह कपड़ा बना रहा था कि उसी समय उसके कपड़ा बनाने के साधनभूत सभी काठ

ततः स कुठारम् आदाय वने काष्ठार्थं गतः। स च समुद्रतटं यावत् भ्रमन् प्रयातः। तावत् तत्र शिंशपापादपस्तेन दृष्टः। ततः चिन्तितवान्—महान् अयं वृक्षो दृश्यते; तदनेन कर्त्तितेन प्रभूतानि पट्टकर्मोपकरणानि भविष्यन्ति' इति अवधार्य्य तस्योपरि कुठारमुत्क्षिप्तवान्। अथ तत्र वृक्षे कश्चित् व्यन्तरः समाश्रित आसीत्, तेन अभिहितं—'भोः! महाश्रयोऽयं पादपः सर्वथा रक्षणीयः, यतोऽहम् अत्र महासौख्येन तिष्ठामि समुद्रकल्लोलस्पर्शनात् शीतवायुना आप्यायितः। कौलिक आह—भोः! किमहं करोमि? दारुसामग्रीं विना मे कुटुम्बकदम्बं बुभुक्षया पीडयते, तस्मात् अन्यत्र शीघ्रं गम्यताम्, अहम् एव कर्त्तयिष्यामि। व्यन्तर आह—भोः! तुष्टः तव अहम्। तत् प्रार्थ्यताम् अभीष्टं किञ्चित्, रक्षैनं पादपम् इति। कौलिक आह—'यदि एवं तदहं स्वगृहं गत्वा स्वमित्रं स्वभार्याञ्च पृष्ट्वा आगमिष्यामि, ततः त्वया देयम्।'

— सर्वाणि पट्टकर्मकाष्ठानि—वस्त्रवयनयन्त्रदारूणि। कर्त्तितेन—खण्डितेन। व्यन्तरः—अलौकिकशक्तिसम्पन्नदेवयोनिविशेषः! मदाश्रयः, ममावासः। पादपः—वृक्षः। समुद्रेति। समुद्रकल्लोलानां—सागरतरङ्गाणां, स्पर्शनात्—सम्पर्कादित्यर्थः। आप्यायितः,—प्रीणितः। दारुसामग्रीं—काष्ठमयोपकरणम्। कुटुम्बकदम्बं—परिजनवर्गः। बुभुक्षया—क्षुधया। तुष्टः, प्रीत।

टूट गये। तब वह कुल्हाड़ो लेकर जंगल में लकड़ी लेने के लिए चल पड़ा। इधर-उधर घूमता हुआ वह समुद्र के किनारे पर पहुँचा तो वहीं उसने एक शीशम का पेड़ देखा। तदनन्तर उसने सोचा कि वह पेड़ बहुत बड़ा है, इसके काटने से पट बनाने के लिए हमें पर्याप्त उपकरण प्राप्त हो जायँगे। ऐसा सोच कर उसने उस पेड़ को काटने लिए उस पर कुल्हाड़ी चलायी। उस शीशम के पेड़ पर एक यक्ष रहता था। उस यक्ष ने जुलाहे से कहा—'भाई इस पर मेरा निवास है। अतः इसको मत काटो, क्योंकि मैं इस वृक्ष पर बड़े आनन्द से रहता हूँ। मुझे समुद्र के तरङ्गों के स्पर्श से शीतल वायु प्राप्त होने से बड़ा सुख प्राप्त होता है।' तब जुलाहे ने कहा—'भाई मैं क्या करूँ? वस्त्र बुनने के लिए आवश्यक लकड़ी के साधन बिना मेरा परिवार भूखों मर रहा है, इसलिए इसे छोड़कर दूसरी जगह चले जाइए। मैं इसे अवश्य काटूँगा।' तब यक्ष ने कहा—'भाई मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ, इसलिए अपनी चाही हुई कोइ वस्तु माँग लो और इस पेड़ की रक्षा करो।' तब जुलाहे ने कहा—यदि ऐसी बात है तो मैं अपने घर जाकर अपने मित्र और अपनी स्त्री से पूछ कर आता हूँ तब तुम देना।'

शालिहोत्रेण पुनः एतदुक्तं यत्—'वानरवसया अश्वानां वह्निदाहदोषः प्रशाम्यति' तत् नूनम् एतेन भाव्यम् अत्र निश्चयः। एवं निश्चित्य सर्वान् वानरान् आहूय रहसि प्रोवाच। यतः—

मेषेण सूपकाराणां कलहो यत्र जायते।
स भविष्यत्यसन्दिग्धं वानराणां क्षयावहः॥ ७० ॥
तस्मात् स्यात् कलहो यत्र गृहे नित्यमकारणः।
तत् गृहं जीवितं वाञ्छन् दूरतः परिवर्जयेत्॥ ७१ ॥

तथा च—

कलहान्तानि हर्म्याणि कुवाक्यान्तञ्च सौहृदम्।
कुराजान्तानि राष्ट्राणि कुकर्मान्तं यशो नृणाम्॥ ७२ ॥

---

(१) शालिहोत्रेण—केनचित् अश्वचिकित्साशास्त्रप्रणेत्रा। वानरवसया—वानरमेदसा। एतेन—एवंविधेन व्यापारेण।

मेषेणेति। यत्र मेषेण, सहेति शेषः, सूपकाराणां पाचकानां, सूपं कुर्वन्ति इति सूपोपपदात् कृञः 'कर्मण्यण्' (पा० सू० ३।२।१) इत्यण कलहः जायते, 'दृश्यते' इति पाठान्तरम्: तत्र सः, कलह इति शेषः, असन्दिग्धं निःसंशयं वानराणां क्षयावहः विनाशप्रदः, भविष्यति॥ ७० ॥

तस्यादिति। तस्मात् कलहस्य अनिष्टकरत्वात्, यत्र गृहे नित्यं सततम्, अकारणः निरर्थकः, कलहः स्यात्, जीवितं वाञ्छन् इच्छन्, जनः इति शेषः, तत् गृहं दूरतः परिवर्जयेत्, तत्र गृहे न तिष्ठेदित्यर्थः॥ ७१ ॥

कलहान्तानीति। हर्म्याणि धनवतां वासगृहाणि, अट्टालिकाः इति यावत्, कलहेन अन्तः अवसानं येषां तानि, यत्र हर्म्ये कलहश्चलति, तत् शीघ्रं क्षयं यातीत्यर्थः हर्म्याधिकारिणः परस्परं विवदमानाः स्वं स्वमंशं विभज्य ग्रहणात् हर्म्यविनाशः

शालिहोत्र ने इस विषय में कहा है कि—'घोड़े के जल जाने पर उसका दाह वानरों की चर्बी से अच्छा होता है।' तो निश्चय ही यह घटना एक दिन होने वाली है। ऐसा सोच विचार कर उसने सभी वानरों को एकान्त में बुलाकर कहा। क्योंकि—

मेष और भोजन बनाने वाले इन भण्डारियों का यह विवाद किसी दिन वानरों का विनाश उपस्थित कर सकता है॥ ७० ॥

जिस घर में नित्य अकारण कलह होता हो उस घर को जीवित रहने वाले व्यक्ति को शीघ्र छोड़ देना चाहिए॥ ७१ ॥

बड़े-बड़े ऊँचे प्रसाद कलह के कारण नष्ट हो जाते हैं, मैत्री कटु वाक्य

तन्न यावत् सर्वेषां सङ्क्षयो भवति; तावदेतत् राजगृहं सन्त्यज्य वनं गच्छामः। अथ तत् तस्य वचनम् अश्रद्धेयं श्रुत्वा मदोद्धता वानराः प्रहस्य प्रोचुः—'भोः! भवतो वृद्धभावात् बुद्धिवैकल्यं सञ्जातं, येन एतत् ब्रवीषि। उक्तञ्च—

वदनं दशनैर्हीनं लाला स्रवति नित्यशः।
न मतिः स्फुरति क्वापि बाले वृद्धे विशेषतः॥ ७३॥

न वयं स्वर्गसमानोपभोगान् नानाविधान् भक्ष्यविशेषान् राजपुत्रैः स्वहस्तदत्तान् अमृतकल्पान् परित्यज्य तत्र अटव्यां कषायकटुतिक्तक्षार-

---

वेदितव्यः, सौहृदं मैत्रं, कुवाक्येन अन्तः नाशः यस्य तथोक्तं, कुवाक्येन सौहार्दं नश्यतीत्यर्थः, राष्ट्राणि कुराजान्तानि कुराजेन अन्तो नाशो येषां तादृशानि, राजदोषेणैव राष्ट्रं ध्वंसं गच्छतीत्यर्थः, नृणां यशः कुकर्मान्तं कुकर्मणा अन्तो यस्य तादृशं, दुष्कर्मणा यशो नश्यतीत्यर्थः॥ ७२॥

(१) बुद्धिवैकल्यं—मतिभ्रंशः।

वदनमिति। वदनं मुखं, वृद्धस्य बालकस्य चेति शेषः, दशनैः दन्तैः, हीनं शून्यं, पतनादनुद्गमाच्चेति भावः, नित्यशः सततं, नित्यं नित्यम् इति वीप्सार्थे 'सङ्ख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्' (पा० सू० ५।४।४२) इति शस् प्रत्ययः। लाला स्रवति क्षरति, वदनादिति शेषः, तथा बाले शिशौ, विशेषतः वृद्धे क्वापि कुत्रचिदपि, मतिः बुद्धिः; न स्फुरति न विकाशते॥ ७३॥

के प्रयोग से नष्ट हो जाती है, राज्य कुराजा के कारण नष्ट हो जाता है, और मनुष्यों का यश कुकर्म से नष्ट हो जाता है॥ ७२॥

इस लिए जब तक सभी वानरों के विनाश का काल नहीं उपस्थित होता उससे पहले ही हमलोगों को इस राजघराने को छोड़कर किसी जङ्गल में चल देना चाहिए। यूथप के द्वारा कहे गये इस अबिश्वसनीय बात को सुनकर मतवाले वानरों ने हँसते हुए कहा--'बुढ़ापे के कारण आप की बुद्धि भ्रम में पड़ गयी है। इसलिए आप ऐसी बातें कर रहे हैं। कहा भी गया है—

वृद्धावस्था में मुँह में दाँत न रहने के कारण लार टपकता रहता है और बाल्यावस्था में विशेषकर वृद्धावस्था में किसी भी विषय में बुद्धि काम नहीं करती॥ ७३॥

हमलोग स्वर्ग के समान दिव्य उपभोगों को तथा राजपुत्रों के द्वारा स्वयं अपने हाथों से दिये गये अमृत के समान अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजनों को छोड़ कर

रूक्षफलानि भक्षयिष्यामः। तत् श्रुत्वा अश्रुकलुषां दृष्टिं कृत्वा स प्रोवाच—'रे रे मूर्खाः! यूयम् एतस्य सुखस्य परिणामं न जानीथ। किं न पापरसास्वादनप्रायम् एतत् सुखं परिणामे विषवत् भविष्यति? तदहं कुलक्षयं स्वयं न अवलोकयिष्यामि, साम्प्रतं वनं यास्यामि। उक्तञ्च—

मित्रं व्यसनसम्प्राप्तं स्वस्थानं परपीडितम्।
धन्यास्ते ये न पश्यन्ति देशभङ्गं कुलक्षयम्'॥ ७४॥

एवम् अभिधाय सर्वान् तान् परित्यज्य स यूथाधिपोऽटव्यां गतः।

अथ तस्मिन् गतेऽन्यस्मिन् अहनि स मेषो महानसे प्रविष्टो यावत् सूपकारेण न अन्यत् किञ्चित् समासादितं, तावत् अर्द्धज्वलितकाष्ठेन ताड्यमानो जाज्वल्यमानशरीरः शब्दायमानः अश्वकुट्यां प्रत्यासन्नवर्त्तिन्यां

---

(१) अश्रुकलुषां—नेत्रजलैराविलाम्। परिणामं—शेषफलमित्यर्थः। पापेत्यादि। दुष्कर्मणः; लोभजस्येति भावः, यः रसः अनुभवप्रीतिरित्यर्थः, तस्य आस्वादनप्रायम्—आस्वादनसदृशम्, पापाचरणम् आपाततः सुखप्रदमपि परिणामे अतिविरसमिति भावः।

मित्रमिति। ये जनाः, मित्रं बन्धुं, व्यसनसम्प्राप्तं विपदापन्नं, 'व्यसनं विपदि भ्रंशे' इत्यमरः। स्वस्थानं जन्मभूमिं, स्वगृहं वा, परैः शत्रुभिः, पीडितम् उपद्रुतं, देशभङ्गं, तथा कुलक्षयं वंशनाशं, न पश्यन्ति, ते धन्याः पुण्यवन्तः, 'धन्यं पुण्यवति त्रिषु' इति मेदिनी, अशक्यप्रतीकारं सम्भावितविपदमनाश्रवं मित्रप्रभृतिकं परित्यज्य स्थानान्तरगमनमेव श्रेयः। न तु तत्क्षयावलोकनमित्यभिप्रायः॥ ७४॥

घोर वन में कषाय, कटु, तिक्त, क्षार एवं विरस फलों को खाने के लिए नहीं जायँगे। उनकी इन बातों को सुनकर यूथपति ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से कहा—'अरे मूर्खों! तुम लोग इस सुख के परिणाम को नहीं जानते, कि यह स्वादिष्ट विषवृक्ष के फल के तुल्य परिणाम में विषमय होगा। इसलिए मैं अपनी ही आँखों से अपने कुल का विनाश नहीं देखूँगा। अतः अभी वन को चला जाता हूँ। क्योंकि—

जो लोग आपद्ग्रस्त अपने मित्र को, शत्रुओं से आक्रान्त अपनी जन्मभूमि को एवं अपने राष्ट्र तथा कुल के विनाश को अपनी आँखों नहीं देखना चाहते, वे पुरुष धन्य हैं॥ ७४॥

ऐसा कह कर वह यूथाधिपति वानर उन सभी को वहीं छोड़ वन में चला गया।

इस प्रकार उसके चले जाने के बाद किसी दिन उस भेंड़ ने पाकशाला में प्रवेश किया। भण्डारियों ने अन्य वस्तु को समीप न देख जलती हुई लकड़ी से ही उसे

प्रविष्टः । तत्र तृणप्राचुर्ययुक्तायां क्षितौ तस्य प्रलुठतः सर्वत्रापि वह्नि-ज्वालाः तथा समुत्थिताः, यथा केचिदश्वाः स्फुटितलोचनाः पञ्चत्वं गताः, केचित् बन्धनानि त्रोटयित्वा अर्द्धदग्धशरीरा इतश्चेतश्च ह्रेषमाणा धावमानाः सर्वमपि जनसमूहम् आकुलीचक्रुः ।

अत्रान्तरे राजा सविषादः शालिहोत्रज्ञान् वैद्यान् आहूय प्रोवाच—'भोः ! प्रोच्यताम् एषाम् अश्वानां कश्चित् दाहोपशमनोपायः ।' तेऽपि शास्त्राणि सञ्चिन्त्य प्रोचुः—'देव प्रोक्तमत्र विषये भगवता शालिहोत्रेण; यत्—

'कपीनां मेदसा दोषो वह्निदाहसमुद्भवः ।
अश्वानां नाशमभ्येति तमः सूर्योदये यथा' ॥ ७५ ॥

---

(१) प्रत्यासन्नवर्त्तिन्यां—समीपस्थायाम् । वह्निज्वालाः अग्निशिखाः । स्फुटितलोचनाः—भिन्ननेत्राः, निःसृतकनीनिका इत्यर्थः । ह्रेषमाणाः—ह्रेषाध्वनिं कुर्वन्त इत्यर्थः ।

(२) शालिहोत्रज्ञान्—अश्वचिकित्सकशालिहोत्रप्रणीतचिकित्साशास्त्राभिज्ञान् ।

कपीनामिति । अश्वानां वह्निदाहसमुद्भवः दोषः रोग इति यावत्, कपीनां वानराणां, मेदसा वसया, सूर्योदये तमो यथा अन्धकार इव, नाशम् उपशमम्, अभ्येति प्राप्नोति ॥ ७५ ॥

मारा, जिससे उसके शरीर में आग लग गयी और चिल्लाता हुआ समीपवर्ती घुड़-शाल में घुस गया तथा बहुत तृणों से युक्त उस अश्वशाला में आग बुझाने के लिए लोटते हुए उस भेंड़ के द्वारा सारी घुड़साल में आग लग गयी और थोड़ी ही देर में ऐसी भयानक अग्निज्वाला उठी कि कुछ घोड़ों के नेत्र फूट गये जिससे वे तत्काल मर गये और कुछ घोड़े अपने बन्धन तोड़ कर आग से आधे जलाये गये शरीर से इधर-उधर हिनहिनाते हुए भागने लगे । उन घोड़ों की इस भाग-दौड़ से समस्त जन-समूह व्याकुल हो उठा ।

घोड़ों के जलने से दुःखी राजा ने अश्वचिकित्सक वैद्यों को बुला कर पूछा—'आपलोग बताइये कि इन घोड़ों की अग्निज्वालाजनित दाह की शान्ति किस उपाय से हो सकती है ?' तब उन वैद्यों ने अश्वचिकित्सा शास्त्र को देख कर कहा कि महाराज इस विषय में भगवान् शालिहोत्र ने कहा है कि—

घोड़ों के अग्नि से जलने का दाह वानरों की चर्बी से, सूर्योदय काल में रहने वाले अन्धकार के समान नष्ट हो जाता है ॥ ७५ ॥

निमीलितनयनः तिष्ठति। राक्षसोऽपि तं तथाभूतम् अवलोक्य श्लोकमेनम् अपठत्—

यादृशी वदनच्छाया दृश्यते तव वानर!
विकालेन गृहीतोऽसि यः परैति सजीवति ॥ ८४ ॥ इति।

इत्युक्त्वा प्रनष्टश्च।

तत् प्रेषय मां, येन ममापि कश्चिदनर्थो न भवेत्, त्वरितमेव च गृहं गच्छामि। त्वं पुनः अनुभुङ्क्ष्व अत्र स्थित एव लोभवृक्षफलम्।' चक्रधरः प्राह—'भोः! अकारणमेतत्; दैववशात् सम्पद्यते नृणां शुभाशुभम्। उक्तञ्च—

दुर्गस्त्रिकूटः परिखा समुद्रो
रक्षांसि योधा धनदाच्च वित्तम्।
शास्त्रञ्च यस्योशनसा प्रणीतं
स रावणो दैववशाद्विपन्नः ॥ ८५ ॥

यादृशीति। हे वानर! तव वदनस्य मुखस्य, छाया कान्तिः, 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः' इत्यमरः। यादृशी दृश्यते, मयेति शेषः, 'तेन त्वम्' इति पदद्वयमत्र अध्याहरणीयम्, विकालेन वि विशेषेण; कालः यमसदृशः इत्यर्थः, तेन तद्व्यपदेशिना केनचित् भीषण सत्त्वविशेषेण इति यावत्, अथ च—विकारेणेत्यर्थः, विपरीतसमयेन, दौर्भाग्येणेति यावत्, यद्वा—रलयोरभेदात् विकालेन केनचित् गृहीतोऽसि आक्रान्तोऽसि, इति मन्ये इति शेषः, तस्मात् यः परेति पलायते, परापूर्वात् 'इ गतौ' इत्यस्मात् धातोः लट्-ति। स जीवति प्राणिति, सङ्कटादिति भावः ॥ ८४ ॥

दुर्ग इति। यस्य त्रिकूटः तदाख्यो गिरिः, दुर्गः कोट्टः, 'किला' इति हिन्दीभाषा,

हो गया। केवल अपनी दोनों आँखें मूद कर चुप चाप मौन हो गया। जब राक्षस ने उसे इस प्रकार मौन देखा तो वह श्लोक कहने लगा—

हे वानर! जिस प्रकार की तुम्हारी मलिन संत्रस्त मुख की कान्ति दिखाई दे रही है उससे ज्ञात होता है कि तुम भयानक काल से आक्रान्त हो चुके हो। अतः जो यहाँ से भाग जायेगा, वहीं जीवित बच सकेगा ॥ ८४ ॥

इस श्लोक को पढ़ने के बाद वह वहाँ से तत्काल भाग चला।

स्वर्णसिद्धि ने कहा—अब तुम मुझे आज्ञा दो, जिससे मैं अपने घर जाऊँ, तुम यहीं रह कर अपने लोभवृक्ष का फल भोगो। तब चक्रधर ने कहा—भाई तुम तो बिना कारण ही ऐसी बातें कहते हो, क्योंकि मनुष्य को सुख-दुःख भाग्य के अनुसार प्राप्त होता है। कहा भी गया है—

तीन शिखरों वाला महान् त्रिकूट पर्वत जिसका दुर्ग था। महान् शतयोजन

तथा च—

अन्धकः कुब्जकश्चैव त्रिस्तनी राजकन्यका।
त्रयोऽप्यन्यायतः सिद्धाः सम्मुखे कर्मणि स्थिते ॥ ८६ ।

सुवर्णसिद्धिः आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

११ : अन्धक–कुब्जक–त्रिस्तनी-कथा

अस्ति उत्तरापथे मधुपुरं नाम नगरम्। तत्रमधुसेनो नाम राजा बभूव.

यः परैर्न लङ्घितुं शक्यते इति भावः, दुःखेन गच्छन्यत्र इति दुरुपपदात् गम-धातोः आधारे डः। समुद्रः परिखा खेयं, दुर्गचतुष्पार्श्वेषु स्थितः खातः इत्यर्थः, या शत्रुभिः न उत्तरितुं शक्यते इति भावः, परितः खन्यते इति खन् धातोः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (वा०) इति डः। 'खेयन्तु परिखा' इत्यमरः। रक्षांसि राक्षसाः, योधाः सैन्यानि, धनदात् कुबेरात्, वित्तं धनम्, अधिकम् इति शेषः, यद्वा—धनदात् कुबेरात्, कुबेरं विजित्येत्यर्थः, ल्यब्लोपे पञ्चमी। वित्तम्, गृहीतमिति शेषः, उशनसा शुक्रेण, 'शुक्रो दैत्यगुरुः काव्यः उशना भार्गवः कविः' इत्यमरः। प्रणीतं शास्त्रं नीतिशास्त्रम् इत्यर्थः, यो हि शुक्रनीतेरध्येता अनुष्ठाता चेत्यर्थः, स रावणः अपि दैववशात् विपन्नः नाशं गत इत्यर्थः, प्रभूतपुरुषकारसम्पन्नानामपि दैवप्रतिकूलत्वेन विपदागमो दृश्यते, का कथा साधारणजनानाम् ? इति भावः। उपजातिः वृत्तम् ॥ ८५ ॥

अन्धक इति। कर्मणि प्राक्तनकर्मणि, दैवे इत्यर्थः, सम्मुखे अभिमुखे, अनुकूले इत्यर्थः, स्थिते सति, अन्धकः लोचनहीनः, कुब्जकः कुब्जः तथा त्रिस्तनी स्तनत्रयसम्पन्नाः राजकन्यका एते त्रयोऽपि अन्यायतः अन्यायेन, अवैधरूपेण इत्यर्थः, अतर्कितभावेन इति यावत्, सिद्धाः सिद्धिं गताः, दैवानुकूल्येन स्वस्ववैरूप्यात् मुक्ताः इति यावत् ॥ ८६ ॥

विस्तीर्ण समुद्र जिस वर्ग की खाई थी, और कुबेर से प्राप्त होने वाला जिसका धन था, और शुक्राचार्य से निर्मित जिसकी राजनीति थी, इस प्रकार का रावण भी भाग्य के प्रतिकूल होने पर नाश को प्राप्त हो गया। फिर औरों की बात ही क्या है ॥ ८५ ॥

और भी अन्ध, कुब्ज तथा तीन स्तन वाली राजकुमारी भाग्य के अनुकूल होने पर बुरा कार्य करते हुए भी सफलता को प्राप्त हो गये ॥ ८६ ॥

सुवर्णसिद्धि न पूछा—'यह कैसे ?' तब उसने कहा—

अन्धे, कुबड़े और तीन स्तनों वाली राजकन्या की कथा

उत्तर दिशा में मधुपुर नाम का एक नगर था। वहाँ मधुसेन नाम का राजा

तस्य कदाचित् विषयसुखम् अनुभवतः त्रिस्तनी कन्या बभूव। अथ तां त्रिस्तनीं जातां, श्रुत्वा, स राजा कञ्चुकिनः प्रोवाच यत्—'भोः! त्यज्यतामियं त्रिस्तनी गत्वा दूरेऽरण्ये, यथा कश्चित् न जानाति'। तत् श्रुत्वा कञ्चुकिनः प्रोचुः—'महाराज! ज्ञायते यत् अनिष्टकारिणी त्रिस्तनी कन्या भवति। तथाऽपि ब्राह्मणा आहूय प्रष्टव्याः, येन लोकद्वयं न विरुध्यते यतः—

य: सततं परिपृच्छति शृणोति सन्धारयत्यनिशम्।
यस्य दिवाकरकिरणैर्नलिनीव विवर्द्धते बुद्धिः॥ ८७॥

तथा च—

पृच्छकेन सदा भाव्यं पुरुषेण विजानता।
राक्षसेन्द्रगृहीतोऽपि प्रश्नान्मुक्तो द्विजः पुरा॥ ८८॥

---

[११]

(१) लोकद्वयं न विरुध्यते यथा इह लोके निन्दा न भवेत्, परत्र च नरकपातो न स्यादिति भावः।

य इति। यः जनः, सततं नित्यं, सर्वविधकर्मसम्पादनकाले इत्यर्थः, परिपृच्छति ज्ञानिसन्निधौ जिज्ञासते इत्यर्थः, संशयनिर्णयार्थमिति भावः, शृणोति, तेषां सदुपदेशवचनमिति शेषः, अनिशं सततं, सन्धारयति सदुपदेशं चेतसि अभिनिवेशेन धारयति इत्यर्थः, दिवाकरकिरणैः सूर्यमयूखैः, नलिनीव पद्मिनीव, तस्य जनस्य, बुद्धिः धीः, मतिरित्यर्थः, बुध्यतेऽनया इति बुध्धातोः 'स्त्रियां क्तिन्' (पा० सू० ३।३।९४) इति क्तिन्-प्रत्ययः। 'बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः' इत्यमरः। विवर्द्धते विशेषेण वृद्धिं गच्छति। आर्या वृत्तम्॥ ८७॥

रहता था। कामसुख का आनन्द लेते हुए उसे एक तीन स्तन वाली कन्या हुई। उस त्रिस्तनी कन्या के जन्म का समाचार सुनकर राजा बहुत चिन्तित हुआ। उसने उसने कञ्चुकियों को बुलाकर कहा इस कन्या को कहीं दूर बन में ले जाकर छोड़ दो और इस बात का ध्यान रखना कि कोई इसे जानने न पावे—राजा के आदेश को सुनकर कञ्चुकियों ने कहा—'महाराज! हम लोग जानते हैं कि तीन स्तन वाली कन्या अनिष्ट करने वाली होती है लेकिन ब्राह्मणों को बुलाकर पूछ लिया जाय जिससे इस लोक में तथा परलोक में कोई विरोध न हो। क्योंकि—

जो पुरुष निरन्तर जिज्ञासा करता है, दूसरों की बात सुनता है तथा सुनकर उसे धारण करता है उसकी बुद्धि सूर्यकिरण से विकसित होने वाली कमलिनी के समान बढ़ती रहती है॥ ८७॥

और भी कहा गया है कि सब कुछ जानते हुए भी पुरुष को निरन्तर जिज्ञासा-

राजा आह—'कथमेतत् ?' ते प्रोचुः—

१२ : राक्षसगृहीत-ब्राह्मण-कथा

'देव ! कस्मिंश्चित् वनोद्देशे चण्डवर्मा नाम राक्षसः प्रतिवसति स्म। एकदा तेन भ्रमता अटव्यां कश्चित् ब्राह्मणः समासादितः। ततः तस्य स्कन्धमारुह्य स राक्षसः प्रोवाच—'भोः! अग्रेसरो गच्छ'। ब्राह्मणोऽपि भयत्रस्तमनाः तमादाय प्रस्थितः।

अथ तस्य कमलोदरकोमलौ पादौ दृष्ट्वा ब्राह्मणो राक्षसम् अपृच्छत्—'भोः! किमेवंविधौ ते पादौ अतिकोमलौ ?' राक्षस आह—'भोः! व्रतमस्ति, नाहम् आर्द्रपादो भूमिं स्पृशामि'। स च तत् श्रुत्वा आत्मनः मोक्षोपायं चिन्तयन सरः प्राप्तः। ततो राक्षसेन अभिहितं—'भोः! यावदहं

पृच्छकेनेति। विजानता विज्ञेन, अपिरत्राध्याहार्यः, पुरुषेण सदा पृच्छकेन प्रश्नकारिणा, जिज्ञासुना इत्यर्थः, भाव्यं भवितुं योग्यम्। कथम् ? इत्याकाङ्क्षामाह—राक्षसेन्द्रेति। पुरा पूर्वं, राक्षसेन्द्रेण केनापि राक्षसश्रेष्ठेनेत्यर्थः, गृहीतोऽपि आक्रान्तोऽपि, द्विजः कश्चित् ब्राह्मणः, प्रश्नात् प्रश्नेन राक्षसस्य गुप्तरहस्यज्ञानादित्यर्थः, मुक्तः निष्कृतिं गत इत्यर्थः ॥ ८८ ॥

[१२]

(१) कमलेति। कमलोदरवत्—पद्माभ्यन्तरस्थकिञ्जल्कवत्, यद्वा—पद्मानां गर्भस्थक्षुद्रपत्रवत्, कोमलौ—मृदू। व्रतं—नियमः। आर्द्रपादः—सिक्तचरणः,

---

शील बनना चाहिए। देखो राक्षस के द्वारा पकड़ा हुआ ब्राह्मण अपनी पूछने की प्रवृत्ति से उसके चंगुल से छुटकारा पा गया ॥ ८८ ॥

राजा ने पूछा—'यह कैसे हुआ ?' तब उन कञ्चुकियों ने कहा—

राक्षस और ब्राह्मण की कथा

देव ! किसी वन में चण्डवर्मा नामक राक्षस रहता था, एक दिन वन में घूमते-घूमते उसने एक ब्राह्मण को देखा, तदनन्तर उसने ब्राह्मण के कन्धे पर चढ़कर बोला—अरे ! आगे चल। वह ब्राह्मण भी भयभीत होकर उस राक्षस को लेकर चलने।

तब उस राक्षस के मृणाल के समान कोमल चरणों को देख कर ब्राह्मण ने उस राक्षस से पूछा—भाई तुम्हारे इतने कोमल क्यों हैं ? तब राक्षस ने कहा—मेरा यह नियम है कि मैं आर्द्र चरण से कभी भी पृथ्वी का स्पर्श नहीं करता। राक्षस की बात सुनकर वह ब्राह्मण अपने छूटने का उपाय सोचता हुआ एक तालाब के पास

स्नानं कृत्वा देवताऽर्चनविधिं विधाय आगच्छामि, तावत् त्वया अतः स्थानात् अन्यत्र न गन्तव्यम् ।' तथाऽनुष्ठिते द्विजः चिन्तयामास—'नूनं देवताऽर्चनविधेरूर्ध्वं मामेष भक्षयिष्यति; तत् द्रुततरं गच्छामि, येन एष आर्द्रपादो न मम पृष्ठम् एष्यति'। तथानुष्ठिते राक्षसो व्रतभङ्गभयात् तस्य पृष्ठं न गतः। अतो वयं ब्रूमः—'पृच्छकेन सदा भाव्यम्' इत्यादि'।

अथ तेभ्यः तत् श्रुत्वा राजा द्विजान् आहूय प्रोवाच—'भो ब्राह्मणाः ! त्रिस्तनी मे कन्या समुत्पन्ना, तत् किं तस्याः प्रतिविधानम् अस्ति ? न वा ?' ते प्रोचुः—'देव ! श्रूयताम्—

हीनाङ्गी वाऽधिकाङ्गी वा या भवेत् कन्यका नृणाम् ।
भर्त्तुः स्यात् सा विनाशाय स्वशीलनिधनाय च ॥ ८९ ॥

राक्षसाक्रान्ताब्राह्मणस्य मुक्त्युपायप्रदर्शनार्थं ग्रन्थकर्त्रा 'नाहमार्द्रपादः' इत्यादिकौशलमुद्भाषितमिति मन्ये, आर्द्रपादेन भूमिस्पर्शात् चरणकाठिन्यसम्भावनायाः शास्त्रेऽदर्शनादिति, यद्वा—बहुक्षणं व्याप्य शीतस्पृष्टमङ्गं कठिनीभवति इति लोके दृश्यते, एवञ्च आर्द्रत्वात् कठिनीभूताभ्यां चरणाभ्यां कठिनभूमिस्पर्शात् तयोरधिकतरं काठिन्यमेव जायते इति वक्तुराशयः। मोक्षोपायम्—उद्धारोपायम्। सरः—तडागम्।

हीनाङ्गीति। नृणां नराणां, हीनाङ्गी केनचिदङ्गेन रहिता वा, अधिकाङ्गी अतिरिक्तेन केनचिदङ्गेन उपलक्षिता वा, या कन्यका भवेत्, सा कन्या; भर्त्तुः स्वामिनः, विनाशाय मरणाय, तथा स्वस्य शीलं चरित्रं, तस्य निधनाय ध्वंसाय

पहुँचा। तदनन्तर राक्षस ने कहा—'ब्राह्मण ! मैं स्नान कर देवता की पूजा कर जब तक नहीं आता, तब तक तुम अन्यत्र मत जाना। इस प्रकार जब राक्षस स्नान के लिए चला गया तो ब्राह्मण ने बिचार किया—निश्चय ही देवपूजा के अनन्तर यह राक्षस मुझको खा जायेगा। अतः शीघ्रतापूर्वक यहाँ से मैं भाग जाऊँ, जिससे गीले पैर होने के कारण यह मेरा पीछा न करे। ऐसा विचार कर ब्राह्मण वहाँ से भाग निकला। राक्षस भी अपने नियम के भय से उसका पीछा नहीं किया। इसलिए मैं कहता हूँ कि मनुष्य को सदैव जिज्ञासु होना चाहिए।

तदनन्तर कञ्चुकियों की बात सुनकर राजा ने ब्राह्मणों को बुलाकर पूछा—हे ब्राह्मणो मुझे त्रिस्तनी कन्या उत्पन्न हुई है, तो उसके प्रतिहार का कोई उपाय है अथवा नहीं ? तब ब्राह्मणों ने कहा—महाराज सुनिए—

मनुष्यों को यदि अङ्गहीन अथवा अधिक अङ्गवाली कन्या उत्पन्न हो तो वह अपने पति के विनाश अथवा अपने चरित्र को नष्ट करने वाली होगी ॥ ८९ ॥

या पुनस्त्रिस्तनी कन्या याति लोचनगोचरम् ।
पितरं नाशयत्येव सा द्रुतं नाऽत्र संशयः ॥ ९० ॥

तस्मात् अस्या दर्शनं परिहरतु देवः ! तथा यदि कश्चित् उद्वाहयति, तदेनां तस्मै दत्त्वा देशत्यागेन नियोजयितव्यः इति; एवं कृते लोकद्वयाऽविरुद्धता भवति ।'

अथ तेषां तद्वचनम् आकर्ण्य स राजा पटहशब्देन सर्वत्र घोषणाम् आज्ञापयामास—'अहो ! त्रिस्तनीं राजकन्यां यः कश्चित् उद्वाहयति, स सुवर्णलक्षम् आप्नोति देशत्यागञ्च'। एवं तस्याम् आघोषणायां क्रियमाणायां महान् कालो व्यतीतः, न कश्चित् तां प्रतिगृह्णाति। साऽपि यौवनोन्मुखी सञ्जाता सुगुप्तस्थानस्थिता, यत्नेन रक्षमाणा तिष्ठति ।

अथ तत्रैव नगरे कश्चित् चिरान्धः तिष्ठति, तस्य च मन्थरकनामा

च स्यात् ॥ ८९ ॥

येति । या पुनः त्रिस्तनी कन्या लोचनगोचरं दृष्टिविषयं, पितुरिति शेषः, याति गच्छति, सा द्रुतं शीघ्रं पितरं नाशयति एव, अत्र संशयो न, अस्तीति शेषः ॥ ९० ॥

(१) परिहरतु—परित्यजतु । उद्वाहयति—उद्वाहने गृहीतुमिच्छति इत्यर्थः । तत्—तदा । नियोजयितव्यः—आदेशयितव्य इत्यर्थः ।

(२) पटहशब्देन—वाद्यविशेषध्वनिना सह, 'नगाड़ा' इति हिन्दीभाषा ।

(३) चिरान्धः—बहुवर्षं व्याप्य दृष्टिशक्तिहीनः, न तु जातान्धः । यष्टिग्राही

फिर यदि तीन स्तन वाली कन्या, पिता को प्रत्यक्ष दिखाई पड़ जाय तो वह पिता को शीघ्र ही नष्ट कर देती है इसमें सन्देह नहीं हैं ॥ ९० ॥

इस लिए महाराज ! इस कन्या को आप देखें । यदि कोई इसके साथ विवाह कर ले तो उसके साथ इस कन्या को भी देश के बाहर निकाल दीजिए, ऐसा करने से आप का दोनों लोक बना रहेगा ।

उन ब्राह्मणों के इस प्रकार की बातें सुनकर उस राजा ने नगाड़ा पीटकर घोषणा करवा दी कि मेरी इस त्रिस्तनी कन्या के साथ जो विवाह करेगा उस व्यक्ति को एक लाख सुवर्णमुद्रायें दी जायँगी, किन्तु उसे इस राज्य से बाहर हो जाना पड़ेगा। राजा की इस प्रकार की घोषणा के बाद बहुत समय बीत गया, किन्तु कोई भी व्यक्ति उससे विवाह के लिए तैयार नहीं हुआ। इधर वह कन्या भी धीरे-धीरे युवती हो गयी और गुप्त स्थान पर बड़े प्रयत्न के साथ सुरक्षित रखी जाने लगी।

राजा के उस नगर में एक अन्धा रहता था, और मन्थरक नाम का एक कुबड़ा

कुब्जोऽग्रेसरः यष्टिग्राही। ताभ्यां तं पटहशब्दम् आकर्ण्य मिथो मन्त्रितं— 'स्पृश्यतेऽयं पटहो यदि कथमपि दैवात्, तदा कन्या लभ्यते, तथा सुवर्णप्राप्तिश्च भवति, सुखेन सुवर्णप्राप्त्या कालो व्रजति च। अथ यदि तस्या दोषतो मृत्युर्भवति, दारिद्र्योपात्तस्य अस्य क्लेशस्य पर्यन्तो भवति। उक्तञ्च—

लज्जा स्नेहः स्वरमधुरता बुद्धयो यौवनश्रीः,
कान्तासङ्गः स्वजनममता दुःखहानिर्विलासः।
धर्मः शास्त्रं सुरगुरुमतिः शौचमाचारचिन्ता
पूर्णे सर्वे जठरपिठरे प्राणिनां सम्भवन्ति॥ ९१॥

यष्टिधरः, अन्धस्य यष्ट्यग्रं गृहीत्वा यः तं स्थानात् स्थानान्तरं नयति, स इत्यर्थः। मिथः - परस्परम्। स्पृश्यते—वार्यते, मया इति शेषः, घोषणाडिण्डिमं धृत्वा यो घोषणां निवारयति, स एव तत् कार्यं करिष्यति इति प्रसिद्धेः। तस्याः—त्रिस्तन्याः कन्यायाः। दोषतः—स्तनत्रयरूपदुर्लक्षणादित्यर्थः। दारिद्र्योपात्तस्य—दैन्येन प्राप्तस्य, दारिद्र्यजनितस्येत्यर्थः। पर्यन्तः—अवसानम्।

लज्जेति। जठरपिठरे उदररूपे स्थालीविशेषे, पूर्णे भक्ष्यपेयादिभिः पूरिते सति इत्यर्थः, "पूरी आप्यायने" इति पूर् धातोः णिचि क्तः, "वा दान्तशान्तपूर्ण—" (पा० सू० ७।२।२३) इत्यनेन निपातनात् सिद्धम्; पक्षे—पूरित इति। "पूर्णः कृत्स्ने पूरिते च" इति हैमः। प्राणिनां लज्जा त्रपा, अकार्य्यकरणजनिता इति भावः, स्नेहः प्रियता, पुत्रादिषु वात्सल्यमित्यर्थः, "प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः" इत्यमरः। भक्ष्याभावे तु तानपि अप्रियानेव मन्यन्ते इति भावः; स्वरमधुरता,

---

उसका मित्र था जो उसे लाठी पकड़ा कर आगे चलता था। जब उन दोनों ने राजा की घोषणा सुनी तो वे आपस में विचार करने लगे—'आओ यह नगाड़ा छू दिया जाय। यदि संयोग से राजकन्या प्राप्त हो गयी तो उसके साथ-साथ एक लाख स्वर्ण मुद्रायें भी मिल जायेंगी, जिससे हम लोगों का समय सुख-पूर्वक कट जायगा और यदि उसके कुलक्षण होने से मृत्यु हो गयी तो निर्धनता से होने वाले इस दुःख का सदैव के लिये अन्त हो जायेगा। कहा भी गया है—

लज्जा, प्रेम, प्रियभाषण, विचारशीलता युवावस्था की कान्ति; स्त्री के साथ निवास, कुटुम्ब के प्रति ममता, क्लेशोपशम, कामचेष्टा, धर्माचरण, शास्त्रानुष्ठान, देवता तथा गुरुजनों में श्रद्धा, आचार की पवित्रता आदि का विचार मनुष्य तब करता है जब उसका पेट भरा हो, उदर के खाली होने पर ये सब विचार

एवमुक्त्वा अन्धेन गत्वा स पटहः स्पृष्टः, उक्तञ्च—'भोः! अहं तां कन्याम् उद्वाहयामि, यदि राजा मे प्रयच्छति। ततस्तैः राजपुरुषैः गत्वा राज्ञे निवेदितं—'देव! अन्धकेन केनचित् पटहः स्पृष्टः। तदत्र विषये देवः प्रमाणम्'। राजा प्राह—

अन्धो वा बधिरो वाऽपि कुष्ठी वाप्यन्त्यजोऽपि वा।
प्रतिगृह्णातु तां कन्यां सलक्षां स्याद्विदेशगः॥ ९२॥

अथ राजादेशात् तैः रक्षापुरुषैः तं नदीतीरे नीत्वा सुवर्णलक्षेण समं

बुद्धयः मतयः, यौवनश्रीः यौवनस्य तारुण्यस्य, श्रीः शोभा, युवन्शब्दात् 'हायनान्तयुवादिभ्यः अण्' (पा० सू० ५।१।१३०) इत्यनेन अण्। 'तारुण्ययौवने समे' इत्यमरः। कान्तसङ्गः कान्तया मेलनं, स्वजनममता स्वजनेषु आत्मीयजनेषु, ममता मदीयत्वबोधः, दुःखहानिः क्लेशोपशमः, विलासः सुखाभिलाषः, धर्मः धरति लोकानिति व्युत्पत्त्या वेदविहितयागाद्यनुष्ठानं, शास्त्रं हितानुशासनग्रन्थविशेषोक्तनियमपालनमित्यर्थः, सुरगुरुमतिः देवतागुरुजनेषु भक्तिः; यद्वा—सुरगुरुवत् बृहस्पतिरिव मतिः बुद्धिः, शौचं पवित्रता, शुचेः भावः इति शुचिशब्दात् 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' (पा० सू० ५।१।१३१) इत्यण् आचारचिन्ता सदाचारानुष्ठानम् इत्यर्थः, एते सर्वे सम्भवन्ति; बुभुक्षया परिपीडितस्य तु विद्यमानेष्वपि लज्जादिकेषु तद्रक्षणासम्भवादिति भावः। मन्दाक्रान्ता वृत्तम्॥ ९१॥

अन्ध इति। अन्धो वा, बधिरो वा, कुष्ठो, कुष्ठरोगग्रस्तो वा, अन्त्यजः नीचकुलोत्पन्नो वा, स्यात् यः कोऽपि भवेद्वाः स विदेशगः देशत्यागी सन्, सलक्षां लक्षमुद्रासमेतां, तां कन्यां प्रतिगृह्णात् स्वीकरोतु; यद्वा—यः तां कन्यां प्रतिगृह्णातु सः विदेशगः स्यादित्यन्वयः॥ ९२॥

इस प्रकार आपस में विचार करने के बाद उस अन्धे ने पटह को जाकर छू दिया और कहा यदि महाराज प्रस्तुत हों तो मैं उस कन्या के साथ विवाह के लिए तैयार हूँ। तदनन्तर राजपुरुषों ने राजा के पास जाकर निवेदन किया—महाराज! किसी अन्धे ने नगाड़ा स्पर्श किया है, अतः ऐस विषय में महाराज जो चाहें वह करें (इस बात को सुनकर) राजा ने कहा—

चाहे अन्धा हो अथवा बहिरा हो, कोढ़ी हो वा अन्त्यज, चाण्डालादि ही क्यों न हो वह लाख रूपये के साथ इस कन्या को ग्रहण कर सकता है, किन्तु उसे यह देश छोड़ देना होगा॥ ९२॥

इस प्रकार राजा के आदेश से उन राजपुरुषों ने उस अन्धे को नदीतट पर ले

ववाहविधिना त्रिस्तनीं तस्मै दत्त्वा जलयाने निधाय कैवर्त्ताः प्रोक्ताः—
भोः ! देशान्तरं नीत्वा कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने अन्धः सपत्नीकः, कुब्जकेन
ह मोचनीयः'। तथा अनुष्ठिते विदेशम् आसाद्य कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने
वर्त्तदर्शिते त्रयोऽपि मूल्येन गृहं प्राप्ताः सुखेन कालं नयन्ति स्म।
वलम् अन्धः पर्यङ्के सुप्तः तिष्ठति, गृहव्यापारं मन्थरकः करोति।
वं गच्छता कालेन त्रिस्तन्याः कुब्जकेन सह विकृतिः समपद्यत। अथवा
ाधु इदमुच्यते—

यदि स्याच्छीतलो वह्निश्चन्द्रमा दहनात्मकः।
सुस्वादुः सागरः स्त्रीणां तत् सतीत्वं प्रजायते ॥ ९३ ॥

अथ अन्येद्युः त्रिस्तन्या मन्थरकोऽभिहितः—'भोः सुभग ! यदि एषः
मन्धः कथञ्चित् व्यापाद्यते, तदा आवयोः सुखेन कालो याति; तदन्विष्यतां

---

(१) जलयाने—नौकायाम्। कैवर्त्ताः—धीवराः, नौजीविनः कर्णधारादयः
इत्यर्थः। विकृतिः—स्वभावस्य अन्यथाभावः, व्यभिचार इत्यर्थः।

यदीति। यदि वह्निः शीतलः, चन्द्रमाः चन्द्रः, दहनात्मकः दहनशक्तिमान्,
तथा सागरः समुद्रजलमित्यर्थः, सुस्वादुः सुखपेयः, स्यात्, तत् तदा, स्त्रीणां सतीत्वं
प्रजायते सम्भवति, वह्न्यादीनां शीतलत्वादिकं यथा अतीवासम्भवं, तथा स्त्रीणामपि
सतीत्वमिति भावः ॥ ९३ ॥

जाकर एक लाख सुवर्ण मुद्राओं के साथ विवाह की विधि से उस त्रिस्तनी कन्या
को उसे देकर और उन सभी को नौका में बैठाकर मल्लाहों से कहा—अरे मल्लाहों !
इन सब को दूसरे राज्य में ले जाकर किसी स्थान पर कुबड़े के साथ पत्नी सहित
इस अन्धे को छोड़ देना। इस प्रकार विदेश चले जाने पर वे तीनों उन मल्लाहों
द्वारा दिखाये गये किसी नगर में भाड़े पर मकान लेकर सुखपूर्वक रहने लगे।
अन्धा रात दिन चारपाई पर पड़ा रहता था और कुबड़ा मन्थरक घर का
सारा प्रबन्ध सँभालता था। ईस प्रकार कुछ दिन बीतने के बाद उस त्रिस्तनी के
मन में कुबड़े को देख कर मनोविकृति उत्पन्न हो गयी। अथवा ठीक ही कहा
गया है—

यदि आग शीतल हो जाय, चन्द्रमा उष्ण हो जाय और खारा समुद्र स्वादिष्ट
हो जाय, इस प्रकार यदि असम्भव भी सम्भव हो जाय तो कदाचित् ही स्त्री से
पातिव्रत्य की आशा की जा सकती है ॥ ९३ ॥

तदनन्तर एक दिन उस त्रिस्तनी ने मन्थरक से कहा—प्रियवर ! यदि यह
अन्धा किसी प्रकार मार डाला जाय तो हम दोनों का समय बड़े आनन्द के साथ

कुत्रचित् विषम्; येन अस्मै तत् प्रदाय सुखिनी भवामि'।

अन्यदा कुब्जकेन परिभ्रमता, मृतः कृष्णसर्पः प्राप्तः। तं गृहीत्वा प्रहृष्टमना गृहमभ्येत्य तामाह—'सुभगे! लब्धोऽयं कृष्णसर्पः; तदेन खण्डशः कृत्वा प्रभूतशुण्ठ्यादिभिः संस्कार्य्य अस्मै विकलनेत्राय मत्स्यामिषं भणित्वा प्रयच्छ, येन द्राक् विनश्यति; यतोऽस्य मत्स्यामिषं सदा प्रियम्' एवमुक्त्वा मन्थरको बहिर्गतः। साऽपि प्रदीप्ते वह्नौ कृष्णसर्पं खण्डशः कृत्वा तक्रम् आदाय गृहव्यापाराकुला तं विकलाक्षं सप्रश्रयम् उवाच—'आर्य्यपुत्र! तव अभीष्टं मत्स्यमांसं समानीतं, यतः त्वं सदा एव तत् पृच्छसि; ते च मत्स्या वह्नौ पाचनाय तिष्ठन्ति; तत् यावत् अहं गृहकृत्यं करोमि, तावत् त्वं दर्वीम् आदाय क्षणमेकं तान् प्रचालय'। सोऽपि तदाकर्ण्य हृष्टमनाः सृक्कणी परिलिहन् द्रुतम् उत्थाय दर्वीम् आदाय प्रमथितुम्

---

(१) प्रभूतशुण्ठ्यादिभिः—प्रभूतैः बहुभिः, शुण्ठति कफमिति शुण्ठी–क्वथित शुष्कार्द्रकमित्यर्थः, तदादिभिः—तत्प्रभृतिभिः, सहेति शेषः, संस्कार्य्य—पाचयित्वा। विकलनेत्राय—अन्धाय। मत्स्यामिषम्—मत्स्यस्य मांसं, 'पिशितं तरसं मांसं पललं क्रव्यमामिषम्' इत्यमरः। भणित्वा—क्त्वा। आदाय—सम्यक् दत्त्वा। सप्रश्रयं—सविनयम्। पाचनाय तिष्ठन्ति—पच्यन्ते इत्यर्थः। गृहकृत्यं—गेहकार्य्यम्। दर्वी—पाकद्रव्यप्रचालनयन्त्रम्। सृक्कणी—ओष्ठप्रान्तौ 'प्रान्तावोष्ठस्य सृक्कणी' इत्यमरः। परिलिहन् जिह्वया पुनः पुनः परिभृशन्नित्यर्थः, मत्स्यभक्षण-

---

बीतने लगेगा। इसलिए कहीं से विष खोज कर ले आइये जिससे इसको विष खिलाकर चैन से अपना दिन बिताऊँ।

इसके उपरान्त एक दिन घूमते हुए उस कुबडे को कहीं मरा हुआ साँप मिल गया तो इस साँप को टुकडा-टुकड़ा कर सोंठ-मिर्च आदि मसाला मिलाकर खुब अच्छी तरह से पकाकर इस अन्धे को मछली का मांस है' ऐसा कह कर खिला दो। ऐसा करने से वह शीघ्र मर जायगा। इसे मछली का मांस बहुत प्रिय भी है। ऐसा कह कर वह मन्थरक कहीं बाहर चला गया। उस त्रिस्तनी ने उस साँप के टुकड़े-टुकड़े कर उसे मट्ठे के बर्तन में रख कर जलती हुई आग की भट्ठी पर रख दिया और घर के कार्यों में व्यग्रता के कारण उस अन्धे से प्रेमपूर्वक बोली - आर्यपुत्र! आज आप के लिए मछली का मांस मँगाया है जिसे आप बहुत चाहा करते हैं। मैंने उन मछलियों को पकाने के लिए आग पर रख दिया है, तो मैं जब घर का काम काज सँभालती हूँ, तब तक आप चम्मच से उसे चलाते रहिए। उसकी बात सुन कर अन्धा मन में बहुत प्रसन्न हो अपने दोनों

आरब्धः ।

अथ तस्य तदामिषं मथतो विषगर्भबाष्पेण संस्पृष्टं नीलपटलं चक्षुर्भ्याम् अगलत् । असौ अपि अन्धः बहुगुणं मान्यमानो विशेषात् नेत्राभ्याम् वाष्पग्रहणम् अकरोत्, ततो लब्धदृष्टः यावत् पश्यति, तावत् तक्रमध्ये कृष्णसर्पखण्डानि केवलानि एव अवलोकयति । ततो व्यचिन्तयत्—'अहो ! किमेतत् !! मम मत्स्यामिषं कथितम् आसीत् अनया, एतानि तु कृष्णसर्पखण्डानि; तत् तावत् विजानामि सम्यक् त्रिस्तन्याः चेष्टितं, किं मम बधोपायक्रमः ? कुब्जस्य वा ? उताहो अन्यस्य वा कस्यचित् ?' एवं विचिन्त्य स्वाकारं गूहन् अन्धवत् कर्म करोमि यथा पुरा ।

अत्रान्तरे कुब्जः समागत्य निःशङ्कतया आलिङ्गनचुम्बनादिभिः त्रिस्तनीं सेवितुम् उपचक्रमे । सोऽपि अन्धः तम् अवलोकयन् अपि यावत् न किञ्चित् शस्त्रं पश्यति, तावत् कोपव्याकुलमनाः पूर्ववत् शयनं गत्वा

लोभादिति भावः । प्रमथितुं—चालयितुम् ।

(१) तस्य—अन्धस्य । मथतः—प्रचालयतः । भ्वादिगणीय 'मथ्' धातोः रूपम् । विषगर्भवाष्पेण—अन्तर्गरलधूमेन, सर्पमांसादुत्थितेन इति भावः । नीलपटलं—कालिमचयः, दृष्टिमण्डलावरकमिति शेषः । बहुगुणं—प्रभूतगुणकरं, तत् वाष्पमिति शेषः । गूहन्—गोपायन्, अप्रकाशयन् इत्यर्थः ।

ओठों के किनारों को जीभ से चाटता हुआ शीघ्रता से उठा और चम्मच लेकर उसे चलाना प्रारम्भ किया ।

इस प्रकार मछली के चलाते रहने से सर्प विषमिश्रित बाष्प के लगने से उसके आँख का माड़ा गलकर गिरने लगा । इस प्रकार अपने आँखों को लाभप्रद देख उसने उस बाष्प का सेवन भलीभाँति किया । भाप के सेवन से जब अन्धे की आँखों में देखने की शक्ति हो गयी तो उसने देखा कि मट्ठे में काले-काले साँप के टुकड़े रखे गये हैं, तदनन्तर उसने विचार किया कि ! हाय ! यह क्या है ? इस त्रिस्तनी ने तो मुझे बताया था कि मछली के टुकड़े हैं किन्तु यह तो काला-काला साँप का टुकड़ा पकाया जा रहा है । तो अब मुझे त्रिस्तनी के व्यवहार का अच्छी तरह पता लगाना है कि उसने ऐसा उपाय मुझे मारने लिए किया है अथवा कुबड़े को मारने के लिए यह उपाय रचा है । ऐसा विचार कर वह अपने स्वरूप को छिपाते हुए पूर्ववत् अन्धे की तरह अपना कार्य करने लगा ।

इसी बीच वह कुबड़ा आकर विश्वस्तरूप से उस त्रिस्तनी का आलिंगन चुम्बन करता हुआ उसके साथ रमण करने लगा । उस अन्धे ने यह सब देखकर उसे मा

कुब्जं चरणाभ्यां सङ्गृह्य सामर्थ्यात् स्वमस्तकोपरि भ्रामयित्वा त्रिस्तनीं हृदये व्यताडयत्। अथ कुब्जप्रतारेण तस्याः तृतीयः स्तनः उरसि प्रविष्टः; तथा बलात् मस्तकोपरि भ्रामणेन कुब्जः प्राञ्जलतां गतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'अन्धकः कुब्जकश्चैव' इत्यादि'।

सुवर्णसिद्धिः आह—'भोः! सत्यमेतत्, दैवानुकूलतया सर्वं कल्याणं सम्पद्यते, तथाऽपि पुरुषेण सतां वचनं कार्य्यम्; न पुनः असंहतेन कदाचिदपि भवितव्यम्; यः खलु एवमेव वर्त्तते, स त्वमिव नूनं विनश्यति।

तथा च—एकोदराः पृथग्ग्रीवा अन्योऽन्यफलभक्षिणः।
असंहता विनश्यन्ति, भारुण्डा इव पक्षिणः॥ ९४॥

---

(१) यावत्—यदा इत्यर्थः। तावत्—तदा इत्यर्थः। पूर्ववत्—प्रागिव अन्धदशायां यथा हस्तपरामर्शेन गच्छति, तथा इत्यर्थः। सामर्थ्यात्—बलात् बलपूर्वकमित्यर्थः। व्यताडयत्—निर्दयं प्रहृतवान्। उरसि—वक्षसि, तदभ्यन्तरे इत्यर्थः, सा द्विस्तनी जातेति भावः। प्राञ्जलतां—सरलतां, कुब्जतादोषरहितोऽभवदिति भावः।

(२) सतां वचनं—'नैकः शून्याटवीं गच्छेत्' इत्यादिरूपानुशासनम्; तच्च ८०० संख्यकपृष्ठे स्फुटीभविष्यति। असंहतेन—मिथो वियुक्तेन, एकाकिना इत्यर्थः। सः—पुरुषः।

एकोदरा इति। असंहताः संहताः सङ्गताः न भवन्तीति असंहताः असङ्गताः,

---

के लिए पास में कोई शस्त्र नहीं पाया तो क्रोध से व्याकुल होकर टटोलता हुआ खाट के पास जाकर उस कुबड़े की दोनों पकड़ लिया और उसे उठा कर अपने शिर पर घुमाता हुआ त्रिस्तनी की छाती पर जोर से उसे दे मारा। इस प्रहार कुबड़े के प्रकार से उसका तीसरा स्तन उसके हृदय में घुस गया और वह कुबड़ा भी सीधा हो गया। इसलिए मैं कहता हूँ 'अन्धा और कुबड़ा' इत्यादि।

तब सुवर्णसिद्धि ने कहा—'भाई! तुम ठीक कहते हो। भाग्य के अनुकूल होने पर सब कल्याण ही होता है। फिर भी सज्जनों की बात तो माननी ही चाहिए। मनमाना देढ़गा काम नहीं करना चाहिए। जो इस प्रकार दूसरे की बात न मान कर मनमाना करता है वह तुम्हारी ही तरह निश्चय ही नाश को प्राप्त होता है; क्योंकि कहा भी गया है—

एक साथ मिल कर कार्य न करने वाले व्यक्ति एक उदर किन्तु दो मुख होने

चक्रधर आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

१३ : एकोदरपृथग्ग्रीवभारुण्डपक्षि-कथा

कस्मिंश्चित् सरोवरे भारुण्डनामा पक्षी एकोदरः पृथग्ग्रीवः प्रतिवसति स्म। तेन च समुद्रतीरे परिभ्रमता किञ्चित् फलम् अमृतकल्पं तरङ्गाक्षिप्तं सम्प्राप्तम्। स च तत् भक्षयन् इदमाह – 'अहो ! बहूनि मया अमृतप्रायाणि समुद्रकल्लोलाहृतानि फलानि भक्षितानि, परम् अपूर्वोऽस्य आस्वादः। तत् किं पारिजातहरिचन्दनतरुसम्भवम् !! किं वा किञ्चित् अमृतमयफलम् अव्यक्तेनापि विधिना आपतितम् !!

अमिलिताः इत्यर्थः, एकताविरहिता इति यावत्, 'संहतं सङ्गते दृढे' इति हैमः जनाः इति शेषः, एकोदराः अभिन्नकुक्षयः, पृथग्ग्रीवाः द्विमुखाः इति भावः, परन्तु अन्योऽन्यफलभक्षिणः परस्परफलभोजनाभिलाषिणः, भारण्डाः तदाख्याः, पक्षिणः इव विनश्यन्ति विनाशं गच्छन्ति ॥ ९४ ॥

[१३]

(१) अमृतकल्पम्—अमृततुल्यम्, अमृतादीषदूनमित्यर्थः, 'ईषदसमाप्तौ कल्पदेश्य-देशीयरः' (पा० सू० ५।३।६७) इति सूत्रेण कल्पप्। तरङ्गाक्षिप्तं-तरङ्गताडनेन वेलाम् आनीतम् इत्यर्थः। परं—किन्तु। अव्यक्तेन– अस्फुटेन, अलक्षितेन इत्यर्थः, 'अव्यक्तः शङ्करं विष्णावव्यक्तं महदादिके। आत्मन्यपि स्यादव्यक्तमस्फुटे त्वभि-धेयवत्।' इति विश्वः। विधिना—दैवेन, मम शुभादृष्टेन इत्यर्थः। आपतितं—प्रेरितमित्यर्थः।

के कारण परस्पर भिन्न फल खाने वाले भारुण्ड पक्षी के समान विनाश को प्राप्त होते हैं ॥ ९४ ॥

भारुण्ड पक्षी की कथा

किसी तालाब पर भारुण्ड नाम का एक पक्षी, जिसको एक पेट किन्तु दो पृथक्-पृथक् कण्ठ था, रहता था। उसने किसी दिन समुद्र के किनारे घूमते हुए अमृत के समान स्वादिष्ट एक फल प्राप्त किया जो कहीं से समुद्र की लहरों द्वारा तट पर आ गया था, उसने उस फल को खाते हुए कहा—अहा ! मैंने समुद्र की लहरों द्वारा लाये गये अनेक फलों का भक्षण किया है, किन्तु इस फल का स्वाद तो अननुभूत है, तो क्या यह पारिजात हरिचन्दन आदि वृक्षों में उत्पन्न हुआ है अथवा यह अमृतकल्प फल भाग्य से ब्रह्मा ने मेरे लिये ला दिया है।

एवं तस्य ब्रुवतो द्वितीयमुखेन अभिहितं—'भोः! यदि एवं, तत् ममापि स्तोकं प्रयच्छ, येन जिह्वासौख्यम् अनुभवामि'। ततो विहस्य प्रथम-वक्त्रेण अभिहितम्—'आवयोः तावदेकम् उदरम्, एका तृप्तिश्च भवति; ततः किं पृथक् भक्षितेन? वरमनेन शेषेण प्रिया तोष्यते' एवम् अभिधाय तेन शेषं भारुण्ड्याः प्रदत्तम्। साऽपि तत् आस्वाद्य प्रहृष्टतया आलिङ्गन-चुम्बन-सम्भावनाद्यनेकचाटुपरा बभूव। द्वितीयं मुखं तद्दिनादेव प्रभृति सोद्वेगं सविषादञ्च तिष्ठति।

अथ अन्येद्युः द्वितीयमुखेन विषफलं प्राप्तम्। तत् दृष्टवा अपरमाह—'भोः! निस्त्रिंश! पुरुषाधम! निरपेक्ष! मया विषफलम् आसादितम्; तत् तवापमानात् भक्षयामि'। अपरेण अभिहितं—'मूर्ख! मा मा एवं कुरु, एवं कृते द्वयोरपि विनाशो भविष्यति'। अथ एवं वदन्तमपि तेन

---

(१) शेषेण—भुक्तावशिष्टेन इत्यर्थः। प्रिया—भार्य्या। भारण्ड्याः स्व-प्रियायाः सम्बन्धविवक्षया षष्ठी। आलिङ्गनेत्यादि। आलिङ्गनम्—आश्लेषः, चुम्बनम्—अधरास्वादनं, सम्भावनम्—आदरप्रदर्शनमित्यर्थः, तानि आदीनि येषां तादृशाः, अनेकाः—विविधाः चाटवः—प्रियाचरणानीत्यर्थः, तत्परा—तत्प्रवणा। सोद्वेगं—व्याकुलचित्तम्। सविषादं—सदुःखम्।

(२) अपरं—प्रथममुखम्। निस्त्रिश—निर्दय! 'निस्त्रिशः खड्गे ना निर्दये त्रिषु

जब इस प्रकार वह कह रहा था तो उसके दूसरे मित्र ने कहा—'भाई! यदि ऐसा है तो मुझे भी थोड़ा दो जिससे मैं भी जिह्वा का आनन्द लूँ। तब हँस कर पहले मुख ने कहा—'भाई हम लोगों का पेट तो एक ही है, जिससे तृप्ति भी समान रूप से हो जायगी। फिर अलग-अलग फल भक्षण से कोई लाभ नहीं है। अतः थोड़े से बचे हुए इस फल से मैं अपनी स्त्री को सन्तुष्ट करूँगा। ऐसा कह कर उसने अवशिष्ट फल अपनी स्त्री को दे दिया। उस फल के खाने से वह प्रसन्न होकर अपने पति का आलिङ्गन, चुम्बन, कटाक्ष, वीक्षण तथा प्रिय भाषणादि अनेक हावभावों से उसे प्रसन्न करने लगी, किन्तु दूसरा मुँह उसी दिन से उदास और खिन्न रहने लगा।

दूसरे दिन दूसरे मुख को विषफल मिल गया। उसे लेकर उसने प्रथम मुख से कहा—'हे निर्दय! हे पुरुषाधम, हे मतलबी पक्षी, आज मुझे यह विष का फल मिला है, इसलिए मैं तुम्हारे अपमान के कारण इसे खाऊँगा।' तब पहले मुख ने कहा—मूर्ख! ऐसा मत करो। ऐसा करने से हम दोनों विनष्ट हो जायँगे। इतना

पूर्वापमानात् फलं भक्षितम्, किं बहुना ? द्वौ अपि विनष्टौ। अतोऽहं ब्रवीमि—'एकोदराः पृथग्ग्रीवाः' इत्यादि'।

चक्रधर आह—'सत्यमेतत्, त्वद्वचनमनाकर्ण्य त्वां परित्यज्य च एकाकिना आगच्छता मया दुःखमेतदनुभूयते; तत् गच्छ गृहम्'। एवं श्रुत्वा सुवर्णसिद्धिस्तमनुज्ञाप्य स्वगृहं प्रति निवृत्तः'।

अथ ब्राह्मणी एवमुक्त्वा पुनः ब्राह्मणम् आह—'यत् त्वयाऽपि अतिलब्धेन न कृतं मद्वचः, तेनैव ईदृशी अवस्था उपागता। अतोऽहं ब्रवीमि—'अतिलोभो न कर्त्तव्यः' इत्यादि'।

तत् श्रुत्वा देवशर्मा कथयति—'यस्य गृहे अशनजातं किमपि नास्ति, तस्य जीविकाऽर्थं भिक्षाऽटनं न पुनरतिलोभकारणं भवितुमर्हति। त्वमेव अपरीक्षितकारिणी, येन चिरं पुत्रवत् स्निहच्यमानं, सुखसुप्तस्य स्वपुत्रस्य कृष्णसर्पात् रक्षितारम्, अमुं नकुलं सविशेषमज्ञात्वैव सहसा विनाशयन्त्या त्वया अतीव अकार्य्यमनुष्ठितम्'। सा तु तथाविधं भर्त्तृवाक्यं निशम्य

इति मेदिनी। पुरुषाधम—पुरुषेषु अधमः—नीचः, तत्सम्बुद्धौ। निरपेक्ष—अपरमुखानपेक्षिन् इत्यर्थः।

(१) स्निह्यमानं—प्रीयमाणं, प्रियबुद्ध्या पाल्यमानमित्यर्थः।

कहते रहने पर भी पूर्व अपमान से दुःखी होकर उसने वह फल खा लिया। अब इससे अधिक क्या कहा जाय कि दोनों ही नष्ट हो गये। इसलिए मैं कहता हूँ कि—'एक उदर और पृथग्ग्रीवा वाले' इत्यादि।

चक्रधर ने कहा—'यह सत्य ही है; आपके वचन को सुनकर और आपको छोड़कर अकेले आते हुए मुझे इस दुःख की अनुभूति हुई। अतः आप घर जाइए।' यह सुनकर सुवर्णसिद्धि भी उसकी अनुज्ञा लेकर अपने घर के लिए लौट पड़ा।

इसके बाद ब्राह्मणी इस प्रकार कहकर पुनः ब्राह्मण से बोली—'इसलिए जो आपने भी अत्यन्त लोभ के कारण मेरा कहा नहीं किया, इसी कारण से इस प्रकार अवस्था को प्राप्त हुए। अतः मैं कहती हूँ कि—'अत्यन्त लोभ नहीं करना चाहिए।' इत्यादि।

उसे सुनकर देवशर्मा ने कहा—जिसके घर पर कोई भी भूखा नहीं है, उसकी जीविका के लिए फिर भी भिक्षाटन करना अति लोभ का कारण होता है। तुम भी बिना सोच बिचार कर कार्य करने वाली हो, क्योंकि चिरकाल तक पुत्र के समान स्नेह करने वाले, तुमने सुख से सोये हुए, तुम्हारे पुत्र की काले साँप से रक्षा करने वाले इस नेवले को, विशेष कुछ न जाने हुए ही सहसा इसे मारकर

अपरीक्षितकारितायाः दोषं विभाव्य च नकुलार्थं परं सन्तापमाययौ, तद्वधशोकेन च प्रमुक्तकण्ठं चिरमरुदत्। अतोऽस्माभिरुच्यते—'अपरीक्ष्य न कर्त्तव्यम्' इत्यादि'।

मणिभद्र आह—'सत्यमेतत्, सम्यगुपदिष्टञ्च अत्रभवद्भिः, साम्प्रतमनुमन्यतामयं जनः स्वगृहगमनाय'। ततो धर्माधिकारिभिरुक्तं—'गच्छतु स्वगृहं भवान्, परमेकाकिना न गन्तव्यम्। उक्तञ्च—

एकः स्वादु न भुञ्जीत नैकः सुप्तेषु जागृयात्।
एको न गच्छेदध्वानं नैकश्चार्थान् प्रचिन्तयेत्॥ ९५ ॥

एक इति। एकः एकाकी, अन्येभ्यः अदत्त्वा इत्यर्थः, स्वादु सुखादं द्रव्यं, न भुञ्जीत, स्वादुद्रव्यम् आश्रितेभ्यः किञ्चित् किञ्चित् दत्त्वा भक्षितव्यमित्यर्थः, एकाकी यदि कश्चित् सकृद्भुञ्जीत तदा एकाहोपवासः कार्य्यः, यथोक्तं प्रायश्चित्तविवेके—अथैकाकिमिष्टान्नभक्षणप्रायश्चित्तम्; तत्र निन्दायां मनुः—'एकाकी मिष्टमश्नाति वञ्चयित्वा सुहृत्-सुतान्। दारान् भृत्यातिथींश्चैव तथा सम्बन्धिबान्धवान्। उत्सन्नपितृदेवेज्यः पशुघाती च यो वृथा। लालापनरके घोरे दुर्गन्धे पात्यते नरः॥' अत्र प्रायश्चित्तविशेषाश्रवणात् 'नैकाकी मिष्टान्नमश्नाति' इति श्रुतेराचारातिक्रमप्रायश्चित्तम्। वेदोदितानामित्यनेन मनुनोक्त एकाहोपवासः कार्य्यः, एतत् सकृत्, अभ्यासे तु द्वैगुण्यादिकमूहनीयम्' इति। सुप्तेषु निद्रितेषु जनेषु मध्ये, एको जनः, न जागृयात् न जागरितः तिष्ठेत्; सुप्तजनानां हि अपहृते सति कस्मिन्नपि वस्तुनि कारणान्तरेण मृते वा कस्मिंश्चित् जागृतः एव तदपराधारोपसम्भावनया यद्वा—निद्राणानाम्

तुमने भी अत्यन्त गर्हित कार्य किया है।' वह भी इस प्रकार अपने स्वामी के वचनों को सुनकर बिना सोंच-विचार कर कार्य करने के दोष को समझकर नेवले की मृत्यु पर अत्यन्त सन्तप्त हुई और उसे मार डालने के शोक से गला भरकर बहुत देर तक रोती रही। इसलिए हमलोग कहते हैं कि—'बिना सोंचे-विचारे कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए' इत्यादि।

मणिभद्र ने कहा—'यह सत्य है। यहाँ पर आपके द्वारा समीचीन उपदेश दिया गया है। इस समय अब हमें अपने घर जाने की अनुज्ञा प्रदान कीजिए।' तब धर्माधिकारियों ने कहा—तुम सत्य कहते हो, अच्छा अब तुम घर जा सकते हो किन्तु अकेले घर मत जाना। क्योंकि कहा भी गया है—

स्वादिष्ट वस्तु अकेले नहीं खानी चाहिए। सोने वालों के बीच अकेले नहीं जागना चाहिए। अकेले यात्रा नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार किसी विषय पर विचार अकेले नहीं करना चाहिए॥ ९५ ॥

अपि च--'अपि कापुरुषो मार्गे द्वितीयः क्षेमकारकः ।
कर्कटेन द्वितीयेन जीवितं परिरक्षितम् ॥ ९६ ॥

मणिभद्र आह--'कथमेतत् ? धर्माधिकारिणः प्रोचुः—

१४ : ब्राह्मणकर्कट-कथा

'कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने ब्रह्मदत्तनामा ब्राह्मणः प्रतिवसति स्म, स च प्रयोजनवशात् ग्रामे प्रस्थितः स्वमात्रा अभिहितः--'वत्स ! कथमेकाकी व्रजसि ? अन्विष्यतां कश्चित् द्वितीयः सहायः' । स आह--'अम्ब ! मा भैषीः. निरुपद्रवोऽयं मार्गः, कार्यवशात् एकाकी गमिष्यामि । अथ तस्य

उत्स्वप्नायमानतां विविधभीतिव्यञ्जकवाक्चेष्टादिभ्यः त्रस्तस्य जागृतः प्राणवियोगाद्यनिष्टशङ्कया इति भावः ; एक एकाकी, असहायः सन्नित्यर्थः, अध्वानं पन्थानं न गच्छेत् ; विपदि समुपस्थितायां साहाय्यप्राप्तेरसम्भवादिति भावः ; च किञ्च, एको जनः, अर्थान् प्रयोजनानि, प्रयोजनीयकार्य्याणि इत्यर्थः, न प्रचिन्तयेत् अपरेण सम्मन्त्र्य कार्य्यं कुर्य्यादित्यर्थः ; कदाचित् स्वस्य भ्रान्तिवशात् प्रकृतकार्य्यहानिसम्भावनयेति भावः, 'गन्तव्यं पञ्चभिः सार्द्धं मन्तव्यं पञ्चभिः सह' इत्यादि स्मरणात् ॥ ९५ ॥

ससहायकगमनस्य गुणं वर्णयिष्यन् दृष्टान्तमुपन्यस्तुमाह—अपीति । मार्गे पथि, कापुरुषोऽपि अक्षमोऽपि, द्वितीयः सहाय इत्यर्थः, तिष्ठति चेत् तदेति शेषः, क्षेमकारकः शुभकरः, भवेदिति शेषः ; तथा हि, द्वितीयेन सहायेन इत्यर्थः, कर्कटेन कुलीरेण, जीवितं, कस्यचित् पान्थस्येति शेषः, परिरक्षितं परित्रातं, सर्पात् इति भावः ॥ ९६ ॥

[१४]

(१) ग्रामे—कश्मिंश्चित् ग्रामान्तरे इत्यर्थः । स्वमात्रा—निजजनन्या । निरु-

---

अत्यन्त भीरु भी व्यक्ति मार्ग में कल्याणकारी हो जाता है, अतः उसे भी साथ ले लेना चाहिए, जैसे कर्कट के साथ में रहने के कारण कर्कट ने ब्राह्मण के जीवन की रक्षा की ॥ ९६ ॥

सुवर्णसिद्धि ने पूछा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

ब्रह्मदत्त ब्राह्मण बालक और केकड़े की कथा

किसी नगर में ब्रह्मदत्त नामक एक ब्राह्मण रहता था । एक दिन वह किसी कार्य से जब दूसरे ग्राम को जाने लगा तो उसकी माँ ने कहा—'बेटा ! अकेले क्यों जा रहे हो ? किसी को सहायता के लिए साथ ले लो ।' उसने उत्तर दिया—'माँ

अपरीक्षितकारितायाः दोषं विभाव्य च नकुलार्थं परं सन्तापमाययौ, तद्वधशोकेन च प्रमुक्तकण्ठं चिरमरुदत्। अतोऽस्माभिरुच्यते—'अपरीक्ष्य न कर्त्तव्यम्' इत्यादि'।

मणिभद्र आह—'सत्यमेतत्, सम्यगुपदिष्टम् अत्रभवद्भिः, साम्प्रतमनुमन्यतामयं जनः स्वगृहगमनाय'। ततो धर्माधिकारिभिरुक्तं—'गच्छतु स्वगृहं भवान्, परमेकाकिना न गन्तव्यम्। उक्तञ्च—

एकः स्वादु न भुञ्जीत नैकः सुप्तेषु जागृयात्।
एको न गच्छेदध्वानं नैकश्चार्थान् प्रचिन्तयेत्॥ ९५ ॥

एक इति। एकः एकाकी, अन्येभ्यः अदत्त्वा इत्यर्थः, स्वादु सुखाद्यं द्रव्यं, न भुञ्जीत, स्वादुद्रव्यम् आश्रितेभ्यः किञ्चित् किञ्चित् दत्त्वा भक्षितव्यमित्यर्थः, एकाकी यदि कश्चित् सकृद्भुञ्जीत तदा एकाहोपवासः कार्य्यः, यथोक्तं प्रायश्चित्तविवेके—अथैकाकिमिष्टान्नभक्षणप्रायश्चित्तम्; तत्र निन्दायां मनुः—'एकाकी मिष्टमश्नाति वञ्चयित्वा सुहृत्-सुतान्। दारान् भृत्यातिथींश्चैव तथा सम्बन्धिबान्धवान्। उत्सन्नपितृदेवेज्यः पशुघाती च यो वृथा। लालापनरके घोरे दुर्गन्धे पात्यते नरः॥' अत्र प्रायश्चित्तविशेषाश्रवणात् 'नैकाकी मिष्टान्नमश्नाति' इति श्रुतेराचारातिक्रमप्रायश्चित्तम्। वेदोदितानामित्यनेन मनुनोक्त एकाहोपवासः कार्य्यः, एतत् सकृत्, अभ्यासे तु द्वैगुण्यादिकमूहनीयम्' इति। सुप्तेषु निद्रितेषु जनेषु मध्ये, एको जनः, न जागृयात् न जागरितः तिष्ठेत्; सुप्तजनानां हि अपहृते सति कस्मिन्नपि वस्तुनि कारणान्तरेण मृते वा कस्मिंश्चित् जागृतः एव तदपराधारोपसम्भावनया यद्वा—निद्राणानाम्

तुमने भी अत्यन्त गर्हित कार्य किया है।' वह भी इस प्रकार अपने स्वामी के वचनों को सुनकर बिना सोंच-विचार कर कार्य करने के दोष को समझकर नेवले की मृत्यु पर अत्यन्त सन्तप्त हुई और उसे मार डालने के शोक से गला भरकर बहुत देर तक रोती रही। इसलिए हमलोग कहते हैं कि—'बिना सोंचे-विचारे कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए' इत्यादि।

मणिभद्र ने कहा—'यह सत्य है। यहाँ पर आपके द्वारा समीचीन उपदेश दिया गया है। इस समय अब हमें अपने घर जाने की अनुज्ञा प्रदान कीजिए।' तब धर्माधिकारियों ने कहा—तुम सत्य कहते हो, अच्छा अब तुम घर जा सकते हो किन्तु अकेले घर मत जाना। क्योंकि कहा भी गया है—

स्वादिष्ट वस्तु अकेले नहीं खानी चाहिए। सोने वालों के बीच अकेले नहीं जागना चाहिए। अकेले यात्रा नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार किसी विषय पर विचार अकेले नहीं करना चाहिए॥ ९५ ॥

अपि च--'अपि कापुरुषो मार्गे द्वितीयः क्षेमकारकः ।
कर्कटेन द्वितीयेन जीवितं परिरक्षितम् ॥ ९६ ॥

मणिभद्र आह--'कथमेतत् ? धर्माधिकारिणः प्रोचुः—

१४ : ब्राह्मणकर्कट-कथा

'कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने ब्रह्मदत्तनामा ब्राह्मणः प्रतिवसति स्म, स च प्रयोजनवशात् ग्रामे प्रस्थितः स्वमात्रा अभिहितः--'वत्स ! कथमेकाकी व्रजसि ? अन्विष्यतां कश्चित् द्वितीयः सहायः' । स आह--'अम्ब ! मा भैषीः, निरुपद्रवोऽयं मार्गः, कार्यवशात् एकाकी गमिष्यामि । अथ तस्य

उत्स्वप्नायमानतां विविधभीतिव्यञ्जकवाक्चेष्टादिभ्यः त्रस्तस्य जागृतः प्राणवियोगाद्यनिष्टशङ्कया इति भावः ; एक एकाकी, असहायः सन्नित्यर्थः, अध्वानं पन्थानं न गच्छेत् ; विपदि समुपस्थितायां साहाय्यप्राप्तेरसम्भवादिति भावः ; च किञ्च, एको जनः, अर्थान् प्रयोजनानि, प्रयोजनीयकार्य्याणि इत्यर्थः, न प्रचिन्तयेत् अपरेण सम्मन्त्र्य कार्य्यं कुर्य्यादित्यर्थः ; कदाचित् स्वस्य भ्रान्तिवशात् प्रकृतकार्य्यहानिसम्भावनयेति भावः, 'गन्तव्यं पञ्चभिः सार्द्धं मन्तव्यं पञ्चभिः सह' इत्यादि स्मरणात् ॥ ९५ ॥

ससहायकगमनस्य गुणं वर्णयिष्यन् दृष्टान्तमुपन्यस्तुमाह—अपीति । मार्गे पथि, कापुरुषोऽपि अक्षमोऽपि, द्वितीयः सहाय इत्यर्थः, तिष्ठति चेत् तदेति शेषः, क्षेमकारकः शुभकरः, भवेदिति शेषः ; तथा हि, द्वितीयेन सहायेन इत्यर्थः, कर्कटेन कुलीरेण, जीवितं, कस्यचित् पान्थस्येति शेषः, परिरक्षितं परित्रातं, सर्पात् इति भावः ॥ ९६ ॥

[१४]

(१) ग्रामे—कस्मिंश्चित् ग्रामान्तरे इत्यर्थः । स्वमात्रा—निजजनन्या । निरु-

---

अत्यन्त भीरु भी व्यक्ति मार्ग में कल्याणकारी हो जाता है, अतः उसे भी साथ ले लेना चाहिए, जैसे कर्कट के साथ में रहने के कारण कर्कट ने ब्राह्मण के जीवन की रक्षा की ॥ ९६ ॥

सुवर्णसिद्धि ने पूछा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

ब्रह्मदत्त ब्राह्मण बालक और केकड़े की कथा

किसी नगर में ब्रह्मदत्त नामक एक ब्राह्मण रहता था । एक दिन वह किसी कार्य से जब दूसरे ग्राम को जाने लगा तो उसकी माँ ने कहा—'बेटा ! अकेले क्यों जा रहे हो ? किसी को सहायता के लिए साथ ले लो ।' उसने उत्तर दिया—'माँ

तं निश्चयं ज्ञात्वा समीपस्थवाप्याः सकाशात् कर्कटमेकम् आदाय मात्रा अभिहितः—'वत्स ! अवश्यं यदि गन्तव्यं, तद् एष कर्कटोऽपि सहायः भवतु; तत् एनं गृहीत्वा गच्छ'। सोऽपि मातुर्वचनात् उभाभ्यां पाणिभ्यां तं सङ्गृह्य कर्पूरपुटिकामध्ये निधाय पात्रमध्ये संस्थाप्य च शीघ्रं प्रस्थितः।

अथ गच्छन् ग्रीष्मोष्मणा सन्तप्तः कश्चित् मार्गस्थं वृक्षम् आसाद्य तत्रैव प्रसुप्तः। अत्रान्तरे वृक्षकोटरात् निर्गत्य कृष्णसर्पस्तत्समीपम् आगतः, स च कर्पूरसुगन्धसहजप्रियत्वात् तं परित्यज्य वस्त्रं विदार्य्य अभ्यन्तर गतां कर्पूरपुटिकाम् अतिलौल्यात् अभक्षयत्। सोऽपि कर्कटः तत्रैव स्थितः सन् सर्पप्राणान् अपाहरत्। ततो ब्राह्मणः प्रबुद्धः पश्यति यत्, एको मृतः कृष्णसर्पो निजपार्श्वे कर्पूरपुटिकोपरि स्थितः तिष्ठति। तं दृष्ट्वा व्यचिन्तयत्—'कर्कटेन अयं हतः' इति प्रसन्नो भूत्वा अब्रवीत्—

पद्रवः—उपद्रवरहितः, शङ्काया अनास्पदम् इत्यर्थः। कर्कटं—कुलीरं, 'स्यात् कुलीरः कर्कटकः' इत्यमरः। कर्कटोऽपि—कर्कटः पुनः। कर्पूरपुटिकामध्ये—कर्पूराधारमध्ये इत्यर्थः।

(१) ग्रीष्मोष्मणा—निदाघतापेन। कर्पूरेति। कर्पूरस्य यः सुगन्धः—शोभन गन्धः, तस्मिन् सहजप्रियः—स्वाभाविकप्रीतिमान्, तस्य भावः तत्त्वात्। तं—ब्राह्मणम्। अतिलौल्यात्—अतिलोभात्।

मत डरो। इस मार्ग में कोई खतरा नहीं है, कुछ कार्य है जिससे अकेले जा रहा हूँ।' तदनन्तर माँ ने उसके जाने का निश्चय जान कर समीप की बावली से कर्कट लाकर देते हुए कहा—'बेटा यदि तुम्हें जाना आवश्यक ही है तो यह केकड़ा भी तुम्हारी सहायता करेगा। तुम इसे साथ लेकर जाओ।' फिर माँ की आज्ञा से उसने उस केकडे को दोनों हाथों से पकड़कर कपूर की डिबिया में उसे रख लिया। फिर उसे अपनी पोटली में रख कर शीघ्रता से चल पड़ा।

इस प्रकार यात्रा करते हुए वह ब्राह्मण, ग्रीष्मकाल की गर्मी से व्याकुल होकर मार्गस्थ एक वृक्ष के नीचे सो गया। इसी बीच पेड़ के खोखले से एक साँप निकल कर उस ब्राह्मण के समीप गया और ब्राह्मण के पास रखी हुई कपूर की डिबिया जीभ से चपलता वश खाने लगा। वह केकड़ा जो पहले से ही उस कपूर की डिबिया में रखा गया था, उसने शीघ्र ही साँप के प्राणों को ले लिया। ब्राह्मण जब उठा तो देखा कि समीप में कपूर की पोटली पर मरा हुआ काला साँप पड़ा है। उसे देख कर विचार करने लगा—निश्चय ही यह साँप इस केकड़े के द्वारा

भोः ! सत्यम् अभिहितं मम मात्रा यत्—'पुरुषेण कोऽपि सहायः कार्य्यः, एकाकिना गन्तव्यम् । अतो मया श्रद्धापूरितचेतसा तद्वचनम नुष्ठितं, तेनाहं कर्कटेन सर्पव्यापादनात् रक्षितः । अथवा साधु इद- मुच्यते—

क्षीणः स्रवति शरीरविवृद्धयै वर्द्धयति पयसां नाथम् ।
अन्ये विपदि सहाया धनिनां श्रियमनुभवन्त्यन्ये ।। ९७ ।।

श्रद्धापूरितचेतसा—गुरुजनादेशत्वात् सादरविश्वस्तमनसा । अनुष्ठितं— प्रति- पालितम् । तेन—मातृवचनानुष्ठानेन । सर्पव्यापादनात्—सर्पेण व्यापादनात्— मारणात्, सर्पकर्त्तृकदंशादित्यर्थः, कर्कटेन—कर्त्रा, अहं रक्षित इत्यन्वयः ; यद्वा — कर्कटेन सर्पस्य व्यापादनात्—हननात्, अहं रक्षितः, कर्कटेनेति पूर्वानुसङ्गः ।

सहायस्य प्रकर्षतां प्रतिपादयितुमाह—क्षीण इति । क्षीणः स्वल्पः, क्षुद्र इत्यर्थः, बिन्दुमितं जलमपीति भावः, कापुरुष इति ध्वनिः, शरीरविवृद्धयै शरीरस्य जलमय- देहस्येत्यर्थः, विवृद्धयै वर्द्धनाय, तडागादीनामीति भावः, स्रवति क्षरति, आकाशात् स्रुतः तत्र मिलतीत्यर्थः, तथा पयसां नाथं वारिधिं यथा तथा, सागरवदित्यर्थः, क्षुद्रं जलाशयमपि महान्तं जलाधारं कृत्वेति भावः ; रत्नाकरवत् धनवन्तमिति ध्वनिः ; वर्द्धयति वर्द्धयितुं शक्नोति, क्षुद्रोऽपि सहायश्चेत् क्षुद्रान्तरं महान्तं कर्त्तुं शक्नोति इति समुदितार्थः ; तथा हि—अन्ये अपरे, विपदि आपदि, सहायाः अनुकूलाः, भवन्ति चेदिति शेषः, तदा अन्ये सहाययुक्ता इत्यर्थः ; धनिनां धनवतां श्रियं सम्पदं, सौभाग्यमित्यर्थः, अनुभवन्ति भुञ्जते, धनवन्तो भवन्तीत्यर्थः ; यद्वा— शरीरविवृद्धयै शरीरस्य देहस्य, जलमयस्येति भावः वारिधेरिति शेषः, विवृद्धयै विशेषेण वर्द्धनाय, क्षीणः क्षयरोगयुक्तः, चन्द्र इत्यर्थः, 'चतुर्दश्यष्टमे यामे क्षीणो स्रवति चन्द्रमाः' इति स्मृतिः । क्षिधातोः कर्त्तरि क्त-प्रत्यये 'क्षीयो दीर्घात्' (पा०

मार डाला गया है । फिर प्रसन्न होकर बोला—भाई ! मेरी माता ने ठीक ही कहा था, कि पुरुष को अपना कोई न कोइ सहायक रखना चाहिए, अकेले यात्रा नहीं करनी चाहिए । यह टीक ही हुआ कि मैंने माँ की बात श्रद्धा पूर्ण हृदय से मान ली, जिससे इस केकडे ने सर्प के काटने से मुझे बचा लिया । अन्यथा यह ठीक ही कहा है—

चन्द्रमा क्षीण होकर जब सूर्य के रश्मियों से बढ़ जाता है तो समस्त लोकों को अमृत की वर्षा से आनन्दित करता है तथा समुद्र को बढ़ाता है । इसलिए ठीक ही कहा गया है कि धनिकों की विपत्ति में सहायता करने वाले दूसरे लोग होते हैं और उनको संपत्ति का उपभोग करने वाले अन्य लोग होते हैं ॥ ९७ ॥

मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ॥ ९८ ॥

सू० ८।२।४६) इति सूत्रेण निष्ठातस्य नकारः, 'निष्ठायामन्यदर्थे' (पा० सू० ६।४।६०) इति सूत्रेण दीर्घत्वं, 'ण्यदर्थः, भावकर्मणि ताभ्यामन्यत्र या निष्ठा तस्यां क्षियो दीर्घो भवति' इति काशिकोक्तेः भावे कर्मणि च क्षितमिति भवितव्यम्। चन्द्रस्य क्षयरोगवत्त्वे प्रमाणं यथा चरके—'रोहिण्यामतिसक्तस्य शरीरं नानुरक्षतः। आजगामाल्पतामिन्दोर्देहः स्नेहपरिक्षयात् ॥ दुहितॄणामसम्भोगात् शेषाणाञ्च प्रजापतेः। क्रोधो निश्वासरूपेण मूर्तिमान् निःसृतो मुखात् ॥ प्रजापतेर्हि दुहितृरष्टाविंशतिमंशुमान्। भार्य्यार्थं प्रतिजग्राह न च सर्वास्ववर्त्तत ॥ गुरुणा तमवध्यातं भार्य्यास्वसमवर्त्तिनम्। रजोऽन्धमबलं दीनं यक्ष्मा शशिनमाविशत् ॥ यस्मात् स राज्ञः प्रागासीत् राजयक्ष्मा ततो मतः ॥' इति चिकित्सितस्थाने अष्टमाध्याये २-९ सङ्ख्यकश्लोकाः। स्रवति क्षरति, किरणामृतं यदा वर्षतीत्यर्थः, समुद्र, पुष्टिसाधनार्थं सहायतां विदधातीति भावः; तदा पयसां नाथम् अपां पतिं, समुद्रमित्यर्थः, वर्द्धयति पूरयति, वर्द्धयितुं शक्नोतीत्यर्थः; चन्द्रोदये समुद्रस्य वृद्धिः लोकप्रसिद्धा एव; क्षीणस्यापि शशिनः सहायतामन्तरेण रत्नाकरस्यापि वृद्धिर्न सम्भवतीति भावः; एतदेव द्रढयति अन्ये इति। धनिनां धनवतामपि इत्यर्थः, विपदि आपदि उपस्थितायां सत्याम् इत्यर्थः, अन्ये अपरे, सहायाः अनुकूलाः, भवन्ति चेदिति शेषः, तदा अन्ये अपरे, ते धनिनः इत्यर्थः, श्रियं सम्पदम्, अनुभवन्ति भुञ्जते; सम्पदभिलाषिभिः सर्वैरेव ससहायैर्भवितव्यमिति भावः ॥ ९७ ॥

'यतो मया श्रद्धापूरितचेतसा' इत्यादिना चूर्णकेन यदुक्तं, तस्यैव समर्थनाय आह—मन्त्रे इति। मन्त्रे देवादीनां साधने, जप्ये इत्यर्थः, वेदविशेषे वा, ('मन्त्रो वेदविशेषे स्याद्देवादीनाञ्च साधने। गुह्यवादेऽपि च पुमान्—' इति मेदिनी) तीर्थे पुण्यक्षेत्रे, द्विजे ब्राह्मणे, देवे देवतायां, दैवज्ञे ज्योतिषिके, भेषजे औषधे, तथा गुरौ पूजार्हे पित्रादौ, यस्य जनस्य यादृशी यादृग्विधा, भावना चिन्ता, सा च ब्रह्म-कर्म-तदुभयभेदात् त्रिविधा, यथोक्तं विष्णुपुराणे—त्रिविधा भावना भूप! विश्वमेतन्निबोध मे। ब्रह्माख्या कर्मसंज्ञा च तथा चैवोभयात्मिका ॥' (६ अंशः ७ अ० ४८ श्लोकः) इति; तत्र सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दो० उप० ३ अ० १४ ख० १ मन्त्रः) इत्येवं भावना प्रथमा; 'सर्वं कर्मभयम्' इत्येवं द्वितीया भावना;

मन्त्र, तीर्थ, ब्राह्मण, देवता, ज्योतिषियों में एवं औषधियों तथा गुरु में मनुष्य को जैसी भावना होती है उसे उसी प्रकार का फल भी प्राप्त होता है ॥ ९८ ॥

एवमुक्त्वा असौ ब्राह्मणो यथाऽभिप्रेतं गतः। अतोऽस्माभिरुच्यते—'अपि कापुरुषो मार्ग' इत्यादि'।

सोऽपि मणिभद्रस्तेषामेतदुपदेशवचनमाकलय्य तामनुज्ञाय केनचित्

उक्तोभयात्मिका च तृतीया, तस्य तादृशी तादृग्विधा, सिद्धिः फलमिति यावत्, भवति; जप्तेनानेन मन्त्रेण अवश्यमेवाहं सिद्धकामो भविष्यामि, मन्त्रे चेत् साधकस्य एवं दृढविश्वासः, तदा अवश्यमेव तस्य फलसिद्धिर्जायते; अनेन मन्त्रेण सिद्धिर्भविष्यति न वा? किं वा भवति, इत्येवं सन्दिहानस्य फलसिद्धिर्न भवतीति भावः। शब्दस्य ब्रह्मस्वरूपत्वात् यस्तु 'मन्त्र एव ब्रह्म' इति विभावयन् मन्त्रं जपति, तस्य मन्त्रजपेन तेन पुण्योदयात् स्वर्गादिसिद्धिः ऐहिकसिद्धिर्वा भवति; यस्तु 'सर्वं कर्म' इत्यभिसन्धाय मन्त्रं जपति, तस्य कर्मसिद्धि स्यात्; यश्च 'ऐहिकसुखानन्तरं ब्रह्मप्राप्तिः' इति विभाव्य जपति, तस्य उभयसिद्धिः भवति; एवं 'तीर्थे ब्रह्म तिष्ठति, तद्दर्शने ब्रह्मदर्शनं भवति' इति भावनया यः तीर्थं याति, तस्य ब्रह्मसिद्धिः; श्रुतौ तीर्थगमनस्य सुखापादकत्वमाकर्ण्य तदुद्दिश्य यस्तीर्थं याति तस्य कर्मसिद्धिः; तीर्थदर्शने ब्रह्मदर्शनफलं सुखञ्च स्यादिति सञ्चिन्त्य यस्तीर्थं याति, तस्योभयसिद्धिर्भवतीति; एवमेव द्विजादावपि इति निष्कर्षः। 'एष कर्कटोऽपि ते सहायो भवतु' इति मातृवचसि श्रद्धावशात् क्षुद्रोऽपि अयं कर्कटः अवश्यमेव मां पथि विपदः रक्षितुं शक्ष्यति इति दृढप्रत्ययात् ब्राह्मणः पथि सहायेन कर्कटेन सर्पदंशनात् रक्षां प्राप्तवान् इति तात्पर्य्यम् ॥ ९८ ॥

(१) यथाऽभिप्रेतम्—अभिप्रेतम्—अभिलषितस्थानमनतिक्रम्येत्यर्थे, 'अव्ययं विभक्ति—'(पा० सू० २।१।६) इति यथार्थेऽव्ययीभावः; योग्यतावीप्सापदार्थानतिवृत्तिसादृश्यानि यथार्थाः' इति दीक्षितोक्तेः; यत् स्थानं प्रतिष्ठासोर्ब्राह्मणस्याभीप्सितमासीत् तत् स्थानमिति यावत्।

भुञ्जानः—सेवमानः, स्रक्चन्दनवनितादिविषयजातानामुपभोगकरणशील इत्यर्थः; 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' (पा० सू० ३।२।१२९) इति भुनक्तेः ताच्छील्ये

ऐसा कह कर वह ब्राह्मण जहाँ उसे जाना था चला गया। इस प्रकार कथा सुनाने के अनन्तर चक्रधर ने सुवर्णसिद्धि से कहा—'इसलिए मैं कहता हूँ कि यात्रा काल में साथ रहने वाला निर्बल भी प्राणी महान् उपकारी होता है।'

वह मणिभद्र भी उनके ये उपदेश वचन सुनकर उनकी आज्ञा लेकर किसी की सहायता से अपने घर की ओर लौट आया और सुख से भोगों को भोगते हुए

सहायेन स्वगृहं गत्वा सुखेन भोगं भुञ्जानश्चिरं तस्थौ ।

॥ इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रे अपरीक्षितकारकं
नाम पञ्चमं तन्त्रम् ॥ ५ ॥

॥ समाप्तमिदं पञ्चतन्त्रम् ॥

—*—

द्योत्ये कर्त्तरि चानश्-प्रत्यय इत्यवधेयम् ।

उच्चासने सदसि तिष्ठति हीनविद्ये
नीचासने स्थितवतां विदुषा न हानिः ।
वृक्षाग्रदेशमधितिष्ठति मर्कटोऽपि
सिंहादयो न विचरन्ति तदोरधः किम् ? ॥

॥ इति महाकवि प० रामकुबेरमालवीयात्मज डॉ० सुधाकरमालवीयकृतायां
पञ्चतन्त्रस्य 'ज्योत्स्ना'-व्याख्यायाम् अपरीक्षितकारकं नाम पञ्चमं तन्त्रम् ॥ ५ ॥

—*—

चिरकाल तक जीवित रहा ।

कृष्णरूपं परं विष्णुं नमस्कृत्य श्रियं तथा ।
भागीरथ्यास्तटे काश्यां लङ्काक्षेत्रे सुशोभने ॥ १ ॥
श्रीमद्रामकुबेरस्य मालवीयस्य सूनुना ।
सुधाकरेण रचिता व्याख्या हिन्दी सुसंगता ॥ २ ॥

॥ इस प्रकार पं० विष्णु शर्मा विरचित पञ्चतन्त्र के 'अपरीक्षितकारक' की
डॉ० सुधाकर मालवीयकृत 'मृदुला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ५ ॥

—*—

श्लोकानुक्रमणिका

——*——

श्लोकोक्तविषयाणाम् अनुक्रमणिका

य उपेक्षेत शत्रुं स्वं प्रसरन्तं यदृच्छया।
रोगं चाऽलस्यसंयुक्तः स शनैस्तेन हन्यते ॥ २ ॥

तथा च—

जातमात्रं न यः शत्रुं व्याधिञ्च प्रशमं नयेत्।
महाबलोऽपि तेनैव वृद्धिं प्राप्य स हन्यते ॥ ३ ॥

अथान्येद्युः स वायसराजः सर्वान्सचिवानाहूय प्रोवाच - भोः! उत्कट-स्तावदस्माकं शत्रुरुद्यमसम्पन्नश्च कालविच्च नित्यमेव निशागमे समेत्या-स्मत्पक्षकदनं करोति। तत्कथमस्य प्रतिविधातव्यम्? वयं तावद्रात्रौ न

शत्रावुपेक्षायां दोषमाह—य इति। यः आलस्यसंयुक्तः सन्, यदृच्छया स्वेच्छया, प्रसरन्तं वृद्धिं गच्छन्तं, स्वं स्वकीयं शत्रुं रिपुं, रोगञ्च व्याधिञ्च, उपेक्षेत हेलया न प्रतिकुर्य्यादिति भावः, सः शनैः क्रमेणेत्यर्थः, तेन शत्रुणा, रोगेण च, हन्यते विनाश्यते, अतः एतयोः प्रथमतः एव प्रतीकारः श्रेयान् इति भावः ॥ २ ॥

पूर्वोक्तमेव भङ्ग्यन्तरेणाह—जातमात्रमिति। यः जातमात्रं जातमेव, स्वरूपार्थे मात्रच्, उत्पत्तिमात्रेणैवेत्यर्थः, शत्रुं व्याधिञ्च प्रशमं शान्तिं, न नयेत् न प्रापयेत्, न प्रतिकुर्य्यात् इत्यर्थः, 'अतिपुष्टाङ्गयुक्तोऽपि स पश्चात् तेन हन्यते' इति पाठे सः अति पुष्टैः अतिबलैः, अतिस्थूलैश्च, अङ्गैः अमात्यादिभिः राज्याङ्गैः, हस्तपदादिभिश्च, युक्तोऽपि पश्चात् अनन्तरं, तेन शत्रुणा, व्याधिना च, हन्यते, उपेक्षितो व्याधिः शत्रुश्च विनाशनकारणं सर्वेषाम्, अतः समूलघातं हन्तव्यः इति भावः ॥ ३ ॥

(१) उत्कटः—दारुणः, प्रबल इत्यर्थः। उद्यमसम्पन्नः—समुत्साहान्वितः। अस्मत्पक्षकदनम्—अस्माकं पक्षीयप्राणिविनाशम्। प्रतिविधानं—प्रतीकारः।

को कौवों से रहित कर दिया। अथवा ऐसा होता ही है। कहा भी गया है—

जो मनुष्य आलस्य के वशीभूत होकर अपनी इच्छानुसार बढ़ते हुए शत्रु तथा रोग की ओर ध्यान नहीं देता वह धीरे-धीरे उनसे (शत्रु या रोग से) मारा जाता है ॥ २ ॥

और भी—जो व्यक्ति उत्पन्न होते ही शत्रु और रोग को नष्ट नहीं कर देता है, वह महा बलवान् होते हुए भी बढ़े हुए शत्रु या रोग से मारा जाता है ॥ ३ ॥

इसके बाद एक दिन कौवों के राजा ने सभी मन्त्रियों को बुला कर कहा—हमलोगों का शत्रु बलवान्, उद्यमी तथा समय का ज्ञाता है। वह नित्य रात्रि में आकर हमारे पक्ष के लोगों को मारता है। इसका प्रतीकार कैसे करना चाहिए?

पश्यामः, न च दिवा दुर्गं विजानीमो येन गत्वा प्रहरामः। तदत्र किं युज्यते सन्धि विग्रह-यानासन-संश्रय द्वैधीभावानां मध्यात्। अथ ते प्रोचुः—युक्तमभिहितं देवेन, यदेष प्रश्नः कृतः। उक्तञ्च—

अपृष्टेनापि वक्तव्यं सचिवेनात्र किञ्चन।
पृष्टेन त्वरितं वाच्यं पथ्यञ्च प्रियमप्रियम्॥ ४॥
यो न पृष्टो हितं ब्रूते परिणामे सुखावहम्।
मन्त्री च प्रियवक्ता च केवल स रिपुः स्मृतः॥ ५॥

दिवा—दिवसे, अव्ययमेतत्।

राज्ञः सचिवेषु जिज्ञासायां औचित्यमाह—अपृष्टेनेति। अत्र संसारे, सचिवेन अमात्येन, अपृष्टेन अजिज्ञासितेन, अननुयुक्तेन सता इत्यर्थः, किञ्च किमपि, न तु नैव वक्तव्यम्, 'नापृष्टः कस्यचित् ब्रूयात्' इति स्मरणात्, पृष्टेन तु, अमात्येन इति शेषः, त्वरितं शीघ्रं, 'तु ऋतं' इति पाठे ऋतं सत्यं, पथ्यं हितं, प्रियं प्रीतिकरम्, अप्रियञ्च अप्रियमपि, वाच्यं वक्तव्यम्, अत इदानीं कथनावसरोऽस्माकमिति भावः॥ ४॥

पृष्टस्यापि सचिवस्य हितानुपदेशे दोषमाह—य इति। यः पृष्टः सन्, अपीति शेषः, परिणामे उत्तरकाले, सुखावहं सुखकरं, हितम्, अप्रियमपीति भावः, न ब्रूते न कथयति, नोपदिशति इत्यर्थः, स मन्त्री, प्रियवक्ता च प्रियवक्ता वा, यदेव भवतु इति शेषः, केवलं रिपुः शत्रुः, स्मृतः, यद्वा—यः सुमन्त्री पृष्टः सन्नपि परिणामे सुखावहं हितं न ब्रूते, केवलं प्रियवक्ता च प्रियवादी एव, न तु अप्रियसत्यस्य वक्ता इति भावः, सः रिपुः स्मृतः, पयोमुखविषकुम्भवत् स वर्जनीय एव इति भावः॥ ५॥

रात में हम लोग उसे देख नहीं सकते और उसके किले को भी नहीं जानते ताकि दिन में वहाँ जाकर उसे मारें। इसलिए सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव के बीच कौन सी नीति उपयोगी होगी? उस सबों ने कहा—हे देव, आपने जो यह प्रश्न किया वह बहुत उचित कहा है। कहा भी गया है—

इस परिस्थिति में मन्त्री को बिना कुछ पूँछे ही कहना चाहिए तथा पूँछने पर तो तत्काल ही हित की बात कह देनी चाहिए, चाहे वह प्रिय लगने वाली हो या अप्रिय लगने वाली हो॥ ४॥

जो पूँछने पर भी अन्त में सुख देने वाली हित की बात नहीं कहता वह मन्त्री और प्रियवादी शत्रु होता है॥ ५॥

तस्मादेकान्तमासाद्य कार्यो मन्त्रो महीपतेः ।
येन तस्य वयं कुर्मो नियमं कारणं तथा ॥ ६ ॥

अथ स मेघवर्णोऽन्वयागतोज्जीवि सञ्जीवि-अनुजीवि प्रजीवि-चिरञ्जीविनाम्नः पञ्चसचिवान्प्रत्येकं प्रष्टुमारब्धः । तत्रैतेषामादौ तावदुज्जीविनं पृष्टवान्—'भद्र ! एवं स्थिते किं मन्यते भवान् ?' स आह—'राजन् ! बलवता सह विग्रहो न कार्यः । यतः स बलवान्कालप्रहर्ता च तस्मात्संधेयः । उक्तञ्च—

बलीयसे प्रणमतां काले प्रहरतामपि ।
सम्पदो नापगच्छन्ति प्रतीपमिव निम्नगाः ॥ ७ ॥

मन्त्रणायाः करणीयतामाह—तस्मादिति । तस्मात् हितकथनौचित्यात्, एकान्तं निर्जनदेशम्, आसाद्य प्राप्य, गत्वा इत्यर्थः, महीपतेः राज्ञः, वायसराजस्येति भावः, मन्त्रः कार्य्यः, मन्त्रिभिरिति शेषः, येन मन्त्रेण, वयं तस्य राज्ञः, निर्णयं निर्द्धारणं, सन्धि-विग्रहादीनामिति शेषः, तथा कारणं हेतुञ्च, कथं स ईदृशमाचरति तस्य हेतु-निर्द्धारणञ्चेत्यर्थः, यद्वा—कारणं—करणम्, अनुष्ठानमित्यर्थः, निर्णीतविषयस्येति भावः, 'कारणं करणे हेतुवधयोश्च नपुंसकम्' इति मेदिनी, कुर्मः विदधीम इत्यर्थः, प्रकाशेन मन्त्रभङ्गभयात् एकान्ते एव मन्त्रणविधिः कार्य्य इति भावः ॥ ६ ॥

(१) अन्वयेति । अन्वयागतान्—कुलक्रमागतान्, उज्जीव्यादिसंज्ञाकान् । सचिवान्—मन्त्रिणः । स्थिते—उपस्थिते । मन्यते—कर्त्तव्यत्वेनावधारयतीत्यर्थः ।

(२) विग्रहः—युद्धमित्यर्थः, 'युद्धमायोधनं... । ...कलहविग्रहौ' इत्यमरः । कालप्रहर्त्ता—समयानुसारेणागत्य प्रहारकः, रन्ध्रप्रहर्ता इत्यर्थः ।

देशकालानुसारेण सन्धिविग्रहयोरुपकारितामाह--बलीयसे इति । बलीयसे

अतः हे राजन् ! एकान्त में चलकर विचार करना चाहिए जिससे हम लोग उसका (शत्रुता का) कारण जान सकें तथा उसका निग्रह कर सकें ॥ ६ ॥

इसके बाद उस मेघवर्ण ने उज्जीवी, संजीवि, अनुजीवि, प्रजीवि और चिरंजीवि नाम के कुलक्रमागत पाँच मन्त्रियों में से प्रत्येक से पूँछना प्रारम्भ किया । पहिले उनमें से उज्जीवि से पूँछा—भद्र, ऐसी स्थिति में आप क्या मानते हैं (कौन सी नीति उचित समझते हैं) ? उसने कहा—हे राजन् ! बलवान् के साथ विग्रह (युद्ध) नहीं करना चाहिए । वह बलवान् और समय पर चोट पहुँचाने वाला है । अतः उसके साथ सन्धि करनी चाहिए । कहा भी गया है—

जो बलवान् शत्रु के सामने झुक जाते हैं और समय पाकर उस पर प्रहार कर

सत्याढ्यो धार्मिकश्चार्यो भ्रातृसङ्घातवान् बली ।
अनेकविजयी चैव सन्धेयः स रिपुर्भवेत् ॥ ८ ॥
सन्धिः कार्योऽप्यनार्येण विज्ञाय प्राणसंशयम् ।
प्राणैः संरक्षितैः सर्वं यतो भवति रक्षितम् ॥ ९ ॥

येन योऽनेकयुद्धविजयी स, तेन विशेषात्सन्धेयः । उक्तञ्च—

प्रबलाय, प्रणमतां बलवन्तं रिपुं प्रणत्या प्रसादयताम् इत्यर्थः, अपि किञ्च, काले समयोपस्थिते, प्रहरतां रन्ध्रं प्राप्य तमपि घ्नताम् इत्यर्थः, जनानामिति शेषः, सम्पदः वित्तानि, निम्नगाः निम्नवाहिन्यः नद्यः, प्रतीपं प्रतिकूलमिव, ऊर्ध्वदेशमिवेत्यर्थः, प्रतीपं प्रतिकूलं, शत्रुपक्षमित्यर्थः, न अपगच्छन्ति नापयान्तीत्यर्थः, शत्रुहस्तगता भूत्वा न विनश्यन्तीति भावः, निम्नगा यथा नीचगामित्वस्वभावात् जात्वपि नोर्ध्वं प्रवहन्ति, तद्वत् चञ्चला अपि सम्पदः अवसरज्ञत्वादिगुणसम्पन्नान् दुर्बलानपि स्वस्वामिनः परित्यज्य न प्रबलान् आश्रयन्ति इति निष्कर्षः ॥ ७ ॥

के सन्धेयाः इत्याह—सत्याढ्य इति । सत्याढ्यः सत्यसन्धः, धार्मिकः धर्मपरः, आर्य्यः साधुः, भ्रातृसङ्घातवान् बहुभ्रातृपरिवृतः, बली प्रबलः, अनेकविजयी बहुसङ्ग्रामजेता, च रिपुः शत्रुः, सन्त्याज्यः इति पाठे परिहरणीयः, न तेन विग्रहः कर्त्तव्यः, दुर्जेयत्वादिति भावः, स सन्धेय एव सन्धिना सन्तोषणीय एव इत्यर्थः, भवेत् ॥ ८ ॥

सन्दिग्धविजये कर्त्तव्यमाह—सन्धिरिति । प्राणानां संशयं प्राणास्तिष्ठन्ति न वा इत्येवं सन्देहं, विज्ञाय अनार्य्येण दुर्जनेनापि, सन्धिः कार्य्यः, जनैरिति शेषः, यदि दुर्जनेन सह विग्रहे प्राणसंशयो बुध्यते, तदा तेनापि सन्धिं कुर्यात् इत्यर्थः, यतः प्राणैः संरक्षितैः सद्भिः, सर्वं रक्षितं भवति, 'जीवन्नरो भद्रशतानि पश्यति' इत्याशयः, लोके शत्रुत्वबन्धुत्वयोः जीवितपर्य्यन्तपर्य्यवस्थायित्वादिति भावः ॥ ९ ॥

(१) येन—येन हेतुना । सः—उलूकराजः । सन्दधनीयः—सन्धेयः, सम्पूर्वकात् भ्वादिगणीयदधधातोरनीयर् ।

बैठते हैं, उनकी सम्पत्ति उन्हें छोड़कर नहीं जाती; जैसे नदी की धारा कभी उलट कर नहीं बहती है ॥ ७ ॥

सत्य का धनी, धार्मिक, सज्जन, अनेक भाइयों वाला एवं प्रबल तथा अनेक युद्धों में विजयी यदि शत्रु बन जाय तो वह सन्धि के योग्य होता है ॥ ८ ॥

प्राण-नाश की शंका उपस्थित हो जाने पर दुष्ट के साथ भी सन्धि कर लेनी चाहिए, क्योंकि प्राण-रक्षा से ही सबकी रक्षा हो जाती है ॥ ९ ॥

जो अनेक युद्धों का विजयी है वह तो विशेषरूप से सन्धि के योग्य होता है ।

अनेकयुद्धविजयी सन्धानं यस्य गच्छति ।
तत्प्रभावेण तस्याशु वशं गच्छन्त्यरातयः ।। १० ।।

सन्धिमिच्छेत्समेनापि सन्दिग्धो विजयो युधि ।
न हि सांशयिकं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः ।। ११ ।।

सन्दिग्धो विजयो युद्धे जनानामिह युद्धयताम् ।
उपायत्रितयादूर्ध्वं तस्माद् युद्धं समाचरेत् ।। १२ ।।

बलवता सह सन्धानस्य गुणमाह—अनेकेति । अनेकयुद्धविजयी बहुसङ्ग्रामजेता, नृपतिः इति शेषः, यस्य सन्धानं सन्धिना मित्रभावमित्यर्थः, गच्छति प्राप्नोति, येन संहितः भवति इत्यर्थः, तस्य अरातयः शत्रवः, तस्य संहितस्य, अनेकयुद्धजयिनः इत्यर्थः, प्रभावेण प्रतापेन, आशु शीघ्रं, वशं गच्छन्ति वश्या भवन्ति ।। १० ।।

पुनरपि विजयसंशये कार्य्यमुपदिशति—सन्धिमिति । यदि युधि युद्धे, विजयः संदिग्धः संशयापन्नः, भवेदिति शेषः, तदा समेन तुल्यबलेनापि, सन्धिम् इच्छेत्, सांशयिकं सन्देहसङ्कुलं, सन्दिग्धफलकमिति यावत्, किमपि कार्य्यमिति शेषः, न हि कुर्य्यात् इति बृहस्पतिः उवाच ।। ११ ।।

सहसा विग्रहस्याकर्त्तव्यतामाह—सन्दिग्ध इति । इह संसारे, युध्यतां सङ्ग्रामं कुर्वतां, यद्यपि युधधातोः दैवादिकस्य आत्मनेपदित्वात् 'युध्यताम्' इत्यत्र 'युध्यमानानाम्' इत्येव साधु, तथापि वामनमते—आत्मनः युधमिच्छतामित्यर्थे 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा०सू० ३।१।८) इति क्यचि शतरि कृते 'युध्यताम्' इति पदं भवितुमर्हति, तथा च सूत्रं 'युध्येदिति युधः क्यचि' (पा० सू० ५.२.२८) जनानां युद्धे विजयः सन्दिग्धः सन्देहपूर्णः, तस्मात् उपायानां सामदानभेदानां, त्रितयात् ऊर्ध्वं पश्चादित्यर्थः, सामादिभिः कार्य्यस्य असिद्धौ इति भावः, युद्धं समाचरेत् कुर्य्यात्, तथा च युद्धे विजयसन्देहात् प्रथमतः सामाद्युपाय एव अनुष्ठेयः, विफलीभूतेषु च तेषु

कहा भी गया है—

अनेक युद्धों में विजयी राजा से जो सन्धि कर लेता है उसके शत्रु (विजयी राजा के) प्रभाव से शीघ्र ही वश में हो जाते हैं ।। १० ।।

युद्ध में विजय की प्राप्ति सन्देहास्पद होती है अर्थात् विजय का होना निश्चित नहीं होता है । अतः समान बल वाले शत्रु से भी सन्धि कर लेनी चाहिए क्योंकि बृहस्पति ने कहा है कि 'सन्देहयुक्त कार्य नहीं करना चाहिए' ।। ११ ।।

इस संसार में युद्ध करने वाले व्यक्तियों का युद्ध में विजय पाना सन्दिग्ध होता है । इसलिए साम, दाम, तथा भेद नाम की तीन नीतियों के बाद ही युद्ध नीति

असन्दधानो मानान्धः समेनापि हतो भृशम् ।
आमकुम्भ इवान्येन करोत्युभयसंक्षयम् ॥ १३ ॥
समं शक्तिमता युद्धमशक्तस्य हि मृत्यवे ।
दृषत्कुम्भं यथा भित्वा तावत्तिष्ठति शक्तिमान् ॥ १४ ॥

पश्चात् युद्धम् आश्रयणीयम् इति तात्पर्यम् ॥ १२ ॥

पूर्वं समेनापि सन्धिः कार्यः इत्युक्तम्, इदानीं तदकरणे दोषमाह—असन्दधान इति । यः समबल इत्यर्थः, मानान्धः गर्वात् अन्धः, 'गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारो मानश्चित्तसमुन्नतिः' इत्यमरः, अहं समेन जनेन सह सन्धिं न करिष्यामीत्यभिमानादिति भावः, समेनापि समबलेनापि, का कथा प्रबलेन इत्यपिशब्दार्थः, असन्दधानः सन्धिमकुर्वन्, तिष्ठतीति शेषः, अत्र स इति कर्त्तृपदमूहनीयं, सः अन्येन समबलेन अन्येन रिपुणेत्यर्थः, भृशम् अत्यर्थं, हतः ताडितः सन्, आमकुम्भ इव अपक्वघट इव, उभयसङ्क्षयम् आत्मनः रिपोश्च द्वयोरपि नाशं, करोति विदधाति, समेन सह विग्रहे मृन्मयघटयोरिव स्वस्य परस्य च उभयोरपि नाशस्यावश्यम्भावित्वात् समेनापि सन्धिः करणीयः, न तु विग्रह इति फलितार्थः ॥ १३ ॥

बलवद्विग्रहस्य दोषमाह—सममिति । अशक्तस्य अक्षमस्य, दुर्बलस्य इत्यर्थः, नृपतेरिति शेषः, शक्तिमता प्रबलेन, रिपुणेति शेषः, समं सह, युद्धं सङ्ग्रामः मृत्यवे हि निधनकारणमेव इत्यर्थः, भवतीति शेषः, शक्तिमान् जनः, दृशत् पाषाणः, कुम्भं यथा मृन्मयं कलसमिवेति यावत्, भित्वा निहत्य, दुर्बलमिति शेषः, तिष्ठति तावत् स्थितिं करोत्येव, 'यावत्तावच्च साकल्ये एवार्थे च समुच्चये' इति मेदिनी, पाषाणो यथा मृण्मयं कलशं विनाश्य स्वयमभग्न एव तिष्ठति, एवं शक्तिमान् रिपुरपि दुर्बलं प्रतिपक्षं विजित्य स्वयमक्षतशरीर एव वर्त्तते इति निष्कर्षः ॥ १४ ॥

अपनानी चाहिए ॥ १२ ॥

(अपने बल के) अभिमान में अन्धा बना हुआ जो राजा दूसरे से सन्धि नहीं करता वह समान बल वाले शत्रु से भी अत्यन्त प्रताड़ित होकर दोनों का (अपना और शत्रु का) नाश उसी प्रकार कर लेता है जैसे दो कच्चे घडे टकराकर एक दूसरे का नाश कर बैठते हैं ॥ १३ ॥

शक्तिशाली के साथ शक्तिहीन का युद्ध उसकी मृत्यु का ही कारण बनता है। जैसे पत्थर घड़े को फोड़कर स्वयं जैसे का तैसा बना रहता है, उसी प्रकार शक्तिशाली निर्बल का विनाश करके स्वयं बचा रह जाता है ॥ १४ ॥

अन्यच्च—

भूमिर्मित्रं हिरण्यं वा विग्रहस्य फलत्रयम् ।
नास्त्येकमपि यद्येषां विग्रह न समाचरेत् ॥ १५ ॥

खनन्नाखुबिल सिंहः पाषाणशकलाकुलम् ।
प्राप्नोति नखभङ्गं हि फल वा मूषको भवेत् ॥ १६ ॥

तस्मान्न स्यात्फलं यत्र दृष्ट युद्ध तु केवलम् ।
न हि तत्स्वयमुत्पाद्य कर्तव्यं न कथञ्चन ॥ १७ ॥

लाभालाभौ विचार्य युद्धं कर्त्तव्यमित्याह—भूमिरिति। भूमिः राज्यं, मित्रं सुहृत, हिरण्यं सुवर्ण वा, रत्नाद्युपलक्षणमेतत्, एतत् विग्रहस्य सङ्ग्रामस्य, फलत्रयम् एषां त्रयाणामन्यतम एव लाभ इत्यर्थः, एषां त्रयाणां प्राप्त्यर्थमेव जिगीषवः युद्धे प्रवर्त्तन्ते इति भावः, यदि एषां भूम्यादीनाम्, एकमपि नास्ति न लभ्यं भवतीत्यर्थः, तदा विग्रहं युद्धं, न समाचरेत् न कुर्यादित्यर्थः, प्रयोजनमुद्दिश्यैव सर्वेषां सर्वत्र प्रवर्त्तनादिति भावः ॥ १५ ॥

खनन्निति। सिंहः पाषाणशकलैः प्रस्तरखण्डैः, अतितुच्छैरिति भावः, आकुलं पूर्णम्, आखोः मूषिकस्य, 'उन्दुरुर्मूषिकोऽप्याखुः' इत्यमरः, बिलं गर्त्त, खनन् विदारयन् सन्, नखानां भङ्गं वा प्राप्नोति, वा अथवा, मूषकः मूषिकप्राप्तिमात्र-मित्यर्थः, फलं भवेत्, तस्येति शेषः। अतिसामान्यलाभाकाङ्क्षया, सामान्यस्यापि कदाचित् लाभविरहसम्भावनायां महान् प्रयत्नो न आश्रयणीय इति भावः, 'अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभाति मे त्वम्' इति तात्पर्यम् ॥ १६ ॥

तस्मादिति। तस्मात् यत्र यस्मिन् कार्ये, फलं लाभः भूम्यादिषु त्रिषु कस्यापि वस्तुनः प्राप्तिः इत्यर्थः, 'फलं जातीफले शस्ये हेतूत्थे व्युष्टिलाभयोः' इति मेदिनी। न दृष्टं न लक्षितं, स्यात्, तु किन्तु, केवलं निरर्थकमित्यर्थः, युद्धं विरोधः, भवेदिति

और भी—भूमि अर्थात् राज्य (की प्राप्ति या रक्षा), मित्र (की प्राप्ति या रक्षा) और धन (की प्राप्ति या रक्षा)—यही तीन युद्ध के फल होते हैं। यदि इनमें से एक भी फल न हो तो युद्ध नहीं करना चाहिए ॥ १५ ॥

यदि सिंह पत्थर के टुकड़ों से भरे हुए चूहे की बिल को खोदे तो (इस प्रयत्न में) उसके नाखून टूट जायँगे और यदि कोई फल भी मिले तो केवल एक चूहा प्राप्त होगा ॥ १६ ॥

अतः जहाँ (जिस युद्ध में) कोई फल न हो अर्थात् कोई लाभ न हो, केवल युद्ध ही युद्ध हो, उसको स्वयं अपनी ओर से कभी भी प्रारम्भ नहीं करना चाहिए (यदि

बलीयसा समाक्रान्तो वैतसीं वृत्तिमाश्रयेत्।
वाञ्छन्नभ्रंशिनीं लक्ष्मीं न भौजङ्गीं कदाचन।। १८ ।।
कुर्वन् हि वैतसीं वृत्तिं प्राप्नोति महतीं श्रियम्।
भुजङ्गवृत्तिमापन्नो वधमर्हति केवलम्।। १९ ।।
कौर्मं सङ्कोचमास्थाय प्रहारानपि मर्षयेत्।
काले काले च मतिमानुत्तिष्ठेत्कृष्णसर्पवत्।। २० ।।

शेषः, तत् कार्यं, स्वयं न समुत्पाद्यं न उत्थापनीयं, स्वचेष्टया न पुनः तादृशं कार्यं विधेयमित्यर्थः, कथञ्चन न कर्त्तव्यञ्च अन्येन समुत्पादितमपि तादृशं कार्यं सर्वथा वर्जनीयमिति भावः।। १७ ।।

बलीयसेति। अभ्रंशिनीम्, अक्षयां, लक्ष्मीं सम्पदं, वाञ्छन् अभिलषन्, जनः इति शेषः, बलीयसा प्रबलेन शत्रुणा, समाक्रान्तः अभिभूतः सन्, वैतसीं वृत्तिं वेतस-लतावत् व्यवहारं, नम्रतामिति भावः, आश्रयेत् आचरेत्, कदाचन कदापि, भौजङ्गीं सर्पसम्बन्धिनीं, शिरःसमुत्थापनरूपामिति यावत्, दुर्गमत्वरूपामिति भावः, वृत्ति-मित्यनुषङ्गः, न आचरेत् इति पूर्वानुषङ्गः, तथा कृते पतनस्यावश्यम्भावित्वादिति भावः।। १८ ।।

कुर्वन्निति। वैतसीं वेतससम्बन्धिनीं, वृत्तिम् आनुगत्यमिति भावः, कुर्वन् आश्रयन्, महतीं श्रियं विपुलां सम्पदं, प्राप्नोति हि, भुजङ्गवृत्तिम् अनम्रव्यवहारम्, आपन्नस्तु केवलं वधं विनाशम्, अर्हति विनश्यतीत्यर्थः।। १९ ।।

कौर्ममिति। मतिमान् बुद्धिमान् जनः, कूर्मस्यायं कौर्मः तं कौर्मं कूर्मसम्बन्धिनं सङ्कोचम् आकुञ्चनभावं, प्रतिप्रहारचेष्टां विसृज्य करपदाद्यङ्गसङ्गोपनरूपमिति भावः, आस्थाय अवलम्ब्य, प्रहारानपि मर्षयेत् सहेत, तथा काले काले सुसमयं

दूसरे भी प्रारम्भ करें तो उससे बचना चाहिए)।। १७ ।।

स्थिर लक्ष्मी की अभिलाषा रखने वाले को बलवान् शत्रु से आक्रान्त हो जाने पर वैतसीवृत्ति (बेंत तेज हवा चलने पर हवा की गति की ओर झुक जाता है जिससे टूटने से बच जाता है) ग्रहण करनी चाहिए, सर्पवृत्ति (साँप वायु की गति के प्रति-कूल फन फैलाकर खड़ा हो जाता है) नहीं ग्रहण करनी चाहिए।। १८ ।।

मनुष्य वैतसीवृत्ति (विनम्रता) का आचरण करते हुए बहुत बड़ी सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है किन्तु सर्पवृत्ति (उद्दण्डता) का व्यवहार करते हुए केवल मृत्यु को प्राप्त होता है।। १९ ।।

बुद्धिमान् मनुष्य को कछुवे की तरह अपने अङ्गों का संकोच करके होने वाले

आगतं विग्रहं दृष्ट्वा सुसाम्ना प्रशमं नयेत् ।
विजयस्य ह्यनित्यत्वाद्रभसा न समुत्पतेत् ॥ २१ ॥

बलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम् ।
प्रतिवातं न हि घनः कदाचिदुपसर्पति ॥ २२ ॥

प्राप्येति भावः, कृष्णसर्पवत् कालभुजङ्ग इव, उत्तिष्ठेत् शत्रून् दशेदिति भावः, तथा च बलवता सह विरोधे कदाचित् कूर्मवृत्तिः, कदाचिच्च भुजङ्गवृत्तिः आश्रयणीया इत्यभिप्रायः। 'उत्तिष्ठेत्' इत्यत्र 'उदोऽनूर्द्ध्वकर्मणि' (पा०सू० १।३।२४) इति सूत्रेण अनूर्द्ध्वताविशिष्टक्रियावचनार्थकत्वाभावप्रतीतेः नात्मनेपदमिति विभाव्यम् ॥ २० ॥

आगतमिति। विग्रहं युद्धम्, आगतम् उपस्थितम्, मत्वा सुसाम्ना 'सुसामादिषु च' (पा. सू. ८।३।९८) इत्यत्र उदाहरणद्वारा बहुव्रीहावेव षत्वदर्शनात् अत्र न मूर्द्धन्य-षकारः शोभनेन सान्त्वेन, समप्रयोगेणेत्यर्थः, प्रशमं प्रकृष्टां शान्तिं नयेत् प्रापयेत्, विजयस्य अनित्यत्वात्, कादाचित्कत्वादिति भावः, रभसा न समुत्पतेत्, 'रभसञ्च समुत्सृजेत्' इति पाठे रभसं वेगञ्च, युद्धोद्योगमित्यर्थः, समुत्सृजेत् हि त्यजेदेव, बुद्धिमान् जन इति शेषः, तत्र च पराजयस्यापि सम्भवादिति भावः ॥ २१ ॥

बलिनेति। बलिना बलवता, सह योद्धव्यम् इति अत्र निदर्शनं दृष्टान्तः, न अस्ति न विद्यते, अन्वयेन इति शेषः। यद्यपि अन्वयदृष्टान्तश्चात्र न सुलभः, तथाऽपि व्यतिरेकदृष्टान्तस्य यन्नैवं तन्नैवमित्याद्याकारकस्य सर्वत्र सुलभतया वैधर्म्येण तमेवो-त्थापयति, प्रतिवातमित्यादिना। हि तथा हि, घनः मेघः, प्रतिवातं वातस्य प्राति-कूल्येनेति भावः, कदाचित् न उपसर्पति न उद्गच्छति, वातस्य प्रबलत्वादिति भावः ॥ २२ ॥

प्रहारों को सहन कर लेना चाहिए और समय समय पर अवसर पाकर काले सर्प के समान फन फैलाकर उठ खड़ा होना चाहिए ॥ २० ॥

युद्ध को सामने आया हुआ देखकर साम नीति का प्रयोग करके उसे शान्त करने का उपाय करना चाहिए। युद्ध में विजय अनिश्चित होती है इसलिए शीघ्रता के साथ युद्ध में कूद नहीं पड़ना चाहिए ॥ २१ ॥

नीतिशास्त्र में ऐसा कोई उदाहरण नहीं दिया गया है कि अपने बलवान् शत्रु के साथ युद्ध करना चाहिए। बादल कभी भी वायु की गति के प्रतिकूल दिशा में नहीं चलता है ॥ २२ ॥

एवमुज्जीवी साममन्त्रं सन्धिकारक विज्ञप्तवान्। अथ तच्छ्रुत्वा सञ्जीविनमाह — भद्र — 'तवाभिप्रायमपि श्रोतुमिच्छामि।' स आह— 'देव! न ममैतत्प्रतिभाति यच्छत्रुणा सह संधानं क्रियते। उक्तञ्च यतः —

शत्रुणा न हि सन्दध्यात्सुश्लिष्टेनापि सन्धिना।
सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव पावकम्॥ २३॥

अपरं च; स क्रूरोऽत्यन्तलुब्धो धर्मरहितः। तत्त्वया विशेषान्न सन्धेयः। उक्तञ्च—

सत्यधर्मविहीनेन न सन्दध्यात्कथञ्चन।
सुसन्धितोऽप्यसाधुत्वादचिराद्याति विक्रियाम्॥ २४॥

---

(१) उज्जीवी—तदाख्यमन्त्री। साममन्त्रं—साम्नः मन्त्रम्। सन्धिकारकं—सन्धिकरणोपयोगिनमित्यर्थः। क्लृप्तवान्—रचितवान्, वर्णयामासेत्यर्थः।

(२) एतत्—साम इत्यर्थः, न प्रतिभाति—न स्फुरति, न रोचते इति भावः।

शत्रुणेति। सुश्लिष्टेनापि सुघटितेनापि, सन्धिना षड्गुणान्तर्गतसन्ध्याख्यगुणेनेत्यर्थः, शत्रुणा सह न हि नैव सन्दद्ध्यात् सम्मेलनं कुर्यादित्यर्थः, जनः इति शेषः, पूर्ववैरप्रतिविधानाऽऽशङ्कया इति भावः, पानीयं जलं, सुतप्तम् अत्युष्णमपि, शैत्यगुणत्यागेन उष्णगुणमाश्रितमपीति भावः, पावकम् अग्नि, शमयत्येव निर्वापयत्येव, सहजवैरित्वादिति भावः, पानीयं पावकस्य शत्रुः, तत्तु पावकेन नितरामनुप्रवेशेन उष्णीकृतमपि समयं प्राप्य यथा तमेवाग्निं नाशयति, तथा कृतसन्धि पूर्वशत्रुरपीति तात्पर्यम्॥ २३॥

सत्येति। सत्यधर्मविहीनेन सत्यपालनरूपधर्मभ्रष्टेन, कपटाऽऽचरणपरेण इत्यर्थः,

---

इस प्रकार उज्जीवि ने सन्धि कराने वाली साम नीति का विचार प्रकट किया, अर्थात् सन्धि करने की सलाह दी। यह सुनकर मेघवर्ण ने सञ्जीवी से कहा—भद्र, मैं (इस विषय में) तुम्हारे विचारों को भी सुनना चाहता हूँ। उसने कहा—देव, मुझे अच्छा नहीं लगता कि शत्रु के साथ सन्धि की जाय। क्योंकि कहा भी गया है—

सन्धि के द्वारा भलीभाँति मिलाए गए शत्रु के साथ भी अधिक मेल-मिलाप नहीं करना चाहिए। पानी अत्यन्त गर्म होने पर भी आग को बुझा ही देता है। अर्थात् पानी की तरह शत्रु भी अपनी सहज शत्रुता का परित्याग नहीं करता है॥ २३॥

इसके अतिरिक्त वह क्रूर स्वभाव वाला, लालची तथा अधार्मिक है। इसलिए

तस्मात्तेन योद्धव्यमिति मे मतिः। उक्तञ्च यतः —

क्रूरो लुब्धोऽलसोऽसत्यः प्रमादी भीरुरस्थिरः।
मूढो योधावमन्ता च सुखोच्छेद्यो भवेद्रिपुः ॥ २५ ॥

अपरं, तेन पराभूता वयम्, तद्यदि सन्धानकीर्तनं करिष्यामस्तद्भूयोऽत्यतं कोपं करिष्यति। उक्तञ्च—

चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ सान्त्वमपक्रिया।
स्वेद्यमामज्वरं प्राज्ञः कोऽम्भसा परिषिञ्चति ॥ २६ ॥

जनेन सह इति शेषः, कथञ्चन् न सन्ध्यात् न सन्धिं कुर्यात्, सुसन्धितोऽपि सन्धिना सुनियन्त्रितोऽपि 'सुसन्धितः' इत्यत्र तारकादित्वादितच्। विक्रियापदेन अन्वये तु षष्ठ्याः तसिल् इति केचित् असाधुत्वात् दुष्टत्वात्, सत्यधर्मविहीनत्वादित्यर्थः, अचिरात् शीघ्रं विक्रिया विकारम्, अन्यथाभावमित्यर्थः, याति गच्छति, सन्धिं विघटयतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

क्रूर इति। क्रूरः निष्ठुरः, लुब्धः, लोभपरः, अलसः चिरायितकर्मा, असत्यः मिथ्यावादी, प्रमादी अनवधानवान्, भीरुः भयशीलः, अस्थिरः अधीरः, मूढः निर्बोधः, युद्धावमन्ता युद्धनिरुत्सुकः, रिपुः शत्रुः, सुखोच्छेद्यः सुखेन उन्मूलनीयः, भवेत्, अत एव युद्धे निरुत्साहताप्रदर्शनं नोचितम् इति भावः ॥ २५ ॥

(१) सन्धानकीर्त्तनं—सन्धिप्रस्तावम्।

चतुर्थोपायेति। चतुर्थेन उपायेन युद्धेन इत्यर्थः, 'सामदानभेददण्डाः इत्युपाय-

---

वह तुम्हारे साथ सन्धि करने योग्य नहीं है। कहा भी गया है—

सत्य और धर्म से रहित पुरुष के साथ कभी भी किसी तरह की सन्धि नहीं करनी चाहिए। क्योंकि भलीभाँति सन्धि करने पर भी (ऐसा व्यक्ति) दुर्जनता के कारण शीघ्र ही विकारों से युक्त हो जाता है अर्थात् सन्धि के नियमों का उल्लङ्घन करने लगता है ॥ २४ ॥

इसलिए उसके साथ युद्ध करना चाहिए—ऐसा मेरा विचार है। क्योंकि कहा भी गया है—

क्रूर (निष्ठुर), लालची, आलसी, असत्यवादी, असावधान, कायर, चंचल मनोवृत्ति वाला, विवेकहीन और सैनिकों का अपमान करने वाला शत्रु सरलता से नष्ट किया जा सकता है ॥ २५ ॥

इसके अतिरिक्त उसके द्वारा हम लोग अपमानित हो चुके हैं। इसलिए यदि सन्धि की बात चलावेंगे तो वह और भी क्रुद्ध हो उठेगा। कहा भी गया है—

चतुर्थ उपाय दण्ड अर्थात् युद्ध द्वारा वश में करने योग्य शत्रु के प्रति शान्ति

सामवादाः सकोपस्य शत्रोः प्रत्युत दीपकाः ।
प्रतप्तस्येव सहसा सर्पिषस्तोयबिन्दवः ।। २७ ।।

यश्चैतद्वदति रिपुर्बलवान् तदप्यकारणम् । उक्तञ्च यतः—

[प्रमाणाभ्यधिकस्यापि महत्सत्त्वमधिष्ठितः ।
पदं मूर्ध्नि समाधत्ते केसरी मत्तदन्तिनः ।। २८ ।।]

चतुष्टयम्' इत्यनेन युद्धस्य चतुर्थत्वेन परिगणनादिति भावः, साध्ये प्रतिकार्ये, दयनीये इत्यर्थः, रिपौ शत्रौ, सान्त्वं सामप्रयोगः, 'साम सान्त्वमुभे समे' इत्यमरः, अपक्रिया अपकारः, अनिष्टकारणम् इत्यर्थः । तथा हि, कः प्राज्ञः, स्वेद्यं स्वेदक्रियया चिकित्स्यम्, उष्णोपचारेण प्रतिकार्यम् इत्यर्थः, 'स्वेदस्तु स्वेदने घर्मे' इति विश्वः आमज्वरं नवज्वरम्, अपक्वज्वरिणमिति यावत्, 'आमो रोगे रोगभेदे आमोऽपक्वे तु वाच्यवत्' इति विश्वः, अम्भसा जलेन, परिषिञ्चति ? 'उपसर्गात् सुनोति—' (पा० सू० ८।३।६५) इति षत्वम् न कोऽपीत्यर्थः, तादृशशत्रौ सान्त्ववादो नवज्वरे जलसेक इव उद्दीपनकरः, अतो दण्डा एव इति भावः । तरुणज्वरितस्याम्भस्सेको यथा तद्वृद्धये, न तूपशान्तये, तथा सकोपे रिपौ सान्त्वमुद्दीपनकरमिति वाक्यभेदेन बिम्बप्रतिबिम्बताक्षेपात् दृष्टान्तालङ्कारः,—'दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्' इति लक्षणात् ।। २६ ।।

सामेति । सकोपस्य क्रुद्धस्य शत्रोः सामवादाः सान्त्ववाक्यानि, प्रतप्तस्य अत्युष्णस्य, सर्पिषः घृतस्य, सहसा हठात्, तोयबिन्दवः जलबिन्दवः इव, जलबिन्दुप्रक्षेप इवेत्यर्थः, प्रत्युत वैपरीत्येन, दीपकाः उद्दीपयितारः, न तु शान्तिकरा इत्यर्थः, अतः कोपवृद्धिहेतुसमाचरणं तत्र न कर्त्तव्यम्, अपि तु स दण्डा एवेति भावः ।। २७ ।।

[प्रमाणेति । प्रमाणाभ्यधिकस्यापि महत्सत्त्वमधिष्ठितः केसरी सिंहः मत्तदन्तिनः गजस्य मूर्ध्नि पदं समाधत्ते ।। २८ ।।]

अर्थात् सन्धि की बात चलाना अनुचित कार्य है । भला कौन वैद्य पसीना लाकर दूर किए जाने वाले आम ज्वर में रोगी को जल से स्नान कराने का तरीका ग्रहण करेगा ? क्रुद्ध शत्रु के प्रति कहे गए शान्ति या सन्धि के वचन उसके क्रोध को उसी प्रकार और भी उद्दीप्त कर देते हैं जिस प्रकार खौलते हुए घी में पड़ने वाली जल की बूँदे उसे और भी अधिक भड़का देती है ।। २७ ।।

और जो यह कहता है कि शत्रु बलवान् है (अतः युद्ध नहीं करना चाहिए) तो यह भी (युद्ध न करने का) उचित कारण नहीं है । क्योंकि कहा भी गया है—

[आन्तरिक उत्साह से सम्पन्न सिंह अपने से अधिक डील-डौल वाले (ऊँचे, लम्बे,

सोऽपि दिव्यतनुर्भूत्वा यथार्थमिदमब्रवीत् ।
अहो ! मामनुगच्छन्त्या कृतं साधु शुभे ! त्वया ॥ १८१ ॥
तिस्रः कोट्योऽर्द्धकोटी च यानि रोमाणि मानुषे ।
तावत्कालं वसेत् स्वर्गे भर्त्तारं याऽनुगच्छति ॥ १८२ ॥
कपोतदेवः सूर्यास्ते प्रत्यहं सुखमन्वभूत् ।
कपोतदेववत् साऽऽसीत् प्राकपुण्यप्रभवं हि तत् ॥ १८३ ॥

ददर्श ॥ १८० ॥

स इति । सोऽपि कपोतोऽपि, दिव्यतनुः स्वर्गीयदेहधारी, भूत्वा इदं वक्ष्यमाणं, यथार्थम् उचितं, शास्त्रानुसारि इत्यर्थः, वाक्यमिति शेषः, अब्रवीत्, अहो शुभे ! भो कल्याणि ! मामनुगच्छन्त्या अनुसरन्त्या, त्वया, साधु उत्तमं, कृतम्, भर्त्तुः अनुगमनस्य पातिव्रत्यधर्मानुपालिकाभिरवश्यमेव अनुष्ठातव्यतया शास्त्रानुमोदितत्वादिति भावः ॥ १८१ ॥

तिस्र इति । या नारी, भर्त्तारम् अनुगच्छति अनुम्रियते इत्यर्थः, सा मानुषे, मानवशरीरे, यानि तिस्र कोट्यः अर्द्धकोटी च सार्द्धत्रिकोटीसङ्ख्यकानीत्यर्थः रोमाणि, सन्तीति शेषः, तावत्कालं तत्परिमितवत्सरानित्यर्थः, स्वर्गे वसेत् ॥ १८२ ॥

कपोतदेव इति । कपोतदेवः यः इदानीमतिथिसपर्यया देवत्वनागतः, पुरा च धृतकपोतकायः सः सूर्यास्ते सायं सन्ध्यायां, रात्रावित्यपि ध्वन्यते, अपिरत्राध्याहार्यः, सूर्यास्तेऽपि, सर्वदैव इत्यर्थः, प्रत्यहं प्रतिदिनं, सुखमन्वभूत्, सुखं बुभुजे, देवत्वमाप्तानां सर्वदैव सुखभोग इति भावः, तिरश्चां रजन्यामापतितायामेव निसर्गतः दर्शनशक्तेर्हानोदयात् कपोतजनुषि तयोः, सायं तादृक् सुखोपभोगः नाभूत्, इदानीं देवशरीरमासाद्य का कथा दिवसस्य ? सायमपि नितरां सुखं बुभुजे इति सूचयितुमेव सूर्यास्तपदमुपात्तमिति वेदितव्यम् । सा कपोती, कपोतदेववत् कपोतरूपपतिर्यथा, तथा आसीत्, पतिरिव दिव्यं वपुरासाद्य अनिशं सुखं भोक्तुमारेभे इत्यर्थः, हि यतः, तत्

वह कबूतर भी दिव्य शरीर धारण करके शास्त्रानुसारी यह वचन कहने लगा—'हे शुभे ! तुमने मेरा अनुसरण करते हुए बहुत अच्छा किया ॥ १८१ ॥

जो स्त्री (मृत) पति का अनुसरण करती है वह साढ़े तीन करोड़, जितने कि मनुष्य शरीर में रोम हैं, उतने वर्ष तक स्वर्ग में रहती है ॥ १८२ ॥

वह दिव्य शरीरधारी कपोत सूर्यास्त होने पर रात्रि में भी प्रतिदिन आनन्द भोगता था और वह कबूतरी भी अपने पति के समान सुख भोगने लगी क्योंकि उन दोनों को वह दिव्य शरीर पूर्वजन्म के पुण्यों के प्रभाव से मिला था ॥ १८३ ॥

सामवादाः सकोपस्य शत्रोः प्रत्युत दीपकाः।
प्रतप्तस्येव सहसा सर्पिषस्तोयबिन्दवः॥ २७॥

यश्चैतद्वदति रिपुर्बलवान् तदप्यकारणम्। उक्तञ्च यतः—

[प्रमाणाभ्यधिकस्यापि महत्सत्त्वमधिष्ठितः।
पदं मूर्ध्नि समाधत्ते केसरी मत्तदन्तिनः॥ २८॥]

चतुष्टयम्' इत्यनेन युद्धस्य चतुर्थत्वेन परिगणनादिति भावः, साध्ये प्रतिकार्ये, दयनीये इत्यर्थः, रिपौ शत्रौ, सान्त्वं सामप्रयोगः, 'साम सान्त्वमुभे समे' इत्यमरः, अपक्रिया अपकारः, अनिष्टकारणम् इत्यर्थः। तथा हि, कः प्राज्ञः, स्वेद्यं स्वेदक्रियया चिकित्स्यम्, उष्णोपचारेण प्रतिकार्यम् इत्यर्थः, 'स्वेदस्तु स्वेदने घर्मे' इति विश्वः आमज्वरं नवज्वरम्, अपक्वज्वरिणमिति यावत्, 'आमो रोगे रोगभेदे आमोऽपक्वे तु वाच्यवत्' इति विश्वः, अम्भसा जलेन, परिषिञ्चति? 'उपसर्गात् सुनोति—' (पा० सू० ८।३।६५) इति षत्वम् न कोऽपीत्यर्थः, तादृशशत्रौ सान्त्ववादी नवज्वरे जलसेक इव उद्दीपनकरः, अतो दण्डा एव इति भावः। तरुणज्वरितस्याम्भस्सेको यथा तद्वृद्धये, न तूपशान्तये, तथा सकोपे रिपौ सान्त्वमुद्दीपनकरमिति वाक्यभेदेन बिम्बप्रतिबिम्बताक्षेपात् दृष्टान्तालङ्कारः,—'दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्' इति लक्षणात्॥ २६॥

सामेति। सकोपस्य क्रुद्धस्य शत्रोः सामवादाः सान्त्ववाक्यानि, प्रतप्तस्य अत्युष्णस्य, सर्पिषः घृतस्य, सहसा हठात्, तोयबिन्दवः जलबिन्दवः इव, जलबिन्दुप्रक्षेप इवेत्यर्थः, प्रत्युत वैपरीत्येन, दीपकाः उद्दीपयितारः, न तु शान्तिकरा इत्यर्थः, अतः कोपवृद्धिहेतुसमाचरणं तत्र न कर्त्तव्यम्, अपि तु स दण्डा एवेति भावः॥ २७॥

[प्रमाणेति। प्रमाणाभ्यधिकस्यापि महत्सत्त्वमधिष्ठितः केसरी सिंहः मत्तदन्तिनः गजस्य मूर्ध्नि पदं समाधत्ते॥ २८॥]

अर्थात् सन्धि की बात चलाना अनुचित कार्य है। भला कौन वैद्य पसीना लाकर दूर किए जाने वाले आम ज्वर में रोगी को जल से स्नान कराने का तरीका ग्रहण करेगा? क्रुद्ध शत्रु के प्रति कहे गए शान्ति या सन्धि के वचन उसके क्रोध को उसी प्रकार और भी उद्दीप्त कर देते हैं जिस प्रकार खौलते हुए घी में पड़ने वाली जल की बूँदे उसे और भी अधिक भड़का देती है॥ २७॥

और जो यह कहता है कि शत्रु बलवान् है (अतः युद्ध नहीं करना चाहिए) तो यह भी (युद्ध न करने का) उचित कारण नहीं है। क्योंकि कहा भी गया है—

[आन्तरिक उत्साह से सम्पन्न सिंह अपने से अधिक डील-डौल वाले (ऊँचे, लम्बे,

सोऽपि दिव्यतनुर्भूत्वा यथार्थमिदमब्रवीत् ।
अहो ! मामनुगच्छन्त्या कृतं साधु शुभे ! त्वया ॥ १८१ ॥
तिस्रः कोटयोऽर्द्धकोटी च यानि रोमाणि मानुषे ।
तावत्कालं वसेत् स्वर्गे भर्त्तारं याऽनुगच्छति ॥ १८२ ॥
कपोतदेवः सूर्यास्ते प्रत्यहं सुखमन्वभूत् ।
कपोतदेववत् सासीत् प्राक्पुण्यप्रभवं हि तत् ॥ १८३ ॥

ददर्श ॥ १८० ॥

स इति । सोऽपि कपोतोऽपि, दिव्यतनुः स्वर्गीयदेहधारी, भूत्वा इदं वक्ष्यमाणं, यथार्थम् उचितं, शास्त्रानुसारि इत्यर्थः, वाक्यमिति शेषः, अब्रवीत्, अहो शुभे ! भो कल्याणि ! मामनुगच्छन्त्या अनुसरन्त्या, त्वया, साधु उत्तमं, कृतम्, भर्त्तुः अनुगमनस्य पातिव्रत्यधर्मानुपालिकाभिरवश्यमेव अनुष्ठातव्यतया शास्त्रानुमोदितत्वादिति भावः ॥ १८१ ॥

तिस्र इति । या नारी, भर्त्तारम् अनुगच्छति अनुम्रियते इत्यर्थः, सा मानुषे, मानवशरीरे, यानि तिस्र कोट्यः अर्द्धकोटी च सार्द्धत्रिकोटीसङ्ख्यकानीत्यर्थः रोमाणि, सन्तीति शेषः, तावत्कालं तत्परिमितवत्सरानित्यर्थः, स्वर्गे वसेत् ॥ १८२ ॥

कपोतदेव इति । कपोतदेवः यः इदानीमतिथिसपर्यया देवत्वनागतः, पुरा च धृतकपोतकायः सः सूर्यास्ते सायं सन्ध्यायां, रात्रावित्यपि ध्वन्यते, अपिरत्राध्याहार्यः, सूर्यास्तेऽपि, सर्वदैव इत्यर्थः, प्रत्यहं प्रतिदिनं, सुखमन्वभूत्, सुखं बुभुजे, देवत्वमाप्तानां सर्वदैव सुखभोग इति भावः, तिरश्चां रजन्यामापतितायामेव निसर्गतः दर्शनशक्तेर्हानोदयात् कपोतजनुषि तयोः, सायं तादृक् सुखोपभोगः नाभूत्, इदानीं देवशरीरमासाद्य का कथा दिवसस्य ? सायमपि नितरां सुखं बुभुजे इति सूचयितुमेव सूर्यास्तपदमुपात्तमिति वेदितव्यम् । सा कपोती, कपोतदेववत् कपोतरूपपतिर्यथा, तथा आसीत्, पतिरिव दिव्यं वपुरासाद्य अनिशं सुखं भोक्तुमारेभे इत्यर्थः, हि यतः, तत्

वह कबूतर भी दिव्य शरीर धारण करके शास्त्रानुसारी यह वचन कहने लगा—'हे शुभे ! तुमने मेरा अनुसरण करते हुए बहुत अच्छा किया ॥ १८१ ॥

जो स्त्री (मृत) पति का अनुसरण करती है वह साढ़े तीन करोड़, जितने कि मनुष्य शरीर में रोम हैं, उतने वर्ष तक स्वर्ग में रहती है ॥ १८२ ॥

वह दिव्य शरीरधारी कपोत सूर्यास्त होने पर रात्रि में भी प्रतिदिन आनन्द भोगता था और वह कबूतरी भी अपने पति के समान सुख भोगने लगी क्योंकि उन दोनों को वह दिव्य शरीर पूर्वजन्म के पुण्यों के प्रभाव से मिला था ॥ १८३ ॥

हर्षाविष्टस्ततो व्याधो विवेश च वनं घनम् ।
प्राणिहिंसां परित्यज्य बहुनिर्वेदवान् भृशम् ॥ १८४ ॥
तत्र दावानलं दृष्ट्वा विवेश विरताशयः ।
निर्दग्धकल्मषो भूत्वा स्वर्गसौख्यमवाप्तवान् ॥ १८५ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—'श्रूयते हि कपोतेन' इत्यादि ।

तत् श्रुत्वा अरिमर्दनो दीप्ताक्षं पृष्टवान्—'एवमवस्थिते किं भवान् मन्यते ?' सोऽब्रवीत्—'देव ! न हन्तव्य एवायम् । यतः—

या ममोद्विजते नित्यं सा मामद्यावगूहते ।
प्रियकारक ! भद्रं ते यन्ममास्ति हरस्व तत् ॥ १८६ ॥

तयोः देवशरीरपरिग्रहणं, प्राक्पुण्यप्रभवं, पूर्वजन्मकृतकर्मणां फलवशादेव आयातमित्यर्थः, पूतात्मनां निगृहीतेन्द्रियग्रामाणामपि जीवानां कर्मवैचित्र्यादेव जननवैचित्र्यं दृश्यते, कस्यचित् जन्मान्तरीयकर्मणः विपाकवशेनैव तयोः कपोतयोनित्वलाभः समभूत्, वस्तुतस्तु तौ पूरात्मानौ आस्तामित्यपि व्यज्यते ॥ १८३ ॥

हर्षाविष्ट इति । ततः अनन्तरं, बहुनिर्वेदवान् अतिमात्रवैराग्ययुक्तः, व्याधः प्राणिहिंसां परित्यज्य भृशम् अत्यन्तं, हर्षाविष्टः आनन्दितः, हिंसावृत्तिपरित्यागादिति भावः, घनं निविडं वनं विवेश, तपश्चरणार्थमिति शेषः ॥ १८४ ॥

तत्रेति । विरताशयः विषयवासनाशून्यः, स इति शेषः, तत्र वने, दावानलं दृष्ट्वा विवेश, निर्दग्धकल्मषः निःशेषेण दग्धः, कल्मषं पापं यस्य तथाभूतः, दावानलप्रवेशेन, विगतपापः इत्यर्थः, भूत्वा स्वर्गसौख्यं स्वर्गवासजनितमानन्दम्, अवाप्तवान् प्राप ॥ १८५ ॥

येति । या, मत्पत्नीति शेषः, नित्यं सततं, मम सम्बन्धे, मां दृष्ट्वा इत्यर्थः,

---

इसके अनन्तर वह शोकाकुल व्याध (संसार के प्रति) अत्यन्त विरक्त हो प्राणिहिंसा छोड़कर (तप करने के लिए) घने वन में प्रविष्ट हुआ ॥ १८४ ॥

वह उस वन में व्याप्त दावानल देख एक दिन विरक्त भाव से उसमें प्रविष्ट हो गया और सब पापों से मुक्त हो स्वर्ग का आनन्द भोगने लगा ॥ १८५ ॥

इसलिए मैं कहता हूँ—'सुना जाता है कि कबूतर ने शरण में आए हुए शत्रु की भी पूजा की थी'—इत्यादि ।

यह सुनकर उलूकराज अरिमर्दन ने दीप्ताक्ष से पूँछा—'ऐसी दशा में आपका क्या मत है ?' उसने कहा—'देव ! इसको मारना उचित नहीं है ।'

क्योंकि कहा भी है—जो मुझे दुःखित करती थी (अर्थात् वृद्धपति होने के कारण घृणा करती थी और कभी मुझसे अच्छी तरह बोलती भी नहीं थी) वही

चौरेण चापि उक्तम्—

हर्त्तव्यं ते न पश्यामि हर्त्तव्यं चेद्भविष्यति।
पुनरप्यागमिष्यामि यदीयं नावगूहते ॥ १८७ ॥

अरिमर्दनः पृष्टवान्—'का च नावगूहते ? कश्च अयं चौरः ? इति विस्तरतः श्रोतुमिच्छामि।' दीप्ताक्षः कथयति—

६ : चौरवृद्धवणिक् कथा

अस्ति कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने कामातुरो नाम वृद्धवणिक्, तेन च कामोपहतचेतसा मृतभार्येण काचिन्निर्धनवणिक्सुता प्रभूतं धनं दत्त्वा

उद्विजते उद्विग्ना भवति, भीता भवति इत्यर्थः, अद्य सा माम् अवगूहते आलिङ्गति, हे प्रियकारक ! प्रियालिङ्गनरूपसुखसाधक ! चौर इति शेषः, ते तव, भद्रं कुशलम्, अस्तु इति शेषः, मम यत् अस्ति, तत् हरस्व सर्वस्वं नय, सर्वस्वदानेनापि नैतदुपकारस्य प्रतिदानं सम्भवतीति भावः। चौरं प्रति कस्यचित् युवजानेर्वृद्धस्य उक्तिरियम् ॥ १८७ ॥

हर्त्तव्यमिति। ते तव, हर्त्तव्यं हरणयोग्यं, धनमिति शेषः, न पश्यामि, चेत् यदि हर्त्तव्यं भविष्यति, यदि इयं नारी, न अवगूहते नालिङ्गति च, तदा पुनरपि आगमिष्यामि ॥ १८७ ॥

आज मुझे (तुम्हारे भय के कारण) इस प्रकार गाढ़ आलिङ्गन कर रही है। इसलिये 'हे प्रिय करने वाले (चोर !) तुम्हारा कल्याण हो। जो वस्तु मेरे घर में है उन सबको चुरा ले जाओ' ॥ १८६ ॥

यह सुन कर चोर ने भी कहा—

इस समय आपके घर में चुराने योग्य वस्तु नहीं देख रहा हूँ। जब आपके घर में चुराने योग्य बस्तु होगी तो उसे चुराने के लिए फिर आऊँगा। यदि यह आपकी स्त्री आपको आलिङ्गन न करे तब मैं चुराने के लिए आपके घर आऊँगा। (ऐसा उत्तर देकर चोर चला गया। उसके भय से भयभीत होकर वह स्त्री अपने पति से सदा प्रेम करने लगी) ॥ १८७ ॥

अरिमर्दन ने पूँछा—'हे भद्र ! कौन आलिङ्गन नहीं करती है ? यह चोर कौन है ? यह सब विस्तारपूर्वक मैं सुनना चाहता हूँ।' दीप्ताक्ष ने कहा—

चोर और वृद्ध बनिए की कथा

किसी नगर में कामातुर नामक वृद्ध बनिया रहता था। उसकी पहली स्त्री के मर जाने पर काम वासना से बनिये ने किसी दरिद्र बनिये को अधिक धन देकर

उद्वाहिता। अथ सा दुःखाभिभूता तं वृद्धवणिजं द्रष्टुमपि न शशाक। युक्तञ्चैतत्—

श्वेत पदं शिरसि यत्तु शिरोरुहाणां
स्थानं परं परिभवस्य तदेव पुंसाम्।
आरोपितास्थिशकलं परिहृत्य यान्ति
चाण्डालकूपमिव दूरतरं तरुण्यः॥ १८८॥

तथा च—

गात्रं सङ्कुचितं गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाश गताः
दृष्टिर्भ्राम्यति रूपमप्युपहत वक्त्रञ्च लालायते।

---

[९]

श्वेतमिति। शिरसि मस्तके, शिरोरुहाणां केशानां, यत्तु श्वेतं शुभ्रं, पदं चिह्नं, धावल्यम् इत्यर्थः, तदेव पुंसां परिभवस्य तरुणस्त्रीकृतानादरस्य, परं स्थानम्, तरुण्यः युवत्यः, चाण्डालकूपमिव, चाण्डालखातं जलाशयावशेषमिव, तस्य अपेयजलत्वादिति भावः, आरोपितानि आसञ्जितानि, वहिष्कृतानि इत्यर्थः, अस्थ्नां कङ्कालानां शकलानि खण्डानि यस्य तादृशम्, अस्थिमात्रावशेषमित्यर्थः, वृद्धमिति शेषः, विशेषणमिदं कूप-पक्षेऽपि योजनीयम्, तत्र—आरोपितानि संस्थापितानि, अस्थ्नां शकलानि यत्र तादृशं, निहतपशुमांसानां प्रक्षालनावसरे तद्रुधिरकङ्कालादिभिः निरन्तरं परिपूर्ण-त्वेन कूपस्य इति भावः। परिहृत्य परित्यज्य, दूरतरम् अतिदूरं, यान्ति गच्छन्ति, वृद्धं पतिं नेच्छन्तीति भावः। वसन्ततिलकावृत्तम्॥ १८८॥

गात्रमिति। गात्रं शरीरं, वृद्धस्येति शेषः, सङ्कुचितं सर्वावयवानां शैथिल्यात्

उसकी कन्या से विवाह कर लिया था। वृद्ध से विवाह करने के कारण वह स्त्री बहुत दुःखित थी और वह अपने वृद्ध पति को देखना भी नही चाहती थी। यह ठीक ही कहा गया है—

वृद्ध होने के कारण जिस मनुष्य के सिर पर बालों पर श्वेतता आ जाती है वही युवतियों के परम अपमान और तिरस्कार का स्थान होता है। श्वेततायुक्त अस्थिखण्डमात्र अवशिष्ट उस वृद्ध को युवतियाँ इस प्रकार त्याग देती हैं जिस प्रकार प्यास से व्याकुल पुरुष चाण्डाल के कुएँ को दूर से ही उस पर अस्थिखण्ड देखकर त्याग देते हैं॥ १८९॥

विमर्श—प्राचीनकाल में छोटे जाति के कुएँ पर हड्डी रखी जाती थी, जिसे देखकर लोग यह समझ जाते थे कि यह नीच जाति का कुआँ है।

और भी—वृद्ध होने पर मनुष्य का शरीर संकुचित हो जाता है, गति धीमी हो

वाक्यं नैव करोति बान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते
धिक् कष्टं ! जरयाभिभूतपुरुषं पुत्रोऽप्यवज्ञायते ॥ १८९ ॥

अथ कदाचित् सा तेन सह एकशयने पराङ्मुखी यावत् तिष्ठति, तावत् गृहे चौरः प्रविष्टः। सा अपि तं चौरं दृष्ट्वा भयव्याकुलिता वृद्धमपि तं

सङ्कोचमाप्तं, लुलितचर्म इत्यर्थः, गतिः पादन्यासः, विगलिता स्खलिता, गच्छतः तस्य स्खलनमेव नियतमिति भावः, दन्ताः दशनाश्च, नाशं गताः पतिता इत्यर्थः, दृष्टिः नेत्रं, भ्राम्यति भ्रान्ता भवति, क्षीणत्वात् सर्वं यथायथं न पश्यतीत्यर्थः, रूपं सौन्दर्यमपि, उपहतं विनष्टम्, वक्त्रं मुखञ्च, लालायते लालामुद्वमतीत्यर्थः, लालाशब्दादुद्वमने क्यङि लटि च रूपम्, स च 'वाष्पोष्मभ्यामुद्वमने' (पा० सू० ३।१।१६) इत्यत्र धूम-शब्दभावेऽपि 'दिशो धूमायन्ते' इति महानाटकीयप्रयोगदर्शनात् यथा धूमशब्दात् क्यङ् अङ्गीकार्यः, तथा अत्रापि 'तत्र लालायते फणी' इति भाष्यकृदुक्तिदर्शनात् प्रयोगोऽयं साधुरिति मन्तव्यम्। बान्धवजनः वाक्यं नैव करोति नाऽऽलपतीत्यर्थः पत्नी न शुश्रूषते न सेवते, 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' (पा० सू० १।३।५७) इति आत्मनेपदम्। धिक् कष्टं ! पुत्रोऽपि, का कथाऽन्येषामित्यपेरर्थः, जरया अभिभूतम् आक्रान्तं, पुरुषं, वृद्धमित्यर्थः, अवज्ञायते अवमन्यते, 'अवज्ञायते' इति आर्षप्रयोगः इति केचित्, केचित्तु 'कण्ड्वादेराकृतिगणत्वात् यक्' इति कृत्वा 'अवज्ञां करोति' इति व्याख्या-नयन्ति, अन्ये तु—'जरयाभिभूतपुरुषः पुत्रैरवज्ञायते' इति कर्मणि प्रयोगात्मकं पाठं प्रकल्प्य समादधति। यद्वा—पुत्रोऽपि जरयाभिभूतपुरुषं, न शुश्रूषते इति पूर्वानुषङ्गः, अतः अवज्ञायते अवमन्यते, इत्थं सर्वैरेवासाविति शेषः, सर्वकार्येषु असामर्थ्यात् गात्रसङ्कोचादिविकृतिदर्शनाच्च इति भावः। अङ्गवैकल्येन सार्द्धं सर्वमेव विकलं भवति इति तात्पर्यम्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १८९ ॥

(१) पराङ्मुखी—परावृत्तवदना, 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जना—' (पा० सू० ४।१।५४) इति ङीष्।

जाती है, दाँत गिर जाते हैं, आँखों से नहीं दीखता, रूप-सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, मुख से लार बहने लगती है, भाई-बन्धु लोग उसके वचन को नहीं सुनते हैं, पत्नी सेवा नहीं करती और पुत्र उसका तिरस्कार किया करता है। ऐसी कष्टदायिनी वृद्धावस्था से आक्रान्त पुरुष का जीवन अत्यन्त कष्टकारक होता है, इसलिए दुःख-दायिनी वृद्धावस्था को धिक्कार है ॥ १८९ ॥

किसी दिन एक ही शय्या पर उस बनिये की स्त्री उस बनिये के साथ मुँह फेर कर सोई हुई थी। उसी समय उसके घर में एक चोर घुसा। बनिये की स्त्री ने चोर को देख कर भय से व्याकुल होकर सहसा वृद्ध भी अपने उस पति का

पतिं गाढं समालिलिङ्ग। सोऽपि विस्मयात् पुलकाञ्चितसर्वगात्रः चिन्तयामास—'अहो! किम् एषा माम् अद्य अवगूहते?' यावत् निपुणतया पश्यति, तावत् गृहकोणैकदेशे चौरं दृष्ट्वा व्यचिन्तयत्—'नूनम् एषा अस्य भयात् माम् आलिङ्गति' इति ज्ञात्वा तं चौरम् आह—

[या ममोद्विजते नित्यं सा मामद्यावगूहते।
प्रियकारक! भद्रं ते यन्ममास्ति हरस्व तत् ॥]

[तत् श्रुत्वा चौरोऽपि आह—

हर्त्तव्यं ते न पश्यामि हर्त्तव्यं चेद्भविष्यति।
पुनरप्यागमिष्यामि यदीयं नावगूहते ॥]

येति। या, मत्पत्नीतिशेषः, नित्यं सततं, मम सम्बन्धे, मां दृष्ट्वा इत्यर्थः, उद्विजते उद्विग्ना भवति, भीता भवति इत्यर्थः, अद्य सा माम् अवगूहते आलिङ्गति, हे प्रियकारक! प्रियालिङ्गनरूपसुखसाधक! चौर इति शेषः, ते तव, भद्रं कुशलम्, अस्तु इति शेषः, मम यत् अस्ति, तत् हरस्व सर्वस्वं नय, सर्वस्वदानेनापि नैतदुपकारस्य प्रतिदानं सम्भवतीति भावः। चौरं प्रति कस्यचित् युवजानेर्वृद्धस्य उक्तिरियम् ॥

हर्त्तव्यमिति। ते तव, हर्त्तव्यं हरणयोग्यं, धनमिति शेषः, न पश्यामि, चेत् यदि, हर्त्तव्यं भविष्यति, यदि इयं नारी, न अवगूहते नालिङ्गति च, तदा पुनरपि आगमिष्यामि ॥

गाढ आलिङ्गन किया। वह भी आश्चर्य से चकित होकर सोचने लगा—'क्यों यह आज मुझे इस तरह गाढ आलिङ्गन कर रही है?' जब वह अच्छी तरह इधर-उधर देखता है तो घर के एक कोने में उसने चोर देखा और विचार किया—'निश्चय ही इसने इसके भय से मुझे आलिङ्गन किया है।' यह जानकर उसने चोर से कहा—

[जो मुझे दुःखित करती थी (अर्थात् वृद्धपति होने के कारण घृणा करती थी और कभी मुझसे अच्छी तरह बोलती भी नहीं थी) वह आज मुझे (तुम्हारे भय के कारण) इस प्रकार गाढ़ आलिङ्गन कर रही है। इसलिए हे प्रिय करने वाले (चोर!) तुम्हारा कल्याण हो। जो वस्तु मेरे घर में है उन सबको चुरा ले जाओ ॥

यह सुनकर चोर ने भी कहा—

[इस समय आपके घर में चुराने योग्य वस्तु नहीं देख रहा हूँ। जब आपके घर में चुराने योग्य वस्तु होगी तो मैं उसे चुराने के लिए फिर आऊँगा। यदि यह आपकी स्त्री आपको आलिङ्गन न करे तब मैं चुराने के लिए आपके घर आऊँगा। (ऐसा उत्तर देकर चोर चला गया। उसके भय से भयभीत होकर वह स्त्री अपने

तस्मात् चौरस्यापि उपकारिण: श्रेय: चिन्त्यते, किं पुनर्न: शरणागतस्य ? अपि च, अयं तै: विप्रकृतोऽस्माकमेव पुष्टये भविष्यति, तदीयरन्ध्रदर्शनाय चेति, अनेन कारणेन अयम् अवध्य: इति। एतदाकर्ण्य अरिमर्दनोऽन्यं सचिवं वक्रनासं पप्रच्छ—'भद्र ! साम्प्रतमेवंस्थिते किं कर्त्तव्यम् ?' सोऽब्रवीत्—'देव अवध्योऽयम्। यतः—

शत्रवोऽपि हितायैव विवदन्तः परस्परम्।
चौरेण जीवितं दत्तं राक्षसेन तु गोयुगम् ॥ १९० ॥

अरिमर्दनः प्राह—'कथमेतत् ?' वक्रनासः कथयति—

१० : ब्राह्मणचौरपिशाच कथा

अस्ति कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने दरिद्रो द्रोणनामा ब्राह्मणः प्रतिग्रहधनः,

---

(१) श्रेयः—मङ्गलम्। तैः—वायसैः। विप्रकृतः—अवमानितः, ताडितः इति यावत्। पुष्टये—वृद्धये। तदीयरन्ध्रदर्शनाय—तदीयानां—वायससम्बन्धिनां, रन्ध्राणां—छिद्राणां, राज्याङ्गविषयकन्यूनतानामित्यर्थः, दर्शनाय।

शत्रव इति। परस्परं विवदन्तः विरुद्धोक्तिरूपं मृषा विवादं कुर्वन्तः, विपूर्वकवदधातोः विरुद्धोक्तिरूपविवादार्थे 'विभाषा विप्रलापे' (पा० सू० १।३।५०) इति आत्मनेपदस्य वैभाषिकत्वेन व्यवस्थितत्वात् शतृप्रत्ययः, शत्रवोऽपि हितायैव, भवन्तीति शेषः, तथा हि, चौरेण जीवितं प्राणाः, दत्तं, राक्षसेन तु गोयुगं गोद्वयं, दत्तमित्यनुषङ्गः ॥ १९० ॥

पति से सदा प्रेम करने लगी) ॥]

इसलिए उपकारी चोर की भी मंगल-कामना की जाती है फिर शरणागत का तो कहना ही क्या है ? दूसरी बात यह है कि उनसे अपमानित यह हमारा ही लाभदायक होगा और उनके छिद्रों अर्थात् कमजोरियों का भी हमें ज्ञान होगा। इसलिये यह अवश्य अवध्य ही है। यह सुनकर अरिमर्दन ने अन्य वक्रनास नामक चौथे मन्त्री से पूँछा—'भद्र ! ऐसी दशा में क्या करना चाहिए ?' उसने कहा—'हे देव ! यह अवध्य ही है' क्योंकि—

परस्पर विवाद करते हुए शत्रु भी हितकारी होते हैं जैसे चोर ने जीवनदान दिया और राक्षस ने उसके दो बैल बचाये ॥ १९० ॥

अरिमर्दन ने पूछा—'यह कैसे ?' वक्रनास ने कहा—

ब्राह्मण, चोर और पिशाच की कथा

किसी स्थान में द्रोण नाम का एक अत्यन्त गरीब ब्राह्मण रहता था। दान लेना

सततं विशिष्ट वस्त्रानुलेपनगन्धमाल्यालङ्कारताम्बूलादिभोगपरिवर्जितः; प्ररूढकेशश्मश्रु नखरोमोपचितः, शीतोष्णवातवर्षादिभिः परिशोषितशरीरः। तस्य च केनापि यजमानेन अनुकम्पया शिशुगोयुगं दत्तम्, ब्राह्मणेन च बालभावात् आरभ्य याचित घृततैलयवसादिभिः संवर्द्धय सुपुष्टं कृतम्। तच्च दृष्ट्वा सहसा एव कश्चित् चौरः चिन्तितवान्—'अहमस्य ब्राह्मणस्य गोयुगमिदम् अपहरिष्यामि' इति निश्चित्य निशायां बन्धनपाशं गृहीत्वा यावत् प्रस्थितः, तावत् अर्द्धमार्गे प्रविरलतीक्ष्णदन्तपङ्क्तिः उन्नतनासा-वंशः, प्रकटरक्तान्तनयनः, अपचितस्नायुसन्ततिः नतगात्रः, शुष्ककपोलः, सुहुतहुतवहपिङ्गलश्मश्रुकेशशरीरः कश्चित् दृष्टः। दृष्ट्वा च तं तीव्रभय-

[१०]

(१) प्रतिग्रहधनः—दानग्रहणमात्रजीवी इत्यर्थः। प्ररूढेति। प्ररूढैः—प्रकर्षेण वृद्धिं गतैरित्यर्थः, केशैः, श्मश्रुभिः, नखैः—कररुहैः, रोमभिः—तनुरुहैश्च, उपचितः—व्याप्तः, अर्थविरहेण चौरकर्माभावादिति भावः। अनुकम्पया—दयया। शिशुगो-युगं—गोवत्सद्वयम्। बालभावात्—तयोः वत्सयोः शैशवात्। याचितघृततैलयवसादिभिः याचितैः—भक्षितैः, घृतैः, तैलैः, यवसादिभिः—घासादिभिश्च। बन्धनपाशं—बन्धन-रज्जुम्। प्रविरलतीक्ष्णदन्तपङ्क्तिः—प्रविरला—अल्पाल्पा, दूरे दूरे अवस्थिता इत्यर्थः, तीक्ष्णा—कराला च, दन्तपङ्क्तिर्यस्य तथोक्तः। उन्नतनासावंशः—उत्तुङ्गनासिकादण्डः। प्रकटरक्तान्तनयनः—प्रकटे—उज्ज्वले, रक्तान्ते—लोहितप्रान्ते, नयने—नेत्रे यस्य सः।

ही उसकी आजीविका थी। उसे कभी भी उत्तम वस्त्र, उबटन आदि लेपन-द्रव्य, सुगन्धित इत्र आदि वस्तुएँ, मालाएँ और पान आदि भोगने के लिए नहीं मिले थे। बढ़े हुए बाल, दाढ़ी, मूँछ, नाखून और रोमों से उसका शरीर भर गया था तथा सर्दी, गरमी, हवा और वर्षादि के सहन करने से उसका शरीर अत्यन्त कृश हो गया था। किसी यजमान ने कृपा कर उसे दो बछड़े दिये। ब्राह्मण ने उन्हें इधर-उधर से माँगे हुए घी, तैल और घास आदि के द्वारा खूब हृष्ट-पुष्ट कर लिया। उन बछड़ों पर दृष्टि पड़ते ही किसी चोर ने सोचा—'मैं इस ब्राह्मण के इन बछड़ों को चुराऊँगा।' यह निश्चय कर रात्रि के समय ज्योंही वह हाथ में बाँधने की रस्सी लेकर चला, आधे मार्ग में ही उसे नोकीले किन्तु विरल दांतों की पंक्ति वाले, नाक ऊँची, नेत्रों के किनारे लाल चमकते हुए, कृश होने के कारण शरीर की नसें बाहर निकली हुई, शरीर झुका हुआ, गाल बैठे हुए, शरीर में दाढ़ी और सिर के बाल जलती हुई अग्नि के समान पीले किसी महामानव को देखा। उसको देख कर यद्यपि चोर

तदङ्गसंस्पर्शसुखः तमाह—

न तथा करिणा यानं तुरगेण रथेन वा।
नरयानेन वा यानं यथा मन्दविषेण मे ॥ २३५ ॥

अथ अन्येद्युः मन्दविषः छद्मना मन्दं मन्दं विसर्पति। तच्च दृष्ट्वा जलपादोऽब्रवीत्—'भद्र मन्दविष! यथापूर्वं किमद्य साधु न उह्यते?' मन्दविषोऽब्रवीत्—'देव! अद्य आहारवैकल्यात् न मे वोढुं शक्तिरस्ति'। अथ असौ अब्रवीत्—'भद्र! भक्षय क्षुद्रमण्डूकान्।' तत् श्रुत्वा प्रहर्षित-सर्वगात्रो मन्दविषःससम्भ्रमम् अब्रवीत्—'मम अयमेव विप्रशापोऽस्ति। तत् तव अनेन अनुज्ञावचनेन प्रीतोऽस्मि।' ततोऽसौ नैरन्तर्येण मण्डकान्

नेति। मन्दविषेण तदाख्येन कृष्णसर्पेण, यथा यादृशं, सुखकरमिति भावः, मे मम, यानं गमनं, भवतीति शेषः, करिणा हस्तिना, तुरगेण अश्वेन, रथेन वा स्यन्दनेनापि, नरयानेन वा शिविकया च, तथा यानं गमनं, न, भवतीति शेषः, अनन्यसदृशमेतत् यानम् इत्यर्थः ॥ २३५ ॥

(१) छद्मना—छलेन। विसर्पति—गच्छति। आहारवैकल्यात्—भोजनव्याघातात्, भोजनाभावात् इत्यर्थः। वोढुं—वहनं कर्तुम्। प्रहर्षितसर्वगात्रः—उत्फुल्लसर्वाङ्गः। अनुज्ञावचनेन—आदेशवाक्येन। नैरन्तर्येण—सततमित्यर्थः। अन्तर्लीनं—

उन मेढकों को प्रसन्न करने के उद्देश्य से उन्हें अनेक प्रकार के चालों को दिखाने लगा। सर्प के कोमल शरीर का स्पर्श होने से प्रसन्न होकर जलपाद ने कहा—

हाथी, घोड़ा, रथ, मनुष्ययान पालकी तथा नौका आदि पर चढ़कर मुझे यह आनन्द नहीं मिला था जो आज इस मन्दविष के शरीर पर चढ़ने से मिल रहा है ॥ २३५ ॥

दूसरे दिन वह छली सर्प उनको लेकर धीरे-धीरे चलने लगा। उसकी उस मन्द चाल को देखकर जलपाद ने पूँछा—'भद्र! पहले की तरह आज तेज नहीं चल रहे हो, क्या बात है?' मन्दविष ने कहा—'देव! आज मैंने कुछ खाया नहीं है। भूख के कारण आपको लेकर चलने की शक्ति मुझ में नहीं रह गयी है।' जलपाद ने कहा—'भद्र! यदि यही बात है तो कुछ छोटे मेढकों को खा लीजिए। यह उसकी बात से प्रसन्न होकर मन्दविष सर्प ने उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हुए कहा—"देव! ब्राह्मण ने मुझे यही शाप दिया था कि (मण्डूकों की कृपा से तुम्हारी जीविका चलेगी)। अतः आपकी इस आज्ञा से (मैं बहुत अनुगृहीत हुआ हूँ। मुझे इससे) बहुत बड़ी प्रसन्नता हुई है।" इसके बाद मण्डूकों को निरन्तर खाने से

भक्षयन् कतिपयैः एवाहोभिः बलवान् संवृत्तः प्रहृष्टश्च अन्तर्लीनम् अवहस्य इदमब्रवीत्—

मण्डूका विविधा ह्येते छलपूर्वोपसाधिताः।
कियन्तं कालमक्षीणा भवेयुः खादिता मया ?' ॥ २३६ ॥

जलपादोऽपि मन्दविषेण कृतकवचनव्यामोहितचित्तः किमपि न अवबुध्यते। अत्रान्तरेऽन्यो महाकायः कृष्णसर्पः तमुद्देशं समायातः। तञ्च मण्डूकैः वाह्यमानं दृष्ट्वा विस्मयम् अगमत्; आह च—'वयस्य ! यत् अस्माकम् अशनं, तैः कथं वाह्यसे ? विरुद्धमेतत्'। मन्दविषोऽब्रवीत्—

सर्वमेतद्विजानामि यथा वाह्योऽस्मि दर्दुरैः।
किञ्चित् कालं प्रतीक्ष्योऽहं घृतान्धो ब्राह्मणो यथा ॥ २३७ ॥

निगूढम्, अप्रकाशमित्यर्थः। अवहस्य—मृदु हसित्वा।

मण्डूका इति। छलपूर्वोपसाधिताः छलपूर्वं कापट्येन इत्यर्थः, उपसाधिताः वशीकृताः, मिथ्यावृत्तान्तवर्णनेन स्वपृष्ठमारोपिता इति भावः, मयेति शेषः, विविधाः बहुप्रकाराः, एते मण्डूकाः भेकाः, मया खादिताः भक्षिताः, कियन्तं कालं कियत्कालं व्याप्य, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया, अक्षीणाः क्षयरहिताः, भवेयुः हि ? तिष्ठेयुः ? नैव बहुदिनम् अक्षीणास्तिष्ठेयुरित्यर्थः, सत्वरमेव एते क्षयं गमिष्यन्तीति भावः ॥ २३६ ॥

(१) कृतकेति। कृतकं—कपटं, यत् वचनं, तेन व्यामोहितं—विमुग्धं, समीपहितमित्यर्थः, चित्तं यस्य तथाभूतः। अशनं—भोजनं, खाद्यमित्यर्थः।

वह सर्प कुछ ही दिनों में अत्यन्त बलवान् हो गया। मन ही मन प्रसन्न होकर मुस्कराते हुए उसने कहा—

"विविध स्वादों से युक्त ये मण्डूक छल के द्वारा वशीभूत होकर मिलते जा रहे हैं, मेरे खाने पर ये बहुत दिनों में समाप्त होंगे। अतः बहुत दिनों के लिये मैंने भोजन का प्रबन्ध कर लिया है" ॥ २३६ ॥

मन्दविष के कपटवाक्यों से व्यामोहित वह जलपाद यह भी नहीं समझ पा रहा था (कि मन्दविष उसी के कुल का विनाश कर रहा है)। किसी दिन संयोग से एक दूसरा अत्यन्त विशालकाय सर्प उस स्थान पर आया। मण्डूकों को ढोते हुये उस सर्प को देखकर उसे बहुत आश्चर्य हुआ। (अपनी उत्सुकता को शान्त करने के लिये) उसने मन्दविष से पूछा—"मित्र ! ये मेंढक तो हमारे भक्ष्य है। तुम इनकी सवारी बनकर यहाँ कैसे रह रहे हो ? यह तो बिल्कुल विरूद्ध बात है।" उसकी बात को सुनकर मन्दविष ने कहा—

सोऽब्रवीत्—'कथमेतत् ?' मन्दविषः कथयति—

१६ : घृतान्धब्राह्मण-कथा

अस्ति कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने यज्ञदत्तो नाम ब्राह्मणः। तस्य भार्या पुंश्चली अन्यासक्तमना अजस्रं विटाय सखण्डघृतान् घृतपूरान् कृत्वा भर्त्तुश्चौरिकया प्रयच्छति।

सर्वमिति। दर्दुरैः भेकैः, अस्मद्भक्ष्यभूतैरिति भावः, यथा येनैव हेतुना, वाह्यः नीयमानः, भेकानां वाहनभूतः इत्यर्थः, अस्मि भवामि, अहमिति शेषः, यथा अहं भेकान् वहामीदानीमित्यर्थः, एतत् सर्वं विजानामि विशेषेण वेद्मि; कालस्यानतिक्रमणीयत्वात् सर्वमधुना सहे इति भावः; किन्तु घृतान्धः घृतेन घृतसंस्कृतद्रव्यभक्षणेन अन्धः नेत्राभ्यां हीनः, छलेन आत्मानम् अन्धवत् प्रकाशमान इति यावत्, ब्राह्मणः यथा किञ्चित् कालम् अपेक्षिष्ट इति शेषः, अहं तथा प्रतीक्ष्यः प्रतिपालनीयः, अपेक्षणीय इत्यर्थः, त्वयेति शेषः; कथमहमीदृक् गर्हितमाचरामि, तत्तु कियत्कालानन्तरमेव व्यक्तीभविष्यतीति भावः॥ २३७॥

[१६]

(१) पुंश्चली—पुंसः पत्युः सकाशात्, चलति पुरुषान्तरार्थं गच्छति या सेति व्युत्पत्त्या, पुंसः चलतेः कर्त्तरि अच् प्रत्ययः ङीष् च, कुलटा इत्यर्थः। अन्यासक्तमनाः—अन्यस्मिन् पुरुषे अनुरक्तचित्ता। अजस्रं—निरन्तरम्। विटाय—जाराय। सखण्डघृतान्—गुडघृतसहितान्। घृतपूरान्—तदाख्यपिटकविशेषान्। भर्त्तुः,—भर्तारमनादृत्य इत्यर्थः, अनादरे षष्ठी भर्त्तारमप्यदत्त्वेति फलितार्थः। चौरिकया—तस्करसुलभवृत्त्या, सततं गोपायित्वा इत्यर्थः, भर्त्तुरसमक्षमेवेति यावत्; यद्वा—भर्त्तुः चौरिकया भर्त्तुरपहृत्य, भर्त्ता यथा स्वं न पश्यति, तथा कृत्वेति यावत्,

---

"मैं इस बात को खूब अच्छी तरह से जान रहा हूँ कि मैं इन मेंढकों की सवारी बना हुआ हूँ। किन्तु उस घृतान्ध ब्राह्मण की तरह मैं भी कुछ दिनों तक प्रतीक्षा में कालयापन कर रहा हूँ" ॥ २३७॥

उस (नवागन्तुक) सर्प ने पूछा—यह कैसे ?"। मन्दविष ने कहा—

घृत से अन्धे ब्राह्मण की कथा

किसी नगर में यज्ञदत्त नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री अत्यन्त व्यभिचारिणी एवं परपुरुषासक्त थी। अपने पति से छिपाकर वह अपने जारपति के लिये प्रतिदिन घेवर बनाकर दिया करती थी।

अथ कदाचित् भर्त्ता दृष्ट्वा अब्रवीत्—'भद्रे ! किमेतत् परिदृश्यते ? कुत्र वा अजस्रं नयसि इदम् ? कथय सत्यम्'। सा च उत्पन्नप्रतिभा कृतकवचनैः भर्त्तारम् अब्रवीत्—'अस्ति अत्र नातिदूरे भगवत्या देव्या आयतनं, तत्र अहमुपोषिता सती बलिं भक्ष्यविशेषांश्च अपूर्वान् नयामि।'

अथ तस्य पश्यतो गृहीत्वा तत् सकलं देव्यायतनाभिमुखी प्रतस्थे, यत्कारणं देव्या निवेदितेन अनेन मदीयो भर्त्तैवं मंस्यते यत् 'मम ब्राह्मणी भगवत्याः कृते भक्ष्यविशेषान् नित्यमेव नयति' इति। अथ देव्यायतने गत्वा स्नानार्थं नद्याम् अवतीर्य यावत् स्नानक्रियां करोति, तावत् भर्त्ता मार्गान्तरेण आगत्य देव्याः पृष्ठतोऽदृश्यः अवतस्थे।

अथ सा ब्राह्मणी स्नात्वा देव्यायतनम् आगत्य स्नानानुलेपनमाल्यधूपबलिक्रियादिकं कृत्वा देवीं प्रणम्य व्यजिज्ञपत्—'भवति ! केन प्रकारेण मम

"अन्तर्द्धौ—" (पा० सू० १।४।२८) इत्यात्मा दर्शनकर्त्तृत्वेनेष्टस्य भर्त्तुरपादानत्वात् पञ्चमी।

उत्पन्नप्रतिभा - प्रत्युत्पन्नमतिः, समयोचितसुविशदबुद्धिरित्यर्थः। कृतकवचनैः,—कृत्रिमवाक्यैः, कल्पितवचोभिरिति यावत्। अपूर्वान्—अभिनवान्। तस्य पश्यतः—पश्यन्तं तं पतिमनादृत्य इत्यर्थः, "षष्ठी चानादरे" (पा० सू० २।३।३८) इति षष्ठी। मंस्यते—भोत्स्यते, अवगमिष्यति इत्यर्थः। अवतस्थे—स्थितः, "समवप्रविभ्यः स्थः" (पा० सू० १।३।२२) इत्यात्मनेपदम्।

एक दिन उसके पति ने उसको उक्त कार्य को करते हुए देख लिया। उसने अपनी स्त्री से पूछा—"प्रिये ! यह क्या बना रही हो ? प्रतिदिन इसे कहाँ ले जाया करती हो ? सच सच कहो" प्रत्युत्पपन्न मति वाली उसकी स्त्री ने कहा—"यहाँ से थोड़ी दूर पर देवी का एक मन्दिर है। मैं उन देवी का व्रत कर रही हूँ। इन विशेष प्रकार के भोजनों को बनाकर में देवी के मन्दिर में बलि के लिए ले जाया करती हूँ।"

तब ब्राह्मणी अपने पति के सामने ही उन सभी पकवानों को लेकर देवी के मन्दिर की ओर चल पड़ी जिससे उसके पति को पूर्ण विश्वास हो जाय कि मेरी ब्राह्मणी (भार्या) पकवानों को लेकर देवी के मन्दिर में ही प्रतिदिन जाया करती है। देवी के मन्दिर में पहुँचकर (उसने उन पकवानों को मन्दिर में रख दिया) स्वयं नदी में स्नान करने के लिए चली गयी। जब वह स्नान करने लगी तो उसका पति भी दूसरे मार्ग से आकर देवी की प्रतिमा के पीछे छिपकर खड़ा हो गया।

तब स्नान के पश्चात् वह देवी के मन्दिर में आकर गन्ध, धूप, पुष्प तथा बलि

भर्त्ता अन्धो भविष्यति ?' तत् श्रुत्वा स्वरभेदेन देवीपृष्ठस्थितो ब्राह्मणो जगाद—'यदि त्वम् अजस्रं घृतपूरादिभक्ष्यं तस्मै भर्त्रे प्रयच्छसि, ततः शीघ्रमन्धो भविष्यति।' सा तु बन्धकी कृतकवचनवञ्चितमानसा तस्मै ब्राह्मणाय तदेव नित्यं प्रददौ। अथ अन्येद्युः ब्राह्मणेन अभिहितम्—'भद्रे! नाहं सुतरां पश्यामि।' तत् श्रुत्वा चिन्तितम् अनया—'देव्याः प्रसादोऽयं प्राप्तः' इति।

अथ तस्याः हृदयवल्लभो विटस्तत्सकाशम् 'अन्धीभूतोऽयं ब्राह्मणः किं मम करिष्यति ?' इति निःशङ्कः प्रतिदिवसमभ्येति। अथ अन्येद्युस्तं प्रविशन्तम् अभ्यासगतं दृष्ट्वा केशेषु गृहीत्वा लगुडपार्ष्णिप्रभृतिप्रहारैः तावत् अताडयत्, यावत् असौ पञ्चत्वमाप, तामपि दुष्टपत्नीं छिन्ननासिकां कृत्वा विससर्ज। अतोऽहं ब्रवीमि—'सर्वमेतद्विजानामि' इत्यादि।

स्वरभेदेन—भिन्नस्वरं विधाय, स्वं स्वरं विकृत्य इत्यर्थः। बन्धकी—कुलटा। सुतराम्—अतिमात्रम्।

हृदयवल्लभः,—मनप्रियः। अभ्यासगतं—समीपस्थम्; समीपे निकटासन्न···। संदेशाभ्यास··· ॥" इत्यमरः। केशेषु इति—अवच्छेदे सप्तमी। गृहीत्वा—बलवदाकृष्येत्यर्थः। लगुडेति।—लगुडः,—दण्डः, पार्ष्णिः,—गुल्फस्य अधोभागः, ("एड़ी" इति हिन्दीभाषा। तौ एव प्रभृतौ—आदिभूतौ येषां तैः ये प्रहाराः,—ताडनानि तैरित्यर्थः।

आदि से देवी का पूजन करने लगी। पूजा के बाद देवी को प्रणाम करके उसने कहा—"भगवति ऐसा कौन सा उपाय मैं करूँ कि जिससे मेरा पति अन्धा हो जाय ?" स्त्री की प्रार्थना को सुनकर उसके पति ने अपने स्वर को बदलकर कहा—"यदि तुम प्रतिदिन घेवर आदि बनाकर अपने पति को खिलाया करो तो वह शीघ्र अन्धा हो जायगा।" पति के कपट वाक्यों द्वारा वञ्चित वह कुलटा ब्राह्मणी अपने पति को प्रतिदिन वह पकवान बनाकर खिलाने लगी। कुछ दिनों के बाद एक दिन उसके पति ने कहा—"प्रिये! मैं भलीभाँति देख नहीं पा रहा हूँ।" पति के वचन को सुनकर उस ब्राह्मणी ने सोचा कि—'देवी का वर पूर्ण हो गया'। वह बहुत प्रसन्न हुई।

उधर उसके प्रिय जारपति ने भी सोचा कि—'यह ब्राह्मण तो अन्धा हो चुका है। अब यह मेरा कर ही क्या सकता है।' अतः वह प्रतिदिन निःशंक भाव से वहाँ आने लगा। एक दिन घर में निःशंक भाव से प्रवेश करते हुए उस व्यभिचारी को अपने समीप में पाकर उस ब्राह्मण ने उसके बालों को पकड़ कर दण्डों एवं एड़ियों के प्रहार से उसको इतना अधिक मारा कि वह

अथ मन्दविषोऽन्तर्लीनम् अवहस्य पुनरपि 'मण्डूका विविधा ह्येते' इति तमेवम् अब्रवीत्। अथ जलपादः तत् श्रुत्वा सुतरां व्यग्रहृदयः किमनेन अभिहितम्? इति सम्यक् नावगम्य तम् अपृच्छत्—भद्र? किं त्वया अभिहितम् इद विरुद्धं वचः?' अथ असौ आकारप्रच्छादनार्थं 'न किञ्चित्' इति अब्रवीत्। तथैव कृतकवचनव्यामोहितचित्तो जलपादः तस्य दुष्टाभिसन्धिं न अवबुध्यत, किं बहुना? तथा तेन सर्वेऽपि भक्षिताः, यथा बीजमात्रमपि न अवशिष्टम्। अतोऽहं ब्रवीमि—'स्कन्धेनापि वहेच्छत्रुम्' इत्यादि।

अथ राजन्! यथा मन्दविषेण बुद्धिबलेन मण्डूका निहताः, तथा मयाऽपि सर्वे वैरिण इति। साधु चेदमुच्यते—

व्यग्रहृदयः,—व्याकुलाऽऽत्मा, व्यस्तचित्त इत्यर्थः। अभिहितम्—उक्तम्। आकारप्रच्छादनार्थम्—भावगोपनार्थम्। दुष्टाभिसन्धि—दुष्टमाशयम्। बीजमात्रम्—अङ्कुरकारणं, पुनरुत्पत्तिसम्भावनाऽपीत्यर्थः।

वहीं मर गया। पुनः उसने अपनी उस दुष्ट स्त्री की नाक काट कर उसको घर से निकाल दिया। उस कथा को सुनकर मन्दविष ने कहा—"इसीलिए मैं कहता हूँ कि मैं यह खूब अच्छी तरह से जानता हूँ कि मैं इन मेढकों का वाहन क्यों बना हुआ हूँ। किन्तु मैं भी उस ब्राह्मण की तरह समय की ही प्रतीक्षा कर रहा हूँ।"

मन्दविष नाम का वह सर्प मुस्कुराता हुआ पुनः मन ही मन उसी श्लोक को दुहराने लगा—"विभिन्न स्वादों से युक्त ये मेढक बहुत दिनों तक मेरे भोजन का कार्य चलाते रहेंगे।" जलपाद उसकी उक्त बात को सुनकर बहुत चिन्तित हुआ और यह जानने के लिए व्यग्र हो उठा कि इस सर्प ने क्या कहा है। उसने मन्दविष से पूछा—"भद्र! अभी तुमने कैसी विरुद्ध बात कही है?" सर्प ने अपने अभिप्राय को छिपाने के लिए उत्तर दिया—'नहीं देव! मैंने आपके विरुद्ध कुछ नहीं कहा है।' जलपाद उसके कपटयुक्त वाक्यों में विश्वास करके उसके द्वारा विहित दुष्ट सन्धि को जान नहीं सका और पूर्ववत् उसको अपना वाहन समझकर उसके साथ अपना मनोविनोद करता रहा। अन्ततोगत्वा वह सर्प उन सभी मेंढकों को खा गया और मेंढकों के वंश में बीजमात्र भी अवशिष्ट नहीं रह गया। उस आख्यान को सुनाकर स्थिरजीवी ने कहा "महाराज! इसीलिए मैं कहता हूँ कि आवश्यकतानुसार शत्रु को अपने कन्धों पर भी चढ़ाया जाता है।

अतः हे राजन्! जैसे मन्दविष सर्प ने बुद्धिबल से मण्डूकों को मार डाला, उसी प्रकार मैंने भी बुद्धि से ही आप के शत्रुओं का विनाश किया है। यह ठीक ही कहा गया है कि—

वने प्रज्वलितो वह्निर्दहन् मूलानि रक्षति।
स मूलोन्मूलनं कुर्याद्वायुर्यो मृदुशीतलः' ॥ २३८ ॥

मेघवर्ण आह—तात ! सत्यमेवैतत्, ये महात्मानो भवन्ति, ते महासत्त्वा आपद्गता अपि प्रारब्धं न सर्जन्ति। उक्तञ्च यतः—

महत्त्वमेतन्महतां नयालङ्कारधारिणाम्।
न मुञ्चन्ति यदारब्धं कृच्छ्रेऽपि व्यसनोदये ॥ २३९ ॥

प्रायशः सर्वत्र सुतीक्ष्णभावात् मार्दवमेव कार्य्यसाधकम् इत्यावेदयितुमनुरूपमुदाहरणमाह—वने इति। वने प्रज्वलितः प्रदीप्तः, वह्निः अनलः, दहन्, अपि-कारोऽत्र अध्याहरणीयः, वनमिति शेषः, मूलानि वृक्षाणामिति शेषः रक्षति, दग्धानां वृक्षाणां मूलानि नाशयितुं न शक्नोतीति भावः; किन्तु यः वायुः मृदुशीतलः मन्दवहनशीलः अनुष्णश्च, सः, अपिरत्राप्यध्याहार्य्यः, सोऽपीत्यर्थः, मूलोन्मूलनं मूलोत्पाटनं, वृक्षाणामिति शेषः, कुर्य्यात्, येन पुनर्न प्ररोहेदिति भावः ॥ २३८ ॥

(१) प्रारब्धम्—आरब्धकार्य्यम्। सर्जन्ति—सृजन्ति, त्यजन्ति इत्यर्थः, धातूनामनेकार्थत्वात् अर्जनार्थस्यापि भौवादिकस्य सर्जधातोः त्यागार्थत्वम् अवधेयम्।

महापुरुषव्यवसायमाह—महत्त्वमिति। नयः नीतिः एव, अलङ्कारः भूषणं, तं धरन्तीति तथोक्तानां नीतिविदामित्यर्थः, महतां महात्मनाम्, एतत् एव महत्त्वं महिमा, यत कृच्छ्रे अतिकष्टजनके, व्यसनोदये विपदागमे सत्यपि, आरब्धम् उपक्रान्तं, कार्य्यमिति शेषः, न मुञ्चन्ति, न त्यजन्ति, आ फलोदयात् ते हि कर्म कुर्वन्ति इत्याशयः; स्थिर सङ्कल्पा हि महान्तः इति भावः ॥ २३९ ॥

अत्यन्त उग्र होते हुए भी दावाग्नि वन को जलाते समय वृक्षों के मूल को नहीं जला पाता है। किन्तु मृदु एवं शीतल पवन उनको समूल नष्ट कर देता है। (अतः यह स्पष्ट है कि—युद्ध से शत्रुओं का समूल विनाश नहीं हो पाता है और शान्तभाव से छल-बुद्धि का प्रयोग करने से शत्रुओं का मूल भी विनष्ट हो जाता है)" ॥ २३८ ॥

मेघवर्ण ने कहा—'तात ! आप का कथन यथार्थ है। महान् व्यक्ति आपत्तिग्रस्त होने पर भी अपने आरम्भ किये हुए कार्य को विघ्नों के भय से छोड़ते नहीं है। कहा भी गया है कि—

नीतिरूपी आभूषणों से विभूषित महान् व्यक्तियों की महत्ता ही यही होती है कि वे आपत्तिग्रस्त होने पर भी अपने आरम्भ किए हुए कार्य को छोड़ते नहीं हैं ॥ २३९ ॥

तथा च—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः सहस्रगुणितैरपि हन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ॥ २४० ॥

तत् कृतं निष्कण्टकं मम राज्यं शत्रून् निःशेषतां नयता त्वया, अथवा—युक्तमेतत् नयवेदिनाम् । उक्तञ्च यतः—

ऋणशेषश्चाग्निशेषं शत्रुशेषं तथैव च ।
व्याधिशेषञ्च निःशेषं कृत्वा प्राज्ञो न सीदति ॥ २४१ ॥

उत्तममध्यमाधमानां तारतम्यं प्रदर्शयति—प्रारभ्यते इति । नीचैः क्षुद्रैः, हीनस्वभावैः जनैरित्यर्थः, विघ्नभयेन अन्तरा कार्यविघातमाशङ्क्य इत्यर्थः, न खलु नैव, प्रारभ्यते कार्यारम्भः क्रियते, नीचस्वभावाः कार्य्ये विघ्नसम्भावना अस्ति' इति मत्वा प्रागेव ततो निवर्त्तन्ते इत्यर्थः; मध्या मध्यविधाः, किञ्चिदुन्नतस्वभावा जनाः इत्यर्थः, प्रारभ्य उपक्रम्य, कार्य्यमिति भावः, विघ्नेन अन्तरायेण विहताः प्रतिरुद्धाः सन्तः, विरमन्ति निवर्त्तन्ते, "व्याङ्परिभ्यो रमः" (पा० सू० १।३।८३) इति परस्मैपदम् कार्यस्य कियदंशं प्रसाध्य अन्तरा विघ्निताः ततो निवर्त्तन्ते इत्यर्थः; उत्तमगुणा महान्तस्तु, सहस्रगुणितैः बहुभिरिति भावः विघ्नैः प्रत्यूहैः, हन्यमाना अपि प्रतिरुध्यमाना अपि, प्रारब्धं प्रक्रान्तं, न परित्यजन्ति न विजहति; अमोघारम्भाः खलु महान्तः इति भावः । "विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः" इति पाठान्तरं दृश्यते, द्वयमपि अर्थतः एकमेवेति । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २४० ॥

समूलमुन्मूलीयान् तथा उन्मूलनस्य फलञ्चाह—ऋणशेषमिति । प्राज्ञः विद्वान् जनः, ऋणशेषं अग्निशेषं शत्रुशेषं तथा व्याधिशेषञ्च निःशेषं शेषरहितं, सम्यक् समूलं

और भी—नीच जन विघ्नों के भय से किसी कार्य को आरम्भ ही नहीं करते हैं। मध्यकोटि के लोग कार्य का आरम्भ तो कर देते हैं, परन्तु विघ्न पड़ते ही उसे छोड़ देते हैं। परन्तु उत्तम कोटि के व्यक्ति बार बार विघ्नों के द्वारा प्रताड़ित होने पर भी अपने प्रारम्भ किये हुये कार्य को छोड़ते नहीं हैं ॥ २४० ॥

आपने अपनी बुद्धि के द्वारा मेरे शत्रुओं का समूल विनाश करके मेरे राज्य को निष्कण्टक कर दिया है। अथवा नीतिमान् पुरुषों के लिये यह उचित ही है। कहा भी गया है कि—

जो व्यक्ति, ऋण, अग्नि, शत्रु तथा व्याधि के शेष को नहीं छोड़ता है और

सोऽब्रवीत्—'देव ! भाग्यवान् त्वमेवासि, यस्य आरब्धं सर्वमेव संसिध्यति, तत्र केवलं शौर्यं कृत्यं न साधयति, किन्तु प्रज्ञया यत् क्रियते तदेव विजयाय भवति। उक्तञ्च—

शस्त्रैर्हता न हि हता रिपवो भवन्ति
प्रज्ञाहतास्तु रिपवः सुहता भवन्ति।
शस्त्रं निहन्ति पुरुषस्य शरीरमेकं
प्रज्ञा कुलञ्च विभवञ्च यशश्च हन्ति॥ २४२॥

तदेवं प्रज्ञापुरुषकाराभ्यां युक्तस्य अयत्नेन कार्यसिद्धयः सम्भवन्ति। उक्तञ्च—

विनष्टमिति यावत्, कृत्वा विधाय, न सीदति न निषण्णो भवति; अनिःशेषितेषु एतेषु पुनरभ्युत्थानसम्भवेनैतेषां भूयोऽपि कष्टप्रदत्वादिति भावः॥ २४१॥

भाग्यवन्त एव कदाचित् शौर्य्यपूर्विकया क्रियया फलं लभन्ते, न तु सर्वे, बुद्धि-पूर्वकक्रियाकारिणां फलं सुनियतमेवेत्याह—शस्त्रैरिति। शस्त्रैः प्रहरणैः, हताः समुत्खाताः, युद्धे विजिता इत्यर्थः, रिपवः शत्रवः, न हि हता नूनं न विनष्टाः, भवन्ति, पुनरुत्थानसम्भवादिति भावः; प्रज्ञया बुद्धिबलेन, हतास्तु विनाशितास्तु, रिपवः सुहताः सम्यक् हताः, भवन्ति; समूलनुत्खननात् तेषां पुनरुत्थानासम्भवादिति भावः। कथमेवमभिमन्यसे इत्याशङ्कायामत्र युक्तिं प्रदर्शयति—शस्त्रमिति। शस्त्रं पुरुषस्य एकं केवलं, शरीरं निहन्ति, प्रज्ञा बुद्धिः, कुलञ्च वंशञ्च, विभवञ्च सम्पदश्च, यशश्च कीर्त्तिञ्च, हन्ति, एतत् सर्वमेव विनाशयतीत्यर्थः; समूलोन्मूलनकरी खलु महती प्रज्ञा इति भावः। वसन्ततिलकं वृत्तम्॥ २४२॥

उसको निःशेष कर डालता है, वह कभी भी दुःखी नहीं होता''॥ २४१॥

स्थिरजीवी ने कहा—"देव ! भाग्यवान् मैं नहीं हूँ, आप ही है कि जिसके द्वारा प्रारम्भ किया हुआ सम्पूर्ण कार्य स्वयं सिद्ध होता चला जा रहा है। केवल पराक्रम से ही कार्यों की सिद्धि नहीं होती अपितु जो कार्य विचार एवं बुद्धिपूर्वक किया जाता है, वही विजयकारक होता है। कहा भी गया है कि—

शस्त्रों द्वारा मारे गये शत्रु आमूल विनष्ट हो जाते हैं। शस्त्र केवल शत्रु के शरीर का ही विनाश करता है। किन्तु बुद्धि शत्रु के कुल, वैभव तथा यश सबका विनाश कर डालती है॥ २४२॥

अतः बुद्धि तथा पराक्रम, दोनों के सहयोग से बिना प्रयत्न के ही कार्यों की सिद्धि होती है। कहा भी गया है—

प्रसरति मतिः कार्यारम्भे दृढीभवति स्मृतिः
स्वयमुपनयन्नर्थान् मन्त्रो न गच्छति विप्लवम् ।
स्फुरति सफलस्तर्कश्चित्तं समुन्नतिमश्नुते
भवति च रतिः श्लाघ्ये कृत्ये नरस्य भविष्यतः ॥ २४३ ॥

तथा च, नयत्यागशौर्यसम्पन्ने पुरुषे राज्यमिति । उक्तञ्च—

त्यागिनि शूरे विदुषि च संसर्गरुचिर्जनो गुणी भवति ।
गुणवति धनं धनाच्छ्रीः श्रीमत्याज्ञा ततो राज्यम् ॥ २४४ ॥

प्रज्ञापूर्वकपौरुषानुष्ठानस्य गुणमाह—प्रसरतीति । भविष्यतः अभ्युदयमापत्स्यमानस्य इत्यर्थः, प्रज्ञापुरुषकाराभ्यां युक्तस्य इति भावः, नरस्य, कार्य्यारम्भे कार्य्यारम्भविषये, मतिः प्रसरति प्रवर्त्तते, स्मृतिर्मेधा, दृढीभवति अस्खलिता वर्त्तते, मन्त्रः स्वयम् अर्थान् कृत्यवस्तूनि, उपनयन् उद्भावयन्, हृदये उपस्थापयन्, इत्यर्थः, विप्लवं वैपरीत्यं, न गच्छति, अविकृतो वर्त्तते इत्यर्थः; तर्कः विचारशक्तिरित्यर्थः, सफलः सन् स्फुरति प्रसरति, चित्तं मनः, समुन्नतिम् उदारतां, निर्मलतामिति यावत्, अश्नुते भजते, तथा श्लाघ्ये प्रशंसनीये, कृत्ये कार्य्ये, रतिः अनुरागश्च भवति; प्रज्ञापौरुषवतः यथा कार्य्याणि सिध्यन्ति, न तथा बुद्धिप्रयत्नहीनानामिति विवेकः । हरिणी वृत्तम् ॥ २४३॥ ॥

नयेति । नयश्च त्यागश्च शौर्य्यञ्च तैः सम्पन्ने त्यागशीले शूरे च इत्यर्थः । नयादिसम्पन्ने राज्यमिति यदुक्तं, तदेव सयुक्तिकमाह—त्यागिनीति । त्यागिनि वदान्ये, शूरे विक्रमवति, पौरुषनिष्ठे इत्यर्थः, तथा विदुषि च विद्यावति, नीतिज्ञे च जने इत्यर्थः, एतत् त्रितयवति महापुरुषे इत्याशयः, संसर्गरुचिः सम्बन्धाभिलाषी, अनुरागी इत्यर्थः, जनः गुणी गुणवान्, भवति; संसर्गजा दोषगुणाः भवन्तीति भावः;

क्योंकि—जिस व्यक्ति का भाग्य अनुकूल होता है और अभ्युन्नति होने वाली होती है, उसकी बुद्धि स्वतः अच्छे कार्यों में प्रवृत्त हो जाती है । उसकी स्मरणशक्ति स्वतः बढ़ जाती है । उसके मनोरथ स्वयं फलद होने लगते हैं । उसके द्वारा किये गये विचारादि कभी निष्फल नहीं होते । उनके मन में तर्क स्वयं विस्फुरित होने लगता है । उसका चित्त सदा प्रसन्नता एवं अभ्युन्नति से व्याप्त रहने लगता है और प्रशंसनीय कार्यों को करने में उसका अनुराग भी बढ़ जाता है ॥ २४३ ॥

नीति, त्याग और शौर्य से युक्त पुरुष को ही राज्य लाभ होता है । कहा भी गया है कि—

त्यागियों, वीरों और विद्वानों के संसर्ग में रहने वाला ही मनुष्य गुणवान् होता है और गुणवान् व्यक्ति को ही धन लाभ होता है । धन से प्रभुत्व की प्राप्ति होती

मेघवर्ण आह—'नूनं सद्यःफलानि नीतिशास्त्राणि, यत् त्वया अनुकृत्येन प्रविश्य अरिमर्दनः सपरिजनो निःशेषितः।' स्थिरजीवी आह—

तीक्ष्णोपायप्राप्तिगम्योऽपि योऽर्थः
तस्याप्यादौ संश्रयः साधुयुक्तः।
उत्तुङ्गाग्रः सारभूतो वनानाम्
मानाभ्यर्च्यैश्छिद्यते पादपेन्द्रः॥ २४५ ॥

वति सद्गुणसम्पन्ने, जने इति शेषः, धनं वित्तं, धनात् श्रीर्लक्ष्मीः प्रभुत्वमित्यर्थः मति जने, आज्ञा अप्रतिहतादेशः, ततः आज्ञावति जने इत्यर्थः, राज्यं, सर्वत्र ठतीति शेषः; नीतिमवलम्ब्य दानं शूरत्वप्रकाशनञ्च राज्यमूलमिति भावः। र्या वृत्तम् ॥ २४४ ॥

(१) अनुकृत्येन—मतवर्त्तिना, नीत्या तन्मतानुकरणेन वा इत्यर्थः। अनुप्रविश्य—भ्यन्तरीभूय।

दण्डसाध्येऽपि विषये प्राक् सामप्रयोगप्रशंसामाह—तीक्ष्णोपायेति। तीक्ष्णैर्दारुणैः, ायैः साधनैः, सामादिषु चतुर्थैः दण्डरूपैः उपायैरित्यर्थः, या प्राप्तिः स्वीकरण- ति यावत्, तया गम्योऽपि लभ्योऽपीत्यर्थः, यः अर्थः वस्तु, अरिविजयरूप इति वः, तस्यापि आदौ अग्रतः, संश्रयः समाश्रयः, षाड्गुण्यप्रयोगेषु षष्ठः सामपूर्वकं श्यतास्वीकारः इत्यर्थः, साधुयुक्तः युक्तियुक्तः, समीचीन एवेत्यर्थः—"सान्त्वा दानेन देन समस्तैरथवा पृथक्। विजेतुं प्रयतेतारीन् न दण्डेन कदाचन ॥" इति भग- न्मनूक्तेरित्याशयः, अतिदुरूहार्थसाधनेऽपि प्रथमं सान्त्वेनैव प्रवर्त्तितव्यमिति भावः; "चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ सान्त्वमपक्रिया" इत्युक्तिस्तु ओजस्विताविजृम्भितमेवेति ीयम्। अत्र योग्यं लौकिकमुदाहरणमुपन्यस्यति—उत्तुङ्गेति। उत्तुङ्गम्—अत्युन्नतम्, अग्रं यस्य तथाविधः, वनानां सारभूतः श्रेष्ठ इत्यर्थः, पादपेन्द्रः वनस्पतिः, मान्या-

---

है, प्रभुत्व से आज्ञा बढ़ने लगती है और आज्ञा के बढ़ने से ही राज्य लाभ होता है" ॥ २४४ ॥

मेघवर्ण ने कहा—"नीतिशास्त्र निश्चय ही सद्यः फलकारक होता है। नीति- शास्त्र के बल से आप मेरे शत्रु अरिमर्दन के विश्वस्त एवं अनुकूल बन गये थे और उसके गुप्त भेदों को जानकर आपने सपरिजन उसका विनाश किया है।" यह सुनकर स्थिरजीवी ने कहा—

अत्युग्र (युद्धादि) उपायों से साध्य होने योग्य कार्यों में भी अर्थात् उसे अपना बनाना उचित एवं उपयुक्त ही होता है। क्योंकि—वन में प्रविष्ट होकर पूजा आदि करने के बाद ही वन के सारभूत विशाल वृक्षों को काटा जाता है ॥ २४५ ॥

अथवा स्वामिन् ! किं तेन अभिहितेन, यत् अनन्तरकाले क्रियारहितम् असुखसाध्यं वा भवति ? साधु चेदमुच्यते—

अनिश्चितैरध्यवसायभीरुभिः
पदे पदे दोषशतानुदर्शिभिः।
फलैर्विसंवादमुपागता गिरः
प्रयान्ति लोके परिहासवस्तुताम् ॥ २४६ ॥

न च लघुषु अपि कर्त्तव्येषु धीमद्भिः अनादरः कार्य्यः। यतः—

शक्ष्यामि कर्त्तुमिदमल्पमयत्नसाध्यम्
अत्रादरः कः ? इति कृत्यमुपेक्षमाणाः।

भ्यर्च्यः आदौ मानितः, अभ्यर्चितश्च सन्, छिद्यते जनैरिति शेषः; यथा हि लोके वनस्पतिच्छेदे कर्त्तव्ये प्रथमं तत्सम्मानसत्कारौ प्रयुज्यते, तथा महारिपुसाधने कर्त्तव्ये प्रथमं सान्त्वेनैव तदन्तः प्रवेष्टव्यमिति तात्पर्यम्। विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः। शालिनी वृत्तम् ॥ २४५ ॥

अनिश्चितैरिति। अनिश्चितैः संशयापन्नैः सन्दिग्धैरित्यर्थः, अध्यवसायभीरुभिः उद्यमभीतैः, उत्साहशून्यैः इति यावत्, पदे पदे प्रतिपदं, सर्वत्र इति यावत्, दोषशतानुदर्शिभिः छिद्रानुसन्धानतत्परैः, जनैः कर्त्तृभिः प्रयुक्ताः इति शेषः, गिरः वाक्यानि फलैः विसंवादं वैपरीत्यम्, अनैक्यमित्यर्थः, उपागताः प्राप्ताः, विरुद्धफलभाजः सत्य इति भावः, लोके जगति, परिहासवस्तुताम् उपहासास्पदतां, प्रयान्ति; विफलवागाडम्बरेण ते केवलमात्मनो लाघवं प्रकाशन्ते, तस्मात् तैरलमिति भावः। वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ २४६ ॥

(१) अनादरः - अवहेलना।

शक्ष्यामीति। केचित् पुरुषाः इदं कार्य्यम्, अल्पं लघु, अयत्नसाध्यञ्च

महाराज ! ऐसे परामर्श से लाभ ही क्या हो सकता है कि जिसका कार्यान्वयन संभव न हो, अथवा उसके अनुसार कार्य करने से दुःख हो प्राप्त होता हो और सुख की प्राप्ति की आशा भी न हो ? यह ठीक ही कहा गया है कि—

अस्थिर बुद्धि वाले, अध्यवसाय से डरने वाले, पाप पुण्य पर छिद्रान्वेषण करने वाले व्यक्तियों की वाणी जब फलागमकाल में झूठी सिद्ध हो जाती है तो वे लोकनिन्दा एवं परिहास के ही पात्र बनते हैं ॥ २४६ ॥

साधारण से साधारण कार्य में भी बुद्धिमान् व्यक्तियों को लापरवाही नहीं करनी चाहिये, क्योंकि —

यह कार्य तो अत्यन्त छोटा है। इसको तो मैं अनायास कर सकता हूँ। मेरे

मान्धाता क्व गतस्त्रिलोकविजयी राजा ? क्व सत्यव्रतः ?
देवानां नृपतिर्गतः क्व नहुषः ? सच्छास्त्रवान् केशवः ? ।
मन्यन्ते सरथाः सकुञ्जरवराः शक्रासनाध्यासिनः
कालेनैव महात्मना त्वनुकृता कालेन निर्वासिताः ॥२५५॥

इत्यर्थः, स वैण्यः पृथुः, क्व ? पुरा किल दुर्दान्तं यज्ञदेवद्विजद्वेषिणं पापीयांसमुत्पथं गतं वेणं महीभृतम् अच्युतनिन्दया प्रागेव हतप्रायं हुङ् कृतैः विनाश्य महर्षयः महीमिमां शासकरहितां दस्युपरीताञ्चावलोक्य कृपया तस्य हतस्य राज्ञः दक्षिणं करं मथित्वा पृथुमुत्पादयामासुरिति श्रीमद्भागवतचतुर्थस्कन्धीय-चतुर्दशाध्यायस्य वार्त्ताऽत्रानुसन्धेया । तथा सूर्य्यतनुः सूर्य्य एव तनुः पितृत्वसम्बन्धात् शरीरभूतः यस्य तथोक्तः, सूर्य्यस्य पुत्र इत्यर्थः, 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इति बृहदारण्यकश्रुतेः; 'सूर्याज्जन्म समासाद्य सावर्णिर्भविता मनुः' इति च देवीमहात्म्यम् । "सूर्य्यजनुः" इति क्वाचित्कः पाठः । मनुः आदिराजः, क्व ? ननु भोः ! बलवता प्रबलेन, कालेन एते दशरथादयः, प्रबोध्य आविर्भाव्य, उत्पाद्य इत्यर्थः, निर्मीलिताः निधनं नीताः; कालो हि बलवत्तरः इति भावः ॥ २५४ ॥

मान्धातेति । त्रिलोकविजयी राजा मान्धाता क्व गतः ? सत्यव्रतः भीष्मः, क्व ? गतः इति पूर्वानुबन्धः; देवानां नृपतिः इन्द्रत्वपदमापन्नः इत्यर्थः, नहुषः क्व गतः ? तथा सच्छास्त्रवान् गीतोपनिषदादिसच्छास्त्रोपदेष्टा, केशवः कृष्णश्च, क्व गतः ? इति शेषः, महात्मना प्रबलेन, कालेनैव सरथाः सकुञ्जरवराः सवाहना इत्यर्थः, शक्रासनाध्यासिनः इन्द्रेण सह एकासनस्थायिनः, एते इति शेषः; अनुकृताः निर्मिताः, तु पुनः, कालेन निर्वासिताः ध्वंसिताश्च, मन्यन्ते, जनैरिति शेषः; "कालो हि दुरतिक्रमः' इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २५५ ॥

निकलता है कि काल ही समय पर सबको जगाता है और पुनः सुला भी देता है । काल ही सबकी कीर्ति को बढ़ाता है और समय आने पर उसे मिटा भी देता है ॥ २५४ ॥

त्रिलोकविजयी महाराज मान्धाता आज कहाँ चले गये ? सत्यप्रतिज्ञ भीष्म आज कहां हैं ? देवताओं के राजा बनने वाले महाराज पुरुष नहुष आज कहाँ हैं ? महायोगिराज भगवान् कृष्ण कहाँ गये ? इनके विनाश को देखकर यही मानना पड़ता है कि ये महारथी असङ्ख्य कुञ्जरों के अधिपति एवं इन्द्र के सिंहासन पर बैठने वाले महापुरुष काल के ही द्वारा बनाये गए थे और उसी के द्वारा नष्ट भी कर दिये गये ॥ २५५ ॥

अपि च—

स च नृपतिस्ते सचिवास्ताः प्रमदास्तानि काननवनानि ।
स च ते च ताश्च तानि च कृतान्तदृष्टानि नष्टानि ॥ २५६ ॥

एवं मत्तकरिकर्णचञ्चलां राज्यलक्ष्मीम् अवाप्य नान्यैकनिष्ठो भूत्वा उपभुङ्क्ष्व" ।

॥ इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रे काकोलूकीयं नाम
तृतीयं तन्त्रम् ॥ ३ ॥

———*———

स चेति । स च नृपतिः राजा, ते सचिवाः मन्त्रिणः ताः प्रमदाः कान्ताः, तानि काननवनानि, उपवनानि, विविधानि तरुगुल्मलतादिपूर्णानि विपिनानि वा इत्यर्थः, स च ते च ताश्च तानि च सर्वाणि, कृतान्तेन कालेन, दैवेन वा दृष्टानि अवलोकितानि, ग्रस्तानीति यावत्, दष्टानीति वा पाठः, नष्टानि हतानि च; "कालो हि जगदाधारः कालाधारो न विद्यते" इति न्यायप्रवादात् सर्वं कालेनैव जायते, कालेनैव विलीयते इति भावः ॥ २५६ ॥

॥ इति महाकवि पं० रामकुवेरमालवीयात्मज डा० सुधाकरमालवीय कृतायां
पञ्चतन्त्रस्य 'ज्योत्स्ना' व्याख्यायां 'काकोलूकीयम्' नाम
तृतीयं तन्त्रं समाप्तम् ॥ ३ ॥

———*———

वह राजा, वे सचिव, सुन्दर स्त्रियाँ, सुरम्य कानन एवं उपवन, अब कहाँ रहे ? काल के द्वारा केवल उनकी स्मृतिमात्र रह गयी हैं । कालवश एकदिन वह भी समाप्त हो जायेगी ॥ २५६ ॥

अतः प्रमत्त हाथी के कानों की तरह सतत इधर-उधर घूमने वाली चञ्चल राजलक्ष्मी को पाकर आप गर्वहीन और न्यायनिष्ठ होकर राज्य का उपभोग करें और प्रजा का हित करते रहें" ।

॥ इस प्रकार महाकबि पं० रामकुबेर मालवीय के द्वितीय आतमज
डा० सुधाकर मालवीय कृत पञ्चतन्त्र के काकोलूकीयं नामक
तृतीय तन्त्र की 'मृदुला' हिन्दी टीका पूर्ण हुई ॥ ३ ॥

———*———

पञ्चतन्त्रम्

अथ लब्धप्रणाशम्

(चतुर्थं तन्त्रम्)

अथ इदम् आरभ्यते लब्धप्रणाशं नाम चतुथ तन्त्र, यस्य अयम् आदिमः श्लोकः—

"समुत्पन्नेषु कार्य्येषु बुद्धिर्यस्य न हीयते।
स एव दुर्गं तरति जलस्थो वानरो यथा" ॥ १ ॥

* ज्योत्स्ना *

वाचकः प्रणवो यस्य क्रीडावस्त्वखिलं जगत्।
श्रुतिराज्ञा वपुर्ज्ञानं तं वन्दे देवकीसुतम् ॥
टीकाभिनवां रम्यां 'ज्योत्स्नां' च 'मृदुलां' तथा।
करोति बालबोधाय मालवीयः सुधाकरः ॥

लब्धप्रणाशं। लब्धस्य—प्राप्तस्य, प्रणाशो यत्र तन्त्रे तथाविधम्; प्राप्तमपि वस्तु कथं प्रणश्यति, इत्येतद्विषयकम् इत्यर्थः, तथाविधादनिष्टोत्पादात् सावहितभवनोपदेशविधायकमेतत् तन्त्रमिति यावत्। आदिमः—अग्रिमः, आदिशब्दात् "अग्रादिपश्चाड्डिमच्" इति वार्त्तिकसूत्रेण डिमच्प्रत्ययः।

समुत्पन्नेष्विति। कार्य्येषु करणीयवस्तुषु, विपत्तिसङ्कुलव्यापारेष्विति यावत्, समुत्पन्नेषु उपस्थितेषु सत्सु, यस्य बुद्धिः मतिः, न हीयते, हाधातोः कर्मकर्त्तरि लट्, कर्मवद्भावात् आत्मनेपदं यक् च। न क्षयं गच्छति, प्रत्युत प्रस्फुरतीति भावः, स

* मृदुला *

अब 'काकोलूकीयम्' के बाद (विष्णुशर्मा ने राजपुत्रों से कहा कि) मेरे द्वारा 'लब्धप्रणाश' (प्राप्त का नाश) नामक चतुर्थ तन्त्र प्रारम्भ किया जाता है। जिसका प्रथम श्लोक इस प्रकार है—

समक्ष उपस्थित हुए कार्यों में जिस पुरुष की बुद्धि लुप्त (कुण्ठित) नहीं होती, जो संकट में भी धैर्यपूर्वक अपना कर्तव्य स्थिर कर सकता है, वही पुरुष, जल में

तत् यथा अनुश्रूयते—

अस्ति कस्मिंश्चित् समुद्रोपकण्ठे महान् जम्बूपादपः सदाफलः, तत्र च रक्तमुखो नाम वानरः प्रतिवसति स्म। तत्र च तस्य तरोरधः कदाचित् करालमुखो नाम मकरः समुद्रसलिलात् निष्क्रम्य सुकोमलबालुकासनाथे तीरोपान्ते न्यविशत। ततश्च रक्तमुखेन स प्रोक्तः—"भोः! भवान् समभ्यागतोऽतिथिः, तत् भक्षयतु मया दत्तानि अमृततुल्यानि जम्बूफलानि उक्तञ्च—

प्रियो वा यदि वा द्वेष्यो मूर्खो वा यदि पण्डितः।
वैश्वदेवान्तमापन्नः सोऽतिथिः स्वर्गसङ्क्रमः॥ २॥

एव जलस्थः जलमध्यस्थितः, वानरो यथा वानर इव, दुर्गं दुःखेन गच्छत्यत्र इत्यधिकरणे दुरुपपदात् गमधातोः "सुदुरोरधिकरणे" इति वार्तिकसूत्रेण डप्रत्ययः, कर्मणि तु खल् एव, यथा दुःखेन गम्यते इति दुर्गमः पन्थाः, सङ्कटं, तरति विपदस्त्राणं प्राप्नोति इत्यर्थः; प्रत्युत्पन्नमतेः सर्वत्रैव विजयलाभः इति भावः॥ १॥

(१) समुद्रोपकण्ठे—सागरसमीपे। सदाफलः—अविरतफलः, सर्वस्मिन्नेव काले फलभरावनतः इत्यर्थः। करालमुखः—करालं–विकटं, मुखं यस्य तथाविधः। सुकोमलबालुकासनाथे—मृदुलसिकतासमन्विते। न्यविशत्—अवस्थित, विश्रामजमुखोपभुक्तये तत्तीरभूमिमधितष्ठौ इत्यर्थः, निपूर्वकात् विशतेः "नेर्विशः" (पा० सू० १।३।१७) इति सूत्रेण आत्मनेपदम्।

प्रिय इति। प्रियो वा अनुरागभाजनं वा, द्वेष्यो यदि वा विरागभाजनं वा, मूर्खो वा अज्ञानोपहतविवेकः वा, यदि वा पण्डितः ज्ञानी वा, भवतु इति शेषः, वैश्व-

---

स्थित (रक्तमुख नामक) वानर की तरह संकटों को पार कर सकता है अर्थात् विपत्तियों से छुटकारा पा सकता है॥ १॥

जैसा कि विद्वानों के द्वारा सुना जाता है—

किसी समुद्र तट पर सदा फलने वाला एक विशाल जामुन का वृक्ष था। उस वृक्ष पर रक्तमुख नामक एक वानर रहा करता था। किसी समय उस वृक्ष के नीचे करालमुख नाम का एक मगर समुद्र-जल से निकलकर कोमल बालुका से युक्त भूमि पर आकर बैठ गया। तब रक्तमुख ने उससे कहा—आप हमारे प्रिय अतिथि हैं, इसलिए अमृत के समान स्वादिष्ट जम्बूफल आप खाइये। कहा भी गया गया है—

'जो अतिथि अपना प्रिय हो अथवा शत्रु, मूर्ख हो या पण्डित बलिवैश्वदेव

नपृच्छेत् चरणं गोत्रं न च विद्यां कुलं न च ।
अतिथिं वैश्वदेवान्ते श्राद्धे च मनुरब्रवीत् ॥ ३ ॥
दूरमार्गश्रमश्रान्तं वैश्वदेवान्तमागतम् ।
अतिथिं पूजयेत् यस्तु स याति परमां गतिम् ॥ ४ ॥
अपूजितोऽतिथिर्यस्य गृहात् याति विनिश्वसन् ।
गच्छन्ति विमुखास्तस्य पितृभिः सह देवताः" ॥ ५ ॥

देवान्तं विश्वेभ्यो देवेभ्यो देयः बलिः वैश्वदेवः, तस्य अन्तम् अवसानं, विश्वदेवशब्दात् अणि रूपम् गृहस्थैः नित्यमनुष्ठीयमानात् वैश्वदेवाख्यबलिकर्मणः परम् इत्यर्थः, आपन्नः उपस्थितः, भगवता मनुना एष एव कालः अतिथीनां विहितः इति वेदितव्यम्; सः उक्तप्रियादिरूपः, अतिथिः गृहागतः, अतति गच्छति, न तिष्ठति इत्यर्थे, अतधातोः इथिनप्रत्ययः "एकरात्रं हि निवसन् ह्यतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः । अनित्याऽस्य गतिर्यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते ॥" इत्युक्तलक्षणे ब्राह्मणशब्दः सामान्यवाची; स्वर्गसङ्क्रमः दुर्गम-स्वर्गमार्गे सञ्चरणोपायभूतः, स्वर्गस्य अधिरोहणीभूत इत्यर्थः; "सङ्क्रमो दुर्गसञ्चरः" इत्यमरः, भवतीति शेषः; तादृशातिथिसत्कारात् स्वर्गलाभो जायते इति भाव ॥ २ ॥

नेति । वैश्वदेवान्ते वैश्वदेवबलिकर्मसमापनानन्तरं, तथा श्राद्धे पितृकृत्ये च, उप-स्थितमिति शेषः, अतिथिम् अभ्यागतं, शरणं गृहं, न, गोत्रं पित्रादिकं, च न, विद्यां तथा कुलञ्च वंशञ्च, न पृच्छेत्, जिज्ञासामन्तरेणैवासौ सत्कर्त्तव्य इति भावः, एवं मनुरब्रवीत् ॥ ३ ॥

दूरेति । यस्तु दूरेण मार्गेण दीर्घाध्वपर्यटनेन, यः श्रमः, तेन श्रान्तं क्लान्तं, वैश्व-देवान्तं गृहस्थैः यथाविधि तत्कर्मसमापनानन्तरम्, आगतम् अतिथिं पूजयेत् भोजन-दानादिना तोषयेदित्यर्थः, स परमां गतिं मुक्तिमित्यर्थः, याति प्राप्नोति ॥ ४ ॥

अपूजित इति । अतिथिः अपूजितः असत्कृतः, अत एव विनिश्वसन् भग्न-

(बलिवैश्वदेव नामक एक यज्ञविशेष, जिसमें तैयार हुए भोजन से सब देवताओं को बलि दी जाती है) के अन्त में उपस्थित हो जाय तो उसे अतिथि के रूप में आया हुआ स्वर्ग का मार्ग समझना चाहिए ॥ २ ॥

बलिवैश्वदेव के अन्त में तथा श्राद्ध में समुपस्थित अतिथि से उसका चरण (वेद की शाखा), गोत्र, विद्या (वेद-वेदांग का अध्ययन) और कुल आदि के विषय में न पूछे—ऐसा मनु ने कहा है ॥ ३ ॥

लम्बा रास्ता तय करने के श्रम से थके हुए और बलिवैश्वदेव कर्म की समाप्ति पर उपस्थित अतिथि का जो मनुष्य सत्कार करता है, वह श्रेष्ठ गति को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

एवम् उक्त्वा तस्मै जम्बूफलानि ददौ। सोऽपि तानि भक्षयित्वा तेन सह चिरं गोष्ठीसुखम् अनुभूय भूयोऽपि स्वभवनम् अगात्। एवं नित्यमेव तौ वानर-मकरौ जम्बूच्छायास्थितौ विविधशास्त्रगोष्ठ्या कालं नयन्तौ सुखेन तिष्ठतः। सोऽपि मकरो भक्षितशेषाणि जम्बूफलानि गृहं गत्वा स्वपत्न्याः प्रयच्छति।

अथ अन्यतमे दिवसे तया स पृष्टः,—"नाथ! क्व एवंविधानि अमृत-फलानि प्राप्नोषि?" स आह—भद्रे! मम अस्ति परमसुहृत् रक्तमुखो नाम वानरः, स प्रीतिपूर्वम् इमानि फलानि प्रयच्छति"। अथ तया अभिहितम्—"यः सदा एव अमृतप्रायाणि ईदृशानि फलानि भक्षयति, तस्य हृदयम् अमृतमयं भविष्यति!! तद् यदि मया भार्यया ते प्रयोजनं ततः तस्य हृदयं मह्यं प्रयच्छ, येन तद्भक्षयित्वा जरामरणरहिता त्वया सह

मनोरथतया दीर्घं निश्वसन्, यस्य गृहात् भवनात्, याति प्रतिनिवर्त्तते, तस्य देवताः, गृहस्था इति शेषः, पितृभिः पितृलोकैः सह, विमुखाः पराङ्मुखाः, रुष्टाः सत्यः इत्यर्थः, गच्छन्ति तदालयं त्यजन्तीत्यर्थः; इतोऽपि अतिथिः सत्कार्य इति भावः॥ ५॥

(१) अमृतप्रायाणि—अमृततुल्यानि, प्रायेणामृतानि इति "राजदन्तादित्वात् पूर्व-

---

जिस पुरुष के घर से अतिथि आदर न पाकर अत एव (अपना अपमान स्मरण कर) लम्बी साँस लेता हुआ वापस चला जाता है, उस पुरुष के घर से देवता और पितृगण भी मुख फेरकर चले जाते हैं॥ ५॥

यह कहकर उस वानर ने उस मगर को सुन्दर जम्बूफल दिये। वह भी उन्हें खाकर उसके साथ बहुत देर तक वार्तालाप का आनन्द उठाकर फिर अपने घर चला गया। इस प्रकार वे वानर और मगर प्रतिदिन ही जम्बू-वृक्ष की छाया में बैठकर भिन्न-भिन्न शास्त्रों की चर्चा से समय बिताते हुए सुखपूर्वक रहते थे। वह मगर भी बचे हुए जम्बूफलों को घर जाकर अपनी स्त्री को दिया करता था।

एक दिन उसकी पत्नी ने उससे पूछा—नाथ! ऐसे अमृततुल्य फल तुम कहाँ से नित्य पाते हो? उसने कहा—भद्रे! रक्तमुख नाम का वानर मेरा परम मित्र है, वही प्रेमपूर्वक ये फल दिया करता है। तब उसने कहा—जो सदा ही ऐसे अमृत समान फल खाता है, उसका हृदय अवश्य ही अमृतमय होगा। इसलिये अगर तुम्हें मुझ से कुछ प्रयोजन है (यदि तुम मुझे अपनी पत्नी रखना चाहते हो) तो उसका हृदय मुझे (लाकर) दो, जिससे उसे खाकर जरामरण से रहित हो

भोगान् भुनज्मि"। स आह,—"भद्रे ! मा मा एवं वद !! यतः स प्रतिपन्नोऽस्माकं भ्राता, अपरं फलदाता, ततो व्यापादयितुं न शक्यते, तत् त्यज एनं मिथ्याग्रहम्। उक्तञ्च—

एकं प्रसूयते माता द्वितीयं वाक् प्रसूयते।
वाग्जातिमधिकं प्रोचुः सोदर्य्यादपि बन्धुवत्" ॥ ६ ॥

अथ मकरी आह—'त्वया कदाचित् अपि मम वचनं न अन्यथा कृतम्, तत् नूनं सा वानरी भविष्यति, यतः तस्या अनुरागतः सकलमपि दिनं तत्र गमयसि, तत् त्वं ज्ञातो मया सम्यक्। यतः—

साह्लादं वचनं प्रयच्छसि न मे, नो वाञ्छितं किञ्चन,
प्रायः प्रोच्छ्वसिषि द्रुतं हुतवहज्वालासमं रात्रिषु।

निपातः। भुनज्मि—उपभोगं करोमि भुजेः उपभोगार्थत्वात् अत्र भुञ्जे इति प्रयोगस्यैव साधुत्वम्, अतः परस्मैपदं चिन्त्यम्। प्रतिपन्नः—अङ्गीकृतः। मिथ्याग्रहं—निष्फलनिर्बन्धम्, अयुक्तमाग्रहमित्यर्थः, "निर्बन्धोपरागार्कादयो ग्रहाः" इत्यमरः।

एकेति। माता जननी, एकं, सोदरमिति शेषः, प्रसूयते जनयति, वाक् वाणी, द्वितीयं, भ्रातरमिति शेषः, प्रसूयते, (तत्र) वाग्जातं, भ्रातरमिति भावः, सोदर्यादपि सहोदराद् भ्रातुरपि, बन्धुवत् मित्रमिव, अधिकं श्रेष्ठं, प्रियमिति भावः, प्रोचुः, पण्डिता इति शेषः ॥ ६ ॥

(१) नूनं—निश्चितम्। सा—तव प्रियतमा, वानरी, न तु वानर इति भावः।

साह्लादमिति। हे धूर्त्त ! मे मम, साह्लादं सानन्दं, सादरमिति यावत्, वचनं

तुम्हारे साथ भोग भोगूँ। उसने कहा—भद्रे ! ऐसा मत कहो, क्योंकि हमने उसे अपना भाई स्वीकार किया है। दूसरी बात यह भी है कि वह मेरा फल देकर उपकार भी करता है अतः उसे हम मार नहीं सकते। इसलिए तुम इस निरर्थक हठ को छोड़ दो। कहा भी गया है—

एक बन्धु को माता उत्पन्न करती है और दूसरी को वाणी (सम्भाषण) अर्थात् वाग्दान से बनाया जाता है। पण्डित लोग इन दोनों में सम्भाषण से उत्पन्न बन्धु को सोदर भाई से भी श्रेष्ठ बताते हैं ॥ ६ ॥

तब मगर की स्त्री ने कहा—'तुमने पहले कभी भी मेरी बात नहीं टाली। तब निश्चय ही वह वानरी है, क्योंकि उसी के प्रेम के कारण तुम सारा दिन वहीं (उसी के पास) बिताते हो। मैंने तुम्हें अच्छी तरह समझ लिया है अर्थात् तुम्हारे मानसिक भावों को मैंने भली-भाँति जान लिया है। क्योंकि—

कण्ठाश्लेषपरिग्रहे शिथिलता, यन्नादराच्चुम्बसे
तत्ते धूर्त्त ! हृदि स्थिता प्रियतमा काचिन्ममैवापरा" ।। ७ ।।

सोऽपि पत्न्याः पादोपसङ्ग्रहं कृत्वा अङ्कोपरि निधाय तस्याः कोपकोटि-मापन्नायाः सुदीनम् उवाच—

"मयि ते पादपतिते किङ्करत्वमुपागते ।
त्वं प्राणवल्लभे ! कस्मात् कोपने ! कोपमेष्यसि ?" ।। ८ ।।

वाक्यं, न, तथा किञ्चन वाञ्छितम् अभिलषितं, नो प्रयच्छसि प्रददासि, त्वमिति शेषः; रात्रिषु प्रायः बाहुल्येन, हुतवहज्वालासमम् अग्निशिखासदृशम्, ऊष्णमिति भावः, द्रुतं पुनः पुनः, प्रोच्छ्वसिषि निश्वासं त्यजसि; कण्ठे यः आश्लेषः आलिङ्गनं, तस्य परिग्रहे स्वीकरणे, कण्ठग्रहणपूर्वकमालिङ्गने इत्यर्थः, शिथिलता शैथिल्यम्, अनास्था इत्यर्थः, तवेति शेषः, यच्च आदरात् आग्रहातिशयात्, न चुम्बसे न चुम्बनं करोषि, अत्रात्मनेपदं मृग्यं, परन्तु "प्रियामुखं किम्पुरुषश्चुचुम्बे" इतिवत् कर्मव्यतीहारे कथञ्चित् आत्मनेपदं भवितुमर्हतीति विभाव्यम् । तत् तस्मात्, ममैव मदपेक्षयापीत्यर्थः, प्रियतमा अतिशयेन प्रिया, काचित् अपरा नारी, ते हृदि स्थिता, इति मन्ये इति आध्याहार्यम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।। ७ ।।

(१) पादोपसङ्ग्रहं – चरणधारणम् । कोपकोटिं–क्रोधप्रकर्षं, कोपस्य परां काष्ठामित्यर्थः, 'कोटिः स्त्री धनुषोऽग्रेऽश्रौ सङ्ख्याभेदप्रकर्षयोः' इति मेदिनी । आपन्नायाः—प्राप्तायाः, अतिक्रुद्धाया इत्यर्थः । सुदीनम्—अतिकातरम् ।

मयीति । हे कोपने ! हे भामिनी ! कोपनस्वभावे ! इत्यर्थः, अल्पेनैव कारणेन कोपकरणादिति भावः, प्राणवल्लभे ! जीवितेश्वरि ! मम जीवनादपि अधिकप्रियत्वात् विरूपायां त्वयि न जीवितुमपि शक्नोमि इति भावः; ते तव, पादपतिते किङ्करत्वं-

---

तुम मेरे साथ प्रेमपूर्वक बातचीत नही करते और न मेरी किसी इच्छा को ही पूर्ण करते हो । रात्रि के समय प्रायः अग्नि की ज्वाला के समान उष्ण (लम्बी) साँस छोड़ा करते हो । आग्रहपूर्वक कण्ठ आलिङ्गन में तुम्हें जरा भी उत्सुकता नहीं और न प्रेम से चुम्बन ही करते हो । हे धूर्त ! इस सबका कारण यही है कि तुम्हारे हृदय में मेरे अतिरिक्त कोई दूसरी भी प्रियतमा विराजमान है ।। ७ ।।

वह (मगर) अत्यन्त कुपित हुई अपनी पत्नी के चरण पकड़कर और उसे गोद में बैठाकर दीनतापूर्वक कहने लगा—

हे कोपशीले ! प्राणप्रिये ! अब जब कि मै तुम्हारे चरणों में पडा हुआ हूँ और दास के समान तुम्हारी आज्ञा पालन करने के लिए उद्यत हूँ फिर तुम किस कारण से क्रोध करोगी ! (अतः तुम्हें क्रोध छोड़ देना चाहिए) ।। ८ ।।

अपि च—

यदैव राज्ये क्रियतेऽभिषेकः
तदैव बुद्धिर्व्यसनेषु योज्या।
घटा हि राज्ञामभिषेककाले
सहाम्भसेवापदमुद्गिरन्ति ॥ २५२ ॥

न च कश्चित् अनधिगमनीयो नाम अस्ति आपदाम्। उक्तञ्च—

अन्यत्र—लौहित्यं यस्याः तथाविधा। जलबुद्बुदावलीव जलानां—तोयानां, यानि बुद्बुदानि—स्फोटाः, बिम्बानीति यावत्, तेषाम् आवलीव—श्रेणिरिव, स्वभावभङ्गुरा—प्रकृत्यैव अपगमनशीला; अन्यत्र—असारत्वात् स्वभावत एव विलयनशीला। सीरप्रकृतिरिव—लाङ्गलस्वभाव इव, कृतघ्ना—कृतोपकारस्यापि पुरुषस्य उपकारं विस्मृत्य अपकारपरायणेत्यर्थः; अन्यत्र—कृष्टक्षेत्रस्य शक्त्याधिक्यजननाय पुनः कर्षणेन पूर्वकर्षणचिह्नविलोपकारिणीति भावः। क्षणदृष्टनष्टा—क्षणेन दृष्टा क्षणेन नष्टा च, अचिरस्थायिनीत्यर्थः, आगमन-निर्गमनयोः क्षणेनैव सम्भवादिति भावः, लिङ्गविपरिणामोऽत्र कर्त्तव्यः।

यदैवेति। यदैव राज्ये अभिषेकः क्रियते, तदैव बुद्धिः, राज्ञामिति शेषः, व्यसनेषु विपत्तिषु, योज्या योजनीया; राज्यलिप्सया बहूनां शत्रूणां सद्भावात् "अभिषेकसमय एव मम विपद्भिः भवितव्यम्" इति सततमेव प्रत्यग्रसिंहासनसमारूढैर्नृपतिभिः मन्तव्यम् इति भावः; अन्यथा—व्यसनेषु कामादिषु, योज्या आसञ्जनीया, भवतीति शेषः, मदान्धाः नृपतयः व्यसनेषु आसक्ता भवन्तीत्यर्थः; अतुलविभवमधिगत्य नृपतयः प्रायशः एव विवेकरहिताः मदोद्धताश्च सन्तः स्वेच्छाचारिणः भवन्तीति भावः। हि तथा हि, राज्ञामभिषेककाले घटाः अभिषेकार्थं तीर्थोदकपरिपूर्णाः कुम्भाः, अम्भसा जलेन, सह आपदम् उद्गिरन्ति इव उद्वमन्ति इव, तच्छिरसि पातयन्तीवेत्यर्थः; नृपतयः अभिषेकसमकालमेव विपन्ना भवन्तीति भावः। अत्र द्वितीयपादे—"तदैव याति व्यसनेषु बुद्धिः" इति पाठे तु—तदैव व्यसनेषु मृगयादिष्वष्टादशसु दोषेषु, बुद्धिर्याति धावति; तदा धनलाभात् कर्त्तव्यज्ञानशून्या भवन्ति राजानः इति भावः। उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः। उपजातिः वृत्तम् ॥ २५२ ॥

और स्वप्न में प्राप्त हुए धन की तरह देखने के बाद तत्काल ही विनष्ट हो जाने वाली होती है। कहा भी गया है कि—

राज्याभिषेक होते ही अनेक प्रकार की विपत्तियों को दूर करने में एवं नाना विलास-सामग्रियों के उपभोग में बुद्धि व्यस्त हो जाती है। अभिषेक के लिये सज्जित घट राजा पर जल-वृष्टि के साथ साथ आपत्तियाँ भी बरसाते हैं ॥ २५२ ॥

आपत्ति के लिये कोई भी स्थान अगम्य नहीं होता और कोई भी विषय अनधि-

रामस्य व्रजनं, बलेर्नियमनं, पाण्डोः सुतानां वनं,
वृष्णीनां निधनं, नलस्य नृपतेः राज्यात् परिभ्रंशनम् ।
नाटयाचार्य्यकमर्जुनस्य, पतनं सञ्चिन्त्य लङ्केश्वरे
सर्वं कालवशाज्जनोऽत्र सहते, कः कं परित्रायते ? ॥ २५३ ॥
क्व स दशरथः स्वर्गे भूत्वा महेन्द्रसुहृत् गतः ?
क्व स जलनिधेर्वेलां बद्धा नृपः सगरस्तथा ? ।
क्व स करतलाज्जातो वैण्यः ? क्व सूर्य्यतनुर्मनुः ?
ननु बलवता कालेनैते प्रबोध्य निमीलिताः ॥ २५४ ॥

अनधिगमनीय इति । अनधिगमनीयः—अधर्षणीयः, अविषयीभूतः इत्यर्थः; अपि तु सर्व एव आपदा आक्रम्यन्ते इति भावः ।

रामस्येति । रामस्य राघवस्य, व्रजनम् अरण्यगमनं, बलेः दैत्यराजस्य, नियमनं बन्धनं, पाण्डोः सुतानां युद्धिष्ठिरादीनां, वनं वनवासं, वृष्णीनां यदूनां, निधनं ध्वंसं, नलस्य नृपतेः राज्यात् परिभ्रंशनं च्युतिम्, अर्जुनस्य नाट्याचार्यकं नाट्याचार्यपद-स्वीकरणं विराटभवने अज्ञातवासे बालिकानां नृत्यशिक्षादानमित्यर्थः, तथा लङ्केश्वरे रावणे, त्रिभुवनजयिनि इति भावः, पतनं, सञ्चित्य विचार्य, अत्र संसारे, जनः कालवशात् सर्वं सहते, को जनः, कं परित्रायते ? न कोऽपि कम् इत्यर्थः; यदि ईदशानां भूरिधाम्नां महीयसामेतादृशी गतिः, तदा अल्पीयोभिरन्यपरिरक्षणं सुतरामेव दुष्करमिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २५३ ॥

क्वेति । यः महेन्द्रस्य देवराजस्य, सुहृत् सखा, भूत्वा स्वर्गे अमरलोके, मानुष-दुर्गमे इत्यर्थः, गतः, स दशरथः क्व ? तथा, जलनिधेः समुद्रस्य, वेलां तीरभूमिं बद्धा, लोकं पालयन्निति शेषः, समुद्रवेलामपि नियम्य सागरपरिवृतां भूमिं शासदित्यर्थः, स नृपः सगरः क्व ? करतलात् वेणनृपतेः करतलमन्थनादित्यर्थः, जातः अयोनिसम्भव

गमनीय नहीं होता । कहा भी गया है कि—

राम के वनवास, बलि के बन्धन, पाण्डवों के वन गमन, वृष्णियों के निधन, नल के राज्य-निर्वासन, अर्जुन का (बृहन्नला के रूप में) नृत्य की शिक्षा देने एवं लङ्काधिपति रावण के पतन को देखने से यही प्रतीत होता है कि भाग्यवश प्रत्येक व्यक्ति को आपत्ति सहनी पड़ती है । कोई भी किसी को बचने वाला नहीं होता है ॥ २५३ ॥

इन्द्र को सखा बनाकर उसके सिंहासन पर एक साथ बैठने वाले राजा दशरथ आज कहाँ चले गये ? समुद्र की सीमा स्थिर करने वाले राजा सगर कहाँ चले गये ? करतल के मन्थन से उत्पन्न होने वाले राजा वैन्य अब कहाँ रहे ? सूर्य के पुत्र महाराज मनु आज कहाँ हैं ? उन महापुरुषों के विनाश को देखकर यही निष्कर्ष

सा अपि तद्वचनम् आकर्ण्य अश्रुप्लुतमुखी तमुवाच—

"साद्धं मनोरथशतैस्तव धूर्त्त ! कान्ता
सैव स्थिता मनसि कृत्रिमभावरम्या ।
अस्माकमस्ति न कथञ्चिदिहावकाशः
तस्मात् कृतं चरणपातविडम्बनाभिः ॥ ९ ॥

अपरं, सा यदि तव बल्लभा न भवति, तत् किं मया भणितेऽपि तां न व्यापादयसि ? अथ यदि स वानरः, तत् कः तेन सह तव स्नेहः ? तत् किं

...सत्वम्, उपागते प्राप्ते, मयि त्वं कस्मात् कोपम् एष्यसि प्राप्स्यसि ? कस्मात् ...ष्यसि इत्यर्थः; चरणनिपतिते भृत्ये कोपो न युज्यते इति भावः ॥ ८ ॥

(१) अश्रुप्लुतमुखी—नेत्रजलसिक्तवदना ।

साद्धमिति । हे धूर्त्त ! मनोरथशतैः अभीष्टसमूहैः, 'तया सह एवं वसामि, तथा 'इत्थमात्मानं विनोदयामि' इत्याद्यसङ्कल्पैः कल्पनाजातैरित्यर्थः, साद्धं सह, कृत्रिमेण क्रियया निर्वृत्तं कृत्रिमं तेन, कृधातोः "ड्वितः क्त्रिः" (पा० सू० ३।३।८८) इति क्त्रिप्रत्ययः, ततः "क्त्रेर्मम्नित्यम्" (पा० सू० ४।४।२०) इति मप्प्रत्ययः आहार्य्येण, कपटेन इत्यर्थः, न तु वास्तवेन इति भावः, भावेन विलास-विशेषेण, रम्या मनोहारिणी, सैव कान्ता प्रिया, तव मनसि चेतसि, स्थिता वर्त्तते, तस्यां तव नितरामभिलाष इति भावः; इह तव मनसि इत्यर्थः, अस्माकं कथञ्चित् केनापि प्रकारेणेत्यर्थः, अवकाशः स्थानं, नास्ति, तस्मात् चरणपातविडम्बनाभिः पादपतनरूपप्रतारणाभिः, कृतम् अलम्, न किमपि प्रयोजनम् इत्यर्थः; यदा ते मनसि मदीयं स्थानं नास्ति, तदा बाह्यप्रणयप्रदर्शनार्थं चरणपतनमनावश्यकमेव इति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ९ ॥

(२) सः—तव प्रियजनः, वानरः—पुंस्त्वोपक्षितः कश्चित् मर्कटः, तत्—तदा,

---

वह मगर की स्त्री भी उसके वचनों को सुनकर आँखों में आँसू भर कर बोली—

हे वञ्चक ! तुम्हारे मन में तो वही प्रिया विराजमान है, जो अपने कृत्रिम हाव भाव से तुम्हारा अनुरञ्जन किया करती है । तुम भी अब उसी के विषय में सोचा करते हो और उसी की इच्छा पूर्ति के लिए तुम सैकड़ों मनसूबे बाँधा करते हो, इसलिए तुम्हारे हृदय में हमारे लिए स्थान कहाँ ? (हमारे ऊपर तुम्हारा कुछ भी प्रेम नहीं है) अत एव पैरों पर गिरकर धोखा देने से क्या लाभ ? ॥ ९ ॥

दूसरी बात यह भी है कि—यदि वह तुम्हारी प्राण प्रिया नहीं है तो मेरे कहने पर भी उसे क्यों नहीं मारते ? और यदि वह बानर है तो तुम्हारा उसके साथ

बहुना ? यदि तस्य हृदयं न भक्षयामि, तर्हि मया प्रायोपवेशनं कृतं विद्धि" । एवं तस्याः तं निश्चयं ज्ञात्वा चिन्ताव्याकुलितहृदयः स प्रोवाच—"अहो ! साधु इदमुच्यते—

वज्रलेपस्य मूर्खस्य नारीणां कर्कटस्य च ।
एको ग्रहस्तु मीनानां नीलीमद्यपयोस्तथा" ॥ १० ॥

"तत् किं करोमि ? कथं स मे बध्यो भवति ?" इति विचिन्त्य वानर-पार्श्वम् अगमत् । वानरोऽपि चिरेणायान्तं तं सोद्वेगम् अवलोक्य प्रोवाच—भो मित्र ! किम् अद्य चिरवेलायां समायातोऽसि ? कस्मात् साह्लादं न आलपसि ? न वा सुभाषितानि पठसि ?" स आह—"मित्र ! अहं तव

तेन—पुं वानरेण सह, तव—पुरुषस्य इति भावः, कः स्नेहः—कः प्रणयः ? पुरुषेण सह पुरुषस्य तादृशप्रेमासम्भवात् नूनं सा स्त्रीत्ववतीति भावः । प्रायोपवेशनम्—'अभोजनेन प्राणान् त्यक्ष्यामि' इति सङ्कल्प्य अनशनव्रतग्रहणम् ।

वज्रलेपस्येति । वज्रलेपस्य आमतिन्दुकफलादिना विरचितस्य प्रलेपविशेषस्य, मूर्खस्य मूढस्य, नारीणां स्त्रीणां, कर्कटस्य कुलीरकस्य, मीनानां मत्स्यानाञ्च, ग्रहः ग्रहणम्, आक्रान्तिरित्यर्थः, आग्रहश्च, सङ्कल्प इत्यर्थः, यथा एकस्तु एक एव, तुकारोऽत्रावधारणार्थः, कदाचिदपि नान्यथा भवेदित्यर्थः, तथा नीलीमद्यपयोः अपीति शेषः, नीलवर्णस्य मद्यपस्य च ग्रहोऽपि तथैवेत्यर्थः यथा वज्रलेपलिप्तस्य वस्तुनः, कर्कटमीनयोः दशनाग्रेण ग्रहणस्य च ततो विमुक्तिरतिदुष्करी, तथा नीलवर्णस्य सङ्गोऽपि ततो विमुक्तिरतिदुष्करी, यथा मूर्खनार्योः सङ्कल्पो न प्रबोधोपशमनीयः तथा मद्यपस्य सङ्कल्पोऽपीति भावः (द्र० मित्रभेदे १८५ पृष्ठे) ॥ १० ॥

इतना अधिक स्नेह क्यों है ? अधिक क्या, अगर उसका हृदय मुझे खाने के लिये न मिलेगा तो यह निश्चय समझ लो कि मैं प्रायोपवेशन (मरने के लिये अनशन) करूँगी । इस प्रकार उसका यह निश्चय जानकर वह (मगर) चिन्ता से व्यथित मन होकर कहा । अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

(वज्रलेप मूर्ख अर्थात्) महामूर्ख, स्त्री, केकड़ा, मछली, नील रंग तथा मद्यपायी व्यक्ति की पकड़ प्रबल होती है ॥ १० ॥

'क्या करूँ ? उसे मैं कैसे मार सकूँगा' इत्यादि बातें सोचता हुआ वह वानर के पास गया । बानर भी उसको देर से आया हुआ और व्याकुल एवं उद्विग्नमन देखकर बोला—'मित्र ! आज आने में देर क्यों हुई ? आनन्दपूर्वक बातचीत क्यों नहीं करते ? सूक्तियाँ (उत्तम-उत्तम वचन) क्यों नहीं सुनाते ?' तब वह बोला—

नुष्ठितम्"। प्रत्युत्पन्नमतिः वानरः, आह—"भद्र! यदि एवं, तत् किं त्वया मम तत्र एव न व्याहृतम्? येन स्वहृदयं जम्बूकोटरे सदा एव मया सुगुप्तं कृतं, तत् भ्रातृपत्न्या अर्पयामि। त्वया अहं शून्यहृदयोऽत्र कस्मात् आनीतः?' तदाकर्ण्य मकरः सानन्दमाह—'भद्र! यदि एवं, तदर्पय मे हृदयं, येन सा दुष्टपत्नी तद्भक्षयित्वा अनशनात् उत्तिष्ठति। अहं त्वां तमेव जम्बूपादपं प्रापयामि"। एवमुक्त्वा निवर्त्य जम्बूतलम् अगात्। वानरोऽपि कथमपि जल्पितविविधदेवतोपचारपूजः तीरमासादितवान्; ततश्च दीर्घतरचङ्क्रमणेन तमेव जम्बूपादपमारूढः चिन्तयामास--अहो! लब्धाः तावत् प्राणाः। अथवा साधु इदमुच्यते—

अत्यन्तिकी भोगवासना इत्यर्थः। व्याहृतम्—उक्तम्। जम्बूकोटरे—जम्बूवृक्षरन्ध्रे। सुगुप्तं सुरक्षितम्। भ्रातृपत्न्यैः—भ्रातृजायायैः, भ्रातृपत्न्या अर्पयामि इति सन्धौ यकारलोपः, केचित्तु "भ्रातृपत्न्याः" इति विवक्षया षष्ठीमपि वदन्ति। अनशनात्—प्रायोपवेशनरूपम् अनशनव्रतं परित्यज्य इत्यर्थः, "ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च" (वा०) इति ल्यब्लोपे पञ्चमी। जल्पितेति। जल्पिताः—"यदि अहम् अस्मात् सङ्कटात् उत्तीर्णो भवेयं तदा एवमेवंरूपेण देवतास्तर्पयामि" इति मननीकृताः, विविधानां—बह्वीनां, देवतानाम् उपचारैः—उपकरणैः, षोडशरूपैः दशरूपैः वा इत्यर्थः, पूजा येन तथोक्तः। दीर्घतरचङ्क्रमणेन—सुदीर्घकुटिलगत्या, भृशम् उत्प्लवनेन इत्यर्थः; कुटिलं क्रमणमित्यर्थे "नित्यं कौटिल्ये गतौ" (पा० सू० ३।१।२३) इति यङ्, ततः "यङोऽचि च" (पा० सू० २।४।७४) इति तस्य लुकि ल्युट्प्रत्यये चङ्क्रमणमिति सिद्धम्।

की इच्छा हुई है, इसी कारण यह सब मैंने किया है।' तब प्रत्युत्पन्नमति (समय पर उपाय सूझ सकने वाले) वानर ने कहा—'भद्र! यदि ऐसी बात थी तो आपने मुझ से वहीं क्यों नहीं कहा? मैं सदा ही अपना हृदय जम्बू कोटर में सुरक्षित रखता हूँ, उसे भाभी को दे देता, आप हृदयरहित कर मुझको क्यों लाये?' यह सुन, मगर ने आनन्दपूर्वक कहा—'भद्र! यदि ऐसी बात है तो अपना हृदय मुझे दे दो, जिससे कि वह दुष्ट स्त्री उसे खाकर अनशन व्रत का परित्याग करे। मैं पुनः तुम्हें उसी जामुन के वृक्षपर पहुँचाये देता हूँ।' यह कहकर पुनः लौटकर उसी जम्बू-वृक्ष के छाया के नीचे गया। वानर भी अपने अभीष्ट विविध देवी देवताओं की पूजा का सङ्कल्प करता हुआ किसी प्रकार किनारे पर पहुँच गया। वहाँ पहुँचते ही एक लम्बी छलांग लगाकर उसी जम्बू-वृक्ष पर चढ़ गया और सोचने लगा—'चलो भाग्यवशात् प्राण तो बच गये। अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥ १४ ॥

तन्मम एतदद्य पुनर्जन्मदिनमिव सञ्जातम् इति चिन्त्यमानं मकर आह—'भो मित्र ! अर्पय तत् हृदयं, यत् ते भ्रातृपत्नी भक्षयित्वा अनशनात् उत्तिष्ठति'। अथ विहस्य निर्भर्त्सयन् वानरः तमाह—'धिक् धिक् मूर्ख ! विश्वासघातक ! किं कस्यचित् हृदयद्वयं भवति ? तदाशु गम्यतां जम्बूवृक्षस्य अधस्तात्, न भूयोऽपि त्वया अत्र आगन्तव्यम् । उक्तञ्च यतः—

सकृद्दुष्टञ्च यो मित्रं पुनः सन्धातुमिच्छति ।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ १५ ॥

नेति । अविश्वस्ते विश्वासस्य अभाजने जने, न विश्वसेत्" इत्यत्र आदादिकस्यापि श्वसधातोः गणव्यत्यासात् भ्वादित्वं, तत्र क्त्वा वेट्कत्वञ्च; वस्तुतस्तु पचादित्वादचि स इव आचरतीति क्वौ साध्यमिति तु कविकल्पद्रुमटीकायां दुर्गादासः । विश्वस्ते विश्वासभाजनेऽपि जने, न अतिविश्वसेत् न दृढप्रत्ययं कुर्यात्; विश्वासात् उत्पन्नं जातं, भयं मूलानि अपि निकृन्तति निःशेषेण छिनत्ति; विश्वस्तत्वेन अनवहिततया अवस्थानादिति भावः । साकल्येन मनुजहृदयमजानद्भिः पुरुषैः सततमेव सावहितैः भवितव्यमिति तात्पर्यम् ॥ १४ ॥

सकृदिति । यः सकृत् एकवारं, दुष्टं दोषयुक्तं, विश्वासहननरूपापराधेनापराद्धमित्यर्थः, मित्रं पुनः सन्धातुं सम्मेलयितुं, मित्ररूपेण पुनर्गृहीतुमित्यर्थः, इच्छति, सः अश्वतरी गर्भं यथा गर्भमिव, मृत्युम् उपगृह्णाति आश्रयति; "मित्रञ्च वैरमापन्नं

अविश्वस्त शत्रु पर तो कभी विश्वास न करना चाहिये तथा विश्वासी का भी बहुत अधिक विश्वास नहीं करना चाहिए। क्योंकि विश्वास के कारण उत्पन्न हुआ भय मनुष्य के मूल को ही काट देता है ॥ १४ ॥

आज मानों यह मेरा पुनर्जन्म हुआ है।' इस प्रकार वानर सोंच ही रहा था कि मगर ने कहा—'मित्र ! अपना हृदय तो लाओ, जिससे तुम्हारी भाभी अनशन से उठे।' तब हँसकर उसकी भर्त्सना करते हुए वानर ने कहा—'मूर्ख, विश्वासघातिन् ! तुझे धिक्कार है, क्या किसी के दो हृदय हुआ करते हैं ? इस जामुन के पेड़ के नीचे से जल्दी चले जाओ। फिर यहाँ कभी मत आना। क्योंकि कहा भी गया है—

जो मनुष्य एक बार शत्रुरूप में परिणत मित्र से फिर मेल करना चाहता है, वह उसी तरह मृत्यु को प्राप्त होता है, जिस तरह खच्चरी (गदहे से घोड़ी की सन्तान) गर्भधारण कर उसी (गर्भ) के द्वारा मृत्यु को प्राप्त होती है ॥ १५ ॥

तत् श्रुत्वा मकरः सविलक्षं चिन्तितवान्—'अहो ! मया अतिमूढेन अस्य स्वचित्ताभिप्रायो निवेदितः !! तत् यदि असौ पुनरपि कथञ्चिद् विश्वासं गच्छति, तद्भूयोऽपि विश्वासयामि'; आह च—'मित्र ! हास्येन मया तेऽभिप्रायो लब्धः तस्या न किञ्चित् तव हृदयेन प्रयोजनम्; तत् आगच्छ प्राघुणिकन्यायेन अस्मद्गृहम्; तव भ्रातृपत्नी सोत्कण्ठा वर्त्तते।' वानर आह,—'भो दुष्ट ! गम्यताम अधुना, नाहम् आगमिष्यामि। उक्तञ्च—

बुभुक्षितः किं न करोति पापं
क्षीणा जना निष्करुणा भवन्ति।
आख्याहि भद्रे ! प्रियदर्शनस्य
न गङ्गदत्तः पुनरेति कूपम् ॥ १६ ॥

त्रुतोऽपि सुदारुणम्" इति भावः ॥ १५ ॥

(१) सविलक्षं—सविस्मयम्। हास्येन—उपहासच्छलेन इत्यर्थः,। अभिप्रायः—ममोपरि ते कीदृशः आशयः, विश्वस्तः अविश्वस्तः वा अहं ते, इत्याकारकः हृद्गतो भाव इत्यर्थः। लब्धः—ज्ञात इत्यर्थः। प्राघुणिकन्यायेन—अतिथिरूपेण।

बुभुक्षित इति। बुभुक्षितः क्षुदितः जनः, बुभुक्षा अस्य सञ्जाता इत्यर्थे 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्यः—' (पा० सू० ५।२।३६) इत्यादिना इतच्। किं पापं न करोति ? बुभुक्षानिवारणार्थं सर्वमेव पापं करोति इत्यर्थः; क्षीणाः क्षयमापन्नाः, भोज्याद्यभावादिति भावः, क्षीणाः इति क्षिधातोरकर्मकत्वात् कर्त्तरि क्ते 'निष्ठायामण्यदर्थे'

विमर्श—खच्चरी को जब प्रजनन सम्बन्धी पीड़ा होती है तो उसका उदर कट जाता है और गर्भस्थ शिशु के बाहर आते ही वह मर जाती है। १५ ॥

यह सुनकर मगर भौचक्का-सा हो लज्जित होकर सोचने लगा—'मैं महामूर्ख हूँ, मैंने अपना अभिप्राय इससे कह ही क्यों दिया। अगर यह फिर भी किसी प्रकार विश्वास कर सके तो विश्वास दिलाऊँ।' और बोला—मित्र ! मजाक के व्याज से मैंने तुम्हारे मनोगत भावों को लिया था। उसे तुम्हारे हृदय से कोई प्रयोजन नहीं। इसलिए अतिथि रूप से हमारे घर चलो। तुम्हारी भाभी तुम्हारे लिये उत्कण्ठित हो प्रतीक्षा कर रही है।' वानर ने कहा—अरे दुष्ट ! चले जाओ। अब मैं नहीं जाऊँगा। कहा भी गया है—

भूख से व्याकुल मनुष्य कौन-सा पाप नहीं करता ? (भूख मिटाने के लिए सब ही पाप करने को उद्यत हो जाता है), दरिद्र पुरुष निर्दयी होते ही हैं। हे भद्रे !

मकर आह—'कथमेतत् ?' स आह—

१ : मण्डूकराजगङ्गदत्त-कथा

'कस्मिंश्चित् कूपे गङ्गदत्तो नाम मण्डूकराजः प्रतिवसति स्म। स कदाचित् दायादैः उद्वेजितोऽरघट्टघटीम् आरुह्य निष्क्रान्तः। अथ तेन चिन्तितं यत्—'कथं तेषां दायादानां मया प्रत्यपकारः कर्त्तव्यः ? उक्तञ्च—

आपदि येनापकृतं येन च हसितं दशासु विषमासु।
अपकृत्य तयोरुभयोः पुनरपि जातं नर मन्ये ॥ १७ ॥

(पा. सू. ६।४।६०) इति दीर्घः, ततः 'क्षियो दीर्घात्' (पा. सू. ८।२।४६) इति निष्ठातस्य नकारः, भावकर्मणोस्तु क्षितः कामो मया इत्यादिकं स्यात् जनाः लोकाः, निष्करुणा निर्दयाः, भवन्ति, हे भद्रे ! प्रियदर्शनस्य तन्नाम्नः सर्पस्य, सम्बन्धविवक्षया षष्ठी, आख्याहि कथय, गङ्गदत्तः तन्नामको भेकविशेषः, पुनः कूपं न एति न आगच्छति। उपजातिः वृत्तम् ॥ १६ ॥

[१]

(१) दायादैः—दायं—पैतृकधनम्, आददते—गृह्णन्ति ये ते तैः, ज्ञातिभिः उद्वेजितः—विरक्तीकृतः। अरघट्टघटीं—महाकूपस्योपरि निबद्धस्य जलोत्तोलनसाधनीभूतदृढकाष्ठ-दण्डसंलग्नरज्ज्वा निबद्धं क्षुद्रघटम्। निष्क्रान्तः-कूपात निर्गतः। प्रत्यपकारः, उपकार-प्रतीकार इत्यर्थः।

आपदीति। येन जनेन, आपदि विपत्तिसमये, अपकृतम् अनिष्टं कृतं, येन च विषमासु प्रतिकूलासु, दशासु अवस्थासु, हसितं हास्यं कृतं, तयोरुभयोः, विषयाधि-

---

प्रियदर्शन नामक सर्पविशेष से जाकर कहो कि गङ्गदत्त अब फिर से कुएँ में जाने वाला नहीं है ॥ १६ ॥

मगर ने कहा—'यह कैसे ?' उस (वानर) ने कहा—

मेढकराज गङ्गदत्त की कथा

किसी कुएँ में गङ्गदत्त नामक एक मेढ़कों का राजा रहा करता था। एक बार वह बन्धुओं से पीड़ित होकर रहट के घट के सहारे कुएँ से बाहर निकला। उसने सोचा कि किस प्रकार इन कुटुम्बियों से अपकार का बदला लूँ। कहा भी गया है—

जिस मनुष्य ने, विपत्ति के समय अपकार किया हो और जिसने दुर्दिनों के

एवं चिन्तयन् विले प्रविशन्तं कृष्णसर्पम् अपश्यत् । तं दृष्ट्वा भूयोऽपि अचिन्तयत् यत्—'एनं तत्र कूपे नीत्वा सकलदायादानाम् उच्छेदं करोमि । उक्तञ्च—

शत्रुभिर्योजयेच्छत्रुं बलिभिर्बलवत्तरम् ।
स्वकार्याय यतो न स्यात् काचित् पीडाऽत्र तत्क्षये ॥ १८ ॥

तथा च—

शत्रुमुन्मूलयेत् प्राज्ञस्तीक्ष्णं तीक्ष्णेन शत्रुणा ।
व्यथाकरं सुखार्थाय कण्टकेनेव कण्टकम् ॥ १९ ॥

करणे सप्तमी, यो हि छिद्रमनुसन्धाय तत्रातिकठोरं पीडयति, यश्च स्वयमनिष्टं कर्तुमसमर्थतया अन्यकृतमपकारमवलोक्य हर्षेण हसति, द्वयोरेतयोः इत्यर्थः, अपकृत्य अपकारं कृत्वा, स्थितिमिति शेषः, नरं पुनरपि जातं मन्ये विवेचयामि; एतयोः द्वयोरेव समत्वादित्याशयः । आर्य्या वृत्तम् ॥ १७ ॥

शत्रुभिरिति । स्वकार्याय स्वं कार्यं साधयितुं, बलिभिः प्रबलैः, शत्रुभिः रिपुभिः सह, बलवत्तरम् अतिप्रबलं, प्रबलरिपुभ्योऽपीति भावः, शत्रुं योजयेत् सङ्गमयेत्; द्वयोरेकतरविनाशेऽपि स्वार्थसिद्धिसम्भवादिति भावः; यतः अत्र संसारे, तत्क्षये तयोः शत्र्वोः क्षये, काचित् पीडा न स्यात्, प्रत्युत सुखमेव स्यादिति भावः ॥ १८ ॥

शत्रुमिति । प्राज्ञः बुद्धिमान् जनः, तीक्ष्णेन दारुणेन, अतीव बलवता इत्यर्थः, स्वशत्रोः प्रबलतरेणेति यावत्, कण्टकपक्षे—तीक्ष्णाग्रेण; शत्रुणा रिपुणा, तीक्ष्णं दारुणं, कण्टकपक्षे—सूक्ष्माग्रं, शत्रुं व्यथाकरं क्लेशप्रदं, कण्टकम्, अङ्गविद्धमिति शेषः, कण्टकेनेव सुदृढेनेति भावः, सुखार्थाय सौख्यनिमित्तं, भाविसुखोपभोगाय इत्यर्थः, अव्याहतं सुखं सेवितुमिति यावत्; एकत्र—शत्रुविनाशात्, अन्यत्र—शरीरस्थकण्ट-

---

समय उपहास (मजाक) किया हो, इन दोनों से जिस मनुष्य ने बदला चुका लिया हो, उसे मैं दुबारा पैदा हुआ समझता हूँ ॥ १७ ॥'

इस प्रकार विचार करते समय उसने बिल में घुसते हुए एक कृष्णसर्प को देखा । उसे देखकर पुनः सोचने लगा—अहो ! इसी सर्प को उस कुएँ में ले जाकर अपने सभी शत्रुबन्धुओं का नाश क्यों न कर दूँ । क्योंकि कहा भी गया है—

अपना कार्य सिद्ध करने के लिए शत्रु को शत्रु के साथ तथा बलवान् को उससे भी अधिक बलवान् के साथ भिड़ा देना चाहिए । क्योंकि ऐसा करने पर उन दोनों का नाश होने पर किसी प्रकार का दुःख नहीं होता, प्रत्युत सुख ही होता है ॥ १८ ॥

और भी नीतिज्ञ पुरुष को चाहिए कि अपने सुख के लिए किसी दूसरे पैने काँटे से

एवं स विभाव्य विलद्वारं गत्वा तम् आहूतवान्—'एहि एहि प्रियदर्शन ! एहि'। तत् श्रुत्वा सर्पः चिन्तयामास—'य एष माम् आह्वयति, स स्वजातीयो न भवति, यतो नैषा सर्पवाणी, अन्येन केनापि सह मम मर्त्यलोके सन्धानं नास्ति; तदत्र एव दुर्गे स्थितः तावत् वेद्मि कोऽयं भविष्यति। उक्तञ्च—

यस्य न ज्ञायते शीलं न कुलं न च संश्रयः।
न तेन सङ्गतिं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः॥ २० ॥

कदाचित् कोऽपि मन्त्रवादी औषधचतुरो वा माम् आहूय बन्धने क्षिपति ? अथवा कश्चित् पुरुषो वैरमाश्रित्य कस्यचिद्भक्षणार्थे मामाह्वयति ? आह च—'भोः ! को भवान्' ? स आह—'अहं गङ्गदत्तो नाम मण्डूकाधिपतिः, त्वत्सकाशे मैत्र्यर्थम् अभ्यागतः'। तत् श्रुत्वा सर्प आह—'भोः !

कापसरणादिति भावः; उन्मूलयेत् उत्पाटयेत्, समूलमेव तमुत्पाटयितुं यतेत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

(१) प्रियदर्शन ! प्रियं दर्शनं यस्य तत्सम्बुद्धौ, सौम्यमूर्त्ते ! इत्यर्थः। सन्धानं सम्मेलनं, सख्यम् इत्यर्थः।

यस्येति। यस्य जनस्य, शीलं चरितं न, कुलं वंशः न, संश्रयः आवासश्च, न ज्ञायते, तेन जनेन, सङ्गतिं सम्मेलनं, न कुर्यादिति बृहस्पतिः उवाच ॥ २० ॥

शरीर में लगे काँटे को निकालने के समान क्लेशप्रद बलवान् शत्रु को किसी अन्य उग्र एवं बलवान् शत्रु से भिड़ाकर समूल नष्ट कर देवे॥ १९ ॥

इस प्रकार से विचार कर वह मेढक बिल के पास पहुँचकर उस सर्प को पुकारने लगा—'आओ, आओ प्रियदर्शन ! आओ।' यह सुन कर सर्प सोचने लगा—'मुझे बुलाने वाला यह (व्यक्ति) अपनी जाति का तो है नहीं, क्योंकि यह सर्प की आवाज नहीं है और न इस संसार में किसी दूसरे के साथ मेरा मेल ही है, इसलिए इस बिलरूप दुर्ग में ही रहकर देखूँ कि यह कौन है ? कहा भी गया है—

जिस पुरुष के स्वभाव, कुल और निवासस्थान से मनुष्य परिचित न हो उसके साथ संगति न करे—ऐसा बृहस्पति का मत है ॥ २० ॥

कदाचित् कोई मन्त्र पढ़ने वाला तान्त्रिक (मन्त्र पढ़कर मुझ सर्प को वश में करने वाला हो) अथवा औषध-निपुण पुरुष, मुझको बन्धन में डाल दे, अथवा कोई शत्रुता के कारण किसी को खाने के लिए मुझे बुलाता हो।' यह सोच कर भीतर से ही बोला—'तुम कौन हो ?' उसने कहा—'मैं गङ्गदत्त नाम का मेढकों का राजा हूँ, और मित्रता के लिए तुम्हारे पास आया हूँ।' यह सुनकर सर्प ने कहा—'जिस

श्रद्धेयमेतत्; यत् तृणानां वह्निना सह सङ्गमः। उक्तञ्च—

यो यस्य जायते बध्यः स स्वप्नेऽपि कथञ्चन।
न तत्समीपमभ्येति तत् किमेवं प्रजल्पसि ? ॥ २१ ॥

गङ्गदत्त आह—'भोः ! सत्यमेतत्, स्वभाववैरी त्वम् अस्माकम्; परं रपरिभवात् प्राप्तोऽहं ते सकाशम्। उक्तञ्च—

सर्वनाशे च सञ्जाते प्राणानामपि संशये।
अतिशत्रुं प्रणम्यापि रक्षेत् प्राणान् धनानि च ॥ २२ ॥

---

(१) मन्त्रवादी-सर्पमन्त्रोच्चारणकुशलः। औषधचतुरः—औषधाभिज्ञः। अश्र-[द्धे]यम्—अनादरणीयम्, अविश्वास्यम् इति यावत्। सङ्गमः—मेलनम्।

[यो] य इति। यः यस्य जनस्य, "कृत्यानां कर्तरि वा" (पा० सू० २।३।७१) इति [क]र्त्तरि षष्ठी, बध्यः हन्तव्यः, हनधातोः 'हनो वा यत् वधश्च वक्तव्यः' (वा०) इति [व]ार्त्तिकसूत्रेण यत्प्रत्ययः बधादेशश्च, पक्षे तु—ण्यदपि; यथा घात्य इति, जायते भवति, [स] स्वप्नेऽपि कथञ्चन तत्समीपं न अभ्येति न गच्छति, वैरिसमीपे कदापि न गन्तव्य-[म]ित्यर्थः, "आत्मानं सततं गोपायीत" इति श्रुतेरिति भावः; तत् तस्मात्, किं [क]थम्, एवं प्रजल्पसि—प्रलपसि ? अहं तव सहजवैरी, त्वयि मत्समीपमागच्छति [ए]व मया बध्यसे, तथाऽपि किमर्थं त्वमेवं मामाह्वयसीति भावः ॥ २१ ॥

सर्वनाशे इति। सर्वनाशे धनजनादीनां ध्वंसे, तथा प्राणानामपि च संशये [स]ङ्कटे इत्यर्थः, सञ्जाते उपस्थिते सति, अतिशत्रुं प्रबलरिपुमपि, प्रणम्य चरणं प्रपद्य इत्यर्थः, प्राणान् धनानि च रक्षेत्; प्राणधनरक्षार्थं लाघवकरकार्यमपि कर्त्तव्यमिति भावः ॥ २२ ॥

[जिस] प्रकार आग और तिनकों का मेल नहीं हो सकता, उसी प्रकार तुम्हारी और हमारी मित्रता भी असम्भव है। अतः तुम्हारा मेरे पास मित्रता के लिए आना भी विश्वास-योग्य नहीं हो सकता। कहा भी गया है—

जो जिसका वध्य (मारने योग्य, भक्ष्य) होता है वह स्वप्न में भी किसी प्रकार उसके पास नहीं जाता, फिर आप इस प्रकार की व्यर्थ बातें क्यों कहते हैं ॥ २१ ॥

गङ्गदत्त ने कहा—'हे सर्प ! बात सच है कि तुम हमारे स्वभाव से ही शत्रु हो, परन्तु मैं दूसरों के द्वारा अपमानित हो क्षुब्ध होकर तुम्हारे पास आया हूँ। कहा भी गया है—

धन-जनादि सर्वनाश की स्थिति में अथवा प्राणों की रक्षा भी जब सन्दिग्ध हो जावे, तब मनुष्य को चाहिए कि शत्रु को भी प्रणाम करके प्राण और धनादि की रक्षा करे ॥ २२ ॥

सर्प आह—'कथय कस्मात् ते परिभवः? स आह—'दायादेभ्यः'। सोऽपि आह—क्व ते आश्रयः? वाप्यां कूपे तडागे ह्रदे वा? तेनोक्तं—पाषाणचयनिबद्धे कूपे। सर्प आह—अहो! अपदा वयं, तन्नास्ति तत्र मे प्रवेशः, प्रविष्टस्य च स्थानं नास्ति, यत्र स्थितः तव दायादान् व्यापादयामि; तत् गम्यताम्। उक्तञ्च—

यत् शक्यं ग्रसितुं शस्तं ग्रस्तं परिणमेच्च यत्।
हितञ्च परिणामे यत् तदाद्यं भूतिमिच्छता॥ २३॥

गङ्गदत्त आह—'भोः! स नागच्छ त्वम्, अहं सुखोपायेन तत्र तव प्रवेशं कारयिष्यामि; तथा तस्य मध्ये जलोपान्ते रम्यतरं कोटरम् अस्ति, तत्र

---

(१) आश्रयः—आवासः। वाप्यां—दीर्घिकायाम्। कूपे—क्षुद्रजलाधारे। तडागे—पुष्करिण्याम्। ह्रदे—अगाधजलसरसि। पाषाणचयनिबद्धे—प्रस्तरसमूह-रचिते। अपदाः—चरणरहिताः।

यदिति। यत् वस्तु, ग्रसितुं भक्षयितुं, शक्यं, समर्थं, शकधातोः "शकिसहोश्च" (पा० सू० ३।१।९९) इति यति रूपम्, तथा ग्रस्तं भक्षितञ्च, यत् शस्तं प्रशस्तं, सुखं यथा तथेत्यर्थः, परिणमेत् परिपाकं गच्छेत्, यच्च परिणामे परिपाके, हितं हितकरं, स्यादिति शेषः, भूतिमिच्छता अभ्युदयार्थिना, तत् आद्यं भक्षणीयम्, अद्धातोः ण्यति रूपम्॥ २३॥

सर्प ने कहा—'कहो किससे तुम्हारा अपमान हुआ है?' उसने कहा—'मेरे कुटुम्बी लोगों ने मेरा अपमान किया है।' वह बोला—'तुम्हारा निवासस्थान कहाँ है? क्या बावली में, कुएँ में, तालाब में अथवा महासरोवर में? अपना निवासस्थान बताओ।' उसने कहा—'पत्थरों के समूह से बने हुए कुएँ में।' सर्प ने कहा—'अहो! हम तो चरणहीन हैं, इसलिए उसमें प्रविष्ट नहीं हो सकता और यदि किसी प्रकार प्रविष्ट हो भी जाऊँ तो वहाँ मेरे लिए कोई उपयुक्त स्थान भी नहीं है जहाँ बैठकर मैं तुम्हारे कुटुम्बियों को मार सकूँ? इसलिए कृपा कर तुम चले जाओ। कहा भी गया है—

अपनी भलाई चाहने वाले पुरुष को चाहिए कि वही वस्तु खावे जो भोज्य वस्तु खायी जा सके, खाने पर जो अच्छी तरह पच सके और जो पचने पर लाभ-कारी हो॥ २३॥

गङ्गदत्त ने कहा—'आप आइए, मैं बड़े आसानी से वहाँ आपको प्रविष्ट करा दूँगा और कुएँ के अन्दर जल के पास एक सुन्दर बिल है, उसमें रहकर आप आसानी से

स्थितः त्वं लीलया दायादान् व्यापादयिष्यसि'। तत् श्रुत्वा सर्पो व्यचिन्तयत्—'अहं तावत् परिणतवयाः, कदाचित् कथञ्चित् मूषकमेकं प्राप्नोमि, सुखावहश्च जीवनोपायोऽयमनेन कुलाङ्गारेण मे दर्शितः; तत् गत्वा तान् मण्डूकान् भक्षयामि इति। अथवा साधु इदमुच्यते—

यो हि प्राणपरिक्षीणः सहायपरिवर्जितः।
स हि सर्वसुखोपायां वृत्तिमारचयेत् बुधः॥ २४॥

एवं विचिन्त्य तमाह—'भो गङ्गदत्त! यदि एवं, तदग्रे भव, येन तत्र गच्छावः'। गङ्गदत्त आह—'भोः प्रियदर्शन! अहं त्वां सुखोपायेन तत्र नेष्यामि, स्थानञ्च दर्शयिष्यामि; परं त्वया अस्मत्परिजनो रक्षणीयः; केवलं

(१) लीलया—अनायासेन। दायादान्—ज्ञातीन्। परिणतवयाः—स्थविरः। कुलाङ्गारेण—कुलेषु अङ्गार इव, वंशदूषकत्वादिति भावः, तेन, पापाचारिणा इत्यर्थः, वंशक्षयकारिणेति भावः।

य इति। यः जनः, प्राणैः बलैः, प्राणी हृन्मारुते वोले काव्यजीवेऽनिले बले। पुंलिङ्गः पूरिते वाच्य-लिङ्गः पुं भूम्नि चात्मसु॥" इति मेदिनी परिक्षीणः दुर्बलः, क्षयं गन्तुमुद्यत इति वा भावः, तथा सहायैः परिवर्जितः विहीनः, स हि बुधः, विज्ञः, भवेदिति शेषः, तदा सर्वसुखोपायां सर्वप्रकारेण सुखकरीं, अनायासलभ्यामित्यर्थः, वृत्तिं जीविकाम्, आरचयेत् विदध्यात्; बलसहायहीनानां हि यया वृत्त्या सुखेन प्राणयात्रा भवेत्, सा एव अवलम्बनीया इत्यर्थः, तत् एतत्प्रदर्शितः मण्डूकभक्षणरूपोऽयं सुखावहः जीवनोपायः अवश्यमेव मया अवलम्बनीय इति भावः॥ २४॥

मेरे कुटुम्बियों को मार सकोगे। यह सुनकर सर्प सोचने लगा—मैं वृद्ध हो गया हूँ, कभी-कभी बड़ी कठिनता से एकाध चूहों को पा जाता हूँ, यह अच्छा ही हुआ कि इस कुलाङ्गार (अर्थात् कुल कलङ्क) ने मुझे यह सुखकर जीविका का उपाय बता दिया, इसलिये जाकर उन मेढकों को अवश्य खाना चाहिये। अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

जिस मनुष्य की शक्ति क्षीण हो चुकी हो और जिसके सहायक भी न हों, यदि वह समझदार हो तो सब प्रकार के सुख देने वाली अपनी जीविका की तलाश करे॥ २४॥

इस प्रकार सर्प ने यह सोचकर उसने (गङ्गदत्त) से कहा—'हे गङ्गदत्त! यह बात है तो तुम आगे चलो, जिससे वहाँ चले। गङ्गदत्त ने कहा—'हे प्रियदर्शन! मैं, तुम्हें वहाँ सरलता से ले चलूँगा और रहने योग्य अनुकूल स्थान भी दिखा दूँगा

यानहं तव दर्शयिष्यामि, ते एव भक्षणीयाः' इति। सर्प आह—'साम्प्रतं त्वं मे मित्रं जातं, तन्न भेतव्यम्, तव वचनेन भक्षणीयाः ते दायादाः'। एवमुक्त्वा बिलात् निष्क्रम्य तम् आलिङ्ग्य च तेनैव सह प्रस्थितः।

अथ कूपम् आसाद्य अरघट्टघटिकामार्गेण सर्पः तेन आत्मना स्वालयं नीतः। ततश्च गङ्गदत्तेन कृष्णसर्पंकोटरे धृत्वा दर्शिताः ते दायादाः। ते च तेन शनैः शनैः भक्षिताः। अथ मण्डूकाभावे सर्पेण अभिहितं—'भद्र! निःशेषिताः ते रिपवः, तत् प्रयच्छ अन्यत् मे किञ्चित् भोजनं, यतोऽहं त्वया अत्र आनीतः'। गङ्गदत्त आह—'भद्र! कृतं त्वया मित्रकृत्यम्, तत् साम्प्रतम् अनेन एव घटिकायन्त्रमार्गेण गम्यताम्' इति। सर्प आह—'भो गङ्गदत्त! न सम्यगभिहितं त्वया, कथमहं तत्र गच्छामि? मदीयबिलदुर्गम् अन्येन रुद्धं भविष्यति; तस्मात् अत्रस्थस्य मे मण्डूकम् एकैकं स्ववर्गीयं प्रयच्छ, नो चेत् सर्वानपि भक्षयिष्यामि' इति। तत् श्रुत्वा गङ्गदत्तो व्याकुलमना व्यचिन्तयत्—'अहो! किमेतत् मया कृतं सर्पमानयता! तत्

(१) आत्मना—स्वयम्। मदीयबिलदुर्गं—मम गर्त्तरूपः कोट्टः, अवासगर्त्तः इत्यर्थः। रुद्धम्—सावृतम्, अधिकृतमित्यर्थः, तत्रेदानीं मत्प्रवेशाधिकारो नास्तीति भावः। स्वर्गीयम्—आत्मपक्षीयम्, आत्मसम्बन्धिनमित्यर्थः।

परन्तु आपको हमारे परिवार की रक्षा करनी होगी। जिनको मैं दिखाऊँगा केवल उन्हें ही आपको खाना होगा। सर्प ने कहा—'अब तुम मेरे मित्र हो गये हो, इसलिये तुम्हें डरना नहीं चाहिए। तुम्हारे कथनानुसार ही मैं तुम्हारे कुटुम्बियों को खाऊँगा। यह कहकर और बिल से निकलकर उसका आलिङ्गन किया और उसी के साथ चल पड़ा।

फिर उस कुएँ के पास पहुँचकर, ढेंकुली (रहट) के मार्ग से वह सर्प को अपने स्थान में ले गया। तब गङ्गदत्त ने उस कृष्णसर्प को उस कोटर में ठहराकर शत्रु-बान्धवों को दिखा दिया और उसने धीरे-धीरे उन सबको खा लिया। इसके बाद मेढकों के समाप्त हो जाने पर सर्प ने गङ्गदत्त से कहा—'भद्र! तुम्हारे सब शत्रु समाप्त कर दिये, अब मुझे और कोई भोजन दो, क्योंकि तुम मुझे यहाँ ले आये हो।' गङ्गदत्त ने कहा—'भद्र! आपने मित्र का कार्य पूरा कर दिया (जो एक मित्र को करना चाहिए) इसलिये, अब इसी घटिका-यन्त्र (रहट) मार्ग से चले जाइए।' सर्प ने कहा—'गङ्गदत्त! तुमने यह बात ठीक नहीं कही। मैं वहाँ कैसे जाऊँ? मेरा बिलरूपी दुर्ग दूसरे ने घेर लिया होगा। इसलिए यहीं रहते हुए मुझे अपने वर्ग का एक-एक मण्डूक (प्रतिदिन) दिया करो; नहीं तो मैं सभी को

यदि निषेधयिष्यामि, तदा सर्वानपि भक्षयिष्यति। अथवा युक्तमुच्यते—

योऽमित्रं कुरुते मित्रं वीर्याभ्यधिकमात्मनः।
स करोति न सन्देहः स्वयं हि विषभक्षणम् ॥ २५ ॥

तत् प्रयच्छामि अस्य एकं प्रतिदिनं सुहृदम्। उक्तञ्च—

सर्वस्वहरणे युक्तं शत्रुं बुद्धियुता नराः।
तोषयन्त्यल्पदानेन बाडवं सागरो यथा ॥ २६ ॥

तथा च—

यो दुर्बलोऽणूनपि याच्यमानो
बलीयसा यच्छति नैव साम्ना।
प्रयच्छते नैव च दर्श्यमानं
खारीं स चूर्णस्य पुनर्ददाति ॥ २७ ॥

य इति। यः जनः, आत्मनः स्वस्मात्, वीर्येण अभ्यधिकम् अधिकबलम् इत्यर्थः, अमित्रं शत्रुं, मित्रं कुरुते, स स्वयं हि आत्मनैव, विषभक्षणं करोति, अत्र सन्देहः न; क्षुद्रशत्रुविनाशार्थं प्रबलेन रिपुणा सह मित्रत्वसम्पादनस्य स्वयं विषभक्षणमिव अवश्यमृत्युजनकत्वम्, अत्र संशयो नास्ति इति निर्गलितार्थः; अत एव सम्भवद्वस्तुनीरेतयोः अमित्रमैत्रीकरणविषभक्षणयोः बिम्बप्रतिबिम्बभावबोधात् निदर्शनाऽलङ्कारः ॥ २५ ॥

सर्वस्येति। बुद्धियुताः बुद्धिमन्तः, नराः सागरः बाडवं यथा बाडवानलम् इव, यथा हि समुद्रः अपां विशोषकं वडवानलं गर्भैकदेशमधितिष्ठन्तं शत्रुभूतं प्रीणयितुं किञ्चित् सलिलं समर्प्य आत्मानं संरक्षति, तद्वदित्यर्थः, सर्वस्वहरणे युक्तम् उद्यतमित्यर्थः, शत्रुम् अल्पदानेन किञ्चिन्मात्रदानेन, तोषयन्ति प्रीणयन्ति; "सर्वनाशे समुत्पन्ने किञ्चित् त्यक्त्वाऽपि रक्षयेत्" इति भावः ॥ २६ ॥

य इति। यः दुर्बलः बलीयसा प्रबलेन, याच्यमानः अभ्यर्थ्यमानः, साम्ना सान्त्वेन;

खा जाऊँगा।' यह सुनकर गङ्गदत्त व्याकुल होकर सोचने लगा—ओह ! सर्प को लाकर मैंने यह क्या कर दिया ? अब यदि मैं इसे मना करता हूँ, तो यह सबको खा जायेगा। अथवा ठीक ही कहा गया है—

जो मनुष्य अपने से अधिक बलिष्ठ शत्रु को मित्र बनाता है, तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि वह स्वयं ही विष खा लेता है ॥ २५ ॥

जिस तरह समुद्र वडवानल को थोड़ा सा जल देकर सदैव अपनी रक्षा करता रहता है, उसी तरह बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि सर्वस्व हरण करने में तत्पर शत्रु को थोड़ा बहुत देकर भी प्रसन्न कर लेवे ॥ २६ ॥

और भी—जो दुर्बल मनुष्य बलवान् पुरुष द्वारा शान्तिपूर्वक माँगने पर थोड़ी-

तथा च—

सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्द्धं त्यजति पण्डितः।
अर्द्धेन कुरुते कार्यं सर्वनाशो हि दुस्तरः॥ २८॥

न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमान् नरः।
एतदेव हि पाण्डित्यं यत् स्वल्पात् भूरिरक्षणम्'॥ २९॥

एवं निश्चित्य स नित्यमेकैकं मण्डूक तम् आदिशति। सोऽपि तं भक्ष-

---

अणूनपि अल्पानपि, चूर्णानिति शेषः, नैव यच्छति न ददाति, तथा दर्श्यमानञ्च एतत् देहीति दृष्टिविषयीक्रियमाणमपि स्तोकं वस्तु इति यावत्, बलीयसेत्यनुषङ्गः, नैव प्रयच्छते अत्र आत्मनेपदम् अनुसन्धेयम्, न ददाति, स पुनः बलीयसा आक्रमणात् परमित्यर्थः, चूर्णस्य सुधायाः, क्षारविशेषस्येत्यर्थः, खारीम्, अपिरत्र अध्याहार्यः, तदाख्यपरिमाण विशेषमपि, द्विनवत्यधिकशरावशतमपीति यावत्, अष्टाविंशत्यधिकशरावशतमपीति वा; ददाति; बलवद्विरोधस्य दुरुदर्कतया ते सदैव तोषणीयो इति भावः, यतः का कथा महार्घाणाम्, अतितुच्छानामपि वस्तूनामप्रदानजनितमानभङ्गं बलिनः मानिनः न सहन्ते, तेन हि स्तोकमपि चूर्णं याचितो जनः तददाने तैराक्रान्तः चूर्णराशिं दत्वा पश्चात् तान् सान्त्वयति इत्याशयः। उपजातिः मृत्तम्॥ २७॥

सर्वेति। पण्डितो जनः, सर्वनाशे सर्वस्वक्षये, समुत्पन्ने समुपस्थिते सति, अर्द्धं त्यजति, अर्द्धेन त्यक्तावशिष्टेनेति भावः, कार्य्यं स्वमिति शेषः, कुरुते; हि यतः; सर्वनाशः सर्वेषां नाशः, दुस्तरः दुःसह इत्यर्थः, सर्वैरिति शेषः॥ २८॥

नेति। मतिमान् नरः स्वल्पस्य कृते निमित्तं, भूरि प्रभूतं, बहु इत्यर्थः, न नाशयेत्; स्वल्पात स्वल्पव्ययात्, स्वल्पं दत्वेत्यर्थः, "ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च" इति वार्त्तिकसूत्रेण पञ्चमी, यत् भूरिरक्षणं बहुरक्षणम्, एतदेव पाण्डित्यं हि चातुर्य्यम् इत्यर्थः॥ २९॥

सी भी वस्तु नहीं देता वह बाद में सब कुछ दे देता है। जैसे जो व्यक्ति एक तोला आटा देने में भी कृपणता करता है। वही फिर (जबर्दस्ती छीनने पर) खारी (१० सेर) परिमित आटा दे देता है॥ २७॥

और भी—बुद्धिमान् पुरुष सर्वनाश उपस्थित होने पर आधे का परित्याग कर देता है? और आधे से अपना काम करता है, क्योंकि सर्वनाम असह्य होता है॥ २८॥

बुद्धिमान् पुरुष को थोड़े के लिए बहुत का विनाश नहीं होने देना चाहिए। क्योंकि थोड़ा देकर अधिक की रक्षा करना ही तो चातुर्य है॥ २९॥

इस प्रकार विचार कर गङ्गदत्त प्रतिदिन एक-एक मेढक खाने को आज्ञा देने

आगतश्च गतश्चैव दृष्ट्वा सिंहपराक्रमम् ।
अकर्णहृदयो मूर्खो यो गत्वा पुनरागतः ॥ ३३ ॥

मकर आह—'भद्र ! स को लम्बकर्णः ? कथं दृष्टापायोऽपि मृतः ? तत् मे निवेद्यताम्' । वानर आह—

२ : सिंह-लम्बकर्णयोः-कथा

'कस्मिंश्चित् वनोद्देशे करालकेशरो नाम सिंहः प्रतिवसति स्म । तस्य च धूसरको नाम शृगालः सदा एव अनुयायी परिचारकोऽस्ति । अथ कदाचित् तस्य हस्तिना सह युध्यमानस्य शरीरे गुरुतरा प्रहाराः सञ्जाताः, यैः पदमेक-

---

आगत इति । आगतः लोभमोहितः सन् पूर्वं सिंहसमीपं समागतः, पश्चाच्च सिंहपराक्रमं सिंहस्य विक्रमं, तद्धननाय सिंहस्य तथाविधं क्रममित्यर्थः, दृष्ट्वैव स्वयं स्वचक्षुषा सम्यक् अवलोक्यैव, गतश्च पलायितोऽपि, मूर्खः मूढः, सर्वं दृष्ट्वाऽपि किमपि निर्णेतुमक्षम इत्यर्थः, यः, रासभ इति शेषः, गत्वा प्राणभयात् पलाय्य; 'गत्वा' इत्यत्र 'तत्र' इति पाठकल्पनं सङ्गतम्; पुनः भूयः, आगतः स्वप्राणहन्तारं सिंहं निकषा समुपस्थितः, अत एव अकर्णहृदयः कर्णौ च हृदयञ्चेति 'द्वन्द्वश्च—' (पा० सू० २।४।२) इति एकत्वं, तत अप्रशस्तं यस्य सः, असम्यक्श्रोत्रेन्द्रियमानसशालीत्यर्थः, दीर्घकर्णहृदयवत्त्वेऽपि शृगालवचसा सिंहसमीपे पुनर्गमनेन तच्छून्यत्वेन परिचायितः इति भावः, 'किमहं लम्बकर्णो मूर्खः' ? इति पूर्वेणान्वयः ॥ ३३ ॥

[२]

(१) करालेति । करालाः—उत्कटाः, भीतिप्रदा इत्यर्थः, केशराः—जटा यस्य तथोक्तः, यस्य जटादर्शनेनैव भयं जायते इति भावः । अनुयायी—अनुगतः । परि-

---

जो एक बार (सिंह के पास) आया और सिंह का पराक्रम देखकर लौट भी गया । परन्तु कान और हृदय से रहित वह मूर्ख था अर्थात् उसे न तो सुनने के लिए कान थे और न विचारने के लिए दिमाग ही था । इसलिए पुन उसी स्थान पर जाकर (सिंह द्वारा मारा जाकर) फिर नहीं लौटा ॥ ३३ ॥

मकर ने कहा—'भद्र ! वह लम्बकर्ण कौन था ? नाश देखकर भी कैसे मारा गया ? यह सब मुझसे कहो ।' वानर ने कहा—

सिंह और लम्बकर्ण गदहे की कथा

किसी वन में करालकेसर नाम का एक सिंह रहता था । हमेशा अनुगमन करने वाला धूसरक नाम का एक शृगाल उसका सेवक था । एक समय एक जंगली हाथी के साथ युद्ध करते हुए उस सिंह के शरीर में बहुत अधिक गहरे घाव हो गये, जिनके कारण

मपि चलितुं न शक्नोति । तस्य अचलनाच्च धूसरकः क्षुत्क्षामकण्ठो दौर्बल्यं गतः। अन्यस्मिन् अहनि शृगालः तम् अवोचत्—स्वामिन् ! बुभुक्षया पीडितोऽहं पदात् पदमपि चलितुं न शक्नोमि; तत् कथं ते शुश्रूषां करोमि ?' सिंह आह—'भोः ! गच्छ, अन्वेषय किञ्चित् सत्त्वं, येन इमाम् अवस्थां गतोऽपि व्यापादयामि'। तदाकर्ण्य शृगालोऽन्वेषयन् कञ्चित् समीपवर्त्तिनं ग्रामम् आसादितवान् । तत्र लम्बकर्णो नाम गर्दभः तडागोपान्ते प्रविरलदूर्वाङ्कुरान् कृच्छ्रात् आस्वादयन् दृष्टः । ततश्च समीपवर्त्तिना भूत्वा तेन अभिहितः—'माम ! नमस्कारोऽयं मदीयः सम्भाव्यताम्, चिरात् दृष्टोसि ! तत् कथय, किमेवं दुर्बलतां गतः ?' स आह—'भो भगिनीपुत्र ! किं कथयामि ! रजकोऽतिनिर्दयोऽतिभारेण मां पीडयति, घासमुष्टिम् अपि न प्रयच्छति । केवलं दूर्वाङ्कुरान् धूलिमिश्रितान् भक्षयामि, तत् कुतो मे शरीरे पुष्टिः ?' शृगाल आह—'माम ! यदि एवं, तदस्ति मरकतसदृशशष्पप्रायो नदीसनाथो

चारकः—सेवकः । युध्यमानस्य - सङ्ग्रामं कुर्वतः । प्रहाराः—आघाताः, प्रह्रियते इति भावे घञ्, यद्वा—प्रहाराः—सुतीव्राः वेदना इत्यर्थः, प्रह्रियते अस्यै इति सम्प्रदाने घञि रूपम् । अचलनात्–गमनाभावात्, मृगयार्थमिति शेष । तडागोपान्ते—सरसीसमीपे । प्रविरलेति । प्रविरलाः—अत्यल्पाः, दूर्वाणाम् अङ्कुराः–प्ररोहाः तान् । आस्वादयन्—भक्षयन् । सम्भाव्यतां—गृह्यताम्, अनुमोद्यतामित्यर्थः । घासमुष्टिं—मुष्टिपरिमितघासम् । मरकतेति । मरकतैः—हरिन्मणिभिः, तत्किरणै-

---

वह एक पग भी नहीं चल सकता था। उसके न चलने से धूसरक भूख से पीड़ित हो अत्यन्त कृश हो गया। एक दिन उसने सिंह से कहा—स्वामिन् ! मैं भूख से पीड़ित हूँ, एक पग भी नहीं चल सकता। आपकी सेवा कैसे करूँ ? सिंह ने कहा—'अरे भाई ! जाओ, कोई पशु तलाश करो, जिससे इस दशा में भी मैं उसे मार सकूँ'। यह सुनकर शृगाल जीव की खोज करता हुआ पास के किसी ग्राम में पहुँचा। वहाँ उसने देखा कि तालाब के किनारे पर लम्बकर्ण नाम का गदहा यत्रतत्र उगी हुई दूब के अंकुर बड़ी कठिनता से खा रहा है। तब उसके पास जाकर उसने कहा—'मामा ! मेरा यह नमस्कार ग्रहण कीजिये, चिरकाल के बाद आप दिखाई पड़े हैं, कहिए इतने दुर्बल क्यों हो गए हैं ?' उसने कहा—हे भानजे ! क्या कहूँ, मेरा स्वामी धोबी बड़ा निर्दयी है। वह मुझे बोझा लादकर बड़ा कष्ट देता है, परन्तु (खाने को) मुट्ठी भर घास भी नहीं देता, केवल धूल में मिले हुए दूब के अंकुर खाता हूँ। फिर मेरे शरीर में शक्ति कहाँ से आये ? शृगाल ने कहा—'मामा ! अगर यह बात है तो मरकत मणि के समान हरी-हरी घास से भरा हुआ नदी के पास एक सुन्दर

रमणीयतरः प्रदेशः, तत्र आगत्य मया सह सुभाषितगोष्ठीसुखम् अनुभवन् तिष्ठ'। लम्बकर्ण आह—'भो भगिनीसुत ! युक्तमुक्तं भवता, परं वयं ग्राम्याः पशवोऽरण्यचारिणां बध्याः, तत् किं तेन भव्यप्रदेशेन ?' शृगाल आह—'माम ! मैवं वद, मद्भुजपञ्जरपरिरक्षितः स देशः तन्नास्ति कस्यचित् अपरस्य तत्र प्रवेशः। परमनेन एव दोषेण रजककदर्थिताः तत्र तिस्रो रासभ्यः अनाथाः सन्ति, ताश्च पुष्टिमापन्ना यौवनोत्कटा इदं माम् ऊचुः—'यदि त्वम् अस्माकं सत्यो मातुलः, तदा किञ्चित् ग्रामान्तरं गत्वा अस्मद्योग्यं कञ्चित् पतिमानय' तदर्थं त्वामहं तत्र नयामि'। अथ शृगालवचनानि श्रुत्वा कामपीडिताङ्गः तम् अवोचत्—'भद्र ! यदि एवं, तदग्रे भव, येन आगच्छामि'। अथवा साधु इदमुच्यते—

नामृतं न विषं किञ्चिदेकां मुक्त्वा नितम्बिनीम्।
यस्याः सङ्गेन जीव्येत म्रियेत च वियोगतः॥ ३४॥

रित्यर्थः, सदृशानि यानि शष्पाणि—बालतृणानि, तत्प्रायः – तद्बहुलः। नदीसनाथः—नदीयुक्तः, नदीसमीपस्थित इत्यर्थः। रमणीयतरः—सुरम्यः, पानीयस्यापि सौलभ्यादिति भावः। भव्यप्रदेशेन—उत्कृष्टस्थानेन। रजककदर्थिताः, रजकेन क्लेशिताः। अनाथाः -अस्वामिकाः। पुष्टिमापन्नाः—परिपुष्टशरीराः। यौवनोत्कटाः—उद्दामयौवनसम्पन्नाः, परिपूर्णयौवनेन रम्याः इत्यर्थः।

नेति। एकां केवलां, नितम्बिनीं रमणीं, मुक्त्वा विहाय, किञ्चिदपि वस्तु, अमृतं

स्थान है, वहाँ आकर मेरे साथ उत्तम-उत्तम सुभाषितों पर वार्तालाप का सुख भोगते हुए रहिए।' लम्बकर्ण ने कहा—हे भानजे ! आपने ठीक कहा है। परन्तु हम ग्राम के रहने वाले पशु, जंगली जानवरों के शिकार हुआ करते हैं इसलिये उस सुन्दर स्थान से क्या लाभ ? शृगाल बोला—मामा ! ऐसा मत कहो (यह बात नहीं है) वह स्थान मेरी भुजा रूपी पिंजरे से सुरक्षित है। (वहाँ किसी शत्रु का प्रवेश नहीं हो सकता। लेकिन इसी दोष के कारण (पर्याप्त भोजन न मिलने से) धोबी से सताई हुई तीन गर्दभियाँ वहाँ हैं जिनका कोई पति नहीं है। अत्यन्त पुष्ट हुई उन्होंने यौवनोन्मत्त हो मुझसे कहा—'यदि तुम सचमुच ही हमारे मामा हो तो किसी ग्राम में जाकर हमारे योग्य पति खोजकर लाओ', उन्हीं के लिये मैं तुम्हें वहाँ ले जा रहा हूँ। तब शृगाल के वचनों को सुनकर कामातुर होकर उसने शृगाल से कहा—'भद्र ! यदि यह बात है तो आगे होओ, जिससे हम दोनों शीघ्र ही पहुँच जाऊँ।' अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

इस संसार में कामिनियों को छोड़कर दूसरी कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें

तथा च—

यासां नाम्नाऽपि कामः स्यात् सङ्गमं दर्शनं विना ।
तासां दृक्सङ्गमं प्राप्य यन्न द्रवति कौतुकम् ॥ ३५ ॥

तथाऽनुष्ठिते शृगालेन सह गर्दभः सिंहान्तिकमागतः । सिंहोऽपि व्यथाकुलितस्तं दृष्ट्वा यावत् समुत्तिष्ठति, तावत् रासभः पलायितुम् आरब्धवान् । अथ तस्य पलायमानस्य सिंहेन तलप्रहारो दत्तः । स च मन्दभाग्यस्य व्यवसाय इव व्यर्थतां गतः । अत्रान्तरे शृगालः कोपाविष्टस्तम्, उवाच—'भोः ! किमेवंविधः प्रहारस्ते, यत् गर्दभोऽपि

न, विषश्च न; रमण्येव एकाधारेण अमृतरूपिणी विषरूपिणी चेत्यर्थः, तत्संयोगस्य स्वर्गसुखोपमपरमप्रीतिजनकत्वात्, वियोगस्य च मृत्युक्लेशतुल्यक्लेशप्रदत्वादिति भावः । एतदेव उपपादयितुमाह—यस्या इति । यस्याः नितम्बिन्याः, सङ्गेन सम्मेलनेन, जीव्येत प्राण्येत, वियोगतः विच्छेदेन, म्रियेत च नश्येत च, जनेन इति शेषः । एकैव रमणी संयोगवियोगजनितकालविशेषवशेन अमृतविषोभयकल्पा भवतीति भावः ॥ ३४ ॥

यासामिति । यासां सङ्गमं मेलनम्, अथ वा दर्शनं विनाऽपि नाम्नाऽपि नाममात्रेणैव, कामः मदनोद्रेकः, स्यात्, तासां नारीणां, दृक्सङ्गमं नेत्रसङ्गं, दृष्टिपातम् इत्यर्थः, प्राप्य, यत् न द्रवति आर्द्रीभवति, जीवजातम् इति शेषः, तत् कौतुकम् आश्चर्यकरम्; ते जीवाः प्रस्तरवदातकठिनहृदया इति भावः ॥ ३५ ॥

(१) तलप्रहारः—चपेटाघातः । स इति । स च—तलप्रहारः इत्यर्थः, मन्दभाग्यस्य—मन्दं भाग्यं यस्य तस्य, दुर्भाग्यस्य इत्यर्थः, व्यवसाय इव—चेष्टितमिव, पुरुषकार इवेत्यर्थः,

---

अमृत भी हो और विष भी । दोनों गुण इनमें होते हैं क्योंकि इनके संसर्ग से मनुष्य जीता है और इनके वियोग से ही मर भी जाता है ॥ ३४ ॥

जिन प्रमदाओं के संसर्ग और दर्शन के अभाव में भी केवल उनके नाम श्रवणमात्र से ही कामोत्पत्तिरूप भोगेच्छा हो जाती है । उन ललनाओं के कटाक्षादि का संगम पाकर भी यदि किसी पुरुष का हृदय द्रवीभूत अर्थात् कामपीड़ित न हो तो यही आश्चर्य की बात है ॥ ३५ ॥

इस प्रकार वैसा करने पर वह गर्दभ शृगाल के साथ सिंह के पास पहुँचा । व्यथा से व्याकुल सिंह, उसे देखकर ज्योंहि उठने की कोशिश करने लगा, त्योंहि गदहा भागने लगा । भागते हुए गदहे के ऊपर सिंह ने पञ्जा मारा । परन्तु वह दुर्भाग्यग्रस्त पुरुष के पुरुषार्थ के समान निष्फल गया । तब शृगाल ने क्रुद्ध होकर उससे कहा—तेरे पञ्जे का प्रहार कैसा है कि गदहा भी तुम्हारे सामने से जबर्दस्ती

पुरतो बलात् गच्छति, तत् कथं गजेन सह युद्धं करिष्यसि ? तत् ते बलम्'। अथ विलक्षस्मितं सिंह आह—'भोः! किम अहं करोमि ! न क्रमः सज्जीकृत आसीत्, अन्यथा गजोऽपि मत्क्रमाक्रान्तो न छति'। शृगाल आह—'अहं पुनरपि एकवारं तवान्तिके तमानेष्यामि। त्वया सज्जीकृतक्रमेण स्थातव्यम्'। सिंह आह,—'भद्र ! यो मां प्रत्यक्ष ट्वा गतः, स पुनः कथम् अत्र आगमिष्यति ? तदन्यत् किमपि सत्त्वम् न्विष्यताम्'। शृगाल आह—किं तव अनेन व्यापारेण ? त्वं केवलं ज्जितक्रमः तिष्ठ'।

तथा अनुष्ठिते शृगालो यावत् रासभमार्गेण गच्छति, तावत् तत्रैव स्थाने रन् सः दृष्टः। अथ शृगालं दृष्ट्वा रासभः प्राह—'भो भगिनीसुत ! भनस्थाने त्वया अहं नीतः, यत् द्राक् मृत्युवशं गतः ! तत् कथय किं तत्

र्थतां गतः—निष्फलोऽभवत् इत्यर्थः; तेन तलप्रहारेण रासभस्य न किमपि अनिष्टं तमिति भावः। विलक्षस्मितं—सविस्मयहास्यम्, ईषत् विस्मयेन हसन् सन्नित्यर्थः। नः—परिकरबन्धः, आक्रमणार्थमवस्थानपरिपाटी इत्यर्थः, सज्जीकृतः—असज्जः ज्जः कृतः तथोक्तः, अभूततद्भावे च्विप्रत्ययः। मदिति। मम क्रमेण—आक्रमणेन, पुविनाशार्थमनुष्ठीयमानोद्रस्फणविशेषेणेत्यर्थः, 'झपट्टा' इति हिन्दीभाषा, 'क्रमश्चा- क्रमे शक्तौ कल्पे चाक्रमणेऽपि च' इति मेदिनी, आक्रान्तः—अभिभूतः। व्यापारेण— र्यालोचनया इत्यर्थः।

(१) चरन्—भ्रमन्। सः—रासभः। द्राक्—झटिति, सपदि वा। अतीति—

निकल जाता है, यदि ऐसी स्थिति रही तो हाथी के साथ तुम कैसे युद्ध करोगे ? तुम्हारा पराक्रम देख लिया। तब सिंह ने कुछ लज्जित होकर कहा—मैं क्या करूं ? मैं आक्रमण करने के लिए तैयार न था। अन्यथा मेरे आक्रमण से हाथी भी नहीं निकल सकता। शृगाल ने कहा—अब भी एक बार मैं उसे तेरे पास लाऊँगा, परन्तु तुम आक्रमण के लिए तैयार होकर बैठना। सिंह ने कहा—'भद्र ! जो मुझे प्रत्यक्ष देखकर गया है, वह फिर यहाँ कैसे आयेगा ? इसलिए कोई अन्य जानवर की खोज करो।' शृगाल ने कहा—'तुम्हें इस बात से क्या मतलब ? तुम केवल तैयार रहो।'

इसके बाद तब शृगाल गदहे के पीछे-पीछे गया और उसने उसी स्थान पर उसे चरते हुए देखा। तब शृगाल को देखकर गदहे ने कहा—कहो भानजे ! बहुत अच्छी जगह तुम मुझे ले गये थे, मैं तो मृत्यु के मुँह में पड़ ही गया था। इसलिए कहो वह कौन सा जानवर था जिसके अति भयङ्कर वज्रतुल्य चपेटाघात से बचकर

सत्त्वं यस्य अतिरौद्रवज्रसदृशकरप्रहारात् अहं मुक्तः ?' तत् श्रुत्वा प्रहसन् शृगाल आह—भद्र ! रासभी त्वाम् आयान्तं दृष्ट्वा सानुरागम् आलिङ्गितुं समुत्थिता । त्वञ्च कातरत्वात् नष्टः, सा पुनर्न शक्ता त्वां विना स्थातुम् । तया तु नश्यतः ते अवलम्बनार्थं हस्तः क्षिप्तः, न अन्य-कारणेन , तत् आगच्छ, सा त्वत्कृते प्रायोपवेशना उपविष्टा तिष्ठति । एतत् वदति यत्,—'लम्बकर्णो यदि मे भर्ता न भवति, तत् अहमग्नौ जले वा प्रविशामि, न पुनस्तस्य वियोगं सोढुं शक्नोमि ।' तत् प्रसाद कृत्वा तत्र आगम्यतां, नो चेत् तव स्त्रीहत्यापातकं भविष्यति । अपरं, भगवान् कामः कोपं तव उपरि करिष्यति । उक्तञ्च—

स्त्रीमुद्रां मकरध्वजस्य जयिनीं सर्वार्थसम्पत्करीं
ये मूढाः प्रविहाय यान्ति कुधियो मिथ्याफलान्वेषिणः ।
ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं नग्नीकृता मुण्डिताः
केचिद्रक्तपटीकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे' ।। ३६ ।।

अतिरौद्रः—अतिदारुणः, वज्रसदृशः यः करः तस्य प्रहारात्—आघातात् । आयान्तम्–आगच्छन्तम् । सानुरागं—सप्रणयम् । नष्टः–पलायितः । नश्यतः–पलाय-मानस्य । अवलम्बनार्थं–धारणार्थम् । क्षिप्तः—प्रसारितः । त्वत्कृते–तव निमित्तम् । प्रायोपवेशना–अनशनव्रतचारिणी ।

स्त्रीमुद्रामिति । ये मूढाः मूर्खाः, कुधियः दुर्बुद्धयः, मकरध्वजस्य कामस्य जयिनीं जयसाधनीं, त्रिभुवनविजयसाधनास्त्रविशेषरूपिणीमित्यर्थः, स्त्रीमुद्रारूपास्त्रबलेन सर्वेषां स्वायत्तीकरणादिति भावः; सर्वार्थसम्पत्करीं, सर्वार्थसम्पदुपपदात् करोतेः "कृञो

निकल आया हूँ । यह सुनकर शृगाल ने हँसते हुए कहा—भद्र ! वह तो गर्दभी थी जो तुम्हें आता हुआ देखकर, कामपीड़ित होकर तुम्हारा आलिङ्गन करने के लिए उठी थी । तुम तो कायरतावश भाग खड़े हुए । परन्तु वह तुम्हारे बिना जीवित नहीं रह सकती । उसने भागते हुए तुझे पकड़ने के लिये अपने हाथ तुम्हारे ओर फेंके थे किसी अन्य कारण से नहीं। अतः आओ चलो, वह तुम्हारे लिये अनशन व्रत किये बैठी है । वह यह भी कहती है कि यदि लम्बकर्ण मेरा पति न होगा तो मैं, अग्नि या जल में प्रवेश करूँगी परन्तु उसका वियोग नहीं सह सकता । इसलिए उसपर कृपाकर वहीं चलो, नहीं तो तुम्हें स्त्रीहत्या का पाप लगेगा और फिर भगवान् कामदेव भी तुम्हारे ऊपर क्रोध करेंगे । कहा भी गया है—

तीनों लोकों को जीतने वाली सब प्रकार के सुख एवं ऐश्वर्य देने वाली महाराज कामदेव की स्त्रीरूपी मुद्रा (आज्ञा) का उल्लङ्घन करके जो मूर्ख अविवेकी पुरुष व्यर्थ ही

अथ असौ तद्वचनं श्रद्धेयतया श्रुत्वा भूयोऽपि तेन सह प्रस्थितः। अथवा इदमुच्यते—

जानन्नपि नरो दैवात् प्रकरोति विगर्हितम्।
कर्म किं कस्यचिल्लोके गर्हितं रोच्यते कथम् ?॥ ३७॥

ाच्छील्यानुलोम्येषु" (पा०सू० ३।२।२०) इति टप्रत्ययः, स्त्रियां ङीष्, प्रभूतधन-त्तिलाभेन यत् सुखं तादृशसुखविधायिनीम् इत्यर्थः, स्त्रीमुद्रां स्त्रिया मुद्रा चिह्न-षः तां, योषिद्योनिमित्यर्थः, प्रविहाय परित्यज्य, मिथ्याफलानाम् अलीकभूतानां र्दीनामित्यर्थः, अन्वेषिणः अर्थिनः सन्तः, यान्ति विचरन्ति इत्यर्थः, तपश्चरणार्थ-त भावः, ते तेनैव स्त्रियः विहाय गमनेनैवेत्यर्थः, निर्दयतरम् अतिनिष्ठुरं यथा ;, निहत्य आहत्य, केचित् नग्नीकृता विवसनाः कृताः, तथा मुण्डिताः केचित् शिरोमुण्डनाः, रक्तपटीकृताः केचित्, रक्तवसनाः कृताः, जटिलाः केचित् जटा-रेणः कृताः, अपरे च अन्ये च केचित्, कापालिकाः नरास्थिमालाकृतभूरिभूषणाः, शानवासिनः इत्यर्थः, कृताः कामेन इति सर्वत्रोहनीयम्; ये खलु जगति दिगम्बरादि-प्रदायाः, ते स्त्रीणामवहेलनात् कामेनैव विरूपीकृता इति सोल्लुण्ठनगर्भाभिप्रायः; न एते चित्तवृत्तिनिरोधेन तत्त्वतः योगिनः, अपि तु स्वापराधतयैव विरूपीकृताः; तुतस्तु कामिनीसंयोगवन्त एव योगिन इत्युच्यन्ते, इति तु वक्तुराशयः। शार्दूल-क्रीडितं वृत्तम् ॥ ३६ ॥

जानन्निति। नरः मानवः, जानन्नपि अखिलं विदन्नपि, दैवात् नियतिवशा-त्यर्थः, न तु स्वेच्छयेति भावः, विगर्हितं विशेषेण निन्दितं, कर्म प्रकरोति अनु-ष्ठति। ननु दुर्जनास्तु स्वभावादेव गर्हितमाचरन्ति, तत् कथं विगर्हितानुष्ठानस्य त्रमेव हेतुः? इति शङ्कामपनेतुं तदेव समर्थयन्नाह—किमिति। लोके जगति, स्यचित् कस्यापि जनस्य इत्यर्थः, रुच्यर्थप्रयोगात् चतुर्थीप्राप्तावपि अत्र शेषे षष्ठी इति ायम्, गर्हितं निन्दितं, कर्म इति शेषः, कथं केनापि प्रकारेणेत्यर्थः, रोचते किम्?

स्वर्गादि की खोज में घूमा करते हैं, वे भगवान् कामदेव के द्वारा निर्दयता से दण्डित करके नंगे और मुण्डित सिर वाले बना दिये जाते हैं और उन्हीं के द्वारा वे काषाय वस्त्रधारी तथा किन्हीं को जटाधारी और अन्य लोग कपालधारी बना दिए जाते हैं ॥ ३६ ॥

तब वह गर्दभ श्रद्धापूर्वक उसकी बात सुनकर पुनः उसके साथ चल दिया। अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

मनुष्य सब कुछ जानता हुआ भी कभी-कभी संयोग से निन्दित कर्म करने में प्रवृत्त हो जाता है, क्या निन्दित कर्म करना किसी को अच्छा लगता है? अर्थात् कभी नहीं अच्छा लगता है ॥ ३७ ॥

अत्रान्तरे सज्जितक्रमेण सिंहेन स लम्बकर्णो व्यापादितः। ततस्तं हत्वा शृगालं रक्षकं निरूप्य स्वयं स्नानार्थं नद्यां गतः। शृगालेऽनापि लौल्योत्सुक्यात् तस्य कर्णहृदयं भक्षितम्। अत्रान्तरे सिंहो यावत् स्नात्वा कृतदेवार्चनः प्रतर्पितपितृगणः समायाति, तावत् कर्णहृदयरहितो रासभः तिष्ठति। तं दृष्ट्वा कोपपरीतात्मा सिंहः शृगालम् आह—'पाप ! किमिदमनुचितं कर्म समाचरितं, यत् कर्णहृदयभक्षणेन अयमुच्छिष्टतां नीतः ?' शृगालः सविनयमाह—'स्वामिन् ! मा मा एवं वदः कर्णहृदयरहितोऽयं रासभ आसीत्, येन इह आगत्य त्वाम् अवलोक्य भूयोऽपि आगतः। अथ तद्वचनं श्रद्धेयं मत्वा सिंहः तेनैव सह संविभज्य निःशङ्कितमनाः तं भक्षितवान्। अतोऽहं ब्रवीमि—'आगतश्च गतश्चैव' इत्यादि।

नैव रोचते इत्यर्थः; गर्हितकर्माचरणे बहुलदोषान् जानतामपि जनानां तदाचरणे केषाञ्चित् प्रवृत्तिः केषाञ्चिच्चाप्रवृत्तिर्यत् दृश्यते, दैवमेव तत्र हेतुरिति भावः॥ ३७॥

(१) लौल्यौत्सुक्यात्—लौल्यात्—अतिलोभपरवशत्वात्, औत्सुक्याच्च—बुभुक्षिततया सत्वरभोजनाय अत्युत्कण्ठावशादित्यर्थः। कृतदेवार्चनः—प्रात्यहिकीं देवपूजां कृत्वा इत्यर्थः। प्रतर्पितेति—पितृगणान् तर्पयित्वा इत्यर्थः। कोपपरीतात्मा—क्रोधाक्रान्तहृदयः। कर्णहृदयरहितः—अस्य कर्णसत्त्वे सिंहगर्जनं श्रुत्वाऽपि कदाऽपि नैव पुनरत्रागच्छेत्, तथा हृदयसत्त्वे किञ्चित् पूर्वं सिंहस्य तलप्रहारात् कथमपि परित्रातोऽपि सपदि विस्मृततत्प्रहारः पुनर्नात्रागच्छेत्; तस्मात् कर्णहृदयरहितः एवायमिति भावः। श्रद्धेयं—विश्वास्यम्; एतस्य युक्तिपूर्वकमुपन्यसनादिति भावः। संविभज्य—विभागं कृत्वा। निःशङ्कितमनाः—असदग्धिचित्तः।

तब, आक्रमण के लिए पहले से ही उद्यत सिंह ने उस लम्बकर्ण को मार डाला। उसे मारकर शृगाल को रक्षक नियुक्त कर सिंह स्नान करने के लिये नदी में गया। इधर शृगाल ने चपलता के कारण लोलुपतावश उसके कान और हृदय खा लिये। जब सिंह स्नान करके देवपूजा से निवृत्त हो पितरों को तृप्त करके पुनः लौटकर आया, तब तक गदहा कर्ण और हृदय से रिक्त हो चुका था। यह देखकर सिंह ने क्रुद्ध हो शृगाल से कहा—अरे पापी ! तूने यह क्या अनुचित काम किया कि इसके कान और हृदय खाकर इसे जूठा कर दिया। शृगाल ने नम्रता से कहा—प्रभो ! यह न कहिये, क्योंकि यह गर्दभ तो कान और हृदय से रहित था। इसीलिए तो यहाँ आकर तुम्हें देखे जाने पर भी फिर यहाँ आ गया। तब उसकी बात का विश्वास करके, सिंह ने उसके साथ बाँटकर निःशङ्कित हो उसे खाया। इसलिये मैं कहता हूँ कि 'सिंह का पराक्रम जानकर भी जो पुनः गया' इत्यादि।

तन्मूर्ख ! कपटं कृतं त्वया, परं युधिष्ठिरेणेव सत्यवचनेन विनाशितम् ।
थवा साधु इदमुच्यते—

स्वार्थमुत्सृज्य यो दम्भी सत्यं ब्रूते सुमन्दधीः ।
स स्वार्थात् भ्रश्यते नूनं युधिष्ठिर इवापरः ॥ ३८ ॥

मकर आह—'कथमेतत् ?' स कथयति—

३ : युधिष्ठिरकुम्भकार-कथा

"कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने कश्चित् कुम्भकारः प्रतिवसति स्म । स
दाचित् प्रमादात् अर्द्धभग्नघटकर्परतीक्ष्णाग्रस्य उपरि महता वेगेन धावन्

(१) युधिष्ठिरेणेव—तन्नामकेन केनचित् कुम्भकारेणव इत्यर्थः । सत्यवचनेन—
्यकथनेन । विनाशितं—विफलीकृतं, त्वयेति पूर्वानुषङ्गः, पूर्वसमुत्थापितं कापट्य-
लमिति शेषः; युधिष्ठिरेण यथा प्राक् आत्मपरिचयमदत्त्वा राज्ञा राजपुत्रवदादृतेन
वस्थितं, पश्चात् सत्यवचनेन निजपरिचयदानात् प्रागेव च स्वस्य प्रकृतपरिचया-
काशनरूपः कपटव्यवहारः विनाशितः, तथा त्वयाऽपि प्राक् छलेन मां नीत्वा, पश्चात्
यकथनेन तत्कपटजालं स्वयमेव विनाशितमिति निष्कर्षः । इदानीं तेनैव कापट्येन
नीत्वा मां नाशयितुं तव प्रयासः सर्वथा विफल एवेति गर्भिताशयः ।

स्वार्थमिति । यः दम्भी कपटाचारः, अथ च सुमन्दधीः अतिमूढमतिः, नरः इति
ः, स्वार्थं स्वप्रयोजनम्, उत्सृज्य विहाय, विस्मृत्य इत्यर्थः, सत्यं ब्रूते, इदानीं
यकथने न किमपि अनिष्टं सम्भवेदिति मत्वेति भावः; सः अपरः पाण्डवेतरः,
धिष्ठिर इव नूनं निश्चितं, स्वार्थात् भ्रश्यते, दैवादिकस्य भ्रश्यते, कर्मकर्त्तरि लट्
यमेव भ्रष्टो भवति ॥ ३८ ॥

[३]

(१) प्रमादात्-अनवधानात्, केनचित् कारणेनान्यमनस्कतयेति भावः । अर्द्धेति ।

अतः मूर्ख ! तुमने मेरे साथ कपट तो किया था परन्तु युधिष्ठिर के समान सच
ोलकर उसे नष्ट कर दिया । अथवा ठीक ही कहा गया है—

अपना स्वार्थ छोड़कर जो मनुष्य दम्भ और मूर्खता के कारण सच बोलता है,
ह दूसरे युधिष्ठिर नाम वाले कुम्हार के समान, निश्चय ही अपने स्वार्थ से भ्रष्ट
ो जाता है, (अर्थात् अपना काम नष्ट कर लेता है) ॥ ३८ ॥

मगर ने कहा—'यह कैसे ?' वानर ने कहा—

युधिष्ठिर कुम्भकार की कथा

किसी नगर में एक कुम्हार रहता था । एक समय वह, नशे में चूर होकर,

पतितः। ततः कर्परकोटया पाटितललाटो रुधिरप्लावितततनुः कृच्छ्रात् उत्थाय स्वाश्रयं गतः'। ततश्च अपथ्यसेवनात् स प्रहारस्तस्य करालतां गतः, कृच्छ्रेण च नीरोगतां नीतः। अथ कदाचित् दुर्भिक्षपीडिते देशे, स कुम्भकारः क्षुत्क्षामकण्ठः कैश्चित् राजसेवकैः सह देशान्तरं गत्वा कस्यापि राज्ञः सेवको बभूव। स च राजा तस्य ललाटे विकरालं प्रहारक्षतं दृष्ट्वा चिन्तयामास यत्, 'वीरः पुरुषः कश्चित् अयं नूनं, तेन ललाटपट्टे सम्मुखप्रहारः'। अतस्तं सम्मानादिभिः सर्वेषां राजपुत्राणां मध्ये विशेषप्रसादेन पश्यति स्म। तेऽपि राजपुत्राः तस्य तं प्रसादातिरेकं पश्यन्तः परमीर्ष्याधर्मं वहन्तो राजभयात् न किञ्चित् ऊचुः।

अथ अन्यस्मिन्नहनि तेन भूपतिना वीरसम्भावनायां क्रियमाणायां,

अर्द्धं यथा तथा भग्नः यः घटः तस्य कर्परस्य—कपालस्य, घटादेरवयवविशेषस्येत्यर्थः, "स्यात् कर्परः कपालोऽस्त्री" इत्यमरः, यत् तीक्ष्णाग्रं तस्य। कर्परकोट्या—कपालस्य अग्रभागेण। पाटितेति। पाटितं—विदारितं, ललाटं यस्य तथाभूतः। रुधिरेति। रक्ताक्तशरीरः। स्वाश्रयं—स्वभवनम्। करालतां—भीषणत्वं, "करालो दन्तुरे तुङ्गे भीषणे चाभिधेयवत्" इति मेदिनी, नीरोगताम्—आरोग्यम्। विकरालम्—अत्युत्कटम्। तेन—वीरपुरुषत्वेन हेतुना इत्यर्थः। ललाटपट्टे—भालतटे। सम्मुखप्रहारः—सम्मुखसङ्ग्रामे आघात इत्यर्थः, प्राप्तोऽनेनेति शेषः। राजपुत्राणां मध्ये—राजपुत्राणामन्तरे, शेषे षष्ठी। "मध्यं विलग्ने न स्त्री स्यात् न्यायेऽन्तरेऽधमेऽन्यवत्" इति मेदिनी। विशेषप्रसादेन—अनुग्रहातिशयेन। प्रसादातिरेकम्—अनुग्रहातिशयम्। परम्—अत्यर्थम्, ईर्ष्याधर्मं—विद्वेषसमुत्थं मानसविकारम्।

वेग से दौड़ता हुआ, आधे टूटे हुए घड़े के नोकीले खप्पर पर गिर पड़ा। तब खप्पर की नोक से उसका मस्तक फट गया और उसका सारा शरीर लहू-लुहान हो गया और वह बड़ी कठिनता से किसी प्रकार उठकर घर पहुँचा। बाद में अपथ्य सेवन करने के कारण उसका वह घाव बहुत बढ़ गया और बड़ी कठिनता से आराम हुआ। इसके बाद एक समय देश में अकाल पड़ने के कारण वह कुम्भकार भूख से पीड़ित हो किन्हीं राजसेवकों के साथ दूसरे देश में जाकर किसी राजा का सेवक हो गया। उसके बाद भीषण चोट का निशान देखकर राजा ने सोचा—यह कोई वीर पुरुष है, इसलिये सम्भव है सामने युद्ध करते हुए इसके मस्तक पर यह प्रहार लगा है। अतः वह राजा सब राजपूतों की अपेक्षा सम्मान आदि के द्वारा उस पर विशेष कृपादृष्टि रखता था। वे राजपूत भी राजा की इस विशेष कृपा को देखते हुए और मन में ईर्ष्या रखते हुए भी राजा के भय से कुछ कह नहीं पाते थे।

विग्रहे समुपस्थिते, प्रकल्प्यमानेषु गजेषु, सन्नह्यमानेषु वाजिषु, योधेषु गुणीक्रियमाणेषु, तेन भूभुजा स कुम्भकारः प्रस्तावनानुगतं पृष्टो नर्जने—'भो राजपुत्र! किं ते नाम? का च जातिः? कस्मिन् ङ्ग्रामे प्रहारोऽयं ते ललाटे लग्नः?' इति। स आह—'देव! नायं शस्त्र-हारः, युधिष्ठिराभिधः कुलालोऽहं, प्रकृत्या मद्गेहेऽनेककर्पराः आसन्। अथ कदाचित् मद्यपानं कृत्वा निर्गतः प्रधावन् कर्परोपरि पतितः, तस्य हारविकारोऽयं मे ललाटे एवं विकरालतां गतः।' तदाकर्ण्य राजा सव्रीड-आह—'अहो! वञ्चितोऽहं राजपुत्रानुकारिणा अनेन कुलालेन! तत् दीयतां द्राक् एतस्य चन्द्रार्द्धः।' तथाऽनुष्ठिते कुम्भकार आह—'मा मा एवं कुरु, पश्य मे रणे हस्तलाघवम्।' राजा प्राह—'भोः! सर्वगुणसम्पन्नो

वीरेति। वीराणां सम्भावना—परीक्षा 'अयं वीरो न वा?' इति संशयनिरूप-णार्थम् इत्यर्थः, तस्याम्; यद्वा—सम्भावना—सम्मानना, समादर इति यावत्, तस्याम्। विग्रहे—सङ्ग्रामे, कृत्रिमयुद्धे इति भावः, समुपस्थिते—सन्निहिते। प्रकल्प्यमानेषु—सज्ज्यमानेषु। सन्नह्यमानेषु—आबध्यमानपल्ययनादिषु, वाजिषु-अश्वेषु। योधेषु—वीरेषु। प्रगुणीक्रियमाणेषु—समरसुदक्षीक्रियमाणेषु, सज्जीक्रियमाणेषु वा। भूभुजा—राज्ञा। प्रस्तावानुगतम्—अवसरप्राप्तं यथा तथा, प्रसङ्गक्रमेणेत्यर्थः। कुलालः—कुम्भकारः। प्रकृत्या—स्वभावतः, कुम्भकारजातिरित्यनुसारेणेत्यर्थः। सव्रीडं—सलज्जम्। वञ्चितः—प्रतारितः। राजपुत्रानुकारिणा—राजकुमाराणामनुकरणपरा-यणेन। द्राक्—शीघ्रम्। चन्द्रार्द्धः—अर्द्धचन्द्रः, गलहस्त इत्यर्थः। हस्तलाघवं—

इसके बाद एक दिन, युद्ध उपस्थित होने पर जब कि वीरों का दान-मानादि द्वारा सत्कार किया जा रहा था, घोड़ों पर काठी आदि कसी जा रही थी, योद्धाओं को कवायद आदि कराकर युद्ध के लिए तैयार किया जा रहा था, उस समय समयानुसार राजा ने उस कुम्हार से एकान्त में पूछा—हे राजपूत! तुम्हारा क्या नाम है? तुम्हारी जाति क्या है? और किस युद्ध में तुमको यह चोट लगी है? उसने कहा—हे राजन्! यह शस्त्र का घाव नहीं है। मैं युधिष्ठर नाम का कुम्हार जाति का हूँ। मेरे घर अनेक खपड़े थे। एक दिन मद्य पीकर दौड़ता हुआ घर से निकला और खपड़े पर गिर पड़ा। उसी की यह चोट ऐसी भीषण हो गई है। यह सुनकर राजा ने लज्जित हो कहा—राजपूतों का अनुकरण (वेषभूषादि से) करने वाले इस कुम्हार ने मुझे बड़ा धोखा दिया। इसलिये इसे शीघ्र गर्दनियाँ देकर (गले में हाथ डालकर) निकाल दो। ऐसा करते समय कुम्भकार ने कहा—ऐसा मत कीजिये, युद्ध में मेरे हाथ की सफाई और फुर्ती भी देखिये। राजा ने कहा—आप सर्वगुणसम्पन्न

पतितः। ततः कर्परकोटचा पाटितललाटो रुधिरप्लाविततनुः कृच्छ्रात् उत्थाय स्वाश्रयं गतः'। ततश्च अपथ्यसेवनात् स प्रहारस्तस्य करालतां गतः, कृच्छ्रेण च नीरोगतां नीतः। अथ कदाचित् दुर्भिक्षपीडिते देशे, स कुम्भकारः क्षुत्क्षामकण्ठः कैश्चित् राजसेवकैः सह देशान्तरं गत्वा कस्यापि राज्ञः सेवको बभूव। स च राजा तस्य ललाटे विकरालं प्रहारक्षतं दृष्ट्वा चिन्तयामास यत्, 'वीरः पुरुषः कश्चित् अयं नूनं, तेन ललाटपट्टे सम्मुखप्रहारः'। अतस्तं सम्मानादिभिः सर्वेषां राजपुत्राणां मध्ये विशेषप्रसादेन पश्यति स्म। तेऽपि राजपुत्राः तस्य तं प्रसादातिरेकं पश्यन्तः परमीर्ष्याधर्मं वहन्तो राजभयात् न किञ्चित् ऊचुः।

अथ अन्यस्मिन्नहनि तेन भूपतिना वीरसम्भावनायां क्रियमाणायां,

अर्द्धं यथा तथा भग्नः यः घटः तस्य कर्परस्य—कपालस्य, घटादेरवयवविशेषस्येत्यर्थः, "स्यात् कर्परः कपालोऽस्त्री" इत्यमरः, यत् तीक्ष्णाग्रं तस्य। कर्परकोट्या—कपालस्य अग्रभागेण। पाटितेति। पाटितं—विदारितं, ललाटं यस्य तथाभूतः। रुधिरेति। रक्ताक्तशरीरः। स्वाश्रयं—स्वभवनम्। करालतां—भीषणत्वं, "करालो दन्तुरे तुङ्गे भीषणे चाभिधेयवत्" इति मेदिनी, नीरोगताम्—आरोग्यम्। विकरालम्—अत्युत्कटम्। तेन—वीरपुरुषत्वेन हेतुना इत्यर्थः। ललाटपट्टे—भालतटे। सम्मुखप्रहारः—सम्मुखसङ्ग्रामे आघात इत्यर्थः, प्राप्तोऽनेनेति शेषः। राजपुत्राणां मध्ये—राजपुत्राणामन्तरे, शेषे षष्ठी। "मध्यं विलग्ने न स्त्री स्यात् न्यायेऽन्तरेऽधमेऽन्यवत्" इति मेदिनी। विशेषप्रसादेन—अनुग्रहातिशयेन। प्रसादातिरेकम्—अनुग्रहातिशयम्। परम्—अत्यर्थम्, ईर्ष्याधर्मं—विद्वेषसमुत्थं मानसविकारम्।

वेग से दौड़ता हुआ, आधे टूटे हुए घड़े के नोकीले खप्पर पर गिर पड़ा। तब खप्पर की नोक से उसका मस्तक फट गया और उसका सारा शरीर लहू-लुहान हो गया और वह बड़ी कठिनता से किसी प्रकार उठकर घर पहुँचा। बाद में अपथ्य सेवन करने के कारण उसका वह घाव बहुत बढ़ गया और बड़ी कठिनता से आराम हुआ। इसके बाद एक समय देश में अकाल पड़ने के कारण वह कुम्भकार भूख से पीड़ित हो किन्हीं राजसेवकों के साथ दूसरे देश में जाकर किसी राजा का सेवक हो गया। उसके बाद भीषण चोट का निशान देखकर राजा ने सोचा—यह कोई वीर पुरुष है, इसलिये सम्भव है सामने युद्ध करते हुए इसके मस्तक पर यह प्रहार लगा है। अतः वह राजा सब राजपूतों की अपेक्षा सम्मान आदि के द्वारा उस पर विशेष कृपादृष्टि रखता था। वे राजपूत भी राजा की इस विशेष कृपा को देखते हुए और मन में ईर्ष्या रखते हुए भी राजा के भय से कुछ कह नहीं पाते थे।

ग्रहे समुपस्थिते, प्रकल्प्यमानेषु गजेषु, सन्नह्यमानेषु वाजिषु, योधेषु गुणीक्रियमाणेषु, तेन भूभुजा स कुम्भकारः प्रस्तावनानुगतं पृष्टो र्जने—'भो राजपुत्र ! किं ते नाम ? का च जातिः ? कस्मिन् ङ्ग्रामे प्रहारोऽयं ते ललाटे लग्नः ?' इति । स आह—'देव ! नायं शस्त्र- हारः, युधिष्ठिराभिधः कुलालोऽहं, प्रकृत्या मद्गेहेऽनेककर्परा आसन् । थ कदाचित् मद्यपानं कृत्वा निर्गतः प्रधावन् कर्परोपरि पतितः, तस्य हारविकारोऽयं मे ललाटे एवं विकरालतां गतः ।' तदाकर्ण्य राजा सव्रीड- ाह—'अहो ! वञ्चितोऽहं राजपुत्रानुकारिणा अनेन कुलालेन ! तत् ीयतां द्राक् एतस्य चन्द्रार्द्धः ।' तथाऽनुष्ठिते कुम्भकार आह—'मा मा एवं ुरु, पश्य मे रणे हस्तलाघवम् ।' राजा प्राह—'भोः ! सर्वगुणसम्पन्नो

वीरेति । वीराणां सम्भावना—परीक्षा 'अयं वीरो न वा ?' इति संशयनिरूप- ार्थम् इत्यर्थः, तस्याम्; यद्वा—सम्भावना—सम्मानना, समादर इति यावत्, तस्याम् । विग्रहे—सङ्ग्रामे, कृत्रिमयुद्धे इति भावः, समुपस्थिते—सन्निहिते । प्रकल्प्यमानेषु— सज्ज्यमानेषु । सन्नह्यमानेषु—आबध्यमानपल्ययनादिषु, वाजिषु-अश्वेषु । योधेषु— ीरेषु । प्रगुणीक्रियमाणेषु—समरसुदक्षीक्रियमाणेषु, सज्जीक्रियमाणेषु वा । भूभुजा— ाज्ञा । प्रस्तावानुगतम्—अवसरप्राप्तं यथा तथा, प्रसङ्गक्रमेणेत्यर्थः । कुलालः— ुम्भकारः । प्रकृत्या—स्वभावतः, कुम्भकारजातिरित्यनुसारेणेत्यर्थः । सव्रीडं— सलज्जम् । वञ्चितः—प्रतारितः । राजपुत्रानुकारिणा—राजकुमाराणामनुकरणपरा- यणेन । द्राक्—शीघ्रम् । चन्द्रार्द्धः—अर्द्धचन्द्रः, गलहस्त इत्यर्थः । हस्तलाघवं—

इसके बाद एक दिन, युद्ध उपस्थित होने पर जब कि वीरों का दान-मानादि द्वारा सत्कार किया जा रहा था, घोड़ों पर काठी आदि कसी जा रही थी, योद्धाओं को कवायद आदि कराकर युद्ध के लिए तैयार किया जा रहा था, उस समय समयानुसार राजा ने उस कुम्हार से एकान्त में पूछा—हे राजपूत ! तुम्हारा क्या नाम है ? तुम्हारी जाति क्या है ? और किस युद्ध में तुमको यह चोट लगी है ? उसने कहा—हे राजन् ! यह शस्त्र का घाव नहीं है । मैं युधिष्ठर नाम का कुम्हार जाति का हूँ । मेरे घर अनेक खपड़े थे । एक दिन मद्य पीकर दौड़ता हुआ घर से निकला और खपड़े पर गिर पड़ा । उसी की यह चोट ऐसी भीषण हो गई है । यह सुनकर राजा ने लज्जित हो कहा—राजपूतों का अनुकरण (वेषभूषादि से) करने वाले इस कुम्हार ने मुझे बड़ा धोखा दिया । इसलिये इसे शीघ्र गर्दनियाँ देकर (गले में हाथ डालकर) निकाल दो । ऐसा करते समय कुम्भकार ने कहा—ऐसा मत कीजिये, युद्ध में मेरे हाथ की सफाई और फुर्ती भी देखिये । राजा ने कहा—आप सर्वगुणसम्पन्न

भवान्, तथाऽपि गम्यताम् । उक्तञ्च —

शूरोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि पुत्रक ! ।
यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते ॥ ३९ ।

कुम्भकार आह—'कथमेतत ?' राजा कथयति—

४ : सिंहदम्पति-शृगालपुत्रयोः कथा

'कस्मिश्चित उद्देशे सिंहदम्पती प्रतिवसतः स्म । अथ सिंही पुत्रद्वयम् अजीजनत । सिंहोऽपि नित्यमेव मृगान् व्यापाद्य सिंह्यै ददाति । अथ अन्यस्मिन्नहनि तेन किमपि न आसादितं वने भ्रमतोऽपि रविरस्तं गतः ।

क्षिप्रहस्तताम् ।

पुत्रवत्सला काचित् केशरिणी प्रक्रान्तोपाख्यानगोचरं स्वपुत्रद्वयेन विवदमानं तौ च जिघांसुं कृतपुत्रकं शृगालीसुतं सम्बोध्य सानुकम्पमित्थमाह - शूरोऽसीति । हे पुत्रक ! त्वं शूरः बलवान्, असि, कृतविद्यः निखिलाखेटकविद्यापारं गतः, असि भवसि, तथा दर्शनीयः मनोहरकान्तिः, असि, तथाऽपि, यस्मिन् कुले वंशे, त्वम् उत्पन्नः जातः, तव तस्मिन् कुले, उत्पन्नेन प्राणिना इति शेषः, गजः न हन्यते न विनाश्यते; सिंहशावकोचितं गजमारणरूपम् अतिदुष्करं कर्म शृगालीतनयस्यातीव अशक्यमिति भावः; अत्र "सिंहस्तत्र न हन्यते" इति केचित् पठन्ति, सिंहसुतद्वय-बधोद्यमस्यात्र प्राकरणिकतया तत्स्वीकारे, सिंहहननं त्वया सुदुष्करमेव इत्यर्थोऽवसीयते इति ज्ञेयम् ॥ ३९ ॥

[४]

(१) उद्देशे—प्रदेशे । सिंहदम्पती—सिंहमिथुनं, सिंहौ च सिंहश्च सिंही इति स्वरूपैकशेषः, ततः सिंहौ एव दम्पती इति कर्मधारयः, दम्पती तु जाया च पतिश्चेति द्वन्द्वे जायाशब्दस्य दमादेशात्, पक्षे—जम्पती जायापती च; द्वन्द्वात् द्विवच-

---

हैं, तो भी जाइये । क्योंकि कहा भी गया है—

हे पुत्र ! तुम शूरवीर हो और शिक्षित तथा दर्शनीय भी हो, परन्तु जिस वंश में तुम उत्पन्न हुए हो, उसमें हाथी का शिकार नहीं किया जाता है ॥ ३९ ॥

कुम्भकार ने कहा—यह कैसे ? राजा ने कहा—

सिंह दम्पति और शृगलपुत्र की कथा

किसी वनप्रदेश में सिंह दम्पती रहते थे । एक समय, सिंही ने दो शावकों को जन्म दिया । तब सिंह, प्रतिदिन पशुओं को मारकर सिंहनी को दिया करता था । एक दिन उसे कुछ भी नहीं मिला । वन में घूमते हुए सूर्य भी अस्त हो गए । घर को

कुलालं न जानन्ति, तावत् द्रुततरम् अपसर, नो चेत् एतेषां सकाशात् विडम्बनां प्राप्य मरिष्यसि। कुलालोऽपि तदाकर्ण्य सत्वरं प्रनष्टः। अतोऽहं ब्रवीमि—'स्वार्थमुत्सृज्य यो दम्भी' इत्यादि। धिक् मूर्ख! यत् त्वया स्त्रियोऽर्थे एतत् कार्य्यम् अनुष्ठातुम् आरब्धम्। न हि स्त्रीणां कथञ्चिद्विश्वासम् उपगच्छेत्।

उक्तञ्च—

यदर्थे स्वकुलं त्यक्तं जीवितार्द्धञ्च हारितम्।
सा मां त्यजति निःस्नेहा कः स्त्रीणां विश्वसेन्नरः? ॥ ४५ ॥

मकर आह—"कथमेतत्?" वानरः कथयति—

५ : ब्राह्मणदम्पत्योः कथा

"अस्ति कस्मिंश्चित अधिष्ठाने कोऽपि ब्राह्मणः। तस्य च भार्य्या प्राण-

(१) विडम्बनां—विशेषेण अवमाननाम्।

यदर्थे इति। यदर्थे यस्याः पत्न्याः, अर्थे कृते, स्वकुलम् आत्मीयवर्गः, त्यक्तं विमृष्टं, परित्यज्य आगतमित्यर्थः, जीवितार्द्धञ्च आयुषः अर्द्धञ्च, हारितं परित्यक्तम् इत्यर्थः, सा निःस्नेहा त्यक्तप्रणया सती, मां त्यजति; अतः को नरः स्त्रीणां, सम्बन्धविवक्षया षष्ठी, विश्वसेत्? विश्वासं कुर्यात्? श्वसितेरादादिकतया विश्वस्यादित्येव प्रयोगो भवितुं युक्त इत्यवधेयम्, मम दृष्टान्तेन न केनापि स्त्रीषु विश्वासः कर्त्तव्य इत्यर्थः॥ ४५ ॥

[५]

(२) भार्य्या—पत्नी, विभर्त्तेर्दीर्घान्तात् भृ इति धातोः क्र्यादेर्वा "ऋहलोर्ण्यत्"

जानें, तब तक यहाँ से शीघ्र चले जाओ। अन्यथा इनके द्वारा तिरस्कार पाकर मारे जाओगे। कुम्हार भी यह सुनकर तत्काल वहाँ से भाग गया। इसलिए मैं कहता हूँ—'स्वार्थमुत्सृज्य यो दम्भी'। (इत्यादि इस कथा को सुनकर पुनः वानर ने मगर से कहा)—अरे मूर्ख! तुझे धिक्कार है, क्योंकि तुमने स्त्री के लिए यह घृणित कार्य आरम्भ किया है। जबकि स्त्रियों का कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। क्योंकि कहा भी गया है—

जिसके लिए मैंने अपने कुल का त्याग किया और जीवन का आधा हिस्सा भी दे दिया, वह स्नेहविमुख होकर आज यदि मुझे त्याग रही है। तब इस संसार में कौन मनुष्य स्त्रियों का विश्वास करेगा? ॥ ४५ ॥

मगर ने कहा—'यह कैसे?' वानर ने कहा—

ब्राह्मण और ब्राह्मणी की कथा

किसी नगर में एक ब्राह्मण रहता था। वह अपनी स्त्री को प्राणों से भी अधिक

भ्योऽपि अतिप्रिया आसीत्; साऽपि प्रतिदिनं कुटुम्बेन सह कलहं कुर्वाणा न विश्राम्यति। सोऽपि ब्राह्मणः कलहम् असहमानः भार्य्यावात्सल्यात् स्वकुटुम्बं परित्यज्य, ब्राह्मण्या सह विप्रकृष्टं देशान्तरं गतः। अथ महाऽटवी-मध्ये ब्राह्मण्या अभिहितम्—'आर्यपुत्र! तृष्णा मां बाधते, तदुदकं क्वापि अन्वेषय'। अथ असौ तद्वचनानन्तरं यावत् उदकं गृहीत्वा समागच्छति, तावत् तां मृताम् अपश्यत्। ततः सः अतिवल्लभतया विषादं कुर्वन् यावत् विलपति, तावत् आकाशे वाचं शृणोति, तथा हि—'ब्राह्मण! यदि त्वं स्वकीयजीवितस्यार्द्धं ददासि, ततः ते जीवति ब्राह्मणी' इति। तत् श्रुत्वा ब्राह्मणेन शुचीभूय तिसृभिः वाचाभिः स्वजीविताद्धं दत्तम्, वाकसममेव च ब्राह्मणी जीविता सा। अथ तौ जलं पीत्वा वनफलानि च भक्षयित्वा

(पा० सू० ३।१।२४) इति सूत्रेण कर्मणि ण्यति कृते भार्य्या इति सिद्धम्। भरतेस्तु "भृञाऽसंज्ञायाम्" (पा० सू० ३।१।११२) इति सूत्रेण असंज्ञार्थे क्यपा भाव्यम्; तेन च भृत्य इति स्यात्। संज्ञार्थेऽपि 'संज्ञायां समजनिषदनिपतमनविदपुञ्शीङ्भृञिणः' (पा० सू० ३।३।९९) इति सूत्रेण क्यपैव भाव्यं, तेन भृत्या इत्येव रूपं स्यात्, न तु भार्य्येति; यद्वा—येषां मते भावे स्त्रियामस्य सूत्रस्य विषयः, तन्मते भरतेरपि कर्मणि ण्यता भार्य्येति सिद्धमेव; तथा चोक्तं काशिकायां—'संज्ञायां पुंसि दृष्टत्वात् न ते भार्य्या प्रसिध्यति। स्त्रियां भावाधिकारोऽस्ति तेन भार्य्या प्रसिद्ध्यति।' इति। कुटुम्बेन—परिजनेन। विश्राम्यति—निवर्त्तते। भार्य्यावात्सल्यात्—पत्नीस्नेहात्। विप्रकृष्टम्—अतिदूरम्। अतिवल्लभतया—अति—अतिशयेन, वल्लभः—प्रियः, अनुरागपात्रम् इत्यर्थः, तस्य भावः तत्ता तया, अतिप्रियतया। विषादं—शोकम्।

प्रिय समझता था। किन्तु वह प्रतिदिन कुटुम्ब के साथ झगड़ा करती हुई कभी भी शान्त नहीं रहती थी। वह ब्राह्मण भी झगड़े से ऊब गया और भार्या के प्रेमवश अपने कुटुम्ब को छोड़कर ब्राह्मणी के साथ दूरस्थ देश को चल पड़ा। चलते-चलते एक भयंकर जंगल के मध्य में पहुँचने पर ब्राह्मणी ने कहा—'आर्यपुत्र! मुझे बड़ी तेज प्यास लगी है। अतः कहीं जल की खोज कीजिए।' ब्राह्मणी के कहने पर जब वह जल लेकर आया, तो उसे मरी पड़ी देखा। अतिशय प्रेम के कारण दुःख से जब वह विलाप करने लगा, तब यह आकाशवाणी सुनाई दी—'हे ब्राह्मण! यदि तुम इसे अपने जीवन का आधा हिस्सा दे दे तो यह ब्राह्मणी जीवित हो जायेगी।' यह सुनकर ब्राह्मण ने पवित्र होकर तीन बार प्रतिज्ञा करके अपना आधा जीवन उसे दे दिया। उसके ऐसा करते ही वह ब्राह्मणी पुनः जीवित हो उठी। तब वे दोनों जल पीकर वन के फल खाते हुए चलने लगे। चलते चलते किसी नगर की पुष्पवाटिका

गन्तुम् आरब्धौ। ततः क्रमेण कस्यचित् नगरस्य प्रदेशे पुष्पवाटिकां प्रविश्य ब्राह्मणो भार्याम् अभिहितवान्—'भद्रे ? यावत् अहं भोजनं गृहीत्वा समागच्छामि, तावत् अत्र त्वया स्थातव्यम्' इत्यभिधाय ब्राह्मणो नगरमध्ये जगाम।

अथ तस्यां पुष्पवाटिकायां पङ्गुः कश्चित् अरघट्टं खेलयन् दिव्यगिरा गीतमुद्गिरति। तच्च श्रुत्वा कुसुमेषुणा अर्दितया ब्राह्मण्या तत्सकाशं गत्वा अभिहितं—'भद्र ! यदि मां न कामयसे; तत् मत्सक्ता स्त्रीहत्या तव भविष्यति।' पङ्गुरब्रवीत्—'किं व्याधिग्रस्तेन मया करिष्यसि ?' सा अब्रवीत्—'किम् अनेन उक्तेन, अवश्यं त्वया सह मया सङ्गमः कर्त्तव्यः'। तत् श्रुत्वा पङ्गुः तथा कृतवान्। सुरतानन्तरं सा अब्रवीत्—'इतः प्रभृति यावज्जीवं मया आत्मा भवते दत्त, इति ज्ञात्वा भवानपि अस्माभिः सह आगच्छतु'। सोऽब्रवीत्—'एवमस्तु'।

---

(१) पुष्पवाटिकायां—पुष्पोद्याने इत्यर्थः। पङ्गुः – गमनशक्तिहीनः पुरुषः, 'खजि गतिवैकल्ये' इति खजधातोः कुप्रत्यये खस्य पकारः, जस्य च गकारः, नुगागमश्च औणादिकः, तेन च सिद्धं पङ्गुरिति। तथा च उणादिवृत्तौ 'खरुशङ्कु—' (उ०सू० १.३७) इत्यादिसूत्रे 'खजि गतिवैकल्ये बाहुलकादतोऽपि कुः। खजयोः पगौ नुगागमश्च पङ्गुः।' इति। अरघट्टं—कूपोपरिनिबद्धजलोत्तोलनकाष्ठदण्डम्। खेलयन्—हस्तेन रज्जुं धृत्वा उच्चावचं क्षिपन्निति भावः। दिव्यगिरा – मधुरवचसा। गीतम् उद्गिरति – उच्चारयति, गायति इत्यर्थः। कुसुमेषुणा कामेन। अर्दितया—पीडितया। कामयसे—प्रार्थयसे ममाभिलाषं पूरयसीत्यर्थः। मत्सक्ता--मत्सम्बन्धिनी। स्त्रीहत्या – स्त्रीविनाशजनितं पातकम् इत्यर्थः, स्त्रियाः हननं स्त्रीहत्या, हनधातोः भावे 'हनस्त च' (पा० सू० ३।१।१०८) इति क्यपि कृते रूपमिदम्।

में ठहरकर ब्राह्मण ने कहा—'भद्रे ! मैं जाकर भोजन की सामग्री ले आता हूँ। तब तक तुम यहीं रहो।' ऐसा कहकर ब्राह्मण नगर में चला गया।

उस पुष्पवाटिका में एक लंगड़ा कुएं पर रहट से खिलवाड़ करता हुआ मधुर स्वर से गीत गा रहा था। उस गीत को सुनकर कामबाण से पीड़ित होकर ब्राह्मणी उसके पास गयी और बोली—'भद्र ! यदि तुम मेरी इच्छा पूरी नहीं करोगे, तो तुमको कामासक्त स्त्री की हत्या का पाप लगेगा।' लंगड़े ने कहा—'व्याधि से ग्रस्त मुझसे तुम क्या समागम करोगी ? उसने कहा—ऐसा कहने से क्या लाभ ? मैं अवश्य तुम्हारे साथ सम्भोग करूंगी। यह सुनकर उसने वैसा ही किया। सम्भोग के अन्त में वह बोली—अब से जीवन भर के लिए मैंने अपनी आत्मा तुम्हें दे दी है। ऐसा जानकर

अथ ब्राह्मणो भोजनं गृहीत्वा समागत्य तया सह भोक्तुम् आरब्धः। सा अब्रवीत्—'एष पङ्गुः बुभुक्षितः, तत् एतस्यापि कियन्तमपि ग्रासं देहि' इति। तथा अनुष्ठिते ब्राह्मण्या अभिहितं—'ब्राह्मण ! सहायहीनः त्वं यदा ग्रामान्तरं गच्छसि, तदा मम वचनसहायोऽपि नास्ति, तत् एनं पङ्गुं गृहीत्वा गच्छावः'। सोऽब्रवीत्—'न शक्नोमि आत्मानमपि आत्मना वोढुं, किं पुनः एनं पङ्गुम् ?' सा अब्रवीत्—'पेटाभ्यन्तरस्थम् एनमहं नेष्यामि'। अथ तत् कृतकवचनव्यामोहितचित्तेन तेन प्रतिपन्नम्। तथाऽनुष्ठिते, अन्यस्मिन् दिने कूपोपकण्ठे विश्रान्तो ब्राह्मणः तया पङ्गुपुरुषासक्तया सम्प्रेर्य्य कूपान्तःपातितः। साऽपि पङ्गुं गृहीत्वा कस्मिश्चित् नगरे प्रविष्टा। तत्र शुल्कचौर्य्यरक्षानिमित्तं राजपुरुषैः इतस्ततो भ्रमद्भिः तन्मस्तकस्था पेटा दृष्टा, बलात् आच्छिद्य राजाग्रे नीता च। राजा च यावत् ताम् उद्घाटयति, तावत् तं पङ्गुं ददर्श। ततः सा ब्राह्मणी विलापं

---

(१) वोढुं वहनं कर्त्तुं, स्वदेहभारम् ऊढ्वा स्वयं गन्तुम् इत्यर्थः। पेटाभ्यन्तरस्थं - पेटकमध्यवर्त्तिनम्। कृतकेति। कृतकेन—कपटेन, वचनेन व्यामोहितं चित्तं यस्य तादृशेन। तेन--ब्राह्मणेन। प्रतिपन्नम्—अङ्गीकृतम्। कूपोपकण्ठे—कूपसमीपे। सम्प्रेर्य्य--सञ्चाल्य, 'धक्का देकर' इति हिन्दीभाषा। कूपान्तः--कूपमध्ये। शुल्कचौर्य्येति। शुल्कस्य--राजदेयकरविशेषस्य, यत् चौर्य्यम्—अपहरणं, प्रतारणापूर्वकमप्रदानमित्यर्थः, तस्य रक्षानिमित्तं-निवारणार्थम् इत्यर्थः। राज-

---

तुम भी हमारे साथ चलो। वह बोला 'ऐसा ही सही।'

तब तक ब्राह्मण भोजन लेकर आया और उसके साथ खाने लगा। तब वह बोली--यह लँगड़ा भूखा है। अतः इसको भी कुछ भोजन दे दो। वैसा करने पर, ब्राह्मणी ने पुनः कहा—हे पतिदेव ! आप सहायक से हीन होकर जब आजीविका के लिए ग्रामान्तर चले जाते हैं, तब मेरे साथ कोई बोलने वाला नहीं रहता। अतः इस पंगु को साथ लेते चलो। वह बोला—'मै स्वयं चलने में असमर्थ हूँ फिर इस पंगु को कैसे ले चलूँगा ? तब वह बोली—'गठरी के भीतर रखकर इसको मैं ले चलूँगी।' तब उस स्त्री के कपटपूर्ण वचनों से व्यामोहित होकर उसने यह स्वीकार कर लिया।' वैसा करने पर, एक दिन उस पंगु में आसक्त चित्त वाली उस ब्राह्मणी ने कुएं के समीप विश्राम करते हुए अपने पति को कुएं में ढकेल दिया और वह भी प्रिय पंगु को लेकर किसी नगर में चली गयी। वहाँ राज्य-कर अर्थात् चुंगी नहीं देने वाले चोरों की खोज में इधर-उधर घूमते हुए राजपुरुषों ने उसके मस्तक पर वह गठरी देखी, तब जबर्दस्ती छीनकर वे उसे राजा के पास ले गये। राजा ने जब उसे खोल-

कुर्वती राजपुरुषानुपदम् एव तत्र आगता राज्ञा पृष्टा—'को वृत्तान्तः ?' इति। सा अब्रवीत्—'मम एष भर्त्ता व्याधिबाधितो दायादसमूहैः उद्वेजितो मया स्नेहव्याकुलितमानसया शिरसि कृत्वा भवदीयनगरे आनीतः'। तत् श्रुत्वा राजा अब्रवीत्—'ब्राह्मणि ! त्वं मे भगिनी, ग्रामद्वयं गृहीत्वा भर्त्रा सह भोगान् भुञ्जाना सुखेन तिष्ठः'।

अथ स ब्राह्मणो दैववशात् केनापि साधुना कूपात् उत्तारितः परिभ्रमन् तदेव नगरम् आयातः, तया दुष्टभार्य्यया कदाचित् दृष्टश्च राज्ञे निवेदितः—'राजन् ! अयं मम भर्तुः वैरी समायातः'। राज्ञा अपि तस्य बध आदिष्टः। सोऽब्रवीत्—'देव ! अनया मम सक्तं किञ्चित् गृहीतम् अस्ति, यदि त्वं धर्मवत्सलः, तदा तद्दापय'। राजा अब्रवीत्—'भद्रे ! यत् त्वया अस्य सक्तं किञ्चित् गृहीतम् अस्ति, तत् समर्पय'। सा प्राह—'देव ! मया न किञ्चित् गृहीतम्।' ब्राह्मण आह—'यन्मया त्रिवाचिकम् स्वजीवितार्द्धं

पुरुषैः—शुल्कापहरणं वारयितुं राजनियुक्तपुरुषैरिति भावः। राजेत। राजपुरुषाणां—नगरपालानाम् इत्यर्थः, अनुपदं—पश्चात्, पश्चादर्थेऽव्ययीभावः। व्याधिवाधितः—रोगपीडितः। दायादसमूहैः—दायं—मृतपित्रादिस्वजनस्य धनम्, आददते—गृह्णन्ति ये ते दायादाः, तेषां समूहैः, पितृधनांशभाग्भिः बान्धवादिभिरित्यर्थः, "दायादौ सुतबान्धवौ" इत्यमरः। उद्वेजितः—उत्पीडितः। भुञ्जाना—सेवमाना इत्यर्थः, "भुजोऽनवने" (पा० सू० १।३।६६) इति आत्मनेपदविधानात् शानच्प्रत्ययः।

(१) सक्तं—सङ्क्रान्तम्। धर्मवत्सलः—धर्मप्रियः, धार्मिक इत्यर्थः। तत् –

वाया तो उसमें बैठे हुए लगंड़े को देखा। तब तक ब्राह्मणी विलाप करती हुई राजपुरुषों के पीछे पीछे वहाँ आ गई। राजा ने पूछा—'क्या बात है ?' वह बोली—'मेरा रोगग्रस्त स्वामी बन्धुओं से सताया हुआ है। मैं स्नेहवश व्याकुल मन से सिर पर रखकर इसे आपके नगर में लायी हूँ।' यह सुनकर राजा बोला—'ब्राह्मणी ! तुम मेरी बहन हो। मुझसे दो गाँव लेकर अपने पति के संग सुख भोगती हुई आनन्द से रहो।'

उधर किसी साधु द्वारा कुएं से निकाला हुआ वह ब्राह्मण दैववश घूमता-फिरता उसी नगर में आ पहुँचा। तब उस दुष्ट भार्या ने उसे देखकर राजा से कहा—राजन् ! यही मेरे स्वामी का बैरी है। राजा ने तत्काल उसके बध की आज्ञा दे दी। राजा की आज्ञा सुनकर वह ब्राह्मण बोला—देव ! इसने मेरी एक धरोहर ले रखी है। यदि आप धर्मवत्सल राजा हैं, तो उसे दिला दीजिए। राजा ने कहा—'भद्रे ! तुमने इसका कुछ लिया हो तो इसे दे दो।' उसने कहा—'देव ! मैंने इसका

दत्तं, तद् देहि'। अथ सा राजभयात् तत्र एव 'त्रिवाचिकम् एव जीवितम् अनेन दत्तम्' इति जल्पन्ती प्राणैर्विमुक्ता। ततः सविस्मयं राजा अब्रवीत्--'किमेतत् ?' इति। ब्राह्मणेनापि पूर्ववृत्तान्तः सकलोऽपि तस्मै निवेदितः, प्राह च—'यदर्थं स्वकुलं त्यक्तम्' इति। अतोऽहं ब्रवीमि—'यदर्थं स्वकुलं त्यक्तम्' इत्यादि।

वानरः पुनराह—"साधु च इदमुपाख्यानकं श्रूयते—

न किं दद्यान्न किं कुर्य्यात् स्त्रीभिरभ्यर्थितो नरः ?।
अनश्वा यत्र ह्रेषन्ते शिरः पर्वणि मुण्डितम् ॥ ४६ ॥

प्राक् गृहीतं वस्तु। दापय—मह्यं दातुमादिशेत्यर्थः। त्रिवाचिकम्—अस्यै स्वजीविताद्धं ददामि ददामि ददामीति वारत्रयमुक्त्वा प्रतिज्ञातम् इत्यर्थः। जल्पन्ती---कथयन्ती। प्राणैः विमुक्ता—मृता इत्यर्थः। तस्मै—राज्ञे, निवेदितः—ज्ञापितः, क्रियाग्रहणात् चतुर्थी।

प्रक्रान्तोपाख्यानवर्णितेन नन्दराजेन मुण्डनहेतुः पृष्टः तत्सचिवः राजानं प्रति तदुत्तरमाह—नेति। स्त्रीभिः अभ्यर्थितः सम्प्रार्थितः, नरः किं न दद्यात् ? किं वा न कुर्य्यात् ? सर्वमेव दद्यात्, सर्वमेव कुर्याच्च इत्यर्थः। यत्र यस्मिन् देशे, यस्यामवस्थायाम् आपतितायां वा, अनश्वा अश्वादन्ये, अपीति शेषः, ह्रेषन्ते अश्ववत् ह्रेषारवं कुर्वन्ति, राज्ञा सुगुप्तं गृहमध्ये एतदनुष्ठितमपि वररुचिना ज्योतिर्विद्याप्रभावात् तत् सर्वमवगतम्, एवञ्च तदाक्षिप्तमीदृशं वचः नासङ्गतमित्यवेक्षणीयम्। अत्र यच्छब्दस्य साकाङ्क्षतया तत्रेति पदम् अध्याहार्यम्। तत्र तस्मिन् देशे, तस्यामवस्थायां समापतितायां वा, पर्वणि पर्वदिनेऽपि, शिरः मुण्डितं, मयेति शेषः—"चतुर्दश्यष्टमी चैव अमावस्याऽथ पूर्णिमा। पर्वाण्येतानि राजेन्द्र ! रविसङ्क्रान्तिरेव च ॥" इति शास्त्रवचनात् 'चतुर्दश्यादीनि पञ्च पर्वाणि, तेषु मुण्डनस्य निषिद्धत्वात् कथं तस्मिन् एव दिने मुण्डनम् ?' इति प्रश्ने उत्तरमिदमिति बोध्यम्। स्त्रिया वशं गताः कार्याकार्यं

कुछ नहीं लिया है। ब्राह्मण ने कहा—'जो मैने त्रिवाचिक देकर अपना आधा जीवन इसे दिया था, वह दे दे।' तब राजा के भय से उसने कहा ---'त्रिवाचिक जीवन, जो इसने मुझे दिया था, उसे मैं लौटा रही हूँ' और ऐसा कहते ही वह वही मर गई। तब विस्मयपूर्वक राजा ने कहा—'यह क्या ? 'तब ब्राह्मण ने भी पहले का सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया और कहा—'जिसके लिए अपने कुटुम्ब का त्याग किया' आदि। इसीलिए मैं कहता हूँ—'जिसके लिए तुमने अपने कुल का त्याग किया' आदि।

फिर वानर ने कहा —-यह भी एक अच्छा उपाख्यान सुना जाता है—

स्त्रियों के आग्रह पर मनुष्य क्या नहीं देता और क्या क्या नहीं करता अर्थात् सब कुछ देता है और करता है। जब घोड़े न होकर भी मनुष्य हिनहिनाते हैं और

मकर आह—"कथमेतत् ?" वानरः कथयति—

६ : नन्द-वररुचि-कथा

"अस्ति प्रख्यातबलपौरुषः, अनेकनरेन्द्रवृन्दमुकुटमरीचिजालजटिलीकृत-पादपीठः, शरच्छशाङ्ककिरणनिर्मलयशाः, समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्या भर्त्ता नन्दो नाम राजा। तस्य सर्वशास्त्राधिगतसमस्ततत्त्वः सचिवो वररुचिर्नाम, तस्य च प्रणयकलहेन जाया कुपिता। सा च अतीव वल्लभा अनेकप्रकारं परितोष्यमाणाऽपि न प्रसीदति। ब्रवीत् च भर्त्ता—'भद्रे! येन प्रकारेण तुष्यसि, तं वद, निश्चितं करोमि'। ततः कथञ्चित् तया उक्तं—

किमपि न विभाव्य भवादृशाः यथा रात्रौ ह्लेषारवमकार्षुः तथा मयाऽपि पर्वणि शिरः मुण्डितमिति वक्तुः तात्पर्य्यम् ॥ ४६ ॥

[६]

(१) प्रख्यातेति—प्रख्यातं—प्रसिद्धं, बलं—सैन्यं, सामर्थ्यं वा, "स्थौल्यसामर्थ्यसैन्येषु बलं ना काकसीरिणोः' इत्यमरः। पौरुषं—पराक्रमश्च यस्य तथाभूतः। अनेकेति। अनेकानां नरेन्द्राणां—राज्ञां, यत् वृन्दं—समूहः, तस्य मुकुटानां किरीटानां मरीचिजालैः—प्रभापुञ्जैः, जटिलीकृतं—शवलीकृतमिति यावत्, पादपीठं—चरणासनं यस्य तथोक्तः, प्रणतराजमण्डलमुकुटमणिरञ्जितचरणनिधानासनविशेष इत्यर्थः। शरदिति। शरदि यः शशाङ्कः—चन्द्रः, तस्य किरणवत् निर्मलं—धवलं, सुविशुद्धमित्यर्थः, यशः यस्य तादृशः। समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्याः—सागरपरिच्छिन्नाया भूमेः, आ समुद्रक्षितेः इत्यर्थः। सर्वेति। सर्वेषां शास्त्राणाम् अधिगतं—ज्ञातं, समस्तं तत्त्वं—याथार्थ्यं, निगूढार्थ इत्यर्थः, येन सः। अतीव वल्लभा—अतिप्रेयसी।

पर्व दिन अर्थात् चौदस-अष्टमी आदि निषिद्ध दिनों में भी सिर का मुण्डन कराते हैं ॥ ४६ ॥

मगर ने कहा—'यह कैसे ?' वानर ने कहा—

नन्द और वररुचि की कथा

किसी देश में पूर्ण प्रख्यात और बल पुरुषार्थयुक्त अनेक राजाओं के मुकुटों के किरणसमूह से सेवित चरण-पीठ वाले, शरत्कालीन चन्द्रमा के समान निर्मल और समुद्रपर्यन्त पृथ्वी के स्वामी नन्द नाम के राजा थे। सम्पूर्ण शास्त्र के तत्त्वज्ञ वररुचि उनके मन्त्री थे। एक दिन उसकी स्त्री प्रणय-कलह से क्रोधित हुई। वह उसे बहुत प्यारी थी, अतः अनेक प्रकार से सन्तुष्ट करने पर भी जब वह प्रसन्न नहीं हुई, तब उसके पति ने कहा—भद्रे ! 'तुम किस तरह प्रसन्न होगी ? उसे

'यदि शिरो मुण्डयित्वा मम पादयोः निपतसि, तदा प्रसादाभिमुखी भवामि। तथाऽनुष्ठिते च सा प्रसन्ना आसीत्।

अथ नन्दस्य भार्य्याऽपि तथा एव रुष्टा प्रसाद्यमानाऽपि न तुष्यति। ततः तेन उक्तं—'भद्रे! त्वया विना मुहूर्त्तमपि न जीवामि, पादयोः पतित्वा त्वां प्रसादयामि'। सा अब्रवीत्—'अहं तव मुखे खलीनं प्रक्षिप्य पृष्ठे समारुह्य च त्वां धावयामि, धावितस्तु यदि अश्ववत् ह्रेषसे, तदा प्रसन्ना भवामि'। राज्ञाऽपि तथा एव अनुष्ठितम्।

अथ प्रभातसमये सभायामुपविष्टस्य राज्ञः समीपे वररुचिः आयातः। तञ्च दृष्ट्वा राजा पप्रच्छ—'भो वररुचे! किं पर्वणि मुण्डितं शिरस्त्वया!' सोऽब्रवीत्—

न किं दद्यान्न किं कुर्यात् स्त्रीभिरभ्यर्थितो नरः?।
अनश्वा यत्र ह्रेषन्ते शिरः पर्वणि मुण्डितम्॥ ४७॥

---

(१) खलीनं—कविकां, बल्गायोजनार्थं मुखाभ्यन्तरे दीयमानः 'कडियाल' इति ख्यातः लौहखण्डविशेष इत्यर्थः, "कविका तु खलीनोऽस्त्री" इत्यमरः। प्रक्षिप्य—स्थापयित्वा। धावयामि—द्रुतं चालयामि। ह्रेषसे—नदसि, ह्रेषारवं करोषि इत्यर्थः।

नेति। पूर्वं व्याख्यातम् (६६६ पृष्ठे)। अत्र वानरस्यायमाशयः- ये खलु महाप्राज्ञा

कहो, उसको मैं अवश्य करूँगा।' तब उसने कहा—'यदि सिर मुड़ाकर मेरे चरणों पर गिरो, तो मैं प्रसन्न हो जाऊँगी।' वररुचि के वैसा करने पर वह प्रसन्न हो गई।

उधर राजा नन्द की भार्या भी उसी प्रकार रूठी थी और किसी प्रकार सन्तुष्ट नहीं हो रही थी। तब राजा ने कहा—'भद्रे! तुम्हारे बिना मैं क्षणभर भी जीवित नहीं रह सकता। मैं चरण पकड़कर तुझे मनाता हूँ।' वह बोली—'तुम मुख में लगाम लगाकर घोड़ा बन जाओ और तुम्हारी पीठ पर चढ़कर शीघ्रता से मैं तुम्हें दौड़ाऊँगी। दौड़ते हुए तुम घोड़े के समान हिनहिनाओ, तो मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हो जाऊँगी।' राजा ने वैसा ही किया (जो उनकी स्त्री ने कहा)।

तब प्रातःकाल सभा में बैठे हुए राजा के समीप जब वररुचि आये। तो उन्हें मुण्डित देखकर राजा ने पूछा—'अहा वररुचि! तुमने किस पर्व में सिर मुड़ाया है?' तब वररुचि ने कहा—

स्त्रियों के आग्रह से मनुष्य क्या नहीं करता है, और क्या नहीं दे डालता

तत् भोः दुष्टमकर ! त्वमपि नन्द-वररुचिवत् स्त्रीवश्यः, ततोऽभद्रः ; आगतेन त्वया मां प्रति बधोपायप्रयासः प्रारब्धः, परं स्ववाग्दोषेण एव प्रकटीभूत । अथवा साधु इदमुच्यते—

आत्मनो मुखदोषेण बध्यन्ते शुकसारिकाः ।
वकास्तत्र न बध्यन्ते मौनं सर्वार्थसाधनम् ॥ ४८ ॥

तथा च—

नन्दसदृशाः महान्तः नरपतयः वररुचिसदृशाः सुधियः मन्त्रिणश्च, तेऽपि कदाचित् स्त्रियाः वशं गताः विमुग्धाश्च सन्तः अकृत्यमपि साधयन्ति; रजन्यां शुद्धान्ते तथा स्त्रीसन्निधौ रहसि स्वयं कृतं किमपि सुगुप्तं रक्षितुं नालं भवन्ति च, अत; भवादृशस्य क्षुद्रस्य स्त्रीपारतन्त्र्यं, तेन च मम बधप्रयासः, रहःकृतकापट्याभिप्रायप्रकाशनञ्चा-वश्यमेव सम्भवतीति विवेकः ॥ ४७ ॥

(१) स्त्रीवश्यः--भार्य्याऽधीनः, स्त्रैण इत्यर्थः । वधोपायेति । वधस्य उपायः—साधनं कौशलं वा, तस्मिन् प्रयासः—तदनुध्यानप्रयत्नः । प्रारब्धः—प्रक्रान्तः । स्वेति । स्वस्य—आत्मनः, वाग्दोषेण—वाचो दोषेणैव, प्रकटीभूतः प्रकाशतां—गतः ।

"जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्" इत्युक्तेः सर्वत्र सर्वार्थसिद्धिकारकतया मौनमेवाश्रयणीयमित्युपदिशति—आत्मन इति । आत्मनः स्वस्य, मुखदोषेण मौनविरुद्धवाचलताप्रसूतेन दोषेणेत्यर्थः, मधुरभाषित्वरूपेणेति भावः, शुकसारिकाः शुकाः कीराः, तथा सारिकाः तदाख्याः पक्षिण्यश्च इत्यर्थः, ("मैना" इति हिन्दी-भाषा) बध्यन्ते संयम्यन्ते, पिञ्जरे शाकुनिकैः इति शेषः, वकास्तु तत्र न बध्यन्ते; तेषां तद्दोषाभावात् इति भावः; तस्मात् मौनं तूष्णीम्भावः, सर्वार्थसाधनं सर्वकार्य-सिद्धिकरं, सर्वे अर्थाः साध्यन्ते अनेनेति करणे ल्युट्; अतः मौनमेव अवलम्बनीयं, न तु वाचालता, तस्या बहुविपज्जनकत्वादिति भावः ॥ ४८ ॥

है ? महाराज ! जिस पर्व पर मनुष्य भी घोड़ों की तरह हिनहिनाया करते हैं उसी पर्व में मैंने यह मुण्डन कराया है ॥ ४७ ॥

इसलिए अरे दुष्ट मगर ! तुम भी नन्द और वररुचि के समान स्त्री के वशीभूत हो। भद्र ! आते हो तुमने मेरे वध का उपाय सोचना प्रारम्भ किया, परन्तु अपनी वाणी के दोष से ही तुम्हरा भेद खुल गया। अथवा ठीक ही कहा गया है—

शुक और सारिकाएँ अपने मुख-दोष से ही अर्थात् बोलने और गान का सामर्थ्य होने से पकड़े जाते हैं परन्तु मौन रहने के कारण बगुले नहीं पकड़े जाते, अतः मौन रहना सभी कार्यों का साधक होता है ॥ ४८ ॥

सुगुप्तं रक्ष्यमाणोऽपि दर्शयन् दारुणं वपुः।
व्याघ्रचर्मप्रतिच्छन्नो वाक्कृते रासभो हतः ॥ ४९ ॥

मकर आह—"कथमेतत् ?" वानरः कथयति—

७ : व्याघ्रचर्मगर्दभ-कथा

"कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने शुद्धपटो नाम रजकः प्रतिवसति स्म। तस्य च गर्दभः एकोऽस्ति, स च घासाभावात् अतिदुर्बलतां गतः। अथ तेन रजकेन अटव्यां परिभ्रमता मृतो व्याघ्रो दृष्टः चिन्तितञ्च—'अहो! शोभनम् आपतितम्! अनेन व्याघ्रचर्मणा प्रतिच्छाद्य रासभं रात्रौ यवक्षेत्रेषु उत्स्रक्ष्यामि, येन व्याघ्रं मत्वा समीपवर्त्तिनः क्षेत्रपाला एनं न निष्काशयिष्यन्ति।' तथा अनुष्ठिते रासभो यथेच्छया यवभक्षणं करोति प्रत्यूषे

स्वोक्तेः दाढर्यार्थमुपाख्यानविशेषं प्रस्तौति—सुगुप्तमिति। व्याघ्रचर्मणा प्रतिच्छन्नः आवृतशरीरः, अत एव सुगुप्तं सुगूढं यथा तथा, रक्ष्यमाणः स्थाप्यमानोऽपि, रजकेनेति शेषः, रासभः गर्दभः, दारुणं गर्दभीस्वरश्रवणेन अतिहर्षोदयात् कठोरनिनादकरणेन भयङ्करं, वपुः शरीरं, दर्शयन् प्रकटयन्, वाक्कृते वाग्व्यापारनिमित्तं, वचनदोषेणेति भावः, हतः विनाशितः, क्षेत्रस्वामिनेति शेषः ॥ ४९ ॥

[७]

(१) अधिष्ठाने—नगरे। शुद्धपटः—शुद्धाः—निर्मलीकृताः शोधिताः इत्यर्थः, पटाः—वस्त्राणि, अन्येषामिति भावः, येन तथोक्तः। प्रतिच्छाद्य—संवार्य्य, कृत्स्नदेहमिति शेषः। यवक्षेत्रेषु—यववृक्षपूर्णभूमिषु। उत्स्रक्ष्यामि—मोक्ष्यामि। निष्काश-

---

और भी—अत्यन्त सावधानी से रक्षा किए जाते हुए भी और व्याघ्र के चमड़े से ढका हुआ, रहने के कारण अत्यन्त भयंकर आकृति दिखाते हुए अपने सिंहतुल्य शरीर से क्षेत्रपालों को डराता हुआ भी गदहा अपने बोलने के कारण मारा गया ॥ ४९ ॥

मगर बोला 'यह कैसे ?' वानर ने कहा—

बाघ के चमड़े वाले गदहे की कथा

किसी नगर में शुद्धपट नामक धोबी रहता था। उसके पास एक गदहा था परन्तु वह भी घास न मिलने से अत्यन्त दुर्बल हो गया था। एक समय उस धोबी ने जंगल में घूमते हुए व्याघ्र को देखा। तब उसने सोचा—यह बहुत अच्छा हुआ, इस व्याघ्र के चमड़े को ओढ़ा कर मैं अपने गदहे को रात के समय जौ के खेत में छोड़ दिया करूँगा, जिससे कि इसे बाघ समझ कर पास के खेत वाले खेत से न निकालेंगे। ऐसा करने पर, रात्रि में गदहा इच्छानुसार जौ खाया करता था और

भूयोऽपि रजकः स्वाश्रयं नयति। एवं गच्छता कालेन स रासभः पीवरतनुर्जातः, कृच्छ्रात् बन्धनस्थानमपि नीयते।

अथ अन्यस्मिन् अहनि स मदोद्धतो दूरात् रासभीशब्दम् अशृणोत्। तच्छ्रवणमात्रेण एव स्वयं शब्दायितुम् आरब्धः। अथ ते क्षेत्रपालाः 'रासभोऽयं व्याघ्रचर्मप्रतिच्छन्न' इति ज्ञात्वा लगुडशरपाषाणप्रहारैः तं व्यापादितवन्तः। अतोऽहं ब्रवीमि—'सुगुप्तं रक्ष्यमाणोऽपि' इत्यादि।[१]

यिष्यन्ति—ताडयित्वा दूरीकरिष्यन्ति। पीवरतनुः—स्थूलदेहः, बन्धनस्थानं—बन्धनागारं, रात्रौ अवस्थापनयोग्यं गृहमित्यर्थः।

प्रातःकाल होते ही फिर धोबी उसे अपने घर ले जाता था। कुछ ही दिनों में वह गदहा इतना मोटा-ताजा हो गया कि बड़ी कठिनता से बाँधने में आता था।

इसके बाद एक दिन मदमत्त उस गदहे ने दूर से गर्दभी का शब्द सुना। उसके शब्द को सुनते ही वह स्वयं जोर से चिल्लाने लगा। तब उसके रेंकने को सुनकर क्षेत्रपालों ने यह समझकर कि - बाघ के चमड़े से ढका हुआ यह तो गदहा है, लकड़ी पत्थर और तीर मारकर उसे मार डाला। इसलिये मैं कहता हूँ कि—'अच्छी तरह से रक्षित आदि भी' आदि।

---

१. किसी प्रति में यह अंश अधिक है—

'तत्किं श्यामलकवदत्यपमानसहनादर्धचन्द्रदानेन यास्यसि।'

तो क्या तू श्यामलक के समान अपमान सहकर गलहत्थी देने से जायेगा।

मकर आह—'कथमेतत् ?' वानर आह—

मगर ने कहा—'यह कैसे ?' वानर ने कहा—

अस्त्यत्र धरापीठे विकण्टकं नाम पुरम्। तत्र महाधन ईश्वरो नाम भाण्डपतिः। तस्य चत्वारो जामातृका अवन्तीपीठात्प्राघूर्णका विकण्टकपुरे समायाताः। ते च येन महता गौरवेणाभ्यर्चिता भोजानाच्छादनादिभिः। एवं तेषां तत्र वसतां मासषट्कं सञ्जातम्। तत ईश्वरेण स्वभार्योक्ता यदेते जामातरः परमगौरवेणावर्जिताः स्वानि गृहाणि न गच्छन्ति, तत्किं कथ्यते ? विनापमानं न यास्यन्ति। तदद्य भोजनवेलायां पादप्रक्षालनार्थं जलं न देयं येनापमानं ज्ञात्वा परित्यज्य गच्छन्तीति।' तथानुष्ठिते गर्गः पादप्रक्षालनापमानात्, सोमो लध्वासनदानात्, दत्तः कदशनतो यातः। एवं ते त्रयोऽपि परित्यज्य गताः। चतुर्थः श्यामलको यावन्न याति तावदर्धचन्द्रप्रदानेन निष्कासितः। अतोऽहं ब्रवीमि—

गर्गो हि पादशौचाल्लघ्वासनदानतो गतः सोमः।
दत्तः कदशनभोज्याच्छ्यामलकश्चार्धचन्द्रेण ॥

इस पृथ्वी पर विकण्टक नामक एक नगर है। जहाँ 'ईश्वर' नाम का एक बड़ा धनवान् सौदागर रहता था। अवन्ति अर्थात् उज्जैन नगर से उसके चार दामाद अतिथि विकण्टक नगर में आये। सौदागर ने भोजन-वस्त्रादि द्वारा उनका बहुत सत्कार किया। इस तरह वहाँ रहते हुए उन्हें छः मास बीत गये। तब ईश्वर ने अपनी स्त्री से कहा कि—'ये दामाद अत्यन्त आदर के कारण अपने घर नहीं जाते। कहो इस विषय में तुम्हारी क्या सम्मति है? मेरे मन से ये लोग बिना अपमान के नहीं जायँगे। इसलिए आज भोजन के समय पैर धोने के लिए जल न देना, जिससे कि अपना अपमान समझकर ये छोड़कर चले जायँ। ऐसा करने पर गर्ग पैर धोने के जल न मिलने से अपमान से, छोटा आसन देने से सोम अपमानित होकर और खराब भोजन मिलने से दत्त चला गया। इस प्रकार तीनों घर छोड़कर चले गये। चतुर्थ श्यामलक जब नहीं गया, तो उसे गले में हाथ लगाकर निकाल दिया गया। इसलिए मैं कहता हूँ—'गर्गो हि' इत्यादि। (अर्थ गद्यभाग में ही स्पष्ट है)

तत्किमहं रथकारवन्मूर्खो यतः स्वयमपि दृष्ट्वा ते विकारं पश्चाद्विश्वसिमि। उक्तं च—

क्या मैं रथकार के समान मूर्ख हूँ कि जो स्वयं तुम्हारे निन्दित भावों को जानकर भी विश्वास कर लूँ? कहा भी है—

प्रत्यक्षेऽपि कृते पापे मूर्खः साम्ना प्रशाम्यति।
रथकारः स्वकां भार्यां सजारां शिरसाऽवहत् ॥ ४८ ॥

मूर्ख मनुष्य अपने सम्मुख किया जाता हुआ पापकर्म देखकर भी सन्तोष-जनक वाक्यों से ही प्रसन्न हो जाता है (जैसा कि), किसी रथकार (बढ़ई) ने जार (यार) सहित अपनी पत्नी को सिर पर धारण किया ॥ ४८ ॥

मकर आह—'कथमेतत्?' वानर आह—

मगर ने कहा —'वह कैसे? वानर ने कहा'—

रथकारभार्या कथा में यहाँ कुछ अंश अधिक है जो इस प्रकार है—

(रथकारभार्या कथा)

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने कश्चिद्रथकारः प्रतिवसति स्म। तस्य भार्या पुंश्चलीति जनापवादसंयुक्ता। सोऽपि तस्याः परीक्षार्थं व्यचिन्तयत्—कथं मयाऽस्याः परीक्षणं

---

१. इसके बाद रथकार और वृद्ध वणिक् की कथा किसी प्रति में पुनः दी गयी है। यह कथा पहले पृ० ५५० और ५३७ पर आ चुकी है।

तत् एव गजोऽयं मया प्रसादीकृतः'। तत् श्रुत्वा शृगालः सानन्दमाह–'युक्तमिदं स्वामिनो निजभृत्येषु। उक्तञ्च यतः—

अन्त्यावस्थोऽपि महान् स्वामिगुणान् न जहाति तु शुद्धतया।
न श्वेतभावमुज्झति शङ्खः शिखिभुक्तिमुक्तोऽपि' ॥ ७२ ॥

अथ सिंहे गते कश्चित् व्याघ्र समाययौ, तमपि दृष्ट्वा असौ व्यचिन्तयत्–'अहो ! एकस्तावत् दुरात्मा प्रणिपातेन अपवाहितः, तत् कथ

३।३।१०२) इति स्त्रियाम् अ-प्रत्ययः, ततः टाप्, बुभुक्षा एषां सञ्जाताः इत्यर्थे 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' (पा० सू० ५।२।३६) इति इतच्प्रत्यये च सिद्धम्। नैव तृणं चरन्ति भक्षयन्ति, मांसानामलाभेऽपि न हि ते तृणानि भक्षयित्वा भ्रष्टप्रकृतिका भवन्ति इति भावः, एवं कुलीनाः सत्कुलप्रसूता जनाः, महिमवन्त इत्यर्थः, व्यसनेन विपदा, अभिभूता आक्रान्ताः, अपीति शेषः, नीतिमार्गं न्यायपथमित्यर्थं, न परिलङ्घयन्ति न त्यजन्ति, अतोऽहमन्येन विनष्टं जीवं भक्षयित्वा न स्वात्मानं हीनं करोमि इत्याशयः, 'न हि सिंहः परालीढमामिषं भोक्तुमिच्छति' इति मावोक्तं स्मर्त्तव्यम्। उपजातिः वृत्तम् ॥ ७१ ॥

(१) प्रसादीकृतः—प्रसन्नत्वेन दत्तः।

अन्त्यावस्थ इति। महान् जनः, अन्त्यावस्थः अपि चरमदशाक्रान्तोऽपि, दुर्दशायाश्चरमसीमां प्राप्तोऽपीत्यर्थः, शुद्धतया पवित्रतया, निर्दोषतया इत्यर्थः, उन्नतान्तःकरणतया इति यावत्, स्वामिगुणान् महतो गुणानित्यर्थः, प्रभुभावानिति यावत, न तु जहाति नैव त्यजति, शङ्खः कम्बुः, शिखिनः अग्नेः भुक्तिः ग्रासः, भस्मीकरणमिति भावः, तस्याः मुक्तोऽपि परित्यक्तोऽपि, अग्निना दाहानन्तरमपि इत्यर्थः, श्वेतभावं निजशौक्ल्यं, न उज्झति न त्यजति, 'प्राणान्तेऽपि प्रकृतिविकृतिर्जायते नोत्तमानाम्' इत भावः। अत्र विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः। आर्या वृत्तम् ॥ ७२ ॥

इसलिए यह हाथी मैं तुम्हें इनाम में देता हूँ। यह सुनकर शृगाल आनन्दपूर्वक बोला—'प्रभु के लिए अपने भृत्यों के प्रति यह बात उचित ही है। क्योंकि कहा भी गया है—

महान् एवं सद्गुणों से युक्त पुरुष, विपत्तिग्रस्त हो जाने पर भी अपनी स्वाभाविक पवित्रता एवं कुलीनता आदि गुणों को नहीं छोड़ता, जैसे कि शंख अग्नि के जलाये जाने पर भी अपने स्वाभाविक गुण सफेदी को नहीं छोड़ता ॥ ७२ ॥

इसके बाद सिंह के चले जाने पर वहाँ कोई व्याघ्र आया। उसे देख शृगाल ने

मिदानीम् एनम् [अपवाहयिष्यामि ? नूनं शूरोऽयम्, न खलु भेदं विना साध्यो भविष्यति । उक्तञ्च यतः—

न यत्र शक्यते कर्त्तुं साम दानमथापि वा ।
भेदस्तत्र प्रयोक्तव्यो यतः स वशकारकः ॥ ७३ ॥

किञ्च, सर्वगुणसम्पन्नोऽपि भेदेन बध्यते । उक्तञ्च यतः—

अन्तःस्थेन विरुद्धेन सुवृत्तेनातिचारुणा ।
अन्तर्भिन्नेन सम्प्राप्तं मौक्तिकेनापि बन्धनम् ॥ ७४ ॥

---

(१) अपवाहितः—दूरीकृतः । अपवाहयिष्यामि—अपसारयिष्यामि, दूरीकरिष्यामित्यर्थः । शूरः—बलवान् । भेदम्—उपजापम् । साध्यः—प्रतीकार्यः ।

नेति । यत्र साम सान्त्वप्रयोगः, विनयव्यवहारः इत्यर्थः अथवा दानमपि कर्त्तुं न शक्यते, जनैरिति शेषः, तत्र भेदः उपजापः, प्रयोक्तव्यः विधेयः यतः यस्माद्धेतोः, सः भेदः, वशकारकः तृतीयः शत्रुवशीकरणोपायः ॥ ७३ ॥

अन्तर्भिन्ना एव हि महान्तः प्रतिपक्षस्य वशतामवाप्नुवन्ति इति भेदोपायनप्रस्तुतमौक्तिवर्णनेन प्रशंसति—अन्तःस्थेनेति । अन्तःस्थेन अन्तर्गतेन, शुक्तिप्रभृतीनामिति भावः, अन्यत्र—दुर्भाग्यन्तरस्थेनेत्यर्थः, सुवृत्तेन सुवर्त्तुलेन, अन्यत्र—सुचरित्रेण, नीतिपथावलम्बिना इत्यर्थः, अतिचारुणा अतिमनोज्ञेन, अन्यत्र—लोकरञ्जकेन, विरुद्धेन विशेषतो रुद्धेन, आवरणान्तर्वर्त्तित्वादिति भावः, अन्यत्र—विरोधिना, शत्रुणा विरोधवता इत्यर्थः, किन्तु अन्तर्भिन्नेन अन्तः मध्यस्थाने, भिन्नेन कृतच्छिद्रेण, अन्यत्र—प्रकृतिभिः उपजापं नीतेन, अमात्यादिभिः भेदं प्राप्तेनेत्यर्थः, मौक्तिकेन मुक्ताफलेन अपि, दुर्गमसमुद्रान्तर्वर्त्तिनाऽपि तथा कठिनावरणावृतेनापीति भावः, किमुत अपरेणेत्यपिशब्दार्थः, बन्धनं सूत्रसंयमनत्वं, जनैरायतीकृतत्वं वा, अन्यत्र—

सोचा—एक दुष्ट को तो मैंने किसी तरह नम्रता से दूर किया, अब इसे कैसे हटाऊँ ? यह शूर है, अतः भेद के बिना वश में नहीं आयेगा । कहा भी गया है—

जहाँ साम अथवा दान का प्रयोग न किया जा सके वहाँ भेद का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि ऐसे स्थान पर भेद ही वश में लाने का अच्छा उपाय है ॥ ७३ ॥

क्योंकि, सब गुणों से युक्त भी भेद से नष्ट किया जा सकता है । कहा भी गया है—

अत्यन्त निर्मल, बिना बिंधा हुआ, गोल और सुन्दर मोती भी बिंधने पर बन्धन में पड़ जाता है अर्थात् हार में पिरोया जाता है । अथवा अत्यन्त शुद्ध चरित्र, अनुकूल सदाचारी, प्रियदर्शन और मुक्ति की इच्छा रखने वाला पुरुष भी परमात्मा से भिन्न होने पर संसारबन्धन में पड़ जाता है ॥ ७४ ॥

एवं सम्प्रधार्य्य तस्याभिमुखो भूत्वा गर्वात् उन्नतकन्धरः ससम्भ्रमम् उवाच—'माम ! कथम् अत्रभवान् मृत्युमुखे प्रविष्टः ? येन एष गजः सिंहेन व्यापादितः। स च माम् एतद्रक्षणे नियुज्य नद्यां स्नानार्थं गतः। तेन च गच्छता मम समादिष्टं—'यदि कश्चिदिह व्याघ्रः समायाति, तत् त्वया सुगुप्तं मम आवेदनीयं, येन वनमिदं मया निर्व्याघ्रं कर्त्तव्यम्; यतः पूर्वं व्याघ्रेण एकेन मया व्यापादितो गजः शून्ये भक्षयित्वा उच्छिष्टतां नीतः, तद्दिनम् आरभ्य व्याघ्रान् प्रति प्रकुपितोऽस्मि' इति। तत् श्रुत्वा व्याघ्रः सन्त्रस्तः तमाह—'भो भागिनेय ! देहि मे प्राणदक्षिणाम् !! त्वया तस्य अत्र चिराय आयातस्यापि मदीया काऽपि वार्त्ता न आख्येया' एवमभिधाय सत्वरं पलायाञ्चक्रे।

अथ गते व्याघ्रे तत्र कश्चित् द्वीपी समायातः। तमपि दृष्ट्वा असौ

शत्रुभिः वश्यत्वम्, उपजप्तत्वादिति भावः, सम्प्राप्तं लब्धं, प्रोक्तगुणयुतानि मौक्तिकानि यथा अन्तर्भिन्नान्येव बन्धनानि अवाप्लुवन्ति, एवमेव बहुसहायशालिनोऽपि वीरपुरुषाः भेदेन वश्यतां नीयन्ते इत्यर्थः, आत्मीयविच्छेदो हि पराभूतिहेतुरिति भावः। अत्र समादप्रस्तुतात् मौक्तिकात् समस्य प्रस्तुतस्य वैरिणो गम्यता इति अप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारः ॥ ७४ ॥

(१) सम्प्रधार्य—निश्चित्य। गर्वात्—गर्वमाश्रित्य, निर्भयमिति यावत्। उन्नतकन्धरः—उद्धतग्रीवः। ससम्भ्रमं—ससम्मानं सत्वरं वा। अत्रभवान्—पूज्यः। शून्ये—एकान्ते, मम अनुपस्थितिदशायाम् इत्यर्थः। सन्त्रस्तः—भीतः। प्राणदक्षिणां जीवनदानमित्यर्थः, आख्येया—कथनीया।

(२) द्वीपी—चित्रकाऽऽख्यव्याघ्रविशेष इत्यर्थः, 'शार्दूलद्वीपिनौ व्याघ्रे' इत्यमरः।

यह निश्चय कर उस व्याघ्र के सामने जाकर गर्दन उठाकर जल्दी से बोला—'हे मामा ! यहाँ आप मौत के मुँह में क्यों आ रहे हैं, अभी यह हाथी सिंह ने मारा है और वह मुझे इसकी रखवाली में नियुक्त कर स्नान करने गया है। जाते समय उसने मुझे आज्ञा दी है कि यदि कोई व्याघ्र यहाँ आये, तो चुपचाप मुझे सूचित करना, क्योंकि मुझे यह वन व्याघ्रों से खाली कर देना है, एक समय पहिले एक व्याघ्र ने मेरे मारे हुए हाथी को सूने में खाकर जूठा कर दिया था, उस दिन से मुझे व्याघ्रों के प्रति बड़ा क्रोध है।' यह सुन कर व्याघ्र ने भयभीत हो उससे कहा—'हे भानजे ! (भगिनी-पुत्र) मुझे प्राणों की दक्षिणा दो, वह चाहे कितनी ही देर में आये तो भी तू, मेरे सम्बन्ध में कोई बात उससे न कहना। यह कह कर वह तुरन्त भाग गया।

इसके बाद व्याघ्र के चले जाने पर कोई चीता वहाँ आया। उसे देखकर

व्यचिन्तयत्—'दृढदंष्ट्रोयं चित्रकः, तदस्य पार्श्वादस्य गजस्य यथा चर्मच्छेदो भवति तथा करोमि'। एवं निश्चित्य तमपि उवाच—'भो भगिनीसुत ! किमिति चिरात् दृष्टोऽसि ? कथञ्च बुभुक्षित इव लक्ष्यसे ? तत् अतिथिरसि मे, एष गजः सिंहेन हतः तिष्ठति, अहञ्च अस्य तदादिष्टो रक्षपालः, परं तथाऽपि यावत् सिंहो न समायाति, तावत् अस्य गजस्य मांसं भक्षयित्वा तृप्तिं कृत्वा द्रुततरं व्रज'। स आह—'माम ! यदि एवं तन्न कार्यं मे मांसाशनेन, यतो जीवन् नरो भद्रशतानि पश्यति। उक्तञ्च—

यच्छक्यं ग्रसितुं शस्तं ग्रस्तं परिणमेच्च यत्।
हितञ्च परिणामे यत् तदाद्यं भूतिमिच्छताम् ॥ ७५ ॥

तत् सर्वथा तदेव भुज्यते, यदेव परिणमति, तत् अहम् इतोऽपया-

दृढेति। दृढा—कठिना, निशितेत्यर्थः, दंष्ट्रा—दन्तः यस्य तादृशः, कठिनमपि वस्तु अयं दंष्ट्रया भेत्तुं शक्नोति इति भावः। चित्रकः—कर्बुरकायो व्याघ्रविशेषः। तदादिष्टः—तेनाज्ञप्तः, रक्षपालः—रक्ष्यते इति रक्षः, कर्मण्यल्प्रत्ययः, ततश्च रक्षं रक्षणीयं पालयतीति तथोक्तः रक्षक इति यावत्। भद्रशतानि—बहूनि मङ्गलानि।

यदिति। यत् वस्तु, ग्रसितुं भक्षयितुं, शक्यं, समर्थं, शकधातोः 'शकिसहोश्च' (पा० सू० ३।१।९९) इति यति रूपम्, तथा ग्रस्तं भक्षितञ्च, यत् शस्तं प्रशस्तं, सुखं यथा तथेत्यर्थः, परिणमेत् परिपाकं गच्छेत्, यच्च परिणामे परिपाके, हितं हितकरं, स्यादिति शेषः, भूतिमिच्छता अभ्युदयार्थिना, तत् आद्यं भक्षणीयम्, अद्धातोः ण्यति रूपम् ॥ ७५ ॥

इसने विचार किया—'यह चीता है, इसकी दाढ़ें मजबूत हैं। इसी से इस हाथी का चमड़ा कटवा लूँ !' यह सोच कर उससे कहा—'हे भानजे ! बहुत दिनों बाद क्यों दिखाई पड़े ? अरे भूखे से क्यों मालूम होते हो ? तुम मेरे अतिथि हो। क्योंकि कहा भी है—भोजन के समय जो आये वह अतिथि होता है। सिंह से मारा हुआ यह हाथी पड़ा है और मैं उसका नियुक्त किया हुआ रखवाला हूँ, जब तक वह न आये, तब तक इसका मांस खाकर तृप्ति कर लो और जल्दी चले जाओ। उसने कहा—'मामा ! यदि यह बात है, तो मुझे इसके मांस से कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि 'यदि मनुष्य जिन्दा रहे तो सैकड़ों भलाइयाँ देखता है।' क्योंकि कहा भी गया है—

ऐश्वर्य को चाहने वाले मनुष्य को चाहिए कि वह उसी वस्तु को खाये जिसको खाना उसके लिए शक्य हो और उसके उदर में पहुँचकर जो वस्तु पच जाय तथा परिणाम में हितकारक भी हो ॥ ७५ ॥

इसलिए वहीं वस्तु खानी चाहिए, जो पच सके अर्थात् जिसके भक्षण करने से

स्यामि।' शृगाल आह—'भोः अधीर! विश्रब्धो भूत्वा भक्षय त्वं, तस्य आगमनं दूरतोऽपि तव अहं निवेदयिष्यामि'। तथा अनुष्ठिते द्वीपिना भिन्नां त्वचं विज्ञाय जम्बुकेन अभिहितं—'भो भगिनीसुत! गम्यताम्!! गम्यताम्!! एष सिंहः समायाति।' तत् श्रुत्वा चित्रको दूरं प्रनष्टः। अथ यावदसौ तद्भेदकृतद्वारेण कश्चिन्मांसं भक्षयति, तावत् अतिसङ्क्रुद्धोऽपरः शृगालः समाययौ। अथ तम् आत्मतुल्यपराक्रमं दृष्ट्वा एनं श्लोकम् अपठत्—

उत्तमं प्रणिपातेन शूरं भेदेन योजयेत्।
नीचमल्पप्रदानेन समशक्तिं पराक्रमैः॥ ७६॥

---

(१) परिणमति—सुखेन पाकं गच्छति। इतः—अस्मात् स्थानात्। अपयास्यामि—अपसरिष्यामि। अधीर—कातर, भीत इत्यर्थः। विश्रब्धः—निःशङ्कः। भिन्नां—छिन्नां। त्वचं—चर्म। प्रनष्टः—अदर्शनं गतः; पालयित इत्यर्थः। द्वीपिनोऽपसारणमिदं 'नीचमल्पप्रदानेन' इत्यस्य निदर्शनमिति वोध्यम्। तदिति। तेन—द्वीपिना, भेदात्—दंष्ट्रया छेदनात्, कृतं यत् द्वारं—रन्ध्रमित्यर्थः, भक्षणोपाय इत्यर्थो वा, तेन।

सामादिषु कः उपायः कुत्र अवलम्बनीय इत्यपेक्षायां तत्प्रयोगस्थानं निर्दिशति—उत्तममिमिति। उत्तमं बलाधिकं, प्रणिपातेन साम्ना, शूरं बलवन्तं, भेदेन उपजापेन, स्वपक्षीयैः सह विच्छेदसाधनेन इत्यर्थः, नीचं क्षुद्रं शत्रुं, किन्तु बलसाध्यमिति भावः, अल्पप्रदानेन यत्किञ्चिद्दानेन, तथा समशक्तिं तुल्यबलं, पराक्रमैः, शौर्यैः, शौर्यप्रदर्शनैरित्यर्थः, योजयेत्, सन्दध्यात्, तत्र तत्र सामादिचतुष्कं प्रयुज्य तान् तान् रिपून् विजयेत् इति भावः॥ ७६॥

कोई हानि नहीं। इसलिए मैं भागता हूँ।' शृगाल ने कहा—'अरे अधीर! तू निश्चिन्त हो खा, दूर से ही मैं उसका आगमन तुझे बता दूँगा। तब चीते के वैसा करने पर खाल को कटा हुआ जान शृगाल ने कहा—'भानजे! भागो भागो, यह सिंह आ रहा है।' यह सुन चीता दूर भाग गया। जब तक वह शृगाल उसके किए हुए छिद्र से कुछ मांस खाने लगा, तब तक अत्यन्त क्रोधी दूसरा शृगाल वहाँ आ पहुँचा। तब उसे अपने समान और उसका पराक्रम अनुभूत जानकर यह श्लोक पढ़ा—

श्रेष्ठ पुरुष को नम्रता से, बलवान् को भेद से अर्थात् आपस में फूट डलवाकर, नीच अर्थात् छोटे मत वाले को कुछ देकर और समान शक्ति वाले को शूरता के द्वारा वश में करना चाहिए॥ ७६॥

ततश्च तदभिमुखकृतप्रयाणः स्वदंष्ट्राभिः तं विदार्य दिशो भागं कृत्वा स्वयं सुखेन चिरकालं हस्तिमासं बुभुजे ।

एवं त्वमपि तं रिपुं स्वजातीयं युद्धेन परिभूय दिशो भागं कुरु नो चेत्, पश्चात् बद्धमूलात् अस्मात् त्वमपि विनाशम् अवाप्स्यसि । उक्तञ्च यतः—

सम्भाव्यं गोषु सम्पन्नं सम्भाव्यं ब्राह्मणे तपः ।
सम्भाव्यं स्त्रीषु चापल्यं सम्भाव्यं जातितो भयम् ।। ७७ ।।

---

(१) तदिति । तस्य—शृगालस्य, अभिमुखे—सम्मुखे, तं प्रतीत्यर्थः, कृतं प्रयाणं—युद्धार्थं गमनं येन तथाभूतः, युद्धाय तदभिमुखं गच्छन् इत्यर्थः । तम्—अपरं शृगालम् । विदार्य्य—विदीर्णं कृत्वा, निहत्येत्यर्थः । दिशः ककुभः, सम्बन्धे षष्ठी । भागं—वण्टनम्, अंशमित्यर्थः, बलिरूपत्वेनेति भावः । कृत्वा - दत्त्वा इत्यर्थः, तस्य मांसं चतुर्दिक्षु विक्षिप्येति यावत् । चिरकालं—सुबहुदिनमित्यर्थः ।

(२) बद्धमूलात्—दीर्घकालाधिकारेण दृढसन्निविष्टादित्यर्थः । अस्मात्—जलचरात् ।

सम्भाव्यमिति । गोषु धनेषु गच्छतीति गौः, गम् धातोः 'गमेर्डोः (उणा० २ अध्या० ६७ सू०) इति डोः प्रत्ययः सम्पन्नं, सम्पूर्वकात् पद् धातोः भावे क्तः 'रदाभ्यां निष्ठान्तो नः–' (पा० सू० ८।२।४२) इति निष्ठातस्य दस्य च नकारः ऐश्वर्य्याऽऽधायकत्वं, सम्पत्तिरित्यर्थः, सम्भाव्य मन्तव्यं, गोषु तर्पितासु प्रचुरसम्पदागमः सम्भाव्यते, यतस्ता लक्ष्मीभूताः, यद्वा—गोषु, वर्त्तमानासु इति शेषः, सम्पन्नं सम्पद्युक्तं, सम्भाव्यं, धनभूता एव गावः, इति भावः, गोधनात्वाद्युक्तेः । ब्राह्मणे तपः तपश्चरणं सम्भाव्यं विश्वास्यमिति भावः । स्त्रीषु चापल्यं चाञ्चल्यं, सम्भाव्यं स्त्रियश्चपला इति प्रसिद्धेरिति भावः, जातितः स्वजातीयात्, भयं सम्भाव्यं, परस्परमुत्कर्षासहिष्णुत्वादिति भावः ।। ७७ ।।

इसके बाद उसके सामने जाकर उसे अपने दाँतों से विदीर्ण (मार) कर और उसका मांस इधर-उधर (सब दिशाओं में) फेंककर स्वयं सुख से चिरकाल तक हस्तिमांस खाता रहा ।

इस प्रकार तुम भी अपने स्वजातीय शत्रु को युद्ध में पराजित कर दिशाओं को बलि चढ़ा दो । यदि ऐसा नहीं करोगे तो पीछे उसकी जड़ जम जाने पर उसी जलचर से तुम भी विनाश को प्राप्त होओगे । क्योंकि कहा भी गया है—

गायों में ऐश्वर्य का होना सम्भाव्य है, ब्राह्मण में तप का होना संभावित है, स्त्रियों में चपलता का होना संभाव्य है तथा अपने जाति वालों से भय की संभावना की जा सकती है ।। ७७ ।।

अन्यच्च—

सुभिक्षाणि विचित्राणि शिथिलाः पौरयोषितः।
एको दोषो विदेशस्य स्वजातिर्यद्विरुध्यते ॥ ७८ ॥

मकर आह—'कथमेतत् ?' वानरोऽब्रवीत्—

११ : चित्राङ्गसारमेयस्य-कथा

अस्ति कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने चित्राङ्गो नाम सारमेयः। तत्र च चिरकालं दुर्भिक्षं पतितम्; अन्नाभावात् सारमेयादयो निष्कुलतां गन्तुम् आरब्धाः। अथ चित्राङ्गः क्षुत्क्षामकण्ठः तद्भयात् देशान्तरं गतः। तत्र च कस्मिंश्चित् पुरे कस्यचित् गृहमेधिनो गृहिण्याः प्रसादेन प्रतिदिनं गृहं

सुभिक्षाणीति। विचित्राणि विविधानि, अन्नानि इति शेषः, सुभिक्षाणि अनायासलभ्यानि, विदेशे इति भावः, पौरयोषितः पुरस्त्रियः, शिथिला अनवहिता इत्यर्थः, किन्तु विदेशस्य एको दोषः यत् स्वजातिः स्वस्येव जातिः जननं यस्य सः एकजातीयो लोक इत्यर्थः, विरुध्यते विरुद्धमाचरतीत्यर्थः, विपूर्वकात् दैवादिकरुध्धातोः 'दिवादिभ्यः श्यन्' (पा० सू० ३।१।६९) इति श्यन्, समानजातयः, हि अन्योऽन्यस्य अशनवसनादेः, प्राचुर्य्यं न सहन्ते इति भावः ॥ ७८ ॥

[११]

(१) सारमेयः—कुक्कुरः। दुर्भिक्षं—भिक्षाऽभावः, अन्नकष्टम् इत्यर्थः। निष्कुलतां—निर्नास्ति कुलं वंशः येषां तेषां भावः तत्ता तां, विनाशमित्यर्थः यद्वा—भक्ष्याभावात् स्ववंशं परित्यज्य अन्योन्यमनपेक्षमाणा यथेप्सितं देशं गन्तुं प्रवृत्तत्वात् वंशाल्पताम् इत्यर्थः। क्षुत्क्षामकण्ठः क्षुधया शुष्ककण्ठः। तद्भयात्—दुर्भिक्षभयात्।

और भी—विदेश में पर्याप्त सम्पन्नता एवं सुभिक्ष है और तरह-तरह के उत्तम अन्न मिल जाते हैं, यहाँ की स्त्रियाँ भी असावधान हैं परन्तु विदेश में एक ही दोष है अपने जाति के पुरुष विरुद्ध हो जाते हैं ॥ ७८ ॥

मकर ने कहा—'यह कैसे ? उसने कहा—

चित्राङ्ग नामक कुत्ते की कथा

किसी नगर में चित्राङ्ग नाम का एक कुत्ता रहता था। वहां कभी एक बड़ा अकाल पड़ गया। अन्न न मिलने से कुत्ते आदि सब प्राणी जब मरने लगे और जब वंशनाश होने लगा तब चित्रांग भूख से पीड़ित हो विनाश के भय से अन्य देश चला गया। वहाँ किसी नगर में किसी गृहस्थ की पत्नी की असावधानी के कारण

प्रविश्य विविधान्नानि भक्षयन् परां तृप्तिं गच्छति, परं तद्गृहात् वहिर्निष्क्रान्तोऽन्यैः मदोद्धतसारमेयैः सर्वदिक्षु परिवृत्य सर्वाङ्गं दंष्ट्राभिः विदार्यते। ततः तेन विचिन्तितम्—'अहो ! वरं स्वदेशः, यत्र दुर्भिक्षेऽपि सुखेन स्थीयते, न च कोऽपि युद्धं करोति, तत् तदेव स्वनगरं व्रजामि' इति अवधार्य्य स्वस्थानं प्रति जगाम।

अथ असौ देशान्तरात् समायातः सर्वैरपि स्वजनैः पृष्टः—'भोः चित्राङ्ग ! कथय अस्माकं देशान्तरवार्त्ताम्, कीदृक् देशः ? किं चेष्टितं लोकस्य ? कः आहारः ? कश्च व्यवहारः तत्र ?' स आह—'किं कथ्यते विदेशस्य स्वरूपविषयः —

सुभिक्षाणि विचित्राणि शिथिलाः पौरयोषितः।
एको दोषो विदेशस्य स्वजातिर्यद्विरुध्यते ॥ ७९ ॥

गृहमेधिनः गृहै, दारैः, मेधते—सङ्गच्छते यः स गृहमेधी तस्य, गृहोपपदात् मेध धातोः णिनिः, गृहस्थस्य इत्यर्थः। प्रसादेन—अनुग्रहेण। परिवृत्य—आवेष्टय।

(१) स्वरूपविषयः—चेष्टाव्यवहारादिरूपः वृत्तान्त इत्यर्थः।

सुभिक्षाणीति। विचित्राणि विविधानि, अन्नानि इति शेषः, सुभिक्षाणि अनायासलभ्यानि, विदेशे इति भावः, पौरयोषितः परस्त्रियः शिथिला अनवहिता इत्यर्थः,

---

प्रतिदिन उसके घर में घुस कर तरह-तरह के अन्न खाता हुआ अत्यन्त तृप्त हो जाता था, परन्तु उस घर से निकलने पर अन्य मदमत्त कुत्ते सब ओर से घेर कर उसके सम्पूर्ण अङ्गों को दांतों से काट डालते थे। तब उसने सोचा—'अहो ! अपना ही घर अच्छा, जहां दुर्भिक्ष पड़ने पर भी आराम से तो रहा जा सकता है। वहाँ व्यर्थ कोई युद्ध नहीं करता था। इसलिए उसी अपने नगर को चला जाता हूँ।' यह विचार कर वह अपने स्थान को चला गया।

इस प्रकार जब वह विदेश से लौट कर आया, तब सब कुटुम्बियों ने पूछा—'चित्राङ्ग ! हमें विदेश का समाचार सुनाओ। वह कैसा देश है ? वहाँ के रहने वालों की चेष्टाएँ कैसी हैं ? उनका भोजन क्या है और उनका व्यवहार कैसा है ?' उसने कहा—'विदेश के विषय में क्या कहूँ—

वहां सभी प्रकार का सुभिक्ष है। वहां के निवासी समृद्ध एवं सुखी हैं, नगर की स्त्रियां भी भयविहीन हैं। बस वहाँ एक ही बात की कमी है कि अपनी ही जाति के लोग विरोधी हैं और सतत आपस में लड़ा करते हैं ॥ ७९ ॥

सोऽपि मकरः तदुपदेशं श्रुत्वा कृतमरणनिश्चयो वानरम् अनुज्ञाप्य स्वाश्रयं गतः। तत्र च तेन स्वगृहप्रविष्टेन आततायिना सह विग्रहं कृत्वा, दृढसत्त्वावष्टम्भनाच्च तं व्यापाद्य, स्वाश्रयञ्च लब्ध्वा सुखेन चिरकालम् अतिष्ठत्। साधु इदमुच्यते—

अकृत्वा पौरुषं या श्रीः किं तयाऽपि सुभोग्यया ?।
जरद्‌गवः समश्नाति दैवादुपगतं तृणम् ॥ ८० ॥

किन्तु विदेशस्य एको दोषः यत् स्वजातिः स्वस्येव जातिः जननं यस्य सः एकजातीयो लोक इत्यर्थः, विरुध्यते विरुद्धमाचरतीत्यर्थः, विपूर्वकात् दैवादिकरुध्धातोः 'दिवादिभ्यः श्यन्' (पा० सू० ३।१।६९) इति श्यन्, समानजातयः, हि अन्योऽन्यस्य अशनवसनादेः प्राचुर्यं न सहन्ते इति भावः ॥ ७९ ॥

(१) अनुज्ञाप्य—निवेद्य, वानरस्य अनुमतिं गृहीत्वेत्यर्थः। आततायिना—आततेन–प्रसारितेन, शस्त्रादिना, अयितुं—पीडयितुं शीलमस्य तेन, आततपूर्वकात् अयधातोः 'सुप्यजातौ णिनिः–' (पा० सू० ३।२।७८) इति णिनिः, अनिष्टकारिणा, वासस्थानरूपक्षेत्रहरणात् शत्रुणा इत्यर्थः, 'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारापहारी च एते षट् आततायिनः॥' इति लक्षणात्। दृढेति। दृढम्—उग्रं, यत्, सत्त्वं बलं, तस्य अवष्टम्भनात्—अवलम्बनात्।

अथ स्वाधिकाररक्षणे समशक्तिभिः विरोधिभिः सह सत्त्वमवलम्ब्य प्राणरक्षणगणनामप्यकुर्वद्भिः सत्पुरुषैः आफलोदयं विग्रहः करणीयः इत्युपदिश्य चतुर्थं तन्त्रमुपसंहरति— अकृत्वेति। पौरुषं पराक्रमम्, अकृत्वा या श्रीः सम्पत्, लभ्यते इति शेषः, सुभोग्यया भुज्धातोः ण्यति 'चजोः कु घिण्यतोः' (पा० सू० ७।३।५२) इति जस्य गादेशात् भोग्यमिति रूपम्, स्त्रियान्तु भोग्या इति। भुजधातोः भक्षणार्थत्वे तु 'भोज्यं भक्ष्ये' (पा० सू० ७।३।६९) इति निपातनात् भोज्यमित्येव भवति अनायासलभ्यया, अपि तया श्रिया किम् ? न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः, लघयन् खलु तेजसा

तब वह मगर उसका उपदेश सुनकर और मरने का निश्चय कर वानर की अनुमति से अपने स्थान चला गया और वहाँ अपने घर में घुसे हुए उस आततायी के साथ युद्ध करके और उत्साह की प्रबलता के कारण उसे मारकर अपना स्थान पा लिया और आराम से चिरकाल तक पुरुषार्थ से प्राप्त लक्ष्मी का भोग करता रहा अथवा ठीक ही कहा गया है—

पुरुषार्थ के बिना अनायास प्राप्त हुई लक्ष्मी पाने से भी क्या लाभ ? अर्थात् उस लक्ष्मी से यदि सुख भी मिल जाय तो क्या वह प्रसन्नता एवं तुष्टि होती है जो पुरुषार्थ से प्राप्त की हुई सम्पत्ति से होती है, अतः सुभोग्य भी अनायास प्राप्त लक्ष्मी में

॥ इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रे लब्धप्रणाशं नाम चतुर्थं तन्त्रम् ॥ ४ ॥

---o---

जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः' इति स्मरणात्, तद्वदिति भावः। जरद्गवः वृद्धः गौः वृद्धोक्ष इत्यर्थः, 'गोरतद्धितलुकि' (पा० सू० ५।४।९२) इति टच् समासन्तः, दैवात् भाग्यवशात्, उपगतं प्राप्तं, अक्लेशादवाप्तमिति भावः। तृणं समश्नाति भक्षयति, तदास्वाद उपजीवति इत्यर्थः, सम्पूर्वकादशधातोः 'क्र्यादिभ्यः श्ना' (पा० सू० ३।१।८१) इति श्नाप्रत्ययः, असौ तु स्वयं ग्रहीतुमसमर्थतया तथा करोति इत्याशयः। परपौरुषलभ्यसम्पद्भोगिनस्तु शक्तिहीनवृद्धगवसदृशया एव इति ध्वनिः ॥ ८० ॥

॥ इति महाकवि पं० रामकुबेरमालवोयात्मज डॉ० सुधाकरमालवीय कृतायां पञ्चतन्त्रस्य 'ज्योत्स्ना' व्याख्यायां लब्धप्रणाशं नाम चतुर्थं तन्त्रं समाप्तम् ॥ ४ ॥

---o---

वह आनन्द नहीं है, क्योंकि भाग्यवश प्राप्त घास तो बूढ़ा बैल भी चरता है अर्थात् अपने आगे उगे हुए तृण को खाकर सन्तोष कर लेता है ॥ ८० ॥

॥ इस प्रकार महाकवि पं० रामकुबेर मालवीय के द्वितीय आत्मज डा० सुधाकर मालवीय कृत पञ्चतन्त्र के लब्धप्रणाश नामक चतुर्थ तन्त्र की 'मृदुला' हिन्दी टीका पूर्ण हुई ॥ ४ ॥

---o---

पञ्चतन्त्रम्

अपरीक्षितकारकम्

(पञ्चमं तन्त्रम्)

[आमुख]

क्षपणक कथा

अथ इदमारभ्यते 'अपरीक्षितकारकं' नाम पञ्चमं तन्त्रम् । तस्य अयम् आदिमः श्लोकः—

कुदृष्टं कुपरिज्ञातं कुश्रुतं कुपरीक्षितम् ।
तन्नरेण न कर्त्तव्यं नापितेनात्र यत् कृतम् ॥ १ ॥

* ज्योत्स्ना *

वाचकः प्रणवो यस्य क्रीडावस्त्वखिलं जगत् ।
श्रुतिराज्ञा वपुर्ज्ञानं तं वन्दे विष्णुरव्ययम् ॥ १ ॥
टीकामभिनवां रम्यां 'ज्योत्स्ना' च 'मृदुलां' तथा ।
करोति बालबोधाय मालवीयः सुधाकरः ॥ २ ॥

अथ शब्दो मङ्गलार्थः प्रकरणारम्भसूचकश्च, इदं—वक्ष्यमाणम्, आरभ्यते—प्रारम्भः क्रियते । अपरीक्षितकारकं—न परीक्षितमपरीक्षितं, पञ्चमं—पञ्चम-सङ्ख्याकं, कुर्वन्तीति कारकाः अपरीक्षितानां कारका यस्मिन् तन्त्रे तदपरीक्षितकारकं, तन्नामकं, तनोतीति तन्त्रम्—प्रकरणम् ।

कुदृष्टमिति । अत्र संसारे, नापितेन केनचित् क्षुरकर्मिणा, कुदृष्टं सम्यगदृष्टं; कुपरिज्ञातम् अज्ञातगूढवृत्तान्तं कुश्रुतं सम्यक्तया अनाकर्णितं, अनधिगताभिप्रायमित्यर्थ, कुपरीक्षितं धीरतया सम्यगविवेचितम्, असमीक्षितम्, इत्यर्थः, यत् कर्म, कृतं नरेण तत्

* मृदुला *

अब 'लब्धप्रणाश' के बाद विष्णुशर्मा ने राजपुत्रों से कहा कि मेरे द्वारा यह 'अपरीक्षित' (बिना परीक्षा किये करना) नामक पाँचवाँ तन्त्र आरम्भ किया जाता है, जिसका सर्वप्रथम श्लोक इस प्रकार है—

इस संसार में (किसी) नाई ने अच्छी तरह बिना देखे, भली प्रकार बिना जाने, ठीक-ठीक बिना सुने और भलीभाँति बिना परीक्षा किए जिस प्रकार काम को किया

॥ इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रे लब्धप्रणाशं नाम
चतुर्थं तन्त्रम् ॥ ४ ॥

———०———

जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः' इति स्मरणात्, तद्वदिति भावः। जरद्गवः वृद्धः गौः वृद्धोक्ष इत्यर्थः, 'गोरतद्धितलुकि' (पा० सू० ५।४।९२) इति टच् समासन्तः, दैवात् भाग्यवशात्, उपगतं प्राप्तं, अक्लेशादवाप्तमिति भावः। तृणं समश्नाति भक्षयति, तदास्वाद उपजीवति इत्यर्थः, सम्पूर्वकादशधातोः 'क्र्यादिभ्यः श्ना' (पा० सू० ३।१।८१) इति श्नाप्रत्ययः, असौ तु स्वयं ग्रहीतुमसमर्थतया तथा करोति इत्याशयः। परपौरुषलभ्यसम्पद्भोगिनस्तु शक्तिहीनवृद्धगवसदृशया एव इति ध्वनिः ॥ ८० ॥

॥ इति महाकवि पं० रामकुबेरमालवीयात्मज डॉ० सुधाकरमालवीय कृतायां
पञ्चतन्त्रस्य 'ज्योत्स्ना' व्याख्यायां लब्धप्रणाशं
नाम चतुर्थं तन्त्रं समाप्तम् ॥ ४ ॥

———०———

वह आनन्द नहीं है, क्योंकि भाग्यवश प्राप्त घास तो बूढ़ा बैल भी चरता है अर्थात् अपने आगे उगे हुए तृण को खाकर सन्तोष कर लेता है॥ ८० ॥

॥ इस प्रकार महाकवि पं० रामकुबेर मालवीय के द्वितीय आत्मज
डा० सुधाकर मालवीय कृत पञ्चतन्त्र के लब्धप्रणाश नामक चतुर्थ
तन्त्र की 'मृदुला' हिन्दी टीका पूर्ण हुई ॥ ४ ॥

———०———

पञ्चतन्त्रम्

अपरीक्षितकारकम्

(पञ्चमं तन्त्रम्)

[आमुख]

क्षपणक कथा

अथ इदमारभ्यते 'अपरीक्षितकारकं' नाम पञ्चमं तन्त्रम् । तस्य अयम् आदिमः श्लोकः—

कुदृष्टं कुपरिज्ञातं कुश्रुतं कुपरीक्षितम् ।
तन्नरेण न कर्त्तव्यं नापितेनात्र यत् कृतम् ॥ १ ॥

* ज्योत्स्ना *

वाचकः प्रणवो यस्य क्रीडावस्त्वखिलं जगत् ।
श्रुतिराज्ञा वपुर्ज्ञानं तं वन्दे विष्णुरव्ययम् ॥ १ ॥
टीकामभिनवां रम्यां 'ज्योत्स्ना' च 'मृदुलां' तथा ।
करोति बालबोधाय मालवीयः सुधाकरः ॥ २ ॥

अथ शब्दो मङ्गलार्थः प्रकरणारम्भसूचकश्च, इदं—वक्ष्यमाणम्, आरभ्यते—प्रारम्भः क्रियते । अपरीक्षितकारकं—न परीक्षितमपरीक्षितं, पञ्चमं—पञ्चमसङ्ख्याकं, कुर्वन्तीति कारकाः अपरीक्षितानां कारका यस्मिन् तन्त्रे तदपरीक्षितकारकं, तन्नामकं, तनोतीति तन्त्रम्—प्रकरणम् ।

कुदृष्टमिति । अत्र संसारे, नापितेन केनचित् क्षुरकर्मिणा, कुदृष्टं सम्यगदृष्टं; कुपरिज्ञातम् अज्ञातगूढवृत्तान्तं कुश्रुतं सम्यक्तया अनाकर्णितं, अनधिगताभिप्रायमित्यर्थ, कुपरीक्षितं धीरतया सम्यगविवेचितम्, असमीक्षितम्, इत्यर्थः, यत् कर्म, कृतं नरेण तत्

* मृदुला *

अब 'लब्धप्रणाश' के बाद विष्णुशर्मा ने राजपुत्रों से कहा कि मेरे द्वारा यह 'अपरीक्षित' (बिना परीक्षा किये करना) नामक पाँचवाँ तन्त्र आरम्भ किया जाता है, जिसका सर्वप्रथम श्लोक इस प्रकार है—

इस संसार में (किसी) नाई ने अच्छी तरह बिना देखे, भली प्रकार बिना जाने, ठीक-ठीक बिना सुने और भलीभाँति बिना परीक्षा किए जिस प्रकार काम को किया

तद्यथा अनुश्रूयते—

अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे पाटलिपुत्रं नाम नगरम्। तत्र मणिभद्रो नाम श्रेष्ठी प्रतिवसति स्म, तस्य च धर्मार्थकाममोक्षकर्माणि कुर्वतो विधिवशात् धनक्षयः सञ्जातः। ततः स विभवक्षयात् अपमानपरम्परया परं विषादं गतः; रात्रौ सुप्तः चिन्तितवान्—'अहो! धिक् इयं दरिद्रता!!

उक्तञ्च—

शीलं शौचं क्षान्तिर्दाक्षिण्यं मधुरता कुले जन्म।
न विराजन्ति हि सर्वे वित्तविहीनस्य पुरुषस्य ॥ २ ॥

तथाविधं कर्म, न कर्त्तव्यम् ॥ १ ॥

(१) धर्मेति। धर्मः—इह परत्र च श्रेयःसाधनम्, अर्थः—धनं, कामः—कामना, इप्सितलाभ इत्यर्थः, मोक्षः—अपवर्गः, तेषां कर्माणि—तत्साधनोपायभूताः क्रियाः। धनक्षयः—अर्थनाशः। अपमानपरम्परया—पुनःपुनरनादरलाभेनेत्यर्थः। सुप्तः—शयितः, 'स्वापः शयननिद्रयोः। स्पर्शाज्ञतायामज्ञाने' इति मेदिनी।

शीलमिति। वित्तविहीनस्य वित्तेन विभवेन, विहीनस्य परित्यक्तस्य, निर्धनस्य इत्यर्थः, विपूर्वकजहातेः क्तप्रत्यये 'ओदितश्च' (पा० सू० ८।१।४५) इति निष्ठातस्य नकारः पुरुषस्य शीलं चरित्रं शौचं बाह्याभ्यन्तरशुद्धिः, शुचेर्भावः कर्म वा इत्यर्थे शुचिशब्दात् 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' (पा० सू० ५।१।१३१) इति अण्प्रत्ययः, क्षान्तिः क्षमा, अपराधसहनम् इति यावत्, दाक्षिण्यं सारल्यम्, औदार्य्यमित्यर्थः, मधुरता मिष्टभाषिता, सौन्दर्य्यादिना मनोहारित्वं वा, तथा कुले जन्म कौलीन्यम्, अभिजात्यम् इत्यर्थः, एते सर्वे, गुणा इति शेषः, न हि विराजन्ति नैव स्फुरन्ति, दारिद्रस्य

था, वैसा अन्य मनुष्य को नहीं करना चाहिए ॥ १ ॥

उस (नापित) का (चरित्र परम्परा से) इस प्रकार सुना जाता है कि दक्षिण देश में पाटलिपुत्र नाम का एक नगर है, वहाँ मणिभद्र नामक एक सेठ रहता था। उस सेठ को धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के निमित्त धन का उपयोग करते रहने पर दैवयोग से समस्त धन का नाश हो गया। फिर धन के नाश हो जाने पर निरन्तर होने वाले अपमान से वह अत्यन्त दुःखी हुआ। एक दिन रात्रि को सोता हुआ वह विचार करने लगा—अहो! मुझे धिक्कार है, जो मैं दरिद्र हूँ। किसी ने सच कहा है—

उत्तम स्वभाव, पवित्रता, क्षमा, सरलता, दया एवं उत्तम कुल में जन्म होना ये सभी गुण दरिद्र पुरुष के शोभा बढ़ाने में असमर्थ हैं ॥ २ ॥

अन्तर्विषमया ह्येता बहिश्चैव मनोरमाः ।
गुञ्जाफलसमाकाराः स्वभावादेव योषितः ॥ ५५ ॥
ताडिता अपि दण्डेन शस्त्रैरपि विखण्डिताः ।
न वशं योषितो यान्ति न दानैर्न च संस्तवैः ॥ ५६ ॥
आस्तां तावत् किमन्येन दौरात्म्येनेह योषिताम् ।
विधृतं स्वोदरेणापि घ्नन्ति पुत्रं स्वकं रुषा ! ॥ ५७ ॥

वशादित्यर्थः, शलभाः पतङ्गाः, दीपाभां यथा आलोकशिखामिव, नितम्बिनीं रमणीं, रस्याम् एकत्र—मधुराकृतिम्, अन्यत्र—शोभनदर्शनां, बुद्ध्वेति शेषः, उपसर्पन्ति सेवन्ते इत्यर्थः, तेषां के नाम न विनश्यन्ति ? विनाशं गच्छन्ति ? सर्वं एव विनश्यन्ति इत्यर्थः, शलभा यथा प्रदीपस्य रमणीयतरमालोकमवलोक्य तत्पतिता विनाशमुपयान्ति, सुखलालसया रमणीमुपगता अपि तथा इति निष्कर्षः ॥ ५४ ॥

अन्तरिति । हि यतः, एता योषितः नार्यः, स्वभावादेव प्रकृत्यैव, अन्तर्विषमयाः विषकुम्भोपमाः, उपसर्जनत्वात् नेह ङीप्, 'बहुकुरुचरा' इतिवत् बोध्यम् । बहिश्च मनोरमाः हृदयहारिण्यः, लावण्यविलासादिभिरेव नितरां चेतः मथनन्ति इति भावः, अत एव गुञ्जाफलैः समः आकारो यासां तादृश्यः एव । गुञ्जाफलानि यथा आरक्तवर्णानि बहिरेव सुदर्शनानि, सेव्यमानानि तु विषवदनिष्टजननानि भवन्ति, तथा नार्यः अपि बहिरेव रमणीयः, सेव्यमानाः तु प्राणनाशिन्य, अतः ललनाजनस्य रूपोपभोगलालसा सुधीभिः सर्वथैव हेया इति निष्कर्षः । पयोमुखविषकुम्भकल्पाः हि भवन्ति रमण्यः इति भावः ॥ ५५ ॥

ताडिता इति । योषितः स्त्रियः, दण्डेन ताडिताः प्रहृता अपि, शस्त्रैः विखण्डिता विक्षतविग्रहा अपि, न, दानैश्च न, संस्तवैः सम्यक् स्तुतिभिः, आदरातिशयैरित्यर्थः, परिचयैर्वा, 'संस्तवः स्यात् परिचयः' इत्यमरः, न वशं यान्ति न आयत्ता भवन्ति, अदम्या अवशीभूताश्च ताः सर्वथैवेति भावः ॥ ५६ ॥

आस्तामिति । इह संसारे, योषिताम् अन्येन वर्णिष्यमाणादितरेणत्यर्थः दौरात्म्येन,

---

क्योंकि ये स्त्रियाँ, गुञ्जाफल (चौटली, घूंघची) के समान स्वभाव से ही मन में विषपूर्ण और बाहर से देखने में अत्यन्त मनोरम होती हैं ॥ ५५ ॥

दण्डे से पीटने, शस्त्रों से घायल करने, वस्त्राभूषण आदि प्रदान करने से और प्रशंसा के द्वारा भी स्त्रियाँ पुरुष के वश में नहीं होतीं ॥ ५६ ॥

स्त्रियों की अन्य किसी दुष्टता का उदाहरण देने से क्या लाभ ? उसके विषय में केवल यही उदाहरण क्या कम है कि वे अपने उदर में धारण किये हुए अपने पुत्र को भी क्रोध से मार डालती है (तो अन्य पुरुष को मार डालना कोई असम्भव

रूक्षायां स्नेहसद्भावं कठोरायां सुमार्दवम्।
नीरसायां रसं बालो बालिकायां विकल्पयेत् ॥ ५८ ।

मकर आह—"भो मित्र ! अस्तु एतत्, परं किं करोमि ? मम अनर्थद्वयमेतत् सञ्जातम्, एकः तावत् गृहभङ्गः, अपर त्वद्विधेन मित्रेण सह चित्तविश्लेषः ; अथवा, भवति एवं दैवयोगात्। उक्तञ्च यत —

यादृशं मम पाण्डित्यं तादृशं द्विगुणं तव
नाभूज्जारो न भर्त्ता च किं निरीक्षसि नग्निके !? ॥ ५९ ॥

वर्णितेनेति शेषः, किम् ? अन्यत् दौरात्म्यं किमु वक्तव्यमिति भावः, अतस्तत् आस्तां तावत् अन्यदौरात्म्योपवर्णनं तिष्ठतु तावत्, एताः स्वोदरेण निजजठरेण, विधृतं स्वकं निजं, पुत्रमपि रुषा क्रोधेन, घ्नन्ति नाशयन्ति, तेष्वपि जीवितोपमेषु वात्सल्यं नास्ति, अन्येषु का कथेति भावः ॥ ५७ ॥

रूक्षायामिति। बालः मूढमतिरेवेति भावः, बालिकायां स्त्रियामिति यावत्, रूक्षायां कर्कशस्वभावायां, स्नेहसद्भावं प्रणयभावं, तथा कठोरायां निष्ठुरायां, सुमार्दवम् अतिकोमलतां, तथा नीरसायां निरनुरागायां, रसम् अनुरागम्, रूक्षाऽपि स्नेहवती, कठोराऽपि कोमला, नीरसाऽपि सानुरागा इत्येवमित्यर्थः, विकल्पयेत् विपूर्वात् कल्पतेः पचाद्यचि विकल्प इति पदात् तत्कुर्यादित्यर्थे णिचि लिङा सिद्धम्। विरुद्धकल्पनां कुर्यात् इत्यर्थः, विद्वांसस्तु न तथा, ते तु तासु रूक्षासु कठोरासु नीरसासु च स्त्रीषु ईषदपि स्नेहमार्दवरसयोगो नास्तीति विभावयन्तीति भावः ॥ ५८ ॥

(१) गृहभङ्गः—ग्रहिणीविनाशः, 'न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते' इति स्मरणात् गृहशब्दोऽत्र गृहिणीपरः मन्तव्यः। चित्तविश्लेषः—मनोभङ्गः।

यादृशमिति। मम पाण्डित्यं पण्धातोः 'जमन्तात् डः' (उणा १ सू०

नहीं) ॥ ५७ ॥

स्त्री के स्वभाव को न समझने वाला मूर्ख पुरुष प्रकृत्या नीरस चित्तवाली स्त्री में प्रेमभाव, निष्ठुर हृदय में कोमलता और स्नेहशून्य में अनुराग की भले ही कल्पना करे, किन्तु विद्वान् लोग ऐसा नहीं करते ॥ ५८ ॥

मगर ने कहा—हे मित्र ! यह बात (स्त्रियों के सम्बन्ध में जो आपने कही) ठीक है। परन्तु मैं क्या करूं, मेरे तो दो अनर्थ हो गये। प्रथम तो स्त्री-विनाश से घर विनष्ट हो गया और द्वितीय तुम्हारे जैसे मित्र के साथ मनोमालिन्य भी हो गया। अथवा, भाग्य से सताये हुए पुरुषों को ऐसा हुआ ही करता है। क्योंकि कहा भी गया है—

मुझमें जैसा चातुर्य है तुम्हारे में उसी का अर्थात् मुझसे दूना है। तुम्हारा न

वानर आह—"कथमेतत् ?" मकरोऽब्रवीत्—

८ : नग्निका-हालिकवधू-कथा

"कस्मिश्चित् अधिष्ठाने हालिकदम्पती प्रतिवसतः स्म । सा च हालिकभार्या पत्युर्वृद्धभावात् सदैव अन्यचित्ता न कथञ्चित् गृहे स्थैर्यम् आलम्बते, केवलं परपुरुषान् अन्वेषमाणा परिभ्रमति । अथ केनचित् परवित्तापहारकेण धूर्तेन सा लक्षिता, विजने प्रोक्ता च—'सुभगे ! मृतभार्योऽहं, त्वद्दर्शनेन स्मरपीडितश्च, तद्दीयतां मे रतिदक्षिणा' इति । ततः तया अभिहितं—'भोः सुभग ! यदि एव, तदस्ति मे पत्युः प्रभूतं धनं, स च वृद्धत्वात् प्रचलितुमपि असमर्थः ; ततः तद्धनम् आदाय अहमागच्छामि; येन त्वया सह अन्यत्र गत्वा यथेच्छया रतिसुखम् अनुभविष्यामि' । सोऽब्रऽ-

११३) इति डप्रत्यये पण्डाबुद्धिरित्यर्थः, सा अस्यास्तीति तारकादित्वादितच्प्रत्यये पण्डित इति रूपं सिद्धं, तस्य भावः पाण्डित्यम् बुद्धिमत्त्वमित्यर्थः, यादृशं यद्विधं, तव, पाण्डित्यमिति शेषः, द्विगुणं द्विरावृत्तं, तादृशं तद्विधं जारः उपपतिः न अभूत्, भर्त्ता पतिः, च न, अभूदिति पूर्वानुषङ्गः, जारभर्त्तारौ उभावपि हारितौ इत्यर्थः, हे नग्निके ! हृतांशुकत्वात् दिगम्बरे ! किं निरीक्षसि ? किं पश्यसि ? अत्र निरीक्षसे इत्यत्र साधुत्वेऽपि परस्मैपदं विवक्षितम् ॥ ५९ ॥

[८]

(१) हालिकदम्पती—हलोपजीविनौ स्त्रीपुंसौ, कृषकस्तज्जाया च इत्यर्थः ।

वानर ने कहा—'यह कैसे ?' मगर ने कहा—

छिनार और शृगाली की कथा

किसी स्थान में किसान दम्पति रहते थे । पति वृद्ध होने के कारण किसान की पत्नी का चित्त सदा अन्य पुरुषों में लगा रहता था, किसी प्रकार भी वह घर में स्थिर नहीं रहती थी । केवल अन्य पुरुषों की तलाश करती हुई घूमा करती थी । एक दिन दूसरों का धन हरने वाले किसी धूर्त ने घर से उसको निकलते देखकर ताड़ लिया और एकान्त में उससे कहा—'हे सुन्दरि ! मेरी पत्नी मर चुकी है और तुम्हारे सौन्दर्य को देखकर काम ने मुझे पीड़ित कर दिया है । इसलिये मुझे रतिदक्षिणा दो ।' तब उसने कहा—'हे सुभग ! अगर ऐसा है तो (ठीक है) मेरे पति के पास बहुत धन है । परन्तु वृद्ध होने के कारण वह चलने में भी असमर्थ है । इसलिये उसका धन लेकर मैं आती हूँ, जिससे तुम्हारे साथ किसी दूसरे स्थान

वीत्—'रोचते मह्यमपि एतत्; प्रत्यूषेऽत्र स्थाने शीघ्रमेव समागन्तव्यम्, येन शुभतरं किञ्चित् नगरं गत्वा त्वया सह जीवलोकः सफलीक्रियते'। साऽपि 'तथा' इति प्रतिज्ञाय, प्रहसितवदना स्वगृहं गत्वा रात्रौ प्रसुप्ते भर्त्तरि, सर्वं वित्तम् आदाय, प्रत्यूषसमये तत्कथितस्थानम् उपाद्रवत्। धूर्त्तोऽपि तामग्रे विधाय दक्षिणां दिशम् आश्रित्य सत्वरगतिः प्रस्थितः।

एवं तयोः, व्रजतोः योजनद्वयमात्रेण अग्रतः काचित् नदी समुपस्थिता। तां दृष्ट्वा धूर्त्तः चिन्तयामास—'किम् अहमनया यौवनप्रान्ते वर्त्तमानया करिष्यामि? किञ्च, कदाऽपि अस्याः पृष्ठतः कोऽपि समेष्यति, तन्मे महान् अनर्थः स्यात्; तत् केवलमस्या वित्तम् आदाय गच्छामि' इति निश्चित्य ताम् उवाच—'प्रिये! सुदुस्तरा इयं महानदी; तदहं द्रव्यमात्रं

स्वदते, तवायं प्रस्तावः मम अनुमत एवेत्यर्थः। शुभतरं—समृद्धमित्यर्थः, जीवलोकः—संसार इत्यर्थः, इह जगति जननं वा। उपाद्रवत्—धावितवती, पलायिष्ट इत्यर्थः। अन्वेषमाणा—अनुसन्दधाना, अनुपूर्व-ष्वाद्यात्मनेपदिनः 'एष'-धातोः रूपम्। रोचते-

(१) तां—नदीमित्यर्थः। यौवनप्रान्ते—यौवनसीमायां, प्रौढावस्थायामित्यर्थः, वर्त्तमानया—स्थितया, विगतयौवनया इत्यर्थः, अनया—एतया हालिकस्त्रिया क्षयितयौवनया एतया सार्द्धं सुरतसम्भोगे तरुणीसम्भोगसदृशसुखस्यानुदयादिति भावः। अस्याः पृष्ठतः—अस्याः पश्चात्, एनामनुसृत्य इत्यर्थः। अनर्थः—विपत्। द्रव्यमात्रं—केवलं धनं, 'द्रव्यं वित्तं स्वापतेयं रिक्थमृक्थं धनं वसु' इत्य-

---

पर जाकर रति-सुख का आनन्द लूँगी। उसने कहा—'तुम्हारा यह प्रस्ताव मुझे पसन्द है। अतः प्रातःकाल तुम उसी स्थान पर शीघ्र ही आ जाना, जिससे किसी उत्तम नगर में पहुँचकर तुम्हारे संसार का सुख भोगूँ।' वह भी 'ऐसा ही होगा' ऐसी प्रतिज्ञा कर प्रसन्न चित्त होकर अपने घर लौट गई और रात्रि में पति के सो जाने पर सब धन लेकर, प्रातःकाल निर्दिष्ट स्थान पर पहुँची। धूर्त भी उसे आगे करके दक्षिण दिशा की तरफ जल्दी-जल्दी वहाँ से चल दिया।

इस प्रकार जब वे दोनों जा रहे थे, तब दो योजन अर्थात् ८ कोस पर मार्ग में एक नदी पड़ी। उसे देखकर धूर्त ने विचार किया—ढलती हुई जवानी वाली प्रौढ़ावस्था में वर्तमान इसका मैं क्या करूँगा। फिर और यदि कोई इसके पीछे खोजते हुए आया, तब मुझे बड़ी भारी विपत्ति में फँसना पड़ेगा। इसलिए केवल इसका धन लेकर चलता बनूँ। यह निश्चय कर (उसने) उससे कहा—'हे प्रिये! इस महानदी का पार करना बड़ा कठिन है। इसलिए पहले इस धन को उस पार

पारे धृत्वा समागच्छामि, ततः त्वाम् एकाकिनीं स्वपृष्ठमारोप्य सुखेन उत्तारयिष्यामि'। सा प्राह – सुभग ! एवं क्रियताम्' इत्युक्त्वा अशेष वित्तं तस्मै समर्पयामास। अथ तेन अभिहितम्--'भद्रे ! परिधानाच्छादनवस्त्रमपि समर्पय, येन जलमध्ये निःशङ्का व्रजसि' तथा अनुष्ठिते धूर्तो वित्त वस्त्र-युगलञ्च आदाय यथाचिन्तितविषयं गतः। साऽपि कण्ठनिवेशितहस्तयुगला सोद्वेगा नदीपुलिनदेशे उपविष्टा यावत् तिष्ठति, तावत् काचित् शृगालिका मांसपिण्डगृहीतवदना तत्र आजगाम; आगत्य च यावत् पश्यति, तावत् नदीतीरे महान् मत्स्यः सलिलात् निष्क्रम्य बहिः स्थितः आस्ते; एतञ्च दृष्ट्वा सा मांसपिण्डं समुत्सृज्य तं मत्स्यं प्रति उपाद्रवत्। अत्रान्तरे आकाशात् अवतीर्य कोऽपि गृध्रः तं मांसपिण्डमादाय पुनः खमुत्पपात; मत्स्योऽपि शृगालिकां दृष्ट्वा नद्यां प्रविवेश। सा शृगालिका व्यर्थश्रमा गृध्रम् अवलोकयन्ती तया नग्निकया सस्मितम् अभिहिता—

गृध्रेणापहृतं मांसं मत्स्योऽपि सलिलं गतः।
मत्स्यमांसपरिभ्रष्टे ! किं निरीक्षसि जम्बुकि ? ॥ ६० ॥

मरः। पारे—नद्या अपरतीरे, 'पारं परतटे प्रान्ते न स्त्री' इति मेदिनी। धृत्वा—संस्थाप्य। यथाचिन्तितविषयं—यथेप्सितदेशम्, 'विषयो गोचरे देशे तथा जनपदेऽपि च' इति मेदिनी। कण्ठेति। लज्जया वक्षोजद्वयप्रच्छादनार्थं विपर्यस्तभावेन गलदेशविन्यस्तकरयुगेत्यर्थः। उपाद्रवत्—अधावत्।

गृध्रेणेति। गृध्रेण मांसम् अपहृतं, मत्स्योऽपि सलिलं जलं, गतः प्रविष्टः, हे

में रखकर आता हूँ। फिर तुम्हें अपनी पीठ पर चढ़ाकर आसानी से पार ले जाऊँगा।' उसने कहा—सुभग ! ऐसा ही करो।' यह कहकर उसने सारा धन उस धूर्त को सौंप दिया। तब धूर्त ने फिर कहा—'हे भद्रे ! ओढ़ने पहनने के कपड़े भी दो, जिससे जल में निर्भय चल सकोगी।' वैसा ही करने पर—वस्त्र भी सौंप देने पर धूर्त धन तथा वस्त्र दोनों लेकर अपने मनचाहे स्थान को चला गया। वह (स्त्री भी) गले में उरोज ढकने के लिए दोनों हाथ डाले हुए नदी के किनारे जब बैठी हुई थी, उसी समय मुख से ग्रस्त मांसपिण्ड छोड़कर उस मत्स्य की ओर दौड़ी। इसी समय आकाश से उतर कर कोई गिद्ध उस मांसपिण्ड को लेकर पुनः आकाश में उड़ गया। इधर मत्स्य भी शृगाली को देखकर जल में घुस गया। इस प्रकार शृगाली का सारा परिश्रम व्यर्थ हो गया और वह गिद्ध की तरफ देखने लगी। तब उस स्त्री ने मुस्कुराकर कहा--

गिद्ध ने मांस हर लिया और मत्स्य भी जल में घुस गया। हे मत्स्य और

तच्छ्रुत्वा शृगालिका तामपि पति-धन-जारपरिभ्रष्टां दृष्ट्वा सोपहासमाह—

यादृशं मम पाण्डित्यं तादृशः द्विगुणं तव।
नाभूज्जारो न भर्त्ता च किं निरीक्षसि नग्निके ? ॥ ६१ ॥
इति"।

एवं तस्य कथयतः पुनरन्येन जलचरेण आगत्य निवेदितं यत्—"अहो ! त्वदीयं गृहमपि अपरेण महामकरेण गृहीतम्"। तत् श्रुत्वा असौ अतिदुःखितमनाः तं गृहात् निःसारयितुं मनसि उपायं चिन्तयामास—"अहो ! पश्यतां मे दैवोपहतत्वम्—

मत्स्यमांसपरिभ्रष्टे ! मीनपललाभ्यां वञ्चिते ! जम्बुकि ! शृगालि ! किं निरीक्षसि ? अतिलोभात् त्वमिदानीं द्वाभ्यामेव वञ्चिता इति तात्पर्यम्। अत्रापि निरीक्षसे इत्यस्यैव साधुत्वं ज्ञेयम् ॥ ६० ॥

(१) पतीति। पतिश्च धनानि च जारश्च तेभ्यः परिभ्रष्टा विच्युता ताम्।

यादृशमिति। मम पाण्डित्यं पणधातोः 'अमन्तात् डः' (उणा० सू० १ ११३) इति ड प्रत्यये पण्डारित्यर्थः, सा अस्यातीति तारकादित्वादितच्प्रत्यये पण्डित इति रूपं सिद्धं, तस्य भावः पाण्डित्यम् बुद्धिमत्यमित्यर्थः, यादृशं यद्विधं, तव, पाण्डित्यमिति शेषः, द्विगुणं द्विरावृत्तं, तादृशं तद्विधं, जारः उपपतिः, न अभूत्, भर्त्ता पतिः, च न, अभूदिति पूर्वानुषङ्गः, जारभर्त्तारौ उभावपि हारितौ इत्यर्थः, हे नग्निके ! हृतांशुकत्वात् दिगम्बरे ! किं निरीक्षसि ? किं पश्यसि ? अत्र निरीक्षसे इत्यस्य साधुत्वेऽपि परस्मैपदं विवक्षितम् ॥ ६१ ॥

(२) दैवोपहतत्वं—दुर्दैवग्रस्तत्वम्।

मांस दोनों को खाने वाली शृगाली ! अब तू क्या देख रही है ? ॥ ६० ॥

यह सुन शृगालिका ने भी पति, धन एवं जारपति तीनों से बिछड़ी हुई उस स्त्री से उपहासपूर्वक कहा—

जैसा चातुर्य मुझ में है तुम्हारे में इसका दूना है। तब भी तुम्हारा न तो पति रहा और न यार ही। तब, हे छिनार ! अब तू क्या देख रही है ? ॥ ६१ ॥

इस प्रकार जब वह मगर कह ही रहा था कि किसी अन्य जलचर ने आकर कहा 'तुम्हारा घर भी अन्य महा मकर ने घेर लिया है।' यह सुनकर वह अत्यन्त दुःखित हो उस मकर को घर से निकालने का उपाय सोचने लगा और कहा—'ओह ! मेरा दुर्भाग्य तो देखो—

मित्रं ह्यमित्रतां यातमपरं मे प्रिया मृता ।
गृहमन्येन च व्याप्तं किमद्यापि भविष्यति ? ॥ ६२ ॥

अथवा युक्तमिदमुच्यते—

क्षते प्रहारा निपतन्त्यभीक्ष्णम्
अन्नक्षये वर्द्धति जाठराग्निः ।
आपत्सु वैराणि समुद्भवन्ति
वामे विधौ सर्वमिदं नराणाम् ॥ ६३ ॥

तत् किं करोमि ? किमनेन सह युद्धं करोमि ? किंवा साम्ना एव सम्बोध्य गृहात् निःसारयामि ? किंवा भेदं दानं वा करोमि ? अथवा

मित्रमिति । मित्रं सुहृत्, वानरः इति यावत्, हि निश्चयेन, अमित्रतां यातम्, अपरम् अन्यत्, मे मम, प्रिया मृता, गृहश्च अन्येन अपरेण, जलचरेणेति शेषः व्याप्तम् आक्रान्तम्, अद्यापि अतः परमित्यर्थः, किं भविष्यति, तन्न जाने इति शेषः ॥ ६२ ॥

क्षते इति । विधो दैवे, 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः । वामे प्रतिकूले सति नराणाम् इदं सर्वं, घटते इति शेषः, तथा हि, क्षते क्षत स्थाने एव, अभीक्ष्णं सततं, प्रहारा अघाताः, निपतन्ति भवन्ति, अन्नक्षयं भक्ष्याभावे सति, जाठराग्निः उदरानलः, वर्द्धति वृद्धि गच्छति, 'परस्मैपदमिच्छन्ति आत्मनेपदिनां क्वचित् । आत्मनेपदमिच्छन्ति परस्मैपदिनां क्वचित् ।' इति महाजन वाक्यात् वर्द्धते इत्यस्य साधुत्वेऽपि अत्र परस्मैपदं; वैवक्षिकं ज्ञेयम् तथा आपत्सु विपत्तिकालेष्वेव, वैराणि शत्रुताः, समुद्भवन्ति, अहो ! विधिविडम्बितम् !! इति भावः । उपजातिः वृत्तम् ॥ ६३ ॥

(१) साम्ना—सामप्रयोगेण, मधुरवचसा इत्यर्थः । सम्बोध्य—आभाष्य इत्यर्थः । भेदम्—उपजापं, तस्य स्वपक्षीयैः मनोभङ्गरूपं तृतीयमुपायम् । दानम्—

इधर मेरा मित्र शत्रु बन गया और उधर मेरी पत्नी भी मर गयी तथा घर भी दूसरे ने घेर लिया, न मालूम अब और क्या होगा ॥ ६२ ॥

अथवा यह ठीक ही कहा है—

चोट पर ही हमेशा चोट लगा करती है, अन्नाभाव में भूख भी बढ़ जाती है, विपत्तिकाल में शत्रुता भी उठ खड़ी होती है । इस प्रकार भाग्य के विपरीत हो जाने पर अर्थात् मनुष्य को विपन्नावस्था में ही सब अनर्थ बढ़ जाया करते हैं ॥ ६३ ॥

तब, उसके साथ युद्ध करूँ अथवा शान्ति से समझाकर ही घर से निकालूँ ? किं वा भेद अथवा दान का अवलम्बन करूँ अर्थात् किसी दूसरे से लड़ाकर इसका नाश करूँ अथवा कुछ देकर निकालूँ, अथवा इस वानर से ही पूछता हूँ । कहा

अमुमेव वानरं मित्रं पृच्छामि ?

उक्तञ्च—यः पृष्ट्वा कुरुते कार्य्यं प्रष्टव्यान् स्वाहितान् गुरून् ।
न तस्य जायते विघ्नः कस्मिंश्चिदपि कर्मणि' ॥६४॥

एवं सम्प्रधार्य्य भूयोऽपि तमेव जम्बूवृक्षम् आरूढ कपिम् अपृच्छत्—"भो मित्र ! पश्य मे मन्दभाग्यतां यत्, सम्प्रति गृहमपि मे बलवत्तरेण मकरेण रुद्धम्; तदहं त्वां प्रष्टुम् अभ्यागतः, कथय किं करोमि ? सामादीनाम् उपायानां मध्ये कस्य अत्र विषयः ?" स आह—"भोः कृतघ्न ! पापचारिन् ! मया निषिद्धोऽपि किं भूयो माम् अनुसरसि ? नाहं तव मूर्खस्य उपदेशमपि दास्यामि" । तत् श्रुत्वा मकरः प्राह—"भो मित्र ! सापराधस्य मे पूर्वस्नेहम् अनुस्मृत्य हितोपदेशं देहि" । वानर आह—"नाहं ते कथयिष्यामि, यत् भार्य्यावाक्येन भवता अहं समुद्रे प्रक्षेप्तु नीतः तदेव न युक्तम्; यद्यपि भार्या सर्वलोकादपि वल्लभा भवति, तथाऽपि न मित्राणि बान्धवाश्च

अर्थेन सन्तोषणरूप द्वितीयमुपायम् ।

य इति । यः जनः, प्रष्टव्यान् प्रष्टुमर्हान्, विपश्चित् इत्यर्थः, स्वहितान् निजमङ्गलकामिनः, गुरून् महतः, स्वापेक्षया श्रेष्ठानित्यर्थः, जनान् इति शेषः, पृष्ट्वा कार्य कुरुते, तेषामनुमत्या इति भावः तस्य कस्मिंश्चिदपि कर्मणि विघ्नः न जायते ॥ ६४ ॥

(१) प्रष्टुं—जिज्ञासितुम् । विषयः—अधिकार इत्यर्थः, सामादीनामुपायानां मध्ये कमुपायमधिकृत्य कार्यं साधयामीति भावः ।

भी गया है—

जो मनुष्य अपने हितैषियों और परिजनों से पूछ कर ही कोई कार्य करता है तो उसके किसी भी कार्य में विघ्न उपस्थित नहीं होता ॥ ६४ ॥

इस प्रकार विचार कर जम्बू वृक्ष पर चढ़े हुए उसी वानर से पूछा—'हे मित्र ! मेरा दुर्भाग्य तो देखो कि मेरा घर भी किसी बलवान् मगर ने घेर लिया है । इसलिए मैं तुमसे पूछने चला आया हूँ, कहो अब क्या करूँ ? साम आदि (चार) उपायों में से यहाँ किसका अवलम्बन लूँ ? उसने कहा – अरे कृतघ्न ! पापाचरण करने वाले ! मेरे बारम्बार मना करने पर भी क्यों मेरे पीछे लगा है तुम्हारे जैसे मूर्ख को उपदेश भी देना नहीं चाहिए ।

यह सुनकर मगर ने कहा—'हे मित्र ! यद्यपि मैं आपका अपराधी हूँ, तथापि प्रथम स्नेह का स्मरण कर मुझे कोई उपाय बताओ ।' वानर ने कहा—'मैं तुमसे कुछ भी नहीं कहूँगा, क्योंकि तुम मुझे स्त्री के कहने से समुद्र में डुबाने के लिए ले गये

भार्यावाक्येन समुद्रे प्रक्षिप्यन्ते । तन्मूर्ख ! मूढत्वेन नाशः तव मया प्रागेव निवेदित आसीत्; यतः—

सतां वचनमादिष्टं मदेन न करोति यः ।
स विनाशमवाप्नोति घण्टोष्ट्र इव सत्वरम्" ॥६५॥

मकर आह—"कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत्—

६ : घण्टोष्ट्र-कथा

"कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने उज्ज्वलको नाम रथकारः प्रतिवसति स्म । स च अतीव दारिद्र्योपहतः चिन्तितवान्—'अहो ! धिक् इयं दरिद्रता अस्मद्गृहे !! यतः सर्वोऽपि जनः स्वकर्मणा एव रतः तिष्ठति; अस्मदीयः

सतामिति । यः मदेन गर्वेण, सतां साधूनां, विपश्चिद्भिरित्यर्थः, हितैषिभिरिति यावत् 'विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः सन् सुधीः कोविदो बुधः' इत्यमरः । आदिष्टम् उपदिष्टं, वचनम् ईदृशं कर्म मा कुरु, कृते विपत्तिः भवितुमर्हति इत्येवंरूपमित्यर्थः, न करोति न पालयति, स घण्टोष्ट्र इव घण्टया उपलक्षितः उष्ट्रः इव, घण्टावादकोष्ट्र इवेत्यर्थः, सत्वरं शीघ्रं, विनाशं ध्वंसम्, अवाप्नोति लभते, घण्टोष्ट्रो यथा सजातीयानां सावधानताज्ञापकं हितवाक्यमवगणय्य एकाकी आगच्छन् सिंहेन विनष्टः अभूत्, तथा सदुपदेशमगृह्णतां विनाशो भवति इति निष्कर्षः ॥ ६५ ॥

[१]

(१) अतीवेति । अतीव—अत्यर्थं, दारिद्र्येण—निर्धनतया, उपहतः—पीडितः, आक्रान्तः इत्यर्थः । अहो इति । अहो ! धिक्—हा अतिकष्टमेतदित्यर्थः, इयं दरिद्रता—इदं दारिद्र्यम्, अस्मद्गृहे—मदीयभवने इत्यर्थः, अत्र धिक्शब्दस्य निन्दार्थकत्वेऽपि तद्योगाभावात् न द्वितीया इत्यवधेयम् । रतः—आसक्तः, आबद्ध

थे । यह कार्य कथमपि उचित नहीं था । यद्यपि पत्नी समस्त संसार से प्यारी होती है तो भी स्त्री के लिए मित्र या कुटुम्बी समुद्र में नहीं फेंके जाते । अरे मूर्ख ! मूर्खता के कारण तुम्हारे सर्वनाश की बात तो मैंने पहले ही कही थी । क्योंकि—

जो मनुष्य प्रमत्तता और मूर्खता के कारण सज्जनों के बताये हुए वचनों के अनुसार कार्य नहीं करता वह पुरुष घण्टाधारी ऊँट के समान नाश को प्राप्त होता है ॥ ६५ ॥

मगर ने कहा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

घण्टाधारी ऊँट की कथा

किसी नगर में उज्ज्वलक नाम का एक बढ़ई रहता था । अत्यन्त दरिद्रता से पीड़ित हो उसने विचार किया—हमारे घर की दरिद्रता को धिक्कार है, क्योंकि

पुनः व्यापारो न अत्र अधिष्ठाने अर्हति; यतः, सर्वलोकानां चिरन्तनाः चतुर्भूमिका गृहाः सन्ति; तत् किं मदीयेन रथकारत्वेन प्रयोजनम् ?' इति चिन्तयित्वा देशात् निष्क्रान्तः यावत् किञ्चित् वनं गच्छति, तावत् गह्वराकारवनगहनमध्ये सूर्यास्तमनवेलायां स्वयूथात् भ्रष्टां प्रसववेदनया पीड्यमानां उष्ट्रीम् अपश्यत्। स च दासेरकयुक्ताम् उष्ट्रीं गृहीत्वा स्वस्थानाभिमुखः प्रस्थितः, गृहम् आसाद्य रज्जुं गृहीत्वा तत् उष्ट्रिकां बबन्ध च। ततश्च तीक्ष्णं परशुम् आदाय तस्याः कृते पल्लवानयनार्थं पर्वतकदेशे गतः। तत्र च नूतनानि कोमलानि बहूनि पल्लवानि छित्त्वा शिरसि समारोप्य तस्या अग्रे निचिक्षेप; तया च तानि शनैः शनैः भक्षितानि। पश्चात् पल्लवभक्षणप्रभावात् अहर्निशं पीवरतनुः उष्ट्रो सञ्जाता। सोऽपि दासेरको महान् उष्ट्रः सञ्जातः। ततः स नित्यमेव दुग्धं गृहीत्वा स्वकुटुम्बं परिपाल-

---

इत्यर्थः। व्यापारः कार्यं, सूत्रधरवृत्तिरित्यर्थः। अधिष्ठाने—पुरे, नगरे इत्यर्थः, 'अधिष्ठानं पुरे चक्रे प्रभावेऽध्यासनेऽपि च' इति मेदिनी। अर्हति - युज्यते। चिरन्तनाः—प्राचीनाः, 'सायंचिरंप्राह्णे–' (पा० सू० ४।३।२३) इत्यादिना ट्युट्युलौ तुट् च, ततः तुटः प्रागनादेशः बहुकालिका इत्यर्थः। चतुर्भूमिकाः—चतुःप्रकोष्ठाः, यद्वा—चतस्रः भूमयः—उपर्युपरि अवस्थिताः कक्षदेशा इत्यर्थः, यत्र तादृशः 'चतुस्तल' इति यस्य भाषा, गृहा भवनानि। गह्वरेति। गह्वरस्य आकार इव आकारो यस्य तादृशं, सूर्यकिरणप्रवेशायोग्यमिति यावत्, यत् वनगहनं निविडं वनमित्यर्थः, तस्य मध्ये, ...गहनं कलिले त्रिषु। नपुंसकं गह्वरे स्याद्दुःखकाननयोरपि ॥' इति मेदिनी। दासेरकयुक्तां—करभयुक्तां, शिशूष्ट्रसहितामित्यर्थः, दासेरकस्तु करभे दासीपुत्रे च धीवरे' इति मेदिनी। परशुं—कुठारम्। तस्याः कृते उष्ट्री-

---

सभी मनुष्य अपने-अपने काम से खुशहाल हैं, हमारा बढ़ई का काम इस नगर में नहीं चल सकता। सब लोगों के चौमञ्जिले मकान हैं, मेरे पास तो एक भी नहीं है। फिर मेरी इस बढ़ईगिरी से क्या लाभ ? यह सोचकर वह अपने देश से निकल पड़ा। जब किसी वन में जा रहा था तब गुफा के आकार वाले घने वन में, सायंकाल के समय, अपने झुण्ड से बिछुड़ी, हुई प्रसववेदना से पीड़ित उसने एक उष्ट्री को देखा। तब वह बच्चे सहित ऊँटनी को लेकर अपने घर की तरफ चल पड़ा तथा घर पहुँचकर रस्सी से उस ऊँटनी को बाँध अनन्तर तेज कुठार लेकर उसके लिए पत्ते लाने को पर्वत की ओर चला गया। वहाँ से बहुत से नये कोमल पत्ते काट कर सिर पर रखकर ले आया और उसके सामने डाल दिये। उसने धीरे-धीरे उन पत्तों को खा लिए। इस प्रकार प्रतिदिन पत्ते खाने के प्रभाव से ऊँटनी मोटी-ताजी

यति । अथ रथकारेण वल्लभत्वात् दासेरकग्रीवायां महती घण्टा प्रतिबद्धा । पश्चात् रथकारो व्यचिन्तयत्—'अहो ! किमन्यैः दुष्कृतकर्मभिः ? यावत् मम एतस्मादेव उष्ट्रीपरिपालनात् अस्य कुटुम्बस्य भव्यं सञ्जातम्; तत् किम् अन्येन व्यापारेण ?' एवं विचिन्त्य गृहम् आगत्य प्रियामाह—'भद्रे ! समीचीनोऽयं व्यापारः । तव सम्मतिः चेत् कुतोऽपि धनिकात् किञ्चित् द्रव्यमादाय मया गुर्जरदेशे गन्तव्यं करभग्रहणाय, तावत् त्वया एतौ यत्नेन रक्षणीयौ, यावत् अहमपराम् उष्ट्रीं नीत्वा समागच्छामि' । ततश्च गुर्जरदेशं गत्वा उष्ट्रीं गृहीत्वा स्वगृहम् आगतः । किं बहुना ? तेन यथा कृतं यथा तस्य प्रचुरा उष्ट्र्यः करभाश्च सम्मिलिताः । ततस्तेन महत् उष्ट्रयूथं कृत्वा रक्षापुरुषो धृतः, तस्य वर्षं प्रति वृत्त्या करभम् एकं प्रयच्छति, अन्यच्च, अहर्निशं दुग्धपानं तस्य निरूपितम् । एवं रथकारोऽपि नित्यमेव उष्ट्रीकरभ-

---

कायाः आहारार्थम् इत्यर्थः । दुग्धम्, उष्ट्र्या इति शेषः । दुष्कृतकर्मभिः—दुःख-साध्यकर्मभिः । भव्यं—कुशलम्, भूधातोः 'अचो यत्' (पा० सू० ३।१।९७) इति यत्प्रत्यये भव्यम्, अवश्यकार्थे तु ण्यति भाव्यं, भावे अनुपसर्गे सुप्युपपदे तु 'भुवो भावे' (पा० सू० ३।१।१०७) इति क्यप् च स्यात् । 'भावुकं भाविकं भव्यं कुशलं क्षेम-मस्त्रियाम्' इत्यमरः । व्यापारेण क्रियया । समीचीनः—साधुः । व्यापारः—उपायः । द्रव्यमादाय—धनं गृहीत्वा । करभग्रहणाय—उष्ट्रशावकानयनाय, 'करभो मणिबन्धादिकनिष्ठान्तोष्ट्रतत्सुते' इति मेदिनी । करभाः—उष्ट्रशावकाः । सम्मि-लिताः—सञ्जाताः । रक्षापुरुषः—रक्षकः । धृतः—नियुक्तः । तस्य —रक्षा-

---

हो गयी और वह बच्चा भी बडा ऊँट हो गया और वह रथकार भी प्रतिदिन ऊँटनी का दूध पाकर कुटुम्ब पालने लगा । रथकार ने स्नेहवश ऊँट के गले में बड़ा भारी घण्टा बाँध दिया । तब रथकार ने सोचा—अन्य कठिन काम करने से क्या लाभ ? जब कि इस एक ही ऊँटनी के पालने से मेरे कुटुम्ब का भला हो गया, तब अन्य व्यापार करने से क्या प्रयोजन ? यह सोच और घर आकर उसने अपनी पत्नी से कहा—'भद्रे ! यह व्यापार बहुत ही अच्छा है । तुम्हारी सम्मति हो तो किसी साहूकार से कुछ धन लेकर ऊँटनी के बच्चे लेने के लिए गुजरात चला जाऊँ, जब तक मैं दूसरी ऊँटनी लेकर न लौटूँ, तब तक तुम ध्यान से इसकी रक्षा करना । अनन्तर गुजरात जाकर और वहाँ से ऊँटनी लेकर लौट आया । अधिक कहने से क्या लाभ ? उसने ऐसा यत्न किया कि उसके पास ऊँट और बच्चों के झुण्ड हो गये । तब उसने ऊँटों का एक झुण्ड बनाकर एक रखवाला रख दिया । उसे वेतन रूप में वह साल में एक बच्चा देता था और प्रतिदिन दूध भी दिया करता था । इस

व्यापारं कुर्वन् सुखेन तिष्ठति।

अथ ते दासेरका अधिष्ठानोपवने आहारार्थं गच्छन्ति, कोमलवल्लीः यथेच्छया भक्षयित्वा महति सरसि पानीयं पीत्वा सायन्तनसमये मन्द मन्द लीलया गृहम् आगच्छन्ति। स च पूर्वदासेरको मदातिरेकात् पृष्ठे आगत्य मिलति। ततस्तैः कलभैः अभिहितम्—अहो! मन्दमतिः अयं दासेरको यथा यूथाद्भ्रष्टः पृष्ठे स्थित्वा घण्टां वादयन् आगच्छति, यदि कस्यापि दुष्टसत्त्वस्य मुखे पतिष्यति, तन्नूनं मृत्युम् अवाप्स्यति। अथैकदा तैः असकृदेव निषिद्धः सन् अपि स तद्वचने कर्णमदत्त्वेव मदातिरेकात् घण्टा वादयन् वनं प्रविष्टः। इत्थं तस्य तद्वनं गाहमानस्य कश्चित् सिंहः तत्रस्थः घण्टारवम् आकर्ण्य शब्दानुसारेण दृष्टिं निपात्य अवलोकयति यत् उष्ट्री-दासेरकाणां यूथं गच्छति। स पुनः प्रतिदिवसमिव पृष्ठे क्रीडां कुर्वन् चरंश्च वल्लरीः यावत् गच्छति, तावत् अन्ये दासेरकाः पानीयं पीत्वा स्वगृहे गताः। ततः स वनात् निष्क्रम्य दिशोऽवलोकयन् न कश्चित् मार्गं पश्यति वेत्ति

पुरुषस्य। वर्षं प्रति—प्रतिवर्षम्। वृत्त्या—वेतनेन। करभम्—उष्ट्रशावकम्। तस्य—रक्षापुरुषस्य। निरूपितं—व्यवस्थापितम्।

(१) अधिष्ठानोपवने नगरसमीपस्थारण्ये। आहारार्थं भक्षणार्थम्। कोमलवल्लीः—मृद्वीर्लताः। सायन्तनसमये—प्रदोषे, सायंकाले इत्यर्थः। पूर्वदासेरकः—प्रथमानीतः उष्ट्रः। मदातिरेकात्—गर्वातिशयात्, प्रभोः वल्लभतयेति भावः। पृष्ठे—पश्चात्, अन्येषामागमनानन्तरमित्यर्थः। मन्दमतिः—अल्पबुद्धिः। दुष्टसत्त्वस्य हिंस्रजन्तोः। अवाप्स्यति प्राप्स्यति। गाहमानस्य—प्रविशतः। अवलोकयति—पश्यति। क्रीडां कुर्वन्—विविधविलासं प्रदर्शयन्नित्यर्थः। चरन्—

प्रकार वह रथकार सदा ऊँटनी और उसके बच्चों का व्यापार अर्थात् दूध व बच्चे को बेचकर सुख से निवास करने लगा। वे ऊँट, अपने रहने के स्थान के समीपवर्ती वन में चरने के लिए जाया करते और कोमल लताएँ खाकर और सरोवर में पानी पीकर, सायङ्काल के समय धीरे-धीरे खेलते-कूदते घर आया करते थे। परन्तु सबसे पहला ऊँट, जवानी के गर्व से पीछे ही रह जाया करता और बाद में आकर झुण्ड में मिलता था। तब उन्होंने कहा 'यह ऊँट बड़ा ही दुर्बुद्धि है कि यूथ से पृथक् हो पीछे रहकर घण्टा बजाते हुए आता है। यदि किसी दुष्ट प्राणी की दृष्टि में पड़ गया तो निश्चय ही मारा जायेगा।' एक दिन उन उष्ट्रशिशुओं के मना करने पर भी उनकी बातों पर ध्यान न देकर वह ऊँट मदातिरेक के कारण घण्टा बजाता हुआ वन में प्रविष्ट हुआ। इस प्रकार उस वन में घूमते हुए जब वह चर रहा था तब

व्याधितेन सशोकेन चिन्ताग्रस्तेन जन्तुना।
कामार्त्तेनाथ मत्तेन दृष्टः स्वप्नो निरर्थकः॥ ११॥

एतस्मिन् अन्तरे तस्य भार्यया कश्चित् नापितः पादप्रक्षालनाय आहूतः। अत्रान्तरे च यथानिर्दिष्टः क्षपणकः सहसा प्रादुर्बभूव। अथ स तमालोक्य प्रहृष्टमना आसन्नकाष्ठदण्डेन तं शिरसि अताडयत्, सोऽपि सुवर्णमयो भूत्वा तत्क्षणात् भूमौ निपतितः।

अथ श्रेष्ठी निभृतं स्वगृहमध्ये कृत्वा नापितं सन्तोष्य प्रोवाच—'तदेतत् धनं वस्त्राणि च मया दत्तानि गृहाण। भद्र! पुनः कस्यचित् न आख्येयोऽयं वृत्तान्तः।' नापितोऽपि स्वगृहं गत्वा व्यचिन्तयत्—'नूनमेते सर्वेऽपि नग्नकाः शिरसि दण्डहताः काञ्चनमया भवन्ति। तदहमपि प्रातः प्रभूतानाहूय लगुडैः शिरसि हन्मि, येन प्रभूतं हाटकं मे भवति।' एवं

व्याधितेनेति। व्याधितेन रोगिणा, सशोकेन शोकार्त्तेन, चिन्ताग्रस्तेन भावनाऽऽकुलेन, कामार्त्तेन कामपीडितेन, अथ मत्तेन क्षीवेण, उद्भ्रान्तेन वा; जन्तुना प्राणिना, मनुष्येणेति यावत्, दृष्टः स्वप्नः निद्रावस्थायां विषयविशेषानुभूतिः, निरर्थकः निष्फलः, न सत्यो भवति इत्यर्थः॥ ११॥

(१) पादप्रक्षालनाय—पादशोधनाय, नखकर्त्तनशुष्कमांसापनोदनादिपूर्वकमलक्तकादिभिः चरणरञ्जनायेत्यर्थः। आसन्नकाष्ठदण्डेन—निकटस्थदारुखण्डेन।

(२) नग्नकाः—क्षपणकाः, विवसनबौद्धसन्न्यासिविशेषः इत्यर्थः। हाटकं—

रोगी, दुःखी, चिन्तित, कामासक्त एवं उन्मत्त पुरुष के द्वारा देखा हुआ स्वप्न निरर्थक होता है॥ ११॥

उसी समय जब मणिभद्र की स्त्री ने अपने पैरों में महावर आदि लगाने के लिए किसी नापित को बुलाया तभी स्वप्न में दिखाई पड़ने वाला बौद्ध संन्यासी वहाँ सहसा प्रकट हो गया। तब उसे देखते ही मणिभद्र ने प्रसन्न मन से समीप में रखी हुई लाठी से उसके सिर पर प्रहार कर दिया, जिससे वह क्षपणक भी तत्काल स्वर्णमय होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

फिर तो सेठ ने उस सुवर्णराशि को घर के भीतर छिपाकर नापित को द्रव्यादि से संतुष्ट करके कहा—'प्रिय! यह धन और वस्त्र तुम्हें दे रहा हूँ। इसे स्वीकार करो किन्तु किसी से भी यह घटना मत प्रकट करना। इस घटना के बाद नाऊ अपने घर जाकर विचार करने लगा। अवश्य ही ये सभी बौद्धभिक्षुगण सिर पर प्रहार करने से सुवर्ण को प्राप्त हो जाते हैं। तो मैं भी प्रातःकाल बहुत से बौद्धभिक्षुकों को बुलाकर उनके शिर पर डण्डे से प्रहार करूँगा। जिससे मुझे भी बहुत-सा सोना

एवं संस्तुत्य ततः प्रधानक्षपणकम् आसाद्य क्षितिनिहितजानुचरणः—'नमोऽस्तु, वन्दे' इति उच्चार्य लब्धधर्मवृद्ध्याशीर्वादः सुखमालिकाऽनुग्रहलब्धव्रतादेश उत्तरीयनिबद्धग्रन्थिः सप्रश्रयम् इदमाह—'भगवन् ! अद्य विहरणक्रिया समस्तमुनि समेतेन अस्मद्गृहे कर्तव्या ।' स आह—'भोः श्रावक ! धर्मज्ञोऽपि किमेवं वदसि ? किं वयं ब्राह्मणसमानाः, यत् आमन्त्रणं

मदनव्यथातः विपन्ना अस्मानिति भावः ; अतस्त्वं मिथ्याकारुणिकः कपटदयाशीलः, असि, त्वां यत् लोकाः कारुणिकं वदन्ति, तदलीकमित्यर्थः ; त्वत्तः, अत्र 'अन्यारादितरर्त्ते—' (पा० सू० २।३।२९) इत्यादिना अन्यशब्दयोगे पञ्चमी, 'पञ्चम्यास्तसिल्' (पा० सू० ५।३।७) इत्यनेन तसिल्प्रत्ययः, अन्यः निर्घृणतरः अतिनिर्दयः, पुमान् कुतः ? न कुत्राप्यस्ति इत्यर्थः, योऽस्मान् एवम्भूताः दृष्ट्वाऽपि न दयते, स अतिनिष्करुण एव इति भावः ; मारबधूभिः कामाङ्गनाभिः, सेर्ष्यम् ईर्ष्यया सह वर्त्तमानं यथा तथा इत्यर्थः, इति एवम्, अभिहितः उक्तः, बौद्धः बुद्धदेवोपासकः, जिनः तदाख्यः चतुर्विंशति सङ्ख्यकानां जिनानमेकतमः बौद्धधर्मप्रवर्त्तकः कश्चित् ; यद्वा—बौद्धः बौद्धधर्मप्रवर्त्तकः, जिनः बुद्धदेवः, युष्मान्, पातु रक्षतु, संसारादिति शेषः । 'वः' इत्यत्र 'नः' इत्यपि पाठः । रतिसदृशोभिः वरवर्णिनीभिरनिशमुपभोगार्थं स्वयं याचितोऽपि, जितेन्द्रियोऽसौ न तासां वश्योऽभूदित्यनया रीत्या केनचिदुपासकेनास्य जिनदेवस्य स्तुतिः कृता न तु निन्देति ज्ञेयम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १४ ॥

(१) वन्दे—प्रणमामि । लब्धेति । लब्धः—तस्मात् क्षपणकात् प्राप्त इत्यर्थः, धर्मवृद्धये—धर्मवृद्धिभवनार्थमित्यर्थः, आशीर्वादः—'धर्मे मतिस्ते भवतु' इत्येवमाशीर्वचनमित्यर्थः, येन तथाभूतः । सुखेति । सुखयति—सन्तर्पयति मानसं या तथाविधा, या मालिका—पुष्पदाम, तया यः अनुग्रहः—सप्रसादसमर्पणम्, तेन लब्धः प्राप्तः, व्रते—व्रतचार्यायाम्, आदेशः—आज्ञा येन तथा विधः, सयत्नं नियमं पालयितुमुपदिष्टः इत्यर्थः । उत्तरीयेति । उत्तरीये निबद्धः ग्रन्थिः येन तथोक्तः, गलाधोनिबद्धो-

ईर्ष्यापूर्वक उपालम्भ को प्राप्त करने वाले जितेन्द्रिय जिनेन्द्र अथवा भगवान् बुद्ध आप की रक्षा करें ॥ १४ ॥

जैनों की इस प्रकार स्तुति करने के उपरान्त वह नाई प्रधान मठाधीश के पास जाकर पृथ्वी पर घुटना टेक कर बैठ गया । फिर नमस्कार एवं प्रणाम कर उनसे प्रसाद एवं अनुग्रहपूर्वक माला तथा दीक्षा के व्रत विधान का उपदेश प्राप्त कर गले में उत्तरीय की ग्रन्थि लगाये हुए बड़े विनय के साथ कहा—'भगवन् आज सभी भिक्षुओं के साथ आप मेरे घर पर भोजन करने की कृपा करें ।' नापित की बात सुनकर प्रधान भिक्षु ने कहा—हे भक्त तुम तो (जैन) धर्म के जानकार हो फिर इस

करोषि ! वयं सदैव तत्कालपरिचर्यया भ्रमन्तो भक्तिभाजं श्रावकम् अवलोक्य तस्य गृहे गच्छामः; तेन कृच्छ्रादभ्यर्थिताः तद्गृहे प्राणधारण मात्राम् अशनक्रियां कुर्मः, तत् गम्यतां, नैवं भूयोऽपि वाच्यम्।' तत् श्रुत्वा नापितः—'भगवन् ! वेद्मि अहं युष्मद्धर्मम्, परं भवतो बहुश्रावका आह्वयन्ति, साम्प्रतं पुनः पुस्तकाच्छादनयोग्यानि कर्पटानि बहुमूल्यानि प्रगुणीकृतानि, तथापुस्तकानां लेखनाय लेखकानाञ्च वित्तं सञ्चितम् आस्ते, तत् सर्वथा कालोचितं कार्य्यम्' इत्युक्त्वा स्वगृहं गतः। तत्र च गत्वा खादिरः

त्तरीयैकदेश इति भावः, बौद्धानां तादृशाचारवत्त्वात्। सप्रश्रयं—सविनयम्। विहरणक्रिया—भिक्षापर्यटनव्यापार इत्यर्थः। श्रावक !—धर्मभ्रातः ! आमन्त्रणम्—आह्वानम्। तत्कालेति। तत्काले—उपयुक्तकाले, या परिचर्या—सेवा, उपासनम् इति यावत्, तया, परिपूर्वकाच्चरधातोः 'परिचर्यापरिसर्तामृगयाऽटाट्यामुपसङ्ख्यानम्' इति वार्त्तिकसूत्रेण यक्प्रत्यये निपातनात् सिद्धम्। 'वरिवस्या तु शुश्रूषा परिचर्याऽप्युपासनम्' इत्यमरः। भ्रमयन्तः - पर्यटन्तः। भक्तिभाजं—भक्तम्। श्रावकं—कमपि शिष्यम् इत्यर्थः। कृच्छ्रात्—क्लेशात्, अतियत्नादित्यर्थः। अभ्यर्थिताः—प्रार्थिताः। प्राणधारणमात्रां - केवलं यया मात्रया प्राणा रक्ष्यन्ते तदुपयोगिनीमिति भावः। अशनक्रियाम्—आहारम्। भवतः - युष्मानित्यर्थः। पुस्तकाच्छादनयोग्यानि—पुस्तकबन्धनोपयुक्तानि। कर्पटानि—नक्तकाः, जीर्णवस्त्राणीत्यर्थः, 'समौ नक्तककर्पटौ' इत्यमरवचनात् 'टोपधः' (लिङ्गानु० ३०) इत्यनेन च कर्पटशब्दस्य पुंसि व्यवस्थितेः पुंलिङ्गप्रयोगस्यौचित्येऽपि 'कुटकूटकपटकपाटकर्पटनटनिकटकीटकटानि नपुंसके च' (लिङ्गानु० ३२) इत्यनेन पुनः पुंनपुंसकयोर्विधानात् नपुंसकत्वं समीचीनमित्यवगन्तव्यम्। प्रगुणीकृतानि—बहुलीकृतानि इत्यर्थः मद्गृहे सन्तीति

प्रकार की बात क्यों करते हो ? क्या हम लोग ब्राह्मणों के समान हैं जो निमन्त्रण दे रहे हो ? हम लोग भोजन का समय हो जाने पर भिक्षा ग्रहण की इच्छा से घूमते हुए किसी भक्त गृहस्थ को देख कर उसके घर चले जाते हैं और उसके बहुत आग्रह करने पर जिससे जीवन की क्रिया चलती रहे उतना ही भोजन करते हैं। इसलिए तुम यहाँ से लौट जाओ। भविष्य में ऐसा फिर कभी मत कहना। मठाधीश की बात सुन कर नाई ने कहा—भगवन् ! मैं आपके धर्मनियमों से भलीभाँति परिचित हूँ। आप लोगों को बहुत-से गृहस्थ भक्त बुलाते रहते हैं। इस समय मैंने पुस्तकों को बाँधने के लिए बहूमूल्य वेष्टन वस्त्र एकत्रित किया है, इतना ही नहीं पुस्तकों को लिखने वाले लेखकों के लिए पारिश्रमिक रूप से दिये जाने वाले द्रव्य भी सञ्चित किये हैं। इसलिए मेरी प्रार्थना है कि समय के अनुसार कार्य कीजिये।

मयं लगुडं सज्जीकृत्य कपाटयुगलं द्वारे समाधाय सार्द्धप्रहरैकसमये भूयोऽपि बिहारद्वारम् आश्रित्य सर्वान् क्रमेण निष्क्रामतो गुरुप्रार्थनया स्वगृहम् आनयत्। तेऽपि सर्वे कर्पटवित्तलोभेन भक्तियुक्तानपि परिचितश्रावकान् परित्यज्य प्रहृष्टमनसस्तस्य पृष्ठतो ययुः। अथवा साधु इदमुच्यते—

एकाकी गृहसन्त्यक्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
सोऽपि संवाह्यते लोके तृष्णया पश्य कौतुकम्॥ १५॥

शेषः। वित्तं—वेतनस्वरूपं धनम् इत्यर्थः। कालेति। कालोचितं—समयानुरूपं, भवादृशाः विद्वांसः सर्वदा ग्रन्थरचनायां नियुक्ताः तिष्ठन्ति, न तु रचितग्रन्थानां लेखनाय अवकाशं लभन्ते, अतः लेखकेभ्यो धनं दत्वा लेखयितुमर्हन्ति; तत्कार्यसम्पादनार्थं प्रचुरधनानां, लिखितग्रन्थानां सुष्ठु रक्षणाय उपयुक्तवस्त्राणाञ्च अत एव प्रयोजनमास्ते, मया तु तत् सङ्गृहीतम्, एवञ्च तद्ग्रहणाय गमनं न दोषावहमित्याशयः। खादिरमयं खदिरस्य विकारः इत्यर्थे खदिशब्दात् 'पलाशादिभ्यो वा' (पा० सू० ४।३।१४१) इति अञ् प्रत्ययः, 'पालाशं खादिरम्' इति काशिका; ततश्च 'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः' (पा० सू० ४।३।१४४) इति खादिरशब्दात् मयट्प्रत्ययः, खदिरदारुमयम्; अतिकठिनत्वात् प्रहारमात्रेण विनाशकरणयोग्यमिति भावः। सज्जीकृत्य सङ्गृह्य, स्वकार्यानुकूलं कृत्वा इत्यर्थः। निष्क्रामतः—आश्रमात् निर्गच्छतः। गुरुप्रार्थनया—महत्या प्रार्थनया, अत्याग्रहेण इत्यर्थः।

एकाकीति। यः एकाकी द्वितीयसहायहीनः, विरागीत्यर्थः, गृहसन्त्यक्तः गृहशून्यः, पाणिपात्रः पाणिरेव पात्रं यस्य सः, करपात्रसहाय इत्यर्थः, करपात्रे भोजनशील इति भावः; दिगम्बरः दिगेव अम्बरं वस्त्रं यस्य सः, नग्नः इत्यर्थः, सोऽपि लोके संसारे, तृष्णया धनलोभेन, संवाह्यते नीयते, कौतुकम् आश्चर्यं, पश्य; सर्वत्यागिनां

ऐसा निवेदन कर नाई अपने घर चला आया और खैर के लकड़ी का एक डंडा बनाकर रख दिया। फिर दोनों किवाड़ों को सावधानी से बन्द कर दिया। डेढ़ पहर दिन चले जाने के बाद वह पुनः जैन साधुओं के आश्रम के दरवाजे पर जाकर खड़ा हो गया और भिक्षा के निमित्त बाहर निकलते हुए उन जैन साधुओं को बड़े आग्रह से अपने घर चलने की प्रार्थना करने लगा। वे जैन भिक्षु भी वस्त्र एवं द्रव्य के लोभ से अपने परिचित गृहस्थ भक्तों के यहाँ न जाकर नाई के पीछे-पीछे उसके घर की ओर चले। अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

अकेला रहने वाला, घर को छोड़ कर विरक्त हुआ, मायारहित और प्राणिमात्र से भोजनादि क्रिया का निर्वाह करने वाला त्यागी व्यक्ति भी तृष्णा के द्वारा वश में कर लिया जाता है। लोभ के इस महान् कौतुक को देखो॥ १५॥

जीर्य्यन्ते जीर्य्यतः केशा दन्ता जीर्य्यन्ति जीर्य्यतः ।
चक्षुःश्रोत्रे च जीर्य्येते तृष्णैका तरुणायते ॥ १६ ॥

ततः परं गृहमध्ये तान् प्रवेश्य द्वारं निभृतं विधाय लगुडप्रहारैः शिरसि अताडयत् । तेऽपि ताडयमाना एके मृताः, अन्ये भिन्नमस्तकाः फूत्कर्त्तुम् उपचक्रमिरे । अत्रान्तरे तम् आक्रन्दम् आकर्ण्य कोटरक्षपालेन अभिहितम्—'भो भोः ! किमयं महान् कोलाहलो नगरमध्ये ? तत् गम्यताम् ! गम्यताम् !' तैश्च सर्वैः तदादेशकारिभिः तत्सह वेगात् तद्गृहं गत्वा तावत् रुधिरप्लावितदेहाः पलायमानाः नग्नका दृष्टाः । ततः तैः सनापितो बद्धः

दिगम्बराणामपि धनतृष्णा न अपैति, इत्यहो ! धनमाहात्म्यम् !! इति भावः ॥ १५ ॥

जीर्यन्ते इति । जीर्यतः वृद्धस्य केशाः जीर्यन्ते परिणमन्ति, दैवादिकस्य जॄधातोः परस्मैपदित्वेऽपि विवक्षावशादात्मनेपदमवधेयम्, पक्वाः सन्तः शीर्णतां व्रजन्तीति भावः; तथा जीर्यतः जनस्य दन्ताः जीर्यन्ति शिथिलीभवन्ति इत्यर्थः, स्वस्थानात् पतन्तीति वा ; चक्षु-श्रोत्रे च दर्शनेन्द्रियं श्रवणेन्द्रिश्च इत्यर्थः, जीर्येते निस्तेजसी भवतः इत्यर्थः, सर्वाण्येव जीर्णानि भवन्तीति भावः; एका केवला, तृष्णा लालसा, तरुणायते नवीभवतीत्यर्थः ; तरुण इव आचरति इत्यर्थे 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च' (पा० सू० ३।१।११) इति क्यङि लटि रूपं, तृष्णा न जीर्यतीति भावः ॥ १६ ॥

(१) फूत्कर्त्तुं—फूदित्यव्यक्तशब्दं कृत्वा क्रन्दितुं, चीत्कर्त्तुमिति वा । उपचक्रमिरे—आरेभिरे, 'प्रीपाभ्यां समर्थाभ्यां' (पा० सू० १।३।४२) इति आत्मनेपदम् । आक्रन्दनं—क्रन्दनं चीत्कारपूर्वकमाह्वानं वा, 'आक्रन्दः क्रन्दने ह्वाने मित्रदारुणयुद्धयोः' इति मेदिनी । कोटरक्षपालेन—दुर्गरक्षकप्रधानेन, प्रधानेन नगररक्षिणा इत्यर्थः । भो भोः ! इति अधीनरक्षिपुरुषाणामामन्त्रणपदम् । नग्नकाः—क्षपणकाः, 'नग्नो

वृद्ध हो जाने पर मनुष्य के केश पक जाते हैं, दाँत टूट जाते हैं या शिथिल होकर हिलने लगते हैं, नेत्रों के देखने की शक्ति कम हो जाती है और कान बहरे हो जाते हैं किन्तु तृष्णा अनुदिन युवावस्था को प्राप्त होती रहती है ॥ १६ ॥

तदुपरान्त नाई ने उन सभी जैन भिक्षुओं के घर के भीतर प्रवेश कर लेने पर चुपचाप गुप्तरूप से दरवाजे को दोनों किवाड़ों से अच्छी तरह बन्द कर दिया । तदनन्तर लाठी से उनके शिर पर प्रहार करने लगा, जिससे कुछ तो मर गये, और शेष शिर पर घाव लगने के कारण हाहाकार करते हुए रोने लगे । इसी बीच कोतवाल ने करुणता से कराहते हुए कोलाहल को सुनकर अपने सिपाहियों से कहा—'हे सिपाहियों ! नगर के बीच में ऐसा कोलाहल क्यों हो रहा है ? तुम लोग शीघ्र जाओ और इस कोलाहल का पता लगाओ ।' कोतवाल के अधीन रहने वाले सभी सिपाहियों

हतशेषैः सह धर्माधिष्ठानं नीतश्च। तैः नापितः पृष्टः—'भोः किमेतत् भवता कुकृत्यम् अनुष्ठितम् ?' स च—'किं करोमि ? मया श्रेष्ठिमणिभद्रगृहे दृष्ट एवंविधो व्यतिकरः' इत्युक्त्वा सर्वं मणिभद्रवृत्तान्तं यथादृष्टम् अकथयत्। श्रुत्वा च तद्वचनं ते श्रेष्ठिनम् आहूय भणितवन्तः—'भोः श्रेष्ठिन् ! किं त्वया कश्चित् क्षपणको व्यापादितः ?' ततः तेनापि सर्वः क्षपणकवृत्तान्तः तेषां निवेदितः। अथ तैः अभिहितम्—'अहो ! शूलम् आरोप्यताम् असौ दुष्टात्मा कुपरीक्षितकारी नापितः।' तथा अनुष्ठिते तैः अभिहितम्—

कुदृष्टं कुपरिज्ञातं कुश्रुतं कुपरीक्षितम्।
तन्नरेण न कर्त्तव्यं नापितेनात्र यत् कृतम् ॥ १७ ॥

बन्दिक्षपणयोः पुंसि त्रिषु विवाससि' इति मेदिनी। तैः—धर्माधिष्ठानस्थैः। व्यतिकरः—व्यसनं, विपज्जनकं दुर्घटनमित्यर्थः, 'अथ व्यतिकरः पुंसि व्यसनव्यतिषङ्गयोः' इति मेदिनी। तेषां—धर्मनिष्ठानस्थानां, धर्माधिकरणिकेभ्य इत्यर्थः, सम्बन्धविवक्षया षष्ठी।

कुदृष्टमिति। अत्र संसारे, नापितेन केनचित् क्षुरकर्मिणा, कुदृष्टं सम्यग्दृष्टं ; परिज्ञातम् अज्ञातगूढवृत्तान्तं कुश्रुतं सम्यक्तया अनाकर्णितं, अनधिगताभिप्रायमित्यर्थः,

---

ने कोतवाल के साथ तत्काल ही घटनास्थल पर वेग से जाकर देखा कि खून से लथपथ जैन भिक्षुक इधर-उधर भागे जा रहे हैं। उन्हें भागते हुए देखकर कोतवाल ने उनसे पूछा—'अरे यह क्या हो गया ?' तब उन क्षपणकों ने नापित के द्वारा की गई सारी घटना का वर्णन कर दिया। तदनन्तर उन सिपाहियों ने उस नाई को बाँधकर बचे हुए क्षपणकों के साथ उसे न्यायालय में उपस्थित कर दिया। तब न्यायधीश ने उससे पूछा—'अरे तुमने ऐसा कुकृत्य क्यों किया ?' तब नाई ने कहा—'श्रीमन् मैं क्या करूँ ? मैंने मणिभद्र सेठ के घर इस प्रकार का जघन्य कृत्य देखा था'। तदनन्तर उसने मणिभद्र के घर देखी हुई सारी घटना सुना दी। इस घटना को सुनकर न्यायाधीश ने मणिभद्र को बुलाकर पूछा—'सेठ जो क्या तुमने किसी क्षपणक की हत्या की है ?' तदनन्तर मणिभद्र ने स्वप्न में दिखाई देने वाले उस क्षपणक का सारा वृत्तान्त सुना दिया। इस प्रकार सारी घटना सुन लेने के पश्चात् न्यायाधीश ने निर्णय दिया कि इस दुर्जन और असमीक्ष्यकारी नापित को शूली पर चढ़ा दो। अतः कहा गया है कि—

इस लोक में भली प्रकार बिना देखे, अच्छी प्रकार बिना सुने, तथा ठीक-ठीक बिना जाने, एवं भलीभाँति बिना परीक्षा किये हुए नाई ने जिस प्रकार किया था

अथवा साधु इदमुच्यते—

अपरीक्ष्य न कर्त्तव्यं कर्त्तव्यं सुपरीक्षितम् ।
पश्चाद्भवति सन्तापो ब्राह्मण्या नकुलार्थतः ॥ १८ ॥

मणिभद्र आह—'कथमेतत् ?' ते धर्माधिकारिणः प्रोचुः—

१ : ब्राह्मणी-नकुलस्य-कथा

कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने देवशर्मा नाम ब्राह्मणः प्रतिवसति स्म । तस्य भार्या सुतम् अजनयत्; तस्मिन् एव दिने काचित् नकुली तत्रैव नकुलमेकं प्रसूय मृता । अथ सा सुतवत्सला दारकवत् तमपि नकुलं स्तन्यदानाभ्यङ्ग-

---

कुपरीक्षितं धीरतया सम्यगविवेचितम्, असमीक्षितम्, इत्यर्थः, यत् कर्म, कृतं नरेण तत् तथाविधं कर्म, न कर्त्तव्यम् ॥ १७ ॥

अपरीक्ष्येति । अपरीक्ष्य परीक्षामकृत्वा, न कर्त्तव्यं, किमपि कार्यमिति शेषः, सुपरीक्षितं सुष्ठु विवेचितमित्यर्थः, कार्यमिति शेषः, कर्त्तव्यं करणीयम् । परीक्षण-मन्तरेण कार्यकरणे दृष्टान्तेन दोषमुपदर्शयति । पश्चादिति । ब्राह्मण्या नकुलार्थतः नकुलनिमित्तं, नकुलात् यथेति पाठान्तरम्, अर्थश्च सुगमः, पश्चात् चरमे इत्यर्थः, सम्यग्परीक्ष्य कार्यकरणानन्तरमिति यावत्, अपरशब्दात् 'पश्चात्' (पा० सू० ५।३।३२) इत्यनेन आतिप्रत्ययः पश्चभावश्च निपात्यते । 'पश्चात् प्रतीच्यां चरमेऽ-प्यधिकारेऽपि दृश्यते' इति मेदिनी सन्तापः अनुतापः, भवति जायते ; यतो ब्राह्मण्या अपरीक्ष्य कार्यकरणे केवलमनुताप एव फलमनुभूतम्, अतः केषामपि तन्न विधेय-मिति निष्कर्षः ॥ १८ ॥

[१]

(१) दारकवत्—बालकवत्, स्वपुत्रवदित्यर्थः, 'दारकौ बालभेदकौ' इत्यमरः ।

मनुष्य को वैसा कार्य नहीं करना चाहिए ॥

(मनुष्य को) भलीभाँति बिना परीक्षा किये किसी भी कार्य को नहीं करना चाहिए । किन्तु अच्छी तरह समझ—बूझकर ही किसी कार्य को करना चाहिए । अन्यथा बिना समझे बूझे किसी कार्य को कर लेने पर उसे उसी प्रकार का सन्ताप होता है जैसे किसी ब्राह्मणी को किसी नेवले के लिए सन्ताप हुआ था ॥ १७ ॥

मणिभद्र ने पूछा 'वह कैसे' ?

ब्राह्मणी और नेवले की कथा

किसी नगर में देवशर्मा नामक एक ब्राह्मण रहता था, उसकी गर्भिणी स्त्री को एक पुत्र उत्पन्न हुआ । दैवयोग से उसी दिन एक नेवली भी पुत्र उत्पन्न करके मर

मर्दनादिभिः पुपोष, परं तस्य न विश्वसिति; अपत्यस्नेहस्य सर्वस्नेहातिरिक्ततया सततम् एवमाशङ्कते यत्—'कदाचित् एष स्वजातिदोषवशात् प्रियस्य स्वदारकस्य विरुद्धम् आचरिष्यति। इति। उक्तञ्च—

कुपुत्रोऽपि भवेत् पुंसां हृदयानन्दकारकः।
दुर्विनीतः कुरूपोऽपि मूर्खोऽपि व्यसनी खलः॥ १९॥
एवञ्च भाषते लोकश्चन्दनं किल शीतलम्।
पुत्रगात्रस्य संस्पर्शश्चन्दनादतिरिच्यते॥ २०॥

स्तन्येति। स्तन्यं—स्तनदुग्धं स्तनादुत्पन्नमिति स्तनशब्दात्' 'शरीरावयवात् यत्' (पा० सू० ५।१।६) इति यत्, तस्य दानं, तथा अभ्यङ्गः—गात्रेषु तैलादिम्रक्षणं मर्दनं—हस्तपादादीनां संवाहनं, तदादिभिः—तत्प्रभृतिः; यद्वा—अभ्यज्यते अनेन इति अभ्यङ्गः—तैलादिस्नेहः तस्य मर्दनादिभिः।

कुपुत्र इति। दुर्विनीतः नितरामविनीत इत्यर्थः, कुरूपोऽपि कुत्सिताकारोऽपि, मूर्खोऽपि, व्यसनी द्यूताद्यासक्तः, खलो दुर्जनः, ईदृशः कुपुत्रोऽपि दुष्टः पुत्रोऽपि, पुंसां हृदयानन्दकारकः चित्तप्रीतिजनकः भवेत्; अपत्यस्नेहस्य सर्वस्नेहोत्कर्षवत्त्वेन सर्वेषामेव दोषाणां विस्मारकत्वादिति भावः। पुत्रो यादृश एव भवतु, तस्य अनिष्टशङ्कया चित्तं सदैव उद्विजते पित्रोः इति तात्पर्यम्॥ १९॥

अपत्यस्नेहस्योत्कर्षं दर्शयितुमाह—एवमिति। लोकः, चन्दनं शीतलं किल, एवञ्च भाषते कथयति, किन्तु पुत्रगात्रस्य संस्पर्शः चन्दनात् चन्दनलेपनादपि, अति-

---

गई। तदनन्तर पुत्र पर अनुराग करने वाली ब्राह्मणी ने उसको भी पुत्र के समान दूध पिला कर उबटन तथा तेल आदि पदार्थों से मालिश कर पालन-पोषण किया। इतना करने पर भी वह कभी उस नेवले का विश्वास नहीं करती थी। अपने पुत्र का स्नेह सभी स्नेहों से बढ़ कर होता है। इसलिए वह सदैव डरती रहती थी कि कहीं यह नेवला अपने जातिगत दोषों के कारण मेरे पुत्र का कोई अनिष्ट न कर बैठे। कहा भी गया है—

अपना पुत्र चाहे कितना ही उद्दण्ड, कुरूप; मूर्ख, व्यसनयुक्त तथा अवगुणों से युक्त क्यों न हो? किन्तु वह अपने माता-पिता के हृदय को आनन्द देने वाला ही होता है॥ १८॥

'चन्दन सर्वाधिक शान्तिप्रद होता है' ऐसा लोगों का कहना है। किन्तु मेरे विचार से पुत्र के शरीर का स्पर्श चन्दन से भी अधिक शान्तिप्रद होता है॥ १९॥

लोग मित्रता, पिता, हितकारी एवं वृत्तिदाता के स्नेह-बन्धन का उतना आदर नहीं करते, जितना पुत्र के स्नेहबन्धन का आदर करते है॥ २०॥

सौहृदस्य न वाच्छन्ति जनकस्य हितस्य च।
लोकाः प्रपालकस्यापि यथा पुत्रस्य बन्धनम् ॥ २१ ॥

अथ सा कदाचित् शय्यायां पुत्रं शाययित्वा जलकुम्भम् आदाय पतिमुवाच—'ब्राह्मण ! जलार्थम् अहं तडागे यामि, त्वया पुत्रोऽयं रक्षणीयः।" अथ तस्यां गतायां ब्राह्मणोऽपि 'कश्चित् महात्मा दरिद्रेभ्यः बहुधन वितरति' इति परम्परया श्रुतां वार्त्तामनुस्मृत्य अतिदरिद्रतया तमुद्देशं गन्तुमिच्छन्, विलम्बे गमनञ्च धनप्राप्तिप्रतिकूलं तर्कयन्, चिरं सुतनिर्विशेषलालितं नकुलं बालकरक्षणाय नियुज्य, प्रतिग्रहार्थं निर्गतः। अत्रान्तरे दैववशात् कृष्णसर्पो बिलात् निष्क्रान्तः, नकुलोऽपि तं स्वभाववैरिणं मत्वा

रिच्यते अतिरिक्तः शीतलो भवति इत्यर्थः ; 'आत्मा वै पुत्रनामासि' (कौषी० उप० २।११) इत्यादिना पुत्रस्य आत्माभिन्नत्वश्रुतेः; तत्र आत्मनीव स्नेहप्राचुर्योदयात् लोकः तथा मन्यते इति भावः ॥ २० ॥

सौहृदस्येति। लोकाः मानवाः, सौहृदस्य मैत्र्यस्य, सुहृदयशब्दात् युवादिपाठादणिकृते उभयवृद्धौ सत्यां हृदयस्य हृदादेशे च सौहार्दमित्येव भवति, सौहृदमिति तु 'सौहृददौर्हृदशब्दावणि हृद्भावात्' (५ म अधि० २ अध्या० ८४ सू०) इति वामन सूत्रात् सिद्धम्; जनकस्य पितुः, 'तातस्तु जनकः पिता' इत्यमरः; हितस्य यस्य कस्यचिदपि हितकारकस्य इत्यर्थः, तथा प्रपालकस्य प्रकर्षेण पालयितुरपि, तथा बन्धनं स्नेहपाशेन संयमनम्, अधीनतामित्यर्थः, बध्यते इति भावे ल्युट्; न वाच्छन्ति नाभिलषन्ति, यथा पुत्रस्य; पुत्रस्येति कर्त्तरि षष्ठी; बन्धनम् आत्मनः पुत्रस्नेहरूपपाशेन दृढतरं नियमनं, स्नेहपरवशतामित्यर्थः वाञ्छन्ति ; पुत्रस्य स्नेहबन्धनं सर्वबन्धनात् दुश्छेद्यमिति भावः ॥ २१ ॥

(१) प्रतिग्रहार्थं—द्विजेभ्यः यथाविधि दत्तधनस्वीकरणार्थं, 'प्रतिग्रहः स्वीकरणे सैन्यपृष्ठे पतद्ग्रहे। द्विजेभ्यो विधिवद्देये तद्ग्रहे च ग्रहान्तरे॥" इति मेदिनी।

इसके अनन्तर उस ब्राह्मणी ने किसी दिन अपने पुत्र को शय्या पर सुला कर जलकलश हाथ में ले अपने पति से कहा—'ब्राह्मण ! मैं जल भरने के लिए सरोवर जा रही हूँ। तुम इस पुत्र की नेवले से रक्षा करना। फिर जब वह सरोवर चली गयी तो उसके पश्चात् ही वह ब्राह्मण भी सोचने लगा कि 'कोई महात्मा दरिद्रों को बहुत धन बाँट रहा है'—ऐसा कर्ण परम्परा से हमने सुना है। अतः अत्यन्त दरिद्र मुझे वहाँ जाना चाहिए। यदि देर में गया तो धन नहीं मिलेगा। तब तक लड़के के रक्षा के लिए मान्य इस सुत नकुल को नियोजित करके वह ब्राह्मण भी घर को सूना छोड़ कर भिक्षा के लिए कहीं चला गया। इसी समय दुर्भाग्य से एक

भ्रातुः रक्षणार्थं सर्पेण सह युद्ध्वा तं खण्डशः कृतवान्। ततोऽसौ रुधिराप्लावितवदनः सानन्दं स्वव्यापारप्रकाशनार्थं मातुः सम्मुखे गतः। माताऽपि तं रुधिरक्लिन्नमुखम् अवलोक्य—'अनेन दुरात्मना मे दारको भक्षितः' इति शङ्कितचित्ता कोपात् तस्योपरि तं जलकुम्भं निक्षिप्य व्यापादितवती। ततः सम्भावितपुत्रवधशोकेन भूयोभूयः आत्मशिरो वक्षःस्थलञ्च ताडयितुम् आरब्धा।

एवं सा नकुलं व्यापाद्य यावत् प्रलपन्ती द्रुतं आगच्छति, तावत् गृहीतनिर्वापं समायान्तं ब्राह्मणं समीक्ष्य शोकसन्तप्तहृदया पुत्रस्य नकुलस्य च वार्त्तां सर्वामेव अवर्णयत्, किञ्चिद्दूरे व्यापाद्यमानं नकुलञ्चादर्शयत्। ज्ञात्वैतत् ब्राह्मणोऽपि तया सह विलपन् गृहाभ्यन्तरमागत्य तत्र च सुतः तथैव सुप्तः तिष्ठतीति, पार्श्वे च कृष्णसर्पं खण्डशः कृतम् अवलोक्य,

---

विलात्—तत्रत्यात् गर्त्तात्। स्वभाववैरिणम्—आजन्मशत्रुम्। भ्रातुः—ब्राह्मणशिशोः; एकमातुः स्तन्यपानादिना उभयोरेव शरीरस्य विवर्द्धितत्वात् परस्परं भ्रातृत्वं वेदितव्यम्। स्वेति। स्वस्य—आत्मनः, व्यापारस्य—कृष्णसर्पेण सह सङ्ग्रामं कृत्वा तं निहत्य च भ्रातुः प्राणरक्षणरूपस्य इत्यर्थः, प्रकाशनार्थं—ज्ञापनार्थम्। मातुः—ब्राह्मण्या इत्यर्थः। सम्भावितपुत्रवधशोकेन—आशङ्किततनयविनाशदुःखेन। भूयोभूयः—पुनः पुनः।

(२) गृहीतनिर्वापं—गृहीतः, स्वीकृतः, निर्वापः—निर्वपणं, दानमित्यर्थः, 'त्यागो विहापितं दानमुत्सर्जनविसर्जने। प्रादेशनं निर्वपणम्' इत्यमरः। येन तथा-

---

काला साँप बिल से निकला। इधर नेवला भी उसे अपना स्वाभाविक शत्रु समझ कर ब्राह्मण पुत्र की रक्षा के निमित्त उस सर्प से लड़कर उसको टुकड़े-टुकड़े कर दिया। तदनन्तर ब्राह्मणी जब जल का घड़ा लेकर घर की ओर लौटी तो नेवला भी आनन्द से अपनी बहादुरी प्रगट करने के लिए उसी प्रकार खून से लथ-पथ मुख से ब्राह्मणी के पास पहुँचा। ब्राह्मणी भी खून से लथपथ मुख वाले उस नेवले को देखकर सशङ्कित हो विचार करने लगी कि निश्चय ही इस दुष्ट नेवले ने मेरे पुत्र को मार कर खा लिया। फिर तो क्रोधातुर हो उस ब्राह्मणी ने जल के उस घड़े को नेवले के ऊपर पटक दिया और नेवला मर गया।

इस प्रकार वह ब्राह्मणी उस नेवले को मार कर रोती हुई जब घर को लौटी तो उसने अपने पुत्र को उसी शय्या पर पूर्ववत् सोते हुए देखा, फिर उसके खाट के समीप ही खण्ड-खण्ड किये गये काले साँप को देख कर नेवले के बध के दुःख से अपना सिर एवं वक्षःस्थल पीटने लगी। इसी बीच वह ब्राह्मण भी भिक्षा लेकर जब वहाँ लौटा

सन्त्यज्य गच्छति विदेशमभीष्टलोकं
चिन्ताकुलीकृतमतिः पुरुषोऽत्र लोके ॥ २७ ॥

एवं क्रमेण गच्छन्तः अवन्ती प्राप्ताः। तत्र सिप्रा जले कृतस्नाना महाकालं प्रणम्य यावत् निर्गच्छन्ति, तावत् भैरवानन्दो नाम योगी सम्मुखो बभूव। ततस्तं ब्राह्मणोचितविधिना सम्भाव्य तेनैव सह तस्य मठं जग्मुः। अथ तेन ते पृष्टाः—'कुतो भवन्तः समायाताः? क्व यास्यथ? किं प्रयोजनम्? ततः तैः अभिहितं—'वयं सिद्धियात्रिकाः, तत्र यास्यामः, यत्र धनाप्तिः, मृत्युर्वा भविष्यति, इत्येव अस्माकं निश्चयः। उक्तञ्च—

दुष्प्राप्याणि बहूनि च लभ्यन्ते वाञ्छितानि द्रविणानि।
अवसरतुलिताभिरलं तनुभिः साहसिकपुरुषाणाम् ॥२८॥

दिकं ददातीति भावः, बन्धुवर्गं, ज्ञातिसमूहं, सुहृत्समूहं वा, मुञ्चति त्यजति, तथा जननीं मातरं, जन्मभूमिमपि स्वदेशमपि, विहाय त्यक्त्वा, अभीष्टलोकं वाञ्छितजनं प्रियजनमित्यर्थः, सन्त्यज्य उत्सृज्य च, शीघ्रं विदेशं गच्छति। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २० ॥

(१) अवन्तीं—तदाख्यां नगरीम्। शिप्राजले—शिप्रा नाम तत्रत्या नदी, तस्या जले। 'सिप्रा' इत्यपि। महाकालं—तदाख्यं तत्रत्यशिवमूर्तिभेदम् इत्यर्थः। सम्भाव्य —समादृत्य, पूजयित्वा इत्यर्थः। मठम्—आश्रमम्। सिद्धीति। सिद्धये—कार्य्यसिद्धिनिमित्तं, यात्रा—गमनं प्रयोजनमेषां तादृशाः, इति ठक्। धनाप्तिः—धनार्जनम्। निश्चयः, दृढ़प्रतिज्ञा।

दुष्प्राप्याणीति। साहसिकपुरुषाणाम् अध्यवसायिनां नराणाम् अवसरे यथासमये,

सत्य छोड़ देते हैं, बन्धु-बान्धवों को छोड़ देते हैं और जननी और जन्मभूमि का परित्याग कर अभीष्ट स्थानों को छोड़ विवश हो परदेश चले जाते हैं ॥ २७ ॥

इस प्रकार क्रम से एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हुए वे उज्जयिनी पहुँच गये। वहाँ शिप्रानदी के जल में स्नान करने के अनन्तर ज्योंही महाकाल को प्रणाम कर मन्दिर से बाहर निकले, उसी समय भैरवानन्द नामक योगी उनके सामने आ पहुँचे। तदनन्तर ब्राह्मणोचित विधि से उन्हें प्रणामादि क्रिया से सन्तुष्ट कर वे चारों उन्हीं के साथ मठ तक चले गये। तब भैरवानन्द ने उनसे पूछा—'आप लोग कहाँ से आ रहे हैं? कहाँ जायँगे? और क्या प्रयोजन है?' तब उन लोगों ने कहा—'हम लोग सिद्धि (धन) की कामना से यात्रा कर रहे है। हम वहाँ जायँगे जहाँ या तो धन प्राप्त होगा अथवा हम लोगों का मरण हो जायगा। यही हम लोगों का दृढ़ निश्चय है' क्योंकि कहा भी गया है—

साहस करने वाले उद्योगी पुरुष अवसर पर अपने समर्थ शरीर को बाजी लगा

पतति कदाचिन्नभसः खाते पातालतोऽपि जलमेति ।
दैवमचिन्त्यं बलवद्बलवान् ननु पुरुषकारोऽपि ॥२९॥
अभिमतसिद्धिरशेषा भवति हि पुरुषस्य पुरुषकारेण ।
दैवमिति यदपि कथयसि पुरुषगुणः सोऽप्यदृष्टाख्यः ॥३०॥

साहसप्रदर्शनोपयुक्तकाले इत्यर्थः, तुलिताभिः, सदृशकृताभिः कृततुलनाभिरित्यर्थः, ईदृशो मे तनुः, कथमहमीदृशं कर्म कर्त्तुं न शक्नोमि ? इत्येवं विविच्य चेष्टिताभिः इति यावत्, तनुभिः शरीरैः, दुष्प्राप्याणि दुर्लभानि, बहूनि वाञ्छितानि च द्रविणानि धनानि, अलं यथेष्टं, लभ्यन्ते । आर्य्या वृत्तम् ॥ २८ ॥

पततीति । नभसः आकाशात्, कदाचित् न तु सर्वदा इति भावः, जलं पतति, दैवानुकम्पयेति भावः, खाते पुष्करिण्यादौ, पातालतः पातालात्, भूगर्भादित्यर्थः, अपि, जलमित्यनुषङ्गः, एति उत्तिष्ठति इत्यर्थः, खननादिरूपपौरुषेणेति भावः, दैवम् अचिन्त्यम् अभावनीयं, दर्शनायोग्यतयेति भावः, अत एव बलवत्; पुरुषकारः अपि पौरुषमपि, बलवान् ननु बलवान् एव । दैवस्य पुरुषकारसाध्यत्वेन 'एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति' इति स्मरणादिति भावः । नभोदेशात् जलवर्षणस्य दैवाधीनतया अनिश्चितत्वं, किन्तु पुरुषप्रयत्नरूपवरुणमन्त्रजपादिना च तत् शीघ्रमपि सिध्यति, किञ्च खननादिपुरुषव्यापारमात्रसाध्ये पुष्करिण्यादौ दैवाऽऽनुकूल्यं विनैव पातालादपि जलमुत्तिष्ठति, अतो दैवस्य बलवत्त्वेऽपि पुरुषकारस्यापि बलवत्त्वमिति निष्कर्षः । आर्या वृत्तम् ॥ २९ ॥

अभिमतेति । पुरुषकारेण हि पुरुषप्रयत्नेनैव, पुरुषस्य अशेषा निखिला, अभिमतसिद्धिः इष्टलाभः भवति, यदपि यत्तु दैवमिति कथयसि, सोऽपि अदृष्टाऽऽख्यः अदृष्टापरनामा, पुरुषस्य गुणः; प्राक्तनं सुकृतं दुष्कृतं हि अदृष्टं, तच्च पुरुषप्रयत्नसाध्यमिति तस्य पुरुषगुणत्वमिति भावः । आर्य्या वृत्तम् ॥ ३० ॥

कर उससे अनेक दुर्लभ वस्तुएँ तथा मनोवाञ्छित धन प्राप्त कर लेते हैं ॥२८॥

कभी वर्षाकाल में दैव वश पानी आकाश से जलाशय में गिरता है और कभी पुरुषार्थ कर खोदने से पाताल से जलाशय में उत्पन्न होता है । इसलिए यदि कभी अचिन्त्य भाग्य बलवान् होता है तो कभी पुरुषार्थ भी उससे कम बलवान् नहीं कहा जा सकता ॥ २९ ॥

उद्योग से ही मनुष्य के सारे मनोरथ पूर्ण होते हैं, जिसे तुम भाग्य या दैव कहते हो वह अदृष्ट नामक पदार्थ भी पुरुष का एक विशेष गुण ही है ! पुरुषार्थ से अतिरिक्त दैव नामक पदार्थ भी पुरुष के कर्म का परिणाम है उद्योग से भिन्न नहीं ॥ ३० ॥

भयमतुलं गुरुलोकात्तृणमिव तुलयन्ति साधुसाहसिकाः ।
प्राणानद्भुतमेतच्चरितं चरितं ह्युदाराणाम् ॥३१॥
क्लेशस्याङ्गमदत्त्वा सुखमेव सुखानि नेह लभ्यन्ते ।
मधुभिन्मथनाऽऽयस्तैराश्लिष्यति बाहुभिर्लक्ष्मीम् ॥३२॥
तस्य कथं न चला स्यात् पत्नी विष्णोर्नृसिंहकस्यापि ।
मासांश्चतुरो निद्रां यः सेवति जलगतः सततम् ॥३३॥

भयमिति । साधुसाहसिकाः साधौ सत्कार्य्ये साहसिकाः साहसवन्तः; आयाससाध्यसत्कार्य्ये उद्यता इत्यर्थः; साहसे प्रसृत; इति ठक्, जना इति शेषः, गुरुलोकात् पूजाऽर्हजनात् अतुलम् अतिशयं भयं; तथा प्राणान् निजजीवितमपि; तृणमिव तुलयन्ति अवगणयन्ति; जीवनसङ्कटे सत्कर्मणिप्रवृत्ता महान्तः गुरुजनेभ्यः प्रतिकूलताचरणादिभयं तथा प्राणनाशभयमपि तुच्छीकृत्यैव प्रवर्त्तन्ते इति निष्कर्षः; उदाराणां महताम्; इति सम्बन्धे षष्ठी, एतत् चरितं स्वभावः, अद्भुतम् आश्चर्यं यथा तथा; चरितम् अनुष्ठितं; घटितमिति यावत् तैरिति शेष; यद्वा—उदाराणमेतत् चरितं स्वभावः; अद्भुतं विस्मयकरं, चरितं स्वभावः; विस्मयकरचरिताः एव हि महान्तः इति तात्पर्य्यम् । अत्र साधुसाहसिका इत्यनेनैव उदारार्थे लब्धे पुनरुदारपदग्रहणात् अर्थपुनरुक्तादोषो मन्तव्यः । आर्य्या वृत्तम् ॥ ३१ ॥

क्लेशस्येति । इह संसारे, अङ्ग हस्त्यादिकं, केशस्य, अंशमिति शेषः, अदत्त्वा क्लेशभागिनमकृत्वेत्यर्थः, सुखानि ऐहिकभोग्यानीति भावः, सुखम् अनायासेनेत्यर्थः, नैव लभ्यन्ते, कैरपीति शेषः, तथा हि, मधुभित् मधुसूदनः, मथनाऽऽयस्तैः मथनेन क्षीरसमुद्रमन्थनेन, आयस्तैः श्रान्तैः, बाहुभिः भुजैः, लक्ष्मीं श्रियम्, आश्लिष्यति आलिङ्गति; 'न हि सुखं दुःखैर्विना लभ्यते' इति भावः; विष्णुरपि श्रममन्तरेण नैव सुखं लेभे का कथा अन्येषाम् ? इति तात्पर्य्यम् । आर्य्या वृत्तम् ॥ ३२ ॥

तस्येति । यः विष्णुः जलगतः जले स्थितः सन् क्षीरोदशायी भूत्वेत्यर्थः चतुरो मासान् आषाढादीन् इति भावः, सततं निरन्तरं; निद्रां सेवति स्वपिति; शेते विष्णुः

जो तृण के समान अपने प्राणों की बाजी लगा देते हैं, उन साहसी कर्मयोगी पुरुषों का चरित्र और उदार पुरुषों का चरित्र ये दोनों ही लोक सामान्य से ऊपर उठ कर गुरुतर तथा बेजोड़ होते हैं ॥ ३१ ॥

इस संसार में शरीर को क्लेश दिये बिना अनायास सुख नहीं प्राप्त होता, मधुदैत्य के नाशकर्त्ता विष्णु को लक्ष्मी तभी प्राप्त हुई जब उनकी भुजाएं समुद्र के मथने से परिश्रान्त हो गई ॥ ३२ ॥

चार महीने तक जल के मध्य शयन करने वाले नृसिंह विष्णु की पत्नी लक्ष्मी भी

दुरधिगमः परभागो यावत् पुरुषेण साहसं न कृतम् ।
जयति तुलामधिरूढो भास्वानिह जलदपटलानि ॥३४॥

तत् कथ्यताम् अस्माकं कश्चित् धनोपायः विवरप्रवेश शाकिनीसाधन श्मशानसेवन महामांसविक्रय-साधकवर्त्तिप्रभृतीनामेकतम इति । अद्भुत-

---

सदाऽऽषाढे कार्तिके च अवबुध्यते' इति शास्त्रमत्रानुस्मर्त्तव्यम् । अत्र सेवतेरात्मनेपदित्वेऽपि 'परस्मैपदमिच्छन्ति आत्मनेपदिनां क्वचित्' इति नियमात् परस्मैपदित्वं बोध्यम् नृसिंहकस्य असुरनिधनार्थं नरसिंहमूर्त्तेः अपि, पुरुषश्रेष्ठस्यापीति भावः, तस्य विष्णोः पत्नी लक्ष्मीरित्यर्थः, कथं चला चपलेत्याद्याख्यावती, अथ च चञ्चला, चञ्चलप्रकृतिरित्यर्थः, न स्यात् ? पुरुषकारविहीनस्य लक्ष्मीर्न तिष्ठतीति भावः, अलसप्रकृतेर्निश्चेष्टस्य पत्नी अपि न शासने तिष्ठतीति तात्पर्य्यम् । आर्य्या वृत्तम् ॥ ३३ ॥

दुरधिगम इति । पुरुषेण जनेन यावत् यत्कालपर्य्यन्तं, साहसं बलसहकृतं कार्यम्, पौरुषमिति यावत्, सहसा बलेन निर्वृत्तम् इति अण् । 'साहसन्तु बलात्कारकृतकार्य्ये दमेऽपि च' इति मेदिनी, न कृतं नावलम्बितं, तावत् परभागः उत्कर्षः, पराधिकारो वा, दुरधिगमः दुष्प्रापः, परान् विजेतुं न शक्यते इति वा भावः । अत्र दृष्टान्तमाह— इह जगति, तुलां तदाख्यराशिम् इत्यर्थः, तोलनदण्डमिति ध्वनिः, अधिरूढः आश्रितः, भास्वान् सूर्यः, जलदपटलानि मेघवृन्दानि, जयति; जलदपटलानि किं मां रोद्धुं शक्नुयुरिति प्रतिद्वन्द्विभावमागत्य अतितेजस्विना सूर्येणापि पुरुषकारमाश्रित्य तुलां गतेनैव शत्रवो मेघाः जीयन्ते, न तु बिना पुरुषकारं, का कथाऽन्येषाम् ? इति भावः । आर्या वृत्तम् ॥ ३४ ॥

(१) विवरेति । विवरप्रवेशः,—पातालगमनं, मन्त्रौषधादिभिः सुरक्षितदेहस्य रत्नादिसंग्रहार्थं नागलोकगमनमित्यर्थः; शाकिनीसाधनं शाकिनी—योगिनीविशेषः, तस्याः साधनं—क्रियाविशेषेण वशीकरणम्; श्मशानसेवनं—श्मशाने स्थित्वा मन्त्रादीनां साधनम्, महामांसस्य—नरमांसस्य, बलियोग्यस्य नरस्येत्यर्थः, विक्रयः—मूल्यग्रहणपूर्वकम् अर्पणमित्यर्थः, कापालिकेभ्यः इति भावः; कापालिका हि अभीष्टदेवताप्रीत्यर्थं नरबलिदित्सवः बलियोग्यं नरं प्राप्य अमानुषशक्तिमत्त्वया नरपशुदान-

---

जब चञ्चला हो जाती है, तब पौरुष न करने वाले श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ मनुष्य के पास सदैव लक्ष्मी किस प्रकार निवास कर सकती है ॥ ३३ ॥

जब तक मनुष्य पुरुषार्थ नहीं करता, तब तक उसे विजयश्री सर्वथा दुर्लभ होती है। देखो जब सूर्य पुरुषार्थ की तुला पर चढ़ जाते हैं तभी वे मेघवृन्दों पर विजय प्राप्त करते हैं ॥ ३४ ॥

ब्राह्मण कुमारों ने भैरवानन्द से कहा- आप तो धन की प्राप्ति के उपायभूत

शक्तिर्भवान् श्रूयते; वयमपि अतिसाहसिकाः। उक्तञ्च—

महान्त एव महतामर्थं साधयितुं क्षमाः।
ऋते समुद्रादन्यः को बिभर्त्ति बडवानलम् ? ॥ ३५ ॥

भैरवानन्दोऽपि तेषां सिद्धार्थं बहु उपायं सिद्धवर्त्तिचतुष्टयं कृत्वा अर्पयत्, आह च—'गम्यतां हिमालयदिशि' तत्र सम्प्राप्तानां यत्रवर्त्तिः पतिष्यति, तत्र निधानम् असन्दिग्धं प्राप्स्य; तत् स्थानं खनित्वा निधिं

रूपोपकारविनिमयेन विक्रेतॄणां प्रभूतधनादिदानेन प्रत्युपकारं कुर्वन्ति, इति महामांस-विक्रयस्य धनार्जनसाधकत्वमिति भावः, यद्वा—विक्रयः,—विशिष्टमूल्येन ग्रहणं, कापालिकधर्मं स्वीकृत्य महाभैरवसाधनाय अधिकमूल्येन मनुष्यक्रय इत्यर्थः, महा-भैरवसिद्धये कापालिका हि बहुमूल्येन नरान् क्रीणन्ति, ततश्च नृकपाले सुरां संस्थाप्य नरमांसेन अग्नौ हुत्वा सिद्धिं लभन्ते सिद्धाश्च सर्वाभीष्टं पूरयितुं शक्नुवन्ति, अतस्तस्य धनार्जनसाधकत्वमिति भावः,कापालिकानां धर्माचारादिकं प्रबोधचन्द्रोदयनाटकेऽप्युक्तम्' यथा—'नरास्थिमालाकृतचारुभूषणः श्मशानवासो नृकपालभाजनः' इति (३.१२) 'मस्तिष्कान्त्रवसाभिधारितमहामांसाहुतीर्जुह्वतां वह्नौ ब्रह्मकपालकल्पितसुरापानेन नः पारणा। सद्यः कृत्तकठोरकण्ठविगलत्कीलालधारोल्वणैरुर्च्यो नः पुरुषोपहारबलिभि-र्देवो महाभैरवः ॥' इति च (३. १३)। साधकवर्त्तिः—साधिका—भूगर्भस्थनिधि प्रदर्शिका इत्यर्थः, वर्त्तिः—वर्त्तिकाविशेषः, अत्र कर्मधारये पुंवद्भावो मन्तव्यः तत्प्रभृतीनाम् एकतमः—अन्यतमः।

महान्त इति। महान्त एव श्रेष्ठजना एव, महतामर्थं कार्यं, साधयितुं सम्पाद-यितुं, क्षमाः शक्ताः। समुद्रात् ऋते विना, अन्यः कः बडवानलं बिभर्त्ति? धारयति ? न कोऽपि इत्यर्थः। विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ३५ ॥

(१) उपायं - साधनं, धनार्जनसाधनमित्यर्थः। सिद्धेति। सिद्ध—सिद्धफला, अमोघा इत्यर्थः या वर्त्तिः—वर्त्तिकाकृतिद्रव्यविशेषः, तस्याः चतुष्टयम्। सम्प्राप्ता-

---

पातालप्रवेश, यक्षिणीसाधन, महाकायादि सिद्धि के लिए श्मशानवास, गोमनुष्यादि महामांस का विक्रय अथवा सिद्ध गुटिकादि निर्माण आदि उपायों में से कोई उपाय हमें बताइये। 'आप विलक्षण शक्तिसम्पन्न योगी हैं' ऐसा कर्णाकर्णि परम्परा से सुना जाता है। हम लोग भी अत्यन्त साहसी हैं। कहा भी गया है—

बड़े लोगों के कार्य को बड़े लोग ही सिद्ध करने में समर्थ होते हैं। समुद्र के अतिरिक्त और कौन बड़वानल को धारण करने में समर्थ हो सकता है ॥ ३५ ॥

तदनन्तर भैरवानन्द ने भी अनेक उपायों से चार सिद्ध गुटिकाओं को बनाकर उन्हें दिया और कहा—'आप लोग उत्तर दिशा को चले जाइए, वहाँ जाने पर जिस

गृहीत्वा व्याघुट्यताम्'। तथा अनुष्ठिते तेषां गच्छताम् एकतमस्य हस्तात् वर्त्तिर्निपपात। अथ असौ यावत् तं प्रदेशं खनति, तावत् ताम्रमयी भूमिः। ततः तेन अभिहितम्—'अहो! गृह्यतां स्वेच्छया ताम्रम्'। अन्ये प्रोचुः—'भो मूढ! किम् अनेन क्रियते, यत् प्रभूतमपि दारिद्र्यं न नाशयति? तदुत्तिष्ठ, अग्रतो गच्छामः'। सोऽब्रवीत्—'यान्तु भवन्तः, न अहमग्रे यास्यामि' एवम् अभिधाय ताम्रं यथेच्छया गृहीत्वा प्रथमो निवृत्तः। ते त्रयोऽपि अग्रे प्रस्थिताः। अथ किञ्चिन्मात्रं गतस्य अग्रेसरस्य वर्त्तिः निपपात। सोऽपि यावत् खनितुम् आरब्धः, तावत् रूप्यमयी क्षितिः। ततः प्रहर्षितः प्राह यत्—'भोः! गृह्यतां यथेच्छया रूप्यं, न अग्रे गन्तव्यम्'। तौ ऊचतुः—'भोः! पृष्ठतः ताम्रमयी भूमिः!! अग्रतो रूप्यमयी!! तत् नूनम् अग्रे सुवर्णमयी भविष्यति; किञ्च, अनेन प्रभूतेनापि दारिद्र्यनाशो न भवति, अतः आवाम् अग्रे यास्यावः' एवमुक्त्वा द्वौ अपि

नाम्—उपस्थितानां, युष्माकं हस्तादिति शेषः। निधानं—रत्नविशेषः। असन्दिग्धं—निश्चितम्। व्याघुटचतां—प्रत्यागम्यताम्; विपूर्वकस्य आङ्पूर्वकस्य च 'घोटते' इत्यस्य भावे लोटि रूपम्। यदिति। प्रभूतमपि—प्रचुरमपि, यत्—ताम्रं, दारिद्र्यं न नाशयति, अल्पमूल्यत्वादिति भावः। अग्रेसरस्य—अग्रयायिणः, अग्रे सरति गच्छति इति अग्रोपपदात् सृधातोः 'पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्त्तेः' (पा० सू० ३।२।१८) इति ट-प्रत्ययः, सप्तम्या लुगभावश्च।

स्थान में यह बत्ती गिरेगी, वहाँ तुम्हें बहुत बड़ा खजाना प्राप्त होगा। फिर उस स्थान को खन कर द्रव्य लेकर शीघ्रता से चले आना।' इस प्रकार वर्त्ती लेकर जाते हुए उन ब्राह्मण कुमारों में से एक के हाथ पे बत्ती गिर पड़ी। जैसे ही उसने उस स्थान को खोदना प्रारम्भ किया तो देखा कि यहाँ तो ताँबे की खान है, तदनन्तर उसने साथियों से कहा—अरे यहाँ से यथेष्ट ताँबा ले लो। तब उसकी बात सुन कर औरों ने कहा—अरे मूर्ख! इस तावें को लेकर क्या होगा? इससे अधिक-से-अधिक ग्रहण कर लेने पर भी हमारी दरिद्रता नष्ट न हो सकेगी। अतः उठो आगे चलो। तदनन्तर उसने कहा—'आप लोग जाइए, मैं अब आगे नहीं जाऊँगा।' ऐसा कह कर वह इच्छानुसार ताँबा लेकर लौट गया। तदनन्तर वे तीनों आगे गये। ज्यों ही वे कुछ दूर आगे बढ़े कि आगे चलने वाले के हाथ से बत्ती गिर पड़ी। उसने ज्यों ही खनना प्रारम्भ किया कि उसे चाँदी की भूमि प्राप्त हो गयी। तब उसने प्रसन्न होकर कहा 'अरे इच्छानुसार यहाँ से चाँदी ले लो। अब आगे मत बढ़ो'। तब उन दोनों ने कहा—'ओह; पीछे ताँबे की खान मिली, तदनन्तर चाँदी की खान मिली। तो निश्चय

अग्रे प्रस्थितौ। स च स्वशक्त्या रूप्यम् आदाय निवृत्तः।

अथ तयोरपि गच्छतोः एकस्य अग्रे वर्तिः पपात। सोऽपि प्रहृष्टो यावत् खनति तावत् सुवर्णभूमिं दृष्टवा द्वितीयं प्राह—'भोः! गृह्यतां स्वेच्छया सुवर्णं, सुवर्णादन्यत् न किञ्चित् उत्तमं भविष्यति'। स प्राह—'मूढ़! न किञ्चित् वेत्सि!! प्राक् ताम्रं, ततो रूप्यं, ततः सुवर्णं, तन्नूनमतः परं रत्नानि भविष्यन्ति, येषाम् एकतमेनापि दारिद्र्यनाशो भवति, तदुत्तिष्ठ अग्रे गच्छावः, किमनेन भारभूतेनापि प्रभूतेन?' स आह—'गच्छतु भवान्, अहमत्र स्थितस्त्वां प्रतिपालयिष्यामि'। तथाऽनुष्ठिते, सोऽपि गच्छन् एकाकी ग्रीष्मार्कप्रतापसन्तप्ततनुः पिपासाकुलितः सिद्धिमार्गच्युत इतश्चेतश्च बभ्राम। अथ एवं भ्राम्यन् तत्रैव प्रदेशे पुरुषमेकं रुधिरप्लावितगात्रं भ्रमच्चक्रमस्तकमपश्यत्। ततो द्रुततरं गत्वा

---

(१) प्रतिपालयिष्यामि—प्रतीक्षिष्ये इत्यर्थः। ग्रीष्मेति। ग्रीष्मार्कस्य—निदाघसूर्यस्य, प्रतापेन—प्रभावेण, सन्तप्ता—खेदिता, तनुः—शरीरं यस्य सः। पिपासाकुलितः—तृष्णार्त्तः। सिद्धिमार्गच्युतः—सिद्धिपथात भ्रष्टः, रत्नलाभरूपात् उद्देश्यात् विच्युत इत्यर्थः, रौद्रपीडितत्वात् पिपासाकुलितत्वाच्च विमूढ़धीतया लक्ष्यभ्रष्ट इति भावः। तत्रैव प्रदेशे—यत्र ब्राह्मणचतुष्टयानामन्यतमः भ्रमति, तस्मिन्नेव स्थाने इत्यर्थः। भ्रमदिति। भ्रमत् चक्रं यस्मिन् तादृशं मस्तकं यस्य तथोक्तं भ्रमच्चक्रमस्तकम्।

ही आगे सोने की खान मिलेगी। इसके बहुत ग्रहण करने से भी हम लोग की दरिद्रता नष्ट न होगी। तो चलो हम दोनों आगे बढ़ें। ऐसा कह कर वे दोनों आगे चल पड़े। तब वह शक्ति के अनुसार चाँदी लेकर लौट गया।

इसके अनन्तर उन दोनों के आगे जाने पर उनमें से एक के हाथ से वत्ती गिर गयी। फिर ज्यों ही प्रसन्नता से वह खोदने लगा तो सोने की खान देखकर अपने साथी से बोला—'अरे इच्छानुसार सोना ले लो, सोने से बढ़कर कोई उत्तम वस्तु नहीं मिलेगी।' तब दूसरे ने कहा—'मूर्ख! तुम कुछ नहीं जानते, देखो पहले ताँबा, उसके बाद चाँदी, तदनन्तर सोने की खान मिली, इसके बाद निश्चय ही रत्नों की खान प्राप्त होगी। जिसके एक के भी मिल जाने पर सारी दरिद्रता दूर हो जायगी, अतः उठो और आगे चलें। इस बहुत भार वाले सोने से क्या लाभ होगा? अपने साथी की बात सुन कर सुवर्णसिद्धि ने कहा—'तुम आगे जाओ मैं यहीं ठहर कर तुम्हारी राह देख रहा हूँ'। फिर उसके ऐसा कहने पर वह अकेला आगे बढ़ा। किन्तु ग्रीष्म ऋतु के सूर्य की प्रचण्ड किरणों से उसका शरीर संतप्त हो गया, उसे जोर की प्यास लगी फिर भी वह अपने सिद्धिमार्ग को भूल कर इधर-उधर घूमने

तम् अवोचत्—'भोः ! को भवान् ? किमेवं चक्रेण भ्रमता शिरसि तिष्ठसि ? कथय मे, यदि कुत्रचित् जलमस्ति ?

एवं तस्य प्रवदतः तच्चक्रं तत्क्षणात् तस्य शिरसो ब्राह्मणमस्तके चटितम्। स आह—'भद्र ! किमेतत् ?' स आह—'यन्ममापि एवमेव एतत् शिरसि चटितम्'। स आह—'तत् कथय, कदा एतत् उत्तरिष्यति ? महती मे वेदना वर्त्तते। स आह—यद्वा त्वमिव कश्चित् धृतसिद्धवर्त्तिः एवमागत्य त्वाम् आलापयिष्यति, तदा तस्य मस्तके चटिष्यति'। स आह—कियान् कालस्तव एवं स्थितस्य ? स आह—'साम्प्रतं को राजा धरणीतले ? स आह—'वीणावत्सराजः'। स आह—'अहं तावत् कालसङ्ख्यां न जानामि; परं यद्वा रामो राजा आसीत्, तदाऽहं दारिद्र्योपहतः सिद्धवर्त्तिम् आदाय अनेन पथा समायातः; ततो मया अन्यो नरो मस्तक-

(१) चटितं—पतितम्, आरूढं वा। यत्—यस्मात् कारणात्, ममागमनात् प्राक् अत्र स्थितेन सह आलपनात् इत्यर्थः, एवमेव—त्वन्मस्तकारोहणप्रकारेणैव, ममापि शिरसि एतत् चटितं, तस्मादेव तवापि शिरसि एतत् चटितमिति भावः, यद्वा—यत्—यथा, येन प्रकारेणेत्यर्थः। उत्तरिष्यति—मम मस्तकात् अपसरिष्यति इत्यर्थः। धृतेति। धृता सिद्धवर्त्तिर्येन तथोक्तः। जातं—संवटितम् इत्यर्थः।

लगा। इस प्रकार घूमते हुए उसके एक स्थान पर खून से लथपथ शरीर वाले एक पुरुष को देखा जिसके सिर पर चक्र घूम रहा था। तदनन्तर बड़ी शीघ्रता से उसके पास जाकर बोला—'अरे भाई आप कौन हैं ? और आपके सिर पर यह चक्र क्यों घूम रहा है ? मैं प्यासा हूँ, अतः यदि कहीं जल हो तो मुझे बतलाइए।' इस प्रकार उससे बात करते ही वह चक्र उसी समय उस व्यक्ति के सिर से उतर कर ब्राह्मण-कुमार के सिर पर घूमने लगा। यह देख ब्राह्मण-कुमार ने आश्चर्य चकित होकर उससे पूछा—'भद्र ! यह क्या हो गया।' उसने कहा—'इसी प्रकार यह मेरे सिर पर भी घूमने लगा था।' ब्राह्मणकुमार ने पूछा—'अच्छा, बताओ यह कब उतरेगा ? मुझे बहुत पीड़ा हो रही।' उसने कहा—'जब तुम्हारे ही समान कोई दूसरा व्यक्ति इसी सिद्धिवर्तिका को लेकर आयेगा और तुमसे इसी प्रकार बातचीत करेगा, तब वह तुम्हारे मस्तक से उतर कर उसके मस्तक पर चला जायेगा।' उसने पूछा—'तुमने इस प्रकार कितने दिनों तक इस वेदना का अनुभव किया।' उसने पूछा—'इस समय पृथ्वी में कौन राजा है ?' उसने उत्तर दिया—'वीणावादन में कुशल वत्सराज।' तब पुरुष ने कहा—'समय की गणना तो मैं नहीं कर सकता, किन्तु जब राम राजा थे, तब मैं निर्धनता के दुःख से दुःखी होकर इसी प्रकार सिद्धि गुटिका

घृतचक्रो दृष्टः पृष्टश्च; ततश्च एतत् जातम्'। स आह—'भद्र ! कथं तव एवंस्थितस्य भोजनजलप्राप्तिः आसीत् ? स आह—'भद्र ! धनदेन निधानहरणभयात् सिद्धानामेतच्चक्रपतनरूपं भयं दर्शितं, तेन कश्चिदपि न आगच्छति; यदि कश्चित् आयाति; स क्षुत्पिपासानिद्रारहितो जरामरणवर्जितः केवलमेवं वेदनाम् अनुभवतीति। तदाज्ञापय मां स्वगृहाय' इत्युक्त्वा गतः।

अथ तस्मिन् चिरयति सः सुवर्णसिद्धिः तस्य अन्वेषणपरः तत्पदपङ्क्त्या यावत् किञ्चित् वनान्तरम् आगच्छति, तावत् रुधिरप्लावितशरीरः तीक्ष्ण-चक्रेण मस्तके भ्रमता सवेदनः क्वणन् उपविष्टः तिष्ठतीति ददर्श। ततः तत्समीपवर्त्तिना भूत्वा सबाष्पं पृष्टः—'भद्र ! किमेतत् ? स आह—विधिनियोगः। स आह—'कथं तत् ? कथय कारणमेतस्य' ! सोऽपि

धनदेन—कुबेरेण। निधानहरणभयात्—निधिहरणत्रासात्।

(१) सुवर्णसिद्धिः—सुवर्णेन—प्रभूतसुवर्णप्राप्त्या, सिद्धिः—कार्यसिद्धिर्यस्य सः प्रभूतस्वर्णप्राप्त्या सिद्धकामः इत्यर्थः। तत्पदपङ्क्त्या—चतुर्थब्राह्मणतनयस्य पदचिह्न-रेखामनुसृत्येत्यर्थः,। सवेदनः—वेदनया अत्यर्दितः। क्वणन्—शब्दायमानः, वेदनाव्यञ्ज-

---

लेकर इस मार्ग से आया था, यहाँ आने पर मैंने मस्तक पर चक्र घूमते हुए एक अन्य मनुष्य को देखा। उससे कुछ पूछ ही रहा था कि मेरे ऊपर आकर वह चक्र घूमने लगा।' उस ब्राह्मण ने पूछा—'इस प्रकार सिर पर चक्र के घूमते रहने पर आपको भोजन पानी किस प्रकार प्राप्त होता था ?' उसने उत्तर दिया—मित्र ! कुबेर ने कोशों के लूटे जाने के भय से अर्थ के लोभ से सिद्धिगुटिका लेकर आने वाले पुरुषों के लिए चक्र के घूमने का यह भय उपस्थित किया है। इसलिए प्राय; कोई इधर नहीं आता, यदि लोभाभिभूत ही कोई आ जाता है तो वह इसी प्रकार भूख, प्यास, नींद और बुढ़ापे एवं मृत्यु के भय से रहित हो केवल चक्र को वेदना का अनुभव करता है। अब आप कृपा कर मुझे घर जाने के लिए आज्ञा दें।' ऐसा कह कर वह वहाँ से तत्काल चल दिया।

उस चौथे साथी के बहुत देर लगाने पर सुवर्णसिद्धि, उसको खोजता हुआ उसके पैर के चिह्नों को देखता हुआ दूसरे वन में पहुँचा। तदनन्तर उसने देखा कि उसका वह मित्र खून से लथपथ है, शिर पर तेज धार वाला चक्र घूम रहा है और वह वेदना से कराहता हुआ बैठ कर रो रहा है, तब उसके समीप जाकर सभी बातें उससे पूछने लगा—'मित्र ! यह क्या हुआ ?' तब उसने उत्तर दिया—'मित्र ! यह विधि

तेन पृष्टः सर्वं चक्रवृत्तान्तम् अकथयत्। तत् श्रुत्वा असौ तं विगर्हयन् इदमाह—'भोः लोभात्मन्! अदूरदर्शिन्! निषिद्धः त्वं मया अनेकशो न अश्रृणोः मे वाक्यम्; तत् किं क्रियते? विद्यावानपि कुलीनोऽपि परं बुद्धिरहितः लोभाभिभूतश्च त्वमेवं पराभवमलब्धाः। अथवा साधु इदमुच्यते—

वरं बुद्धिर्न सा विद्या विद्याया बुद्धिरुत्तमा।
बुद्धिहीना विनश्यन्ति यथा ते सिंहकारकाः॥ ३६॥

चक्रधर आह—'कथमेतत्?' सुवर्णसिद्धिः आह—

३ : सिंहकारकमूर्खब्राह्मण-कथा

'कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने चत्वारो ब्राह्मणपुत्राः परस्परं मित्रभावम्

काव्यक्तध्वनिं कुर्वन् इत्यर्थः। विधिनियोगः—दुर्दैवाज्ञा। विगर्हयन्—निन्दयन्।

वरमिति। बुद्धिर्वरं सा तादृशी, बुद्धिहीना इत्यर्थः, विद्या न, वरमित्यनुषङ्गः, बुद्धिः विद्याया विद्यामपेक्ष्य, उत्तमा श्रेष्ठा, विद्यायाः इत्यत्र 'पञ्चमी विभक्ते' (पा० सू० २।३।४२) इत्यनेन निर्द्धार्य्यमाणस्य भेदबोधात् पञ्चमी। बुद्धिहीनाः, जनाः इति शेषः ते सिंहकारकाः सिंहविधायकाः, यथा, तथेति शेषः विनश्यन्ति विनाशं यान्ति इत्यर्थः॥ ३६॥

का निष्ठुर विधान है।' सुवर्णसिद्धि ने पूछा—'यह कैसे हुआ? इसका कारण तो बताओ।' उसके इस प्रकार पूछे जाने पर चक्रधर ने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। चक्रधर की बातों को सुन कर सुवर्णसिद्धि ने उसकी निन्दा करते हुए कहा—'मैंने तुम्हें बारम्बार मना किया। किन्तु तुमने मेरी बात नहीं मानी। तो अब क्या किया जा सकता है? तुम विद्वान् एवं कुलीन होकर भी वस्तुत; मूर्ख हो। अथवा ठीक ही कहा गया है—

कार्याकार्य का विचार करने वाली बुद्धि, विद्या की अपेक्षा श्रेष्ठ है, देखो बुद्धि के अभाव में लोग विद्वान् होकर भी इसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे बुद्धिहीन किन्तु मृतसञ्जीवनी विद्या जानने वाले ब्राह्मण शेर को जिलाने के कारण नष्ट हो गये॥ ३६॥

चक्रधर ने पूछा—'यह कैसे?' तब सुवर्णसिद्धि ने कहा—

सिंह को जिलाने वाले मूर्ख ब्राह्मण की कथा

किसी नगर में चार ब्राह्मणकुमार आपस में मैत्रीभाव से रहते थे। उनमें से

उपगता वसन्ति स्म। तेषां त्रयः शास्त्रपारंगताः, परन्तु बुद्धिरहिताः। एकस्तु बुद्धिमान्, केवलं शास्त्रपराङ्मुखः। अथ तैः कदाचित् मित्रैः मन्त्रितं—'को गुणो विद्यायाः; येन देशान्तरं गत्वा भूपतीन् परितोष्य अर्थोपार्जना न क्रियते? तत् पूर्वदेशं गच्छामः'।

तथाऽनुष्ठिते किञ्चिन्मार्गं गत्वा तेषां ज्येष्ठतरः प्राह—'अहो! अस्माकमेकः चतुर्थो मूढ़ः, केवलं बुद्धिमान् न च राजप्रतिग्रहः केवलबुद्ध्या लभ्यते विद्यां विना; तन्न अस्मै स्वोपार्जितं दास्यामि, तद्गच्छतु गृहम्। ततो द्वितीयेन अभिहितं—'भोः सुबुद्धे! गच्छ त्वं स्वगृहे; यतः ते विद्या नास्ति'। ततः तृतीयेन अभिहितम्—'अहो! न युज्यते एवं कर्त्तुं; यतो वयं बाल्यात् प्रभृति एकत्र क्रीडिताः तत् आगच्छतु महानुभावः, अस्मदुपार्जितवित्तस्य समभागी भविष्यतीति! उक्तञ्च—

किं तया क्रियते लक्ष्म्या या बधूरिव केवला।
या न वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते? ॥ ३७ ॥

---

[३]

(१) शास्त्रपराङ्मुखः—शास्त्रात् पराक्—प्रत्यावृत्तं, मुखं यस्य सः, शास्त्रानभिज्ञः इत्यर्थः। येन—येन हेतुना, यदि इत्यर्थः, यद्वा—येन गुणेन इत्यर्थः।

(२) राजप्रतिग्रहः—राज्ञः सकाशात् प्रतिग्रहः—दानग्रहणं, दानप्राप्तिरित्यर्थः। किमिति। या केवला अन्यभोगवर्जितेति भावः, वधूरिव कुलस्त्रीव, तिष्ठति इति

तीन विद्वान् थे। किन्तु बुद्धिहीन थे। चौथा शास्त्र तो नहीं जानता था, किन्तु बुद्धिमान् था। किसी समय उन चारों ने आपस में विचार किया—'भाई उस विद्या से क्या लाभ? जिससे देशान्तर में जाकर राजाओं को संतुष्ट कर धन न कमाया जाय। इसीलिए धनोपार्जन के लिए पूर्वदेश में चलना चाहिए।'

ऐसा विचार कर धनोपार्जन के लिए कुछ दूर जाने पर उन चारों में सबसे बुद्धिमान् ब्राह्मणकुमार ने कहा—'भाई! हममें से एक चौथा ही मूर्ख है, परन्तु बुद्धिमान् है—और राजकीय दानविद्या के बिना केवल मात्र बुद्धि से धन प्राप्त नहीं होता। इसलिए मैं अपनी कमाई में से कुछ नहीं दूँगा। अच्छा हो कि यह घर लौट जाय।' तब दूसरे ने कहा—'भाई! सुबुद्ध! तुम अपने घर लौट जाओ, क्योंकि तुम्हारे पास विद्या नहीं है। 'तदनन्तर तीसरे ने कहा—'भाई ऐसा करना उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि हम लोग बाल्यावस्था से ही एक साथ रह कर खेलते आ रहे हैं। इसलिए यह मित्र हमारे साथ चले। हमारी कमाई में से यह समान रूप से हिस्सेदार होगा। कहा गया भी है—

जो लक्ष्मी, पवित्रता कुलवधू के समान, केवल एक पुरुष के उपभोग में आती है

तथा च—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ ३८ ॥

तत् आगच्छतु एषोऽपि' इति । तथा अनुष्ठिते, तैः मार्गाश्रितैः अटव्यां कतिचित् अस्थीनि दृष्टानि । ततश्च एकेन अभिहितम्—'अहो ! अद्य विद्याप्रत्ययः क्रियते, कतिचिदेतानि मृतसत्त्वस्य अस्थीनि तिष्ठन्ति, तत् विद्याप्रभावेण जीवनसहितं कुर्मः; अहम् अस्थिसञ्चयं करोमि'।

शेषः, या केवलं निजभोगार्थमेव भवतीत्यर्थः या च सामान्या साधारणी, वेश्येव वारस्त्रीव, पथिकैः साधारणजनैरिति भावः, न उपभुज्यते; तथा लक्ष्म्या सम्पदा, किं क्रियते ? न किमपि प्रयोजनम् इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

अयमिति । अयं जनः, निजः आत्मीयः, परः अनात्मीयः वा, इति इत्थं, लघुचेतसा क्षुद्रचित्तानाम्, अनुदाराणामित्यर्थः, गणना विचारः, तु किन्तु उदारं महत्, 'उदारो दातृमहतोर्दक्षिणे चाभिधेयवत्' इति मेदिनी । चरितं येषां तथोक्तानां जनानां, महात्मनाम् इत्यर्थः, वसुधा एव पृथिवीस्थजनमात्रमेव इत्यर्थः, कुटुम्बकं परिवारसमूहः, स्वजनः इत्यर्थः, 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः, इति भावः ॥ ३८ ॥

(१) मार्गाश्रितैः—अध्वगामिभिः । अटव्या—कानने, 'अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम्' इत्यमरः । विद्याप्रत्ययः—विद्यायाः, शास्त्रशिक्षाया इति भावः, प्रत्ययः—ज्ञानं, शिक्षिता विद्या फलदायिनी न वा इति ज्ञानार्थं परीक्षणमित्यर्थः, यद्वा—विद्यायां—ज्ञाने, अधीतविषये इत्यर्थः, प्रत्ययः—विश्वासः, अभ्यस्तमन्त्रादिकं फलप्रदं न वा इति सन्देहनिरसनमित्यर्थः, 'प्रत्ययः प्रथितत्वे च मत्वादिज्ञानयोरपि । आचारे शपथे रन्ध्रविश्वासाधीनहेतुषु ॥' इति मेदिनी । मृतसत्त्वस्य—मृतः—विगतप्राणः, सत्त्वः—

किन्तु सर्वसाधारण पथिकों के लिए वेश्या के समान सामान्य जनों के उपयोग में नहीं आती उस लक्ष्मी को लेकर क्या करना ? ॥३७॥

और, यह अपना है, यह पराया है इस प्रकार का विचार तो छुद्र विचार करने वाले लोग ही करते हैं । किन्तु बड़े लोगों के लिए तो पृथ्वी के समस्त प्राणिवर्ग परिवार सदृश ही प्रतीत होते हैं ॥३८॥

अतः इसको भी साथ चलने दो ।' तदनन्तर उसके चलने की अनुमति देने पर मार्ग में जाते हुए उन विद्वानों ने गहन वन में कुछ हड्डियाँ देखी, तब उनमें से एक ने कहा—'अरे ! आज अपनी विद्या की परीक्षा तो की जाय । यह कोई मरा हुआ प्राणी है, तो आओ विद्या के प्रभाव से इसे जिलावें । मैं हड्डियों को एकत्रित करता

एव ते प्रनष्टाः, ततः स्तोकं पन्थानमतिक्रम्य प्रधावद्भिस्तैः काचित् नदी समासादिताः। तस्याः जलमध्ये पलाशपत्रम् आयातं दृष्टवा पण्डितेन एकेन उक्तम्–'आगमिष्यति यत् पत्रं तदस्मांस्तारयिष्यति' इत्येतत् कथयित्वा तत्पत्रस्य उपरि पतितो यावत् नद्या नीयते; तावत् तं नीयमानम् अवलोक्य अन्येन पण्डितेन केशान्त गृहीत्वा उक्तम्–

सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्द्धं त्यजति पण्डितः।
अर्द्धेन कुरुते कार्य्यं सर्वनाशो हि दुःसहः ॥ ४१ ॥

इत्युक्त्वा तस्य शिरश्छेदो विहितः। अथ तैः पश्चात् गत्वा कश्चिद्ग्राम आसादितः, ग्रामीणैः निमन्त्रिताश्च पृथक् पृथक् गृहेषु नीताः। ततः एकस्य सूत्रिका घृतखण्डसंयुक्ता भोजने दत्ता। दृष्ट्वा च

सिद्धम्, 'नशेः षान्तस्य' (पा० सू० ८।४।३६) इति णत्वाभावः। स्तोकम्––अल्पमात्रम्। तस्याः—नद्या इत्यर्थः। पलाशपत्रं— किंशुकाख्यतरोः पत्रम्।

सर्वेति। पण्डितो जनः सर्वनाशे सर्वस्य निखिलस्य, नाशे ध्वंसे, समुत्पन्ने समुपस्थिते सति, अर्द्धं त्यजति, अर्द्धेन च कार्यं कुरुते, हि यतः, सर्वनाशः दुःसहः सोढमशक्यः, दुःखेन सह्यते इति दुरुपपदात् सहधातोः 'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्' (पा० सू० ३।३।१२६) इति खल्-प्रत्ययः ॥ ४१ ॥

(१) ग्रामीणैः––ग्रामे भवा इति तैः, ग्रामवासिभिरित्यर्थः, 'ग्रामात् य-खञौ' (पा० सू० ४।२।९४) इत्यनेन खञ्। 'ग्रामीणा नीलिकायां स्त्री ग्रामोद्भूतेऽभिधेयवत्' इति मेदिनी। सूत्रिका - सूत्राकारः अपूपभेदः, ('सिवइ' इति भाषा)। घृतखण्डेति। घृतेन सर्पिषा, खण्डेन—इक्षुविकारेण च, संयुक्ता, घृत-शर्करामिश्रिता इत्यर्थः।

दौड़ते हुए आगे बढ़े तो उन्हें एक नदी मिली। उसके जल की धारा में बह कर आते हुए एक पलाश के पत्ते को देख कर उन पण्डितों में से एक ने कहा—'यह आने वाला पत्ता हम लोगों को पार कर देगा।' ऐसा कहकर वह मूर्ख पण्डित नदी के जल में कूद पड़ा। जब नदी की धारा में बह कर वह जाने लगा तो दूसरे पण्डित ने उसकी चोटी पकड़ कर कहा—

बुद्धिमान् पुरुष सर्वनाश की स्थिति आने पर उसका आधा भी प्राप्त कर उसी से अपना काम चलाते हैं। क्योंकि सर्वनाश बड़ा ही दुःसह होता है ॥ ४१ ॥

ऐसा कह कर उसने धारा में बहते हुए उस पण्डित का शिर काट दिया। इस प्रकार जाते हुए उन शेष पण्डितों को एक गाँव मिला। गाँववालों ने उन्हें भोजन के लिए निमन्त्रित किया और उन्हें पृथक्-पृथक् अपने घरों में भोजन

तां विचिन्त्य पण्डितेन उक्तं यत्—'दीर्घसूत्री विनश्यति' इति; एवमुक्त्वा भोजनं परित्यज्य गतः। तथा द्वितीयस्य मण्डका दत्ताः। तेनापि—'अतिविस्तारविस्तीर्णं न तद्भवेत् चिरायुषम्' इत्युक्त्वा भोजनं त्यक्त्वा गतः। अथ तृतीयस्य वटिकाभोजनं दत्तम्। तत्रापि पण्डितेन उक्तं—'छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति'। एवं ते त्रयोऽपि पण्डिताः क्षुत्क्षामकण्ठाः लोकैः हास्यमानाः ततः स्थानात् स्वदेशं प्रत्यागताः'।

अथ सुवर्णसिद्धिः आह—'यत् त्वं लोकव्यवहारम् अजानन् मया

दीर्घसूत्री—दीर्घेण—दीर्घकालेन, सूत्रयति—कर्त्तव्यं कर्म करोतीति तथोक्तः। यद्वा, दीर्घं सूत्रं—व्यवस्था अस्यास्तीति तथोक्तः, 'सूत्रं तन्तुव्यवस्थयोः' इति विश्वः चिरक्रियः इत्यर्थः। विनश्यति—विनाशं प्राप्नोति, विफलमनोरथो भवतीति भावः। मण्डकाः—पिष्टकभेदाः, 'वारिणा कोमलां कृत्वा समितां साधु मर्दयेत्। हस्तचालनया तस्या लोप्त्रचौ सम्यक् प्रसारयेत्॥ अधोमुखघटस्यैतां विस्तृतां प्राक्षिपेत् बहिः। मृदुना वह्निना साध्यः सिद्धो मण्डक उच्यते॥' इति भावप्रकाशः। अतीति। अतिविस्तारेण—विस्तीर्णं—विस्तारयुक्तं, बृहदाकारमित्यर्थः, यद्भोज्यमिति शेषः, तत् चिरायुषं—दीर्घजीवनप्रदं, न भवेत्। बृहदाकारद्रव्यविशेषो न चिरस्थायी भवेदिति प्रकृतार्थः। वटिकेति। वटिका—कलायकृत-पिष्टकभेदः, सा एव भोजनं—भोज्यम्। छिद्रेष्विति। छिद्रेषु—छिद्रयुक्तेषु, सच्छिद्रपिष्टकविशेषेषु इति भावः, छिद्धातोः 'स्फायितञ्चिवञ्चि—' (उणा० २. १३ सू०) इत्यादिना रक् प्रत्ययः। विपदवसरेष्विति प्रकृतार्थः। अनर्थाः—विपदः, बहुलीभवन्ति—विस्तारं गच्छन्ति। हास्यमानाः—उपहस्यमानाः इत्यर्थः।

कराने के लिए ले गये। फिर एक को घी और शर्करा से बनी हुई सेवई भोजन के लिए दी गई, उसे देखते ही पण्डित ने विचार कर कहा—'दीर्घसूत्री विनष्ट हो जाता है'। ऐसा कह कर वह भोजन छोड़ कर चला गया। तब दूसरे को भोजन के लिए मंड दिया गया। तव उसने कहा—'जो वस्तु अत्यन्त विस्तृत हो वह आयुष्य प्रदान नहीं करती।' ऐसा कह कर वह भी भोजन छोड़ कर चला गया। तब तीसरे व्यक्ति को भोजन के लिए बड़ा दिया गया, उसे देखते ही उस पण्डित ने कहा-'छिद्र हो जाने पर आपत्तियाँ बढ़ती हैं', ऐसा कह कर वह भी भोजन छोड़ कर चला गया। इस प्रकार वे तीनों मूर्ख पण्डित भूखे ही रह गये और लोगों के द्वारा अनादृत हुए। अन्ततः बिना खाये-पीये अपने देश को चले गये।

तब सुवर्णसिद्धि ने कहा—तुम लोकव्यवहार को न जानते हुए मेरे द्वारा वारम्बार

वार्य्यमाणोऽपि न स्थितः। तत ईदृशीम् अवस्थाम् उपगतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'अपि शास्त्रेषु कुशलाः इत्यादि'।

तत् श्रुत्वा चक्रधर आह—'अहो ! अकारणमेतत्—

सुबुद्धयोऽपि नश्यन्ति दुष्टदैवेन नाशिताः।
स्वल्पधीरपि तस्मिंस्तु कुले नन्दति सन्ततम् ॥ ४२ ॥

उक्तञ्च—

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं
सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः
कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ॥ ४३ ॥

---

(१) लोकव्यवहारं—लोकप्रसिद्धाचारं, 'गन्तव्यं पञ्चभिः सार्द्धम्' 'नैकः शून्याटवीं गच्छेत्' 'अतिलोभो न कर्त्तव्यः' सुहृदां हितकामना न शृणोति च यो वचः' इत्यादिरूपमित्यर्थः, यद्वा सज्जनसम्प्रदायसिद्धं सदाचरणं, लुब्धस्य चेतसः प्रथमोपात्तवस्तूना स्थैर्य्यविधानरूपमिति यावत्। स्थितः—गमनान्निवृत्तः इत्यर्थः।

सुबुद्धय इति। यस्मिन् कुले इति पदमत्रोहनीयम्; सुबुद्धयः महामतयः अपि दुष्टदैवेन दुर्दैवेन, नाशिताः आक्रान्ता इति भावः, नश्यन्ति विपद्यन्ते इत्यर्थः; तस्मिंस्तु कुले तस्मिन्नेव गोत्रे, 'कुलं जनपदे गोत्रे सुजातीयगणेऽपि च। भवने च तनौ क्लीवम्' इति मेदिनी। स्वल्पधीरपि अल्पबुद्धिरपि, अनुकूलदैव इति भावः, सन्ततं निरन्तरं, नन्दति वाञ्छितार्थसिद्धेः सुखीभवति इत्यर्थः; सुदैवमेव सर्वोपरि वर्वर्त्तीति भावः ॥ ४२ ॥

अरक्षितमिति। अरक्षितं यत्नेन अप्रतिपालितमपीत्यर्थः, वस्तु इति शेषः, दैवरक्षितं दैवेन भाग्येन, रक्षितं त्रातं सत्, तिष्ठति; सुरक्षितं यत्नपालितमपि वस्तु, दैवहतं दैवेन विडम्बितं, विनश्यति न तिष्ठतीत्यर्थः; वने विसर्जितः स्वार्थणिजन्तात्

मना किये जाने पर भी नहीं रुके, इसलिए इस दशा को प्राप्त हुए। इसलिए मैं कहता हूँ—'शास्त्रों में कुशल भी' इत्यादि।

यह सुन कर चक्रधर ने कहा—'अरे यह तो अकारण ही मुझे प्राप्त हुआ क्योंकि—

दुर्भाग्य के दिन आने पर बड़े-बड़े बुद्धिमान् व्यक्ति भी दुःखी हो जाते हैं और भाग्य के अनुकूल रहने पर मूर्ख भी आनन्द प्राप्त करता है। अतः भाग्य से ही सुख-दुःख प्राप्त होते हैं ॥ ४२ ॥

भाग्य से रहित होने पर कोई अरक्षित भी प्राणी या पदार्थ विद्यमान रहता है। किन्तु अच्छी प्रकार से रक्षा किये जाने पर भी दैव के प्रतिकूल होने से कोई प्राणी

तथा च—

शतबुद्धिः शिरःस्थोऽयं लम्बते च सहस्रधीः।
एकबुद्धिरहं भद्रे! क्रीडामि विमले जले॥ ४४॥

सुवर्णसिद्धिः आह—'कथमेतत्?' स आह—

५ : मत्स्यमण्डूक-कथा

कस्मिंश्चित् जलाशये शतबुद्धिः सहस्रबुद्धिश्च द्वौ मत्स्यौ निवसतः स्म। अथ तयोः एकबुद्धिर्नाम मण्डूको मित्रतां गतः। एवं ते त्रयोऽपि कञ्चित् कालं वेलायां सुभाषितसुखम् अनुभूय भूयोऽपि सलिलं प्रविशन्ति। अथ कदाचित् तेषां गोष्ठीगतानां जालहस्तधीवराः प्रभूताः

कर्मणि क्तः परित्यक्तः, अनाथोऽपि अशरणोऽपि, जीवति; गृहे कृतप्रयत्नोऽपि जनः, विनश्यति नाशं गच्छति। वंशस्थविलं वृत्तम्॥ ४३॥

शतबुद्धिरिति। हे भद्रे! अयं शतबुद्धिः तदाख्यः मत्स्यः; शिरःस्थः शिरसि तिष्ठति इति तथोक्तः, शिर-उपपदात् स्थाधातोः 'सुपि स्थः' (पा० सू० ३।२।४) इति कः। सहस्रधीः तदभिधानो मत्स्यश्च, लम्बते लम्बमानो नीयते इत्यर्थः। अहं तु एकबुद्धिः तन्नामा मण्डूकः, विमले निर्मले जले क्रीडामि विहरामि॥ ४४॥

[५]

(१) वेलायां—जलाशयतीरे, 'वेला स्यात् तीरनीरयोः' इति वैजयन्ती। तेषां—मित्रत्रयाणां, गोष्ठीगतानां—सभागतानां, संलापमित्यर्थो वा, 'गोष्ठी सभासंलापयोः

या पदार्थ नष्ट ही हो जाता है। देखो, घोर अरण्य में त्यागा हुआ मनुष्य भाग्य के अनुकूल होने पर जीता रहता है। किन्तु घर पर अच्छी तरह सुरक्षा को प्राप्त हुआ भी कोई दैव के प्रतिकूल होने पर जीवित नहीं रहता है। अतः भाग्य ही प्रधान है॥ ४३॥

हे भद्रे! देखो, जिसके पास सौ बुद्धि थी वह शतबुद्धि नामक मछली इस मछुये के सिर पर है, जिसके पास हजार बुद्धि थी वह सहस्रबुद्धि नामक मछली इस मछुये के हाथ में लटक रही है, किन्तु एक ही विचार पर निश्चय रहने वाला मैं निर्मल जल में विहार कर रहा हूँ॥ ४४॥

सुवर्णसिद्धि ने कहा—'यह कैसे?' उसने कहा—

मछली और मेढक की कथा

किसी तालाब में शतबुद्धि और सहस्रबुद्धि नाम की दो मछलियाँ रहती थीं। कुछ काल के बाद उन दोनों को एकबुद्धि नामक मण्डूक से मित्रता हो गई। इस

मत्स्यैः व्यापादितः मस्तके विधृतैः अस्तमनवेलायां तस्मिन् जलाशये समायाताः। ततः सलिलाशयं दृष्ट्वा मिथः प्रोचुः—'अहो ! बहुमत्स्योऽयं ह्रदो दृश्यते स्वल्पसलिलश्च, तत् प्रभाते अत्र आगमिष्यामः। एवमुक्त्वा स्वगृहं गताः। मत्स्याश्च विषण्णवदना मिथो मन्त्रं चक्रुः। ततो मण्डूक आह—'भोः ! शतबुद्धे ! श्रुतं धीवरोक्तं भवता ? तत् किमत्र युज्यते कर्त्तुम् ? पलायनम् अवष्टम्भो वा ? यत् कर्त्तुं युक्त्वं भवति, तत् आदिश्यताम् अद्य'। तत् श्रुत्वा सहस्रबुद्धिः प्रहस्य प्राह— 'भो मित्र ! मा भैषीः, यतो वचनश्रवणमात्रादेव भयं न कार्य्यम्। उक्तञ्च —

सर्पाणाञ्च खलानाञ्च सर्वेषां दुष्टचेतसाम्।
अभिप्राया न सिध्यन्ति तेनेदं वर्त्तते जगत्॥ ४५॥

स्त्रियाम्' इति मेदिनी। जलाशये इति शेषः। मिथः—परस्परम्। अवष्टम्भः—स्तब्धीभूय अलक्षितभावेनावस्थानम् इत्यर्थः, स्तम्भवदचलावस्थानं वा।

सर्पाणामिति। सर्पाणां भुजङ्गानां, खलानां, धूर्त्तानां, तथा सर्वेषां दुष्टचेतसा दुर्जनानाञ्च इत्यर्थः अभिप्रायाः अभिलाषाः, लोकनिर्य्यातिनेच्छा इत्यर्थः, न सिध्यन्ति न सफला भवन्ति, तेन इदं जगत् विश्वं, गच्छति विलयं याति इत्यर्थे गम्धातोः

प्रकार वे तीनों जल के तट पर समय-समय से गोष्ठी में सुभाषित की चर्चा से आनन्दित होकर पुन; जल में घुस जाते थे। एक दिन जब वे तीनों गोष्ठी कर रहे थे, उसी समय सूर्यास्तकाल में मारे हुए बहुत-सी मछलियों को अपने सिर पर रखे हुए, बहुत-से मल्लाह उस जलाशय पर पहुँचे। तदनन्तर उस तालाब को देखकर उन लोगों ने आपस में यह विचार किया— 'इस तालाब में बहुत-सी मछलियाँ हैं, और पानी भी कम है, तो कल प्रातःकाल के समय यहीं आया जायगा।' ऐसा निश्चय कर वे अपने-अपने घर चले गये। उन केवटों के चले जाने पर मछलियों ने खिन्न होकर आपस में विचार करना आरम्भ किया। तब मेढक ने कहा—भाई शतबुद्धि ! तुमने केवटों की बात तो सुनी ही होगी। तो अब हम लोगों को क्या करना चाहिए ? इस परिस्थिति में हम लोग अन्यत्र चलें या यहीं रहें ? जो उचित हो उसे अविलम्ब आज्ञा दो।' मेढक की बात सुनकर सहस्रबुद्धि ने हँसकर कर कहा— 'मित्र तुम भय मत करो, उनकी बात को सुनने मात्र से ही डरना नहीं चाहिये। कहा भी गया है—

सर्पों के, दुष्टों के तथा बुरे विचार वाले लोगों के मनोरथ इस संसार में सिद्ध नहीं होते, इसी कारण यह संसार चल रहा है॥ ४५॥

तत् तावत् तेषाम् आगमनमपि न सम्पत्स्यते, भविष्यति वा, तर्हि त्वां बुद्धिप्रभावेण आत्मसहितं रक्षयिष्यामि, यतः अनेकां सलिलगति-चर्य्याम् अहं जानामि'। तत् आकर्ण्य शतबुद्धिः आह—'भोः! युक्तमुक्तं भवता, सहस्रबुद्धिरेव भवान्। अथवा साधु इदमुच्यते,—

बुद्धेर्बुद्धिमतां लोके नास्त्यगम्यं हि किञ्चन।
बुद्ध्या यतो हता नन्दाश्चाणक्येनासिपाणयः॥ ४६॥
न यत्रास्ति गतिर्वायो रश्मीनाञ्च विवस्वतः।
तत्रापि प्रविशत्याशु बुद्धिर्बुद्धिमतां सदा॥ ४७॥

'द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च' इति वार्त्तिकसूत्रेण क्विप्-प्रत्यान्तो निपातनीयः। वर्त्तते तिष्ठति, यदि एषामभिलाषः सर्व एव सिध्यति, तदा जगत् त्वरितमेव नश्यतीति भावः॥ ४५॥

(१) सलिलगतिचर्य्या—सलिले—जले; गतौ—गमने, चर्याम्—अनुष्ठानं, विहरणप्रक्रियामित्यर्थः।

बुद्धेरिति। लोके जगति, बुद्धिमतां बुद्धेः अगम्यम् इत्यर्थः, नञ्पूर्वाद् गम्-धातोः 'पोरदुपधात्' (पा० ३।१।९८) इति ण्यतोऽपवादः यत्-प्रत्ययः। किञ्चन किमपि, वस्तु इति शेषः, नास्ति हि नास्त्येव, यतः चाणक्येन निरस्त्रेणापि इति भावः, बुद्ध्या बुद्धिप्रभावेण, असिपाणयः खड्गधारिणः, पाणौ असयो येषां ते इति समासे 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ' इति वार्त्तिकसूत्रेण पूर्वनिपातः। नन्दाः नन्दवंशीयः नव राजानः, हताः विनाशं नीताः॥ ४६॥

नेति। यत्र वायोः पवनस्य, विवस्वतः सूर्यस्य, रश्मीनाञ्च गतिः प्रवेशः, न अस्ति; बुद्धिमतां बुद्धिः तत्रापि आशु शीघ्रं, सदा प्रविशति॥ ४७॥

पहले तो मुझे ऐसी संभावना है कि उनका यहाँ आगमन ही न होगा। यदि कदाचित् उनका आगमन हो भी गया तो मैं अपनी बुद्धि के प्रभाव से रहित तुम्हारी रक्षा कर लूँगा। क्योंकि मैं जल में चलने की अनेक कलाएँ जानता हूँ।' उसकी बात सुनकर शतबुद्धि ने कहा—महाशय! आप ने ठीक ही कहा है, सचमुच आप सहस्रबुद्धि जो ठहरे। अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

इस जगत् में बुद्धिमानों की बुद्धि से कुछ भी असंभव नहीं है। देखो, चाणक्य ने अपनी बुद्धि के बल से खड्गधारण करने वाले भी समस्त नन्दवंश को नष्ट कर दिया॥ ४६॥

जिस स्थान पर वायु का प्रवेश एवं सूर्य की किरणों का आवागमन नहीं हो पाता; वहाँ पर भी बुद्धिमानों की तीक्ष्ण बुद्धि सदैव शीघ्रता से तत्काल पहुँच

ततो वचनश्रवणमात्रादपि पितृपर्य्यायऽऽगतं जन्मस्थानं त्यक्तुं न शक्यते । उक्तञ्च—

न तत् स्वर्गेऽपि सौख्यं स्यात् दिव्यस्पर्शनशोभने ।
कुस्थानेऽपि भवेत् पुंसां जन्मनो यत्र सम्भवः ॥ ४८ ॥

तत्र कदाचिदपि गन्तव्यम् । अहं त्वां सुबुद्धिप्रभावेण रक्षयिष्यामि' ।

मण्डूक आह—'भद्रौ ! मम तावत् एका एव बुद्धिः पलायनपरा, तत् अहम् अन्यं जलाशयम् अद्य एव सभार्य्यो यास्यामि' । एवमुक्त्वा स मण्डूको रात्रौ एव अन्यजलाशयं गतः । धीवरैः अपि प्रभाते आगत्य जघन्यमध्यमोत्तमजलचरा मत्स्यकूर्ममण्डूककर्कटादयो गृहीताः, तौ अपि शतबुद्धिसहस्रबुद्धी सभार्य्यौ पलायमानौ चिरम् आत्मानं गतिविशेष-

(१) पितृपर्यायाऽऽगतं—पितृक्रमाऽऽयातं, पितृपैतामहिकमित्यर्थः ।

नेति । यत्र यस्मिन् स्थाने; जन्मनः सम्भवः उत्पत्तिरित्यर्थः स्यादिति शेषः' तस्मिन् कुस्थानेऽपि व्याधिशोकभयादिकारणानां बाहुल्यतया सत्त्वेन कुदेशेऽपीति भावः, पुंसां यत् सौख्यं भवेत्, दिव्यस्पर्शनशोभने दिव्यानां दिवि भवानां, स्वर्गीयाणाम् इत्यर्थः, वस्तूनामिति शेषः, दिव्शब्दात् भवार्थे यत्-प्रत्ययः, स्पर्शनेन शोभने मनोरमे; स्वर्गेऽपि तत् सौख्यं, सुखमेव सौख्यं, सुखशब्दात् 'चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसङ्ख्यानम्' इति वार्त्तिकसूत्रेण ष्यञ्-प्रत्ययः, न स्यात् ॥४८॥

जातो है ॥ ४७ ॥

इसलिए केवटों की बात को सुनने मात्र से वंशक्रमागत इस जन्मभूमि को छोड़ना उचित नहीं है । कहा भी गया है—

अत्यन्त मनोहर स्वर्गादि लोकों में दिव्याङ्गनाओं के स्पर्श से पुरुष को उतना आनन्द नहीं होता, जितना कुस्थान में भी जन्म लेने पर मनुष्य को अपनी जन्मभूमि में आनन्द प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

इसलिए तुम्हें अपनी मातृभूमि को छोड़ कर कहीं अन्यत्र नहीं जाना चाहिए । मैं अपनी सुबुद्धि के प्रभाव से तुम्हारी रक्षा करूँगा ।

शतबद्धि की बात सुनकर मण्डूक ने कहा —'सज्जनों ! मैं एक ही बुद्धि वाला हूँ और यहाँ बुद्धिमानी यह है कि मैं यहाँ से भाग चलूँ । इसलिए मैं आज ही अपनी स्त्री को साथ लेकर अन्य जलाशय को चला जाऊँगा।' ऐसा कह कर वह मण्डूक रात में ही अन्य तालाब में चला गया । दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही मल्लाहों ने आकर उस तालाब के छोटे, मझले तथा बड़े-बड़े सभी जलचरों मछलियों, कछुये, मेढक तथा केकड़े आदि को पकड़ लिया। शतबुद्धि और सहस्रबुद्धि भी अपनी-अपनी स्त्रियों के साथ इधर-

विज्ञानैः कुटिलचारेण रक्षन्तौ अपि जाले पतितौ व्यापादितौ च।

अथ अपराह्णसमये प्रहृष्टास्ते धीवराः स्वगृहं प्रति प्रस्थिताः। गुरुत्वाच्च एकेन शतबुद्धिः स्कन्धे कृतः, सहस्रबुद्धिः प्रलम्बमानो नीयते। ततश्च वापीकण्ठोपगतेन मण्डूकेन तौ तथा नीयमानौ दृष्टवा अभिहिता स्वपत्नी—'प्रिये ! पश्य पश्य—

शतबुद्धिः शिरस्थोऽयं लम्बते च सहस्रधीः।
एकबुद्धिरहं भद्रे ! क्रीड़ामि विमले जले ॥ ४९ ॥

अतश्च 'वरं बुद्धिर्न सा विद्या' इत्यादि यत् भवता उक्तं, तत्रेयं मे मतिः यत्, न एकान्ते बुद्धिरपि प्रमाणम्[१]। सुवर्णसिद्धिः आह—'यद्यपि

(२) धीवरैः—जालजीविभिः। वापीति। वाप्याः—दीर्घिकायाः, कण्ठः—सन्निधानं, समीपमित्यर्थः, 'कण्ठो गले सन्निधाने ध्वनौ मदनपादपे' इति मेदिनी, तम् उपगतः तेन।

शतबुद्धिरिति। हे भद्रे, अयं शतबुद्धिः तदाख्यः मत्स्यः, शिरस्थः शिरसि तिष्ठति इति तथोक्तः, शिर उपपदात् स्थाधातोः 'सुपि स्थः' (पा०सू० ३।२।४) इति कः। सहस्रधीः तदभिधानो मत्स्यश्च, लम्बते लम्बमानो नीयते इत्यर्थः। अहं तु एकबुद्धिः तन्नामा मण्डूकः, विमले निर्मले, जले क्रीडामि विहरामि। ७४४ पृष्ठे व्याख्यातोऽयं प्राक् ॥ ४९ ॥

(१) न एकान्ते इति। एकान्ते—एकान्ततः, केवलमेव इत्यर्थः, बुद्धिरपि न प्रमाणं—प्रमाणतया गण्यते, दैवस्यैव बलीयस्त्वादिति भावः।

उधर भागते हुए अपने जल की संतरण सम्बन्धी विभिन्न कलाओं से अपनी टेढ़ी-मेढ़ी चालों से बहुत देर तक अपनी रक्षा करते रहे। किन्तु अन्त में मल्लाहों के जाल में फँस गये और मार डाले गये।

इसके अनन्तर तीसरे प्रहर प्रसन्न हुए वे सभी मल्लाह अपने घर की ओर लौटने लगे। तब एक ने भारी होने के कारण शतबुद्धि को अपने कन्धों पर रख लिया और सहस्रबुद्धि को लटका लिया। तब जलाशय के तीर पर बैठे हुए मेढक ने धीवर के द्वारा ले जाते हुए उन दोनों को देखकर अपनी स्त्री से कहा—प्रिये, देखो-देखो—

यह शतबुद्धि शिर पर है और यह सहस्रबुद्धि लटक रहा है और भद्रे, देखो मैं एक बुद्धि इस निर्मल जल में आनन्द से बिहार कर रहा हूँ ॥ ४९ ॥

इसलिए मैं कहता हू 'बुद्धि अच्छी है विद्या नहीं' यह जो आप कहते है, उस विषय में मेरा विचार है अकेली बुद्धि ही कार्यसिद्धि में प्रमाण नहीं है। तदनन्तर

एतदस्ति, तथाऽपि मित्रवचनम् अनुल्लङ्घनीयम्। परं किं क्रियते? निवारितोऽपि मया न स्थितोऽतिलौल्यात् विद्याऽहङ्कारच्च। अथवा साधु इदमुच्यते,—

साधु मातुल! गीतेन मया प्रोक्तोऽपि न स्थितः।
अपूर्वोऽयं मणिर्बद्धः सम्प्राप्तं गीतलक्षणम्' ॥ ५० ॥

चक्रधर आह—'कथमेतत्?' सोऽब्रवीत्—

६ : रासभशृगाल-कथा

'कस्मिंश्चित् अधिष्ठाने उद्धतो नाम गर्दभः प्रतिवसति स्म। स सदैव रजकगृहे भारोद्वहनं कृत्वा रात्रौ स्वेच्छया पर्यटति, ततः प्रत्यूषे बन्धनभयात् स्वयमेव रजकगृहम् आयाति। रजकोऽपि ततस्तं बन्धनेन

साध्विति। हे मातुल! साधु भद्रमस्तु, ते इति शेषः मया प्रोक्तोऽपि सङ्केतितोऽपीत्यर्थः, गीतेन गानप्रियतया इत्यर्थः, 'हेतौ' (पा०सू०२।३।२३) इति हेत्वर्थे तृतीया। न स्थितः न निवृत्तः, न तूष्णीमासीरित्यर्थः, तेन बद्धः, क्षेत्रपतिनेति शेषः अयं गलदेशस्थः, अपूर्वो मणिः उदूखलमिति भावः, गीतलक्षणं गीतस्य चिह्नं, पुरस्कारभूतमिति भावः, 'लक्षणं नास्ति चिन्हे च' इति मेदिनी। सम्प्राप्तं लब्धम्, लोके यथा मधुरसङ्गीतश्रवणेन परितुष्टाः केचित् गायकाय अभिज्ञानपदकादिकं प्रयच्छन्ति, तथा तुभ्यमपि क्षेत्रपतिरिदमुदूखलमिति भावः। सम्प्राप्तः गीतलक्षणः इति पाठो युक्तः, गीतलक्षणः सम्प्राप्तः। अयमपूर्वो मणिबद्धः इति तदर्थः ॥ ५० ॥

सुवर्णसिद्धि ने कहा—यद्यपि ऐसा है तथापि आपको मित्र की बात नहीं टालनी चाहिए थी। किन्तु क्या किया जाय? मेरे द्वारा रोके जाने पर भी आप लोभातिशय तथा विद्या के अहङ्कार के वश में होने से मेरा कहना नहीं माने। अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

हे मामा! मैंने तुम्हें रोका था कि गाना मत गाओ। किन्तु तुम मेरे मना करने पर भी गाने से नहीं रुके। अब इस अपूर्व मणि को गले से लटका लिये हो। अतः अच्छा हुआ जो तुम्हें अपने गाने का यथोचित पुरस्कार प्राप्त हो गया ॥ ५० ॥

चक्रधर ने पूछा—'यह कैसे हुआ?' तब उस सुवर्णसिद्धि ने कहा—

गदहा और सियार की कथा

किसी स्थान में उद्धत नाम का एक गदहा रहता था। वह नित्य प्रति धोबी से घर में दिन भर बोझा ढोने के उपरान्त रात में मनमाना इधर-उधर घूमता था। फिर प्रातःकाल होते ही बाँधे जाने के भय से धोबी के घर अपने-आप आ जाता था,

नियुनक्ति। अथ तस्य रात्रौ पर्य्यटतः क्षेत्राणि कदाचित् शृगालेन सह मैत्री सञ्जाता। स च पीवरत्वात् वृतिभङ्गं कृत्वा कर्कटिकाक्षेत्रे शृगाल-सहितः प्रविशति। एवं तौ यदृच्छया चिर्भटिकाभक्षणं कृत्वा प्रत्यहं प्रत्यूषे स्वस्थानं व्रजतः।

अथ कदाचित् तेन मदोद्धतेन रासभेन क्षेत्रमध्यस्थितेन शृगालोऽभिहितः—'भो भगिनीसुत ! पश्य पश्य !! अतीव निर्मला रजनीः तदहं गीतं करिष्यामि, तत् कथय कतमेन रागेण करोमि ? स आह—'माम ! किमनेन वृथा अनर्थप्रचालनेन ? यतः चौरकर्मप्रवृत्तौ आवाम्, निभृतैश्च चौरजारैः अत्र स्थातव्यम्। उक्तञ्च—

[६]

(१) पीवरत्वात्—स्थूलकायत्वात्, 'पा पाने' इति धातोः 'छित्वरछत्वरधीवर-पीवर—'(उणा० ३. १) इत्यादिना ष्वरच्–प्रत्ययः, निपातनादी-कारागमश्च। पीवरस्य भावः 'तस्य भावस्त्वतलः' (पा० ५।१।११९) इति त्व-प्रत्ययात् पीवरत्वं, तस्मात्। वृतिभङ्गं—वृक्षशाखावंशादिकृतप्राचीरभेदम्। कर्कटि-काक्षेत्रे—कर्कटिका नाम फलविशेषः। ककड़ी इति हिन्दी भाषा। तस्याः क्षेत्रे, चिर्भटीभूमौ इति यावत्। चिर्भटिकाभक्षणं—कर्कटिकाभोजनम। कतमेन बहुपु राषेषु केन, वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्' (५।३।९३ पा०) इति किंशब्दात्-डतमच्–प्रत्ययेन सिद्धम् ! रागेण—गान्धारदिस्वरग्रामेण, 'रागस्तु मात्सर्ये लोहि-तादिषु। क्लेशादावनुरागे च गान्धारादौ नृपेऽपि च ॥' इति मेदिनी।

अनर्थप्रचालनेन—अनर्थानां—विपदां, प्रचालनं—घट्टनम्, आहूय आनयन-मित्यर्थः, सिन्धुक्षणमिति यावत्, तेन। निभृतैः—निःशब्दैः, चौरजारैः—तस्करोप-पतिभिरित्यर्थः। अत्र—संसारे।

और धोबी भी उसे बाँध देता था। किसी दिन रात्रिकाल में जब वह गधा खेतों में घूम रहा था कि उसकी एक शृगाल से मित्रता हो गई। खूब मोटा हो जाने के कारण वह गधा खेत के घेरे को तोड़ कर शृगाल के साथ ककड़ी के खेतों में घुस जाता था। फिर दोनों भरपेट ककड़ी खा लेने के पश्चात् सुबह होते ही अपने-अपने स्थानों को लौट जाया करते थे।

किसी दिन उस उन्मत्त गधे ने ककड़ी के खेत के बीच में ही उस शृगाल से कहा—'हे भाञ्जे ! देखो, रात कैसी सुहावनी है, मैं गीत गाना चाहता हूँ, तो बताओ किस राग में गाना गाऊँ ?' तब शृगाल ने कहा—'मामा यह व्यर्थ ही विपत्ति क्यों उपस्थित कर रहे हो ? इस समय हम लोग चोरी के काम में लगे हुए हैं, और

कासयुक्तस्त्यजेत् चौर्यं निद्रालुश्चेत् स पुञ्चलीम् ।
जिह्वालौल्यं रुजाऽऽक्रान्तो जीवितं योऽत्र वाञ्छति ॥ ५१ ॥

अपरं, त्वदीयं गीतं न मधुरस्वरं, शङ्खशब्दानुकारं दूरादपि श्रूयते । अत्र क्षेत्रे रक्षापुरुषाः सन्ति ; ते उत्थाय वधं बन्धं वा करिष्यन्ति, तत् भक्षय तावत् अमृतमयीः चिर्भटीः, मा त्वम् अत्र गीतव्यापारपरो भव ।' तत् श्रुत्वा रासभ आह— 'भोः ! वनाश्रयत्वात् त्वं गीतरसं न वेत्सि; तेन

कासेति । अत्र संसारे, यः जीवितं वाञ्छति अभिलषति, स कासयुक्तः कास रोगाक्रान्तश्चेत्, चौर्यम्, निद्रालुश्चेत् निद्रातुरश्चेत् । निद्रालुरिति निपूर्वकात् द्राधातोः 'स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच्' (पा० ३।२।१५८) इति सूत्रेण शीलार्थे आलुच्–प्रत्ययः । पुंश्चलीं कुलटां, प्रच्छन्नकामुकीमित्यर्थः, पुंसः, भर्तृसकाशात्, चलति–पुरुषान्तरं गच्छति इति चल्धातोः पचादित्वादच्, ततः पुंश्चलशब्दात् 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (पा० ४।१।४१) इति स्त्रियां ङीष्-प्रत्ययः । 'पुंश्चली धर्षिणी बन्धक्यसती कुलटेत्वरी । स्वैरिणी पांशुला च स्यात्' इत्यमरः,तथा रुजाऽऽक्रान्तः रोगी चेत्, जिह्वालौल्यं रसनाचाञ्चल्यं, लोभमिति यावत् त्यजेत् त्यजतु; चौर्य्ये प्रवृत्ते यदि तदानीं कासोपस्थितिः स्यात्, तदा गृहस्थस्य निद्राभङ्गेन महान् अनर्थः स्यात्, निद्रातुरश्चेत् जारकर्म्मणि सूर्य्योदयादिसम्भवे सति महाननर्थः स्यात्, तथा रोगसत्त्वे लोभात् आहारव्यतिक्रमे तद्वृध्या मृत्युरपि सम्भवेदिति भावः ॥ ५१ ॥

(१) शङ्खेति । शङ्खशब्दम् अनुकरोतीति तादृशं, शङ्खध्वनिसदृशमित्यर्थः, कर्कशमिति यावत् । अमृतमयीः—पीयूषरूपाः सुरसाः इति यावत् ।

चोर तथा व्यभिचारी को सदैव चुपचाप छिपे रहना चाहिए । कहा भी गया है—

जो मनुष्य इस लोक में जीना चाहता है वह यदि खाँसी का रोगी हो तो उसे चोरी नहीं करनी चाहिए । सोने वाले व्यक्ति को परस्त्री-गमन नहीं करना चाहिए और रोगी को जीभ की चञ्चलता (जीभ-चटोरी) का त्याग कर देना चाहिए ॥ ५१ ॥

शृगाल ने गधे से कहा—'एक बात और है कि तुम्हारा गाना मनोहर नहीं होता, वह केवल शङ्ख के शब्द के समान दूर से ही सुनाई पड़ने लगता है और यहाँ पर इस खेत में खेती की रखवाली करने वाले रक्षक पुरुष सोये हुए हैं । वे उठकर तुरन्त ही मारने लगेगें अथवा बांध देंगे । इसलिए चुपचाप अमृत के समान और स्वादिष्ट ककड़ी को खाओ । यहाँ पर गाने के चक्कर में मत पड़ो । तब शृगाल की बात सुनकर गधे ने कहा—'तुम जंगली होने के कारण गाने का आनन्द नहीं

एतत् ब्रवीषि।

शरज्ज्योत्स्नाहते दूरं तमसि प्रियसन्निधौ।
धन्यानां विशति श्रोत्रे गीतझङ्कारजा सुधा' ॥ ५२ ॥

शृगाल आह—'माम ! अस्ति एतत्, पर न वेत्सि त्वं गीतं, केवलम् उन्नदसि; तत् किं तेन स्वार्थभ्रंशकेन ?' रासभ आह—धिक धिक् मूर्ख ? किमहं न जानामि गीतम् ? तत् यथा तस्य भेदाः शृणु—

सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्च्छनाश्चैकविंशतिः।
तालास्त्वेकोनपञ्चाशत तिस्रो मात्रा लयास्त्रयः ॥ ५३ ॥

शरज्योत्स्नेति। तमसि तिमिरे, दूरम् अत्यर्थं यथा तथा, शरदि या ज्योत्स्ना चन्द्रातपः, चन्द्रकिरणः इत्यर्थः, ज्योतिरस्त्यस्यामिति ज्योतिःशब्दात् 'ज्योत्स्नातमिस्त्रा—' (पा० ५।२।११४) इत्यादिना निपातनात् न-प्रत्ययः, उपधालोपश्च। 'ज्योत्स्ना चन्द्रातपेऽपि स्यात् ज्योत्स्नायुक्तनिशि स्मृता' इति मेदिनी। तया हते नाशिते सति, प्रियसन्निधौ प्रेमास्पदजनसमीपे, गीतस्य झङ्कारः स्वनः, तस्मात् जाता उद्भूता सुधा अमृतं, धन्यानां पुण्यभाजामेव, धनं लब्धा इति धनशब्दात् 'धनगणं लब्धा' (पा० ४।४।८४) इति यत्-प्रत्ययः। श्रोत्रे कर्णविवरे, विशति; अकृतपुण्यसम्पदां न खलु सङ्गीतरसास्वादः सम्भवतीति भावः ॥५२॥

(१) उन्नदसि—उच्चैः शब्दायसे। तेन—गीतव्यापारेणेत्यर्थः, स्वार्थभ्रंशकेन—स्वकार्यध्वंसिना। तस्य—गीतस्य। भेदाः—प्रकाराः।

सप्तेत्यादि। स्वराः निषादादयः, सप्त, 'निषादर्षभगान्धार-षड्जमध्यमधैवताः। पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वराः ॥' इत्यमरः। ग्रामाः त्रयः—'यथा

जानते हो। इसलिए ऐसी बात कहते हो। कहा भी गया है—

शरत्कालीन चाँदनी से जब रात्रि का अन्धकार दूर हो जाता है और अपना प्रेमी अपने पास रहता है, उस समय भाग्यशाली लोगों के ही कान में संगीत की माधुरी का आनन्द प्रवेश करता है ॥ ५२ ॥

(गधे की बात सुनकर) सियार ने कहा—'मामा ! तुम ठीक कहते हो, परन्तु तुम गाने की कला नहीं जानते, केवल जोर-जोर से चीत्कार करते हो। इसलिए व्यर्थ ही अपने स्वार्थ की हानि मत करो। तब गधे ने कहा—'मूर्ख ! तुम्हें धिक्कार है; क्या मैं गाने की कला नही जानता ? गीत के भेदों को मुझसे सुनो—

सङ्गीतशास्त्र के अनुसार सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्छनाएँ, उनचास ताल, तीन मात्राएँ तथा तीन लय होते हैं ॥ ५३ ॥

अथ 'तथा' इति प्रतिज्ञाते व्यन्तरेण, स कौलिकः प्रहृष्टः स्वगृहं प्रति निवृत्तः यावत् अग्रे गच्छति, तावत् ग्रामप्रवेशे निजसुहृदं नापितम् अपश्यत् । ततस्तस्य व्यन्तरवाक्यं निवेदयामास यत्—'अहो मित्र ! मम कश्चित् व्यन्तरः सिद्धः । तत् कथय किं प्रार्थये ?' अहं त्वां प्रष्टुम् आगतः ।' नापित आह—भद्र ! यदि एवं तत् राज्यं प्रार्थय येन त्वं राजा भवसि अहञ्च त्वन्मन्त्री । द्वौ अपि इह सुखमनुभूय परलोकसुखम् अनुभवावः । उक्तञ्च—

राजा दानपरो नित्यमिह कीर्तिमवाप्य च ।
तत्प्रभावात् पुनः स्वर्गे स्पर्द्धते त्रिदशैः सह ॥ ५९ ॥

राजेति । नित्यं सततं, दानपरः; त्यागशीलः राजा इह संसारे, कीर्ति यशः, अवाप्य लब्ध्वा, तत्प्रभावात् तस्य दानस्य माहात्म्यात् पुनः स्वर्गे त्रिदशैः देवैः । त्रिः तृतीया यौवनाख्या दशा सदा येषाम्, यद्वा—त्रिर्दश परिमाणमेषामिति 'सङ्ख्यया-ऽव्यया– (पा० २।२।२५) इत्यादिना बहुव्रीहिः 'बहुव्रीहौ सङ्ख्येये–' (पा० ५।४।७३) इत्यादिना डच् । केचित्तु, त्रीन् तापान् दशन्ति इति 'दंश दंशने' इत्यस्मात् मूलविभुजादित्वात् क-प्रत्यये सिद्धमिति मन्यन्ते । 'अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः' इत्यमरः । सह स्पर्द्धते देवानां प्रतिस्पर्द्धी भवति इत्यर्थः, दानादीनां स्वर्गादिसाधकत्वात् तेषाञ्च वित्तमूलकत्वात् राजपदमेव प्रार्थयितव्यमिति भावः ॥ ५९ ॥

कौलिक की बात सुन कर यक्ष ने 'तथास्तु' कह कर जाने की आज्ञा दे दी । इसके अनन्तर जब वह जुलाहा प्रसन्न होकर घर की ओर लौटने लगा, उसी समय गाँव में प्रवेश करते ही उसने अपने मित्र नाई को देखा, और यक्ष के प्रसन्न होने की सारी घटना उससे कह सुनाई । फिर कहा—'मित्र ! वह यक्ष मुझ पर प्रसन्न है और मुझसे वरदान माँगने के लिए कहा है, तो तुम बताओ मैं उससे क्या माँगूँ ? मैं यही पूछने के लिए तुम्हारे पास आया हूँ ।' तब नाई ने कहा—'मित्र यदि ऐसी बात है तो राज्य माँग लो । जिससे तुम राजा हो जाओगे और मैं तुम्हारा मन्त्री बन जाऊँगा । इस प्रकार हम दोनों यहाँ पर सुख प्राप्त कर परलोक में भी सुख प्राप्त करेंगे । कहा भी गया है—

जो राजा नित्य दानशील होता है वह इस लोक में कीर्ति प्राप्त करता है और परलोक में देवताओं के साथ आनन्द का अनुभव करता है ॥ ५९ ॥

कौलिक आह—'अस्ति एतत् परं, तथाऽपि गृहिणीं पृच्छामि। स आह—'भद्र! शास्त्रविरुद्धमेतत् यत् स्त्रिया सह मन्त्रः, यतस्ताः स्वल्पमतयो भवन्ति। उक्तञ्च—

भोजनाच्छादने दद्यात् ऋतुकाले च सङ्गमम्।
भूषणाद्यञ्च नारीणां न ताभिर्मन्त्रयेत् सुधीः॥ ६०॥
यत्र स्त्री यत्र कितवो बालो यत्राप्रशासितः।
तत् गृहं क्षयमायाति भार्गवो हीदमब्रवीत्॥ ६१॥

भोजनेति। सुधीः पण्डितो जनः, सु सुष्ठु, ध्यायति चिन्तयति इति सुधीः, सुपूर्वकात् 'ध्यैं चिन्तायाम्' इत्यस्मात् 'ध्यायतेः सम्प्रसारणश्च' (वा०) इति क्विप् सम्प्रसारणश्च। 'विद्वान् विपश्चित् दोषज्ञः सन् सुधीः कोविदो बुधः।...... पण्डितः कविः' इत्यमरः, नारीणां भोजनाच्छादने अन्नवस्त्रे, भूषणाद्यञ्च अलङ्कारादिकञ्च दद्यात्, ऋतुकाले रजः प्रवृत्तिसमये च, रजोदर्शनात् त्रिदिनानन्तरमिति भावः, सङ्गमं, कुर्यात् इति शेषः, किन्तु ताभिः सह न मन्त्रयेत् न मन्त्रणां कुर्यात्॥ ६०॥

यत्रेति। यत्र स्त्री मन्त्रणादात्रिनीति भावः, यत्र कितवः धूर्त्तः, वञ्चक इति यावत्, 'कितवो धूर्त्तवन्मत्ते वञ्चके कनकाह्वये' इति विश्वः, वसतीति शेषः, यत्र बालश्च अप्रशासितः अदमितः, तिष्ठतीति शेषः, हि नूनं, तत् गृहं क्षय ध्वंसम्, आयाति प्राप्नोति, इदं भार्गवः भृगुतनयः शुक्रः, भृगोरपत्यमिति भृगुशब्दात् 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' (पा० ४।१।११४) इत्यण्। 'भार्गवो गजधन्विनीः। शुक्रे परशुरामे च' इति मेदिनी अब्रवीत्। 'बालो यत्र प्रशासिता' इति पाठे—प्रशासिता प्रशासकः, इत्येवं व्याख्येयम्॥ ६१॥

तदनन्तर जुलाहे ने कहा—'मित्र यद्यपि तुम ठीक कहते हो तथापि स्त्री से जाकर पूछ लूँ।' तब नापित ने कहा—'मित्र! स्त्री से सलाह करना शास्त्र में निषिद्ध बताया गया हैं, क्योंकि स्त्रियाँ स्वभाव से ही स्वल्प बुद्धि वाली होती हैं। कहा भी गया है—

बुद्धिमान् पुरुष को उचित है कि वह स्त्रियों को अन्न-वस्त्र एवं भूषणादि प्रदान करें। ऋतुकाल में उनके साथ सहवास भी करें, किन्तु उनसे गुप्तमन्त्रणा कदापि न करें॥ ६०॥

जिस घर में स्त्री, धूर्त्त या बालकों का साम्राज्य रहता है वह घर शीघ्र विनष्ट हो जाता है। ऐसा शुक्राचार्य का मत है॥ ६१॥

तावत् स्यात् सुप्रसन्नाऽऽस्यस्तावत् गुरुजने रतिः ।
पुरुषो योषितां यावन्न शृणोति वचो रहः ॥ ६२ ॥
एताः स्वार्थपरा नार्यः केवलं स्वसुखे रताः ।
न तासां वल्लभः कोऽपि सुतोऽपि स्वसुखं विना ॥ ६३ ॥

कौलिक आह—'तथाऽपि प्रष्टव्या सा मया, यतः पतिव्रता सा । अपरं, ताम् अपृष्टवा अहं न किञ्चित् करोमि'। एवं तमभिधाय सत्वरं गत्वा ताम् उवाच—'प्रिये ! अद्य अस्माकं कश्चित् व्यन्तरः सिद्धः, स वाञ्छितं प्रयच्छति । तदहं त्वां प्रष्टुम् आगतः । कथय किं प्रार्थये ? एष तावत् मम मित्रं नापितो वदति एवं यत् 'राज्यं प्रार्थयस्व' इति । सा आह—आर्य्यपुत्र ! का मतिर्नापितानाम् ! तत् न कार्य्यं तद्वचः ।

तावदिति । पुरुषः यावत् रहः निर्जने, योषितां वचः न शृणोति स्त्रियाः गुप्तोपदेशेन न चलतीत्यर्थः, तावत् सुप्रसन्नम् आस्यं मुखं यस्य तादृशः स्यात्; तावच्च अस्य गुरुजने पित्रादौ, रतिः अनुरागः, भक्तिरिति यावत्, तिष्ठतीति शेषः, रमणीमन्त्रपरिचालितस्तु पोष्यवर्गं कुपोष्यं मत्वा सदा पेचकगम्भीरमुखः गुर्वादौ भक्तिशून्यश्च दृश्यते इति तात्पर्यम् ॥ ६२ ॥

एता इति । एताः नार्यः केवलं स्वार्थपराः स्वकार्यसाधनपरायणः, स्वस्य आत्मनः, सुखे रताश्च, भवन्तीति शेषः, स्वसुखम् आत्मसुखं विना, कोऽपि जनः, तासां नारीणां, वल्लभः प्रियः दयित इति यावत् 'वल्ल संवरणे' इति वल्लधातोः 'रासिवल्लिभ्याश्च' (उणा० ३. १२५) इत्यभच्-प्रत्ययः । 'वल्लभो दयिते ऽध्यक्षे सल्लक्षणतुरङ्गमे' इति विश्वः, न किं बहुना ? सुतोऽपि, न वल्लभ इत्यनुषङ्गः ॥ ६३ ॥

पुरुष जब तक एकान्त में स्त्री की बात नहीं सुनता तभी तक वह प्रसन्न रहता है और गुरुजनों में श्रद्धा रखता है ॥ ६२ ॥

ये स्त्रियाँ जाति स्वभाव से ही अपने स्वार्थसिद्धि में परायण होती हैं और केवल अपना ही सुख चाहती हैं । अपने सुख के अतिरिक्त इनको और कोई यहाँ तक कि पुत्र भी प्रिय नहीं होता ॥ ६३ ॥

जुलाहे ने कहा—'यद्यपि ऐसी बात है तथापि मैं अपनी भार्या से अवश्य पूछूँगा, क्योंकि वह पतिपरायणा है । एक और बात यह है कि मैं उससे बिना परामर्श लिये कोई भी कार्य नहीं करता ।' नापित से ऐसा कह कर उसने अपनी स्त्री से जाकर कहा—'प्रिये आज मुझ पर एक यक्ष प्रसन्न हो गया है, वह मुझे वरदान देना चाहता है तो बताओ उससे क्या माँगू ? मेरा मित्र नाई कहता है कि राज्य

उक्तञ्च—

चारणैर्वन्दिभिर्नीचैर्नापितैर्बालकैस्तथा ।
न मन्त्रंमतिमान् कुर्यात् सार्द्धं भिक्षुभिरेव च ॥ ६४ ॥

अपरं महती क्लेशपरम्परा एषां राज्यस्थितिः सन्धिविग्रहयानाऽऽसन-संश्रयद्वैधीभावादिभिः कदाचित् पुरुषस्य सुखं न प्रयच्छतीति । यतः—

चारणैरिति । मतिमान् बुद्धिमान् जनः, चारणैः नटवृत्तिभिः कुशीलवैरित्यर्थः, चारयन्ति कीर्त्तिम् इति चरधातो, णिजन्तात् 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (पा० ३।१।१२४) इति ल्युः 'चारणास्तु कुशीलवाः' इत्यमरः । वन्दिभिः स्तुतिपाठकैः, वन्दन्ते स्तुवन्ति इति वदिधातोः ग्रहादित्वात् 'नन्दिग्राह—'इत्यादिना णिनिः । 'वन्दिनः स्तुतिपाठकाः' इत्यमरः । नीचैः क्षुद्रैः नापितैः बालकैः तथा भिक्षुभिश्च याचकैश्च, भिक्षधातोः 'सनाशंसभिक्ष उ,' (पा० ३।२।१६८) इति उ-प्रत्ययः सार्द्धं सह, मन्त्रं न कुर्यादेव, प्रकाशभीत्येत्यभिप्रायः ॥ ६४ ॥

क्लेशपरम्परा - क्लेशनिचयः, दुःखानुबन्धिनी इत्यर्थः । राज्यस्थितिः— राज्यपालनम् । सन्धीति । सन्धिः बलवता विगृहीतेन नृपेण स्वशक्तिपूरणाय कालातिवाहनार्थं कृतेन पणबन्धेन सम्मेलनम्, विग्रहः—युद्धम्; यानं—बलवीर्य-सम्पन्नस्य विजिगीषोः शत्रुं प्रति यात्रा, आसनम्—अरिविजिगीष्वोः परस्परं तुल्यशक्तिमत्त्वात् आक्रमणानन्तरमुपेक्षया अवस्थानं, मिथः प्रतिबद्धशक्त्योः कालप्रतीक्षया तूष्णीमवस्थानमिति यावत्, संश्रयः—बलिना स्वदेशात् निष्काश्यमानस्य प्रतीकारासमर्थस्य च तस्मात् शत्रोः बलवतः आश्रयणम्, द्वैधीभावः—बलवतोर्द्वयोः शत्र्वोः समीपे इदं राज्यमहञ्च तवाधीनः, इत्येवमुभयोरेव परम्पराज्ञाततत्त्वयोः काकाक्षिवदलक्षिततया वाचा आत्मसमर्पणपूर्वकं दुर्गाश्रयेणावस्थानमित्यर्थः, अत्राय-माशयः—यथा एकस्य काकचक्षुषः प्रयोजनवशात् द्वयोरक्षिगालकयोः कस्मिन् गोलके सत्ता इति कैश्चिदपि निर्णेतुं न शक्यते, तथाप्रयोजनवशात् उभयोरेव शत्र्वोः कपटतया अलक्षितावस्थानम् इति, बलवति शत्रौ केवलं कापट्येन वाचिकमात्म-समर्पणं कृत्वा अलक्षितभावेनावस्थानमिति वा; बलवता शत्रुणा, 'अयं मयि आत्मानं

माँग लो ।' तब उसकी स्त्री ने कहा—'आर्यपुत्र ! नाई को कितनी बुद्धि हो होती है ? उसका कहना किसी तरह मत कीजियेगा । कहा भी है—

चारण, वन्दीजन, नीच, बालकों एवं भिक्षुकों के साथ बुद्धिमान् व्यक्ति को कभी कोई सलाह नहीं लेनी चाहिए ॥ ६४ ॥

इसके अतिरिक्त राज्य बड़ा कष्टदायी होता है, उसके संधिविग्रहादिक कार्य अत्यन्त दुरुह होने से कभी भी राजा को सुख नहीं मिलता । क्योंकि—

यदैव राज्ये क्रियतेऽभिषेकस्तदैव याति व्यसनेषु बुद्धिः।
घटा नृपाणामभिषेककाले सहाम्भसैवापदमुद्गिरन्ति ॥ ६५ ॥

सर्वथा समर्पितवान् ? उत् वाङ्मात्रेण केवलम् आत्मानं समर्पितवान् इति वदति' एतत् यथा न ज्ञातुं शक्यते, तथा कृत्वा छलिकम् अवस्थानमिति ज्ञेयम्, स च द्वैधीभावः द्विविधः—एकः स्वतन्त्रः, परतन्त्रश्चान्यः तयोः स्वतन्त्रः उक्तविधः परतन्त्रस्तु यः प्रणिधिः अरिविजिगीष्वोरुभयोरेव सकाशात् वेदनमाददानः काकाक्षिवदलक्षितभावेन उभयत्रैव वर्त्तते, स परकर्मप्रधानत्वात् परतन्त्रः, तदादिभिः—तत्प्रभृतिभिः। षाड्गुण्यमुक्तं कामन्दकीये यथा—'बलिना विगृहीतः सन् नृपोऽनन्यप्रतिक्रियः। आपन्नः सन्धिमन्विच्छेत् कुर्वाणः कालयापनम् ॥' 'अमर्षोपगृहीतानां मन्युसन्तप्तचेतसाम्। परस्परापकारेण पुंसां भवति विग्रहः ॥ आत्मनोऽभ्युदयाकाङ्क्षी पीड्यमानः परेण वा। देशकालबलोपेतः प्रारभेतैव विग्रहम् ॥ 'उत्कृष्टबलवीर्यस्य विजिगीषोर्जयैषिणः। गुणानुरक्तप्रकृतेर्यात्रा यानमिति स्मृतम् ॥' परस्परस्य सामर्थ्याविघातादासनं स्मृतम्। अरेश्च विजिगीषोश्च ॥' 'बलिनोर्द्विषतोर्मध्ये वाचाऽऽत्मानं समर्पयन्। द्वैधीभावेन वर्त्तेत काकाक्षिवदलक्षितः ॥ द्वैधीभावो द्विधा प्रोक्तः स्वतन्त्रपरतन्त्रयोः। स्वतन्त्र उक्तो ह्यन्यस्तु यः स्यादुभयवेतनः ॥' 'उच्छिद्यमानो बलिना निरुपायप्रतिक्रियः। कुलोद्गतं सत्यमार्य्यमाश्रयेत् बलोत्कटम् ॥' इति। एषाञ्च बहवो भेदा विस्तारभयान्नात्र उल्लिखिताः, जिज्ञासुभिः तत्रैव अनुसन्धेयाः।

यदैवेति। यदैव राज्ये अभिषेकः क्रियते, तदैव बुद्धिः, राज्ञामिति शेषः, व्यसनेषु विपत्तिषु, योज्या इति पाठे योजनीया, राज्यलिप्सया बहूनां शत्रूणां सद्भावात् 'अभिषेकसमय एव मम विपद्भिः भवितव्यम्' इति सततमेव प्रत्यग्रसिंहासनसमारूढैर्नृपतिभिः मन्तव्यम् इति भावः, अथवा—व्यसनेषु कामादिषु, योज्या आसञ्जनीया, भवतीति शेषः, मदान्धाः नृपतयः व्यसनेषु आसक्ता भवन्तीत्यर्थः, अतुलविभवमधिगत्य नृपतयः प्रायशः एव विवेकरहिताः मदोद्धताश्च सन्तः स्वेच्छाचारिणः भवन्तीति भावः। हि तथा हि, राज्ञामभिषेककाले घटाः अभिषेकार्थं तीर्थोदकपरिपूर्णाः कुम्भाः, अम्भसा जलेन, सह आपदम् उद्गिरन्ति इव उद्वमन्ति इव, तच्छिरसि पातयन्तीवेत्यर्थः, नृपतयः अभिषेकसमकालमेव विपन्ना भवन्तीति भावः। अत्र द्वितीयपादे—'तदैव याति व्यसनेषु बुद्धिः' इति पाठे तु—तदैव व्यसनेषुमृगयादिष्वष्टादशसु दोषेषु, बुद्धिर्याति

जिस समय राजाओं का अभिषेक होने लगता है, उसी समय से उनकी बुद्धि विपत्ति में फँस जाती है। ऐसा लगता है कि जलपूर्ण कलश, उनके अभिषेक काल में जल के साथ -साथ, अनेक विपत्तियाँ भी उनके सिर पर उड़ेल देते हैं ॥ ६५ ॥

तथा च—

रामस्य व्रजनं वने निवसनं पाण्डोः सुतानां वनं
वृष्णीनां निधनं नलस्य नृपते राज्यात् परिभ्रंशनम् ।
सौदासं तदवस्थमर्जुनबधं सञ्चिन्त्य लङ्केश्वर
दृष्टवा राज्यकृते विडम्बनगतं तस्मान्न तत् वाञ्छयेत् ।। ६६ ।।
यदर्थं भ्रातरः पुत्रा अपि वाञ्छन्ति ये निजाः ।
वधं राज्यकृतां राज्ञां तद्राज्यं दूरतस्त्यजेत् ।। ६७ ।।

धावति, तदा धनलाभात् कर्त्तव्यज्ञानशून्या भवन्ति राजानः इति भावः । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः] उपजातिः वृत्तम् ।। पाठान्तरत्वात् अत्रायं विशेषः याति गच्छति, व्यसननिरता भवति इत्यर्थः, मृगयादिषु कामक्रोधादिजेषु दोषेषु वा नृपाणां बुद्धिरासज्यते इति निष्कर्षः । अम्भसा सहैव यदैव अम्भासि उद्गिरन्ति, तदैव इत्यर्थः, आपदमपि उद्गिरन्ति ।। ६५ ।।

रामस्येति । रामस्य, दाशरथेरिति यावत्, व्रजनं प्रयाणं, निर्वासनमित्यर्थः, तथा वने निवसनम् अवस्थानम्, चतुर्दशवर्षमिति यावत्, पाण्डोः सुतानां युधिष्ठिरादीनां, वनं वनवासम्, वृष्णीनां यदूनाम्, निधनं ध्वंसम्, नलस्य नृपतेः राज्यात् परिभ्रंशनम्—च्युतिम्, सौदासं कल्माषपादापदाख्यं सूर्य्यवंशीयराजविशेषं, तदवस्थं गुरोरभिशापात् राक्षसयोनित्वमापन्नमिति भावः, तथा अर्जुनवधं कार्त्तवीर्य्यार्जुननिधनं, परशुरामेणेति भावः, तथा लङ्केश्वरं रावणञ्च, राज्यकृते राज्यार्थं, विडम्बनगतं प्राप्तविडम्बनं, अनुभूतक्लेशमित्यर्थः, सञ्चिन्त्य संस्मृत्य दृष्ट्वा च, पुराणादौ इति भावः, प्राप्तप्रबोधोऽभूदिति शेषः, तस्मात् राज्यस्य विडम्बनहेतुत्वात्, तत् राज्यं, न वाञ्छयेत् न कामयेत्, बुद्धिमानिति शेषः ।। ६६ ।।

यदर्थमिति । ये निजाः स्वकीयाः, भ्रातरः सोदराः इत्यर्थः, तथा ये च पुत्राः, ते अपि यदर्थं यस्य राज्यस्य कृते, राज्यकृतां राज्यं पालयतां, राज्ञां 'कर्तृकर्मणोः कृति' (पा० सू० २।३।६५) इति कर्मणि षष्ठी, वधं निहननं, हन्धातोः 'हनश्च

देखो ! राज्य के लिए राम को घर छोड़कर जाना पड़ा । पाण्डवों को बन में निवास करना पड़ा । राज्य के मद से समस्त यदुवंशी ब्राह्मण शाप से नष्ट हो गये । महाराज नल को राज्य के लिए महान् कष्ट उठाना पड़ा । त्रिशङ्कु को राज्यमद से चाण्डाल होना पड़ा । राज्य के मद से कार्त्तवीर्यार्जुन परशुराम द्वारा मारा गया । इतना ही नहीं, राज्य के कारण दशानन मृत्यु को प्राप्त हुआ । इसलिए बुद्धिमान् पुरुष कभी भी राज्य की इच्छा न करे ।। ६६ ।।

जिस राज्य के लिए अपना सहोदर भाई एवं पुत्र आत्मोयता का त्याग कर राजा को मार डालने की इच्छा करता है, उस राज्य को दूर से ही छोड़ देना

कौलिक आह—'सत्यमुक्तं भवत्या तत् कथय; किं प्रार्थये ? सा आह—'त्वं तावदेकं पटं नित्यमेव निष्पादयसि, तेन सर्वा व्ययशुद्धिः सम्पद्यते। इदानीं त्वम् आत्मनोऽन्यत् बाहुयुगलं द्वितीयं शिरश्च याचस्व, येन पटद्वयं सम्पादयसि पुरतः पृष्ठतश्च। एकस्य मूल्येन गृहे यथापूर्वं व्ययं सम्पादयिष्यसि, द्वितीयस्य मूल्येन विशेषकृत्यानि करिष्यसि एवं सौख्येन स्वजातिमध्ये श्लाघ्यमानस्य कालो यास्यति लोकद्वयस्य च उपार्जना भविष्यति।' सोऽपि तदाकर्ण्य प्रहृष्टः प्राह—'साधु पतिव्रते! साधु; युक्तमुक्तं भवत्या; तदेव करिष्यामि, एष मे निश्चयः। ततोऽसौ गत्वा व्यन्तरं प्रार्थयाञ्चक्रे—भोः! यदि मम ईप्सितं प्रयच्छसि, तत् देहि मे द्वितीयं बाहुयुगलं शिरश्च। एवम् अभिहिते तत्क्षणादेव द्विशिराः चतुर्बाहुश्च सञ्जातः। ततो हृष्टमना यावत् गृहम् आगच्छति, तावत्

बधः' (पा० सू० ३।३।७६) इति भावे अप्, बधादेशश्च, पक्षे—घञपि, यथा घातः वाञ्छन्ति प्रार्थयन्ते, तत् राज्यं दूरतः दूरे स्थित्वा, त्यजेत् परिहरेत्, परमप्रीतिमन्तो बान्धवोऽपि यदर्थं शत्रवो भवन्ति, तत्तु न स्पृशेदिति भावः ।। ६७ ।।

(१) पटम्—वस्त्रम्। निष्पादयसि—वयसि इत्यर्थः। व्ययशुद्धिः—व्ययनिर्वाहः। पुरतः समक्षम्। पृष्ठतः—पश्चाद्भागे। विशेषकृत्यानि—दानादीनि फलाधिकानि कार्याणीत्यर्थः। श्लाघ्यमानस्य—प्रशस्यमानस्य। लोकद्वयस्य—ऐहिकपारत्रिकरूपस्य। उपार्जना—संसाधनम्।

चाहिए ।। ६७ ।।

जुलाहे ने (अपनी स्त्री की बात सुनकर) कहा—'प्रिये! ठीक कहती हो। अच्छा तुम्हीं बताओ कि उससे क्या माँगू ?' तदनन्तर स्त्री ने कहा—'तुम एक कपड़ा प्रतिदिन तैयार तो करते ही हो जिससे घर का सारा खर्च चल जाता है, तुम जाकर दो हाथ और एक सिर और माँग लो। जिससे तुम दो वस्त्र का निर्माण कर सकोगे। एक वस्त्र आगे से तथा दूसरे पीछे से। एक के दाम से पूर्ववत् घर का खर्च चलेगा तथा दूसरे के मूल्य से अन्य कार्य भी होता रहेगा। ऐसा कहते हुए हम लोग अपने ज्ञाति समूह में प्रतिष्ठापूर्वक अपना समय काट लेंगे तथा लोक और परलोक भी बन जायगा।' स्त्री की बात सुनकर जुलाहे ने प्रसन्न होकर कहा—'प्रिये! तुम ठीक कहती हो, मैं तुम्हारी ही बात मानूँगा, ऐसा ही मेरा निश्चय है। तदनन्तर उसने यक्ष के पास जाकर बड़ी प्रसन्नता से कहा—'यदि आप मेरी मनोऽभिलषित वस्तु देना चाहते हैं तो मुझे दो हाथ और एक सिर और प्रदान करें। इस प्रकार प्रार्थना करते ही वह दो सिर और चार हाथों वाला हो गया। फिर वह प्रसन्न

लोकैः 'राक्षसोऽयम्' इति मन्यमानैः लगुडपाषाणप्रहारैः ताडितो मृतश्च। अतोऽहं ब्रवीमि — 'यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा' इत्यादि।

चक्रधरः आह—भोः सत्यमेतत्, सर्वोऽपि जनः अश्रद्धेयामाशापिशाचिकां प्राप्य हास्यपदवीं याति। अथवा साधु इदमुच्यते केनापि—

अनागतवतीं चिन्तामसम्भाव्यां करोति यः।
स एव पाण्डुरः शेते सोमशर्मपिता यथा' ॥ ६८ ॥

सुवर्णसिद्धिः आह—'कथमेतत्?' सोऽब्रवीत्—

८ : सोमशर्मपितृ-कथा

'कस्मिंश्चित् नगरे कश्चित् स्वभावकृपणो नाम ब्राह्मणः प्रतिवसति स्म। तेन भिक्षार्जितैः शक्तुभिः भुक्तशेषैः कलसः सम्परितः। तच्च घटं

(१) अश्रद्धेयां—श्रद्धानर्हां, तृष्णामित्यर्थः, आशापिशाचिकां—तृष्णारूपिणीं पिशाचीम्।

अनागतवतीमिति। यः अनागतवतीम् अनुपस्थिताम्, असम्भाव्यां सम्भावनारहितां, चिन्तां करोति, स सोमशर्मणः पिता यथा, तथा पाण्डुरः पीतार्द्धमिश्रितश्वेतवर्णविशिष्टः, पाण्डुवर्णः, सन् इति यावत्, पाण्डुवर्णोऽस्यातीति पाण्डुशब्दात् 'नगपांशुपाण्डुभ्यश्च' (वा०) इति रः। 'पाण्डुरस्तु पीतभागार्द्धकेतकीधूलिसन्निभः' इति शब्दार्णवः। 'हरिणः पाण्डुरः पाण्डुः' इत्यमरश्च। शेते एव शयितः सन् दुःखमनुभवेत्यर्थः ॥ ६८ ॥

होकर ज्यों ही घर लौटने लगा, उसी समय 'यह राक्षस है' ऐसा समझ कर लोगों ने लाठी और पत्थर से उसे इतना मार मारा कि वह वहीं मर गया। इसलिए मैं कहता हूँ 'जिसकी बुद्धि नहीं है और जो मित्र की बात नहीं मानता वह मन्थर कौलिक के समान नष्ट हो जाता है।'

तब चक्रधर ने कहा—'भाई तुम ठीक कहते हो। सभी लोग श्रद्धा न करने योग्य आशा-पिशाची के फेर में पड़ कर अनादर प्राप्त करते हैं। अथवा ठीक ही कहा गया है—

जो सम्भावना रहित एवं विना आयी हुई चिन्ता को करता है वह सोमशर्मा के पिता के समान पाण्डुवर्ण होकर शयन करता है ॥ ६८ ॥

सुवर्णसिद्धि ने कहा—'यह कैसे?' तब उसने कहा—

सोमशर्मा के पिता की कथा

किसी नगर में स्वभावकृपण नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसने भिक्षा से

नागदन्ते अवलम्ब्य तस्य अधस्तात् खट्वां निधाय सततम् एकदृष्टया तम् अवलोकयति । अथ कदाचित् रात्रौ सुप्तः चिन्तयामास यत्—'परिपूर्णोऽयं घटस्तावत् शक्तुभिः वर्तते !! तत् यदि दुर्भिक्षं भवति, तदा अनेन रूपकाणां शतमुत्पद्यते, ततस्तेन मया अजाद्वयं ग्रहीतव्यम् । ततः षाण्मासिकप्रसववशात् ताभ्यां यूथं भविष्यति । ततोऽजाभिः प्रभूता गा ग्रहीष्यामि, गोभिः महिषीः, महिषीभिः बडवाः, बडवाप्रसवतः प्रभूता अश्वा भविष्यन्ति, तेषां विक्रयात् प्रभूतं सुवर्णं भविष्यति, सुवर्णेन चतुःशालं गृहं सम्पद्यते, ततः कश्चित् ब्राह्मणो मम गृहम् आगत्य प्राप्तवयस्कां रूपाढ्यां कन्यां दास्यति, तत्सकाशात् पुत्रो मे भविष्यति, तस्य अहं

[८]

(१) शक्तुभिः—भृष्टयवचूर्णैः । भुक्तशेषैः—भक्षितावशिष्टैः, उद्वृत्तैः उच्छिष्टैर्वा । नागदन्ते—गृहान्निर्गतादारुणि, गृहभित्तौ प्रोते दण्डविशेषे इत्यर्थः, 'नागदन्तो द्विपरदे गृहान्निर्गतदारुणि' इति मेदिनी । सुप्तः—शयितः, 'स्वापः शयननिद्रयोः' इति मेदिनी । रूपकाणां शतं—शतं रौप्यमुद्रा इत्यर्थः । अजाद्वयं—छागीयुगलम् । ग्रहीतव्यं—क्रेतव्यमित्यर्थः । षाण्मासिकेति । षड्भिः मासैः निष्पन्नः षाण्मासिकः, 'षण्मासाण्यच्च' (पा० सू० ५।१।८३) इति ठञ् स चासौ प्रसवश्चेति, तद्वशात्—तद्धेतोः, छाग्यो हि षण्मासानन्तरं प्रसुवते इति प्रसिद्धिः । वडवाः अश्वाः । चतुःशालं चतसृषु दिक्षु शालाः—गृहाणि यस्य तादृशं; पर-

प्राप्त हुए भोजन से अवशिष्ट सत्तु को एकत्रित कर एक घड़ा भर लिया और उस घड़े को किसी खूँटी में लटका कर उसके नीचे चारपाई बिछा कर सर्वदा निनिमेष दृष्टि से देखा करता था । एक दिन सोते-सोते अपने मन में विचार करने लगा कि यह घड़ा अब सत्त से भर गया है । यदि आकाल पड़ा तो इसे बेचने से सौ रुपया मुझे प्राप्त हो जायगा । उन रुपयों में से दो बकरियाँ खरीदूँगा, फिर उनसे छः-छः महीनों में बच्चा पैदा होने के कारण मेरे पास बहुत-सी बकरियाँ हो जायँगी । फिर उन बकरियों को बेच कर मैं गायें खरीदूँगा । इसी प्रकार बहुत-सी गायें होने पर उनसे भैंस खरीदूँगा और भैंसों से क्रमशः घोड़ियाँ खरीदूँगा । धीरे-धीरे घोड़ियों से बहुत बच्चा पैदा होने पर जब अनेक घोड़े हो जायँगे तो उन घड़ों को बेच कर पर्याप्त सोना एकत्रित करूँगा । फिर उन सुवर्णराशि से सुन्दर चतुःशाल घर बनवाऊँगा । जब मेरा घर बन जायेगा, तो कोई ब्राह्मण आकर अपनी युवती सुन्दर कन्या मुझे प्रदान करेगा । उसके साथ संगम करने से मुझे एक पुत्र होगा, उसका नाम मैं सोमशर्मा रखूँगा । जब वह घुटनों के बल चलने योग्य हो जायेगा तो

सोमशर्मेति नाम करिष्यामि। ततः तस्मिन् जानुचलनयोग्ये सञ्जातेऽहं पुस्तकं गृहीत्वा अश्वशालायाः पृष्ठदेशे उपविष्टः तदवधारयिष्यामि। अत्रान्तरे सोमशर्मा मां दृष्ट्वा जनन्युत्सङ्गात् जानुप्रचलनपरः अश्वखुरासन्नवर्ती मत्समीपम् आगमिष्यति। ततोऽहं ब्राह्मणीं कोपाविष्टोऽभिधास्यामि—'गृहाण तावत् बालकम्'। साऽपि गृहकर्मव्यग्रतया अस्मद्वचनं न श्रोष्यति, ततोऽहं समुत्थाय तां पादप्रहारेण ताडयिष्यामि'। एवं तेन ध्यानस्थितेन तथा एव पादप्रहारो दत्तः; स घटो भग्नः शक्तुभिः पाण्डुरतां गतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'अनागतवतीं चिन्ताम्' इत्यादि'।

सुवर्णसिद्धिः आह—'एवमेतत्, कस्ते दोषः ? यतः सर्वोऽपि लोभेन विडम्बितो बाध्यते। उक्तञ्च—

यो लौल्यात् कुरुते कर्म नैवोदर्कमवेक्षते।
विडम्बनामवाप्नोति स यथा चन्द्रभूपतिः' ॥ ६९ ॥

स्पराभिमुखगृहचतुष्टयसम्पन्नभवनमित्यर्थः, हर्म्यम् इति भावः। रूपाढ्यां सौन्दर्यसम्पन्नाम्। तत्सकाशात्—तस्याम् इत्यर्थः। जानुचलनयोग्ये—जानुद्वयमवलम्ब्येत्यर्थः। चलनयोग्ये—गमनार्हे। तदवधारयिष्यामि—पुस्तकं वाचयिष्यामि इत्यर्थः। जनन्युत्सङ्गात्—मातुः क्रोडात्। जानुप्रचलनपरः—जानुभ्यां विहरणपरायण। अश्वेति—घोटकखुरसमीपस्थो भूत्वा इत्यर्थः। ध्यानस्थितेन—चिन्तामग्नेन। पाण्डुरतां—पाण्डुवर्णतां, स्वयमिति शेषः।

(१) विडम्बितः—प्रतारितः इत्यर्थः। वाध्यते—पीड्यते।

य इति। यः लौल्यात् चापल्यात्, लोभादित्यर्थः, कर्म कुरुते, उदर्कम् औत्तर-

---

मैं पुस्तक लेकर घुड़शाल के पीछे बैठकर पढ़ूँगा। इसी बीच सोमशर्मा मुझे देख अपनी माता की गोद से उतर कर घुटनों के वल चलता हुआ घोड़ों के टाप के समीप होता हुआ मेरे पास आने लगेगा। तब मैं क्रुद्ध होकर ब्राह्मणी से कहूँगा—'अरे तू लड़के को पकड़ ले।' किन्तु वह घर के कार्य में व्यस्त होने के कारण वह मेरी बात नहीं सुनेगी तो मैं उसे लात मारूँगा। इस प्रकार सोचते-सोचते तन्मय होकर ज्यों ही उसने पादप्रहार किया कि उसके पादप्रहार से उसका सत्तूपूर्ण घड़ा फूट गया और वह ब्राह्मण सत्तू से पीला (सराबोर) हो गया। इसलिए मैं कहता हूँ कि—'अनावश्यक चिन्ता करने वाला व्यक्ति सोमशर्मा के पिता की तरह भग्नमनोरथ हो जाता है।'

सुवर्णसिद्धि ने कहा—'इसमें तुम्हारा दोष ही क्या है ? क्योंकि सभी लोग लोभाविष्ट होने पर दुःख करते हैं।' कहा भी गया है—

जो व्यक्ति चञ्चलता के कारण परिणाम को बिना सोचे ही किसी कार्य को

चक्रधर आह—'कथमेतत् ?' स आह—

९ : चन्द्रभूपति-कथा

'कस्मिंश्चित् नगरे चन्द्रो नाम भूपतिः प्रतिवसति स्म। तस्य पुत्रा वानरक्रीडारताः वानरयूथं नित्यमेव अनेकभोजनभक्ष्यादिभिः पुष्टिं नयन्ति स्म। अथ वानरयूथाधिपो यः, स औशनस बार्हस्पत्य-चाणक्यमत-वित्; तदनुष्ठाता च तान् सर्वानपि अध्यापयति स्म। अथ तस्मिन् राजगृहे लघुकुमारवाहनयोग्यं मेषयूथमस्ति, तन्मध्यात् एको जिह्वालौल्यात् अहर्निशं निःशङ्कं महानसे प्रविश्य यत् यत् पश्यति तत्

कालिकं फलं, परिणामम् इत्यर्थः, 'उदर्कः फलमुत्तरम्' इत्यमरः। नैव अवेक्षते न च पश्यति, न आलोचयति इत्यर्थः, स चन्द्रभूपतिर्यथा चन्द्राख्यनृपतिरिव, विडम्बनां तिरस्कारं, क्लेशमिति यावत्, अवाप्नोति लभते ॥ ६९ ॥

[९]

(१) औशनसेति। उशनसा प्रोक्तम् औशनसं—शुक्रप्रोक्तम् इत्यर्थः। 'तेन प्रोक्तम्' (पा० सू० ४।३।१०१) इति अण् प्रत्ययः। बृहस्पतिना प्रोक्तं बार्हस्पत्यं—बृहस्पतिप्रोक्तम् इत्यर्थः, 'तेन प्रोक्तम्' इति ण्यः। चाणक्येन प्रोक्तं पूर्ववदण्-प्रत्ययः, यन्मतं तत् वेत्तीति तथोक्तः; विविधनीतिशास्त्रज्ञ इत्यर्थः, तदनुष्ठाता—औशनसादिप्रोक्तनयमार्गानुसारी इत्यर्थः। उशनस्-शब्दस्य प्रथमायाम् 'उशना' इति निर्विसर्गं पदम्, सम्बोधने च—'हे उशन उशनन् उशनः' इति पदत्रयं भवति। तान् सर्वान्—वानरानित्यर्थः। लघ्विति। लघूनां—क्षुद्राणां, कुमाराणां—शिशूनां,

---

करता है, वह अन्त में विपत्ति को प्राप्त करता है। जिस प्रकार राजा चन्द्र ने धोखा खाया था ॥ ६९ ॥

चक्रधर ने पूछा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

चन्द्रभूपति की कथा

किसी नगर में चन्द्र नामक एक राजा रहता था। उसके पुत्र वानरों के साथ नित्य खेला करते थे। इसलिए वे उन बन्दर समूहों को अनेक प्रकार के भक्ष्य भोजन पदार्थों से पाले हुए थे। उन वानरों के झुण्ड का अध्यक्ष शुक्र, बृहस्पति और चाणक्य जैसे नीतिशास्त्रों के मत को जानने वाला था और स्वयं भी नीतिशास्त्रज्ञों के अनुसार चलता था तथा अन्य बन्दरों को नीतिशास्त्र पढ़ाया करता था। उस राजघराने के छोटे-छोटे राजकुमारों को चढ़ने के लिए भेड़ों का एक समूह भी पाला गया था, उनमें से एक भेंड़ नित्य ही अपनी जीभ की चपलता से रात दिन किसी

सर्वं भक्षयति। ते च सूपकाराः यत्किञ्चित् काष्ठं मृण्मयं भाजनं कांस्यपात्रं ताम्रपात्रं वा पश्यन्ति, तेनाशु ताडयन्ति। सोऽपि वानरयूथपः तद्दृष्टवा व्यचिन्तयत्—अहो! मेषसूपकारकलहोऽयं वानराणां क्षयाय भविष्यति, यतो अन्नास्वादलम्पटोऽयं मेषः महाकोपाश्च सूपकाराः यथासन्नवस्तुना प्रहरन्ति; तत् यदि वस्तुनोऽभावात् कदाचित् उल्मुकेन ताडयिष्यन्ति, तदोर्णाप्रचुरोऽयं मेषः स्वल्पेनाऽपि वह्निना प्रज्वलयिष्यति। तद् दह्यमानः पुनः अश्वकुट्यां समीपवर्त्तिन्यां प्रवेक्ष्यति, साऽपि तृणप्राचुर्य्यात् ज्वलिष्यति, ततोऽश्वा वह्निदाहम् अवाप्स्यन्ति।

वाहनयोग्यं—यानोपयोगि। एकः, मेष इति शेषः। जिह्वालौल्यात्—रसनाचापल्यात्, लोभात् इत्यर्थः। महानसे पाकस्थाने, रन्धनशालायामित्यर्थः, 'रसवत्यान्तु पाकस्थानमहानसे' इत्यमरः। सूपकाराः—पाचकाः। मृन्मयं मृत्तिकानिर्मितमित्यर्थः, मृदो विकारः, इति मयट्, पदान्तत्वात् णत्वाभावः। क्षताय—विनाशाय। अन्नेति। अन्नस्य आस्वादे लम्पटः—लालसः, लुब्ध इत्यर्थः, अत एव अयं कामं प्रहृतोऽपि नास्मात् कदाऽपि निवर्त्तिष्यते इत्याशयः। यथासन्नवस्तुना—निकटस्थेन येन केनचित् वस्तुना इत्यर्थः। उल्मुकेन अङ्गारेण, ज्वलत्काष्ठेन इत्यर्थः, 'अथ न स्त्री स्यादङ्गारोऽलातमुल्मुकम्' इत्यमरः। ऊर्णाप्रचुरः लोमबहुलः, 'ऊर्णा मेषादिलोम्नि स्यात्' इत्यमरः। अश्वकुट्याम्—अश्वशालायाम्। साऽपि—अश्वकुटी। तृणप्राचुर्यात् तृणबाहुल्यात्।

भी समय अवसर मिलने पर भोजनालय में निडर होकर घुस जाता था और जो कुछ पाता था उसे खा जाया करता था। रसोई बनाने वाले भी उसे देखते ही लकड़ी, मिट्टी का बर्तन, ताँबे का बर्तन अथवा फूल का बर्तन जो भी उनके पास होता उसी को चला कर मार दिया करते थे। वानरों के मुखिया ने जब यह देखा तो उसे बड़ी चिन्ता हुई। उसने अपने मन में विचार किया कि भेड़ और भण्डारी के बीच होने वाला यह कलह कभी वानरों के विनाश का कारण बन सकता है। क्योंकि यह भेड़ अन्न का रस खाने में महालम्पट है, और ये भण्डारी भी इतने क्रोधी हैं कि जो भी वस्तु इनके समीप रहती है उसी से इस भेंड़ को मारते हैं। तो किसी दिन ऐसा भी हो सकता है कि दैववश वस्तु के समीप न होने पर ये जलते हुए लुआठे से इसे मारेंगे और इस भेंड़ के देह में पर्याप्त ऊन है ही जो थोड़ी-सी लकड़ी की आग से कभी भी जल सकता है। फिर तो जलता हुआ यह मेष कभी समीपवर्त्ती घुड़शाल में घुस जायगा और वहाँ तृण प्रचुर होने के कारण तत्काल ही जल उठेगा, जिससे निश्चय ही घोडे जल जायँगे।

तत् क्रियताम् एतत् चिकित्सितं द्राक्, यावत् एते न दाहदोषेण विनश्यन्ति'। सोऽपि तदाकर्ण्य समस्तवानरवधम् आदिष्टवान्। किं बहुना ? सर्वेऽपि ते वानरा विविधायुधलगुडपाषाणादिभिः व्यापादिताः—इति।

अथ सोऽपि वानरयूथपः तं पुत्रपौत्रभ्रातृसुतभागिनेयादिसंक्षयं ज्ञात्वा परं विषादम् उपागतः त्यक्ताहारक्रियो वनात् वनं पर्यटति; अचिन्तयच्च—'कथमहं तस्य नृपापसदस्य अनृणताकृत्येन अपकृत्यं करिष्यामि ? उक्तञ्च—

मर्षयेद्धर्षणां योऽत्र वंशजां परनिर्मिताम्।
भयाद्वा यदि वा कामात् स ज्ञेयः पुरुषाधमः' ॥ ७६ ॥

---

(१) द्राक्—झटिति, 'स्रग्झटित्यञ्जसाऽह्नाय द्राङ् मङ्क्षु सपदि द्रुते' इत्यमरः।

(२) नृपापसदस्य—राजाधमस्य। अनृणताकृत्येन—आनृण्यसम्पादनेन, वैरितारूपस्य ऋणस्य परिशोधनार्थमित्यर्थः। अपकृत्य—अपकारं, वैरनिर्यातनमिति भावः।

मर्षयेदिति। अत्र संसारे, यः भयाद्वा त्रासाद्वा, यदि वा कामात् स्वस्य इच्छया इत्यर्थः, उपेक्षावसादिति यावत्, 'कामः स्मरेच्छयोः पुमान्। रेतस्यपि निकामे च काम्येऽपि स्यान्नपुंसकम्'॥ इति मेदिनी। परनिर्मिताम् अन्यकृतां, वंशजां कुलसङ्क्रान्ताम् इत्यर्थः, धर्षणां धर्षणं, परिभवमित्यर्थः 'धर्षणं स्यात् परिभवे' इति मेदिनी। धृष्धातोः 'भाषायां शासियुधिदृशिधृषिमृषिभ्यो युच् वाच्यः' इति वार्तिकसूत्रेण युच्-प्रत्यये स्त्रियाम् आ-प्रत्यये च धर्षणा इति सिद्धम्। मर्षयेत् क्षमेत्, स पुरुषाधमः

तो आप शीघ्र ही इस चिकित्सा को कीजिये, जिससे ये घोड़े अग्निदाह के दोष से उत्पन्न मृत्यु से बच जाँय। तदनन्तर राजा ने सम्पूर्ण वानरों के वध की आज्ञा दे दी। फिर क्या था, बेचारे सभी वानर अनेक प्रकार के अस्त्र, लाठी और पत्थरों से मार डाले गये।

उस यूथप ने जब अपने पुत्र, पौत्र, भतीजे तथा भागिनेय आदि सभी सगे-सम्बन्धियों की मृत्यु का समाचार सुना तो बड़ा दुःखी हुआ और खाना-पीना छोड़ कर इधर-उधर एक वन से दूसरे वन में घूमने लगा और विचार करने लगा कि मैं इस दुष्ट राजा से अपने वैर का बदला किस प्रकार के कार्य द्वारा इसका अपकार करके चुकाऊँ। कहा भी गया है—

जो पुरुष भय से अथवा स्वेच्छा से शत्रु के द्वारा की गयी अपने वंश की अवमानना को सह लेता है उसे महा नीच पुरुष जानना चाहिये ॥ ७६ ॥

अथ तेन वृद्धवानरेण कुत्रचित् पिपासाकुलेन भ्रमता पद्मिनीखण्ड-मण्डितं सरः समासादितम्। तत् यावत् सूक्ष्मेक्षिकया अवलोकयति, तावत् वनचरमनुष्याणां पदपङ्क्तिप्रवेशोऽस्ति; न निष्क्रमणम्—इति अवलोकितवान्। ततः चिन्तितं—नूनम् अत्र जलान्ते दुष्टग्राहेण भाव्यम्। तत् पद्मिनीनालम् आदाय दूरस्थोऽपि जलं पिबामि।

तथाऽनुष्ठिते तन्मध्यात् राक्षसो निष्क्रम्य, रत्नमालाविभूषितकण्ठः तमुवाच—'भोः! अत्र यः सलिले प्रवेशं करोति; स मे भक्ष्य इति; तत् नास्ति धूर्त्ततरस्त्वत्समोऽन्यः, यः पानीयम् अनेन विधिना पिबति; ततः तुष्टोऽहम्; प्रार्थयस्व हृदयवाञ्छितम्।' कपिराह—'भोः! कियती ते

ज्ञेयः ॥ ७६ ॥

(१) पद्मिनीति। पद्मिनीनां खण्डं—सङ्घः, तेन मण्डितं—शोभितम्। तत्—सरः। सूक्ष्मेक्षिकया—सूक्ष्मदृष्ट्या। वनचरमनुष्याणाम्—अरण्यवासिनां नराणाम्। पदपङ्क्तिप्रवेशः—पदचिह्नश्रेणीनां जलान्तर्गमनमित्यर्थः। निष्क्रमणं—बहिरागमनं, प्रत्यावर्त्तनमित्यर्थः। जलान्ते—जलमध्ये। दुष्टग्राहेण—दुष्टेन—दारुणेन, ग्राहेण—जलचरविशेषेण। भाव्यं—स्थातव्यं इत्यर्थः।

(२) तथा तस्मिन् प्रकारे, अनुष्ठिते—कृते सति, पद्मिनीनालेन जले पीते सति इत्यर्थः, तन्मध्यात्—जलमध्यात्, राक्षसो निष्क्रम्य—निर्गत्य। रत्नेत्यादि। रत्नमालया—रत्नहारेण, विभूषितः—शोभितः, कण्ठो यस्य स तथोक्तः। तत्—तस्मात्। धूर्त्ततरः—अतिधूर्त्तः। त्वत्समः—त्वत्तुल्यः। विधिना—प्रकारेण,

---

इसके अनन्तर प्यास से व्याकुल हुए उस वृद्ध वानर ने पानी की खोज में घूमते हुए कमलिनी समूहों से सुशोभित एक तालाब देखा। जब उसने सूक्ष्मदृष्टि से देखा तो उस तालाब में प्रवेश करने वाले जङ्गली मनुष्यों के पदचिन्ह तो दिखाई पड़े किन्तु उससे निकलने का कोई भी चिन्ह उसे दिखाई नहीं पड़ा। इसे देख कर उसने अपने मन में विचार किया कि इस तालाब में कोई दुष्ट मगर अवश्य रहता है। तो मैं क्यों न बाहर से ही कमलिनी नाल के सहारे जलपान करूँ।

इस प्रकार जब वह कमलनाल से पानी पी रहा था कि इतने में तालाब के भीतर से एक राक्षस निकला। उसके गले में अत्यन्त सुन्दर रत्न की माला सुशोभित हो रही थी। उसने वानर को देखकर कहा—'अरे वानर! इस तालाब में जो प्रवेश करता है वह मेरा भक्ष्य हो जाता है, किन्तु तुम्हारे समान कोई धूर्त्त नहीं है, क्योंकि तुम जल में प्रवेश किये बिना ही बाहर से कमलनाल द्वारा पानी पी रहे हो। मैं तुम्हारी इस चतुराई से बहुत प्रसन्न हूँ। जो तुम्हारी मनोकामना हो

भक्षणशक्तिः ?' स आह—'शतसहस्रायुतलक्षाणि अपि जलप्रविष्टानि भक्षयामि। बाह्यतः शृगालोऽपि मां दूषयति। वानर आह—'अस्ति मे केनचित् भूपतिना सह अत्यन्तं वैरम्; यदि एनां रत्नमालां मे प्रयच्छसि, तदा सपरिवारमपि तं भूपतिं वाक्प्रपञ्चेन लोभयित्वा अत्र सरसि प्रवेशयामि'। सोऽपि श्रद्धेयं वचस्तस्य श्रुत्वा रत्नमालां दत्त्वा प्राह—'भो मित्र ! यत् समुचितं भवति, तत् कर्त्तव्यम्' इति। वानरोऽपि रत्नमाला-विभूषितकण्ठः वृक्षप्रासादेषु परिभ्रमन् जनैः दृष्टः पृष्टश्च—'भो यूथप ! भवान् इयन्तं कालं कुत्र स्थितः ? भवता ईदृशी रत्नमाला कुत्र लब्धा, या दीप्त्या सूर्यमपि तिरस्करोति ? वानरः प्राह—'अस्ति कुत्रचित् अरण्ये गुप्ततरं महत् सरो धनदनिर्मितं, तत्र सूर्येऽर्द्धोदिते रविवासरे यः कश्चित् निमज्जति, स धनदप्रसादात् ईदृक् रत्नमालाविभूषितकण्ठो निःसरति'।

पद्मिनीनालग्रहणेनेति भावः। हृदयवाञ्छितं—मनोभिलषितम्। बाह्यतः—बहिः-प्रदेशे, स्थले इत्यर्थः। दूषयति—पराभवति। वाक्प्रपञ्चेन—वाग्जालेन। वृक्ष-प्रासादेषु राजभवनेषु च। तिरस्करोति—अभिभवति, आच्छादयतीत्यर्थः। गुप्त-तरम् - अन्यैरज्ञातं, सुरक्षितं वा। धनदनिर्मितं कुवेरकृतम्।

उसे माँग लो।' तब वानर ने उस मकर राक्षस से पूछा—'तुम्हारे खाने की शक्ति कितनी है ?' राक्षस ने कहा—'पानी में प्रवेश करने पर सौ, हजार, दस हजार और लाख व्यक्तियों को मैं खा सकता हूँ किन्तु पानी से बाहर होने पर मुझे एक सियार भी जीत सकता है।' यह सुनकर उस वानर ने कहा—'एक राजा के साथ मेरा बहुत बड़ा बैर है। यदि तुम इस रत्नमाला को मुझे दे दो तो मैं परिवार समेत उस राजा को लोभाकृष्ट कर इस तालाब में प्रवेश करा सकता हूँ।' तब राक्षस ने उस वानर की विश्वास योग्य बातों को सुनकर उसे रत्नमाला देते हुए कहा—'मित्र जो तुम्हें उचित प्रतीत हो वह करना।' वानर भी रत्न की माला को अपने कण्ठ में पहन कर वृक्षों एवं ऊँचे-ऊँचे महलों पर घूमता हुआ पुरजनों की दृष्टि के सामने आया। तदनन्तर पुरवासियों ने उससे पूछा—'भाई यूथपति ! इतने दिनों तक कहाँ थे, और आप ने ऐसी सुन्दर रत्नों की माला कहाँ पायी ? जो अपनी कान्ति से सूर्य को भी तिरस्कृत कर दे रही है।' तब वानर ने कहा–'किसी वन में कुबेर निर्मित एक महान् सुन्दर गुप्त तालाब है, उस तालाब में रविवार को अर्धोदित बेला में जो स्नान करता है वह कुबेर की कृपा से इसी प्रकार की रत्नमाला को कण्ठ में धारण कर उस तालाब से निकलता है।'

अथ भूभुजा तदाकर्ण्य, स वानरः समाहूतः, पृष्टश्च—'भो यूथाधिप ! किं सत्यमेतत् ? रत्नमालासनाथं सरोऽस्ति क्वापि ? कपिराह—स्वामिन् ! एष प्रत्यक्षतया मत्कण्ठस्थितया रत्नमालया प्रत्ययस्ते; तत् यदि रत्नमालया प्रयोजनं, तदा मया सह कमपि प्रेषय, येन दर्शयामि'। तत् श्रुत्वा नृपतिः आह—'यदि एवं, तदहं सपरिजनः स्वयम् एष्यामि, येन प्रभूता रत्नमालाः सम्पद्यन्ते'। वानर आह—'एवं क्रियताम्'। तथा अनुष्ठिते भूपतिना सह रत्नमालालोभेन सर्वे कलत्रभृत्याः प्रस्थिताः। वानरोऽपि राज्ञा दोलाऽधिरूढेन स्वोत्सङ्गे आरोपितः सुखेन प्रीतिपूर्वम् आनीयते। अथवा साधु इदमुच्यते—

तृष्णे देवि ! नमस्तुभ्यं यया वित्तान्विता अपि।
अकृत्येषु नियोज्यन्ते भ्राम्यन्ते दुर्गमेष्वपि॥ ७७॥

---

(१) रत्नमालासनाथं—रत्नहारसहितम्। प्रत्ययः—विश्वासः, भवतु इति शेषः, मत्कण्ठे प्रत्यक्षदृष्टया एतया रत्नमालया ते विश्वासो भवतु यत् ईदृशं सरोऽस्ति इति भावः। एष्यामि—गमिष्यामि। सम्पद्यन्ते—सम्भवन्ति इत्यर्थः। दोलाऽऽधिरूढेन—दोलामधिष्ठितेन। स्वोत्सङ्गे—आत्मक्रोडे। आरोपितः—नीतः, उपवेशित इत्यर्थः, आरोपितः इति आ-पूर्वात् रुहधातोः णिचि कर्मणि क्तः, 'रुहः पोऽन्यतरस्याम्' (पा० सू० ७।३।४३) इति सूत्रेण प-आदेशे सिद्धम्।

तृष्णे इति। हे तृष्णे ! स्पृहे ! आशे ! इत्यर्थः, 'तृष्णे स्पृहापिपासे द्वे' इत्यमरः।

राजा ने यह समाचार सुना तो उसने उस यूथप वानर को बुलाकर उससे पूछा—'यूथाधिप ! क्या यह सत्य है कि किसी स्थान पर रत्नमाला से युक्त कोई तालाब है ?' तब यूथाधिपति वानर ने कहा—'यह प्रत्यक्षरूप से मेरे गले में पड़ी हुई माला से ही आप को विश्वास कर लेना चाहिए। अतः यदि आप को रत्नमाला की आवश्यकता हो तो मेरे साथ किसी को भेज दीजिए, मैं उसे भी उस सरोवर को दिखा दूँगा।' यह सुनकर राजा ने कहा—'यदि यह बात सत्य है तो मैं स्वयं सब के साथ वहाँ चलूँगा। ऐसा करने से मुझे बहुत-सी रत्न-मालाओं की प्राप्ति हो जायेगी।' वानर ने कहा—'तो ठीक है आप ऐसा ही कीजिए।' वानर के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर राजा के साथ उनकी रानियाँ, नौकर आदि सभी रत्नमाला की प्राप्ति की तृष्णा से उसके साथ चले। वह वानर भी पालकी में बैठे हुए राजा की गोद में बैठकर बड़े प्रेम से सुखपूर्वक राजा के साथ चला। अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

हे तृष्णे ! देवि ! तुम्हें नमस्कार है, जिससे तुम्हारी महिमा से वशीभूत

तथा च--

इच्छति शती सहस्रं; सहस्री लक्षमीहते ।
लक्षाधिपस्तथा राज्यं, राज्यस्थः स्वर्गमीहते ॥ ७८ ॥

जीर्यन्ते जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः ।
चक्षुः श्रोत्रे च जीर्येते तृष्णैका तरुणायते ॥ ७९ ॥

देवि ! तुभ्यं नमः त्वां प्रणमामि इत्यर्थः, यया त्वयेति शेषः, प्रयोजककर्त्तरि तृतीया। वित्तान्विता धनवन्तोऽपि, अकृत्येषु अकरणीयेषु विषयेषु, अन्याय्यकार्येषु इत्यर्थः, नियोज्यन्ते प्रवर्त्त्यन्ते, नियुक्ताः क्रियन्ते इत्यर्थः। नि-पूर्वकात् युज्धातोः 'हेतुमति च' (पा० सू० ३।१।२६) इति णिच्, ततः 'सार्वधातुके यक्' (पा० सू० ३।१।६७) इति कर्मणि यक्-प्रत्यये लटि रूपम् तथा दुर्गमेषु अगम्येषु अपि स्थानेषु, भ्राम्यन्ते भ्रान्ताः क्रियन्ते, ण्यन्तात् भ्रमधातोः पूर्ववत् कर्मणि लटि रूपम् ॥ ७७ ॥

इच्छतीति। शती शतसङ्ख्यकधनवान्, शतमस्यातीति इनिः। सहस्रं सहस्र-सङ्ख्यकधनम्, इच्छति, सहस्री सहस्रसङ्ख्यकधनवान, सहस्रमस्यातीति इनिः। लक्षम् ईहते अर्जयितुं वाञ्छति, लक्षाधिपः, लक्षसङ्ख्यकधनेश्वरः राज्यं, तथा राज्यस्थः राज्येश्वरः, स्वर्गं स्वर्गाधिपत्यमित्यर्थः, ईहते अभिलषति, प्रचुरतरविभवप्राप्त्याऽपि अर्थाकाङ्क्षाया हविषा कृष्णवर्त्मन इव भूयसा अभिवर्द्धमानत्वादिति भावः। पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ ७८ ॥

जीर्यन्ते इति। जीर्यतः वृद्धस्य केशाः जीर्यन्ते परिणमन्ति, दैवादिकस्य जॄधातोः परस्मैपदित्वेऽपि विवक्षावशादात्मनेपदमवधेयम्, पक्वाः सन्तः शीर्णतां व्रजन्तीति भावः, तथा जीर्यतः जनस्य दन्ताः जीर्यन्ति, शिथिली भवन्ति इत्यर्थः, स्वस्थानात् पतन्तीति वा ; चक्षु-श्रोत्रे च दर्शनेन्द्रियं श्रवणेन्द्रियञ्च इत्यर्थः, जीर्येते निस्तेजसी भवतः इत्यर्थः, सर्वाण्येव जीर्णानि भवन्तीति भावः, एका केवला, तृष्णा लालसा, तरुणायते नवी-भवतीत्यर्थः, तरुण एव आचरति इत्यर्थे 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च' (पा० सू० ३।१।११)

होकर धनवान् व्यक्ति भी अकार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं और अगम्य स्थान में भी भटकते रहते हैं ॥ ७७ ॥

सौ रूपये वाला व्यक्ति हजार रूपया चाहता है, हजार रूपये वाला व्यक्ति लाख रूपये की इच्छा करता है। लखपति राज्य की तथा राजा स्वर्ग की कामना करता है ॥ ७८ ॥

वृद्ध व्यक्ति का बाल, दाँत, आँख और कान आदि सभी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, किन्तु कामना दिनानुदिन युवती स्त्री की तरह नवीन रूप में बढ़ती रहती है ॥ ७९ ॥

गच्छामि ।' चक्रधर आह —'भद्र ! आपदर्थे धनमित्रसङ्ग्रहः क्रियते, तत् माम् एवंविधं त्यक्त्वा क्व यास्यसि ? उक्तञ्च—

यस्त्यक्त्वा सापदं मित्रं याति निष्ठुरतां सुहृत् ।
कृतघ्नस्तेन पापेन नरके यात्यसंशयम् ॥ ८२ ॥

सुवर्णसिद्धिः आह —'भोः ! सत्यमेतत्, यदि गम्यस्थाने शक्तिर्भवति, एतत् पुनः मनुष्याणाम् अगम्यस्थानम्, नास्ति कस्यापि त्वाम् उन्मोचयितुं शक्तिः । अपरं, यथा यथा चक्रभ्रमवेदनया तव मुखविकारं पश्यामि तथा तथा अहमेतत् जानामि यत्, द्राक् गच्छामि, मा कश्चित् ममापि अनर्थो भवतु । यतः—

य इति । यः सुहृत् सापदम् आपद्ग्रस्तं, मित्रं त्यक्त्वा निष्ठुरतां याति गच्छति, स कृतघ्नः तेन पापेन असंशयं नरके निरये, नृधातोः 'कृञादिभ्यः संज्ञायाम्' (उ० ५. ३५ सू०) इत्यादिना वुन् । 'नरकः पुंसि निरय-देवारातिप्रभेदयोः' इति विश्वमेदिन्यौ । याति गच्छति । 'सापदम्' इत्यत्र केचित् क्लीबलिङ्ग-मित्र-शब्दस्य विशेषणत्वात् 'आपत्' शब्दस्य व्यञ्जनान्तत्वाच्च 'सापत्' इति साधु इति ब्रुवते, केचित्तु— आङ् पूर्वपदधातोरल्-प्रत्ययान्त 'आपद'—स्वरान्तशब्दस्य रूपमिति, अन्ये तु—व्यञ्जनान्तत्वात् 'आपत्' शब्दात् स्त्रियां विभाषितटाप्-प्रत्ययं विधाय 'आपदया सह वर्त्तमानः' इति विग्रहम् आहुः, अपरे पुनः—'शब्दा गृह्णन्ति शब्दस्य लिङ्गमर्थस्य कुत्रचित्' इत्याद्युक्त्या मित्रशब्दस्य क्लीबत्वेऽपि तदर्थस्य पुंस्त्वमाश्रित्य 'दारान् पश्यति शोभनाः' इत्यादौ पुंविशेषणस्य शोभनशब्दस्य स्त्रियां प्रयोगवत् पुमर्थस्य मित्रशब्दस्य विशेषणतया सापच्छब्दस्य पुंसि प्रयोगं साधु मन्यते ॥ ८२ ॥

(१) गम्यस्थाने—सुगमप्रदेशे । शक्तिः, विपन्नं मित्रं विपदः मोचयितुमिति शेषः । अनर्थः—अनिष्टपातः ।

मुझे घर जाने की अनुमति दो । जिससे में अपने घर जाऊँ ।' चक्रधर ने कहा—'प्रिय ! विपत्ति काल के लिए ही धन और मित्र का संग्रह किया जाता है, सो इस विपत्ति में मुझे छोड़कर कहाँ जाओगे ? क्योंकि कहा भी गया है—

जो व्यक्ति आपत्ति में पड़े हुए मित्र को छोड़कर निर्दयतापूर्वक अन्यत्र चला जाता है वह कृतघ्न उस पाप से निश्चित ही नरक का भागी होता है ॥ ८२ ॥

सुवर्णसिद्धि ने कहा—'मित्र ! तुम ठीक कहते हो, किन्तु यह बात तभी सम्भव थी जब मुझमें तुम्हें इस कष्ट से छुड़ाने का शक्ति होती, किन्तु तुम जिस प्रकार के कष्ट में पड़े हो, उससे छुड़ाने का सामर्थ्य मनुष्यमात्र में भी नहीं है, एक बात और है कि जैसे-जैसे चक्र के घूमने से पीड़ा के कारण तुम्हारी मुख की विक्रिया मैं

यादृशी वदनच्छाया दृश्यते तव वानर ! ।
विकालेन गृहीतोऽसि यः परैति स जीवति ॥ ८३ ॥

चक्रधर आह— 'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

१० : विकाल–वानर-कथा

कस्मिंश्चित् नगरे भद्रसेनो नाम राजा प्रतिवसति स्म । तस्य सर्व-लक्षणसम्पन्ना रत्नवती नाम कन्या अस्ति, तां कश्चित् राक्षसः जिहीर्षति, रात्रौ आगत्य उपभुङ्क्ते च, परं कृतरक्षोपधानां हर्त्तुं न शक्नोति । साऽपि

यादृशीति । हे वानर ! तव वदनस्य मुखस्य, छाया कान्तिः, 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः' इत्यमरः । यादृशी दृश्यते, मयेति शेषः, 'तेन त्वम्' इति पदद्वयमत्र अध्याहरणीयम्, विकालेन वि विशेषेण, कालः यमसदृश इत्यर्थः, तेन, तद्व्यपदेशिना केनचित् भीषणसत्त्वविशेषेण इति यावत्, अथ च—विपरीतसमयेन, दौर्भाग्येणेति यावत्, यद्वा—रलयोरभेदात् विकालेन केनचित् विकारेणेत्यर्थः, गृहीतोऽसि आक्रान्तोऽसि, इति मन्ये इति शेषः, तस्मात् यः परैति पलायते, परापूर्वात् 'इ गतौ' इत्यस्मात् धातोः लट्-ति । स जीवति प्राणिति, सङ्कटादिति भावः ॥ ८३ ॥

[१०]

(१) जिहीर्षति—हर्त्तुमिच्छति । उपभुङ्क्ते—रमते इत्यर्थः । कृतेत्यादि । कृतं—रक्षायै उपधानम्—उपबर्हः, रक्षोनिवारकमन्त्रपूतमौषधपूर्णं वा शिरोनिधानम् इति यावत्, 'उपधानं तूपबर्हः' इत्यमरः । यद्वा—उपधानं—गण्डुः, ग्रन्थिविशेष

देखता हूँ कि मुझे यहाँ से शीघ्र चले जाना चाहिए । कहीं ऐसा न हो कि मेरे ऊपर ही कोई अनर्थकारी घटना न घटे । क्योंकि कहा भी है—

हे वानर ! जिस प्रकार की तुम्हारी मलिन संत्रस्त मुख की कान्ति दिखाई दे रही है उससे ज्ञात होता है कि तुम भयानक काल से आक्रान्त हो चुके हो । अतः जो यहाँ से दूर भाग जायगा, वही जीवित बच सकेगा ॥ ८३ ॥

चक्रधर ने कहा—'यह कैसे ?' उसने कहा —

विकाल नामक राक्षस और बन्दर की कथा

किसी नगर में भद्रसेन नामक राजा रहता था, उसकी सर्वलक्षण सम्पन्न रत्नावली नाम की एक कन्या थी, जिसे कोई राक्षस हर लेने की इच्छा करता था, और नित्य ही रात्रि में आकर वह उस कन्या के साथ काम-क्रीड़ा किया

तत्समये रक्षःसान्निध्यजामवस्थाम् अनुभवति कम्पादिभिः। एवम् अतिक्रामति काले कदाचित् स राक्षसो मध्यनिशायां गृहकोणे स्थितः। साऽपि राजकन्या स्वसखीम् उवाच—'सखि! पश्य, एष विकालः समये नित्यमेव मां कदर्थयति; अस्ति तस्य दुरात्मनः प्रतिषेधोपायः कश्चित्?' तत् श्रुत्वा राक्षसोऽपि व्यचिन्तयत्—नूनं यथा अहं, तथा अन्योऽपि कश्चित विकाल नामा अस्या हरणाय नित्यमेव आगच्छति; परं सोऽपि एनां हर्तुं न शक्नोति; तत् तावत् अश्वरूपं कृत्वा अश्वमध्यगतो निरीक्षयामि, किंरूपः सः; किंप्रभावश्च' इति। एवं राक्षसोऽश्वरूपं कृत्वा अश्वानां मध्ये तिष्ठति।

तथाऽनुष्ठिते निशीथसमये राजगृहे कश्चित अश्वचौरः प्रविष्टः। स

इत्यर्थः। रक्षोभयनिवारणार्थं तद्वेदिभिः वस्त्रादौ केशादौ वा विहितमिति भावः, 'उपधानं त्रिषे गण्डौ प्रणयेऽपि नपुंसकम्' इति मेदिनी। यस्याः तथोक्ताम्, यद्वा—कृतं—गृहीतमित्यर्थः, उपधानं—व्रतभेदः, आत्मरक्षार्थम् उपायविशेष इत्यर्थः, तथा तथोक्ताम्। तत्समये—राक्षससम्भोगकाले। रक्ष इत्यादि। रक्षसः—राक्षसस्य, सान्निध्यजां—संसर्गजनिताम, अवस्थां दशाम्। विकालः—वि— विशेषेण, विरूपो वा, कालः—यमप्रायः, यमरूपी दुराचारः कश्चित् सत्त्वविशेष इत्यर्थः, कम्पादिरूपविकारविशेष इत्यर्थो वा। समये—यथाकाले, रात्रौ इत्यर्थः। कदर्थयति—क्लेशयति इत्यर्थः। प्रतिषेधोपायः—निवारणोपायः।

करता था, किन्तु अत्यन्त सुरक्षित होने के कारण वह उसका अपहरण करने में असमर्थ था। वह कन्या शरीर के कम्पन आदि विकारों से उसके आगमन का आभास पा जाती थी, इस प्रकार कुछ दिन बीतने पर एक दिन अर्ध रात्रि में वह राक्षस आकर घर के कोने में स्थित हो गया। उस समय वह राजकन्या अपनी सखी से कहने लगी—हे सखि! देखो यह विकाल नामक राक्षस नित्य प्रति रात में निश्चित समय पर आकर मुझे पीड़ा पहुँचाता रहता है तो क्या इसे रोकने का कोई उपाय है? उसकी बात सुनकर राक्षस ने विचार किया, कि मैं जिस प्रकार इसे अपहरण करना चाहता हूँ, उसी प्रकार कोई दूसरा भी इसको हरने के लिए नित्य आया करता है, किन्तु वह भी इसको अपहरण करने में समर्थ नहीं होता तो मैं आज घोड़े का रूप धारण कर इस घुड़साल में घोड़ों के बीच रहकर देखूँगा कि उसका रूप कैसा है और उसमें कितना सामर्थ्य है।' ऐसा विचार कर वह राक्षस घोड़े का रूप धारण कर घोड़ों के बीच खड़ा हो गया।

इस प्रकार उस राक्षस ने घोड़े का रूप धारण कर घोड़ों के मध्यस्थित हो जाने

न सर्वान् अश्वान् अवलोक्य तं राक्षसम् अश्वतमं विज्ञाय अधिरूढः। अत्रान्तरे राक्षसः चिन्तयामास—'नूनमेष विकालनामा मां चौरं मत्वा कोपात् निहन्तुम् आगतः; ततः किं करोमि?' एवं चिन्तयन् सोऽपि तेन खलीनं मुखे निधाय कशाघातेन ताडितः। अथ असौ भयत्रस्तमनाः प्रधावितुम् आरब्धः। चौरोऽपि दूरं गत्वा खलीनाकर्षणेन तं स्थिरं कर्त्तुम् आरब्धवान्। स तु केवलं वेगात् वेगतरं गच्छति।

अथ तं तथा अगणितखलीनाकर्षणं मत्वा चौरः चिन्तयामास—अहो! न एवंविधा वाजिनो भवन्ति अगणितखलीनाः!! तत् नूनम् अनेन अश्वरूपेण राक्षसेन भवितव्यम्; तत् यदि कञ्चित् पांशुलं भूमिदेशम् अवलोकयामि तदा आत्मानं तत्र पातयामि, न अन्यथा मे जीवितव्यमस्ति'।

(१) तेन—अश्वचौरेण। खलीनं—कविकाम्, अश्वमुखे देयं लौहमययन्त्रविशेषमित्यर्थः, खलीननिबद्धवल्गामिति यावत्। कशाघातेन—कशा—अश्वादेस्ताडनोपकरणविशेषः, 'अश्वादेस्ताडनी कशा' इत्यमरः। तस्या आघातेन—प्रहारेण।

(२) तम्—अश्वरूपीराक्षसम्। अगणितेति। अगणितम्—अलक्षितम्, अवहेलितमित्यर्थः, खलीनेन—अश्वमुखरज्ज्वा इति भावः, आकर्षणं येन तादृशम्। पांशुलं—धूलिपूर्णं, धूलिराशेरुपरि पाते न काचित् शरीरव्यथा भवतीति भावः अन्यथा—अपतने। जीवितव्यं—प्राणितव्य, जीवनसम्भावना इत्यर्थः।

पर आधी रात के समय कोई घोड़े को चोरी करने वाला चोर राजभवन में घुसा। वह सभी घोड़ों को देखकर अश्वरूपधारी उस राक्षस को सर्वोत्तम घोड़ा समझकर उसी पर सवार हो गया। तदनन्तर राक्षस सोचने लगा—निश्चय यही विकाल नाम का राक्षस है, जो मुझे चोर समझ कर मुझे मारने के लिए आया है। तो अब मुझे क्या करना चाहिए। अभी वह इस प्रकार ही कर रहा था कि उस चोर ने उसके मुँह में लगाम भर कर कोड़े से उसे मारा। कोड़े की मार से भयभीत हो वह सरपट दौड़ा। इस प्रकार दूर चले जाने के बाद चोर ने लगाम खींच कर उसे रोकना चाहा, किन्तु लगाम खींचने पर वह राक्षस और भी वेग से सरपट भागने लगा।

इस प्रकार लगाम के खींचने पर भी उसे रुकते न देख चोर विचार करने लगा—अरे! घोड़े तो ऐसे नहीं होते जो लगाम के अवरोध को न मानें। ज्ञात होता है कि यह घोड़ा नहीं है। यह घोड़े के रूप में कोई राक्षस है। अतः कहीं बालू वाली जमीन मिल जाय तो कूद कर अपने प्राणों की रक्षा करूँ। अन्यथा मेरा जीना कठिन है।

एवं चिन्तयत इष्टदेवतां स्मरतस्तस्य सोऽश्वो वटवृक्षस्य तले निष्क्रान्तः। चौरोऽपि वटप्ररोहम् आसाद्य तत्रैव विलग्नः। ततो द्वौ अपि तौ पृथग्भूतौ परमानन्दभाजौ जीवितविषये लब्धप्रत्याशौ सम्पन्नौ।

अथ तत्र वटे कश्चित् राक्षससुहृत् वानरः स्थितः आसीत्। तेन राक्षस त्रस्तम् आलोक्य व्याहृतं—'भो मित्र! किमेवं पलाय्यतेऽलीकभयेन? त्वद्भक्ष्योऽयं मानुषः, भक्ष्यताम्'। सोऽपि वानरवचो निशम्य स्वरूपम् आधाय शङ्कितमनाः स्खलितगतिः निवृत्तः। चौरोऽपि तं वानराहूतं ज्ञात्वा कोपात् तस्य लाङ्गूल लम्बमानं मुखे निधाय चर्वितवान्। वानरोऽपि त राक्षसाभ्यधिकं मन्यमानो भयात् न किञ्चिदुक्तवान्, केवलं व्यथार्त्तो

---

(१) निष्क्रान्तः—उपस्थितः इत्यर्थः। वटप्ररोहं—न्यग्रोधावरोहं, वटवृक्षस्य स्थूलशाखातः अधोलम्बनशीलम् अंशविशेषम् इत्यर्थः, 'बरोही' इति हिन्दीभाषा। आसाद्य अवलम्ब्य। विलग्नः—संसक्तः, अश्वं परित्यज्य स्थित इत्यर्थः, विपूर्वकात् 'ओ लजी' इति लज्धातोः क्त प्रत्ययः, 'श्वीदितो निष्ठायाम्' (पा० सू० ७।२।१४) इतीट्प्रतिषेधः, 'ओदितश्च' (पा० सू० ८।२।४५) इति निष्ठातस्य नकारः, अत्र केचिदाहुः—'लगे सङ्गे' इति भौवादिक-लगधातोः क्त प्रत्यये 'क्षुब्धस्वान्तध्वान्तलग्न–' (पा० सू० ७।२।१८) इत्यादिना सक्तार्थे निपातनात् इट्प्रतिषेधः, तस्य नश्च [illegible] तथा च काशिकायां—'लग्नमिति भवति सक्तञ्चेत्, लगितमन्यत्'।

(१) आधाय—धृत्वा इत्यर्थः। स्खलितगतिः—प्रशिथिलमनव्यापारः, भ्रष्टाचरण इत्यर्थः।

वह चोर इस प्रकार सोच रहा था और अपने इष्ट देवता का स्मरण कर ही रहा था कि घोड़ा एक वटवृक्ष के नीचे से गुजरने लगा। फिर चोर वट के प्ररोह को पकड़कर वहीं चिपक गया। इस प्रकार वे दोनों अलग ही गये तथा परम प्रसन्न होकर जीवन के बिषय में आशान्वित हो गये।

उस वटवृक्ष पर राक्षस का एक मित्र वानर रहता था। उसने भयभीत राक्षस को भागते हुए देखा तो उसे रोक कर कहने लगा—'अरे तुम इस प्रकार झूठमूठ भयभीत होकर क्यों भाग रहे हो? यह तो तुम्हारा भक्ष्य मनुष्य है। इसे तो खा जाओ।' वह भी वानर की बात सुनकर अपना पुनः राक्षस रूप धारण कर सशङ्क चित्त हो शिथिलगति से धीरे-धीरे लौटने लगा। इधर चोर ने भी वानर के द्वारा उसे बुलाया जानकर क्रोध से उसकी लटकती हुई पूँछ मुँख से दबाकर चबाने लगा। वानर भी उसे राक्षस से अधिक बलवान् जानकर भय से कुछ भी कहने में असमर्थ

——*——

१. यस्मिञ्जीवति जीवन्ति बहवः सोऽत्र जीवतु ।
वयांसि किं न कुर्वन्ति चञ्च्वा स्वोदरपूरणम् ।। (पृ० २४)

२. यो ह्यपकर्तुमशक्तः कुप्यति किमसौ नरोऽत्र निर्लज्जः ? ।
उत्पतितोऽपि हि चणकः शक्तः किं भ्राष्ट्रकं भङ्क्तुम् ।। (पृ० ७८)

३. इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम् ।
विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् ।। (पृ० १७५)

४. भावस्निग्धैरुपकृतमपि द्वेष्यतां याति लोके
साक्षादन्यैरपकृतमपि प्रीतये चोपयाति ।।
दुर्ग्राह्यत्वान्नृपतिमनसां नैकभावाश्रयाणां
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ।। (पृ० १९८)

५. उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ।
पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम् ।। (पृ० २७३)

६. रविनिशाकरयोर्ग्रहपीडनं गजभुजङ्गविहङ्गमबन्धनम् ।
मतिमतां च निरीक्ष्य दरिद्रतां विधिरहो ! बलवानिति मे मतिः ।।
(पृ० ३१७)

७. यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते ।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव च ।। (पृ० ३९९)

८. यस्य यस्य हि कार्यस्य फलितस्य विशेषतः ।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तत्फलम् ।। (पृ० ५८४)

९. सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्द्धं त्यजति पण्डितः ।
अर्द्धेन कुरुते कार्यं सर्वनाशो हि दुस्तरः ।। (पृ० ६४०)

१०. क्षते प्रहारा निपतन्त्यभीक्ष्णमन्नक्षये वर्द्धति जाठराग्निः ।
आपत्सु वैराणि समुद्भवन्ति वामे विधौ सर्वमिदं नराणाम् ।।
(पृ० ६८३)

११. मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ।। (पृ० ८०४)

—*—